AJANTA

1953

JAN-DEC

U2951

COMPILED

Stock Verification-2024

Stock Verification-2024

अजन्ता

COMPILED

~~RF-083~~
079511

079511

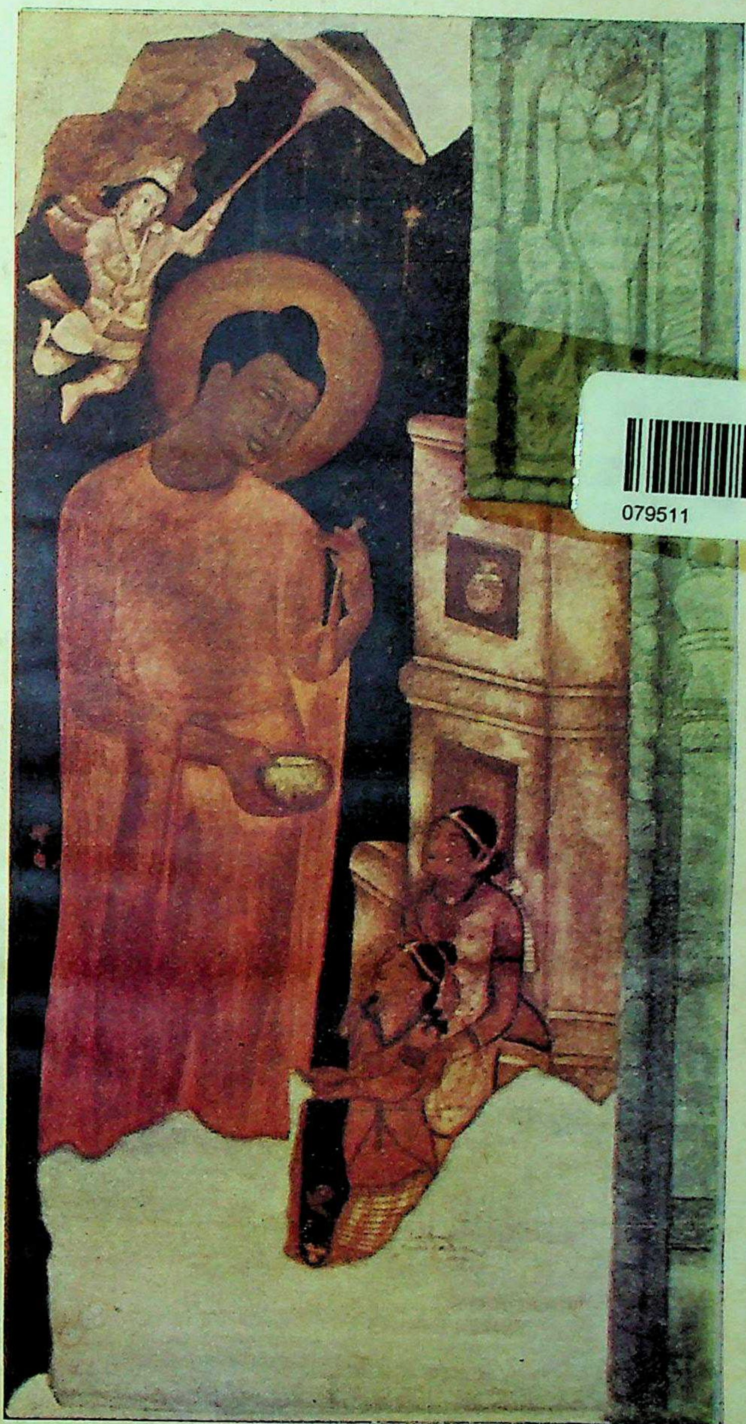

वर्ष १ जनवरी १९५३ अंक १

हैदराबाद राज्य हिन्दी प्रचार सभा

राजस्थान, पंजाब, मध्यप्रदेश, हैदराबाद, मैसूर, त्रावणकोर और मद्रास राज्यों के
शिक्षा विभाग द्वारा स्वीकृत

इस अंक में :

आचार्य क्षितिमोहन सेन
डा० एस. भगवन्तम्
प्रो. ओ. सी. गांगुली
श्री. अगरचन्द नाहटा
श्री. चन्द्रबली पाण्डे
श्री. कमलप्रसाद 'कमल'
श्री. अंचल
श्री. मोहन

●

अगले अंक में :

डा० सोमनाथ गुप्त
श्री. चतुरसेन शास्त्री
श्री. भगवतशरण उपाध्याय
श्री. उदयशंकर भट्ट
श्री. लक्ष्मीशंकर मिश्र 'निशंक'
श्री. रामेश्वरदयाल दुबे
श्री. पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश'
कुमारी दीप्ति

"अजन्ता" का वार्षिक मूल्य : —९) भा. मु.

एक अङ्क का :— १) भा. मु.

वि. सू.—नमूने की प्रति के लिए रु० १) भा. मु. म. आर्डर द्वारा अग्रिम भेजिए।

हिन्दी कहानी प्रतियोगिता

कहानी भेजने की अन्तिम तिथि जनवरी १-१-१९५३

प्रथम पुरस्कार रु० २००)

द्वितीय पुरस्कार रु० १००)

कहानी दो हज़ार शब्दों से अधिक बड़ी नहीं होनी चाहिए

निम्न भाषाओं में भी

कहानी प्रतियोगिताएँ होंगी।

कहानियाँ भेजने की अन्तिम तिथियाँ क्रमशः निम्न प्रकार हैं।

उर्दू ~~~~~ फरवरी ५-२-१९५३
इंग्लिश ~~~~~ मार्च १०-३-१९५२

सूचना : तथा जनसम्पर्क विभाग, हैदराबाद की प्रकाशन शाखा से अन्य सूचनात्मक विवरण तथा नियम कृपया प्राप्त कीजिए।

काठियावाड़ स्टोर्स

उपयोगी और सुन्दर वस्तुएँ
खरीदने के
सर्वोत्तम केन्द्र

****

सुलतान बाज़ार
हैदराबाद द.

महात्मा गान्धी रोड
सिकन्दराबाद

★

मेन रोड
गुलबर्गा

जनरल बाज़ार
सिकन्दराबाद

प्रत्येक दिन की प्रत्येक उपयोगी वस्तु
एक ही स्थान पर

Education
Start - in - Life
Marriage of your children
Assured without any embarrassment
Besides a comfortable old age for you
for All Types Of Insurance
Consult:-

THE HYDERABAD CO-OPERATIVE INSURANCE SOCIETY Ltd.
Bashir Bagh Road, Hyderabad-Dn.

THE
Twin Co-operative Insurers
Head Office : Bashir Bagh Road, Hyd.Dn.

1. The Hyderabad Co-operative Insurance Society Ltd.

A POLICYHOLDERS' SOCIETY

Assets as at 31-12-51 exceed Rs. 80 Lakhs. (for Co-operative Life Assurance only.)

2. The Co-operative General Insurance Society Ltd., (for Fire, Motor, Accident and Misc. Insurance.)

State and District Positions Available
For REALLY EFFICIENT
FIELD WORKERS.

Write in condidence to the General Manager.

तार : "फेन्सी पेपर" फोन : ७३३२

हर प्रकार के

काग़ज़, छपाई और स्टेशनरी

सामान के थोक व्यपारी

गोली ईश्वरय्या

जनरल बाज़ार सिकन्दराबाद

THE

Hyderabad Co-operative Dominion Bank Ltd.

[Estd. MARCH 1915]

Telephone : 4610

Telegram : **DOMINBANK**

Sub Offices :
PATHER GATTI,
UNIVERSITY BRANCH
(Adickmet)

Head Office :
SHAHRAH-E-OSMANI
HYDERABAD-DECCAN.

Branches :
JADCHARLA (Dt, Mahboobnagar) THUNGABHADRA PROJECT (Munirabad)

1. CURRENT ACCOUNTS are opened free of charge and interest is allowed at 1½% per annum.
2. SAVING DEPOSITS are accepted and interest is allowed at 2% per annum.
3. SPECIAL SAVINGS DEPOSITS are accepted and interest is allowed at 1½% per annum.
4. DRAFTS are issued on all important COMMERCIAL CENTERS and within the HYDERABAD STATE.
5. PENSIONS, MANSABS, etc, are collected on commission basis, premiums remitted & all standing instructions on behalf of the customers carried out. SAFE DEPOSIT LOCKERS & VAULUTS are available at HEAD OFFICE.

BANKING BUSINESS OF EVERY DESCRIPTION TRANSACTED

K SUNDARAVARADACHARI,
GENERAL MANAGER.

RAI DILSUKH RAM,
CHAIRMAN.

FIRE: ACCIDENT: MARINE:

THE HYDERABAD UNITED
INSURANCE CO., LTD.,

SPONSORED BY

THE GOVT. OF HYDERABAD.

Post Box No. 164, Abid Road, HYDERABAD-Dn.

Telegram: ***HUICOL***

Telephone: ***5579***

Chairman:
L. N. GUPTA Esq. I. A. S.,

General Manager:
H. D. MEHTA Esq.

***BRANCHES :** Bombay, Calcutta, Madras, Nizamabad & Manchirial.*

'HIND'

"नया समाज"

का परिवार नियोजन अङ्क जनवरी १९५३ में प्रकशित हो गया है। इसमें देश की बढ़ती हुई आबादी, खाद्य भाव, विभिन्न देशों में हुआ और हो रहा परिवार-नियोजन, अधिक सन्तति से होनेवाली हानियाँ आदि पर प्रकाश डालनेवाले अधिकारी विद्वानों के लेख हैं। आप अपनी प्रति आज ही मँगालें

रु० ८) भेज कर वार्षिक ग्राहक बनाने वालों को यह अङ्क वार्षिक मूल्य में ही मिलेगा।

फुटकर प्रति लेनेवाले रु० १) मनिऑर्डर से भेजें। जो रजिस्ट्री से मँगाना चाहें, वे ।-) अधिक भेजें।

व्यवस्थापकः—

"नया समाज", ३३ नेताजी सुभाष रोड, कलकत्ता

जीवन साहित्य

हिन्दी के उन मासिक पत्रों में से है जो

१. लोक रुचि को नीचे नहीं, ऊपर ले जाते हैं,

२. मानव को मानव से लड़ाते नहीं, मिलाते हैं,

३. सच्ची और स्थायी शान्ति को असंभव नहीं, संभव बनाते हैं,

४. आर्थिक लाभ के आगे झुकते नहीं, सेवा के कठोर पथ पर चलते हैं,

जीवन साहित्य की सात्विक सामग्री को छोटे बड़े, स्त्री-बच्चे सब निःसंकोच पढ़ सकते हैं। उसके विशेषांक तो एक से एक बढ़ कर होते हैं।

जीवन साहित्य विज्ञापन नहीं देता। केवल ग्राहकों के भरोसे चलता है। ऐसे पत्र के ग्राहक बनने का अर्थ होता है राष्ट्र की सेवा में योग देना।

वार्षिक शुल्क के ४) भेज कर ग्राहक बन जाइए।

ग्राहक बनाने पर मण्डल की पुस्तकों पर आपको कमीशन पाने की भी सुविधा हो जाएगी।

सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली

कल्पना के

इस अंक का सम्पादन :
सर्वश्री जगदीशमित्तल,
,, दिनकर कौशिक तथा
,, के. एस. कुलकर्णी
कर रहे हैं।

विशेषांक का मूल्य रु० ५) होगा। मार्च तक रु० १२) भेज कर ग्राहक बननेवालों को विशेषांक के लिए अतिरिक्त मूल्य नहीं देना पड़ेगा।

कला अंक की योजना

कला अंक के सम्पादन और प्रकाशन को शत प्रतिशत सफल बनाने के लिए कला-जगत् के प्रख्यात व्यक्तियों की एक सलाहकार समिति बनाई गई है।

सहकार समिति के सदस्य

१ डाक्टर स्टेला क्रेमरिश
२ डाक्टर हरमन ग्वेत्स
३ डाक्टर वासुदेव शरण अग्रवाल
४ डाक्टर मुल्कराज आनन्द
५ श्री अजित घोष
६ श्री जी. वेंकटाचलम
७ श्री कार्ल जे. खण्डेलवाल
८ श्री पृथ्वीश नियोगी
९ श्री विनोदबिहारी मुखर्जी

इस अंक का प्रसार राष्ट्र के कोने कोने में ही नहीं, विदेशों के प्रमुख केन्द्रों में भी करने की योजना है। "कल्पना" के माध्यम से विज्ञापनदाता अपनी विज्ञाप्य वस्तुओं का प्रचार देश विदेश में कर सकते हैं।

विशेष विवरण के लिए लिखिए :

व्यवस्थापक 'कल्पना' ८३१, बेगम बाज़ार, हैदराबाद दक्षिण

हिन्दी परीक्षार्थी तथा अन्य हिन्दी विद्यार्थियों के लिए

प्रत्येक कविता का भाव तथा सारांश, शब्दार्थ तथा शब्द-प्रयोग, प्रसंगसहित अर्थ, परस्पर तुलना; तथा एकांकियों की संक्षिप्त कथा, वाक्यों की प्रसंग-सहित व्याख्या, चरित्र चित्रण आदि आवश्यक सामग्री से भरपूर।

(१) परीक्षा सोपान : चेतना तथा चार एकांकी (उत्तमा तथा सातवीं कक्षा) सब जगह प्राप्य। मूल्य १=) मा. मू.

(२) परीक्षा सोपान : पद्यपारिजात—प्रथम भाग (विशारद तथा इण्टरमिजिएट)
१५, जनवरी के लगभग प्रकाशित होगी।

(३) परीक्षा सोपान : तुलसीदास—नाटक (विशारद)
१, फरवरी के लगभग प्रकाशित होगी।

अपनी प्रतियाँ सुरक्षित कराइए

—: राधाकृष्ण इंदाणी, सी–७–८०७, बेगम बाज़ार, हैदराबाद (दक्षिण) :—

त्रैमासिक
||
आलोचना
के
दो विशेषांक
इतिहास विशेषांक–अक्टूबर १९५२
५) रु०
इतिहास विशेषांक–जनवरी १९५३
३) रु०
विशेष रूप से संग्रहणीय हैं।

इन दोनों अङ्कों में प्रकाशित लेख हिन्दी साहित्य के आलोचनात्मक इतिहास का अद्वितीय आकलन बन गये हैं।

वार्षिक–१२) रु० :: एक प्रति–३) रु०

राजकमल प्रकाशन,
१, फ़ैज़ बाज़ार दिल्ली

पढ़िए! पढ़िए!!

आज ही से ग्राहक बनिए।

हिन्दी की सबसे पुरानी

तथा सर्वोत्कृष्ट

मासिक पत्रिकाएँ

सरस्वती : वार्षिक मूल्य ७॥)

बालसखा : वार्षिक मूल्य ४)

सम्पादक — पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी

पश्चिमोत्तर भारत की प्रमुख हिन्दी मासिक पत्रिका

विश्व ज्योति

सम्पादक-(१) **श्री विश्वबन्धु शास्त्री**, M. A., M. O. L. (पं) O. d' A. (फ्रां.) Kt. C. T. (इट.)
(२) **श्री सन्तराम**, बी. ए.

संचालक-**श्री विश्वेश्वरानन्द**, वैदिक संस्थान, साधु आश्रम, होश्यारपुर.

गत मार्च से प्रारम्भ कर छः मास में ही इस पत्रिका ने अपनी विशेषताओं के कारण हिन्दी-जगत में अपना विशिष्ट स्थान बना लिया है ।

विश्व हित की साधना के लिए :—

(क) शुद्ध सांस्कृतिक साहित्य का सृजन, (ख) प्राचीन और नवीन ज्ञान-विज्ञान का समन्वय, (ग) बौद्धिक क्रांति और नई चेतना का जागरण, (घ) अन्याय-पूर्ण सामाजिक विषमताओं का दूरीकरण, (ङ) सभी प्रकार के विचारों का निष्पक्ष अध्ययन और आलोचन करना ही **विश्व ज्योति** का लक्ष्य है ।

इसे तुरन्त मँगाइए और लाभ उठाइए । **वार्षिक चन्दा— ८) रुपए भा० मु०**

परन्तु १०) रुपए वार्षिक चन्दा देकर विश्वेश्वरानन्द वैदिक संस्थान के सदस्य बन जाने पर भेंट के रूप में **मुफ्त** ।

पत्र व्यवहार का पता :—

व्यवस्थापक, विश्व ज्योति, साधु आश्रम होश्यारपुर, (पंजाब)

INFANTONE

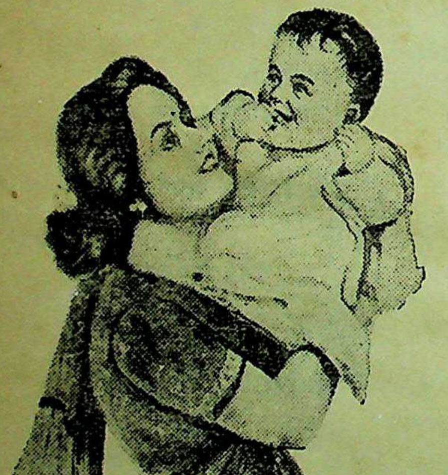

बच्चों के सब प्रकार के पेट के रोगों पर सर्व परीक्षित लाभदायक औषधि

Keeps baby cheerful

हैदराबाद केमिकल एँड फारमास्युटिकल वर्क्स लि०
आज़माबाद, हैदराबाद (दक्षिण)

अजन्ता

सचित्र मासिक पत्रिका

वर्ष ५ जनवरी १९५३ अङ्क १

सम्पादक

वंशीधर विद्यालंकार

श्रीराम शर्मा

—: संचालक :—

हैदराबाद राज्य हिन्दी प्रचार सभा

अनुक्रमणिका

पृष्ठ संख्या

१ नव निमन्त्रण
कमलप्रसाद "कमल" १

२ रुई की बैलगाड़ियाँ
वंशीधर विद्यालंकार ५

३ मुझ से मेरा प्यार न छीनो
"अंचल" ८

४ साधनाओं का तीर्थ
क्षितिमोहन सेन ९

५ नए चीन का मेरे मन पर प्रभाव
डा० एम. भगवन्तम् १२

६ संगीत का तात्पर्य
प्रो. ओ. सी. गांगुली १६

७ मार्क्स का प्रकृतिवाद
रोहिताश्व विद्यालंकार १९

८ कृष्ण काव्य में राधा का स्वरूप
मातृदत्त द्विवेदी एम. ए. २४

९ राधा का अध्यात्म
चन्द्रबली पांडे २९

१० कवि चतुर्भुज और उनकी रचनाएँ
अगरचन्द नाहटा ३३

११ इब्राहीम आदिलशाह और उनकी कविता
राजकिशोर पांडे एम. ए. ३९

१२ जनमत का विकास (१)
क़ासिम अली सजनलाल एम. ए. ४२

पृष्ठ संख्या

१३ आदिवासियों की समस्या
रामगोपाल शुक्ल ४७

१४ हिन्दी साहित्य का विकास
वंशीधर विद्यालंकार ५१

१५ अपराजिता (एकांकी)
प्रमोद वर्मा बी. ए. ६०

१६ साहित्य-चर्चा
बाल शौरि रेड्डी ६६

१७ चिट्ठी-पत्री
(१) बनारसीदास चतुर्वेदी ६८
(२) वि. चतुर्वेदी
(३) देवकुमार
(४) रामरत्न बडोला

१८ नीर-क्षीर ७१
(१) प्रेमशंकर तिवारी
(२) हरिकृष्ण पुरोहित

१९ सामयिक ७४
(१) क्रोचे
(२) स्मृति पर आघात का प्रभाव
(३) हिन्दी साहित्य का इतिहास
(४) पोट्टि श्रीरामुलु

२० सम्पादकीय ७०
वंशीधर विद्यालंकार

चित्र

(१) हजरत सईद अकबर शाह हुसैनी (श्रृंगार मंजरी) ... हैदराबाद म्यूजियम के सौजन्य से
दखनी कलम

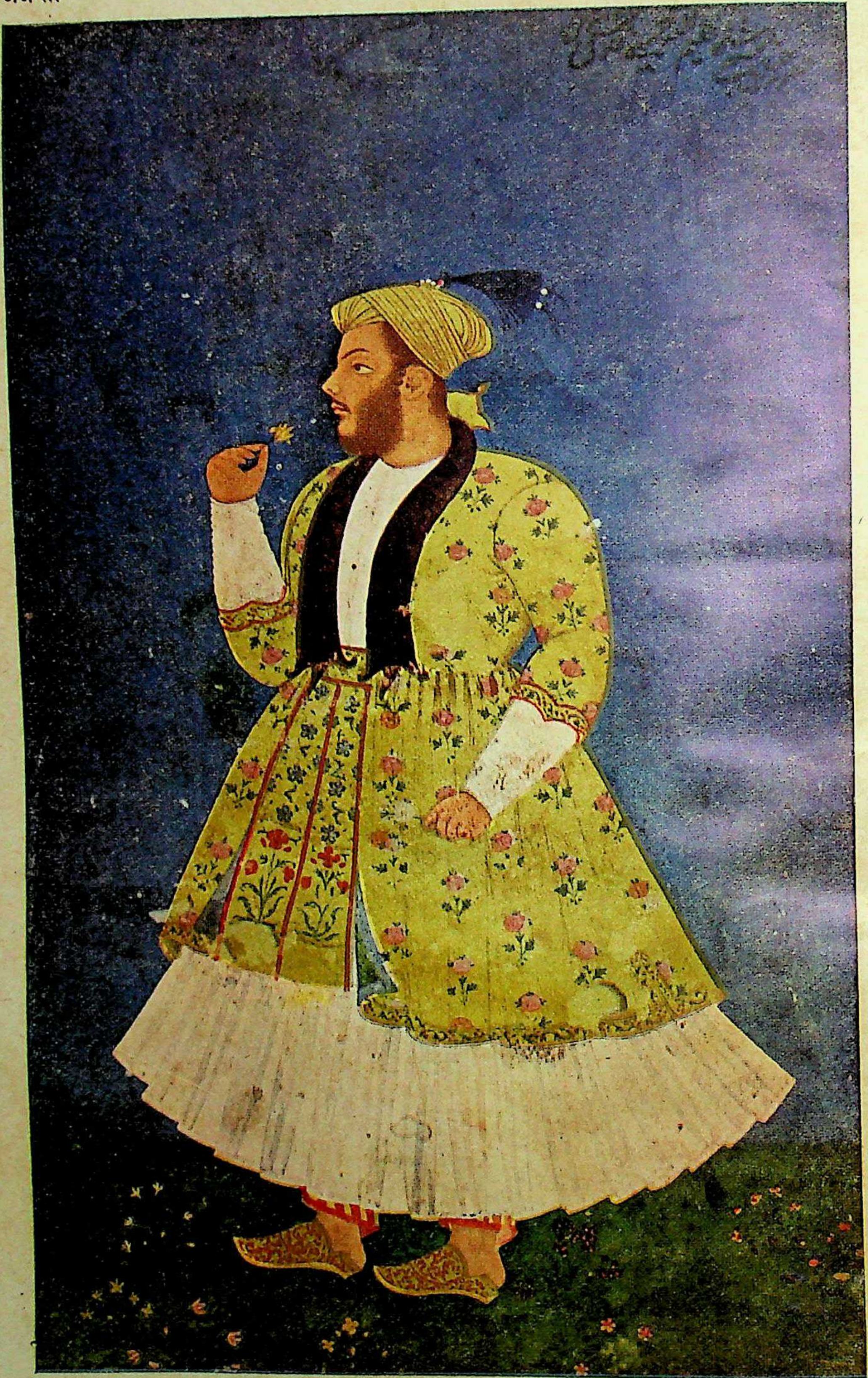

दखनी
क़लम

सईद अकबर शाह हुसैनी
(शृंगार मंजरी)

हैदराबाद म्यूजियम
के सौजन्य से

अजन्ता

वर्ष ५ | जनवरी १९५३ | अङ्क १

नव निमन्त्रण

ओ मेरे सपनों की रानी
स्वप्न-लोक से बाहर आओ !

साँसों के नाज़ुक झूलों में--
तुम को प्रिय ने बहुत झुलाया
रच रच कल्पित महल मनोहर
तुम को जग ने बहुत भुलाया

गा, कोमलता के पद कवि ने
तेरे पाँवों की गति छीनी
झूठे रंग चितेरे ने भर
लूटी सब सच्ची रंगीनी
छलिया जग के छल-छन्दों में—
और न अपने को भरमाओ

ओ मेरे सपनों की रानी.
स्वप्न-लोक से बाहर आओ।

और न अब भटको ओ रानी
तुम तारों के लोक सुभग में
खोज न पाओगी मग अपना
इन खद्योतों की जगमग में
छोड़ो इन्द्र-धनुष की शय्या
उतरो सतरंगी झूलों से
कोमल फूल! मिलाऊँ आओ
अब तुमको पथ के शूलों से
ये प्रहरी जग की शिवता के
अब इनको बढ़ कण्ठ लगाओ

ओ मेरे सपनों की रानी,
स्वप्न-लोक से बाहर आओ।

तुमने निज को देखा अब तक
जग की कलुषित आँखों से ही
निरे वासना के पुतलों को—
तुमने समझा सरल सनेही
रस के प्यासे भौंरों की—गुन
गुन सुन कर ही भूल गईं तुम
छीने पंख तुम्हारे जिसने—
उस फन्दे पर फूल रहीं तुम
जिन नयनों से जादू करतीं
उनको अपनी ओर घुमाओ

ओ मेरे सपनों की रानी,
स्वप्न-लोक से बाहर आओ!

तुम्हें एक रंगीन कहानी—
से आगे कब जग ने जाना
केवल 'रति' को ही देखा--कब
उसने 'दुर्गा' को पहचाना ?

तुम सेजों पर लुटने वाला
केवल नाज़ुक फूल नहीं हो
तुम तूफ़ानी लहरी भी हो
केवल निश्चल कूल नहीं हो
यह तूफ़ानों का मौसम है
उठो, नये तूफ़ान उठाओ

ओ मेरे सपनों की रानी,
स्वप्न-लोक से बाहर आओ।

बोलो साँसों की गर्मी से—
तुम कब तक पिघलोगी रानी
केवल शमा नहीं महफ़िल की
तुम किरणों की अमर जवानी

धार नहीं मधु की तुम केवल—
नहीं डुबाना काम तुम्हारा
वह असि-धारा भी हो जिसने
है डूबों को पार उतारा
शीतलता ही देखी जग ने
अब नयनों की आग दिखाओ

ओ मेरे सपनों की रानी
स्वप्न-लोक से बाहर आओ।

तुम रस में डूबी बैठी हो
दैव उधर विष घोल रहा है

सुनो ! प्रेम-कुंजों में अब फिर—
विरह-पपीहा बोल रहा है
फिर डाका पड़नेवाला है
मुस्कानों, गीतों, खुशियों पर
देखो डोल रही फिर धरती
काँप रहा है थर-थर अम्बर
शीतल सजल घटा बन, उठ कर
जग पर शान्ति सुधा बरसाओ

ओ मेरे सपनों की रानी
स्वप्न-लोक से बाहर आओ।

वह वसन्त क्या जो न जगत् के
काँटों में भी फूल खिलाए
प्यार नहीं वह, जो प्रेमी के
पाँवों में बेड़ी बन जाए
जग की विषम समस्याओं को
हल कर डालें आओ मिल कर
कठिन 'कर्म-पथ' पर चलना है
कुंज प्रणय का है दूरी पर
मुझे न रोको, चलना हो तो--
आओ मिल कर क़दम बढ़ाओ
सपनों की रानी फिर मेरे
गीतों की जननी बन जाओ

गीतों की गर्मी बन जाओ।

ध्रुवपेठ
हैदराबाद

—कमलप्रसाद 'कमल'

आकाशवाणी, दिल्ली के सौजन्य से

रुई की बैलगाड़ियाँ

[दक्षिण देश में रात को रुई की बैलगाड़ियाँ चलती हैं। हमने प्रातःकाल के परिभ्रमण में पौ फटने के समय रुई से भरी बैलगाड़ियों को सड़कों पर चलते देखा है। इस कविता में इन्हीं बैलगाड़ियों के रेखाचित्र को प्रस्तुत किया गया है—ले.]

सूखी बरसाती सरिता के,
पुल पर मट्टी के छोटे-से,
बैठा हूँ मैं—मेरे आगे,
चिन्ह लिए नूतन स्मृतियों के
राह चली जाती है अपने
रस्ते पर अविरल धारा से
सरिता तो केवल जाती है,
राह मगर जाती आती है

—

पौष मास है घास दीखती,
पके हुए पीले गेहूँ-सी
थोड़ा पानी धूप ज़रा-सी
इसको कुछ से कुछ कर देती
थोड़े पानी के मिलते ही
खिलती हरी भरी मखमल सी
ज़रा धूप के लग जाते ही
पक जाती पीली पड़ जाती

—

दिवसराज की पहली किरणें
चुपके से उगते प्रातः में
हर तिनके से आकर लिपटीं.
गई रात का हाल पूछतीं,
इन सूखे तिनकों के दिल की
मृदु प्रसन्नता सोने जैसी
भू पर उगी हुई किरणों की
नई ज्योति-सी झिलमिल करती

—

बैलगाड़ियाँ चली आ रहीं,
निंदियातीं, ऊँघतीं ऊँघतीं।
बोरे डाल रुई के जिन पर,
तट पर रख कड़वी का गट्ठर
यही बिछौना जिसके ऊपर,
पगड़ी का उपधान बना कर
दे कर सब बोझा रस्ते को,
सोया है किसान गठड़ी हो

—

आँखें बन्द किए कुछ खोले,
मानों मूर्तिमान निद्रा से,
बैलों के धीमे से पड़ते,
आगे को हैं क़दम ऊँघते
जिन पर पड़ता है गाड़ी का
आगे ऊँघ ऊँघ कर पहिया

इसी तरह आगे को बढ़ती,
शान्त निशा सी गाड़ी चलती

—

निश्चल गर्दन में बैलों की
निश्चल हो लटकी है घण्टी,
वह चुपचाप खड़ी है ऐसी
मानो हो मुद्रा निद्रा की
कभी किसी पत्थर से लगता,
पहिए को जब हलका झटका
तब इसमें कुछ गति हो जाती
जिससे हो टन टन धीमी सी

—

पहिए की खड़ खड़ है लगती
चुप्पी के दिल की धड़कन सी
इस सुनसान निशा में इकली
जाग रही मानो यह ध्वनि ही
इसके एक सहारे केवल
वातावरण हो उठे चंचल
जिससे दूर दूर लग जाता
पता बैलगाड़ी आने का

उस्मानिया यूनिवर्सिटी,
हैदराबाद

—वंशीधर विद्यालङ्कार

मुझ से मेरा प्यार न छीनो

मुझ से मेरा प्यार न छीनो
सब कुछ ले लो किन्तु किसी पर मिटने का अधिकार न छीनो
सपनों का आधार न छीनो
क्रूर कठिन तप की ज्वाला में
जलती तन मन की अभिलाषा
तृप्ति मगर प्राणों की मेरे
दूर किसी के मुख की आशा
इस जीवनव्यापी ममता के अपनेपन का तार न छीनो
दुनिया के शोषण ने मेरे
विश्वासों का खून पिया है
पर मैंने संघर्षों में भी
उस छबि पर अभिमान किया है
आदर्शों की मूर्तिमती पावनता की अनुहार न छीनो
रुद्ध विभा के सिंह द्वार को
जिसकी सुधि आ खोला करती
कुहर भरे सूने मानस में
जिनकी पगध्वनि डोला करती
उन अयास फैली बाहों की तृष्णा का संसार न छीनो
जिन साँसों का स्वर अब भी
कानों से सट कर गूँज रहा है
जिन आँखों की सिक्त नीलिमा को
अब तक मन पूज रहा है
उस चितवन की लहर लहर पर तिरती मधुर पुकार न छीनो
थक जाते हैं प्राण कभी जब
जीवन की बलि देते देते
थक जातीं पतवारें जब
दुर्दिन की नौका खेते खेते
प्यासी गति में नव बल भरनेवाला किरण उभार न छीनो
मैं जिसकी करुणा का ऋण
साकार बना इतराता फिरता
जिसकी अवसादी अपूर्ति का
स्वर बन कर बादल सा त्रिरता
उस विह्वलता दानिनी की नतमुखी सजल अनुहार न छीनो
मुझ से मेरा प्यार न छीनो

राबर्टसन कालेज,
जबलपुर

—अंचल

साधनाओं का तीर्थ

[हैदराबाद राज्य हिन्दी प्रचार सभा के अगस्त १९५२ की परीक्षाओं में उत्तीर्ण विद्यार्थियों के दीक्षान्त समारोह में आचार्य श्री क्षितिमोहन सेन, विश्व-भारती, शान्ति-निकेतन ने दीक्षान्त भाषण दिया था। हम इस भाषण को यहाँ अविकल रूप में दे रहे हैं—सं०]

आप सब मेरा नमस्कार ग्रहण करें। बड़े, छोटे, परिचित, अपरिचित सभी को मेरा नमस्कार। आज महातीर्थ में, महान् लग्न में हम लोग इकट्ठे हुए हैं। आज सभी को श्रद्धापूर्वक मैं प्रणाम करता हूँ।

नदी एवं धारा को हमारे देश में तीर्थ कहते हैं। एकाधिक धाराओं का संगम होने पर हम उस स्थान को महातीर्थ की संज्ञा देते हैं। काशी के पंच तीर्थ और पंच गंगा समस्त भारत में सुपरिचित हैं। उसी पंचतीर्थमयी काशी में मेरा जन्म हुआ है। मेरे जीवन के अवसान के मुहूर्त में मैं यहाँ के पंचतीर्थ का दर्शन करने आया हूँ। यहाँ बहुत-सी भाषाओं, बहुत सी धर्म-साधनाओं और बहुत-सी संस्कृतियों का संगम हुआ है। अत एव यह पंचतीर्थ जीवन्त है। मैं इस जीवन्त तीर्थ को प्रणाम निवेदन करने आया हूँ।

भारत तीर्थों का देश है क्योंकि यहाँ कोई भी साधना, कोई भी संस्कृति तिरस्कृत नहीं हुई है। सभी आदरपूर्वक ग्रहण की गई हैं। और किसी भी देश में ऐसी बात देखने को नहीं मिलती। अन्य देशों में एक धर्म और एक साधना को दूसरे धर्म और दूसरी साधनाओं ने विनष्ट कर डाला है।

यहाँ की साधना स्वतन्त्र है। यहाँ आर्य सभ्यता ने आर्य-पूर्व सभ्यता को सादर ग्रहण किया है। आर्य-पूर्व मैंने कहा है, अनार्य नहीं क्योंकि अनार्य शब्द हीनतावाचक है। मैंने समस्त जीवन यह दिखाने की चेष्टा की है कि आर्य-पूर्व सभ्यता, आर्य सभ्यता से निकृष्ट नहीं थी। आर्यों का यज्ञ सकाम था और उसमें हिंसा थी। आर्य-पूर्व वैराग्य एवं भक्ति साधना निष्काम तथा अहिंसक थी। हैदराबाद की इस पुण्य भूमि में आर्य-पूर्व और आर्य सभ्यता का अपूर्व समन्वय हुआ है।

भारत ने अति प्राचीन काल में शरणागत यहूदी साधना को स्थान दिया था। उत्पीडित ईसाई धर्म ईसा की प्रथम शताब्दी में ही भारत में स्थान पाए हुए था। इन लोगों में किसी ने भी भारत को पराजित कर स्थान नहीं पाया था। फिर भी भारत ने इन लोगों को राजोचित सम्मान दिया है और उपर्युक्त सत्कार भी किया है। इतिहास इसका साक्षी है।

बौद्ध और जैन धर्म तो भारतवर्ष के ही हैं फिर भी वे अवैदिक हैं। वैदिक भारतीयों ने बुद्ध को विष्णु का अवतार माना है। इस हैदराबाद में प्राचीन युग में जैन और बौद्धों की साधना का कम विकास नहीं हुआ। अत एव इस महातीर्थ को मैं प्रणाम करता हूँ। भारत में उत्पीडित पारसी जाति ने भी आश्रय चाहा और वह भारत की सन्तान जैसी ही यहाँ वास करती है।

मुसल्मानों की विजय के पहले ही भारत में बहुत से तपस्वी और साधक मुसल्मान आ चुके हैं और उन्होंने यहाँ अपनी साधना की है। अनेक विद्वान् और व्यवसायी मुसलमान भी इस्लाम की विजय के पहले ही यहाँ आ चुके हैं। गुजरात एक बड़ा साम्राज्य था। वहाँ तेजपाल और वस्तुपाल नाम के मन्त्री थे, वास्तव में राज्य के वे ही संचालक थे। कई पुश्तों से संचित धन को किस प्रकार से व्यय किया जाय यह समस्या वास्तुकला की स्त्री अनुपमा देवी के सामने आकर उपस्थित हुई। अनुपमा देवी वास्तव में अनुपमा थीं। उदार अनुपमा ने जैन धर्मावलम्बी होने पर भी पाँच सौ हिन्दु मन्दिरों का निर्माण कराया। उस समय मुसल्मान भारत में आ चुके थे लेकिन उन्होंने जयलाभ नहीं किया था। उनके लिए उपासना का कोई स्थान नहीं था अत एव अनुपमा देवी ने उनके लिए अस्सी मसजिदें बनवा दी थीं। यह उदारता ही भारतवर्ष का चिरन्तन आदर्श रही है। इस आदर्श का प्रत्यक्षस्वरूप इस हैदराबाद में देखने को

मिलता है। यहाँ तक कि पंजाब के सिक्ख धर्म का तीर्थ भी यहाँ नांदेड़ में है।

उत्तर भारत की अपेक्षा हैदराबाद भूतत्ववेताओं के अनुसार प्राचीनतर है। भारतवर्ष की इस सुप्रतिष्ठित एवं प्राचीन भूमि में उदारता का भारतीय आदर्श दृढ़ भाव से प्रतिष्ठित है। इसी आशा को लेकर मैं यहाँ आया हूँ। भारतवर्ष के इस दक्षिणी भूभाग में यदि दाक्षिण्य देखने को नहीं मिले तो उसे और कहाँ पाया जा सकता है!

इस भूमि के एक ओर वैदिक आचार्य सायण माधव का स्थान है और एक ओर ज्ञानपंथी शङ्कराचार्य का स्थान है, तथा एक दिशा में रामानुज प्रभृति वैष्णव आचार्यों का स्थान है। यहाँ के दक्षिणी भाग की आलवार भक्ति उत्तर भारत की भागवत साधना के साथ युक्त हुई है।

एलोरा में प्रस्तर शिल्प साधना और अजन्ता में चित्र शिल्प साधना के उत्कृष्ट नमूने देखने को मिलते हैं। यहाँ पर ही शारंगदेव ने अपनी "संगीत संहिता", और "संगीत रत्नाकर" की रचना की। यहाँ सात सौ वर्ष सन् १२१० ई० से भी पहले की बात है हिन्दु और मुसल्मान के रागों को मिला कर उन्होंने तुरस्क गौड़ और तुरस्क टोड़ी रागों को ईजाद किया। इसी प्रान्त में भारतवर्ष में संगीत के नवीन युग का प्रादुर्भाव हुआ। संगीत में मुनियों के युग के बाद आचार्यों का युग आया।

यह नाना प्रकार की साधना भारतवर्ष में देखने को मिलती है। उसकी वाहिका एक ओर संस्कृत थी और दूसरी ओर प्राकृत अर्थात् लोक भाषा थी। लोक भाषा का प्रभाव साधारण जनता में अधिक होता है।

हिन्दु-मुसल्मानों की युक्त साधना द्वारा ही हिन्दी साहित्य की समृद्धि हुई है। इस भाषा में ही अमीर खुसरो, अब्दुल रहीम खानखाना, तुलसी, सूरदास, रविदास, दादू, नानक, मीरा प्रभृति असंख्य साधकों की साधना का प्रकाश हुआ है। उत्तर भारत में एक तरफ़ तुलसीदास और सूरदास का प्रभाव है उसी तरह से दूसरी ओर कबीर की अपूर्व साधना ने मध्ययुगीन भारत को धन्य किया है। पंजाब में नानक प्रभृति साधकों ने, सिन्ध में सूफ़ियों ने, उत्तरपूर्व में सन्तों ने इसी हिन्दी भाषा का आश्रय लेकर काम किया है।

कबीर का जन्म काशी में हुआ था। काशी अनेक प्रकार के पण्डितों का स्थान है। लोक भाषा का संबल लेकर काम करनेवाले कबीर आज भी जीवित हैं। कबीर संस्कृत नहीं जानते थे। इसके लिए उन्हें थोड़ी भी लज्जा का बोध नहीं होता था। वे हिन्दी में ही अपनी वाणी का प्रचार करते। उन्होंने कहा है :

"संसकिरत है कूप जल, भाषा बहता नीर।"

संस्कृत में जो ऐश्वर्य नहीं मिल सकता, वह इस हिन्दी में पाया जा सकता है।

"ऊँचे पानी ना टिके नीचे ही ठहराय"

विभिन्न जलधारा एक बड़ी नदी में पड़ कर सागर में मिल जाती है। उस समय समस्त देश के साथ उसका योग स्थापित होता है। इसलिए साधक लोक परस्पर साधनाओं को युक्त कर भागवत सागर में पहुँचना चाहते हैं क्योंकि कोई भी विछिन्न बिन्दु समुद्र में नहीं पहुँच पाता। साधक रज्जब ने कहा है :

"अकेले बूंद पहुँचै नाहिं"

इसलिए सर्व बिन्दु मिलने से साधना की बहती धारा गंगा प्रवाहित होती है।

"बूंद बूंद साधन मिल, हरि सागर जाहिं"

यहां जो आप लोगों की कान्फ्रेंस हो रही है उसका उद्देश्य है भारत की राष्ट्रभाषा हिन्दी को सर्व भारत की साधना से समृद्ध कर "हरि सागर" में पहुँचाना।

मैं एक शक्तिहीन सामान्य व्यक्ति हूँ। फिर भी जहाँ पर मेरा जन्म हुआ है वह कबीर की भी जन्मभूमि है। इसलिए कबीर की वाणी द्वारा अपने आपको सचेतन करने के लिए आपने मुझे बुलाया है।

इस युग में जो भारतीय गण—साधना के सब से बड़े गुणग्राही थे उन कवि गुरु रवीन्द्रनाथ के चरणों में बैठ कर प्रायः अर्द्ध शताब्दि मैंने काट डाली है। मैं वृद्ध और शक्तिहीन हूँ! फिर भी भारत के प्राचीन एवं नवीन महागुरुदेवों के महामन्त्रों से आपको सचेतन करने के लिए आया हूँ। उन लोगों की साधना उनकी वाणी द्वारा

एवं उनके आलोक में आप लोग नव चेतन, नव आलोक तथा नवजीवन लाभ करें। दक्षिण में जिस दाक्षिण्य की आशा लेकर इतनी दूर से आया हूँ उससे मैं वंचित नहीं होऊँगा ऐसा मेरा विश्वास है।

यहाँ एक वैदिक मन्त्र लेकर उपसंहार करना चाहता हूँ। भाई जिसमें एक अन्य भाई से द्वेष न करे, बहन, दूसरी बहन से द्वेष न करे। सभी का हृदय मन सम्मिलित हो और सभी कल्याणमयी वाणी बोलें।

> "मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा।
> सम्यंचः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया।"

—क्षितिमोहन सेन

विश्व-भारती, शान्तिनिकेतन
बोलपुर

तेलुगु कहावतें

आडलेक मद्देल ओडन्नट्लु।
नाचना न जान कर मृदंग को फूटा कहना।

आडबोयिन तीर्थ में दुरुगुट।
यात्रा के मार्ग ही में तीर्थ से भेंट होना।

मुड्डुवच्चि पिल्लनु वेक्किरिंचुट।
अण्डा कहे बच्ची से कि चीं चीं न कर।

कन्नु पोयिनंक काटुक येंदुकु?
अंजन कहा आँख जेहि फूटै?

गुड्डिलो मेल्ल मेरुगु।
अन्धों में काना राजा।

निण्डु कुण्ड तोणकदु।
भरा घड़ा छलकता नहीं।

नोरु मंचिदैते ऊरु मंचिदि।
अपनी वाणी भली तो सारा गाँव भला।

सत्रपु भोजनमु मठपु निद्र।
सदाव्रत का खाना मठ में सोना।

पेदवानि पेंड्लामु वाडकेल्ल वदिन।
ग़रीब की स्त्री गाँव भर की भाभी।

नोसलु भक्तुडु नोरु तोडेलु।
चेहरा भक्त का और ज़बान भेड़िये की।

—राममूर्ति 'रेणु'

हिन्दू कालेज,
गुण्टूर

नए चीन का मेरे मन पर प्रभाव

[श्रीयुत डा० एस. भगवन्तम्, वाइस चान्सलर, उस्मानिया यूनिवर्सिटी भारत सरकार द्वारा चीन को भेजे गए प्रतिनिधि मण्डल के सदस्य थे। उन्होंने इस लेख में वहाँ के अपने अनुभवों को "अजन्ता" के लिए लिखा है—सं.]

जन संख्या की अधिकता, शिक्षा के स्तर और आर्थिक परिस्थितियों की दृष्टि से चीन से भारत की बहुत समानता है। इस दृष्टि से नये चीन की अनेक बातों की ओर ध्यान आकृष्ट होता है। उन बातों पर विचार करना समुचित होगा। परन्तु उन सभी बातों का वर्णन यहाँ संभव नहीं है अतः नये चीन में शिक्षा–पद्धति, नवयुवकों का जीवन और स्त्रियों की सामाजिक अवस्था की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना वर्तमान लेखक का उद्देश्य है।

चीन में प्रायः तीस विश्व–विद्यालय हैं। पीकिंग में जो वर्तमान चीन की राजधानी है बारह विश्वविद्यालय हैं। चीन में विश्व–विद्यालय का अर्थ वही नहीं समझा जाता जो कि भारत में समझा जाता है। वहाँ विश्व विद्यालय के स्तर के कालेजों को भी विश्वविद्यालय ही कहा जाता है। इस समय अनुमानतः एक लाख चीनी विद्यार्थी चीन के विश्वविद्यालयों में शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं। चीन की आवश्यकताओं और जनसंख्या को देखते हुए यह संख्या अत्यन्त अल्प है। स्नातक बनने के पश्चात् इन नवयुवकों की विशिष्ट पदों पर नियुक्ति करने की समुचित व्यवस्था है। जब विद्यार्थी अन्तिम श्रेणी में आते हैं तभी प्रायः उनके लिए पद नियत कर दिए जाते हैं। इस व्यवस्था के कारण तथा प्रति वर्ष शिक्षित होकर निकलनेवाले विद्यार्थियों की संख्या अल्प होने से वहाँ शिक्षा-प्राप्त लोगों को बेकारी का शिकार नहीं होना पड़ता। विद्यार्थी अपनी इच्छा के अनुसार अपने पदों को चुनते हैं तथा उन्हें नियुक्त करनेवाली चीन की सरकार प्रायः उनकी इच्छा के विरुद्ध हस्तक्षेप नहीं करती। साथ ही भारत के विश्वविद्यालयों और चीन के विश्वविद्यालयों की शिक्षा पद्धति में बड़ा अन्तर है। यद्यपि इसका विस्तृत विवेचन यहाँ संभव नहीं है तथापि कुछ-एक के सम्बन्ध में यहाँ कुछ निर्देश किया जाता है।

पीकिंग के राष्ट्रीय विश्वविद्यालय में दो हज़ार विद्यार्थी शिक्षा पाते हैं। इस विश्वविद्यालय से सर्वाधिक संख्या में चीन के राजनीतिक नेता शिक्षा प्राप्त करके निकले हैं। ली ता-चोउ ने इस विश्वविद्यालय में शिक्षा प्राप्त की थी और आरम्भ में उन्होंने यहाँ अध्यापन का कार्य भी किया था सन् १९१८ में माओ-त्से-तुंग ने इस विश्वविद्यालय में छोटी–सी तनख्वाह पर सहायक पुस्तकाध्यक्ष के पद पर कार्य किया। चाओ-एन लाई भी इसी विश्वविद्यालय की देन हैं। आज इस विश्वविद्यालय में एक आकर्षक प्रवृत्ति दृष्टिगत होती है। इस संस्था को अपनी क्रान्तिकारी परम्परा का गर्व है तथा उन कमरों का यहाँ अभिमानपूर्वक प्रदर्शन किया जाता है जिनमें बैठ कर चीन के वर्तमान नेता काम किया करते थे। उन कमरों में अनेक चित्र और मान-चित्र लगे हुए हैं जिनसे उन नेताओं के जीवन पर प्रकाश पड़ता है तथा दूसरे रूप में इस संस्था एवं उसके विभिन्न स्थलों के इतिहास का पता चलता है। ये चित्रावलियाँ उन त्याग और बलिदानों का स्मरण दिलाती हैं जिनके आधार पर चीन के विद्यार्थियों ने क्रान्ति को सफल बनाने में अपना सुयोग दिया था। विश्वविद्यालय में पूर्व की भाषाओं के अध्ययन का अच्छा प्रबन्ध है तथा हिन्दी और संस्कृत दोनों के लिए एक एक भारतीय विद्वान् विज़िटिंग प्रोफ़ेसर के रूप में नियुक्त हैं। विश्व–विद्यालय की पाठ्य-पुस्तकों में अधिकांश चीन के वर्तमान नेताओं द्वारा लिखी हुई राजनैतिक पुस्तकें हैं। विश्वविद्यालय का पुस्तकालय बहुत विस्तृत है और उसमें अंग्रेज़ी, रूसी एवं चीनी भाषाओं की पुस्तकों के अतिरिक्त फ्रेंच, जर्मन, संस्कृत, पाली, हिन्दी आदि के भी ग्रन्थ हैं। जब भारतीय प्रतिनिधि मण्डल के सदस्य इस विश्वविद्यालय में पहुँचे तो वहाँ के चालीस

चीनी विद्यार्थियों ने जो प्राच्य-भाषाओं के विभाग में हिन्दी का अध्ययन कर रहे थे हमारा स्वागत किया और उनमें से एक विद्यार्थी ने देवनागरी लिपि में लिखा हुआ हिन्दी भाषा में संक्षिप्त अभिनन्दन–पत्र पढ़ा। यह अभिनन्दन–पत्र इतने सुन्दर ढंग से पढ़ा गया था -- यद्यपि यह निश्चित है कि इस अवसर के लिए सावधानीपूर्वक उसकी पहले से तैयारी की गई होगी—कि हम सभी उससे अत्यन्त प्रभावित हुए। इस विश्वविद्यालय को देख कर चीन के विद्यार्थियों के सम्बन्ध में यह धारणा बनती है कि वे अनुशासन के महत्व को पहचानते हैं। जीवन जैसे उनमें हिलोरें ले रहा है। प्रति क्षण खेलते और नाचते हुए उनमें स्फूर्ति का संचार होता दिखाई देता है जिसकी इस शीत प्रदेश में अत्यन्त आवश्यकता प्रतीत होती है। इस विश्वविद्यालय और चीन के अन्य विश्वविद्यालयों में लड़कियाँ पर्याप्त संख्या में पढ़ती हैं। इसके सम्बन्ध में मैं आगे कुछ विस्तारपूर्व लिखूंगा क्योंकि नए चीन में नारी जाति की जागृति का यही आधार है।

पीकिङ्ग में ही एक दूसरी आकर्षक संस्था है जिसका नाम "उत्तर चीन जनता क्रान्तिकारी विश्वविद्यालय" है। यह विश्वविद्यालय शिक्षा में एक महान् प्रयोग है। इसे क्रान्ति के सिपाहियों और आदर्श मज़दूरों के लिए खोला गया है। यहाँ विद्यार्थी चुने हुए होते हैं और प्राथमिक कक्षाओं से पढ़ना प्रारम्भ नहीं होता। उन्हें भिन्न भिन्न प्रणाली से शिक्षा दी जाती है। अन्त में ये शिक्षित लोग पार्टी के कार्यकर्ता बन जाते हैं। चीन में ऐसे लोग बहुत संख्या में हैं जिनको राजनैतिक आन्दोलनों में भाग लेने के कारण शिक्षा प्राप्त करने का अवसर नहीं मिला। यह अनुभव किया जा रहा है कि ऐसे लोगों के जीवन में शिक्षा और सांस्कृतिक ज्ञान के अभाव से एक अपूर्णता रह गई है जिसकी पूर्ति करने से वे देश के निर्माण के लिए उपयोगी और अच्छे कार्यकर्ता बन सकते हैं। उनको चार साल तक राजनीति, कूटनीति, विधिशास्त्र, अर्थशास्त्र और भाषा की शिक्षा दी जाती है। छोटे पैमाने पर आयोजित स्थायी प्रदर्शनियाँ, जहाँ चित्रों द्वारा राजनैतिक भावों और आर्थिक सिद्धान्तों को प्रदर्शित किया गया है इस शिक्षापद्धति की अपनी विशेषताएँ हैं। बचपन में परम्परागत शिक्षण पद्धतियों द्वारा शिक्षा से वंचित रहने पर भी इन वयस्क मस्तिष्कों पर दृश्य साधनों द्वारा शिक्षा देने की प्रणाली का बहुत शीघ्र और स्थायी प्रभाव पड़ता है। इस विश्वविद्यालय में राजनैतिक सिद्धान्तों की शिक्षा पर्याप्त मात्रा में दी जाती है और सामूहिक जीवन और सामूहिक चिन्तन के यहाँ स्पष्ट दर्शन होते हैं। चुने हुए सक्षम वयस्कों पर इस शिक्षासम्बन्धी प्रयोग की सफलता का एक अपना उत्साहपूर्ण आकर्षण है।

अब अधिक संस्थाओं की अपनी विशेषताओं पर विचार न कर, आधुनिक चीन के विश्वविद्यालयों की साधारण प्रवृत्तियों का कुछ उल्लेख किया जाता है। आज के चीन में नवयुवकों का गौरवपूर्ण स्थान है इसलिए विश्वविद्यालय अन्य संस्थाओं से अधिक महत्वपूर्ण समझे जाते हैं। देश को उचित नेतृत्व और चीनी जनता में फैली कुरीतियों को सुधारने की प्रेरणा ये दोनों ही विश्वविद्यालयों से प्राप्त होंगे ऐसी आशा की जा रही है। चीन के पुराने सामाजिक ढाँचे में बद्धमूल आचार-भ्रष्टता, चोरबाज़ारी, पक्षपात आदि कुप्रवृत्तियों को समूल नष्ट करने के लिए बहुत से विश्वविद्यालय अस्थायी रूप से कुछ महीनों के लिए बन्द कर दिए गए जिससे विद्यार्थी इनके दमन में सक्रिय भाग ले सकें। इस प्रयत्न में चीन के विद्यार्थियों को आशातीत सफलता मिली है। लेकिन इसने एक बुराई को जन्म दिया है—व्यक्तिगत स्वतन्त्र चिन्तन का स्थान सामूहिक चिन्तन ने ले लिया है।

प्रारंभिक से लेकर उच्च शिक्षणालयों तक सर्वत्र सभी विषयों की शिक्षा का माध्यम चीनी भाषा है। इससे लाभ और हानि दोनों ही दृष्टिगोचर हो रही हैं जिनका कि हम स्वयं अनुमान कर सकते हैं। मुझे तो ऐसा लगता है कि एक भाषा के माध्यम होने का प्रधान कारण सारे चीन में एक लिपि का होना है। इस विषय में भारत में अनेक लिपियों की बाधा है। आज चीनी भाषा में अनेक विज्ञान आदि उपयोगी पुस्तकों का अनुवाद हो चुका और उनसे भी अधिक पुस्तकों का अनुवाद हो रहा है। फिर भी उच्च शिक्षा के लिए पाठ्य पुस्तकों के अभाव का अनुभव किया जा रहा है। विज्ञानसम्बन्धी विषयों की शिक्षा के लिए उचित साधन यन्त्र आदि की भी कमी है। चीन की जनता में विदेशी माल आयात न करने की प्रवृत्ति सबल है। अभी तो वर्तमान यंत्रादि से किसी तरह काम चलाया जा रहा है।

यदि कारखानों में निर्माण का कार्य बहुत तेज़ी से न आरम्भ हुआ, तो वर्तमान सामग्री को बदलने या नए पुर्ज़ों से उनकी मरम्मत करने का कार्य दुष्कर हो जाएगा। फिर भी, विश्वविद्यालयों की शिक्षा केवल धनवानों और विशेषाधिकार प्राप्त लोगों तक ही सीमित नहीं है। आज सभी नवयुवक और युवतियाँ चाहे वे अमीर हों या ग़रीब इस शिक्षा को समान रूप से प्राप्त कर सकते हैं। शिक्षा के लिए शुल्क तो लगता नहीं और भोजन और निवास स्थान का ख़र्च वहन करने में बहुत-सी छात्रवृत्तियों से ग़रीब विद्यार्थियों की सहायता की जाती है।

चीन के विश्वविद्यालयों को देख कर यह धारणा होती है कि वहाँ उच्च शिक्षा के लिए अच्छी साधन सामग्री यन्त्रादि के रूप में प्राप्त नहीं है। वर्तमान प्रयत्न उच्च शिक्षा को अधिक से अधिक युवक-युवतियों के लिए सुलभ करने की ओर हैं न कि अल्प-संख्यकों को विशेष रूप से शिक्षित करने की ओर। चीन के विद्यार्थी अब उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए विदेशों में नहीं भेजे जाते और विदेशी भाषाओं में से रूसी और अंग्रेज़ी भाषाएँ बहुत सीमित रूप में पढ़ाई जा रही हैं। विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम को अधिक उपयोगी और चीन की वर्तमान अवस्थाओं के अनुकूल बनाने का प्रयत्न किया जा रहा है और पिछली पद्धतियों के बहिष्कार में किसी प्रकार का संकोच नहीं अनुभव किया जाता।

नए चीन में स्त्री-पुरुष का भेद या उनके अधिकार या सुविधाओं पर कोई प्रभाव नहीं। लड़के, लड़कियाँ समानाधिकार रखती हैं। प्राचीन सामाजिक संगठन में नारी को जो निम्न स्थान दिया गया था उसको ध्यान में रखने से तो वर्तमान स्थिति एक बहुत बड़ी सफलता की द्योतक है। उच्च शिक्षा में आज छात्रों की कुल संख्या का २० प्रतिशत लड़कियों की संख्या है। विज्ञान और इंजीनियरिङ्ग में १० से १५ प्रतिशत तक लड़कियाँ पढ़ रही हैं। मैंने खराद और पीसनेवाली मशीनों पर लड़कियों को काम करते देखा, उन्हें एंजिन या ट्रैक्टर चलाते भी देखा। यों तो अध्यापिका, नर्स, लेडी डाक्टर आदि कार्यों के लिए साधारण रूप से स्त्रियाँ शिक्षा प्राप्त कर रही हैं। चीन जैसे पूर्वीय देश के लिए नारी उत्थान का यह दृश्य कम स्फूर्तिप्रद नहीं। सम्भवतः आज सारे संसार में नारी जाति अपने उत्थान में सचेष्ट है। आज हम उस नए युग में प्रवेश कर रहे हैं जब किसी भी समाज के गठन में नारी का सहयोग प्राप्त करना आवश्यक होगा। यह अनुमान सहज है कि नए चीन के प्रशासन में नारी जाति के अधिकारों की रक्षा के लिए विशेष नियम उपनियम होंगे। उदाहरण के लिए चीनी जनता के राजनैतिक परामर्श अधिवेशन के सम्मिलित कार्यक्रम का छठवाँ अध्याय इस प्रकार प्रारंभ होता है "चीनी जनता के गणतन्त्र ने उस सामन्त प्रथा का अन्त कर दिया जिसके द्वारा नारी को बन्धन में रक्खा जाता था। राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, शिक्षा सम्बन्धी और साँस्कृतिक जीवन में नारी को समान अधिकार प्राप्त होंगे। स्त्री और पुरुष को समान रूप से विवाह करने की स्वतन्त्रता है।" नवीन विवाह कानून जो १ मई सन् १९५० से लागू हुआ है पुरुष और स्त्री को विवाहित अवस्था या विच्छेद अवस्था में यदि विच्छेद न्यायालय द्वारा सम्पन्न हुआ हो, सम्पत्ति में बराबर हिस्से का अधिकार देता है। सम्मिलित कार्यक्रम में कुछ धाराओं और उपनियमों द्वारा लड़कों, स्त्री मज़दूरों, माताओं, शिशुओं और बालकों के अधिकार सुरक्षित किए गए हैं। नए चीन के लिखित नियम और उपनियमों को विस्तृत रूप में उद्धृत करना यहाँ हम उचित नहीं समझते क्योंकि यह सम्भव है कि कानून द्वारा किसी देश के वर्ग विशेष को पूर्ण स्वतन्त्रता और सुविधाएँ प्रदान की गईं हों किन्तु यथार्थ में वह उनका उपभोग न कर पाता हो। अतः किसी देश में स्त्रियों की विशाल जनसंख्या की स्थिति का अनुमान देश के कानून को देख कर नहीं, वरन् उन कानूनों की पृष्ठभूमि में वास्तविक बातों का पता लगा कर करना अधिक लाभप्रद है।

'अखिल चीन प्रजातन्त्रात्मक महिला संघ' नामक एक सुसंगठित संस्था आज देशव्यापी प्रतिनिधि सम्मेलनों का आयोजन कर रही है। उसने बहुत से नए कार्य-क्रमों को प्रारम्भ किया है। औद्योगिक पुनर्निर्माण, कृषि, दस्तकारी, सहायक उत्पादन आदि में स्त्रियों को किस तरह भाग लेना चाहिए इसका इस संस्था ने अध्ययन किया है जो उनकी उन्नति में सहायक सिद्ध हुई है। कातना, बुनना, टोकरी बनाना, चटाई बनाना आदि शिल्पों का उत्थान हुआ है। कहा जाता है कि कुछ ग्रामों में तीस या चालीस सहायक धन्धे देशभक्त स्त्रियों के सहयोग से इतना उत्पादन करने में सफल

हुए हैं कि जिनसे औसत कुटुम्ब को कृषि से भी बढ़ कर आमदनी हुई है।

पानी की वृहद् बाँध योजनाओं में भी चीनी महिलाओं ने सक्रिय भाग लिया है जो ध्यान देने योग्य है। ६॥ लाख स्त्रियों ने नहरें साफ़ कीं, और २॥ लाख स्त्रियों ने हुआई नदी पर बाँध बाँधने में भाग लिया। इनमें से ३ लाख स्त्रियाँ जनता द्वारा आदर्श मज़दूर चुनी गई हैं। वे पुरुषों के साथ अनाज को कुचलने, ट्रैक्टर और हवाई जहाज़ चलाने का काम करती हैं। पिकिङ्ग से टीण्टसीन जानेवाली एक्सप्रेस ट्रेन को महिला-ड्राइवर और खलासी ही चलाते हैं। कुछ महिलाओं ने इस प्रकार के नए आविष्कार किए हैं जिनसे उत्पादन में वृद्धि हुई है। कुछ क्षेत्रों में तो उनका एकाधिपत्य है जैसे प्रसूति गृह संचालन में, अस्पतालों में, नर्सों और डाक्टरों के रूप में, बच्चों की पाठशालाओं में, और ग्राम सुधार में।

प्रत्येक सरकारी विभाग में बहुत सी महिलाएँ प्रविष्ट हुई हैं। केन्द्रीय प्रशासन के महत्वपूर्ण पदों पर कुछ महिलाएँ हैं। इस विषय में सुंगच्यांगलिङ्ग (मदाम सनयात सेन) का नाम उल्लेखनीय है जो लोक शासन की उपाध्यक्षा हैं। स्वास्थ्य मंत्रिणी और न्याय मंत्रिणी के पद पर दो महिलाएँ कार्य कर रही हैं। मदाम च्यांग चैंग मिंग कुशल इन्जीनियर हैं और हुआई नदी योजना और उसकी कमेटी की अध्यक्षा हैं।

महिलाओं की आर्थिक स्थिति का परिवर्तन स्पष्ट है। प्राचीन सामाजिक संगठन में या परिवार में स्त्री का कोई स्थान न था। कहावत है कि 'विवाहित स्त्री और ख़रीदे घोड़े में कोई अन्तर नहीं'। नए भूमि के क़ानून में उन्हें कृषियोग्य भूमि में बराबर का हिस्सा मिला है जिसे पुरुषों की तरह वे क्रय–विक्रय कर सकती हैं। इससे उनकी स्थिति में बहुत बड़ा परिवर्तन हुआ है। भूमि-क़ानून सुधार के पश्चात् वे उत्पादन वृद्धि में सक्रिय भाग ले रही हैं और बड़ी फसलें उगाने के देश प्रिय कार्य में वे बड़ी ताक़त गिनी जाने लगी हैं। अन्न की कमी बहुत अंशों में दूर करने में और दरिद्र चीनी किसान की आर्थिक दशा सुधारने में उनका बड़ा हाथ है। नए चीन के नव निर्माण में जो कुछ भारत की परिस्थितियों के अनुकूल दिखलाई पड़े, उसे हम अपने कार्यक्रम में सम्मिलित कर सकते हैं।

उस्मानिया यूनीवर्सिटी,
हैदराबाद

—डा० एस. भगवन्तम्

……

बैंकों में संगीत

अमेरिका में बैंकों में उच्च-ध्वनि-यन्त्रों को अधिक संख्या में लगाया जा रहा है। इन यन्त्रों पर कार्य के समय संगीत बजता रहता है। इस संगीत का उद्देश्य प्रतीक्षा करनेवालों का मन-बहलाव नहीं है। कार्यकुशल व्यक्तियों का कहना है कि इस प्रकार के संगीत से प्रेम या रोमांस ही जागृत हो—यह बात नहीं है परन्तु इसके द्वारा हिसाब ठीक रक्खा जाता है और कार्य भी अधिक और कुशलतापूर्वक होता है।

—स्टेट्स मैन

संगीत का तात्पर्य

संगीत के पश्चिमी मूल विचारों से सब कलाओं में रागिनियों की कला स्वरों के सामञ्जस्य के अनुसार बहिर्गत विचारों और सहभावों से बहुत कम सम्बन्ध रखती है। इसका आकार-प्रकार और विषय अपनी ही एक विशेषता लिए हुए रहते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि संगीत का कोई विषय नहीं होता। चित्रकला की अतिशय कल्पनापूर्ण और अमूर्त्त आकृतियों का भी प्रकृतिजन्य जानी और पहचानी या पहचानने योग्य आकृतियों से कुछ न कुछ सम्बन्ध या समानता होती है। एकांत मौलिक चित्रकारों की सूक्ष्म कल्पना और सृजनशील चित्राङ्कण तथा शंकुक शैली (Cubist-school) की कल्पनामय विचित्र रचनाएँ भी किसी न किसी रूप में प्रकृति में प्राप्त आकृतियों की व्याख्याएँ ही होती हैं। नाटक, उपन्यास और काव्य आदि में चरित्र, प्रकार, घटनाएँ आदि अन्ततः वास्तविक जीवन से ही उद्भूत होती हैं और उनका सम्बन्ध जानी-पहचानी वस्तुओं से होता है। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि संगीत ही एक ऐसी कला है जिसके निर्माण-तत्वों को प्रकृति या जीवन से नहीं लिया गया है। प्रायः समझा जाता है कि संगीत की कुछ आरम्भिक वर्गमाला या ध्वनियाँ, उसके स्वर और संघटक-तत्व पशु या पक्षियों की बोलियों के अनुकरण के आधार पर निर्मित हुए हैं परन्तु उनकी रचनाएँ प्रकृति में पाई जानेवाली संगीतात्मक आकृतियों का पुनर्निर्माण या प्रतिरूपण नहीं है। संगीत कला किसी भी प्रकार का अनुकरण नहीं है। रागिनियों अथवा स्वरों या अन्य निबन्धनों में इसकी रचनाएँ प्रकृति या मानव-जीवन में पाई जानेवाली ध्वनियों का अनुकरण नहीं है वे एक प्रकार की मौलिक सृष्टि हैं।

गीतों अर्थात् शाब्दिक रचनाओं में जिन्हें संगीत में बिठाया जाना है शब्दों की एक अपील रहती है; उनमें शब्दों की भावग्राहक शक्ति और व्यंजना द्वारा कथा, वर्णन और भाव के विषयों को ध्वनित किया जाता है। परन्तु वाद्य-संगीत और तराना आदि भारतीय विशेष रागिनियों में शब्दों द्वारा ध्वनित अर्थ को स्थान नहीं दिया जाता जिससे उनमें किसी विषय या साहित्यिक विचारों को समझना दुरूह होता है। वाद्य-संगीत केवल सब स्वरों की एकतानता या स्वरों का सामंजस्य है जिसमें बहिर्गत विचारों या सहभावों का निर्देशन नहीं होता। यह सत्य है संगीत के बहुत से रूपों को मानवीय भावों, विशेष प्रकार के चरित्रों और नमूनों का प्रतिरूप समझा जाता है। रागिनियाँ उन भावदशाओं को अवश्य ध्वनित करती हैं जिन्हें शब्दों द्वारा अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता और जिनके लिए हमारे शब्द कोषों में कोई शब्द नहीं हैं। जब हमारे शब्दों की भाषा विचारों को अभिव्यक्त करने में असमर्थ हो जाती है तब संगीत हमारे विचारों को अभिव्यक्त करने के लिए आ पहुँचता है। परन्तु गीत जिनमें साहित्यिक सौन्दर्य होता है तथा जिनमें संगीत के शुद्ध और एकान्तिक महत्व को छोड़ कर अर्थ को प्रधानता दी जाती है वहाँ जीवन से सम्बन्धित कितनी ही कहानियाँ, कथाएँ, किस्से, घटनाएँ और विचार मिलते हैं। परन्तु विशुद्ध और पूर्ण संगीत में वर्णनात्मक या कथात्मक वस्तु या विचार अथवा तात्पर्य की बहुत कम गुँजाइश रहती है। तो फिर, संगीत का क्या तात्पर्य है? संगीत द्वारा किन भावों को अभिव्यक्त करने का प्रयत्न किया जाता है? सभी विचारक इस विषय में सहमत हैं कि संगीत विविध मानवीय भावों, जीवन के विभिन्न अनुभवों, मानसिक अन्तर्दशाओं, जीवन की धूप-छाँह में प्रगट होनेवाली हँसी और रुदन, मानवीय अस्तित्व की आशाओं-निराशाओं और इच्छा-आकांक्षाओं को अभिव्यक्त करता है। कुछ विचारकों के मत में संगीत का वास्तविक उद्देश्य और लक्ष्य अनुभवजन्य क्षणिक भावों को अभिव्यक्त करना नहीं है अपि तु आत्मा की इच्छा, मानव-आत्मा की दिव्य प्राप्ति की भूख और आत्मा की परमात्मा से एक होने की उत्कट अभिलाषा को अभिव्यंजित करना है। संगीत के अतिरिक्त मुक्ति को प्राप्त करने का कोई अन्य अच्छा मार्ग नहीं है—"गानात् परतरं नहि।" एक अन्य विचारधारा के अनुसार संगीत आवेशी जीवन की अभिव्यक्ति है जिसका अपना ही विशिष्ट रूप होता है। "संगीत जिन आवेशों को अभिव्यक्त करता है वे हमारे प्रति दिन के जीवन के

आवेश नहीं हैं और न वे उन आवेशों के आदर्शीकृत रूप होते हैं" (डा. डब्ल्यू. ब्राउन)। इस सिद्धान्त के अनुसार संगीत एक अ-प्रतिरूपकारी कला (Non representative art) है। वह एक ऐसी कला है जो एक प्रकार की डायनमी छायाओं, आरोहावरोहों, गमकों, वाद्यन में झलकनेवाले स्वरों और रंगों को उत्पन्न करनेवाला होता है। ये बुद्धि या आवेश से ऊपर होते हैं। यदि संगीत किन्हीं प्रकार के आवेशों को जागृत करता है तो उनका संबंध उन आवेशों से नहीं होता जिसका अनुकरण किया जा सकता है या जिन्हें शब्दों में अभिव्यक्त किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में संगीत सौन्दर्य के विशुद्ध रूपों को प्रस्तुत करता है। परन्तु क्या ध्वनि के सामंजस्यपूर्ण या स्वरात्मक निबन्धनों की अमूर्त सृष्टि के द्वारा भी संगीत मानवीय आवेशों को उद्बुध करनेवाले अन्तर्विचारों को जागृत करने में असमर्थ है ? कुछ मनोवैज्ञानिकों का तो यहाँ तक कहना है कि संगीत में वाणी से भी अधिक आवेशों को जागृत करने की क्षमता होती है तथा मानवीय आवेशों को अभिव्यक्त करना ही संगीत का वास्तविक और महत्वपूर्ण कार्य है।

भारतीय संगीत में राग का मूल सत्य एक विशिष्ट रचना है जो मानव मस्तिष्क को आवेशों से अनुरंजित करती है। बिथोवन का कथन है कि ग्रामीणों के स्वरपूर्ण गीतों (Pastoral symphony) में रंगचित्रण की अपेक्षा आवेशों की अधिक अभिव्यक्ति होती है। अतः कइयों की यह धारणा है कि संगीत से रस की उत्पत्ति होती है। और प्रसन्नता को अभिव्यक्त करनेवाली राग की रचना में वादी स्वरों पर अधिक बल देना पड़ता है क्योंकि केवल वे ही आनन्द की अनूभूति को अभिव्यक्त कर सकते हैं। इस प्रकार की रचना में रागिनी जिन आवेशों को जागृत करती है उनसे विरुद्ध स्वरों को संगीत में वर्जित समझा जाता है। इस प्रकार अनेक भिन्न भिन्न रागिनियों की रचना की गई है जिनमें से प्रत्येक की अपनी विशिष्ट अन्तः प्रकृति होती है।

इसके अतिरिक्त भारतीय सिद्धान्तों के अनुसार प्रत्येक राग का दृश्य रूप या देवता या माया रूप होता है जो कि उसकी नाद माया के अनुरूप होता है। प्रत्येक राग का प्रधान देवता—स्वर्ग में संगीत के क्षेत्रों में निवास करता है और मानव को उन्नत करने के लिए वह आह्वान करने पर गीत के साम्राज्य से नीचे भूमि पर उतर आता है। रागिनियों के इन प्रधान देवताओं की तसवीरें किसी प्रकार के दृश्य या माया रूप में नहीं हैं। प्रत्येक रागिनी के आवेशीय महत्व या तात्पर्य को आकार में नाटकीय ढंग से चित्रों में अभिव्यक्त किया गया है। उदाहरणार्थ यदि किसी रागिनी की अन्तःप्रकृति प्रातःकाल में जब कि सूर्योदय रात्रिकालीन श्रृंगार-क्रीडाओं की समाप्ति कर देता है दो विरही प्रेमियों के दुःख को अभिव्यक्त करना हो, तो इसको दृश्य रूप में ललित रागिनी की तसवीर के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। इस चित्र में एक प्रेमिका को सेज पर करवटें बदलते हुए चित्रित किया जाता है जब कि उसका प्रेमी रात्रि की प्रेम-क्रीड़ा का अन्त करके अपने दैनिक कार्यों में प्रवृत्त होने के लिए विदाई लेता है। उसके गले में माला रहती है जो रात्रि-समागम की सुखानुभूति का स्मरण दिलाती है जिसे प्रातःकाल ने भंग कर दिया है। वह सेज पर सोई हुई अपनी प्रिया को प्रेम भरी दृष्टि से देखता है जिससे विलग होते हुए उसके हृदय में अत्यन्त पीड़ा अनुभव होती है। इसी विरह-पीड़ा का जो इस रागिनी का भावात्मक विषय और उसका आत्मिक सार है इस प्रकार दृश्य रूप में नाटकीय चित्रण किया जाता है। भाव और साथ ही नाटकीय परिस्थिति या घटना दोनों ही प्रस्तुत और प्रदर्शित किए जाते हैं। ललिता का एक अन्य तात्पर्य भी है जिसमें धृष्ट नायक सम्पूर्ण रात्रि परकीया के यहाँ व्यतीत करके प्रातःकाल लौटता है। इस अवसर पर प्रेम की पीड़ा को बिलकुल भिन्न वातावरण और पृष्ठभूमि में प्रदर्शित किया जाता है ; रात्रि भर जागी हुई नायिका सेज पर करवटें बदलती है। वह रोषपूर्ण नेत्रों से लौट कर आए हुए प्रेमी के मुख की ओर निहारती है जिस पर रात्रि में कहीं अन्यत्र किए गए मद्यपान के चिह्न स्पष्ट दृष्टिगोचर होते हैं। हिन्दी का एक प्राचीन पद इस भाव को अत्यन्त मर्मस्पर्शी शब्दों में अभिव्यक्त करता है :

> "वागे वीरा अगर दुति रूप वारयति मैन।
> कैसे फिरि कहै सकि गज-गामिनी सों वैन ॥"

पान की पीक के चिह्न और अन्य नायिका द्वारा लगाए हुए मुख पर चंदन की द्युति प्रेम के भावों को रोक कर उनका निषेध कर देते हैं। हमारी खण्डिता नायिका जो हाथी की मस्त चाल से चलनेवाली है अपने प्रिय के ऐसे मुख को देख कर किस प्रकार अपना मुख उठा कर देख सकती है और उससे सम्भाषण कर सकती है

जब कि उसकी सम्पूर्ण वाक् शक्ति रोष के कारण रुद्ध हो गई हो। रामकेलि रागिनी रूठी हुई खण्डिता नायिका के मनोभावों को स्वरों के सम्मिलित वादन में केन्द्रित कर देती है जब कि नायक अत्यन्त दीनतापूर्वक उसके पैरों को दबाकर उसके क्रोध को शान्त करने का निरर्थक प्रयत्न करता है। वसंत रागिनी नव वसंत के आगमन पर नर नारियों के हृदय के भावों को नृत्यपूर्ण लययुक्त स्वर लहरी में प्रगट करती है। वसंतोत्सव से सम्बन्धित भारत की प्राचीनतम रागिनियों में से यह एक है जो कि आदिम जतियों के उत्सवों का स्मरण दिलाती है। यह उत्सव आज भी पूर्व–आर्य युग के आदिम वासियों द्वारा मनाए जाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इस रागिनी को आर्यों ने उनसे लेकर अपना लिया था और आगे चल कर इसका सम्बन्ध कृष्ण भक्ति के विधि–अनुष्ठानों से हो गया। अतः कई जगह इस रागिनी का चित्रण हाथ में आम की मंजरी से भरी नई टहनी को लिए हुए नृत्य मुद्रा में लीन कृष्ण के रूप में किया गया है। यह आम की टहनी नव वसंत के आगमन की सूचक है। दूसरे चित्रों में हिंडोले के रूप में इस रागिनी को चित्रित किया गया है जिसमें राधा और कृष्ण हिंडोला झूलने का आनन्द लेते हैं तथा गोपियाँ उस आनन्द में संगीत के स्वर को मिश्रित करती हैं। वसंत में "हिन्दु दोलोत्सव" को मनाने के लिए संगीत की परम आवश्यकता होती है। उसका सम्बन्ध कालान्तर में कृष्ण भक्ति से स्थापित हो गया। कभी वसन्त को होरी लीला की सुखद क्रीडाओं में भी चित्रित किया जाता है। मेघ राग की शक्तिपूर्ण और मधुर स्वर लहरी जो कि ऋतु सम्बन्धी है और पूर्व-आर्यकाल की है, श्याम मेघमाला को चित्रित करती है। जिनके सम्बन्ध में कालिदास "मेघदूत" में कह उठते हैं: "मेघ के दर्शन से सुखी हृदय भी प्रेम मिलन की दुर्दम इच्छा से आतुर हो उठते हैं," "मेघालोके भवति सुखिनो प्यन्यथावृत्ति चेतः"। आदिकालीन ऋतुओं की रागिनी भी जिसकी अति प्राचीन काल में उत्पत्ति हुई कृष्ण भक्ति में मिला ली गई है। इसमें राग की भावना को भगवान् के श्याम वर्ण में चित्रित किया जाता है।

कानड़ा रागिनी कुटिल भाग्य के द्वारा प्रेमी से वियुक्त विरहिणी की मनोदशा को व्यक्त करती है। इसे एक नवयौवना को अशोक वृक्ष के नीचे स्वर्णलता के सदृश झुकी हुई तथा आँसुओं से भीगी हुई चित्रित किया जाता है। इसके विपरीत, संध्याकाल में गाई जानेवाली भूपाली रागिनी प्रेमी के मधुर मूक आनन्द को चित्रित करती है जब कि प्रेमिका उससे शयन कक्ष के द्वार पर पुष्पहार की भेंट ले कर मिलती है जिसे वह वियोग की लम्बी अवधि में दिन में कार्य के समय पिरोती रही है। यदि कुछ लोकप्रिय भारतीय रागिनियों में विरह की पीड़ा और विह्वलता को आवश्यकता से अधिक प्रदर्शित किया गया है तो उसका निराकरण प्रातःकाल की रागिनी भैरवी के द्वारा समुचित रूप में कर दिया गया है। भैरवी रागिनी के चित्र में पार्वती को स्फटिक मन्दिर में शिव की मूर्ति की आराधना करते हुए दिखाया जाता है। यह चित्र इच्छा और वासना से मुक्त विशुद्ध प्रेम का जो त्याग के द्वारा पवित्र बन गया है गौरवमय प्रतीक है। ये कुछ थोड़ी-सी उज्वल मूर्तियाँ हैं जो भारतीय संगीत की कल्पना की दृष्टि में घूमती हैं। भारतीय संगीत की रागिनियों के ये कुछ तात्पर्य हैं जिनकी प्रत्येक रागिनी से सम्बन्धित उसके दृश्य रूप में विस्तृत व्याख्या की गई है। ये चित्र विशिष्ट मनोभाव के मूलतत्व की सभी बातों और उसके सम्बन्धों को सूक्ष्मता से अभिव्यक्त करते हैं। दूसरे शब्दों में ये चित्र प्रत्येक विशिष्ट रागिनी के रसात्मक गुणों को प्रगट करते हैं और इस भाव की संस्कृत, हिन्दी और फ़ारसी तक की काव्य रचनाओं में और भी विस्तृत व्याख्या मिलती है। इससे एक विशेष प्रकार के विस्तृत काव्य साहित्य का जिसे "रागमाला के ग्रन्थ" के नाम से कहा जाता है, विकास हुआ है। इन काव्यों में भारतीय रागिनियों और उनके भावात्मक विषयों के मनोवैज्ञानिक आधार का विस्तृत विश्लेषण किया गया है। इस प्रकार संगीत शास्त्र के गहन नियमों और तात्पर्यों को गीत, कविता और चित्र के त्रिरूपों में प्रदर्शित किया गया है।

कलकत्ता यूनिवर्सिटी,
कलकत्ता

—ओ. सी. गांगुली

मार्क्स का प्रकृतिवाद

१७ वीं और १८ वीं शताब्दियों से पूर्व मानव-जीवन से सम्बन्धित गतिशील विचारधारा का किसी विचारक ने निश्चय और विश्वास के साथ प्रतिपादन नहीं किया । जर्मन विद्वान् कान्ट के लेखों में विश्व के प्रगतिशील होने पर पर्याप्त बल दिया गया है । पर यह कथन एक नैतिक विचारक की ओर से रखा गया है जिसका उद्देश्य सचमुच ही इसी को पुष्ट करना नहीं था । यह विचार कान्ट के लिए गौण है ।

कान्ट के संकेतरूप इस विचार को आधार मान कर विचारों का विशाल महल खड़ा करनेवाला प्रथम मनीषी हीगल है जो विश्व की गतिशीलता में पूर्व-निर्धारित योजना का होना अतः किसी उद्देश्य की ओर मानव-समाज के विकसित होने पर अटूट विश्वास रखता है । उसके विचारों की गहराई तक पहुँचना और ठीक-ठीक मूल्यांकन कर सकना सर्व-साधारण के लिए बहुत कठिन है ।

यह जानने से पूर्व कि मार्क्स के प्रकृतिवादी विचारों का किस प्रकार जन्म हुआ और उनको कहाँ से और कितनी प्रेरणा मिली हमें हीगल के विचारों को संक्षेप में जान लेना उचित होगा । हीगल मानता है कि मानव-समाज की प्रगति एक सीधी रेखा में नहीं अपि तु टेढ़े-मेढ़े ढंग से हो रही है । एक समुद्रपोत जब आँधी-तूफ़ान की दिशा में चलता है तो कभी सीधा, कभी रुक कर, कभी मार्ग को बदल कर और घूम कर आगे बढ़ता जाता है । ठीक वही दशा विश्व की है । विश्व में निरन्तर विकास हो रहा है । यह परिवर्तन किसी उद्देश्य को लेकर हो रहा है । एक पूर्वनिर्धारित योजनावत् प्रत्येक कदम अपने स्थान और समय के अनुसार सुनिश्चित है । इसका कारण राष्ट्र की आत्मा, विचार या बुद्धि (Spirit or Reason) है जो स्व-भाव को, वास्तविक स्थिति को या अपने पूर्ण विकसित रूप को प्राप्त कर रही है । स्थिरता, निरुद्देश्य परिवर्तन और निष्क्रियता को विश्व में कोई स्थान नहीं । सर्वप्रथम कोई वस्तु अविकसित, अपूर्ण और एकरूप होती है । धीरे धीरे परिवर्तन और विकास से अलग रूपों में, हिस्सों में और अंगों में विभिक्त हो जाती है । एक से अनेक रूपों और गुणों का जन्म होता है । यहाँ तक कि अन्य विरोधी गुणों की भी उत्पत्ति होती है और विरुद्ध गुणों का संघर्ष होता है । इस क्रिया प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप एक नई अवस्था उत्पन्न होती है जिसमें पिछली दोनों अवस्थाओं के गुणों का समावेश होता है । यह अवस्था उन दोनों से सर्वथा भिन्न और उच्चतर होती है । इस नई अवस्था को प्राप्त कर लेना ही मानों निम्न अवस्था का प्रयोजन था । इस विरोध-विकासी सिद्धान्त को हीगल ने द्वन्द्व (Dialectic) नाम दिया ।

द्वन्द्व (Dialectic) शब्द के साथ आनेवाले अन्य भावों से पाठकों को सचेत कर देना अनुचित न होगा । प्राचीन ग्रीक के प्लेटो और सोफिस्ट विचारकों ने भी इस शब्द का प्रयोग किया था । वाद विवाद में प्रतिपक्षी वक्ता के कथन में विरोध अतः तर्क में विसंगति सिद्ध करने के लिए सोफिस्ट विचारकों ने इस शब्द का प्रयोग किया है । प्लेटो ने केवल विचारों की प्रक्रिया में भावों की आत्म-विरोधिता को क्रम से हटा कर सामंजस्य के द्वारा एक लक्षण की प्राप्ति के लिए ही इसका प्रयोग किया है । द्वन्द्व प्लेटो के लिए विचार-प्रक्रिया ही है जो तार्किक क्रम का ज्ञान कराती है । परन्तु हीगल के अनुसार इस प्रक्रिया से न केवल विचारों का ही विकास होता है अपि तु विश्व की प्रत्येक वस्तु का भी । इतिहास सिद्ध करता है कि प्रत्येक काल की अपनी ही विशेषताएँ होती हैं जो कि तात्कालिक धर्मों, सामाजिक संस्थाओं और राजनीतिक हलचलों का परिणाम होती हैं । इस ऐतिहासिक प्रक्रिया में सभी बातों का युक्तियुक्त समावेश होता हैं । “यथार्थ’’ सदा तर्कसंगत होगा और जो भी तर्कसंगत है वही यथार्थ होगा ।

मानव समाज तथा विश्व में दृश्यमान विरोधों और समस्याओं को हीगल ने द्वन्द्व के सिद्धान्त द्वारा हल करने का यत्न किया है । यह समझाने का यत्न किया है कि ये विरोध विकास के पूर्व निर्धारित योजना में

स्वाभाविक एवं आवश्यक हैं अन्यथा प्रगति असंभव है। इस प्रकार विरोध और असामंजस्य वास्तव में कोई समस्या नहीं है। ग्रीक विचारकों ने इनको समस्याएँ मान कर विरोधी गुणों में समतुलन स्थापित करने के द्वारा इनका हल निकाला है। यदि विरोधी गुणों का समतुलन नहीं है तो सीधा परिणाम अशान्ति और संघर्ष होगा। यह संघर्ष समतुलन के भेद के अनुसार उग्र और न्यून होगा। अतः समाज, राज्य एवं व्यक्ति में भी विरोधी गुणों या कारणों का समतुलन कर देने मात्र से शान्ति को प्राप्त करना चाहते थे। यही कारण है कि अरस्तू ने मिले जुले संविधान को ठीक समझा। अपने गुरु प्लेटो के बताए हुए शासनतन्त्र अरस्तू को यथार्थ न प्रतीत हुए। हमने देखा कि हीगल का दृष्टिकोण सर्वथा भिन्न है। किसी भी वस्तु का अपने पूर्ण विकसित रूप को प्राप्त करना ही समतुलन है। ऐतिहासिक विरोधी बल ही प्रगति का वास्तविक कारण है। उस पूर्ण विकसित अवस्था से पूर्व यह विरोध और संघर्ष समाप्त नहीं होगा।

विकास का क्या क्रम है? यह एक "स्थिति, अभाव एवं प्रादुर्भाव" (Being, nothing, and becoming) की प्रक्रिया है जिसके द्वारा सर्व प्रथम वस्तु की स्थिति होती है। कुछ समय पश्चात् इसमें आत्मविरोधी गुण उत्पन्न होते हैं जो कि उस वस्तु का संघर्ष के द्वारा अन्त कर देते हैं और एक तीसरी अवस्था परिणामस्वरूप उत्पन्न होती है। प्रथम अवस्था स्वतः आत्मविरोधी गुणों द्वारा हटा दी गई (Negated by itself) और इस नकार का तीसरी अवस्था ने अन्त किया (Negation of negation)। इस प्रकार पदार्थ में ही उसके विनाशक गुणों की उत्पत्ति और उसके द्वारा उसका नाश और तीसरी अवस्था की उत्पत्ति—प्रगति के कारणों का होना सिद्ध होता है।

इस सिद्धान्त को भारत में बौद्ध दार्शनिकों ने भी बहुत पहले कार्य-कारण रूप में प्रतिपादित किया था। उनके मत में भी नए रूप की उत्पत्ति के लिए वर्तमान रूप का नाश आवश्यक है। नए रूप में पिछले रूप के गुण होते हैं, साथ ही नए गुण भी आते हैं जो कि उसकी स्थिति को और विकसित, उन्नत एवं अच्छी बना देते हैं। यह परम्परा सततरूप से चल रही है। पर इस सिद्धान्त से बौद्ध विचारक "आत्मा की मुक्ति", विश्व की क्षणिकता एवं निस्सारता आदि समझाना चाहते हैं। हीगल का ऐसा कोई प्रयोजन नहीं है। इसके विपरीत वह बतलाना चाहता है कि ब्रह्माण्ड-विकास के पीछे कोई बौद्धिक शक्ति (Reason) अपने को ढूँढ़ने निकली है। स्व–रूप की ओर उसके विकास में वर्तमान जगत् एक अवस्था (Stage) मात्र है।

हमारा मत है कि संसार के महान् विचारक, सुधारक और नेता जो कुछ भी समाज के समक्ष अपने विचार रखते हैं वे विचार तात्कालिक समस्याओं को सुलझाने के उपाय होते हैं अर्थात् वे विचार त्रैकालिक सत्य नहीं कि भविष्य की सभी कठिनाइयाँ उनसे सुलझाई जा सकें। उन विचारकों की विशेषता इसी बात में है कि समाज की सामयिक और पारिस्थितिक कठिनाइयों से उन्होंने पार कर दिया और एक क़दम और अग्रसर कर दिया। यदि हम उनके विचारों में "त्रिकाल सत्य" ढूँढ़ेंगे तो उनमें कहीं न कहीं कठिनाइयाँ आ उपस्थित होंगी। ठीक यही बात हीगल के लिए हम कह सकते हैं। इस विकास का अन्तिम स्वरूप क्या होगा यह पूछने पर संभव है एक "प्रभुताशाली राज्य" (Sovereign State) ही हीगल का उत्तर होगा। समय की प्रबल माँग थी कि जर्मनी एक महान् राष्ट्र बन कर संसार में चतुर्मुखी उन्नति करे। अतः राज्य के समर्थन में इन तानाशाही विचारों को तर्क द्वारा उसने फैलाना चाहा। राज्य ही आत्मा का स्वरूप है, उसके हित में व्यक्ति और वर्गों को अपने स्वार्थों का त्याग करना चाहिए। उसके लिए अपने को भी बलिवेदी पर चढ़ा देना ज्यादती न होगी। इन विचारों ने बलशाली सेना संगठन, राष्ट्रों के बीच परस्पर संघर्ष और युद्धों अर्थात् "जिसकी लाठी उसकी भैंस" के सिद्धान्त को उत्साहित किया। तर्क ने हीगल को राज्य से अगले क़दम विश्व राष्ट्र की अवस्था तक नहीं पहुँचाया और वह राष्ट्र तक ही सीमित रह गया इसका कारण समय की माँग थी जिसने हीगल के तर्क को यहीं रोक दिया।

अस्तु, हमारा वर्तमान प्रयोजन हीगल के विचारों को संक्षेप में रखना ही है। गुण दोषों का विवेचन यहाँ संभव नहीं। अब हमें मार्क्स के विचारों को समझने में पर्याप्त सहायता मिल सकेगी।

मार्क्स के विचार "द्वन्द्वात्मक प्रकृतिवाद" (Dialectical materialism) के नाम से विख्यात हैं।

079511

जगत् के सभी दार्शनिक विचारों का "द्वैत और अद्वैत" इन दो वर्गों में परिगणन कर सकते हैं । द्वैतवाद प्रकृति और आत्मा (बुद्धि Reason) को अन्तिम कारण मानता है । इन दोनों का समावेश द्वारा एकीकरण संभव नहीं । अद्वैतवाद अन्तिम सत्य एक ही मानता है । इन अद्वैतवादियों में प्रथम बुद्धि या आत्मा को ही अन्तिम सत्य मानता है । ये अध्यात्मवादी (Idealists) हैं । दूसरे प्रकृति को ही आदि कारण मानते हैं ये प्रकृतिवादी (Materialists) हैं । हीगल और मार्क्स दोनों ही अद्वैतवादी हैं पर हीगल ज्ञानवादी और मार्क्स उसका कट्टर विरोधी प्रकृतिवादी है । "द्वन्द्व" सिद्धान्त के द्वारा हीगल "आत्मा का स्वतोविकास" सिद्ध करना चाहता है । इसके विपरीत मार्क्स और एँगल्स प्रकृति (Matter) के विकास और उसका बौद्धिक तत्वों से मुक्त होना सिद्ध करना चाहते हैं ।

मार्क्स की शिक्षा दीक्षा हीगल के विचारों में हुई फिर भी वह प्रकृतिवादी बना । अध्यात्मवाद उसे अयुक्तियुक्त और खोखला प्रतीत हुआ । सम्पूर्ण बाह्य जगत और अनुभवगम्य दृश्यमान पदार्थ अध्यात्मवाद के अनुसार बुद्धि का प्रतिविम्ब मात्र हैं । बुद्धि के अतिरिक्त बाह्य पदार्थों का कोई अस्तित्व नहीं । जो कुछ अनुभूत होता है वह बुद्धि ही है जो अपने आपको बाह्यरूप में प्रसृत करती है । यदि बुद्धि अनुभव न करे तो कोई वस्तु "है या नहीं है" इसमें कोई भेद नहीं । अतः यदि बाह्य जगत् की स्थिति है तो बुद्धि ही उसका कारण है । जिस प्रकार अन्धकार में सैकड़ों पदार्थों के होने पर भी उनका ज्ञान नहीं होता । दूसरे शब्दों में प्रकाश ही उनके ज्ञान का कारण है । इसी प्रकार बुद्धि ही बाह्य जगत के ज्ञान का कारण है । इन विचारों ने मार्क्स को उद्वेजित कर दिया । वह मानता है कि आदि कारण प्रकृति है, बुद्धि से स्वतन्त्र उसकी बाह्य-स्थिति है और ज्ञान से इसकी पूर्व-स्थिति है । बाह्य पदार्थों का मन पर प्रभाव ज्ञान है, अनुभूति है । यदि बाह्य दृश्यमान जगत की सत्ता नहीं होगी तो मन या बुद्धि पर प्रभाव किसका होगा । अतः ज्ञान को बाह्य पदार्थ (प्रकृति) उत्पन्न करते हैं । प्रकृति की पूर्वसत्ता है, ज्ञान उसका परिणाम होने से विकार मात्र है । प्रकृति-नियम (Laws of nature) अनुभवगम्य हैं और परीक्षाधीन हैं और इनके द्वारा प्राप्त ज्ञान सत्य है क्योंकि इस ज्ञान का कारण भी सत्य है । प्रकृति के विकास में वर्तमान जगत एक अवस्था (Stage) है जो कि अटूट नियमों में सुनिश्चित थी ।

विकास के अटूट नियम वे ही हैं जो हीगल ने द्वन्द्व (dialectic) के सिद्धान्त द्वारा बतलाए हैं । पर मार्क्स उसके समान इस सिद्धान्त द्वारा आत्मा व विचारों का विकास प्रतिपादित न करके भूत पदार्थों में इन नियमों की विद्यमानता स्वीकार करता है । प्रकृति यदि आदि सत्य है और ज्ञान केवल प्राकृतिक विकार है, अतः बाद में उत्पन्न हुआ है, तो समाज के प्राकृतिक जीवन का अधिक महत्व है और इसकी यथार्थता में सन्देह रह नहीं जाता । आध्यात्मिक जीवन अयथार्थ और कपोल-कल्पित है । ज्ञानवत छायारूप प्रतिबिम्ब मात्र है । प्राकृतिक जीवन निरन्तर प्रगति कर रहा है और मानव इच्छाओं से अप्रभावित है । यदि मनुष्य अपनी बुद्धि और श्रम से कोई परिवर्तन करता है तो प्राकृतिक नियमों द्वारा यह परिवर्तन पूर्व निर्धारित योजना मात्र है । प्राकृतिक परिस्थितियाँ और आर्थिक संरचना (pattern) में इस प्रकार का परिवर्तन सुनिश्चित है । मनुष्य इसको न करने या अन्यथा करने में अशक्त है । विकास क्रम ने मनुष्य को इस प्रकार के योगदान द्वारा परिवर्तन के लिए लाचार कर दिया है । इस प्रकार हम देखते हैं कि मार्क्स अनिवार्यता (inevitability) को स्वीकार करता है । मनुष्य परिस्थितियों का दास है । उसके सम्पूर्ण जीवन का ढाँचा स्वभाव और दृष्टिकोण चारों ओर की सामाजिक, प्राकृतिक और राजनैतिक परिस्थितियों द्वारा निर्धारित होते हैं ? उसके ज्ञान और वृद्धि पर भौगोलिक परिस्थितियों, स्थानीय ऋतुओं व जलवायु तथा जनसंख्या की घनता और विरलता का भी प्रभाव पड़ता है । इन सब से भी प्रबल प्रगति का कारण उत्पादन साधनों को प्राप्त करने की रीति है ।

हीगल के अनुसार प्रगति का प्रधान प्रेरक बल वह शक्ति है जिसे विचार, ज्ञान, आत्मा बुद्धि आदि अनेक नामों से कहा जाता है । मार्क्स के अनुसार ये प्रेरक बल भौतिक घटनाएँ हैं, उनकी सत्ता है और बुद्धि-गम्य हैं । न केवल इतना ही इसका विलोम, जो कुछ यथार्थ है वह प्राकृतिक और मानव बुद्धि से जाना जा सकता है । ये भौतिक घटनाएँ क्या हैं ? सामाजिक संस्थाएँ, जलवायु, भौगोलिक विशेषताएँ, वैज्ञानिक आविष्कार, यान्त्रिक साधन, परिस्थिति और विचारों के

द्वारा प्राप्त ज्ञान से अपनी आवश्यकताओं को समझना और उसको पूर्ण करने की इच्छा (will to achieve) इत्यादि सभी कारण समाज की प्रगति में "अगला कदम क्या और किस दिशा में होगा" इस बात के निर्धारक होते हैं। संक्षेप में मार्क्स का प्रकृति (matter) शब्द का अर्थ "मनुष्य का बाह्य जगत् से सम्बन्ध" है। शायद इसी विचार से रसेल महाशय ने इस भौतिकवाद को उपकरणवाद (instrumentalism) नाम से कहा है। दैनिक व्यवहार में यह उपकरणवाद अर्थशास्त्र का रूप धारण करता है क्योंकि मनुष्य के सम्बन्धों से "उत्पादन सम्बन्ध" अधिक महत्वपूर्ण एवं बलवान् है।

बुद्धि या अनुभूति को मार्क्स बाह्य परिस्थितियों का प्रभाव और प्रतिबिम्ब मात्र समझता है। बाह्य पदार्थ ही मानसिक प्रभावों, घटनाओं या अनुभूतियों को पैदा करते हैं। बुद्धि के अस्तित्व की प्रकृति से पूर्व कल्पना नहीं की जा सकती। इस कथन को इतिहास और तर्क दोनों ही पुष्ट करते हैं। प्रकृति गतिशील है और प्रत्येक अवस्था में चेष्टाओं तथा व्यवहारों की निश्चित संरचना (Pattern) स्थापित करती है। मार्क्स ज्ञानवाद को "सिर पर खड़े होने" का दोषी ठहराता है। "जानने की क्रिया द्वारा ही बाह्य पदार्थ उत्पन्न किए जाते हैं" ऐसा कहना अज्ञान है। इसके विपरीत ज्ञान का अनुभव एक अन्योन्याश्रित क्रिया है जिसमें बाह्य पदार्थ तथा आन्तरिक बुद्धि दोनों ही हाथ बटाते हैं। ज्ञान निष्क्रिय या उदासीन नहीं अपि तु सक्रिय एवं—लेनिन के अनुसार—सापेक्ष है। यही कारण है कि मानव ज्ञान कभी पूर्ण नहीं हो सकता क्योंकि यह बाह्य पदार्थों और घटनाओं पर निर्भर करता है और ये घटनाएँ सतत प्रगति कर रही हैं। इस प्रगति का कोई अन्त नहीं अतः ज्ञान कभी पूर्ण नहीं हो सकता। सत्य केवल निरपेक्ष तथा पूर्ण है। सत्य क्या है? भौतिक सम्बन्धों से प्राप्त आर्थिक संरचना (Economic pattern) सत्य है।

प्रकृति के इस विकास के पीछे एक योजना तथा उद्देश्य का आशामय दृष्टिकोण मार्क्स के विचारों में मानवीय तत्वों (Humanism) का समावेश करता है। पुरातन प्रकृतिवाद के "मानवीय तत्वविहीन (Dehumanised) अगुवाओं के निरुद्देश्य उथल-पुथल" की विचारधारा मार्क्स को मान्य नहीं। विरोधी गुणों से प्राप्त परिणाम भी स्थायी नहीं हैं। दोनों पक्षों में अंशतः गुण और दोष होते हैं अतः कोई भी हेय नहीं है। यदि संघर्ष की क्रिया-प्रतिक्रिया से कभी "समतुलन" (Balance) प्राप्त हो जाए तो वह भी स्थायी नहीं होगा क्योंकि परिणाम अवश्यंभावी है। एकता (Unity) केवल इस बात की द्योतक है कि विरोधी गुणों का अन्तर्मिलन होता है। और विरोधी बलों की परस्पर क्रिया प्रतिक्रिया ही संघर्ष है। परिवर्तन पदार्थ की मात्रा में ही नहीं अपि तु गुणों में भी होता है। बीज जब अंकुरित होता है तो परिमाण में विशालकाय वृक्ष होता है। साथ ही गुणों में भी सर्वथा नए प्रकार का और अधिक शक्तिशाली होता है। परिवर्तन हीनता की ओर नहीं होता अतः विकास है और यह विकास उत्प्लवन रूप (By leaps) में होता है। मात्रा और गुणों में प्रथम अवस्था से विकसित अवस्था सर्वथा भिन्न होती है अतः दोनों का परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं रहता। दोनों अवस्थाओं के बीच क्रम नहीं बना रहता मानों प्रथम अवस्था से छलांग लगा कर दूसरी अवस्था पर पहुँचे हों। इसका कारण "द्वन्द्व" है। संघर्ष का प्रत्येक हेर फेर साम्यावस्था (शान्ति) की ओर एक क़दम है। यह सिद्धान्त हम समाज में भी पाते हैं। भेद-भाव ऊँच-नीच संघर्ष के कारण है या यों कहिए कि उनका दूसरा नाम संघर्ष है। परिणाम यह निकलता है कि भेदभाव को कम करने के लिए, संघर्ष को हटाने के लिए या शान्ति को पाने के लिए संघर्ष ही एकमात्र साधन है। साम्यवाद इसी संघर्ष द्वारा शान्ति को लेना चाहता है जो कि उसके अनुसार तर्कसंगत भी है।

प्रश्न उपस्थित होता है कि प्रकृति (Matter) जड़ है अतः संसार में दृश्यमान चेतना का क्या कारण है। प्रकृति जड़ है अतः चेतना, गति एवं इच्छा आदि गुण उसके स्वभाव के विरुद्ध हैं। मार्क्स के समर्थकों का मत है चेतना, गति, विवेक आदि गुण भी अवस्था विशेष में प्रकृति में उद्भूत होते हैं। रसायनिक पदार्थों के मिलाने तथा विशेष परिस्थिति में भौतिक पदार्थों में ऊष्मा, गति, रूपान्तर आदि गुणों की उत्पत्ति प्रायः देखी जाती है। विस्फोटक पदार्थों में इनके अतिरिक्त अनन्त शक्ति भी पाई जाती है। इसी प्रकार चेतना गुण भी प्रकृति में अवस्था विशेष होने पर उत्पन्न होता है। इसके पक्ष में एक और भी युक्ति रखी जाती है। पदार्थों में अलग गुणों की सत्ता नहीं पाई जाती है। चेतना भी

गुणों के समान प्रकृति से स्वतन्त्र सत्तायुक्त संभव नहीं अतः यह भी उसका गुणमात्र है । जहाँ तक तर्क का प्रश्न है इस कथन में हमें कठिनाई नहीं दीखती ।

इस उपरोक्त कथन का सीधा परिणाम यह निकलता है कि आत्मा, परमात्मा, पाप-पुण्य तथा परलोक ये केवल शब्द ही हैं और इनके जुड़े हुए विचार मूढ़-विश्वास हैं । इनके पीछे वास्तविक तथ्य कुछ नहीं । मनुष्य का कर्तव्य है कि कपोलकल्पित बातों के पीछे ही अपना श्रम और समय नष्ट न करके समाज के भौतिक सुख को बढ़ाए क्योंकि मानसिक शान्ति इससे पूर्व संभव नहीं । संसारचक्र एक सतत प्रवाह के समान चलता जा रहा है । मनुष्य बुलबुले के समान उत्पन्न होना है और कुछ देर बाद समाप्त हो जाता है । जीवन का ध्येय क्या है ? सामाजिक विकास में यथाशक्ति अपना भी योगदान दे देना ही मनुष्य जीवन का ध्येय है ।

विरोधों की क्रिया प्रतिक्रिया का लेखा इतिहास है । इतिहास का विकासक्रम भी द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त का समर्थन करता है । आदि निसर्गावस्था में आत्मा तथा प्रकृति का मनुष्य को मिलाजुला ज्ञान था । समय बढ़ता गया और अध्यात्मवाद ने प्रथम प्राकृतिक अवस्था का अन्त कर दिया और एक चेतनामय सर्वशक्तिमान् परमात्मा का भेदक ज्ञान बढ़ता गया । इसका अन्तिम स्वरूप एकेश्वरवाद हुआ । यह अध्यात्मवाद भी विकास चक्र में स्थायी नहीं रहा और मार्क्स के अनुसार वर्तमान प्रकृतिवाद इसका अन्त कर देगा । यह प्रकृतिवाद प्रचीन प्रकृतिवाद से कहीं ज्यादा उन्नत, बढ़ा-चढ़ा एवं विकसित है । दर्शन, विज्ञान तथा इतिहास के क्षेत्र में हुई दो हज़ार वर्षों की उन्नति का परिणाम वर्तमान भौतिकवाद है । इसी प्रकार आदि मानव-समाज में सर्वस्वामित्व या समस्वामित्व (Common ownership) था । कालान्तर में यह प्रथा उत्पादन के लिए बाधक सिद्ध हुई और निजी स्वामित्व (Private ownership) ने उसका स्थान ग्रहण किया । विकासक्रम में वर्तमान उन्नति—विशेष कर कृषिक्षेत्र में—इस निजी स्वामित्व को उत्पादन के लिए भयंकर बाधा समझती है । यही कारण है आजकल प्रत्येक देश जमींदारी प्रथा को जड़ से हटा रहा है और इसके स्थान पर सामूहिक कृषि या समस्वामित्व को अपनाने का यत्न कर रहा है ।

कुछ कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं जिनका हल इतना सरल नहीं जैसा कि ऊपर प्रतीत होता है । मार्क्स का यह आरोप है कि हीगल की स्थापना का आधार अयुक्तिपूर्ण है । उदाहरण के लिए, राष्ट्र की आत्मा की कल्पना, इस शक्ति का राष्ट्र तथा संस्कृति के रूप में ही पूर्णतया विकसित होना, प्रकृति से पूर्व ही बुद्धि की सत्ता, विश्व राष्ट्र तक युक्ति को न पहुँचा कर इससे जान बूझ कर आँखें मूँद लेना तथा राष्ट्र के संकुचित सीमा में ही रहना, तानाशाही के समर्थन में अपने विचारों का प्रतिपादन करना, धर्म को कला का विरोधी ठहराना—ये सभी बातें रखी जा सकती हैं । भेदभाव के हटने पर ही संघर्ष का अन्त होगा । अतः संघर्ष के रहते हुए समाज में सुख-शान्ति सम्भव नहीं । प्रत्येक परिवर्तन द्वारा भेदभाव कुछ न कुछ कम हो जाता है अतः शान्ति की दिशा में एक कदम है । कल्पना कीजिए कि एक ऐसा समय आएगा जब विरोधी शक्तियाँ समतुलित हो जाएँगी । भेदभाव न रहने से साम्यवस्था में संघर्ष न रह जाएगा । परिणामतः निष्क्रियता जड़ता एवं जीवन का अन्त हो जाएगा । यदि चरम सुख की अवस्था का स्वरूप यही होगा तो इस शान्ति को प्राप्त करने के लिए विध्वंस, महायुद्ध एवं रक्तपात करना तुच्छ बात के लिए बहुत बड़ी क़ीमत देना है । इन महान् क्रान्तियों में से पार होकर जब मानव समाज उस साम्यावस्था को अनुभव करेगा तो "खोदा पहाड़ और निकला चूहा" की कहावत को चरितार्थ पाएगा ।

मार्क्सवादी इसका यही उत्तर देगा कि कोई भी अवस्था स्थायी नहीं क्योंकि परिणाम अवश्यम्भावी है । पर जहाँ तक तर्क का सम्बन्ध है यह उत्तर बुद्धिग्राह्य नहीं । अन्यथा, यह संघर्ष तथा विरोध अनन्त काल तक चलता रहेगा । यदि यह सत्य है तो जीवन और संघर्ष पर्यायवाची हैं । यदि जीना है तो संघर्ष में ही सम्भव है । अतः शान्ति के लिए वर्तमान और पुरातन उपाय न केवल व्यर्थ हैं अपि तु अप्राप्य हैं ।

रामपेट,
नागपुर

—रोहिताश्व विद्यालङ्कार
एम. ए., एल एल. बी.

कृष्ण काव्य में राधा का स्वरूप

कृष्णभक्ति-काव्य में प्रेम और माधुर्य की एकमात्र अधिष्ठात्री देवी राधा, व्रजेन्द्रनन्दन, नित्यनिकुञ्जलीलाधिपति श्री कृष्णचन्द्र की प्राण प्रेयसी एवं परमान्तरंगा बन कर भक्तों के कोमल हृदयोद्गारों को शब्द और अर्थ के समान परस्पर सम्पृक्त 'राधामाधव' की युगुलमूर्ति पर चढ़ाने के लिए विवश करती आई है। राधा की रूप-गङ्गा ने भक्तों की कौन कहे, रीतिकालीन विलासिता की जर्जर परम्परा में पले हुए कवियों के मानसिक धरातल को भी बिना आप्लावित किए नहीं छोड़ा। कुछ क्षण के लिए वह भी अपने वासना-वासित, कलुषित अन्तःकरण पर संयम की शिला रख मंगलाचरण के रूप में राधा का पाद-बन्दन करने लगते हैं :

> "मेरी भव-बाधा हरौ राधा नागरि सोय।
> जा तन की झाँई परे स्याम हरित द्युति होय॥"[१]

कवि ऐसा करने के लिए विवश थे; क्योंकि राधा और कृष्ण भक्तों और सहृदयों के मन को सदा से मथते आए हैं :

> "विना कृष्णं राधा व्यथयति समन्तान्मम मनो
> विना राधां कृष्णोऽप्यहह सखि मां विक्लवयति॥"[२]

परन्तु आश्चर्य की बात है कि इस माधुर्यमयी, प्रेमैकेलभ्या राधा का 'भागवत', 'विष्णुपुराण', 'हरिवंश' तथा महाभारतादि ग्रन्थों में नामोल्लेख भी नहीं पाया जाता। इसीलिए राधा बिना कृष्ण के एकाङ्गी प्रेम से असंतुष्ट होकर वैष्णवाचार्यों ने 'ब्रह्मवैवर्त्त' पुराण में राधा की मधुर सृष्टि की और भविष्य में भगवद् भक्तों को 'युगुल छवि' पर काव्य-विरचना करने के लिए प्रेरित किया। इस प्रकार राधा संस्कृत-काव्य में भक्तों की भावना के सहारे खड़ी होकर कालान्तर में अपना वह स्थान प्राप्त करती है जो शाश्वत और अमर है; तथा जिसका काव्य-संगीत भारतभूमि के प्रत्येक रज--कण में आज भी समाया है और भविष्य में भी रहेगा।

राधा की सृष्टि वैष्णवाचार्यों की अद्भुत कल्पना-शक्ति की परिचायिका है। उन्होंने अपनी अनुरागात्मिका चित्तवृत्ति और दार्शनिकता दोनों के रंग में राधा को रंग कर भक्त और चिन्तक दोनों के लिए हृदय-ग्राह्य बना दिया। ब्रह्मवैवर्तकार ने गोलोक की अधिष्ठात्री राधा को ही माना है। यह गोलोक विष्णु-लोक से ऊपर है। यहीं राधारानी विराजमान हैं। उनके सम्मुख रास-मण्डल की दिव्य छटा है। इसी 'रास' की 'रा' लेकर और 'धा' धातु से उसे संयुक्त कर राधा की सृष्टि की गई है—

> "रासे सम्भूय गोलोके स दधाव हरेः पुरः।
> तेन राधा समाख्याता पुराविद्भिर्द्विजोत्तम॥"[3]

अथवा :

> "................ राकारो दान वाचकः।
> धानिर्वाणञ्च तद्दात्री तेन राधा प्रकीर्तिता॥"[४]

परन्तु केवल इतना ही कहने से पुराणकार को सन्तोष नहीं होता। वह राधा और कृष्ण की नान्तरीयकता स्थापित करने के लिए, दार्शनिकता का सहारा लेकर दोनों का अभेद स्थापित करता है; जिसमें वेदान्तियों के ब्रह्म और माया इन दो विभिन्न तत्वों के निरसनपूर्वक अद्वैत की छाप है :

> "यथात्वञ्च तथा हञ्च भेदौ हि नावयोध्रुवम्।
> यथा क्षीरे च धावल्यं यथा नौ दाहिका सती॥"[५]
> यथा पृथिव्यां गन्धश्च तथा हं त्वयि सन्ततम्।
> विना मृदा घटं कर्त्तुं विना स्वर्णेन कुण्डलम्॥

× × ×

> यदा तेजस्स्वरूपोऽहं तेजोरूपासि त्वं तदा।
> न शरीरी यथाहञ्च तदा त्वमशरीरिणी॥

× × ×

---

[१] बिहारी सतसई

[२] उज्वल नीलमणि, सखी प्रकरण १२८

[३] ब्रह्मवैवर्त पुराण ब्रह्मखण्ड

[४] श्रीकृष्ण जन्मखंड

[५] वही

यथा त्वञ्च तथा हञ्च समौ प्रकृति पूरुषौ ।
नहि सृष्टिर्भवद्देवि ! तयोरकेतरं विना ॥”

इस प्रकार मधुरा भक्ति और दर्शन का रंग चढ़ा कर पुराणकार ने राधा के स्वरूप को सुस्थिर किया, जिस स्वरूप की झाँकी संस्कृत और हिन्दी के भक्ति-काव्य में देखी जाती है। दोनों भाषाओं के कवियों ने प्रायः राधा के स्वरूप को एक सा पाया; हाँ कुछ वैषम्य तो कहीं कहीं पर देखा जाता है। संस्कृत के कवियों ने प्रेम को उभयाश्रित माना है। राधा का अनुराग कृष्ण के प्रति और कृष्ण का राधा के प्रति अपने स्वाभाविक रूप में विद्यमान है। तभी राधा, कृष्ण-दर्शन में तन्मय होकर दधि-रिक्त भाण्ड में अपनी मथानी चलाती है। उस बावली को इतना भी ध्यान नहीं कि भाण्ड में दही नहीं है और उधर गाय को दुहने के लिए बछड़े को बाँधते हुए कृष्ण उसके स्तनों पर चंचल दृष्टि विचालते हुए पाए जाते हैं :

“राधा पुनातु जगदच्युतदत्तचित्ता–
मन्थानमाकलयती दधिरिक्तपात्रे ॥[1]
तस्याः स्तनस्तवकचंचललोल,
दृष्टिर्देवोऽपि दोहनधिया वृषभं निरुन्धन् ॥”

यही दशा हिन्दी-काव्य में भी है :

“राधिका कान्ह को ध्यान धरैं तव
कान्ह ह्वै राधिका के गुण गावैं ।
त्यों अँसुवा बरसैं वरसाने को, पाती
लिखैं लिखि राधे को ध्यावैं ॥
राधे ह्वै जाय घरीक में ‘देव’,
सुप्रेम की पाती लै छाती लगावैं ।
आपने आप ही में उरझैं सुरझैं,
उरझैं समुझैं समुझावैं ॥”

यह वियोग की दशा है ! वियोग में दोनों पक्षों में प्रेम अपने व्यापक रूप में प्रस्फुटित होकर दोनों प्रेमियों को सराबोर कर डालता है। यह ठीक भी है, क्योंकि विरह ही प्रेम का जीवन है; मिलन तो प्रेम का अन्त है। हिन्दी के एक कवि ने कहा है :

“मिलन अन्त है मधुर प्रेम का और विरह जीवन है ।
विरह प्रेम की जागृत-गति है और सुषुप्ति मिलन है ॥”

कृष्ण के विरह में विह्वल राधा उनका मुखावलोकन करने के लिए आकुल है। रात्रि और दिन याम याम करके चले जाते हैं; परन्तु वह अपने प्राण-धन प्रियतम का मुखावलोकन नहीं कर पाती।[2] यही नहीं उसे विरह-ज्वर के कारण निद्रा भी नहीं आती, जिससे स्वप्न में ही वह कृष्ण के दर्शन कर सन्तोष पा लेती। उसे वह व्रजाङ्गनाएँ अधिक सौभाग्यवती प्रतीत होती हैं जो स्वप्न में कृष्ण का दर्शन तो कर लेती हैं :

“याः पश्यन्ति प्रियं स्वप्ने धन्यास्ताः सखि योषितः ।
अस्माकं तु गते कृष्णे गता निद्रापि वैरिणी ॥”[3]

इधर राधा के वियोग में कृष्ण की विचित्र दशा है। वह राधा के अनुचिन्तन में तन्मय होकर न तो गोचारण करते हैं, न वंशी बजाते हैं और न कालिन्दी तटस्थ वनों से चलते हुए वायु का ही सेवन करते हैं; अपि तु कुञ्ज में बैठ अपने शरीर को झुका कर उच्छ्वास ले रहे हैं :

“वत्सान्न चारयति वादयते न वेणु,
मामोदते न यमुना-वनमारुतेन ।
कुञ्जे निलीय शिथिलंवलितोत्तमाङ्ग–
मन्तस्त्वया श्वसिति सुन्दरि ! नन्दसूनुः ॥”[4]

हिन्दी के एक कवि ने राधा और कृष्ण के अन्योन्याश्रित प्रेम को अत्यन्त सजीव ढंग से चित्रित किया है :

“राधिका के हिय झूलत साँवरो,
साँवरे के हिय झूलति राधा ॥”

महाकवि सूरदास ने अधिकांशतः कृष्ण की बाल-लीलाओं का चित्रण किया है। वहाँ इस प्रकार की कोई बात नहीं है। क्योंकि यह सब बातें वियोग की हैं।

---

[1] कृष्ण कर्णामृतम्-२५। द्वितीय आश्वास, (South Indian version)

[2] गतो यामो गतौ यामौ गता यामा गतं दिनम् ।
हा हन्त किं करिष्यामि न पश्यामि हरेर्मुखम् ॥ (श्री रूप गोस्वामी विरचित पद्यावली, श्लो० ६१)

[3] पद्यावली ६२

[4] ,, ४६

वहाँ संयोगवाली अवस्था की अनुकूल रागात्मक प्रवृत्ति का दर्शन है। कृष्ण का प्रेम राधा के प्रति और राधा का कृष्ण के प्रति अपने विशुद्ध रूप में विद्यमान है। यह 'लरिकाई' का प्रेम है जो 'छोरे' नहीं छूटता है :

"धेनु दुहत अति ही छवि बाढ़ी।
एक धार दोहनि पहुँचावत, एकधार जहँ प्यारी ठाढ़ी।"

तथा

"करि ल्यो न्यारी हरि आपुन गैयाँ।
नहि न वसात लाल कछु तुमते सबै ग्वाल इक ठैयाँ॥"

यहाँ कहीं प्रेम में कसक और वेदना नहीं, अपि तु एक पुलक और आनन्द है। वेदना और क्रन्दन को उन्होंने 'भ्रमर गीत' के लिए रख छोड़ा है; परन्तु वहाँ भी वेदना की हाहाकारिता नहीं और न मानसिक अज्ञात पीड़ा का कोलाहल। विरह-दुख अपने संयत-स्वरूप का अतिक्रमण नहीं करता। साथ ही उन्होंने राधा का नामोल्लेख कर निखिल-वेदना-भार से उसे बोझल भी नहीं किया। सूर की दृष्टि में सभी गोपाङ्गनाएँ, जो कृष्ण को अपना एकमात्र प्राणधन और प्रियतम मानती थीं, राधा के समान थीं। उनका दुःख राधा से किसी अंश में कम नहीं था। यही आशय भागवतकार का भी है। सम्भवतः इसीलिए वह राधा का नाम भी नहीं लेता; हाँ भक्त लोग अपने प्रतिभा-वैचित्र्य से किसी न किसी प्रकार निकाल लेते हैं। भागवतकार ने गोपियों की कृष्ण के प्रति अनन्य प्रियता का जैसा सुन्दर वर्णन किया है, वैसा सूर और रत्नाकर को छोड़ कर किसी ने नहीं किया। कृष्ण के यह कहने पर "हे गोपिकाओ, तुम इस घोर रात्रि में अपने पतियों को छोड़ कर क्यों चली आई हो। तुम्हारा यह कार्य गर्हणीय है। पति चाहे जैसा हो त्याज्य नहीं है। तुम अपने अपने घरों को लौट जाओ। यहाँ रहना ठीक नहीं" इत्यादि।[1] गोपिकाएँ अपनी अनन्यपरता को दिखाने के लिए निरतिशय प्रेम सम्वलित शब्दों द्वारा कृष्ण को निरुत्तर कर देती हैं :

"चित्तं सुखेन भवतापहृतं गृहेषु,
यन्निर्विशत्युत करावपि गृह्यकृत्ये।
पादौ पदं न चलत स्तव पादमूलाद्,
यामः कथं व्रजमथो करवाम किं वा॥"[2]

निस्सन्देह राधा के ही समान सभी व्रजयुवतियों के हृदय में कृष्ण के प्रति असीम अनुराग था, इसीलिए प्रज्ञाचक्षु महात्मा सूरदास ने सभी के अन्तःकरण में बैठ कृष्ण के प्रति उनके अगाध प्रेम को व्यक्त किया है। सभी व्रजवनिताएँ अपनी युक्तियों से उद्धव की ज्ञान-गरिमा को धूल में मिला देती हैं :

"ऊधो मन नाहीं दस बीस।
एक हुतो सो गयो स्याम संग को अराध तुव ईस॥"[3]

सभी कृष्ण का नाम सुनने के लिए आतुर हैं। कहीं कोकिला को और कहीं सारंग को सम्बोधित करके कहती हैं—

"कोकिल हरि को बोल सुनाव।
मधुवन तें उपटारि स्याम कहँ व्रज लै कै आव॥?"

× × ×

"कराव रे सारंग ! स्यामहिं सुरति कराव।
पौढ़े होहिं जहाँ नन्द नन्दन ऊँची टेर सुनाव॥"

महाकवि रत्नाकर ने कृष्ण के इस व्यापक प्रेम को और भी सजीव ढंग से चित्रित किया है। सभी गोपिओं की उद्धव द्वारा कृष्ण की 'पाती' का समाचार देने पर विचित्र दशा हो जाती है। इतनी प्रेमी-विषयक आतुरता और अनन्यता का उदाहरण सम्भवतः अन्यत्र नहीं मिलेगा :

"उझकि उझकि पद-कंजन के पंजन पै
पेखि पेखि पाती छाती छोहन तबै लगीं।
हमको लिख्यो है कहा, हमको लिख्यो है कहा,
हमको लिख्यो है कहा कहन सबै लगीं॥"[4]

इस प्रकार हम देखते हैं कि कृष्ण का प्रेम केवल राधैकनिष्ठ नहीं है; अपि तु सभी व्रजाङ्गनाओं के हृदय में स्थित है। भागवतकार ने भी इसी गोपिकानिष्ठ प्रेम का चित्रण किया है। महर्षि वेदव्यास, सम्भवतः इसीलिए उद्धव के मुख से व्रजस्त्रियों की चरण-रज की

---

[1] भागवत, स्कन्ध १० अध्याय २९ श्लोक १८-२७

[2] ,, ,, ,, ३४

[3] सूरसागर

[4] उद्धवशतक

बन्दना करवाते हैं :

“वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्ष्णशः ।
यासां हरिकथोद्गीतं पुनाति भुवनत्रयम् ॥”[1]

अष्टछाप के प्रख्यात कवि श्री नन्ददास इसी प्रकार उद्धव के हृदयोद्गारों को व्यक्त करते हैं :

“अब होइहौं व्रज भूमि की है पग मारग धूरि ।
विचरत पद मो पै परै सब सुख जीवन मूरि ॥
मुनिन हूँ दुर्लभै ॥”[2]

सचमुच ‘बरसाने की बयार’ ने उद्धव के ज्ञान को एक फूंक में उड़ा दिया था । उन्होंने देखा व्रज में गोपिकाओं का करुण क्रन्दन; सभी की मानसिक पीड़ा का हाहाकार, अव्यक्त वेदना का भैरव संगीत और कण्ठ से उच्छ्वसित प्रेम-वाणी ; जिसने उद्धव के जड़ीभूत हृदय को द्रवित कर दिया और गोपिकाओं की अश्रु-गंगा में उनकी ज्ञान-नौका बह गई; क्योंकि चारों ओर से उनके कानों में अनन्य प्रेम की पुकार गूँज रही थी :

(१) “लौटि पौटि बात को बवंडर बनावत क्यों,
हियतैं हमारे घनश्याम हरि हैं नहीं ॥
(२) हम उनकी वह प्रीतम हमारे हैं ।
(३) वे तो हैं हमारे ही हमारे ही हमारे ही औ,
हम उनहीं की उनहीं की उनहीं की हैं ॥
(४) सहि हैं तिहारे कहे साँसति सवै पै वस,
एती कहि देउ कै कन्हैया मिलि जाइगो ॥”

इस प्रकार सूर और तन्मार्गगामी अन्य कवियों ने सभी व्रजाङ्गनाओं को कृष्ण के प्रति निश्छल, निष्कलङ्क और दिव्यप्रेम की पुजारिनी मान अपने काव्य में उन्हें राधा के समकक्ष अथवा उससे भी उच्च स्थान दिया है ; क्योंकि वे ग्रामीण-वधुएँ थीं और अपनी लोक-लज्जा तथा सामाजिक शृङ्खलाओं एवं रुढ़ि-बन्धनों को तोड़ कर उसी प्रकार मिली थीं जैसे पक्षी पिंजरे से किसी प्रकार छुटकारा पाकर उड़ जाता है :

“ते पुनि तिंहि मग चली रंगीली तजि गृह-संगम ।
जनु पिंजरन तैं छुटे छुटे नव-प्रेम विहंगम ॥६१॥”[3]

कृष्ण के प्रति उनके अगाध प्रेम ने माता, पिता, बन्धु, पति आदि के द्वारा रोके जाने पर भी नहीं रुकने दिया । भागवतकार कृष्ण के प्रति उनकी इस अनन्य मनस्कता का वर्णन करता है :

“ता वार्यमाणाः पतिभिर्भ्रातृभिः पुत्रबन्धुभिः ।
गोविन्दापहृतात्मानो न व्यवर्तन्त मोहिताः ॥”[4]

अन्ततोगत्वा प्रेमनदी की भाँति वे कृष्ण-सागर में समा जाती हैं :

“आइ उमंग सौं मिली रंगीली गोपवधूयौं ।
नन्दसुवन नागर-सागर सौं प्रेम-नदी ज्यौं ॥१४॥”[5]

इतनी लगन, इतनी तन्मयता राधा में नहीं पाई जाती ; क्यों न हो वे तो वृषभानुदुलारी ही ठहरीं ; तभी तो वे कृष्ण से गो-दोहन भी कराती हैं :

“हरि सौं धेनु दुहावति प्यारी ।”

और कृष्ण उनके कथनानुसार आज्ञा का पालन करते हुए गाय दुहने लगते हैं :

“दुहि दीन्हीं राधा की गाय ।”

राधा बड़े घरन की लाड़ लड़ैती है ; इसीलिए कृष्ण इस प्रकार का आत्म-समर्पण करते हुए पाए जाते हैं । इस समर्पण की चरम सीमा वहाँ पहुँचती है, जब कृष्ण एक सखी का रूप धर राधा के पास आते हैं और सखी ही नहीं अपि तु राधा की दासी बनने के लिए तैयार हो जाते हैं :

“हन्ताधुनापि नहि विश्वसिषि प्रसीद
दासी भवामि किमु मां नु सखी करोषि ।
त्वं शाधि साधु धिसु वा तुद वा गतिर्मे
राधे, त्वमेव शपथं करवाणि विष्णोः ॥५०॥”[6]

हिन्दी के आधुनिक कवियों ने राधा के कुछ नवीन स्वरूप को खड़ा किया ; उन्होंने उसके प्रेम के पहलू पर अत्यधिक विचार न कर शृङ्गारिक पहलू पर अधिक विचार किया है ; जिसमें प्राचीनता की छाप बहुत कम है :

---

[1] भागवत स्कन्ध १०, अध्याय ४७ श्लोक ६३

[2] नन्ददासकृत ‘भ्रमर गीत’

[3] उद्धवशतक—नन्ददासकृत—रासपञ्चाध्यायी

[4] श्रीमद्भागवत-स्कन्ध १०, अध्याय २९ श्लोक ८

[5] रासपञ्चाध्यायी—नन्ददास

[6] प्रेमसम्पुट—विश्वनाथ चक्रवर्ती

"रूपोद्यान-प्रफुल्ल-प्राय–कलिका, राकेन्दु-बिम्बानना ।
तन्वंगी कल-हासिनी सुसरिका क्रीड़ा-कला पुत्तली ॥
शोभा-वारिधि की अमूल्य मणि सी लावण्य लीलामयी ।
श्रीराधा-मृदुभाषिणी मृगदृशी–माधुर्य की मूर्ति थीं ॥

× × ×

फूले कंज–समान मंजु-दृगता थी मत्तताकारिणी ।
सोने सी कमनीय-कान्ति तन की थी दृष्टि उन्मेषिनी ॥
राधा की मुसकान की मधुरता थी मुग्धता मूर्ति सी ।
काली कुंचित-लम्बमान अलकें थीं मानसोन्मादिनी ॥"[1]

यही नहीं वह कृष्ण के प्रेम में विभोर होकर आँसुओं की आकाश–गंगा में नहीं तैरती; अपि तु अपना बहुत-सा समय वृद्धों और दीनों की सेवा में लगाती है। हाँ, यह सब कुछ वर्तमान युग के लिए तो ठीक है, परन्तु इसमें सहृदयों और भक्तों के मन रमाने की सामग्री बहुत कम है। राधा और कृष्ण के दिव्य-प्रेम की झाँकी जैसी संस्कृत और हिन्दी के प्राचीन काव्य-ग्रन्थों में देख पड़ती है, वह अपना निजी महत्व रखती है। राधा-माधव की प्रेम-शैवलिनी व्रजभूमि के कण कण को सिक्त करती हुई इस प्रकार प्रवाहित हुई है कि सभी व्रजाङ्गनाएँ अपने अंचल पसार पसार कर विधाता से यही भीख माँगती हैं:

"हे विधना, तो सों अँचरा पसारि माँगौं,
जनम-जनम दीजो या ही व्रजवसिबौ ॥"[2]

—साहित्याचार्य मातृदत्त त्रिवेदी
एम. ए.

लखनऊ

स्वतन्त्रता की प्राप्ति

………स्वतन्त्रता मनुष्य के अधिकारों की और सुख की प्राप्ति मात्र ही नहीं है। यदि सुख की प्राप्ति ही समाज का एकमात्र उद्देश्य हो तो स्वतन्त्रता अनावश्यक है………स्वतन्त्रता का यह अर्थ नहीं है कि हम अपनी मनमानी कर सकें। स्वतन्त्रता वह अधिकार है जिससे कि हमें उस कार्य करने की समर्थता प्राप्त होती है जिसे कि हमें अवश्य करना जाहिए।………मनुष्य प्रत्येक युग में स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए संघर्ष करता रहा है परन्तु स्वतन्त्रता को एकमात्र सामाजिक और राजनैतिक परिधियों में सीमित नहीं किया जा सकता।………वर्त्तमान जनसत्ता कभी सफल नहीं हो सकती यदि मनुष्य अपनी इच्छा की प्राप्ति को ही सर्वोपरि समझ ले।…………

—एक्टन
टाइम (साप्ताहिक)

---

[1] प्रियप्रवास : हरिऔध

[2] छीतस्वामी

राधा का अध्यात्म

अतृप्ति में ही जिसकी प्रार्थना है श्री जयदेव की भाषा में :

"बाधां विधेहि मलयानिल पञ्चबाण
प्राणान्गृहाण न गृहं पुनराश्रयिष्ये ।
किं ते कृतान्तभगिनि क्षमया तरंगै–
रङ्गानि सिञ्च मम शाम्यतु देहदाहः ॥९:७॥"

निश्चय भी उसका कैसा दृढ कि :

"न गृहं पुनराश्रयिष्ये ।"

किन्तु क्यों ? कारण कुछ भी तो होगा ही । क्या 'गृह' पर 'देहदाह' के शमन का साधन नहीं ? बात कुछ है ऐसी ही । राधा से सखी भी तो यही कहती है इस दशा में :

"हरिरभिसरति वहति मधुपवने
किमपरमधिकसुखं सखि भवने ॥ १ ॥
माधवे मा कुरु मानिनि मानमये ॥ ध्रु० ॥१८ ९॥"

'भवन' में 'अपर' और 'अधिकसुख' नहीं । क्यों ? अभिसार में ही इसका निवास क्यों है ? राधा और माधव का गुह्य रूप तो प्रगट होता है उनके इस भेष से न—

"प्रातर्नीलनिचोलमच्युतमुरः संवीतपीतांबरं
राधायाश्चकितं विलोक्य हसति स्वैरं सखीमण्डले ।
व्रीडाचञ्चलमञ्चलं नयनयोराधाय राधानने
स्वादुस्मेरमुखोऽयमस्तु जगदानन्दाय नन्दात्मजः
॥१०:७॥"

किन्तु 'सखीमण्डल' से अलग उनका रूप क्या है ? क्या वहाँ भी कृष्ण किशोर और राधा हैं किशोरी ? जी नहीं । किशोर कृष्ण को डर क्या ? 'भीरु' तो है बालक कृष्ण न ? तो फिर 'भीरु' कृष्ण से 'नन्दनिदेशिता' राधा का नाता क्या ? क्या वह भी कृष्ण की भाँति ही रूप बदल सकती है ? जी नहीं । रूप धारण का विधान 'केशव' में ही है । जयदेव ने इसी से तो स्पष्ट कर लिख दिया है :

"केशव धृतदशविधरूप जय जगदीश हरे ॥"

और इस रूप से उनको यहाँ तक अलग समझा है कि अवतार रूप में ग्रहण किया है 'हलधर' को ही :

"वहसि वपुषि विशदे वसनं जलदाभं
हलहतिभीतिमिलितयमुनाभम् ।
केशव धृतहलधररूप जय जगदीश हरे ॥८:१॥१॥"

जो हो, 'नन्दनिदेशिता' राधा सभी प्रकार से इस योग्य अवश्य है कि इस घोर दुर्दिन में नन्द 'भीरुमाधव' को उसके हाथ में सौंप दें और खुल कर कह दें कि तुम्हीं इसको घर पहुँचा दो । देखिए न उनका स्पष्ट कथन है श्री गीतगोविन्द में :

"मेघैर्मेदुरमम्बरं वनभुवः श्यामास्तमालद्रुमै–
र्नक्तं भीरुरयं त्वमेव तदिमं राधे गृहं प्रापय ।"

तो फिर इस राधा का घर कहाँ और उससे नन्द का लगाव क्या ? कदाचित् 'श्रीगीतगोविन्द' में इसका संकेत मिले । पर उल्लेख तो इसका कहीं है नहीं । एक बात और । 'श्रीगीतगोविन्द' की किसी किसी प्रति में यह श्लोक पाया जाता है :

"त्वामप्राप्य मयि स्वयंवरपरां क्षीरोदतीरोदरे
शंके सुन्दरि कालकूटमपिबन्मूढो मृडानीपतिः ।
इत्थं पूर्वकथाभिरन्यमनसो निक्षिप्य वामाञ्चलं
राधायाः स्तनकोरकोपरिचलन्नेत्रो हरिः पातु वः
॥६॥१२॥"

किन्तु इसके प्रक्षिप्त होने में कोई सन्देह नहीं । राधा को लक्ष्मी का 'रूप' समझना ठीक नहीं । जयदेव ने कुछ समझ कर ही तो आरम्भ में ही सचेत कर दिया था :

"पद्मापयोधरतटीपरिरम्भलग्न,
काश्मीरमुद्रितमुरो मधुसूदनस्य ।
व्यक्तानुरागमिव खेलदनङ्गखेद,
स्वेदाम्बुपूरमनुपूरयतु प्रियं वः ॥"

और टीकाकार श्रीकुम्भ नृपति ने भी कुछ सोच कर ही

तो इसकी व्याख्या में लिख दिया है :

"अयमालिङ्गति मां परन्त्वनुरागो राधायामेवेति मुद्रार्थः ।"

अच्छा तो वास्तव में जयदेव का इष्ट है क्या जो उन्होंने आरम्भ में ही इस श्लोक का विधान कर दिया और राधा के प्रेमप्रपंच में पड़ने के पहले ही फिर उसको झलका दिया ? बात यह है कि 'मर्यादा' के भीतर ही जयदेव 'पुष्टि' का प्रसार चाहते हैं, कुछ सर्वथा स्वच्छन्द कदापि नहीं। जी। यह इसी मर्यादा का प्रसाद है कि पिता नन्द राधा से स्वयं कहते वा कह देते हैं कि :

"नक्तं भीरुरयं त्वमेव तदिमं राधे गृहं प्रापय ।"

'भीरु' को 'वीर' बनाना 'शक्ति' का ही काम है न ? और सो भी रसमय वीर बनाना 'आह्लादिनी' शक्ति का। इसी से तो 'माधव' का भी इस 'राधा' के लिए विषाद है :

"किं करिष्यति किं वदिष्यति सा चिरं विरहेण ।
किं जनेन धनेन किं मम किं गृहेण सुखेन ॥२:७॥३॥"

'विपरीत' के प्रति इसी से कवि का भाव है :

"वामांके रतिकेलिसंकुलरणारम्भे तया साहस-
प्रायं कान्तजयाय किंचिदुपरि प्रारम्भि यत्संभ्रमात् ।
निष्पन्दा जघनस्थली शिथिलिता दोर्वाल्लिरुत्कम्पितं
वक्षो मीलितमक्षि पौरुषरसः स्त्रीणां कुतः सिध्यति ॥
४ : १२॥

अतएव निष्कर्ष निकला कि राग-रंग में भी सिद्धि बसती है मर्यादा के भीतर ही। उसके बाहर तो बस 'साहस' भर है। कुछ सच्चा उत्साह और उल्लास नहीं। निदान कवि का अनुरोध है :

"श्रीजयदेववचसि रुचिरे हृदयं सदयं कुरु मण्डने ।
हरिचरणस्मरणामृतनिर्मितकलिकलुषज्वरखण्डने ॥"
८:२४॥ १२॥

'कलिकलुषज्वरखण्डन' के विचार से श्री जयदेव ने 'श्रीमद्भागवत' की 'अन्तर्धान लीला' को जो रूप दिया उसी का नाम तो 'गीतगोविन्द' है ? उसमें कहा गया था :

"अनयाऽऽराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः ।
यन्नो विहाय गोविन्दः प्रीतो यामन यद्रहः ॥"२८:३०॥१०

जयदेव ने इसी को कहा राधा और नन्द ने दुर्दिन में सौंप दिया इसी को कृष्ण। किन्तु 'कुञ्ज' में पहुँचे नहीं कि इसकी स्थिति हो गई :

"वसन्ते वासन्तीकुसुमसुकुमारैरवयवै-
र्भ्रमन्तीं कान्तारे बहुविहितकृष्णानुसरणाम् ।
अमन्दं कन्दर्पज्वरजनितचिन्ताकुलतया
वलद्बाधां राधां सरसमिदमूचे सहचरी ॥ १:२॥ १॥"

हमें इस 'सहचरी' के नामधाम का कुछ पता नहीं; परन्तु पुरा पता है इस बात का कि यही कहती है, कृष्ण का पता बता, अन्त में इस राधा से :

"त्वां चित्तेन चिरं वहन्नयमतिश्रान्तो भृशं तापितः
कन्दर्पेण च पातुमिच्छति सुधासंबाधबिम्बाधरम् ।
अस्यांक तदलंकुरु क्षणमिह भ्रूक्षेपलक्ष्मीलव-
क्रीते दास इवोपसेवितपदाम्भोजे कुतः संभ्रमः ॥"
६,२१॥ ११॥

यदि 'राधा' 'वासना' है तो यह 'सहचरी' ? समाधान में स्वयं जयदेव मौन हैं। आप अपनी 'अन्तरात्मा' से पूछें। और यदि अध्यात्म के रूप में पुराण से कुछ सुनना चाहें तो कृपया टांक लें कि :

श्रीभगवानुवाच :

"त्वयाऽऽयुस्तपसा लब्धं यावदायुश्च ब्रह्मणः ।
तदेव देहि धर्माय गोलोकं गच्छ सुन्दरि ॥
तन्वाऽनया च तपसा पश्चान्मां च लभिष्यसि ।
पश्चाद्गोलोकमागत्य वाराहे च वरानने ॥
वृषभानुसुता त्वं च राधाच्छाया भविष्यसि ।
मत्कलांश्च रायाणस्त्वां विवाहे ग्रहीष्यति ॥
मां लभिष्यसि रासे च गोपीभी राधया सह ।
राधा श्रीदामशापेन वृषभानुसुता यदा ॥
सा चैव वास्तवी राधा त्वं च च्छायास्वरूपिणी ।
विवाहकाले रायाणस्त्वां च च्छायां ग्रहीष्यति ॥
त्वां दत्वा वास्तवी राधा साऽन्तर्धाना भविष्यति ।
राधेवेति विमूढाश्च विज्ञास्यन्ति च गोकुले ॥
स्वप्ने राधापदाम्भोजं न हि पश्यन्ति बल्लवाः ।
स्वयं राधा मम क्रोडे छाया रायाणकामिनी ॥"

'ब्रह्मवैवर्त' पुराण का यह अवतरण श्रीकृष्णजन्मखण्ड के षडशीतितम अध्याय से लिया गया है। इसमें 'वास्तव' और 'छाया' राधा का उल्लेख हुआ है। साथ ही

राधापति 'रायाण' का भी उल्लेख है। इसके पहले भी 'प्रकृतिखण्ड' के एकोनपंचाशतम अध्याय में वर्णित है :

राधा जगाम वाराहे गोकुलं भारतं सति।
वृषभानोश्च वैश्यस्य सा च कन्या बभूव ह॥
अयोनिसम्भवा देवी वायुगर्भा कलावती।
सार्द्धं रायाणवैश्येन तत्संबन्धं चकार सः॥
सुषाव मायया वायुं सा तत्राविर्बभूव ह॥
अतीते द्वादशाब्दे तु दृष्ट्वा तां नवयौवनम्।
छायां संस्थाप्य तद्गेहे सान्तर्द्धानं चकार ह।
बभूव तस्य वैश्यस्य विवाहश्छायया सह॥

अच्छा ही होगा यदि यहीं यह भी कह दिया जाय कि यह रायाण है कृष्ण का मामा। कारण यह कि इसी के आगे कहा गया है निर्भ्रान्त भाषा में :

कृष्णमाता यशोदा या रायाणस्तत्सहोदरः
गोलोके गोपकृष्णांशः संबंधात्कृष्णमातुलः

तो इस विचार से राधा 'सम्बन्ध' में कृष्ण की मामी हुई न? तो फिर इस 'मामी' का रहस्य भी कुछ क्यों न खुले? लीजिए, एक गाथा है :

अविअह्लपेक्खणिज्जेण तक्खणं मामि तेण दिट्ठेण।
सिविणअपीएण व पाणिएण तह्णा व्विअ ण फिट्टा॥९३॥१॥

[अवितृष्णप्रेक्षणीयेन तत्क्षणं मातुलानि तेन दृष्टेन।
स्वप्नपीतेनेव पानीयेन तृष्णैव न भ्रष्टा॥]

इसके प्रसंग में टीकाकार श्री गङ्गाधर भट्ट ने लिखा है :

नागरिकानुरोधेन प्रतिपन्नदूतीभावया मातुलान्या
कथित सौन्दर्यं तं प्रत्यनुरक्ता नायिका तामाह।

'गाथासप्तशती' में ऐसी गाथाओं की भरमार है जिनमें 'मामि' का प्रयोग हुआ है। 'मामी' ने प्रिय-प्रिया के मिलाने का कैसा शुभ कार्य किया है, यह उससे अत्यन्त स्फुट है। विचार के लिए एक गाथा और लीजिए :

दिट्ठा चूआ अग्घाइआ सुरा दक्खिणाणिलो सहिओ।
कज्जाइँ व्विअ गरुआइँ मामि को वल्लहो कस्स॥९७॥१॥
[दृष्टाश्चूता आघ्राता सुरा दक्षिणानिलः सोढः।
कार्याण्येव गुरुकाणि मातुलानि को वल्लभः कस्य]

'मामी' का कार्य यहाँ भी वही है न जो ऊपर दी गई पहली गाथा में? और भी-

कैअवरहिअं पेम्मं णत्थि व्विअ मामि माणुसे लोए।
अह होइ कस्स विरहो विरहे होत्तम्मि को जिअइ॥२४॥२॥
[कैतवरहितं प्रेम नास्त्येव मातुलानि मानुषे लोके।
अथ भवति कस्य विरहो विरहे भवति को जीवति॥]

अस्तु। श्रीगीतगोविन्द के नन्द ने 'रहः केलि' के निमित्त यदि इस 'मामी' के हाथ कृष्ण को सौंपने का कार्य कर दिया तो कुछ परम्परा का ही पालन किया, और इसके आगे मामी राधा ने जो कुछ किया वह भी तो किसी परिपाटी का ही आचरण था? मामी के साथ परिहास करने की परम्परा पुरानी जान पड़ती है। निश्चय ही राधा और कृष्ण की इस 'रहः केलि' का रहस्य भी कुछ निराला है। 'छाया' और 'वास्तवी' राधा की यह लीला किसे नहीं विस्मय में डाल देती है? 'छाया' रायाणपत्नी वृन्दा राधा है तो 'वास्तवी' रासेश्वरी राधा। दोनों राधाओं को अलग कर लख पाना खेल नहीं। यहाँ का अध्यात्म ही कुछ और है।

'गाथासप्तशती' की एक गाथा है जिसमें राधिका का नाम आया है और आया है इसी राधिका के हेतु। देखिए :

एकस्यामेवानुरक्तं बहुवल्लभं नायक-
मुद्दिश्य कापि कृष्णव्याजेनाह
मुहमारुएण तं कह्न गोरअं राहिआए अवणेन्तो।
एताणँ बल्लवीणं अण्णाणँ वि गोरअं हरसि॥८९॥१॥

[मुखमारुतेन त्व कृष्ण गोरजो राधिकाया अपनयन्।
एतासां बल्लवीनामन्यासामपि गौरवं हरसि॥]

किन्तु यह 'हाल' की रचना नहीं। इसके रचयिता का नाम तो दिया गया है 'पोट्टिस' वा 'पोट'। पोट के बारे में हमें कुछ पता नहीं। हाँ, एक किसी 'विधि-विग्गह' की भी गाथा है जिसमें इस 'रहः केलि' का संकेत है। लीजिए वह भी प्रस्तुत है :

अज्जवि बालो दामोअरो त्ति इअ जम्पिए जसोआए।
कह्नमुहपेसिअच्छं णिहुणं हसिगं वअवहहिं॥१२॥२॥
[अद्यापि बालो दामोदर इति इति जल्प्यते यशोदया।
कृष्णमुखप्रेषिताक्षं निभृतं हसितं व्रजवधूभिः॥]

हम इस विषय में विशेष कुछ कहना नहीं चाहते। नाम के रूप में 'राधा' अर्वाचीन नहीं। राधासुत कर्ण से 'राधा' की प्राचीनता सिद्ध है न? रही 'रहःकेलि',

तो उसकी भी प्राचीनता असन्दिग्ध है। किन्तु जो बात अस्पष्ट है वह है दोनों का मेल। राधा को रासेश्वरी की उपाधि कब और किस काल में मिली, यही स्फुट नहीं हो पाता। हो भी कैसे? इसका कहीं कोई इतिहास भी तो नहीं। हाँ, आभीर और 'बल्लव' का सहारा अवश्य है। परन्तु उससे सधता क्या है? उन्हीं का कौन सा सच्चा इतिहास सब के सामने धरा है? हाँ, तो भी उनके आधार पर ऊहापोह को स्थान बहुत है। कोई चाहे तो इस दृष्टि से उनमें विशेष रस ले सकता है। साथ ही यह भी ध्यान देने की बात है कि तमिल साहित्य के अनूठे काव्य 'शिलप्पदिकारम्' में भी कुछ ऐसी सामग्री है जिससे राधा के इतिहास में कुछ प्रकाश मिल सकता है। उसमें जिस 'पिन्ने' का उल्लेख है उसका काम तो प्रायः राधा का ही है, पर उसका नाम मेल में है रुक्मिणी के ही। रुक्मिणी से तमिल में 'नपिन्नै' सध सकता है वा नहीं, इसकी मीमांसा उक्त भाषा के पण्डित करें और देखें यह कि वहाँ कृष्णलीला का प्रचार कब और किस रूप में हुआ। क्या तमिल 'आयर' का संस्कृत 'आभीर' से कुछ लगाव है?

राधा के विषय में संक्षेप में टाँकना यह है कि 'गर्ग' के वचनानुसार:

श्रीदामशापाद्दैवेन गोपी राधा च गोकुले।
वृषभानुसुता सा च माता तस्याः कलावती॥
कृष्णस्यार्धाङ्गसंभूता नाथस्य सदृशी सती।
गोलोकवासिनी सेयमत्र कृष्णाज्ञयाऽधुना॥
अयोनिसंभवा देवी मूलप्रकृतिरीश्वरी।
मातुर्गर्भं वायुपूर्णं कृत्वा च मामया सती॥
वायुनिःसरणो काले धृत्वा च शिशुविग्रहम्।
आविर्बभूव मायेयं पृथ्व्यां कृष्णोपदेशतः॥
वर्धते सा व्रजे राधा शुक्ले चन्द्रकला यथा।
श्रीकृष्णतेजसोऽर्धेन सा च मूर्तिमती सती॥
एका मूर्तिर्द्विधाभूता भेदो वेदे निरूपितः।
इयं स्त्री सा पुमान् किंवा सा वा कान्ता पुमानयम्॥
द्वे रूपे तेजसा तुल्ये रूपेण च गुणेन च।
पराक्रमेण बुद्धया वा ज्ञानेन संपदाऽपि च॥
पुरतो गमनेनैव किं तु सा वयसाधिका।
ध्यायते तामयं शश्वदिमं सा स्मरति प्रियम्॥
रचिता साऽस्य प्राणैश्च तत्प्राणैर्मूर्तिमानयम्।
अस्य राधानुसारेण गोकुलागमनं हरेः॥
प्रतिज्ञापालनार्थाय भयेशस्य भयं कुतः।
राधाशब्दस्य व्युत्पत्तिः सामवेदे निरूपिता॥

"ब्रह्मवैवर्त" पुराण के श्रीकृष्णजन्मखण्ड का त्रयोदश अध्याय इस दृष्टि से बड़े महत्त्व का है। उसमें 'राधा' का सारा इतिहास आ गया है और उसका अध्यात्म भी स्फुट हो गया है। राधा की पहुँच 'वेद' तक दिखा दी गई है। किन्तु यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि इसी राधा का एक छाया रूप भी है जो है वास्तव में 'वृन्दा' का रूप। वस्तुतः वृन्दा ही का विवाह रायाण से हुआ था, कुछ 'वास्तवी' राधा वा 'मूलप्रकृति' का नहीं। इसी से एकान्त में स्वयं श्रीकृष्ण का आश्वासन है कि:

राशब्दं कुर्वतस्त्रस्तो ददामि भक्तिमुत्तमाम्।
धाशब्दं कुर्वतः पश्चाद्यामि श्रवणलोभतः॥
ये सेवन्ते च दत्त्वा मामुपचारांश्च षोडश;
यावज्जीवनपर्यन्तं या प्रीतिर्जायते मम॥
सा प्रीतिर्मम जायते राधाशब्दात्ततोऽधिका।
प्रिया न मे तथा राधे राधाभक्ता ततोऽधिका॥

इसी के पंचदश अध्याय में भगवान् श्रीकृष्ण ने 'राधा' से जो कुछ कहा है उसका निष्कर्ष ऊपर आ गया है और प्रकट हो गया है कि 'राधा' नाम का महत्त्व क्या है। राधा-माधव के स्वरूप में तो कोई भेद नहीं, पर समझ में नहीं आता 'छाया' वा वृन्दा-राधा का प्रसंग। श्रीगोवर्धनाचार्य की एक आर्या है:

मधुमथनमौलिमाले सखि तुलयसि तुलसि किं मुधा राधाम्।
यत्तव पदमदसीयं सुरभयितुं सौरभोद्भेदः॥४३१॥

तो 'तुलसी' और 'राधा' का अध्यात्म क्या? छाया और वास्तवी राधा का यह रहस्य 'वृन्दा' ही तो 'तुलसी' के रूप में विराजमान है? निश्चय ही 'रायाण' का रहस्य कुछ और भी है। सो फिर कभी। अभी राधा के अध्यात्म में इतना ही अलं है।

मंगलकरण, लंका,
बनारस

—चन्द्रबली पाण्डे

कवि चतुर्भुज और उनकी रचनाएँ

सम्राट् अकबर का शासन काल भारतीय इतिहास का स्वर्णयुग है । इससे पूर्ववर्ती मुसलमान शासकों ने हिन्दुओं के साथ दुर्व्यवहार किया था । उन जुल्मों से विश्रान्ति पाने का सम्राट् अकबर के समय हिन्दू जनता को अवसर मिला । अकबर ने अपने राज्य के आरंभिक समय में साम्राज्य विस्तार आदि की भावना से युद्ध किए और महाराणा प्रताप तथा रणथम्भोर आदि की लड़ाइयों में बहुत बड़ा संहार हुआ पर उसके बाद उसके विचारों में परिवर्तन हुआ और हिन्दुओं से मेलजोल बढ़ाने में उसने अपना और देश का कल्याण समझा ।

गुणियों का आदर करना, उसकी एक बहुत बड़ी विशेषता थी । इसी कारण समय-समय पर उसने अपने कट्टर शत्रुओं की भी प्रशंसा की और जहाँ कहीं भी कोई सन्त महात्मा और गुणी पुरुष जानने में आया, उससे मिल कर उसने लाभ उठाया । इसीलिए वह इतना लोकप्रिय हो सका । जैनाचार्यों के संपर्क से उसकी हिंसक वृत्ति परम दयालुता और करुणा में परिणत हो गई । उसने वर्ष में क़रीब ६ महीने तक अपने राज्य में जीवहिंसा न करने के फ़रमान जारी किए और स्वयं मांस भक्षण छोड़ दिया । उसकी धार्मिक नीति भी बड़ी उदार थी । वह अपनी सभा में हर धर्म के प्रधान प्रचारकों को बुलाता और धार्मिक समन्वय का प्रयत्न करता । इन सब विशेषताओं के कारण अशान्त जनता ने एक बार बड़ी शान्ति की साँस ली जिसके फलस्वरूप साहित्य, संगीत, कला आदि की प्रत्येक क्षेत्र में बड़ी उन्नति हुई ।

सम्राट् अकबर स्वयं विशेष पढ़ा-लिखा नहीं था । पर गुणिजनों का आदर करता था और उनके सत्संग के कारण उसका साहित्यिक एवं धार्मिक ज्ञान भी विकसित हो गया था । प्रतिभासंपन्न तो वह था ही, ज्यों ज्यों जिस जिस मार्ग में उसके विकास के साधन मिलते गए, सभी क्षेत्रों में उसने आशातीत सफलता प्राप्त की । संस्कृत, हिन्दी, फ़ारसी के अनेक विद्वानों का संपर्क उसे हर समय मिलता रहा । उसकी सभा में विविध विषयों के विशेषज्ञ, विद्वान् रहते थे और बहुत से आते-जाते रहते । जैन विद्वानों का संपर्क भी उसे प्रारम्भ से अन्त तक मिलता रहा । उसके पिता हुमायूँ और दादा बाबर ने नागपुरीय तपागच्छ के आनन्दराय नामक विद्वान् को सम्मानित किया और सम्राट् अकबर का आनन्दराय के प्रशिष्य पद्मसुन्दर के साथ प्रारम्भ से अच्छा सम्बन्ध रहा । पद्मसुन्दर बहुत अच्छे विद्वान् थे । उन्होंने सम्राट् के नाम से 'अकबरशाही शृंगारदर्पण' नामक ग्रन्थ सं. १९२० के लगभग बनाया, जिसकी एक पूर्ण प्रति 'अनूप संस्कृत' लाइब्रेरी में और एक अपूर्ण प्रति हमारी लाइब्रेरी में है । कुछ वर्ष हुए इन प्रतियों द्वारा संपादित होकर यह ग्रन्थ 'गंगाप्राच्य ग्रन्थ माला' बीकानेर के द्वारा प्रकाशित हुआ था । पद्मसुन्दर का ग्रन्थ संग्रह भी उनके स्वर्गवास के समय सम्राट् के पास ही रह गया था जिसे सं. १६३९ में आचार्य हीरविजय सूरि के सम्राट् अकबर की सभा में पधारने पर सम्राट् ने स्वयं सूरि जी को बड़े आग्रह के साथ भेंट किया था । उसने पद्मसुन्दर के साथ अपना सम्बन्ध बतलाते हुए यह संग्रह उन्हीं के होने का सूरिजी को कहा था । सूरिजी ने उस संग्रह को सम्राट् की भेंट के रूप में स्वीकार किया पर उसमें अपना ममत्व न रख कर आगरा में ही सम्राट् अकबर के नाम से भण्डार स्थापित कर दिया । इसके पश्चात् तपागच्छीय उपाध्याय शान्तिचन्द्र सम्राट् के विशेष संपर्क में रहे और सम्राट् के विशिष्ट गुणों का परिचय देने के लिए आपने १२८ श्लोकों में 'कृपारस कोश' नामक ग्रन्थ बनाया । इस ग्रन्थ के कारण जीव-दया आदि अनेक विशिष्ट कार्य संपन्न हो सके । मुनि जिनविजय जी ने इसे हिन्दी अनुवाद के साथ संपादित कर आत्मानन्द जैन सभा, भावनगर से सन् १९१७ में प्रकाशित करवा दिया है । हीरविजयसूरि जी यद्यपि सम्राट् के सम्पर्क में अधिक समय तक नहीं रहे, पर शान्तिचन्द्र जी के पश्चात् भानुचन्द्र जी को उन्होंने सम्राट् के पास भेज दिया और अपने शिष्य सिद्धिचन्द्र के साथ सम्राट् के पास कई वर्षों तक रहे । सम्राट के साथ उनका बहुत अच्छा सम्बन्ध रहा । वे सम्राट् को 'सूर्यसहस्रनाम' प्रतिदिन या रविवार को सुनाया करते थे । इन सब सम्बन्धों को

विशद रूप से प्रकाशित करने के लिए 'हीरसौभाग्य', 'जगद्-गुरु काव्य', 'विजय प्रशस्ति', 'हीरविजयसूरिदास', 'भानुचन्द्र चरित्र' आदि अनेक ग्रन्थों की रचना की गई जो प्रकाशित हो चुके हैं। इसी प्रकार खरतरगच्छ के आचार्य जिनचन्द्रसूरि जी को सम्राट् ने हीरविजय जी की ही भाँति बड़े आग्रह से बुलाया और उनके सम्पर्क से भी बहुत लाभ उठाए। 'कर्मचन्द वंश प्रबन्ध वृत्ति' और 'जिनचन्द्र सूरिदास' आदि ग्रन्थों से सम्राट् की धर्म-जिज्ञासा, स्वभाव, विशेषताओं आदि का बहुत अच्छा पता चलता है। इतना ही नहीं, इन जैन ग्रन्थों पर सम्राट् के साथ उक्त जैनाचार्य और विद्वानों की जो बातचीत हुई उसमें सम्राट् के बहुत से मूल शब्द भी इन ग्रन्थों में सुरक्षित मिलते हैं। इससे सम्राट् की भाषा ३५० वर्षों के पश्चात् भी हूबहू हमारे सामने आ उपस्थित होती है। समय मिलने पर मैं उन सम्राट् के मूल शब्दों का चयन करके एक स्वतन्त्र लेख में प्रकाश डालूँगा।[1]

जैन धर्म का प्रचार इस समय राजस्थान एवं गुजरात में अधिक था इसलिए जैन विद्वानों ने प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश आदि परंपरागत भाषाओं में बहुत बड़ा साहित्य निर्माण किया और उसके साथ साथ तत्कालीन मरु-गुर्जरी भाषा में भी गद्य और पद्य में विविध विषयों के उपयोगी ग्रन्थों का हजारों की संख्या में रचना हुई। पर हिन्दी भाषा में रचनाएँ करने का कार्य सम्राट् अकबर के समय से ही अधिक हुआ। इससे पूर्व दिगंबर विद्वानों की कुछ ही रचनाएँ हिन्दी में मिलती हैं। श्वेताम्बर विद्वानों का तो देशी भाषाओं के उदाहरण[2] के सिवाय कोई हिन्दी ग्रन्थ अकबर से पहले का ज्ञात नहीं है। अकबर के संपर्क में श्वेताम्बर जैन विद्वान् अधिक आए और आगरा, लाहौर आदि की ओर स्थित उनका विहार सम्राट् से मिलने के लिए प्रधान रूप से मुख्य स्थल रहा। सम्राट् की सभा में जाकर उन्होंने हिन्दी बोली को सुना तो वे भी उस भाषा में रचना करने लगे। सम्राट् के संपर्क में आए हुए कविवर समयसुन्दर[3] आदि की रचनाओं में व्रज भाषा के साथ साथ खड़ी बोली की भी रचनाएँ प्राप्त हैं। ये रचनाएँ छोटी छोटी हैं पर जनता की बोली में लिखी हुई होने के कारण तत्कालीन बोल-चाल की हिन्दी भाषा के स्वरूप के सम्बन्ध में अच्छा प्रकाश डालती हैं। अतः उनके भी कुछ उदाहरण मैं अन्य लेख में देने का विचार कर रहा हूँ।

सम्राट् अकबर का विद्यानुराग बहुत ही प्रशंसनीय था। हिन्दी भाषा के भी अनेक कवियों से उसका संपर्क होना हमें विदित है। उसकी सभा में संस्कृत और फ़ारसी के विद्वानों को जैसा सम्मान मिलता था वैसा ही कुछ हिन्दी कवियों को भी मिला ज्ञात होता है। इन हिन्दी कवियों के सम्बन्ध में विशेष अनुसंधान कर डा० सूर्यप्रसाद अग्रवाल ने थीसिस (महा निबन्ध) लिखा है जो लखनऊ विश्वविद्यालय से 'अकबरी दरबार के हिन्दी के कवि' के नाम से प्रकाशित हुआ है। इस ग्रन्थ में अकबर के संपर्क में आए हुए करणेस, दुरसा, होलराय, कुंभनदास, सूरदास, व्यास, चन्द्रभान और स्थायी वृत्ति पानेवाले चतुर्भुज ब्राह्मण, राजा पृथ्वीराज, राजा आसकरन, सूरदास, मदनमोहन, मनोहर कवि, राजा टोडरमल के सामान्य परिचय के साथ अकबरी दरबार के लब्धप्रतिष्ठित हिन्दी कवि नरहरि, ब्रह्म, तानसेन, गंग और रहीम इन पाँच कवियों की जीवनी और रचनाओं पर विशेष प्रकाश डाला गया है। पाँचवें अध्याय में नरहरि, तानसेन और गंग पर प्रकाश डालने के साथ परिशिष्ट में नरहरि, ब्रह्म, तानसेन, गंग, सूरदास, मदनमोहन, राजा आसकरन और टोडरमल की रचनाएँ भी संकलित की गई हैं। डा० सूर्यप्रसाद जी ने श्रम तो किया ही है, पर इस विषय पर अन्वेषण करने पर बहुत सी नई सामग्री और भी मिल सकती थी। उदाहरणार्थ, अकबरी दरबार के स्थायी वृत्ति पानेवाले कवियों में 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' के आधार पर चतुर्भुज ब्राह्मण का

---

[1] देखें हमारा 'जिनचन्द सूरि' नामक ग्रन्थ। हरिविजयसूरि के सम्राट् के सम्बन्ध का परिचय 'सूरीश्वर और सम्राट्' ग्रन्थ में दिया गया है। जिनचन्द्रसूरि भानुचन्द सम्राट के काश्मीर विजय में भी साथ थे।

[2] देखें राजस्थानी, वर्ष ३.

[3] सं० १६४९ में काश्मीर विजयार्थ प्रयाण करते समय सम्राट् ने सभा बुलाई उसमें आपने ८ अक्षरों के १० लाख से भी अधिक अर्थस्पष्ट करने वाला 'अष्टलक्ष्मी' ग्रन्थ उपस्थित किया।

परिचय तो दिया गया है पर आपको उसकी कोई भी रचना प्राप्त नहीं हो सकी । स्थायी वृत्ति पाने वाले विशेष कवि की रचनाओं की खोज पूरे प्रयत्न के साथ की जानी चाहिए थी । 'मिश्रबन्धु विनोद' में सं· १५६० में रचित 'द्वादश यश' ग्रन्थ का चतुर्भुज द्वारा लिखित होने का उल्लेख है । आपने 'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय' के आधार पर इसके रचयिता अष्ट छाप वाले नहीं सम्राट् चतुर्भुज थे ऐसा उल्लेख मात्र कर दिया है । पर उस ग्रन्थ को देख कर निर्णय करना चाहिए था, इतना कष्ट भी नहीं उठाया गया । रु. १००० मासिक वृत्ति पाने वाले सम्राट् के दरबार के एक विशिष्ट कवि के सम्बन्ध में ऐसे शोधपूर्ण निबन्ध लिखते समय प्रयत्नपूर्वक प्रकाश डालना परमावश्यक था । पर आजकल के थीसिसों में बहुत से ग्रन्थों से सरलता से प्राप्त सामग्री का इधर उधर से अध्ययन करके ग्रन्थ तैयार कर लेने से ही डाक्टरी प्राप्त कर लेने की सुविधा है तो अधिक कष्ट क्यों उठाया जाय । वास्तव में अब ऐसे महा-निबन्धों का मापदण्ड बहुत ऊँचे स्तर का होना आवश्यक है । विश्वविद्यालयों और परीक्षकों का इस परमावश्यक कार्य की ओर ध्यान आकर्षिक करते हुए मैं अपने विषय की ओर आगे बढ़ता हूँ ।

उपर्युक्त ग्रन्थ के परिश्रम का आदर करते हुए मैं ग्रन्थ में किए गए उल्लेख और संकलित सामग्री के सम्बन्ध में दो-एक बातों पर समुचित प्रकाश डालना परम आवश्यक समझता हूँ । थोड़ा-सा विचार किया जाता तो जिस भद्दी भूल का मैं यहाँ उल्लेख कर रहा हूँ, वह कभी न होने पाती । इसी प्रकार तानसेन का 'संगीत सार' ग्रन्थ इसमें जितना त्रुटित और अशुद्ध छपा है, यदि इस ग्रन्थ की प्रकाशित-अप्रकाशित प्रतियों की खोज कर पाठ-भेद के साथ उनका संकलन किया जाता तो यह कार्य बहुत उपयोगी होता ।

दो भ्रामक उल्लेख; प्रस्तुत ग्रन्थ के पृ. ५० पर अकबरी दरबार के स्थायी वृत्ति पानेवाले कवियों में से मनोहर कवि का परिचय देते हुए "इनका रचा हुआ एक ग्रन्थ 'शत प्रश्नोत्तरी' बताया जाता है" लिखा गया है । पर बताने वाले ने यह कहाँ तक ठीक बताया है, इसकी ज़रा-सी भी जाँच पड़ताल की जाती तो इस भ्रामक परम्परा को दुहराना नहीं पड़ता । यह ग्रन्थ निरंजनी सम्प्रदाय के मनोहरदास द्वारा रचित है जिसका ग्रन्थ रचना समय सं. १७१६।१७ निश्चित और प्रसिद्ध ही है । अतः उसे अकबरी दरबार के मनोहर कवि का बताना सर्वथा भ्रामक है । इसी प्रकार पृ. ४१ पर 'कृष्ण-रुक्मिणी वेलि, के रचयिता पृथ्वीराज को महाराजा जयसिंह के छोटे भाई और कल्याणसिंह का पुत्र लिखा गया है । यहाँ वास्तव में जयसिंह के स्थान पर रायसिंह होना चाहिए । यह अशुद्धि मुद्रण के कारण भी हो सकती है पर शुद्धिपत्र में संशोधन नहीं किए जाने से वह लिखना स्मृतिदोष से प्रतीत होता है ।

'परिशिष्ट' में तानसेन का 'संगीत सार' ग्रन्थ दिया गया है, जिसका पाठ काफ़ी अशुद्ध और भ्रामक है । हस्तलिखित प्रतियों में पाठ की गड़बड़ी और न्यूनाधिकता रहती ही है । अतः जहाँ तक संभव हो, दो चार प्रतियों की खोज करके शुद्ध पाठ का निर्णय करके ही ग्रन्थ प्रकाशित करना उचित होता है । इस ग्रन्थ की अन्यत्र भी प्रतियाँ प्राप्त हैं । और इस ग्रन्थ के प्रकाशन के कई वर्ष पूर्व ही संगीत कार्यालय, मथुरा से प्रकाशित 'तानसेन' नामक ग्रन्थ में यह छप भी चुका है । आपको इसकी जानकारी न होने से उपयोग न कर सके, पर यदि वैसा करते तो पाठ बहुत कुछ सही रूप में प्रकाश में आता । मैंने इन दोनों संस्करणों को थोड़ा समय लगा कर देखा तो पाठान्तर तो बहुत अधिक मिले । कई पंक्तियाँ तो ऊपर की नीचे और नीचे की ऊपर और उलट-पुलट । पद्यांक १२७ तक तो फिर भी कुछ मिलान है । पर आगे का अंश तो थोड़े से पद्यों को छोड़ कर इन दोनों संस्करणों में सर्वथा अलग-अलग ही है । 'अकबरी दरबार के हिन्दी कवि' संस्करण में इस पद्यांक के बाद जहाँ वाद्य और ताल का वर्णन प्रधान है तो 'तानसेन' ग्रन्थ के संस्करण में प्रबन्ध एवं राग का वर्णन प्रधान है । वास्तव में ये सभी विषय इस ग्रन्थ में होने ही चाहिए । तानसेन जैसा संगीतज्ञ कोई विषय अधूरा छोड़े, यह कम संभव है । अतः ये दोनों संस्करण एक दूसरे के पूरक हैं । लंदन आदि में इस ग्रन्थ की अन्य हस्तलिखित प्रतियाँ भी प्राप्त हैं । अतः प्राप्त समस्त प्रतियों का उपयोग कर इसका एक सुसम्पादित संस्करण विवेचन के साथ प्रकाशित होना चाहिए ।

अब मैं अपने लेख के मूल विषय पर संक्षिप्त प्रकाश डालता हूँ । कई वर्ष पूर्व बीकानेर की राजकीय अनूप संस्कृत लायब्रेरी के कई गुटकों का अवलोकन करते

हुए चतुर्भुज के रचित 'पिंगल अकबरी' आदि ग्रन्थ एक गुटके में प्राप्त हुए थे । इससे इस कवि के अकबर के विशेष सम्बन्ध की सूचना तो मिल गई थी पर 'पिंगल अकबर' ग्रन्थ इसमें अपूर्ण था और अक्षर भी भद्दे थे। अतः पूरी एवं शुद्ध प्रति मिलने पर ही अधिक प्रकाश डालना उचित समझा । उसके बाद भी इसे कई बार देखने पर वही बात दिल में जमी रही। फलतः इसके सम्बन्ध में अब तक कुछ भी प्रकाश नहीं डाला जा सका। इन वर्षों में हिन्दी ग्रन्थों की शोध करने का काफ़ी अवसर मिला, पर अभी तक इन ग्रन्थों की पूर्ण प्रतियाँ अन्यत्र प्राप्त नहीं हुईं। 'अकबरी दरबार के हिन्दी कवि' ग्रन्थ के तैयार किए जाने और छपने की सूचना मिली तब से यह आशा कर रखी थी कि संभव है इसके लेखक को कहीं चतुर्भुज के विशेष ग्रन्थों का पता चल गया हो तो प्रकाशित होने पर हमारी जानकारी बढ़ेगी। ग्रंथ के प्रकाशित होने की सूचना मिलने पर इसे मँगवा कर देखा गया, पर हमारी आशा फलवती न हुई। अतः प्राप्त सामग्री को ही प्रकाश में लाना उचित समझ कर प्रस्तुत लेख लिखा जा रहा है । आशा है इससे प्रेरणा प्राप्त कर अन्य किसी विद्वान् को चतुर्भुज के ग्रन्थों आदि के सम्बन्ध में कुछ जानकारी प्राप्त हो तो वह प्रकाश में शीघ्र ही आ जाएगी ।

'पिंगल-अकबरी' जैसा कि ग्रन्थ के नाम से ही स्पष्ट है छन्द विषयक ग्रन्थ है । अकबर के आश्रित होने से ही और उसकी आज्ञा से इसकी रचना की जाने से कवि ने ग्रन्थ के नाम के साथ अकबर का नाम जोड़ दिया है। मेरी जानकारी में यह हिन्दी भाषा में सबसे पहले रचा गया छन्द ग्रन्थ है । केशवदास की 'छन्दमाला' आदि हिन्दी ग्रन्थ इसके बाद रचे गए हैं। इस दृष्टि से इस ग्रन्थ का बहुत ही महत्व है । पर ग्रन्थ का थोड़ा सा अंश ही प्राप्त हुआ है अतः उसकी विशेषताओं का मूल्यांकन अभी नहीं किया जा सकता। पूर्ण प्रति मिलने पर ही वह संभव है । ग्रन्थ का प्रारंभिक कुछ अंश यहाँ उपस्थित किया जा रहा है। अनूप संस्कृत लाइब्रेरी के राजस्थानी विभाग के गुटके नं. २६ के पत्रांक ५९ से इसका प्रारंभ होता है । और इसकी अपूर्णता के पश्चात् चतुर्भुज का अन्य एक ग्रन्थ और फुटकर पद्य लिखे मिले हैं। साथ ही तत्कालीन अन्य कवियों के भी कुछ कवित्त आदि मिले हैं उनका परिचय उससे दिया जा रहा है । अक्षर भद्दे से हैं, पाठ भी कुछ अशुद्ध हैं पर यहाँ जैसा भी मिला उपस्थित किया जा रहा है ।

प्रारम्भ :

"पिंगल-अकबरी चतुर्भुज दसवधि कृत्य ॥
हजव्वण धर खभ आदि दे ।
अष्टौ अक्षराणि निषिधा ।

मूल-दोहा

गुणिगण गणपति चिति चितः, अविगति अकह अपार ।
देहि बुधि प्रमु जगद्गुरु, करुह छन्द विस्तार ॥१॥

चौपई

अकबर शाह जगत्र गुरु माणोहु,
इहि वात मण महिं अणु माणहु ।
सरद सुधाकर कीरत माणहु,
निसिदिन क्षिण ताहि सणमाणहु ॥२॥

अकबर विरजि १ दल विबुध्र सजि २ गजमदगरजि
३ वजणति वजि ४ नृप गण तरजि ५ कण सकवि
रजि ६ अरि सकल भजि ७ निज-भुवण तजि
८ वण गई ति लजि ९ तण रहिस धजि १० वण
फिरति खजि ११ मुख छविण छजि १२ मनु दुख
उपजि १३ जलनिधि निमजि १४ सवहण निवजि
१५ जुगपति रजि १६ ॥

रण चढत मीर १ तेउ विविध वीर २
अति समर धीर ३ बुधि बल गभीर ४ जहाँ तहाँ हि
भीरि ५......अरि भय अधीर ७ उर लागति तीर ८
हिय बढती पीर ९ मुख थकित गीर १० नैणग
त नीर ११ दुरबल शरीर १२ वण घण करीर १३
ध्रम झटक वीर १४ नहीं जुरत नीर १५ भोजन
समीर १६ ॥

अरि जिय विचारि १ भुय भय परारि २ गढ़
मढ़ विदारि ३ अपहथ उदारि ४ पुर किय उजारि ५
निज भुवण जारि ६ मणगण विथारि ७ धन विविध
डारि ८ सुत हित विसारि ९ तजि रुचिर नारि १०
नहीं सके संभारि ११ नयणण निहारि १२ नहि
उदधिश्चारी १३ वुडेहि तिवारि १४ तिहि गति
निनारि १५ जगदे तिवारिं १६ ॥३॥

वजित निसाण १ धुन घण समान २ अरि
सुणत कांन ३ अति ही सकाण ४ दस दिस पराण ५
गृह मग भुलाण ६ तज्जति गुमाण ७ सभ गई

हिसाण ८ गिरवण परवाण ९ ताह फरत थांण १० जलजुर ने पांण ११ निरखत वेदांण १२ तउ तजति प्राण १३ अरिकोउ रहाण १४ लंकउ अहाण १५ अकबर की आण १६ ॥४॥

दोहा

अकबर साहि प्रवीण भुय
कह्यो कहुह सब छन्द ।
सुगम होहि महिमंडले,
पढत वढति आणंद ॥३॥
चतुर चतुरभुज सुणतए,
कह्यो बुद्धि अणुमांण
सुणहु साधु सभ सुचित हुई,
करहु ग्रन्थ सणमांण ॥४॥
सुभ[1]-भरथ[2] सौतव[3] गरुड़[4],
कश्यप[5] सेष[6] विचार ।
षट पिंगलु ए विदुत भुइ,
कहु अब तिहुअ निहारि ।।५।।
पिछिमिति तर कहु मत्तविणु,
ए त्रिणहु लघु जाणि ।
प्रगट ताहि बुधिजन कहत,
अवर सभै गुरु मांण ॥६॥
विद सहित संजुत पर,
अरु विकल पु चरणंतु ।
कबहु लघु संजुत पर,
दीह सवै वरणंति ॥७॥
कबहु अक्खर त्रिण हुइ,
मिलति पढति एक सथ ।
उहै एक लघु जाणिए.
बुध जण कहत समथ ॥८॥
मगण तगण सगण पर,
……………………
× × ×
द्विविध छन्द फणपति रचित,
वरुण मत परमाण ।
करुह प्रगट सब जगत्रहि,
जथा बुध अणुमाण ॥१५॥

सीसोजोगो श्रीछन्द, तिण छन्द, सेसाराजो छन्द, वियुतमाल छन्द, रुअमाला छन्द, राइ-माला छन्द, मालतीमाला छन्द, विजूहारा छन्द, विश्वेदेवा छन्द, सारंग छन्द, वंभरूपो छन्द ।

१६ के बाद—अथ लघु छन्द, मधु छन्द, दमण छंद आदि। १६ के बाद फिर—यही छन्द लगाणिया छै ।”

पत्राङ्क ६५ और ६६ खाली है । पत्राङ्क ६७ पद्याङ्क २३ के बाद ग्रन्थ लिखते हुए छोड़ दिया है । फिर फुट कर कवित्त और दोहे हैं जिनके कर्त्ता सारङ्ग, कालिदास, पातसाह[1] आदि हैं। विषय—अकबर पातसाह के कवित्त, नाजर रा साहजादा रो, खानखाना रा झूलणा, फिर कवित्त रायदास जी को । 'रामदास जी को गुण अमृतराज रो कियो' पत्राङ्क ७६ तक है ।

पत्र ७७ में 'श्रृङ्गारु अनूपः चतुरभुज दसवधि कृत्य' ग्रन्थ प्रारम्भ किया है । इसमें कृष्ण जी के श्रृङ्गारिक कवित्त हैं । पत्रांक ७८ में 'साहिबाजखान रो, पतिसाहजी रा ढढणिपद चतुर्भुज कृत्य' लिखा है। ६९ पद्य दिए हैं । पत्रांक ७९ से ८१ में चतुर्भुज की ये रचनाएँ समाप्त होती हैं। पत्राङ्क ८३ में 'महं करमचंद रो गीत' आदि अन्य रचित हैं। मध्यवर्ती कवित्तों में एक कवित्त चतुर्भुज के गुण वर्णनात्मक भी है । जिससे उसके पिता का नाम 'हरिदास' सूचित होता हैं। अतः महत्वपूर्ण है । यह कवित्त इस प्रकार है :

“एजू विद्या देत साउ,
वित चाहत, वित दे विद्या तूहि पढावतु ।
कल्पद्रुम कलिकाल चतुर अति,
कविता करण कहत जिय भावतु ॥
जा देखे सुख संपति उपजति,
दुरित दूरि नासत तहा जावतु ।
श्री हरिदास सुतन सुखदाता,
चतुर्भुज गुणी जनराइ कहावतु ॥”

ऊपर के ग्रन्थों में चतुर्भुज के नाम के साथ विशेष 'दशवधि' प्रयुक्त किया मिलना है जो उनकी जाति का नाम है। दसौंधी भाटों की एक प्रसिद्ध जाति है । “दो

---

[1] पातसाह से यहाँ अकबर ही अभिप्रेत होगा । सम्राट् के स्वयं रचित कुछ छन्द भी खोजने पर अवश्य मिलेंगे ।

सौ बावन वैष्णवन की वार्त्ता" में इन्हें ब्राह्मण लिखा है। अतः यह 'ब्रह्म भट्ट' सिद्ध होते हैं । चतुर्भुज ने 'श्रृंगार अनूप' में कृष्ण का शृङ्गारिक वर्णन किया है इससे वे प्रारम्भ से ही कृष्णभक्त प्रतीत होते हैं। 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्त्ता' से इनकी कृष्णभक्ति उत्तरोत्तर बढ़ती गई और अन्त में सम्राट् की आशा और आश्रय को छोड़ कर ये पुरुषोत्तम कृष्ण की भक्ति में लीन हो गए। चतुर्भुज के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण उल्लेख 'वार्त्ता' ग्रन्थ में ही मिलता है। अन्यत्र कुछ भी नहीं मिलता । अतः यहाँ आपसे सम्बन्धित वार्त्ता उद्धृत की जाती है:

"सो वे चतुर्भुजदास पण्डित बहुत हते और विद्या को अभ्यास विशेष हतो और अकबर पादशाह सों मिलाप विशेष हतो अकबर पादशाह जो कछु पूँछते सो जवाब तुरंत देते। एक दिन पादशाह ने चतुर्भुजदास की सराहना करी तब बीरबल नें कहीए तो मेरी चाकरी करतो हतो॥ तब पादशा ने पूँछी तब चतुर्भुजदास नें कही जो आपके मिलबे के लीए कोनकोन की चाकरी न करी चाहीए ये सुन के पादशाह बहुत प्रसन्न भयो॥ और चतुर्भजदास कु महिना के हजार रुपैया कर दिए और जो कोई पण्डित आवतो तिनके संग चतुर्भुजदास वाद करते और सब पण्डितन कु जीत लेते॥ फेर एक समय चतुर्भुजदास मथुराजी में आए और विश्रान्तघाट पर न्हाए और उहां कहेन लगे॥ जो 'विद्या भागवतावधि॥' ये सुन के एक वैष्णव बोल्यो चातुरी 'विठ्ठले ।वधि' ॥ तब चतुर्भुजदासनें कही जो मोकुं विट्ठलनाथ जी को मिलाप करायदे॥ तब वो वैष्णव चतुर्भुजदास कु श्री गुसांई जी के पास ले गयो तब श्री गुसांई जी के दर्शन किए॥ सो साक्षात् पूर्ण पुरुषोत्तम कोटि कन्दर्प लावण्य ऐसे स्वरूप के दर्शन भये तब चतुर्भुजदास श्री गुसांई जी के सेवक भये और श्री गोवर्धननाथ जी के दर्शन किए॥ और श्री गोवर्धननाथ जी के कवित्त बनाए॥ और आखा जन्म पर्यन्त श्रीजी द्वार छाड़ के कहुँ गए नहीं॥ एक दिन पृथ्वीपति कुं खबर पड़ी जो चतुर्भुजदास गोपालपुर में है॥ तब मनुष्य बुलायवेकुं पठाए तब चतुर्भुजदासनें पृथ्वीपति कुं पत्र लिख्यो वा पत्र में लिख्यो॥

जाको मन नन्दनन्दनसुं, लाग्यो नीको।
सुख संपत की कहाँ लग वरनो,
सब जग लागत फीको॥

ये पत्र लेके वा मनुष्यनें पृथ्वीपती कुं दियो तब पृथ्वीपती नें विचार कियो जिनकुं जगत फीको लग्यो तो तिनकुं अपने कैसे मीठे लगेंगे॥ सो वे चतुर्भुजदास श्री गुसांई जी के ऐसे कृपा पात्र भए॥ वार्ता सम्पूर्ण॥ वैष्णव॥ १५६॥"

कवि चतुर्भुजदास अकबरी दरबार के मान्य कवि थे अतः इनकी रचनाएँ प्रभावोत्पादक, सुन्दर एवं पर्याप्त परिमाण में होनी चाहिएँ। खोज करने पर प्राप्त ग्रन्थों की पूर्ण प्रतियाँ और अन्य ग्रन्थ मिलने संभव हैं।

आधुनिक हिन्दी साहित्य बड़ी तेज़ी से आगे बढ़ रहा है पर प्राचीन साहित्य के प्रति दिनों दिन रुचि बढ़ रही है। विगत वर्षों में नागरी प्रचारिणी सभा, राजस्थान विश्व विद्यापीठ, उदयपुर आदि के द्वारा शोध-कार्य हुआ है उसका उपयोग हमारे हिन्दी साहित्य के इतिहास ग्रन्थों में नहीं किया जाता। पहले के इतिहास ग्रन्थों के अनुसरण में छोटे बड़े ग्रन्थ तो बहुत निकल रहे हैं पर उसमें नवीन शोध का अभाव ज्ञात होता है। पर उपेक्षा उचित नहीं है। हमें प्राचीन साहित्य की शोध, संग्रह और संरक्षण में दिलचस्पी लेनी चाहिए। नई शोध का उपयोग अपने ग्रन्थों में करते रहना चाहिए।

नाहटों की गवाड़,
बीकानेर

—अगरचन्द नाहटा

* * *

१९५० में सबसे अधिक आत्महत्याएँ अमेरिका में हुई और उसके बाद जापान में। संसार के स्वास्थ्य संगठन ने लगभग २० देशों के विषय में अपनी रिपोर्ट दी है। सबसे कम आत्महत्याएँ आइर (Eire) में हुई।

इब्राहीम आदिलशाह और उनकी कविता

इब्राहीम आदिलशाह अपने चाचा अली आदिलशाह की मृत्यु के बाद सन् १५७९ में बीजापुर की गद्दी पर बैठे। उस समय उनकी अवस्था केवल ९ वर्ष की थी। इब्राहीम आदिलशाह के पिता शाह तहमास्प की मृत्यु बहुत पहले ही हो चुकी थी। दिवंगत अली आदिलशाह की पत्नी चाँदबीबी ने इब्राहीम आदिल शाह की शिक्षा आदि का प्रबन्ध किया। सोलह वर्ष की अवस्था में इब्राहीम आदिलशाह ने भाग्यनगर (हैदराबाद) के बादशाह कुली कुतुबशाह की बहन मलिका जहान से विवाह किया।

इब्राहीम आदिलशाह बड़े उदार विचारों के थे। उन्होंने धर्म के सम्बन्ध में शिया और सुन्नी दोनों मत के लोगों को पूर्ण स्वतन्त्रता दी। फ़रिश्ता ने इब्राहीम आदिलशाह के समय की एक बड़ी दिलचस्प घटना का उल्लेख किया है। दिलावर खान कुछ दिनों तक इब्राहीम आदिलशाह का संरक्षक था। वह सुन्नी मत को माननेवाला था। उसके समय में नमाज़ सुन्नी मत के नियमों के अनुसार पढ़ी जाती थी। उस समय राज्य के अधिकांश सरदार सुन्नी मत को ही माननेवाले थे। दिलावर खान के पदच्युत होने के दूसरे दिन नमाज़ शिया मत के नियमों के अनुसार पढ़ी गई। इब्राहीम आदिलशाह अपने चाचा के समान शियामत का ही अनुयायी होगा—ऐसा विचार कर राज्य के सरदारों ने यह परिवर्तन बादशाह को प्रसन्न करने के लिए किया था। पर वास्तव में इब्राहीम आदिलशाह सुन्नी मत में दीक्षित हो चुका था। जब उसे नमाज़ के नियमों में इस आकस्मिक परिवर्तन के कारण का पता चला तो उसने हँसते हुए कहा कि हमारे राज्य के सरदारों का धर्म राजनीति के साथ बदलता रहता है।

इब्राहीम आदिलशाह बड़ा ही कला-प्रेमी और संगीत-शास्त्र का प्रेमी था। उसने अपने दरबार में देश-विदेश के बहुत से कवियों, चित्रकारों और गवैयों को आश्रय दिया था। हाथियों से उसे बड़ा प्रेम था। उसका हाथी 'आतशखान' उस समय का बड़ा प्रसिद्ध और सुन्दर हाथी था। इब्राहीम आदिलशाह ने 'नवरस' में उसकी चर्चा और प्रशंसा की है। संगीत और संगीतज्ञों की दरबार में बड़ी प्रतिष्ठा थी। कहते हैं कि जब उसका प्रिय सितार 'मोतीखान' दरबार में लाया जाता था तो बड़े-बड़े सरदार उसे (सितार को) झुक कर सलाम करते थे।

ऐसा प्रतीत होता है कि बादशाह को 'नवरस' शब्द से बड़ा प्रेम था। उसने अपने सिक्कों का नाम 'नवरस' रखा, बीजापुर के किसी खास मुहल्ले का नाम उसके समय में 'नवरस' था, वह भवन जिसमें वह रहता था उसका नाम 'नवरस' था, उसकी लिखी हुई पुस्तक जो अब भी उपलब्ध है उसका भी नाम 'नवरस' है। नवरस शब्द का प्रयोग इन भिन्न-भिन्न वस्तुओं के लिए किन अर्थों में किया गया है, ठीक नहीं कहा जा सकता। किन्तु अनुमान किया जाता है कि 'नवरस' शब्द से इब्राहीम आदिलशाह का तात्पर्य साहित्य के नवरसों से ही है। जिस प्रकार साहित्य के नवरस आनन्द प्रदान करने वाले हैं उसी प्रकार आनन्द प्रदान करनेवाली वस्तुओं का नाम उसने नवरस रखा।

इब्राहीम आदिलशाह की लिखी हुई दो पुस्तकें बतलाई जाती हैं। 'नवरस' और 'सबरस'। ऐसा कहा जाता है कि उन्होंने कोई गद्य की पुस्तक भी लिखी, किन्तु वह पुस्तक उपलब्ध नहीं है। 'नवरस' में संगीत के भिन्न-भिन्न रागों का वर्णन है। साथ ही वे राग विभिन्न प्रकार से कैसे गाये जा सकते हैं—इसे भी बतलाया गया है। उदाहरण के लिए जहाँ 'गौरी' राग का उदाहरण दिया गया है, वहाँ गौरी राग 'बयन' और 'अभोग' में कैसे गाया जाएगा इसकी भी चर्चा है। अकेला 'नवरस' इब्राहीम आदिलशाह को संगीत संसार में अमर बनाने के लिए पर्याप्त है। 'नवरस' में दिए गए उदाहरण संगीत की दृष्टि से उच्च होने के साथ काव्य की दृष्टि से भी अत्यन्त उच्च कोटि के हैं।

'नवरस' को हिन्दी का काव्य माना जाय या उर्दू का यह अब तक बड़े विवाद का विषय रहा है। पुस्तक उर्दू लिपि में लिखी हुई है इसी से कुछ लोग उसे उर्दू

का काव्य मानते हैं। किन्तु क्या केवल उर्दू लिपि में लिखी जाने के कारण किसी पुस्तक को उर्दू की कहा जा सकता है ? कहा जाता है कि जायसी की 'पद्मावत' चन्द वरदाई की 'पृथ्वीराज रासो' आदि भक्ति-काल और वीर गाथा काल की कई पुस्तकें उर्दू लिपि में लिखी गई थीं। आज भी इन पुस्तकों की कई प्रतियाँ उर्दू लिपि में लिखी हुई उपलब्ध हैं। किन्तु इन पुस्तकों को हम उर्दू की नहीं समझते वरन् हिन्दी की मानते हैं। ऐसे ही कोई पुस्तक केवल देवनागरी--लिपि में लिखी होने के कारण हिन्दी की नहीं हो सकती। कोई पुस्तक हिन्दी की है या उर्दू की—इसके लिए हमें पुस्तक की भाषा, शब्दों के व्यवहार और विषय पर भी विचार करना होगा। 'नवरस' में संस्कृत शब्दों के प्रयोग पर अधिक झुकाव है। विषय और वर्णन की दृष्टि से भी यह पुस्तक हिन्दी की ही कही जा सकती है। 'नवरस' में सरस्वती चन्द्रमा, शंकर आदि का बड़ा ही सुन्दर वर्णन है और यह वर्णन इतना सूक्ष्म है जिससे मालूम होता है कि इब्राहीम आदिलशाह को हिन्दु-संस्कृति की बहुत सी बातों का बड़ा ही अच्छा ज्ञान था। 'नवरस' में शंकर को त्रिनेत्र और सुमेरु पर्वत को सोने का बतलाया गया है। एक स्थान पर कवि ने अपने विरह-दुःख को व्यक्त करते हुए कहा है कि हनुमान् ने लंका को जलाया और सीता राम के वियोग में जल रही थीं, वैसे ही मैं तुम्हारे वियोग में जल रहा हूँ। एक दूसरे स्थान पर कवि ने सुन्दर स्त्री की तुलना भगवान् के दशम अवतार (मोहिनी रूप) के साथ की है। 'नवरस' में एक स्थान पर सरस्वती की वंदना करते हुए कवि कहता है :

"कोउ चाहे मातंग तुखार, कोउ रतन माल
कोउ भोजन वासा, कोउ धामान् धवलार
इब्राहीम चाहे उत्तम विद्या दान धरम

× × ×

सरस्वती स्वच्छ सुन्दरी महा उत्तम जात निर्मल
एक हस्त पुस्तक, दूजे पाणी फटिक सुमिरन
तीजे शयः सुक, चौथे कर कमल।"

कवि ने सरस्वती को शब्द–गुरु और विद्या-गुरु माना है, उसका कहना है कि संसार में वह बड़ा भाग्यवान् है जिस पर सरस्वती की कृपा है :

"उत्तम भाग नीको सो सोहै
जा सरसती हुई परसन्न।"

ऊपर के उदाहरणों में यदि भाषा पर ध्यान दिया जाय तो यह स्पष्ट हो जायगा कि 'नवरस' बोल-चाल की हिन्दी-उर्दू मिश्रित भाषा में नहीं लिखा गया है बल्कि उसकी भाषा साहित्यिक हिन्दी है।

हैदराबाद के सालारजंग म्यूजियम में 'नवरस' की एक हस्त-लिखित प्रति देवनागरी लिपि में भी लिखी हुई प्राप्त हुई है। उस प्रति में प्रयुक्त अक्षरों को देखने से प्रतीत होता है कि वह प्रति इब्राहीम आदिलशाह के समय में ही लिखी गई थी क्योंकि उसमें देवनागरी वर्णमाला के बहुत से अक्षरों का प्रयोग उसी रूप में हुआ है जिस रूप में उनका प्रयोग सोलहवीं शताब्दी की अन्य पुस्तकों में मिलता है। उस हस्त-लिखित प्रति पर इब्राहीम आदिलशाह के पुस्तकाध्यक्ष का हस्ताक्षर भी है। इन आधारों पर कहा जा सकता है कि सोलहवीं शताब्दी में हिन्दी के साथ देवनागरी लिपि भी दक्षिणी भारत में आ चुकी थी।

'नवरस' के उदाहरणों में उच्च-कोटि की कल्पना और कवि-प्रतिभा दिखलाई पड़ती है। नीचे की पंक्तियों में चन्द्रमा और चाँदनी का सुन्दर वर्णन किया गया है :

"दुनिया घड़ा भरे चंदना दुध
उपर निर्मल मस्का सो चाँद सुध
या चकांग चंदर चंदना रास मोती
या इन्द्र इन्दु चंदना ऐरावत हती
या वेधा विधु चंदना जल भागरथी
या कपाली चंदर चंदना मंडल विभुती"

(दुनिया रूपी घड़ा जो चाँदनी के दूध से भरा हुआ है, उसमें चन्द्रमा मक्खन के समान दिखलाई पड़ता है अथवा ऐसा प्रतीत होता है मानों चंद्रमा रूपी चकांग पक्षी के लिए चांदनी के रूप में मुक्ता-राशि रखी हुई है या चाँदनी ऐरावत हाथी है जिस पर चाँद इन्द्र के समान बैठा हुआ है। भागीरथी के जल के समान स्वच्छ चाँदनी में चन्द्रमा सूर्य के प्रतिबिम्ब के समान दिखलाई पड़ता है। चन्द्रमा कपाली के समान मालूम होता है और उसके चारों ओर फैली चाँदनी ऐसी प्रतीत होती है मानों उस कपाली के चारों ओर विभूति फैली हुई है।)

इब्राहीम आदिलशाह एक दूसरे स्थान पर चंद्रमा का वर्णन करते हुए कहते हैं कि आकाश में चमकता हुआ चंद्रमा निकला। किरणों के बीच में चंद्रमा ऐसा मालूम होता है मानों शिकारी स्वयं अपने फैलाये हुए

फन्दे में फँस गया है :

"झलकत निकल्या निशि चाँदा
आपें पारधी हो लिया किरन का फाँदा"

'नवरस' के कुछ उदाहरणों में स्त्री के रूप का सुन्दर वर्णन है। संसार के चित्रकार कितने गर्व के साथ आते हैं किन्तु सुन्दरी का रूप चित्रण करने में असमर्थ हैं क्योंकि जैसे जल में एक लहर के बाद दूसरी लहर उठती है वैसे ही सुन्दरी के अङ्ग प्रत्यङ्ग में सौन्दर्य की लहरें उठ रही हैं :

"चितारी चितर न सके, होये मानी
जेउँ मौज पर मौज आवे पानी"

'बिहारी-सतसई' की नायिका भी कुछ इसी प्रकार की है :

"लिखन बैठि जाकी सबिहि, गहि गहि गरब गरूर
भए न केते जगत के, चतुर चितेरे कूर।"

इब्राहीम आदिलशाह की उपमाएँ कहीं तो बहुत ही नई और आकर्षक हैं। विरहिगी नायिका के स्थिर और गम्भीर नेत्रों का वर्णन करते हुए कवि कहता है:

"अंजन जानवा नयन दीती
पलखाँ पिताम्बर बाँध लेती
अंझु जल सन्ध्यान कीती
जपकर दृष्टि ईश्वर–पार्वती।"

(अंजन का यज्ञोपवीत और पलकों का पीताम्बर धारण करके, आँसुओं के जल में सन्ध्या करके मानों दृष्टि शंकर पार्वती का जप कर रही है।)

कुछ कठहुज्जती लोगों को, जो उपमा में पूर्ण-सादृश्य ढूँढ़ने का प्रयत्न करते हैं अंजन और यज्ञोपवीत की तुलना खटकेगी किन्तु सहृदय लोगों के लिए इसमें काव्य का सौन्दर्य है इसमें सन्देह नहीं।

एक दूसरे स्थान पर इब्राहीम आदिलशाह ने नायिका की आँखों की तुलना पुस्तक के साथ की है :

"पुस्तक चक्षु सो सुन्दरी
खत काजर कागर पाण्डरी
पलखाँ जिल्द जोड़ बाँधे री"

(सुन्दरी के चक्षु पुस्तक के समान सुन्दर हैं। आँखों का स्वच्छ भाग काग़ज़ और उस पर लगा हुआ काजल अक्षरों के समान सुन्दर प्रतीत होता है। पलकें ऐसी मालूम होती हैं मानों उस पुस्तक पर सुन्दर जिल्द बँधी हुई है।)

'नवरस' के कुछ उदाहरणों में वियोग का सुन्दर वर्णन है। हिन्दी काव्यों की अन्य नायिकाओं की भाँति 'नवरस' की विरहिणी भी वियोग के दुःख में एक प्रकार के सुख का अनुभव करती है। वियोग में प्रिय की स्मृति वह अमृत है जो विरहिणी को जीवित रखे हुए है :

"लाल मोसूँ नीकुर किये हट
पर सेज रहे मुंज से हट
इन फिराकों हुआ टुकड़े टुकड़े दिल
सुमिरण कीते सब ले चुन–चुन मिल
तेरा ध्यान अमृत अब मरना मुश्किल।"

अधिकांश कवियों की विरहिगी नायिकाएँ विरह दुःख में चन्द्रमा की शीतलता में ताप का अनुभव करती हैं। किन्तु 'नवरस' की विरहिगी की विरहाग्नि तो स्वयं इतनी तीव्र है कि उसकी गर्मी से चन्द्रमा सूर्य के रूप में परिणत हो जाता है। कवि सोचता है कि प्रातःकाल पूर्व–दिशा में निकलते हुए प्रकाश को देख कर लोग उसे ज्योति–पति भानु समझ कर उसकी पूजा करते हैं। किन्तु वस्तुतः वह सूर्य नहीं है। विरहिणी की विरहाग्नि से तप्त चन्द्रमा ही सूर्य के रूप में दिखलाई पड़ता है :

"अब गरबी बेची इन्दु या रूप लच्छन
रवि हो प्रगट दीसे सारियाँ केरे लोचन
इब्राहीम सो उस लगन भूलि परे बहु–प्रान
सूर पूजि सेवा के जी आवत जग जोति-पति भान"

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि भाषा और भाव की दृष्टि से 'नवरस' की कविता उच्चकोटि की है। अब तक हिन्दी के अधिकांश विद्वानों ने दक्षिण के इन कवियों और लेखकों की भाषा को उर्दू समझ कर इधर कम ध्यान दिया है। किन्तु अब धीरे-धीरे लोगों का ध्यान दक्षिणी हिन्दी की ओर जा रहा है और आशा है दक्षिणी हिन्दी का साहित्य लोगों के सामने आ सकेगा।

निज़ाम कालेज,
हैदराबाद

—राजकिशोर पाण्डेय
एम. ए.

जनमत का विकास

जनमत का भय लार्ड मिण्टो के समय में पहले पहल सरकार को राजरोग की तरह सताने लगा। केये (Kaye) के कथनानुसार "उन दिनों हमारी यह नीति थी कि भारत के निवासियों को अज्ञान और असभ्यता की अवस्था में रक्खा जाय और उन सब प्रयत्नों का पूर्ण विरोध किया जाय जो उनमें हमारे देश या अन्य स्वतन्त्र देशों का ज्ञान फैलाने के लिए की जाती हैं।" केये ने निम्नलिखित उदाहरण[1] भी पेश किया था :

कप्तान सिडनेहम ने जो हैदराबाद दरबार में ब्रिटिश प्रतिनिधि थे निज़ाम के आधुनिक यन्त्रों सम्बन्धी कौतूहल को शान्त करने के लिए एक हवा का पम्प, एक छापाखाना और एक युद्ध-पोत प्रत्येक का नमूना मँगाया। भारतीय सरकार को अपने लिखे हुए पत्र में उन्होंने इन भेंट में दी हुई वस्तुओं का साधारण उल्लेख किया। फलस्वरूप उन पर यह दोष लगाया गया कि "उन्होंने एक देशी राजा के हाथ में इतना खतरनाक यन्त्र दे दिया"। ब्रिटिश प्रतिनिधि ने इसका उत्तर लिखा कि "सरकार को भयभीत होने की आवश्यकता नहीं क्योंकि छापेखाने में निज़ाम ने कोई दिलचस्पी प्रदर्शित नहीं की और न उसको दिखाने के लिए मद्रास से आए हुए कम्पोज़ीटरों को कुछ पुरस्कार ही दिया। यदि फिर भी सरकार, निज़ाम के दरबार में सभ्यता के इस 'खतरनाक यन्त्र' के विद्यमान रहने से सशंकित है तो वे तोशाखाने में जाने के लिए आज्ञा प्राप्त कर उस छापेखाने के कुछ पुर्ज़ों को इस तरह खराब कर देने के लिए तैयार हैं जिससे भविष्य में वह कभी भी काम में न लाया जा सके।" इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि उन दिनों ब्रिटिश सरकार प्रेस को सभ्यता का 'खतरनाक यन्त्र' समझ कर उससे डरती थी।

जब मेटकाफ़ भारत का गवर्नर जनरल बना तो उसने प्रेस और विचारों की स्वतन्त्रता के विषय में बड़ी दिलचस्पी दिखलाई। उसके कथनानुसार "इस प्रकार की स्वतन्त्रता के अभाव का यह अर्थ है कि हम अच्छी सरकार उसको समझते हैं जो देश को अज्ञान के अन्धकार में पड़ा रहने दे।" जो लोग इसका विरोध करते हैं उनका वह इस प्रकार उत्तर देता है—"यदि उनका यह तर्क है कि ज्ञान के प्रसार से एक दिन हमारे राज्य का अन्त हो जाएगा तो मैं इसी बात को लेकर उनसे विवाद करने के लिए तैयार हूँ। मेरी मान्यता है कि नतीजा चाहे जो हो, यह हम लोगों का कर्त्तव्य है कि ज्ञान से प्राप्त होनेवाले लाभ भारतीयों तक पहुँचाएँ। यदि भारत ब्रिटिश साम्राज्य का अङ्ग उसी दशा में रहेगा जब कि उसके निवासियों को अज्ञान के अन्धकार में रखा जाएगा, तो हमारा प्रभुत्व देश के लिए अभिशाप सिद्ध होगा और उसका अन्त हो जाना ही अच्छा है।" आगे चल कर उसने कहा है "लेकिन मुझे तो अज्ञान के भय में ही धोखा दिखलाई पड़ता है और मैं ज्ञान के प्रसार से साम्राज्य के दृढ़तर होने की आशा रखता हूँ। ज्ञान से मिथ्या धारणाएँ दूर होंगी, आक्षेपों की तीव्रता कम होगी, और हमारी सरकार द्वारा पहुँचाए गए लाभों का तर्कपूर्ण और उचित विवेचन हो सकेगा, राजा और प्रजा में सहानुभूति पूर्ण एकता होगी और उनमें आज जो अन्तर है वह क्रमशः कम होते होते एक दिन बिलकुल ही मिट जाएगा। भारत सरकार के भविष्य के विषय में ईश्वर की जो कुछ इच्छा हो, जब तक सरकार हमारे हाथ में है यह हमारा स्पष्ट कर्तव्य है कि हम अपनी योग्यतानुसार प्रजा का हित साधन करें। इस हित साधन के लिए छापेखाने की स्वतन्त्रता अत्यन्त उपयोगी साधन है।"

आगे चल कर मेटकाफ़ ने कहा है "यह नहीं हो सकता कि ईश्वर ने हमें केवल देश में लगान वसूल करने, अधिकार अक्षुण्ण रखने, सेना आदि पर खर्च करने, और खर्च अधिक होने पर कर्ज़ लेने के लिए ही नियुक्त किया है। हम निश्चित रूप से यहाँ महत्तर उद्देश्यों की पूर्ति के लिए आए हैं जिनमें से एक यह है कि यूरोप की सभ्यता, कला और विज्ञान का बोध भारतीय जनता को करा कर उसकी दशा सुधारी जाए। इस उद्देश्य की पूर्ति और

---

[1] J. W. Kaye : The life and correspondence of Sir Charles, Lord Metcalfe (volume II).

किसी कार्य से उतना नहीं हो सकती जितनी कि प्रेस की स्वतन्त्रता से।" ये महान् विचार सचमुच ही प्रशंसनीय हैं जब हम यह समझते हैं कि वे तात्कालीन शासकों की विचारधारा और कार्य-पद्धति के प्रतिकूल थे।

थार्न्टन ने यह कह कर चार्ल्स मेटकाफ़ की आलोचना की है कि जिन उपायों से और जिस अवस्था में ये सुधार कार्यान्वित किए गए वे असामयिक थे। उसने इस बात पर ज़ोर दिया कि मेटकाफ़ केवल स्थानापन्न और अस्थायी गवर्नर जनरल था इसलिए उसकी यह अदूरदर्शिता थी कि वह अपने बाद आने वाली सरकार को भी अपने प्रेस की स्वतन्त्रता की नीति के बन्धन में डालता। उसके कथनानुसार "मेटकाफ़ यह जानता था कि प्रेस-स्वतन्त्रता एक्ट से वह सरकार को ऐसी मुसीबत में डाल रहा है जिससे पीछा छुड़ाना बहुत ही कठिन होगा।"[२]

लेकिन यह स्मरण रहे कि मेटकाफ़ कोई अनुभवहीन व्यक्ति नहीं था जिसने जान बूझ कर प्रेस को स्वतन्त्रता दी। वह जानता था कि उसका पद स्थायी नहीं है और उसके स्वीकृत किये हुए क़ानून से उसके उत्तराधिकारी भी बँध जाएँगे। इस प्रकार उसने अपने उच्च चरित्र का परिचय दिया और अपनी आत्मा की पुकार को अधिक महत्त्व दिया और गृह प्रशासन की आज्ञाओं की परवाह न की। हम यह भी जानते हैं कि कई वर्ष पहले हैदराबाद में ब्रिटिश प्रतिनिधि के रूप में उसकी सीधी सादी नीति को लार्ड हेस्टिंग्ज़ ने पसन्द नहीं किया था।

थार्न्टन एक वकील की तरह तर्क करता है और मेटकाफ़ के वक्तव्य पर नुक्ताचीनी करता है। उदाहरण के लिए एक स्थान पर मेटकाफ़ ने कहा है "जनता में वादविवाद की स्वतन्त्रता का अर्थ है विचारों को सबके सामने कहने की स्वतन्त्रता। यह जनता का अधिकार है और कोई सरकार इससे उनको वंचित नहीं रख सकती।" थार्न्टन का कहना है कि यहाँ शब्दों के प्रयोग में ऐसी शिथिलता है जिससे यह गड़बड़ हो गई है। यदि खुले वादविवाद से मौखिक वादविवाद का तात्पर्य है तब तो हम उसे स्पष्ट और उच्च स्वर से बोलने के अर्थ में ले सकते हैं लेकिन लेखक (मेटकाफ़) ने इस अर्थ में उसका प्रयोग नहीं किया वरन् उसका तात्पर्य प्रेस में विचारों को खुले रूप में प्रकट करना है।"

उत्तर में हम कह सकते हैं कि शब्द और शैली इतने आवश्यक नहीं जितने कि विचार और भाव। यह मानना पड़ेगा कि मेटकाफ़ शब्दों को व्यापक अर्थ में प्रयुक्त करता है—इतने व्यापक अर्थ में जितना कि सम्भवतः उस काल के लोगों में सामान्य नहीं था। मेटकाफ़ ने ब्रिटिश स्वतन्त्र राष्ट्र संघ (कामनवैल्थ) और राजा प्रजा के सम्बन्ध का जो सुस्वप्न देखा था वह अब वास्तविक जगत् में दृष्टिगोचर हो रहा है। इससे मेटकाफ़ की दूरदर्शिता प्रदर्शित होती है।

प्रेस की स्वतन्त्रताविषयक थार्न्टन के पक्षपातमय विचारों पर उस पत्र से काफी प्रकाश पड़ता है जो एक 'ब्रिटेन' के नाम से 'बौम्बे गज़ट' में 'बंगाल हेरल्ड' के सम्पादक को सरकार द्वारा चेतावनी देने पर प्रकाशित हुआ था। इसे हम अविकल रूप से नीचे उद्धृत कर रहे हैं क्योंकि इससे 'एक ब्रिटन' के हृदय के विचार ज्ञात होते हैं:

"भारत सरकार की नीति में अवश्य कुछ बड़ी खराबी आगई है अन्यथा जो कोई उस स्वतन्त्र देश से असहाय और पददलित भारत पर शासन करने आता है, वही शासित के स्वतन्त्र विचारों की अभिव्यक्ति के विरुद्ध शीघ्र या देर से हथियार क्यों उठा लेता है। उन सब सम्पादकों से यह सच्ची बात कहने की आवश्यकता है कि अब तक जितना भी सुप्रबन्ध और दुर्नीति इस देश में बरती गई है उन सबका कच्चा चिट्ठा संसद् के सम्मुख उन्हें उपस्थित करना चाहिए। यही सब प्रकट होने के भय से भारत के नृशंस शासक प्रेस की स्वतन्त्रता का विरोध कर रहे हैं।"[३]

प्रेस की स्वतन्त्रता स्वीकार करने के कारण मेटकाफ़ को स्वयं दण्ड भोगना पड़ा। सन् १८३६ में उसके स्थान पर लार्ड आकलैण्ड की नियुक्ति हुई।

१८३६ का साल उर्दू प्रेस के लिए बहुत महत्त्व का था। पहला अखबार 'दिल्ली उर्दू अखबार' के नाम से

---

[२] Kaye, Opp. Cit. Volume II pp. 148-149 Thornton, History of the British Empire in India Vol. VI pp. 53-55.

[३] Margarita Barn : The Indian Press Page 187.

इसी साल प्रकाशित हुआ ।[४]

१८३७ में बहुत बड़ा अकाल पड़ा । पश्चिम सूरत, अजमेर, कोटा और लुधियाना से लेकर पूर्व में कलकत्ता तक इसका प्रसार था । सब तरफ़ से विपत्ति, भूख और मृत्यु की, दहला देनेवाली खबरें आती थीं । जब गेहूँ का मूल्य रुपए में २० सेर की जगह कुछ ही दिनों में १३ सेर हो गया तो अन्न के लिए दंगे भी होने लगे ।[५]

बहुत दिनों की अराजकता से लोगों की विपत्ति का सामना करने की शक्ति पहले ही क्षीण हो चुकी थी । जागीरदार और छोटे रजवाड़ों ने किसानों का रक्त पहले ही चूस लिया था इससे परिस्थिति और भीषण हो गई ।

'दिल्ली अखबार' यदि आकलैण्ड के शासन की आलोचना न करता तो इस दशा में और करता क्या !

इस अखबार ने बेगम समरू[६] की जागीर का हवाला देते हुए जिसका अधिकांश सरकार ने छीन लिया था, शेषांश अकालग्रस्त था और नौकर चाकर भूखों मर रहे थे, सरकार की बहुत कड़ी आलोचना की ।

"बेगम ने हज़ारों नहीं लाखों रुपए सिर्फ़ नाम कमाने के लिए दिखावे में खर्च किए और उस आदमी के लिए महान् निधि छोड़ी जिसका उस पर कुछ हक़ न था । फलस्वरूप उसके अपने नौकर भूखे और नंगे रह गए । जब तक दुनिया में सरधन के राजमहलों का अस्तित्व रहेगा वे पुकार पुकार कर कहेंगे कि हमारी नींव प्रजा के घर बार के विनाश पर रक्खी गई है ।" यह कितनी कड़ी आलोचना है पर अखबार इतने से ही सन्तोष नहीं करता और बेगम और तत्कालीन जमींदारों से विषमता प्रदर्शित करते हुए लिखता है । "बेगम स्त्री थी और दयालु भी । लेकिन उस प्रजा का क्या हाल होगा जो अब ऐसे जमींदारों के चंगुल में जा फँसी हैं जिन्होंने दया का नाम भी नहीं सुना ।"[७]

इस अखबार ने केवल एक उदाहरण देकर ही संतोष नहीं किया, वरन् अपव्ययता के अनेकों दृष्टान्तों को सामने रख कर भारत की क्षति की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया।

जागीरदार अपव्ययी थे किन्तु उन्हें अपव्ययता से रोका नहीं जाता था । जींद के राजा जब अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् गद्दी पर बैठे तो उन्होंने गवर्नर जनरल को ४० थान मलमल, १० थान गुलबदन, २० जोड़े दुशाले, ८ हथियार, चाँदी के हौदे के साथ एक हाथी और रुपहले वस्त्रों से आभूषित दो घोड़े भेंट में दिए गए और इससे कुछ ही कम उसके प्रतिनिधियों को भेंट मिली । कहने की आवश्यकता नहीं कि भेंट को सर्वथा अपनी इच्छा से नहीं दिया गया था ।

जब 'दिल्ली अखबार' भारतीय जागीरदार और अमीरों की फिज़ूलखर्ची के विरुद्ध अपनी लेखनी उठाता है तो भेंट के रूप में देश की सम्पत्ति का विनाश को रोकने के लिए दृढ़ आन्दोलन उठाने का प्रयत्न करता है । इस विषय की उसकी आलोचनाएँ पूर्ण अद्यतन प्रतीत होती हैं ।

कुछ भूमि कर से मुक्त थी । जब इन पर कर लगाए गए तो एक आन्दोलन उठ खड़ा हुआ । अधिकांश भूमि तो ऐसी थी जिस पर कर लगाना न्याय्य कहा जा सकता है और सरकार ने भी ऐसे भूमिपतियों को पेन्शन देकर इस नीति के कुप्रभाव से बचने की चेष्टा की ।[८] किन्तु आन्दोलन बन्द न हुआ क्योंकि भारत का वह वर्ग इससे क्षतिग्रस्त हुआ था जो सबसे अधिक मुखर था । इससे भी अधिक गम्भीर स्थिति तो तब पैदा हुई जब डाक विभाग सरकार के एकाधिकार के अन्तर्गत आया । कर बहुत कड़े थे जब जनता पहले से बहुत थोड़ा लगान देती आ रही थी । इस प्रकार धन इकट्ठा करना सरकार के लिए निन्दनीय समझा जाने लगा । इसका प्रभाव वणिक् वर्ग पर भी पड़ा और आगरा के महाजनों ने लेफ्टिनेण्ट गवर्नर के नाम एक प्रार्थनापत्र भेजा । किन्तु इसका फल उल्टा हुआ, और फ़र्रुखाबाद के महाजनों को इसलिए जुर्माना देने पड़ा कि वे डाक का अपना निजी प्रबन्ध रखते । 'दिल्ली अखबार' तत्कालीन जनमत को बहुत खूबी से प्रकाशन देने लगा । उसके अनुसार :

"गरीब जनता ब्रिटिश डाक का व्यय कैसे सँभाल सकती है । यदि सरकार लोभ द्वारा संचालित

---

४. K. Sajanlal : The Delhi Urdu Akhbar Islamia Culture 1950.

५. I. H. Qureshi : One year in Delhi (1837).

६. Dr. P. Spear : Twilight of the Moghuls.

७. दिल्ली उर्दू अखबार २ जुलाई १८३७ ।

८ उपरोक्त अखबार ३ नवम्बर १८३७ ।

हो कर डाक पर अपना एकाधिकार करना ही चाहती थी तो उसे वर्तमान व्यय से थोड़ा कम व्यय माँगना चाहिए था । इससे जनता पर कोई बुरा प्रभाव न पड़ता, और वे प्रसन्नतापूर्वक अपने पत्र सरकारी डाक-विभाग को देते ।"[९]

हम देखते हैं कि यह अखबार दिल्ली और उसके चारों ओर होनेवाली घटनाओं को अपने पत्र में प्रकाशित करता था । उसने लिखा थाः—"बेगम समरू ने लोभ के कारण अपनी हुकूमत को बरबाद कर दिया, परन्तु उसे क्या प्राप्त हुआ ?" इससे यह स्पष्ट है कि ग़रीब किसानों का हित साधन करने के लिए इस पत्र में कितनी लगन थी और अपने पाठकों के सामने वह कर वसूल करनेवालों की नृशंसता का किस प्रकार भण्डाफोड़ करता था । उसके अनुसार "सरकार ने एक भी कानून जनता की भलाई के लिए नहीं बनाया और वह कर जो ग़रीब लोगों द्वारा उत्पन्न किए हुए अन्न पर नहीं लगता था अब लगा दिया गया है। माफ़ी भूमि पर कर लगाने और वसूल करने वाले जिन विशेष कमिश्नरों की नियुक्ति हुई है उनका आतंक हमेशा बना रहता है । बहाना मिलते ही वे उस सारी भूमि पर दखल कर लेते हैं जो हमेशा के लिए कर-मुक्त दान के रूप में मिली थी । यह क्या विचित्र इन्साफ़ है !"

"दूसरी विचित्र बात यह है कि सरकारी कचहरी के सदस्य सड़क मरम्मत करने के बहाने पैदावार का दो प्रतिशत कर वसूल करना चाहते हैं । विचित्रता इस बात में है कि टूटी हुई सड़कों की तो मरम्मत करने की बात सोची जा रही है पर टूटे हुए दिल जोड़ने की बात कोई नहीं सोचता !" सरकार को इससे भी सन्तोष नहीं। "उन्होंने चौकीदारी का कर बढ़ा दिया, ज़मींदारी के बिसवादारी का हक़ छीन लिया, और इसके अतिरिक्त पैदावार पर कर में वृद्धि कर दी । अफ़सोस और सौ बार अफ़सोस ! यह क्या शासन है कि सरकार इन अपकर्मों को करने के लिए झुकी है ! कितने दुःख की बात है कि प्रजा जिसे यह सब सहन करना पड़ रहा है कुछ बोल नहीं सकती यद्यपि इस नृशंसता से उसके हृदय फट रहे हैं ;" इससे अधिक स्पष्टोक्ति क्या हो सकती है ! 'दिल्ली उर्दू अखबार' सचमुच जनता का हितैषी था यह निस्संदिग्ध है । पाठकों और भद्र लोगों के नाम की हुई उसकी निम्नाङ्कित अपील कितनी मर्मस्पर्शी है :—

"इस पत्र के पाठको, और बुद्धिमान् लोगो ! देखिए सरकार का क्या उत्तम प्रबन्ध है ! दुःखी प्रजा की भलाई के लिए तो एक क़ानून भी जारी नहीं किया । दूसरी ओर विशेष कमिश्नरों के पथ प्रदर्शन के लिए ऐसे क़ानूनों की रचना कर दी जिन्हें देख कर इटैली का प्रसिद्ध क़ानून पण्डित मैकियावली भी लज्जित हो । हमारी प्राचीन सरकारें तो ऐसे क़ानूनों को देख कर आश्चर्य में पड़ जातीं ।"[१०]

इस प्रकार हमने देखा कि 'दिल्ली अखबार' अपनी कड़ी आलोचनाओं द्वारा सरकारी क़ानूनों का जनता पर क्या बुरा प्रभाव पड़ेगा यह भली भाँति प्रकाश में लाता था । फ़ौज में जो वर्दी बदलने और दाढ़ी बनाने की अफ़वाह फैली थी वह भी इसका आलोच्य विषय बनने से न बच सकी । यह तो मानना ही पड़ेगा कि ब्रिटिश शासन पद्धति सर्वदा उदार और विवेकपूर्ण न थी और न उससे जनता में विश्वास ही उत्पन्न हो सकता था । इसमें आश्चर्य की क्या बात है कि दोपहर की कड़ी धूप में क़ैदियों से सड़क बनवाना जनता के लिए असह्य था । क़ैदी ही नहीं ग़रीब मज़दूरों को भी अकाल के समय में केवल एक पैसा भोजन के लिए मिलता था । फल यह हुआ कि अधिकांश या तो बीमार पड़ गए या लू लगने से अकाल मृत्यु को प्राप्त हुए । इतना ही नहीं जो भूख या कमज़ोरी से गिर पड़ते थे उन्हें अंग्रेज़ निरीक्षक बुरी तरह पीटते थे ।

जनता के सामने लज्जित कराने के लिए क़ैदियों को शहर में घुमाने की प्रथा अब भी जारी थी—उस समय जब कि ब्रिटिश न्याय को लोग सन्देह की दृष्टि से देखते थे। क्या इन दृश्यों से भारतीयों का हृदय न फटता ? आगे चल कर हम देखेंगे कि प्रेस ने इन विषयों पर क्या लिखा है ।

अब हम 'दिल्ली अखबार' को छोड़ कलकत्ता के अन्य पत्रों को लेते हैं । इन पत्रों का ब्रिटिश शासन के विषय में क्या वक्तव्य था ? क्या वे दिल्ली के अखबारों की राय से सहमत थे ?

दूसरी फ़रवरी १८४१ का 'संवाद भास्कर' सर-

---

[९] दिल्ली उर्दू अखबार ९ जून १८३७ ।

[१०] दिल्ली उर्दू अखबार ९ जून १८३७

कारी नीति या क़ानूनों की निन्दा करता है। उसकी शिकायत है: "जब सरकार की नीति भारतीय पत्रों के प्रति उदार हो गई, तो हमें आशा थी कि इस सस्ते और सुलभ साधन से जनता का दुःख दर्द शासकों तक पहुँचाया जा सकेगा और उसके बाद शिकायतें दूर करने का प्रयत्न किया जाएगा, किन्तु इस विषय में हमें अत्यन्त निराशा हुई और हमें यह लिखते दुःख होता है कि सरकार ने हमारी शिकायतों की ओर कुछ भी ध्यान नहीं दिया है।" पत्र ने बहुत से सुझाव रक्खे जिन्हें स्वयं राजा शिवप्रसाद ने १६ वर्ष बाद पेश किया था। पत्र ने लिखा था: "भारतीय अपने कष्टों को उन लोगों से अधिक अच्छी तरह समझ सकते हैं जो सात समुद्र पार रहते हैं और जो शासन सूत्र को अपने हाथों सम्भाले हुए हैं। उन्हें उनकी उन बातों पर ध्यान देना चाहिए जिन्हें कि उनके प्रतिनिधि प्रमाणों के साथ उनके सम्मुख उपस्थित करते हैं।"[११]

क्या यह सुझाव ठीक वैसा ही नहीं है जैसा कि राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' ने सोलह वर्ष बाद या राष्ट्रीय काँग्रेस ने उन्नीसवीं शताब्दि में पेश किया। "सरकार देशी भाषाओं से अभिज्ञ नहीं है और उसके अधिकारियों से यह आशा नहीं की जा सकती कि वे हमारे पत्रों को पढ़ें लेकिन अंग्रेज़ी पत्रों से जिन्हें अंग्रेज़ी पढ़ी लिखी जनता से लेकर बड़े लाट तक पढ़ते हैं हम यह आशा कर सकते हैं कि वे अपने पत्रों में हमारे पत्रों का अनुवाद प्रकाशित करें जब कि हमारे पत्र अत्याचार, अन्याय या ऐसे विषयों पर लिखते हैं जो स्थानीय लोगों के लिए महत्व रखते हैं।

"लेकिन वैसा करने के स्थान पर ब्रिटिश पत्र ऐसे तुच्छ और अनावश्यक संवाद छाप कर हमारा समय नष्ट करते हैं जैसे, 'एक झोपड़ी आग लगने से जल गई,' 'एक लोटे या झाड़ू की चोरी हो गई', या 'एक बिल्ली ने चार बच्चे एक साथ पैदा किए इत्यादि।"

—क़ासिम अली सजनलाल

उस्मानिया यूनिवर्सिटी,
हैदराबाद

——

मित्र खरबूज़ों के समान होते हैं।
इसका क्या कारण है ?
बात यह है कि एक अच्छा मित्र पाने के लिए
सौ को पहले पहचानना पड़ता है।

संग्रहकर्त्ता डी. एन. देशमुख
(नागपुर टाइम्स से)

---

[११] एशियाटिक जर्नल दिसम्बर १८४१ पृष्ठ ३३२

आदिवासियों की समस्या

यद्यपि आदिवासी जनसंख्या लगभग ढाई करोड़ है फिर भी भारत सरकार इतनी बड़ी समस्या की ओर आज भी पर्याप्त ध्यान नहीं दे रही है। उनकी शिक्षा, आर्थिक अथवा साँस्कृतिक उन्नति के लिए अभी तक कोई ठोस कार्य नहीं किया गया जो आदिवासियों के भविष्य और उनकी संस्कृति तथा कला का संरक्षण करती।

मोटे तौर पर हम आदिवासियों को तीन साँस्कृतिक वर्गों में त्रिभाजित कर सकते हैं। (१) उत्तर-पूर्वी (२) केन्द्रीय (३) दक्षिण वर्ग।

(१) उत्तर-पूर्वी (अ) उत्तरी। इस भाग के आदिवासी हिमालय की तराई में बसते हैं। इन जनजातियों में सिक्किम की लेपचा के अतिरिक्त अंगारिया, अहोरिया, गोधिया, कोल, खागर, थारु, दुसाध, गोढ़, धरही, किंगरिया, पोवरिया, नट, पासी, बहेलिया, बावरिया, वोरिया, भोक्सा, सहरिया, हाबुड़ा, के साथ ही जौंसार—बाबर क्षेत्र के खासा, बाजगी और कोल्टा भी इसी भाग के अन्तर्गत आते हैं। भोटिया जनजाति भी इसी वर्ग की प्रमुख जनजाति है।

(ब) पूर्वी आसाम के राभा-मेंचा, काछारी, मिकिर, और खासी जातियों के अतिरिक्त सुवन श्री नदी के पच्छिम में आका दफला और मीदी जनजातियाँ पाई जाती हैं तथा इस नदी के ऊपरी प्रदेश आघालानी और योहोंग नदी के दोनों किनारों पर मिओं, कामापंगी, परम, मिसमी, चूलीकाटा, बेलेजिया, खामती और सिंगफू आदि जन जातियाँ फैली हुई हैं। पूर्व में तीरय नदी, दक्षिण में मनीपुर और पश्चिम में रेंगमा पहाड़ियों पर नागा लोग पाए जाते हैं। भारतीय नागा जनजाति में रेंगपान, कोन्यक, सेमा, अंगामी, लहोता, यम्पतसुंगर और चंग तथा रेंगमा प्रसिद्ध हैं।

(२) केन्द्रीय—इस वर्ग के आदिवासी विन्ध्याचल, सतपुड़ा, महादेव मेकला, अजन्ता, हैदराबाद और अरावली पर्वत, नर्मदा और गोदावरी के मध्यवर्ती प्रदेश में पाए जाते हैं। केन्द्रीय वर्ग के पूर्वी भाग में गंजाम ज़िले की सावरा, गड़वा, वोंदो तथा उड़ीसा की कोढ और खड़िया, सिंहभूमि और मानभूमि की हो जाति, छोटा नागपुर की संथाल, उराँव तथा मुण्डा जन जातियाँ प्रमुख हैं। केन्द्रीय पर्वतीय प्रदेश के पश्चिमी और मध्यवर्ती भाग में कोल, गोंड और भील प्रमुख हैं। रीवाँ में वैगा जन-जाति भी उल्लेखनीय है। बस्तर की मुरिया को भी छोड़ा नहीं जा सकता। साथ ही उराँव, आँध, कर्माली, कवार, काटकरी, कामी, कोरवा, कोरा, कोला, कोलम, कोलग कोली, डागी, कोलो, कोकड़हा, सरवार, खेतौरी, कोढ़, गढ़वा, गरासिया, गुरुध, गुलगुलिया, गौरेट, घासी, चकमा, चेरो, चोदरा, जुमाँग, टियारा, ढ़ाड़िया, तुरी, दुबला, तबलिया, धवर, धानक, नगासिया, नायक, नेवाड़, पटेलिया, परजा, परहैया, पहाड़िया, पहिरा, पाण, पानो, बंजारा, विराजिया, त्रिंझवार, विरहोर; वेड़िया, वैगा, भरिया, भील, भीलाला, भुँइहार, भुंजिया, भूमिज, भोक्टा, माड़िया, मालपहाड़िया, मावची, माहती, मेव, मुण्डा, मेरान्त, मोलिक, मंगर, रावत, लोहरा, बसावा, वार्ता, वोदिया, सावरा, साँसिया, सौंता और संथाला आदि जन-जातियाँ भी इसी वर्ग के अन्तर्गत आती हैं।

(३) दक्षिणी—कृष्णा नदी के दक्षिण में यह वर्ग है। नल्लामलाई पहाड़ियों की चेंचू, नीलगिरि पहाड़ियों की टोडा, वडगा और कोटा, वायनाड की पानियान, ईरूला और कुसुम्बा, ट्रावनकोर-कोचीन की काडार, कारभीकर, मालवदन, माला और कुरावन प्रमुख हैं। इसके अतिरिक्त अरुणादन, इरावलम, कनीकररम, करीमपालान, कादन, कुड़िया, कुरीचन, कुडुबी, कुरावन—कुरुमान, कोण्डाडोरा, कन्ध, जटापू, निकोबारी, पलियन, बगटा, बड़गा, मलयन, मालासर लम्बाड़ी, बेतूवान और शोलागर आदि जन जातियाँ भी इसी के अन्तर्गत आती हैं।

भाषा और संस्कृति की दृष्टि से उत्तरी-पूर्वी जनजातियाँ मंगोली वर्ग की हैं। शरीर की बनावट, रंग और नाक मंगोलियन प्रकार की होती है। इस वर्ग के लोगों की भाषा भोट-चीन परिवार की भोट-बर्मी भाषाएँ हैं। खासी जन-जाति मोनखमेर भाषा बोलती है।

इन जन-जातियों में कुछ पितृपक्षी हैं और कुछ मातृपक्षी। इनके मकान पहाड़ों की चोटियों पर बाँस और लकड़ी इत्यादि से बनाए जाते हैं। इनमें खेती और शिल्प की काफ़ी प्रगति पाई जाती है। वस्त्र बुनना इनका प्रमुख उद्योग है।

कला, धर्म और संस्कृति तथा भाषा की दृष्टि से यह जन-जातियाँ काफ़ी महत्वशाली हैं। यह समस्त जातियाँ आधुनिक सभ्यता से दूर अशिक्षित और असभ्य हैं। बहु विवाह की प्रथा प्रायः सभी जातियों में पाई जाती है। माँस और शराब इनमें यथेष्ट प्रचलित हैं। गुदाई इन्हें सर्वप्रिय है! इनमें कई जन-जातियाँ मूर्ति की पूजा करती हैं और कई नहीं। बलिदान की प्रथा सर्वत्र विद्यमान है।

केन्द्रीय वर्ग भाषा और संस्कृति की दृष्टि से आस्ट्रेलवी परिवार के अन्तर्गत आता है। कुछ जन-जातियों को छोड़ कर जिनकी भाषा मंगोली है शेष सभी आस्ट्रिक परिवार की हैं। इन भाषाओं में क्रिया नहीं होती। और व्यक्ति की पहचान लिङ्ग से न होकर जड़ तथा चैतन्य रूप से होती है। यह सभी जन-जातियाँ यथेष्ट मात्रा में आगे बढ़ी हुई हैं। इनका प्रमुख पेशा कृषि है। यह लोग लकड़ी के घर बनाते हैं। शिल्प भी काफ़ी उन्नत है। इनके लोक नृत्य और गीत बहुत ही सुन्दर, लोकप्रिय और विकसित हैं। यह जन-जातियाँ अपेक्षाकृत सभ्यता के सम्पर्क में अधिक आई हैं।

विहार, उड़ीसा और मध्यप्रदेश के आदिवासी अधिकतर द्रविड़ भाषा बोलते हैं। धार्मिक दृष्टि से इनमें जीववाद के विचार मिलते हैं। हिन्दू धर्म का प्रभाव इन पर यथेष्ट मात्रा में पड़ा है। इनमें से कुछ जन-जातियाँ खेती भी करती हैं। जीवन-यापन के लिए पशुपालन, शिकार और मछली पकड़ती हैं। गीत, कथा और नृत्य का काफ़ी प्रचलन है। मध्यप्रदेश के आदिवासियों में घोटुल नामक संगठन भी पाया जाता है जिसका अपना महत्व है।

दक्षिणी वर्ग की जन-जातियाँ तमिल, तेलुगु, मलयालम् और कन्नड़ भाषाओं के विकृत रूप को बोलती हैं। यह आज भी बहुत पिछड़ी हुई हैं। कन्दमूल और शिकार ही इनका भोजन है। वृक्षों की छाल इनके वस्त्र हैं। इनमें अधिकतर बहुपति प्रथा पाई जाती है। लगभग सभी जन-जातियाँ शान्तिप्रिय और सरल हैं। चेंचू आदि अपराधी मनोवृत्ति की भी जातियाँ विद्यमान हैं। इनकी रुचि कृषि की अपेक्षा पशुपालन में अधिक है। चेंचू जीवन की सभी असुविधाओं के होते हुए भी काफ़ी बलिष्ठ होते हैं।

सभ्यता—अध्ययन की आसानी के लिए हम आदिवासियों को तीन भागों में बाँट सकते हैं। असभ्य, अर्ध सभ्य और सभ्य।

असभ्य—ये आदिवासी लगभग पचास लाख हैं। आज भी ये दुनिया से बहुत दूर हैं। वर्तमान सभ्यता का इन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा है। ये आज भी अपने आदिकालीन प्राचीन स्थानों जंगलों अथवा गुफाओं में बसे हैं। इनका जीवन पूर्णतया प्राचीन है।

अर्धसभ्य—आदिवासियों की सबसे अधिक संख्या अर्धसभ्य है। यह जनसंख्या लगभग डेढ़ करोड़ है। इन पर सभ्यता के संपर्क का काफ़ी प्रभाव पड़ा है। इन्होंने अपने जीविकोपार्जन के नए-नए रास्ते ढूँढ़ निकाले हैं। यह लोग कृषि हल द्वारा करने लगे हैं। सभ्यता का यथेष्ट प्रभाव पड़ने के बाद भी इन्होंने अपनी संस्कृति, कला, लोकगीतों और नृत्यों को सुरक्षित रखा है।

सभ्य—इस विभाग के अन्तर्गत आने वाली जन-जातियाँ बड़े-बड़े कल-कारखानों, औद्योगिक विकास के स्थानों के आस-पास जा बसने वाली हैं। यातायात के साधनों के विकास से खानों और खनिज पदार्थों के भण्डार के निकट जो आदिवासी जा बसे हैं हमारा तात्पर्य उनसे है। रेल, तार, डाक, नई-नई सड़कों के बनने, यातायात की सुविधाओं, ठेकेदारों के जंगलों में ठेकों, ईसाई पादरियों के भ्रमण और भारतीय तीर्थयात्रियों की यात्रा आदि के कारण आदिवासी सभ्यता के सम्पर्क में आए हैं जिससे इन्होंने जीवन के नए रूपों को अपना लिया है।

विद्वानों के मत आदिवासी समस्या पर महत्वपूर्ण होते हुए भी भिन्न हैं। अपने अध्ययन की सरलता के लिए हम इन विद्वानों को तीन विचारधाराओं में बाँट लेंगे। अंगरेज़ी शासकों ने राजनीतिक तथा आर्थिक दृष्टि से इन आदिवासियों की सदा उपेक्षा की। कभी-कभी कोई मिशनरी-ईसाई पादरी धर्म प्रचार के लिए सुदूर जङ्गलों अथवा पहाड़ों में गये तो उन्होंने अस्पताल अथवा स्कूल खुलवाने का बहाना किया और खूब धर्म परिवर्तन किया।

ईसाई मिशनरियों का उद्देश्य भले ही बुरा था पर यह अवश्य मानना पड़ता है कि सबसे पहले उन्होंने ही थोड़ी बहुत सहायता के कार्य आदिवासियों के लिए किए। इन ईसाई पादरियों का मत था कि भारतीय सभ्यता बहुत ऊँची है। "It lives itself and lets others live." वह स्वयं पनपती है और दूसरों को भी पूरा-पूरा बढ़ने का अधिकार और अवसर देती है। अतः मिशनरियों ने साम्राज्यवादी शासकों के स्वर में स्वर मिलाया कि आदिवासियों से किसी भी प्रकार का सम्पर्क रखना उनकी उन्नति में बाधक होगा।

जो भी पादरी धर्म के प्रचार अथवा भ्रमण के लिए आदिवासियों में गए वे या तो अंग्रेज़ी साम्राज्यवाद के फर्माबरदार चाकर या प्रचारक थे या अमरीकी एजेंट। इन धर्म के ठेकेदारों ने शोर तो बहुत मचाया परन्तु धर्म परिवर्तन के अतिरिक्त कोई उल्लेखनीय कार्य नहीं किया। एक आध स्कूल सो भी ईसाई धर्म के प्रचार के लिए अथवा कोई अस्ताल खुलवाया उसमें भी उनका अपना स्वार्थ था। इन्होंने हमेशा इस बात पर जोर दिया कि आदिवासियों से कोई सम्पर्क न किया जाए और उन्हें उनकी हालत पर छोड़ दिया जाए। इसमें राज सम्भवतः यह था कि एक तो भारतवर्ष स्वयं ही पिछड़ा हुआ और फिर यह आदिवासियों की अथाह जनसंख्या बिलकुल निरीह और अबोध थी। क्या कहने, लूटो, तिजोरी भरो। और वह सफल भी हुए अपने मनोरथ में। देश को अंग्रेज़ों ने खूब लूटा। उन्होंने हमेशा यही प्रचार किया कि भारतीय समस्या बहुत ऊँची है। सदियों से ये आदिवासी रहते आए हैं। यह आज भी उसी तरह सुरक्षित हैं जैसे वर्षों पूर्व थे। इसलिए दखल की कोई आवश्यकता नहीं।

परिणाम इसका यह हुआ कि जब कभी प्लेग, हैजा, चेचक अथवा और कोई बीमारी फैली तो अपार जनसंख्या की क्षति हुई। टोने टटने धरे रह गए। सूखे और अकाल से भी आदिवासियों की बहुत बड़ी संख्या नष्ट हो गई। यह वास्तव में बड़ी गम्भीर समस्या थी और विद्वानों ने इसे उतनी ही गम्भीरता से लिया भी।

आदिवासी निःसन्देह बहुत पिछड़े हुए हैं। अतः जो भी गया उसने उनका खूब शोषण किया। यातायात के साधनों की उन्नति, रेल, तार, डाक, नई सड़कें हो जाने से आने जाने की सुगमता हो गई। तीर्थयात्री जब इन आदिवासियों के सम्पर्क में आए तो इन्होंने उनके लोकगीत, नृत्य और कला की महानता और प्राचीनता को आँका और सराहा। जंगलों में ठेकेदारों ने इन आदिवासियों का प्रयोग सस्ते श्रम के रूप में किया। नए-नए कल कारखाने जो आदिवासी बस्तियों के आस-पास खुल गए हैं इससे उन्हें बड़ी हानि हुई है। इसका फल यह हुआ है कि यह सब अपना पेशा त्याग अब मिलों-कारखानों में मजदूरी करने लगे हैं।

दूसरा स्कूल आदिवासियों के विषय में जो अपना मत देता है वह है 'बाम्बे स्कूल आफ थाट' (Bombay school of thought)। इसके समर्थक प्रोफ़ेसर घूरे इसके बिलकुल विपरीत सोचते हैं। आपका विचार है कि आदिवासियों की यदि शीघ्र रक्षा अथवा उनमें कोई ठोस और उल्लेखनीय सेवा कार्य नहीं किया गया तो दैवी प्रकोप से एक न एक दिन समस्त आदिवासी जनसंख्या का लोप हो जायगा। साथ ही वे आदिवासियों का सस्ते श्रम के रूप में कारखानों आदि में काम करने के भी विरुद्ध हैं। आपका कहना है कि हमें तुरन्त ऐसे क़दम उठाने चाहिएँ जिससे आदिवासी अपने को सुरक्षित रख सकें।

प्रोफ़ेसर घूरे का विचार है कि बीमारियों अथवा अकाल या सूखे से जो अनगिनत लोग मृत्यु के शिकार हो जाते हैं उसके लिए हमें अस्पताल और डिस्पेंसरियाँ खोलनी चाहिएँ। उनके बीच जाकर हमें उनमें चिकित्सा और अन्य उपयोगी सेवा कार्य करना चाहिए। उनको प्राचीन रूढ़िवाद से निकाल कर उन्हें हमको सभ्यता के संपर्क में ला कर वर्त्तमान समय के अनुसार सभ्य बनाना चाहिए। उनमें निरक्षरता दूर करने के लिए स्कूल खोलने चाहिए तथा नई सड़कें बनवा कर आने-जाने के सुगम रास्ते बना कर उनमें सम्पर्क स्थापित करना चाहिए। कारखानों अथवा ठेकेदारों द्वारा किए जानेवाले शोषण को रोकना चाहिए। थोड़े से में यदि कहा जाय तो पहले मिशनरियों के मत के विपरीत, आदिवासियों से सम्पर्क स्थापित करने के समर्थक हैं। इस स्कूल के विद्वान् आदिवासियों का कल्याण उनसे संपर्क स्थापित करने में ही देखते हैं।

सम्पर्क निस्सन्देह बड़ा ही लाभकारी है। परन्तु इस संपर्क से हानि भी बहुत हुई। पहली बात तो यह कि हम सभ्य कहे जानेवालों बातों पर आदिवासियों का

विश्वास नहीं के बराबर है। वे इतने पिछड़े हुए हैं कि उनका विश्वास टोने-टटने पर अधिक है, दवा और इंजेक्शन पर कम से कम। इसके अतिरिक्त संपर्क में जो आदिवासी आए उनका शोषण किया गया। कोई आदिवासी अपने यहाँ कितना भी ऊँचा स्थानवाला क्यों न हो सभ्यता के संपर्क में आनेपर वह केवल साधारण मजदूर रह जाता है या मामूली नौकर। मेरे कहने का अर्थ यह है कि उस आदिवासी को जो स्थान अपने गिरोह (Tribe) में प्राप्त था हमारे यहाँ कभी नहीं मिलता बल्कि वास्तविकता है इससे बिल्कुल विपरीत और स्पष्ट कहा जाय तो गिरोह जाति में परिवर्तित होता है ("Tribe changes into caste")। यह मेरा विशेष प्रश्न है इस विचारधारा के समर्थकों से। इसका यह अर्थ नहीं कि हमें उनसे सम्बन्ध विच्छेद करना चाहिए। नहीं। आदिवासी कला, सभ्यता, गीत और नृत्य को सुरक्षित रखने के लिए उनसे सम्पर्क आवश्यक है।

तब प्रश्न उठता है कि फिर कौन-सा क़दम उठाया जाए। इसका उत्तर लखनऊ के नृवैज्ञानिक देते हैं। लखनऊ स्कूल के विद्वान् इस बात के समर्थक हैं कि न अन्धाधुन्ध सम्पर्क और न अन्धाधुन्ध पृथक्करण उचित है। इस लखनऊ स्कूल के प्रमुख विद्वान् डा. डी. एन. मजूमदार हैं और उनके समर्थक उनके विद्यार्थी। इस स्कूल का मत है कि हमें आदिवासियों से सम्पर्क रखना चाहिए और उसकी सहायता भी करनी चाहिए पर उसी समय जब आदिवासी माँगे अथवा उन्हें आवश्यकता हो अन्यथा नहीं। हम उन पर अपनी सेवाएँ लादें अथवा थोपें नहीं। और साथ ही यह भी नहीं कि उनको भगवान् के सहारे ही छोड़ दें। उनसे सम्पर्क उतना ही रखा जाय जितना आवश्यक हो तथा आदिवासियों को हम अपने यहाँ भी वही स्थान दें जो उन्हें अपने समाज में प्राप्त हो। साथ ही उनके लिए नई योजनाएँ बना कर उनकी सहायता के लिए सही क़दम उठाएँ। इसी तरह हम आदिवासियों की सही सहायता कर सकते हैं।

आदिम जाति सेवक संघ तथा जनसेवक संघ जैसी अनेक संस्थाओं ने आदिवासियों के बीच सेवा कार्य किया। फिर भी अभी कार्य बहुत कुछ करने को है। आदिवासियों की उन्नति और उनकी सुरक्षा के लिए स्कूल और अस्पताल खोले जाने चाहिए। नए नए रास्ते बना कर पथों को सुगम बनाना चाहिए। कुएँ बनवा कर पानी की समस्या हल करनी चाहिए। उनके लोकगीतों और लोकनृत्यों को प्रोत्साहन देकर उन्हें साहित्य की स्थायी निधि बनाना चाहिए। 'मद्यनिषेध' लागू कर शराब की अनावश्यकता का प्रचार कर उनकी बुरी लतें छुड़ाना चाहिए। उनके सामाजिक और धार्मिक रीति रिवाजों की रक्षा कर उससे हमें उसकी अच्छाइयाँ अपना कर भारतीय कला और संस्कृति को समृद्ध बनाना चाहिए। इसके साथ ही छोटा नागपुर और आसाम के चाय के बागानों में जो आदिवासी मजदूरी करते हैं उनकी सुरक्षा के लिए ठोस क़दम शीघ्र ही उठाए जाने चाहिए तभी आदिवासी उन्नति कर सकते हैं अन्यथा नहीं।

कोटवाली रोड,
हरदोई

—रामगोपाल शुक्ल

गलत अफवाहें प्रायः सत्य को जन्म देती हैं।

—लार्ड लिट्टन

कोई नौकरी उस गुलामी से अधिक अपमानजनक नहीं होती जो स्वेच्छापूर्वक अपने ऊपर लाद ली जाती है।

—सिनिका

हिन्दी साहित्य का विकास

[यह भाषण हैदराबाद के प्रथम सांस्कृतिक सम्मेलन में दिया गया था।]

एक नदी या भाषा का विकास हो सकता है परंतु क्या साहित्य का विकास सम्भव है ? इतिहास मुख्य घटनाओं को परम्परा में जोड़ने का प्रयत्न करता है परन्तु एक युग का साहित्य दूसरे युग के साहित्य से विकसित होता हुआ चला जाता है--इस बात को बलपूर्वक नहीं कहा जा सकता । साहित्य और कला के क्षेत्रों में प्रायः ऐसा होता है कि जो रचनाएँ सुन्दर और एक युग का प्रतीक होती हैं वे युगयुगान्तर तक अपना अक्षुण्ण अस्तित्व और प्रभुत्व स्थापित किए रहती हैं । उनके अन्दर का ध्रुव सत्य युग के धर्म को लेकर अपने को नवीनतम रूप में आविष्कृत करने का प्रयत्न करता है परन्तु जो रचना काव्य और कला की दृष्टि से पूर्ण होती है वह चाहे प्रारम्भ में हो या मध्य या अन्त में वह साहित्य में अपना एक निश्चित स्थान बना लेती है । संस्कृत में वाल्मीकि की 'रामायण' को संस्कृत भाषा की सब से पहली महान् रचना कहा जाता है । 'रामायण' वाल्मीकि के पश्चात् अनेकों कवियों ने लिखी और 'रामायण' की कहानी को अनेक रूपों में लिखा गया और आज भी लिखा जा रहा है और इस प्रकार वह कहानी अनेक रूप धारण करती चली जा रही है । परन्तु वाल्मीकि की 'रामायण' का साहित्य में जो स्थान प्रारंभिक समय में था वह स्वयम्भू कवि की अपभ्रंश में रामायण 'पउमचरिउ' और हिन्दी में तुलसीदास की 'रामायण' के पश्चात् भी वैसा ही अक्षुण्ण बना हुआ है । जिस प्रकार एक नदी या भाषा का क्रमबद्ध एकरूप विकास होता है वैसे साहित्य का नहीं होता । साहित्य तो एक वृक्ष के फूलों जैसा होता है । यह सत्य है कि एक वृक्ष का रस ही फूलों में आविर्भूत और विकसित हो उठता है परन्तु क्या एक फूल के बाद जो दूसरा फूल आता है वह पहले फूल का विकास होता है ? पहले फूल जिस प्रकार अपने अन्दर नवीनता, मधुरता और पूर्णता लिए हुए होते हैं—दूसरे फूल भी अपने अन्दर वैसी ही नवीनता और सुन्दरता और पूर्णता लिए हुए होते हैं और जहाँ पूर्णता की छाप लग जाए वहाँ विकास के लिए स्थान ही नहीं रहता ।

हम जिस भाषा के साहित्य को 'हिन्दी' का साहित्य कहते हैं उसे हिन्दी कब से कहा जाने लगा यह अभी तक निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता । ऐसा प्रतीत होता है कि भाषा जिस प्रकार अपने स्वरूप को बदलती है उसी प्रकार अपने नाम को भी बदल लेती है । हिन्दी के साहित्य के प्रारम्भिक काल में—प्रारम्भिक काल से हमारा उस काल से तात्पर्य है जिसे आज हिन्दी साहित्य की इतिहास की पुस्तकों में हिन्दी का आदिम काल कहा जाता है—इस भाषा को हिन्दी के नाम से नहीं कहा गया है। अपभ्रंश के समय जहाँ एक ओर संस्कृत और प्राकृत में रचनाएँ निर्मित होती रहीं हैं वहाँ दूसरी ओर इसके अन्तिम काल में देशी भाषा में भी रचनाएँ होती रहीं हैं । संस्कृत और प्राकृत में जो मुख्य ध्यान देने योग्य बात है वह यह है कि संस्कृत का तो भारतवर्ष के एक किनारे से लेकर दूसरे किनारे तक एक ही रूप है और रहा । उसमें विशेष परिवर्तन नहीं हुआ । संस्कृत एक ही भाषा का नाम है परन्तु प्राकृत एक भाषा का नाम नहीं है, वह कई भाषाओं का नाम है । प्राकृत–मागधी, अर्धमागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री, पैशाची इत्यादि कई प्रकार की है । यद्यपि साहित्य में हमें इस बात का एक जैसा विस्तार और विकास दृष्टिगोचर नहीं होता । जिस प्रकार प्राकृत कई प्रकार की है उसी प्रकार अपभ्रंश भी कई प्रकार की है । इस भिन्नता के कारण यह सहज स्वाभाविक है कि यह समझ लिया जाए कि प्राकृत और अपभ्रंश दोनों का सम्बन्ध प्रमुखतया बोलचाल की भाषा के साथ लगातार रहा है और साहित्यिक रूपों में भी एकसदृशता (Uniformity) आने के पश्चात भी उनके साहित्यों की भाषा में भी यह भेदभाव अभिलक्षित होता है । अपभ्रंश काव्य की पुस्तकों में पहले इसी को देशी भाषा के नाम से कहा जाता रहा है । 'देशी भाषा' शब्द का प्रयोग एकमात्र विद्यापति ने ही १४ वीं सदी में अपनी पुस्तकों में नहीं किया है—"देसिय बयना सब जन मिट्ठा" अर्थात् देशी बोल सब लोगों को मीठे प्रतीत होते हैं परन्तु स्वयम्भू ने आठवीं सदी में अपनी "पउम चरिउ" पुस्तक जिसका कि दूसरा नाम

"रामायण" है—अपने काव्य को लिखते हुए "देशी भाषा" शब्द का प्रयोग किया है।[1] "देशी भाषा" शब्द का प्रयोग प्राकृत और अपभ्रंश दोनों से पृथक होता रहा है। कुछ शब्दों को देशी शब्द कहा जाता रहा है जिसके आधार पर हेमचन्द्र ने एक कोश लिखा है जिसका नाम "देशी नाम माला" है। 'देशी' शब्द का यह अर्थ नहीं है कि दूसरी भाषाएँ विदेशी थीं परन्तु सम्भवतः स्थानीय बोली जानेवाली भाषा या शब्दों को देशी कहा जाता था। धीरे धीरे हम देखते हैं कि देशी शब्द भी नहीं रहता—एकमात्र 'भाषा' शब्द ही रह जाता है। कबीर अपनी साखियों में कहते हैं—"संसकिरत है कूप जल भाषा बहता नीर" और इसी प्रकार तुलसीदास अपनी रामायण में कहते हैं—"भाषा भणिति मोर मति थोरी"। हिन्दी के लिए उर्दू में 'भाषा' शब्द का प्रयोग अभी तक होता रहा है। हिन्दी के पुराने साहित्य में कहीं भी हिन्दी शब्द का प्रयोग हिन्दी के किसी भी महान् या प्रमुख कवि ने नहीं किया। अमीर खुसरो ने १३ वीं सदी में जब "हिन्दवी" शब्द का प्रयोग किया तो उनका इस "हिन्दवी" भाषा से हिन्दी की किस बोली की ओर संकेत था—यह भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। हिन्दी काव्य-संसार में इस शब्द का प्रयोग प्रचलित नहीं हुआ। आज जिन भाषाओं और उपभाषाओं को 'हिन्दी' साहित्य के इतिहास के अन्तर्गत किया जाता है वे उस समय सब 'भाषा' के ही अन्तर्गत थीं। हिन्दी भाषा में आज बिहार, उत्तर-प्रदेश, राजस्थान, मध्यभारत, विन्ध्य-प्रदेश और मध्य-प्रदेश के हिन्दी प्रदेशों की सब बोलियों को अन्तर्गत किया जाता हैं—यद्यपि हिन्दी का जो राष्ट्रभाषा का स्वरूप है, जिसे आज हिन्दी कहा जा रहा है वह हिन्दी का एक रूप ही है जिसे "खड़ी बोली" के नाम से कहा जाता है। इन सब बोलियों का साहित्यिक दृष्टि से गहरा सम्बन्ध है परन्तु फिर भी इन सब बोलियों को हिन्दी के अन्तर्गत करने से हिन्दी साहित्य का क्षेत्र इतना विस्तृत हो जाता है जो कुछ सीमा तक तो सम्भवतः हिन्दी के साहित्य के इतिहास में समाविष्ट हो सके परन्तु वह समय शीघ्र ही आ रहा है जब कि वर्त्तमान हिन्दी को प्रारम्भ से अन्त तक अपने एक ही रूप में साहित्य के इतिहास को निर्मित करना होगा। 'हिन्दी' शब्द का प्रयोग हमें संभवतः स्पष्ट रूप से १७ वीं सदी के अन्त में मिलता है जो धीरे धीरे अपने अर्थों को विस्तृत करता जाता है। जिस हिन्दी शब्द का प्रयोग अमीर खुसरो के समय व्रजभाषा और सम्भवतः खड़ी बोली के लिए हुआ था उसमें अब "अवधी" भी सम्मिलित हो जाती है और धीरे धीरे इस प्रकार हिन्दी का शब्द व्यापक होता चला जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि १७ वीं सदी के अन्त में हिन्दी शब्द का प्रयोग होने लग गया था।

ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय हिन्दी और फ़ारसी में लिखने का अधिक प्रचलन था। धीरे धीरे फ़ारसी का स्थान उर्दू ने ले लिया और तब यह प्रतिस्पर्धा और विवाद हिन्दी और उर्दू के बीच में चल पड़ा जो समय की राजनीति के साथ बढ़ता गया। हिन्दी साहित्य के कई इतिहासकार हिन्दी के वर्तमान रूप को अर्थात् खड़ी बोली के रूप को हिन्दी की निर्गुण काव्य धारा के साथ साथ लाते हैं और इसका विकास भी वे व्रजभाषा के साथ साथ करते हैं। उनकी सम्मति में हिन्दी कविता में ये दोनों भाषाएँ अपने अपने क्षेत्र में विकास को प्राप्त होती गई हैं। खड़ी बोली का सम्बन्ध इस प्रकार की कविता से है जिसमें भगवान् के निराकार और निर्गुण स्वरूप की अभिव्यंजना की गई है और जहाँ गीतों में सगुण भक्ति का रूप है वहाँ अधिकांश में व्रजभाषा का प्रयोग हुआ है। कुछ भी हो प्राचीन हिन्दी काव्य साहित्य के क्षेत्र में खड़ी बोली की हिन्दी को वह महत्व और लोकप्रियता प्राप्त न हो सकी जो कि हिन्दी से सम्बद्ध अन्य बोलियों डिंगल, अवधी या व्रजभाषा को प्राप्त हुई। धीरे धीरे व्रजभाषा ने समस्त हिन्दी के साहित्य पर अपना पूर्ण प्रभुत्व प्राप्त कर लिया। अकबर के समय फ़तहपुर सीकरी, आगरा और उसके आसपास के स्थानों को राजाश्रय और अधिक महत्व प्राप्त हुआ और यह भी एक कारण 'व्रजभाषा' को इतने महत्व के प्रदान करने में सहायक हुआ। व्रजभाषा को अपने नए संगीत और अकबर के दरबार में आदर प्राप्त होने के कारण भी यह महत्व प्राप्त हुआ और उस समय व्रजभाषा ने हिन्दी के साहित्य को अपने में

---

[1] "देशी भाषा उभय तंडुज्जल"

अधिकांश में समाविष्ट कर लिया । अवस्थाओं के परिवर्तन के साथ इस स्थिति में परिवर्तन हुआ । अंग्रेजों के आने के बाद कुछ ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गईं कि खड़ी बोली ही समस्त हिन्दी के साहित्य के क्षेत्र में सर्वोपरि हो गई । राष्ट्रीय भावनाओं के विकास के साथ साथ हिन्दी भाषा भी राष्ट्रीय रूप धारण करने लगी । इसी में पद्य और गद्य का समस्त साहित्य उत्पन्न होने लगा । कई विचारक और आलोचक इस भाषा को राष्ट्रभाषा की दृष्टि से 'भारती' नाम देना चाहते हैं, कई इसे 'नागरी' का नाम देना चाहते हैं । वैसे तो नागरी देवनागरी लिपि को कहते हैं परन्तु नागर अपभ्रंश से इस बोली का सम्बन्ध जोड़ कर वे इसका नामकरण 'नागरी' करना चाहते हैं ।

अपभ्रंश की साहित्यिक परम्परा क्योंकि सर्वसाधारण जनता से ही अधिकतर सम्बद्ध थी इस कारण जो देशी भाषा प्रथम हिन्दी के रूप में प्रचलित हुई उसने अपने अन्दर उन्हीं साहित्यिक साँचों, छन्दों, परम्पराओं और यहाँ तक कि विचारधाराओं को अपनाया जो अपभ्रंश के काव्य साहित्य में थीं । यद्यपि संस्कृत और प्राकृत के काव्य साहित्य में तुकान्त कविता को विशेष प्रधानता न थी-परन्तु देशी भाषा में तुक को प्रधानता प्राप्त हुई । जो काव्य साहित्य जनता से प्रेरणा प्राप्त करेगा उसमें गीतिकाव्य का होना परम आवश्यक है इसलिए इसमें अनेक प्रकार की गीतियों का समावेश हुआ । अपभ्रंश की कविता के अन्तिम पदों में भणिता है अर्थात् कवि का नाम आता है वैसा ही इस काव्य साहित्य में भी हुआ । संस्कृत या प्राकृत की काव्य शैली को उन्हीं कवियों ने लेने का प्रयत्न किया जो इन भाषाओं से भली भाँति परिचित थे । प्रारम्भिक हिन्दी में अपभ्रंश के साहित्य की जो विचारधारा या काव्य की शैली आई उसका बहुत बड़ा कारण हमारी सम्मति में अपभ्रंश का हिन्दी से सीधा सम्बन्ध नहीं है जैसा कि साधारणतया कहा जाता है परन्तु इसका कारण मुख्यतया यह है कि अपभ्रंश में जो साहित्य अधिकतर उत्पन्न हुआ उसका सम्बन्ध विद्वानों या समाज के ऊपर के स्तर के लोगों से उतना नहीं था जितना कि सर्वसाधारण से । इसलिए जो काव्य शैली की पद्धतियाँ उस समय अपभ्रंश में प्रचलित थीं वे आदिम हिन्दी के साहित्य में जनता के द्वारा आ गईं ।

किसी भी भाषा के साहित्य की प्रियता के दो रूप होते हैं । एक तो उसकी प्रियता का वह रूप होता है जब कि उसे राजा या राज्य का आश्रय प्राप्त होता है । राज्य के बल से उसमें बल और गति आती है । ऐसे साहित्य में राजाओं की प्रेम लीला युद्ध और जीवन आदि का वर्णन होता है । इन राजाओं का प्रजा या जनता से सम्बन्ध न हो ऐसी बात नहीं है—यदि ऐसा न होता तो सर्वसाधारण की उसे सुनने या पढ़ने की अभिरुचि ही न होती-परन्तु ऐसा साहित्य उन्हीं में देश और जनसमाज को बहुत कुछ केन्द्रित कर देता है—दूसरा साहित्य इस प्रकार का होता है जिसमें जनता अपने ही हृदय के भावों को -अपने ही सुख या दुःख को और अपने ही विचारों को अपने ही रूप में प्रकट करती है । ऐसा साहित्य जनता में ही केन्द्रित होता है ।

पृथ्वीराज 'रासो' की प्रामाणिकता पर हिन्दी के बहुत से इतिहासकारों और आलोचकों ने प्रश्नात्मक चिह्न लगा दिया है। पहले इसे हिन्दी का पहला महाकाव्य समझा जाता था । इसे कई आलोचक तो अपभ्रंश का अन्तिम काव्य कहते हैं और अन्य आलोचक इसे प्रामाणिक ग्रन्थ ही नहीं मानते । चाहे यह ग्रन्थ इतिहास की दृष्टि से महत्वपूर्ण न हो तो भी हम समझते हैं कि काव्य और भाषा की दृष्टि से यह ग्रन्थ अत्यन्त महत्वपूर्ण है । इसके विषय में इतना अधिक भ्रम (Confusion) इसलिए हुआ है क्योंकि शिलालेखों और पृथ्वीराज के अन्य चरितों से इसे मिला कर इस पुस्तक को इतिहास की दृष्टि से देखने का जितना प्रयत्न किया गया है—उतना काव्य की दृष्टि से देखने का प्रयत्न नहीं किया गया । 'पृथ्वीराज रासो' एक महाकाव्य है—इतिहास का ग्रन्थ नहीं । इसको १२ वीं सदी में रखा गया था—परन्तु इतिहास की अप्रामाणिकता के कारण इसे कई इतिहासकार १६ वीं सदी तक लाते हैं । वे इसको इससे पीछे नहीं ले जा सकते क्योंकि अकबर के समय इस पुस्तक की प्राप्ति के प्रमाण प्राप्त होते हैं । 'रासो' को भाषा की दृष्टि से पढ़ते हुए ऐसा अनुभव होता है कि देशी भाषा अपने को साहित्य के नवीन रूप में अभिव्यक्त करने के लिए प्रयत्न कर रही है । इसमें प्राकृत और अपभ्रंश का तो आधिक्य है ही—परन्तु इसमें कई भाषाओं को संस्कृत का रूप देने की प्रयोजना की गई है । इस काव्य की भाषा को देखते हुए यह स्पष्टतया अनुभव होता है कि कवि ने भाषा को साहित्यिक रूप देने के लिए कई प्रकार के नए प्रयोग किए हैं । भाषा साहित्य में अपभ्रंश

से अलग नहीं हो पाई है--परन्तु फिर भी बहुत से स्थानों पर बिलकुल अपने रूप में प्रकट हुई है। इसे अपभ्रंश का काव्य नहीं कहा जा सकता क्योंकि इसमें न केवल भाषा का स्वरूप बदला हुआ है परन्तु इसमें नए छन्द हैं और नई शैलियाँ हैं और नए प्रयोग हैं। इसमें संस्कृत के छन्दों को भी लिया गया है जब कि अपभ्रंश के काव्यों में संस्कृत के छन्द नहीं हैं। 'वीसलदेव रासो' की भाषा तो बिलकुल बोलचाल की भाषा है। उसकी कथा यद्यपि राजा वीसलदेव से सम्बन्धित है परन्तु उसके पात्र जैसे जन-साधारण की बोलचाल की भाषा का आश्रय लेकर अपने राजत्व की शान और अपने वैभव को छोड़ कर सर्वसाधारण के बन गए हैं। यही उसकी सबसे बड़ी विशेषता है। 'वीसलदेव रासो' को पढ़ने से यह ज्ञात होता है कि इस रासो को घरों में मंडलियाँ बना कर गाया बजाया जाता था। इसकी बोली तो स्पष्टतया ही जन-साधारण की बोली है जिसने परिवर्तित होकर कहीं कहीं आज की बोली का रूप धारण कर लिया है। 'वीसलदेव रासो' भी बारहवीं सदी का काव्य है। इसी समय में 'आल्हा ऊदल' लिखा गया जिसे आज भी बुंदेलखण्ड और उत्तरप्रदेश के कई क्षेत्रों में बड़े जोश और उत्साह के साथ गाया जाता है। इसकी भाषा और यहाँ तक कि विषय भी जन-साधारण की रुचि के अनुसार परिवर्तित हो गए हैं।

जब १२ वीं सदी में इस प्रकार का 'रासो' का साहित्य उत्पन्न हो रहा था—उसी समय के आस पास गोरखनाथ का आविर्भाव हुआ। गोरखनाथ को कई साहित्यकार दसवीं में और कई तेरहवीं सदी में रखते हैं। उनकी भाषा को देखने से यह स्पष्टतया अनुभव होता है कि उनकी भाषा भी बारहवीं सदी के आस-पास की है। वह भाषा इस प्रकार की है कि उसमें अपभ्रंश का हिस्सा बहुत कम हो गया है। उसमें भी साहित्यिक नई शैलियों के प्रयोग हैं—उसमें संस्कृत का पुट मिला हुआ है। यह बड़े दुःख की बात है कि गोरखनाथ की कविता को हिन्दी साहित्य में जो स्थान प्राप्त होना चाहिए था वह उसे प्राप्त न हुआ। हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों ने उनके ग्रन्थों का अध्ययन भाषा की दृष्टि से तो थोड़ा बहुत किया परन्तु काव्य की दृष्टि से नहीं किया। उनकी पुस्तकों को "साम्प्रदायिक" कह कर अवहेलना की दृष्टि से देखा गया है। गोरखनाथ की रचनाओं में हमें न केवल युग की प्रवृत्तियों का पता चलता है परन्तु उसी में सबसे पहले भारतीय और इस्लामी विचारों का सन्तुलन, आलोचन और समन्वय दीख पड़ता है। गोरखनाथ यद्यपि शास्त्रों के गम्भीर पण्डित थे तो भी उन्होंने सर्वसाधारण की बोली में अध्यात्म, सदाचार और जीवन की गहरी अनुभूतियों को अपने समय की प्रचलित, सीधी-सादी और घरेलू भाषा में लिखा है। कबीर की कविता की बहुत-सी परम्परा हमें गोरखनाथ की कविता में दृष्टिगोचर होती है। उसकी भाषा में सर्वसाधारण की भाषा के मुहावरे, सर्वसाधारण के जीवन का प्रतिबिम्ब स्पष्टतया दिखाई देता है। उसमें एक ओर पंडित, क़ाज़ी और मुल्ला की चर्चा है और दूसरी ओर सुनार, लुहार, कुम्हार, ज़ौहरी और कलाल आदि की। उनकी भाषा के कुछ मुहावरों को यहाँ प्रदर्शित किया जाता है:

"भर्या ते थीरं—झलझलन्ति आधा"। जो भरे हैं—पूर्ण हैं, वे स्थिर हैं और जो आधे हैं वे छलकते हैं। "घट घट गोरख कहे कहानी। काचे भांडे रहे न पानी।" गोरख तो अपनी बात हर एक से कहता है परन्तु कच्चे घड़े में पानी नहीं रहता। "वदन्त गोरख सुनो रे अवधू करबै होई सो निकले टूटी।" यहाँ टूटी शब्द का प्रयोग देखिए। गोरखनाथ कहते हैं कड़वे में —कमंडलु में जो होगा वही तो टूटी से निकलेगा। एक और जगह कहते हैं—"अवधू मन चंगा तो कठौती ही गंगा।" कहते ही हैं—"मन चंगा तो कठौती में गंगा।" गोरखनाथ कहते हैं—"जब तब कलंक लगाइसी—काली हांडी हाथ।" काली हांडी को जो भी हाथ लगाएगा उसका हाथ जब तब काला होगा। "जेता लायक वासन होवे—तेतौ तामे मेल्है।" बरतन जितना हो—उसमें उतना ही सामान भरना चाहिए।

अपनी कविता में गोरखनाथ कहते हैं:—

"सोना ल्यो, रस सोना ल्यो, मेरी जाति सुनारी रे।" मैं जाति का सुनार हूँ। मुझ से सोना लो--रस का सोना लो।"

"खेती करौं तो मेह बिन सूखै।
बनिज करौं तो पूंजी टूटै।
अस्त्री करौं तो घर भंग हैला।
मित्र करौं तो विसहर मेला।
जुवटै खेलौं तो बैठड़ो हारौं।
चोरी करौं तो पिंडड़ो भारौं।

वनखंड जाऊँ तो बिरछ न फलना ।
नगरी में जाऊँ तो भिष्या न मिलना ।
बोल्या गोरखनाथ मछिन्द्र का पूता ।
छाँड़िनै माया भया अवधूता ॥"

ऊपर के कुछ उदाहरण इसलिए दिखाए गए हैं क्योंकि गोरखनाथ को हिन्दी के काव्य-साहित्य में कोई विशेष स्थान काव्य की दृष्टि से नहीं दिया गया है । कभी समय मिलेगा तो हम उनके काव्य की विस्तृत चर्चा करेंगे। कबीर की वाणी में गोरखनाथ की वाणी की प्रतिध्वनि सुनाई देती है यहाँ तक कि हिन्दु-मुस्लिम विचारों और पद्धतियों पर टीका-टिप्पणी भी वैसी ही प्राप्त होती है । उन्होंने भी हिन्दु और मुसलमानों को मिलाने का प्रयत्न किया है। हम समझते हैं कि यह सिलसिला गोरखनाथ के बाद इसके आधार पर विस्तृत रूप में चला। गोरखनाथ की वाणी में कहीं कहीं राम का नाम मिलता है। बहुत-से स्थानों पर "बाबू" शब्द भी मिलता है। गोरखनाथ सुनार थे और सुनारों की जाति को अच्छा नहीं समझा जाता । इसी समय से हिन्दी में वह युग आता है जिसके नेता समाज के तथाकथित निम्न जाति के लोग थे। समाज में यद्यपि प्रतीयमान और क्रियात्मक रूप से किसी प्रकार की क्रान्ति नहीं हुई तो भी साहित्य के क्षेत्र में यह बहुत बड़ी क्रान्ति थी । हमारे साहित्य के इतिहास में इस क्रान्ति पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया परन्तु इसीके कारण हिन्दी को विस्तार और शक्ति प्राप्त हुई । दर्ज़ी, नाई, चमार, कसाई, धुनिया, जुलाहे आदि साधारण स्तर के लोग समाज के नेता और तत्वदर्शी बने । समाज के जिन लोगों को अनपढ़ और गँवार समझा जाता है वे कितने सुसंस्कृत और सुशिक्षित हैं यह उनकी रचनाओं से ज्ञात होता है । नामदेव दर्ज़ी थे, पीपा नाई थे, रैदास चमार थे, सदना कसाई थे, दादूदयाल धुनकिया और कबीर जुलाहे थे। इनमें से कबीर का नाम प्रसिद्ध है और साहित्य का यह युग कबीर का युग कहलाता है। कबीर की कविता में हिन्दी का महत्त्व स्पष्ट रूप से दिखाई देता है । कबीर की कविता जहाँ सूक्ष्म है वहाँ स्थूल भी है और उसमें परम्परागत सत्य भी है और मौलिकता भी है। कबीर के युग के कवियों का जीवन के साथ सीधा सम्बन्ध है । वे जो कुछ कहते हैं वह पुस्तकों के ज्ञान के आधार पर नहीं परन्तु अपने जीवन के अनुभव की गहराई से कहते हैं । इस युग के उस प्रत्येक कवि की रचना बहुत मर्मस्पर्शी है जो समाज के तथाकथित अत्यन्त निम्न स्तर से आया है और जो अपने पेशे को करता हुआ उच्च साहित्यकार बन गया है । यद्यपि इन कवियों में कबीर जितना महत्त्व अन्य कवियों को नहीं दिया जाता परन्तु इन सब की कविता अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और उसका कारण यह है कि इन सब ने अपनी कविताएँ अनुभव की गहराई से लिखी हैं । रैदास की कविता में जीवन आत्मानुभूति का बड़ा सुन्दर चित्रण किया गया है । दादूदयाल की वाणी भी अत्यन्त मर्मस्पर्शी है । यही कारण है कि उनकी कविता का इतना गहरा प्रभाव पड़ा । उनके अलग अलग पन्थ बन गए और आज भी जो उनकी रचनाओं को पढ़ता है उस पर उनकी कविता का गहरा असर पड़ता है । हिन्दी कविता के क्षेत्र को विस्तृत करने में मुसलमान कवियों का भी हाथ है । अवध के इलाक़े में १५ वीं सदी से १८ वीं सदी तक कुछ प्रेम कहानियों को कुछ मुसलमान कवियों ने लिखा । इनकी अपनी ही शैली थी और कहानी होने के कारण इनकी कविता काफ़ी विस्तृत और रोचक थी । इन कविताओं में इन मुसलमान कवियों ने इस हिन्दी की कविता में अपनी इस्लामी रिवायात को भी क़ायम किया है । कहा जाता है कि इन कविताओं में सूफ़ियों के 'प्रेम की पीर' को हिन्दी कहानियों का रूप दिया गया है । इस प्रकार के समस्त कविता सहित्य को मुसलमानों ने ही लिखा है इनमें से कुतुबन, मंझन, उस्मान शेख नबी, कासिमशाह, नूर मुहम्मद और मलिक मुहम्मद जायसी अदि हैं जिनमें मलिक मुहम्मद जायसी सब से अधिक प्रसिद्ध हैं। इन कविताओं को पढ़ने से यह अनुभव होता है कि मुसलमानों ने फ़ारसी आदि को छोड़ कर हिन्दी को अपनी बोली बना लिया था। ये सब मुसलमान किसी न किसी सूफ़ी फ़क़ीर के शिष्य थे । कोई शेख बुरहान चिश्ती का, कोई शाह निज़ामुद्दीन चिश्ती का शिष्य था। मलिक मुहम्मद जायसी शेख मुहीउद्दीन के शिष्य थे । संभव है कि जो हिन्दी की भाषा दक्खन में आई उनके लानेवालों में जो लोग थे उनका इन सूफ़ी फ़क़ीरों से या उनके खानदान से कुछ सम्बन्ध रहा हो । 'दखनी' में भी जो पहले काव्य साहित्य बना वह बिलकुल हिन्दी में है । मलिक मुहम्मद जायसी आदि ने अपनी हिन्दी कविता में इस्लामी रिवायात को लिया है परन्तु दक्खन के इन हिन्दी के लेखकों ने

गणेश, सरस्वती आदि देवताओं की वन्दना की है। इनके विषय और लिखने आदि के सब ढाँचे हिन्दी के ही हैं। इन कवियों ने अपनी कविता में फ़ारसी के शब्दों का प्रयोग भी बहुत कम किया है। यह सत्य है कि उनकी कविता फ़ारसी अक्षरों में लिखी गई है परन्तु फ़ारसी अक्षरों में लिखे जाने के कारण वह कविता उर्दू की नहीं कही जा सकती क्योंकि उर्दू का उस समय प्रचलन नहीं था। ये कवि या तो फ़ारसी का जिक्र करते हैं और या फिर हिन्दी का। १८ वीं सदी के कवि नूर मुहम्मद की "अनुराग बाँसुरी" को पढ़ने से यह ज्ञात होता है कि उस समय 'हिन्दी' में लिखने की प्रवृत्ति मुसल्मानों में शिथिल हो रही थी। बाद में फ़ारसी का स्थान धीरे धीरे उर्दू ने ले लिया और ज्यों ज्यों हिन्दी की तरक़ीबें फ़ारसी की तरक़ीबों में बदल गईं—दखनी हिन्दी दखनी उर्दू में परिणत हो गई और उर्दू की साहित्य की धारा फ़ारसी रंग-ढंग में एक नए साहित्य के रूप में प्रवाहित हो गई। यह तो कहा ही जा चुका है कि ये मुसलमान हिन्दी कवि लिखते तो हिन्दी में हिन्दी रंग ढंग पर ही थे परन्तु लिपि फ़ारसी थी। इतिहास का कोई स्थल ऐसा आया है जब कि ये दोनों भाषाएँ दो साहित्यों में पृथक् हो गईं और अपने ही रूपों में विकसित हो गईं। हम समझते हैं कि फिर ऐसे संधिस्थल का समय आ पहुँचा है जब कि ये दोनों भाषाएँ फिर साहित्य के एक रूप में ही मिल जाएँगी और दोनों का साहित्य एक ही हो जाएगा।

हिन्दी साहित्य में १५ वीं और १६ वीं सदी में जो साहित्य उत्पन्न हुआ उसे हम वैष्णव साहित्य कह सकते हैं। यह वैष्णव साहित्य कृष्ण और राम की भक्ति के रूप में प्रकट हुआ था। इस वैष्णव आन्दोलन की झलक यद्यपि बारहवीं सदी से कविवर जयदेव कवि से ही प्राप्त होने लग गई थी जो चौदहवीं सदी में विद्यापति के सुमधुर पदों में मिथिला से होकर समस्त बंगाल में गूँज उठी। विद्यापति की बोली को जिसमें चण्डीदास आदि बंगाली कवियों ने अपनी वैष्णव पदावली को लिखा उसे 'व्रजबोली' कहा जाता है। यह वैष्णव आन्दोलन जिसका मूल आधार प्रेम था कृष्ण में आकर पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित हो गया। इस समस्त आन्दोलन का मूलमन्त्र प्रेम था। भगवान् प्रेम के द्वारा ही प्राप्त होते हैं और क्योंकि राधा कृष्ण के प्रेम की प्रतीक थी इसलिए इस आन्दोलन ने धीरे धीरे राधा को—या दोनों की युगल मूर्त्ति को अपने प्रेम अथवा सर्वार्पण का अभिलक्ष्य बनाया। इस प्रेम को बाललीला और शृंगार लीलाओं में अभिव्यक्त किया गया। कृष्ण का बचपन इसी व्रज भूमि में व्यतीत हुआ था इस कारण व्रजभाषा में इस समस्त साहित्य के उत्पन्न होने से उसमें दुगुना सौन्दर्य उत्पन्न हो गया। ग्राम-ग्राम में रासलीला, नाच-गान, आनन्दवाद्य, बाजे-गाजे बजने लगे और जो वातावरण रसहीन और जीवनरहित हो गया था उसमें नवजीवन का और रस का संचार हो गया। हिन्दी के इस कविता के युग को भक्ति के या कृष्ण भक्ति के युग से कहा जाना हमारी सम्मति में पूर्णतया ठीक नहीं है। ऐसे समय मनुष्य के और जातियों के जीवन में आते हैं जब कि मनुष्य, समाज और जाति सर्वथा भावनाहीन और रसहीन हो जाती है। इस प्रेमरस ने मनुष्य के हृदय को एक नए ही आनन्द में निमग्न कर दिया। हिन्दु-हिन्दु में और हिन्दु-मुसलमान के हृदय में प्रेम की धारा प्रवाहित हुई जिससे सबके हृदय आर्द्र और आप्लावित हो गए। इस समय सैकड़ों 'प्रेम' के सच्चे अर्थों को प्रकट करनेवाली काव्य पुस्तकें लिखी गईं। 'इश्क-हज़ारा', 'प्रेम-वाटिका' आदि जिनमें मुख्य हैं। सूरदास ने अपने 'भ्रमरगीत' में भी प्रेम के रूप को ही प्रदर्शित किया है। रसखान ने 'प्रेम-वाटिका' के अपने एक दोहे में कहा है—"प्रेम हरी को रूप है—हरि प्रेम को रूप।" अर्थात् प्रेम ही भगवान् है। आगे चल कर वे कहते हैं कि जिस प्रकार भगवान् पूर्ण है—वह सदा एक जैसा रहता है उसी प्रकार सच्चा प्रेम वही है, जो कभी घटता-बढ़ता नहीं है। प्रेम की इसी साम्यावस्था से जीवन की साम्यावस्था पर पहुँचने का प्रयत्न किया गया है। जैसे प्रेम सदा एक जैसा रहने पर पूर्ण रहता है उसी प्रकार जिस जीवन में समता आ जाती है उसी में पूर्णता आ जाती है। इस प्रकार यह साहित्य प्रेम से जीवन के एक महान् आदर्श की ओर ले जाता है। हिन्दी काव्य साहित्य में कृष्ण की प्रेमलीला पर जितने काव्य साहित्य का निर्माण हुआ है उतना सम्भवतः किसी अन्य विषय पर नहीं। सूरदास से लेकर हरिश्चन्द्र और रत्नाकर तक इस प्रेम की धारा किसी न किसी रूप में हिन्दी काव्य साहित्य

में प्रवाहित होती रही है । इस साहित्य ने हिन्दी में एक नया रस, नई चेतना और नई अनुभवशीलता को उत्पन्न किया है। इसके द्वारा हिन्दी में एक नए संगीत का विकास हुआ है जिसे कहा तो हिन्दुस्तानी जाता है और जिसके बनानेवालों में मुसलमान उस्ताद हैं जो आज भी अपने फ़न में माहर हैं--तो भी वे जो ठुमरियों, टप्पों, ख़याल और ध्रुपदों में जो गीत गाते हैं उनका सम्बन्ध अधिकतया कृष्ण की किसी न किसी लीला से ही है ।

इसी कृष्ण के प्रेम के साथ साथ राम के मन्त्र का भी हिन्दी साहित्य में बड़ा महत्व है । यह सत्य है कि तुलसीदास ने 'रामायण' में राम के जीवन को विस्तृत रूप से चित्रित किया है परन्तु 'रामायण' में मनुष्य जीवन की अनेकरूपता होते हुए भी राम को जिस रूप में अंकित किया गया है वह तो एक रूप ही है । तुलसीदास के राम एकमात्र ऐतिहासिक राम नहीं है यद्यपि उनका सम्बन्ध इतिहास से है । तुलसीदास के राम-ग़रीबनिवाज़ हैं–दुष्टों के संहारक हैं. शक्तिशाली हैं, शीलवान् हैं, महान् संकट आने पर भी धैर्य को खोनेवाले नहीं हैं–संसार में जितने भी उत्तम गुण हैं वे उन सबके जीवित प्रतीक हैं । यदि तुलसीदास इतिहास के राम को ही महत्व देनेवाले होते तो वे राम से राम के नाम को अधिक महत्व प्रदान न करते । तुलसीदास की भक्ति जप में नहीं है, तप में नहीं है, किसी प्रकार के यज्ञ-याग और अनुष्ठान में नहीं है । उन्होंने 'विनय-पत्रिका' के अपने एक गीत में कहा है कि मैं राम नाम के द्वारा मुक्ति नहीं चाहता । वे स्वयं राम रूप होना चाहते हैं । वे राम के मन्त्र के द्वारा दुःखियों की सेवा, दीनों के परित्राण की शक्ति, जीवन में शुद्धता अच्छी और बुरी अवस्था में अपने आपको एकसम रख सकना–जीवन को उच्च भावनाओं की पूर्णता में लगाना, विनय और सुशीलता आदि सद्गुणों को विकसित करना और इस प्रकार राम के सदृश एक आदर्श मानव और इसी प्रकार के मानव समाज का संगठन करना चाहते हैं । हम समझते हैं कि जो लोग तुलसीदास के राम के विषय में यह समझते हैं कि वे अपने समाज को एक संकुचित क्षेत्र की ओर ले जा रहे थे वे तुलसीदास के को नहीं समझते हैं । यदि कभी हमें समय मिला तो हम तुलसीदास के राम पर विस्तृत रूप से विवेचन करेंगे । जिस प्रकार कृष्ण का बाल्यकाल व्रजभूमि में व्यतीत हुआ था और कृष्ण का साहित्य हिन्दी में व्रजभाषा में लिखा गया उसी प्रकार रामचन्द्र का जन्म अयोध्या में हुआ था और तुलसीदास ने उनके चरित्र को अवधी में लिखा । तुलसीदास ने हिन्दी में प्रायः समस्त बड़े छन्दों में रचना की और उन्होंने हिन्दी साहित्य को विस्तृत और समृद्ध किया । ऐसे महान् साहित्य के उत्पन्न होने से हिन्दी का साहित्य महान् हो गया और हिन्दी का अपना ही एक व्यक्तित्व (Individuality) बन गया ।

हिन्दी साहित्य की लोकप्रियता हिन्दी को १६ वीं शताब्दी के अन्तिम चरण से फिर राजदरबार की ओर ले जाती है । हिन्दी में जहाँ एक ओर फिर राजाओं और नवाबों की कीर्ति का यशोगान प्रारम्भ हो जाता है वहाँ उच्च पदाधिकारियों में भी हिन्दी में कविता करने की ओर रुचि बढ़ जाती है । जो साहित्य अब तक हिन्दी में बना था उसकी भाषा को अधिक परिष्कृत करने का प्रयत्न किया जाता है, पुरानी बातों को नए ढंग से कहा जाता है । इस समय हिन्दी भाषा की कविता में कला का सम्मिश्रण होता है—कविता में बाँकापन और सौन्दर्य की वृद्धि होती है । भाषा में प्रौढ़ता और विदग्धता उत्पन्न होती है । अलङ्कार शास्त्र, छन्द शास्त्र, रस और आलोचना आदि की ओर कवियों का ध्यान जाता है । १७ वीं और १८ वीं सदी में हिन्दी में जो साहित्य और कवि उत्पन्न हुए उनकी संख्या बहुत अधिक है परन्तु उनके विषयों की विविधता इतनी नहीं है । इनमें रहीम ख़ानख़ाना, केशवदास, बिहारीलाल, देव, मतिराम, सेनापति, बोधा, गिरिधर ठाकुर आदि बहुत से कवि प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त और भी कई कवियों ने हिन्दी काव्य साहित्य को अपनी अपूर्व देन दी है । राजनैतिक क्षेत्र में भी जो उथल--पुथल हो रही थी उसकी प्रतिध्वनि भी भूषण जैसे कवियों की कविता में सुनाई पड़ती है । कविता जब दरबारी वस्तु हो जाती है और उसे कुछ थोड़े से शिष्ट लोगों की रुचि के अनुकूल बनाया जाने लगता है तब भाषा परिमार्जित अवश्य हो जाती है परन्तु उसमें एक प्रकार की कृत्रिमता आ जाती है । इसका स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि भाषा जीवन के एक संकुचित क्षेत्र में आ जाती है उसका सर्व साधारण से विशेष सम्बन्ध नहीं रहता । कविता में जब कला का प्रवेश अधिक होने लगता है तब उसमें भावना और

जीवन की गति धीमी पड़ जाती है और धीरे धीरे कवि शब्दों के पाण्डित्य की ओर, शब्दों की सजावट और आडम्बर की ओर अधिक ध्यान देने लग जाते हैं। हिन्दी के काव्य साहित्य में भी ऐसा ही हुआ। इस समय के कवियों में शब्दों का आडम्बर, शब्दों की छटा, अभिव्यक्ति की प्रौढ़ता, एक ही बात को तरह तरह से बना कर कहना अधिकतर पाया जाता है। यह बात नहीं है कि इस समय में सरल और स्वाभाविक भाषा में लिखनेवाले कवि नहीं हुए परन्तु वे दरबारी कवि नहीं थे और उन्हें राजाश्रय प्राप्त नहीं हुआ था। हिन्दी कविता धीरे धीरे सर्वसाधारण के जीवन से हट कर आमोद-प्रमोद और विनोद की वस्तु बन रही थी। इस समस्त हिन्दी कविता के काल में हिन्दी साहित्य में कविता की ही अधिक रचना हुई। गद्य बहुत कम लिखा गया। हिन्दी का प्रारम्भिक गद्य गोरखनाथ के साहित्य में और वैष्णव साहित्य में प्राप्त होता है। नाटकों की बातचीत के ढंग पर या अनुवाद की रचना हुई।

१९ वीं सदी से हिन्दी साहित्य में फिर प्रतिक्रिया प्रारम्भ हुई। अंग्रेजों के शासनारूढ़ होने पर समाज की अवस्थाओं और सर्वसाधारण के जीवन में परिवर्तन होना प्रारम्भ हुआ। अंग्रेज़ों का शासन क्योंकि नियम क़ानून और एक प्रकार की एकरूपता (Uniformity) को लेकर आया था और सारे देश में फैला हुआ था इसलिए भाषा को भी टकसाली (Standardise) और एकरूप (Uniform) करने की आवश्यकता हुई। अंग्रेज़ी राज्य में ग्रामों की मुख्यता कम हो गई और नगरों और शहरों की प्रधानता बढ़ने लगी, शहरों की बोली अधिकतर हिन्दी की खड़ी बोली थी और इसलिए इसी भाषा ने एक (Standardise) मानक में साहित्य में प्रवेश किया। पहले इसका प्रवेश गद्य में हुआ और फिर धीरे धीरे कविता में होने लगा। अंग्रेज़ों के साथ इस देश में अंग्रेज़ी साहित्य आया। इस साहित्य में उपन्यास, नाटक, एकाङ्की, कथा-कहानी, निबन्ध, आत्मकथा, पत्रकारिता, कविता आदि का अपना ही एक नया ढंग आया। अंग्रेज़ी ने हमारे भाषा के साहित्य की शैलियों और उसके ढाँचों को ही नहीं परन्तु भाषा के ढाँचों तक को बदल दिया। हमारे साहित्य के रंग-ढंग सब धीरे धीरे बदलने लगे। कविता में नए विषयों का प्रवेश हुआ। हिन्दी-साहित्य में जिस संघर्ष की लगभग समाप्ति हो गई थी वह नवीन रूप में प्रारम्भ हुआ। इन नवीन विषयों में अंग्रेज़ी साहित्य के आधार पर राष्ट्रीयता की कविताएँ लिखी जाने लगीं। भारतवर्ष पर अंग्रेज़ों के राज्यशासन की जो प्रतिक्रिया हो रही थी वह धीरे धीरे साहित्य में प्रकट होने लगी। धीरे धीरे समाज, धर्म, राष्ट्र और भाषा आदि सभी क्षेत्रों में इसकी प्रतिक्रिया हुई जिसके परिणामस्वरूप हिन्दी में नवीन साहित्य उत्पन्न होने लगा। परन्तु इस समय की परिस्थिति विचित्र थी। ग्रामवासी निरक्षर थे–यह टकसाली (Standardised) भाषा उनकी भाषा नहीं थी इसलिए उनका इसकी ओर विशेष आकर्षण नहीं था। शहर के लोग अधिकतर अंग्रेज़ी की ओर आकृष्ट थे और उसीके साहित्य से उनका मनोरंजन होता था। इसका परिणाम यह हुआ कि हमारी इस नवीन भाषा में जो साहित्य उत्पन्न हुआ वह न तो अधिकांश जनता का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर सका और न वह सुगमता से सर्वसाधारण के जीवन का अंग बन सका। परन्तु जिस तरह शहरों से गाँवों की ओर तिजारत की चीज़ें जा रही थीं इसी तरह जीवन की उथल-पुथल और असन्तोष की लहरें भी जाने लगीं। राष्ट्रीयता का प्रसार होने लगा और इसी के साथ भाषा को भी महत्व प्राप्त होने लगा। १९ वीं सदी के प्रारंभिक काल में पहले हमारी भाषा में कविता आदि में तो मौलिक रचनाएँ होती रहीं परन्तु गद्य में पहले अनुवाद प्रकाशित हुए फिर धीरे धीरे पत्र पत्रिकाओं के विकास और विस्तार के साथ साथ साहित्य के प्रत्येक क्षेत्र में मौलिक रचनाएँ होने लगीं। कोई भी साहित्य जन जीवन में जिस प्रकार की प्रतिक्रिया प्राप्त करता है वह उसी के आधार पर ही फलता और फूलता है और जब यह प्रतिक्रिया कुछ विशेष नहीं होती तब वह निष्क्रिय और शिथिल पड़ जाता है। हमारे देश में एक ओर निरक्षरता की प्रचुरता और दूसरी ओर भयानक ग़रीबी ने इस साहित्य को एकमात्र शहरों के थोड़े-से मध्य वर्ग के कुछ लोगों तक ही सीमित रखा। प्राचीनकाल में साहित्य गाने-बजाने और कीर्तन आदि के द्वारा सर्वसाधारण में न केवल लोकप्रिय हो जाता था परन्तु वह उनके जीवन का अंग भी बन जाता था परन्तु इस समय का साहित्य पुस्तकों में था जिसका खरीदना भी अधिकांश के लिए असम्भव था इसलिए उसकी जीवन पर विशेष प्रतिक्रिया अभिलक्षित न हो सकी। हरिश्चन्द्र से प्रारम्भ हो कर धीरे धीरे वर्तमान हिन्दी के

साहित्य ने भी प्रगति की परन्तु हमें यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि इस समय हमारे काव्य साहित्य में अवस्थाओं की विपरीतता के कारण वह साहित्य कुछ विशेष जीवन उत्पन्न न कर सका जिससे सर्वसाधारण के हृदय में किसी प्रकार की गहरी अनुभूति जागृत हो सकती । इस समय में काव्य–साहित्य की मुख्यता भी घट गई । हिन्दी के काव्य क्षेत्र में मैथिलीशरण गुप्त, अयोध्यासिंह उपाध्याय, श्रीधर पाठक, सत्यनारायण कविरत्न, जयशंकर 'प्रसाद', पन्त, दिनकर, बच्चन आदि कई कवियों ने नाम पैदा किया । उपन्यास साहित्य में श्रीयुत प्रेमचन्द जी ने और कई अन्य कहानीकारों ने हिन्दी को मौलिक रचनाएँ दीं और हिन्दी के कथा-साहित्य को नवजीवन प्रदान किया । इसी प्रकार साहित्य के अन्य क्षेत्रों में भी बहुत से लेखक हुए और हो रहे हैं । हिन्दी काव्य साहित्य में छायावाद, अभिव्यंजनावाद, प्रगतिवाद और प्रयोगवाद चल रहा है और इनके विषय में विवाद और प्रयोग हो रहे हैं । इतिहास के आधार पर भी कई काव्य, उपन्यास और कहानियाँ लिखे गए हैं । यह साहित्य अभी हमारे इतने निकट का है कि अभी हम इसका ठीक ऐतिहासिक मूल्याङ्कन नहीं कर सकते । इसलिए हम इसके विस्तार में नहीं जाना चाहते । हिन्दी का साहित्य निश्चित रूप से प्रत्येक क्षेत्र में प्रगति कर रहा है ।

अंग्रेज़ों के भारत से चले जाने के पश्चात् जबसे भारतवर्ष में स्वतन्त्रता आई है और हिन्दी को राष्ट्र–भाषा बनाया गया है हिन्दी के साहित्य का भविष्य और उज्ज्वल हो गया है । हमारे साहित्य में ज्यों ज्यों अंग्रेजी-पन घट कर अपनापन आएगा, हमारे साहित्य की मौलिकता और इसके व्यक्तित्व की वृद्धि होगी । आशा है कि हिन्दी राष्ट्रभाषा होने के कारण धीरे धीरे भारतवर्ष के समस्त प्रान्तों के उत्तम साहित्यकारों की प्रतिभा हिन्दी के साहित्य को अधिकाधिक न केवल मौलिक और समृद्ध बनाएगी अपि तु उससे जनता के जीवन को जीवित और जागृत, सुन्दर और पूर्ण बनाएगी । हिन्दी का साहित्य अभी तक महान् रहा और अब उससे भी अधिक महान् बनेगा । हिन्दी साहित्य का सन्देश प्रेम का सन्देश है, हिन्दी साहित्य का सन्देश मानव मानव, मानव महामानव और मानव और भगवान् में प्रेम का सन्देश है, हिन्दी साहित्य का सन्देश शक्ति का सन्देश है, वह शक्ति नहीं जो दुर्बलों और अपने से कम ताक़तवरों को कुचल देती है, वह उस शक्ति को जागृत करता है जिससे दीनों और दुखियों को सामर्थ्य और शक्ति प्राप्त होती है । हिन्दी साहित्य का सन्देश मानव मानव के आपस के बन्धनों को दूर करना है; हिन्दी साहित्य का सन्देश पारस्परिक सहयोग से जीवन को विकसित और समृद्ध करना है । हिन्दी साहित्य का सन्देश मानव का कल्याण है, लोकहित है; हिन्दी साहित्य का सन्देश एकता है, हृदय हृदय को सद्भावना से पूर्ण करना है, हिन्दी साहित्य का सन्देश है संसार को दीनता, दुःख और दारिद्रय से मुक्ति दिलाना और हिन्दी साहित्य का सन्देश है समस्त विश्व को एक बनाना–जीवन को सच्चे रूप में जीवन बनाना और संसार में सच्ची शान्ति को हृदय हृदय में स्थापित करना । हमारे देश की राष्ट्रभाषा हिन्दी साहित्य के भिन्न भिन्न स्वरूपों में सौन्दर्य की सृष्टि करती हुई संसार के महान् साहित्यों में एक ध्रुव स्थान प्राप्त करेगी—यह हमारा दृढ़ विश्वास है ।

उसमानिया यूनिवर्सिटी,
हैदराबाद

—वंशीधर विद्यालङ्कार

अमेरिका में ७,४०७ से अधिक सार्वजनिक पुस्तकालय हैं जिनमें १२॥ करोड़ पुस्तकें हैं । इन पुस्तकालयों से लगभग १० करोड़ व्यक्ति लाभ उठाते हैं । प्रतिवर्ष ये पुस्तकालय ७ लाख नई पुस्तकें इकट्ठी करते हैं और ३५ लाख पुस्तकें पढ़ने को देते हैं । चीन की सरकार ने ग्रामीण जनता के विकास के लिए १५,००० व्यवस्थित पुस्तकालयों की स्थापना की है । प्रत्येक पुस्तकालय में लगभग ५०० पुस्तकें होती हैं ।

(पुस्तकालय संदेश से)

अपराजिता

[शहर के ऐसे भाग में स्थित रेस्तराँ का दृश्य जो बहुत आबाद नहीं है । उस ओर लोगों की आमदरफ्त कम है इसलिए रेस्तराँ के मालिक आप्टे की जेब भी जरा तंग है । उस तरफ़ अधिकतर उसी श्रेणी के लोग आते हैं जिन्हें एकांत प्रिय है या जिनके कामों के लिए एकांत सुविधाजनक है ; मसलन कवि या लेखक या प्रेमी और प्रेमिका अथवा लुच्चे और शोहदे । रेस्तराँ का मालिक इसलिए कुछ शायराना तबीयत का हो गया है—पर इसका मतलब यह नहीं कि वह अपने व्यापार या लेनदेन की क़ीमत पर शायरी खरीदता है । कभी कभी पीने से भी उसे एतराज़ नहीं—बशर्ते पैसे न लगें । ढलती उमर होने के कारण प्रेम मुहब्बत से अलबत्ता कोई दिलचस्पी नहीं । उसका विश्वास है कि प्रेम के जो नाटक उसके रेस्तराँ के रंगमंच पर खेले जाते हैं, जिसका वह सूत्रधार रहता है, वे या तो सदी फ़ी सदी 'ट्रेजिक' होते हैं अथवा बनावटी । उसकी सतर्कता के बावजूद उसके अधिकांश ग्राहक पैसे देने के स्थान पर मीठे बोल बोलते हैं जिसके कारण उसकी तंगदस्ती में फ़र्क़ नहीं पड़ता । नतीजा यह कि जुलाहे का गुस्सा दाढ़ी पर उतरता है । उसकी अतिशय सतर्कता, शंकालु भावना और कठोर अंकुश के कारण कोई नौकर एक हफ्ते से अधिक नहीं टिक पाता और इसलिए वह उन्हें तनख्वाह देने से इनकार कर देता है । आज भी उसने एक नया नौकर रखा है । रेस्तराँ के फ़र्नीचर काफ़ी पुराने और कई तो एकदम जर्जर हैं । उसका काउन्टर भी उसी तरह का है जिस पर तीन चार काँच के बर्तन रक्खे हैं जिनमें केक, बिस्किट वग़ैरह पड़े हैं । काउन्टर के सामने रेस्तराँ का दरवाजा है और पीछे कुछ हट कर दाहिनी ओर रसोई घर का रास्ता । रेस्तराँ में अभी कोई ग्राहक नहीं है इसलिए मालिक आप्टे अपने नए नौकर किशन को रेस्तराँ के नियम, उपनियम तथा भेद और तिकड़मों की जानकारी दे रहा है जिन्हें वह जांगलू कहाँ तक समझ पा रहा है, यह तो नहीं कहा जा सकता, पर वह मुस्तैदी से हर बार सिर जरूर हिला देना है ।]

आप्टे : हाँ रे किशन ! तो तूने सब समझ लिया या नहीं ?

किशन : हाँ 'मालक' ! सब समझ गया ।

आप्टे : इस होटल में अधिकतर वैसे ही लोग आते हैं जिनके पास क़फ़न के लिए कपड़े भी नहीं होते और तारीफ़ तो यह, साले उधार माँगते हैं ! अब तू ही बता, जानबूझ कर कोई अपने पैसे पानी में फेंकता है ?

किशन : हाँ मालक ! फेंकते हैं !

आप्टे : (चौंक कर) क्या कहा ? फेंकते हैं ? बेवक़ूफ़ !

किशन : मैं नहीं मालक ! मैंने अपनी आँखों से देखा है ।

आप्टे : देखा है ? तो वह पागल होगा ।

किशन : पागल नहीं मालक ! तुम जा कर देखो, गंगाजी और जमुना मैया में लोग पैसे तो पैसे, रुपए तक फेंक देते हैं ! अगर उतने पैसे वे ग़रीबों को बाँट देते तो……

आप्टे : गदहा ! तू समझता है वे बेमतलब उतने पैसे पानी में फेंकते हैं ? अरे, वे वहाँ (आसमान की ओर उंगली उठा कर) अपनी सीट रिज़र्व कराने के लिए पैसे चढ़ाते हैं ! समझा ?

किशन : समझा मालक ! तो क्या इससे ..?

आप्टे : (बात काट कर) फ़िज़ूल बक बक मत कर । तो सुन, जब ग्राहक उठने लगे तो तू फ़ौरन चिल्ला कर पैसे बोल दिया करना–समझा ? नहीं तो वह नौ दो ग्यारह हो जायगा । मेरा मतलब भाग जाएगा ।

किशन : ठीक है मालक ! मैं उसके उठने के पहले ही तुम्हें चिल्ला कर सावधान कर दूँगा ।

आप्टे : (सिर हिला कर) नहीं नहीं, यह ठीक नहीं । ...और सुन, ये "तुम तुम" क्या लगाए है ? "आप" कहना सीख । नहीं तो ग्राहक

भड़क जावेंगे । उन्हें इज्ज़त देनी चाहिए ।

किशन : लेकिन मालक ! तुम तो मालक हो गाहक नहीं !

आप्टे : (चिढ़ कर) तो क्या मालिक की इज्ज़त नहीं होती ? क्या वह तेरे बराबर है ? अबे, मैं तो गाहकों का भी 'बॉस' (Boss) हूँ !

किशन : क्या मालक ?

आप्टे : बॉस, बॉस !...बॉस याने...खैर छोड़ ! तो तू समझ गया न ?

किशन : बिलकुल समझ गया मालक ! सब कुछ समझ गया ।

आप्टे : शाबास ! अच्छा बता, अगर किसी गाहक की चाय में मक्खी गिर जाय और वह मुझसे चाय बदलने को कहे और मैं तुझे बदलने का आर्डर दूँ तो तू भीतर जाकर क्या करेगा ?

किशन : छान कर वही चाय फिर ला दूँगा !

आप्टे : (खुश होकर) शाबास ! शाबास ! तू बड़ा होशियार है । यदि तू ऐसे ही मेरी बातें मानता गया तो मेरी तरह एक दिन किसी रेस्तराँ का मालिक ज़रूर बन जायगा ।

किशन : तुम्हारी मेहरबानी मालक !...लेकिन अगर गाहक भीतर झाँकने गया तो ?

आप्टे : अबे, मैं उसे जाने थोड़े दूँगा । वह नोटिस बोर्ड जो टाँग रखा है । और वह जाने भी क्यों लगा ? उसे पागल कुत्ते ने थोड़े ही काटा है !

किशन : क्यों नहीं जाएगा मालक ?

आप्टे: भीतर की गन्दगी और गलीचपन के हाल वे अच्छी तरह से जानते हैं, उसे उघाड़ कर देखना वे कभी पसन्द नहीं करते । वे जानते हैं कि भीतर का हाल देख लेने के बाद बाहर आ कर भीतर की चाय पीना उनके वश की बात नहीं, इसलिए वे शरीफ़ों की तरह चुप बैठे रहते हैं ।

किशन : और इस तरह जानबूझ कर मक्खी निगल लेते हैं ?

आप्टे : अबे, मक्खी कहाँ निगलते हैं ? वह तो दुबारा भीतर जा कर छन जाती है ।

किशन : मालक ! अगर किसी ने यह कहा कि भीतर रसोईघर की सफ़ाई क्यों नहीं करते तो क्या जवाब है उसका ?

आप्टे : ऐसा बेहूदा सवाल कोई नहीं पूछता बे ! सूट पेन्ट टाई लगाए अच्छे अच्छे जेन्टिलमैनों के मोज़े, बनियाइन और रुमाल देख तो पता लगेगा कि गन्दा रहना मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार है ! टीमटाम और साफ़ सफ़ाई तो केवल दिखावा है, बाहरी दिखावा ! ...अच्छा देख, कोई गाहक आ रहा है । तू भीतर जा, जब घण्टी बजाऊँ आ कर आर्डर ले लेना ।

[किशन लपक कर भीतर जाता है । सामने के दरवाज़े से गेवर्डीन का पेन्ट, सफ़ेद मर्सराइज़्ड की कमीज़ और लाल बुन्देवाली टाई पहने, हाथ में एक पैकेट लिए व्रजेश त्रिवेदी का प्रवेश जो सरल, निष्कपट, सीधा, भावुक और अमीर लगता है । कहते हैं, उसका कविता में भी कुछ दखल है ।]

आप्टे : (तत्परता से) गुड नाइट मिस्टर त्रिवेदी ! कहिए, मिज़ाज तो अच्छे हैं ? (घण्टी बजाता है)

व्रजेश : (कुर्सी खींच कर बैठता हुआ) गुड नाइट आप्टे ! (किशन उसके पास जा कर खड़ा होता है) छोकरे ! अभी कुछ नहीं चाहिए । भाग जाओ ।

किशन : (रटे तोते की तरह अपना सबक़ दुहराता हुआ) लेकिन साब ! यहाँ ख़ाली बैठना मना है । यह कोई पार्क या नदी का किनारा तो नहीं......

व्रजेश : (आश्चर्य से घूर कर आप्टे से) कौन सा जानवर पकड़ कर लाए हो आप्टे ?

आप्टे : (खिसियानी सी हँसी हँस कर) नया आदमी है साहब ! आज ही तो काम पर आया है ।

व्रजेश : बड़ा बदतमीज़ है ! जाने किस उल्लू के पट्ठे ने इसे तमीज़ सिखाई है ।

आप्टे : (झेंप कर हँसता हुआ) ही ही ही, ठीक कहते हैं आप ! (किशन से) अबे जा कर भीतर बैठ । गदहा ! इतना बड़ा हो गया, बोलने की भी तमीज़ नहीं आई ।

किशन : क्या मालक ! तुम्हीं तो कहते हो कि किसी

को खाली.....

आप्टे : (पोल खुल जाने के भय से एकदम चिल्ला कर) अबे, जाता है या खड़ा खड़ा दिमाग़ चाटेगा ?

किशन : एक बात साब ! अपनी बनियान और मोज़े दिखाइए न......

आप्टे : (उबल कर) बेहूदा, बदतमीज़ ! (किशन सहम कर भाग जाता है; व्रजेश से) माफ़ कीजिएगा त्रिवेदी साहब !

व्रजेश : (अन्यमनस्क होकर) कोई बात नहीं आप्टे ! यह तो चलता रहता है। नौकर के व्यवहार के लिए तुम भला क्यों ज़िम्मेदार होगे ?... विमला तो नहीं आई थी ?

आप्टे : जी !...विमला कौन ?

व्रजेश : अजी वही, मिस विमला माथुर ! जो मेरे साथ अक्सर आया करती हैं ?

आप्टे : ओह ! आपका मतलब मिस माथुर से है ?... जी नहीं, वे तो अब तक नहीं आई हैं।

व्रजेश : (बेचैनी से) क्या बात है ? (घड़ी देख कर) नौ तो बज चुके। अब तक तो ...लो, वह आ गई ! (विमला का प्रवेश) हलो विमला ! तुम्हें कुछ देर हो गई।

विमला : (हैंड बैग टेबिल पर रखती हुई) हाँ, व्रजेश ! थोड़ी देर तो जरूर हुई, पर लाचार थी। अत्यधिक सामाजिकता भी तो अभिशाप है। (बैठ कर) गली गली में परिचित मिल जाते हैं ! शिष्टाचार निभाते निभाते ही घण्टों लग जाते हैं।

[विमला लगभग बीस वर्ष की अत्यन्त सुन्दर, लम्बी और छरहरी युवती है जिसके शरीर पर काली साड़ी खूब फब रही है। कानों में टाप्स हैं और एक हाथ में घड़ी तथा दूसरे में दो चूड़ियाँ। चेहरे से सौम्यता और विवेक झलक रहा है और आँखों से बुद्धिमत्ता और प्रगल्भता। वह शहर का आकर्षण है।]

व्रजेश : सामाजिकता से अधिक अभिशाप तो सुन्दर होना है।

विमला : (उसकी हँसी में योगदान देती हुई) इसे भला अभिशाप कैसे कहूँ ! इसकी वदौलत ही तो तुम सबों से दोस्ती है !

व्रजेश : कम से कम मुझे तो उस श्रेणी से अलग रखो।

विमला : क्यों ? क्या तुम कोई दूसरे धातु से गढ़े हो ? पुरुष हो न, तो फिर बस !

व्रजेश : लेकिन पाँचों उंगलियाँ बराबर तो नहीं होतीं !

विमला : मैंने कब कहा ? लेकिन होतीं तो उँगलियाँ ही हैं न ? अनुपात में अन्तर भले हो, प्रकृति में असमानता नहीं हो सकती !

व्रजेश : तुम बड़ी निर्दय हो !

विमला : (हँस कर) यह तुमने आज जाना ?

व्रजेश : ख़ैर, यह बताओ—क्या लोगी ? चाय, कॉफी, कोको या ओवल्टीन ?

विमला : कुछ भी मंगा लो, यों लेना तो कुछ नहीं चाहती !

व्रजेश : यह भला कैसे हो सकता है ? आप्टे ! दो प्याली कॉफ़ी बनवाओ।

(आप्टे घण्टी बजाता है और किशन आता है)

आप्टे : दो प्याली कॉफ़ी लाओ। (अख़बार पढ़ने लगता है और किशन भीतर चला जाता है)

व्रजेश : देखो विमला ! मैं तुम्हारे लिए एक छोटी सी भेंट लाया हूँ।

विमला : (लापरवाही से) क्या है ?

व्रजेश : एक सुन्दर सी साड़ी बाजार में दिख गई। सोचा, तुम्हें खूब फबेगी। क़ीमत तो दुकानदार ने अनाप शनाप बताई, पर चीज़ मन में गड़ गई थी, सो ले ही लिया। देखो न !

विमला : (कवर हटा कर देखती हुई) तुम्हें रंगों की जानकारी नहीं है व्रजेश ! तुम्हारी पसन्द विलकुल बेहूदा जान पड़ती है। भला इस रंग का कपड़ा मुझे पसन्द आता है ?

व्रजेश : (झेंपता हुआ सहमकर) मुझे तो अच्छा लगता है...इसमें क्या बुराई है ?

विमला : हुँ ! क्या बुराई है ! इतने चटख़ रंग के कपड़े किसी गँवार देहातिन को ही अच्छे लगते होंगे। नज़र ठहराने पर आँखें चौंधिया जाती हैं।

व्रजेश : तो रहने दो, वापस करने की कोशिश करूँगा। तुमने तो मेरे सारे उत्साह और उमंगों पर पानी फेर दिया। क्या बताऊँ, कितनी ललक से लाया था।

विमला : किसकी दुकान की खरीद है ?

व्रजेश : अज़ीमुल्ला !......

विमला : तब तो वह वापस ले चुका ! और फिर तुमसे ?

व्रजेश : तब क्या करूँ ?

विमला : (हिम्मत के साथ) एक बात कहूँ ? अपनी होने वाली बीवी के लिए रख लो ! बेचारी कृतार्थ हो जाएगी !

व्रजेश : तुम मज़ाक करती हो ।

विमला : मज़ाक नहीं, सच । तुम अपनी शादी किसी ऐसी ही लड़की से करना, नहीं तो कहे देती हूँ, निवाह नहीं होगा ।

व्रजेश : विमला ! तुम्हारे मज़ाक क्रूर और कठोर होते जा रहे हैं ।

विमला : अच्छी बात है, लो मैं चुप हुई जाती हूँ ।

व्रजेश : एक बात मानोगी ? ईश्वर के लिए यह साड़ी अपने पास ही रख लो ।

विमला : (हँस कर) ईश्वर के लिए नहीं तो तुम्हारे लिए तो ऐसा करना ही पड़ेगा । अच्छी बात है, मैं उस अज़ीमुल्ला के बच्चे को ऐसा सबक़ पढ़ाऊँगी कि उसे भी छठी का दूध याद आ जाएगा । यदि संयोग से भोले भाले पति महोदय बग़ैर अपनी पत्नी के साड़ी खरीदने चले गए तो क्या वह ऐसी भोंडी और भद्दी साड़ी टिका कर पैसे बना लेगा ?

व्रजेश : (आधी प्रसन्नता और आधे आश्चर्य से) पति-पत्नी ? क्या कहा विमला ? ज़रा फिर तो कहो ।

विमला : और नहीं तो क्या विमला माथुर के वापस करने पर व्रजेश नारायण त्रिवेदी की खरीदी साड़ी वापस फेरने को तैयार होगा ?

व्रजेश : (थोड़ी भावुकता से उच्छ्वासों के स्वर में) काश ! तुम्हारे ये एक क्षण के शब्द सत्य बन सकते !

विमला : (मुस्कराकर) तुम बड़े भावुक हो !

व्रजेश : इसलिए तो मैं प्रेमी हूँ विमला !

विमला : (हँस कर) अच्छा अच्छा, मान लिया । यदि भावुकता से प्रेम का गहरा सम्बन्ध है तब तो भावुकता पर की गई मेरी टिप्पणी प्रेम पर भी भली भाँति लागू हो सकती है !

व्रजेश : (उत्सुकता से) वह क्या ?

विमला : यही भावुक लोग मूर्ख हुआ करते हैं !...... त्रैराशिक से यह फल निकला कि प्रेमी भी मूर्ख होते हैं !

व्रजेश : तुम्हारे मुँह से निकली हुई हर बात अकाट्य और सत्य है विमला ! प्रेमी सचमुच मूर्ख तो है ही । देखा है न शमा के इर्द-गिर्द मँडराते परवानों को ? पंख जलाने और प्राण दे देने के सिवा वे क्या पाते हैं ? फिर भी क्या वे मृत्यु-शिखा का चुम्बन करने से पीछे हटते हैं ? सुना है रात के भयानक सन्नाटे में विरही चकोर चकोरी के आर्त स्वर जो चन्दा को छूने के लिए तड़पा करते हैं ? देखा है आसमान को चूमने के लिए मचलती लहरों को ? प्रकृति के रग रग में प्रेम का संगीत है विमला !

विमला : मैं तो समझती हूँ कि मनुष्य के रग रग में भरी है खुदगर्ज़ी और यही खुदगर्ज़ी प्रकृति पर उसकी सारी मनोभावनाओं का आरोपण कर देती है । मैं सच्चे दोस्त की हैसियत से तुम्हें सलाह देती हूँ व्रजेश !

व्रजेश : (उसी भावुकता में) तुम आज्ञा देकर तो देखो, मैं सर काट कर तुम्हारे चरणों पर चढ़ा दूँ आसमान के चाँद सितारे तोड़ कर तुम्हारे, पथ में बिछा दूँ ....

विमला : (हाथ उठा कर) बस बस ! अपनी कविता और भावुकता की बोतल पर कार्क लगाओ ! मेरा ख़याल है, तुम्हारी वह उम्र आ गई है जब किसी को एक जीवन-साथी की बुरी तौर से ज़रूरत महसूस होती है । तुम फ़ौरन शादी कर डालो ।

व्रजेश : तुम कहती ठीक हो, लेकिन सवाल तो यह है कि मैं शादी करूँ तो किससे ?

विमला : चाहे जिससे भी, पर एक बात न भूलना कि वह भी तुम्हारी तरह 'सेन्टीमेंटल फूल' (Sentimental fool) न हो; उसका वास्तविकता की चट्टान पर खड़ा रहना ज़रूरी है; उसकी कोमल भुजाओं में तुम्हें घेर कर बांध लेने की शक्ति होनी चाहिए ।

व्रजेश : ऐसी औरत तो दुनिया में बस एक ही दीखती है...

विमला : तो बस, उसीको चुन लो, तब तुम सुख से जी सकोगे, नहीं तो... जाने दो, मैं कल्पना भी नहीं कर सकती ! (चौंक कर) लेकिन कहीं तुम्हारा मतलब मुझसे तो नहीं है ?

व्रजेश : तुम बखबी जानती हो कि मेरा मतलब तुम्हीं से है और केवल तुम्हीं से ! सचमुच विमला तुम्हारे बिना मेरा जीवन बेस्वाद, सूना और वीरान हो जाएगा । तुम चाहो तो उसमें बहार आ सकती है, रौनक आ सकती है । (उसकी

कलाई पकड़ कर) विमला ! मैं जानता हूँ कि तुम मुझे नापसन्द नहीं करती और शायद थोड़ा प्यार भी करती हो।...कह लेने दो विमला ! आज तुमने पत्थर को फोड़ कर पानी के सोते को जगा दिया है । तो हमारा प्यार क्यों न समाज की रीति-नीति के बंधनों में बंध हमें सदैव के लिए एक दूसरे का बना दे ? इस तरह सचमुच हमारा जीवन कितना सुखमय हो जाएगा !

विमला : (कलाई पर से उसका हाथ हटाती हुई) कह चुके ? तो अब सुनो । सबसे पहले मैं तुम्हें यह बात बता दूँ कि अब तक मेरी निगाहों में ऐसा कोई पुरुष नहीं गुजरा जिसे मैं प्यार कर सकूँ । तुम जानते हो, प्यार का मतलब मैं क्या समझती हूँ ? आत्म समर्पण अपने आपको मिटा कर अपना सब कुछ दे देने की भावना । और यह तभी संभव है जब मेरा मन किसी के आगे अपनी हार स्वीकार कर ले। पर अब तक वह नहीं हारा है; इसीलिए मैं अपराजिता हूँ, दुर्जेय हूँ ।

व्रजेश : तो क्या मैं अब तक भ्रम में था कि तुम मुझसे प्यार करती थीं ? जब तुम यह जानती थीं तब तुमने मेरे जीवन के साथ खेलने की क्यों कोशिश की विमला ? और जब खेलने के लिए हाथ बढ़ाया है तो उसे पूरा भी करो । मुमकिन है, शादी के बाद मैं तुम्हारे मन में प्यार की ज्योति जगा सकूँ ।

विमला : (हँस कर) मैं और तुमसे प्यार करूँगी—और अपने पति के रूप में ? असंभव है व्रजेश ! मैं तुम्हें कभी, एक क्षण भी, प्यार नहीं कर सकी। जानते हो, तुम्हें मैं किस दृष्टि से देखती रही ? जैसे एक बढ़ी बूढ़ी औरत नन्हे मुन्ने बच्चों को देखती है ! यह एक एक्सीडेण्ट है व्रजेश कि मैं औरत हो गई और इसीलिए मुझे जीतनेवाला मर्द भी शायद एक्सीडेण्ट से ही मिलेगा ।

व्रजेश : (जल कर तीखे स्वर से) तब तो विमला, मैं तुम्हें परले सिरे की मक्कार और धोखेबाज औरत कहूँगा जिसमें प्रेम का कपट-जाल फैला भोलेभाले जवानों को उसमें फँसा अपने विलास के लिए पैसे जमा करना ही अपना पेशा बना लिया है ।

विमला : (हँस कर) आवेश में मत आओ व्रजेश ! मैं तुम लोगों के उपहार इसीलिए स्वीकार कर लेती हूँ कि कहीं तुम लोगों के नन्हें मुन्ने से नाजुक दिलों को चोट न लग जाय ! अगर मैं उन्हें वापस फेर दूँ तो तुम लोग आसमान सर पर उठा लोगे, आँसुओं से नए समन्दर बनाने की धमकी दोगे, आत्महत्या करने को उतारू हो जाओगे और जाने क्या क्या करोगे ! मैं तुम लोगों को उपकृत करती हूँ —समझे ? क्या अभी तुमने ही मेरी डाँट फटकार सुनने के बावजूद भी चिरौरी विनती करके साड़ी नहीं दी ? मैं माँगने तो नहीं गई थी ? और रही बात प्रेम मुहब्बत की, सो अगर मैंने तुम्हारी ओर देख कर मुसकरा दिया या तुमसे फाउन्टेन पेन अथवा कापी माँग ली या सिनेमा का टिकट खरीदने को कह दिया और तुम यह समझ बैठो कि मैं तुमसे प्रेम करती हूँ और तुम मेरी मुहब्बत का दम भरने लगो तो इसमें बिचारी विमला का क्या दोष ?

व्रजेश : (साँस ले कर) तो तुम अब तक मुझसे मन बहलाती रहीं ? तुमने मुझे एक खिलौना समझ लिया था—क्यों ? यह भूल गई कि इस खिलौने के अंदर एक धड़कता हुआ दिल है जो महसूस करता है, तड़पता है, मचलता है, जिसमें हवस है, उन्माद है, प्रेम है ।

विमला : मैं तुम्हारे साथ खेलती कभी नहीं रही व्रजेश ! तुम्हें देखते ही मैंने समझ लिया कि यह बड़ा असहाय, निरीह और सीधा जीव है और मैंने सहानुभूति से मुस्करा दिया । शायद तुम कुछ दूसरा अर्थ समझ बैठे । तुमने मेरे पास आने का प्रयत्न । किया मैंने तुम्हें हतोत्साहित नहीं किया । मैं तुम्हें सबल और सशक्त बनाना चाहती थी । पर तुम कुछ दूसरी ही उधेड़ बुन में व्यस्त थे । इसमें भला मेरा क्या दोष ?

व्रजेश : (सिर झुका कर) हाँ विमला ! अब तो यह मानना ही पड़ेगा कि सारा दोष मेरा है—कमज़ोरों और मूर्खों का ही तो दोष होता है ! (सिर उठा कर) एक बात बताओगी ? तुम ऐसा क्यों करती हो ? क्या तुम्हें यह मालूम नहीं कि इतनी निर्दयता से कुचले जाने के बाद आदमी एकदम निर्जीव और निष्प्राण हो जाता है ? फिर तुम ये गुनाह क्यों करती हो ?

विमला : (गम्भीर हो कर) यह बात नहीं पूछते तभी अच्छा था व्रजेश ! तुम्हें मालूम नहीं कि मेरी माँ पर क्या क्या अत्याचार हुआ हैं । उस ग़रीब ने आँसू और खून के घूँट पी पी कर अपना पहाड़ सा जीवन बिताया है । उसकी हमें एकमात्र शिक्षा रही कि मुस्कराहट बड़ी चीज है, हँसी बड़ी कीमती चीज है. जिओ तो मुस्कराहटें बिखेर कर, हँसी की कलियाँ खिला कर । (मुस्कराने का प्रयत्न करती हुई) आज मैं मुस्कराती हूँ तो तुम कहते हो, मैं

तुम्हारे साथ खेलती हूँ, तुम्हारे दिलों को रौंदती हूँ ? इसके अलावा एक बात और है...(चुप हो जाती है)

व्रजेश : वह क्या ?

विमला : तुम शायद यह भी नहीं जानते कि मैंने न अपने पिता का मुँह देखा, न मेरे किसी भाई था और न कोई और पुरुष सम्बन्धी ही। अधिकाँश जीवन लड़कियों के साथ रह कर ही बीता। इसलिए पुरुषों की ओर मेरी कुछ स्वाभाविक ललक थी; उनसे परिचय करने का सहज कुतूहल और कुछ नहीं। (उठती हुई) अब मैं जाऊँगी। दस बजने को आए। (व्रजेश दुःखी और स्तंभित है) दुःखी मत होना व्रजेश! दुनिया में एक मैं ही नहीं, सैकड़ों हैं। इतनी भावुकता ले कर जीना असंभव है। अच्छा गुड नाइट!

[व्रजेश को रोकने का अवसर न दे हैंड बैग उठा निकल जाती है। साथ ही साड़ी का पैकेट ले जाना नहीं भूलती। व्रजेश टेबिल पर सर गड़ाये बैठा है। आप्टे अख़बार पर से सिर उठाता है। थोड़ा मुस्करा कर खाँसता है और काउन्टर से उठ कर उसके पास जाता है।]

आप्टे : क्या सोच रहे हैं त्रिवेदी साहब ?

व्रजेश : (आँखें उठा कर) वह इतनी आसानी से पंजा झाड़ कर अलग नहीं हो सकती आप्टे!... तुमने सुना, अपनी भूल को उसने किस प्रकार मनोवैज्ञानिक आवरण पहनाने की कोशिश की? उसने मुझे तबाह करने में कोई कोर कसर नहीं उठा रखी। वह समझती है' वह अपराजिता है, दुर्जेय है। उसे अपने रूप का घमंड है। मैं उससे उसका रूप छीन लूँगा, उसकी जीत और गर्व छीन लूँगा, उसे अपने पैरों पर झुका कर दम लूँगा।

आप्टे : अजी छोड़िए भी! आप भी किसके पीछे पड़े हैं। मिस माथुर वह बकरी नहीं जिसे असानी से हलाल किया जा सके। आप लोगों के एकाउन्ट की तरह मैं इसका भी हिसाब रखता हूँ—इन तीन महीनों में उनका यह आठवाँ रोमांस है!

व्रजेश : (आश्चर्य से) आठवाँ ?

आप्टे : जनाब! और तारीफ़ तो यह कि सातों उनकी सेंडलों की पालिश की मगर वह भी एक ही औरत है। वह आपके हत्थे चढ़ने की नहीं त्रिवेदी साहब! वह ठीक कहती है, उसे वही हासिल कर सकता है जो उसे जीत ले। आप लोग या तो उसकी सुन्दरता को देख हथियार डाल देते हैं या सुन्दरता के कारण मन में उत्पन्न भावनाओं से बाध्य हो कर आत्मसमर्पण कर देते हैं!

(किशन काफ़ी ला कर रख देता है)

व्रजेश : (एक क्षण की शान्ति के बाद) आप्टे! मैं उसका खून कर दूँगा! (आप्टे हँसता है) सच कहता हूँ आप्टे, मैं उसे मार डालूँगा। मैं बहुत निराश हूँ, मायूस हूँ!

आप्टे : यही तो आप नहीं कर पाएँगे त्रिवेदी साहब! यदि यही कर पाते तो वह आपकी हो गई होती! आपके हाथों में पिस्तौल नहीं, कलम बिराजेगी और आप वियोग के गीत लिखते बैठेंगे। (हँसता है) प्रेम! ख़ैर जाने दीजिए। कॉफ़ी पीजिए।

व्रजेश : (उसी धुन में) वह कहती है, वह उसी की हो सकती है जिससे वह हारेगी...मैं उसे हरा कर मानूँगा, उसे झुका कर मानूँगा आप्टे! (खड़ा हो जता है)

किशन : (आश्चर्य से) मगर साब! आपकी कॉफ़ी? ...(प्याला हाथ में ले बढ़ाता है)

व्रजेश : (क्षोभ और क्रोध से) ओ! डैम योर काफ़ी! (हाथ मार देता है, प्याली टूट जाती है)

[वह तेज़ी से निकल जाता है, किशन उसके पीछे "साब पैसे...साब पैसे" चिल्लाता हुआ भागता है। आप्टे काफ़ी का घूँट पी कर हँसता है!]

आप्टे : त्रिवेदी साहब! मालूम तो है, सरकार ने खून का क्या इनाम मुकर्रर कर रखा है? (हँस कर) जरा सोच लीजिये। अबे किशन! लौट आ। वे पैसे कहीं जाएँगे नहीं।

(वापस आ कर) मालक! साब बड़ा अजीब आदमी है।

(अनसुनी कर) आठवाँ......तीन महीने में आठवाँ! भई वाह!

क्या मालक?

अयँ? कुछ नहीं? (दियासलाई की एक सींक जला कर फूँक मार कर बुझाता हुआ) बुझ गया!

क्या बुझ गया मालक?

नागपुर

—प्रमोद वर्मा, बी. ए.

साहित्य-चर्चा

आन्ध्र का एक दार्शनिक लोकगीत

संगीत तथा साहित्य का समन्वय लोकगीतों में मिलता है। ये गीत बच्चों की तुतली भाषा के समान अत्यन्त मधुर होते हैं। सामाजिक उत्सवों पर महिलाएँ जिन गीतों को गाती हैं वे भी लोकगीतों की श्रेणी में ही गिने जाते हैं।

लोकगीत सरल शैली में अशिक्षित जनता के उपयोग के लिए रचे जाते हैं। इनके द्वारा स्त्रियों के कर्तव्य, व्यवहारिक बातों, धर्म, दर्शन तथा स्वास्थ्य सम्बन्धी विषयों का प्रचार हुआ है। इन गीतों के द्वारा अशिक्षितों में प्रौढ़ शिक्षा का भी प्रचार हुआ है। बहुत से लोकगीत ऐसे हैं जिनमें साधारण सी घटना का वर्णन होने पर भी उनके भाव और विषय श्रेष्ठ काव्य का उदाहरण कहे जा सकते हैं। प्रसूति के समय श्रीकृष्ण के जन्म सम्बन्धी गीत गाने की परिपाटी प्रचलित है। इन गीतों में कैद में देवकी के गर्भ से कृष्ण का जन्म लेना, वसुदेव और देवकी को कंस का भय, कृष्ण की बाल-लीला, कंस का वध इत्यादि विषयों का वर्णन है। इसी प्रकार श्री राम के जन्म सम्बन्धी गीत भी प्रचलित हैं। प्रसव के बाद बच्चे को झूले में लिटा कर झुलाते हुए लोरियाँ गाने की भी प्रथा है। ये लोरियाँ तेलुगु साहित्य में दो प्रकार की हैं। बच्चे के रोते समय उसे शान्त करने के लिए गाए जानेवाले गीत तेलुगु में "ललित पाटलु" नाम से प्रसिद्ध हैं और बच्चे को सुलाने के लिए थपकियाँ देते हुए जो गीत गाए जाते हैं उन्हें "जोल पाटलु" कहते हैं। प्रसिद्ध है कि पशु, शिशु तथा साँप संगीत के प्रेमी होते हैं। बच्चा उस संगीत के माधुर्य से प्रभावित होकर सो जाता है। इन लोकगीतों में प्रबोध गीत, वीर गाथाएँ और पौराणिक गीत भी सम्मिलित हैं। यहाँ हम उदाहरण के रूप में एक दर्शन सम्बन्धी गीत दे रहे हैं :

१ जो अच्युतानन्द जो जो मुकुन्दा
रार परमानन्द राम गोविन्दा......जो जो ॥

२ तोलुत ब्रह्माण्डम्बु तोट्टि गाविंची
नालुगू वेदाल गोलुसु लमरिंची
बलुलैन फणिराजु पान्पु गाविंची
चेलुल डोलिकलोन चेर्चि लालिंची...जो जो ॥

३ तोम्मिदी वाकिल्ल तोट्टे लोपनू
क्रूरुलनु आरुगुरु साधु लैदुगुरु
अन्दु ो मुग्गुरु मूर्तु लुन्नारू...जो जो ॥

४ पट्टवले आर्गुरिनि पदिलम्बुगानु
कट्टवले मुग्गुरिनि कदल कुण्डगनु
उंचवले ओक्करिनि हृत्कमल मन्दू...जो जो ॥

५ ओंकार मनियेटि ओक तोट्टे लोन
तत्वमनि अनियेटि चलुवलं बरंचि
वेड्कतो पापडिनि एर्पाटु चेसी
एड्डु भुवनमुल वारेकमै पाड...जो जो ॥

१ "गीत के आरम्भ में 'जो जो' का जो प्रयोग किया गया है, उसका अर्थ यह होता है कि तुम अपने को क्या समझते हो! तुम परमात्मा के स्वरूप हो! इसीलिए यहाँ आत्मा, परमात्मा का सम्बन्ध मुकुन्द, राम और अच्युतानन्द को सम्बोधन कर बताया गया है।

२ इन पंक्तियों में बच्चे के साथ विशाल प्रकृति का सम्बन्ध जोड़ा गया है। शिशु को सुलाने के लिए ब्रह्माण्डरूपी झूला बनाया गया है और चारों वेदरूपी जंजीरों से वह झूला लटकाया गया है। शेष नाग की मखमली गद्दी पर बच्चे को लिटा कर सखियाँ लालन करती हुई लोरियाँ गा रही हैं।

३ नवरन्ध्रों से पूर्ण जो मानव शरीर है, इसमें काम, क्रोध, मोह, लोभ, मद और मात्सर्य नामक छः शत्रु वास कर रहे हैं। इन्हें अरिषड् वर्ग कहते हैं इसी शरीर में सन्त रूपी पाँच इन्द्रियाँ हैं और त्रिमूर्ति रूपी सत्व, रज और तमोगुण हैं।

४ इस अरिषड्वर्ग को दबा कर सन्त रूपी पंचेन्द्रियों को अपने अनुकूल बनाना चाहिए तथा त्रिमूर्ति रूपी जो त्रिगुण हैं उन पर अनुशासन रखते हुए

हृदय रूपी कमल में परमात्मा को प्रतिष्ठित करना होगा।

५ ओंकार रूपी डोली में तत्व रूपी श्वेत वस्त्र को बिछा कर उस पर बच्चे को लिटा करके सातों लोक-वासी एक स्वर में लोरियाँ गाएँ।"

मानव स्वभाव की कमज़ोरियों को दूर करने का मार्ग बताते हुए इन शिशुओं को अध्यात्मिक शिक्षा देने का अभिप्राय यह है कि बचपन से ही उन्हें ईश्वरीय ज्ञान प्राप्त हो। इसके साथ साथ वीरगाथाओं, मानव धर्म, तथा अवतारवाद सम्बन्धी घटनाओं पर लोरियाँ बना कर गाने की हमारे यहाँ प्राचीन काल से प्रथा बनी रही है। इन गीतों के द्वारा लड़कों को वीर, ज्ञानी और श्रेष्ठ चरित्रवान् बनाने का उद्देश्य प्रकट होता है। हमारे पूर्वज यही चाहते थे कि उनकी सन्तान सभी दृष्टियों से आदर्शवान् तथा अनुकरणीय बनें।

हिन्दी प्रचार सभा, मद्रास

—बाल शौरि रेड्डी

नया वर्ष

यह नए वर्ष का उषा-काल
गत वर्षों की स्मृतियों को
उन्माद-दुःखमय घड़ियों को
बोझिल अंतर में संचित कर
इन हास-अश्रुमय नयनों से
मैं देख रहा नव-किरण-जाल!
भीषण लहरों से आलोडित
चिर उद्वेलित जो समय-उदधि
वह अकस्मात् इस वेला में
नीरव प्रशान्त साँसें भरता
विस्मृत कर निज गर्जन कराल!
शत-शत योजन पर दीख रहा
वह स्वप्नों का मणि-द्वीप सुघर
जिस तक जाने को आकुल मैं
युग की चट्टानें लाँघ चुका
ले आशा का सम्बल विशाल!
ऊषा की स्वर्णिम छाया में
सबके सपने साकार हुए
पर मैं झंझाहत पंछी-सा
अपनी मंज़िल से दूर-दूर
भटका करता ले विषम ज्वाल!
कितने ही नये वर्ष आए
बिखराते उर-उर में हुलास
पर एकाकी संसृति-तट पर
सूखे आशा-तरु के नीचे
मैं बिता रहा निज रात्रि-काल!

बच्चा स्ट्रीट, जोधपुर

—मोहन

चिट्ठी-पत्री

॥

(१)

प्रियवर

श्री मुरलीधर जी श्रीवास्तव तक मेरी हार्दिक बधाई पहुँचा दीजिए । 'नए युग का विधाता' नामक कविता बहुत बढ़िया है ।

नई दिल्ली —बनारसीदास चतुर्वेदी

(उक्त कविता 'अजन्ता' के नवम्बर-दिसम्बर अङ्क में प्रकाशित हुई है ।—सं०)

॥

(२)

महोदय,

"अजन्ता" के अक्टूबर अंक में "राग रागिनी का रंग चित्रण" पढ़ा । यह तो माना जा सकता है कि राग रागिनी के चित्रों में राग के स्थूल स्वरूप का चित्रण किया गया हो लेकिन क्या संगीत का स्वरूप वही है ? मैं जहाँ तक सोच सकता हूँ, मेरा ख़याल है कि संगीत प्रकृति के स्थूल कार्य का आन्तरिक स्वरूप है । माना यह जाता है कि ध्वनि से सृष्टि हुई । ध्वनि के क्रमों ने ही पंच तत्वों को रचा और उनकी जोड़ तोड़ करके सृष्टि को स्थूल रूप दिया । स्थूल रूप देने की समस्त प्रक्रिया संगीत में होनी चाहिए । किन किन ध्वनियों को किस प्रकार की संयोजना से किस आकार की, किस गति की सृष्टि हो सकती है भारतीय संगीतकार इसे समझते थे । इसलिए वे पानी बरसाते थे, वे अग्नि प्रज्वलित करते थे । वे पत्थर को द्रवित कर सकते थे तथा उन्होंने और भी ऐसे प्रयोग किए थे । 'शतपथ ब्राह्मण' के 'पर्जन्य यज्ञ' में मन्त्रोच्चारण के साथ मेघ निर्माण और मेघ गर्जन के साथ साथ वृष्टि की चर्चा भी की गई है । चित्र का बाह्य स्वरूप यदि आन्तरिक शक्तियों से परिचय न कराये तो उससे चित्र का कोई महत्व नहीं । व्यक्ति को, उसके आकार को देख कर जानकार उसकी शक्तियों और कर्तव्यप्रणालियों को समझ लेते हैं और उसी प्रकार व्यवहार कर उससे अपना काम निकालते हैं । राग गान के सम्बन्ध में भी मानवीय शक्तियों के विकास क्रम के अनुसार उनके कार्य की योजना की गई होगी । इन पर से वैज्ञानिक पद्धतियों को समझा और उनका प्रयोग किया जा सकता है । आपके ध्यान में इस प्रकार वैज्ञानिक पद्धतियों का अनुसन्धान करने वाले यदि कोई सज्जन हों, राग सिद्ध हों या ध्वनि के विशेषज्ञ हों और उनकी शक्तियों को देखा परखा हो तो कृपया उनके पते से परिचित कराएँ, अत्यन्त आभारी होऊँगा ।

आपका

सुमित्रा प्रकाशन, कानपुर वि. चतुर्वेदी

("अजन्ता" के इस अंक में भी राग-रागनियों के चित्रण के सम्बन्ध में प्रो. ओ. सी. गांगुली जी का लेख प्रकाशित हुआ है जो इस प्रश्न पर प्रकाश डालता है । विद्वान लेखक और अन्य पाठक इस सम्बन्ध में यदि अपनी कोई जिज्ञासा प्रकट करेंगे तो हम प्रो० गांगुली जी से उसका समाधान प्राप्त करने का प्रयत्न करेंगे और उसे 'अजन्ता' में प्रकाशित कर दिया जाएगा ।—सं.)

॥

(३)

...श्रीयुत डा० ज्ञानचन्द्र पटना यूनिवर्सिटी के अर्थशास्त्र के प्राध्यापक हैं । वे अभी यूरोप की यात्रा करके लौटे हैं । उन्होंने अभी पिछले दिनों हैदराबाद राज्य हिन्दी प्रचार सभा द्वारा आयोजित एक साहित्य-गोष्ठी में

कुछ साहित्यकारों और उनके साहित्य की चर्चा की थी। मैं "अजन्ता" के पाठकों के लिए उसमें से कुछ अंश आपकी सेवा में भेजता हूँ :

"रूस में साहित्यकार अपनी कोई अलग श्रेणी या अपना कोई वर्ग नहीं बनाते। वे अपना जीवन का कार्य करते हुए अपने पेशे के साथ साहित्य सृजन का कार्य करते हैं। बलगेरिया में मैंने एक साहित्यकार को देखा। वह किसानों के बीच में रहने के लिए आया था। वह किसान बन कर उनमें रहता था। वह कहता था कि मैं कुछ वर्षों तक उनके बीच में रह कर उनके जैसा जीवन व्यतीत करूँगा और तभी मैं आज खेती में सहयोग के जो नए परीक्षण हो रहे हैं उनकी वास्तविक स्थिति से, उनके सुख दुःख और अन्य जीवन के प्रश्नों से भलीभाँति परिचित हो सकूँगा और उसके बाद में उसे अपने साहित्य में ठीक तरह अंकित कर सकूँगा। हमारे यहाँ साहित्यकार वास्तविक जीवन से पृथक् रह कर साहित्य की सृष्टि करना चाहते हैं और यही कारण है कि हमारे साहित्य में आज वह बल, शक्ति और जीवन दिखलाई नहीं पड़ता। हमारा साहित्यिक अपने साहित्यिक जीवन को एक पृथक वस्तु समझता है। वह एक कोठरी या कमरे में बंद होकर साहित्य की सृष्टि करता है। उसे चाहिए कि वह साहित्य की सृष्टि जीवन से पृथक् होकर और कमरों में बन्द होकर न करे। उसे अपने साहित्य की सृष्टि ठीक जीवन के कार्यक्षेत्र में रह कर करनी पड़ेगी। प्राचीन काल में चारण लोग युद्ध के मैदान में रह कर अपने साहित्य की सृष्टि करते थे। कबीर जुलाहा था—दादूदयाल धुनकी थे और इसी प्रकार हिन्दी के कई अन्य कवि अपने जीवन का धन्धा करते हुए अपने साहित्य की सृष्टि करते थे। वे यह नहीं समझते थे कि अपने साहित्य की सृष्टि करने के लिए उन्हें अपने जीवन के कार्य से पृथक् हो जाना चाहिए। हमें अपने कार्यक्षेत्रों में रहते हुए ही अपने साहित्य की सृष्टि करनी चाहिए और तभी हमारा साहित्य जीवन में से जीवित साहित्य की सृष्टि कर सकेगा। हमें साहित्यकार को एक वर्ग नहीं बनाना है जैसा कि इस समय हमारे देश में हो रहा है।"

हैदराबाद

—देवकुमार

॥

(४)

प्रिय सम्पादक जी,

नवम्बर-दिसम्बर की 'अजन्ता' में श्री अनिलकुमार द्वारा लिखित 'साहित्य में चोरबाज़ारी' शीर्षक पत्र पढ़ा। केवल पत्र-जगत् के असहनीय रवैय्यों तथा संपादकवृन्द के ग़लत तरीक़ों के सम्बन्ध में ही नहीं, वरन् जीवन के प्रत्येक अनुभवों को यदि लेखक यदा कदा प्रकाशित कराता रहे तो कम से कम दुनिया लेखकों की असली दशा को समझ सकेगी तथा उन विचारों से लाभ उठा सकेगी। ऐसे पत्रों को बिना काट छाँट के प्रकाशित कर देने के लिए अजन्ता परिवार तथा सम्पादकवृन्द का कार्य सराहनीय है। मेरी राय में 'चिट्ठी-पत्री' जैसा स्तम्भ प्रत्येक हिन्दी के पत्र को अपनाना चाहिए। इससे तीन लाभ हैं--(१) ऐसे पत्र-प्रकाशन से लेखकों की परिस्थितियों और माँगों का पता चलता है जिनको समझ कर शीघ्रातिशीघ्र निदान ढूँढ़ा जा सकता है। (२) पत्र-प्रबन्धक, सम्पादकगण और प्रकाशक आदि उन व्यवहारों को त्यागें और समझें कि लेखक की कलम के भरोसे ही पत्र पनपते हैं और उस कलम की क़ीमत क्या है और कलाकार के प्रति उनका क्या उत्तरदायित्व है। (३) इस प्रकार के प्रकाशित अनुभवों का संग्रह एक प्रकार से संस्मरणों का रूप ले लेगा और भावी साहित्यिक पीढ़ी को उन दिक्कतों से बचाएगा।

अब मैं इस सम्बन्ध में अपने किञ्चित् अनुभव लिख रहा हूँ :

(१) लगभग दो साल पहले 'धर्मयुग' ने एक कहानी प्रतियोगिता की थी जिसमें मैंने भी अपनी 'अंतिम चित्र' शीर्षक कहानी भेज दी थी। तारीख़ १४-५-५१ को मुझे सम्पादक सत्यकाम के हस्ताक्षर से सुसज्जित तथा टाइप किया हुआ एक पत्र प्राप्त हुआ जिसमें हर्ष प्रकट करते हुए उन्होंने सूचित किया था मेरी कहानी 'कहानी-प्रतियोगिता' की चुनी हुई कहानियों में है तथा यदि निर्णायकों के मतानुसार इस कहानी पर किसी कारण पुरस्कार न दिया जा सका तो भी उन्हें अपने कार्यालय के नियमानुसार उस कहानी को पारिश्रमिक सहित छापने में प्रसन्नता होगी। लगभग वर्ष भर तक मैं कहानी के प्रकाशन की प्रतीक्षा करता रहा और एक रोज़ बिना कारण तथा बिना सूचित किए कहानी की वापसी पाकर आश्चर्य में पड़ गया। कहानी को खोल कर देखा तो उस पर लिखा हुआ था (Consider for third prize) प्राइज़ तो छोड़ दीजिए। उसे प्रकाशित भी नहीं किया गया।

(२) अलमोड़ा से बड़ी सजधज से निकली 'रूपा'।

यशपाल और केदार शर्मा के प्रसिद्ध नामों का सहारा लेकर, प्रगतिशीलता का नारा बुलन्द करते हुए तथा लेखकों को उचित परिश्रमिक देने का दावा अपनाते हुए। लेकिन 'अकेली मोमबत्ती' ('रूपा' के जून अंक में प्रकाशित मेरी कहानी) के आँसू 'रूपा' के उन झूठे वादों को याद कर अब भी टपक रहे हैं। यह था 'रूपा' की प्रगतिशीलता का स्वरूप।

(३) अल्मोड़ा से एक मासिक पत्र और निकलता था। 'प्रदीप' था वह। एक उत्साही नवयुवक का उत्साही प्रकाशन। नवयुवक के मीठे पत्रों के अनुरोधों से तथा 'प्रदीप' की आर्थिक स्थिति को समझ कर निस्वार्थ हो कर रचनाओं द्वारा सेवा करता रहा। सम्पादक के अनुरोध से अपना उपन्यास 'नारी का आंचल' भी धारावाही रूप में प्रकाशनार्थ भेज दिया। 'प्रदीप' बुझ गया और तब से अब तक कई पत्र सम्पादक को लिख चुका हूँ कि उपन्यास कृपया वापस भेज दें लेकिन उत्तर नदारद, उपन्यास लौटाने की बात दूर रही।

(४) इन्दौर की 'नई दुनिया' के सम्पादक ने अपने हस्तलिखित पत्र में मेरी कहानी की प्रशंसा करते हुए लिखा कि कहानी छपेगी और पत्र-पुष्पम् भी मिलेगा। कहानी छपी पर लिखने पर भी पत्र-पुष्पम् नदारद।

(५) न जाने 'चित्रा' को मेरी कहानी 'तीन लहरें' कब मिली और एक दिन जब मैंने 'चित्रा' का वह अङ्क डाक द्वारा पाया तो आश्चर्य हुआ। हो सकता है मैंने ही कभी वह कहानी भेजी हो, शायद कई माह पूर्व जिसे मैं भूल चुका था और 'चित्रा' ने बिना स्वीकृति की सूचना दिए उसे छापा था। खैर 'रानी' और 'चित्रा' का स्वीकृति अस्वीकृति की सूचना न देना तो धर्म में शामिल हो गया ज्ञात होता है परन्तु जब प्रकाशित कहानी का पत्रों द्वारा परिश्रमिक माँगा तो उत्तर नदारद।

(६) एक दिन रेलवे बुक-स्टाल पर पत्र-पत्रिकाओं को देख रहा था तो दिल्ली के 'अशोक' पर दृष्टि पड़ी। उसमें मेरी कहानी 'चट्टान' प्रकाशित हुई थी। कुछ आश्चर्य हुआ। मुझे उस सम्बन्ध में कुछ मालूम न था। पारिश्रमिक की बात तो दूर रही, हमारे प्रिय सम्पादक जी ने यह भी उचित न समझा कि लेखक को 'अशोक' की प्रति भी भेज दें, पत्र लिखने पर भी सम्राट् अशोक के नाम पर चलने वाले पत्र ने न कोई उत्तर ही दिया और न प्रति ही भेजी। भला पारिश्रमिक की माँग तो लेखक लोगों की ज्यादती है ही सम्पादक जी की समझ में।

ठीक यही बात बनारस की 'आँधी' के साथ चार साल पूर्व घटित हुई थी।

(७) अब ज़रा 'अजन्ता' की ओर भी संकेत कर दूँ तो अनुचित नहीं। लगभग एक वर्ष होने को आ रहा है जब सम्पादक जी ने मेरी कविता स्वीकार की थी और अब तक नहीं छपी। दो और कविताएँ विचाराधीन तभी से पड़ी हैं जिनकी मुझे कोई सूचना नहीं मिली। एक कहानी भी स्वीकृत है पाँच छः महीने से, लेकिन प्रकाशित एक भी रचना न हो सकी।

पत्रोत्तर न देना, रचना की स्वीकृति, अस्वीकृति की सूचना न भेजना तो आज हिन्दी पत्रकारिता का एक साधारण रवैया हो गया है जिससे 'हिन्दुस्तान' साप्ताहिक, 'अमृत-पत्रिका' और सरकार के 'बाल-भारती', 'आजकल' आदि भी अछूते नहीं।

हिन्दी पत्रकारिता का एक अजीब और अन्तिम नमूना और पेश कर देना चाहता हूँ। 'संगम' साप्ताहिक ने नवम्बर १९५१ में मेरी एक कहानी प्रकाशित की और बिना मेरे पूछे कहानी के अन्त में लिख दिया: "एक विदेशी कहानी के आधार पर" बड़ा क्रोध उत्पन्न हुआ। यह मेरी मौलिकता पर चैलेंज था। पत्र द्वारा सम्पादक से इसका कारण पूछा। कोई उत्तर नहीं मिला। स्वयं 'संगम' कार्यालय पहुँचा और विनय की—या तो 'संगम' यह सबूत दे कि किस कहानी के आधार पर उसने मेरी कहानी को पकड़ा है अन्यथा अगले अंक में इस भूल के लिए खेद प्रकट करते हुए 'भूल-सुधार' प्रकाशित करे। लेकिन सम्पादक महोदय के कान पर जूँ तक नहीं रेंगी।

यहाँ पर यह भी स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि उस समय 'संगम' के सम्पादक श्री इलाचन्द्र जोशी नहीं थे।

इलाहाबाद —**रामरत्न बडोला**

(लेखकों के अनुभवों को प्रस्तुत स्तम्भ में प्रकाशित करने के सुझाव का हम स्वागत करते हैं। पत्र सम्पादकों की भी कठिनाइयाँ हैं। मासिक पत्रों में रचनाओं के अधिक संख्या में एकत्रित हो जाने के कारण उनका शीघ्र प्रकाशन सम्भव नहीं होता और पत्र की आवश्यकताओं के अनुसार ही स्वीकृत रचनाएँ भी शीघ्र या देरी से प्रकाशित की जा सकती हैं।—सं.)

नीर-क्षीर

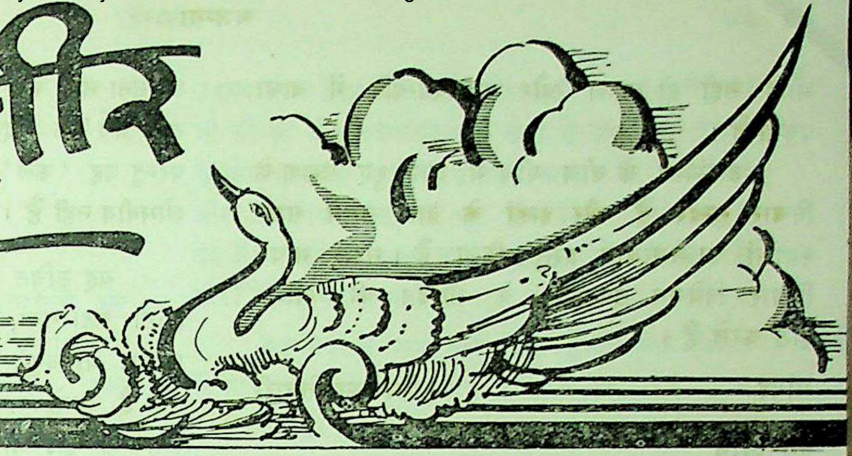

[समालोचना के लिए प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ सम्पादक 'अजन्ता' के नाम से भेजी जानी चाहिएँ]

सुखदा

लेखक—जैनेन्द्रकुमार

प्रकाशक—पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली

मूल्य—चार रुपए ।

लगभग दस वर्षों के बाद जैनेन्द्र जी का यह नवीन उपन्यास सामने आया है । इस लम्बे अरसे के बीच होनेवाली तब्दीलियों का थोड़ा बहुत प्रभाव इस कृति पर भी दिखाई देता है ।

उपन्यास की शैली जैनेन्द्र जी की अपनी है, जो उनकी कलात्मक अभिरुचि और नवीन उद्भावना का परिचय देती है । 'त्यागपत्र' में डायरी के पृष्ठों की कल्पना की गई थी । यहाँ संपूर्ण उपन्यास 'सुखदा' अपने ही मुख से कहती चली जाती है । रोग शय्या पर लेटे-लेटे वह जीवन की स्मृतियों को लिपिबद्ध करने का प्रयत्न करती है । वह एक प्रकार की आत्मकथा का स्वरूप है । आरम्भ में ही कहानीकार स्वयं को संपादक बता देता है, जिसने स्थलों को केवल छू भर दिया है ।

उपन्यास की प्रमुख पात्री सुखदा अपने स्वामी कान्त के विषय में ही अधिक कहती है । वह एक प्रकार से दाम्पत्य-सम्बन्ध की व्याख्या सी करती दिखाई देती है ; इस भावुक नारी के जीवन में पश्चात्ताप की घड़ियाँ अधिक हैं, जो आदि से अन्त तक बनी रहती हैं । अपने कटु व्यवहार पर उसे तत्काल ही ग्लानि होने लगती है । यह भावुकताजन्य पश्चात्ताप ही सुखदा के प्रति पाठक की सहानुभूति उत्पन्न कराते हैं । अन्तिम समय में तो यह पश्चात्ताप अपनी चरम-सीमा पर ही पहुँच जाता है ।

कान्त का चरित्र एक सरल निष्कपट व्यक्ति का है, जो सदा झुकना और समर्पण करना जानता है । सुखदा की इच्छाओं के समक्ष उसने सदा त्याग किया । त्याग ही कान्त के चरित्र का प्रमुख आकर्षण है, यद्यपि उसे एक मानवीय दुर्बलता भी कहा जा सकता है । हरिदा एक कठोर अनुशासन के हामी हैं और किसी प्रकार की दुर्बलता को प्रश्रय नहीं देते । लाल का अपना जीवन-दर्शन है मौज और मस्ती ! वह नैतिकता के बन्धन न मानते हुए भी राष्ट्र के लिए कठिन से कठिन बलिदान कर सकते हैं । सभी पात्र अपने व्यक्तिगत रूप में आकर्षण के केन्द्र हैं । सुखदा के पश्चात्ताप के प्रति अनायास ही करुणा उत्पन्न हो जाती है । कान्त का सारल्य अद्वितीय है । हरिदा का व्यक्तित्व कर्मठ राष्ट्र सेवी का है । लाल निर्भीक, फक्कड़ व्यक्ति है, जो जीवन में विद्रोह भी कर सकता है ।

'सुखदा' में जैनेन्द्र के आदर्शवाद का एक दूसरा स्वरूप सम्मुख आया है । गान्धीवाद से प्रभावित उनका आदर्शवाद अब तक व्यक्तिवादी अधिक रहा है । 'सुखदा' में एक व्यापक दृष्टिकोण भी साथ ही साथ दिखाई पड़ता है । कामरेडशिप के अतिरिक्त राष्ट्रीय आन्दोलन आदि की ओर भी लेखक ने संक्षेप में इंगित कर दिया है । उपन्यास का अन्त बड़ी शीघ्रता से कर दिया गया है और ऐसा प्रतीत होता है कि मानो अभी कथा को आगे चलना है, वह अधूरी ही रह गई है । यद्यपि सुखदा के अन्तिम शब्दों की सार्थकता इस आकस्मिक, अपूर्ण अन्त में ही है, किन्तु कथानक का विकास भली

भाँति नहीं हो पाता और प्रभावान्विति में बाधा पड़ती है।

उपन्यास के बीच बीच में आए हुए लेखक के विचार सुन्दर हैं और इन्हीं के द्वारा उसने समस्याओं का समाधान प्रस्तुत किया है। सरल भाषा, विचार विवेचन उपन्यास के सौन्दर्य की अभिवृद्धि करते हैं।

सागर **—प्रेमशंकर तिवारी**

पग-ध्वनि

लेखक—आचार्य चतुरसेन शास्त्री
प्रकाशक—आत्माराम एण्ड सन्स
काश्मीरी गेट, दिल्ली ६
मूल्य—डेढ़ रुपया।

'पग-ध्वनि' आचार्य चतुरसेन शास्त्री की गान्धीवादी आदर्शों पर आधारित एक छोटी-सी नाटिका है। यद्यपि इसे 'राष्ट्र-पिता गाँधी के पुनीत आदर्शों पर आधारित अनुपम नाटक' बतलाया गया है परन्तु स्पष्ट है कि लेखक गाँधीवाद के मानववादी पक्ष को छोड़ कर उससे किंचित् भी समझौता नहीं कर पाया है। लेखक गाँधीवाद को दो तत्वों से निर्मित मानता हैं उसका पाश्चात्य तत्व 'देशभक्ति या राष्ट्रीयता' है और भारतीय तत्व 'सत्य और अहिंसा।' जहाँ पहला तत्व त्याज्य (क्योंकि वह युद्ध और घृणा का, शोषण और संघर्ष का मार्ग है) वहाँ उसका दूसरा तत्व 'मानव'-देवता की पूजा-आराधना, उसके जीवन को सुखी बनाने के लिए आवश्यक है। सौ पृष्ठ की इस छोटी-सी नाटिका की अट्ठाइस पृष्ठ की लम्बी भूमिका द्वारा लेखक ने राष्ट्रीयता के विरुद्ध—'राष्ट्र' के नाम पर नरमेध, घृणा और पाप के विरुद्ध सबल तर्क प्रस्तुत किए हैं तथा वर्तमान युग के अभिशाप धर्म, साम्प्रदायिकता, राष्ट्रीयता और युद्ध से मानव को मुक्ति प्रदान कराने और उसके प्रति प्रेम जगाने की अपील की है। निश्चय ही आचार्य चतुरसेन शास्त्री इस भूमिका द्वारा साहित्यकारों का ध्यान एक ऐसी महत्त्वपूर्ण समस्या (Vital problem) की ओर आकृष्ट करते हैं जिसे लेखक वर्ग अपने उत्तरदायित्व को भुलाए बिना अनसुना नहीं कर सकता। आज नहीं तो कल 'राष्ट्र' या 'वर्ग' के बदले 'मानव' साहित्य का केन्द्र बनेगा परन्तु यह 'कल' की बात हमारे साहित्य के लिए कुछ शोभनीय नहीं है।

यह उचित ही है कि भूमिका के सम्बन्ध में ऊपर इतना कहा गया, क्योंकि इस नाटिका की भूमिका ही अधिक महत्वपूर्ण है, स्वयं नाटिका का अधिक महत्व नहीं है मानों अपनी बात भूमिका में कहने के लिए लेखक को कोई आधार खोजना था। लेखक का कथन है कि "इस नाटिका में मैंने सर्वथा नई पद्धति का प्रयोग किया है।" परन्तु नयापन केवल इतना ही है कि इस नाटिका में कोई कथानक नहीं है। दृश्य एक दूसरे से असम्बद्ध हैं। नाटक छः अंकों में विभाजित है। यद्यपि एक अंक में एक ही दृश्य है परन्तु छोटी-सी नाटिका का छः अंकों में विभाजित किया जाना समुचित नहीं जान पड़ता। इसलिए तो और भी कि उसमें कोई कथानक नहीं है। नाटिका की आधारभूमि पिछले साम्प्रदायिक दंगे और गाँधी जी का जेल-जीवन है। चौथे अंक में जेल में 'बा' की मृत्यु का दृश्य करुणा से सिक्त है जो पाठक के मन को छू लेता है। दूसरे दृश्य में साम्प्रदायिकता की पिछली कटुता को भुला कर नए जीवन का दर्शन होता है। प्रथम और अन्तिम अंक जिनमें क्रमशः गाँधी-दर्शन पर विचार विनिमय और गाँधी आदर्शों का मूर्त्तिकरण है नाट्य-कला के साथ अत्याचार जान पड़ते हैं। नाटक में 'संकलन-त्रय' को हम आज अधिक मान्यता न भी दें फिर भी असम्बद्ध दृश्यों का एकत्रीकरण नाटक कैसे कहा जा सकता है? 'पग-ध्वनि' यदि इन असम्बद्ध दृश्यों के होते हुए भी पाठकों की रुचि को बनाए रख सके तो इसका कारण नाटककार के प्रयोग की सफलता नहीं वरन् भारतीय जीवन पर गाँधी जी का प्रभाव है। अन्य दृश्यों में एक कथानक न होते हुए भी एक विशिष्ट परिस्थिति का चित्रण है। अतः वे निरे असम्बद्ध नहीं हैं, फिर भी मानववादी भावना इस नाटिका को एक विशेष बल प्रदान करती है और इसका हिन्दी-साहित्य में स्वागत किया जाएगा, लेखक की पुरानी पूँजी के आधार पर नहीं वरन् उसके दर्द की गहराई के कारण।

जीवन के मोड़

लेखक—महावीर अधिकारी
प्रकाशक—आत्माराम एण्ड सन्स
काश्मीरी गेट, दिल्ली ६.
मूल्य—तीन रुपया

'जीवन के मोड़' श्री महावीर अधिकारी की १७ कहानियों का संग्रह है। लेखक ने अपने प्रगतिवादी दृष्टिकोण की 'प्रस्तावना' में यों घोषणा की है: "एक बात का मुझे स्वयं आश्चर्य है कि वर्ग-चेतना को पैदा करने और वर्ग संघर्ष को उत्तेजन देने की बात को जो लोग लेखक का दायित्व स्वीकार करके चलते हैं उनके साथ पूरी सहमति रखते हुए भी मैं अपनी इन पंक्तियों में उसका नारा क्यों नहीं लगा सका। सोचता हूँ यह दोष मेरे निज का है, सिद्धान्त का नहीं हो सकता।" सिद्धान्त की बात उठाना अलम् नहीं वह तो संशय से परे है। अधिकारी जी की ये कहानियाँ भारतीय समाज के मध्यम वर्ग का चित्रण करते हुए वर्ग-संघर्ष की बात चाहे न भी कहती हों पर शिक्षित मध्यम वर्ग की उन मान्यताओं पर उड़ता व्यंग्य अवश्य करती हैं जिन पर वर्ग-संघर्ष मतवादियों को तरस-सा आया करता है।

'प्रो० धीमर्जा' ऐसी ही कहानी है। प्रो. धीमर्जा विचारों की सत्ता को मानव-संस्कृति का वास्तविक मूलधन मानते हैं। वे अपने आपको क्रान्ति का भारवाहक गधा नहीं समझते। लेखक ने साम्प्रदायिकता के जुनून के दिनों में उनसे धार्मिक पोशाक धारण करवाई है यद्यपि 'धर्म के नाम पर शोषण और मक्कारी की हथियार बुतपरस्ती' के वे परम विरोधी हैं। यहाँ लेखक को यह स्मरण कराने की आवश्यकता नहीं कि जीवन में ऐसे पात्र भी होते हैं जो अपने विचारों के लिए सर्वस्व बलिदान कर देते हैं तथा प्रतिकूल परिस्थितियों में 'धीमर्जा' से 'धर्मराज' नहीं बना करते! अधिकारी जी शुद्ध प्रगतिवादी व्यंग्य करने में कुशल हैं। प्रगतिवादी व्यंग्य की अपनी शैली है—विरोधी वस्तु का महत्व घटाने के लिए उसको किसी बहाने हेय वस्तु के समकक्ष बिठा देना। इस प्रकार अहिंसा की प्रशंसा करते हुए लेखक कहेगा 'छत पर से पत्नी चिल्लाई दौड़ो बन्दर' या 'नेल पालिश' करनेवाली रूप की पुतलियों की खुराफ़ातों का जिक्र करते हुए कहेगा 'पढ़ेंगे डार्कनेस-एट नून' इससे कम्यूनिस्ट विरोधी विचारधारा के प्रसिद्ध उपन्यास का महत्व जो घटता है। इसी प्रकार अधिकारी जी भी जो लोग दर्शन की बात करते हैं उन्हें हेय बताने के लिए कहते हैं—"मैंने रुमाल फटकार कर उन बेदर्द और दार्शनिक चींटों को दूर भगा दिया" (लाशों के ढेर में) चींटे दार्शनिक नहीं होते पर जो दार्शनिक हैं चींटों से बढ़ कर क्या हैं!

कहानियों में कथा नहीं, चित्र हैं या दृश्य चित्रण के साथ लेखक के विचार।

'प्रो० धीमर्जा', 'लाशों के ढेर में' और 'शरणार्थी' कहानियाँ साम्प्रदायिक दंगों की पृष्ठभूमि लिए हैं। इनमें 'शरणार्थी' अपनी श्रेष्ठता में आसानी से अलग हो जाती है। 'अमानत' स्वातन्त्र्य संग्राम के साधक के कोमल भावों और नारी की दृढ़ता को अभिव्यंजित करती है। 'प्रेरणा,' 'उत्तरदायित्व' और 'जीवन के मोड़' के पात्र भटक कर अन्ततः अपने सामाजिक उत्तरदायित्वों को पहचान लेते हैं। 'हरी चुनरी' 'लम्बी नाक' यौन विकृतियों पर प्रच्छन्न व्यंग्य है। कहानियों की भाषा में चुस्ती है और सामाजिक उत्तरदायित्व के प्रति उत्साह झलकता है।

रत्न-समुच्चय

सम्पादक—जगपति चतुर्वेदी
प्रकाशक—छात्रहितकारी पुस्तक माला
दारागंज, प्रयाग
मूल्य—एक रुपया।

विद्यार्थियों के उपयोग के लिए यह एक नई पुस्तक प्रकाशित हुई है जिसमें ग्यारह महापुरुषों की जीवनियाँ सरल भाषा और रोचक ढंग से प्रस्तुत की गई हैं। सम्पादक ने अधिक तथ्यों को संग्रहीत करने का लोभ न करके सुरुचि और संक्षिप्तता का ध्यान रखा है। जिन महापुरुषों की जीवनियाँ संग्रहीत की गई हैं उनमें आचार्य विनोवा भावे, गाँधी जी और नेताजी राजनीतिज्ञ, रोमा-रोलाँ और ठाकुर रवीन्द्रनाथ साहित्यकार, हेनीबल सेनानायक, मार्को पोलो और कप्तान कुक अनुसन्धानक, लुई पास्ट्युर वैज्ञानिक और रामानुजम् गणितज्ञ हैं। जीवनियाँ विभिन्न और लब्ध प्रतिष्ठित लेखकों द्वारा लिखी गई हैं। पुस्तक विद्यार्थियों के लिए उपयोगी है।

हैदराबाद —हरिकृष्ण पुरोहित

सामयिक

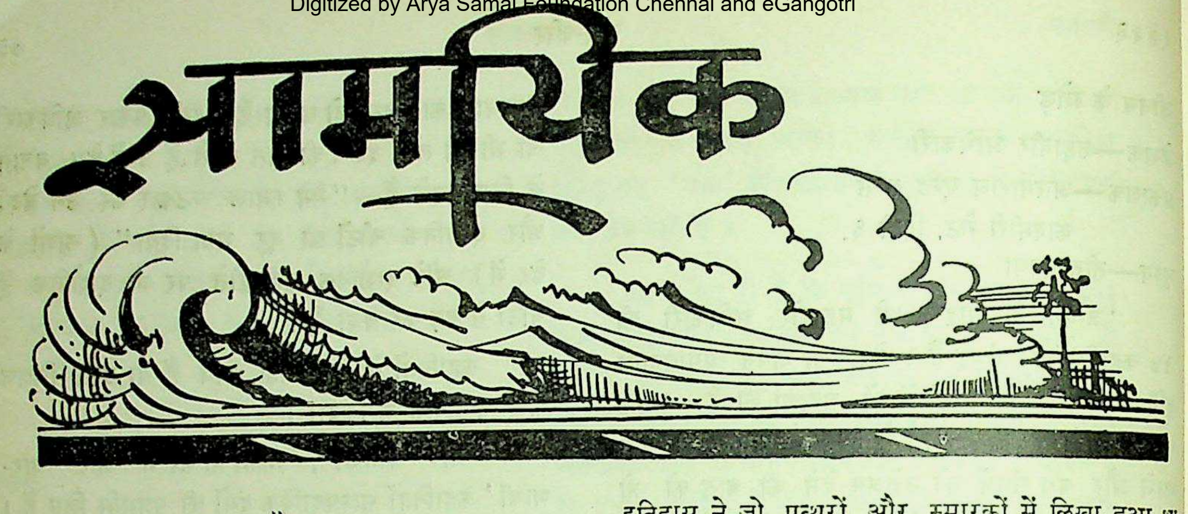

॥

क्रोचे

इटली का महान् विचारक

मद्रास के प्रसिद्ध साप्ताहिक पत्र 'स्वतन्त्र' में श्रीयुत निर्मलकुमार लाहिड़ी का इटली के प्रसिद्ध साहित्यकार, विचारक और दार्शनिक क्रोचे के विषय में एक लेख प्रकाशित हुआ है । इसमें से कुछ अंश नीचे दिया जाता है :

बॅनेडिटो क्रोचे की मृत्यु नैपलस में २० नवम्बर, १९५२ को हो गई । उनकी मृत्यु से एक महान् विचारक, दार्शनिक और राजनेता संसार से उठ गया ।

क्रोचे का जन्म पेस्कासेरोली, एक्विला में १८८६ में हुआ था । दस वर्ष की आयु में उसे नैपलस के एक धार्मिक वोर्डिङ्ग स्कूल में प्रविष्ट किया गया । इसके बाद वह अपने चाचा के घर में रहा । उसके चाचा एक बड़े दर्शनकार थे । क्रोचे के पिता कैथोलिक धर्म के थे ।

कैसेमिक के भूकम्प में उसके माता-पिता और एकमात्र बहन का प्राणान्त हो गया । परिणामस्वरूप उसके गृह-जीवन में उसे महान् कष्ट हुआ । वह स्वयं भी कई घंटों तक मलबे के नीचे दबा पड़ा रहा और उसको बहुत से स्थानों पर चोट लगी । वह यूनिवर्सिटी में प्रविष्ट हुआ परन्तु उसने नियमपूर्वक अध्ययन प्रारम्भ नहीं किया । कुछ समय बाद वह नैपलस में लौट आया और इतिहास और पुरातत्व में अनुसन्धान करने लगा । उसने समस्त यूरोप की शिक्षणात्मक यात्रा की । वह जर्मनी, स्पेन, फ्रान्स और इंग्लैण्ड गया और उसने वहाँ की भाषा और साहित्यों का अध्ययन किया । इस यात्रा का उसके विचारों पर गहरा प्रभाव पड़ा । वहाँ के इतिहास ने जो पत्थरों और स्मारकों में लिखा हुआ था और उसकी दूसरे उत्तरदानों (Legacies) ने उसे आकर्षित किया । इस समय तक क्रोचे ने देखा और सीखा । अब वह समझना चाहता था ।

कुछ समय बाद क्रोचे ने कलासम्बन्धी एक पुस्तक लिखी । उसने अपने निबन्धों का संग्रह किया जिसका नाम उसने "साहित्यिक आलोचना" रक्खा । उसके जीवन में १९०२ का वर्ष बहुत महत्वपूर्ण था । इस वर्ष उसने 'ला क्रिटिका' (La Critica) को निकाला । उसने अपने इस जीवन के काल के विषय में लिखा है—"इस समय मेरे जीवन का प्रारम्भ हुआ । यह समय मुझ में और वास्तविकता में सामंजस्य और विकास का समय था ।" उसने इस दार्शनिक पत्र 'ला क्रिटिका' (La Critica) का एक अन्य दार्शनिक गोइगो जेन्टाइल (Giovanni Gentile) के साथ सम्पादन किया । इस पत्र के द्वारा उसने अपने विचारों को अभिव्यक्त किया और इटली की संस्कृति की सेवा की ।

क्रोचे ने अनुभव किया "इतिहास अपनी असंख्य घटनाओं और अंशों के साथ आत्मा का ही एक विस्तृत क्षेत्र है जो कि पहले सुन्दरता के रूप में और फिर तर्क और युक्ति के रूप में आविष्कृत होता है । उसकी पुस्तक सौन्दर्यशास्त्र (Aesthetic) उसकी सबसे महान् रचना है ।

उसके मत के अनुसार चेष्टा के रूप में स्वतः, अन्तः अनुभूति कला का सार है । इस प्रकार उसके विचारों में अन्तः अनुभूति एक अबुद्धिगम्य रहस्य नहीं है परन्तु वह चेष्टा है जो कि बुद्धिगत होती है । एकमात्र अनुभव या अन्तः अनुभूति एक प्रकार की कच्ची सामग्री होती है जो कि अभिव्यक्ति की सुन्दरता में पूर्णता को प्राप्त करती है। अन्तः अनुभूति और अभिव्यक्ति ये दोनों वस्तुएँ कला की

बनाती हैं । दोनों एक साथ कार्य करती हैं और क्रोचे के विचारों के अनुसार अन्तः अनुभूति और अभिव्यक्ति दो भिन्न-भिन्न वस्तुएँ नहीं हैं ।

क्रोचे के आत्मासम्बन्धी विचार अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं । उसके विचारों में......"दर्शनशास्त्र एक क्षण है...जिसमें कि इतिहास और दर्शन एक हो जाते हैं ।" क्रोचे लिखता है—"दर्शनशास्त्र का उच्चतम रूप किसी अस्पष्ट सिद्धान्त के अल्पकालिक रूप को स्थिर रूप देने में है और विशेष घटनाओं के तत्व को समझने में है : यह एक इतिहास है जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता परन्तु जो कि स्वयं एक विचार होता है ।" यह भावना ही वास्तविक वस्तु है और इसकी अभिव्यक्ति से ही इतिहास बनता है । "इतिहास के प्रत्येक भाग और क्षण में वही भावना सम्पूर्ण और अविभाज्य रूप से विद्यमान और सक्रिय है"—वह कहता है ।

उसकी विचारधारा चार भागों में विभक्त है : सौन्दर्यशास्त्र : अभिव्यक्ति के विज्ञान के रूप में ; तर्क: विशुद्ध विचार के विज्ञान के रूप में; क्रियात्मकता का दर्शन और उसके सिद्धान्त और प्रयोग का इतिहास । इस प्रकार वह "ऐतिहासिक आदर्शवाद" के विद्यार्थी के रूप में दिखाई देता है । वह कुछ अस्पष्ट वस्तुओं को ज्ञान और घटनाओं में श्रृंखलित करता है ।

मानवीय उन्नति के सम्बन्ध में उसके विचार हैं कि इतिहास एक मानसिक प्लैटफ़ार्म है जिस पर आत्मा अपने को प्रकट करती है । यह अपने आपको कभी समाप्त न होनेवाली रचनाशीलता के द्वारा निरन्तर अविराम रूप से अनन्त रूपों में अभिव्यक्त करती है । राजनीति में क्रोचे माध्यमिक विचारों का था । वह फ़ासिस्टवाद का सम्पूर्ण रूप से विरोधी था । वह सर्वसत्तावाद (Totalitarianism) से घृणा करता था और वह इसे यूरोप के प्रगतिशील विचारों का विरोधी समझता था ।

फ़ासिस्टवाद और मार्क्सवाद के विरोध में वह कहता है : "स्वतन्त्रता की मृत्यु का अर्थ जीवन की मृत्यु है ।" वह जन्मभर अज्ञेयवादी रहा । वह (Supernatural) अतिप्राकृत या अलौकिक को दार्शनिक की चिन्ता का विषय नहीं समझता था । वह हीगल से भी आगे बढ़ कर धर्म के रहस्यमय तत्वों के प्रति विरोध प्रदर्शित करता है । वह आध्यात्मिक मूल्यों में विश्वास करता था । वह आत्मा की वास्तविकता और चैतन्यता में विश्वास रखता था और वह इसी को विचार और क्रिया में परिणत करना चाहता था । उसने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक (Filosofia del spirito) में मार्क्स के प्रकृतिवाद के प्रति अपने विरोध को अभिव्यक्त किया है ।

क्रोचे १९१० में नैपल्स यूनिवर्सिटी का प्रोफ़ेसर और इटली के सिनेट का सदस्य बना । गिलिओटी के सिनेट में १९२०-२१ में वह शिक्षा-मन्त्री था । १९२६ में उसने लिबरल पार्टी से सम्बन्ध जोड़ा । उसकी पुस्तक "इटली का इतिहास" (१८७०-१९१५) १९२९ में प्रकाशित हुई । इस पुस्तक में एक आकर्षक दृष्टिकोण है, क्योंकि इसमें उसने फ़ासिस्टवाद की उत्पत्ति और विकास का प्रदर्शन किया है और यह सिद्ध किया है कि किस प्रकार इटली में इसका किसी-न-किसी रूप में अस्तित्व रहा । उसकी पुस्तक "इटली के इतिहास" को निषिद्ध पुस्तकों की सूची में डाल दिया गया था ।

क्रोचे ने साँस्कृतिक स्वतन्त्रता के लिए जीवन भर संग्राम किया और इसकी स्मृति शताब्दियों तक जीवित रहेगी । आक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी ने उन्हें आनरेरी पी एच. डी. की उपाधि प्रदान की । वह साँस्कृतिक स्वतन्त्रता के लिए ही कॉंग्रेस का सदस्य बना ।

नैपल्स में ८६ वर्ष की आयु में अचानक उसकी मृत्यु हो गई । उसके चिकित्सकों ने यह कह दिया था कि उसका स्वास्थ्य अब ठीक हो गया है परन्तु उसकी मृत्यु उनकी इस घोषणा के कुछ ही दिनों बाद हो गई । उसकी बीमारी में उसकी पत्नी और दोनों लड़कियाँ उसकी परिचर्या करती रहीं ।

क्रोचे की मृत्यु से इटली का इस समय का सबसे महान् विचारक उठ गया । वह कभी खरीदा न जा सकनेवाला राजनेता, धुरन्धर आलोचक और महान् विचारक था । वह उन्नीसवीं सदी के यूरोप के अन्तिम दिग्गज पुरुषों में से एक था ।"

॥

स्मृति पर आघात का प्रभाव

लन्दन के टाइम्स पत्र में स्मृति परीक्षा के विषय के सम्बन्ध में एक लेख प्रकाशित हुआ है । इसमें से कुछ अंश दिया जाता है :

"विश्वविद्यालय के कुछ विद्यार्थियों को कुछ शब्द स्मरण करने के लिए दिए गए। इन शब्दों को उन्होंने बिना किसी विशेष कठिनाई के कंठस्थ कर लिया। उन्हें बिना सूचना दिए बिजली की बत्तियों को बुझा दिया गया। एक पिस्तौल से गोलियाँ छोड़ी गईं। एक लोहे के गर्डर को नीचे धमाके के साथ गिरा दिया गया। उनके कुर्सियों के पिछले हिस्से गिरा दिए गए और हाथों को बिजलिया दिया गया।

यह सब कुछ इस परीक्षण के लिए किया गया कि इसका प्रभाव विद्यार्थियों की स्मृति पर एकदम क्या पड़ता है। इस परीक्षण का परिणाम यह हुआ कि विद्यार्थियों ने जिन शब्दों को याद किया था वे एकदम उन्हें भूल गए। इसी प्रकार के अन्य परीक्षणों से यह ज्ञात हुआ है कि स्मृतिशक्ति पर आवेशों का बहुत प्रभाव पड़ता है।

बहुत से लोग अपने जीवन के उन कटु अनुभवों को भूल जाना चाहते हैं जिनके स्मरण से उन्हें कष्ट होता है। हम अपने बिलों को चुकाना भूल जाते हैं, अपनी जुराबों को रफू करना और अपने लान के घास को कटवाना भूल जाते हैं। इस भूलने के पीछे कुछ छिपा हुआ प्रयोजन होता है। यदि कोई व्यक्ति अपने किसी मित्र के घर में संयोगवश अपनी छतरी को भूल जाय तो इसका अर्थ है कि अपनी उपचेतना में वह अपने मित्र के घर में दुबारा जाने के लिए कोई बहाना चाहता था। अपनी ऐनक को भूल जाने का अर्थ है कि भूलनेवाला ऐनक पहनना पसन्द नहीं करता।

कुछ लोग यह समझते हैं कि स्त्रियों से पुरुषों की स्मृति अच्छी होती है। परन्तु यह बात ठीक नहीं है। प्रश्न अच्छी स्मृति का नहीं, चयनात्मक (Selective) स्मृति का है। कई सफल व्यक्तियों की स्मृति बहुत साधारण होती हैं परन्तु वे अपनी स्मृति की चयन शक्ति को प्रशिक्षित कर लेते हैं। कुछ असाधारण वृत्ति के प्रोफ़ेसरों की स्मृतिशक्ति असाधारण होती है परन्तु वे ग़ायब-दिमाग़ और बड़े भुलक्कड़ होते हैं। कभी कभी तो यह प्रतीत होता है कि उनमें किसी प्रकार की चयन शक्ति है ही नहीं।

यही कारण है कि एक फुर्तीला चुस्त व्यक्ति जिसकी बुद्धि साधारण है और स्मृतिशक्ति साधारणतया ठीक है परन्तु जिसकी चयन की योग्यता अच्छी है बड़े बड़े दिमाग़ों से बाज़ी मार ले जाता है।

लोगों में किसी वस्तु को स्मरण करने की विधियाँ भिन्न भिन्न होती हैं। किसी की स्मृति किसी को देख कर, किसी की सुन कर और किसी की पढ़ कर ताज़ा हो जाती है। गत युद्ध में इस विषय में कई प्रकार के परीक्षण किए गए थे जिनसे उन लोगों की स्मृतियाँ सजग हो गईं थीं जिन्हें साधारण बुद्धि का समझा जाता था। उन्होंने ये परीक्षण दृश्य वस्तुओं की सहायता से किए थे। बी. बी. सी. ने इस बात का पता लगाया है कि दृश्य का स्मृति पर श्रव्य से अधिक प्रभाव पड़ता है।"

॥

हिन्दी साहित्य का इतिहास

अभी पिछले दिनों श्रीयुत डा. रामप्रसाद त्रिपाठी, वाइस चान्सलर, सागर यूनिवर्सिटी ने हिन्दी साहित्य के इतिहास के विषय में खण्डवा की एक साहित्य-सभा में अपने विचार अभिव्यक्त किए थे। 'कर्मवीर' से इसके कुछ अंश को दिया जा रहा है :

"हिन्दी साहित्य के उदय-काल के सम्बन्ध में साहित्यकारों के कई मत-मतान्तर हैं। कुछ साहित्यकारों का मत है कि अमीर खुसरो हिन्दी के पहिले कवि थे और कहते हैं कि दिल्ली-मेरठ की भाषा को उन्होंने अपने काव्य में उतारा। कुछ साहित्यकार 'रासो' काव्य को हिन्दी की आदि-पुस्तक मानते हैं। 'रासो' के रचयिता चन्दवरदाई पृथ्वीराज के समकालीन माने जाते हैं किन्तु, अभी तक ऐसी कोई एतिहासिक खोज नहीं हुई जो सिद्ध कर सके कि चन्दवरदाई का 'रासो' किस काल में लिखा गया है। इतिहासज्ञों का मत है कि 'रासो' के कुछ अंश अकबर-काल में प्राप्य थे, किन्तु उसके पहले के भाग के सम्बन्ध में अभी तक कुछ भी जानकारी नहीं है। अमीर खुसरो के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि आप सूफ़ी कवि थे। फ़ारसी इतिहासज्ञों का यह स्वभाव रहा है कि वे कहीं-न-कहीं साहित्यकारों के जन्म-मरण के सम्बन्ध में कुछ जानकारी देते हैं। किन्तु, १६ वीं शताब्दी तक अमीर खुसरो के सम्बन्ध में इतिहासकारों ने कुछ भी नहीं लिखा। हाँ, १४-१५ वीं शताब्दी में फारसी इतिहास में कुछ स्थानों पर 'हिन्दवी' शब्द दीख पड़ता है। किन्तु, यह निश्चय नहीं किया जा सकता कि

यह 'हिन्दी' की ओर ही संकेत है। 'बीसलदेव रासो' के सम्बन्ध में भी, कुछ एक साहित्यकारों का मत है कि वे हिन्दी के आदि-लेखक हैं। कहते हैं, उनका ग्रन्थ ८ वीं शताब्दी का(?) है। किन्तु, इस ग्रन्थ को पढ़ने से ऐसा नहीं लगता कि यह हिन्दी का आदि ग्रन्थ हो। इस ग्रन्थ में केवल डिंगल रूप ही दीख पड़ता है और उसके आधार पर यह निर्णय कर लेना कि यह प्रथम ग्रन्थ है, भ्रमात्मक है। इतिहास में भी इस पर कोई विश्वसनीय प्रमाण नहीं।

"हमारी भ्रमात्मकता यहीं तक सीमित नहीं है, किन्तु हमें अभी तक यह भी ज्ञात नहीं कि हमारे सन्त कवि कहाँ और कब जन्मे। तुलसीदास के विषय में अभी तक यह निर्णय नहीं हो पाया कि वे कहाँ और कब जन्मे। कहने का तात्पर्य यह कि समय के विषय में भी मतभेद हो गया है। मिश्र बन्धुओं ने भी कुछ ऐसी ही अनर्गल बातों का प्रतिपादन किया है। केशव और देव-रीतिकालीन कवियों के सम्बन्ध में कई किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। भारत में सदैव से दो विचार-धाराएँ प्रवाहित होती रहीं। जो कवि सन्त थे, महात्मा थे, उनके प्रति तो आदर-भाव व्यक्त किया गया और जो इन श्रेणियों में नहीं आते, उनके विषय में हमने बहुत कुछ भ्रमात्मक विचार व्यक्त किए। मुग़ल-काल के इतिहास के सम्बन्ध में जब मैं शोध कर रहा था, तब मुझे हिन्दी साहित्य का भी अध्ययन करना पड़ा था। मुझे उस समय यह अनुभव हुआ कि साहित्य के सम्बन्ध में कुछ भी खोज नहीं की गई। रीति-कालीन कवियों या साहित्यकारों के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि इन साहित्यकारों की भाषा और भावों पर मुसल्मानी संस्कृति और वातावरण का काफ़ी प्रभाव पड़ा। साहित्य समय का शीशा है, इसलिए उस काल की विलासिता उनके साहित्य में यत्र-तत्र दीख पड़ती है। हम बिना सोचे-समझे यह निष्कर्ष दे देते हैं कि उस काल में विलासिता अधिक थी। जाँच की कसौटी तो तुलना है। अनुभवों के आधार पर कहा जा सकता है कि मध्यकालीन युग की अपेक्षा आधुनिक काल में आमोद-प्रमोद और विलासिता अधिक है, वाल्मीकि और कालिदास ने जिस शृङ्गार का वर्णन किया है, वह रीतिकालीन से कम नहीं। उस समय और आज के समय में १९-२० का ही अन्तर है, अधिक नहीं। विद्या की कसौटी में कोई रिश्तेदारी नहीं, कोई मुलाक़ात आदि का स्थान नहीं। मिश्र-बन्धुओं से मेरे काफ़ी अच्छे सम्बन्ध थे, फिर भी उनकी आलोचना स्वाभाविक है। मिश्र-बन्धुओं ने देव-केशव आदि को मनचले कह कर बड़ा अन्याय किया है। सच बात तो यह है कि रीतिकालीन कवियों ने माया का वर्णन करते हुए कई अन्योक्तियाँ कही हैं। सूरदास और अष्टछाप कवियों ने भी वही नीति अपनाई है जो रीतिकालीन कवियों ने ग्रहण की। फिर भी, हम अपने अविवेक से एक दूसरे में अन्तर करते हैं। हमारा स्वभाव तो यह हो गया है कि पहले आरोप (इलज़ाम) लगा दें फिर चोरी के कारण ढूँढ़ते हैं।"

॥

पोट्टि श्रीरामुलू

अमेरिका के प्रसिद्ध साप्ताहिक पत्र "टाइम" में श्रीयुत पोट्टि श्रीरामुलू के विषय में एक नोट प्रकाशित हुआ है। इसमें से निम्न अंश नीचे दिया जाता है :

"श्री पोट्टि श्रीरामुलू ने एक बार २९ दिन का उपवास किया था। इससे प्रभावित हो कर महात्मा गान्धी ने उस समय कहा था : "यदि पोट्टि श्रीरामुलू जैसे मेरे ११ अनुयायी होते तो मैं एक वर्ष में अंग्रेज़ी राज्य से भारतवर्ष को स्वतन्त्रता दिलवा देता।" पिछले दिनों पोट्टि श्रीरामुलू ने आन्ध्र राज्य को बनाने के लिए ऐतिहासिक उपवास किया।...श्रीरामुलू ने मद्रास में अपना यह उपवास किया।...दिन पर दिन गुज़रते जाते थे और वे अपने बंगले के बरामदे में एक चारपाई पर पड़े हुए थे। उनका वजन घटता जाता था। जब उनके उपवास का ५२ वाँ दिन था श्रीयुत जवाहरलाल नेहरू ने उद्घोषित किया : "शासन में परिवर्तन करने के लिए यदि इस प्रकार उपवास किए जाएँगे तो प्रजातन्त्रात्मक शासन की समाप्ति हो जाएगी।" इस घोषणा के ६ दिन के पश्चात् श्रीरामुलू की अवस्था ख़राब हो गई, आँखें धँस गईं; उनकी त्वचा सफ़ेद पड़ गई और उन्हें लगातार हिचकियाँ आने लग गईं। गले में इतनी सूजन आ गई कि वे पानी तक न पी सकते थे और उन्हें ख़ून की उल्टियाँ होने लगीं। कुछ घण्टों के बाद उनकी मृत्यु हो गई। आन्ध्र देश के निर्माण के लिए वे शहीद हो गए।

श्रीरामुलू की मृत्यु से सारा आन्ध्र देश विक्षुब्ध हो उठा। एक......सप्ताह के बाद प्रधान मन्त्री श्री नेहरू ने घोषणा की कि भारतीय प्रशासन ने आन्ध्र राज्य को बनाने का निर्णय कर लिया है।"

सम्पादकीय

शक्ति या शान्ति ?

जब से आइज़नहोवर अमेरिका के प्रेज़ीडेण्ट चुने गए हैं और उन्होंने कोरिया, इण्डो-चाइना, वाइटनाम और मलाया आदि एशियाई देशों के विषय में जहाँ कि लड़ाई चल रही है अपनी नीति को उद्घोषित किया है तब से एशिया के देशों में इस नीति के प्रतिक्रियास्वरूप यह गम्भीरतापूर्वक विचार किया जा रहा है कि क्या अमेरिका की इस नीति से संसार में स्वतन्त्रता की रक्षा और शान्ति की स्थापना हो सकेगी। आइज़नहोवर कोरिया में युद्ध को समाप्त करने लिए युद्ध को और भी अधिक तीव्रता से चलाना चाहते हैं। वे वाइटनाम में फ्रांस को फ़ौजें भेजने के सिवाय लड़ाई की सामग्री से और अन्य प्रत्येक साधन के द्वारा सहायता करने के लिए तैयार हैं। इस सहायता के साथ यह शर्त भी है कि वे वाइटनाम में शीघ्र ही स्वतन्त्रता की घोषणा कर दें। मलाया में भी वे साम्यवादियों को कुचल देना चाहते हैं। उन्होंने अपनी नीति को स्पष्ट करते हुए यह भी कहा है कि वे यह चाहते हैं कि एशियावाले स्वयं साम्यवादी शक्तियों के विरुद्ध लड़ाई करें और वे धन और सामग्री आदि से जो कुछ सहायता कर सकते हैं करेंगे। आइज़नहोवर के इस वक्तव्य से यह स्पष्ट है कि वे एशिया के देशों की साधारण जनता की स्वतन्त्रता और जीवन के विषय में उतने चिन्तित नहीं हैं जितने कि इस विषय में कि कहीं एशिया में साम्यवादी राष्ट्रों की शक्ति न बढ़ जाए। जब कि अमेरिका का ध्यान एशिया के देशों के प्रति आकृष्ट हो रहा है-यूरोप के राजनीतिज्ञ यूरोप के विषय में चिन्तित हो उठे हैं और कह रहे हैं कि खतरे का स्थान यूरोप है और यदि अमेरिका यूरोप की सहायता न करे तो यूरोप अपने आपको सुरक्षित नहीं समझ सकता। ऐसा प्रतीत होता है कि कोरिया की लड़ाई में अब राष्ट्रवादी चीन के सैनिक और जापानी फ़ौजों को लड़ाया जाएगा और धीरे धीरे वहाँ से अमरीकी सेनाओं को हटा लिया जाएगा। अमेरिका लड़ाई की सामग्री भेजने पर और पीछे से धन आदि की सहायता आदि पर अपनी शक्ति को केन्द्रित करेगा। कोरिया में अमेरिका के धन-जन का जो नाश हो रहा है और उसके कारण वहाँ की जनता में जो अशान्ति और विक्षोभ फैल रहा है उसको शान्त करने के लिए ये सब प्रयत्न किए जा रहे हैं। यह भी सम्भव है कि कोरिया में प्रत्यक्ष रूप में लड़ कर अमेरिका सम्भवतः युद्ध के उन विनाशक साधनों का प्रयोग नहीं कर सकता जो कि वह अप्रत्यक्ष रूप में लड़ाई में कर सकेगा। उधर आफ्रिका में जो वर्ण भेद के आधार पर युद्ध चल रहा है और ट्यूनीशिया और मोरक्को में फ्रांस जिस प्रकार आज के इस युग में अपने प्रभुत्व को स्थापित करना चाहता है उसके विरुद्ध संसार की स्वतन्त्रता की रक्षा करनेवाली शक्तियाँ बहुत कुछ उदासीन होकर बैठी हैं। आफ्रिका में एक ओर तो एशिया के लोगों के साथ वर्ण भेद के आधार पर समानता का व्यवहार नहीं किया जाता-दूसरी ओर आफ्रिका के निवासियों को मानुषीय अधिकारों से वंचित किया जाता है। नए वर्ष में आइज़नहोवर के प्रेज़ीडेण्ट की गद्दी को सँभाल लेने के पश्चात् क्या कोरिया या एशिया के अन्य देश साम्यवादी प्रभाव से छूट जाएँगे और क्या इस प्रभाव से मुक्त हो कर वे स्वतन्त्रता और अपने जीवन के महत्व को कुछ अनुभव कर सकेंगे ?

साम्यवादी शक्तियाँ अपने हर एक प्लेटफ़ार्म से शान्ति के मन्त्र का पाठ कर रही हैं। वे कहती हैं कि युद्ध अनिवार्य नहीं है और संसार को शान्ति की आवश्यकता है। परन्तु विश्व में शान्ति की स्थापना होगी कैसे ? जब तक संसार में शक्ति एक दो महान् राष्ट्रों में ही केन्द्रित है और जब तक संसार अपनी रक्षा के लिए एकमात्र उन्हीं शक्तिशाली राष्ट्रों पर अवलम्बित है तब तक विश्व की शान्ति उन्हीं राष्ट्रों की इच्छा पर ही अवलम्बित रहेगी। विश्व की इस समय की अवस्था को देखते हुए यह अनुभव नहीं होता कि विश्व के महान् राष्ट्र आज विश्व में शान्ति चाहते हैं। वे तो चाहते हैं शक्ति — एकमात्र शक्ति — महान् शक्ति—ऐसी शक्ति जो अजेय हो और जिसके सम्मुख किसी राष्ट्र की कुछ न

चल सके। आज सारा वैज्ञानिक संसार समस्त बल से उसी शक्ति को प्राप्त करने में लगा हुआ है। शक्ति के पुजारी शान्ति के उपासक नहीं हो सकते। इन देशों की आज जितनी शक्ति इस अजेय विनाशक शक्ति को प्राप्त करने के लिए लगी हुई है उतनी शान्ति को प्राप्त करने के लिए नहीं। यह अवश्य है कि सभा सोसाइटियों में और कान्फ्रेन्सों में शान्ति के प्रस्ताव पास किए जा रहे हैं। जितनी शक्ति पूर्ण विनाशकारी अस्त्रों को तैयार करने में लगाई जा रही है यदि इसकी एक चौथाई शक्ति भी सत्यतापूर्वक विश्व में शान्ति की स्थापना के लिए व्यय की जाती तो विश्व में शान्ति को स्थापित करना इतना कठिन न होता। इस शक्ति को प्राप्त करने का अन्त कहाँ होगा?

पंचवर्षीय योजना

जिस प्रकार रूस में पंचवर्षीय योजनाएँ बनाई गई हैं और उनमें प्रशासन ने सफलता भी प्राप्त की है उसी प्रकार हमारे देश में भी पंचवर्षीय योजना को कई वर्षों के परिश्रम के पश्चात् बनाया गया है। अभी तक भारतवर्ष के कई राज्यों में सामूहिक कृषि योजनाएँ और नदियों की बाँध परियोजनाएँ आदि चल रही थीं परन्तु अब विस्तृत पंचवर्षीय योजना प्रस्तुत की गई है। इस पंचवर्षीय योजना का अधिकतर क्षेत्रों में स्वागत किया गया है और यह आशा की जा रही है कि यदि अवस्थाएँ अनुकूल रहीं और यह योजना पूर्ण रूप से क्रियात्मक रूप में परिणत हो सकी तो देश अनाज और आर्थिक दृष्टि से सर्वथा आत्म-निर्भर हो सकेगा। बहुत से आलोचक इस योजना की भिन्न भिन्न दृष्टियों से आलोचना कर रहे हैं। कई आलोचक इस योजना में प्रतिपादित मुख्य तत्वों का तो **समर्थन** करते हैं परन्तु उसके विस्तृत अंशों पर सन्देह प्रकट करते हैं। वे समझते हैं कि योजना के बनाने में विशेषज्ञों की सम्मति जिस प्रकार ली जानी चाहिए थी वह उस प्रकार नहीं ली गई है। कई आलोचकों का विचार है कि पंचवर्षीय योजना पर इतना अधिक रुपया व्यय होगा जितना कि हमारे गरीब देश के लिए व्यय करना सम्भव नहीं है। वे समझते हैं कि इस योजना की सफलता बहुत कुछ अवस्थाओं की अनुकूलता पर ही निर्भर करती है। यदि किसी भी प्रकार अवस्थाएँ प्रतिकूल हो गईं, लड़ाई छिड़ गई या हमारे आयात निर्यात के व्यापार में किसी प्रकार फ़र्क़ पड़ गया तो इस योजना को चलाना बहुत कठिन होगा। फिर भी इस योजना का जो सबसे आवश्यक अंग है वह है ग्रामों की अवस्था में आमूलचूल सुधार और यह अंग बहुत उपयुक्त और बुद्धिमत्तापूर्ण है। इस योजना में प्राथमिक स्थान खेती की उन्नति को दिया गया है। यह उचित भी है और स्वाभाविक भी। खेती की उन्नति बहुत कुछ सामूहिक योजनाओं पर निर्भर करती है। इन योजनाओं को जिन कार्यकर्ताओं को क्रियात्मक रूप में परिणत करना होगा उनकी कार्यक्षमता पर योजना की सफलता का बहुत कुछ आधार है। इन्हीं कार्यकर्ताओं को ग्रामवासियों के हृदयों में जो सदियों से निर्जीव हो चुके हैं नव जीवन उत्पन्न करना होगा, उनमें स्वावलम्बन की भावना को जागृत करना होगा। ये कार्यकर्ता न केवल शिक्षक होंगे परन्तु कृषि आदि के कार्यों में भी दक्ष होंगे। उन्हें किसानों के बीच में रह कर किसानों को नई प्रेरणा और नई कार्यशक्ति प्रदान करनी होगी। ये कार्यकर्ता कहाँ से प्राप्त होंगे? यूनिवर्सिटियों की शिक्षा के कारण आज का सभ्य जीवन शहरों में रहना चाहता है–ग्राम का जीवन उसे पसन्द नहीं है। इस योजना में इस प्रकार के कार्यकर्ताओं को प्रशिक्षित करने के प्रबन्ध का निर्देश किया गया है परन्तु फिर भी इस प्रकार के कार्यकर्ताओं को जुटाना सुगम कार्य नहीं है। इस पंचवर्षीय योजना के विषय में यह भी कहा जा रहा है कि यह योजना जिस प्रकार और जिस रूप में प्रस्तुत की गई है वह इस प्रकार की नहीं है कि वे लोग इसे ठीक तरह समझ भी सकें जिनके लिए कि वह बनाई गई है। योजना का उद्देश्य सर्वसाधारण में सामूहिक रूप से नव जीवन और समाज के लिए नया आर्थिक ढाँचा तैयार करना है। यदि इस प्रकार की योजनाओं को सफल करना है तो इन योजनाओं को ऐसे रूप में प्रस्तुत किया जाना चाहिए कि सर्वसाधारण इसको समझ सकें और इस पर शान्तिपूर्वक विचार कर सकें। सदियों से किसान अन्न का उत्पादन तो कर रहा है परन्तु उसने अपने देश और राष्ट्र में दिलचस्पी लेनी छोड़ दी है; उसके दिमाग़ को उर्वर करना पड़ेगा। जब वह देश और राष्ट्र के रूप में विचार करना प्रारम्भ करेगा उस समय वह न केवल इस योजना की असंपूर्णताओं की ओर ध्यान आकृष्ट कर सकेगा परन्तु वह इसे पूर्ण रूप से सफल भी बना सकेगा। योजना की सफलता उसी के प्रयत्नों पर अधिकांश में अवलम्बित है।

इस योजना में व्यवसायों के लिए विशेष गुंजाइश नहीं रखी गई है। इसे व्यक्तिगत प्रयत्नों पर छोड़ दिया गया है। अमेरिका और रूस में खेती की प्रधानता होते हुए भी उन देशों की उन्नति का महान् कारण व्यावसायिक उन्नति है। यदि हमारे देश की व्यावसायिक उन्नति न हुई तो हमारा देश एकमात्र कृषिजीवी देश और कच्चे माल को उत्पादन करनेवाला ही देश बन सकेगा। हमारे देश की जो आर्थिक अवस्था है उसको दृष्टि में रखते हुए व्यावसायिक उन्नति को एकमात्र व्यक्तिगत प्रयत्नों के आधार पर ही छोड़ा नहीं जा सकता। आशा है कि इन पंचवर्षीय योजनाओं द्वारा हमारा देश न केवल अनाज की दृष्टि से आत्मनिर्भर हो सकेगा और हमें बाहर से अनाज मँगवाने की आवश्यकता न रह जाएगी अपितु इस योजना से हमारे कृषक समाज में और ग्रामों में नया जीवन, नया सहयोग और नया समाज उत्पन्न होगा जिससे समस्त राष्ट्र को नई स्फूर्ति, नया जीवन और अगली योजनाओं के लिए नई प्रेरणा प्राप्त होगी।

पत्रों की लोकप्रियता

हमारी भाषाओं में अब दैनिक पत्र तो कुछ लोकप्रिय होने लगे हैं क्योंकि वे समाचारों को जानने के लिए पढ़े जाते हैं परन्तु अभी ऐसे साप्ताहिक या मासिक पत्रों का जो साहित्यिक या सांस्कृतिक प्रश्नों पर विचार करते हैं प्रचलन छोटे से वृत्त में ही होता है। जब तक पत्र में कुछ सनसनीदार आकर्षक वस्तुएँ न हों, कुछ चटपटा हलका साहित्य न हो और जब तक उसमें समय काटने की विनोदमय सामग्री न हो तब तक पत्र का लोकप्रिय होना कठिन है। शुद्ध और सात्विक साहित्य को पढ़नेवाले थोड़े हैं और जो थोड़े से हैं वे भी इस अवस्था में नहीं हैं कि उसे खरीद कर पढ़ सकें। जो लोग उसे पढ़ते भी हैं वे भी ऐसी दिलचस्पी के साथ नहीं पढ़ते कि वे अपने विचारों को पत्र के संचालकों तक पहुँचा सकें। परिणाम यह होता है कि हमारी पत्र-पत्रिकाएँ कुछ विद्वानों के अनुसन्धान या लेखों की विषय तो बन सकती हैं परन्तु वे प्रतिदिन के जीवन की परिधि में प्रवेश नहीं पातीं। हम समझते हैं कि जो लोग इन पत्र-पत्रिकाओं के लेखों को पढ़ते हैं यदि वे अपने विचारों और प्रतिक्रियाओं को पत्रसंचालकों तक पहुँचायेंगे तो उन्हें जहाँ अपने पाठकों के विचार ज्ञात हो सकेंगे वहाँ किसी प्रश्न पर विचार भी भिन्न भिन्न दृष्टियों से होने की संभावना भी हो सकेगी। आलोचना चाहे प्रशंसात्मक हो और चाहे निन्दात्मक—दोनों दृष्टियों से विशेष महत्वपूर्ण नहीं हो सकती जब तक कि उसमें स्फूर्तिप्रद विचार और प्रेरणा न हों। हमारी पत्र-पत्रिकाएँ तभी लोकप्रिय हो सकेंगी जब उनके लेखों का गम्भीरतापूर्वक पठन और आलोचन होगा: उन्हें कुछ उसका प्रतिस्वर (Response) प्राप्त होगा। आज पत्र-पत्रिकाओं को खरीद कर पढ़ने के लिए अपीलें की जाती हैं परन्तु हमारी अपील वहीं समाप्त नहीं हो सकती। बहुत से लोग पत्र-पत्रिकाएँ खरीदते हैं परन्तु पढ़ते नहीं हैं। कई महोदय बातचीत में कहते हैं कि जी, हमारे यहाँ बहुत-सी पत्र-पत्रिकाएँ आती हैं परन्तु पढ़ने का अवकाश ही नहीं मिलता। परिणाम यह होता है कि पत्र-पत्रिकाएँ यदि खरीदी भी जाती हैं तो भी वे जीवन के क्षेत्र में प्रवेश नहीं कर पातीं। साहित्य चाहे वह किसी भी प्रकार का क्यों न हो वक्ता और श्रोता—लेखक और पाठक दोनों के मेल से तैयार होता है। जिस वक्ता को कोई सुननेवाला नहीं है वह स्वयं खामोश हो जाएगा। एक बहरे को यदि मधुरतम कण्ठ भी प्राप्त हो तो भी वह कभी गा नहीं सकता क्योंकि उसके हृदय पर उसके गाए हुए गान की प्रतिक्रिया नहीं हो सकती। पाठक के सक्रिय सहयोग से ही हमारी पत्र पत्रिकाएँ लोकप्रियता प्राप्त कर सकती हैं। हमारे देश में क्योंकि पाठक अभी प्रबुद्ध और चैतन्य नहीं हैं इसलिए लेखक को भी जैसा प्रबुद्ध और चैतन्य होना चाहिए वह भी उसके लिए विशेष प्रयत्नशील नहीं है। लेखक की लोकप्रियता से उसके पाठकों की मनोवृत्ति का ज्ञान होता है। पत्र पत्रिकाओं की असफलता का कारण एकमात्र आर्थिक ही नहीं है यद्यपि वह भी एक बड़ा कारण है—उसका बड़ा कारण है पाठकों की उदासीनता—उनके मन पर किसी प्रकार की अनुकूल या प्रतिकूल प्रतिक्रिया का अभाव। पत्र-पत्रिकाओं का यह कर्तव्य है कि वे पाठकों के मन को प्रबुद्ध और चैतन्य करें। जब पाठकों की यह उदासीनता नष्ट हो जाएगी तभी हमारे लेखकों और पत्र-पत्रिकाओं में नई स्फूर्ति आ जाएगी और उनकी लोकप्रियता बढ़ सकेगी।

THE PRUDENTIAL CO-OPERATIVE
CENTRAL & URBAN BANK LTD.,
Kingsway, SECUNDERABAD-Dn.

★

BRANCH : **HYDERABAD.** PHONE NO. **7195**

TRANSACTS BANKING BUSINESS
OF EVERY DESCRIPTION.
Office Safety Facilities In Uptodate Underground
Safe Vaults.

●

A. H. VENKAT RAO B. A., LL. B.,
Honorary Secretary.

L. N. GUPTA, I. A. S
President.

तार का पता : हिन्दी टेलीफ़ोन नं. ४४५०

हिन्दी, तेलुगु, मराठी और अंग्रेज़ी
की सब तरह की सुन्दर छपाई
के लिए हमेशा याद रखिये।

हि
न्दी
प्रे
स

हैदराबाद राज्य हिन्दी प्रचार सभा
श्रीराम हिन्दी भवन
नामपल्ली • स्टेशन रोड • हैदराबाद-द.

హైదరాబాద్ రాజ్య
హిందీ ప్రచార సభ
తమరికి హిందీ, తెలుగు మఱియు ఇంగ్లీషు
భాషలలో తప్పులు లేకుండ అందమైన
అచ్చుపనులు కావాలంటే
తమ నగరములోనే
హిందీ ప్రెస్
కే దయచేయండి.
నాంపల్లి స్టేషన్ రోడు, హైదరాబాద్ (దక్షిణ.)
టెలిఫోన్ ౪౪౫౦ టెలిగ్రాం "హిందీ"

हिन्दी के उत्तमोत्तम
तथा उच्च
श्रेणी
के

सा
साहित्य
त्य

की
प्राप्ति के लिए एकमात्र
स्थान

हैदराबाद राज्य हिन्दी प्रचार सभा

श्रीराम हिन्दी भवन, नामपल्ली रोड : हैदराबाद-द.

टेलीफोन नं. ५४५० ❋ तार—"हिन्दी"

प्रकाशक :—प्रियबन्धु, हिन्दी प्रेस, हैदराबाद राज्य हिन्दी प्रचार सभा, हैदराबाद-द.

अजन्ता

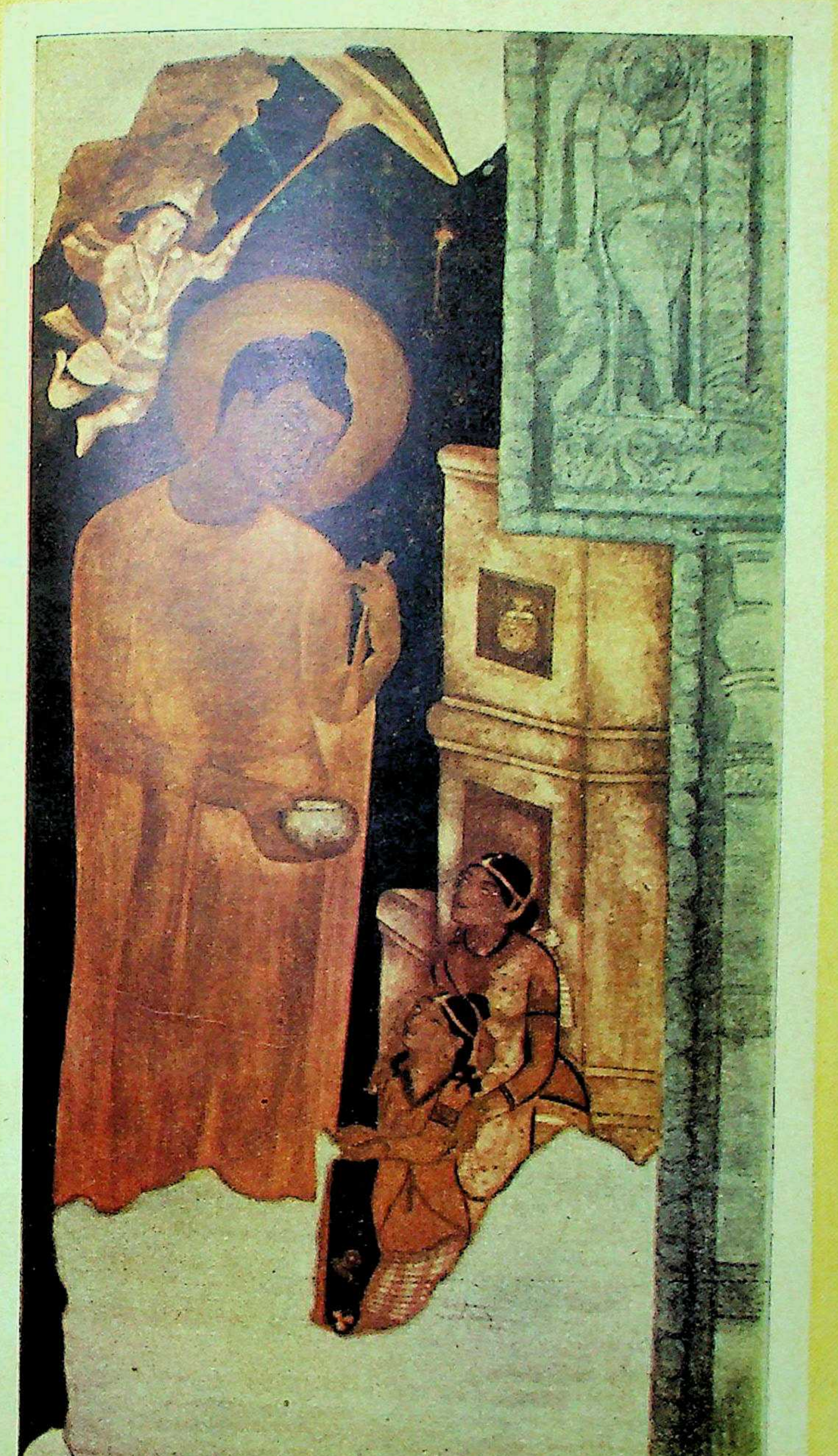

वर्ष ७

फरवरी १९५३

अंक २

हैदराबाद राज्य हिन्दी प्रचार सभा

राजस्थान, पंजाब, मध्यप्रदेश, हैदराबाद, मैसूर, त्रावणकोर और मद्रास राज्यों के
शिक्षा विभाग द्वारा स्वीकृत

इस अंक में :

सोमनाथ गुप्त
भगवतशरण उपाध्याय
चन्द्रबली पांडे
जयदेव विद्यालंकार
ललित सहगल
उदयशंकर भट्ट

निःशङ्क
पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश'
रामेश्वर दयाल दुबे
दीप्ति

●●

अगले अंक में :

प्रो० ओ. सी. गांगुली
आदित्य मिश्र
विष्णु प्रभाकर
ज़हूर बक्श
डा० जयदेव विद्यालंकार

दुष्यन्त कुमार
ओंकारनाथ श्रीवास्तव

वार्षिक मूल्य : ६ रुपए
एक अङ्क १ रुपया

पश्चिमोत्तर भारत की प्रमुख हिन्दी मासिक पत्रिका

विश्व ज्योति

सम्पादक-(१) **श्री विश्वबन्धु शास्त्री**, M. A., M. O. L. (पं) O. d' A. (फ्रां.) Kt. C. T. (इट.)
(२) **श्री सन्तराम**, बी. ए.

संचालक-**श्री विश्वेश्वरानन्द**, वैदिक संस्थान, साधु आश्रम, होश्यारपुर.

गत मार्च से प्रारम्भ होकर अल्प काल में ही इस पत्रिका ने अपनी विशेषताओं के कारण हिन्दी-जगत् में अपना विशिष्ट स्थान बना लिया है।

विश्व हित की साधना के लिए :—

(क) शुद्ध सांस्कृतिक साहित्य का सृजन, (ख) प्राचीन और नवीन ज्ञान-विज्ञान का समन्वय,
(ग) बौद्धिक क्रांति और नई चेतना का जागरण, (घ) अन्याय-पूर्ण सामाजिक विषमताओं का दूरीकरण,
(ङ) सभी प्रकार के विचारों का निष्पक्ष अध्ययन और आलोचन करना ही **विश्व ज्योति** का लक्ष्य है।

इसे तुरन्त मँगाइए और लाभ उठाइए। **वार्षिक चन्दा— ८) रुपए भा० मु०**

परन्तु १०) रुपए वार्षिक चन्दा देकर विश्वेश्वरानन्द वैदिक संस्थान के सदस्य बन जाने पर भेंट के रूप में मुफ्त।

पत्र व्यवहार का पता :—

व्यवस्थापक, विश्व ज्योति, साधु आश्रम होश्यारपुर, (पंजाब)

INFANTONE

बच्चों के सब प्रकार के पेट के रोगों पर सर्व परीक्षित लाभदायक औषधि

Keeps baby cheerful

हैदराबाद केमिकल एँड फारमास्युटिकल वर्क्स लि०
आज़माबाद, हैदराबाद (दक्षिण)

Education
Start - in - Life
Marriage of your children
Assured without any
embarrassment
Besides a comfortable old age
for you
for All Types Of Insurance
Consult:-

THE
HYDERABAD CO-OPERATIVE
INSURANCE SOCIETY Ltd.
Bashir Bagh Road, Hyderabad-Dn.

THE
Twin Co-operative Insurers
Head Office : **Bashir Bagh Road, Hyd.Dn.**

1. The Hyderabad Co-operative Insurance Society Ltd.

A POLICYHOLDERS' SOCIETY

Assets as at 31-12-51 exceed Rs. 80 Lakhs. (for Co-operative Life Assurance only.)

2. The Co-operative General Insurance Society Ltd., (for Fire, Motor, Accident and Misc. Insurance.)

State and District Positions Available
For REALLY EFFICIENT
FIELD WORKERS.

Write in condidence to the General Manager.

यौन एवं स्वास्थ्य सम्बन्धी एकमात्र सचित्र हिन्दी मासिक

रंजना

अत्यन्त उच्च कोटि की श्लील पत्रिका होने के नाते रंजना को निःसंकोच सभी के हाथों में दिया जा सकता है। यह दाम्पत्य जीवन को सुखमय बनाने का एकमात्र साधन है। नारी पुरुष के इतने निकट रहते हुए भी उसके लिए सृष्टि के आदि से ही एक पहेली रही है। **रंजना** नारी के समझने में आपकी सहायक होगी।

रंजना में आपको यौन विषयक देश-विदेश के डाक्टरों एवं मनोवैज्ञानिकों के लेख मिलेंगे। यौन चिर-उपेक्षित विषय रहा है, किन्तु है वह अत्यन्त अपेक्षित। नवीन दिशा में अग्रसर होकर **रंजना** ने वास्तव में हिन्दी जगत् में क्रान्ति मचा दी है।

यदि आप अभी तक ग्राहक नहीं हैं
तो शीघ्र ग्राहक बनें तथा मित्रों को भी बनाएँ

वार्षिक मूल्य ६) :— —: एक प्रति का ॥) :— **—: अर्द्ध वार्षिक ३)**

व्यवस्थापक :— **रंजना** १७/५, महात्मा गांधी मार्ग, कानपुर

THE

Hyderabad Co-operative Dominion Bank Ltd.

[Estd. MARCH 1915]

Telephone : 4610
Telegram : DOMINBANK

Sub Offices :
PATHER GATTI,
UNIVERSITY BRANCH
(Adickmet)

Head Office :
SHAHRAH-E-OSMANI
HYDERABAD-DECCAN.

Branches :
JADCHARLA (Dt, Mahboobnagar) THUNGABHADRA PROJECT (Munirabad)

1. CURRENT ACCOUNTS are opened free of charge and interest is allowed at 1½% per annum.
2. SAVING DEPOSITS are accepted and interest is allowed at 2% per annum.
3. SPECIAL SAVINGS DEPOSITS are accepted and interest is allowed at 1½% per annum.
4. DRAFTS are issued on all important COMMERCIAL CENTERS and within the HYDERABAD STATE.
5. PENSIONS, MANSABS, etc, are collected on commission basis, premiums remitted & all standing instructions on behalf of the customers carried out.

SAFE DEPOSIT LOCKERS & VAULUTS are available at HEAD OFFICE.

BANKING BUSINESS OF EVERY DESCRIPTION TRANSACTED

K SUNDARAVARADACHARI,
GENERAL MANAGER.

RAI DILSUKH RAM,
CHAIRMAN.

FIRE: **ACCIDENT:** **MARINE:**

THE HYDERABAD UNITED INSURANCE CO., LTD.,

SPONSORED BY

THE GOVT. OF HYDERABAD.

Post Box No. 164, Abid Road, HYDERABAD-Dn.

Telegram: ***HUICOL***
Telephone: ***5579***

Chairman:
L. N. GUPTA Esq. I. A. S.,

General Manager:
H. D. MEHTA Esq.

BRANCHES : ***Bombay, Calcutta, Madras, Nizamabad & Manchirial.***

'HIND'

पढ़िए !   पढ़िए !!

आज ही से ग्राहक बनिए ।

हिन्दी की सबसे पुरानी

तथा सर्वोत्कृष्ट

मासिक पत्रिकाएँ

सरस्वती : वार्षिक मूल्य ७॥)

बालसखा : वार्षिक मूल्य ४)

सम्पादक — **पदुमलाल पुन्नालाल बख्सी**

जीवन साहित्य

हिन्दी के उन मासिक पत्रों में से है जो

१. लोक रुचि को नीचे नहीं, ऊपर ले जाते हैं,
२. मानव को मानव से लड़ाते नहीं, मिलाते हैं,
३. सच्ची और स्थायी शान्ति को असंभव नहीं, संभव बनाते हैं,
४. आर्थिक लाभ के आगे झुकते नहीं, सेवा के कठोर पथ पर चलते हैं,

जीवन साहित्य की सात्विक सामग्री को छोटे बड़े, स्त्री-बच्चे सब निःसंकोच पढ़ सकते हैं। उसके विशेषांक तो एक से एक बढ़ कर होते हैं।

जीवन साहित्य विज्ञापन नहीं देता। केवल ग्राहकों के भरोसे चलता है। ऐसे पत्र के ग्राहक बनने का अर्थ होता है राष्ट्र की सेवा में योग देना।

वार्षिक शुल्क के ४) भेज कर ग्राहक बन जाइए ।

ग्राहक बनाने पर मण्डल की पुस्तकों पर आपको कमीशन पाने की भी सुविधा हो जाएगी ।

सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली

कल्पना के

इस अंक का सम्पादन :
सर्वश्री जगदीशमित्तल,
,, दिनकर कौशिक तथा
,, के. एम. कुलकर्णी
कर रहे हैं।

विशेषांक का मूल्य रु० ५) होगा।

मार्च तक रु० १२) भेज कर ग्राहक बननेवालों को विशेषांक के लिए अतिरिक्त मूल्य नहीं देना पड़ेगा।

कला अंक की योजना

कला अंक के सम्पादन और प्रकाशन को शत प्रतिशत सफल बनाने के लिए कला-जगत् के प्रख्यात व्यक्तियों की एक सलाहकार समिति बनाई गई है।

सहकार समिति के सदस्य

१ डाक्टर स्टेला क्रैमरिश
२ डाक्टर हरमन ग्वेत्स
३ डाक्टर वासुदेव शरण अग्रवाल
४ डाक्टर मुल्कराज आनन्द
५ श्री अजित घोष
६ श्री जी. वेंकटाचलम
७ श्री कार्ल जे. खण्डेलवाल
८ श्री पृथ्वीश नियोगी
९ श्री विनोदबिहारी मुखर्जी

इस अंक का प्रसार राष्ट्र के कोने कोने में ही नहीं, विदेशों के प्रमुख केन्द्रों में भी करने की योजना है। "कल्पना" के माध्यम से विज्ञापनदाता अपनी विज्ञाप्य वस्तुओं का प्रचार देश विदेश में कर सकते हैं।

विशेष विवरण के लिए लिखिए :

व्यवस्थापक 'कल्पना' ८३१, बेगम बाज़ार, हैदराबाद दक्षिण

अजन्ता

सचित्र मासिक पत्रिका

वर्ष ५ फरवरी १९५३ अङ्क २

सम्पादक

वंशीधर विद्यालंकार
श्रीराम शर्मा

—: संचालक :—

हैदराबाद राज्य हिन्दी प्रचार सभा

अनुक्रमणिका

पृष्ठ संख्या

१ नदी का गीत
वंशीधर विद्यालङ्कार १

२ मैं गाता हूँ इसलिए कि मुझको जीवन प्यारा है
लक्ष्मीशङ्कर मिश्र 'निशंक' एम. ए. ३

३ वे और ये
दीप्ति ४

४ मुक्ति का पर्व
पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' एम. ए. ६

५ नए गीत मेरे नई चेतना दें
रामेश्वरदयाल दुबे, एम. ए. ८

६ गान और नृत्य-चीन
भगवतशरण उपाध्याय ९

७ संस्कृति-संघर्ष : स्वरूप और कारण
सोमनाथ गुप्त १४

८ भारत के प्रमुख वाद्ययन्त्र
ललित सहगल १७

९ अरविन्द का दर्शन
मोहन, एम. ए. २१

१० सूझ किसकी है
चन्द्रबली पाण्डे २४

११ कृष्णमिश्र का काल और जीवनवृत्त
जयदेव विद्यालङ्कार २६

१२ कामायनी में काम का स्वरूप
आनन्द-प्रकाश दीक्षित, एम. ए. ३०

१३ मानस पर अन्य ग्रन्थों का प्रभाव
हरिकृष्ण मालवीय, एम. ए. ३७

पृष्ठ संख्या

१४ हब्बा खातून
वसु व्यास "अनल" ४०

१५ अन्तरात्मा और संस्कार
राजेन्द्र यादव, एम. ए. ४५

१६ लघु कथाओं के प्रयोग
श्री सत्य ४९

१७ क्रोध का उपचार
दीनानाथ सिद्धान्तालङ्कार ५३

१८ नारियल की कहानी
एम. सईदुद्दीन ५५

१९ दक्षिण यात्रा
उदयशङ्कर भट्ट ५९

२० चिट्ठी-पत्री ६६
(१) रामगोपल शुक्ल
(२) आनन्द प्रकाश दीक्षित
(३) उदय सूर्य
(४) बैजनाथ चतुर्वेदी

२१ नीर-क्षीर ७०
(१) वंशीधर विद्यालंकार
(२) राजकिशोर पांडे

२२ सामयिक ७३
(१) खलील जिब्रान
(२) कहावतें
(३) अंग्रेज़ी का भविष्य
(४) द्राविड़ भाषाएँ

२३ सम्पादकीय
वंशीधर विद्यालङ्कार ७८

चित्र

वासक सज्जिता (श्रृंगार मंजरी) ∴∵∴ पुरातत्व विभाग हैदराबाद के सौजन्य से

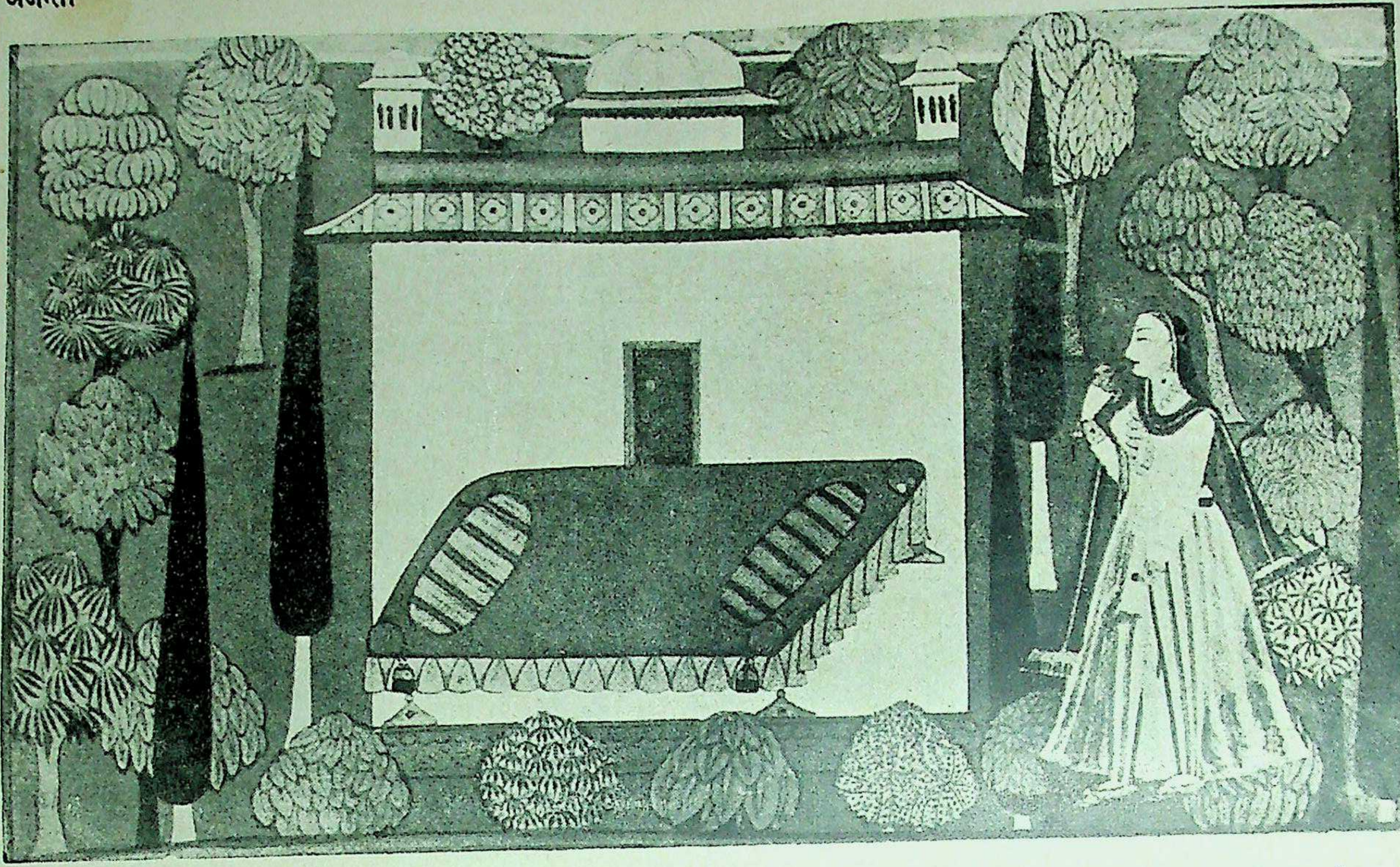

वासकसज्जिता
(शृंगारमंजरी)

पुरातत्व विभाग हैदराबाद
के सौजन्य से

अजन्ता
SAGALANDKER

वर्ष ५ | फरवरी १९५३ | अङ्क २

नदी का गीत

मैं आती हूँ—मैं आती हूँ
मेरी गति में है गीत यही मैं आती हूँ-मैं आती हूँ

सब ओर अचल है मार्ग कहाँ ?
मैं जिधर चलूँ है मार्ग वहाँ
ये रह जाएँगे खड़े यहाँ
मैं धीरे धीरे सरक सरक कर मार्ग बनाती आती हूँ

मैं नाच नाच कर चलती हूँ
भावों में भरी उछलती हूँ

मैं सीधी कभी न चलती हूँ
मैं क़दम क़दम पर बल खाती, इठलाती, गाती आती हूँ

मैं मरु की प्यास बुझाती हूँ
मैं धरती को सरसाती हूँ
मैं जग में जीवन लाती हूँ
मैं ग्राम ग्राम औ' नगर नगर आबाद कराती आती हूँ

मैं अभी यहाँ हूँ अभी वहाँ
मुझको मिलता विश्राम कहाँ
मैं चल कर होती अचल यहाँ
सम्बन्ध न रख कर भी सब से सम्बन्ध बनाती आती हूँ

घर से निकली तब थी कितनी
आगे आगे चलती जितनी
मैं बढ़ती जाती हूँ उतनी
बनने असीम सीमाओं को मैं दूर हटाती आती हूँ

थोड़े से जल की सरिता थी
मैं चलते चलते चल निकली
मैंने सारी धरती नापी
मैं अपनी विजय पताका को जग में फहराती आती हूँ

मैं आती हूँ—मैं आती हूँ

उस्मानिया यूनिवर्सिटी,
हैदराबाद दक्षिण

—वंशीधर विद्यालङ्कार

मैं गाता हूँ इसलिए कि मुझको जीवन प्यारा है

मैं गाता हूँ इसलिए कि मुझको जीवन प्यारा है।
मेरे गीतों की लहर लहर में यमुना लहराती,
मेरी उलझन के भँवर भँवर में गंगा मुसकाती,
सुख दुख के दोनों कूल मिला कर एक किए मैंने
मधु ऋतु की मलयज मेरे ही गीतों को दुहराती,

पिक के स्वर से गूँजा करते हैं मेरे गीत नए,
मैं गाता हूँ इसलिए कि मुझको मधुबन प्यारा है।

मैंने अमृत की आशा की, तो लोचन भर आए,
मेरे अधरों पर प्यास जगी तो बादल घिर आए,
बिजली–सी उनकी याद चमक कर मुझ में समा गई,
चातक से मेरे प्राण खिले क्षण भर फिर मुरझाए,

बरसा करता है प्यार मगर मैं प्यासा का प्यासा,
मैं गाता हूँ इसलिए कि मुझको सावन प्यारा है।

मैंने दुनिया की ठोकर को, प्राणों से दुलराया,
मैंने अपनी ही भूलों की शूलों से सहलाया,
पीड़ा का देकर अर्घ्य, साधना के दो दीप जला,
मैंने साधों को बाँध, हास अधरों पर बिखराया

मैं असफलता पर जीवन का श्रृङ्गार लुटाता हूँ
मैं गाता हूँ इसलिए कि मुझको यौवन प्यारा है!

कान्यकुब्ज कॉलेज,
लखनऊ

—लक्ष्मीशंकर मिश्र "निशंक"
एम. ए.

वे

सित असित सघन
वे पावस-घन !

विद्युत् के तीखे शर साधे
वर्षा-कजरारी चितवन से,
या आतप-आकुल अवनि देख
अम्बर के भर आए उर से;
आए थे उमड़-घुमड़ घिर-घिर
सित असित सघन
वे पावस-घन !

अभिशाप-तपन मृतप्राय भुवन
बन नव जीवन के वरद-हस्त,
दायित्व महान् निभाते निज,
तन-प्राण मिटाते विहँस, मस्त;
छाए थे झुक झुक झूम-झूम
सित असित सघन
वे पावस-घन !

सरिता-सर-सरस सजलता मृदु,
विजड़ित जग-पग-गति लौटाते;
वन-श्री आँचल भर मुकुलों से,
वसुधा की कोख हरी करते;
आए छाए बरसे थे, सखि
सित असित सघन
वे पावस-घन !

ये

शशि-शरद-शुभ्र
ये शरद-अभ्र !

हिम-धवल कपोतों से मंजुल,
अति मृदुल तूल के फाहों से,
या नभ-उर रह रह मँडराते
वर्षा की शेष मधुर सुधि से;
उजले उजले बिखरे निखरे
शशि-शरद-शुभ्र
ये शरद अभ्र !

ये गर्जनमय घनघोर नहीं
पावस--घन से यौवन-मदमय,
शिशु से समस्त दायित्व-मुक्त
नभ-आँगन शैशव क्रीड़ामय;
मृदु पवन-अंक सहमे सिहरे
शशि-शरद-शुभ्र
ये शरद-अभ्र !

मस्तिष्क-हृदय पर छा जाए
वह प्रखर प्रखरता कब इनमें ?
नयनों में सहज समा जाए
वह सहज सुघरता बस इनमें,
सुधि से उभरे, निज सुधि बिसरे
शशि-शरद-शुभ्र
ये शरद-अभ्र !

लखनऊ

—दीप्ति

मुक्ति का पर्व

है आज मुक्ति का पर्व धरा के बेटों का
यह देख धरित्री का मानस लहराता है
आषाढ़ मास की मादकता भर आँखों में
अम्बर का रसिया रस गगरी छलकाता है

हरियाली की आभा से सज्जित कर तन को
पेड़ों-पौधों का यौवन बीन बजाता है
सूरज से मिल कर चाँद-सितारे नाच रहे
विहगों का दल का दल स्वर-ताल मिलाता है

पहुँची प्रकाश की किरणें कुटियों के भीतर
जड़ता के तम के नाग निकल कर भाग गए
निष्क्रियता की निद्रा में सोए जन के मन
सहसा नवयुग की शंख ध्वनि सुन जाग गए

आरंभ हो गया लो शोषण के पतझड़ का
समता का सुन्दरतम वसन्त अब आएगा
जो कण्ठ रहा पूँजी के पंजों में जकड़ा
वह खुलकर के, अब नए तराने गाएगा

धरती में गहरी जाकर अब हल की नोकें
सोने के छिपे खज़ाने ऊपर लाएँगीं
उन्मुक्त रागिनीमयी घण्टियाँ बैलों की
हलधर के मन में नव विश्वास जगाएँगीं

मुक्ति का पर्व

जीवन की सुविधाओं से वंचित होकर के
गाँवों के नव युवराज न अब दम तोड़ेंगे
सभ्यता बन्दिनी थी जो अब तक महलों में
उसको वे अपने घर में लाकर छोड़ेंगे

विज्ञान बपौती नहीं रहेगा नगरों की
उसको गाँवों को स्वर्ग बनाना ही होगा
सदियों पहले श्री हरी गई है जो उनकी
उसको लाकर फिर उन्हें सजाना ही होगा

सब कुछ होगा लेकिन बस इतना ध्यान रहे
श्रम की पुजा का भाव नहीं घटने पाए
जिनके तप से धरती का यह स्वामित्व मिला
मन से उनकी स्मृति कभी नहीं हटने पाए

संक्रान्ति काल की बेला है सब सजग रहो
गतिहीन बना कर तुम्हें प्रमाद न हँस पाए
तूफ़ानों से रक्षित स्वदेश की यह नैया
तट तक आते आते न भँवर में फँस जाए

आगरा कालेज,
आगरा

—पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश'
एम. ए.

नए गीत मेरे नई चेतना दें

नए गीत मेरे नई चेतना दें ।

थका हो पथी, स्वेद भू सींचता हो,
कि निस्तेज, असहाय दृग मींचता हो,
असह भार ऐसा, कि पद डगमगाए,
कि पीछे पकड़ कर उसे खींचता हो,
निराशा-विजित, भ्रान्त-से, क्लान्त नर को
नये गीत मेरे, नई प्रेरणा दें ।

न हो स्फूर्ति, उल्लास, रस-हीन-जीवन,
जो जीवित भले, किन्तु हो मर गया मन,
झुका भाल, निर्जीव शीतल-उसासें,
पतन के किनारे खड़ा काँपता तन,
सृजन की सलोनी, उन्हें प्राणदायी,
नए गीत मेरे, नई कल्पना दें ।

चरण को मिले गति, सबल हों भुजाएँ,
बने धूल ही, शैल जो बीच आएँ,
नए जागरण के नए गान गूँजें,
चरण चूमने को विजय-पर्व आएँ,
मनुज को नई शक्ति विश्वास देने,
नए गीत मेरे, नई भावना दें ।

राष्ट्रभाषा प्रचार समिति,
वर्धा

—रामेश्वरदयाल दुबे
एम. ए.

गान और नृत्य—चीन

[श्री भगवतशरण उपाध्याय ने हाल ही में चीन की यात्रा की है। प्रस्तुत लेख में उन्होंने वहाँ के अपने अनुभवों को 'अजन्ता' के लिए लिखा है।]

एक शाम शान्ति-सम्मेलन के प्रतिनिधियों के लिए 'वेराइटी'-प्रदर्शन हुआ। वेराइटी में कई प्रकार के परस्पर असम्बद्ध नृत्य, गान आदि के दृश्य होते हैं। अनेक संस्थाओं ने मिल कर वह प्रदर्शन किया था जिसमें दृश्य पर दृश्य खुलते गए और मनोरंजन के साथ साथ चीनी जीवन की प्रगति आँखों के सामने उतरती गई। ११ दृश्य गान, नृत्य और अभिनय के एक के बाद एक रंगमंच पर प्रदर्शित हुए और हमने चीनी ललित कला के माधुर्य का निकट से आस्वादन किया।

पहला प्रोग्राम कोरस था—'शान्ति के लड़ाकों का अभिवादन!' गान को शब्द दिए थे कुओ मो–रो ने और उसके स्वर साधे थे लियाँग हान–कुआँग ने। अनेक लोग कुओ मो–रो को राजनीतिज्ञ या इतिहासकार मात्र जानते हैं। परन्तु कुओ मो–रो मूल रूप में साहित्यकार हैं और साहित्यकार भी सर्वतोमुखी प्रतिभावाले-समीक्षक, उपन्यासकार, कवि। इस कोरस को शब्द उसी ने दिए थे। गान उन शान्ति प्रतिनिधियों को समर्पित था जो मानव जाति की शान्ति और स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए शान्ति सम्मेलन में भाग लेने के लिए हज़ारों मील चल कर पीकिंग आए थे। 'कोरस' पीकिंग और शेष चीन की जनता की आवाज़ था। यह आवाज़ वस्तुतः संसार के सभी शान्ति-प्रिय जनता को पुकार रही थी जिसमें वह शान्ति की रक्षा में उस संघर्ष के लिए सन्नद्ध हो जाए जिसकी विजय अनिवार्य है।

दूसरा कोरस (चेयरमैन माओ से-तुङ्ग के प्रति गाया गया गीत) उद्गूरों ने गाया, तातार अल्प संख्यकों ने जिनकी लोक-चेतना उतनी ही प्रकाशवान् है जितने विविध उनके वस्त्रों के चित्र-विचित्र वर्ण दिखाई देते हैं। गान में अमनुज-कर्मा-माओ की प्रशस्ति थी परन्तु प्रशस्ति ऐसी जिसकी प्रत्येक इकाई सत्य की ईंट थी। मधुर, स्वस्थ, प्रसन्न अनेक कण्ठों की एकस्वरता धीमी और सशक्त आवाज़ में बिखर–निखर हाल में पसर चली। अल्पसंख्यक उपकृत जनता की यह कृतज्ञ एकस्वरता थी, उस अल्पसंख्यक जनता की जिसके अधिकारों की माओ ने न केवल रक्षा की थी वरन् उसके आवश्यक अंगों का गठन किया था। अल्पमतीय भ्रातृसंज्ञक जनता चेयरमैन माओ के प्रति अपने प्रेमोद्गार उद्गीरित कर चली। गान को शब्द अब्दुल क़रीम ने दिए थे, ध्वनि लिऊ चिह्न ने दी थी। उद्गूर मुसलमान हैं।

तीसरा कोरस पीकिंग के शान्ति सम्मेलन की कल्याणमयी छाया से अखिल संसार को एक हृदय हो जाने की पुकार कर रहा था। मधुर कम्पितवाणी अभिराम स्वर से ध्वनि में ओज भरती दिशाओं में बह चली। गान वही था जिसे तरुणों और छात्रों के शान्ति के तीसरे अखिल विश्व त्यौहार के अवसर पर संगीत स्पर्धा में दूसरा पुरस्कार मिला था। चीनी जनता के नए क्रान्तिकारी आशावाद और संसार की शान्ति की रक्षा में उनके दृढ़ विश्वास का वह सस्वर राग था। पहाड़ों को लाँघ जाने वाला, वन की गहराइयों को स्पंदित कर देने वाला, आकाश के व्यापक अन्तराल को भेद देने वाला। शैली उसकी सर्वथा राष्ट्रीय थी, चीनी जनता का अत्यन्त लोक प्रिय गान जिसके शब्द चाओ त्से ने रचे थे, सू सी-सिएन ने जिसे स्वर दिया था।

फिर उत्पादन की प्रशंसा में गायन का समवेत स्वर कर्मठ श्रमिकों को पुकार उठा। उत्पादन जीवन का आधार है जो पृथ्वी-पुत्रों का माता–भूमि से कार्य–कारण सम्बन्ध उत्पन्न करता है। गान उत्तर चीन का था, उसके मधुर लोक–गीतों की एक सादी कड़ी। उन्मुक्त चीनी किसानों के उस उत्पादन का प्रयास उसमें ध्वनित था जिसके जरिए वे अमरीकी आक्रमण के विरुद्ध लड़नेवाले कोरिया के योद्धाओं की मदद कर रहे हैं। कहना न होगा कि गीत नए लोक–गायन का एक नमूना था जो चीन के नए जीवन को व्यक्त कर रहा था।

फिर कोरस का अन्तिम गीत गाया गया—'गरज,

गरज, हे पीत नद !' उसे शब्द-ध्वनि कुआंग वेई-जान ने दी थी और स्वर सी सिग-हाई ने । पीली नदी के प्रति अनेक गीत गाए गए हैं उनमें यह आठवाँ पद है-'गरज, गरज, हे पीत नद ।' उसे जापानियों के विरुद्ध संघर्ष करते हुए चीनी योद्धाओं ने गाया है । शिथिल बाहुओं में ओज भर देनेवाला गान था वह । दर्शकों के अंग-अंग में स्फूर्ति भर गई । लगा, जैसे ऋग्वेद के उपकृत ऋषि शत्रुओं के विनाश के अर्थ वितस्ता-चन्द्र-भागा का आह्वान कर रहे हों । आज भी जब तब चीनी कोरस का वह आह्वान स्मृति में उमग उठता है ।

दूसरा दृश्य चीनी क्लासिकल नृत्य का था । नाम उसका था 'ना चा' । पास में बैठे एक मित्र ने हाथ की प्रोग्राम-पुस्तिका का वह प्रसंग खोल कर पूछा-यह 'ना चा' क्या हमारे नाच से कुछ सम्बन्ध रखता है ? ध्वनि जरूर भारतीय नर्तन की परिचायक है परन्तु इस चीनी शब्द का उससे कोई सम्बन्ध नहीं । 'ना चा' चीनी लोक साहित्य का एक वीर तरुण है । प्राचीन आख्यानों के अनुसार सुदूर अतीत में प्रागैतिहासिक काल में अलौकिक शक्तियों का मानव रूप में अवतरण संसार की प्रायः सभी जातियों के पुराणों की साधारण घटना रही है । चीनी पुराण में समुद्र का जल दैत्य जो वस्तुतः चीनियों की दृष्टि में जल का सम्राट् है, प्रति वर्ष तूफ़ान उठाता है । निर्भीक तरुण ना चा समुद्र के अतल तल में बने दैत्यराज के स्फटिक प्रासाद को तोड़ देता है । उस पाताल के वीर ना चा से लपट पड़ते हैं परन्तु वह एक एक को निर्जीव करता जाता है । यह नृत्य समुद्र के भीतर चलनेवाले उस महासमर को ही व्यक्त करता है । नृत्य के साथ-साथ मधुर गान चल रहा था जो अनेक बार युद्ध की उग्रता को द्विगुणित कर देता था ।

अगला दृश्य गायन का था । वाद्य के साथ गान, जो साधारणतः वोकल सोलो कहलाता है । इस दृश्य में दो गान थे । दोनों चीनी लोक साहित्य से चुने गए थे । पहला उत्तरी शेंसी लोक गीत का नमूना था और दूसरा शेंसी लोक-साहित्य का । पहले गान का नाम था लाँग हुआ-हुआ—नील फूल । लाँग हुआ-हुआ सुन्दर कुमारी का नाम है । गीत के भाव नितान्त तरल और मर्मस्पर्शी थे । कुमारी के भावबंधन, प्रेम के उद्गार स्वर के माध्यम से फूट पड़े थे, सहसा । क्योंकि अब अधिक वह अपने भावों को दबाए न रह सकी थी । उद्गार में विकल क्षोभ भी भरा था । जो उस सामन्ती विवाह प्रथा के विरुद्ध था जिसने उसके हृदय को बरबस एक जमाने तक मूक कर रखा था । दूसरा गान भी हू क़िस्म के शेंसी प्रान्त में खेले जानेवाले नाटकों के क़िस्म का था । चीनी किसानों को यह बड़ा प्रिय है जो अक्सर इसे गाते हैं । एक आदमी जब किसी फूल का नाम लेकर गाता है तो दूसरा दूसरे फूल का नाम लेकर गाता है और इस प्रकार गीतों का यह सिलसिला चलता है । यह दूसरा गीत इसी प्रकार का, फूलों के कथोपकथन का, स्वर वितरित करता था ।

चौथे दृश्य में वाद्ययन्त्र मुखरित हो चले । लोकगीत वाद्यों के सहारे लोगों के हृदयों को छूने लगे । यह साज जो बजा स्वयं पारम्परिक ड्रामा का एक अंग है और इसमें एकत्र स्वर-संधान बाँसरी, सिंघी, सीटी और देहाती बिगुल का होता है । चीनी राष्ट्रीय वाद्य-यन्त्रों की शक्ति को इस संगीत ने प्रभूत मात्रा में प्रदर्शित किया ।

अगला दृश्य नृत्य का था, रेशमी दुपट्टों के नृत्य का । उसे किंग मिंग ने आयोजित किया था । उस प्रकार का नृत्य चीन का मात्र अपना है । अपनी यात्राओं के समय अनेक देशों में अनेक प्रकार के नृत्य देखे थे परन्तु इस प्रकार का कहीं न देखा । रंगबिरंगी रेशमी चादरों का इसमें प्रयोग होता है । रंगबिरंगी चादरें आज़ादी और आनन्द के प्रति चीनी जनता की आशा और विश्वास, प्रगट करती हैं । तुन हुआंग के भीत्ती-चित्रों से उड़नेवाली अप्सराओं की आकृतियाँ लिखी हैं, उन्हीं की जिनके अभिराम चित्र प्रोग्राम-पुस्तिका के आवरण पृष्ठ पर छपे हैं । चित्र न केवल अजन्ता की चित्रकारिता से प्रभावित हैं वरन् वहाँ की अनेक आकृतियों की प्रायः नक़ल हैं । उड़ती हुई इन विद्याधरियों के रेशमी उत्तरीय हवा में घूर्णित अवलंबित रहते हैं । उन्होंने ही चीनियों के इस नृत्य को विशेषतः गति दी है । इस प्रकार की रेशमी चादरों के नृत्य का उपयोग चीनी क्लासिकल ओआ में भी बदलते मेघों और इन्द्रधनुष के निदर्शन के अर्थ होता है । अब चीनियों ने पुराकाल के लोकनृत्य तथा क्लासिकल ओआ के रेशमी दुपट्टों के नृत्य को एकत्र कर उन्हें और परिष्कृत कर लिया है । यह नृत्य चीनी जनता के संघर्षमय नित्य के जीवन की क्रान्तिमयी आशा और उत्साह को प्रदर्शित करता है । हम उठती गिरती

हवा में सहसा चित्र लिख देती-सी रेशमी चादरों का नर्तन-दृश्य देख कर चकित रह गए। चादरों का वेग तो कितनी बार ऐसा तीव्र हो जाता था कि लगता था जैसे वे अधर में स्तंभित हो गईं। अनेक नर्तकों के दोनों हाथों में विविध रंग के पट आन्दोलित वर्णमय समुद्र की विभिन्न लहरों-से प्रतीत होते थे। नेत्रपथ में जैसे ही एक पट की भंगी चित्र-रचना करती वैसे ही दूसरी उसमें अपना खम डाल देती और उसमें तीसरी अपना, और फिर इसी प्रकार उनका एक अटूट सिलसिला।

इन्टरवल हुआ। छोटा सा दस मिनट का इन्टरवल। बगल के बड़े हाल में लोग सरक गए। वहाँ गरम, ठण्डे सभी प्रकार के पेय रखे थे। सिग्रेट का धुआँ ऐंठता हुआ सिरों पर छाए था। लोगों के गले लगने, हाथ मिलाने, स्त्रियों के परस्पर चूमने, लोगों के बधाई, धन्यवाद आदि के शब्द से वातावरण गूँज रहा था। हँसी का हिलोर चल रहा था जो देर तक नहीं चल सका। रंगमंच की घण्टी ने अगले दृश्यों की याद दिला दी और लोग अपनी अपनी जगहों पर उल्टे भागे क्योंकि रंगमंच का आकर्षण निश्चय अदम्य था।

रंगमंच एक नई आनबान लिए था—बच्चों का एक बड़ा समुदाय जो मधुर समवेत शक्तिम स्वर से गा रहे थे—'हम गाते हैं आनन्द गान!' कोरस था। चीन के 'तरुण पायोनियर' मातृभूमि, अपने नेता और दल से अमित प्रेम करते हैं। इस गान में वे अपने प्रिय नेता और दल को सुना कर आनन्द और दृढ़तापूर्वक एलान करते हैं कि वे परिश्रम से अध्ययन करेंगे जिससे नए चीन के निर्माण में वे अपना हिस्सा ले सकें। जिस मात्रा में हमारे ऊपर उस गान का प्रभाव पड़ा उसका प्रकाश शब्द नहीं कर सकते। क्षण-क्षण उठता हुआ बच्चों का वह समवेत स्वर हमारे अन्तर को भर रहा था और नए चीन के भावी निर्माताओं के उस समूह को देख हमारी प्रेरणा भी जैसे पुकार-पुकार कहने लगी—इनमें अनेक अनेक माओ से-तुंग होंगे, अनेक-अनेक चाऊ एन-लाई, अनेक-अनेक चू तेह।

दूसरा गान उसी प्रकार उन्हीं बालक-बलिकाओं द्वारा गाया गया शान्ति का कोरस था। उसका नाम था—शान्ति की फ़ाख्ता। उसने चीनी तरुण पायोनियरों का श्रम तथा शान्ति के प्रति उत्साह प्रगट किया। मुद्रा आनन्द भरी थी। सेवा की भावना कोमल पदों से व्यक्त हो रही थी। देश प्रेम की दृढ़ता आवाज़ की बुलन्दी से ज़ाहिर थी। शान्तिमय जीवन में संसार की जनता के साथ रम जाने की अभिलाषा उस समर्थ भारती में मुखरित थी। जिस धीमी कोमल ध्वनि से कोरस धीरे-धीरे उठा था उसी धीमी कोमल गति से वह धीरे-धीरे उतरा। पर उसका सम्मोहक शान्तिमय सन्देश देर तक अन्तर को पूरित करता रहा।

सातवाँ दृश्य वायोलिन सोलो का था। उसके दो भाग थे। पहले में रोमान्स की व्यंजना हुई, दूसरे में स्पेनी नृत्य का प्रदर्शन। वायोलिन मधुर बजी। वायोलिन ऐसा वाद्य है जिसमें 'मद्धिम' की गुंजाइश नहीं। यदि वह अन्यन्त सुन्दर न बजी तो उसके बजने का कोई अर्थ नहीं होता।

अगला दृश्य भयानक वेग का था—सिंह नृत्य का। सिंहों का नाच इतना सुन्दर हो सकता है इसकी कभी कल्पना भी न की थी। नृत्य में प्रेम, आनन्द, पराक्रम और आक्रमण चारों अमित मात्रा में निदर्शित थे। हिंस्र पशु भी प्रेम के वशीभूत हो इतना द्रवित हो सकता है। आनन्द में विभोर इतना तरल हो सकता है, पराक्रम में इतना उदार और आक्रमण में इतना भयानक हो सकता है यह उस चीनी रंगमंच पर रूपायित होते देखा। पहले एक सिंह आया, अकेला, और इसी से विकल, फिर सिंहिनी आई और आमोद की धारा बह चली। प्रेम और आनन्द रंगमंच पर मूर्त हो उठे विशेषकर जब सिंह शिशु उन पर उछलने कूदने लगे। सिंहों की संख्या और बढ़ी, छः तक जा पहुँची, आक्रमण और पराक्रम की सीमाएँ टकराने लगीं। उनकी त्वचा के चित्र-वर्ण रह रह कर चमक जाते, संकुचित हो फैल जाते, उनकी पेशियाँ तन कर ऐंठ जाती, मुँह भयानक दंष्ट्रों के साथ सहसा खुलते और बन्द हो जाते। पर वे सिंह न थे केवल चीनी जादूगर थे जो अपने अभिनय की कुशलता से रंग मंच पर अनन्त कामरूप धारण कर सकते थे। सिंह-नृत्य चीन का अत्यन्त लोकप्रिय नृत्य है, जो अधिकतर राष्ट्रीय त्यौहारों में दक्खिनी चीन में नाचा जाता है। अपने केन्द्रीय रूप से वह नृत्य केवल सिंह का अपने शिशुओं के साथ गेंद खेलना है। फिर उसमें दूसरे सिंह भी धीरे-धीरे सम्मिलित होते जाते हैं। गेंद की ज़मीन पर कारचोबी का काम बना होता है जो प्रतीकतः इतना आवश्यक है कि धातु के ढूले

भारी सिंहों के पंजे के नीचे पड़ी गेंद की धातुमयी ज़मीन पर भी कारचोबी का आभास खिंचा रहता है। सिंह के साथ गेंद का सम्बन्ध वस्तुतः चीनी सम्राटों की शक्ति का प्रतीक है, उस चक्रवर्ती शक्ति का जिसमें एक-राट् गोल पृथ्वी को सिंहविक्रम से अपने शिकंजे में जकड़े रखता है।

नवाँ दृश्य लिन चुंग के रात्रि में पलायन का था। दृश्य 'शुई फू' नामक प्रसिद्ध उपन्यास का एक भाग था। 'शुई फू' चीन के बाहर भी काफ़ी प्रसिद्ध हुआ है और उसका एक अंग्रेज़ी अनुवाद "सारे मानव भाई-भाई हैं" नाम से प्रकाशित हुआ है। उपन्यास क्लासिकल साहित्य का है। चीनी राष्ट्रीय हीरो लिन चुंग भयावनी रात और बरसती बर्फ के बीच देशद्रोही काओ चीऊ के षड्यन्त्र के कारण लियाँग शान को भागता है। लियाँग-शान उस काल के क्रान्तिकारी किसानों का केन्द्र था। दूसरे किसान वीरों के साथ वह अपने पीछा करनेवालों को पराजित कर देता है और लियाँग शान में विजेता के रूप में प्रवेश करता है। उस गीत और नृत्य में उसकी करुण तथा पराक्रमी मुद्राएँ बड़ी कुशलता से व्यक्त हुई हैं, नृत्य और गान को नाट्य का योग मिला है।

एक और इन्टरवल। फिर अभिराम नाट्य अभिनय—क्वेई फ़ेई का आसव-सुख। नाटक नृत्य और गान से भरा क्लासिकल रंगमंच का असाधारण नमूना है और चीनी थिएटर में प्रायः १०० वर्षों से खेला जाता रहा है। जितना लोकप्रिय यह नाटक हुआ है उतना अन्य कोई नाटक शायद ही हुआ हो। सामन्त युग की परम्परा में कुचली जाती नारी अपना क्षोभ इसमें उग्र रूप से प्रगट करती है। पुरुष की वासना का साधन बनने को वह और तैयार नहीं। अपनी शृङ्खला के विरुद्ध उसका आक्रोश असामान्य तीव्रता से इसमें प्रगट हुआ है। सम्राट् के प्रासाद की नित्य की छोटी-छोटी घटनाएँ इसमें गहरी वेदना के साथ अभिव्यक्त हुई हैं। नाटक की नायिका सम्राट् ताँग मिंग-हुआँग की आदरणीया महिला योंग क्वेई-फ़ेई है। रात में पुष्पवितान नामक महल में उसके साथ सम्राट् का संकेतस्थान निश्चित हुआ है परन्तु ठीक तभी जब सम्राट् मे नाम की महिला के साथ पश्चिमी महल में चला जाता है तब योंग को बड़ी निराशा होती है। सम्राट् के आचरण से खीझ कर वह अपना कष्ट आसव-पान से दबाना चाहती है। फिर आपान से साहस प्राप्त कर वह काओ ली-शिह नामक खोजे को सम्राट् को बुलाने भेजती है। परन्तु यह सोच कर कि सम्राट् कहीं नाराज़ न हो जाँय काओ कर्त्तव्य-पालन में शिथिल हो जाता है। तब वह अपना संकेत-स्थान छोड़ महल को लौट जाती है। उसका हृदय विषाद से बोझिल है।

नाटक का आरम्भ महल के ज़नाने से होता है। वहाँ से योंग के पुष्पवितान नामक प्रासाद की ओर जाने का वर्णन तथा अभिनय अत्यन्त सुन्दर है। नाटककार ने अभिसार का सुन्दरतम वर्णन किया है। चाँदनी खिली हुई है; संगमरमर का श्वेत पुल पार कर हँसों के मिथुन और नीचे की सुनहरी मछलियाँ देखती, उड़ती बालाहक पंक्ति पर अपने नेत्रों का शर-सन्धान करती आसव के प्रभाव से लड़खड़ाते पैरों को बढ़ाती योंग अभिसार के लिए निकलती है। मार्ग की गति-नृत्य व्यंजित है। नृत्य के साथ-साथ आसव-पान भी चल रहा है। और नृत्य कुछ साधारण नहीं क्योंकि उसमें कोमल से कोमल भाव व्यंजना अभिनीत हुई है।

नाज़ुकख़याली का इतना सुकुमार निर्वाह जीवन में नहीं देखा था। अपने देश के साहित्य में 'शाकुन्तल' सा अमोल रत्न है। निश्चय उसके बराबर कोमल भावों का उहापोह संसार के किसी नाटक में नहीं हुआ परन्तु अभिनय की कमज़ोरी ने उसे तीन कौड़ी का भी नहीं रखा है। क्वेई फ़ेई के इस नाटक में स्वयं नायिका क्वेई फ़ेई का अभिनय चीनी रंगमंच के सब से महान् अभिनेता मेई-लान-फ़ाँग ने किया था। आज भी खण्डिता नायिका का 'मालविकाग्निमित्र' वाला 'पदे पदे स्खलन्ती' रूप मेई लान-फ़ाँग की कमनीय गति में आँखों के सामने मूर्तिमान हो उठता है। खण्डित अभिसार से विक्षिप्त, योंग का आसवपान से अपमान और वियोग के कष्ट को दबा देने का प्रयत्न बड़ा सजीव हुआ। वस्तुतः ६१ वर्ष की आयु का मेई ही उस अभिनय को सफल कर सकता था।

अन्तिम दृश्य ग्यारहवाँ था, चीन की अल्पमतीय जातियों की महान् एकता का। चीन का जनतन्त्र अनेक जातियों का मैत्रीपूर्ण परिवार है। एक ज़माना था जब इन जातियों में फूट डाल कर परस्पर शत्रु बना कर ही उन पर हकूमत करना सफल शासन माना जाता था और जब उनमें भेद-भाव बरत कर उन पर अनेक प्रकार

के अत्याचार करना सम्राट् अपना धर्म समझता था। आज की सरकार उनमें मैत्री का भाव उत्पन्न कर चुकी है। उनमें एकता स्थापित हो चुकी है और उनकी राष्ट्रीय चेतना माओ की अनुगामिनी है। त्यौहारों और उत्सवों पर यह जातियाँ प्रायः एक साथ एक सिलसिले में अपने नृत्य, लोक-गान आदि का प्रदर्शन करती हैं। इसी प्रकार का एक प्रदर्शन उन्होंने उस शाम रंगमंच पर किया था। उनके छः नृत्य हुए। पहला नृत्य लाल तारे का था, दूसरा तिब्बती था, तीसरा याओ जाति का, चौथा मंगोलों का, पाँचवाँ उइगूरों का वसन्त नृत्य और छठा इन सारी जातियों का सम्मिलित उल्लसित नृत्य। सबके अपने-अपने नृत्य थे, एक से एक सुन्दर, भावी की आशा से प्रसन्न।

थार्न हिल रोड,
इलाहाबाद

—भगवतशरण उपाध्याय

विश्व-भारती चीन-भवन

स्वर्गीय ठाकुर रवीन्द्रनाथ टागोर के नेतृत्व में आधुनिक युग में पहली बार भारतीय सांस्कृतिक प्रतिनिधि-मण्डल सन १९२४ में पीकिंग के 'लेक्चर असोसिएशन के निमन्त्रण पर चीन गया। भारतीय संस्कृति के प्रकाण्ड विद्वान आचार्य क्षितिमोहन सेन, डॉ० कालिदास नाग तथा प्रसिद्ध कलाकार श्री नन्दलाल वसु इस प्रतिनिधि-मण्डल के सदस्य थे। गुरुदेव ने उस समय अपने चीनी मित्रों के सम्मुख विश्व-भारती में चीन भवन के निर्माण का प्रस्ताव रखा। उस समय चीन की परिस्थितियों में आकस्मिक परिवर्तन आ जाने के कारण तत्कालीन प्रस्तावों को कार्यान्वित नहीं किया जा सका।

सन् १९२८ में मैं विश्व-भारती आया और वहाँ प्रायः तीन वर्ष तक रहा। चीन लौट कर सन् १९३३ में 'सिनो इंडियन कलचरल सोसाइटी' को भारत में स्थापित किया। भारत में उसका कार्य और भी सफलतापूर्वक हुआ। स्वयं गुरुदेव के सभापतित्व में संस्था ने भारत और चीन से सांस्कृतिक आदान-प्रदान का महत्वपूर्ण कार्य किया। इस संस्था का पहला और सब से महत्वपूर्ण कार्य था विश्व-भारती में चीन-भवन की स्थापना।

चीन-भवन के निर्माण, अध्यापकों की नियुक्ति, छात्रवृत्तियों, पुस्तकालय और अजायबघर के लिए एक विस्तृत योजना बनाई गई। इस योजना के कार्यान्वित करने के लिए गुरुदेव ने सहायता के लिए एक अपील लिखी जिसे लेकर मैं चीन गया। चीन में मुझे गुरुदेव के मित्रों और चीनी नेताओं का पूर्ण सहयोग मिला। चीन में 'सिनो इंडियन कलचरल सोसायटी' ने १ लाख से अधिक चीनी पुस्तकें खरीदी और प्रायः ५०,००० पुस्तकें प्रकाशकों ने दान दी।

१४ अप्रैल १९३७ को चीनी भवन का उद्घाटन किया गया। गुरुदेव की एक प्रबल इच्छा इस दिन पूर्ण हुई।

—तान युन शान
(आर्ट ऍण्ड कल्चर से)

संस्कृति-संघर्ष : स्वरूप और कारण

* संस्कृति, हमारी वृत्ति, रहन-सहन, परम्परागत संस्कार, शिष्टाचार एवं विचारधाराओं की समवेत प्रतीक है जिसका प्रयोग किसी भू-भाग विशेष की रहनेवाली एक या एकाधिक जातियों की एक कालगत विशेषताओं के लिए होता है । यह संस्कृति एक जाति-विशेष की शारीरिक क्रियाओं, मानसिक संकल्प-विकल्पों और आत्मिक अनुभूतियों का दृश्य अथवा लिपि-बद्ध अभिव्यंजन है । संस्कृति का निर्माण बच्चों के खेल की तरह क्षणिक नहीं होता और न बालू की रेत के भवनों की तरह वह साधारण झोकों से बिखर ही जाती है । वह तो मानव के अंशभूत किसी वर्ग विशेष का स्वाभाविक क्रमागत विकास है जिसके मूल में जन्म-जन्मान्तरों की तपस्या का फल संचित रहता है और जो अपने वातावरण के विकास के साथ फलती फूलती है । यह उस क्रान्ति का परिणाम होती है जो शनैः शनैः बुद्धि को विलोड़ित कर, विवेक का अवलम्ब ग्रहण कर, नीचे स्तर से ऊँचे स्तर पर उठ कर आती रहती है । यही उत्तरोत्तर विकास 'संस्कृति का विकास' कहलाता है ।

जब विरोधी परिस्थितियाँ इतनी तीव्र हो जाती हैं कि कोई संस्कृति न तो अपने वातावरण को विकसित कर सकती है और न अपनी स्थिति को सुरक्षित रख सकती है, तब स्वभावतया ह्रास होने लगता है । संस्कृति के परिवर्तन का आदि मंत्र हमें जीवन-आदर्श सम्बन्धी मूल्यांकन के उन दृष्टिगत भेदों और तर्कजन्य विवादों में मिलता है जो समय समय पर उद्भूत होकर, बुद्धिवादी समाज-नेताओं में, समाज को—वर्ग को—वर्तमान से असंतुष्ट बना कर किसी अन्य आदर्श की ओर अग्रसर करते हैं । जब यह परिवर्तन कुछ स्थायी रूप धारण कर लेता है वास्तव में 'संस्कृति-परिवर्तन' तभी कहलाता है अन्यथा प्रगतिशीलता तो जीवन का स्वाभाविक लक्षण है । यदि तत्कालीन परिवर्तन का परिणाम मानवता को मानवी और कुछ अंशों में दैवी गुणों की ओर लेजा कर उन्हें सुख सम्पन्न बनाने में समर्थ होता है तो उस समय का इतिहास लेखक उसे अच्छा और लाभदायक बताता है और यदि इन गुणों का विकास न होकर अन्य पाशवी एवं निम्नतर चिन्हों का विकास दिखाई देता है तो वह उसे 'निकृष्ट' कहता है । पहले में संस्कृति का उत्थान है, दूसरे में पतन ।

परन्तु यह स्पष्ट है कि संस्कृति के 'उत्थान' और 'पतन' का निर्णय केवल मानसिक तुला पर ही किया जाता है । शारीरिक सुख-वैभव और आनन्द तथा आत्मिक शान्ति अथवा अध्यात्मिक-आनन्द दोनों उस तुला के दो पलड़े हैं । यह निर्णय करना कि किस पलड़े को भारी समझा जाए और किसे हल्का, एक सापेक्षिक दृष्टिकोण है । इसलिए कहा जाता है कि संस्कृति का स्तम्भ 'मानसिक विकास' है अथवा 'पाशाविक-प्रवृतियों से उठने का प्रयास' है ।

'मानसिक-संघर्ष' ही सांस्कृतिक संघर्ष है । वैसे तो प्रत्येक विचार अपने 'सु' और 'कु' पहलुओं को लेकर चलता है परन्तु संस्कृति 'समवेत-प्रतीक' होने के कारण कुछ प्रथक प्रथक विचारों से संघर्ष-मग्न नहीं हो जाती। जब विरोधी विचारों का दल अपनी समस्त शक्ति के साथ किसी जाति के प्रांगण में ऊर्ज्वसित विचार-दल को चुनौती देकर उससे डट कर संग्राम करने के उपरान्त विजय प्राप्त करता है, तभी संस्कृति-संघर्ष में जीत-हार का प्रश्न उठता है । अतएव संस्कृति-संघर्ष में दो विरोधी दलों की तीव्र मानसिक टक्कर होती है ।

इस टक्कर के मनोवैज्ञानिक कारणों पर ज़रा ध्यान देने की आवश्यकता है ।

संस्कृति का प्रधान सम्बन्ध समाज से है, व्यक्ति से नहीं । व्यक्ति कुछ संस्कारों को लेकर समाज में उत्पन्न होता है और अपने वातावरण में ही विकास करता है यद्यपि यह संभव है कि कुछ असाधारण मेधावी व्यक्ति वातावरण के बंधन को तोड़ कर किसी नूतन वातावरण की सृष्टि करने में समर्थ हो सकें और इस प्रकार अपने समाज की संस्कृति में आशातीत परिवर्तन

---

* एक प्राचीन अंग्रेज़ी निबंध के विश्लेषण के आधार पर लिखित—ले०

कर दें; परन्तु ये सम्भावनाएँ प्रायः नहीं के बराबर होती हैं और यदि परिवर्तन होता भी है तो धार्मिक दृष्टिकोण, राजनीतिक व्यवस्था अथवा आचार तथा जीवन के मूल्यांकन विषयी आदर्शों में ही होता है। साधारण कर्म-कृषि, वाणिज्य, भाषा, कला, विश्वास तथा समाज-संगठन आदि सम्बन्धी विषयों में इस परिवर्तन की संभावना कम रहती है।

संस्कृति-संघर्ष के अवसर प्रायः उस समय आते हैं जब विभिन्न संस्कृतियों का अनुकरण करनेवाली दो जातियाँ परस्पर व्यवसाय के कारण संपर्क में आती हैं, अथवा किसी आक्रमण या निर्यात के कारण उन्हें एक दूसरे से सम्बन्ध स्थापित करना पड़ता है। जब तक एक जाति दूसरी जाति की संस्कृति के प्रति आदर भाव रखती है, संघर्ष की कोई संभावना नहीं रहती परन्तु जब समता का यह भाव अहंकार और महानता की स्वानुभूति में परिवर्तित हो जाता है, तभी संघर्ष का भी आरम्भ होता है। प्रायः देखा जाता है कि संघर्ष की स्थिति किसी महायुद्ध के पश्चात् उस समय उपस्थित होती है जब विजेता विजित जाति पर अपनी संस्कृति को यह कह कर लादना चाहता है कि विजित असभ्य हैं, अथवा उनकी संस्कृति अविकसित है। संघर्ष की यह स्थिति उस समय भी सम्भव है जब एक धर्म दूसरे धर्म को चुनौती देकर अपनी सत्ता की स्थापना करना चाहता है; अथवा विज्ञान, चिन्तन आदि द्वारा आविष्कृत नए नए यन्त्र तथा सिद्धान्त परम्परागत विचारों को बदल कर उनमें आमूल परिवर्तन की प्रेरणा देते हैं। कारण चाहे जो हो संस्कृति-संघर्ष बाह्य दबाव का परिणाम होता है। सुधारक समाज में रहते हुए चाहे जितना परिवर्तन करने में समर्थ हो सकें, वे समाज में संघर्ष को जन्म देने वाले नहीं कहे जा सकते। ये परिवर्तन प्रायः भौतिकता को लेकर होते हैं, किसी युग की भौतिक आवश्यकताओं को अवलम्ब मान कर उनका सृजन होता है अतएव इनका परिणाम भी सीमित रहता है। खाने, पहिनने, रहने आदि की आवश्यकताओं में हो जाने वाले परिवर्तन संस्कृति-संघर्ष नहीं उत्पन्न करते। वास्तविक संस्कृति-संघर्ष तो विचारों, विश्वासों और जीवनादर्श के परिवर्तन में स्थित रहता है।

यदि इस परिवर्तन का आधार किसी भी प्रकार का बल या शक्ति होती है तो उसका प्रभाव स्थायी नहीं रहता। अशक्त जाति बाहर से, अपनी निर्बलता के कारण, दूसरी संस्कृति ग्रहण तो कर लेती है क्योंकि उसके पास और दूसरा चारा नहीं रहता; परन्तु उसकी अन्तरात्मा कभी ऐसा परिवर्तन स्वीकार नहीं करती। ऐसे अवसरों पर एक विद्रोह की भावना स्वतः उस जाति के मन में विकसित होती रहती है और यथा अवकाश उसका विस्फोट हो जाता है। स्वतन्त्र और निर्भय वातावरण से निकल कर यदि किसी व्यक्ति को परतन्त्र और भयातुर परिस्थिति में रख दिया जाय तो उसके मस्तिष्क पर जो प्रतिक्रिया होगी, वैसी ही विजित समाज के मस्तिष्क में प्रादुर्भूत होती है। असाधारण मस्तिष्क के सारे विकार—प्रथक्करण, वक्रता, भ्रान्ति, प्रलम्बता (Projection), बुद्धिवाद, अक्रमत्व (Inversion), पर-नियुक्ति (Substitution), प्रतिगामिता (Regression), आदि, जाति में आ जाते हैं। मस्तिष्क-विकार के अन्य दोष-अनुत्तरदायित्व, अबुद्धिवादी दृष्टिकोण, असहिष्णुता, प्रतिहिंसा आदि सभी के लक्षण समाज में व्याप्त हो जाते हैं। मस्तिष्क का यह असन्तुलन बड़ा भयावह और हानिप्रद होता है। भारत में विभिन्न युगों में साँस्कृतिक संघर्ष हुए। यदि यह भी कहा जाय कि जितने साँस्कृतिक संघर्ष भारत में हुए उतने और किसी देश में नहीं हुए, तो भी ऐतिहासिक दृष्टि से यह कथन सत्य है।

इस्लामी संस्कृति और भारतीय-संस्कृति का संघर्ष तो बड़ा ही व्यापक था। कबीर आदि सन्तों का साधनात्मक रहस्यवाद तत्कालीन स्थिति का एक मनोवैज्ञानिक सत्य है। प्रायः देखा जाता है कि ऐसे संघर्षों के अवसर पर विजित अपने धर्म और अपनी मान-मर्यादा की रक्षा के हेतु एकाकी जीवन का आश्रय ग्रहण करता है क्योंकि उसे विश्वास होता है कि वह अपने धन की रक्षा सब के सामने रह कर नहीं कर सकता। उसका विराग उसे समाज से हटा कर एक प्रकार के प्रत्यावर्तन की ओर प्रेरित करता है और व्यक्तिगत साधना का आरम्भ यहीं से होता है। संघर्ष के उस युग में समाज की विषमताओं को देख कर, इन सन्तों ने उसे समरसता की ओर ले जाने के लिए इसी वैज्ञानिक उपाय को अपनाया और जनता ने उनका साथ दिया।

भारत में प्रचलित अनेक अबुद्धिवादी बातों में भी यही मनोवैज्ञानिक सत्य काम कर रहा है। अस्पृश्यता, बाल-विवाह, पर्दा-प्रथा जाति-पाँति बन्धन, तथा

ऊँच-नीच के भाव की तल में यही भावना है। एकाकीपन द्वारा अपनी उत्कृष्ट मर्यादा की रक्षा की भावना ने ही इन विषमताओं को जन्म दिया। किसी कारणवश 'म्लेच्छ' से हाथ मिलाने पर उसे मिट्टी से मांझ कर धोने में अथवा जहाज़ पर गंगाजल का सेवन करने में यही स्थिति काम करती है। दक्षिण भारत में शूद्र की छाया तक से बचने का प्रयास 'भद्र समाज' की मानसिक एकाकीपन की भावना का हास्यास्पद परिणाम है। और कुँओं, तालों, मन्दिरों आदि में शूद्रों के प्रवेश का अधिकार न होना तो इस प्रवृत्ति का प्रतिदिन का अनुभव है। 'आपत्ति काले मर्यादा नास्ति' सूत्र इन स्थितियों का एक मनोरंजक स्पष्टीकरण है।

इस प्रकार की असाधारण मानसिक धारणाओं का परिणाम प्रायः यह होता है कि संस्कृति के अध्यात्म-पक्ष का अभाव समाज में आरम्भ हो जाता है और कर्मकाण्ड अथवा वेशभूषा ही धर्म का स्वरूप धारण कर लेते हैं--हिन्दू केवल वही रह जाता है जो शिखा और यज्ञोपवीतधारी हो वैसे चाहे आचरण में कितना ही बुरा क्यों न हो; इसी प्रकार मुसलमान वही रहता है जो रोज़े रखता है और नमाज़ पढ़ता है चाहे अपने दैनिक जीवन में वह कितना ही आचरणहीन क्यों न हो।

परन्तु जब भिन्न संस्कृति के अनुयायी एक ही साथ रहने लगते हैं तो परस्पर रहन सहन के कारण उनके भेद-भाव भी कम होते जाते हैं। कालान्तर में ये दोनों एक भी हो सकते हैं और इस प्रकार दो संस्कृतियों से एक नूतन संस्कृति का जन्म और विकास होता है। ऐसी स्थितियाँ उत्पन्न करने के लिए जनता में सहनशीलता और आदर्शवाद की भावनाओं का प्रचार करने की आवश्यकता है। समाज और सरकार की ओर से ये प्रयत्न निरन्तर होते रहने चाहिए। यदि जनता को यह विश्वास हो जायगा कि सामाजिक विषमताएँ मिटाई जा सकती हैं तो वह उनका शिकार बनने से बच सकेगी।

जनता को सुशिक्षित करने का उत्तरदायित्व सरकार का एक बड़ा उत्तरदायित्व है। भारत-विभाजन के पश्चात् की घटनाओं से यह उत्तरदायित्व और भी अधिक बढ़ गया है।

संभवतः भारत को धर्मातीत राज्य (Secular-state) बनाने की घोषणा यहाँ के "साँस्कृतिक संघर्ष" को हटा कर "साँस्कृतिक सहयोग" की ओर बुनियादी क़दम प्रमाणित हो। विधान में आ जाने पर भी इसकी दाग़-बेल अभी ठोस धरती पर नहीं पड़ पाई है।

—सोमनाथ गुप्त

एम. एस. जे. कालेज,
भरतपुर

सभापति का घर और कार्यालय

इज़राइल के नए सभापति श्रीयुत इज़ाक बेन ज़्वी सादा जीवन बितानेवाले सरल व्यक्ति हैं। पिछले छब्बीस वर्षों से वे राल से कागज़ चिपकाई हुई खुरदरी लकड़ी की झोंपड़ी में रह रहे थे। सभापति पद के उपयुक्त भवन खरीदने की सरकार की प्रार्थना को उन्होंने अस्वीकार कर दिया। अन्त में वे एक छोटे से घर में रहने लगे हैं ज़िसकी पहली मंज़िल में उनका दफ्तर है और दूसरी मंज़िल में उनके परिवार के रहने की व्यवस्था है। घर के सामने के मैदान में एक बड़ा झोंपड़ा बना है जिसमें वे अफ़सरों और अतिथियों का स्वागत करते हैं।

(टाइम से)

भारत के प्रमुख वाद्य यन्त्र

भारतवर्ष की प्राकृतिक अवस्था तथा जलवायु पृथ्वी के अन्य देशों से कहीं अधिक अच्छी है, इसीलिए यहाँ के लोग प्रकृति के उपासक रहे हैं और यही कारण है जिससे यहाँ के निवासी ललित कलाओं पर अत्यधिक मुग्ध हैं; इन ललित कलाओं में संगीत भी एक महत्वपूर्ण कला है।

"संगीत" शब्द में गायन, वाद्य और नृत्य तीनों ही आ जाते हैं। इन तीनों का एक दूसरे से इतना घनिष्ट सम्बन्ध है कि एक दूसरे को पृथक नहीं किया जा सकता जब कि प्रत्येक की अपनी अपनी विशेषताएँ भी हैं।

गायन और वाद्य संगीत कानों के माध्यम से मस्तिष्क को प्रभावित करते हैं, जब कि नृत्य कला आँखों को विशेष अपील करती है।

भारतीय संगीत में गायन संगीत का अधिक महत्व है किन्तु इसके विपरीत विदेशों में, विशेष कर यूरोपीय देशों में, वाद्य संगीत को अधिक महत्व दिया गया है। जिस प्रकार अलंकार रहित स्त्री का सौन्दर्य शुष्क सा प्रतीत होता है, उसी प्रकार गायन संगीत वाद्यों रहित अपूर्ण लगता है, पर जहाँ दोनों मिल कर अपनी कला का प्रदर्शन करते हैं, वहाँ सोने में सुहागा मिल जाता है।

तेरहवीं सदी के आरम्भ से ही भारत के मध्यकालीन संगीत शास्त्रकारों ने समस्त वाद्य-यन्त्रों को, उनकी बनावट, उपयोगिता और बजाने की विधि को देखते हुए चार भागों में विभक्त किया—तत, वितत, धन और शुषिर। तत श्रेणी में वे वाद्य यन्त्र आते हैं जो मिजराब, नक्की, और ज़वा से ठौंक कर बजाए जाते हैं अर्थात् वीणा, सुरबहार, सितार, सरोद, गिटार और मैंडालीन आदि। वितत श्रेणी में गज से बजाए जाने वाले सारंगी, इसराज, दिलरुबा और बेला (Violin) आदि हैं। मृदंग, पखावज, तबला, ढोलक, ढफ, करताल, जलतरंग, नलतरंग और ड्रम आदि धन श्रेणी में हैं। बाँसुरी, क्लारीयोनेट, हारमोनियम, बिगुल और शहनाई आदि शुषिर श्रेणी के वाद्य कहलाते हैं।

वर्तमान भारतीय वाद्यों में सितार तथा सरोद विशेष विकसित यन्त्र हैं। सितार शब्द का अर्थ तो तीन तारवाला यन्त्र होता है। सम्भव है प्राचीन सितार का निर्माण वीणा के स्वरूप को आसान करने के लिए बनाया गया हो। सितार और वीणा में सबसे बड़ा अन्तर यह है कि सितार के पर्दे एक जगह से दूसरी जगह तक हटाए जा सकते हैं जब कि वीणा के पर्दे स्थिर हैं। आधुनिक सितार में सात तार होते हैं, नीचे की ओर एक बड़ा तूम्बा होता है। सितार मीड़ और आलाप तथा गतकारी में सबसे अधिक विकसित यन्त्र है। जितना अच्छा किसी राग के स्वरूप को सितार प्रस्तुत कर सकता है उतना अन्य वाद्य नहीं। सितार का स्वर बहुत ही मधुर और हृदय-स्पर्शी है। किन्तु इतने गुण होने पर भी सितार शास्त्रीय गायन के संगीत के लिए पूर्णतया अयोग्य है। पहले तो इसमें तान-पलटे लेना भी कठिन-सा ही था किन्तु इधर इसके इस अवगुण का पर्याप्त सीमा तक परिहार हो चुका है और कई प्रसिद्ध सितार-वादक तो बड़े आनन्द के साथ तान और पलटे लेते हैं।

सितार वादकों में लखनऊ के उस्ताद हमीद खां हुसैन, दिल्ली ऑल इण्डिया रेडियो के कलाकार श्री रविशंकर और श्री गोपाल कृष्ण, कलकत्ता के उस्ताद विलायत हुसैन खां और बम्बई के श्री सुधांशु कुमार भट्टाचार्य आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

तत श्रेणी का दूसरा यन्त्र वीणा है। यह सितार की सगी बहन कहला सकती है। इसके दो तूम्बे होते हैं जो स्टैंड का काम देते हैं। एक हाथ में मिजराब (वही सितारवाला हाथ) लेकर और दूसरे हाथ में एक बहुत बड़ी फ्लैट को मुट्ठी में पकड़ कर तारों पर फेरने से स्वरों की उत्पत्ति होती है।

मीड़ और आलाप की दृष्टि से वीणा सितार की अपेक्षा अधिक उपयुक्त है तथा संगत और गतकारी की दृष्टि से वह उतनी उपयुक्त नहीं है। वीणा को राजकीय वाद्य कहलाने का सौभाग्य प्राप्त है और यह यन्त्र प्रायः प्राचीन राजा-रानियों, राजकुमार-राजकुमारियों के दिल बहलाने

का एक मात्र साधन था। प्राचीन वाद्य होने के कारण सितार से भी अधिक इसकी मान-मर्यादा है। इसका स्वर बहुत ही मीठा है तथा यह मींड और अलाप की प्राण है।

इसे गतकारी वाद्य न माने जाने पर भी आजकल यह द्रुतलय की गतकारी में उन्नति कर रहा है। श्री एस. एन. वसु का नाम वीणावादकों में विशेष उल्लेखनीय है।

यदि सितार के पर्दे उतार दिए जाएँ तो फिर सितार और सरोदे में कोई अन्तर नहीं रह जाता। यदि सारंगी को बिना गज के हाथ से बजाने लग जाएँ तो सारंगी और सरोद में कोई अन्तर नहीं रह जाता। सितार के कुछ अवगुणों को देख कर ही सरोद का निर्माण हुआ। प्राचीन और मध्य युग में यह वाद्य नहीं था अतः यह स्पष्ट है कि इसकी उत्पत्ति आधुनिक काल में ही हुई है।

सितार में संगत न कर सकने का अवगुण है, इस वाद्य द्वारा (बिना पर्दे का होने के कारण) उस अभाव को दूर कर दिया गया है। बिना पर्दों का होने के कारण गतकारी में भी सुगम है। बहुत ही मीठा, आलाप तथा द्रुतलय की गतकारी में भी उपयुक्त है। बेला की तरह इसमें भी यह अवगुण है कि यह कभी-कभी बेसुरा हो जाता है। सबसे बड़ा दोष इस वाद्य में यह है कि बजाते-बजाते इसके तारों को बार-बार खींचना पड़ता है। आजकल यह बहुत प्रचलित है। बहुमूल्य है और पत्ते से बजाया जाता है।

ग्वालियर के उस्ताद हाफ़िज़ अली खाँ, जोधपुर के उस्ताद अली अकबर खाँ, लखनऊ के उस्ताद शौक़त हुसेन खां और कलकत्ता के श्री तिमिर बरन आदि सरोद के कुशल वादक हैं।

ऊपर निर्देश किया जा चुका है कि गज से बजाए जानेवाले वाद्यों को वितत श्रेणी में विभक्त किया गया है। वितत श्रेणी में बेला का सर्वाधिक प्रचार है।

कहते हैं बेला विदेशी वाद्य है और अभी तक लोग यही समझते हैं, किन्तु इधर कुछ अन्वेषण करने पर ज्ञात हुआ है कि यह वाद्य विदेशी नहीं अपि तु भारतीय है। बेला का आविष्कार लंकाधिपति रावण ने अपने समय में किया था, ऐसा कुछ संगीतज्ञों का मत है। लंकाधिपति ने इसका नाम रावण-स्त्रम रखा था। यह सम्भव है कि उस समय के रावण स्त्रम और अर्वाचीन बेला के स्वरूप में पर्याप्त अन्तर हो किन्तु यह प्रमाणित है कि अर्वाचीन बेला का मूलरूप वही रावण-स्त्रम है। फिर जब भारत में विदेशियों के आक्रमण हुए तो वे इसको अपने साथ अरब और अफ़गानिस्तान ले गए और इसका नाम उन्होंने 'कमानचे ज़ोंज़' रखा। धीरे धीरे स्पेन में इस यन्त्र का प्रचार 'वायल' (Voil) नाम से हुआ। शायद उसी के अनुकरण से १५६३ ई० में वेनिस नगर के अन्तर्गत एक ग्राम निवासी लीनारोली ने इसमें परिवर्तन किए और इसका नाम वायलिन रखा। इसी प्रणाली का अनुकरण करते हुए इटली नगर के ब्रासकोमा ग्राम के ग्याजगार और म्यागिनी ने बहुत से बेला बना कर देश भर में उनका प्रचार किया। कुछ वर्षों बाद कामुना नगर के ऐड्रिया आमारी और उनके पुत्र एन्टोनियो तथा ज़ीरोनयो ने इस वाद्य के संस्कार पूर्ण किए और उनके ही वंश के निकोलस तथा शिष्य ऐन्टनी स्ट्राडिह्वारिस के अथक परिश्रम और प्रयास के बाद इसकी पूर्ण उन्नति ब्रासविया नगर में हुई।*

आधुनिक समय में प्रचलित बेला स्ट्राडिह्वारिस का अनुकरण मात्र है। जो बेला भारत में बनते हैं, वे भी विदेशियों के अनुकरण पर। देशी बेला चीड़ की लकड़ी और विलायती बेला रोजवुड (जो कि सर्वोत्तम माना गया है) की बनती है।

भारत में पहले शास्त्रीय संगीत में बेला वादन निषिद्ध था किन्तु धीरे २ अपने गुणों के कारण यह उसमें शामिल कर ली गई। एक यही वाद्य है जो नब्बे प्रतिशत भारतीय संगीत की थियोरी (Theory) को पूरा करता है।

पर्दों का न होना इसका मुख्य गुण कहलाया जा सकता है। इनके कारण ही यह वाद्य अन्तर्राष्ट्रीय है, सब देश-विदेशों का संगीत-वादन इस पर हो सकता है।

प्रायः भारतीय वाद्यों को दो अढाई सप्तक तक चढ़ाया-उतारा जा सकता है परन्तु बेला में तीन-चार सप्तक तक चढ़ा-उतार सकते हैं। गले की प्रत्येक क्रिया

---

*देखिए, 'वितत वाद्य शिक्षा' लेखक—श्रीयुत बन्द्योपाध्याय।

को बेला सुगमता के साथ दिखा सकती है। यह वाद्य गतकारी के काम का भी है और आलाप के लिए भी। यही कारण है कि बेला भारतीय वाद्य संगीत का एक मुख्य अंग बन गया है।

इलाहबाद के गगनचन्द्र चटर्जी, मद्रास के श्री एम. आर. शास्त्री और प्रो. द्वरम व्यंकट स्वामी नायड्डु, बम्बई के श्री सी. एस. अय्यर, लखनऊ के वी. जी. जोग और कलकत्ता के हरिपद चटर्जी बेला–वादकों में प्रमुख हैं।

वितत श्रेणी का दूसरा वाद्य सारंगी है। सारंगी प्राचीन वाद्य है। यदि बेला को जैसा सर्वाधिक संगीताचार्यों का मत है, विदेशी वाद्य माना जाए तो भारतीय वाद्य यन्त्रों में पर्दे रहित एक यही वाद्य रह जाता है जिस पर गले की छोटी से छोटी भी क्रिया नहीं छूटती। वस्तुतः इस वाद्य का निर्माण ही गले की क्रियाओं को पूर्ण रूप से दिखाने के लिए हुआ था।

इसके आचार्य पेशेवर ही मिलेंगे, गैरपेशेवर नहीं। अन्य वाद्य पोरुओं से बजाए जाते हैं किन्तु यही केवल नाखूनों की सहायता से बजाया जाता है। इसीलिए इसके आचार्यों के नाखून घिसे हुए मिलेंगे।

इसके प्रधान आचार्यों में से दिल्ली के उस्ताद बुन्दु खां गुलाम साबिर और लखनऊ के मिर्जा महमूद अली हैं।

इसराज में शायद सारंगी और सितार को मिलाने का प्रयत्न किया गया है क्योंकि इसकी बनावट ही इस युक्ति का प्रमाण है। इस यन्त्र का ऊपरी भाग सितार की भाँति तथा नीचे का सारंगी की भाँति है। इसमें बाएँ हाथ से सितार का काम तथा दाएँ हाथ से सारंगी के गज का काम लिया जाता है। आधे से अधिक गुण सारंगी के और आधे से कम सितार के गुणों को लिए हुए इस वाद्य की उत्पत्ति हुई। इसका प्रचार बंगाल में ही अधिक है। हो सकता है कि सारंगी के श्रमसाध्य और कठिन होने के कारण किसी सज्जन ने मुग़लकाल में इसका आविष्कार किया हो। यदि इसराज सारंगी, सितार और बाँसुरी आदि की भाँति प्राचीन नहीं तो गिटार, क्लारीयोनेट, सरोद आदि की भाँति अर्वाचीन भी नहीं है।

सारंगी की तरह बजने के कारण इसराज गले की क्रियाओं को पूर्णरूपेण दिखा सकता है। सितार की तरह पर्दे वाला वाद्य होने के कारण गतकारी भी कर सकता है। बहुत अधिक मींड़ तथा बेला की भाँति उतार चढ़ाव इस वाद्य में निकलना कठिन है। यह वाद्य अधिक प्रसिद्ध नहीं है। यहाँ तक कि सर्व साधारण इसका नाम तक नहीं जानते।

इसराज वादकों में गया के श्री चन्द्रिका प्रसाद दुबे, कलकत्ता के श्री शीतल प्रसाद मुखर्जी और लखनऊ के उस्ताद बरकत अली आदि विशेष उल्लेखनीय हैं।

घन वाद्यः—क्योंकि राग को गाने के लिए गायक का ध्यान गाने में ही रहता है और वह तानों की प्रवाह–गति में मात्राओं की शुमार नहीं कर सकता इसलिए उन मात्राओं की शुमार तथा परिमाणित काल को ध्यान में रखने के लिए ताल-वाद्यों की आवश्यकता हुई और उनकी रचना की गई।

पखावज, तबला, मृदंग, मजीरा, करताल, डफ और नगाड़ा आदि ताल-वाद्य हैं। इन में तबला और पखावज मुख्य हैं। गायक लोग इन्हीं को अधिक पसन्द करते हैं, क्योंकि इन पर ठेके साफ़ निकलते हैं।

भारतीय संगीत के सारे वाद्य बिना तबले के व्यर्थ हैं। ताल का निर्णय और विवेचन तबले के ही हाथ में है। बिना तबले के गाना बजाना नीरस और बेकार है। तबला रहित गाना–बजाना मीठा होते हुए भी, सुरीला होते हुए भी अच्छा नहीं लग सकता।

प्रत्येक संगीत शिक्षार्थी को ताल-ज्ञान पहले होना आवश्यक है। जिस प्रकार बिना व्याकरण के भाषा शुद्ध नहीं होती, उसी प्रकार ताल-ज्ञान के बिना मनुष्य संगीत–क्षेत्र में कदापि उन्नति नहीं कर सकता। संगीतज्ञ ताल को गान विद्या का व्याकरण और श्रृंगार मानते हैं। बेचारा आलाप के समय मौन रह जाता है मगर अपनी सारी कला कहरवे और दादरे में प्रदर्शित कर देता है।

रामपुर के उस्ताद अहमदजान थिरकवा, कलकत्ता के श्री हरीन्द्र कुमार गांगुली, लखनऊ के उस्ताद वाजिद-हुसैन, कलकत्ता के श्री रमेश चन्द्र ठाकुर और बनारस के श्री अनोखेलाल आदि तबला वादकों में आचार्य माने जाते हैं।

घन श्रेणी का दूसरा वाद्य जलतरंगः इसको तो वाद्य कहना ही न चाहिए। वाद्य का कोई स्वरूप होता है किन्तु यह तो ऐसा है जैसे कि किसी वाद्य के टुकड़े-

टुकड़े कर दिए गए हों। और जब बजाना हो तो उन टुकड़ों को एक पंक्ति में रख कर बजा दिया। यह तो कुछ प्यालों का मेल है। पानी की सहायता से प्यालों को राग में प्रयुक्त होने वाले स्वरों के अनुसार व्यवस्थित कर दिया जाता है। इसी पानी में उठनेवाली तरंगें मधुर स्वर का काम देती हैं। अपनी विशेषताओं के कारण यह वाद्य फ़िल्म वालों को विशेष प्रिय रहा है। कत्थकी, आधुनिक नृत्यों में इसका सफलतापूर्वक प्रयोग होता है। ऑरकेस्ट्रा तैयार करते समय भी इसकी उपस्थिति अनिवार्य समझी जाती है। स्वर व्यवस्थित करने में अन्य वाद्यों की अपेक्षा यह अधिक समय लेता है।

शुषिर श्रेणी के वाद्यों की रानी, बाँसुरी:—यों तो इसका प्रचार भारत में सभी स्थानों पर है किन्तु उत्तरी भारत में गंगा-यमुना के बीच इसका प्रचार अधिक है जहाँ इसके प्रधान आचार्य श्रीकृष्ण भगवान् ने जन्म लिया था। और उसे भली प्रकार अपनाया था। बहुत छोटी सी है जैसे तरकारियों में हरिमिर्च। जिस प्रकार तरकारी में हरिमिर्च का स्वाद पृथक मालूम पड़ जाता है उसी प्रकार बाँसुरी सी पचास अन्य वाद्यों में अलग मालूम पड़ जाती है। जिस प्रकार भावुकता में मनुष्य अपना हृदय निकाल कर रख देता है, उसी प्रकार बाँसुरी का स्वर यदि भारतीय संगीत का मर्मस्थल माना जाए तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। बहुत ही सुरीला, मीठा और कर्णप्रिय वाद्य है। फिल्मी गीतों की जान, आलाप में प्रवीण किन्तु गतकारी में बिल्कुल अयोग्य है।

अधिकतर वाद्य प्रायः गानेवाले की आवाज़ के अनुसार चढ़ाए-उतारे जा सकते हैं। परन्तु इस वाद्य में यदि दस गवैये होंगे तो ए. बी. सी. डी. की दस बाँसुरियाँ भी अनिवार्य हैं। बजाने वाले को गाने के काम का नहीं रहने देती और यदि किसी को इसके बजाने की अधिक आदत लग जाए तो उसके मुँह से रक्त भी बहने लगता है।

क्लारीयोनेट:—शुषिर श्रेणी का दूसरा वाद्य-शतप्रतिशत विदेशी वाद्य है। यदि ऐसा कहें कि यह भारतीय वाद्य संगीत रूपी कमरे की चौखट पर बिठाया हुआ है तो अनुपयुक्त नहीं होगा। अभी तक अपने कई दोषों के कारण इसे पूर्णतया भारतीय वाद्यों में शामिल नहीं किया गया है, हाँ ऑरकेस्ट्रा में इसने अपना स्थान अवश्य बना लिया है।

हारमोनियम:—आज से १०० वर्ष पूर्व भारत में कोई भी नहीं जानता था कि हारमोनियम कहते किसे हैं। गले के स्वर बहुत ही सीमित करके इसके स्वरों का निर्माण किया गया है। यों तो प्रायः कच्चे-पक्के आलाप, गत सभी कुछ इसमें निकल सकते हैं किन्तु स्वर सीमित होने के कारण मींड़, आलाप और स्वरों का उतार-चढ़ाव, आवाज़ का खींचना-उतारना सम्भव नहीं है।

यदि कोई संगीत के विषय में अज्ञानी हो पर वह संगीत सीखने का आकाँक्षी हो तो इस वाद्य द्वारा अपेक्षाकृत अन्य वाद्यों के, शीघ्र सीख सकता है और सुविधाजनक रीति से उन्नति कर सकता है। इस प्रकार यदि इस वाद्य को नवसिखुओं का वाद्य कहा जाए तो अधिक उपयुक्त होगा।

सबसे बड़ा दोष इस वाद्य में यह है कि यह और वाद्यों से मेल नहीं खाता। यदि और वाद्यों के साथ इसको बजाया जाएगा तो अपने निरंकुश स्वर के कारण सब वाद्यों के स्वर को ढाँप लेगा। इसीलिए कुछ समय से आल इण्डिया रेडियो के केन्द्रों ने भी इसका बहिष्कार कर दिया है।

अन्य वाद्यों की अपेक्षा यह वाद्य चौबीसों घण्टे तैयार रहता है। अन्य वाद्यों को मिलाना पड़ेगा लेकिन इसकी धोंकनी खुली और यह तैयार। इसमें अन्य वाद्यों की अपेक्षा सादगी है। प्रत्येक राग को सीमित क्षेत्र तक प्रत्येक क्षण प्रस्तुत कर देगा। दादरा, कव्वाली तथा आज से दस वर्ष पूर्व यह वाद्य फिल्मी गीतों की जान था।

प्रतीत होता है कि आधुनिक समय में विज्ञान के साथ कला भी उन्नति पर है। किसी भी देश या जाति के विकास की मर्यादा का अनुमान उस देश के साहित्य और कला की उन्नति ही से लगाया जा सकता है।

नेपोलियन ने भी कहा है: "सभी प्रभविष्णु कलाओं में संगीत का हमारे मन पर सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है और हमारे राज्य नियामकों की चाहिए कि इस कला को सबसे अधिक प्रोत्साहन दें।"

दीवान हाल,
दिल्ली

—ललित सहगल

अरविन्द का दर्शन

श्री अरविन्द योगी पहले हैं और दार्शनिक पीछे। यद्यपि आधुनिक भारत के इने-गिने मौलिक दार्शनिकों में वे सहज ही सर्वश्रेष्ठ हैं, तथापि संसार के समक्ष न तो वे शुद्ध दार्शनिक के रूप में कभी आए और न उनका यह उद्देश्य ही था कि बुद्धि और कल्पना की सहायता से वे किसी विश्वदर्शन की रूपरेखा प्रस्तुत करें। उनकी दिव्य आत्मा 'सच्चिदानन्द' के ज्योतिर्मय प्रदेश में विचरण करती रहती थी और चिरन्तन सत्यों के अपरोक्ष दर्शन करती थी। योग-शक्ति से अनुभूत उन्हीं शाश्वत सत्यों को जब उन्होंने दर्शन की तर्कबद्ध शैली में अनूदित कर दिया तभी 'द लाइफ डिवाइन' (The Life Divine) जैसे अद्वितीय दार्शनिक ग्रन्थों की सृष्टि हो गई। इस प्रकार श्री अरविन्द का दर्शन पमरतत्व (Ultimate Reality) के निजी रहस्यात्मक अनुभव की दृढ़ आधार शिला पर अश्रित है। इस दृष्टिकोण से वे वैदिक और उपनिषदिक मंत्रदृष्टाओं की सच्ची परम्परा में थे।

श्री अरविन्द का योग-दर्शन मोटे रूप में अध्यात्मवादी (Idealistic) और रहस्यवादी (Mystical) है। सकल चराचर एक अखण्ड चेतना से उद्भूत हुए हैं, उसी से व्याप्त हैं, और उसी को व्यक्त करने की अनवरत चेष्टा करते रहते हैं। इस अखण्ड चेतना के साथ मनुष्य योगिक परिश्रम द्वारा एक सीधा अपरोक्ष सम्बन्ध स्थापित कर सकता है और इस रहस्यात्मक एकीकरण की अवस्था में ब्रह्म, जीव तथा जगत् की बहुमुखी समस्याओं को सुलझाने में समर्थ होता है व अमृत-पद की प्राप्ति करता है। श्री अरविन्द के दर्शन का लक्ष्य कोरे बौद्धिक सिद्धान्तों का निरूपण करना नहीं है। उनका योग-दर्शन मानवों का दैवीकरण करने की महत्वाकांक्षा रखता है। किन्तु ऐसा ही लक्ष्य वेद और उपनिषद् के मनीषियों के सामने भी था। फिर इसमें श्री अरविन्द की मौलिकता और नवीनता कहाँ लक्षित होती है? इसी सम्बन्ध में अपना तथा प्राचीन ऋषियों का भेद प्रदर्शित करते हुए श्री अरविन्द कहते हैं कि ऋषिगणों का उद्देश्य तो केवल अपने व्यक्तिगत अध्यात्मिक विकास और मोक्ष तक ही सीमित था। वे व्यक्तिगत जीवन में दिव्यमनस् (Supermind) की प्राप्ति करके सन्तुष्ट हो गए थे और इस प्रकार भौतिक धरातल से ऊपर उठ कर अध्यात्मिक धरातल तक पहुँचने में समर्थ हुए थे। किन्तु उन्होंने यह प्रयत्न नहीं किया कि दिव्यमनस् को नीचे उतार कर उसे सम्पूर्ण वसुधा की चेतना (Earth Consciousness) में प्रतिष्ठित कर दिया जाय, और फलस्वरूप भौतिक धरातल का कायाकल्प (Transmutation) करके उसे अध्यात्मिक धरातल की दिव्यता प्रदान कर दी जाय। पृथ्वी छोड़ कर स्वर्ग की ओर पलायन करने की इस विकृत प्रवृत्ति के कारण ही भारत के अध्यात्मिक चिन्तन को मायावाद की शरण लेनी पड़ी। इसके विपरीत श्री अरविन्द जड़ को चेतना से प्लावित करना चाहते हैं; मनुष्य को देवता बनाना चाहते हैं और पृथ्वी पर ही स्वर्ग को उतार लाना चाहते हैं। उनका दर्शन इसी महान् उद्देश्य को लेकर चलता है।

तत्व-दर्शन की दृष्टि से श्री अरविन्द 'सच्चिदानन्द' को परम-तत्व मान कर चलते हैं। प्रो. एस. के. मैत्रा एक महत्वपूर्ण सत्य की ओर इंगित करते हुए कहते हैं कि युगों पुरानी भारतीय संस्कृति की विश्व को सबसे बड़ी देन 'सच्चिदानन्द' की धारणा है। देव (Divine Being) सत् (Existence), चित् (Consciousness-Force) और आनन्द (Bliss) तीनों का एकत्व है। 'सच्चिदानन्द' ब्रह्माण्ड से परे है, फिर भी अखिल अस्तित्व, निखिल सृष्टि और समस्त प्राणियों पर उसका अधिकार है। यह परमतत्व परब्रह्म (Absolute) है, ब्रह्माण्ड में चेतना शक्ति बन कर रमता है और मानव के अन्तर में आत्मा के रूप में रहता है। सृष्टि में प्लावित (Immanent) होने के कारण परमतत्व साकार (Personal) है, किन्तु साथ ही परे (Transcendent) होने के कारण निराकार (Impersonal) है। सारांश यह है कि सृष्टि में अभिव्यक्त (Manifest) होने पर भी अनन्त (Infinite), चिरन्तन (Eternal) 'सच्चिदानन्द' निःशेष (Inexhaustible) है।

'सच्चिदानन्द' में आत्माभिव्यक्ति की नैसर्गिक प्रवृत्ति होती है, अतः अपनी सृजनात्मक शक्ति (Creative Power या Divine Mother) को क्रियान्वित करके वह सृष्टि के रूप में विकास पाता है। सृष्टि-विकास को सुचारु रूप से नियंत्रित करने के लिए 'सच्चिदानन्द' दिव्यमनस् के रूप में पूँजीभूत हो जाता है। फिर 'ऊर्ध्वमूलमधःशाखम्' के अनुसार सृष्टि का विकास ऊपर से नीचे की ओर अग्रसर होता है और क्रमशः मनस् (Mind), प्राण (Life) और भूतपदार्थ (matter) उत्पन्न होते हैं। भूतपदार्थ अथवा पृथ्वी का स्तर सबसे नीचे का स्तर है किन्तु उसमें दिव्य अस्तित्व तथा अपने से ऊपर के अन्य स्तरों के गुण बीज-रूप में विद्यमान रहते हैं। पृथ्वी का अनन्त काल से यही प्रयत्न है कि वह अपने इन सुप्त गुणों को विकसित और व्यक्त करे तथा अन्त में अपने श्रोता दिव्य सृष्टा (Divine Creator) तक ऊपर उठ जाय। अतः सृष्टिक्रम सप्रयोजन है; सृष्टि धीरे धीरे दिव्य पूर्णता की ओर अग्रसर होती जा रही है।

पृथ्वी के विकासक्रम में पहला क़दम था भूतपदार्थ में प्राण का आविर्भाव और दूसरा क़दम था प्राणमय भूतपदार्थ में मनस् का विकास। इस प्रकार भूतपदार्थ (Matter), प्राण (Life) और मनस् (Mind) नामक तीन पदार्थों (Categories) का सम्मेलन पृथ्वी की आन्तरिक प्रगतिशीलता के फल-स्वरूप हुआ है। मनुष्य इन तीनों पदार्थों के संगठन का मूर्त्त रूप है। पृथ्वी ने मनुष्य के रूप में मनस् का खूब विकास किया है। पर विकास की प्रवृत्ति अभी और आगे बढ़ेगी, और तब तक संतुष्ट न होगी जब तक कि पृथ्वी पर मानवों में दिव्यमनस् (Supermind) की प्रतिष्ठा न हो जाए। दिव्यमनस् का सृजन होने पर मनुष्य अपने वातावरण को, ब्रह्माण्ड को, दिव्य दृष्टिकोण से देखने में समर्थ होगा और शरीर, प्राण, मनस् आदि का उदात्तीकरण (Sublimation) करना उसके लिए सम्भव हो जाएगा जिसके फल-स्वरूप मानव जीवन दिव्य-प्रयोजन (Divine Purpose) की उपलब्धि (Realisation) करने के योग्य बन जाएगा।

अतः सृष्टि की व्याख्या करने में श्री अरविन्द विकासवाद (Evolution) के सिद्धान्त का आश्रय लेते हैं। उनका विकासवाद डार्विन के विकासवाद से भिन्न है क्योंकि प्रथम तो वह भौतिक न होकर अध्यात्मिक है; दूसरे वह यन्त्रवादी (Mechanistic) न हो कर प्रयोजनवादी (Teleological) है; और तीसरे उसके अनुसार सृजन-क्रिया एक दोहरे कार्य-व्यापार (Double movcment) द्वारा सम्पन्न होती है। सृष्टि में परब्रह्म से लेकर जड़ पृथ्वी तक कई तारतम्यात्मक (Hierarchical) स्तर हैं। जड़ पृथ्वी अपने अव्यक्त दिव्य गुणों को विकसित करने के लिए संघर्ष करती हुई ऊपर की ओर उन्मुख होती है—यह 'उत्थान' (Ascent) नामक क्रिया है। किन्तु ऊपर से मानों पृथ्वी की प्रगतिशीलता सूचक साध (Call) को सुन कर देव अपनी दिव्य शक्तियों को पृथ्वी की सहायतार्थ नीचे भेजता है—यह 'अवतार' (Descent) क्रिया है। उत्थान और अवतार की दोहरी क्रिया से ही पृथ्वी अपने बीज-रूप दिव्य गुणों को अपने विभिन्न अवयवों में व्यक्त करने में सफल होती है। यह क्रिया पृथ्वी के दृष्टिकोण से विकास (Evolution) है; पर देव के दृष्टिकोण से अ-विकास (Involution) है।

पृथ्वी युग-युगान्तर से मानों दिव्यमनस् की अवतारणा के लिए भगीरथ-प्रयास कर रही है। पृथ्वी का सबसे अधिक विकसित अंग मनुष्य ही है अतः दिव्यमनस् मनुष्य ही में अवतरित हो सकता है न कि भूतपदार्थ, प्राण अथवा मनस् में। मनुष्य शरीर, प्राण और मनस् का संगठन-मात्र ही नहीं है बल्कि उसमें आत्मन् है, चिद्शक्ति है। शरीर, प्राण और मनस् के निम्न स्तरों पर मानव स्वतन्त्र नहीं है अपि तु देश-काल के भौतिक और प्राकृतिक नियमों में बद्ध है; पर चिद्-स्तर पर वह स्वतन्त्र है अतः अध्यात्मिक जीवन में वह स्वच्छन्दतापूर्वक लक्ष्य और साधन निर्धारित कर सकता है। मनुष्यों में भी योगी दिव्य मनस् के योग्यतम वाहक (Vehicle) हैं क्योंकि उन्होंने साधना और आत्म-समर्पण द्वारा अपनी आत्मा को दिव्य अवतरण के लिए उपयुक्त बना दिया है और ऊपर से आते हुए दैवी अनुग्रह (Divine Grace) का स्वागत करने के लिए वे अपने सम्पूर्ण अस्तित्व से तत्पर रहते हैं।

स्पष्ट है कि श्री अरविन्द के अनुसार विश्व अतात्विक (Phenomenal) न होकर तात्विक है। विश्व भ्रमात्मक या मायामय नहीं है। प्रवंचना नहीं है, वह देव की अभिव्यक्ति है और सत्य है। हाँ उसमें त्रुटि है, अपूर्णता

है, और पीड़ा है; किन्तु यह तो अनिवार्य रूप से उत्पन्न होते हैं जब कि देव एक से अनेक बनता है, असीम होकर भी सीमा के बन्धन में बँधता है। इसके अतिरिक्त दुख के ये विषम स्वर विश्व-संगीत के सम में लय हो जाने के लिए हैं। प्रगति में बाधाएँ आती ही हैं, पर दिव्यमनस् के अवतरित होने पर सारे विरोध एक पारस्परिक सामंजस्य में गुँथ जाएँगे। मनुष्य का चरम श्रेय (Summum Bonum) साधना द्वारा दिव्यमनस् को प्राप्त करना है। अहम् (Ego) और अज्ञान ही दूषित दृष्टिकोण, नानात्व, तुच्छ इच्छाओं, स्वार्थों व संकुचितता के जन्मदाता हैं। अहम् का कायाकल्प करके उसे चिद्शक्ति में परिवर्तित करना ही मानव को अभीष्ट है। ब्रह्माण्ड की उदात्त और प्रेरक शक्तियाँ सदा ही हमारे अध्यात्मिक संघर्ष में हाथ बँटाने के अर्थ अनुग्रह (Grace) प्रदान करने को तत्पर रहती हैं। मनुष्य का कर्त्तव्य केवल इतना ही है कि वह दैवी सहायता के लिए अपने आपको योग्य बनाए। श्री अरविन्द का कथन है कि "मोक्ष व्यष्टि द्वारा समष्टि की प्राप्ति तथा भौतिक चेतना द्वारा अध्यात्मिक गुणों के पुनर्विकास द्वारा ही उपलब्ध हो सकता है।" ज्यों ज्यों मानव-जाति साधना और योग द्वारा अपने अध्यात्मिक वैभव में अभिवृद्धि करती जाएगी उसी मात्रा में दिव्यमनस् धरा पर अवतरित होता जाएगा। और वसुधा की चेतना परिष्कृत और सुसंस्कृत होती जाएगी। मनुष्य की तो बात ही क्या, पशु और जड़ पदार्थ भी दिव्यमनस् के स्पर्श से किसी शुभ घड़ी में अपनी अन्तर्निहित दिव्यता को प्रकट कर देंगे और सारी सृष्टि का सामूहिक अध्यात्मीकरण हो जाएगा। पूर्ण आत्म-विश्वास के साथ श्री अरविन्द इस सम्बन्ध में कहते हैं "अतएव भौतिक विश्व अपने स्वभाव से ही अपने में सुप्त प्राण को वास्तविक प्राण में, सुप्त मनस् को वास्तविक मनस् में, विकसित करने को बाध्य है; और अपने उसी स्वभाव के फलस्वरूप वह अपने सुप्त दिव्य मनस् को वास्तविक दिव्य मनस् के रूप में विकसित करेगा तथा अपनी गुप्त चिद्शक्ति को "सच्चिदानन्द" के त्रिमुखी वैभव में परिणत करके रहेगा।"

श्री अरविन्द के प्रभावशाली दर्शन की संक्षिप्त रूपरेखा हमारे सम्मुख प्रस्तुत है। हम सहज ही में इस दर्शन की महानता का अनुमान कर सकते हैं और निश्चय ही इसके प्रणेता को प्लेटो, शंकर और हीगेल आदि विश्व प्रसिद्ध अध्यात्मवादी दार्शनिकों की श्रेणी में रख सकते हैं। ब्रह्मवादी दर्शन (Absolutist Philosophies) प्रायः स्थित्यात्मक (Static) और पारलौकिक (Other worldly) होते हैं, परन्तु योगी अरविन्द का 'सच्चिदानन्द' गत्यात्मक (Dynamic) है और विश्व से परे होते हुए भी विश्व में अभिव्यक्त होने की चेष्टा करता रहता है। आज के संकट-ग्रस्त मानव के लिए अरविन्द-दर्शन आशा और उत्साह का स्रोत बन सकता है। इस दर्शन के अनुसार मानव में अनन्त शक्तियाँ हैं और ब्रह्माण्ड की शक्तियाँ मानवी आदर्शों का साथ देती हैं। सत्यं, शिवं, सुन्दरम् के मान (Values) मानव के कल्पना-जन्य आदर्श नहीं हैं, वरन् ब्रह्माण्ड की नीवों में उनका दृढ़ आधार है। बाधाएँ आएँगी, विरोध भी पद-पद पर प्रकट होगा और अन्धकार भी घिर-घिर कर आएगा—परन्तु पृष्ठभूमि में स्थित 'सच्चिदानन्द' मानव को प्रगति-पथ पर ढकेलता रहेगा और वही 'सच्चिदानन्द' ऊपर से भी बड़े अनुग्रह से अवतरित होकर मानव के धर्मयुद्ध में सहायक बनता रहेगा। मनुष्य चाहे भौतिकवादी हो या अध्यात्मवादी, किन्तु सभी को यह मानना पड़ेगा कि विश्व की वर्त्तमान स्थिति असन्तोषपूर्ण है—परिवर्त्तन और प्रगति के लिए सभी लालायित हैं। योगी अरविन्द का विश्वास है कि सृष्टि विकासमय है और प्रगति होना अनिवार्य है और उनके इस विश्वास के पीछे सम्पूर्ण जीवन का अध्यात्मिक अनुभव है। जिस प्रकार हमें कला के सम्बन्ध में कला-विशेषज्ञ के विचार मान्य होते हैं, विज्ञान के सम्बन्ध में वैज्ञानिक का निर्णय तथ्यपूर्ण प्रतीत होता है, उसी प्रकार अध्यात्मिक क्षेत्र में हमें योगी और सन्त के अनुभवों पर ही निर्भर रहना पड़ेगा। श्री अरविन्द का योग-दर्शन यदि हमारे संघर्ष को सार्थक बताता है और हमारे काँक्षित आदर्शों को तात्विक मान्यता देता है तथा सम्पूर्ण भौतिक जगत् के अध्यात्मीकरण का सन्देश देता है, तो इसमें किस को आपत्ति हो सकती है?

हेस्टिंग्ज रोड,
इलाहबाद

—मोहन
एम. ए.

सूझ किसकी है ?

श्री ईश्वरदत्त संस्कृत के एक निराले कवि हो गए हैं। उनकी रचना 'धूर्तविटसंवाद' अपने ढंग की निराली रचना है। कामतन्त्र के प्रेमियों को उसका पाठ बहुत ही उपयोगी सिद्ध होगा। काव्य की दृष्टि से भी उसका महत्व कुछ कम नहीं। प्रसंग 'मान' का है। कहते हैं :

आशंकते रामदासीमेव मे हृदयम्। प्रविशामस्तावत्।
(प्रविष्टकेन) सैवेयम्। सैषा मां दृष्ट्वा भृशतरं प्ररुदिता।

अस्या नेत्रान्तविभ्रष्टाः कोपसर्वस्वसंभृताः
प्रियापराधगणनां कुर्वन्तीवाश्रुबिन्दवः ॥

(उपेत्य) मानिनि ! किमिदम् ?

आपूर्याभिनवाम्बुजद्युतिहरे नेत्रे प्रयातोऽधरं
तद्भ्रष्टः कठिनौ गतः स्तनतटौ तत्राप्यलब्धास्पदः
बाष्पस्ते तनुरोमराजिलुलितः शोकप्रसंगोज्झितः
नाभिं पूरयति प्रियांगुलिमुखप्रक्षेपलीलोचिताम् ॥

न खलु कृतमात्मनः सदृशं कुञ्जरकेण।

(धूर्तविटसंवाद, पृ. १०)

'कुञ्जरक' और 'रामदासी' के प्रेम-कलह पर आप का ध्यान उतना न होगा जितना कवि कुलगुरु कालिदास की इस रचना पर :

स्थिताः क्षणं पक्ष्मसु ताडिताधराः,
पयोधरोत्सेधनिपातचूर्णिताः।
वलीषु तस्याः स्खलिताः प्रयेदिरे,
चिरेण नाभिं प्रथमोदबिन्दवः ॥२४॥

(कुमारसंभव, पंचम सर्ग)

कारण यह है कि कालिदास का भाव ईश्वरदत्त से इतना मिलता है और वह इतना प्रसिद्ध है कि उसकी उपेक्षा हो ही नहीं सकती। फिर भी सरलता से यह कैसे कह दिया जाय कि ईश्वरदत्त ने इसे कालिदास से ग्रहण किया। इसे छोड़ भी दिया जाय तो भी ईश्वरदत्त की 'प्रियापराधगणना' की सूझ तो अपनी ठहरती है न? फिर ऐसी सूझबूझ के प्राणी को सहसा ऋणी कैसे मान लिया जाय ? प्रसंग भी ईश्वरदत्त का इतना सटीक है कि सूझ जैसे उन्हीं की सिद्ध होती है। कालिदास के प्रसिद्ध टीकाकार श्री मल्लिनाथ की टीका है :

प्रथम उदबिन्दवः। प्रथम विशेषणाद्बिन्दूनां विरलत्वं बहुवचनान्नातिविरलत्वं च गम्यते। तथा च चिरत्वनाभ्यन्तरगमनयोर्निर्वाहः। तस्याः पार्वत्याः पक्ष्मसु नेत्रलोमसु क्षणं स्थिताः स्थितिं गताः। स्थिता इत्यनेन पक्ष्मणा सान्द्रत्वं क्षणमिति स्नैग्ध्यं च गम्यते। अनन्तरं ताडितो व्यथितोऽधर ओष्ठो यैस्ते तथोक्ताः। एतेनाधरस्य मार्दवं गम्यते। ततः पयोधरयोः स्तनयोरुत्सेध उपरिभागे निपातेन पतनेन चूर्णिता जर्जरिताः कुचकाठिन्यादिति भावः। तदनु वलीषूदररेखासु स्खलिताः। निम्नोन्नतत्वादिति भावः। इत्थं चिरेण न तु शीघ्रम्। प्रतिबन्धबाहुल्यादिति भावः। नाभिं प्रपेदिरे प्रविष्टा न तु निर्जग्मुः। एतेन नाभेर्गाम्भीर्यं गम्यते।

इसमें सन्देह नहीं कि कालिदास की रचना के पद-पद में गहरे भाव भरे हैं और उसमें पार्वती का सौन्दर्य भी निखर आया है। किन्तु क्या इसका प्रसंग से भी कोई पूरा लगाव है। पार्वती के तप से इसका सम्बन्ध क्या ? इसे निकाल कर पढ़ें तो भी प्रकरण में कोई बाधा नहीं। 'हाँ थिरेण प्रपेदिरे' के आधार पर कहा जा सकता है कि शिव की प्रेम-वर्षा की भी यही स्थिति है। अन्यथा इपका कोई महत्व नहीं। उधर हम देखते हैं कि ईश्वरदत्त की स्थिति ऐसी नहीं। उसका प्रसंग से गहरा लगाव है। कथन भी इतना बाँका नहीं। 'कठिनौ स्तनतटौ' में खुला श्रृंगार है। इसका सारा सौन्दर्य छिपा है 'प्रियांगुलीमुखप्रक्षेपलीलोचिताम्' में। साथ ही यह भी स्पष्ट रहे कि जहाँ ईश्वरदत्त के यहाँ 'स्तनतट' का उल्लेख है वहाँ कालिदास के यहाँ 'पयोधरोत्सेध' का। बात यह है कि रामदासी का मुख नीचे को झुका है तो पार्वती का मुख ऊपर को उठा।

पहली शोकमग्न या वियोगग्रस्त है तो दूसरी संयोग के लिए लालायित । वह तो सूर्य पर दृष्टि लगा कर तप साध रही है न ? तो फिर दोनों के भावसाम्य में सन्देह क्या ? ईश्वरदत्त और कालिदास की कल्पना में अन्तर नहीं । हाँ, अन्तर है कलम या शिल्प में । कालिदास की कविता के सामने ईश्वरदत्त की रचना ओछी सिद्ध होती है, है भी । परन्तु इसी आधार पर यह तो कहा नहीं जा सकता कि इसकी सूझ भी कालिदास की ही है । हमें तो ऐसा लगता है कि भाव ईश्वरदत्त का है और शिल्प कालिदास का । आशा है हम दोनों कवियों के समयों पर विचार कर इसके बारे में फिर कुछ निश्चित रूप से कह सकेंगे । अभी विद्वानों के विचार के लिए इतना भी अल्प नहीं । हमारी समझ में ईश्वरदत्त का अध्ययन समयोपयोगी होगा । इसी से यह प्रस्ताव है ।

मंगलकरण, लंका,
बनारस

—चन्द्रबली पाण्डे

हाइनरिख़ हाइने की एक कविता
(मूल जर्मन से अनूदित)

मेरा दिन एक उल्लासमय काव्य था और रात सुख की एक कहानी थी ।
जब मेरी अंगुलियाँ वीणा के तार का स्पर्श करती थीं
तो मेरे मित्र आनन्द विभोर हो नाच उठते थे ।

मेरे गीत से ख़ुशी की मस्ती और आग निकलती थी,
मेरे गीत ने अंधेरे को आलोकित किया है ।

… … … …

मेरा बसन्त अपने यौवन के पूर्ण विकास पर है,
मेरी तमाम फ़सल घर में आ चुकी है—
और मैं इसी दम ये सभी चीज़ें जो इतनी प्यारी हैं,
जिनसे यह संसार मेरे लिए इतना सुखद और सुन्दर बन गया है, छोड़ दूँगा ।

वीणा के तारों पर मेरा हाथ शिथिल पड़ जाता है
वह प्याला जो मैं हर्षातिरेक में अपने अधरों से लगाए
था अचानक टुकड़े टुकड़े हो जाता है ।

हे ईश्वर ! यह कितनी वीभत्स मृत्यु है !
हे ईश्वर ! अपने इस छोटे से नीड़ में मेरा जीवन कितना सुखी था !

करोल बाग़,
नई दिल्ली

अनु० : मंगलकिशोर पाण्डेय

कृष्णमिश्र का काल और जीवनवृत्त

संस्कृत के अधिकाँश कवियों की तरह कृष्णमिश्र अपने व्यक्तिगत जीवन के विषय में मौन ही रहे हैं तथापि उनकी एक मात्र उपलब्ध कृति 'प्रबोध चन्द्रोदय' में कुछ ऐसे ऐतिहासिक तथ्यों का निर्देश है जिनकी सहायता से इनका समय निर्धारण अवश्य किया जा सकता है। ये तथ्य स्वयं सुस्पष्ट होने के साथ साथ अन्य स्रोतों से भी परिपुष्ट हैं, अतः इनको दृष्टिगोचर रख कर किया जानेवाला काल-निरूपण सत्य से दूर नहीं होगा।

'प्रबोध चन्द्रोदय' नाटक की भूमिका में चन्देल और कालचूरी राजाओं में विद्यमान संघर्ष का और परिणामतः चन्देल राजा कीर्तिवर्मा की कालचूरी राजा कर्ण (लक्ष्मी-कर्ण) पर प्राप्त की हुई विजय का उल्लेख है। वहीं पर यह भी वर्णित है कि इस नाटक का प्रथम अभिनय कीर्तिवर्मा की राजसभा में हुआ था। इसलिए यह ऐतिहासिक तथ्य कृष्णमिश्र का काल निर्णय करने में अत्यन्त महत्वपूर्ण समझा जाना चाहिए।

कीर्तिवर्मा और कर्ण के अतिरिक्त नाटक की भूमिका में गोपाल नामक एक अन्य व्यक्ति का भी निर्देश है। यद्यपि इस गोपाल की विजयी राजा कीर्तिवर्मा से भी अधिक प्रशंसा की गई है और यही नहीं कीर्तिवर्मा को विजय प्राप्त कराने का श्रेय भी इसे दिया गया है; तथापि यह स्वयं इतिहास में अज्ञात होनें के कारण वर्तमान समस्या को हल करने में किसी प्रकार से सहायक नहीं है। इसके विषय में इतना ही कहना पर्याप्त है कि नाटक में कीर्तिवर्मा इस व्यक्ति का मित्र कहा गया है परन्तु टीकाकारों ने इसे कीर्तिवर्मा का सेनापति लिखा है। डा. कृष्णमाचारियर ने अपने संस्कृत साहित्य के इतिहास में इस पिछले विचार को पुष्ट करनेवाले एक शिलालेख का भी उल्लेख किया है किन्तु प्रयत्न करने पर भी मुझे ऐसे किसी शिलालेख का पता नहीं चला।

कीर्तिवर्मा की कालचूरी राजाओं पर प्राप्त की हुई विजय का महत्व समझने के लिए चन्देलों के इतिहास का संक्षिप्त परिचय आवश्यक है। कीर्तिवर्मा का चन्देल राजाओं में एक विशिष्ट स्थान है। इस वंश ने कुछ समय तक उत्तर भारत में शासन किया था। चन्देल राजा वर्तमान बुन्देलखण्ड के जेजाकभुक्ति स्थान में राज्य करते थे। उनके शक्ति-सम्पन्न होने के कारणों के विषय में ऐतिहासिक एक मत नहीं है। डा. ईश्वरीप्रसाद ने अपनी 'मध्ययुगीन भारत' (Mediaeval India) पुस्तक में लिखा है कि चन्देल लोग स्थानीय परिहार सामन्तों को राज्यच्युत करके शक्तिशाली हुए थे। दूसरी ओर डा० एच. सी. राय का विश्वास है कि चन्देल राजा अपने वंश के संस्थापक नन्नुक के समय में गुर्जर प्रतिहार नागभट्ट के सामन्त के रूप में 'खजुराहो' नामक स्थान पर सत्तारूढ़ हुए थे। यह दृष्टिकोण अधिक उपयुक्त दिखाई देता है क्योंकि उस समय गुर्जर प्रतिहार अपनी शक्ति की चरमसीमा पर विद्यमान थे। परिणामतः चन्देलों जैसे एक छोटे वंश द्वारा उनका निर्मूल किया जा सकना सम्भव नहीं है।

नन्नुक के उपरान्त उसका लड़का वाक्पति हुआ, जिसके उत्तराधिकारी जयशक्ति और विजयशक्ति थे। शिलालेखों में विजयशक्ति के पुत्र राहिल का पर्याप्त यशोगान हुआ है जो अपनी शूरता के लिए प्रसिद्ध था। वास्तव में वंशावली के इन प्रारम्भिक राजाओं में नन्नुक को छोड़ कर शेष सब नाममात्र के ही राजा हुए हैं। सांस्कृतिक और राजनैतिक दृष्टि से इस वंश की महत्ता हर्ष और यशोवर्मा के समय से प्रारम्भ हुई। हर्ष एक ऐसे उपयुक्त अवसर पर सिंहासनासीन हुआ जब कि राष्ट्रकूटों और गुर्जर प्रतिहारों का संघर्ष पिछले वंश की पराजय में परिणत हो रहा था। खजुराहो के एक शिलालेख में वर्णित है कि हर्ष और उसके पुत्र ने "क्षितिपालदेव" को पुनः सिंहासन पर बैठाया था। इसी हर्ष के पुत्र यशोवर्मा ने चेदि के कालचूरियों के साथ संघर्ष का प्रारम्भ किया और उनसे कालिंजर का दुर्ग भी जीत लिया। इस प्रकार चन्देल वंश चेदि, गुर्जर प्रतिहार और राष्ट्रकूटों को हरा कर एक शक्तिशाली वंश की तरह सामने आया। यशोवर्मा के पुत्र धंग का शासन लम्बा और महत्वपूर्ण था। उसने तत्कालीन राजनीति और संस्कृति के निर्माण में महत्वपूर्ण भाग लिया। कनिंघम

के मतानुसार खजुराहों के मन्दिर दसवीं और ग्याहरवीं शताब्दी में निर्मित हिन्दु मन्दिरों में सर्वश्रेष्ठ कलाकृति के प्रतीक हैं। धंग के पुत्र गण्ड ने अपने पिता की तुर्क विरोधिनी नीति का पूर्णतः अनुसरण किया। वह और उसके पुत्र विद्याधर ने अन्य राजपूत राजाओं के साथ मिल कर महमूद ग़ज़नवी का विरोध किया था। इसी गण्ड ने कन्नौज के राजा राज्यपाल की महमूद गज़नवी को आत्मसमर्पण करने के कारण हत्या की थी।

गण्ड की मृत्यु के पश्चात् चन्देलों और कालचूरियों का संघर्ष उग्र हो गया। क्योंकि दोनों ही उत्तर-भारत पर आधिपत्य जमाने की आकाँक्षा रखते थे। इस संघर्ष का श्रीगणेश गांगेयदेव कालचूरी ने किया जिसे उसके पुत्र लक्ष्मीकर्ण ने और आगे बढ़ाया। विद्याधर के बाद क्रमशः विजयपाल और देववर्मा सिंहासनारूढ़ हुए किन्तु ये दोनों ही नाम मात्र के राजा थे। तब कीर्तिवर्मा राजगद्दी पर बैठा। 'प्रबोध चन्द्रोदय' नाटक के अतिरिक्त शिलालेखों के रूप में भी कुछ सामग्री उपलब्ध है जिससे कीर्तिवर्मा के इतिहास का संकलन किया जा सकता है। यह स्पष्ट नहीं है कि वह अपने बड़े भाई देववर्मा को राज्यच्युत करके गद्दी पर बैठा। उसके अनन्तर देववर्मा की स्थिति का पता उत्तर-प्रदेश के हमीरपुर ज़िले की पनवारी तहसील के नन्यौरा ग्राम में प्राप्त एक ताम्रपत्र पर लिखे अनुदान से चलता है। परन्तु अन्य चन्देल वंशानुक्रमणियों में इसके शासन की किसी भी राजनैतिक घटना का वर्णन नहीं मिलता। यहाँ तक कि कुछ में तो इसका नाम भी छोड़ दिया गया है। मदनवर्मा के मऊ के शिलालेख में विजयपाल के बाद कीर्तिवर्मा का ही नाम है। महोबा के एक टूटे हुए शिलालेख तथा देवगढ़ शिलालेख के विषय में भी वही बात सत्य है।

कनिंघम की सम्मति में चन्देलों की वंशानुक्रमणियों में देववर्मा के नाम को छोड़ देने का कारण उसका निस्सन्तान होना अथवा कीर्तिवर्मा द्वारा उसके पुत्रों की हत्या हो सकती है। प्रथम विकल्प तो अधिक सम्भव प्रतीत नहीं होता क्योंकि सन्तानहीन राजाओं का नाम भी वंशावलियों से हटाया नहीं जाता। हर्षवर्धन के भाई राज्यवर्धन का नाम जो निस्सन्तान मरा था वंशावली में दिया गया है। पुनः चन्देल वंश के जयशक्ति और विजयशक्ति का उदाहरण भी हमारे सामने है। कीर्तिवर्मा द्वारा अपने भ्रातृपुत्रों की हत्या के विकल्प के पक्ष में कुछ और भी प्रमाण हैं। डा० एच. सी. राय का कथन है कि चन्देल वंशानुक्रमणियों में देववर्माविषयक यह मौन एक सीमा तक उस वंश के इतिहास में उसके शासन का अत्यन्त अंधकारपूर्ण होने का द्योतक है। उनका विचार है कि इस समय कालचूरी राजा अत्यन्त शक्तिसम्पन्न हो गए थे और वास्तव में कुछ समय तक चन्देल भूमि पर भी उन्होंने आधिपत्य जमा लिया था। उनका तो यहाँ तक विश्वास है कि कीर्तिवर्मा के किसी पूर्ववर्ती राजा को कालचूरी राजाओं के साथ संघर्ष में अपने प्राणों से भी हाथ धोना पड़ा था। इसलिए, यह स्पष्ट है कि चन्देल राज्य और वंश पर एक संकट आ गया था और हो सकता है इसी कारण दोनों भाइयों में विरोध बढ़ गया हो। 'प्रबोध चन्द्रोदय' नाटक में भी प्रतीक रूप से विवेक और महामोह का विरोध दिखाया गया है जिसमें परिणामतः विजयश्री विवेक को मिलती है। यह कल्पना की जा सकती है कि यह रूपक शायद देववर्मा और कीर्तिवर्मा के विरोध की ओर इंगित करता है। कीर्तिवर्मा, देववर्मा और भूमिपाल (जो कि एक शिलालेख में विजयपाल का उत्तराधिकारी कहा गया है) एतद् विषयक विरोधी शिलालेखों के प्रमाणों का समन्वय डा० विन्सैन्ट स्मिथ ने तीनों को एक ही व्यक्ति मान कर किया है। किन्तु वास्तविकता ऐसी प्रतीत नहीं होती।

कर्ण पर कीर्तिवर्मा की विजय का महोबा के शिलालेख में अत्यन्त सुन्दर वर्णन है: "जिस प्रकार पुरुषोत्तम (विष्णु) ने मन्दराचल पर्वत से अनेकों पर्वतों को निगल जाने वाले क्षीर समुद्र को मथ कर अमृत और लक्ष्मी को दिग्गजों के साथ प्राप्त किया, (उसी प्रकार) उस (कीर्तिवर्मा) ने अपनी बलवान् भुजाओं से उद्दण्ड लक्ष्मीकर्ण को, जिसकी सेनाओं ने बहुत से राजाओं को नष्ट कर दिया था, पराजित करके हाथियों के साथ साथ धन और यश को प्राप्त किया।" ऐसा ही वर्णन 'प्रबोध चन्द्रोदय' की प्रस्तावना में आया है।

अब समस्या यह है कि लक्ष्मीवर्ण की पराजय का निश्चित समय क्या था यह ज्ञात किया जाए। शायद कीर्तिवर्मा की यह विजय इस नाटक के लिखे जाने में मूल-प्रेरणा थी। मेसी (Maisey) के सं० २ कालिंजर शिलालेख के अनुसार कर्ण के पराजय की तिथि १०८० ई० सन् है। अतः इस नाटक का लेखन-

काल इस घटना के पश्चात् ही होगा । उपर्युक्त शिलालेख में कीर्तिवर्मा के पुत्र सल्लक्षण का भी इस विजय से सम्बन्ध बताया गया है । अतः यह स्पष्ट है कि 'प्रबोध चन्द्रोदय' नाटक में वर्णित कीर्तिवर्मा सल्लक्षण का पिता कीर्तिवर्मा प्रथम ही है ।

इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि कवि कृष्णमिश्र कीर्तिवर्मा, लक्ष्मीकर्ण और गोपाल के समकालीन थे तथा ११ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुए थे । 'प्रबोध चन्द्रोदय' नाटक में वर्णित कुछ दार्शनिक सिद्धान्तों के आधार पर जर्मन विद्वान् गोल्ड स्टुकर ने इस नाटक का लेखनकाल १२ वीं शताब्दी का अन्त या १३ वीं का प्रारम्भ निश्चित किया है । उनका मत विचारणीय है । संक्षेपतः उनकी युक्ति परम्परा इस प्रकार है :

कृष्णमिश्र ने वेदान्त के अद्वैत तत्व का वैष्णवों की भक्ति के साथ समन्वय किया है । वेदान्तियों की दृष्टि में परमार्थतः भक्ति के लिए कोई स्थान नहीं है क्योंकि वस्तुतः भक्तिभाजन और भक्त अभेद हैं । रामानुजाचार्य ने अपने विशिष्टाद्वैत के सिद्धान्त से भक्ति-भावना के लिए एक दृढ़ आधार प्रस्तुत किया था । 'प्रबोध चन्द्रोदय' नाटक में विष्णुभक्ति का आश्रय लिया गया है अतः इसके लेखक को भक्ति मतावलम्बी और रामानुज का अनुयायी कहा जा सकता है । दूसरी युक्ति यह है कि उड़ीसा में विद्यमान विष्णु के मन्दिर का "पुरुषोत्तमायतन" नाम १२ वीं शताब्दी में प्रचलित हुआ था । यह प्रस्तुत नाटक में भी विष्णु मन्दिर के लिए प्रयुक्त हुआ है । इसके साथ साथ गोल्ड स्टुकर का यह भी विचार है कि रामानुज के प्रारम्भिक अनुयायियों की तरह कृष्णमिश्र दक्षिण के निवासी थे ।

यह स्पष्ट है कि गोल्ड स्टुकर का विचार इस मान्यता पर आधारित है कि 'प्रबोध चन्द्रोदय' नाटक एक ऐसे व्यक्ति की कृति है जो न केवल रामानुजाचार्य द्वारा प्रभावित है अपि तु उनका एक अनन्य भक्त भी है । अन्य ऐतिहासिकों की तरह गोल्ड स्टुकर भी श्री रामानुजाचार्य का समय १२ वीं शताब्दी मानते हैं । अतः कृष्णमिश्र का काल वही या उससे पीछे होगा । अपने इस विचार की पुष्टि में उन्होंने निवाससम्बन्धी एक गौण बात भी उपस्थित की है ।

मेरा यह विश्वास है कि दृढ़ ऐतिहासिक प्रमाणों की उपस्थिति में इस कल्पनाजनित मत को अधिक महत्व नहीं दिया जा सकता । तथ्यों का विवेचन प्रकट करता है कि उनकी युक्तियाँ अपूर्ण हैं और साध्य को सिद्ध नहीं करतीं । यदि गोल्ड स्टुकर का मत रामानुज के काल के परवर्ती होने पर ही आधारित होता तो कोई विशेष चिन्तनीय बात नहीं थी क्योंकि बहुत से ऐसे विद्वान् भी हैं जो रामानुज का काल ११ वीं शताब्दी का प्रारम्भ मानते हैं । किन्तु उनके सिद्धान्त का एक दूसरा महत्वपूर्ण पहलू भी है कि कृष्णमिश्र रामानुज के अनुयायी थे ।

यह सत्य है कि भक्ति का शंकर के अद्वैत की पारमार्थिक दृष्टि में कोई स्थान नहीं है फिर भी व्यावहारिक जगत् में शंकर ने इसकी सत्ता को स्वीकार किया है । स्वयं श्री शंकर शिव के उपासक समझे जाते हैं । अपनी 'मध्यकालीन हिन्दु भारत का इतिहास' नामक पुस्तक में श्री सी. वी. वैद्य ने लिखा है "यद्यपि शंकर ने इसे (भक्ति को) सर्वोत्कृष्ट स्थान नहीं दिया था तथापि उन्होंने शिव, विष्णु, आदित्य और देवी आदि की मूर्तिपूजा की अनुमति दी ।" कृष्णमिश्र भी ऐसे वेदान्ती थे जो व्यावहारिक जगत् में भक्ति का महत्व स्वीकार करते थे और इसीलिए अपने नाटक को सुगम बनाने के लिए उन्होंने इसे भक्ति पर आधारित किया । यदि कृष्णमिश्र रामानुज के अनुयायी होते तो अपने नाटक में कम से कम किसी एक स्थान पर विष्णु के लिए नारायण शब्द का प्रयोग तो अवश्य करते जो कि इस सम्प्रदायवालों को अत्यन्त प्रिय है । इस विषय में दूसरी ध्यान देने योग्य बात यह है कि 'प्रबोध चन्द्रोदय' नाटक विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त का प्रतिपादक कभी नहीं समझा गया । इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाले 'संकल्प सूर्योदय' नाटक को वेंकटनाथ वेदान्तदेशिक ने 'प्रबोध चन्द्रोदय' का अनुकरण करके पीछे से लिखा है । पुनश्च, "पुरुषोत्तमायतन" नाम वाली युक्ति भी निस्सार है । पुरुषोत्तम विष्णु का एक नाम है और सामान्यतः प्रयोग में लाया जाता है ।

कृष्णमिश्र के दाक्षिणात्य होने की धारणा भी स्वयं नाटककार की उक्तियों से भ्रान्त सिद्ध होती है । 'प्रबोध चन्द्रोदय' के पाँचवें अंक में राजा विवेक द्वारा महामोह के पराजित हो जाने पर नास्तिक दर्शनों के पलायन का वर्णन करते हुए कृष्णमिश्र ने उत्तर भारत के प्रायः समस्त प्रान्तों में विद्यमान धर्मों का स्थूल रूप

से निर्देश किया है। ऐसे स्थल पर दक्षिण के विषय में कृष्णमिश्र का सर्वथा मौन ध्यान देने योग्य है। इसके अतिरिक्त अपने प्रदेश की भाषा के लिए "द्रविडाङ्गनोक्तवाचासिवार्धमविचार्य विकल्पयन्ति" जैसा व्यंगोक्ति वर्णन तो वे कदापि नहीं करते। इस सब से कृष्णमिश्र का दाक्षिणात्य होना तो किसी प्रकार सिद्ध नहीं होता।

कृष्णमिश्र के व्यक्तिगत जीवन को जानने के लिए हमें कुछ भी सामग्री उपलब्ध नहीं है। कैटलोगस कैटलोगरम् (Catalogus Catalogarum) में ऑफ्रैक्ट ने कृष्णमिश्र को 'प्रबोध चन्द्रोदय' का कर्ता लिख कर ही सन्तोष कर लिया है। नाटक के टीकाकारों ने इतना और जोड़ दिया है कि वे वेदान्त में दृढ़ विश्वास रखने वाले "हँस सम्प्रदाय" के सन्यासी थे। अनुश्रुति तो यह भी चली आती है कि अपने एक नाटक आदि पढ़ने के रसिक शिष्य को दर्शन के तत्व समझाने के लिए कृष्णमिश्र ने इस नाटक की रचना की। किन्तु इन कथाओं का महत्व किम्वदन्ती से अधिक नहीं है। इतना निश्चित है कि कृष्णमिश्र कट्टर वेदान्ती और अन्य दर्शनों में सर्वथा अविश्वास रखनेवाले व्यक्ति थे।

उनके माता पिता के विषय में भी कुछ ज्ञात नहीं है। प्रो. विन्टरनिट्ज़ ने लिखा है कि उनके पिता का नाम विष्णु था। विष्णु का पुत्र कृष्णमिश्र एक भिन्न व्यक्ति था जिसने 'पारस्कर गृह्यसूत्र' की श्राद्ध पद्धति पर टीका लिखी है। दक्षिण के कामकोटि पीठ के अधीश्वर चन्द्रशेखर सरस्वती के समकालीन होनेवाली बात भी अधिक विश्वसनीय नहीं है। कृष्णमिश्र के दक्षिणविषयक अज्ञान का ऊपर निर्देश किया जा चुका है।

वल्लभदेव की 'सुभाषितावली' में कृष्णमिश्र के नाम से उपलब्ध होनेवाले पाँचों श्लोक 'प्रबोध चन्द्रोदय' नाटक में विद्यमान हैं। शार्ङ्गधर पद्धति में भी कृष्णमिश्र के नाम से पाँच श्लोक संकलित हैं जिनमें से निम्नांकित तीन श्लोक इस नाटक में नहीं मिलते :

"मुक्ताभा नृकपालसूक्तिषु जटावल्लीषु मल्लीनिभा
वह्नौ लाजनिभा दृशो मणिनिभा भोगोत्करे भोगिनाम्।
नृत्यावर्तविवर्तनेरितपयः सम्मूर्च्छनोच्छालिताः
खेलन्तो हर मूर्ध्नि पान्तु भवतो गङ्गापयो बिन्दवः ॥१॥
इदमपटुकपाटं जर्जरः पिञ्जरोऽयम्
विरमति न गृहेऽस्मिन् क्रूरमार्जारवार्ता।
शुकमुकुलितजिह्वं स्थीयतां किं वचोभि-
स्तव वचनविनोदे नादरः पामराणाम् ॥२॥
उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी
दैवेन देय मिति कापुरुषा वदन्ति।
दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या
यत्ने कृते यदि न सिद्धयति कोऽत्रदोषः ॥३॥"

अन्तिम श्लोक सम्भवतः हितोपदेश से संग्रहीत है। किन्तु कृष्णमिश्र के नाम के साथ प्रयुक्त होने के कारण यहाँ उद्धृत किया गया है। अन्य दो श्लोक कृष्णमिश्र द्वारा लिखित शायद किसी अन्य ग्रन्थ के हों जो अब उपलब्ध नहीं है। प्रमाणाभाव में इस विषय में भी कुछ निश्चय से नहीं कहा जा सकता।

जोधपुर

—डा. जयदेव विद्यालङ्कार
एम. ए.

पुस्तकालयों की महानता

...सार्वजनिक पुस्तकालयों के गौरव और उनकी महानता का आधार पुस्तकों की दुर्लभ संस्करणों की संख्या नहीं होती और न पुरानी सदियों के संस्करणों की संख्या या वृहत् परिमाण में पाँडुलिपियाँ। एक पुस्तकालय उतना ही महान् होता है जितना कि उसकी पुस्तकों का जनता में प्रचलन होता है—उतना ही कि जितने नए पाठक उसकी ओर आकृष्ट होते हैं और जितनी तेजी के साथ किसी नई पुस्तक की माँग को पूरा किया जाता है...

—लेनिन

कामायनी में काम का स्वरूप

काम सृष्टा का स्वरूप है, उसका लक्षण, उसका गुण और उसका धर्म है। औपनिषदिक प्रमाण के अनुसार वह विराट् पुरुष जो इस संसृति का सृष्टा है स्वयं काममय है—'काममय एवायं पुरुषः।' इसी 'काममय' से इस विराट् विश्व का सृजन हुआ है, जिसमें हम निवास करते हैं, जिसके विपुल वैभव से हम नित्य ही चमत्कृत और विमुग्ध रहते हैं। इस काममय पुरुष में यह काम पहले से ही बीज रूप में अवस्थित है। वह उसके मन का स्वभाव है, अतएव ऋग्वेद कहता है: 'कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः।' वह मन का एक अविभाज्य गुण है। यही बीज जब उस विराट् के मन में विशेष रूप से अंकुरित और प्रवर्द्धित होने लगता है तब यह सृष्टि की बेलि फूट पड़ती है। तभी यह संसार अपने समस्त वैभव के साथ सामने आकर जगमगाने लगता है। विराट् स्वयं अपना विस्तार करके उसका आनन्द लेने लगता है और उसी में स्वयं घुस कर बैठ जाता है। विराट् की यह अनादि कामना ही उसे अपने चारों ओर छाई हुई नीरवता तथा अकर्मण्यता को भंग करने के लिए उत्साहित करती है, उसे कर्म में प्रवृत्त करती है। वह आह्लादित होकर इसी काम की प्रेरणा-शक्ति के सहारे सृष्टि करता है, अपने को बहुत से रूपों में फैला देता है। 'सोऽकामयत् बहुस्यां प्रजायेय' वाक्य उसकी इसी कामना, एकान्त के प्रति उठे हुए मानसिक विद्रोह का परिचय देता है। यह बहुत होने की बात कभी उसके सम्मुख कामना या इच्छा रूप में आती है और कभी विचार के रूप में। वह अपने अकेलेपन से क्षुब्ध होकर विचार कर उठता है कि मुझे अनेक हो जाना चाहिए, अपना विस्तार कर लेना चाहिए। इसीलिए कहा है:—'तद् ऐक्षत बहुस्यां प्रजायेय।' छा. उ.,६,२,३। अथवा ऐतरेय भी इसी बात की स्थापना करता हुआ कह रहा है:—'स ईक्षत लोकान्नुसृजा इति।' १,१। इतना ही नहीं, तैत्तिरीय बताता है कि वह कामना के बल पर सृष्टि करने के उपरान्त स्वयं भी उसी में अवस्थित हो गया: 'तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्।' अतएव मानना चाहिए कि यह विश्व इसी स्रष्टा का ही अपना रूप है, आत्म-विस्तार ही है। तात्पर्य यह कि काम आत्म-विस्तार का कारण है, रचना का प्रवर्तक है, प्रेरक शक्ति है।

यह प्रेरक शक्ति, जो अनादिकाल से विराट् के साथ उत्पन्न हुई है, जीव के साथ भी उसी प्रकार उसके गुण रूप में लगी चली आई है। यह काम वासना भी कहलाता है। योगवाशिष्ठकार का तो कहना है कि वासना तथा चित्त में कोई अन्तर ही नहीं है, वह दोनों एक दूसरे के पर्याय हैं:

> "वासनैव महाराजः स्वरूपं विद्धि चेतसः।
> चित्त शब्दस्तुपर्यायो वासनाया उदाहृतः॥"

और जीव क्या है? वह तो इसी चित्त के स्पन्दन का नाम ही है:

> "जीवश्चित्त परिस्पन्दः पुंसां त्रित्तं स एव च।"

अर्थात्, जीव चित्त के स्पन्दन का ही अभिधान है और कहना तो यह चाहिए कि चित्त ही जीव है। अभिप्राय यह कि यदि चित्त ही जीव है और चित्त का पर्याय वासना है तो दूसरे शब्दों में जीव का पर्याय भी वही वासना ही है। यदि हम यह स्वीकार करते हैं तो मानों दूसरे शब्दों में यही स्वीकार करते हैं कि विराट् स्वयं काममय है और उसी का स्वरूप यह जगत् भी काममय है क्योंकि इसमें वह विराट् स्वयं घुसा बैठा है, इसके रूप में स्वयं समाया बैठा है। अर्थात् अपने निराकार स्वरूप को साकारता प्रदान कर रहा है। अस्तु,

संसार में व्याप्त विराट् के लक्षणरूप काम की महिमा न केवल इतनी ही है बल्कि विद्वानों का कहना है कि संसार की कोई भी क्रिया ऐसी नहीं जिसके मूल में काम न हो, कामना न हो। जो कुछ भी किया जाता है वह सब काम के द्वारा ही, उसी की प्रेरणा से। यहाँ तक कि ज्ञानार्जन तथा कर्मयोग सभी के मूल में इस काम की ही प्रेरणा काम करती दीख रही है। बिना काम के तो कोई कहीं है ही नहीं:—

"कामात्मता न प्रशस्ता न चैवेहास्त्यकामता ।
यद् यद् हि कुरुते किंचित् तत् तत् कामस्य चेष्टितम् ॥
काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्चवैदिकः ।
अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित् ॥"

स्वयं मनुस्मृतिकार भी इसी स्वर में स्वर मिला कर कह रहे हैं:—यद् यद्धि कुरुते कार्य, तत्तद्धि काम चेष्टितम्।' फिर इस सिद्धान्त में शंका क्यों हो। इस सिद्धान्त की सत्यता को आज का फ्रायड भले ही अपने देश में आज पहली बार प्रस्तुत कर रहा हो किन्तु अपने यहाँ इसके इस स्वरूप का वर्णन बहुत बार हो चुका है। हमारे यहाँ इस काम को प्रेरक शक्ति मान कर ही भर्तृहरी जैसे राजा तथा वैरागी व्यक्ति ने स्पष्ट लिखा कि :

"ते…कामेन…निहत्य निर्दयतरं नग्नीकृताः मुण्डिताः ।
केचित्पंचशिखीकृताश्च जटिलाः कापालिकाश्चापरे ॥"

अर्थात् काम से तिरस्कृत व्यक्ति ही वैरागी, तपस्वी और कापालिकादि बनता है। काम के महत्व को न जान कर, उससे भयभीत और विरत होकर ही इस प्रकार के वेष धारण करने की ओर व्यक्ति प्रवृत्त होता है। तुलसी के शब्दों का व्यवहार करते हुए कहना पड़ेगा :

"नारि मुई घर संपत्ति नासी
मूंड़ मुंडाय भए सन्यासी।"

सारांश यह कि भारतीय विचार के अनुसार काम ही जीवन की, आत्म-विस्तार की मूल प्रेरणा है। वह प्रेरक-शक्ति है। वह ज्ञान तथा कर्म का मध्यस्थ है जो जीवन को पूर्णता की ओर ले जाता है। यही काम चतुर्वर्ग में से एक है। भारतीय का एक प्राप्य है। इसी कारण इसका महत्व प्रदर्शित करते हुए गीता में भगवान् ने अर्जुन का मोह नाश करते हुए कहा कि: 'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोस्मि।' अर्थात् मैं धर्म के अविरुद्ध काम हूँ। धर्मानुकूल आचरण अपने अन्तर्गत काम को भी समेट लेता है और वह काम सचमुच भगवान् का स्वरूप है, ग्राह्य है। काम का केवल वह स्वरूप त्याज्य है जो अधर्म संवलित है, धर्म के विरुद्ध है। इस काम को हमारे यहाँ विलास कहा है। इसी काम को भस्म करने की आवश्यकता भगवान् शंकर को हुई थी। और तभी से वह काम अशरीरी होकर अनंग कहलाने लगा था। इस प्रकार के काम का सम्बन्ध नायक और नायिका की रति से है, उनके शारीरिक सुखभोग से है। अतएव उस सम्बन्ध में आने वाले काम को कभी पुष्पधन्वा कहा जाता है, कभी विलास, कभी अनंग। कभी उसी से अश्लीलता का बोध कराया जाता है और कभी वसन्त के सहायक पंचशर का। इस काम का उल्लेख जब किया जाता है तब उसे इन्द्रियसुख का द्योतक मान कर हानिकारक होने के कारण पंचरिपुओं में से एक माना जाता है। इसका साथ देती है लज्जा, घृणा, कुत्सा और पाप-भावना। तब काम हेय और गर्हित होता है, अग्राह्य होता है।

'प्रसाद' ने भारतीय दर्शन और धर्म की भूमि पर उठे हुए अपने काव्य-प्रासाद कामायनी को बड़ी कुशलता से आकर्षक रूप दिया है। जिस मिट्टी में वह अंकुर पनपा है, उसी मिट्टी की सौंधी उसास उसमें व्याप्त है। अतएव भारतीय जीवन में जिस काम की इतनी विषद प्रशस्ति युगों से गाई जाती रही, उसको ही प्रधानता देना कामायनीकार के लिए सहज ही था। उसने काम का रूप अंकित करते हुए उन सब रंगों का उपयोग किया है, जो उसके चित्र को उभार सकते, उसे आकर्षण का केन्द्र बना सकते। उनके काव्य की नायिका श्रद्धा इसी काम की पुत्री है, कामगोत्रजा है, कामायनी है। अतएव उसका वर्णन भी कवि ने उसके अनुरूप ही माँसल अनुभूति से रंजित किया है। काम और श्रद्धा के सम्बन्ध का ध्यान उन्होंने पूर्णतया रखा है, इसीलिए जब वे काम के लिए 'मधुमय वसन्त' संज्ञा का प्रयोग करते हैं, तो कामगोत्रजा के लिए 'वसन्त के दूत' से अधिक सुन्दर अभिधान की कल्पना भी नहीं की जा सकती। यही वसन्त का दूत, जीवन में वसन्त का परिचय कराता हुआ मनु अर्थात् मन को जीवन के संघर्षों से पार कराता ले चलता है और जीवन के वास्तविक आनन्द का भान कराता है। तात्पर्य यह कि काम और श्रद्धा दो ही प्रसाद की दृष्टि में जीवन के पथ-प्रदर्शक हैं, दो ही जीवन के मूल-मन्त्र हैं।

कामायनी में उस काम का चित्रण भी है, जो विलास की ओर ले जाता है, नाश की ओर खींचता है, मनुष्य में अहं के निकृष्ट रूप को उभारता है और उस काम का चित्रण भी है जो 'विधाता की कल्याणी सृष्टि' का वरदान है, मंगल-मण्डित है, आत्म-विस्तार का

कारण है और उसी से मन का अहं उत्पन्न होकर जीवन को प्रेरणा देता है, प्रवृत्ति की राह दिखाता है। काम के उस विलासमय स्वरूप का परिचय हमें कामायनी में सबसे पहले होता है, जो विनाश की ओर ले जाता है। जहाँ जहाँ उस काम का स्वरूप अंकित किया गया है प्रसाद जी ने प्रायः उसे काम न कह कर विलास ही कहा है। काम वस्तुतः उनके लिए एक प्रेरक-शक्ति है इस कारण उसे विलास से अलग देखना ही उन्हें रुचिकर है। इस विलास रूप काम का दूसरा नाम उन्होंने दिया है—वासना। मनु के जीवन में, उन देवताओं के जीवन में जिनमें मनु एक बचे रह गए हैं, इस प्रलय से पूर्व इसी 'वासना की उपासना' चल रही थी। यह 'विकल वासना' ही सरिता के समान उच्छल तरंगों से उनके जीवन को उद्वेलित कर रही थी। कितना भयंकर था उसका प्रवाह, कितना मदमत्त था कि जिसे सोच कर मनु आज भी सिहर उठते हैं। और उस विलास-वासना के महासमुद्र में देवकुल डूबता हुआ भी निश्चिन्त होकर, अविचारशील होकर उतराने का प्रयत्न कर रहा था। उस वासना से लिप्त देवों का जीवन अनंग-पीड़ा का अनुभव करने में ही अपने को धन्य मानता, वही उसे 'मधुकर के मरंद उत्सव सा' लगता और अप्सरियों के 'नृत्य-शिथिल निश्वासों की मोहमयी माया' में छनता हुआ समीर उस अमृत-सन्तान के प्राणों की छाया ही बन रहा था :

"उन नृत्य-शिथिल निश्वासों की,
कितनी है मोहमयी माया।
जिनसे समीर छनता छनता,
बनता है प्राणों की छाया॥"

इसी निर्बाध-विलास की सरिता में तैरते हुए वे अमर जीवन की ही उपेक्षा कर बैठे, केवल अतृप्ति, केवल अपलक दर्शन की 'भूख भरी दर्शन की प्यास' जागृत हो रही थी। भूख अर्थात् भोगेच्छा तथा प्यास अर्थात् अतृप्ति यही दो तो जीवन में अवशिष्ट रह गए थे। अमर-जीवन का महत्त्व केवल इतना ही था कि उसके लिए प्रलय के पश्चात् मनु केवल यही सोच सके :

"अरी उपेक्षा भरी अमरते,
री अतृप्ति निर्बाध विलास।
द्विधा रहित अपलक नयनों की,
भूख भरी दर्शन की प्यास॥
बिछुड़े तेरे सब आलिंगन,
पुलक स्पर्श का पता नहीं।
मधमय चुम्बन कातरताएँ,
आज न मुख को सता रहीं॥"

काम का यह वासनामय रूप ही देवताओं का कृतिमय जीवन रह गया, यही उनका सहचर बना रहा। वे इसी की उपासना करते और इसी के संकेत पर नाचते, उनका विधान काम का ही विधान था। इस काममोह ने ही उन अमरों की आँखों पर ऐसा पर्दा डाल दिया कि वे उसी के अनुशीलन में जीवन-यापन करते हुए अतिचार की उस अवस्था पर पहुँच गए जहाँ से प्रलय का नाशमय कृत्य आरम्भ हो गया :

"मेरी उपासना करते वे,
मेरा संकेत विधान बना।
विस्तृत जो मोह रहा मेरा,
वह देव विलास वितान तना।
मैं काम रहा सहचर उनका,
उनके विनोद का साधन था।
हँसता था और हँसाता था,
उनका मैं कृतिमय जीवन था।"

जिसके परिणामस्वरूप : 'देवों की सृष्टि विलीन हुई।'

इस प्रकार के काम का स्पष्ट लक्षण है मोह, तथा अतृप्ति, तृष्णा या प्यास। मोह का स्वरूप और उसका परिणाम हम देख चुके। तृष्णा भी इसी अतिचार की ओर प्रवृत्त करती है। बार बार सब कुछ पाकर भी व्यक्ति अतृप्त ही रह जाता है। वह जितना ही इन्द्रिय-रस पीता है, जितना ही स्पर्श, रूप, रस गंध आदि का तत्तद इन्द्रियों द्वारा आनन्द लिया करता है उतना ही वह प्यास का अनुभव करता है। गीता का उपदेश भी यही है : 'ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते।' जिसकी प्रतिध्वनि ही प्रसाद की निम्न पंक्तियों में सुनाई पड़ती है :

"पीता हूँ हाँ मैं पीता हूँ,
यह स्पर्श रूप रस गंध भरा।

मधु लहरों के टकराने से,
ध्वनि में है क्या गुंजार भरा ॥"

अथवा,

"प्यासा हूँ मैं, अब भी प्यासा,
सन्तुष्ट ओघ से मैं न हुआ।
आया फिर भी वह चला गया,
तृष्णा को तनिक न चैन हुआ ॥"

यही काम जब रजनी के पिछले पहरों में अन्तरिक्ष की लहरों पर तैरता हुआ चुपचाप जीवन-वन में वसन्त के समान पैठ जाता है, तो प्रफुल्लता, तथा मधुमयता से भरी कितनी ही कलियाँ हँस कर अपना पराग बिखरा देती हैं, जिसकी बिछलन न जाने कितनों को गिराए बिना नहीं मानती। वसन्त की उस मोहक छटा में जब मंजरित यौवन से शरीर-तरु लद जाता है और स्वर का मधुर पिक कलकूजन से अपरिचित को चकित और विस्मत करने लगता है, तब इस काम की सुषमा का क्या कहना। इसके स्पर्श-सुख का कैसा निराला मोह है, कैसी विचित्र अनुभूति है उसकी कि :

"है स्पर्श मलय के झिलमिल सा
संज्ञा को और सुलाता है।
पुलकित हो आँखें बन्द किए,
तन्द्रा को पास बुलाता है ॥"

किन्तु यौवन-वसन्त को लाने वाला यह काम विनाश का साधन नहीं है, वह मनु की अथवा मन की अक्षय-निधि है, मन का पर्याय है, उसका गुण है, लक्षण है। इस अक्षय-निधि को पहचानना ही जीवन की गुत्थी को सुलझा लेना है। इसीलिए मन निरन्तर इसका ही परिश्रम करता है :

"मेरी अक्षय-निधि तुम क्या हो,
पहचान सकूँगा क्या न तुम्हें।"

यही विचार उसे पागल बनाए रखता है, और जब वह इसका स्वरूप जान लेता है तो स्वीकार कर लेता है कि :

"उलझन प्राणों के धागों की,
सुलझन का समझूँ मान तुम्हें।"

इस जीवन की गुत्थी को सुलझाने में काम की सहायता करती है रति। रति ही अनादि वासना बन हम और आप में समा जाती है, वही उस विराट् में भी समाई रहती है और उसका स्वरूप है आकर्षण। काम और रति ही इस विश्व के रूपनिर्माण के कारण हैं। इन्हीं के वश में होकर वह विराट् उस अव्यक्त स्वरूप को छोड़ कर, रति से भर कर आत्म-विस्तार करने की चेष्टा करता हुआ व्यक्त रूप में सामने आ जाता है, सृष्टि का रूप धारण कर लेता है। उसी का सृजन करके उसी में प्रवेश कर जाता है। 'तद् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' यही एकमात्र सत्य है। इसी का अनुमोदन करते हुए प्रसाद जी का काम बोल रहा है :

"जो आकर्षण बन हँसती थी,
रति थी अनादि वासना वही।
अव्यक्त प्रकृति उन्मीलन की,
अन्तर में उसके चाह रही ॥"

काम का साहचर्य पाकर वही रति संसृति में साकार रूप में प्रगट हो गई जिसे काम ने स्वीकार करते हुए कहा :

"हम दोनों का अस्तित्व रहा,
उस आरम्भिक आवर्तन सा।
जिससे संसृति का बनता है,
आकार रूप के नर्तन सा ॥"

यह रति रागमयी है, मधुमय है और रति तथा काम दोनों का समुचित प्रतिवर्तन ही जीवन के शुद्ध विकास का साधन है, उनका अतिचार नहीं। यही काम जीवन की मूल प्रेरणा है, मूल शक्ति है। जब यही जाग उठती है, तभी प्रकृति का अणु परमाणु सभी दौड़ कर एक होने लगते हैं एक दूसरे के आकर्षण में खिचे हुए चले आते हैं और परिणाम यह होता है कि सृष्टि का रूप प्रकट हो जाता है :

"वह मूल शक्ति उठ खड़ी हुई,
अपने आलस का त्याग किए।
परमाणु बाल सब दौड़ पड़े,
जिसका सुन्दर अनुराग लिए ॥"

काम के उत्पन्न हो जाने पर परमाणुओं के बीच जो रति अथवा आकर्षण प्रकट होता है वह विश्लेषण में संश्लेषण उपस्थित करता है, अपूर्णता में पूर्णता लाता है :

"प्रत्येक नाश विश्लेषण भी,
संश्लिष्ट हुए, बन सृष्टि रही।
ऋतुपति के घर कुसुमोत्सव था,
मादक मरन्द की दृष्टि रही ॥"

और जड़ प्रकृति भी सजीव की भाँति संयोग के लिए व्याकुल हो उठती है : —

"भुजलता पड़ी सरिताओं की,
शैलों के गले सनाथ हुए।
जलनिधि का अंचल व्यजन बना,
धरणि के दो दो साथ हुए ॥"

तात्पर्य यह है कि काम जीवन की मूलशक्ति है, सृष्टि के सृजन और विकास में भी यही शक्ति छिपी है। किन्तु इस शक्ति का पता पाना, इसका अनुभव करना सहज नहीं। इसकी परिचयदात्री केवल श्रद्धा है, जो कामगोत्रजा ही है। श्रद्धा उस कामरूपी वसन्त का दूत है। यही काम के श्रेयस्कर रूप का परिचय देती है उसके महत्व को समझाती हुई मनु रूपी मन को सन्तुलित करके जीवन का आनन्द-लाभ कराती है। जीवन का रहस्य इसी श्रद्धा से ही खुलता है। काम अपने स्वरूप को कभी श्रद्धा के रूप में व्यक्त कर देता है, कभी आशा, आकांक्षा और लालसा के रूप में। काम का क्रियाहीन विचारमय रूप ही आशा है, उसकी चिन्ता की अपूर्ति में आकांक्षा और लालसा है। मूलतः काम ही हम सबमें छिपा है। सबसे पहले प्राकृतिक भूख के समान मधुर यह काम, यह अनादि वासना मन में जागृत होकर द्वन्द्व की सुखद कल्पना जगाती है और धीरे धीरे यही आकर्षण जीवन के रक्षण और वर्धन की लालसा में परिणत होता जाता है :—

"नव हो जगी अनादि वासना,
मधुर प्राकृतिक भूख समान।
चिर परिचित सा चाह रहा था,
द्वन्द्व सुखद करके अनुमान ॥"

और इसी से न जाने कैसे :—'जीवन की लालसा आज क्यों, इतनी प्रखर विलासमयी' हो गई है। मन जितना ही इस लालसा में डूबता जाता है, उतना ही उसे अपना अस्तित्व बोध होता जाता है। उसकी निराशा और अज्ञान का अंधकार दूर होता जाता है और अन्त में ऐसी चेतना जागृत होती है जो आत्मरक्षण में प्रवृत्त करा देती है। इसका अनुभव मन से कहला लेता है:—

"मैं हूँ, यह वरदान सदृश क्यों लगा गूँजने कानों में।
मैं भी कहने लगा मैं रहूँ, शाश्वत नभ के गानों में ॥"

यही अहं का अनुभव मानव को सृष्टि के लिए प्रवृत्त करता है, स्वयं स्रष्टा इसी चेतना से भर कर आत्म-विस्तार करता है। अतएव यह लालसा, यह कामना जीवन के लिए उपयोगी कामना है। यह हेय नहीं। सांख्य में यही अहंकार बुद्धिजन्य माना गया है और इसी से एकादश इन्द्रिय तथा पंचभूत की उत्पत्ति होती है:-

'प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारस्तस्माद्गणश्च षोडशकः।
तस्मादपि षोडशकात्पंचभ्यः पंच भूतानि ॥'

यही सृष्टि का क्रम है। इसमें अहंकार का महत्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि उसी से विकास का रूप स्थिर होता है। यह अहंकार विकास तथा आत्म-चेतना का सूचक है। निराश मनु के हृदय में भी आत्म-चेतना का विकास होते ही आशा का आह्लाद जागृत हो गया और वह 'निज अस्तित्व बना रखने में' ही उन मनु का 'जीवन आज हुआ था व्यस्त।' आशा का रूप इसी आकांक्षा से निश्चित होता है, इसी कामजन्य आत्म-चेतना से ही आशा का आह्लाद जागता है :—

"तरल आकांक्षा से है भरा,
सो रहा आशा का आह्लाद।"

अत एव यह काम जीवन के मरुस्थल में मधुर स्रोत मधुर लहरी के समान है जो न केवल हमारी इन्द्रिय-तृप्ति का ही साधन है, बल्कि जिससे जीवन में अग्रसर होने का भी सन्देश मिलता है। भविष्यत् के दुःख की कल्पना से भयभीत व्यक्ति, जटिलताओं का अनुमान करते करते आत्म-शक्ति को भूल बैठता है, तब श्रद्धा ही इस चेतना को जागृत करती हुई एक अनिर्वचनीय संगीत सुनाती हुई कहती है:—

"दुःख के डर से तुम अनजान,
जटिलताओं का कर अनुमान।
काम से झिझक रहे हो आज,
भविष्यत् से बन कर अनजान ॥"

वह सन्देश देती है कि 'अरे निराश मानव, जिस काम को तुम अमंगलकारी समझ बैठे हो, जिसे तुम देवताओं

के विनाश का कारण समझ रहे हो, वह वस्तुतः अपने शुद्ध रूप में मंगलमय ही है । वह कहता है कि इस सृष्टि के मूल में यही मंगलमय काम वर्तमान है । इसी इच्छा का तो परिणाम ही तो यह विशाल विश्व है, जिसके लिए कहा गया है,

> "स ऐच्छत् बहुस्यां प्रजायेय इति ।'......

> "काम मंगल से मण्डित श्रेय,
> सर्ग इच्छा का है परिणाम ।"

अत एव यदि तुम उससे ही झिझकते हो, उसे ही नाश का कारण समझते हो तो तुम इस जीवन का रहस्य ही नहीं समझ रहे हो:-'तिरस्कृत कर उसको तुम भूल, बनाते हो असफल भवधाम ।' आओ और विश्व के कर्म-स्थल में धीरता से पैर रख कर चलो, अधीरता छोड़ कर देखो, और आत्मविस्तार के हेतु जीवन भी अर्पण कर दो :—

> "कहा आगन्तुक ने सस्नेह,
> अरे तुम इतने हुए अधीर ।
> हार बैठे जीवन का दाँव,
> जीतते मर कर जिसको वीर ।।'

जीवन के विस्तार के लिए द्वन्द्व का वरण करो, आकर्षण का आह्वान करो क्योंकि अभी तक :

> "तपस्वी, आकर्षण से हीन,
> कर सके नहीं आत्म-विस्तार"

काम और रति का तिरस्कार न कर उनकी प्रेरणा के अनुसार बढ़े चलो ।

> "शक्तिशाली हो विजयी बनो,
> विश्व में गूंज रहा जय गान ।"

श्रद्धा काम और रति के इस प्रेरक रूप का यश-वर्णन ही नहीं करके रह जाती, बल्कि आगे मनु को उस प्रदेश में भी ले जाती है जहाँ उन्हें इच्छा अर्थात् काम की रथनाभि पर घूमता हुआ भावचक्र दिखाई देता है । जहाँ आनन्द का पारावार ऐसा उमड़ा है कि उसका वार पार नहीं है, श्रद्धा का यह उत्साहवर्द्धक सन्देश कृष्ण का ग्रस्त धनु अर्जुन को उसका मोह भंग करके कर्मरत करनेवाला शक्तिमय सन्देश है । उसका सन्देश है कि व्यक्ति एक ऐसा मध्यबिन्दु है जिसके चारों ओर जीवन का एक वृत्त निरन्तर अबाध गति से घूम रहा है । इस चक्र के तीन ऐसे स्थल हैं जो सम दूरी पर स्थित हैं और यदि केन्द्र से एक को छू कर वृत्त खींचा जाय तो वह शेष दो को छूता हुआ अपने पूर्ण आकार में उपस्थित होता है । इन तीन परिधि-चिन्हों का नाम है, इच्छा, क्रिया तथा ज्ञान । इन तीनों की समदूरी जीवन का एक पूर्ण वृत्त बनाती है और व्यक्ति इस जीवन-चक्र में पड़ा हुआ भी अपने को धन्य मानता है । वह इन तीनों शक्ति-चिन्हों से, स्थिर चित्त होकर, अपना काम निकालता है और जगत् का आनन्द लेता है यहीं इस जीवन का रहस्य है । यही कामायनी काव्य का भी रहस्य है । इसी रहस्य को समझाती हुई श्रद्धा मनु से कहती है :--

> "इस त्रिकोण के मध्य बिन्दु तुम,
> शक्ति, विपुल क्षमतावाले ये ।
> एक एक को स्थिर हो देखो,
> इच्छा, क्रिया ज्ञानवाले ये ।।"

किन्तु जब इन तीनों की सम दूरी नहीं रहती और ये परिधि को छूते हुए नहीं चलते तभी जीवन अभिशाप सदृश प्रतीत होने लगता है । तभी मनुष्य दिग्भ्रान्त हो जाता है:—

> "ज्ञान दूर कुछ, क्रिया भिन्न है,
> इच्छा क्यों पूरी हो मन की ।
> एक दूसरे से न मिल सके,
> यही विडम्बना है जीवन की ।।"

जीवन की विडम्बना का मूल कारण है मन की इच्छा की अपूर्णता । पूर्णता में ही सुख है, आनन्द है । और वह जीवन-पूर्णता तब आती है जब ज्ञान तथा क्रिया इच्छा से सम दूरी पर और वृत्त की परिधि पर ही पड़ते हों । इच्छा से जो रेखा खींची जाती है, जब ज्ञान को छूती हुई वह क्रिया को भी अपनी ही दिशा में ले चलती है तब वृत्त पूर्ण हो जाता है, इच्छा पूरी हो जाती है । यदि ज्ञान तथा क्रिया इस इच्छा से चलनेवाली रेखा की परिधि में नहीं आ पातीं तो जीवन का वृत्त ही टेढ़ा मेढ़ा हो जाएगा, कुरूप हो जायगा ।

जीवन का यह वृत्त आरम्भ होता है इच्छा से, और उसे पूर्णता मिलती है इच्छा के बिन्दु तक आ जाने में अर्थात् इच्छा के पूरी हो जाने में । अतएव यही

इच्छा ही जीवन के आनन्द का मूल-मन्त्र है। इच्छा की रथ-नाभि घूमती हुई भावचक्र को घुमाती रहती है और उसी से नवरस—जीवन का रस-उपलब्ध होता रहता है।

> "भावचक्र यह चला रही है,
> इच्छा की रथनाभि घूमती।
> नवरस भरी अराएँ अविरल,
> चक्रवाल को चकित चूमतीं॥"

यह इच्छा की रथनाभि जिसे प्रसाद ने इतना महत्व दिया है, जिसकी जीवन में प्रधानता स्वीकार की है, जो अपूर्ण रह जाने पर जीवन की विडम्बना को उत्पन्न करती है, यही है काम। काम ही जीवन का वह केन्द्र है जिसका सहारा ले कर ज्ञान तथा क्रिया इसके चारों ओर एक वृत्त का सृजन करते हैं। इसीसे एक रेखा फूटती है जो इन सबको एक में जोड़ कर जीवन को आनन्ददान करती है। कहना चाहिए, काम ही जीवन का मूल-मन्त्र है। इसके इस महत्व का पता देती है श्रद्धा, जो कामगोत्रजा है, काम की पुत्री है, कामायनी है। प्रसाद जी ने इस काम के महत्व को समझ कर ही कामायनी की रचना की है। अतएव कामायनी का भी केन्द्र है काम।

—आनन्दप्रकाश दीक्षित
एम. ए.

२९, सिविल लाइन्स
गोरखपुर

मनुष्य को पढ़ने की अपेक्षा कार्य करने से अधिक पूर्णता प्राप्त होती है। वे मनुष्य विकासशील होते हैं। जो बुद्धिमत्ता और वीरता से अपने प्रतिदिन के क्षेत्र में अपना कार्य कर सकते हैं और इसके अतिरिक्त अपने आप को उन विस्तृत कार्यों के लिए तैयार करते हैं जो उनके सम्मुख उपस्थित हो जाते हैं।

—कारलाइल

बैंक ऐसी संस्था है जो कि तुम्हें रुपया उधार दे सकती है यदि तुम इस बात के लिए दृढ़ और पर्याप्त प्रमाण दे सकते हो कि तुम्हें उस रुपए की आवश्यकता नहीं है।

मानस पर अन्य ग्रन्थों का प्रभाव

गोस्वामी तुलसीदास के रचना काल तक संस्कृत में वाल्मीकि रामायण की कथा के आधार पर एक अलग राम साहित्य का ही निर्माण हो चुका था। संस्कृत साहित्य के इस अंश को हम दो विभागों में बाँट सकते हैं। कुछ की रचना तो शुद्ध साहित्यिक दृष्टि से हुई है और कुछ के मूल में रामसम्बन्धी सम्प्रदाय का विशेष प्रभाव है। तुलसीदास ने पाँच वर्ष की ही अवस्था में अपने गुरु से राम की कथा सुनी थी। गोसाईं चरित्र के लेखक वेणीमाधव दास के अनुसार तुलसीदास ने सतहत्तर वर्ष की अवस्था में 'रामचरितमानस' लिखा और इस कालान्तर में तुलसीदास ने सम्भवतः राम साहित्य के सभी उपलभ्य ग्रन्थों का अध्ययन किया होगा—इस बात का अनुमान किया जा सकता है। मानस की भूमिका में गोस्वामी जी ने वाल्मीकि रामायण के अतिरिक्त मानस की कथा के अन्य मूलाधार का भी उल्लेख कर दिया है। उमा महेश्वर सम्वाद में अध्यात्म रामायण तथा कवीश्वर और कपीश्वर से वाल्मीकि रामायण एवं हनुमन्नाटक का सम्बन्ध प्रकट होता है। डा. ग्रियर्सन ने मानस की आलोचना करते हुए लिखा है कि वाल्मीकि और मानस की कथा के परस्पर भेद का कारण यह है कि गोस्वामी जी ने वाल्मीकि रामायण के अतिरिक्त भुशुण्ड रामायण, वशिष्ठ संहिता एवं ध्यात्म रामायण का भी अनुसरण किया है। किष्कि-धाकाण्ड के ऋतु वर्णन में गोस्वामी जी ने भागवत की शैली का अनुकरण किया है। इसके अतिरिक्त मानस में अन्य ग्रन्थों की कथा का भी समावेश है। प्रसंगवश लसीदास ने कितने ही ज्ञान विरागसम्बन्धी विषय दान्त की अन्यान्य पुस्तकों से ग्रहण किए हैं।

गोस्वामी जी ने वाल्मीकि की अपेक्षा मानस को हुत ही संक्षेप में वर्णन करने का प्रयत्न किया है और ही कारण है कि वाल्मीकि के कतिपय विस्तृत वर्णनों का मानस में उल्लेख मात्र है। वाल्मीकि रामायण के लकाण्ड में अयोध्या नगरी का बड़ा विस्तृत वर्णन है। सी प्रकार सुन्दरकाण्ड में लंकापुरी की शोभा, राज्य स्तार एवं प्रबन्ध का पूर्ण वर्णन है किन्तु मानस में गोस्वामी जी ने इन प्रसंगों का बहुत ही संक्षेप में उल्लेख किया है। साथ ही वाल्मीकि के कितने ही प्रसंग मानस में बिलकुल छोड़ दिए गए हैं। बालकाण्ड में गंगोत्पत्ति का वर्णन में तथा उत्तरकाण्ड में रावणजन्म एवं नल नील की उत्पत्ति आदि की कथा मानस में नहीं है। तुलसीदास के बाद कुछ भक्तों ने रामचरितमानस को वाल्मीकि रामायण का उल्था मात्र समझ कर इन प्रसंगों का क्षेपक के रूप में वर्णन कर दिया है। वाल्मीकि रामायण के लंकाकाण्ड में कितने ही प्रधान राक्षसों के वध की कथा है किन्तु तुलसीदास ने रावण कुम्भकर्ण और मेघनाद वध के वर्णन तक ही अपनी कथा को सीमित रक्खा है।

वाल्मीकि और मानस के कथाभेद का दूसरा कारण तुलसीदास का राम साहित्य का विस्तृत अध्ययन है। अनेक कवि एक ही प्रसंग को अपनी रुचि एवं प्रतिभा के कारण अनेक रूप से वर्णन करते हैं। तुलसीदास ने राम कथा के कितने ही भिन्न भिन्न वर्णनों को पढ़ा था और यही कारण है कि मानस और वाल्मीकि रामायण की घटना के विस्तार में कहीं कहीं बड़ा अन्तर है। तुलसीदास के राम साहित्य सम्बन्धी पठित ग्रन्थों से मानस की कथा के सम्बन्ध का विवेचन करने पर यही ज्ञात होता है कि मानस के कितने ही प्रसंगों में वाल्मीकि रामायण के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों का भी प्रभाव है।

वाल्मीकि और मानस की कथा का मेल : मानस के बालकाण्ड के आदि, उत्तरकाण्ड के अन्त एवं लंकाकाण्ड के युद्ध वर्णन से वाल्मीकि रामायण का कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। फिर, परशुराम सम्वाद, सितकेश देख कर राम के तिलक करने का दशरथ का निश्चय, जयन्त काक की घटना का स्वतन्त्र वर्णन, काक की चोंच से सीता के पद में क्षत, मेघनाद की शक्ति से लक्ष्मण की मूर्च्छा, रावण द्वारा विभीषण का पादाहत होना तथा शिव के स्थापना के प्रसंग में वाल्मीकि और मानस में बड़ा भेद है। साथ ही मानस का निषाद हठ, जनक के उपवन में रामसीता की भेंट, चित्रकूट की

सीमा में जनक का आगमन, शिव विवाह नारद मोह एवं अंगद के पाद रोपण का वाल्मीकि रामायण में उल्लेख भी नहीं है।

मानस और अध्यात्म रामायण : वाल्मीकि रामायण की कथा को एक स्वतन्त्र रूप देने में तुलसीदास जी को अध्यात्म रामायण से बड़ी सहायता मिली है। वस्तुस्थिति तो यह है कि मानस में वाल्मीकि की कथा अध्यात्म रामायण के धार्मिक और साम्प्रदायिक वातावरण में लिखी गई है। मानस में राम स्तुति का समस्त खण्ड अध्यात्म रामायण से ही लिया गया है। राम के जन्म होने पर कौशल्या की स्तुति नारद अहल्या एवं उत्तरकाण्ड में राजतिलक होने पर अन्य देवों की स्तुति अध्यात्म रामायण की भाँति ही लिखी गई है। साथ ही अहल्या का प्रस्तर मूर्त्ति होना, निषाद हठ अरण्यकाण्ड में ज्ञान, भक्ति एवं नवधा-भक्ति का उल्लेख, जयन्त काक की चोंच से सीता का पादक्षत, जटायु से अधिक जीने के वास्ते राम का कथन एवं रावण की मृत्यु पर राम में प्रवेश करने की कथा अध्यात्म रामायण से ली गई है।

मानस और हनुमन्नाटक : वाल्मीकि रामायण और अध्यात्म रामायण के बाद मानस के कथा भाग में हनुमन्नाटक का ही सबसे अधिक प्रभाव है। कितने ही स्थलों पर हनुमन्नाटक के कतिपय श्लोक मानस में अनूदित कर दिए गए हैं। धनुष यज्ञ के वर्णन में जनक का नैराश्य, लक्ष्मण का क्रोध, परशुराम सम्वाद, अंगद रावण और अंगद मन्दोदरी सम्वाद में हनुमन्नाटक का पूर्ण प्रभाव है। इसके अनन्तर मानस में रावण का विभीषण को मारने, लक्ष्मण का सीता के चारों तरफ रेखा खींचने एवं संजीवनी बूटी लाते समय हनुमान् और भरत की भेंट की कथा हनुमन्नाटक से ही ली गई है।

मानस और प्रसन्न राघव : गोस्वामी तुलसीदास जी ने मानस के चार स्थलों पर प्रसन्नराघव का अधिक अनुकरण किया है। जनकपुरी के उपवन में सीता और राम के पूर्वानुराग का आधार तो प्रसन्नराघव ही है। इसके अतिरिक्त स्वयम्वर वर्णन, परशुराम सम्वाद सुन्दरकाण्ड में सीता रावण सम्वाद एवं सीता के प्रति राम का सन्देश, बहुत कुछ प्रसन्नराघव से ही लिया गया है। उपवन की घटना के स्वतन्त्र वर्णन के अतिरिक्त अन्य स्थलों पर राघव का ही वर्णन मानस में भाषान्तर कर दिया गया है।

मानस और रघुवंश : कालिदास के रघुवंश के नवम से लेकर चतुर्दश सर्ग तक की रचना वाल्मीकि रामायण की कथा के आधार पर ही हुई है। किन्तु कुछ स्थलों पर भेद है और गोस्वामी जी ने उन स्थलों का वर्णन कालिदास की ही भांति किया है। अयोध्या काण्ड में दशरथ का शीशे में मुख देखने के पश्चात् सितकेश के द्वारा जरठपन के उपदेश का प्रसंग रघुवंश और मानस का सम्बन्ध स्पष्ट कर देता है। अरण्यकाण्ड में जयन्त काक का प्रसंग एक सन्देश के रूप में न होकर स्वतन्त्र घटना के रूप में वर्णन करने का ढंग भी रघुवंश की ही भाँति है।

मानस और महावीर चरित : भवभूति के महावीर चरित नामक नाटक की कथा वाल्मीकि एवं मानस आदि की कथा से बहुत भिन्न है किन्तु मेघनाद की शक्ति से लक्ष्मण के मूर्च्छित होने का महावीर चरित के अतिरिक्त और कहीं नहीं है। वाल्मीकि रामायण, अध्यात्म रामायण आदि में रावण की फेंकी हुई शक्ति से लक्ष्मण के मूर्च्छित होने का उल्लेख है। और हनुमन्नाटक में भी यह प्रसंग वाल्मीकि रामायण की ही भांति है। तुलसीदास जी ने भवभूति के ग्रन्थों को अवश्य पढ़ा होगा जिसका प्रभाव कहीं कहीं पर अवश्य झलकता है।

मानस और भागवत : अध्यात्म रामायण की भाँति, मानस के विकास में भागवत का भी बड़ा प्रभाव है। मानस भागवत के भक्तिपूर्ण भावों से कितने ही स्थलों पर रंजित है। इसके अतिरिक्त मानस के कथा भाग में भागवत का प्रभाव तीन स्थलों पर लक्षित होता है। बालकाण्ड के सतीदाह की कथा, किष्किन्धा का ऋतु वर्णन एवं उत्तरकाण्ड में भुशुण्ड द्वारा कलि निरूपण में भागवत के कुछ अंश मानस में उसी प्रकार उद्धृत कर दिए गए हैं।

मानस और शिव पुराण : शिव पुराण दो हैं। एक तो व्यासकृत प्रसिद्ध है और दूसरे में विश्वेश्वर संहिता रुद्र संहिता आदि हैं। रुद्र संहिता में पार्वती खण्ड और सती खण्ड में क्रमशः शिव ब्याह और सतीदाह का वर्णन है और गोस्वामी जी ने मानस में पूर्ण रूप से उसका ही अनुकरण किया है। विश्वेश्वर

संहिता के प्रथम खण्ड में नारद मोह का प्रसंग है। तुलसीदास ने इस प्रसंग को उसी स्थान से लिया है और नारद विष्णु संवाद, सप्तर्षि, पार्वती संवाद एवं हिमालय और मेनका का परस्पर वार्तालाप मानस में शिवपुराण के वर्णन का भाषान्तर मात्र है। इस सूक्ष्म आलोचना से यह निश्चय हो जाता है कि मानस की कथा का प्रत्येक अंश राम साहित्य के किसी न किसी पुस्तक की कथा से अवश्य सम्बन्धित है।

रामचरित सम्बन्धी रचना में वाल्मीकि रामायण सबसे प्राचीन है। वाल्मीकि के बाद अन्य कवियों ने वाल्मीकि की कथा के आधार पर अपनी रुचि एवं देश काल की स्थिति के अनुसार राम-कथा का वर्णन किया। अपनी प्रतिभा से केवल गोस्वामी तुलसीदास जी ने मानस की कथा को एक स्वतन्त्र रूप दे दिया है।

गणेशगंज, कमरलेन,
लखनऊ

—हरिकृष्ण मालवीय
एम. ए.

लघु कथा

रूप का रहस्य

किसी समय पृथ्वी पर एक ऐसा देश था जिसमें केवल युवकों और युवतियों का ही निवास था—बच्चे बूढ़े वहाँ कोई न थे। ये लोग जोड़े में रहते थे—सौन्दर्य की भावना और उसी की कामना हम लोगों में सब से ऊपर थी। लेकिन सौन्दर्य-चेतना अलग अलग व्यक्तियों के लिए न होकर अलग अलग जोड़ों के लिए ही थी।

एक बार एक युवक ने जिसकी पत्नी सुन्दरता में बहुत साधारण श्रेणी थी। वह अपनी पत्नी को बिना सजाए-सँवारे, बहुत सादे वेश में, साथ लेकर निकल पड़ा। असज्जित रूप में वह युवती सचमुच बहुत अनाकर्षक दीखने लगी थी। एक दम्पति ने उनके निकट आकर कहा—

"हमें खेद है कि आप सुन्दरता में इतने पिछड़े हुए हैं। आपको सुन्दर बनाने में क्या हम लोग आपकी कुछ सहायता कर सकते हैं?"

"आप मेरी पत्नी को ही क्यों देखती हैं, मुझे देखिए। क्या मैं यहाँ के सभी युवकों-युवतियों में सब से अधिक सुन्दर नहीं है?"

सुनते ही सभी युवतियों की दृष्टि उस पर केन्द्रित हो गई। उन्होंने पहली बार एक सुन्दर पुरुष-रूप को उसकी पत्नी से अलग देख कर देखा और उस पर मोहित हो गईं।

उस दिन से उस देश में युवकों-युवतियों के व्यक्तिगत सौन्दर्य की परख और क़द्र का चलन कुछ लोगों में प्रारम्भ ही गया और सौन्दर्य की साधना पहले से अधिक सुगम और सफल हो गई।

× × × ×

मेरे कथा-गुरु का कहना है कि उस देश के कुछ विशेष सुन्दर युवक अब भी सारे संसार में फैले हुए यहाँ-वहाँ पाए जाते हैं। उनकी पत्नियाँ अब भी अधिक—बल्कि यथेष्ट सुन्दर नहीं हैं और जो लोग उन्हें उनकी पत्नियों से पृथक् रूप में देख सकते हैं वे ही उनके उत्कृष्ट सौन्दर्य की परख कर पाते हैं। कथा गुरु का यह भी कहना है कि किसी रहस्यपूर्ण रीति से आज के अधिकांश लोग अब भी दम्पति के रूप में ही एक-दूसरे को देखते हैं और वे सब तब तक पूरे सौन्दर्य को नहीं प्राप्त कर सकेंगे जब तक द्विरूप दम्पति को अलग-अलग रूपों में न देखने लगेंगे।

कैलास,
सिकन्दरा, आगरा

—रावी

"हब्बा ख़ातून"

काश्मीर की प्रसिद्ध कवयित्री

काश्मीर की रमणीय और स्वर्ग-तुल्य भूमि में जन्म लेनेवाली हब्बा खातून जैसी महान् कवयित्री के विषय में अधिकांश जनता कुछ भी नहीं जानती । हब्बा खातून को अपने जीवन में कठिन परिस्थितियों का सामना करना पड़ा । उन्होंने केवल अपने ही जीवन की परिस्थितियों से संघर्ष नहीं किया वरन् अपने समाज के नैराश्य को मिटा कर उसमें नवीन उत्साह, नया जीवन और उन्नतिपूर्ण भावनाओं का संचार किया । उन्होंने लोककल्याण के लिए जो जीवन व्यतीत किया उससे काश्मीर की जनता प्रभावित हुई और आज भी उनके उपकारों का बदला वे उस महान् आत्मा को श्रद्धाञ्जलि अर्पित करके चुकाने का प्रयत्न करती है । काश्मीर के प्रसिद्ध साहित्यकारों के बीच उनका अत्यधिक सम्मान है और उनके साहित्य को अधिकाधिक लोकप्रिय बनाने का प्रयत्न किया जा रहा है ।

आज भी काश्मीर की घाटियों में शिक्षित और अशिक्षित जनता उनकी रचनाओं को श्रद्धा से गाती है । उनकी रचनाओं को अन्य भाषाओं में भी अनूदित किया गया है किन्तु काश्मीर हमारे भारत का एक महत्वपूर्ण भाग होने पर भी हमने हब्बा खातून जैसी कर्मशील नारी, देशसेविका, समाजसेविका और महान् कवयित्री की महानता को जानने की कोशिश नहीं की ।

हब्बा खातून का जन्म नाम 'जूनी' था । 'जूनी' से हब्बा खातून नाम कैसे पड़ा, यह हम उसके जीवन की घटनाओं का अध्ययन करते हुए मालूम करेंगे । जूनी का जन्म केसर-भूमि पाम्पुर से कुछ दूरी पर बसे चन्द्रहार नामक एक छोटे से ग्राम में हुआ था । एक साधारण से कृषक की झोपड़ी में पैदा होने पर भी जूनी काश्मीर जैसे प्रदेश के तत्कालीन राजा की रानी कैसे बन सकी, यह सब वास्तव में अत्यन्त रुचिपूर्ण कथा है । जूनी के माता-पिता बहुत ही ग़रीब कृषक थे । उसके पिता का नाम अब्दी रादर था किन्तु माँ का नाम अभी तक ज्ञात नहीं हो सका । माता पिता दोनों स्वयं खेतों में काम करके अपना पेट पालते थे । इतने पर भी उनका गुज़ारा नहीं चलता तो वे मेहनत मज़दूरी करके गुजर-बसर करते । ऐसी दरिद्रावस्था में जूनी ने जन्म लिया । माता-पिता लड़की के जन्म होते ही मन में दुःखी अवश्य हुए किन्तु अपनी उस नन्हीं बच्ची की सुन्दरता को देख कर उनके दुःख की मात्रा कम हो गई । जूनी अत्यन्त सुन्दर थी । कविता की भाषा में कहें तो मानों विधाता ने स्वयं उसे किसी विशेष साँचे में ढाला था । जूनी की सुन्दरता की बात सुन कर गाँव के तथा आसपास के लोग उसे देखने के लिए आने लगे । नामकरण के दिन रिश्तेदारों और पास-पड़ोसियों के विचार विनिमय से उसका नाम जूनी रक्खा गया । "जूनी" शब्द का अर्थ काश्मीरी भाषा में 'चन्द्रमा के समान' (Moon Like) होता है । चन्द्रमा के समान ही शान्ति की झलक, सुन्दरता की ललक और चन्द्रमा के समान ही धीरे धीरे हिलनेवाली जूनी की पलकें लोगों के मन में इस बात की आशंका पैदा कर देती थी कि आसमान का चांद ज़मीन पर कैसे उतर आया ? जो उसे देख लेता, जूनी की सुन्दरता से प्रभावित हो जाता और लोगों से उसकी सुन्दरता का वर्णन अवश्य करता । लोग सुन कर जूनी को देखने के लिए लालायित हो उठते । इस प्रकार जूनी की सुन्दरता ने बचपन से ही आसपास के इलाक़े में प्रसिद्धि प्राप्त कर ली थी ।

जूनी के जन्मकाल का निश्चित प्रमाण नहीं मिलता, जूनी का जन्म सम्भवतः सोलहवीं शताब्दी के मध्यान्ह काल में हुआ होगा क्योंकि जब जूनी यौवनावस्था में थी तब अकबर ने काश्मीर पर कब्ज़ा करने के लिए प्रयत्न किए थे । अकबर के शासन-काल का अध्ययन करने के बाद तथा उस समय जूनी के जीवन की घटनाओं का तुलनात्मक विवेचन करने पर यह निश्चित रूप से ज्ञात होता है कि जूनी का जन्म १६५९ और १६५१ के बीच में हुआ होगा । इसके सिवाय और ऐसी कोई घटनाएँ अथवा प्रमाण नहीं मिलते जिनके सहारे हम

जूनी की जन्म-तिथि का कोई निश्चित् काल, समय इत्यादि ठहरा सकें।

जब जूनी ५-६ वर्ष की हुई तब उसके पिता ने उसे रूढ़ि के अनुसार मुक्तताब नामक एक ग्रामीण पाठशाला में मौलवी के पास पढ़ने के लिए भेज दिया था लेकिन जूनी का शिक्षण सहज-गीत से प्रारम्भ नहीं हुआ। जूनी के पिता की आर्थिक परिस्थिति इतनी शोचनीय थी कि वे जूनी को पढ़ा नहीं सकते थे। वे उसे खेतों में काम करने के लिए ले जाते थे। माता-पिता स्वयं जब खेतों में काम करने जाते तब वे इस नन्हीं सी सुन्दर लाड़ली को किसी और पास-पड़ोसियों के भरोसे छोड़ना नहीं चाहते थे। इसी कारण से उन्हें मजबूरी के साथ खेतों में जूनी को अपने साथ ले जाना पड़ता था। कुछ दिनों तक यही क्रम चलता रहा। गाँव के लोगों को यह अच्छा न लगा और उन्होंने जूनी के पिता अब्दी रादर को समझा-बुझा कर जूनी को पढ़ाने के लिए तैयार करवाया। जूनी मौलवी साहब से कुरान, गुलिस्ताँ और बोस्तान पढ़ती थी। उसकी कुशाग्र बुद्धि को देख कर मौलवी साहब आश्चर्य में डूब गए। जूनी ने कुछ ही समय में कुरान, गुलिस्ताँ, बोस्तान आदि महान् ग्रन्थों का मनन कर लिया। मौलवी साहब तथा गाँव के लोग इस घटना को बौद्धिक शक्ति की सीमा समझने लगे। इतना ही नहीं जूनी की आवाज़ में मधुरता और कोमलता भी थी। जूनी जब अपने कोकिल-कंठ से कुरान, गुलिस्ताँ, बोस्तान आदि का पाठ करती तो लोग उसकी आकर्षक, संगीतमय और सरस ध्वनि सुन कर वाह वाह कर उठते। प्रतिदिन जब तक उस क्षेत्र के लोग उसकी कोकिलवाणी से कुरान आदि का पाठ न सुन लेते, उन्हें शान्ति नहीं मिलती थी। जूनी आदर की दृष्टि से देखी जाने लगी। कुछ लोगों ने तो उसके गुणों को देख कर उसे दैवी-शक्ति समझ लिया। इस तरह जूनी प्रकृति की गोद में रह कर मौलवी साहब से कुरान, गुलिस्ताँ और बोस्तान आदि पढ़ कर उस प्रदेश में बहुत प्रसिद्ध हो गई।

धीरे धीरे समय बीतता गया। जूनी अब मौलवी साहब के घर से लौट कर पिता के पास रहने चली आई थी। प्रतिदिन वह कुरान आदि का पाठ करती और मधुर आवाज़ से गाते गाते काश्मीर की रमणीय प्रकृति में खो जाती। पिता के पास आने के पश्चात् फिर से वह खेतों पर काम करने के लिए जाने लगी। उसकी सहेलियों में जूनी का बहुत आदरणीय स्थान था। अब जूनी की अवस्था १० वर्ष के लगभग हो गई, तब उसके ग़रीब पिता को उसके विवाह की चिन्ता हुई। जूनी सुन्दर तो थी ही, किन्तु साथ ही साथ उनके अन्य गुणों का प्रभाव भी बहुत गहरा था। इन्हीं सब बातों को सोच कर उसके पिता की इच्छा थी कि जूनी जवान को होने के पूर्व ही ब्याह देना चाहिए। विवाह की बातें चलीं। स्वयं ग़रीब होने के कारण उसका पिता किसी अच्छे वर की अपेक्षा नहीं कर सका और चिन्ता से मुक्त होने की जल्दी में उसने अपनी इकलौती, सुन्दर तथा गुणवान् लड़की का विवाह एक अनपढ़, ग्रामीण युवक के साथ निश्चित कर दिया। जूनी का अब तक का जीवन अध्ययन, संगीत और प्रकृति-सौन्दर्य के रसास्वादन में बीतता था। यह विवाह उसके जीवन के गीत में परिवर्तन लानेवाला था। प्रकृति और संगीत में अपने आपको भुला देनेवाली कुरान, गुलिस्ताँ और बोस्तान आदि आध्यात्मिक ग्रन्थों को पढ़ते रहने के पश्चात् जूनी के मन पर कुछ ऐसे संस्कार हो गए थे कि वह अत्यन्त भावुक बन गई थी। भावना की उमङ्गों में वह गीतों की रचना भी करने लगी थी। उसे अपने संगीतमय गीतों से बड़ी दिलचस्पी थी। खेतों में काम करते हुए अपने गीत गाने में वह ऐसी तन्मय हो जाती थी मानों उसने प्रकृति में स्वयं को मिला दिया हो। उसके मन में अपने भविष्य के रंगीन और सुखमय सपने थे। उसके अपनी आशाएँ गीतों के शब्दों में और संगीत की आवाज़ में ठूँस ठूँस कर भरी हैं। लेकिन उसके सपने सब जहाँ के तहाँ रह गए। वह अपने विवाह की बात सुन कर बहुत दुःखी हुई। अब उसके गीतों को उसका अनपढ़ पति क्या समझेगा? उसकी भावनाएँ उसके पति को रसहीन प्रतीत होंगी। उसका प्रकृति की गोद में गाते गाते खो जाना पति को पसन्द नहीं आएगा। फिर क्या होगा? उसकी स्वतन्त्रता पर ताला लग जाएगा—पति के अधिकारों की मुहर लग जाएगी और जूनी की अपने जीवन की इच्छाएँ सबकी सब मन में दबी रह जाएँगी। तब उसका जीवन कितना दुःखपूर्ण होगा, इस बात का विचार उसके पिता ने कभी नहीं किया। लेकिन अब क्या, बात तो पक्की हो गई। विवाह हुए बिना नहीं रह सकता था।

आखिर जूनी के यौवन काल में ही उसके हृदय की लहलहाती भावनाओं पर कुठाराघात हुआ। जूनी स्वयं भावुक और संगीत प्रेमी होने के कारण अपने पति की अयोग्यताओं से दुःखी रहने लगी। दुःख के बढ़ते बोझ में भावुकता ने ज़ोर पकड़ा और जूनी ने अपने दुःख को हलका करने के लिए उस भावुकता में गीतों की रचना की। जूनी के इस दुःखपूर्ण जीवन-काल के गीत अत्यन्त मार्मिक हृदयद्रावक हैं। जूनी अपनी रचनाओं को बड़े चाव से गाती थी। उसके संगीत और काव्य के कारण जनता जूनी की भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगी। साथ ही इस प्रशंसा में लोग उसके दुःखमय जीवन के प्रति अपनी सहानुभूति प्रकट करते थे। जूनी की सुन्दरता ने इस परिस्थिति को और भी उलझा दिया। जूनी की सास और पति प्रकट की जानेवाली सहानुभूति में शंका करने लगे। जूनी को अब तक खेतों में काम करने की छूट थी, किन्तु इस प्रकार की आशंकाओं ने उससे वह स्वतन्त्रता भी छीन ली। जूनी का जीवन एकाकी हो गया। वह अपनी सहेलियों से भी नहीं मिल सकती थी। सास की द्वेषपूर्ण भावनाओं से पति की विचारधारा अत्यन्त दुष्ट हो गई और जूनी का जीवन बोझ बन गया।

कहा जाता है कि एक दिन जूनी एक कृषक स्त्री के साथ पाम्पुर नामक ग्राम के प्रसिद्ध साधु ख्वाजा मसूद के पास गई। जूनी का उस साधु के पास जाने का कारण ऐसा बताया जाता है कि वह अपने जीवन से बहुत निराश हो गई थी। वह अपने संकटग्रस्त जीवन के प्रति उनकी दया जगा कर उनकी सहायता से अपने दुष्ट पति के व्यवहार से छुटकारा पाना चाहती थी। उसे विश्वास था कि साधु उसे ऐसे घोर संकट में अवश्य उचित मार्गदर्शन करेंगे। वैसे वे साधु किसी से नहीं मिलते थे किन्तु जूनी को पूरा भरोसा था कि महात्माजी उससे मिल कर प्रसन्न होंगे और उसे संकटों से मुक्त होने का मार्ग भी बताएँगे। जूनी की सहेली ने साधु के पास पहुँच कर जूनी के गुणों की बहुत प्रशंसा की। फिर भी उससे उनका ध्यान आकर्षित नहीं हो सका। जूनी बहुत निराश हो गई। उसका हृदय जीवन की यन्त्रणाओं से त्रस्त हो गया था। वह अपने भाग्य और विधाता की गति को कोसने लगी। आँखों से आँसू बहने लगे और निकला उसके मधुर कंठ से दर्द भरा एक गीत, जिसके स्वरों ने दूर बैठे ध्यानस्थ साधु के निश्चय को भी डावाँडोल कर दिया। साधु पहले तो मन ही मन क्रुद्ध हुआ किन्तु कुछ समय तक उस सरस संगीत की ध्वनि कानों में पड़ने के पश्चात् वह स्वयं जूनी के स्वरों की ओर खींचता हुआ पास आ खड़ा। साधु जूनी के गीतों से बहुत खुश हुआ और उसने जूनी से अपनी पसन्द के कुछ गीत सुनाने के लिए कहा। जूनी ने अपनी मीठी आवाज़ और गीतों के भावपूर्ण संगीत से उस साधु को बहुत प्रभावित किया। साधु जूनी की प्रतिभा देख कर बड़ा प्रसन्न हुआ और उसे उसके उज्ज्वल भविष्य की सूचना दे कर जूनी को बड़ा उत्साहित किया। इतना ही नहीं उसने जूनी का नाम "हब्बा ख़ातून" रख दिया। "हब्बा ख़ातून" काश्मीरी भाषा का शब्द है और इसका अर्थ होता है "प्रेयसी" (Loving Lady)। तब से आज तक दुनिया जूनी को "हब्बा ख़ातून" के नाम से जानती है।

उक्त घटना के कुछ मास पश्चात् एक दिन हब्बा ख़ातून अपनी सखियों के साथ खेत में काम करते हुए गीत गा रही थी। सूर्योदय की लाल किरणें हब्बा ख़ातून के सुन्दर शरीर पर गिर रही थी और उस प्राकृतिक तथा सौन्दर्यपूर्ण वातावरण में हब्बा ख़ातून का गीत जितना कर्णप्रिय लगता था उतना ही उसका यौवन भी आकर्षित करता था। काश्मीर के सम्राट् यूसुफ़शाह जो उस समय वहाँ से गुजर रहे थे, हब्बा ख़ातून के संगीत तथा सुन्दरता से बहुत प्रभावित हुए। यूसुफ़शाह हब्बा ख़ातून के निकट पहुँचे। दोनों की चार आँखें हो गईं और प्रेम का अंकुर जम गया। हब्बा ख़ातून ने अपने जीवन में पहली बार सुख और सन्तोष की साँस ली। हब्बा ख़ातून से सम्राट् ने बहुत सी बातें कीं। हब्बा ख़ातून ने अपनी दर्द-भरी कहानी कह कर यूसुफ़शाह के मन में स्थान पा लिया। सम्राट् यूसुफ़शाह भी सौन्दर्य और संगीत की इस निधि को खोना नहीं चाहता था। सम्राट् ने ख़ातून को इस बात का विश्वास दिलाया कि वह उसे शीघ्र ही संकटों से मुक्त करेगा।

उधर सम्राट् ने राजधानी में पहुँच कर ख़ातून के पति को बुलवाया। सम्राट् यूसुफ़शाह ने बुद्धिमत्तापू ढंग से बातें करके ख़ातून के अनपढ़ पति की विचार-धा बदल दी। सम्राट् ने उसे बहुत सा धन दिया और ख़ातून को तलाक़ देने के लिए राज़ी करवा लिया। ख़ातून

पति धन प्राप्त करके बहुत खुश हुआ और साथ ही इस विचार से कि ख़ातून की रोज़ की झंझटों से भी मुक्ति मिल जाएगी उसने ख़ातून को तलाक़ दे दिया। इस तरह हब्बा ख़ातून जो अब तक एक असभ्य, अनपढ़ और ग्रामीण व्यक्ति की पत्नी बन कर दुःखमय जीवन व्यतीत कर रही थी, जिसका जीवन केवल खेत और झोंपड़ी तक ही सीमित था, अब विस्तृत होकर काश्मीर के सम्राट यूसुफ़शाह के राजमहल में प्रेम के गीत गाने लगा। सम्राट् ने हब्बा ख़ातून से विवाह कर लिया।

यूसुफ़शाह के जीवन पर हब्बा ख़ातून का विशेष प्रभाव पड़ा। सम्राट् धीरे धीरे ऐश-आराम और भोग विलास में रत रहकर जीवन व्यतीत करने लगा। सम्राट् के जीवन में इस परिवर्तन का एक विशेष कारण यह था कि वह स्वयं काव्य और संगीत का प्रेमी था। उसके दरबार में भिन्न भिन्न देशों के संगीतज्ञ नियुक्त थे। हब्बा ख़ातून जैसी संगीतज्ञा और सौन्दर्य की प्रतिमा से शादी कर लेने के बाद तो यूसुफ़शाह को ऐसा लगने लगा, मानों उसके जीवन की सारी हसरतें पूर्ण हो गई हों और जीवन में ज़िम्मेदारी अथवा जवाबदारी का कोई भी कार्य शेष नहीं रहा। हब्बा ख़ातून ने अपने संगीत निराले ढंग से उन दरबारी संगीतज्ञों में प्रमुख स्थान पा लिया।

हब्बा ख़ातून स्वयं विदुषी थीं। सम्राट् यूसुफ़शाह भोगविलास में ही समय नष्ट करके राज्य शासन की ओर उदासीन बन रहा था। यह सब हब्बा ख़ातून की नज़रों से छुप न सका। वह जानती थी कि सम्राट् की असावधानी तथा अनियमितता से जीवन व्यतीत करने का परिणाम अत्यन्त घातक सिद्ध होगा और इसीलिए उसने अपने प्रयत्नों से सम्राट् को अपनी जिम्मेदारियाँ समझने तथा नियंत्रित रूप से जीवन व्यतीत करने के लिए बाध्य किया। किन्तु यूसुफ़शाह हब्बा ख़ातून को प्राणों से भी अधिक प्यार करता था। वह चाहने पर अपने को हब्बा ख़ातून के प्यार के जाल से नहीं निकल सका। उसने ख़ातून से उसकी दी गई सलाह और चेतावनी पर कोई बहस नहीं की। वह ख़ातून की सारी बातें मान लेता किन्तु ज्यों ही वह ख़ातून से क्षण भर के लिए भी बिछुड़ता अथवा जब कभी भी ख़ातून उसकी नज़रों से थोड़ी देर के लिए ओझल हो जाती थी उसका अपने मन पर क़ाबू नहीं रह पाता। इस तरह वह चाहने पर भी अपने आपको न सँभाल सका। यथार्थ में वह जितना हब्बा ख़ातून से अलग होकर शासन-व्यवस्था में अपने आपको जुटाने का प्रयत्न करता, वह उतना ही विलासी बनता जा रहा था। ख़ातून फिर भी निराश नहीं हुई। वह भी सम्राट् को प्राणों से अधिक चाहती थी। उसने सम्राट् को नूरजहाँ की भाँति उसके शासन-प्रबन्ध में बहुत मदद की। कितनी ही विषम परिस्थितियों में राज्य व्यवस्था को सँभाला। किन्तु दीर्घकालीन अव्यवस्थित परिस्थितियों में राज्य चलाना असंभव हो गया। प्रजा असन्तुष्ट रहने लगी और एक दिन यूसुफ़शाह को प्रजा की ललकार सुन कर राजगद्दी त्याग देनी पड़ी। यूसुफ़शाह ने सम्राट् अकबर की शरण ली किन्तु स्वाभिमानिनी हब्बा ख़ातून ने किश्तवर नामक घाटियों के निर्जन स्थानों में जीवन व्यतीत करना प्रारंभ कर दिया। ख़ातून ने उस एकान्तवास तथा प्रकृति की गोद में रह कर अनेक गीत लिखे जिनमें उसने अपने जीवन की दुःसह परिस्थितियों पर प्रकाश डाल कर अपने जीवन को निरर्थक कह कर खूब कोसा। उसके दर्द-भरे गीतों को सुन कर जनता अपने दुःखों को भूल गई। जनता को हब्बा ख़ातून के प्रति आदर और सहानुभूति होने लगी। इस तरह धीरे धीरे ख़ातून ने प्रजा के बीच आदर का स्थान बना लिया। प्रजा ख़ातून को बहुत चाहने लगी। इसी बीच यूसुफ़शाह ने आशामय परिस्थिति का उपयोग करके कुछ ही काल में अपनी राजगद्दी पर पुनः अधिकार प्राप्त कर लिया।

यूसुफ़शाह को राजगद्दी पर लौटने के पश्चात् ख़ातून को खोजने में बहुत दिन लग गए। अब यूसुफ़शाह के चरित्र में काफ़ी परिवर्तन हो गया था किन्तु ख़ातून अपने पति की राजनैतिक तथा शासन-व्यवस्था के अपराधों को माफ़ नहीं करना चाहती थी। जब यूसुफ़शाह ने ख़ातून को यह आश्वासन दिया कि वह भविष्य में जनता के हित और भलाई की ओर ध्यान देगा, हब्बा ख़ातून पुनः यूसुफ़शाह के साथ आकर रहने लगी। उसने अपनी बुद्धिमत्ता द्वारा शासन-व्यवस्था में अनेक सुधार किए। भिन्न भिन्न कलाओं की उन्नति के अपने राज्य में अविरत प्रयत्न किए और जनता इस सुखमय परिवर्तन से सन्तुष्ट रहने लगी।

संसार का इतिहास बताता है कि राजनैतिक त्रुटियाँ और कमज़ोरियाँ किसी भी राष्ट्र की अवनति में

स्वयं सहायक होती हैं। यूसुफ़शाह की क़िस्मत ने पलटा खाया। अकबर यूसुफ़शाह की कमज़ोरियों को भली भाँति तोल चुका था। उसने ख़ातून की सुन्दरता के बारे में भी अनेक कहानियाँ सुन रखी थीं। इस प्रकार बहुत से अरमान लेकर उसने काश्मीर पर अधिकार जमाने के लिए चढ़ाई कर दी। जब मुगल सेना श्रीनगर के पास पहुँची, हब्बा ख़ातून ने अपने सारे राजसी ठाठ-बाट त्याग दिए और श्रीनगर तथा पदमपुर के बीच में वितस्ता की एक पहाड़ी पर जाकर रहने लगी। उसने अपने स्वाभिमान की रक्षा की और सूफ़ी मत ग्रहण कर लिया। अब हब्बा ख़ातून अपने काव्य और संगीत के सहारे बैरागिन का सा जीवन व्यतीत करने लगी। इस काल में उसने प्रकृति, वैराग्य और अध्यात्मवाद के अनेक गीतों की रचना की, जिन्हें आज भी काश्मीर की शिक्षित और अशिक्षित जनता बड़े प्रेम और आदर के साथ गाती है। उसके वैराग्यपूर्ण जीवन ने काश्मीर की जनता पर इतना गहरा प्रभाव डाला कि लोग हब्बा-ख़ातून को जितना कवयित्री की दृष्टि से पहचानते और आदर करते हैं, उतना अपने राष्ट्र की साम्राज्ञी होने के नाते से नहीं।

ऐसा कहा जाता है कि जब हब्बा ख़ातून अपने जीवन की अन्तिम साँसें ले रही थीं, उस समय कुछ पथिकों ने उसे एक गुलदस्ता उपहारस्वरूप दिया। उन्होंने उस गुलदस्ते को अपनी छाती पर रखा और सदा के लिए पृथ्वी माता की गोदी में सो गईं। लोगों ने जब ख़ातून को मृत्यु अवस्था में देखा, तो बड़े आदर और श्रद्धा के साथ पास के एक टीले पर ले जाकर दफ़ना दिया। इस तरह चाँद सी सुन्दर, सागर सी शान्त, तथा वैरागिन के समान अत्यन्त त्यागमय काश्मीर की उस महान् कवयित्री की भावनाएँ आज भी श्रीनगर से ३ मील दूरी पर जेहलम नदी के तट पर बसे हुए पण्डाचौक नामक ग्राम में समाधि के रूप में जीवित हैं। हर वर्ष इस महान् आत्मा की समाधि पर पुष्पांजलि अर्पण करने के लिए काश्मीर की जनता हज़ारों की संख्या में जुटती है।

आज भी काश्मीर के सुप्रसिद्ध कवि श्री महजूर हब्बा ख़ातून की रचनाओं की खोज कर रहे हैं। १० साल पूर्व तक केवल निर्धन और अशिक्षित लोगों तक ही हब्बा ख़ातून की रचनाएँ सीमित थीं, किन्तु प्राप्त रचनाओं की गम्भीरता देखते हुए यह महसूस किया जा रहा है कि उनकी रचनाओं द्वारा काश्मीर की सभ्यता, संस्कृति, साहित्य और जनता का बड़ा हित हो सकता है।

ऑल इण्डिया रेडियो,
नागपुर

—वसु व्यास "अनल"

दया

एक स्त्री पर अभियोग चल रहा था। उस पर यह अपराध लगाया गया था कि उसने अपने पति की हत्या की है। जूरी को अपना निर्णय देने में देरी हो गई। उन्होंने निर्णय दिया कि उस स्त्री को मुक्त कर दिया जाय। जूरी को देरी इसलिए हुई थी क्योंकि एक वृद्ध महिला उस स्त्री को मुक्त कराने का प्रयत्न कर रही थी। अभियोग की समाप्ति के पश्चात् वह वृद्ध महिला कहने लगी—"मुझे उस स्त्री पर बहुत दया आ रही थी क्योंकि वह बिचारी एक विधवा है।"

अन्तरात्मा और संस्कार

उस आत्माभिमानी ने तड़प कर कहा—"मैं अपनी आत्मा किसी भी क़ीमत पर नहीं बेचूँगा। जब मैं संसार में आया था तो जीवन देने के साथ भगवान् ने मुझे एक भेंट दी थी—वह थी आत्मा! उस आदमी को मैं बहुत नीच समझता हूँ जो किसी भी तरह की--चाहे वह कितनी ही क्षुद्र क्यों न हो—भेंट को बेचने की बात मन में लाता है। उपहार और भेंट अमूल्य हैं। स्नेह का तक़ाज़ा उन्हें अधिक से अधिक सुरक्षित रखने का है।"

और आत्मा के संगीत के सम्मोहन में डूबे ऐसे न जाने कितने मंसूर इतिहास की सूलियों पर टाँग दिए गए क्योंकि वे अपने भीतर भी उसी शक्ति को स्पन्दित बताते थे जो कण-कण में व्याप्त है। इस बात का उन्हें इलहाम हो गया था कि उस महान् आत्मा के ही टुकड़े तो हम हैं लेकिन यह शरीर आँखों का इन्द्रजाल और माया पर्दा बन कर खड़ा हुआ है। आत्मा अगर अपने इस परम अंश से मिलना चाहती है तो हमें इस शरीर की ओर से अधिक से अधिक उदासीन रहना होगा।

एक बार की बात है कुछ बच्चे एक स्थान पर गेंद खेल रहे थे। तभी उधर से एक घुड़सवार सिपाही गुज़रा। घोड़े के पैर से टकरा कर अचानक गेंद एक कुँए में जा गिरी। बिना ध्यान दिए घुड़सवार चला गया। उनमें से एक लड़का भी उसके पीछे भागा। वह क्रोध के आवेश में उसकी छावनी तक पीछा करता रहा। घुड़सवार घोड़े से उतरा। लड़का किसी न किसी तरह उससे बदला लेना चाहता था। जब कुछ न सूझा तो दाँत कटकटाते हुए उसने घोड़े की ज़ीन के कुछ बन्द खोल दिए और भाग गया। सिपाही हँसा। आगे बढ़ कर उसने स्वयं ज़ीन के सारे बन्द खोल दिए। लड़का यह समझता है—मैंने बदला लिया है लेकिन इस ज़ीन को तो मैं खुद ही खोलना चाहता था। आत्मा को शरीर के बन्धन से छुड़ाने के लिए ये 'मंसूर' उत्सुक थे। छुड़ाना नहीं तो कम से कम भूल तो जाना ही चाहते थे।

आत्मा कभी भी अपना गुण नहीं भूल सकती वह उस महान् आत्मा से मिलने को निरन्तर तड़फड़ाती है—चाहे शारीरिक मोह और सांसारिक कोलाहल के कारण हम उसे न सुन सकें। इस तड़प के परिणाम को लेकर ही सिद्धि के स्तर बनाए गए हैं। बहुत से उस आवाज़ को सुनते हैं और बहुत से झुठला देते हैं या उपेक्षा कर देते हैं। इस प्रकार दबते-दबते यह आवाज़ इतनी क्षीण और अप्रत्यक्ष हो जाती है कि सुनना या समझना भी बड़ा कठिन हो जाता है। यही अन्तरात्मा की पुकार, सहज ज्ञान है, यह जो कुछ बोलती है वह सत्य का मार्ग होता है, परमात्मा से मिलने का मार्ग होता है।

यों तो अपने को इस अन्तरात्मा की आवाज़ को सुनने का अधिकारी बता कर सिद्ध लोग न जाने क्या-क्या ऊट-पटाँग किया करते हैं लेकिन हमारे समाज में हज़ारों हैं जिनको उनकी अन्तरात्मा समय-समय पर उचित निर्देशन देती और पथ-प्रदर्शन करती है। बड़े-बड़े कार्यों को प्रारम्भ करने से पहले लोग अन्तरात्मा की पुकार को सुनने का प्रयत्न करते हैं। आज तो यह बात इतनी साधारण हो गई है कि उठते बैठते, चलते-फिरते सभी में लोगों को अन्तरात्मा की आवाज़ सुनाई देती है। जैसे यह कोई गले में बँधी घण्टी है, जो ज़रा से हिलने डुलने से बज उठती है। कभी-कभी खाना खाने को उनकी आत्मा गवाही नहीं देती—क्योंकि पेट पहले से बहुत भरा होता है।

यहीं सबसे बड़ी उलझन का प्रारम्भ होता है। आत्मा निर्लिप्त है, संसार का कोई कलमष उसे छू नहीं सकता—ढँक सकता है। बादल सूर्य को ढँक सकते हैं, छू नहीं सकते। आत्मा स्वयं इतनी प्रकाशवान् तेजपुंज है कि कल्मष उसे छू कर गल जाते हैं। फिर संसार के प्रत्येक कार्य में उसकी आवाज़ क्यों सुनाई देती है? मैं अमुक काम को नहीं करूँगा, मेरी आत्मा गवाही नहीं देती मुझे अन्तःप्रेरणा हुई और मैंने तत्काल ही वह काम कर डाला। इसके लिए सबसे बड़ा तर्क यह दिया जाता है कि वह एक ध्रुव तारा है जो चमक-चमक कर सांसारिक कोलाहलों में रास्ता दिखाया करता है। कुतुबनुमा लक्ष्य तक पहुँचाती नहीं, ठीक रास्ता दिखा

दिया करती है ताकि हम अपनी स्थिति का अनुभव करते रहें।

लेकिन स्पष्ट ही भरे पेट पर भोजन न करने में किसी दैवी आवाज़ या किसी अलौकिक दिशा निर्देशन की अपेक्षा शारीरिक आवश्यकता और इच्छा ही अधिक है। यही क्यों सैकड़ों और हज़ारों काम जिन्हें हम आत्मा और अन्तरात्मा का बहाना लेकर टाल देते या कर डालते हैं, हमारी घोर भौतिक आवश्यकताओं और मनःस्थितियों पर आधरित होते हैं। भयंकर ठंडी हवा में बीमार को डाक्टर तक ले जाने को हमारी अन्तरात्मा गवाही नहीं देती, क्योंकि वह ठंडी हवा बीमार को मार भी डाल सकती है।

एक बात और है। प्रत्येक नया काम करने में ही अन्तरात्मा बड़े ज़ोर से गरज कर उठती है। उस समय मनुष्य यदि मान गया तो ठीक है, नहीं तो उसे उस उठती हुई आवाज़ को कुचलना पड़ता है—आत्मा का हनन करना पड़ता है। आत्मा मर जाती है और बुरे से बुरा काम वह बिना किसी झिझक के कर डालती है। लोगों का कहना यह है कि ऐसा आदमी बड़ा खतरनाक होता है चूँकि उसकी आत्मा मर चुकी होती है, इसलिए चाहे जिस समय वह चाहे जो काम कर डाल सकती है। उसके लिए भला बुरा कुछ नहीं।

सबसे बड़ा प्रश्न यह उठता है कि जब परमात्मा सर्वव्याप्त है और खण्ड-खण्ड में उसकी विभाजित आत्माएँ उसीके मिलन के लिए तड़फड़ाती रहती हैं या कम से कम उस मार्ग की ओर संकेत करती रहती हैं तो देश और काल के कारण यह आवाज़ें बदलती क्यों रहती हैं? चचेरे भाई और बहन की शादी में मुसल्मानों की आत्मा ने कभी विरोध क्यों नहीं किया? और माँ-बाप सबके सामने पत्नी का चुम्बन लेने में अंग्रेज़ों की आत्मा कभी आड़े क्यों नहीं आई? कहा यह गया है कि उनकी आत्माएँ मर चुकी हैं। फिर इसका क्या प्रमाण है कि हमारी ही आत्माएँ जीवित हैं? वह कौन-सा सामान्य स्तर है जहाँ स्वार्थों से अलग सबकी आत्माएँ एक ही बात कहें। शायद कोई नहीं, तो स्पष्ट ही इसका अर्थ यह है कि आत्मा देश और काल से बँधी है।

आध्यात्मिकता का रहस्यवादी मुलम्मा हटा कर अब यदि भौतिकवादी दृष्टि से देखें तो पता चलता है कि किसी भी कार्य को करने न करने में सबसे अधिक बाधा डालते या प्रेरणा देते हैं हमारे घरेलू या सामाजिक संस्कार, मानव-मनोविज्ञान में यदि कोई कठिनाई है तो यही कि मनुष्य स्वभाव के मूल तत्त्वों से इन संस्कारों को हटा कर उन्हें पहचानना प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष किस किस रूप में और कब यह मन को प्रभावित करते हैं इसको जान लेना असम्भव नहीं तो दुस्साध्य तो है ही। स्पष्ट ही हम जिस आत्मा की बात रात दिन करते रहते हैं वह या तो हमारी घोर भौतिक आवश्यकताओं की मानसिक प्रतिक्रिया होती है या हमारा संस्कार, संस्कृति स्वयं हमारी आवश्यकताओं का वह परम्परागत रूप है जिन्हें हमने अपना संस्कार बना लिया है—संस्कृत अर्थात् शुद्ध करके स्वभाव का अंश बना लिया है। नहीं तो चमड़े के पुर द्वारा निकाले गए पानी को पी लेने और मशक का पानी पीने में आत्मा की गवाही न देने में कोई संगति नहीं बैठती, इसका स्पष्ट कारण यह है कि पुर हमारी आवश्यकता पहले था, मशक के संपर्क में हम बहुत बाद में आए जिसे हम रात-दिन अन्तरात्मा कहते हैं वह हमारे संस्कारों के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।

इन संस्कारों का हाल बड़ा विचित्र है प्रत्येक नई बात से हम चौंकते हैं, लेकिन वह नई बात यदि वास्तव में हमारी आवश्यकता हुई तो हम उसके अभ्यस्त बन जाते हैं। रेल के डिब्बे में प्रत्येक नए आनेवाले आदमी को भीतरवाला आदमी दिल से चाहता है कि नहीं आए और वह कोशिश भी करता है। कभी कभी तो प्लेटफार्म पर महाभारत के भी दृश्य देखने में आए हैं। हमारी छाती पर बैठेगा?—गाड़ी तेरे बाप की है, लेकिन जब बाहरवाला आदमी जैसे तैसे भीतर आ जाता है तो किसी न किसी प्रकार अपने बैठने की जगह भी बना लेता है। पहले तो लोग इसकी बदतहज़ीबी पर बड़े नाराज़ होते हैं लेकिन फिर उसे स्वीकृत कर लिया जाता है लड़ भिड़ कर पाई हुई जगह पर दो घंटे बैठे रह कर वह यदि दो-चार मिनट इधर-उधर जाय तो लोग उसकी जगह को सुरक्षित रखते हैं। इस स्वीकृति या सम्मान के साथ ही उस भीतर आनेवाले का रवैय्या प्रत्येक नए आनेवाले के जैसा ही होता है जो उसके साथ बरता ज चुका है। फ़ौरन ही अपने प्रति किए गए व्यवहार को व भूल जाता है। संस्कारों में भी यही होता है। हमा भीतर जहाँ उन्होंने स्थान जमाया वे प्रत्येक नए आ वाले के विरोधी बन जाते हैं। संस्कारों के विरोध

हम आत्मा की पुकार का नाम देते हैं वरना यह पुकार घर दरवाज़े पर बँधे कुत्ते की तरह है जो प्रत्येक नए आनेवाले पर भोंकता है और परिचित के आगे दुम हिलाता है।

नई चीज़ों को परिचय में लाने का श्रेय या तो सामाजिक और राजनैतिक परिवर्तनों और परिवर्धनों को है या अधिक से अधिक व्यक्तियों स्थितियों के सम्पर्क में आने को। रसोई के बाहर या रेल में रोटी खाने को हमारी आत्मा गवाही नहीं देती थी लेकिन राजनैतिक और सामाजिक परिवर्तनों ने आज यह स्थिति ला दी है। हमें अपने को उसके अनुकूल डालना पड़ा है। और फलतः हम उसके अभ्यस्त हो गए हैं। नित्य नए-नए व्यक्तियों, समाजों के सम्पर्क में आनेवाले व्यक्ति या घुमक्कड़ लोग इतने उदार क्यों होते हैं? क्योंकि उनके लिए यह सब कोई नई बात नहीं रहती। जो जितने ही कम अनुभवी और एकांत में पड़ गए हैं उनके संस्कार उतने ही अधिक रूढ़िवादी और संकीर्ण होते हैं। बात-बात में उनकी अन्तरात्मा चीखती पुकारती है। गाँव की संकुचित दुनिया से शहर में आए हुए आदमी की अन्तरात्मा ज़रा-ज़रा सी बात देख कर चिल-पों मचाने लगती है, पंजाबियों के उन्मुक्त फैशन और बेझिझक स्वभाव को देख कर हमारी आत्मा रोई-पीटी ही नहीं, निर्लज्ज और चरित्रहीन तक के ख़िताब दे डाले।

कभी-कभी तो नई आवश्यकताओं के दबाव और इस अन्तरात्मा की पुकार या संस्कारों की कट्टरता में बड़ा द्वन्द्व उठ खड़ा होता है और एक व्यर्थ का मानसिक संघर्ष मनुष्य को विक्षिप्त करता है। कभी क्यों, आज जब ज़िन्दगी के प्रत्येक क्षेत्र में परिवर्तन हो रहा है, हमारे मानसिक और बौद्धिक स्तर के साथ-साथ जीवन के सभी मान बदल रहे हैं इन संस्कारों को ले कर एक ज़बर्दस्त मानसिक आन्दोलन प्रत्येक व्यक्ति के मन में उठ खड़ा हुआ है। हमें चाहिए कि संस्कृति और संस्कारों के नाम पर इन दैनिक अनिवार्य आवश्यकताओं को झुठला दें और व्यर्थ की मुसीबतों को अपने चारों ओर जमा कर लें या फिर इन संस्कारों से ही पल्ला झाड़ कर एकदम अलग खड़े हो जाएँ।

जितना सच यह है आज के जीवन के विस्तार को छोड़ कर जैसे हम जंगल में नहीं जा सकते, अपनी आवश्यकताओं और समस्याओं को आत्मा को हनन से रक्षा करने के नाम पर झुठला नहीं सकते उसी तरह यह भी सच है कि इन संस्कारों से हम पल्ला झाड़ कर अलग नहीं खड़े हो सकते। यह कोई आसान काम नहीं है। विशेष रूप से जब कि वे हमारी श्रद्धा और हृदय का विश्वास पाकर अन्तरात्मा का रूप धारण कर चुके हों। अपने शास्त्रों के अनुसार हम विवेक या सदसद् ज्ञान के द्वारा ही पूर्व और उस जन्म के कर्मों और संस्कारों से छुटकारा पा सकते हैं। लेकिन यह अन्तरात्मा संस्कारों की ऐसी उलझी हुई गाँठ है जो विवेक के चाकू की झलक पाते ही पके फोड़े की तरह दर्द कर उठती है-चीखती है-और यदि जी कड़ा करके हमने इसे चीर डाला तो सारे कष्ट दूर हो जाते हैं कभी-कभी यह विवेक स्वयं ही संस्कारों के प्रभावों से अछूता नहीं रहता और उस समय तर्क जाल बुन कर रक्षा करता है। उस समय हम सिद्धान्त और आदर्श की बात करते हैं। इन सिद्धान्तों और आदर्शों की बात करते समय हम यह बिलकुल भूल जाते हैं, कि उनका निर्माण समाज और मनुष्य की किस अवस्था में हुआ था। यही नहीं, मनुष्य समाज की प्रगति को झुठला कर, वर्तमान विकास को भूल कर हम उन्हें आज के अनुसार 'फ़िट' करना चाहते हैं। हम इनके अन्धविश्वास में यह भूल जाते हैं कि सिद्धान्त और आदर्श मनुष्य की ही भलाई के लिए बनाए गए थे, न कि इसलिए कि आदर्श की बलिवेदी पर मनुष्य का सिर सिद्धान्त के फेर से काट दिया जाय, यह मनुष्य समाज के आदर्श और सिद्धान्त साहित्य के लक्षण ग्रन्थों की तरह हैं। साहित्य का छोटा सा विद्यार्थी भी जानता है कि पहले लक्ष्य ग्रन्थ होते हैं फिर लक्षण ग्रन्थ। एक विचारक ने इस पर मज़ाक करते हुए कहा था कि "जिन कालिदास के ग्रन्थों को लक्ष्य ग्रन्थ मान कर साहित्यशास्त्रियों ने लक्षण-ग्रन्थ बनाए, हँसी आती है यह देख कर कि बाद के कठमुल्ले उन्हीं लक्षण ग्रन्थों की तोप लेकर स्वयं कालिदास के ग्रन्थों को फ़ेल करने लगे।" मनुष्यों के बिना और मनुष्यों से पहिले किसी भी आदर्श और सिद्धान्त का पता नहीं मिलता। भगवान् बुद्ध ने एक बार कहा था—"मेरे सिद्धान्त और विचार बेड़े की तरह हैं, जब तक आवश्यकता है, जल है, मैं इनका आधार लूँगा। ज़मीन आने पर (सिर्फ़ इसी आधार पर कि इसने हमें

कभी पार लगाया था) इस भारी बेड़े को सिर पर उठाए उठाए फिरना मूर्खता है।" यह क्रान्तिकारी विचार मनुष्य के उन्मुक्त चिन्तन से ही पैदा हो सकते हैं। यही कारण है कि हजारों पुराणपन्थियों के बीच ऐसे ही स्वतन्त्र चिन्तक धर्मकीर्ति निडर होकर कह सके—

"वेदप्रामाण्यं कस्यचित् कर्तृवादः
स्नाने धर्मेच्छा, जातिवादावलेपः,
सन्तापारम्भः पापहानाय चेति
ध्वस्तप्रज्ञानां पंचलिंगानि जाड्ये।"
प्रमाणवार्तिक

वेद (इत्यादि धर्म ग्रन्थों) को प्रमाण मानना, किसी को (इस सृष्टि का) कर्ता कहना (तीर्थ इत्यादि) के स्नान से धर्म की इच्छा करना, छोटी बड़ी जाति का अभिमान करना, पाप नष्ट करने के लिए (कोई उपवास अनुष्ठान) करना—ये पाँच बातें नष्ट बुद्धि लोगों की मूर्खता के चिह्न हैं।

यह ठीक है कि हमारा प्रत्येक विश्वास उदार विवेक की कसौटी पर और तर्क-सम्मत हो, लेकिन विवेक स्वयं अपना लक्ष्य या माप-दण्ड नहीं है। केवल विवेक के बल पर जीवन की यात्रा नहीं समाप्त की जा सकती। विवेक का आधार मानव कल्याण की भावना ही हो सकती है जैसा कि ऊपर संकेत है। चाहे वह धर्म हो या संस्कृति, विवेक हो या अन्तरात्मा सब मनुष्य सापेक्ष्य हैं इनका अपना अलग से कोई भी अस्तित्व नहीं है, अच्छे वे तभी हैं जब हमारी भलाई करें, समाज का कल्याण करें। एक बात यहाँ स्पष्ट समझ लेनी चाहिए, कि समाज का कल्याण कभी भी उसे पीछे लौटा कर ले चलने में नहीं हो सकता। मानव विकास की ऐतिहासिक और वैज्ञानिक स्थितियों का हमें ज्ञान होना चाहिए। बिना इसके मानव कल्याण की बात बड़ी हवाई है—क्योंकि उन्हीं पर तो हमें अपने विवेक को ढालना है। मानव विकास की गुज़रती हुई ह्रासशील अवस्था और व्यवस्था का मोह छोड़ कर हम आनेवाली अनिवार्य स्थिति का हृदय खोल कर स्वागत करें। जैसा कि क्रान्तिद्रष्टा कवि प्रसाद ने किया है—

"पुरातनता का यह निर्मोक
प्रकृति भी सह न सकी पल एक।
नित्य नूतनता का आनन्द,
किए हैं परिवर्तन में टेक।
प्रकृति के यौवन का शृङ्गार,
करेंगे कभी न बासी फूल।"

व्यक्तिगत अन्तःप्रेरणा या संस्कार हमें वहीं तक ग्राह्य हैं जहाँ तक वे वैज्ञानिक धरातल पर मानवता का मापदण्ड बन सकें। अपने प्रति किए गए अत्याचार में तो आपकी आत्मा चीख़ उठे, लेकिन दूसरे के प्रति वही अत्याचार कर डालने की आप स्वतन्त्रता चाहें, यह तर्क-सम्मत होने पर भी मान्य नहीं है। दूसरे के यहाँ हाइड्रोजन बम डालने से पहले अपने घर पर एटमबम डाल कर देखिए।

हमारे इन संस्कारों और अन्तरात्मा की सबसे बड़ी कमज़ोरी या बुराई यह है कि वे नकारात्मक और निषेधात्मक आधार पर होते हैं। यह नकारात्मकता या अस्वीकृति ही हमें आस पास के वायुमण्डल से काट देती है और हमारा दायरा संकीर्ण से संकीर्णतर होता चला जाता है, प्रसिद्ध वैज्ञानिक आइनस्टीन के सापेक्ष्यतावाद के सिद्धान्त के अनुसार भी यह एक घोर घातक प्रवृत्ति है। कुएँ के मेढ़क की तरह हम लोग दुर्भेद्य दीवारों में बन्द हो जाते हैं और ताज़ी हवा की तरह आनेवाली प्रत्येक नई बात हमें अपनी अन्तरात्मा पर प्रहार करती या संस्कृति को निगलती दिखाई देती है।

अपने स्वार्थों और निर्बाध शोषण के लिए समाज की प्रारंभिक स्थिति में जो मनुष्य की अपराजेय शक्ति और अप्रतिहत प्रगति को बाँध देने तथा मानसिक रूप कुण्ठित कर देने के जितने भी प्रयत्न हुए हैं उनमें अन्तरात्मा और आत्मा की संसार से अलग रहस्यमय आवरण में बाँध कर रखनेवाली कल्पना भी एक है। किसी भी कार्य को करने से पहले इस अन्तरात्मा की आवाज़ को मान्यता दी गई, या विश्वास दिला दिया गया कि यह आवश्यक है और जब कार्य हो चुके तो भाग्य को कोसना या सारा उत्तरदायित्व उस पर रख कर सन्तोष कर लेना ज़रूरी माना गया। प्रारम्भ में अन्तरात्मा, अन्त में भाग्य, इन दोनों के पाटों में सर्वोच्च मनुष्य! और इनके आधार या सूत्राधार दुनिया से परे कहीं (नयन मन बुद्धि सब के अगोचर!) और! शक्तिशाली घोड़े को दोनों ओर से बाँधना ज़रूरी है।

राजामण्डी,
आगरा

—राजेन्द्र यादव
एम. ए

लघु कथाओं के प्रयोग

क्रिया वैयक्तिक चेतना से प्रभावित हो कर समाज पर अपना असर डालती है। चेतना का रूप कैसा? अच्छा या बुरा? इसका निर्णय करना कठिन है और उससे भी अधिक कठिन है हर व्यक्ति को बताना। फिर भी विचारकों ने जीवन के हर क्षेत्र में, क्रिया की हर चेतना पर विचार किया है। उसे प्रकट भी किया है। उनमें ताकत थी तो वैयक्तिक-सत्ता ने कभी कभी उसे स्वीकार भी किया है। जो शक्तिहीन थे, उनका निजी अस्तित्व भी आज नहीं है। तो यह शक्ति-सम्पन्नता वैयक्तिक-सत्ता की निजी धारणाओं से ऊपर उठी हुई चीज़ है। ज्ञान की भुभुक्षा और सत्य की प्राप्ति का लक्ष इसका मूल केन्द्र बिन्दु है। अन्धकार के आवरणों को चीर कर सत्य को प्रकट करने के, वैयक्तिक-सत्ता के सामने रखने के कई रूप हैं। कहानी का माध्यम उच्च स्तर की चीज़ शायद न भी हो, पर मजबूत है, इसमें शक नहीं। उच्च स्तर के लिए कुछ स्थान की गुञ्जाइश मैं रख रहा हूँ, और वह इसलिए कि कहानी के आवरण में बुद्धि-चेतना एवं ज्ञान की स्पष्टता स्वयं एक विशेष प्रकार के आवरण को धारण कर लेती है। पर यह आवरण हलके घूँघट की तरह है। इससे सत्य का लोप हो जाता हो यह तो नहीं कहा जा सकता मगर मनुष्य की स्वाभाविक रुचियों का झीना और अनुकूल घूँघट उसे आकर्षक बना देता है।

कहानी विचार-प्रसाधन का एक साधन है: आज की क्रियात्मक व्याख्या इस स्तर पर आ गई है। यह स्तर एकान्त रूप से ग़लत हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता। इस विचार प्रसाधन में लेखक की, जो कहानी लिखता है, विचारों का अपरोक्ष रूप से प्रचार करता है, संवेदनशील प्रवृत्तियाँ काम करने लगती हैं। कभी कभी विचार संवेदनशीलता को तीव्र भावुकता की ओर मोड़ ले जाते हैं। भावुकता सही होते हुए भी विचारों की विशेषताओं से प्रतिस्पर्द्धा नहीं कर सकती। लम्बी कहानी में, जिसमें लेखक की भावनाएँ रसिकता और कभी कभी बोझ बन कर छिपी रहती है, वहाँ पाठक को कहानी के सार तत्व में पहुँचते देर लगती है। कभी कभी लेखक और पाठक दोनों ही बीच में खो भी जाते हैं।

लम्बी कथाओं का सार रूप है लघु-कथाएँ। दृष्टान्त की क्षमता इसमें विशेष होती है। लेखक की कल्पना का इत्र-रूपी रस इसमें होता है: और इसलिए उपदेशक अथवा वैज्ञानिक के दृष्टान्त से उसकी कहानियाँ भिन्न होती हैं। संक्षिप्तता के इस युग में लघु-कथा का भविष्य उज्जवल है। जीवन के नवोन्वेषित तथ्यों का समावेश सरलता और प्रभावशाली ढङ्ग से लघु-कथाओं द्वारा प्रकट होता है।

जीवन की सामयिक घटनाओं से लेखक प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। लघु-कथा लेखक के सामने भावना अथवा विचार को सीधे और ताकतवर ढङ्ग से मौलिकता का मीठास ले कर आगे चलना है। इसलिए वह कथा के आन्तरिक सौन्दर्य और विचार की ठेठ गहराई को ग्रहण करने का ही अधिकारी होता है। यही कारण है कि लघु-कथा का अस्तित्व सामयिक समस्याओं और उसके प्रभावों पर आधारित होते हुए भी एकान्त सत्य का प्रतिपादन करने में अधिक जागरूक होता है। इस सत्य की व्याख्या जब भी बदलेगी, कथाकार की कथाएँ और चिन्तन की गहराइयाँ उसकी कसौटी का काम करेंगी।

लघु-कथा की मूल प्रेरणा दो प्रकार की है। एक तो लेखक घटना को देख कर उसमें सत्य की खोज करता है। दूसरे सत्य को प्रकाशित करने के लिए घटना का सहारा लेता है। लेकिन लघु-कथा की एक कसौटी है: वह यह कि उसमें वैयक्तिक भावनाओं का रंग न हो कर सत्य का, विचार-चिन्तन के सारांश का संक्षेप में प्रतिनिधित्व हो।

इस तरह से लघु-कथाओं के दो रूप हो गए हैं। एक बौद्धिक कथाएँ यथार्थवाद के क़रीब होती हैं। नैतिक आदर्श के यथार्थवाद वस्तु-सत्ता में सत्य को खोजता है। आदर्श सिद्धान्तों में वस्तु-सत्ता को। दोनों एक दूसरे के पूरक होते हुए भी अपना निजी अलग अस्तित्व रखते हैं।

नैतिक लघु-कथाओं के प्रतिनिधि साधारणतया

धर्म-प्रचारक रहे हैं। उनका निश्चित प्रभाव भी पड़ता है। इस स्कूल में ईसप के फ़ेबेल्स, पंचतन्त्र की कथाएँ महाभारत, बाइबिल, जातक की रूपक कथाओं को शामिल किया जा सकता है। नई पीढ़ी में प्रयोग करनेवाले लोक-कथाओं, और जन विश्वास के आधार पर ऐसी कथाओं का निर्माण कर रहे हैं। इनमें अयोध्याप्रसाद गोयलीय (गहरे पानी पैठ) और विशाल भारत के सम्पादक श्री श्रीराम शर्मा (खण्डित प्रतिमा) है! पत्र-पत्रिकाओं में इस प्रकार की कई कथाएँ आजकल प्रकाशित हो रही हैं।

दूसरी श्रेणी में हम रवीन्द्र की कुछ कहानियाँ को लेंगे। उदाहरणस्वरूप उनकी एक कथा इस तरह है।

"गृह स्वामी ने काँच के भाँड़ में बन्द मछलियों को मुक्त करना चाहा, बड़े तालाब में ले जा कर उन्हें छोड़ दिया। मगर वे उसी तरह निरन्तर चक्कर खाती रहीं जिस तरह काँच के भाँड़ में!" (कथा का मूल भाव : शब्द-ब-शब्द नहीं)।

इसी स्कूल से सम्बन्धित खलील जिब्रान भी हैं। देश और समाज ने इनके दार्शनिक विचारो को एक विशेष प्रकार की पृष्ठभूमि दी। अपनी निजी प्रतिभा के बल पर उन्होंने अपने सिद्धान्तों को प्रतिपादित करने में लघु-कथाओं का प्रयोग एवं उपयोग किया। काव्य-गत सौन्दर्य के कारण दोनों संसार में अपने इस क्षेत्र के सफल अधिनायक हैं। यद्यपि इनकी कथाएँ कभी कभी ईसप और पंचतन्त्र की कहानियों (लघु) के क़रीब आ जातीं हैं : पर नवीन विचारधारा ने शैली पर जबर्दस्त प्रभाव डाला था, और इसलिए आदर्श तथा यथार्थवाद का सामंजस्य इनमें मिलता है। मानव के मूल नैतिक विचारों के परिपाक के विकास को आवश्यक मानते थे : और इसके लिए वैयक्तिक सत्ता को जिम्मेदार ठहराते थे। खलील जिब्रान की एक कथा का साराश दूँगा :

"सुबह आहार की खोज में निकलनेवाली एक लोमड़ी ने जब अपनी परछाँई देखी, तो उसे लगा कि आज उसे एक ऊँट भोजन के लिए चाहिएगा। दोपहर तक जब उसे इच्छित आहार नहीं मिल सका तो उसने अपनी परछाँई फिर देखी, अब सूर्य आकाश के ठीक बीज में आ गया था, और उसकी परछाँई बहुत छोटी हो गई थी। उसने सोचा कि अब मेरा काम एक चूहे मात्र से चल जाएगा।"

दृष्टान्त कथाओं के लिहाज़ से और अपना असर डालने के ख्याल से दोनों ताकतवर उदाहरण हैं।

इस क्षेत्र में इस पीढ़ी के प्रयोग कर्ता हैं सुदर्शन, कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर, आनन्दमोहन अवस्थी, बनफूल और रावी।

श्री सुदर्शन की "झरोखे" आन्तरिक प्रकाश के स्पष्ट होने के लिए एक आमन्त्रण हैं। जिब्रान से वे प्रभावित हैं। इसलिए इन लघु-कथाओं में (जिन्हें वे कथा नहीं मानते : पेरेबल के लिए लघु-कथा ही उपयुक्त शब्द मुझे जच रहा है) जिब्रान कहीं कहीं हावी हो कर बोलने लगते हैं। पर जब उनका मौलिक रूप सामने आता है, तो सौन्दर्य अधिक खिल उठता है : कथा अधिक सार्थक और सफल हो जाती है। उनकी एक कथा है, जिसमें विक्रमादित्य कालिदास को साधारण आदमियों के वेश में देख कर आश्चर्य करता है, और उसे उत्तर मिलता है कि कालिदासों की कमी नहीं, कमी विक्रमादित्य की है।

बङ्गला के वनफूल और आनन्दमोहन अवस्थी एक तरह से क़रीब है। इनकी लघु-कथाओं में तीव्र व्यंग्य है। घटना को ले कर सत्य-दर्शन की जिज्ञासा इनमें अधिक है। बनिस्पत निश्चित सत्य को घटना के माध्यम से पेश करने के।

भारतीय ज्ञान पीठ, बनारस से प्रकाशित "आकाश के तारे : धरती के फूल" कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर का सुन्दर लघु-कथा संग्रह है। इन कथाओ में सौन्दर्य, कल्पना और मिठास है : पर कुल मिला कर वे शिशु की सरल जिज्ञासा और उत्सुकता के नज़दीक ही है। अपने आप में उनकी निश्चित रूप से कीमत है।

हिन्दी में इस ओर निरन्तर प्रयास एवं प्रयोग करनेवाले हैं आगरा के रामप्रसाद विद्यार्थी रावी। इनकी लघु-कथाओं में कल्पना की सरसता, आदर्श की संतोषकारी झलक है : चिन्तन स्वतन्त्र है : उनके साराँश पर घटनाओं का आधार है। वैयक्तिक चेतना को सामाजिक विकास के लिए अधिक आवश्यक मानते हैं। परिस्थिति के सृजकों के प्रति न इन्हें अधिक असन्तोष है, न उसके द्वारा उत्पन्न विवशता पर विश्वास। अतीत के क्रम को लाँघ कर आदर्श के विशिष्ट दायरे में पहुँचने की उनकी तीव्र आकाँक्षा है। यही उनके साहित्य में प्रतिपादित

होता है । एच. जी. वेल्स की तरह यूटोपिया पर इनकी चीज़ें केन्द्रित हैं । सत्य में गहराई है । उसे पेश करने के ढङ्ग में संक्षिप्तता और स्थाईत्व है । इनकी बड़ी कहानियाँ भी अपनी लघु-कथाओं का विस्तृत रूप मात्र है । वर्तमान युग से बहुत आगे बढ़ कर समाज की प्रस्तुत विभिन्न समस्याओं का हल ढूँढने का प्रयत्न इनकी प्रत्येक कहानी में स्वस्थ्य धरातल पर किया गया है । लेखक की ऐसी धारणा है कि आज की सरल माँग कल, एक लाख वर्ष पश्चात् (इस अवधि लेखक सामाजिक क्रान्ति के लिए प्रस्तुत हैं) बहुत अधिक परिष्कृत हो जाएगी ।

इस परिष्कृत माँग के स्पष्ट रूप को वे अपनी कहानियों द्वारा हमारे सामने पेश करते हैं । यह बिलकुल मुमकिन है कि एच. जी. वेल्स ने जिस प्रकार रोमाण्टिक, वैज्ञानिक, काल्पनिक कथाएँ लिखी थीं, आज एक अर्से के गुज़र जाने के बाद सत्य के बहुत क़रीब आ गई हैं, रावी की कथाएँ भी अपना स्थूल आकार ले ।

उनका ऐसा विश्वास है कि ज्यों ज्यों मनुष्य अधिकाधिक सावधानी के साथ अपने चारों ओर देखने लगता है, उसे प्रत्येक व्यक्ति, वस्तु और परिस्थिति अधिकाधिक नवीनतापूर्ण और महत्वपूर्ण दीखने लगती है । नवीनता और महानता प्रत्येक व्यक्ति में है । इन्हें ही उसकी अद्वितीयता या यूनिक कह सकते हैं । इस तरह से जिस वस्तु से प्रेरणा मिलती है, वह उतना महत्व नहीं रखती, जितना कि जिसने प्रेरणा ली । दूसरों के ज्ञान या प्रकाश को लेने में नहीं, दूसरों के कोष में श्रीवृद्धि करने का सात्विक-अहंकार भी उनमें है । और यही उनकी मौलिकता का सबसे बड़ा रुख भी कहा जा सकता है ।

वे ऐसा मानते हैं कि चिन्तन और कामना ही वास्तविक कर्म है और शरीर द्वारा बननेवाला कर्म उसका केवल निचला सिरा ही है । ठीक चिन्तन और ठीक कामना अनिवार्य रूप में ठीक और सशक्त कर्म के रूप में फलित हुए बिना नहीं रह सकती । इसलिए कर्म के लिए अलग से प्रयास परिश्रम अथवा चिन्ता पर उनका एकान्त विश्वास नहीं है ।

अपने एक पत्र में उन्होंने लिखा “विश्वास दिलाना चाहता हूँ कि मुझे किसी असामाजिकता या समाज-विमुखता का दोषी नहीं पाएँगे । मैं भरपूर और अपने पूरे गति-बल के साथ समाज के साथ और समाज के भीतर हूँ । जिस श्रम और प्रयास से चिढ़ की बात मैं कहता हूँ वह, श्रम और प्रयास है, जिसे मनुष्य विवशताओं के कारण अपने ऊपर थोपता है और जिसके साथ उसके सहज जीवन-प्रवाह का सामंजस्य नहीं होता—जिसके लिए उसे कष्टपूर्वक अपनी शिथिलताओं से जूझना पड़ता है । (यहाँ की दृष्टि में) सक्रियता ही जीवन और चिन्तन और भावना का स्वयं साध्य निचला सिरा ही है ।......

रावी के विचारों की ठोस क्रियात्मक और निजी पृष्ठभूमि है । पिछले मार्च (१९५२) में दिल्ली से होता हुआ मैं आगरे एक दिन के लिए रावी का मेहमान बन सका था । उसके निकट के सम्पर्क में, आगरा से दूर सिकन्दरा के पास, यमुना-तीरे, कैलाश पर, इनके एकान्त-निवास-स्थान पर उन्मुक्त हृदयों के मिलन की स्मृति हमेशा याद रहेगी । यहाँ वैयक्तिक अच्छी अथवा बुरी लगने की प्रवृत्ति का जिक्र नहीं कर रहा हूँ । बल्कि इस “सुखद-स्मृति” का अर्थ उस आन्तरिक अनुभूति से है, जो हर व्यक्ति को एक विशेष प्रकार की घटना अथवा परिस्थिति से गुज़रने पर होती है ।

सन्तुलित, व्यवस्थित और क्रियाशील व्यक्तित्व की नए समाज के प्रति एक देन है । वह क्या है, कैसी है, यह उसकी हर लघु-कथा बहुत साफ़ स्वर में तेज़ी के साथ कह सकती है । यह बात अवश्य है कि चखने और सूँघने की शक्ति हममें एक सीमा तक ही है ।

वर्तमान समाज की स्थिति से रावी को असन्तोष है । उसकी हर कहानी मानव समुदाय को लक्षित करके कही जाती है । ‘कथागुरु’ की आड़ लेकर उपदेश देने का तरीक़ा कहानी को स्पष्ट अवश्य कर देता है : मगर यह स्पष्टता कहानी से अधिक ऊपर उभर आती है, जिससे कि लेखक कहानीकार से अधिक विचारक और विचारक से अधिक प्रचारक बन जाता है ।

रावी की अपनी शैली है । प्रवाहमयी, परिस्थिति-श्रजन की श्रेष्ठ क्षमता-युक्त ।

लेकिन कहानियों का वातावरण चाहे किसी स्तर पर क्यों न चला जाय, उसकी मूल प्रेरणा वर्तमान के तीखे रुख में है । शीशम का खूँटा, कथा के जरिए रावी

व्यक्ति की बड़ी से बड़ी आवश्यकता की पूर्ति का साधन, उसके पास ही मौजूद है, ऐसा बताता है। इसी तरह अन्धे–शिकारी अपनी लक्ष प्राप्ति से मूल लक्ष को भूल जाते हैं और सफलता के बजाय असफलता ही प्राप्त कर पाते हैं। "बिल्ली का बोझ" मोह की सुपरिचित मुद्रा है। छः बिल्लियों का अपने आप कूद कर चले जाना, वंशानुगत रहस्य है? और इसे स्पष्ट करने में रावी सफल रहे हैं। "केवल एक बूँद और" कहानी की दृष्टि से सफल और सुन्दर है और अन्ततोगत्वा यही असर डालती है कि दैवी प्रवृत्तियों की एक सीमा होती है और उस सीमा तक पहुँचने पर अथवा उससे पहले लोग निजी स्वार्थ के लिए उसका उपयोग करते करते उसकी (प्रवृत्ति की) रक्षा की बात भूल भी जाते हैं। "धर्ता नहीं तो कर्ता सही" यह कहानी लोक–अन्धविश्वास के आवरणों को भंग करने का प्रयत्न करती है। अन्धी आँखों के लिए आवश्यक दवा को अन्धी आँखों से लगाने के बजाय चखते हैं और कहते हैं "बहुत मीठी बहुत स्वादिष्ट"। उनकी शक्ति इतनी ही थी और यही कारण है कि वे उपयोगी वस्तु का लाभ नहीं उठा सके। अदालत के फैसले का एक बढ़िया जिक्र है "अन्तिम ही क्यों" इसमें न्याय के निर्णय के उस रूप को आवश्यक माना है जिसमें वर्तमान स्थिति से पहले अतीत की स्थिति को समझने का आग्रह हो।

इसी तरह प्रत्येक कथा मानवीय प्रवृत्ति, उसके वर्तमान रूप और उसमें अपेक्षित क्रान्ति की आवश्यकता की हिमायती है। और मुझे रावी के पत्र का यह अंश बिलकुल ठीक लगता है।

"मैं भरपूर और अपने पूरे गति-बल के साथ समाज के साथ और समाज के भीतर हूँ।"

और मुझे शिकायत है कि तुम बहुत आगे चले गए हो।

—श्री सत्य

"नवभारत-टाइम्स"
बम्बई

तेलुगु कहावतें

दरिद्रुडु तल कडिगिते वडगंड्ल वान ।
दरिद्र यदि अपना सिर धोए तो ओलों की वर्षा हो ।
उट्टिकि एगरलेनी अम्म स्वर्गमु एगुरुतदा ?
ऊँचे पर टंगे हुए छीके को नहीं पा सकती तो स्वर्ग कैसे पाएगी ?
क्रिंद पेड़िते पण्टलु लेवु मीद पेड़िते वानलु लेवु ।
दुष्ट आदमी जमीन पर रहे तो जमीन में कुछ उत्पन्न नहीं होता और
यदि उसे आसमान पर रखाजाए तो पानी नहीं बरसता ।
पिट्ट चिन्नदि कूत पेद्ददि ।
चिड़िया छोटी, आवाज बड़ी। (छोटा मुँह बड़ी बात ।)
एंडिन रागि चेट्टु कु गालि एकुव ।
सूखे हुए पीपल के वृक्ष में अधिक हवा । (रस्सी जल गई ऐंठन न गई)
इण्टि लक्षणमु वाकिलि चेप्पुतदि ।
घर का लक्षण आंगन से मिल जाता है ।

सौ० 'धर्म' सुशीलादेवी

क्रोध का उपचार

मनोवैज्ञानिक विश्लेषण

क्रोध कोई भी व्यक्ति कर सकता है, यह सहज है पर ठीक व्यक्ति पर क्रोध करना, सीमा तक क्रोध करना, ठीक समय पर क्रोध करना ठीक उद्देश्य के लिए क्रोध करना और ठीक प्रकार से क्रोध करना—यह सहज नहीं है।

शारीरिक रोगों के समान मानसिक रोग भी मनुष्य के जीवन में अपना प्रभाव दिखाते हैं। क्रोध भी एक मानसिक रोग है। इसका कारण जानने के लिए मानवीय अन्तर्भावनाओं का विश्लेषण करना चाहिए।

मनुष्य जीवन बहुल कामना पूर्ण है और इसके साथ साथ बाधासंकुल भी। बाधाएँ, अड़चनें और रुकावटें विविध रूप में उसके सामने आती हैं। वह इनका सम्मुख्य और निराकरण करता हुआ इन पर विजय प्राप्त करना चाहता है। कई बार बचाव का मार्ग तलाश करता है पर बहुधा असफल हो जाता है। इसके फलस्वरूप उसके हृदय में कभी निराशा, आत्मग्लानि, कभी आत्महीनता एकत्रित होती रहती है। इनसे दबा मनुष्य अपनी प्रसुप्त और निष्क्रिय परन्तु बहिरंग मन के लिए उत्सुक भावनाओं को चिड़चिड़ापन, शुष्कता और रोष के रूप में विविध समयों पर प्रकाशित करता रहता है। इस प्रकार के भाव प्रकाशन के उग्र रूप का नाम ही क्रोध है।

"किसी घटना की जितनी मात्रा में प्रतिक्रिया किसी व्यक्ति के हृदय में होगी, उसीसे उसके हृदय का परिमाण जाना जा सकता है"—एक विद्वान् के इन शब्दों को दूसरे रूप में यों भी कह सकते हैं कि किसी मनुष्य के हृदय की विशालता और क्षुद्रता का निश्चय इस बात से हो सकता है कि कोई घटना उसके हृदय में कहाँ तक रोष या क्रोध उत्पन्न कर सकती है।

इसलिए क्रोध यदि दूसरों के दुःख की भावना से उत्पन्न होता है तो अच्छा है परन्तु यदि वह अपनी असन्तुष्ट मनोव्यक्ति की शिकायत के रूप में प्रकट होता है तो वह अच्छा नहीं होता।

क्रोध में मनुष्य विचार और विवेकशून्य हो कर शीघ्र, तीक्ष्ण, रूक्ष और उच्च स्वर में बोलता है। उसके मुख पर और नेत्रों में रक्तिमा आ जाती है। कई मनुष्यों के मुख से इस अवस्था में झाग निकलती देखी जाती है। हिटलर के सम्बन्ध में कहा जाता है कि जब वह क्रोध में आता था, तब मृगी के समान उसके मुख से झाग निकलती थी और शरीर काँपने लगता था। कई बार क्रोधातिरेक से पक्षाघात और हृदय स्पन्दन के रुक जाने की घटनाएँ भी देखी गई हैं। उत्तेजना की प्रतिक्रिया सदा घातक होती है। इस नियम के अनुसार क्रोध का आवेग समाप्त होने पर शरीर में दुर्बलता मन में पश्चात्ताप और आत्मग्लानि की भावना का उद्भव होता है। वैज्ञानिकों ने क्रोधोन्मत्त व्यक्ति के रक्त का उसी अवस्था में परीक्षण किया। उसमें कुछ जीवित कीटाणु छोड़े गए जो तत्काल मर गए। इसका स्पष्ट अभिप्राय यही है कि क्रोध के समय मनुष्य के रक्त के अन्दर इतनी उष्णता और विष-वृद्धि हो जाती है कि उसमें कीटाणु जीवित नहीं रह सकते। अब इसी से अनुमान किया जा सकता है कि क्रोध मनुष्य के शारीरिक स्वास्थ्य के लिए कितना घातक है।

यह तो अवस्था व्यक्ति की है। जब यह क्रोध सामुदायिक और संगठित रूप में होता है तब कितने भयंकर अत्याचार, अनर्थ, विद्रोह और दंगे फ़िसाद हो जाते हैं—संसार का इतिहास इन घटनाओं से भरा पड़ा है। १९४७ में अविभक्त पञ्जाब और बङ्गाल में मुसल्मानों के सामुदायिक और संगठित क्रोध के द्वारा अबलाओं, बच्चों और वृद्धों पर कितने लोमहर्षण अत्याचार किए गए—यह इसका ताजा उदाहरण है।

इसी प्रकार पारिवारिक सुख-समृद्धि और शान्ति का यदि कोई सर्वाधिक शत्रु है तो वह क्रोध है। हमने अपने जीवन में ऐसे कई परिवारों को देखा है जहाँ लौकिक दृष्टि से सब प्रकार के सुख साधन उपस्थित थे पर घर के एक व्यक्ति के क्रोध ने, दावानल के समान, समस्त परिवार को श्मशान भूमि बना दिया। एक रिटायर्ड जज महोदय ने क्रोध में आकर आधी रात

के समय अपनी पत्नी और बच्चों को गोली का शिकार बना कर अपने को थाने में खड़ा कर दिया था। इस प्रकार की घटनाओं को देख सुन कर रोमांच हो जाता है और महाभारत के शान्ति पर्व में भीष्म पितामह द्वारा युधिष्ठिर के इस प्रश्न के उत्तर में कि पाप का मूल क्या है ?—"कहे गए निम्न शब्द कितने तथ्यपूर्ण हैं" !

"क्रोधो मूलमनर्थानां क्रोधः संसारबन्धनम् ।
धर्म क्षयकरः क्रोधस्तस्मात् क्रोधं विवर्जयेत् ॥"

अर्थात् सब अनर्थों का मूल क्रोध है, संसार में दुःख का कारण क्रोध है, धर्म का नाशक क्रोध है, इसलिए क्रोध का त्याग करो।

क्रोध का उपचार निम्न प्रकार है :

(१) थोड़ा बोलो और आवश्यकता होने पर ही बोलो। प्रायः बहु और वृथावादी तत्काल क्रुद्ध हो जाते हैं। मितभाषिता कई गुणों की खान है।

(२) जब देखो कि तुम्हारे सामने खड़ा व्यक्ति आवेश में आ रहा है, तत्काल चुप हो जाओ और वहाँ से हट जाओ। इसी में उस समय वीरता है।

(३) अपने स्वभाव में सहनशीलता और दूसरे के दृष्टिकोण को समझने की आदत डालो। यह भी सोचो कि यदि तुम उसकी अवस्था में होते तो क्या वैसा ही न करते जिसके लिए तुम उस पर रोष प्रकट कर रहे हो ?

(४) जिस समय तुम्हारे मन में क्रोध भड़कने लगे, तत्काल ठण्डा पानी पी लो, परमात्मा के नाम का जाप करो या उलटे क्रम से अंकों को गिनना प्रारम्भ कर दो और सबसे अच्छा उपाय तो यह है कि किसी शान्त ऋषि-मुनि-महात्मा और महापुरुष का चिन्तन करो। इस प्रकार विचार-सरणी में परिवर्तन आते ही क्रोध शान्त हो जाएगा।

(५) एक ८० वर्षीय वृद्ध ने बताया कि वे बड़े क्रोधी थे। इससे छूटने की युक्ति उन्होंने यह निकाली कि क्रोध आते ही वे घर में ठण्डे पानी से स्नान कर लेते थे। सर्दी में ठण्डे पानी से कई बार स्नान करने की आशंका से वे क्रोध से बच जाते थे। एक अन्य वृद्ध ने बताया कि प्रति रात्रि शयन से पूर्व वे हिसाब लगाते थे कि आज दिन भर में क्रोध कब, क्यों और किस पर किया तथा अगले दिन उसी प्रकार की उत्तेजक अवस्था में भी उपरति धारण करने का दृढ़ निश्चय करते थे।

(६) अपने स्वभाव को हास्य तथा विनोदपूर्ण बनाओ पर वह हास्य, विनोद अश्लील और किसी कोचुभने तथा क्षति पहुँचानेवाला न हो। इस विषय में प्रसिद्ध पाश्चात्य लेखक हर्बर्ट एन. कसन ने अपनी पुस्तक लुकिंग आन दि ब्राइट साइड" में निम्न वाक्य बड़े मार्के के कहे हैं: —

"आजकल के अति व्यस्त और ऊँचे दबाव के दिनों में एक काम काजी व्यक्ति को ऐसी कला आनी चाहिए जिससे वह सुविधा और शान्ति से काम कर सके। उसे अपने जीवन-रथ के पहिए में हास्य, विनोद, स्निग्धता और मित्रता का तेल देते रहना चाहिए ताकि उसकी सामान्य बुद्धि सन्तुलित रहे। यदि किसी मनुष्य को क्रोध विरत हो, शान्ति और गम्भीरता से जीवन मात्रा की विधि आ जाय तो वह अपने सिर पर असीम उत्तरदायित्व का बोझ उठा सकता है।"

(६) महात्मा गान्धी के ये शब्द सदा हृदयंगम करने चाहिए "यदि तुम सही हो, तब तुम्हें क्रोध नहीं करना चाहिए और यदि तुम भूल पर हो, तब क्रोध तुम्हें शोभा नहीं देता।"

देवनगर, करोल बाग़,
दिल्ली

—दीनानाथ सिद्धान्तालंकार

यह एक चमत्कार से कम नहीं है कि शिक्षा की वर्तमान पद्धतियों ने जिज्ञासा के कौतूहल को पूर्ण रूप से समाप्त नहीं कर दिया है।

—अलबर्ट आइन्स्टीन

नारियल की कहानी

नारियल Coco, nucifera-Linar (Cocoanut or Cocoanut Palm) तेलुगु में टेंकाय, कोब्बरकाय, महाराष्ट्र में नारळ, नारला, मद्; कर्नाटक में नारीकेरा, नूर, गीताकु, टेंगेना काइ, टेंगु; तमिळ में टिंगे, टिंगु, नारीगेलम्; मल्याली में टेन्ना, टेन्नु, नालीकेरम्; गुजराती में नारिएल, संस्कृत में नारिकेल; फारसी में नारजिन, जावा में केरंबान, केलापा, कहते हैं।

सूखे मग़ज़ के लिए अलग नाम है:—खोपरा (हिन्दी, उर्दू); कोबरा, कोब्बरा टेंकाय (तेलुगु); कोबरी (कन्नड़ा); कोबरते तिंगे (तमिळ); खोकरु (गुजराती); कोपरा (मल्याली); खोपरा, खोपरे की बट्टी (दक्षिण); Dry Kernel Supra (अंग्रेज़ी)

नारियल का पानी दक्षिण में यलनीर का पानी, तेलुगु में एल्लानीरु, तमिल में एलनीर कहलाता है। नारियल का रस जिस में नशा आ गया हो हिन्दी में नारियली, दक्षिण में नारियल की सेंदी; तेलुगु में टेंकाय कल्लु; तमिल में तेंगा या तेंनं कल्लु और अंग्रेजी में "Cocoanut toddy" कहलाती है।

नारियल के रेशे को हिन्दी में नारा, तेलुगु में टेंकाय नार; तमिळ में तिन्नं नार और अंग्रेजी में 'Coir' या Coconut Fibre कहते हैं।

नारियल की लकड़ी अंग्रेज़ी में Porcupine wood कहलाती है।

यह पङ्ख जैसे पत्तों और सीधे या प्रायः मुड़े हुए पेट (तना) वाला Palm है। इस पर वर्षवारी दाग़ पाए जाते हैं। यह उन स्थानों का स्मरण दिलाते हैं जहाँ पहले पत्ते लगे हुए थे। यह पौधा भारत के समस्त गर्म प्रान्तों और बर्मा में उगाया जाता है, विशेषतया समुद्र के निकट। हमारे पूर्वी और पश्चिमी किनारों पर अधिकतया पाया जाता है परन्तु वह ३,००० फुट ऊँचाई तक भी उगता है जैसे की बेङ्गलोर और दूसरे स्थानों पर उसके कई प्रकार हैं। ये सब गर्मी के मौसम में फलते हैं। फिर सितम्बर तक फल पक जाते हैं:

नारियल के वृक्ष किस तरह उगते हैं:

अच्छे पक्के फल चुन लिए जाते हैं। यह न ज्यादह कम आयु के वृक्ष के और न बहुत पुराने वृक्ष के होने चाहिए। महीनों रखने के बाद इन्हें बोते हैं। अगर वर्षा ज्यादह नहीं हो रही हो तो बरसात के मौसम में अथवा जनवरी से ले कर अप्रैल तक किसी समय बो सकते हैं। गढ़े को दो फीट गहरे और एक दूसरे से एक फुट दूर खोदते हैं। नारियल को गढ़े में उसके बाज़ू पर लिटा कर रख देते हैं और एक इञ्च ऊपर का भाग खुला रखते हैं। इसमें साधारण खाद, लाल मिट्टी और रेती के अलावा राख और नमक भी डाल सकते हैं। ये दोनों खाद का भी काम करते हैं और कीड़ों को भी नहीं आने देते। गढ़ों को गीला रखना चाहिए परन्तु बहुत ज्यादह पानी नहीं। चार महीनों से ले कर साल भर तक बीजांकुर को अपनी स्थायी जगह पर रख सकते हैं। सूखी जगहों पर वर्षा की ऋतु में और ठण्डी जगहों पर गर्मी के मौसम में भी जगह बदल सकते हैं। स्थायी जगह के लिए गढ़े एक से ले कर दो गज तक चौड़े, दो या तीन फुट गहरे और एक दूसरे से दस बारह गज़ दूर होने चाहिएँ। अच्छी भूमि में इतने बड़े गढ़ों की आवश्यकता नहीं होती। अगर बीज अच्छा हो और अवस्था भी अनुकूल हो तो पाँच साल में वृक्ष को फल लगने आरम्भ होते हैं नहीं तो दस साल तक भी फल नहीं आते। हर वृक्ष से साल भर में १०० फल औसतन निकलते हैं। इस वृक्ष की आयु बड़ी होती है।

नार या नारा:

यद्यपि पत्ते की डण्डी का रेशा और पत्ते के मूल में जो बारीक जाल जैसे धागे होते हैं वे भी काम में आते हैं तो भी सबसे ज्यादह फल के दीवार का रेशा (नारा) है जो व्यापार में अधिक काम में आता है। यों तो भारत में नारे से रस्सियाँ और दूसरी चीजें बहुत प्राचीन काल से बनाई जाती थीं परन्तु नारा और रस्सी दोनों यूरोप में पहली बार सोलहवीं सदी के बीच में भेजे गए थे। १८५१ ई० की बड़ी अन्तर्राष्ट्रीय प्रदर्शनी के बाद नारे की रस्सी और चटाई की इंग्लैण्ड में माँग बहुत बढ़ गई। अब तो नारे से बहुत सी सुन्दर वस्तुएँ बनाई जा रही हैं।

सूखी हुई गिरि या खोपरे में ३० से लेकर ५० प्रतिशत तेल होता है। साधारण बैलों से घानी चला कर तेल निकालते हैं। हमारे देश में नारियल का तेल खाने में भी काम में आता है। दवा में काम आता है। उसे जलाते हैं और उससे पेंटिंग, साबुन बनाने और देह पर मालिश करने के लिए उपयोग करते हैं। यूरोप में उसको साबुन और मोमबत्ती बनाने में उपयोग करते हैं। खोपरे की खली एक अच्छी खाद है। यह पशुओं को मोटा करने के लिए भी खिलाई जाती है।

नारियल की सेंदी से गुड़ और शक्कर बनाते हैं। परन्तु सेंदी से ही ज्यादह लाभ होता है। नारियल के गुड़ या शक्कर में चूना मिला कर एक तरह की सीमेंट बनाते हैं जो बहुत मजबूत होती है और उस पर अच्छी पालिश हो सकती है। दीवारों पर चूना डालने के लिए नारियल के पानी का चूने में उपयोग होता है।

इसके अलावा नारियल का हर एक हिस्सा जिन जिन कामों के लिए उपयोग होता है वे ये हैं:

तने की चोटी पर जो कली होती है उससे बहुत अच्छी तरकारी बनती है और उससे चटनी और अचार बनाए जाते हैं। लकड़ी से नाटें, क्रिकेट के बैट और कई फैन्सी चीज़ें बनाई जाती हैं। पत्ते झोंपड़ियों की छतों, चटाइयों टोकरियों, और बहुत सी अच्छी अच्छी चीज़ों के लिए काम में आते हैं। पत्तों की मोटी डंडियाँ बाड़ों, जुवों और पतली डंडियाँ, (बीच की रगें) झाड़ुओं, ब्रशों और टोकरियों इत्यादि के लिए उपयोग में आती हैं। पत्तों के आधार पर जो जाल जैसी चीज़ होती है (दक्षिण में इसे घसनी कहते हैं) उसका बर्तन साफ़ करने के लिए उपयोग होता है। ताज़ा और सूखा खोपरा साग में बहुत उपयुक्त होता है। उससे बहुत ऊँची मिठाइयाँ बनाई जाती हैं। अंग्रेज़ी मिठाई में भी सूखे खोपरे को बहुत उपयोग करने लगे हैं। वह एक बड़ा उद्योग बन गया है। नारियल के खोल से हुक्के के भाग, पानी की डोंगियाँ, डोइयाँ, चमचे, तरह तरह की नक्शी काम किए हुवे डिब्बियाँ, कटोरे, बटन और कई फैन्सी चीज़ें तैयार की जाती हैं।

बहुत से उगाए हुए पौधों के मूल में एक भेद है। उनमें से बहुत थोड़े ऐसे हैं जिनके बारे में इतनी ज्यादा छान-बीन की गई हो जितनी कि नारियल के बारे में। डा. रिडले, सर हिल डा. मेरिल और दूसरों ने नारियल के असली देश और उसके फैलाव के बारे में हमारी जानकारी को बहुत बढ़ाया है।

इस बात से कि नारियल भारत में बहुत प्राचीन काल से मौजूद था कोई इनकार नहीं कर सकता। कई पुराणों में नारियल का वर्णन है। महा भागवत, विष्णु-मत्स्य, मार्कण्डेय और अन्य पुराणों में नारियल के वर्णन मिलते हैं। रामायण, महाभारत और प्राचीन तमिल साहित्य में भी उसका ज़िक्र है। इन वर्णनों से भारत में नारियल का बहुत प्राचीन काल से होना सिद्ध होता है। परन्तु यह नहीं मालूम होता कि वह इस देश का वृक्ष है, यद्यपि वह पूजा-पाठ में अनिवार्य रूप से प्रयुक्त होता है। नारियल उन १४ चीज़ों में शरीक नहीं किया गया है जो शास्त्र में पवित्र बलि के लिए मान लिए गए हैं। उसका श्राद्ध में उपयोग करते हैं। हिन्दु लोगों के समस्त मंगल कार्यों में वरुण की पूजा की जाती है जिसके लिए घड़ों में पानी भर के उसके ऊपर नारियल रखते हैं, वरुण पानी और समुद्र का देवता है।

इस बात से उस विचार की पुष्टि होती है कि नारियल समुद्र से आया है। लङ्का में एक कहानी में कहा जाता है कि नारियल को एक राजा भारत में नाग लोक से लाया था।

नारियल का संस्कृत नाम नारिकेल है। उत्तर भारत की भाषाओं, अरबी और फ़ारसी में भी नारियल के लिए नाम संस्कृत से लिए गए हैं। श्री मयूरनाथ का विचार था कि हिन्दुओं ने मलय और मलय के एक बड़े हिस्से को जीत करके आबाद किया था और यह स्वाभाविक बात है कि जीतनेवाली जाति के ज़बान में नारियल के जो नाम थे उन लोगों ने अपनी भाषा का लिहाज़ करके कुछ अदल बदल के साथ स्वीकार कर लिए और वह नाम दूसरे स्थानीय नामों के साथ सदियों से चला आ रहा है। संस्कृत में शब्द केरा नालिकेर की जगह आया है जैसा कि केरा बला फला में, जिसका अर्थ एक कम उमर नारियल के वृक्ष का फल है। केरा से केरंबील में परिवर्तन स्पष्ट है। और यह जानना चाहिए कि क्या इसी शब्द का अदल बदल के साथ सुमात्रा, जावा और साथ के छोटे लगे हुवे द्वीपों में उपयोग होता है। जावा में नारियल के लिए केलपा केलापो और केलपा नाम है। मलय द्वीप में कलापा कहते हैं। खयाल किया जाता है कि यह नाम भी संस्कृत में केल

या केला फला के अनुसार है। यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि यह और ऊपर बयान किए हुए शब्द केवल उन स्थानों में प्रयुक्त होते हैं जो एक जमाने में हिन्दुओं ने आबाद किए थे। इसके अलावा डा. बर्टलेफ़ के अनुसन्धान से यह सन्देह दूर हो जाता है कि मलायन नामों से संस्कृत नामों पर असर हुआ था। उन्होंने यह नतीजा निकाला है कि निऊ निओग सबसे पुराना है और केरंबील बहुत बाद में उपयोग में आया और केलपा अभी का है। लङ्का में जो नाम (पोल) है शायद संस्कृत शब्द फल से निकला है जिसका अर्थ फल है। इस कारण कि नारियल को पूर्ण फल बयान किया गया है जिसका अर्थ फल है। लङ्का की पुरानी पुस्तकों में जो निराला नाम है वह भी संस्कृत से आया है। व्यापार में खोपरा भी जो दुनिया भर में सूखे मगज के लिए उपयोग किया जाता है वह संस्कृत का है। कर्पट संस्कृत में खोपड़ी को कहते हैं और दक्षिण भारत में यह कहानी कही जाती है जिसमें बतलाया गया है कि सर के बदले नारियल पैदा किया गया है। क्योंकि नारियल का खोल सिर की तरह होता है। इससे मलयाली कोपरा निकला है।

नारियल के लिए तमिल नाम टेंगु, टिन, या टिन्नई हैं। फल को काई कहते हैं। तमिल व्याकरण के अनुकूल टेंगुकाइ टेंकाइ बन गया है और नारियल के लिए तमाम तमिल देश में भी यही नाम है। दक्षिण भारत में तमिल लोगों का दूसरे लोगों से पहले नारियल से जानकारी रखना इस बात से स्पष्ट है कि यहाँ दूसरी भाषाओं से नारियल के लिए तमिल से नाम बनाए गए हैं। मलयाली टेंगु और टेंगा, तेलुगु टेंकाय और कन्नड़ा टेंगा और टेंगनाकाइ सब तमिल से निकले हैं। तमिल लोग उद्योगी होते थे और समुद्र पार करके दूर दूर जजीरों से व्यापार किया करते थे। संभव है कि उन्होंने नारियल के कई किस्मों को लाकर दक्षिण भारत में फैलाया।

मार्कीज़ीज जंजीरे से मडगास्कर तक नारियल के एक नाम नीयू Niyu के किसी एक अदल बदल किए या बिगड़े हुए नाम से मशहूर है जैसा कि निया, निओ, निओग, निजोन इत्यादि जिससे प्रकट है कि पौधे के साथ नाम ने भी यात्रा की है। ऐसे नामों में कुछ नाम जैसे नूरा, नूरो, (Nor) नूर जो अब मलय आर्किपेलेगो में उपयोग नहीं होते मुख्यता रखते हैं ऐसा मालूम होता है कि वह संस्कृत नाम "नारिकेल" से निकला है। यह जानना चाहिए कि नाम "नूर" (Nore) मालाबार के किनारे के नीचे लोगों की ठेठ भाषा में ताजा खोपरे के लिए उपयोग होता है।

नारियल का असल देश ऐसा होना चाहिए जहाँ नारियल के बीज से मनुष्य के बिना प्रयत्न किए पौदे उगे हों और वह स्वयं फैल गए हों जैसे कि मलाया का पूर्वी आर्कीपेलेगो और पश्चिम महासागर प्रशान्त सागर के जजीरों में हुआ है। वहाँ नारियल झाड़ी के काँटों की तरह कसरत से उगते हैं। इन स्थानों में सदा और बहुत ज्यादह वर्षा होती है। इसका समुद्र के किनारे का होना इस बात को साबित करता है कि वह नमकीन पानी की बहुत ताब लाता है और उसमें समुद्र के जरिए फैलाव की तरकीब मौजूद है उसमें और एक खास बात होती है जिसको कि भाषा में विविपैरी कहते हैं जिसका अर्थ है कि फल के वृक्ष पर रहते हुए बीज में से पौदा उपज कर निकल पड़े। नारियल समुद्र के दलदली प्रान्तों में नहीं उग सकता। परन्तु उसको ऐसा सूखा किनारा चाहिए जहाँ ताज़गी हो। हवा कम चले तो उसके लिए अच्छा है। नारियल के असल देश में यह सब बातें होंगी।

नारियल के दूसरे साथी अमेरिका के सिवाय किसी दूसरी जगह नहीं पाए जाते हैं। इस बात से बहुत से वनस्पतिशास्त्रियों का यह विचार हुआ था कि अमेरिका ही नारियल का असली देश है। परन्तु न्यूज़िलैण्ड में फ़ौसिल Fossil नारियल के आविष्कार से सिद्ध होता है कि बहुत पिछले ज़माने में नारियल और उसके साथियों का इस जमाने के मुक़ाबले में बहुत विशाल फैलाव था। स्पेन के एक यात्री ओविडो को पनामा के किनारों पर १५१५ में नारियल के बहुत से झुण्ड मिले थे। इस आविष्कार से उस विचार को सहायता मिली कि नारियल अमेरिका से फैला है। परन्तु अमेरिका के पश्चिमी समुद्री किनारे सूखे हैं और यह बिलकुल सम्भव नहीं है कि ऐसा पौदा जो गीली जलवायु और बहुत वर्षा पसन्द करता हो गीले पूर्वी हिस्से के मुक़ाबिले में अमेरिका का सूखा हिस्सा पसन्द करे। सच तो यह है कि स्पेन के लोगों के लाने से पहले अमेरिका के पूरबी किनारों पर नारियल मौजूद नहीं था। पेट्रस मार्टिन ने जिसने १५२० में ईस्ट इंडीज़ की छान बीन की थी लिखा है कि उन्होंने जजीरे मोल्वसीज में नारि-

यल को बिलकुल इत्तेफ़ाकी तौर पर उगते हुए देखा। यह बयान बहुत महत्व रखता है। उस बात का भी विचार करना है कि हिन्द महासागर के कोकोस कीलिंग द्वीपों में उनके आबाद होने से पहले से नारियल के अनेक वृक्ष मौजूद थे। मध्य अमेरिका के बहुत क़दीम बाशिन्दों में नारियल का उपयोग नहीं किया जाता जब कि वह प्रशान्त और हिन्द महासागर के जजीरों के रहने वालों की रस्मों, संस्कृति और भाषा में एक मुख्य हिस्सा रखता है और उसके लिए किसी प्रकार के अमेरिकी नाम का न होना काफ़ी सुबूत है कि नारियल उस देश का नहीं है। अगर थोड़ी देर के लिए यह समझ लें कि वह अमेरिका से निकला है तो फिर वह सदियों पहले हिन्दुस्तान कैसे पहुँचा जब कि उस जमाने के अमेरिकी बाशिन्दों को न यहाँ आने की जरूरत थी और न वे इस योग्य थे कि वह यहाँ तक पहुँच सकें। मारीशस जजीरे में ब्राउन ने नारियल की ५० जातियों का वर्णन किया है और इन में से हर एक का अलग नाम है।

एक बहुत बड़े वैज्ञानिक, नाम हैं 'डिकैण्डोले' ने १८८३ में सम्मति प्रकट की है कि बहुत सम्भव है कि इस देश का नारियल से सम्बन्ध हो। डॉ० मैरिल ने कहा है कि "नारियल का देश" कोई जगह अवश्य थी। इटली के एक प्रो० इमीलिओ चिओवेण्डा में अरब इतिहासकार जैसे इब्न वहाब आबूजहीद और अल्बेनियाँ की पुस्तकों से उद्धरण दिए हैं कि नारियल हिन्दुस्तान से दूर नहीं था। वह ऐसी जगह थी जो अब समुद्र में डूब गई है। और हिन्द महासागर के पश्चिम हिस्सों में थी।

हो सकता है कि मल्यासिया नारियल का देश था। प्राचीन पैपुआन धर्म में न्यू जिनेवा द्वीप शामिल है जो अब भी मौजूद है और दूसरे हिस्से पानी में डूब गए हैं। खोज का काम अभी आरंभ हुआ है। हम जानते हैं कि न्यूज़ीलैण्ड में नारियल के फोस्सील्स मिले हैं। आशा है कि जब न्यूज़ीलैण्ड में फोस्सील्स की खोज का काम होगा तो संभव है ऐसे फोस्सील्स मिलेंगे जिनका नारियल के अब तक मालूम किए हुए फोस्सील्स से ज्यादा नजदीकी सम्बन्ध हो।

नारियल हमारे देश में इतना प्राचीन है कि अरब पिछले जमाने से अब तक उसे "जौज़े हिन्द" या हिन्दुस्तानी गिरी कहते हैं।

साइन्स कालेज,
उस्मानिया विश्वविद्यालय
हैदराबाद

—एम. सईदुद्दीन

अफ़वाहों का फैलना

कितनी ही बातें जिन्हें कि हम समझते हैं कि हम अच्छी तरह 'जानते' हैं—हमारी 'सुनी-सुनाई' बातों पर आधारित होती हैं। आप किसी बात को जाँच करके देखिए तो पता लगेगा कि हमारे ज्ञान का आधार अफ़वाह या सुनी-सुनाई बातें होती हैं।

कोई नहीं जानता कि अफ़वाहें कैसे फैल जाती हैं। मुसीबत तो यह है कि कोई इसकी परवाह नहीं करता। "साधारण ज्ञान" प्रायः "साधारण अज्ञान" होता है। हमें किसी बात को किसी दूसरे के कहने से पहले उसकी सत्यता का पता लगा लेना चाहिए।

—रौफी थौम्पसन

दक्षिण यात्रा

बहुत दिनों से इच्छा थी, कि दक्षिण की यात्रा की जाए पर वैसा अवसर अब तक नहीं मिला था । आखिर एक दिन मैं अपनी पत्नी के साथ दक्षिण भारत की यात्रा को चल पड़ा और बनारस, गया, कलकत्ता, पुरी, भुवनेश्वर और वाल्टेयर होकर १३ सितम्बर को मद्रास पहुँचा । कलकत्ते से ही वर्षा हो रही थी और पुरी के आसपास की हरी खेती, हरे भरे धान के खेत, पानी में डूबे दिखाई दे रहे थे । पुरी में जगन्नाथ मन्दिर के दर्शन किए। मन्दिर बहुत विशाल और ऊँचे टीले पर बना हुआ है और स्टेशन से दस बारह मील की दूरी से ही उस मन्दिर के शिखर दिखलाई देने लगते हैं, इस यात्रा का उद्देश्य मन्दिरों के दर्शन करना भी था, इसलिए पुरी और भुवनेश्वर के मन्दिर भी हमने देखे, कदाचित् पूर्वी भारत में जगन्नाथ जी का मन्दिर अपनी विशालता, अपनी सुन्दर वास्तुकला के कारण बहुत ही महत्वपूर्ण हैं ।

पुरी समुद्र तट को छोड़ कर साधारण सा शहर है। समुद्र के किनारे किनारे होटल, रैस्तराँ और धनी लोगों के अपने बंगले बने हुए हैं । पुरी का समुद्र तट विशाल होते हुए भी व्यापार के लिए उपयोगी नहीं । नगर में बहुत-सी धर्मशालाएँ हैं । सौ सवा सौ गज का चौड़ा एक बाजार है, जो मन्दिर तक जाता है मन्दिर जैसा कि हमने कहा एक बहुत ऊँचे टीले पर स्थित है । लगभग तीस चालीस सीढ़ियाँ चढ़ कर हम मन्दिर के प्राकार में पहुँच जाते हैं । गर्भगृह में एक गरुड़ का स्तम्भ है । उसके सामने ही दूर पर जगन्नाथ जी के दर्शन होते हैं, किन्तु दिन में ही अन्धेरा रहने के कारण स्पष्ट कुछ भी दिखलाई नहीं देता । बड़े बड़े तेल और घी के दिये भी उस अंधेरे को दूर करने में असमर्थ हैं । पहले विशाल गोपुर पार करने के बाद देव प्रतिमा के पास पहुँचते हैं किन्तु वहाँ के पण्डों ने यात्रियों के आने जाने के नए मार्ग बना रखे हैं । अन्धकार में ऊँची नीची सीढ़ियाँ पार कर हम लोगों ने दर्शन किए । मन्दिर की अव्यवस्था शोचनीय है । यात्रियों को मन्दिर के गर्भगृह तक पहुँचने में काफ़ी कष्ट का सामना करना पड़ता है । जगन्नाथ जी के मन्दिर का बाहरी भाग अपनी विचित्र कला के कारण बहुत प्रसिद्ध है । वहाँ सभी प्रकार के चित्र देखने में आते हैं परन्तु नग्न और अश्लील चित्र भी हैं मेरे पूछने पर एक सज्जन ने बतलाया, कि यह चित्र मनुष्य को वासना शुद्धि के लिए हैं । जिज्ञासु और योगी के परीक्षार्थ ही इन चित्रों का निर्माण हुआ है । भुवनेश्वर के मन्दिर में इस प्रकार के चित्र नहीं हैं, फिर भी इन चित्रों में शेषशायी विष्णु, देवता, गन्धर्व, यक्ष, किन्नर आदि के चित्र हैं ।

लोग काफ़ी ग़रीब हैं, उड़िया भाषा, प्रान्तीय भाषा होने के कारण समुन्नत है । चाहने पर भी मैं किसी उत्कल विद्वान् से नहीं मिल सका ।

पुरी का समुद्र तट बहुत ही सुहावना है, समुद्र की हवा से वहाँ का वातावरण, आर्द्र और प्रफुल्लित रहता है । किनारे की बालुका छोटे छोटे सीप लेकर लहरें बनाती रहती है । पुरी का सूर्योदय प्रसिद्ध है । दूर दूर से लोग समुद्र के गर्भ से उषा पिण्ड को निकलते देखने के लिए समुद्र के तट पर आकर बैठ जाते हैं और नील सागर में निकलते हुए लाल पीली उषा की किरण जो ऊपर आसमान में और नील सागर पर फैलती हैं, उछलती हुई लहरों के साथ सुवर्ण किरणों की क्रीड़ा अभूतपूर्व सौन्दर्य का दृश्य उपस्थित करती है । मुझे लगा कि यह सूर्योदय का दृश्य जहाँ समुद्र और आकाश की एक क्रीड़ा है वहाँ दर्शक में भी एक अक्षय स्फूर्ति को भरती है । मैंने इतना सुन्दर दृश्य इससे पूर्व कभी नहीं देखा था, किन्तु इससे भी अधिक सौन्दर्य मैंने कन्याकुमारी में देखा । कन्याकुमारी का सूर्योदय और सूर्यास्त दोनों जगत् प्रसिद्ध है । इन दोनों स्थानों पर मैंने देखा कि मन्दिरों की रक्षा के लिए यथेष्ट ध्यान देने की आवश्यकता है । पंडे और पुजारियों के अधिकार में होने के कारण मन्दिर की देवप्रतिमाओं को छोड़ कर उसके बाहरी भाग की रक्षा ठीक ठीक नहीं की जा रही है । जो कुछ टूट जाता या भग्न हो ज़ाता है उस पर भी ध्यान देने की आवश्यकता है । मन्दिर की बनावट और उसका बाहरी भीतरी सौन्दर्य और वातावरण की स्थिरता; यह सब ऐसे हैं जिनको बनाए रखना देश के

प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है। मैंने अनुभव किया, कि अधिकतर यात्री धार्मिक भावना लेकर इन मन्दिरों के दर्शन करते हैं और मन्दिर की वास्तुकला के सौन्दर्य पर उनका ध्यान नहीं जाता। इसका परिणाम यह होता है कि बड़े बड़े धनी यात्री भी अपने नाम का एक पत्थर या सीढ़ी, या इसी प्रकार की कोई चीज़ बना कर तथा ब्राह्मण भोजन या धर्मशाला निर्माण करके सन्तुष्ट हो जाते हैं। मुझे बहुत ही क्षोभ हुआ जब मैंने देखा कि इन विशाल मन्दिरों की सुरक्षा का प्रबन्ध सन्तोषजनक नहीं है। निश्चय ही उन मन्दिरों को सुरक्षित बनाए रखने के लिए, अपार सम्पत्ति की आवश्यकता है पर मैं सोचता हूँ कि क्या इनकी रक्षा का दायित्व हमारे देश के प्रत्येक व्यक्ति पर नहीं है?

भुवनेश्वर तथा सूर्य तीर्थ के मन्दिरों में बने हुए चित्रों को देख कर तो सचमुच एक बार विस्मित हो जाना पड़ता है। सूर्य तीर्थ में मैंने एक चित्र देखा, जिसमें एक सिर के चार धड़ हैं। एक ही चित्र को अलग अलग कोणों से देखने पर चार चित्र दिखलाई देते हैं, मृदङ्ग, वीणा लिए हुए गन्धर्वों के चित्र, राज सभा के चित्र अब भी वैसे ही मोहक और आकर्षक हैं। मुझे तो भुवनेश्वर की चित्रकला कहीं कहीं जगन्नाथ जी के मन्दिर से सुन्दर दिखलाई देती है।

नौ सितम्बर की रात को हम लोग "खुर्दा रोड" से हो कर मद्रास के लिए चल पड़े और दूसरे रोज़ एक बजे के लगभग आन्ध्र प्रान्त के सुरम्यनगर वाल्टेयर पहुँच गए। वाल्टेयर पहाड़ों से घिरा हुआ बड़ा सुन्दर नगर है। वहीं आन्ध्र विश्वविद्यालय समुद्र के तट पर बना हुआ है। प्राकृतिक सौन्दर्य की दृष्टि से वाल्टेयर की छटा निराली है। सब ओर से हरा भरा वह प्रदेश मुझे बड़ा सुन्दर लगा। हम लोग केवल थोड़ी ही देर वहाँ रहे और मद्रास के लिए चल पड़े। मद्रास के आस-पास का प्रदेश बिलकुल शुष्क दिखाई दे रहा था। पिछले पाँच वर्ष से वहाँ वर्षा नहीं हुई थी। इस बार भी बहुत थोड़ी वर्षा हुई। सब ओर पानी का अभाव, सूखे और झुलसे हुए मैदान दिखलाई दिए। जैसे ही जैसे हम मद्रास के निकट पहुँच रहे थे, वैसे ही कहीं कहीं समुद्र भी दिखलाई दे जाता था। मद्रास पहुँचने पर हमने देखा कि मनुष्य के निर्माण कौशल ने प्रकृति की भयंकरता और वर्षा के अभाव को कुछ कम कर दिया है और उसने अपनी सुव्यवस्थित एवं परिष्कृत सुरुचि से नगरों के निर्माण द्वारा प्रकृति की उपेक्षा करके अपनी आवश्यकताओं को पूर्ण कर लिया है। हम लोग १३ सितम्बर को प्रातःकाल मद्रास सैण्ट्रल स्टेशन पर उतरे और रहने की व्यवस्था करके नगर भ्रमण को निकले। मद्रास का समुद्र तट जिसे 'बीच' कहते हैं बहुत ही सुन्दर लगा। समुद्र के तट पर मीलों लम्बी सड़क उसके एक ओर विशाल भवन और दूसरी ओर अपार समुद्र लहराता दिखलाई देता था। समुद्र के किनारे-किनारे जनसमूह को घूमते हुए देख कर वह सायंकाल का समय सब ओर से अनुप्राणित होता हुआ प्रतीत हो रहा था। मैंने बम्बई में चौपाटी, और जुहू का भी दृश्य देखा है किन्तु वह तो अपने ढङ्ग का अनूठा था। हज़ारों की संख्या में मोटरें सड़क के किनारे किनारे कतार में खड़ी थीं। ऊपर आकाश में चन्द्रमा, नीचे पृथ्वी पर धवल निर्मल अट्टालिकाएँ और सामने विशाल सागर मानो किसी ने उस पर सफ़ेद चाँदनी बिछा दी हो मनुष्य निर्मित और प्रकृति सौन्दर्य के मिश्रण से यह जीवन कितना खिल उठता है। यह मुझे "बीच" पर दिखलाई दिया। हम लोग दस ग्यारह बजे तक बैठे इस सौन्दर्य का पान करते रहे।

मद्रास में कई साहित्यकारों से भेंट हुई। मैंने दो व्याख्यान भी दिए। मैंने अनुभव किया कि मद्रास में अन्य साहित्यिक विषयों के अतिरिक्त नाटकों के लिए काफ़ी भूख है। लोग नित्य नए सामाजिक नाटक चाहते हैं। मेरे और अन्य हिन्दी लेखकों के उपलब्ध सभी नाटक वह खेल चुके हैं। नए नए नाटकों की तीव्र इच्छा का अनुभव मैंने कलकत्ते में भी किया। बङ्गला नाट्य मंच के सूत्रधार "शिशिर-भादुड़ी" रंगमंच पर जहाँ पुराने नाटक खेलते हैं, वहाँ वे बंगला नाटकों, उपन्यासों का नाटकीय अनुकरण कर लेते हैं। इस प्रकार उन्होंने नाट्य कला को अक्षुण्ण बनाए रखा है। हिन्दी में निश्चय ही अपना कोई विशेष रंगमंच नहीं है। यह हिन्दी के लिए एक दुर्भाग्य की बात है। जो नाटक हिन्दी में लिखे जाते हैं वे रंगमंच पर खेले बिना ही प्रकाशित हो जाते हैं। इसीलिए उनमें रंगमंच सम्बन्धी त्रुटि का रह जाना सम्भव है किन्तु मैंने देखा दक्षिण भारत के हिन्दीप्रेमियों ने अपना रंगमंच बना रखा है। वे प्रति वर्ष तीन चार नाटक खेलते हैं, और उससे उन्हें काफ़ी आय भी हो जाती है मुझे बतलाया गया कि हिन्दी न जाननेवाले तमिल भाषा-भाषी

लोग भी हिन्दी नाटकों का अभिनय देखने के लिए उत्सुक रहते हैं। यह जान कर मुझे प्रसन्नता हुई कि दक्षिण के लोगों में नाट्य रुचि अधिक परिमार्जित है। मद्रास में आए दिन तमिल भाषा के नए नए नाटक होते रहते हैं, और उनके दर्शकों की संख्या चित्रपट देखनेवालों की संख्या से किसी तरह भी कम नहीं है।

पन्द्रह सितम्बर के प्रातःकाल हम लोग मद्रास के एग्मोर स्टेशन से कांचीवरम् के लिए रवाना हुए। मार्ग में चिंगलपेट स्टेशन पर हमको गाड़ी बदलनी पड़ी। मद्रास के सब स्टेशनों के बोर्डों पर से हिन्दी के नाम मिटा दिए गए हैं। यह काम दक्षिण भारत के एक ऐसे वर्ग का है जो हिन्दी को राजभाषा स्वीकार करने के पक्ष में नहीं है। मैं काफ़ी दूर से यह सब देखता चला आ रहा था किन्तु मौन था। कांचीवरम् जाते हुए एक पढ़ी लिखी लड़की 'इण्टर क्लास' में मेरे पास आ कर बैठ गई। वह आई० ए० एस० की ट्रेनिङ्ग प्राप्त करके दिल्ली से लौट रही थी और 'सब कलैक्टर' के स्थान पर उसकी नियुक्ति होनेवाली थी। अचानक हिन्दी नामों के मिटाने की बात चीत चल पड़ने पर उसने कहा—"हम लोग किसी भी भाषा का साम्राज्य अपने ऊपर लदा हुआ नहीं देखना चाहते। यही कारण है कि यहाँ के लोगों में हिन्दी के प्रति एक रोष है।"

मैंने पूछा--"तो आप देश के लिए राजभाषा के रूप में किसी भाषा की आवश्यकता समझती हैं या मान लीजिए सरकार हिन्दी को हटा देती है तो आपकी सम्मति में राजभाषा कौन सी होनी चाहिए।

"हाँ क्यों? अंग्रेज़ी," उसने कहा।

"अंग्रेज़ी देश की राजभाषा हो सकती है? जब कि दो सौ वर्षों के बाद दस प्रतिशत आदमी भी न उसे बोल सकते हैं और न समझ सकते हैं।"

उसने कहा--"क्योंकि वह बड़ी समृद्ध भाषा है।"

"तो क्या किसी मालदार स्त्री को हम अपनी माँ बना सकते हैं? और उससे भी वही स्नेह पा सकते हैं जो अपनी माँ से? यह हमारी दास-मनोवृत्ति का परिणाम है कि हम अभी तक अंग्रेज़ी के पक्षपाती हैं, फिर भी आप मानेंगी कि वह राजभाषा के रूप में किसी प्रकार सी व्यवहृत हो सकती है। कोई भी स्वतन्त्र देश दूसरे देश की भाषा को अपनी राजभाषा नहीं मान सकता चाहे वह कितनी सम्पन्न और समृद्ध हो।" अन्त में उसे मानना पड़ा कि यह और कुछ नहीं एक राजनैतिक चाल है। यहाँ एक वर्ग ऐसा है जो द्रविड़ संस्कृति का पोषक है, वह चाहताहै कि द्रविड़स्थान का निर्माण हो। किमनमा जार्ज की यह बात मुझे बहुत अच्छी लगी।

कांचीवरम् में "शिव कांची और विष्णु कांची" तथा कामाक्षी के मन्दिरों के दर्शन किए। विष्णु कांची और शिव कांची के मन्दिर आमने सामने लगभग एक मील डेढ़ मील की दूरी पर बने हुए हैं। मन्दिरों की विशालता उनकी भव्यता और सौन्दर्य का तो कहना ही क्या! दक्षिण के ये मन्दिर एक विशेष कला का परिचय देते हैं। प्रत्येक मन्दिर में पहले 'मण्डप' फिर 'गोपुर' तत्पश्चात् प्राकार और बीच में मन्दिर होता है। प्रायः दक्षिण के सभी मन्दिर एक ही तरह के बने हुए हैं। उन आकाशचुम्बी मन्दिरों के पास पहुँच कर एक प्रकार की भावना हृदय में उत्पन्न होती है कि इन मन्दिरों के निर्माण में कितना परिश्रम कितना कौशल और कितना समय लगा होगा। जिन लोगों ने ये मन्दिर बनवाए हैं उनकी धर्मनिष्ठा कितनी प्रबल होगी। प्रायः सभी नगरों में मैंने देखा कि जहाँ विष्णु का मन्दिर है वहाँ शिव का भी है। शैव और वैष्णव सम्प्रदाय के आपसी मेल का नमूना मुझे सम्पूर्ण दक्षिण भारत में दिखाई दिया। जब विष्णु मन्दिर में देव प्रतिमा की यात्रा का समारोह होता है तब दोनों ही सज धज के साथ समारोह मनाते हैं। दोनों का ही पूजन और अर्चन विधिवत् होता है।

"पच्चिअप्पा हाई स्कूल" के हिन्दी अध्यापक दोरास्वामी ने हमारा स्वागत किया। उस दिन उनके यहाँ श्राद्ध था, उनकी पत्नी भी हिन्दी परीक्षा के लिए तैयारी कर रही थीं। उसकी टूटी फूटी हिन्दी सुन कर और उसके हिन्दी प्रेम को देख कर हमको बड़ा आनन्द हुआ। शाम को 'हिन्दी प्रचार संस्था' में मेरा एक भाषण हुआ। छात्राओं और हिन्दी प्रेमियों के उस जन समूह को देख कर हृदय उल्लास से भर गया। मुझे उस समय एक और भी आश्चर्य हुआ जब मेरा परिचय देते समय दोरास्वामी ने मेरी सभी पुरानी और नई कृतियों का अपने ढङ्ग से विश्लेषण किया। व्याख्यान के बाद 'मीनाक्षी' के मन्दिर का दर्शन करके हम लोग स्टेशन पर लौट आए, और वहाँ से 'चिंगलपेट' को रवाना हो गए।

१६ सितम्बर को प्रातःकाल हम लोग त्रिचनापल्ली स्टेशन पर उतरे। हिन्दी प्रचार समिति के मन्त्री

श्री अवधनन्दन को पहले ही सूचना दे दी गई थी। श्री अवधनन्दन बिहार के रहनेवाले हैं, किन्तु पिछले ३० या ३२ वर्ष से वे दक्षिण में हिन्दी प्रचार सभा का काम कर रहे हैं। रहन-सहन बोल-चाल में उन्होंने दक्षिण को ही अपना देश मान लिया है। मद्रास के बाद दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा का दूसरा सभा भवन त्रिचनापल्ली में है। यहाँ भी अध्यापकों को ट्रेनिङ्ग दी जाती है और उन्हें योग्य प्रचारक बनाया जाता है।

श्री चन्द्रमौलि इस संस्था के प्रिन्सिपल हैं। प्रायः सभी कार्यकर्ता विद्वान् और अनुभवी हैं। मैंने एक भाषण अध्यापकों के सम्मुख और दूसरा नगर की शिक्षा संस्था में दिया। श्रोताओं ने प्रश्न किए जिनका मैंने यथामति समाधान किया। मुझे बताया गया कि अध्यापकों और छात्राओं में हिन्दी के लिए वह उत्साह नहीं जो कि कुछ समय पहले था। कारण कि प्रान्तीय सरकार के शिक्षा विभाग ने हिन्दी को ऐच्छिक विषय बना दिया है और उसके विकल्प में उद्योग धन्धे की क्लास खोल दी है। इसका परिणाम यह हुआ है कि स्कूलों में हिन्दी के छात्रों की संख्या नगण्य हो गई है। इसीसे अध्यापकों की आवश्यकताएँ भी कम होती जा रही है। सचमुच यह चिन्ता का विषय है कि प्रान्तीय सरकारें विशेष कर मद्रास का शिक्षा विभाग हिन्दी के प्रति उपेक्षा दिखा रहा है अब जब कि राजभाषा के रूप में हिन्दी को स्वीकार कर लिया गया है। अब इस बात की आवश्यकता थी कि मद्रास का शिक्षा विभाग भी हिन्दी के प्रचार और प्रसार में पूर्ण योग देता। मुझे विश्वास है कि मद्रास के कुशल राजनीतिज्ञ मुख्य मन्त्री श्री राजगोपालाचारी इस सम्बन्ध में कुछ न कुछ अवश्य करेंगे।

त्रिचनापल्ली मद्रास प्रान्त का सुन्दर नगर है। कावेरी नदी के तट पर स्थित इस नगर में हमको वर्षा का अभाव नहीं खला। सब ओर हरे भरे वृक्ष और खेत दिखलाई देते थे। नगर के मध्य में ऊँची सी पहाड़ी पर जम्बूकेशर का मन्दिर और उसके नीचे विशाल ताल, खचाखच अपने प्रान्त की वेश भूषा से भरे बाज़ार यह सब देख कर त्रिचनापल्ली मद्रास की अपेक्षा मुझे अधिक दक्षिण भारत की संस्कृति का प्रतीक लगा। त्रिचनापल्ली में श्रीरङ्गम् का मन्दिर अपनी विशालता और विस्तार के कारण बहुत प्रसिद्ध है। हमने त्रिचनापल्ली से कावेरी नदी पार करके श्रीरङ्गम् के मन्दिर के दर्शन किए। श्रीरङ्गम् का मन्दिर क़रीब चार मील के घेरे में स्थित है। उसके परकोटे में बड़ा बाज़ार है और गाँव भी बसे हैं। स्थान स्थान पर तालाब, कुएँ बने हैं। जिनमें स्नान करने या आचमन करने का माहात्म्य है। श्रीरङ्गम् रामानुज संप्रदाय का विष्णु मन्दिर है। इसके अतिरिक्त शिव, लक्ष्मी, नृसिंह आदि देवताओं के मन्दिर भी वहाँ के हिन्दु दो भागों में विभक्त हैं। वे या तो शैवों हैं या वैष्णव मालूम होता है किसी युग में शैवों और वैष्णवों में परस्पर बड़ा संघर्ष रहा होगा। उसी संघर्ष को दूर करने के लिए तत्कालीन नेताओं ने प्रत्येक शिव मन्दिर में विष्णु की और प्रत्येक विष्णु मंदिर में शिव की स्थापना की होगी। श्रीरंगम् की वास्तु कला और मन्दिर पर बने हुए चित्र बड़े ही सुन्दर और आकर्षक हैं।

त्रिचनापल्ली में मैंने दो व्याख्यान दिए एक तामिलनाड हिन्दी प्रचार सभा के भवन में और दूसरा नागरिक हिन्दी विद्यालय में। पहले व्याख्यान के अवसर पर मुझे बताया गया कि मेरे सामने उपस्थित श्रोताओं में प्रायः सभी अध्यापक हैं जो ट्रेनिङ्ग के लिए आए हैं। यहाँ तक कि उन अध्यापकों में बहुत से ईसाई और एक दो मुसल्मान भी हैं जो अपने अपने केन्द्रों में हिन्दी का प्रचार करते हैं। दक्षिण प्रान्त में अध्यापकों की ट्रेनिङ्ग के लिए त्रिचनापल्ली और मद्रास दो ही केन्द्र हैं। मद्रास में स्त्री अध्यापिकाओं की संख्या अधिक थी और त्रिचनापल्ली में पुरुष अध्यापकों की। आरोग्य स्वामी नाम के एक ईसाई अध्यापक से मिल कर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। त्रिचनापल्ली में ईसाइयों की संख्या अधिक है। किन्तु उनको पहचानना कठिन है। मुसल्मानों को छोड़ कर सभी लोग एक सी वेश भूषा में रहते हैं। तहमद (लुंगी) और कुर्ता या कमीज़, गले में एक दुपट्टा बस यही दक्षिण का पहनावा है। अधिकतर लोग नंगे पैर या चप्पल पहने रहते हैं।

१९ सितम्बर की रात को हम लोग धनुषकोटि और रामेश्वरम् के लिए रवाना हुए। सबेरे पामबन जंकशन पहुँच गए। वहाँ से दो छोटी छोटी रेलवे लाइन दक्षिणपूर्व और सीधी दक्षिण की तरफ़ जाती हैं। धनुषकोटि लङ्का जानेवालों के लिए एक छोटा सा स्टेशन है और उसके आगे धनुषकोटि पीयर स्टेशन है। जहाँ उतरने पर लङ्का के लिए जहाज़ और स्टीमर मिलते हैं। वैसे धनुषकोटि में न तो कोई मन्दिर है और न कोई

दर्शनीय स्थान। १९ सितम्बर को पितृविसर्जनी अमावस्या के कारण दूर दूर के लोग समुद्र में स्नान के लिए आ रहे थे। हमने अपना सामान स्टेशन पर कुली के सुपुर्द किया और समुद्र स्नान के लिए चल दिए। स्टेशन से समुद्र लगभग एक मील है। धनुषकोटि में समुद्र तट बहुत गहरा नहीं है। इसलिए दूर तक जा कर स्नान किया जा सकता है। लहरों का वेग भी इतना उग्र नहीं जितना कि पुरी और मद्रास में हमने देखा। फिर भी वह समुद्र तो है ही। धनुषकोटि का नाम दो कारणों से पड़ा मालूम होता है। एक तो वहाँ समुद्र धनुष के समान गोलाई लिए हुए है। दूसरे कुछ लोगों का कहना है कि यहाँ खड़े हो कर श्रीराम ने समुद्र के रास्ता न देने पर नाराज़ हो कर अपना धनुष चढ़ाया था। उसी दिन हम पामबन से रामेश्वरम् के लिए रवाना हो गए।

रामेश्वरम् का मन्दिर धनुषकोटि के पूर्व में १०-१२ मील की दूरी पर है और कुछ लोग धनुषकोटि से रामेश्वरम् तक पैदल यात्रा करते हैं। रामेश्वरम् पहुँच कर मेरी धर्मपत्नी की प्रसन्नता का पार न रहा। जैसे उनके जीवन की परम साध के पूरे होने का अवसर आया हो। एक परम विद्वान् वेदज्ञ ब्राह्मण को हमने अपना पंडा बनाया और रामेश्वरम् के मंदिर के दर्शन करने चले। रामेश्वरम् के मन्दिर में छोटे छोटे कुएँ के रूप में सात तीर्थ हैं। जिनमें लोग स्नान करके बालुकालिङ्ग शिव के दर्शन करते हैं किन्तु हमने एक ही तीर्थ में स्नान किया। उसका नाम सर्वतीर्थ था। महादेव के मंदिर में प्रवेश करने से पूर्व बीस पच्चीस फुट ऊँचे नन्दी के दर्शन हुए। इतने बड़े नन्दी कदाचित् भारतवर्ष में और कहीं नहीं हैं। महादेव की मूर्ति पर लोग गंगोत्री से जल चढ़ाने के लिए लाते हैं। किन्तु मेरी पत्नी बनारस के अस्सी घाट से गङ्गाजल ले गयी थीं। गङ्गाजल चढ़ाने के लिए दो रुपए का टिकट लेना पड़ता है। महादेव की मूर्ति के पास एक ओर शिवलिङ्ग है जहाँ पर गंगाजल चढ़ाया जाता है क्योंकि रामेश्वरम् का वास्तविक लिङ्ग बालू (रेत) का बना हुआ है। रामेश्वरम् की मूर्ति के पास ही काशी विश्वनाथ का मन्दिर है। मन्दिर बहुत विशाल न होते हुए भी सुन्दर और विभिन्न चित्रों से परिपूर्ण है। यह वही मन्दिर है जहाँ अयोध्या से आ कर श्रीराम ने द्रविड़ों की संस्कृति के प्रतीक शिव की स्थापना की थी। श्रीराम ने जहाँ द्रविड़ों में आर्य संस्कृति का प्रचार किया वहाँ उनके देवता को भी अपना देवता माना। दो संस्कृतियों के समन्वयस्वरूप श्री रामचन्द्र का यह कार्य आज भी समुद्र के तट पर स्थित इस महामहिम मन्दिर के रूप में उनकी याद दिला रहा है। रामेश्वरम् के मन्दिर में महान् सन्तों की मूर्तियाँ भी देखीं। एक हज़ार से ऊपर महादेव के ज्योतिर्लिङ्गों के दर्शन किए। विष्णु और लक्ष्मी के मंदिर भी वहीं पर प्रतिष्ठित देखे। मुझे लगा कि सभी प्रकार की तत्कालीन विभिन्न विचारधाराएँ अपने प्रतीक रूप में वहाँ पर विद्यमान हैं।

मदुरा में कामाक्षी का मन्दिर कदाचित् दक्षिण भारत के मन्दिरों में सबसे बड़ा है। उस मन्दिर में हमें दो स्तूप दिखलाए गए जिनमें छोटे छोटे पत्थर के सात खम्भे बने हुए हैं। उन खम्भों में से सातों स्वर निकलते हैं। (सा. रे. गा. मा. पा. धा. नी. सा.) एक ही ताट पत्थर के टुकड़ों में सातों स्वरों की बात सुन कर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। वस्तुतः हमारे देश का वास्तु कौशल इन मन्दिरों के रूप में ही वर्तमान है। जहाँ प्राचीन धर्मनिष्ठा प्रकट करते थे, वहाँ कला-शिल्पी मूर्तियों के द्वारा अपनी प्रतिमा का चमत्कार दिखलाते थे इन छोटे छोटें खम्भों के रूप में स्वर साधना का भट्ट वैचित्र्य और चमत्कार अद्भुत है। वैसे तो दक्षिण भारत के मन्दिरों में कोई न कोई विचित्र बात सभी जगह मिली किन्तु कामाक्षी का मन्दिर मूर्ति कला के लिए अनुपम है। यह मन्दिर जितना ही विशाल है उतना ही उत्कृष्ट कलाकृति का नमूना भी है। बहुत से खम्भोंवाला एक मण्डप जहाँ खड़े हो कर आप एक ही कतार में दूर तक ज्यामिति के कोण से बने देख सकते हैं। चोल और पल्लव राजाओं की निष्ठा के प्रतीक ये मन्दिर देख कर मुझे तो ऐसा लगा कि दक्षिण भारत किसी समय संगीत, चित्रकला, वास्तुकला, विद्यानुराग में भारतवर्ष में बहुत बड़ा केन्द्र था। मैंने कामाक्षी के मन्दिर में विद्वानों की उन मूर्तियों के भी दर्शन किए जो किसी नवीन कृति की असफलता पर अपना निर्णय देते थे। इस रूप को देख कर पुस्तकों में पढ़े विक्रमादित्य के नवरत्नों की याद आ गई।

मदुरा में हम दो दिन ठहरे और वहाँ टिनैवली हो कर कन्याकुमारी चले गए। टिनैवली से कन्याकुमारी साठ बासठ मील है। मार्ग वैसा ही सूखा और उजड़ा हुआ दिखलाई दिया। पानी के अभाव ने जैसे प्रकृति को

ही नहीं मनुष्य को भी नीरस और त्रस्त कर दिया था। नागर बेल कन्याकुमारी जाते हुए एक बड़ा कस्बा है। वहाँ से कन्याकुमारी बारह मील रह जाता है। हम लोग लगभग दस बजे प्रातःकाल कन्याकुमारी पहुँच गए। डिस्ट्रिक्ट बोर्ड की एक धर्मशाला में ठहरे। समुद्र स्नान किया और कन्याकुमारी के मन्दिर में गए। अधिकारियों ने बतलाया ऊपर के कपड़े उतार कर ही मन्दिर में जा सकते हो। यह विचित्र आज्ञा थी। मैंने कपड़े उतार दिए और मन्दिर में प्रवेश करके कन्याकुमारी के दर्शन किए। मन्दिर समुद्र के तट पर और उसकी शैली तथा बनावट दक्षिण भारत के दूसरे मन्दिरों की तरह है किन्तु वह मन्दिर इतना विशाल नहीं है। मन्दिर के शिखर और दीवारों पर बने चित्र साधारण हैं किन्तु मन्दिर समुद्र तट पर होने के कारण अपना महत्व रखता है। यहाँ पर कुमारी ने शिव को पाने के लिए आजीवन तप किया। संक्षिप्त रूप में यही इसकी कहानी है। कन्याकुमारी में कोई दर्शनीय स्थान भी नहीं है किन्तु यह भूभाग दूर तक समुद्र में घुसा चला गया है और समुद्र का सौन्दर्य, उसकी लहरों का वेग, सूर्यास्त और सूर्योदय, शुक्ल और कृष्ण पक्ष की रातें यह सब प्राकृतिक दृश्य बड़े मनो मोहक हैं। समुद्र के किनारे किनारे तीन चार छोटी छोटी पहाड़ियाँ हैं जहाँ बैठ कर यात्री सूर्योदय और सूर्यास्त का आनन्द ले सकते हैं। सायंकाल के समय हम भी पश्चिम के एक शिलाखण्ड पर जा बैठे और सूर्यास्त का दृश्य देखा। वह दृश्य सचमुच मेरे जीवन में एक नया अनुभव था। समुद्र और सूर्य का वह मिलन और वियोग कल्पनातीत और मनोरम था। धीरे धीरे सूर्य क्षितिज के गर्भ में जा रहा था। वह प्रकाश पिण्ड क्षण क्षण कान्तिहीन हो रहा था। उसकी सुनहली किरणें रजत किरणों में बदलती जा रही थीं। जैसे कोई नया परदा उठ रहा हो; नया दृश्य उपस्थित हो रहा हो। लहरों का वेग बढ़ रहा था। धीरे धीरे हमने देखा बीस-पच्चीस फुट ऊँचे शिला खण्ड पर समुद्र की लहरें आ पहुँची और जलकणों ने हमारे कपड़े भिगो दिए। कभी मैं समुद्र को देखता कभी सूर्य को। आकाश में सूर्य के प्रकाश से अनन्त नदियाँ बन गई थीं। बहुत से नगर बस गए थे। विभिन्न प्रकार के पशु, मनुष्य, पक्षियों के चित्र दिखलाई देने लगे। जलहीन मेघ खण्डों के कारण आकाश की यह चित्रमाला मानो पृथ्वी का ही अनुकरण कर उठी हो और नीचे था समुद्र अगाध, अपार, अनन्त और अशान्त जिसकी सतह दूर तक हरे भरे मैदानों की तरह फैली हुई थी और पास फेनराशि के रूप में समुद्र की लहरें दूध के पहाड़ बनाने का निष्फल प्रयत्न कर रही थीं। सब किनारे झागों से भर गए। किन्तु लहरें अब भी बेचैन थीं। जैसे यह अनन्त पारावार अपने हृदय क क्षीर धरा को पिलाने के लिए लाया हो। यह मेरे लिए नया जीवन था, नया अनुभव। मैं वहाँ उस समय तक बैठा रहा जब तक अन्धकार ने पृथ्वी और पारावार को अपने आँचल से ढक नहीं लिया। अब आकाश में छोटी छोटी तारिकाएँ उग आई थीं और गहनता बढ़ती जा रही थी, अन्धकार को पी कर जैसे समुद्र भी राक्षस बन गया हो। उसका वेग बढ़ रहा हो। मैंने सूर्योदय भी देखा और सूर्यास्त भी। मृत्यु भी देखी और जीवन भी देखा। सूर्योदय का दृश्य भी उतना ही महान् था जैसे समुद्र के क्षितिज से कोई सुन्दरी अमृत का स्वर्णकलश लिए हुए मुस्कराती आ रही हो। इतना मदोन्मत्त कर देनेवाला दृश्य, इतना बेसुध कर देनेवाला दृश्य निरंतर ही कन्याकुमारी के रहनेवालों को इतना आकृष्ट करता है या नहीं यह मैं नहीं कह सकता। मल्लाह उसी निरपेक्ष भाव से अपनी छोटी छोटी नावें लिए मछलियों को पकड़ने में व्यस्त थे। यात्री समुद्र स्नान के लिए व्याकुल। इतना सौन्दर्य विखर रहा था; अमृत उड़ेला जा रहा था। किन्तु शायद इस जीवन दर्शन की किसी को चिन्ता नहीं थी। उस समय मुझे यह मन्त्र याद आया।

"हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्य धर्माय दृष्टये॥"

सोने के पात्र से सत्य का मुख ढका हुआ है। तू सत्य के ज्ञान के लिए उसको खोल कर देख।

इस दक्षिण यात्रा में मुझे बहुत से नए अनुभव हुए। सबसे पहले यह कि दक्षिण के लोग संस्कृ प्रेमी, सरल और सभ्य हैं। बातचीत और व्यवहार कभी वे अपनी शिष्टता को हाथ से नहीं जाने देते आडम्बर और दम्भ, बनावटी आचार उन्हें पसन्द नहीं हैं। अपने साहित्य और अपनी भाषा के प्रति उन अपार स्नेह है। यही कारण है अंग्रेजी प्राधान्य प्रा होते हुए भी यहाँ के लोग अपनी भाषा के ही पत्र प हैं और यही कारण है कि बहुत से समाचार पत्रों

संख्या ८० और ९० हज़ार तक है । वहाँ के राजनीतिज्ञ भी साहित्यप्रेमी हैं । मुझे सभी प्रकार के लोगों से मिलने का अवसर मिला और मैंने पाया कि जहाँ उनमें अपने साहित्य के प्रति अटूट प्रेम है वहाँ उनका अध्ययन भी काफ़ी विशाल है । वहाँ का प्रत्येक पाठक अपने साहित्यकारों की कृतियों की सफलता से आलोचना कर सकता है और उनके सम्बन्ध में अपना स्पष्ट मत अभिव्यक्त कर सकता है । दक्षिण में साहित्यकार और पाठक दोनों एक हैं । उनके व्यवहार में भाषा विभिन्न नहीं है । मैंने रेल में एक बार एक बारह साल के लड़के और उसकी बहन को तमिल का एक मासिक पत्र पढ़ते देख कर पूछा "क्या तुम इसको समझते हो और ये कविताएँ भी तुम्हारी समझ में आती हैं ।" हम लोग इनको अच्छी तरह से गा लेते हैं । इन कविताओं में हमें बड़ा आनन्द आता है ।" पास बैठे हुए एक सज्जन ने बताया कि तमिल भाषा के पत्र किसान भी पढ़ते हैं और कुली भी और सभी लोग उसमें रस लेते हैं । हम लोग मस्तिष्क की खुराक के बिना ज़िन्दा भी तो नहीं रह सकते ।" मुझे उनका यह उत्तर बहुत अच्छा लगा । दक्षिण में मैंने बहुत कम लोगों को अंग्रेज़ी में बोलते सुना । अंग्रेज़ी का व्यवहार वे उन्हीं लोगों के साथ करते हैं जो वहाँ की भाषा नहीं जानते । शेष सब लोग अपनी भाषा में बोलते हैं । एक बार रेल के थर्ड क्लास के डब्बे में लम्बी यात्रा करने के कारण हम लोग अपना बिस्तर बिछा कर कर सो गए । गाड़ी में धीरे धीरे भीड़ बढ़ने लगी । लोग खड़े हुए थे । फिर भी किसी ने ऐसा साहस नहीं किया कि वह हमें उठा देता । आँखें खुलने पर मुझे स्वयं लज्जा आई और मैं उठ कर बैठ गया । धन्यवाद दे कर यात्री मेरे पास बैठ गए । उत्तर भारत में इस प्रकार का दृश्य शायद एक आश्चर्य हीं कहा जाएगा ।

हिन्दी :

यदि सरकार सहायता करे जैसा कि मुझे विश्वास है कि वह करेगी तो निश्चय ही राजभाषा के रूप में हिन्दी का भविष्य उज्ज्वल होगा । लोगों में और विशेष कर प्रचारकों में हिन्दी के प्रति प्रेम है वे उसका गम्भीरता से अध्ययन भी करते हैं किन्तु आर्थिक समस्या का हल उनके हाथ में नहीं है । बहुत से हिन्दी के अध्यापक हिन्दी में ही बोलते है और कुछ लोगों का उच्चारण तो मैंने शुद्ध रूप में पाया । कई भाषाओं का ज्ञान वहाँ के लोगों के लिए एक मामूली सी बात है । यह देख कर आश्चर्य होता है कि वे लोग न केवल बहुत सी भाषाएँ पढ़ और बोल ही सकते हैं बल्कि अधिकार पूर्ण ढंग से लिख भी सकते हैं । मैं विश्वास करता हूँ कि दक्षिण के प्रतिभाशाली युवक हिन्दी साहित्य को सुन्दर कृतियाँ भेंट करने में समर्थ होंगे और वह दिन दूर नहीं है जब दक्षिण के समृद्ध साहित्य से राजभाषा हिन्दी गौरवान्वित होगी । दक्षिण में स्त्री और पुरुष दोनों ही समान रूप से साहित्यज्ञ हैं । शिक्षा की वृद्धि के साथ साथ साहित्य के प्रति भी उनका अनुराग दक्षिण भारत की विशेषता है । यही कारण है, दक्षिण का साहित्य एकांगी नहीं । कदाचित् इसीलिए दक्षिण का रंगमंच अधिक समृद्ध भी है क्योंकि रंगमंच उसी समय समृद्ध होता है जब स्त्री और पुरुष समान रूप से साहित्य की समृद्धि में भाग लेते हैं । मुझे जिन अभिनेता और अभिनेत्रियों से मिलने का अवसर मिला मैंने समान रूप से दोनों में यही प्रवृत्ति पाई । भाषा के भेद होते हुए भी विचारों में हम सब एक हैं । यही एकता का सूत्र, मुझे विश्वास है सम्पूर्ण देश को समृद्ध और सम्पन्न बनाने में सहायक होगा ।

—उदयशङ्कर भट्ट

आल इण्डिया रेडियो,
नई दिल्ली

सत्पुरुषों की संगति में रह कर मनुष्य अच्छा बन जाता है और अपने दोषों से मुक्त हो जाता है । चन्दन से शरीर की दुर्गंध दूर हो जाती है । उत्तम बनने के लिए उत्तम पुरुषों की संगति से अच्छी और कोई वस्तु नहीं है ।

—वेमना

चिट्ठी-पत्री

॥

(१)

हिन्दी में चोरबाज़ारी (१)

प्रिय श्री सम्पादक जी,

'अजन्ता' मिली। अच्छी लगी। बिलकुल वैसी जैसी मित्रों से सुनी थी। इस अंक में श्री रोहिताश्व विद्यालंकार का लेख 'मार्क्स का प्रकृतिवाद' देख कर बड़ी प्रसन्नता हुई। पढ़ा। मज़ा आ गया। ऐसे ही लेख और लिखवाइए। यद्यपि मैं लेखक से पूर्णतया सहमत नहीं हूँ फिर भी लेख विद्वत्तापूर्ण है। मेरा विश्वास है यदि लेखक ने माओ की पुस्तक On Contradiction पीकिङ्ग (चीन) प्रकाशन को ध्यानपूर्वक पढ़ लिया होता तो सम्भवतः जो प्रश्न अन्त में उन्होंने मार्क्सवादियों से किया है, अपना हृदय टटोलने पर उन्हें स्वयं मिल जाता। फिर भी रोहिताश्व विद्यालङ्कार को बधाई दिए बग़ैर नहीं रह सकता।

उसके बाद सरकते-सरकते, पृष्ठ उलटते-उलटते मेरी नज़र 'चिट्ठी-पत्री' पर अटकी। श्री रामरत्न बडोला का पत्र पढ़ा। बहुत बुरा लगा। संपादकों के लिए यह कोई नई बात नहीं है। मैं पिछले दस ग्यारह वर्षों से कलम घिस रहा हूँ। मेरा भी अनुभव बडोला जी से भिन्न नहीं है। मेरी सुनिए।

कई साल पहले की बात है। उन दिनों मैं लखनऊ ही में था। नृविज्ञान के प्रकांड विद्वान् डा० डी एन. मजूमदार से गहरा सम्पर्क था। बंगाली होते हुए भी उन्होंने मुझे हिन्दी में नृविज्ञान और समाजशास्त्र पर लिखने के लिए प्रोत्साहित किया और मेरे टालने पर कई बार नाराज़ भी हुए। फलतः मुझे भी ख़ब्त सूझी। Sociology; Anthropology और Labour Problems पर इच्छा हुई खूब लिखूँ। डाक्टर साहब मेरे निराश होने पर हमेशा यही कहते कि हिन्दी मे तो इन विषय पर लिखा ही नहीं गया है। लिखो। बहुत स्कोप है। आज लिखिए। परिणामतः टापिक छाँटे, सामग्री जुटाई। पुस्तकालयों की सहायता ली और फि भी जब काम न चला तो पुस्तकें ख़रीदीं। आप तो जानते ही हैं कि इन विषयों पर अभी तक साहित्य अंग्रेज़ी में ही लिखा गया है और उसके प्रकाशक है। अंग्रेज या अमरीकन। इन विषयों पर कोई भी महत्वपू पुस्तक १५-२० रुपए से कम की न मिलेगी अर्थात् एक लेख के लिए यदि दो पुस्तकें भी ख़रीदीं जाएँ तो ४०-५० रुपए का ख़र्च। ख़ैर, मैंने हिम्मत करके 'प्राची समाज में विवाहप्रथा' शीर्षक लेख कोई चार-पाँ महीने में तैयार किया उसे 'सरिता' में भेजा। को आठ-दिन बाद लेख सम्पादक के नोट सहित लौ आया। आपने फ़रमाया था—लेख की मान्यताओं उसके तर्क-वितर्क में मैं ऐसा उलझ गया कि निकल ही न सका अतः उसे हलका करके भेजिए। वैसे लेख अच्छा है और विषय सुन्दर। मैं चुप।

सीधे आदित्य मिश्र के घर लेख सहित पहुँचा अमृतलाल नगर से गिला किया। दोनों मित्र बहु नाराज़ हुए और चिन्ता प्रकट की कि सम्पादकों का यदि यही रुख रहा तो कलम और साहित्य कैसे उन्नति करेंगे आदित्य मिश्र की सलाह हुई कि इसे किसी ऊँचे पत्र मे भेजी जाए। डा० मजूमदार ने कहा लाओ मैं 'विश्वभारती' शान्ति निकेतन में भेजूँ। मैंने कहा ए बार और आजमा लूँ।

फिर ड्रिल कराई। 'विश्वभारती' में भेजा उत्तर मिला छापेंगे। और भेजिए। मन ने शंका प्रकट जब छाप लोगे तब भेजूँगा। अर्से तक प्रतीक्षा करता रहा

अभी तक फिर कोई उत्तर नहीं मिला यद्यपि मैंने कई बार लेख वापस करने को लिखा।

पुनः उसी लेख की नई प्रतिलिपि 'संगम' में भेजी। तब कृष्णानन्द गुप्त ने जो उस समय सम्पादक भी थे कई लेख नृविज्ञान पर लिखे। इसीसे साहस किया। मैंने उत्तर की प्रतीक्षा की बाद सम्पादक को लिखा। उत्तर नदारद। इसके बाद मैंने भी खोज खबर न ली। बात आई-गई हो गई।

अरसे के बाद एक दिन स्टेशन पर मैं टिकट ले रहा था। बुकिंग आफ़िस में लोगों को शिकायत करते सुना। उनका गिला था कि यदि इस तरह लेख और लिखे जाएँ तो शायद वह बिना मेहनत के ही परीक्षा पास हो जाएँ। सम्भवतः उनमें से कोई एम. ए. का विद्यार्थी रहा होगा। टिकट लेकर बुकस्टाल पर गया। देखा। लेख को काट-छाँट कर, गम्भीर तत्व के बिना मेरी राय अथवा अनुमति लिए निकाल कर 'सरिता' के सम्पादक के कथनानुसार 'संगम' के सम्पादक ने उसे हलका कर ही तो लिया। एक कापी 'संगम' की खरीद लाया। मैं जानता था कि पारिश्रमिक की तो बात ही दूर वह अंक भी संपादक शायद ही भेजे। और संदेह सच निकला। यहाँ पर यह भी बता दूँ कि यह अंक 'संगम' का अन्तिम अंक था।

मेरा यह अनुभव गम्भीर लेखों का ही नहीं, चाहे वह कहानी हो या कविता, सभी का यह हाल है। इसीसे ऊब कर मैंने केवल एकांकी लिखने की ठानी। पर अनुभव सदा एक सा ही रहा।

मेरी यह शिकायत हिन्दी के संपादकों से ही नहीं है। मुझे हिन्दी साथ ही उर्दू और अंग्रेज़ी के संपादकों की उदासीनता का भी अच्छा खासा तर्जुबा है। चोर-चोर सब मौसेरे भाई हैं।

फिर भी मैं बराबर लिखता हूँ। यद्यपि कई बार कमज़ोरियाँ भी आईं। हृदय ने कहा—लिखूँ या ड्रिल कराऊँ। आत्मा बोली दोनों। और तब मैंने निष्कर्ष निकाला कि जब संपादक अपना रास्ता नहीं बदलते तो हम लिखना क्योंकर कम कर दें। बुरा बुराई नहीं छोड़ता तो अच्छे अच्छाई क्यों छोड़ दें। आगे बढ़ना हमारा काम है। भविष्य हमारा है। हमें कौन रोक सकता है। प्रगति कभी रुकी है। किसकी सामर्थ्य है?

भाई बडोला जी को आप मेरी ओर से सूचित कर दें कि यह उनकी ही समस्या नहीं है वरन् आज के प्रत्येक लेखक का यही हाल है। लेखक चाहे नया हो या पुराना। परन्तु आगे बढ़नेवाले को कौन रोक सकता है? ज़माने को कौन रोक सकता है? एक दिन हमारा भी ज़माना आयगा। आगे बढ़िए।

कोतवाली रोड,
हरदोई

—**रामगोपाल शुक्ल**

॥

(२)

कुछ शब्दों की व्युत्पत्ति

'अजन्ता' देख कर बड़ी प्रसन्नता होती है। वह आपकी छत्रछाया में दैनन्दिन उन्नति कर रही है। कविता, निबन्ध आदि सभी के विचार से। पत्रों के नाम से जो सामग्री आप प्रकाशित कर रहे हैं, वह भी बड़ी ही विचारोत्तेजक होती है। इधर भाषा-विज्ञानसम्बन्धी चर्चा भी उसके अन्तर्गत हुई है। यह एक शुभ लक्षण है। हिन्दी के विद्वान् तथा प्रेमी सभी भाषा के रूप और संस्कार पर ध्यान दें तो बहुत-सी बातें निकल आएँगी, बहुत कुछ संशोधन, परिवर्द्धन हमारे हिन्दी के भाषा-विज्ञानों में करना पड़ेगा। इस प्रकार की चर्चा हमारे मानसिक स्वास्थ्य की परिचायक है। मैं तो कहूँगा कि आप भाषा-विज्ञान सम्बन्धी एक न एक लेख 'अजन्ता' में प्रकाशित करते रहें तो बड़ा उपकार हो। हिन्दी दूसरों के निकट आ जाय और हम अपने ही परिवार से अपरिचित न रहें। निश्चय ही दक्षिण में आप हिन्दी के प्रति बड़ा प्रेम उत्पन्न कर रहे हैं।

'अजन्ता' में भाषा-विज्ञानसम्बन्धी चर्चा देख कर मैंने विचार किया कि अजन्ता परिवार के सम्मुख मैं एकाध हिन्दी शब्दों की व्युत्पत्ति पर अपना विचार भी प्रस्तुत करके विद्वानों की सम्मति का भाजन बनूँ। अत एव आप से प्रार्थना है कि 'अजन्ता' में निम्न शब्दों की ओर ध्यान आकृष्ट कराने की कृपा करें। कई वर्ष के भाषा-विज्ञान के अध्यापनानुभव से मेरे यह विचार उत्पन्न हुए हैं। किन्तु अपने विचारों की संगति का प्रमाणपत्र तो विद्वानों की सही से ही उपलब्ध होगा। तदर्थ निवेदन है कि निम्न शब्दों पर विचार किया जाय।

भोरः—यह शब्द हिन्दी में उषाकाल के लिए

प्रयुक्त होना है। कवि पन्त ने मौन-निमन्त्रण कविता में इसका प्रयोग किया है:—

स्वर्ण, सुख, श्री सौरभ में भोर,
विश्व को देती है जब बोर।
विहग-कुल की कल-कण्ठ हिलोर,
मिला देती भू नभ के छोर॥

इस शब्द की व्युत्पत्ति का विचार करते हुए डा. धीरेन्द्र वर्मा ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'हिन्दी भाषा का इतिहास' में पृ. २९६ पर लिखा है—"हि० भोर शब्द का सं० भा-चमकना से सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता।"

मेरी सम्मति है कि इसका सम्बन्ध संस्कृत भास्वर, भासुर अथवा भासिर शब्दों से है। प्राकृत में भासिर तथा भासुर शब्दों का प्रयोग मिलता है। इनके मूल में भास्वर शब्द ही विद्यमान है। भास्वर से व के स्थान में उ का हो जाना नियमतः ही है। आगे चल कर उसी की प्रधानता होती चली गई, यह कल्पना की जा सकती है। तब भाउर से भोर बनना कठिन नहीं रहता।

"हिन्दी-शब्द सागर के विद्वान् संपादकों ने इस शब्द का सम्बन्ध 'विभावरी' शब्द से माना है, जो एकदम नई कल्पना है। जिस शब्द से अर्थ का कहीं कोई साम्य नहीं दिखाई देता उससे सम्बन्ध मानना मुझे संगत प्रतीत नहीं होता।

इसी प्रकार दूसरा शब्द है:—सचमुच।

इसके सम्बन्ध में भी धीरेन्द्र जी का केवल इतना ही कथन है कि हि. सचमुच का सम्बन्ध सं. सत्य से है। हिन्दी में यह रूप दोहरा कर बनाया गया है। दे० वही, पृ० २९६। 'हिन्दी-शब्द सागर' में भी इसी विचार को स्वीकार किया गया है। मेरे विचार से यदि इसका सम्बन्ध दो शब्दों-सत्यं तथा वच की सन्धि से मान लिया जाय तो समस्या हल हो जाए और यह कहने की आवश्यकता न पड़े कि यह दुहरा कर बना लिया गया है क्योंकि सत्य के सच को आप कितना भी दुहरावें मुच शब्द बनने का कोई अवसर नहीं आता। किन्तु यदि सत्यं के साथ वच शब्द बोलने का प्रयत्न करें तो व नियमानुकूल उ में परिवर्तित हो जाता है। तब शब्द का रूप होगा, सच्चम्+ उच। इससे सचमुच बन जाना सचमुच कितना सरल है, यह जानने में कठिनाई नहीं होती। यदि इस प्रकार की व्युत्पत्ति पर सन्देह हो तो सादृश्य के लिए प्राकृत का सच्चमोस शब्द देखा जा सकता है जो सत्य+ मृषा से बना बताया जाता है।

अभी कुछ और भी शब्द हैं जिन पर आगे अपना विचार लिखूँगा। ऊपर लिखित शब्दों के विषय में विद्वानों के विचार से अनुगृहीत होऊँगा अत एव आप से इनके प्रकाशन की प्रार्थना है। शेष यथावत्। कृपा-भाव बनाए रहें।

२९, सिविल लाइन, भवदीय
गोरखपुर —आनन्दप्रकाश दीक्षित
॥ एम. ए

(३)

हिन्दी साहित्य में चोरबाज़ारी (२)

प्रिय संपादक जी,

ऊपर लिखे हुए शीर्षक के नीचे हाल में 'अजन्ता' के दो अंकों में दो पत्र प्रकाशित हुए थे। नवम्बर-दिसंबर अंक में प्रकाशित पत्र में तो साहित्य की चोरबाजारी के अलावा अन्य नियमों में खुल्लमखुल्ला मेहनताना भेजने की घोषणा करके पीछे मौन रहनेवाले संपादक पत्रकारिता के धूमकेतु मानने योग्य हैं।

हर साल नए रचनाकारों के दिल में उमंग पैदा करनेवाली कुछ न कुछ प्रतियोगिताएँ चलाई जाती हैं ...मैं अपनी मातृभाषा तमिल के पत्रकारों के बारे यहाँ कहना चाहता हूँ सिर्फ़ अपने व्यक्तिगत अनुभवों आधार पर, कि वे पारिश्रमिक देने के मामले में बाद देकर फिर मौन रहने की हद तक गए नहीं हैं; उस ईमानदारी ज़रूर कुछ ऊँची है। उधर! तमिल प पत्रिकाओं का औसतन पत्र पुष्प भी हिन्दी के से अधि होता है। जब मैं हिन्दी क्षेत्र में घुसा, तब मेरे कु मित्रों ने पूछा 'आप क्यों हिन्दी की ओर जाते हैं! उनके इस प्रश्न के दो कारण थे—'प्रथम हम आप हिन्दी रचनाओं को पढ़ नहीं सकेंगे द्वितीय हिन्दी पत्र पैसा देने में बहुत कुछ हिचकनेवाले होते हैं।' उन पहले कारण के जवाब के तौर पर मैं कह सका, अ हिन्दी सीख लीजिए, मेरी हिन्दी रचनाओं को पढ़ने लिए नहीं तो, इस कारण से पढ़िए कि हिन्दी कौ ज़बान है; पर मुझे धीरे धीरे ऐसा लगता है कि उन दूसरा कारण तो कुछ कुछ ठीक है।

हिन्दी राष्ट्रभाषा-राजभाषा बन गई है। सम

है कि कई अन्य भाषा के रचयिता हिन्दी की ओर आना चाहें। इस तरह आनेवाले अन्य भारतीय भाषा भाषी लेखकों की संख्या निर्भर रहेगी, उधर घुसने पर हिन्दी पत्र पत्रिकाओं के संपादकों से मिलनेवाले स्वागत और व्यवहार पर।

तिरुचिरापल्ली —उदय सूर्य

॥

(४)

हिन्दी साहित्य का विकास

महोदय,

'अजन्ता' के गत जनवरी के अङ्क में 'हिन्दी साहित्य का विकास' शीर्षक लेख में 'साहित्य विकास' नहीं होता ऐसा मन्तव्य प्रकाशित किया गया है। स्पष्ट है कि विद्वान् लेखक ने 'साहित्य' और 'विकास' दोनों का अत्यन्त संकुचित अर्थ लिया है। यदि साहित्य का अर्थ 'ज्ञानराशि का संचित कोश' है तो किसी भाषा के बोलनेवालों में जैसे जैसे ज्ञान की वृद्धि होगी वैसे वैसे उनके साहित्य का विकास होगा। वैदिक साहित्य का विकास ब्राह्मण ग्रन्थों और उपनिषदों में देखा जा सकता है। वाल्मीकि रामायण के बाद बहुत दिनों तक रामायण लिखने की परम्परा सी चल पड़ी। हिन्दी में तुलसीदास का रामचरित मानस और बङ्गला में कृत्तिवास रामायण तो प्रसिद्ध ही हैं इसके अतिरिक्त दक्षिण भारत की भाषाओं में भी अनेक रामायण लिखने के कृती हुए। राम कथा का विकास भी हुआ और उसे बदलते हुए समाज के अनुरूप परिवर्तित रूप मिले। रामचरितमानस में जहाँ पत्नी 'दासी' बन कर ही सन्तुष्ट है वहाँ 'साकेत' में 'देवी' बन कर पूजोपहार की अपेक्षा रखती है :--

'दास बनने का बहाना किसलिए,
क्या मुझे दासी कहाना इसलिए ?
देव होकर ही सदा मेरे रहो,
और 'देवी' ही मुझे कहते रहो।'

किन्तु 'साहित्य' से केवल 'काव्य' और 'विकास' से 'पूर्णता की ओर अग्रसर होना' अर्थ लिए जाँय तो लेखक के दृष्टिकोण से असहमत होने की गुञ्जाइश नहीं रह जाती।

यह लेख कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण है क्योंकि इससे विचार और शोध कार्य के लिए प्रेरणा मिलती है। 'हिन्दी' शब्द का प्रयोग समष्टि रूप में हिन्दी की सभी बोलियों के लिए ईसा की उन्नीसवीं, शताब्दी से पहले कभी हुआ था इसमें सन्देह है। मुंशी इंशाअल्लाखाँ ने जब ऐसी कहानी लिखने का विचार किया जिसमें 'हिन्दवी छुट और किसी भाषा की न पुट,' तब उनका अभिप्राय स्पष्ट ही खड़ी बोली से था। जब अमेरिकन मिशन के पादरी केलाग ने सन् १८७५ में हिन्दी भाषा का बृहत् व्याकरण लिखा था तब ऐसी ही उलझन उनके सामने भी थी और उन्होंने केवल इसलिए हिन्दी के अन्तर्गत व्रज, पूरबी (अवधी), राजस्थानी, कुमाऊँनी, बुन्देलखण्डी भोजपुरी और मगही और High Hindi (खड़ी बोली) को शामिल किया कि उन सभी क्षेत्रों में जहाँ ये बोलियाँ बोली जाती हैं, स्कूलों में खड़ी बोली की पुस्तकें ही पढ़ाई जाती थीं। इन सब क्षेत्रों में लिखने पढ़ने की भाषा का स्थान खड़ी बोली हिन्दी के ले लेने से, इन बोलियों का विकास तो रुक ही गया साथ ही साथ उनके अलग अध्ययन करने की प्रेरणा भी नहीं रही। फलस्वरूप आज इन बोलियों में न अलग व्याकरण या शब्दकोश ही उपलब्ध हैं, और न इनके साहित्य के अलग इतिहास लिखने का ही प्रयत्न हुआ है। हम लेखक की इस भविष्यवाणी का हार्दिक स्वागत करते हैं कि "वह समय शीघ्र ही आ रहा है जब कि वर्तमान हिन्दी को प्रारम्भ से अन्त तक अपने एक ही रूप में साहित्य के इतिहास को निर्मित करना होगा।'

अभी हिन्दी साहित्य के जितने इतिहास उपलब्ध हैं उनमें अधिकांश के 'विवेचनात्मक' होने के कारण लेखकों का ध्यान ऐतिहासिकता की ओर कम और मुख्य कवियों की कृतियों की आलोचना की ओर अधिक रहा है। यह आलोचना भी प्रत्येक कवि के काल और उसकी भावनाओं के साथ सहानुभूति स्थापित करने की अपेक्षा नहीं रखती। फलस्वरूप स्वयं रामचन्द्र शुक्ल ने भी कबीर, गोरखनाथ केशव आदि अनेक कवियों के साथ कम अन्याय नहीं किया है। दक्खिनी हिन्दी को तो किसी भी इतिहास में समुचित स्थान प्राप्त ही नहीं हुआ।

हम आशा करते है कि राष्ट्रभाषा के साहित्य के जिन अभावों की ओर संकेत किया गया है उनको पूर्ण करने में साहित्यकार सक्रिय भाग लेंगे।

हैदराबाद **—वैजनाथ चतुर्वेदी, एम. ए.**

नीर-क्षीर

[समालोचना के लिए प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ सम्पादक "अजन्ता" के नाम से भेजी जानी चाहिएँ]

रेखाचित्र

लेखक—श्री बनारसीदास चतुर्वेदी
प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ काशी
मूल्य—चार रुपये

हम समझते हैं के सबसे पूर्व श्री बनारसीदास चतुर्वेदी ने हिन्दी में 'रेखाचित्रों' को लिखना प्रारम्भ किया और साहित्य के इस अङ्ग को लोकप्रिय बनाने का प्रयत्न किया। संभवतः 'रेखाचित्र' शब्द भी हिन्दी को उन्हीं की देन है यद्यपि इसे अंग्रेज़ी के शब्द 'स्केच' के आधार पर बनाया गया है। उन्होंने 'विशाल-भारत' में अपने और दूसरों के रेखाचित्रों को प्रकाशित किया और 'मधुकर' का एक विशेपाङ्क 'रेखाचित्राङ्क' के नाम से निकाला। यह अङ्क भी पर्याप्त लोकप्रिय हुआ था। रेखाचित्र जहाँ एक ओर रेखाओं के रूप में एक ओर मानव के चित्रों को प्रस्तुत करते है वहाँ जीवन को एक चलती फिरती कहानी का भी रूप देता है। प्रस्तुत पुस्तक में उनके चालीस 'रेखाचित्रों' का संग्रह है। पुस्तक के प्रारम्भ में श्रीयुत रतनलाल जी बंसल ने इन "रेखाचित्रों के लेखक का रेखाचित्र दिया है।" श्रीयुत बनारसीदास चतुर्वेदी जी के लेखों में अपना ही एक निरीक्षण है, एक दृष्टि है जिससे वे जीवन के अन्दर की तहों को देखते हैं; उनमें हृदय की उदारता, विशालता और सहानुभूति है जो कि उन्हें जीवन को जीवन के यथार्थ रूप में समझाने की शक्ति प्रदान करती है, उनमें सरलता और सादगी है जो न केवल उन्हें जीवन की वाह्य चमक-दमक और मिथ्या आडम्बर के प्रति आकर्षित नहीं करती परन्तु साधारण जीवन में जो असाधारणता है उसकी ओर उन्हें सहज रूप से स्वाभाविकतया आकृष्ट कर लेती है और है उनमें साहस और शक्ति—ऐसी शक्ति जो प्रहार भी करती है और जीवन भी प्रदान करती है—इन सब चीज़ों ने मिल कर श्री बनारसदास चतुर्वेदी जी की लेखनी को एक आकर्षण, ताज़गी और शक्ति प्रदान की है। वे जो कुछ लिखते हैं उसका अपना ही व्यक्तित्व होता है, उसकी अपनी ही एक अन्तरात्मा होती है उसकी अपनी ही शैली और अपना ही विचार और चिन्तन होता है। उनके रेखा-चित्रों में रेखाएँ तो अवश्य उन महानुभावों की है जिनके रेखाचित्र उन्होंने प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है परन्तु उनमें श्री बनारसदास जी के हृदय की धड़कन स्पष्ट सुनाई देती है और यही कारण है कि उनके रेखाचित्र प्रत्येक स्थान में रेखाचित्र नहीं रह पाए हैं—वे अनेक स्थानों पर संस्मरण बन गए हैं। ऐसे रेखाचित्रों संस्मरणों और रेखाचित्रों में भेद करना कठिन हो जाता है। कई रेखाचित्रों में पत्र आदि के उद्धरण मात्रा कुछ अधिक हो गए हैं; कुछ रेखाचित्रों का अङ् एकसदृश नहीं हो सका है; कुछ रेखाचित्र बहुत अधिक एकांगी हैं उनमें वह पूर्णता और विस्तार नहीं है जो जीवन के साक्षात् अध्ययन के लिए आवश्यक है। कई रेखाचित्रों में उनकी आत्मीयता और निकटता कैमरे को इतना अधिक निकट रक्खा है कि वहाँ चि आवश्यकता से अधिक Enlarged बड़े बन गए हैं और इसी प्रकार कई रेखाचित्रों में दूरी के कारण चित्रों की रे पूर्णतया उभरने नहीं पाई हैं और कई रेखाचित्रों जितना वे अपने अनुभवों और विचारों के अनुसार ब गए हैं उतना वे उसका Objective view वाह्यरूप

अध्ययन नहीं कर सके हैं। इन रेखाचित्रों के संग्रह में जीवन के अनेक क्षेत्रों में से रेखाचित्रों को लिया गया है। राष्ट्रपति और प्रधान मन्त्री से लेकर साधारण स्तर के लोगों के जीवन की झलक को दिखाने का प्रयत्न किया गया है। इनमें से कई रेखाचित्रों को पढ़ने से अपने चारों ओर फैले हुए जीवन को अध्ययन करने की प्रेरणा प्राप्त होती है। इन रेखाचित्रों में द्विव्यक्तित्व का अनुभव होता है—एक तो उसका जिसका कि रेखाचित्र अंकित किया गया है और दूसरा लेखक का अपना व्यक्तित्व जिसकी मुहर प्रत्येक रेखाचित्र पर लगी हुई है। ये रेखाचित्र साहित्य संसार में न केवल शौक़ से पढ़े जाएँगे परन्तु उनकी शैली का अनुकरण भी होगा।

संस्मरण

लेखक : बनारसीदास चतुर्वेदी
प्रकाशक : भारतीय ज्ञानपीठ
मूल्य : तीन रुपये

जिस प्रकार 'रेखाचित्र' के साहित्य को श्री बनारसीदास जी ने हिन्दी में आरम्भ किया है उसी प्रकार 'संस्मरण' साहित्य को भी उन्होंने जीवन और गति प्रदान की है। हिन्दी में संस्मरणात्मक साहित्य अभी तक बहुत कम है। संस्मरण साहित्य में भी जीवन का प्रत्यक्ष रूप से अध्ययन आवश्यक है। रेखाचित्रों में जितना Objective view बाह्य दृश्य लिया जा सकता है उतना संस्मरणों में नहीं। रेखाचित्रों में अपने व्यक्तित्व को जिस प्रकार पृथक् रक्खा जा सकता है वैसे संस्मरणों में नहीं। इन संस्मरणों में २१ महानुभावों के संस्मरण दिए गए हैं। इन संस्मरणों की विशेषता यह है कि इनमें से जीवन की ऐसी घटनाओं का संस्मरण के रूप में संग्रह किया गया है जो दिखने में तो छोटी-सी प्रतीत होती हैं परन्तु जो जीवन की ऐसी झलक दिखाती हैं जिससे जीवन महान्, उदार, सहानुभूतिपूर्ण और क्रियाशील बनता है। ये संस्मरण कहानी तो हैं ही परन्तु जो जीवन को इस रूप में हमारे सम्मुख इतनी आकस्मिकता से निकट और प्रकाश रूप में ले आती हैं कि हमें आश्चर्य होता है। इन संस्मरणों में लेखक कई वार इतना अधिक व्यक्तिगत घनिष्ठता के स्तर पर उतर आता है कि वहाँ वह ऐसी कुछ घटनाओं के विस्तार में पड़ जाता है जिसका महत्व सम्भवतः उनकी अपनी हद तक भले ही हो परन्तु दूसरों को उसके प्रति विशेष रुचि या आकर्षण नहीं अनुभव होता। यद्यपि यह सत्य है कि संस्मरणों में जितनी घनिष्ठता हो उतनी ही संस्मरणों की अपनी विशेषता होगी। इन संस्मरणों में घटनाओं का चयन सर्वत्र ऐसा नहीं हो सका है जो व्यक्तिगत स्तर से ऊपर उठ सके। संस्मरणों में घटनाओं के व्यक्तिगत होते हुए भी उनमें यह क्षमता होनी चाहिए जो उसे एकमात्र व्यक्तिगत ही न रहने दे। इन संस्मरणों को पढ़ने से प्रेरणा प्राप्त होती है और जीवन को ऐसी निकटता से देखने और अध्ययन करने का अवसर प्राप्त होता है जिससे जीवन प्रतिदिन की क्षुद्रता की परिधि से उठ कर एक ऐसी विशालता को अनुभव करता है जिससे वह स्वयं अछूता नहीं रह सकता। ये संस्मरण जहाँ जीवन के प्रति दिलचस्पी को उत्पन्न करते हैं वहाँ वे उसके प्रति विस्तृत सहानुभूति को भी जागृत करते हैं।

कोश-कला

लेखक—रामचन्द्र वर्मा
प्रकाशक—साहित्य-रत्न-माला
२० धर्म कूप, बनारस
मूल्य—१॥) रुपया।

कोशकार का कार्य बड़ा उत्तरदायित्वपूर्ण है कारण यह है कि कोश ही वह प्रामागिक ग्रन्थ है जिसके आधार पर शब्दों का शुद्ध और प्रामाणिक ज्ञान प्राप्त हो सकता है। आजकल हिन्दी भाषा में बहुत-से कोश तैयार हो रहे हैं परन्तु उनकी कोई विशेष पद्धति नहीं है और न उनके निर्माण करने में कुछ विशेष परिश्रम किया जाता है। कुछ इधर से और कुछ उधर से उठा कर कोश तैयार कर दिया जाता है। श्री राय कृष्णदास जी ने इन कोशों के विषय में यथार्थ ही कहा था—"अब हम भी एक कोश तैयार करेंगे।" उसका नाम होगा—"कैंची-लेई कोश।" कोश में शब्दों के प्रामाणिक संग्रह, व्युत्पत्ति, उनका प्रामाणिक अर्थ और वह भी ऐसी सरल और सीधी भाषा में लिखा हुआ अर्थ जो सुगमता से समझ में आ सके और उसके विषय में किसी प्रकार का सन्देह न हो और मुहावरों आदि का प्रश्न है। शब्दों का संग्रह आजकल कोशकार प्रायः कोशों से करते हैं परन्तु शब्दों का संग्रह समस्त प्रकाशित और

अप्रकाशित साहित्य के क्षेत्र में से किया जाना चाहिए। ऐसे भी बहुत से शब्द हैं जो भाषा में प्रयुक्त होते हैं परन्तु साहित्य में प्रयुक्त नहीं होते। ऐसे शब्दों का संग्रह करना तो और भी कठिन है। शब्दों के संग्रह के पश्चात् व्युत्पत्ति का प्रश्न उठता है और व्युत्पत्ति का पता लगाना भी एक बहुत बड़ी समस्या है क्योंकि एक भाषा में शब्द हजारों स्रोतों से आ कर सम्मिलित हो जाते हैं। जब तक एक शब्द नया रहता है तब तक उसका पहचानना उस सिक्के की तरह सुगम होता है जिस पर छाप लगी रहती है परन्तु जब एक शब्द घिस घिसा जाता है, पुराना हो जाता है और वह उस सिक्के जैसा हो जाता है जिस पर की छाप मिट जाती है—तब उसे पहचानना अत्यन्त कठिन हो जाता है। शब्दों के इन स्रोतों को शुद्ध और प्रामाणिक रीति से जानने के लिए न केवल कई भाषाओं के ज्ञान की आवश्यकता है परन्तु इसके लिए बहुत से विषयों का ज्ञान भी अनिवार्य है। शुद्ध और प्रामाणिक व्युत्पत्ति से ही हमें किसी शब्द के इतिहास का ज्ञान हो सकता है। इसके बाद शब्दों का अर्थ ऐसी सरल और निश्चित भाषा में लिखना है जो कि समझनेवाले के मन में किसी प्रकार का सन्देह न रहने दे और फिर मुहावरों आदि का प्रश्न है। अर्थों में भी भेद पड़ता रहता है। किसी भाषा की वास्तविक स्थिति और प्रगति का ज्ञान उस भाषा के कोशों के द्वारा ही हो सकता है। प्रस्तुन पुस्तक के लेखक को कोश लिखने का अनुभव है। उन्होंने कई कोशों को लिखा है और कई कोशों का गम्भीरता से अध्ययन किया है इसलिए उन्हें कोशों के प्रश्नों और समस्याओं से अच्छी तरह परिचय है और वे कोशकारों की कठिनाइयों को भली भाँति जानते हैं। इस पुस्तक में उन्होंने इन्हीं प्रश्नों, समस्याओं और कठिनाइयों की चर्चा की है जिससे कि एक कोशकार को अपने उत्तरदायित्व को समझने और निभाने में सहायता प्राप्त हो सके। इस पुस्तक में ९ प्रकरण हैं और इनमें कोशकार के गुणों से लेकर अर्थ-विचार तक कोश की बहुत-सी समस्याओं पर विचार करने का प्रयत्न किया गया है। पुस्तक को पढ़ने से बहुत-सी शब्द सम्बन्धी बातों का ज्ञान प्राप्त होता है और इससे शब्द ज्ञान की विषमताओं का पता चलता है। लेखक ने शब्दों के विषय में जो सूचना दी है उसमें कई जगह मतभेद की सम्भावना है और यदि इस पुस्तक को अधिक विस्तार से लिखा जा सकता औ कुछ अन्य भाषाओं के प्रामाणिक कोशों के पद्धतियों की वैज्ञानिक ढंग से समीक्षा की जा सकती तो पुस्तक की उपादेय और भी अधिक बढ़ जाती। आजकल हमारी भाषाओं कोशों की आवश्यकता दिन प्रति दिन बढ़ती जा र है इसलिए इस प्रकार की पुस्तकों की बहुत आवश्यकता है जो कोश-कला के विषय में उचित ज्ञान प्राप्त करा सके हिन्दी में यह पुस्तक अपने ही ढंग की है और कोश क्षेत्र में एक कमी को पूरा करती है। प्रत्येक कोश प्रे को इस पुस्तक को पढ़ना चाहिए।

आलोचना (इतिहास विशेषाङ्क)
सम्पादक—शिवदानसिंह चौहान
प्रकाशक—राजकमल प्रकाशन
मूल्य—५) रुपया।

जिस प्रकार भारतवर्ष के इतिहास को पुनः लि जाने की आवश्यकता है इसी प्रकार हमारे देश भाषाओं के इतिहास को भी पुनः लिखे जाने की आ श्यकता है। हिन्दी के इतिहास की जो पुस्तकें अ तक लिखी गई हैं वे ऐसी अवस्था में लिखी गई हैं कि उन्हें ठीक तरह लिखा नहीं जा सकता था पर इतिहास शायद अपने को दुहराता न हो। इतिहास पुस्तकें प्रायः अपने को दुहराती रहती हैं। आलोच के इस इतिहास-विशेषाङ्क में हिन्दी इतिहास की पुस्त और उनके द्वारा निर्धारित स्थापनाओं की समीक्षा आलोचना की गई है जो पठनीय है। इस इति विशेषाङ्क में प्रकाशित कई निबन्ध जितने आलोचनात् हैं उतने ऐतिहासिक नहीं। इतिहास के ग्रन्थों में आ चना को उतनी प्रधानता नहीं दी जानी चाहिए जित कि इतिहास को। यह सत्य है कि प्रत्येक इतिहास का अपना ही एक दृष्टिकोण होता है परन्तु इतिहास दृष्टिकोण से बड़ी वस्तु घटनाएँ हैं जिन्हें एकत्रित व्यवस्थित करने में इतिहासकार को सच्ची सफलता होती है। आशा है कि इस विशेषाङ्क से हिन्दी साहि के निर्माण को एक नई दिशा और नया उत् प्राप्त होगा।

हैदराबाद —**वंशीधर विद्याल**

चतुर्युगी

लेखक—श्री महेश्वरप्रसाद
प्रकाशक—कर्मयोगी-प्रेस
८, एडमांस्टन रोड,
प्रयाग, इलाहाबाद
मूल्य—एक रुपया बारह आने।

प्रस्तुत पुस्तक में कामायनी की श्रद्धा, साकेत की ऊर्मिला, प्रिय प्रवास की राधा और श्री मैथिलीशरण गुप्त की यशोधरा के चरित्रों पर प्रकाश डाला गया है। इसमें सन्देह नहीं कि ये चारों चरित्र हिन्दी साहित्य के अमूल्य रत्न हैं और इन्हें एक लड़ी में जोड़ कर लेखक ने एक स्तुत्य प्रयत्न किया है।

श्रद्धा सतयुग की है, ऊर्मिला त्रेता की, राधा द्वापर की और यशोधरा कलियुग की। इस प्रकार ये चारों चरित्र अपने युग की नारियों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इन चारों चरित्रों के समयों में न जाने कितने हज़ार वर्षों का अन्तर है किन्तु इन सब में कुछ ऐसी समानताएँ हैं जिनके कारण ये सभी चरित्र एक दूसरे से अलग होकर भी एक में गुँथे दीख पड़ते हैं मानों इन चारों देवियों के चरित्रों में सनातन नारी का वह पूर्ण-चित्र चित्रित हो उठा है जो त्याग और बलिदान, श्रद्धा और विश्वास, आशा और निराशा, सेवा और सहानुभूति, क्षमा और दया की पृष्ठ-भूमि पर निर्मित हुआ है। इन देवियों के चरित्र एक दूसरे के पूरक हैं। श्रद्धा नारी संसार के लिए जो सन्देश ले कर आई मानों ऊर्मिला ने उसका समर्थन किया, राधा ने कार्य रूप में परिणत किया और यशोधरा ने उसी का अनुसरण किया। चारों चरित्र अपने में महान् और पूर्ण हैं कोई बड़ा और छोटा नहीं। मानों ये चारों चरित्र एक ही नारी के चार रूप हैं। लेखक के शब्दों में श्रद्धा एक नारी है, ऊर्मिला स्त्री है राधा युवती है और रूप कम महत्व का नहीं।

इस प्रकार ये चारों चरित्र मानों एक ही श्रृंखला की अलग अलग कड़ियाँ हैं। पुस्तक के अन्तिम अध्याय में लेखक ने मानों इन्हें जोड़ने का प्रयत्न किया है। जिसमें उसे सफलता मिली है संभवतः इसलिए कि नारी जाति के प्रति उसके हृदय में असीम श्रद्धा है। पुस्तक इन चरित्रों के अध्ययन के लिए उपयोगी है।

हिन्दी साहित्य और उसकी प्रगति

लेखक : विजयेन्द्र स्नातक क्षेमचन्द्र 'सुमन'
प्रकाशक : आत्माराम एण्ड सन्स
काश्मीरी गेट, दिल्ली—६
मूल्य : तीन रुपए।

प्रस्तुत पुस्तक माध्यमिक कक्षाओं में हिन्दी पढ़ने वाले छात्रों का ध्यान रख कर लिखी गई है। जैसा कि लेखक ने स्वयं स्वीकार किया है पुस्तक का प्रणयन आचार्य रामचन्द्र जी शुक्ल की प्रणाली पर किया गया है और युग विभाजन की दृष्टि से या कवि और लेखकों की चयन की दृष्टि से पुस्तक में कोई मौलिकता नहीं है।

हिन्दी साहित्य के जो प्रसिद्ध चार युग हैं—उनके नामों में थोड़ा बहुत परिवर्तन लेखक ने किया है किन्तु वे परिवर्तन अधिकांश शब्दों के हैं। उनके अर्थ में कोई अन्तर नहीं पड़ने पाया। अस्तु, उन परिवर्तनों के कारण हिन्दी साहित्य के इतिहास की सर्वमान्य प्रणाली में कोई अन्तर नहीं पड़ने पाया है। पुस्तक में रीति-काल का नाम शृंगार-युग दिया गया है। संभवतः युग के साथ ठीक बैठाने के लिए 'रीति' शब्द के स्थान पर शृंगार शब्द का प्रयोग किया गया है। किन्तु उस युग के लिए 'रीति-काल' नाम शृंगार-युग से अधिक उपयुक्त है क्योंकि उस काल की रचनाओं में शृंगार की प्रधानता होने पर भी वे रचनाएँ अधिकांश लक्षणग्रन्थों के रूप में हैं।

इधर हिन्दी साहित्य के इतिहास पर बहुत सी पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं—यह प्रसन्नता की बात है किन्तु इतनी पुस्तकों के प्रकाशित होने के बाद भी हिन्दी साहित्य के जिज्ञासु इन इतिहासों में कुछ कमी का अनुभव करते हैं। अब तक हिन्दी साहित्य के इतिहास पर जितनी पुस्तकें लिखी गई हैं; और उनमें जिन कवियों या लेखकों की चर्चा की गई है वे हिन्दी प्रदेश के किसी विशेष भाग का ही प्रतिनिधित्व करते हैं। क्या अन्य भागों में कवि या लेखक पैदा ही नहीं हुए ? आज हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखकों को इन कवियों और लेखकों को प्रकाश में लाने का प्रयत्न करना चाहिए। इसी प्रकार आज किसी साहित्य और देश की अन्य भाषाओं के साहित्यों के तुलनात्मक अध्ययन की भी आवश्यकता है।

फिर भी प्रस्तुत पुस्तक स्कूल और कालेज के छात्रों के लिए विशेषतया उपयोगी है। पुस्तक के आधे से अधिक पृष्ठ आधुनिक युग पर हैं—इससे छात्रों के लिए पुस्तक की उपयोगिना बढ़ गई है।

हैदराबाद

—राजकिशोर पाण्डे

सामयिक

॥

ख़लील जिब्रान

बम्बई के प्रसिद्ध साप्ताहिक न्यूज़मैंगज़ीन 'फ़ोरम' में श्रीयुत आर. एल. खन्ना का 'ख़लील जिब्रान' पर एक लेख प्रकाशित हुआ है। उसमें से कुछ अंश नीचे दिया जाता है:

"ख़लील जिब्रान लेबनोन का तत्वदर्शी था। उसे बीसवीं सदी का दान्ते कहा जाता है। उसकी प्रतिभा बहुमुखी थी। वह एक महान् विद्रोही था। उसने अपनी एक पुस्तक 'स्पिरिट्स रिबैलियस' (Spirits Rebellious) में पुरुष और स्त्री की वैवाहिक असमानता, न्याय की क्रूरता और क़ानून की बुराई को प्रदर्शित किया है। उन्हें इस पुस्तक के कारण समाज से बहिष्कृत और देश से निर्वासित किया गया। उनकी इस पुस्तक को बेरूत की मार्केट में खुले आम जलाया गया।

उनकी दृष्टि साहसपूर्ण, पैनी और गहरी थी। उनके लेखों में आत्मजीवन की गन्ध आती है परन्तु इतने पर भी वे वस्तुओं को बाह्य दृष्टि से देख सकते थे। मनुष्य मनुष्य के प्रति कितना क्रूर है—वे इसके दर्दनाक चित्र प्रस्तुत करते हैं। जीवन के दुःखपूर्ण करुणात्मक दृश्यों को देख कर उनका हृदय गीतों में प्रवाहित हो उठता है। उनके गीतों में शैली का माधुर्य है; वर्ड्सवर्थ की मानव की भ्रातृभावना है और ब्लेक का प्रेम और सूफ़ीपन है। उनके लेखों में पूर्वीय अध्यात्मवाद पुष्प की तरह खिल उठा है। यहाँ हमें उनका टागौर से सम्बन्ध अनुभव होता है। वह मनुष्यता का पैग़म्बर था, वह इसके अश्रुओं और हँसी का, उसकी मुसीबतों और कष्टों का और उसके स्वप्नों और निराशाओं का चित्रकार था।

जिब्रान का क्या सन्देश या सिद्धान्त था? वह मानवीय भ्रातृभाव का देवदूत था। वह कहता है:

> "प्रेम मृत्यु से अधिक बलवान् है
> और मृत्यु जीवन से अधिक बलवती है
> इसलिए यह दुःख की बात है कि मनुष्य
> आपस में लड़ते झगड़ते हैं।"

वह उदाराशयता के भूले हुए धर्म का उपदेश करता है जो कि मनुष्य और स्रष्टा के बीच का सुवर्णमय बन्धन है:

"मेरे बन्धु! स्मरण रक्खो कि तुम जिस सिक्के को उस सूखे हुए हाथ पर डालते हो जो तुम्हारी ओर कुछ प्राप्ति की आशा से फैलाया गया है वही सिक्का वह सुवर्णमय बन्धन है जो तुम्हारे सम्पन्न हृदय को भगवान् के प्रेममय हृदय से बाँध देता है।"

वह सब प्रकार के ढोंग और पाखण्डों पर एक धर्मयोद्धा की तरह तीव्र आक्रमण करता है। ..वह युद्ध का विरोध करता है।...वह प्रेम की अमरता में विश्वास करता है। "यदि प्रेम तुम्हें इस जीवन में मुझे नहीं देगा तो अगले जीवन में देगा। मृत्यु! मुझे मुक्ति प्रदान करो क्योंकि नित्यता प्रेमियों की...शान्ति के लिए संसार से अधिक मधुर है। दूर वहाँ मैं और मेरी प्रियतमा हैं—मैं वहीं जा कर उससे मिल जाऊँगा।"

जिब्रान आधुनिक सभ्यता की निन्दा करता है। वह "टैम्पैस्ट" में लिखता है—"तुम्हारी सभ्यता Vanity है; दिखावा है और इसमें जो कुछ है वह आडम्बर है...आविष्कार और खोज विनोदमात्र हैं और एकमात्र

थके हुए शरीर को आराम देनेवाले हैं। दूरी पर विजय और समुद्रों पर फ़तह निष्फल हैं क्योंकि उससे कुछ आत्मिक सुख नहीं प्राप्त होता, आत्मा की किसी प्रकार की उन्नति नहीं होती और न हृदय को शक्ति मिलती है।..."

जीवन के महत्व के विषय में वह कहता है;—"यह आत्मा के अन्दर एक प्रकार की जागृति है और जो इसे जानता है वह इसे शब्दों में अभिव्यक्त नहीं कर सकता और जो इसे नहीं जानता वह अपने अस्तित्व के सुन्दर रहस्य को समझ ही नहीं सकता।"

.. ...वह अपने निर्वासन के समय न्यूयार्क में था।...वह कवि के विषय में कहता है! "...मैं कवि हूँ जो उसे बनाता है, जिसे जीवन प्रस्तुत करता है और उसे प्रस्तुत करता है जिसे जीवन बनाता है।"

"कवि है :
एक कड़ी
इस लोक और दूसरे लोक के बीच की;
वह है तृषार्त के लिए मीठे पानी का स्वच्छ जलाशय
वह है एक वृक्ष,
जो सुन्दरता की नदी के किनारे खड़ा है
और जिस पर लगे हैं मीठे और पके फल
छटपटाते भूखे हृदयों के लिए..."

उसका हृदय साधारण ग्रामवासियों की ओर आकर्षित होता है। वह उनकी शहर के रहनेवालों से तुलना करता है: "हम सुवर्ग में ग्रामवासियों से अधिक संपन्न हो सकते हैं परन्तु जीवन के सच्चे अस्तित्व में वह हम से कहीं अधिक सम्पन्न और पूर्ण हैं। हम प्रचुरता में बोते हैं परन्तु हमें कुछ फ़संल काटनी नसीब नहीं होती। परन्तु वह प्रकृति के द्वारा दी गई वैभवपूर्ण Bounty अतिशयता को फ़सल की काटता है।...
...वह जीवन के विषय में कहता है :

"मैं था
और मैं हूँ
मैं अन्त काल तक रहूँगा
क्योंकि मेरा अन्त ही नहीं है।"

॥

कहावतें

२८ दिसम्बर १९५२ के 'इण्डियन लिसनर' में श्रीयुत पी. एस. सुन्दरम् की कहावतों पर एक वार्ता प्रकाशित हुई है जो कि उन्होंने कटक के आल इण्डिया रेडियो स्टेशन से प्रसारित की थी :

"कहावतों में जो वस्तु स्थानीय या विशिष्ट होती है उससे हमारा कुछ मनोविनोद होता है परन्तु उसमें जो प्रकृति का दिग्दर्शन होता है उससे ज्ञात होता है कि यह समस्त विश्व एक है। "एक स्कॉट, एक चूहा और न्यू कैसल की चक्की समस्त जगत् में यात्रा करते हैं।" इस कहावत से न्यू कैसल की चक्की की श्रेष्ठता का और स्कॉट की अद्भुत साहसिकता और अनुकूलक्षमता का ज्ञान होता है और साथ ही स्कॉट के प्रति दूसरों की ईर्ष्या का भी कुछ पता चलता है। एक चीनी कहावत है—"कुत्ते और अंग्रेज़ चलना फिरना पसन्द करते हैं" इससे भी मनुष्य की विदेशियों के प्रति विरोधी वृत्ति का पता लगता है। "ऐसा झूठा जैसा कि एक स्कॉट", "एक फ्रेंच आदमी को अपना मित्र बनाओ परन्तु पड़ोसी नहीं" (अन्यथा वह तुम्हारे घर में ही आ धमकेगा), "एक अंग्रेज़ तीन फ्रेंच लोगों को पीट सकता है"—"ऐसे बेमेल जैसे कि एक जर्मन के ओंठ" (प्रकृति ने एक जर्मन के ओंठ कुछ ऐसे बनाए हैं कि वे दोनों ठीक तरह से नहीं मिल सकते) "यह एक डच आदमी के उस लंगर जैसा है जो कि उसके घर में है" (यह उन व्यक्तियों के लिए कहा जाता है जो डींगें बहुत मारते हैं परन्तु समय पर कुछ करके नहीं दिखा सकते)। इन सब कहावतों को नमक कीं एक चुटकी के साथ ग्रहण करना चाहिए। हमें जातीय इतिहास पर आधारित जातीय Prejudices पूर्वाग्रहों के लिए भी गुंजाइश रखनी चाहिए। 'उच्च साहस'--(वह साहस जो मद्यपान से आ जाता है) इस साहस का डच लोगों से ही कुछ विशेष सम्बन्ध नहीं है। "फ्रेंच छुट्टी (वह छुट्टी जो बिना सूचना के ली जाती है) इसका भी फ्रेंच लोगों से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है। मुझे ज्ञात हुआ है कि इसीके सदृश फ्रेंच भाषा में "अंग्रेज़ छुट्टी" शब्द बनाया गया है। प्रत्येक राष्ट्र यह समझता है कि वही संसार में सर्वोत्तम है। परन्तु कुछ लोगों में Sense of humour हास्य की बुद्धि होती है और वे अपने से ऊपर उठ कर अपने को उस प्रकार देखने का प्रयत्न करते हैं जैसे कि अन्य लोग उन्हें देखते हैं। कुछ अंग्रेज़ी कहावतों को देखिए :

"यदि एक नए द्वीप को आबाद किया जाए तो एक स्पेन का निवासी जो सबसे पहली इमारत बनाएगा वह होगा चर्च (गिरजा) फ्रेंच सबसे पहले एक क़िला बनाएगा, डच एक सामान घर बनाएगा और एक अंग्रेज मद्यशाला बनाएगा।" "एक अंग्रेज़ कभी इतना प्रसन्न नहीं होता जितना कि उस समय जब कि वह बुरी अवस्था में होता है, एक स्कॉट कभी अपने को घर में उतना अनुभव करता जितना कि वह घर से बाहर दूसरे देश में अनुभव करता है; एक आइरिश कभी उतनी शान्ति अनुभव नहीं करता जितनी कि वह लड़ने में करता है।" "एक अंग्रेज़ का बड़बड़ाने में हैं।" अंग्रेज़ की बाइबल है। "अंग्रेज़ के हृदय को मार्ग उसके पेट में से प्राप्त होता है।"

कुछ और अंग्रेज़ी कहावतें हैं: "अपने पुत्र का विवाह आप जब चाहें तब कीजिए-और अपनी पुत्री का विवाह तब कीजिए जब आप कर सकते हैं"। "विवाह एक लाटरी है", "विवाह तो भगवान् बनाता है।"

कुछ चीनी कहावतें हैं जो अनुभव की गहराई को प्रदर्शित करते हैं। "जो शेर पर सवारी करता है वह फिर शेर पर से उतर नहीं सकता।" "एक गिरती हुई दीवार को सभी गिराते जाते हैं।" 'एक कुत्ता किसी वस्तु पर भौंकता है और दूसरे कुत्ते उसी पर भौंकते हैं।'

अंग्रेज़ी में इस प्रकार की कहावतें भी हैं जो उनका परिहास करती हैं जो हवाई और ऊलजलूल बातें बनाया करते हैं: "यदि मेरी चाची पुरुष होती तो वह मेरा चाचा होती।" इससे बिलकुल ठीक मिलती जुलती एक तमिल की कहावत है: "यदि मेरी चाची के मुख पर मूछें निकल आएँ तब हम यह सोचेंगे कि उसे ताया कहा जाए या चाचा।"

II

अंग्रेज़ी का भविष्य

श्री एस. वीरसिंहम् श्री सोमस्कन्द कालेज, पुट्टूर, सीलोन के प्रिन्सिपल थे। उन्होंने अंग्रेज़ी के भविष्य के विषय में एक लेख लिखा है जो मद्रास के प्रसिद्ध अंग्रेज़ी साप्ताहिक पत्र में प्रकाशित हुआ है। उसमें से निम्न अंश दिया जाता है:

"वर्तमान युग का सबसे महान् चमत्कार' अंग्रे भाषा का विश्वभाषा के रूप में विस्तार है। अंग्रे एक छोटे से द्वीप की भाषा है। इसका विस्तार पहले बहुत धीरे हुआ परन्तु फिर शीघ्रता से होने लगा। १६ वीं सदी में अंग्रेज़ी को बोलनेवाले ५० लाख से क लोग थे; १८०१ में इसके बोलनेवालों की संख्या लगभ दो करोड़ दस लाख हुई; १९२१ में यह संख् १५ करोड़ तक पहुँच गई और अब संसार के दो अर लोगों में अंग्रेज़ी बोलनेवालों की संख्या ३० करोड़ है।...१९३५ में संसार की तीन चौथाई डाक अंग्रे में लिखी गई। विश्व के जितने रेडियो स्टेशन हैं उन पाँच में से तीन स्टेशनों की भाषा अंग्रेज़ी है; संसार जितने पत्र हैं उनमें से आधे अंग्रेज़ी के हैं और विश् के समस्त बड़े बन्दरगाहों की साधारण भाषा अंग्रे है।......परन्तु अब अंग्रेज़ी का भविष्य क्या है भारतवर्ष में स्वतन्त्रता आ जाने के पश्चात् अंग्रेज़ी न शिक्षा के क्षेत्र में वह महत्व प्राप्त हो सकता है औ न अन्य किसी राष्ट्रीय क्षेत्र में। राष्ट्रीय जागृति साथ अंग्रेज़ी महत्व घट जाना अनिवार्य है। मिस एच. एल. मैनकन ने जो कि "अमेरिकन लैंग्वेज" प्रसिद्ध लेखक हैं अंग्रेज़ी के विषय में भविष्य वाणी है। वे श्रीमती वूल्फ़ का उद्धरण देते हुए लिखते हैं- "इंग्लिस्तान में शब्द-निर्माण की शक्ति समाप्त हो है। जब हम अपनी भाषा में नयापन लाना चाहते हम अमरीकी अंग्रेज़ी से शब्द उधार लेते हैं। सब अच् अभिव्यक्तिपूर्ण, समर्थ और ज़ोरदार शब्द अब अटलांटि के पार से आ रहे हैं।" वह अपने कथन को इस प्र समाप्त करते हैं:" अमरीकी अंग्रेज़ी एक जीवित श की तरह विकसित हो रही है। मैं समझता हूँ कि अ में अमरीकी अंग्रेज़ी इंग्लिस्तान की अंग्रेज़ी पर वि प्राप्त कर लेगी और संसार में फैल जाएगी। संसार अंग्रेज़ी की विजय अमेरिका की विजय होगी।"

हमारा विचार है कि जहाँ तक उच्चारण सम्बन्ध है पूर्वीय देश बी. बी. सी. के अंग्रेज़ी उच्चारणों को ठीक मानेंगे परन्तु Spelling अक्षर-योज की सीमा तक अमरीकी अंग्रेज़ी को स्वीकार कि जाएगा और जहाँ तक नए शब्दों और रचना सम्बन्ध है लोग अपनी रुचि के अनुसार जिसे पस करेंगे चुन लेंगे।"

द्राविड़ी भाषाएँ

संस्कृत के बहुत से शब्द दक्षिण की भाषाओं में सम्मिलित हुए हैं और तमिल में भी संस्कृत के शब्द पर्याप्त मात्रा में हैं। ऐसे भी विचारक हैं जिनकी धारणा है कि तमिल भाषा की रचना और विकास में संस्कृत का बड़ा हाथ है। श्री स्वामिनाथ ऐयर ने लिखा है—"दक्षिण की भाषाएँ भी आर्यों की बनाई हुई हैं। उन्हीं की देन है। और भी कई विचारकों का मत है कि सर्वनामों में कि लिङ्ग और वचनों के चिह्न आर्यों के हैं।" और भी ऐसे बहुत से विचारक हैं जो द्राविड़ी भाषाओं के स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकार करते हुए उस पर संस्कृत के प्रभाव को स्वीकार करते हैं।

परन्तु दूसरे प्रकार के विचारक भी हैं और इन विचारकों में आश्चर्य की बात है कि यूरोपियन विचारकों की है। जिस प्रकार इन यूरोपियन विचारकों ने हिन्दी और उर्दू के झगड़े भाषा के क्षेत्र में बढ़ाया इसी प्रकार उन्होंने द्रविड़ भाषा और आर्यों की भाषाओं में भेद भाव की बढ़ाने प्रयत्न किया है। इन्हीं में से कई यूरोपियन विचारकों के विचारों को उद्धत करते हुए श्री पी. जी. रामलिङ्गम ने "द्रविड़ों की भाषा" पर एक 'स्वतन्त्र' में लेख लिखा है जिसमें से कुछ अंश नीचे दिया जा रहा है :

"द्रविड़ देश की सबसे सुसंस्कृत भाषा तमिल है और इसका आधार बिलकुल स्वतन्त्र है। तमिल विचारों की अभिव्यक्ति के लिए किसी प्रकार संस्कृत पर आश्रित नहीं है। सबसे प्राचीन तमिल जिसे "सेन तमिल" कहा जाता है—संस्कृत से सर्वथा स्वतन्त्र है। उसमें न तो संस्कृत के शब्द हैं और न संस्कृत के मुहावरे। तमिल के सर्वोत्तम ग्रन्थ जैसे कि "कुरल" प्रत्येक दृष्टि से संस्कृत से सर्वथा भिन्न है। डा० बर्नल (Dr. Burnell) के विचारों के अनुसार व्याकरण का विकास बहुत पहले युग में ही हो गया था और इसका संस्कृत से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है। इसकी उत्पत्ति को दैवीय माना जाता है जिसका यह तात्पर्य है कि तमिल का व्याकरण दक्षिण की ही उपज है। प्रो. जूलियन विनसन (Prof. Julien Vinsen) कहते हैं--"यद्यपि तमिल और संस्कृत में बहुत सी समानताएँ है परन्तु फिर भी ये बिलकुल भिन्न भाषाएँ है। इसकी उत्पत्ति का स्रोत एक नहीं है।"

तमिल भाषा की अपनी मौलिकता है और अपना ही व्यक्तित्व है। "वडमोलि" और "तनमोलि" में भेद उसी अवस्था में उत्पन्न हो सकता है जब कि दो भाषाएँ साथ साथ पृथक् रूप में चल रही हों पहली उत्तर में और दूसरी दक्षिण में। तमिल का व्याकरण में लिङ्ग और वचन एक ही शीर्षक के नीचे आते हैं और यह तमिल व्याकरण की ही विशेषता है। तमिल छन्दःशास्त्र विशेषतया "वेनबा" के ऐसे नियम हैं जो सर्वथा मौलिक हैं और किसी भाषा के छन्दःशास्त्र में प्राप्त नहीं होते। तमिल एक स्वतन्त्र भाषा है और वह आर्य परिवार की भाषाओं के अन्तर्गत नहीं होती। तमिल का व्याकरण ईसा के सन् से बहुत पूर्व ही बन गया था। तमिल का अपना ही मौलिक संगीत है जो बहुत पहले व्यवस्थित रूप में कर दिया गया था। डा० स्लेटर (Dr. Slater) के अनुसार "तमिल भाषा की विशेषता इसकी सूक्ष्मता, तर्क और आदरवाचकता है।" इन सब बातों से यह स्पष्ट है कि तमिल एक मौलिक और स्वतन्त्र भाषा है।

कई भाषाओं के विशेषतया संस्कृत के विकास में तमिल का बड़ा हाथ है। संस्कृत अपने विकास में तमिल की बहुत ऋणी है। प्रो० रैपसन (Prof. Repson) कहते हैं—"दक्षिण के आदिवासियों की भाषा पर्याप्त सुसंस्कृत थी इसलिए यह आश्चर्य की बात नहीं है कि संस्कृत में तमिल का अंश पर्याप्त मात्रा में है। यह स्पष्ट है कि जो लैटिन और ग्रीक भाषाओं में नहीं मिलता और संस्कृत में एक विशिष्ट प्रकार का है वह द्राविड़ी है। मूर्धन्य ध्वनियाँ द्रविड़ देश की ही विशेषताएँ हैं और वे द्राविड़ी हैं परन्तु वे संस्कृत में बहुत प्रयुक्त होती हैं। अनावरदनायकम् पिल्ले का मत है कि शब्दों का (Cerebral) अन्त जो कि आदिकाल की संस्कृत में प्राप्त होता है--द्रविड़ देशीय है। राइज़ डेविस (Rhys Devis) का मत है कि ध्वनि और शब्दावलि में वैदिक संस्कृत पर द्राविड़ भाषाओं का प्रभाव पड़ा है। द्रविड़ी उपभाषाओं का संस्कृत की ध्वनियों, रचना, शब्दावलि और उसके मुहावरों पर बहुत प्रभाव है।"

सम्पादकीय

हिन्दी का प्रश्न

हिन्दी को राष्ट्रभाषा स्वीकार कर लेने के पश्चात् जिस प्रकार १५ वर्ष की अवधि कम होती जा रही है क्या हिन्दी की राष्ट्रभाषा की दृष्टि से उन्नति, प्रगति, लोकप्रियता और विस्तार में उसी प्रकार वृद्धि होती जा रही है ? देश की अवस्था को देखते हुए ऐसा अनुभव होता है कि राष्ट्रभाषा के प्रश्न को जितना उलझाने का प्रयत्न किया जा रहा है उतना सुलझाने का नहीं। इस समय भाषावादी प्रान्तों के निर्माण और उसके साथ प्रान्तीय भाषाओं की सर्वतोमुखी उन्नति की ओर देश का जितना ध्यान आकृष्ट हो रहा है—राष्ट्रीय भावना और राष्ट्रभाषा की ओर उतना नहीं। इस बात को उठाने का भी प्रयत्न किया जा रहा है कि राष्ट्रभाषा के प्रश्न पर पुनः विचार किया जाए। अंग्रेज़ी को पुनः वही स्थान दिलवाने की ओर भी आवाज़ उठाई जा रही है। जिन राज्यों में हिन्दी को मातृभाषा के रूप में समझा जाता रहा है वहाँ भी जनपद की बोलियों के प्रश्न को उठाया जा रहा है। शिक्षा के क्षेत्र में भी भाषा का प्रश्न एक ऐसा रूप धारण कर रहा है जिससे हिन्दी का प्रश्न उस महत्व के स्थान को नहीं प्राप्त कर रहा जो कि उसे प्राप्त होना चाहिए। एक विद्यार्थी को मातृभाषा, अंग्रेजी और राष्ट्रभाषा को तो सीखने का प्रश्न है ही—इसके साथ अब जहाँ एक ओर संस्कृत का प्रश्न खड़ा हो रहा है वहाँ एक अन्य राज्य की भाषा को सीखने का भी प्रश्न उठ खड़ा है। यह सत्य है कि एक विद्यार्थी को जितनी भाषाओं का ज्ञान हो सके उतना ही अच्छा है परन्तु इसे प्रत्येक विद्यार्थी की शिक्षा का अंग बनाना कहाँ तक उचित है इस पर भी तो विचार करना पड़ेगा। अन्य विषयों के साथ यदि प्रत्येक विद्यार्थी को चार या पाँच भाषाएँ सीखनी पड़ेंगी तो उससे न केवल भाषाविषयक समस्या के और भी अधिक उलझने का डर है अपि तु उससे अन्य विषयों के ज्ञान की क्षमता पर भी असर पड़ सकता है। और फिर इस पर दक्षिण देश में भाषावादी प्रान्तों के निर्माण के साथ जहाँ प्रान्तीय भाषाओं की अपनी समस्या है वहाँ हिन्दी या राष्ट्रभाषा का प्रश्न आते ही इस प्रश्न को राष्ट्रीयता का स्वरूप न दे कर उसे उत्तर देश की एक भाषा का रूप दिया जा रहा है और इस प्रकार उत्तर और दक्षिण में भेदभाव को बढ़ाने का प्रयत्न किया जा रहा है। यह आवाज़ उठाई जा रही है कि उत्तर में दक्षिण की एक भाषा को पढ़ना अनिवार्य कर दिया जाना चाहिए। अभी यह ज़रा दबी ज़बान से कहा जा रहा है परन्तु हमें भय है कि कुछ समय के पश्चात् इसे अधिक बल से उठाया जाएगा और उस समय उत्तर पर इसकी क्या प्रतिक्रिया होगी—उसे निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। दक्षिण में राष्ट्रभाषा को किसी प्रकार अनिवार्य या वाधित विषय नहीं बनाया जाना चाहिए और यदि बनाया जायगा तो उसका परिणाम अच्छा न होगा—इसे न केवल कहा जा रहा है परन्तु दक्षिण में राज्यों की यही नीति बन गई है। समझा और समझाया जा रहा है कि इस प्रकार दक्षिण में भाषाविषयक वाद विवाद खड़ा नहीं होगा और लोग धीरे धीरे स्वयं हिन्दी की ओर आकृष्ट हो जाएँगे परन्तु क्रियात्मक रूप से इस समय जो कुछ दृष्टिगोचर हो रहा है उससे तो यह पता चलता है कि इस समय हिन्दी के प्रति उपेक्षा की वृद्धि हो रही है और प्रान्तीय भावनाएँ इस उपेक्षा को बढ़ाने में सहायक हो रही हैं। काँग्रेस के प्लेटफ़ार्म से राष्ट्र की एकता के प्रश्न को उठाया जा रहा हैं परन्तु इस समय यह अनुभव होता है कि भाषावादी प्रान्तों के निर्माण का प्रश्न अधिक महत्वपूर्ण बन गया है और बनता जा रहा है। केन्द्रीय सरकार की ओर से राष्ट्रभाषा के लिए किसी निश्चित नीति को अपनाया नहीं गया है और ऐसी अवस्थाओं में अपनाया भी जा सकेगा या नहीं इसमें हमें सन्देह है। होना तो यह चाहिए था कि पन्द्रह वर्ष की अवधि ज्यों ज्यों कम होती जाती हिन्दी अधिकाधिक लोकप्रिय होती जाती और उसका विस्तार बढ़ता जाता परन्तु वर्तमान अवस्थाओं में कुछ ऐसा प्रतीत हो रहा है कि वस्तुस्थिति अनिश्चित काल के लिए अनिश्चित सी हो गई है। इस स्थिति को सुधारने के लिए संगठित प्रयत्नों की आवश्यकता है। प्रजासत्तात्मक युग में न तो हथियारों के बल से और न क़ायदे-क़ानून के ज़ोर से किसी वस्तु को प्रचलित किया जा सकता है। राष्ट्रभाषा को लोकप्रिय बनाने के लिए जनमत को तैयार करना पड़ेगा और जब तक यह जनमत तैयार नहीं होगा हमें अपने कार्य में विशेष सफलता प्राप्त नहीं होगी। हमें यह अनुभव हो रहा है कि जि

प्रकार स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए देश को संघर्ष करना पड़ा है और उसके लिए आत्मत्याग और बलिदान करने पड़े हैं उसी प्रकार राष्ट्र की एकता के लिए पर्याप्त संघर्ष करना पड़ेगा और इसके लिए भी आत्मत्याग और बलिदानों की आवश्यकता होगी और जब समस्त राष्ट्र में एकता की आवश्यकता को देश की स्वतन्त्रता की तरह अनुभव किया जाने लगेगा—राष्ट्रभाषा की समस्या को उस समय ठीक तरह समझा जा सकेगा और सुगमता से हल किया जा सकेगा।

हैदराबाद में कांग्रेस का अधिवेशन

हैदराबाद में नानल नगर में कांग्रेस का ५८ वाँ अधिवेशन जिस धूमधाम और शान के साथ संपन्न हुआ उससे यह अनुभव नहीं होता था कि कांग्रेस ग़रीबों की संस्था है। कांग्रेस के समस्त इतिहास में सम्भवतः कोई भी अधिवेशन इतने अच्छे प्रबन्ध और इतनी शान और शौक़त के साथ सम्पन्न नहीं हुआ। किसी ऐसी महान् संस्था के अधिवेशन की सफलता को केवल सुप्रबन्ध, सुव्यवस्था और विशेष सुन्दर आयोजनों से ही नहीं किया जा सकता। कांग्रेस के इस अधिवेशन के महान् व्यय पर बहुत से लोगों ने आपत्ति उठाई है। इसके विषय में 'स्वतन्त्र' पत्र ने लिखा है: "जब देश में चारों ओर ग़रीबी और भुखमरी फैली हुई हो उस समय कांग्रेस का इतने व्ययसाध्य अधिवेशन करना कहाँ तक उचित है? स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व कांग्रेस के अधिवेशनों के द्वारा ब्रिटिश शासन के विरुद्ध उत्साह को संगठित करना पड़ता था परन्तु इस समय जब कि हमें देश की समस्याओं को शान्ति और गम्भीरता से हल करना है-यह टीमटाम और शोर गुल कठिन प्रश्नों को हल करने में कठिनाई को उपस्थित कर देते हैं। इस अधिवेशन पर साधारण हिसाब के अनुसार भी ४० लाख रुपया व्यय हुआ है। स्वागत-समिति ने १० लाख रुपए का बजट बनाया था।" कलकत्ता के प्रसिद्ध मासिक पत्र "मौडर्न रिव्यू" ने कांग्रेस के इस अधिवेशन की तुलना "दिल्ली दरबार और राजसूय यज्ञ" से तुलना की है। पहले कांग्रेस के अधिवेशन जनता में जागृति उत्पन्न करने के लिए किए जाते थे और इस समय भी जनता में जागृति उत्पन्न करने की पहले से कम आवश्यकता नहीं है। हैदराबाद के कांग्रेस के अधिवेशन में जिन विषयों पर मुख्यतया विचार हुआ उनमें एक भाषावारी प्रान्तों का निर्माण करना था। आन्ध्र देश के निर्माण करने के साथ भाषा के आधार पर अन्य राज्यों की उसी आधार पर रचना की माँग अत्यन्त स्वाभाविक है परन्तु देश की वर्तमान परिस्थितियों को देखते हुए भाषावारी प्रान्तों के निर्माण का विरोध होना आवश्यक है। इसका यह अर्थ नहीं है कि भाषा के आधार पर प्रान्तों का निर्माण स्वाभाविक नहीं है परन्तु देश की वर्तमान अवस्थाओं में यदि पृथक् प्रान्तों का निर्माण कर दिया गया तो इससे कई और ऐसे पेचीदा प्रश्न उत्पन्न हो जाएँगे जिनका समाधान और हल करना और भी अधिक कठिन होगा। प्रस्ताव में भाषा के आधार पर प्रान्तों को बनाना आन्ध्र प्रान्त की स्थिरता और मजबूती पर निर्धारित किया गया है। अन्य प्रस्ताव जो पास किए गए उनमें 'पंचवर्षीय योजना' का प्रस्ताव था। देश में पंचवर्षीय योजना को पूर्ण रूप से सफल बनाने का प्रश्न है। इस योजना के कई इस प्रकार के पहलू हैं जिन्हें स्पष्ट करने की आवश्यकता थी और जिन पर यदि खुल कर विचार किया जाता तो अच्छा था। यह सत्य है कि विदेशी विज्ञ लोग इस योजना की प्रशंसा कर रहे हैं परन्तु इस का यह अर्थ नहीं है कि इस योजना का दूसरा पक्ष नहीं है और या इस पर अन्य दृष्टियों से विचार अनावश्यक है। इस योजना के साथ साथ देश की जनता के जीवन के स्तर को उच्च करने का, ग़रीबी को दूर करने का, धन को समान रूप से बाँटने का सामाजिक न्याय और समान व्यवहार का प्रश्न जुड़ा हुआ है। इस योजना के महत्व तथा उसकी क्रियात्मकता पर पूर्णतया समझाने के लिए यह आवश्यक था कि पंचवर्षीय योजना पर अच्छी तरह बहस की जाती और एतद्विषयक सन्देहों को दूर किया जाता। अन्य प्रस्ताव साम्प्रदायिकता, भारतवर्ष की विदेशी नीति आदि विषयों के सम्बन्ध में थे जिन पर किसी प्रकार का मतभेद नहीं था।

आइज़न होवर की विदेश सम्बन्धी नीति

आइज़न होवर ने प्रेज़ीडेण्ट बनने के पश्चात् जिस विदेशी नीति की घोषणा की है उससे अमेरिका को छोड़ कर और कोई भी राष्ट्र सन्तुष्ट नहीं है। उनके सिद्धान्त हैं: (१) "हमें युद्ध से घृणा है तो भी जो लोग हमें भयभीत कर रहे हैं—हमारा यह कर्तव्य है कि हम

अपने अन्दर उस बल का विस्तार करें जिससे आक्रमणकारी के हाथ रुक जाएँ और हम शान्ति की अवस्थाओं की अभिवृद्धि कर सकें। (२) हम अपने सम्मान के साथ कभी किसी प्रकार का सौदा नहीं कर सकेंगे और आक्रमणकारी को प्रसन्न करने का प्रयत्न नहीं करेंगे क्योंकि एक सैनिक के लिए अपना सामान ढोना इतना भारी बोझ नहीं है जितना कि एक क़ैदी की ज़ंजीरों का बोझ। (३) हम अपनी शक्ति का प्रयोग दूसरे लोगों पर अपने राजनैतिक और आर्थिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए नहीं करेंगे।" इन सिद्धान्तों की घोषणा करने के बावजूद भी आइज़न होवर ने कोरिया के युद्ध में जिस तरह इन सिद्धान्तों को क्रियात्मक रूप देने का प्रयत्न किया है उससे यह पता नहीं चलता कि वे अपने इन सिद्धान्तों के आधार पर विश्व में शान्ति उत्पन्न कर सकेंगे। कोरिया में २½ वर्ष से युद्ध चल रहा है। इस युद्ध में १२८,५३० अमरीकी मारे जा चुके हैं और वहाँ युद्ध की इस तरह अवस्थाएँ हो गई हैं कि न तो वहाँ अमरीका इस प्रकार युद्ध में अपनी धन जन की हानि सहता हुआ फँसा रहना चाहता है और न कोरिया के युद्ध की समाप्ति कर देना चाहता है। इसलिए इस नई नीति में चीन की सैनिक शक्ति को खपाने के लिए चीन के लिए लड़ाई के और क्षेत्रों को उत्पन्न करना आवश्यक समझा गया है—ऐसे क्षेत्र जहाँ चीन को तो युद्ध में उतरना पड़ेगा परन्तु अमरीका एकमात्र युद्ध की सामग्री ही देगा और उसके सैनिक युद्ध में किसी प्रकार का भाग नहीं लेंगे। पहले तो यह कहा जा रहा था कि चीन की राष्ट्रवादी सेनाएँ चीन की मुख्य भूमि पर आक्रमण करेंगी परन्तु विश्व की सम्मति को इसके विरोध में देख कर अब यह कहा जा रहा है कि चीन पर किसी प्रकार का व्यवस्थित आक्रमण नहीं किया जाएगा। हो सकता है कि प्रारम्भ में व्यवस्थित आक्रमण न हो परन्तु आक्रमण किसी न किसी रूप में अवश्य होगा क्योंकि इसके बिना कोरिया में चीन की सैनिक शक्ति को कई हिस्सों में विभाजित कर उसे कमज़ोर नहीं बनाया जा सकता। इस प्रकार के आक्रमण से एक तो अमेरिका के जन नाश को बचाया जा सकेगा, दूसरा चीन की सैनिक शक्ति को विभाजित किया जा सकेगा—तीसरा जो बम अभी तक कोरिया की भूमि पर ही पड़ कर कोरिया के धन जन का नाश कर रहे थे अब ये बम चीन की मुख्य भूमि पर फेंके जाएँगे जिससे चीन की जनता को त्रस्त, ध्वस्त और आतंकित करने का प्रयत्न किया जाएगा और यदि चीन की मुख्य भूमि पर इन हवाई हमलों को करने में सफलता प्राप्त हुई तो चीन की मुख्य भूमि पर व्यवस्थित रूप से आक्रमण निश्चित रूप से होगा और इन योजनाओं में अमेरिका की सफलता को देखते हुए अमरीका को अन्य साम्यवाद की विरोधी शक्तियों का समर्थन प्राप्त हो जाएगा और यदि इसमें विशेष सफलता प्राप्त न हुई तो बम आदि से जो धन जन का नाश होगा वह या तो चीन की मुख्य भूमि पर हो या फ़ारमोसा में परन्तु इससे अमेरिका की जन-क्षति नहीं होगी। यह तो स्पष्ट ही है कि इस नीति का मुख्य उद्देश्य चीन की सैनिक शक्ति को विभाजित करके कोरिया में चीन की स्थिति को कमज़ोर बनाना है। इस प्रकार अमेरिका के नए प्रेज़िडेण्ट आइज़न होवर ने पूर्व में युद्ध के गत्यवरोध को समाप्त करने के लिए यह क़दम उठाया है। एटली, चर्चिल और अन्य ब्रिटिश राजनेता यह कह रहे हैं कि असली ख़तरा पूर्व में नहीं परन्तु यूरोप में है। यही कारण है कि अंग्रेज़ राजनीतिज्ञ अमेरिका की इस नई नीति से सन्तुष्ट नहीं है और वे चीन में इस प्रकार युद्ध के विस्तार का समर्थन नहीं करते। इस नई नीति का क्या परिणाम होगा इसे अभी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता परन्तु यह तो स्पष्ट ही है कि इससे विश्व में अशान्ति और युद्ध के विस्तृत होने की सम्भावना बढ़ गई है।

एशियाई सोशलिस्ट कान्फ्रेन्स

६ जनवरी, १९५३ को रंगून में एशिया और आफ्रिका की सोशलिस्ट पार्टियों के प्रतिनिधियों की कान्फ्रेन्स हुई। वे सब पूँजीवाद और कौमिनफार्म साम्यवाद के विरोधी थे क्योंकि पूँजीवाद से साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद का और कामिनफार्म साम्यवाद से आतंकवाद का जन्म होता है। उनकी सम्मति में एशिया के देशों में विस्तृत परिमाण पर औद्योगीकरण सम्भव नहीं है इसमें पर्याप्त समय लगेगा। इसलिए भूमि का इस प्रकार बट-वारा होना चाहिए कि किसान भूमि के मालिक बन जा अनाज के उत्पादन में वृद्धि कर सकें। छोटी मशीनों का प्रचलन होना चाहिए। इस कान्फ्रेन्स में इस बात का भी निर्णय हुआ कि "यूरोप की सोशलिस्ट इण्टरनैशनल से पृथक् होकर किस प्रकार एशिया की सोशलिस्ट पार्टियाँ मिल जुल कर कार्य करें।

THE PRUDENTIAL CO-OPERATIVE CENTRAL & URBAN BANK LTD.,

Kingsway, SECUNDERABAD-Dn.

★

BRANCH : **HYDERABAD.** PHONE NO. **7195**

TRANSACTS BANKING BUSINESS
OF EVERY DESCRIPTION.

Office Safety Facilities In Uptodate Underground
Safe Vaults.

●

A. H. VENKAT RAO B. A., LL. B.,
Honorary Secretary.

L. N. GUPTA, I. A. S
President.

तार का पता : हिन्दी टेलीफोन नं. ४४५०

हिन्दी, तेलुगु, मराठी और अंग्रेज़ी
की सब तरह की सुन्दर छपाई
के लिए हमेशा याद रखिये।

हिन्दी प्रेस

हैदराबाद राज्य हिन्दी प्रचार सभा
श्रीराम हिन्दी भवन
नामपल्ली • स्टेशन रोड • हैदराबाद-द.

హైదరాబాద్ రాజ్య
హిందీ ప్రచార సభ

తమరికి హిందీ, తెలుగు మఱియు ఇంగ్లీషు
భాషలలో తప్పులు లేకుండ అందమైన
అచ్చుపనులు కావాలంటే
తమ నగరములోనే

హిందీ ప్రెస్

కే దయచేయండి.

నాంపల్లి స్టేషన్ రోడు, హైదరాబాద్ (దక్షిణ.)
టెలిఫోన్ **౪౪౫౦** టెలిగ్రాం "**హిందీ**"

हिन्दी के उत्तमोत्तम

तथा उच्च

श्रेणी

के

सा

साहित्य

त्य

की

प्राप्ति के लिए एकमात्र

स्थान

हैदराबाद राज्य हिन्दी प्रचार सभा

श्रीराम हिन्दी भवन, हिन्दी मार्ग, नामपल्ली : हैदराबाद-द.

टेलीफोन नं. ५४५० ❀ तार—“हिन्दी”

प्रकाशक : —प्रियबन्धु, हिन्दी प्रेस, हैदराबाद राज्य हिन्दी प्रचार सभा, हैदराबाद-द.

अजन्ता

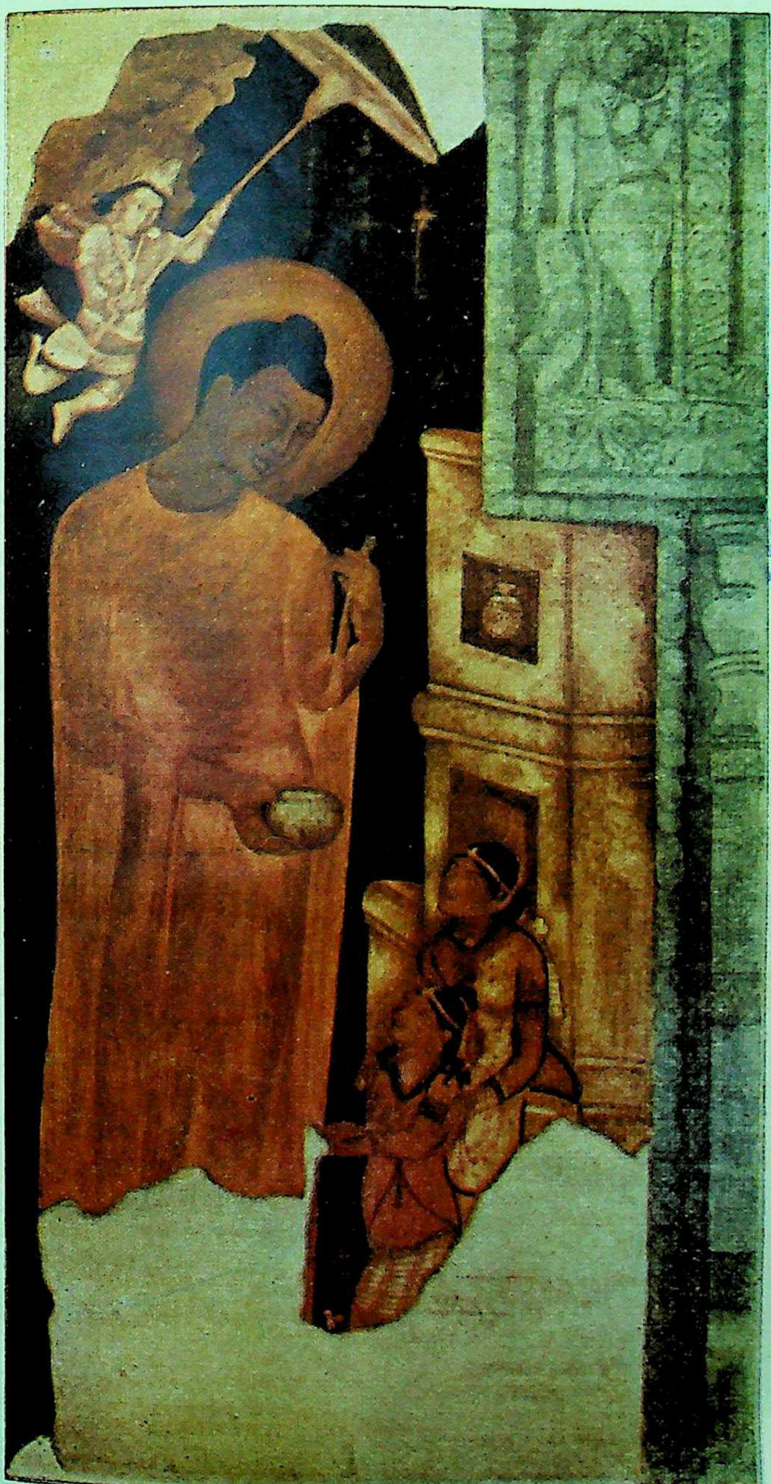

वर्ष ७ अप्रैल १९५३ अंक ४

हैदराबाद राज्य हिन्दी प्रचार सभा

राजस्थान, पंजाब, मध्यप्रदेश, हैदराबाद, मैसूर, त्रावणकोर और मद्रास राज्यों के
शिक्षा विभाग द्वारा स्वीकृत

इस अङ्क में

श्री बनारसीदास चतुर्वेदी
प्रो० के. शेषाद्रि
शचीरानी गुर्टू
डा० टीकमसिंह 'तोमर'
श्री ना. नागप्पा
श्री मंगलदेव शर्मा
श्री दुष्यन्त कुमार
शान्ति देवी
श्री मुरलीधर श्रीवास्तव
श्री नर्मदाप्रसाद खरे

* * *

अगले अङ्क में

प्रो० ओ. सी. गांगुली
डा० भगवतशरण उपाध्याय
लालजीराम शुक्ल
डा. हरिलाल जैन
अवनीन्द्र विद्यालङ्कार
श्री मैक्सिम गोर्की (प्रकाशचन्द्र चतुर्वेदी)
श्री शम्भुनाथ 'शेष'
श्री लक्ष्मीशङ्कर 'निशङ्क'
श्री रामनिवास जाजू
श्री मार्कण्डेय

"अजन्ता" का वार्षिक मूल्य :— ६) एक अङ्क का :— १)

आवश्यक सूचना:— नमूने की प्रति के लिए १ रु० म० ऑर्डर द्वारा भेजिए।

भल्ला फुट विअर

दो हज़ार तीन सौ वर्ष पहले चाणक्य के पैर में काँटा लगा तो उसने काँटे को जड़ से उखाड़ कर उसमें मट्ठा भर दिया जिससे कि वह फिर न अंकुरित हो सके। जूते आपके पैरों की रक्षा करते हैं। सौन्दर्य को बढ़ाते हैं। जूते कई प्रकार के होते हैं और हर मौसम के अलग अलग।

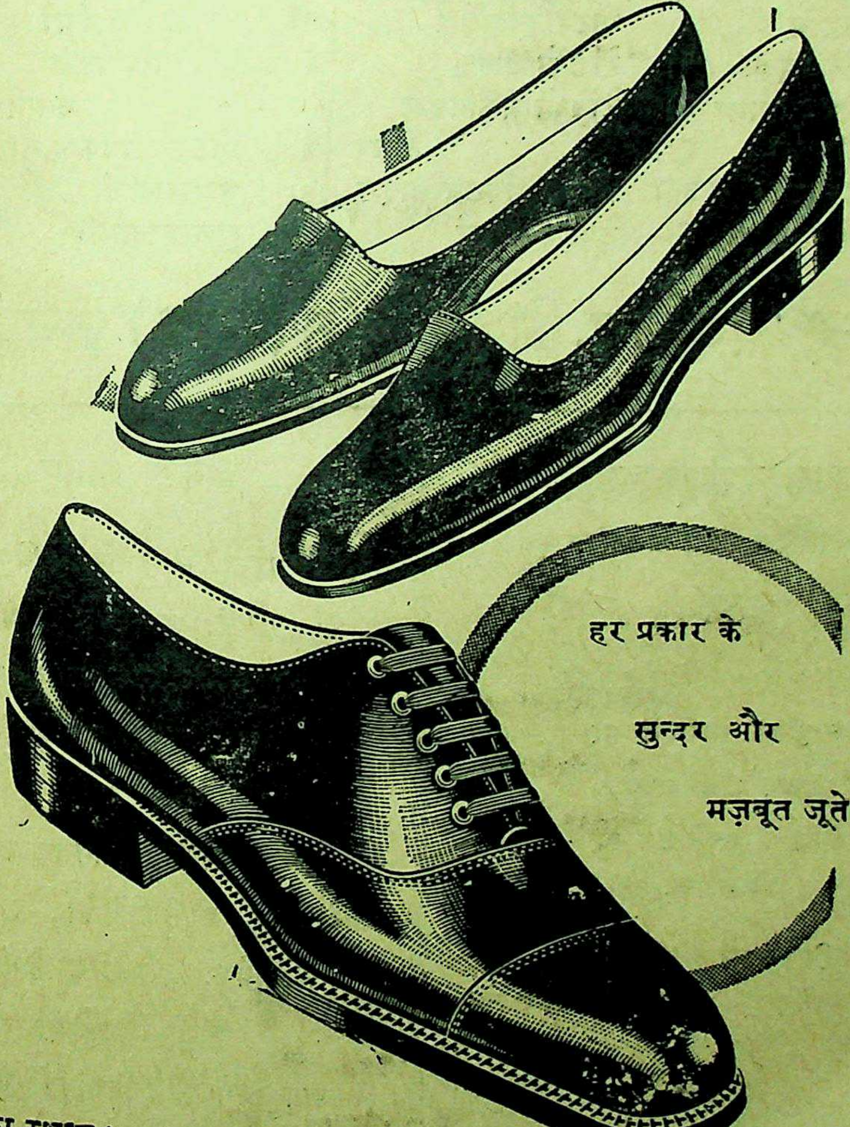
हर प्रकार के
सुन्दर और
मज़बूत जूते

खरीदने का स्थान :

भल्ला फुट विअर, आबिद रोड, हैदराबाद द.

गृह उद्योग की क्रियात्मक शिक्षा देनेवाली औद्योगिक

टकानिकल पुस्तकें

साबुन विज्ञान	२॥)	इलैक्ट्रिक गाइड	७)	बूट पालिश बनाना	३)
परफ्यूमेडिका	५)	फाउन्ड्री प्रेक्टिस	६)	दर्जी मास्टर	२॥)
मेडन्स फारमुला बुक	३)	आयल इंजन गाइड	६)	साईन बोर्डसाजी	३॥)
नवीन कला कौशल	४॥)	वर्कशाप गाईड	४)	शर्बत का व्यापार	१॥)
सत्य व्यापार भण्डार	२॥)	इलैक्ट्रिक वायरिंग	४)	केश तैल का व्यापार	१॥)
गृह उद्योग	३)	सायकल रिपेअरिंग	३)	स्याही का व्यापार	१॥)
यौरुप के हुनर व व्यापारी रहस्य	३)	मोटर ड्राइविंग	४॥)	अंग्रेजी मिठाईयाँ	३)
पेटंट औषधियाँ बनाना	३)	रेडिओ गाइड	६)	ड्राई सैल बैटरी बनाना	३)
सचित्र फोटोग्राफी	६॥)	रेडिओ मेकैनिकल टीचर	६)	मोटर सायकल गाईड	३)
सचित्र घड़ीसाजी	३॥)	फिल्म एक्टिङ्ग गाइड	५)	सुनारसाजी	१॥)
मोटर सिकेनिक टीचर	६)	ट्रैक्टर गाइड	६)	मुलम्मासाजी	३)

चन्द्र कार्यालय, जेजूसर, (नवलगढ़) जयपुर

मनोविज्ञान

काशी मनोविज्ञान शाला का मासिक पत्र

दर्शन और मनोविज्ञान की
आधुनिक प्रवृत्तियों पर
प्रकाश डालनेवाला
हिन्दी में अपने ढङ्ग का
अकेला पत्र

सम्पादक : लालजीराम शुक्ल
वार्षिक मूल्य : ४) रुपए ।

मिलने का पता :

व्यवस्थापक 'मनोविज्ञान'

६१/२५ सिद्धगिरि, बनारस

डॉक्टर बनिए

राष्ट्रभाषा हिन्दी में, होमिओपेथिक, डाक्टरी की पुस्तकें, दवाईयाँ, इन्जेक्शन, डाक्टरी औज़ार आदि का सूचीपत्र तथा घर बैठे कोर्स करके गवर्नमेन्ट रजिस्टर्ड, रिकगनाइज्ड व एडेड कालेजों से, होमिओपैथिक, बायोकेमिक, नेचरोपैथिक, इलैक्ट्रो-होमिओपैथिक

डिग्री डिप्लोमा

प्राप्त करने की नियमावली मुफ्त ।

पता : M. I. JEJUSAR
(Nawalgarh) JAIPUR

The Hyderabad Co-operative Dominion Bank Ltd.
[Estd. MARCH 1915]

Telephone : 4610
Telegram : DOMINBANK

(Apex Bank for the Co-operative Movement in the State)

Sub Offices :
PATHER GATTI,
UNIVERSITY BRANCH
(Adickmet)

Head Office :
SHAHRAH-E-OSMANI
HYDERABAD-DECCAN.

Branches :
JADCHARLA (Dt, Mahboobnagar) THUNGABHADRA PROJECT (Munirabad)

1. CURRENT ACCOUNTS are opened free of charge and interest is allowed at 1½% per annum.
2. SAVINGS DEPOSITS are accepted and interest is allowed at 2% per annum.
3. SPECIAL SAVINGS DEPOSITS are accepted and interest is allowed at 1½% per annum.
4. DRAFTS are issued on all important COMMERCIAL CENTERS and within the HYDERABAD STATE.
5. PENSIONS, MANSABS, etc, are collected on commission basis, premiums remitted & all standing instructions on behalf of the customers carried out.

SAFE DEPOSIT LOCKERS & VAULUTS are available at HEAD OFFICE.

BANKING BUSINESS OF EVERY DESCRIPTION TRANSACTED

Md. Ghulam Ghouse
M. A., B. SC., C. A. I. I. B.,
DEPUTY GENERAL MANAGER.

A. H. Venkat Rao.
B. A., L L. B.,
HONY. SUPERVISING DIRECTOR.

L. N. Gupta,
I. A. S.
PRESIDENT.

FIRE: ACCIDENT: MARINE:

THE HYDERABAD UNITED INSURANCE CO., LTD.,

SPONSORED BY

THE GOVT. OF HYDERABAD.

Post Box No. 164, Abid Road, HYDERABAD-Dn.

Telegram: ***HUICOL***
Telephone: ***5579***

Chairman:
L. N. GUPTA Esq. I. A. S.,

General Manager:
H. D. MEHTA Esq.

'HIND'
BRANCHES : Bombay, Calcutta, Madras, Nizamabad & Manchirial.

जीवन साहित्य

हिन्दी के उन मासिक पत्रों में से है जो

१. लोक रुचि को नीचे नहीं, ऊपर ले जाते हैं,
२. मानव को मानव से लड़ाते नहीं, मिलाते हैं,
३. सच्ची और स्थायी शान्ति को असंभव नहीं, संभव बनाते हैं,
४. आर्थिक लाभ के आगे झुकते नहीं, सेवा के कठोर पथ पर चलते हैं,

जीवन साहित्य की सात्विक सामग्री को छोटे बड़े, स्त्री-बच्चे सब निःसंकोच पढ़ सकते हैं। उसके विशेषांक तो एक से एक बढ़ कर होते हैं।

जीवन साहित्य विज्ञापन नहीं देता। केवल ग्राहकों के भरोसे चलता है। ऐसे पत्र के ग्राहक बनने का अर्थ होता है राष्ट्र की सेवा में योग देना।

वार्षिक शुल्क के ४) भेज कर ग्राहक बन जाइए।

ग्राहक बनने पर मण्डल की पुस्तकों पर
आपको कमीशन पाने की भी सुविधा हो जाएगी।

सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली

त्रैमासिक

||

आलोचना

के

दो विशेषांक

इतिहास विशेषांक-अक्तूबर १९५२

५) रु०

इतिहास शेषांक-जनवरी १९५३

३) रु०

विशेष रूप से संग्रहणीय हैं।

इन दोनों अंकों में प्रकाशित लेख हिन्दी साहित्य के आलोचनात्मक इतिहास का अद्वितीय आकलन बन गये हैं।

वार्षिक-१२)रु० : : एक एक प्रति-३) रु०

राजकमल प्रकाशन,
१, फ़ैज़ बाज़ार, दिल्ली

उत्तर पश्चिम और दक्षिण भारत का
एकमात्र हिन्दी दैनिक

हिन्दी मिलाप

जालन्धर और हैदराबाद से एक साथ प्रकाशित

समाचारों में सर्वाग्र विज्ञापन में सर्वोदयी
विचारों में निर्भीक नीति में निष्पक्ष

विज्ञापनदाताओं के लिए जनता तक
पहुँचने का यह सर्वोत्तम साधन है।
यदि आप अभी तक इसके ग्राहक
नहीं बने तो शीघ्र ही बन जाइए।

प्रबन्धक : **दैनिक हिन्दी मिलाप**
मुकर्रमजाही रोड, हैदराबाद-द.

सम्पदा

उद्योग, व्यापार तथा अर्थशास्त्र की हिन्दी में
एकमात्र उत्कृष्ट पत्रिका

अर्थशास्त्र के विद्यार्थियों, राजनीतिज्ञों, देश के शासकों, विधान-सभा सदस्यों, और उद्योगपतियों व व्यापारियों के लिए सम्पदा एक समान उपयोगी पत्रिका है।

देश की महान पंचवर्षीय योजना का
विवेचन तथा परिचय पढ़ने के लिए
सम्पदा का **योजना अंक** मंगाइए।

विविध अंक सूचियों, ग्राफों तथा मानचित्रों से पूर्ण यह विशेषाङ्क भारतीय भाषाओं के पत्रों में अद्वितीय है।

विशेषाङ्क का मूल्य १) रु.
वार्षिक मूल्य ८) रु.

नमूने की कापी ।।।· के टिकट भेजकर मंगाइए।

मैनेजर **'सम्पदा'** अशोक प्रकाशन मन्दिर,
रोशनारा रोड, दिल्ली.

'अजन्ता'

के

पाठकों से निवेदन

हिन्दी पुस्तकों और पत्र पत्रिकाओं

को

खरीद कर पढ़ने की आदत

डालिए

* राहुल सांकृत्यायन
* शिवपूजन सहाय
* चन्द्रबली पांडे
* सत्यकाम विद्यालंकार
* बाबूराव विष्णु पराड़कर
* गोविन्दप्रसाद केजरीवाल

इस अंक का सम्पादन :
सर्वश्री जगदीशमित्तल,
दिनकर कौशिक तथा
के. एम. कुलकर्णी
कर रहे हैं।

कल्पना

के

कला अंक की योजना

विशेषांक का मूल्य रु० ५) होगा। मार्च तक रु० १२) भेज कर ग्राहक बननेवालों को विशेषांक के लिए अतिरिक्त मूल्य नहीं देना पड़ेगा।

कला अंक के सम्पादन और प्रकाशन को शत प्रतिशत सफल बनाने के लिए कला-जगत् के प्रख्यात व्यक्तियों की एक सलाहकार समिति बनाई गई है।

सहकार समिति के सदस्य

१ डाक्टर स्टेला क्रैमरिश
२ डाक्टर हरमन ग्वेत्स
३ डाक्टर वासुदेव शरण अग्रवाल
४ डाक्टर मुल्कराज आनन्द
५ श्री अजित घोष
६ श्री जी. वेंकटाचलम
७ श्री कार्ल जे. खण्डेलवाल
८ श्री पृथ्वीश नियोगी
९ श्री विनोदबिहारी मुखर्जी

इस अंक का प्रसार राष्ट्र के कोने कोने में ही नहीं, विदेशों के प्रमुख केन्द्रों में भी करने की योजना है। "कल्पना" के माध्यम से विज्ञापनदाता अपनी विज्ञाप्य वस्तुओं का प्रचार देश विदेश में कर सकते हैं।

विशेष विवरण के लिए लिखिए :

व्यवस्थापक 'कल्पना' ८३१, बेगम बाज़ार, हैदराबाद दक्षिण

पश्चिमोत्तर भारत की प्रमुख हिन्दी मासिक पत्रिका

विश्वज्योति

सम्पादक-(१) **श्री विश्वबन्धु शास्त्री**, M. A., M. O. L. (पं) O. d' A. (फ्राँ.) Kt. C. T. (इट.)
(२) **श्री सन्तराम**, बी. ए.

संचालक-**श्री विश्वेश्वरानन्द**, वैदिक संस्थान, साधु आश्रम, होश्यारपुर.

गत मार्च से प्रारम्भ होकर अल्प काल में ही इस पत्रिका ने अपनी विशेषताओं के कारण हिन्दी-जगत् में अपना विशिष्ट स्थान बना लिया है।

विश्व हित की साधना के लिए :—

(क) शुद्ध सांस्कृतिक साहित्य का सृजन, (ख) प्राचीन और नवीन ज्ञान-विज्ञान का समन्वय, (ग) बौद्धिक क्रांति और नई चेतना का जागरण, (घ) अन्याय-पूर्ण सामाजिक विषमताओं का दूरीकरण, (ङ) सभी प्रकार के विचारों का निष्पक्ष अध्ययन और आलोचन करना ही **विश्व ज्योति** का लक्ष्य है।

इसे तुरन्त मँगाइए और लाभ उठाइए। वार्षिक चन्दा— ८) रुपए

परन्तु १०) रुपए वार्षिक चन्दा देकर विश्वेश्वरानन्द वैदिक संस्थान के सदस्य बन जाने पर भेंट के रूप में मुफ्त।

पत्र व्यवहार का पता :—

व्यवस्थापक, विश्व ज्योति, साधु आश्रम होश्यारपुर, (पंजाब)

INFANTONE

बच्चों के सब प्रकार के पेट के रोगों पर सर्व परीक्षित लाभदायक औषधि

Keeps baby cheerful

हैदराबाद केमिकल एँड फारमास्युटिकल वर्क्स लि०
आज़माबाद, हैदराबाद (दक्षिण)

अजन्ता

सचित्र मासिक पत्रिका

वर्ष ५ अप्रैल १९५२ अङ्क ४

सम्पादक

वंशीधर विद्यालंकार
श्रीराम शर्मा

—: संचालक :—

हैदराबाद राज्य हिन्दी प्रचार सभा

अनुक्रमणिका

पृष्ठ संख्या

१ प्यार का परिचय
मुरलीधर श्रीवास्तव 'शेखर' १
२ गीत
नीरज ३
३ इन्सान है वह !
दुष्यन्तकुमार ५
४ खोजती भगवान्
शान्ति मेहरोत्रा एम. ए. ६
५ आज
श्रीकृष्ण चैतन्य भट्ट 'राकेश' ७
६ गीत
नर्मदाप्रसाद खरे ८
७ दीनबन्धु सी. एफ. एण्ड्रूज के संस्मरण
बनारसीदास चतुर्वेदी ६
८ बर्ट्रेण्ड रसेल
के. शेषाद्रि १२
९ तेलुगु कहावतें
राममूर्ति "रेणु" १५
१० बौद्ध कला और स्थापत्य
ओ. सी. गांगुली १६
११ फ्रान्स की चित्रकला
शचीरानी गुर्टू १८
१२ यह तब का चीन है
भगवतशरण उपाध्याय २४
१३ व्रज की उपासना पद्धति में व्रजरज
व्रजभूषण मिश्र एम. ए.; बी. टी. २६

पृष्ठ संख्या

१४ विष्णुधर्मोत्तर पुराणगत रस-चर्चा
आनन्दप्रकाश दीक्षित एम. ए. ३४
१५ हिन्दी वीर काव्यों में शृङ्गार रस वर्णन
डा. टीकमसिंह 'तोमर' एम. ए.; डी. फिल्. ३६
१६ आधुनिक हिन्दी कविता में प्रकृति
हरिकृष्ण पुरोहित ४३
१७ तमसो मा ज्योतिर्गमय
मङ्गलदेव शर्मा ४७
१८ श्रवण बेळगोळ तीर्थ
ना. नागप्पा एम. ए. ५१
१९ ज्वाला और ज्योति (एकांकी)
डा. सुधीन्द्र एम. ए.; पी एच. डी. ५४
२० चिट्ठी-पत्री ६५
[१] हनुमच्छास्त्री 'अयाचित'
[२] रामगोपाल शुक्ल
[३] देवशर्मा
[४] भवानीप्रसाद मिश्र
२१ नीरक्षीर ६७
[१] वंशीधर विद्यालङ्कार
[२] हरिकृष्ण पुरोहित
२२ सामयिक ७३
[१] अंग्रेज़ी भाषा की बनावट, उन्नति और विकास
[२] इंग्लैण्ड में युद्धोत्तर थिएटर
२३ सम्पादकीय
वंशीधर विद्यालंकर ७८

चित्र—नवोढा (शृंगार मंजरी) पुरातत्व विभाग, हैदराबाद के सौजन्य से

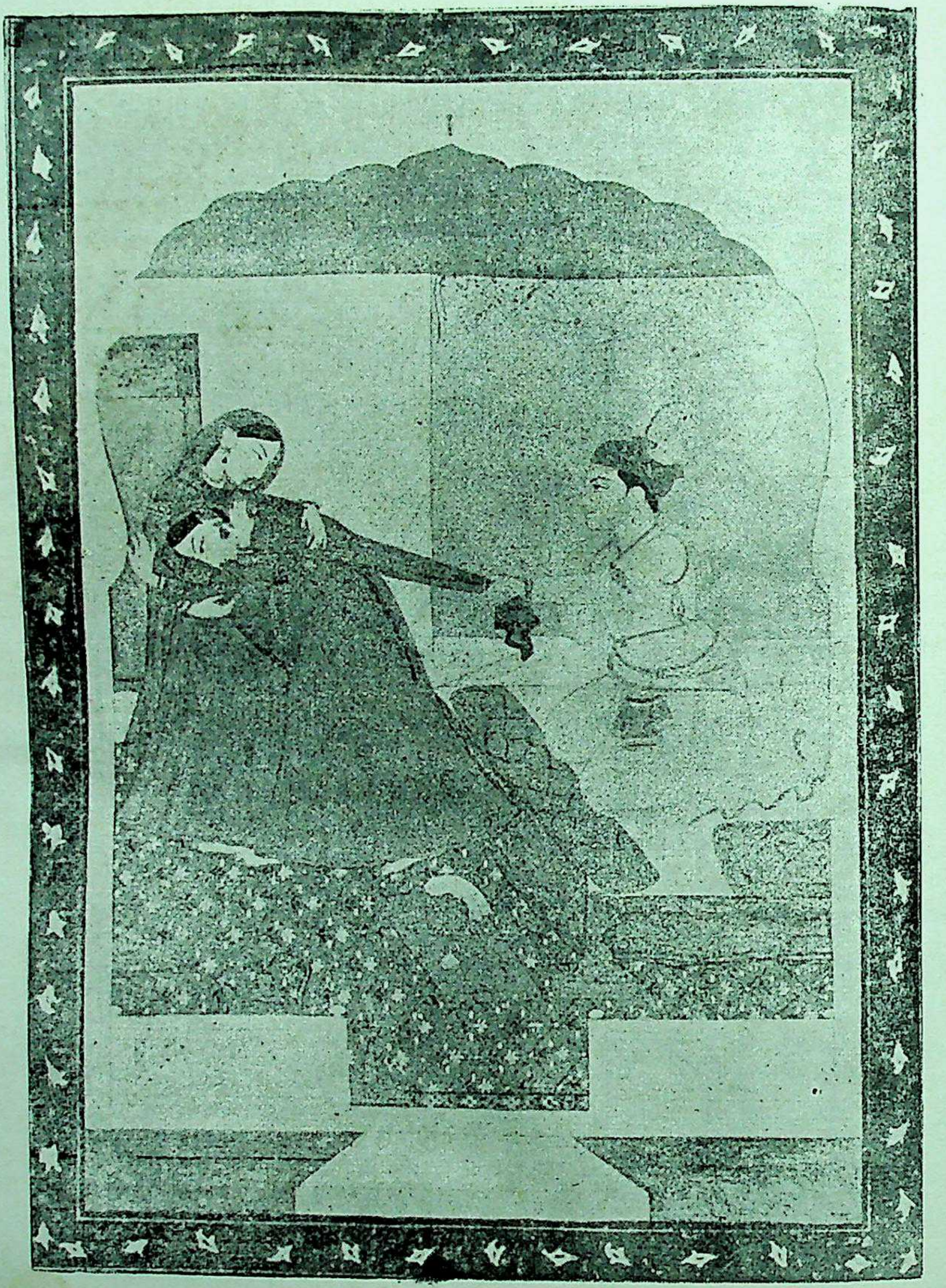

नवोढा
(शृंगारमंजरी)

पुरातत्व विभाग हैदराबाद
के सौजन्य से

अजन्ता

वर्ष ५ | अप्रैल १९५३ | अङ्क ४

प्यार का परिचय

कमल खिलता सरोवर में
कि जब मकरन्द भरता है
उसी मधुकोष हित व्याकुल
मधुप गुंजार करता है
इसी को क्या सजन ! इस जिन्दगी में प्यार कहते हैं !

तड़पती दामिनी क्यों व्योम में
घन-अंक में रह कर
उसी का प्रेम अंबर में
चमक उठता सजन पल भर
उसी के क्या तड़पने को जगत् में प्यार कहते हैं !

कुमुद खिलता नभःसर में
कुमुदिनी खिल रही सर में
न जाने कौन भर देता
प्रणय-रस युगल अन्तर में ?
इसी सम्बन्ध के प्रतिदान को क्या प्यार कहते हैं !

द्रवित जब स्रोत होता है
उमड़ता है अचल गल कर
कि निर्झर नीर के मिस जब
पिघलता अद्रि का अन्तर
उसी पिघली हुई हिम धार को क्या प्यार कहते हैं !

कुसुम जब गिर पड़ा रज में
विटप का ले सकल वैभव
समर्पण मूक फूलों का
कि मिट्टी में पतन नीरव
उसी नीरव समर्पण को सजन ! क्या प्यार कहते हैं !

हृदय की वेदना दृग में
उमड़ती वारि धारा बन
हमारे प्रेम का परिचय
तुम्हें देंगे नयन जलकन
बरुनियों में गुँथे इन मोतियों को प्यार कहते हैं !

राजेन्द्र कालेज,
छपरा

—मुरलीधर श्रीवास्तव 'शेखर'

गीत

(१)

एक बार यदि अपने मदिर मदिर अधरों से
छू लो मेरे तृषित अधर मदिरांगमयी तुम
सच कहता हूँ हँस हँस कर मैं जग भर का विष पी जाऊँगा।

मैं सोया था किसी कफ़न के नीचे थक कर
तुमने मुझे जगा, मुझमें संगीत जगाया,
कोई चिता छिपाए बैठी थी मेरा तन
तुमने मुझे चुरा मिट्टी के हाथ बिकाया,

अब जागी यह प्यास मुझे पी जाएगी जो
यह न बुझी है, यह न बुझेगी जी कर मर कर,
सौ सौ बार अमृत बरसा—पर यह अतृप्त है,
सौ सौ बार गरल पीकर भी यह जागृत, पर-

एक बार यदि अपने अरुण अरुण अधरों से
पी लो मेरी प्यासी प्यास अनंगमयी तुम,
सच कहता हूँ कोटि कोटि वरदान तृप्ति के ठुकराऊँगा।

(२)

मुझको चारों ओर खड़ी है मौत समेटे,
पल पल पर है समय सर्प सा फन फैलाए,
सिर पर घटी हुई पच्चीस वर्षों की लाशें,
युग-पैरों में नियति लौह जंजीर पिन्हाए,

इस पर भी तो बन्द जबाँ करने को मेरी,
लाखों ठेकेदार धरम के खड़े कमर कस,
अपने दुख में—रोना दूर—न गा सकता हूँ
मैं कितना मजबूर यहाँ, कितना मैं बेबस,

एक बार पर अपनी नरम नरम बाँहों में,
बाँध मुझे लो क्षण भर यदि निर्बन्धमयी तुम!
सच कहता हूँ मैं अपनी क्या—युग की मुक्ति बुला लाऊँगा।

(३)

मैं दुनिया भर में भूला भटका भरमाया,
पर न मिला कोई जो दुर्बलता दुलराता,
शूल हँसा कर फूल रुला कर गए हज़ारों,
किन्तु न कोई ऐसा जो दुख-दर्द बँटाता,

अमरों की आरती उतारी, करी अर्चना
लेकिन गए दिवस न लौट कर फिर ढिंग आए,
जाकर बसा गगन की चन्द्र-घाटियों में भी
किन्तु आँख के अश्रु कहीं भी सूख न पाए

एक बार पर अपनी नमित नमित पलकों में
मेरे अश्रु सुला लो यदि नीरांगमयी तुम
सच कहता हूँ मैं अमरों के कर से अमृत छिना लाऊँगा ।

(४)

अपने दुख का गीत लिखा मैंने जब रोकर
सुखी जगत ने हँस कर खूब मज़ाक उड़ाया,
सुख का गीत रचा जब अपना दर्द दबा कर
निर्दय आलोचक ने क़लम–कुठार चलाया,

सोच रहा अब एक गीत ऐसा गाना मैं
जिसको सब जग, सब युग-काल रहें दुहराते,
इससे पकड़ा है जीवन का अञ्चल लेकिन,
सब युगवाले शब्द नहीं मुझको मिल पाते,

एक बार पर सजल सजल करुणा-कज्जल निज
मेरी स्याही में घोलो शब्दांगमयी तुम,
सौ सौ जीवन-गीत मरण की छाती पर मैं लिख आऊँगा !

एक बार यदि अपने मदिर मदिर अधरों से
छू लो मेरे तृषित अधर मदिरांगमयी तुम
सच कहता हूँ हँस हँस कर मैं जग भर का विष पी जाऊँगा ।

नेहरू नगर,
कानपुर ।

—नीरज

इन्सान है वह !

जो व्यथा का भार लेकर मुस्कराए, गान है वह ।

दीप जलते हैं किसी के प्यार का बलिदान लेकर,
पंथ पर चलते पथिक मन में मिलन का गान लेकर,
जिन्दगी का कारवाँ यों चल रहा चलता रहेगा
जो अकेला वेदनाओं में जगे अरमान है वह !

जो व्यथा का भार लेकर मुस्कराए गान है वह !

डूब जाए नाँव यदि मँझधार में पतवार क्या है !
जो न हँस हँस चल सके अंगार पर वह प्यार क्या है,
मौत सीने से लगा कर जो हँसे वह जिन्दगानी
फूँक दे श्मशान में भी प्राण जो वरदान है वह !

जो व्यथा का भार लेकर मुस्कराए गान है वह !

बाँह में भर कर बुढ़ापा झूमती आती जवानी
हार होती जिन्दगी में जीत की होने कहानी,
औ' मिलन का स्वर विरह की बाँसुरी पर गीत गाता
नाश में निर्माण लेकर जो चले तूफ़ान है वह !

जो व्यथा का भार लेकर मुस्कराए गान है वह !

सिन्धु को देते चुनौती मूक आँसू के विसर्जन
और आहों से कहीं कम हैं प्रलय के भी प्रभंजन
ताप इनका सह न पाते पत्थरों के भी कलेजे
जो न आँसू और आहों से झुके इंसान है वह !

जो व्यथा का भार लेकर मुस्कराए गान है वह !

११ कानपुर रोड,
प्रयाग

—दुष्यन्तकुमार

खोजती भगवान्

मैं किसी के पुण्य पग में खोजती भगवान् !

मैं किसी की मूर्ति में ही मान निर्गुण तत्व
मैं किसी की दृष्टि में ही मान कर अमरत्व
प्राप्त कर लेती स्वयं ही स्नेह का शुचि दान !
मैं किसी के पुण्य पग में खोजती भगवान् !

कल्पना से मैं भरा करती किसी में शक्ति
बन्धनों को मैं समझती ही रही उन्मुक्ति
मैं विसर्जन को समझती हूँ अमिट निर्माण !
मैं किसी के पुण्य पग में खोजती भगवान् !

अब न जग को दूर जाते देख मुझको शोक
सोचती हूँ मिल रहा अब साधना का लोक
शिथिल पद को पन्थ पर करती पुनः गतिवान !
मैं किसी के पुण्य पग में खोजती भगवान् ।

मोतीलाल नेहरू रोड,
इलाहाबाद

—शान्ति मेहरोत्रा
एम. ए.

१९५३

आज

आज श्वासों की परिधि को पार करके
स्नेह का सागर बिखरता जा रहा है

तोड़ सीमा सान्त्वना की प्रलयगति से
बह चले मचले युगों के दबे निर्झर
सामने पाकर अन्धेरा ही अन्धेरा
हिचकियों ने किए मुखरित कण्ठ के स्वर

स्वप्ननिधियाँ रौंद अपने चरण तल से
चल रहा जो काल को भुज में समेटे
शून्य शत शत शाप से निर्दग्ध जर्जर
विश्व का क्षण क्षण अखरता जा रहा है

जानता हूँ शेष जीवन भग्न नौका
जलधि में कब तक थपेड़ों के सहारे
जानता हूँ चाँद तुम, मैं दूर भू पर
किन्तु फिर भी जी रहा चुन चुन अंगारे

मधु लुटा कर दो दृगों की प्यालियों से
अंक में सौन्दर्य का सावन छिपाए
तुम हँसो चुपचाप मैं रोऊँ निरन्तर
दर्द अब इतना उभरता जा रहा है

भूल सब कुछ आज अपनी आँख मूँदे
जल रहा हूँ क्योंकि जलना ही पड़ेगा
दूर हो मंजिल फफोले पैर में हों
पर पथिक को मार्ग चलना ही पड़ेगा

वेदना से विकल मुरझाए हुए से
प्राण की संदीप्त ज्वाला बीच तप तप
कौन मेरे अश्रु से अभिषिक्त होकर
हृदय में पल पल निखरता जा रहा है ?

किशोरीरमण कालेज,
मथुरा

—श्रीकृष्ण चैतन्य भट्ट "राकेश"

गीत

अरे, गीत गाओ।
गगन से धरा तक बही ज्योति-गंगा
नहाओ, नहाओ ।।

पवन ने कली को सदा गुदगुदाया,
कली ने पवन को न अपना बनाया,
कली झर गई, पर पवन झूमता है;
धरा चूमता है, गगन चूमता है,
पवन-प्राण ले कर लड़ो आँधियों से
सदा मुसकराओ ।।

शलभ प्राण देने प्रति क्षण मचलता,
मगर क्या दिए प्राण भी प्यार मिलता ?
जलन-ज्वाल पर प्यार पलता रहा है,
शलभ मर मिटा, दीप जलता रहा है,
शलभ-प्राण ले कर बढ़ो प्रेम-पथ पर
न आँसू बहाओ ।।

लहर ने पुलिन से न ममता बढ़ाई,
कभी भूल कर भी न अंजलि चढ़ाई,
प्रलय-ज्वार में भी पुलिन ने पुकारा,
सहारा दिया और हँस कर दुलारा,
पुलिन-प्राण ले कर सहो प्रेम-पीड़ा
न मन में लजाओ ।।

अरे, प्यार के हेतु जीवन मिला है,
अकिंचन मनुज को हृदय-धन मिला है,
सदा प्रेम बाँटो, सदा रस उलीचो,
नयन-वारि से प्रेम का मार्ग सींचो,
अरे, प्रेम-गंगा जगत् में बहाओ,
स्वयं प्रीति पाओ ।।

—नर्मदाप्रसाद खरे

दीनबन्धु सी. एफ. एण्डूज के संस्मरण

दीनबन्धु सी. एफ. एण्डूज के दर्शन मैंने पहली बार मई सन् १९१८ में गुरुदेव श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर के जोड़ासांको वाले मकान पर कलकत्ते में किए थे। वैसे पत्र व्यवहार सन् १९१५ से ही होता रहा था, और अन्तिम दर्शन १९३९ में शान्ति निकेतन में हुए। इन इक्कीस वर्षों में उनसे बातचीत करने के सैकड़ों ही मौके मुझे मिले। अपनी जिन्दगी के सर्वोत्तम दिन मैं उन्हें मानता हूँ जब सन् १९२०-२१ में लगातार चौदह महीनों तक प्रवासी भारतीयों के कार्य में उनके सहायक की हैसियत से शान्ति निकेतन में रहने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ था।

दीनबन्धु एण्डूज का सब से बड़ा गुण उनकी स्वाभाविक सहृदयता थी, मानव जाति के लिए उनका प्रेम था। यह प्रेम किसी मुल्क या मज़हब की हद से सीमित नहीं था और बिना किसी भेदभाव के वे गरीब अमीर, राजा रंक, हिन्दु मुसलमान, भारतीय या अफ्रीकन सभी से मुहब्बत कर सकते थे। उनका यह प्रेम ही उन्हें इस मुल्क के एक हिस्से से दूसरे हिस्से तक के लम्बे सफ़र करने के लिए मजबूर करता था और इसी की वजह से वे विदेशों की यात्रा किया करते थे। अपने एक अंग्रेजी पत्र में महात्मा जी ने लिखा था :

"आज तो दिन भर हर क्षण तुम्हारी याद आती रही। कितना अद्भुत है तुम्हारा प्रेम।"

शर्तबन्दी की गुलामी को बन्द कराने का यश खासतौर पर मि. एण्डूज को ही मिलना चाहिए, यद्यपि महात्मा गांधी, राजर्षि गोखले, महामना मालवीय जी और पंडित तोताराम सनाढ्य ने भी उसके लिए बहुत प्रयत्न किया था। अस्सी वर्ष से यह गुलामी की प्रथा जारी थी जिसके मुताबिक सौ आदमी पीछे तीस औरतें बहका बहका कर मारीशस, ब्रिटिश गायना, ट्रिनीडाड आदि टापुओं को भेज दी जाती थीं और वहाँ उन उपनिवेशों में उन्हें तरह तरह की तकलीफ़ें भुगतनी पड़ती थीं। उनमें कितने ही स्त्री पुरुष आत्मघात कर लेते थे। भारत माता के सिर से इस कलंक को धो डालने का पवित्र काम मुख्यतया दीनबन्धु ने ही किया था।

दक्षिण आफ्रिका में जब महात्मा जी का सत्याग्रह संग्राम चल रहा था, उस वक्त सन् १९१३ में मि. गोखले के आदेश से और गुरुदेव का आशीर्वाद लेकर दीनबन्धु वहाँ गए थे और जनरल स्मट्स से समझौता कराने में उन्होंने बहुत मदद दी थी।

गुरुदेव, शान्ति निकेतन और विश्वभारती की जो महान् सेवा उन्होंने की उसके लिए तो अलग ही भाषण दिया जा सकता है। गुरुदेव के विषय में बीसियों ही लेख उन्होंने लिखे थे और अनेकों व्याख्यान भी।

शान्ति निकेतन में सवेरे चार बजे से रात के दस बजे तक खपते हुए मैंने उन्हें देखा था। उन दिनों बिजली नहीं लगी थी। लालटेन से वे अपना काम शुरु करते थे और सूर्योदय के पूर्व ही टहलने निकल जाते थे। कई बार उस प्रातःकालीन भ्रमण के समय उनके साथ बातचीत करने का मौका मुझे मिला था। निस्सन्देह वही उनका सर्वोत्तम समय था और उस वक्त उनका वार्तालाप अत्यन्त प्रेरणाप्रद और स्फूर्तिमय होता था।

शान्ति निकेतन के छोटे छोटे बच्चे उनसे बहुत प्रेम करते थे और बिना किसी संकोच के विलायती टिकट लेने के लिए उनके पास आया करते थे। उनकी छोटी-सी कुटी "वेणुकुंज" का दरवाज़ा सबके लिए खुला था और चाहे जो बे रोकटोक वहाँ घुस सकता था। एक दिन एक पागल भिखारी घुस आया। न वह मि० एण्डूज की बात समझ सकता था और न मि० ऐण्डूज उसकी बात समझ पाते थे। थोड़ी देर में देखता क्या हूँ कि मि० ऐण्डूज ने उसे अपनी छाती से लगा लिया है और दोनों की आँखों में आँसू छलक आए हैं। मैंने दीनबन्धु से कहा "यह आदमी तो पागल मालूम होता है।" वे बोले : "हाँ है तो कुछ ऐसा ही, पर यह बहुत गरीब है। इसके कपड़े नहीं देखते ? और वह भूखा भी होगा।" मि० ऐण्डूज अपने दरवाजे से किसी को दुरदुराते नहीं थे। मटियाबुर्ज कलकत्ते से प्रवासी भारतीय बिना टिकट रेल द्वारा चले आते थे और रात को मि० ऐण्डूज को जगा दिया करते थे। उस समय

उनके भोजन तथा सोने का प्रबन्ध उन्हें करना पड़ता था और दूसरे दिन टिकट के लिए दाम भी देने पड़ते थे।

मि० ऐराड्रूज़ न 'वेणुकुञ्ज' में कभी ताला लगाते थे और न अपने सन्दूक में। रुपया पैसा, नोट, कागज़ पत्र पेन्सिल फ़ाउराटेन पैन और चश्मा वगैरह सब बेतरतीब उनकी मेज़ पर पड़े रहते थे। पर आश्चर्य की बात यह है कि उनकी कोई चीज कभी चोरी नहीं गई। हाँ उस गड़बड़ी में उनका चश्मा अक्सर खो जाया करता था। एक बार जब महात्मा जी शान्ति निकेतन में पधारे थे मि० ऐराड्रूज़ का चश्मा अपनी पुरानी आदत के मुताबिक खो गया। वे घबराए हुए महात्मा जी के पास पहुँचे और कहा: "मेरा चश्मा खो गया है!" महात्मा जी ने चश्मे का एक घर देते हुए उनसे कहा "देखिए, इसमें तो नहीं है?" मि० ऐराड्रूज़ ने उसे लगाया पर वह उनका चश्मा नहीं था। सब लोग हँसने लगे। फिर पूज्य कस्तूर बा ने एक चश्मा दिया और कहा: "देखिए, यह तो नहीं?" उसे भी मि० ऐराड्रूज़ ने लगाया पर वह भी किसी दूसरे का निकला। फिर हँसी हुई। वहाँ चश्मे का एक घर और भी पड़ा था। वह उन्हें दिया गया। वह शायद ठीक लग गया पर उसके भीतर एक तार था जो मौलाना शौक़त अली के नाम का था। दर असल वह चश्मा मौलाना साहब का ही था। फिर खूब हँसी हुई। मि० ऐराड्रूज़ झुँझला कर बोले: "मेरा तो चश्मा खो गया है और आप लोग हँस रहे हैं।" महात्मा जी ने कहा "चश्मा आपका खोया है, हमारा थोड़े ही खोया है! हम लोग क्यों न हँसें?"

मि० ऐराड्रूज़ बड़े भुलक्कड़ आदमी थे। किसी की चीज किसी दूसरे को दे आना उनके लिए बहुत मामूली बात थी। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ कहा करते थे: "अगर आपको कोई चीज़ खोनी हो तो उसे आप ऐराड्रूज़ को उधार दे सकते हैं।"

मि० ऐराड्रूज़ बेहद मेहनती आदमी थे। दो पहर के वक़्त भी वे आराम नहीं करते थे। अपने लेख की पाँच पाँच प्रतियाँ करना उनके लिए कोई मुश्किल बात न थी। न उनके पास कोई टाइप राइटर था, न टाइपिस्ट। जब डाक का वक़्त होता तो आप उन्हें 'वेणुकु से पोस्ट आफ़िस की तरफ़ लम्बी डगें भरते हुए दे सकते थे। बीसियों कार्ड, कई लिफ़ाफ़े, दो तीन पै और चार पाँच तार भी...ये उनकी बगल में दबे रह थे। उनके पोस्टेज़ का हिसाब भी ग़रीब पोस्ट मास् को ही रखना पड़ता था। कभी कभी ऐसा भी होता कि मि० ऐराड्रूज़ के पास पोस्टेज़ के लिए भी पैसा रहता था। तब पोस्ट मास्टर साहब दया करके अ पास से ही टिकट लगा दिया करते थे। पैसा आने वे चुका देते थे।

दिन भर काम करते करते थक जाना उन नित्य का नियम था और अक्सर रात को दस बजे कहते थे: "आज तो हम लोगों ने खूब काम किया।"

एक बार मि० ऐराड्रूज़ पैदल ही अपर सर्कु रोड तक मेरे आफ़िस में पहुँचे। मैंने कहा: "आ टैक्सी क्यों नहीं कर ली?" बहुत भोलेपन के सा उन्होंने जवाब दिया: "इतना पैसा मेरे पास कहाँ र है? और रास्ते में अपने ग़रीब भाइयों की हालत देखता आता हूँ।"

एक बार उन्होंने पत्रों में चिट्ठी छपाई कि सर्द मौसम में छोटे छोटे बच्चों को बिल्कुल नंग धडंग स के बीच नालियाँ साफ़ कराने के लिए जो घुसाया जा है वह अमानुषिक है। मैंने उन्हें इस पत्र पर बधाई और कहा: "आप प्रत्येक बात को बड़े ध्यान से दे हैं।" उन्होंने उत्तर दिया: "अगर मैं मोटर में बैठूं इन चीज़ों को कैसे देख पाऊँ?"

एक बार इराटर क्लास में रेल की यात्रा क हुए वे अपनी पूज्य माता का ज़िक्र करते हुए बोले:

"मेरी माता पानी मिला हुआ दूध देती थीं उ पीने में जो आनन्द आता था वह फिर कभी मिला।" मैं पूछ बैठा: "वे पानी मिला हुआ दूध देती थीं?" मि० ऐराड्रूज़ बोले: "हम लोग ग़ आदमी जो थे। तेरह चौदह भाई बहन थे। शुद्ध हमें कहाँ से मिलता?" मुझे अपने प्रश्न पर बड़ी ल आई!

यदि मि० ऐराड्रूज़ चाहते तो हज़ार डेढ ह रुपए महीने की नौकरी उन्हें चाहे जहाँ मिल सकती वे तो भारत के लार्ड विशप भी बन सकते थे। के

विश्वविद्यालय की उच्चातिउच्च परीक्षाएँ बड़े गौरव के साथ उन्होंने पास की थीं, पर उन्होंने रुपए पैसों की ओर कभी ध्यान ही नहीं दिया ।

मि० ऐण्ड्रूज़ अगर किसी से डरते थे तो अपने बुड्ढे रसोइए से जिसका नाम जौहरी था और जो मुसलमान था । जौहरी उन्हें कभी कभी प्रेमपूर्वक फटकार देता था : "साहब, तुम वक्त पर खाना क्यों नहीं खाते ?" अगर जौहरी उनके भोजन की ठीक ठीक व्यवस्था न रखता तो मि० ऐण्ड्रूज़ भूखे ही रह जाते । वह बच्चों की तरह उनकी देख भाल करता था ।

प्रारम्भ में कितनी कठिनाइयों के बीच उन्हें काम करना पड़ा । एक ओर तो उनके देशवासी अंग्रेज़ लोग उन पर सख़्त नाराज़ थे और भारत सरकार उनके पीछे ख़ुफ़िया पुलिस रखती थी और दूसरी ओर कितने ही भारतवासी भी उन पर अविश्वास करते थे । स्वयं शान्ति निकेतन में कितने ही आदमियों को यह भ्रम था कि मि० ऐण्ड्रूज़ ब्रिटिश सरकार के सी. आई. डी. हैं ।

मि० ऐण्ड्रूज़ स्वभाव के बड़े कोमल थे और इस तरह के निराधार आक्षेपों से उन्हें हार्दिक वेदना होती थी । जब नैरोबी के डेमोक्रेट नामक भारतीय पत्र ने उन्हें ख़ुफ़िया पुलिस का आदमी बतलाया था तो वे तिलमिला गए थे और बहुत ही दुःख पूर्ण पत्र उन्होंने लिखा था ।

महात्मा गान्धी ने शान्ति निकेतन वालों का भ्रम दूर किया था । एक हिन्दी पुस्तक की भूमिका में महात्मा जी ने तो यहाँ तक लिख दिया था कि मि० ऐण्ड्रूज़ से बढ़ कर विनम्र, सच्चा और उनसे अधिक भारत भक्त इस भूमि में कोई विद्यमान नहीं । फिर भी कुछ लोग शक करते ही रहे ।

इन तमाम गलतफ़हमियों के बावजूद मि० ऐण्ड्रूज़ ने बड़ी लगन के साथ छत्तीस वर्ष तक हमारे देश के ग़रीब आदमियों की सेवा की । कहीं अकाल पड़ा, तो वे दौड़े गए, कहीं बाढ़ आई तो वे वहाँ पहुँचे और कहीं हड़ताल हुई तो उसके फ़ैसले की कोशिश उन्होंने की । एक बार तो महात्मा जी के उपवास के दिनों में विलायत में उन्होंने बड़ी दौड़ धूप की थी और महात्मा जी की जीवन रक्षा की थी ।

महात्मा जी उन्हें अपने सगे छोटे भाई से भी ज़्यादा समझते थे । जब मि० ऐण्ड्रूज़ कलकत्ते में बीमार पड़े हुए थे महात्मा जी उनसे मिलने के लिए अस्पताल में गए । उस समय उन्होंने महात्मा जी से कहा था :

"मोहन, स्वराज आ रहा है और अंग्रेज़ तथा भारतीय मिल कर कोशिश करें तो वह आ सकता है ।" उसके सात वर्ष बाद स्वराज आ गया । कितने लोगों को इस बात का पता होगा कि पूर्ण स्वाधीनता की आवाज़ सबसे पहले दीनबन्धु ऐण्ड्रूज़ ने ही बुलन्द की थी । इस पर उन्होंने एक लेख माला ही लिखी थी । हमारे प्रधान मन्त्री श्री जवाहरलाल जी ने अपने आत्म चरित में कृतज्ञता पूर्वक इस बात को याद किया है ।

पर दीनबन्धु ऐण्ड्रूज़ के जीवन का मिशन भारत की स्वाधीनता से भी ऊँचा था । वह था भिन्न भिन्न जातियों के पारस्परिक भेद भाव को दूर करना और यह मिशन अभी बिलकुल अधूरा ही है । यदि आज वे जीवित होते तो आफ़्रिकन लोगों की स्वाधीनता के लिए उसी लगन से काम करते हुए नज़र आते । दीनबन्धु ऐण्ड्रूज़ दर असल विश्व नागरिक थे और विश्वबन्धुत्व के लिए प्रयत्न करके ही हम लोग उनके ऋण से उऋण हो सकते हैं ।

१२३, नार्थ अवैन्यू,
नई दिल्ली

—बनारसीदास चतुर्वेदी

आल इंडिया रेडियो, नई दिल्ली के सौजन्य से

बर्ट्रेण्ड रसेल

बर्ट्रेण्ड रसेल का नाम लेने पर सम-सामयिक साहित्य के पाठक का ध्यान सर्वप्रथम उनकी दो पुस्तकों—'सुख पर विजय' और 'विवाह और नीतिबन्धन' की ओर जाता है। ये पुस्तकें अत्यधिक लोकप्रिय और दिलचस्प हैं। इनको पढ़ने से एक प्रकार की रसानुभूति होती है और ये व्यवहारिक ज्ञान से परिपूर्ण हैं। विपरीत इसके, **दर्शन के विद्यार्थियों के बीच रसेल अपने मूल-भूत (Metaphisical) सिद्धान्त के कारण जिसे वे 'तटस्थ एकत्ववाद' (Neutral monism) की संज्ञा देते हैं, प्रसिद्ध हैं।** यह सिद्धान्त भाव-तत्व (Ontology) की दृष्टि से समस्त अनुभवगम्य पदार्थों को 'क्रियाओं' में परिणत करता है तथा एक ऐसे वस्तु-ज्ञान विषयक तर्क की स्थापना करता है जो गणित तर्क की प्रक्रिया पर आधारित है। सर्वप्रथम रसेल के गणित तर्क के सम्बन्ध में विचार किया जाए।

गणित तर्क रसेल की नई तर्क पद्धति है। इसे सापेक्षिक तर्क भी कहा जाता है क्योंकि इसका उपयोग शुद्ध 'रूपों' और 'सम्बन्धों' के क्षेत्र में किया जाता है तथा तार्किक सम्बन्धों के सम्पूर्ण क्षेत्र का अवगाहन कर इस पद्धति से स्पष्ट परिगणित प्रतीकों द्वारा उनकी सरलतम रूपों में अभिव्यंजना होती है। गणित तर्क वैज्ञानिक ज्ञान की प्राप्ति के लिए खुली खिड़कियाँ प्रदान करता है एवं नई दृष्टि देता है। वैज्ञानिक विचारों को वह अंध धारणाओं और विवादों से मुक्त कर तीव्र और सुस्पष्ट, निर्वैयक्तिक और शाश्वत सत्य के रूप में प्रतिष्ठित करता है। रसेल कहता है, "प्राचीन तर्क-शास्त्र विचारों को श्रृंखलाओं में बाँधता है वहाँ नव्य तर्क-शास्त्र उनके पंख लगा देता है।" नव्य तर्क पद्धति से सुस्पष्टता की आशा ही रसेल को उसे अपनाने के लिए प्रेरित करती है और वह अनुभूतियों के गुणावयवों के भेदपूर्ण विश्लेषण, अन्वीक्षणों के मूल स्रोत की खोज और उनके निर्माणकारी तत्वों के परीक्षण में लीन होता है।

रसेल जिस समस्या पर सर्वप्रथम गम्भीरतापूर्वक विचार करता है वह है **ऐंद्रयिक अनुभूति**। हम बाह्य जगत् का ज्ञान किस प्रकार प्राप्त करते हैं? बाह्य-जगत, जिसका प्रत्यक्ष (Immediate) अनुभव हमारे लिए असम्भव है तथा जिसका हम इन्द्रियों के माध्यम से परिचय प्राप्त करते हैं। ऐसा प्रतीत होता कि जब हम कहते हैं "मैं जानता हूँ" तो हम किसी रूप में उस भौतिक जगत् का निर्माण करते हैं जो वस्तुतः 'प्राप्त' है। जो कुछ 'प्राप्त' है वह जड़ पदार्थ का निजी स्वरूप नहीं अपि तु केवल विशिष्ट संवेदन-तथ्य (Sense data) हैं। संवेदन-तथ्यों से रसेल का तात्पर्य उस सम्पूर्ण अनुभव से है जो कि चेतना प्रवाह में बहिर्गत ज्ञान की भावना के साथ तत्काल उद्भूत होता है। संवेदन तथ्य 'प्राप्त' होते हैं और वे उस समय तक और उस सीमा तक स्थित रहते हैं जहाँ तक 'प्राप्य' हों। 'संवेदन तथ्य' और 'संवेदन-पदार्थ' (Sensibilia) में विभेद स्थापित करना आवश्यक है यद्यपि उनमें विभिन्नता इतनी ही है कि 'संवेदन-पदार्थ' हमारी चेतना या मन-तत्व को 'अ-प्राप्त' होते हैं। 'प्राप्त-ता' ही विभेद का मूल कारण है। 'संवेदन-पदार्थ' परिचित अथवा ज्ञेय बन कर संवेदन-तथ्य के रूप में परिणत हो जाते हैं। संवेदन पदार्थों को मन-तत्व जो योग प्रदान करता है वह ज्ञेयता है शेष भौतिक अथवा शारीरिक तत्व हैं। संवेदन-पदार्थ की कारणरूप स्थिति सम्भव नहीं है, यदि देह अर्थात् संवेदकीय-शिराएँ एवं मन-तत्व अनुपस्थित हों। परन्तु संवेदन-तथ्यों की स्थिति के लिए शरीर का मन-तत्व से सम्बन्धित होना अत्यन्त आवश्यक है। निश्चय ही रसेल की प्रारम्भिक स्थिति की यह बहुत सरल व्याख्या है, परन्तु इससे एक आधार प्राप्त हो जाता है। मन-तत्व और पदार्थ सम्बन्धी रसेल की धारणाएँ इतनी तरल हैं एवं वे ऐसे सार्वमूलक परिवर्त्तन प्रस्तुत करती हैं कि जब हम उसके उत्तरकालीन सिद्धान्तों से उसके प्रारम्भिक विचारों की तुलना करते हैं तो अनेक आकर्षक अनुमानों की श्रृंखला में आबद्ध-से हो जाते हैं। परन्तु उनमें एकसूत्रता है जो एक निश्चित स्थिति की ओर ले जाती है। यह स्थिति 'तटस्थ एकत्ववाद' है।

साधारणतया हमारी यह धारणा है कि हम वस्तु को यथार्थ मानते हैं तथा उसकी प्रतीतियों को अयथार्थ

समझते हैं। दार्शनिक रसेल का मत इसके विपरीत है। उनके अनुसार पदार्थ की वे केवल विभिन्न प्रतीतियाँ हैं जो कि यथार्थ हैं तथा पदार्थ का स्वयं कोई अस्तित्व नहीं होता। यह एक तार्किक 'निर्मिति' है अतः पदार्थ के विभिन्न पहलुओं और धारणाओं से निरपेक्ष है। इस निर्मिति से परे पदार्थ के लिए किसी तत्व या आश्रय (Substance or a substratum) की पूर्व कल्पना अनावश्यक है। यहाँ तक कि आकाश (Space) भी जिसमें पदार्थ की स्थिति विकल्पित होती है, ऐसी ही निर्मिति है। आकाश कभी 'एक' नहीं होता वरन् विभिन्न संवेदन हमें विभिन्न आकाशों का ज्ञान कराते हैं। इस प्रकार स्पर्श-आकाश, दृश्य-आकाश आदि का निर्माण होता है। इनके द्वारा 'एक' आकाश की स्थापना एक तार्किक निर्मिति है। वह अनुभूति का दातव्य (Datum) नहीं है वरन् प्राप्त पदार्थों की निर्मिति है। अनेक स्नायु-आकाश एक प्रत्यक्षजनित आकाश (Perceptual Space) को रूप देते हैं। यह भी एक विशेष आकाश है जो व्यक्ति विशेष के दृष्टिमार्ग (Perspective) या दृष्टिकोण पर आधारित रहता है। यह भौतिक आकाश या साधारण आकाश की परिकल्पना नहीं है। विशिष्ट आकाशों की संख्या उतनी ही अधिक होगी जितने अधिक दृष्टि-मार्ग और द्रष्टा होंगे। विशिष्ट आकाशों में फिर भी एकसूत्रता स्थापित की जा सकती है। सामान्य आकाश इसी एकसूत्रता को अभिव्यंजित करता है। वह अन्तर-दृश्य-आकाश है। वह सर्वग्राही, भौतिक और बहिर्निष्ठ है तथा एक तार्किक निर्मिति है। काल के सम्बन्ध में भी यही सत्य है। इस प्रकार समस्त अनुभवगम्य पदार्थ उस निर्माण-तत्व सहित जिससे वे ढाले जाते हैं, निर्मितियाँ या कल्पनाएँ हैं। फिर भी वे आन्तरिक सृष्टियाँ नहीं हैं क्योंकि उनमें बहिर्निष्ठ तत्व विद्यमान रहते हैं और वे पूर्णतया चैतन्य पर आधारित नहीं होतीं। रसेल उनके बीच की खाई पाटने के लिए उत्सुक हैं परन्तु दृश्य-जगत् और गणिती भौतिक संसार में एकरूपता स्थापित करने के लिए वह तत्पर नहीं होता। दृश्य-जगत् ऐन्द्रियिक अनुभूतियों के लिए वस्तु-तत्व प्रदान करता है। गणिती भौतिक निर्णय अनुमानों पर आधारित होते हैं।

किसी वस्तु के अन्वीक्षण के दो दृष्टिकोण होते हैं। प्रथम केन्द्र से अर्थात् वह स्थान जहाँ 'पदार्थ' की स्थिति है वहाँ से प्रवाहमान होने वाले विभिन्न दृष्टिकोणों और पहलुओं को हम एकत्रित कर सकते हैं। उससे क्षणिक भौतिक पदार्थ का ज्ञान होगा। अथवा आकाश-विशेष में किसी विशिष्ट बिन्दु पर स्थित 'समस्त पदार्थों' के सम्पूर्ण पहलुओं को एकत्रित किया जा सकता है। इससे एक विशिष्ट दृष्टि-मार्ग का बोध होगा। रसेल के अनुसार जड़ पदार्थ और दृष्टि-मार्ग दोनों ही निर्मितियाँ हैं परन्तु वे निरपेक्ष निर्माण-तत्व की निर्मितियाँ हैं। निरपेक्ष निर्माण-तत्व की परिकल्पना करके रसेल द्वैतवाद को मिटाने का प्रयत्न करता है। वह पदार्थ और मन-तत्व दोनों के विरुद्ध संघर्ष करता है और अनिवार्यतः बर्कले और ह्यूम का स्मरण दिलता है। वह ह्यूम के 'समूह' (Bundle) के सिद्धान्त—तार्किक अणुवाद को अपनाता है जिसके अनुसार 'जीव' (Self) प्रभावों और विचारों का संग्रह मात्र है। रसेल के मत में 'जीव' की परिकल्पना पूर्णतया अनावश्यक है। कर्त्ता 'अङ्कगणित के बिन्दु और निमिष की तरह तर्कना कल्पना मात्र है।' वह घटनाओं का समन्वय और भौतिक शारीरिक सत्य है। मन-तत्व और जीव 'प्राचीन मनोविज्ञान की ग़लत धारणाएँ हैं जैसे कि 'पदार्थ' शास्त्रीय भौतिक विज्ञान की भूल है।' चैतन्य पदार्थ की अयथार्थता सिद्ध करने के लिए रसेल प्रक्रियावादियों (Behaviourists) की युक्तियों के प्रति रुझान प्रगट करता है। ऐसा प्रतीत होता है कि 'घटनाओं' और 'क्रियाओं' को शाश्वत प्रमाणित करने की इच्छा से वह संवृत्तिवादी (Phenominalist) कहलाना भी अनुचित नहीं समझता। 'भौतिक' और 'मन-तत्व' के विभेद अयथार्थ हैं अतः ऐंद्रियिक संवेदन और संवेद्य पदार्थ स्वाभाविक 'घटना' मात्र हैं। उदाहरणतः हम जिस पदार्थ को 'नक्षत्र' कह कर पुकारते हैं वह व्योम में निरपेक्ष विशेषों (Particulars) का संग्रह है जो 'जिस स्थान पर' मैं हूँ उस स्थल से और मेरे स्नायु-मण्डल से सम्बन्धित है। रसेल का कथन है कि "प्रत्यक्ष (Percept) हमारे मन-तत्व में रहता है। प्रत्यक्ष मन-तत्व की वस्तु का—मेज, कुर्सी, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र के वस्तु-तत्व का नहीं—यथार्थ ज्ञान करता है। बाह्य पदार्थों के अस्तित्व के प्रति विश्वास जन्म के आरम्भिक महीनों की अर्जित प्रतिक्रिया है।" ये स्वयं रसेल के अभिमत हैं और इनसे यह बोध हुए बिना नहीं रह सकता कि जहाँ उसका गणिती-दर्शन 'अध्यात्मवाद के साथ झूठा प्रेम प्रदर्शन' करता है वहाँ उसके मन-तत्व

का सिद्धान्त "भौतिकवादी होने का भय उत्पन्न करता है।" हम रसेल को तथा उसकी नाव को मँझधार में पाते हैं—यद्यपि वह उस पर विश्वास करता है, पर आधे मन से—और वह नाव 'तटस्थ एकत्ववाद' की टूटी नाव है जो विलियम जेम्स की अनुकम्पा से उसे प्राप्त हुई है।

रसेल का 'तटस्थ एकत्ववाद' शुद्ध एकत्ववाद नहीं है। उन घटनाओं के रहते जो किसी अनुभव का अंश नहीं बनतीं, उन ज्ञात पहलुओं की उपस्थिति में जो अज्ञात पहलुओं से परे खड़े हैं और जिनकी भौतिकशास्त्र के प्रकाशकीय प्रवाह (Etheric radiations) से एकरूपता स्थापित की जाती है तथा ऐंद्रियिक संवेदनों की सापेक्षिता की समस्या के सुलझे बिना यह कहना कि द्वैतवादिता को समाप्त किया जा चुका है एक अनधिकार चेष्टा है। इसके विपरीत निरपेक्ष निर्माण-तत्व एक तृतीय भाव बाधा बन कर उपस्थित होता है।

परन्तु रसेल को द्वैतवाद से क्यों आपत्ति है? जैसा कि डब्ल्यू. टी. स्टेस का कहना है, इसका कारण कदाचित् यह है कि रसेल धर्म-विरोधी पूर्व-धारणाओं का शिकार है और द्वैतवाद पुराणपन्थी मान्यताओं यथा आत्मा, अमरत्व आदि को स्वीकार करने के लिए बाध्य कर सकता है। 'वह हमें ईश्वर में विश्वास करने के लिए भी प्रस्तुत कर सकता है।' 'स्वाधीन मनुष्य की अर्चना' और 'अमिट निराशा का धर्मग्रन्थ' के लेखक के लिए इस दुर्भाग्य से बचना और एक वैज्ञानिक दर्शन के लिए किसी प्रकार के धार्मिक तत्व से सर्वथा मुक्त होना परम आवश्यक है।

जैसा कि बूडिन हमें स्मरण दिलाता है निरपेक्ष नीरव तत्व 'प्राचीन पदार्थ-सिद्धान्त (Substance theory) की प्रेत-छाया है।' प्राचीन समस्याएँ पुनः उठती हैं चाहे आधुनिकता का नकाब डाल कर ही। अज्ञेय, अव्यक्त, और निर्गुण निरपेक्षता में कारणीकरण का अभाव रहता है और उससे किसी मूलभूत लक्ष्य की उपलब्धि नहीं होती। घटनाओं का तारतम्य जो स्वयं 'जीव' (Self) का स्वरूप है स्मृति-तत्व अथवा 'स्मृति के कारण' का स्पष्टीकरण करने में असफल रहता है यद्यपि रसेल के सिद्धान्त का वही मूलाधार है। 'संवेद्य पदार्थ' 'अज्ञात पहलुओं' के रूप में विद्यमान रहते हैं तथा भारतीय चिन्तन-धारा के विद्यार्थी के सम्मुख बौद्ध-दर्शन के 'स्वलक्षण' की क्षीण प्रतिच्छाया के रूप में क्षुद्र बुद्धि के प्रमाण स्वरूप दिखाई पड़ते हैं। नहीं; रसेल की महा देन उसका 'तटस्थ एकत्ववाद' अथवा सम्पूर्ण ब्रह्माण की व्याख्या करने वाला कोई बड़ा सिद्धान्त नहीं है वर वह उसका दृष्टिकोण और प्रयोग है।

व्यवहारिक क्षेत्र में, व्यक्ति के आचरण औ सामाजिक मान्यताओं के सम्बन्ध में, बर्ट्रण्ड रसेल पश्चि के अन्य समस्त दार्शनिकों से बढ़ कर वर्तमान शताब्दी का प्रतिनिधित्व करता है। वह मनुष्य की गरिमा, उसके विचार और कर्म की स्वतन्त्रता, राजनीतिक और आर्थिक स्वतन्त्रता और मानव-मानव में समानता का सजग प्रह है। वह पुराणपन्थी नैतिकता का कटु आलोचक है रूढ़िवादी नैतिकता 'पशुबल की नैतिकता' है। वह 'अंध विश्वास और अत्याचार का संमिश्रण' है। उसका अ है "सुसंस्कृत अंग्रेज़ दुःखी आफ्रिकी की देह पर कोड़ों की मार कर सके, आत्मतुष्ट पादरी प्रतिवर्ष अपनी परिणीत को एक बच्चे के भार से बोझल बना सके और अप आप को इस सिद्धान्त से सन्तोष दे सके कि यदि उसकी पत्नी की मत्यु हो जाय तो वह कभी भी दूसरा विवा करके ईश्वर की और अधिक आराधना कर सकता है। रसेल का कथन है "हमें ऐसी नैतिकता की आवश्यक है जो जीवन के प्रति प्रेम का सन्देश दे, जो विकास औ वास्तविक प्राप्ति में विश्वास करती हो न कि दबाव औ वर्जनाओं में। मनुष्य को हमें श्रेष्ठ तभी कहना चाहि जब वह दूसरों को सुखी बना कर स्वयं सुखी, विकासमान उदार और प्रसन्न हो...सुखी मनुष्य वह है जो आत्मलि नहीं है, जिसका प्रेम अन्य प्राणियों में बँट गया है औ जिसके स्वार्थ अपने हद तक सीमित नहीं हैं।" इस प्रक रसेल मनुष्य के लिए 'आत्म-लिप्तता' के रोग से ब की आवश्यकता पर ज़ोर देता है।

दुःखी होने का मुख्य कारण विशृंखलता है। सु मनुष्य का जीवन व्यवस्थित होगा और उसके अपने हृ में शान्ति तथा अपने चारों ओर के प्राणियों के प्रति स व्यवहार होगा। "विरोधी इच्छाओं के बदले अपने द्वारा सामंजस्य स्थापित करो" रसेल का यही सिद्धा वाक्य है। मनुष्य ही नैतिक मानों (Standards) नियामक है। मनुष्य की वासना स्वाभाविक है औ वासनाएँ नैतिक मानों का औचित्य स्थापित करती हैं नैतिक अभिव्यक्तियाँ मूल वासनाओं की अभिव्यक्तियाँ हैं

रसेल का मस्तिष्क निरन्तर उर्वर है और

अनुभवों के लिए उनमें स्वाभाविक पिपासा है जो कि उनके अनुलेखों और अभिभाषणों से प्रगट होती है। वे अनेक ग्रन्थों के लेखक और गम्भीर चिन्तक हैं। वे एक गहरे द्रष्टा हैं किन्तु स्वप्नद्रष्टा नहीं। उनका व्यवहारिक दर्शन प्रयत्न और कर्मशीलता का, आशा और प्राप्ति का दर्शन है। वे अपने सामने 'सम्पूर्ण मानव' का आदर्श रखते हैं जो जीवन का पूर्णतया उपभोग करता है और कठोर संयम और जीवन के प्रति विमुखता में विश्वास नहीं करता। मनुष्य के सुख का सब से भयंकर शत्रु अन्तःप्रवृत्ति—पाप की भावना और उसके कारण उत्पन्न भय है। उसे निकाल फेंकना आवश्यक है जिससे कि "मनुष्य अपनी दृष्टि ऊँची कर सके और कह सके, 'नहीं, मैं नहीं हूँ घोर पतित नारकीय कीड़ा।'"

ट्रावणकोर यूनिवर्सिटी,
ट्रावणकोर

—के. शेषाद्रि

तेलुगु कहावतें

काकि पिल्ल काकिकि मुद्दु
कौआ अपनी बच्ची पर जान देता है।

ए एंडकु आ गोड्गु पट्टुट ए सेटिकि आ पाट पाडुट
जैसी धूप होती है वैसा छाता लगाना, जैसी ओखली होती है वैसा गीत गाना।

गोह चुट्टु मीद रोकटि पोटु
फोड़े वाली उंगली पर मूसल मारना

दूरपु कोंडलु नुनुपु
दूर के पहाड़ चिकने लगते हैं।

पूलु पुट्टगने परिमळिंचुनु
खिलते ही फूल अपना परिमल फैलाता है।

एरु दाटि तेप्प तगलवेसिनट्लु
नदी पार जाने पर नाव जला डालना

दीपमु मुड्डिकिंद चीकटि
दिये के नीचे अंधकार

—राममूर्त्ति 'रेणु'

आल इंडिया रेडियो, ट्रावणकोर के सौजन्य से

बौद्ध कला और स्थापत्य

यदि गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाय तो बुद्ध धर्म और कला का मेल नहीं बैठता। प्रचीन हीनयान मत में कला और सौन्दर्य के प्रसाधन आध्यात्मिक साधना में विघ्नस्वरूप थे। सब तरह के इन्द्रियजन्य अनुभवों का परित्याग करके ही कोई व्यक्ति अरहत्त (संत) बुद्ध (पूर्ण ज्ञानी) अथवा निब्बान प्राप्त (मोक्ष प्राप्त) हो सकता था।

इसलिए हीनयान के सिद्धान्तों में किसी भाँति की दृश्य कला के लिए स्थान न था। इसके अनुसार कलाकार इन्द्रियजन्य विलास सामग्री के संग्रही आध्यात्मिक उन्नति में बाधा पहुँचानेवाले और 'विशुद्धिमाग्ग' में आकृति आदि आसक्ति प्रेरक वस्तुओं के प्रस्तुत करने वाले क्षुद्र जीव समझे जाते थे। इन्हीं कारणों से चुल्लवग्ग ग्रन्थ (अध्याय ६-३, २) भिक्षुओं को विहार की दीवारों पर पुरुष या स्त्री की आकृति अङ्कित कर उन्हें सजाने की आज्ञा नहीं देता। भिक्षु और भिक्षुणियों को पाटलिपुत्र की राजकीय चित्रशालाओं में जाना इसलिए वर्जित था कि उनकी दीवारों पर कामोद्दीपक चित्र अङ्कित थे जिनका देखना सन्यासी जीवन के लिए अनुपयुक्त था। 'दशधम्मसुत्त' में कहा गया है "सौन्दर्य मेरे निकट कुछ नहीं है—न तो शरीर का सौन्दर्य और न वस्त्राभूषणों का ही।" वास्तव में बुद्ध ने पाँच अध्यायों वाले सूत्र में (चेटोखिलासुत्त, मभिभ्मम निकायः अध्याय १ पृष्ठ १०१-४) बुद्धि के पाँच बन्धन (चेतसो विनिवन्धा) बतलाए हैं। प्रत्येक भिक्षु को अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए इन बन्धनों से छुटकारा पाना आवश्यक है। इनके नाम हैं: १. काम या स्त्री सुख २. शारीरिक सुख ३. रूप या दृश्य आकृतियों का सौन्दर्य ४. धन सम्पत्ति और ५. देवता। इनमें से तीसरा दृश्य-सौन्दर्य पर मुग्ध होना है। उसी अध्याय में (अ० १: पृष्ठ १७३) इन्द्रिय सुख के पाँच साधन या पाँच काम गुण गिनाए गए हैं जिनमें दृश्य आकृतियों का सौन्दर्य भी है (चक्खु विजिनेया रूप)। हीनयानों के सिद्धान्तों के अनुसार दृश्य कला के प्रति जो विरोध है वह चित्रांकन-वर्जन में लक्षित होता है। अत एव मिलिन्द-पन्हों में अनुचित दान की सूची में चित्र का दान अथवा 'चित्त कम्म दानम्' भी है।

सुत्त-निपात के एक अवतरण (अध्याय २ पैरा ५० पृष्ठ २६४ में यह बतलाया गया है कि इन्द्रियसुख प्रदान करनेवाले साधन अनेक प्रकार के हैं जिनमें मधुर और आकर्षक पदार्थों के चित्र मस्तिष्क की शक्तियों को विकेन्द्रि कर देते हैं (कामा हि चित्रा मधुरा मनोरमा विरूप-रूपे मथन्ति चित्तम्)। उसी ग्रन्थ में अनेक ऐसे अवतरण हैं जो सौन्दर्य जाल से बचने की शिक्षा देते हैं (रूपे स्नेह ना कुब्बए, पृष्ठ ८४३, रूपे विभूते ना फस्सन्ति फस्स पृष्ठ ८७२, रूपेषु दिवसा विब्बवम् व्हच्च, पृष्ठ ८६७)।

सभी तरह की कला के प्रति हीनयान के मतानुयायियों का ऐसा दृष्टिकोण था और इस कट्टरता के वातावरण में बौद्ध-कला या किसी भाँति की कला का न तो जन्म ही हो सकता था और न उसकी वृद्धि ही।

सौभाग्यवश बुद्ध ने स्वयं एक प्रकार से कलाकार को अपना कार्य करने का अवसर दिया है और वह है आध्यात्मिक अथवा श्रद्धासूचक स्मारकों के बनवाने का आदेश दे के रूप में जिनका कलात्मक मूल्य चाहे अधिक नहीं हो सकता। बुद्ध के सम्मानार्थ स्थापत्यपूर्ण स्मारक खड़े करने की प्रेरणा उनके श्रीमुख से ही प्राप्त हुई। अपनी मृत्यु के कुछ दिन पहले आनन्द के साथ उनकी बातचीत हुई जो 'महापरिनिब्बान सुत्त' में लेख बद्ध है। उसमें उन चार स्थानों की यात्रा और श्रद्धापूर्वक दर्शन करने का उपदेश भिक्षुओं को दिया गया है जहाँ तत्तघट का जन्म हुआ, जहाँ उनको ज्ञान प्राप्त हुआ, जहाँ उन्होंने अपने प्रारम्भिक निय बनाए और जहाँ अन्तिम साँस का परित्याग किया। वे सभी स्थान हृदय को गम्भीर रूप से भावनापूर्ण करने वाले हैं (सम्वेजयानियानी थानानि)। बुद्ध ने आदेश दिया कि प्रत्येक तत्तघट की स्मृति में चौराहे पर एक स्तूप खड़ा करना चाहिए और जो कोई स्तूप पर फूलमालाएं, जलते हुए सुगन्धित द्रव्य आदि रखेगा, उसे प्रणाम करेगा या उसके सम्मुख एकाग्रचित्त होगा वह बहुत दिनों तक लाभ और आनन्द प्राप्त करेगा।

किसी प्रकार के भाव प्रदर्शन के बिना दृश्य साम कला की वस्तु नहीं बन सकती। बौद्ध भाष्कर्म ने प्रारम्

में स्तूपों का निर्माण किया जिनसे यात्रियों के हृदय में गम्भीर सम्वेदना जागृत होती थी । स्तूप को देखते ही उन्हें उन चार स्थानों में से किसी स्थान का स्मरण हो जाता था जो बुद्ध के जीवन के चार मार्मिक स्थलों से सम्बद्ध हैं और उनका हृदय आनन्द से भर जाता था । प्रारम्भ में स्तूप का भाष्कर्म बहुत साधारण होता था—एक अर्द्ध चन्द्राकार टीला जिसमें किसी प्रकार की सजावट, पच्चीकारी, अथवा साङ्केतिक चिन्ह नहीं पाए जाते ।

धीरे धीरे स्तूप के साङ्केतिक तात्पर्य की कल्पना के साथ ही साथ स्थापत्य का विस्तार होने लगा । स्तूप के आकार-प्रकार में जो पहली वृद्धि हुई वह लघुस्तम्भ पंक्ति की थी जिससे भीतर से स्तूप के चारों ओर प्रदक्षिणा का मार्ग रहता था। फिर स्तूप के ऊपर आयताकार हर्म्मिका का निर्माण होने लगा और अन्त में हर्म्मिका के ऊपर एक छत्र बना कर बौद्ध भाष्कर्म के विकास का पहला अध्याय समाप्त हुआ । ईसा से तीन शताब्दि पूर्व के अशोक के स्तूप आगे आने वाले काल में पहले वेष्टणी द्वारा और बाद में बहुश्रमसिद्ध वङ्क तोरणों से सुसज्जित हुए जिनका निर्माण आन्ध्र राजाओं के समय अर्थात् पहली या दूसरी शताब्दि ईसा पूर्व हुआ । गोलाकार टीले के धरातल पर पश्चात् जो सजावटें होने लगीं जिन्हें प्रस्तरवस्त्र या कञ्चुक कहा जाता है जैसी अमरावती या नागार्जुन कोण्डा के स्तूपों पर पाई जाती हैं, बौद्ध भाष्कर्म के विकास के दूसरे अध्याय के अन्तर्गत हैं । इसके पहले एक दूसरी नवीनता सी दृष्टिगोचर होती है जिसमें टीले या 'अण्ड' को ऊंचे चबूतरे पर रखते हैं जहाँ तक पहुँचने के लिए चारों दिशाओं में चार सीढ़ियाँ बनाई जाती हैं । यह तक्षशिला प्रदेश के अहिम्पोश नामक स्तूप पर देखी जा सकती है और इसके पश्चात् मूर्तिपूजक ब्रह्मदेश के मङ्गलजेदी पगोडा में अधिक विस्तृत हुई है । यह आकृति और स्थापत्य में जावा के बोरोबूदर मन्दिर का प्रारम्भिक रूप है ।

स्थापत्य में बुद्ध-धर्म ने मूर्तिकला की किसी नई शैली का निर्माण नहीं किया। ब्रह्मजालसुत्त में बुद्ध के जीवन काल में उनकी मूर्ति बनाने का निषेध इन शब्दों में किया गया है "जब तक बुद्ध का पार्थिव शरीर विद्यमान् है, पुरुष और देवता उसका दर्शन कर सकते हैं । इस जीवन के पश्चात् जब उनका शरीर अणु परमाणुओं में मिल जाएगा तब उसे न मनुष्य देख सकेंगे और न देवता।" साँची स्तूप के पूर्व दिशा के फाटक पर प्रस्तर काट कर बुद्ध के परलोक गमन का जो दृश्य प्रदर्शित किया गया है, और उनके जीवन की कहानियों का जो मूर्त रूप अमरावती के स्तूप के प्रारम्भिक काल में पाया जाता है उसमें बुद्ध का स्थान रिक्त रख कर इस बात का सङ्केत किया गया है कि वे अदृश्य हैं । अपने धर्मसम्बन्धी किसी मूर्तिकला के अभाव में प्रारम्भिक बौद्ध कला ने बुद्ध से पूर्व प्रचलित यक्ष, गन्धर्व, वृक्ष और वन देवताओं की मूर्त्तियों को अपना कर भारहुत और अन्य स्थानों के स्तूपों के फाटक और प्रस्तरशलाकावृतियों की सजावट की है । कुछ समय पश्चात् जनसाधारण की इस प्रार्थना पर कि बुद्ध की उपासना के लिए 'धी-आलम्बन' की आवश्यकता है दलपतियों ने मूर्त्तिपूजन की आज्ञा दी और बुद्ध 'प्रतिमालक्षण' नामक एक पुस्तक की रचना की जिसमें प्रतिमापूजन का आदेश बुद्ध के श्रीमुख से ही दिलवाया गया है । उसमें प्रतिमा निर्माण के सिद्धान्तों का वर्णन है जिनके अनुसार महापुरुष के विशेष शारीरिक अनुपात, संकेतों और बत्तीस लक्षणों का प्रदर्शित करना आवश्यक माना गया है ।

रंगचित्रण कला में बौद्ध संस्कृति और संगठन ने विहारों के चैत्यों और निवासस्थानों की सजावट के लिए प्रेरणा दी और दीवारों और भण्डोरों पर बुद्ध के जीवन और जातक कथाओं के आधार पर सुन्दर भीत्ति चित्र बनाए गए । बौद्ध चित्रकला अलौकिक कल्पना और दृश्य सौन्दर्य का पूर्ण विकसित रूप है और आजकल भी अजन्ता और बाघ की गुफ़ाओं में उसे देखा जा सकता है । अभी हाल में जो अन्वेषण हुआ है उससे पेशावर के पास कनिष्क के स्तूप की दीवारों पर चित्रित बुद्ध के चित्र का पता चलता है । यह चित्र उस काल की वेशभूषा पर प्रकाश डालता है । इन चित्रों का समय ईसा की पहली शताब्दि है । महायान के विकास के साथ ही असंख्य बोधिसत्वों, ध्यानी बुद्ध और उनकी जीवन संगिनियों जिन्हें शक्ति या तारा (मोक्षदायिनी) कहा गया है के चित्र अङ्कित किए गए। इन शक्तियों की कल्पना संभवतः तान्त्रिक सिद्धान्तों से ली गई है । इनका वर्णन साधना-माला नामक ग्रन्थों में मिलता है जिनसे अनेक चित्रकारों और वास्तुकलाकारों को प्रेरणा मिली कि वे अलौकिक सौन्दर्य की असंख्य पूर्ण आकृतियों में उन्हें व्यक्त करें। बङ्ग नेपाल और तिब्बत में अनेक सचित्र हस्तलिखित पुस्तकों में इनका विवरण मिलता है । इनके आधार पर प्रस्तर, लकड़ी और ताम्बे की विविध और चमत्कृत कर देने वाले सौन्दर्य से पूर्ण मूर्त्तियों और भीत्ति-चित्रों का निर्माण हुआ ।

—ओ. सी. गांगुली

कलकत्ता यूनिवर्सिटी,
कलकत्ता

फ्रान्स की चित्रकला

आज जब कि फ्रान्सीसी कला विश्वकलाकारों के अगले क़दम की मंज़िल बन रही है तो यह देख कर आश्चर्य होता है कि विगत दो शतकों से भी कम समय में विशेष कर १७८९ की जनक्रान्ति के पश्चात् कला के क्षेत्र में यह नव जागृति और परिष्कृत कलाभिरुचि कितनी गतिमय और महनीय सिद्ध हुई है। नई परिस्थितियों में नए अनुभव प्राप्त करके और जीवन की विशृंखल मान्यताओं से टकरा कर कला के मौजूदा तौर-तरीक़ों में इतना अन्तर पड़ गया है कि विभिन्न दिशाओं के आवेष्टन में उसका ओर-छोर क्या है—यह समझना कठिन प्रतीत होता है। आज फ्रांस की कला जीवन की भिन्न इकाइयों की द्योतक बन गई है। उसमें अनेक तत्वों का सम्मिश्रण और बहुप्रेरक प्रतिद्वन्द्वी भाव विद्यमान है।

पिछले जमाने में फ्रांसीसी कलाकारों के सौन्दर्य का मानदण्ड कुछ दूसरा ही था। वे अपने अन्तर्भावों की प्रतिक्रिया को किसी माध्यम का आधार लेकर व्यक्त करते थे। दृश्यमान और बाह्य रूप की स्थूल वास्तविकता का साक्षात् चित्रण करने के परे उनकी तूलिका आगे बढ़ने में मानों संकोच का अनुभव करती थी। जिस कलाकृति में बाह्य रूप का जितना ही प्रतिरूप और उसके अधिक से अधिक अंग-उपांग, बिना एक दूसरे में बाधक हुए, व्यक्त हो सकते थे, वह उतनी ही श्रेष्ठ और कलापूर्ण समझी जाती थी। फलस्वरूप मध्ययुगीन फ्रांसीसी कला में अनुकृति का प्रयास ही अधिक दीख पड़ा। तत्कालीन कलाकारों की सजग चेष्टाएँ आधेय वस्तु के हू-ब-हू चित्रण में इतनी खोजती थीं कि वह अपने सचेत 'अहं' को भुला कर ऊपरी रेखान्यास और रंगामेज़ी में लग जाता था। उसकी दिशा क्या है वह किस दृष्टिकोण से किसी वस्तु को देखता-समझता है इसकी उसे परवाह न थी। वस्तु की सजीवता के सूक्ष्म तत्वों को आसानी से उभार कर वह चटक रंग पर पृष्ठभूमि तैयार करता और चित्रों के अलङ्करण में ही उसकी अधिकांश शक्ति व्यय हो जाती।

फ्रांस में भित्ति-चित्रण से सर्वप्रथम कला की शुरुआत हुई और तिस पर भी इटैलियन कला की गहरी छाप देखी गई। रोम के गिर्जाघरों, महलों और बड़ी इमारतों की छतों और दीवारों की क्लासिकल पेन्टि के अनुकरण पर पूर्व मध्ययुगीन फ्रांसीसी कला बहु दिनों तक साँस लेती रही। उन दिनों कला ज्ञेय औ विश्वस्त होने के साथ साथ धार्मिक अधिक थी। क्राइस् उनकी पवित्र भावनाओं और जीवन सम्बन्धी घटनाओं का चित्रण श्रेयस्कर समझा जाता था। समय से टक कर ज्यों ज्यों धर्म में आस्था कम होती गई, कलाका का ध्यान मानव-जीवन और प्रकृति-चित्रण की ओ आकृष्ट होता गया। चतुर्दिक् परिस्थितियों और प्रकृति के व्यापक प्रसार में रम कर वे इतने अभिभूत हो उठे कि उन्हीं को आधार बना कर वे अपनी भावनाओं को व्य करने लगे, फिर भी उनके अनुकरण का मोह कम न हुआ। असली चीज़ को कैसे ज्यों का त्यों चित्रित कि जाए, कैसे वे उसकी सच्ची तसवीर दर्शकों के सम्मु प्रस्तुत कर सकें तथा असल और नक़ल में यत्किंचि भी भेद न हो—इसी दुविधा में वे पड़े रहे।

उतार पर आ कर मध्ययुगीन फ्रांसीसी कला औ भी महत्वहीन और बचकानी हो गई। वैभव-विलास की चकाचौंध में कलाकार इतने आत्म-विस्मृत हो गए कि शासक-लोग, धनी और अभिजात्य वर्ग कैसे उन्हें सरा और कैसे उन्हीं की कला को सर्वश्रेष्ठ समझें इसी ओ उनका सारा ध्यान केन्द्रित हो गया। कला स्वान्तःसुखा और आत्म-प्रेरित न होकर आत्मा का बन्धन बन गई वह धन की चमक-दमक और प्रवञ्चना में पड़ कर कल्प के स्वर्ग से कीचड़ में आ गिरी। सत्रहवीं शताब्दि पूर्वार्द्ध तक कलाकार विचित्र कल्पना-प्रसूत आकारों विभिन्न रंगों एवं आकृतियों के योजनाबद्ध परिष्कार द्वा राज-दरबार की स्वप्निल झाँकियाँ प्रस्तुत करने में द चित्त रहे। बाहरी रूप-सज्जा, अपनी कला के अप्रति उत्कृष्टता के प्रचार-प्रसार और राजाओं को खुश करने विशेष ढङ्गों का विकास करने में ही उनकी सृजन-श कुंठित और एक सीमा में आबद्ध हो गई। सत्यान्वे कला-साधक न रहे। स्थूल सौन्दर्य की चाह में अन्त निवेदन खो गया।

तत्कालीन कलाकारों में क्लादे लोराँ (Claude Lorrain) और वैट्यू (Watteau) ने परम्परागत लीक से कुछ हट कर सर्वप्रथम कला की एक नई परिवर्तित धारा का आभास कराया, यद्यपि दोनों ने दरबारी जीवन और राज-वैभव के सुन्दर चित्र आँकने में भी अभिरुचि दिखाई थी। अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक आते आते, जब कि कला के विकास के सिद्धान्त की स्थापना के लिए प्रारम्भिक प्रयास हो रहे थे, तब कलाकारों का एक ऐसा वर्ग तैयार हो रहा था जो कला के प्रत्येक पहलू और उसके प्रेरक उपादानों को एक नए दृष्टिकोण और नवीन परिस्थितियों से परखने और समझने की चेष्टा कर रहा था। कलात्मक अनुभूति एक विशेष प्रकार की अनुभूति बनती जा रही थी। पहले 'अनुकृति' और 'अभिव्यक्ति' में संघर्ष-सा मचा रहा। अनुकृति वर्षों से कला का विशिष्ट अंग समझी जाती रही थी, किन्तु शनैः शनैः कला की शक्तियों का इस प्रकार अमनोवैज्ञानिक विभाजन और उसकी लोकोत्तर प्रेरणा को किसी एक कटघरे में बन्दी बना देना कला की वांछनीयता की दृष्टि से हेय सिद्ध हुआ। चित्रकारी के ढङ्ग और टेकनीक में भी अन्तर आ गया। अब तक राजमहलों, आवास गृहों, छतों, दीवारों आदि के अलङ्करण में और राजकीय, ऐतिहासिक एवं पारिवारिक घटनाओं के चित्रण में जो शक्ति नष्ट होती थी वही अब निर्बन्ध हो बिखरने लगी। कला की प्रगति में बाधक तत्वों का बहिष्कार कर कला और कलाकार आमने-सामने आए। कला जो कुछ है और जिस रूप में व्यक्त होती है वह कला साधक का समझा हुआ सत्य ही तो है; उन्होंने कला की मर्यादा और क्रम-विकास को पूर्ववर्ती एवं परवर्ती विचारों के आलोक में रख कर देखने का प्रयास किया।

इस प्रकार कला-प्रवृत्ति का प्रसार क्रमशः व्यापक होता गया। परिस्थितियों में अन्तर आ जाने से विचारों और भावनाओं को भी उसी के अनुरूप ढलना पड़ा। सामान्य जीवन में जो जो वस्तुएँ नजर से गुजरती हैं वे कलाकृति का एक संकेत मात्र हैं जो कलाकार में स्वानुभूति जगाती हैं, जो प्रत्यक्ष साक्षी द्वारा जीवन के मूलभूत तत्त्वों को भीतरी रहस्य के मेल में रख कर देखने को बाध्य करती हैं और अपनी सत्ता और सत्यनिष्ठा की छाप उसके अन्तर पर सदैव के लिए छोड़ जाती हैं। कला के सृजन में कलाकार की अनुभूति ही अधिक प्रामाण्य है। किन्हीं बाह्य उपकरणों पर टिक कर कला अधिक दिन तक जीवित नहीं रह सकती। अब फ्राँस के कलाकारों को वस्तु सामने रख कर उसी ढङ्ग और अनुपात से चित्र आँकने नहीं बैठना पड़ता था, उनकी भावनाओं का अधिक मूल्य था। किसी भी दृश्यमान वस्तु को देख कर उनके हृदय में कैसे-कैसे विचार उठते हैं, इतस्ततः बिखरी सामग्री के बारे में उनकी क्या धारणा है, अपनी सत्ता और इतर परिस्थितियों के बीच उनके मन पर क्या प्रतिक्रिया होती है और इस प्रतिक्रिया द्वारा वे किस प्रकार का प्रभाव दूसरों पर डालना चाहते हैं तथा वे जो कुछ भी व्यक्त करते अथवा चित्रित करते हैं उसमें कहाँ तक सत्यता की गहराई और पूर्णता प्रमाणित होती है—यही सब कला के लिए उपादेय समझा जाने लगा। अब कलाकार के सामने रखी चीजें एक निमित्त मात्र बन गईं, वह तो अपने अस्तित्व को, अपनेपन को, अपने मन की चाह और जिज्ञासा को चित्र में ढालने लगा। जो जो भीतरी उद्वेग उसमें उठते, जो जो कल्पित आकार उसके मानस पट पर आ खिंच जाते उसे चित्रित करने में वह कभी-कभी सहज सीमा तक का उल्लंघन कर जाता। इन अवसरों पर आभास और इंगित द्वारा वह अपने आन्तरिक चिरन्तन विश्वास को कला में प्रत्यक्ष कर दिखाता।

फ्राँस की कला-धारा में इस आकस्मिक परिवर्त्तन का कारण एक हद तक फोटोग्राफ़ी भी है। इससे कलाकारों में अनुकरण का उत्साह बहुत कुछ शिथिल हो गया था। वे इस बात को बखूबी समझ गए—यदि उन्हें लैण्डस्केप, किसी प्राकृतिक दृश्य-चित्रण अथवा पोर्ट्रेट-निर्माण में एक फोटोग्राफ़ से अधिक विशेषता लानी है तो उन्हें दूसरा ही ढंग अख़्तियार करना होगा, अपनी कला में कुछ वैचित्र्य और वैशिष्ट्य लाना होगा। सहसा कला अनुकरण के चंगुल से निकल कर दूसरी ही दिशा में अनुधावित हुई।

कला-जगत् में इस क्रान्ति का नेता डेलाक्रो (Delacraix) था, यद्यपि डेविड (David) और इंगरेस (Ingres) आदि कुछ अन्य कलाकार भी प्राचीन परिपाटी पर चल कर नवीन भावनाओं के परिपोषक और प्रवर्द्धक हुए। डेलाक्रो ने 'रोमांसवाद' को जन्म दिया। उसके नेतृत्व में कलाकार अन्तर्मुख होकर प्राकृतिक दृश्यों की प्रेरणा पर कल्पना और सौन्दर्य का संसार रचने लगे। लेकिन रोमांटिक कलाकारों का 'सूक्ष्मवाद' लोगों को

ग्राह्य न हुआ और उनकी कटु आलोचना की गई ।

इस सीमा को अस्वीकार कर देने के पश्चात् फ्रांसीसी कला की एक अत्यन्त प्रबल प्रवृत्ति 'इम्प्रेशनिज़्म' (प्रभाववाद) ने जोर पकड़ा । असंतोष और अनास्था के उस युग में, जब कि नूतन और पुरातन मान्यताओं में सर्वत्र संघर्ष-सा मचा हुआ था, कला के आदर्श और विकासवादी प्रवृत्तियाँ भी एक दूसरे को चुनौती दे रही थीं । कला में अधिक संवेदन लाने के लिए किसी भी दृश्य वस्तु की स्पष्ट ऐन्द्रिय अनुभूति ग्राह्य नहीं हो सकती, अतएव प्रभाववादी कलाकारों ने अपने अस्पष्ट कौतूहल को रंगों के झिलमिल छायालोक में भरने की चेष्टा की । वे अपनी कला में धुँधले रंगों द्वारा उस आदर्श दिव्य सौन्दर्य की झलक दिखा देना चाहते थे जो प्रत्यक्ष वस्तु की अपेक्षा वातावरण की प्रभावोत्पादकता से अधिक उभाड़ा जा सकता है । विभिन्न रंगों के मिश्रण से, एक हलके रंग पर दूसरा, तीसरा, फिर चौथा हलका रंग चढ़ा कर वे इस प्रकार सादगी और सफ़ाई लाते थे कि प्रकाश-छाया का अद्भुत सामंजस्य होकर एक ऐसा विचित्र वातावरण तैयार हो जाता था जो दर्शक को मुग्ध कर लेता था । प्रत्यक्ष अनुभूत, स्थूल रेखाओं की प्रतीति से यह भावनात्मक गुणों की सत्ता अधिक गहराई से अन्तर में धँस जाती थी और उसका प्रभाव भी स्थायी होता था । इस प्रकार एक विशिष्ट सौन्दर्य-भावना नए ढंग से कला में अभिव्यक्त हुई ।

इस इम्प्रेशनिस्ट धारा के प्रवर्त्तक मोने (Monet), रेनॉर (Renoir), पिसारो (Pissarro) और सिस्ले (Sisley) हुए । मोने, पिसारो और सिसले ने विभिन्न कला कृतियों में भीतरी सौन्दर्य-सपनों को साकार करते हुए रंग और रेखाओं की रूप-सज्जा का एक में ही ऐसा समाहार किया कि रंजित पार्श्वभूमि हलकी धुँधली आभा से भर गई । दृष्टि के सम्मुख वह झलमलाहट जो एक बार झलक दिखा कर छिप जाती है, कुहरा, धुआँ, धुँध, सन्ध्याकालीन और उषाकालीन धुँधले रंग, हलके मेघों की श्वेतिमा के लुभावने दृश्य, जल की मुक्त लहरों और वायु की थिरकन में उनकी वृत्ति तदाकार होकर रमी । उन्होंने कल्पना ऐसी की—मानों वे प्रकृति के उन्मुक्त प्रसार को तिकोने काँच में से झाँक कर देख रहे हैं और जो रेखा-विहीन झलमल झलमल रंग दीख पड़ रहे हैं वे ही उनकी कला में बिखर कर अद्भुत वातावरण की सृष्टि कर रहे हैं । अपनी सृजन-प्रक्रियाओं में इस प्रकार हलकी धुँधली छायाओं को उभार कर वे उस कल्पित संसार में भटक गए जहाँ सर्व साधारण की पहुँच न थी ।

शुरू में रेनॉर ने मोने के पद-चिन्हों का ही अनुसरण किया, किन्तु १८८१ में इटली घूम आने के पश्चात् प्राचीन इटैलियन कलाकारों और रैफल का प्रभाव उसकी कला पर इतने व्यापक रूप में पड़ा और उसके डिज़ाइन, रंगों और रेखाओं के संयोजन में इतनी तीव्रता और उभार आ गया कि इम्प्रेशनिज़्म पीछे छूट गया । पाँच छः वर्ष बाद उसने इन समकालिक विषयों को छोड़ कर सुन्दर, कलापूर्ण पोर्ट्रेट (आकार-चित्र) बनाए जो रूबेन्स (Rubens) की उत्कृष्ट कलाकृतियों के समकक्ष हैं ।

आज जब कि इम्प्रेशनिज़्म हमारे अत्यन्त निकट जान पड़ता है, हमें यह न विस्मृत कर देना चाहिए कि उन दिनों जनता और कला-समीक्षकों द्वारा इसका भयंकर विरोध किया गया । सन् १८७४ में प्रभाववादी धारा की प्रथम प्रदर्शनी नादार के स्टूडियो में हुई । मोने और उसके साथियों द्वारा चित्रित चित्रों ने तहलका-सा मचा दिया । उन्हें लगा कि प्राचीन परम्पराओं से विच्छिन्न होकर कला पतन के गर्त में गिर रही है। अतीत गौरव के निष्ठावान् समर्थकों ने कलाकारों के इस अर्थहीन प्रयास पर क्षोभ प्रकट किया, किसी किसी ने फ़ब्तियाँ कसीं और कुछ ने यह कह कर उपेक्षा कर दी कि इन लोगों का दिमाग़ खराब हो गया है ।

जिस समय इम्प्रेशनिज़्म के विरुद्ध फ्रांस में आन्दोलन जोर पकड़ रहा था उस समय इसका प्रभाव दूर दूर तक फैला । इंग्लैण्ड, अमेरिका, भारत, पाश्चात्य और पौरस्त्य सभी प्रमुख देशों की कला पर गहरी छाप पड़ी। कुछ समय तक नव प्राणोन्माद में खोये कांस्टेबल और टर्नर जैसे कुशल कलाकार भी अपनी अभिव्यक्ति को इस अभिनव रूप-सौष्ठव से मंडित करते रहे, किन्तु फ्रांस में असन्तोष बढ़ता गया और कला को एक नए रूप में ग्रहण करने की दुर्दमनीय आकांक्षा ने इस प्रभाववादी प्रवृत्ति को पदाहत कर दिया । एडगर डेगाज (Edgar Degas) ने मिश्रित धुँधले रंगों की अपेक्षा डिज़ाइन और गहरे सधे अंकन पर ज़ोर दिया । उसने रोम और नेपल्स में रह कर प्राचीन कला-प्रवृत्तियों का अध्ययन किया था, फलतः नारियों की भङ्गिमाएँ, उनके उठने बैठने, खड़े होने के ढङ्ग और विभिन्न पोज़ आदि

सजीवता से ज्यों का त्यों चित्रण करने की उसमें अद्भुत क्षमता थी। रंगों और रेखाओं का संयोजन भी असाधारण होता था। उसकी ऐतिहासिक चित्र कृतियों और पोर्ट्रेट में इंगरेस का प्रभाव द्रष्टव्य है।

मैनेट (Manet) की कलाकृतियों में 'इम्प्रेशनिज़्म' का विरोध और भी खुल कर व्यक्त हुआ। उसने अध्ययन-मनन और विचार द्वारा अर्जित संस्कारों से जान लिया कि इस प्रकार की कला का प्रचार अधिकतर अपरिपक्व कलाकारों द्वारा किया जा रहा है जिनकी प्रेरणा का उद्गम-स्रोत कोई गहरी आस्था न होकर सन्देहास्पद और उनके अपने अन्तर्द्वन्द्वों तक ही सीमित है। कला का यह प्रचलित आत्माभिव्यञ्जक रूप अपने सहज आकर्षण के कारण तत्कालीन कलाकारों के मस्तिष्कों पर छा गया अवश्य, लेकिन उसमें कला की सच्ची साधना विरल ही दीख पड़ी। अधिकांश कलाकारों ने एक विशेष मनःस्थिति में प्रयत्नपूर्वक बाह्य रूप-रंगों की लीपापोती-सी की, जिसमें आत्मानुभूति की वह प्रेरणा न दीख पड़ी जो कला में ऋजुता और स्थायी स्फूर्ति भर देती है। इटली, जर्मनी और नैदरलैण्ड्स में भ्रमण करने के कारण मैनेट ने कला के रूप को बहुत कुछ निर्धारित कर लिया था। स्पेनिश चित्रकार वेलेसक्वेज (Velasquez), गोया (Goya) और म्यूरिलो (Murillo) ने भी उसे बहुत अधिक प्रभावित किया था। निदान उसने व्यापक दृष्टिकोण अपना कर कला के तथाकथित सत्यों को एक दूसरे रूप में देखने की चेष्टा की। अपनी कला में उसने 'प्रभाववाद' और 'यथार्थवाद' दोनों का समन्वय किया।

किन्तु उन दिनों कला की गति बड़ी अस्थिर थी। पॉल सेज़ाँ (Paul Cezanne) के शक्तिशाली व्यक्तित्व ने उसे 'पोस्ट इम्प्रेशनिस्ट' (उत्तर प्रभाववाद) की ओर मोड़ दिया। मोने, पिसारो, रेनॉर और सिसले की कला जीवन से इतनी दूर जा पड़ी थी कि प्रतिक्रिया अवश्यम्भावी हो गई। सेज़ाँ ने जीवन को अधिक निकट से परखा और क्लासिकल कला-सिद्धान्तों की ओर लौट जाने की प्रेरणा पाई। उसने बाहरी प्रकाश, छाया और वातावरण को गौण मान कर प्रकृति को रेखागणित के तीन आकारों क्यूब (Cube), स्लिण्डर (Cylinder) और कोन (Cone) के रूप में देखा। इससे अन्धानुकरण न करके रेखाओं के अनुपात से ठीक ठीक चित्रों को आँका जा सकता था। सेज़ाँ की कला बौद्धिक होने के कारण रूक्ष है। उसमें मोने और पिसारों की कला की तरह आकर्षण और कोमल भावाभिव्यक्ति तो नहीं है, पर शक्तिशाली रेखांकन और निश्छल आत्माभिव्यक्ति है जो सीधे हृदय पर असर करती है। सेज़ाँ का यह आकारों का आविष्कार ही बाद में 'क्यूबिज़्म' (त्रिघातवाद) के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

गौगिन (Gauguin) और वैंगाफ़ (Van Gogf) ने भी कला की एकांगिता से ऊब कर उसकी जीवन्त चेतन सत्ता का उद्घाटन किया। उन्होंने यथार्थवाद से किञ्चित् हट कर प्राकृतिक दृश्यों से नूतन रूप और नूतन रस लेकर कला को समृद्ध किया। गौगिन में कल्पना का प्रसार और परिष्कार तो है ही, भावना की तीव्रता के कारण उसके कृतित्व में एक अपरूप माधुर्य भी भासमान है। सौन्दर्य की परख और प्रतीति-शक्ति सचेष्ट होने से उसकी एक-एक सूक्ष्म रेखा मूर्तिमान हो उठी है। उसकी कला में न सिर्फ़ जीवन की गूँज है, वरन् सामञ्जस्य भी है। प्रकृति को उसने उस प्रेरणाप्रदायिनी शक्ति के रूप में स्वीकार किया है जो कलाकार को उत्प्रेरित करती है, उसमें सृजन की गरिमा भरती है। अपने 'कैन्वस' के समक्ष वह सदैव अपने 'स्व' को पाता है। उसकी दृष्टि में चित्र एक कविता है जिसमें शिल्पी के अन्तस् की सञ्चित आस्था दीप्त हो उठती है।

वैंगाफ़ में इसके विपरीत एक गहरा लगाव और शक्तिशाली उद्भावना थी। उसकी उन्मत्त की सी स्थिति थी। उसने चित्रकला को अपने जीवन की सच्ची पुकार के रूप में ग्रहण किया। संसार की प्रत्येक वस्तु उसे रहस्यमयी और प्राण-प्राचुर्य से ओत-प्रोत दीख पड़ती थी। आशा-आकांक्षा लेकर उसने सभी में नैतिक तत्त्वों को खोजने की चेष्टा की, पर असफल होकर उसे कभी कभी गहरी निराशा आ घेरती। हर वस्तु को सूर्यालोक-स्नात देखने की भी प्रवृत्ति उसमें बढ़ चली थी। उसके चित्रण का ढंग भी बड़ा ही बेढंगा और अस्तव्यस्त-सा हो गया था। वृक्ष में उठती हुई अग्नि की लपटें, आकाश में भटकते हुए सूर्य की दयनीय दशा 'दि जिप्सी' कलाकृति में दाहिनी ओर चित्रित घोड़े की स्थिति से कलाकार के रुग्ण, अस्थिर मस्तिष्क और क्षण-प्रतिक्षण परिवर्तित होती हुई भाव-धारा का बोध होता है। 'जेल का आङ्गन' के सशक्त चित्रण में अगणित भावनाएँ गुँथी हैं। शनैः

शनैः इस विकृत मस्तिष्क कलाकार का भ्रम, अविश्वास का कुहरा घनीभूत होता गया और भीतर हड़कम्प मचा देने वाले जो तूफ़ान के झोंके उठे उसने उसे आत्महत्या करने के लिए बाध्य कर दिया।

वैंगाफ़ 'अभिव्यक्तिवाद' (Expressionism) के समर्थकों को अत्यधिक प्रिय हुआ। कलाकारों की प्रेरणा से 'अभिव्यक्तिवाद' में ऐसे भाववादी तत्त्व आ सिमटे जिसकी परिणति आगे चल कर 'अतिवस्तुवाद' में हुई।

लेकिन ज्यों ज्यों कला नवीन दृष्टि-बिन्दुओं से परखी जाने लगी, कलाकार विविध तथ्यों को लेकर आगे बढ़े। फ्रांस की कला नित-नए घात-प्रतिघातों से अधिकाधिक गत्यात्मक होती गई। कहाँ और कितनी दूर जा कर वह टिकेगी—यह आज भी बताना कठिन है। उसमें 'निओ इम्प्रेशनिज़्म' (Neo impressionism) 'नेबिज़्म' (Nabism) 'फ़ॉविज़्म' (Fauvism) 'क्यूबिज़्म' (Cubism) और 'निओ प्रिमिटिविज़्म' (Neo Primitivism) आदि कितनी ही कला-धाराएँ प्रचलित हो गईं। कला के प्रसार ने विभिन्न मतवादों की मान्यता को पराकाष्ठा तक पहुँचा दिया जिससे वे कहीं कहीं साधन से साध्य बन गए। सन् १९०५ में कलाकारों की एक प्रदर्शिनी हुई जिसे एक आलोचक ने 'जंगली जानवरों का पिंजड़ा' (Cage aux faubes e. g. Cage of wild animals) नाम दिया। इसमें मातीस (Matisse), ड्यूफ़ी (Dufy) व्लामिंक (Vlaminck) मार्क़े (Marquet) रुओल (Rouault) 'देराँ' (Derain) आदि कलाकारों के चित्र प्रदर्शित किए गए। चित्रों का यह गुण 'फ़ॉव्स' कहलाया और इसके नेता मातीस माने गए।

फ़ॉव्स कलाकारों ने कला को एक घुमाव देकर व्यष्टिवादी-दृष्टिकोण अपनाया। वैयक्तिकता की शक्तिमत्ता को अङ्गीकार कर उन्होंने कलाकार को ऐसा व्यक्ति सिद्ध किया जो विश्व ब्रह्माण्ड पर शासन करता है, लेकिन स्वयं किसी से शासित नहीं होता। उसका विधायक मस्तिष्क गहरी संवेदनात्मक अनुभूति जगाता हुआ दूसरों पर छा जाता है। वह अपनी कला के द्वारा तादात्म्य स्थपित कर लेता है जिससे मनोरागों को उभाड़कर व्यञ्जित भावों की प्रतीति करा सकने में वह अधिक समर्थ होता है। उदाहरणार्थ—मातीस की खूबी यही है कि वह सामान्य परिस्थितियों की अन्तश्चेतना पर प्रकाश डाल कर रेखा, रंग और बाह्य रूपाकारों में ऐसा सर्वाङ्गीण समन्वय प्रस्तुत करता है जिससे कल्पना को आगे बढ़ने का विशद और वास्तविक पथ मिल जाता है। उसकी सत्य की परख और व्यंजक शक्ति इतनी प्रखर है कि उसके कृतित्त्व में स्वच्छन्द नैसर्गिक प्रवाह और सरल सौन्दर्य को आत्मसात् करने की सहजात प्रवृत्ति लक्षित होती है। मातीस एक सचेत कलाकार है। वह आत्मनिष्ठ है, उसमें काल्पनिक आडम्बर अथवा उलझाव नहीं है। उसके चित्र अपने आप में पूर्ण हैं। रेखाओं में अद्भुत संयोजन है और तूलिका के दो-एक हल्के स्पर्श से ही वे साकार हो उठती हैं।

ड्यूफ़ी की कलाकृतियों में भी इसी प्रकार की अकृत्रिमता और आयासहीन सुरुचि द्रष्टव्य है। 'कैन्वस' पर फैले रंगों में इतनी सफ़ाई और सादगी भर दी गई है कि अन्तःस्थल से गहराई और शान्ति झलकती नज़र आती है। इसके विपरीत रुओल और व्लामिंक की कलाकृतियों में रागोत्तेजना है। वे किसी लय या मधुरिमा में नहीं खोना चाहते, उनकी अभिव्यक्ति में दृढ़ता और मार्मिक पक्षों का उद्‌घाटन है।

फ्रान्स की कला कलाकारों की अनेक मानसिक भावनाओं की शृङ्खला से सम्बद्ध है। समय-असमय उसकी विभिन्न प्रवृत्तियों के प्रसार में तात्कालिक व्यापक परिस्थितियों और महान् सर्जकों के सृजन का बल मिला है। आधुनिक यूरोपियन कला के जन्मदाता पाब्लो पिकासो में कला की यह सौन्दर्य-चेतना बहुत ही सूक्ष्म और परिमार्जित होकर प्रकट हुई है। उनमें इतना प्रबल प्राण-प्राचुर्य और सजग प्रेरणा है कि वे अपने स्वीकृत संकेतों को भी अस्वीकार कर देते हैं। और उनकी पुनरावृत्ति करना पसन्द नहीं करते।

पिकासो ने लगभग अर्द्ध शताब्दी पहले कलाकार ब्राक़ (Braque) के साथ कला-जगत् में आन्दोलन का सूत्रपात किया। सन् १९०१ में जब वे 'ब्ल्यू पीरियड' (नीले युग) से प्रभावित थे उनके चित्रों में नैराश्य और अवसाद की छाया थी। सन् १९०५ में उनके जीवन का 'रोज़. पीरियड' (लाल युग) शुरू हुआ। उस समय उनके चित्रों में आनन्द और उल्लास की दिव्य छटा दौड़ पड़ी। तत्पश्चात् 'क्यूबिज़्म', 'सर्रिलिज़्म', सन् '२० और '३० के नवीन प्रयोग, युद्ध के दिनों का साम्यवादी प्रभाव, युद्ध के बाद का संघर्षशील समय आदि कितने ही

मोड़ों से उनकी कला क्रमशः गुज़रती गई।

'मेंडोलिन सहित स्थिर जीवन' (Still life with Mandolin) चित्र कृति से पिकासो पर क्यूबिज़्म का प्रभाव दीख पड़ा। प्रारम्भ में रेखाओं के मोह ने पिकासो की अनुभूति-संवेग-चेतना को आलोड़ित किया, तदनन्तर वही नैसर्गिक भावुकता और कोमलता में परिणत हो गई। उनकी परवर्ती कलाकृतियों में मानों वायु की तरंगों पर अन्तःस्वर स्पन्दित हो उठे। बाह्य वस्तु का आधार उनके लिए आवश्यक न रह गया। एक नज़र देख कर जो भाव उमड़ते वही रेखाओं में मूर्त्त हो उठते। पिकासो ने स्वयं स्वीकार किया है "मैं खोजता नहीं, सहसा पकड़ लेता हूँ।" उनकी कला के स्तर धीरे धीरे खुलते गए और जीवन एवं सौन्दर्य का अद्भुत सामञ्जस्य नज़र आया। नित-नए प्रयोग ही उनकी कला की विशेषता है जो समकालीन कलाकारों की दृष्टि में उन्हें ऊँचा उठाए हुए है!

इसमें सन्देह नहीं कि फ्रांस के महान् कलाकार मातीस और पिकासो की कला ने अपनी नवीनता और वैविध्य से सारी दुनिया की नींव हिला दी है। दोनों वयोवृद्ध कलाकार आज भी पूर्ण उत्साह से अपने सृजन में तत्पर हैं, पर साथ ही तरुण कलाकारों का एक बहुत बड़ा समुदाय कला में नये मतवादों की स्थापना के लिए सचेष्ट है। रूसो ल दुआनिये़र (Rousseau Le Douanier) ने लोककला को प्राणान्वित कर 'निग्रो प्रिमिटिविज़्म' का नेतृत्व किया है। ये लोग जीवन के यथार्थ दर्शन के क़ायल हैं। आधुनिक फ़्रांसीसी कला की विशेषता ही यह हो गई है कि वैचारिक संघर्ष से आक्रान्त होकर क्रमशः रूपान्तरित होती रहती हैं। हर कला-जिज्ञासु नए सिरे से आरम्भ करना चाहता है। पुरानी चीज़ें उसे मान्य नहीं हैं। एक किसी तथ्य को खोजता है तो दूसरा उसका बहिष्कार कर कुछ और ही कहना चाहता है। कला की मान्यताएँ नए विश्वासों से दीप्त होकर घट और बढ़ रही हैं। बौद्धिक स्वतन्त्रता का दबाव इतना प्रबल हो उठा है कि नए माध्यमों और विभिन्न कला-शैलियों को रोज व रोज़ अपनाया जा रहा है, समय के चक्राकार परिवर्त्तन के साथ उनकी स्थिति क्या होगी—इसे तो आनेवाला समय ही बताएगा।

७/२३, दरियागंज,
दिल्ली

—शचीरानी गुर्टू

यदि कोई स्त्री बहुत मामूली
कपड़े पहनती है—तो
उसके लिए दोषी उसका पति है।
कोई भी स्त्री जो यह जानती है
कि उसे प्रेम प्राप्त होता है
अपने आप को सुन्दर बनाए
बिना नहीं रह सकती।

—आर. ई. आर.

यह तब का चीन है

यह तब का चीन है जब संसार के अनेक वर्त्तमान प्रगतिशील राष्ट्र भविष्य के गर्भ में थे। चीन जो अपने सहस्राब्दियों के विस्तार में अनेक बार उठा, गिरा और जिसने शान्ति और संहार के करिश्मे देखे। चीन उन्नत और उदात्त, चिन्तक और स्रष्टा, खूनी और आपत्तिग्रस्त, गन्दा, अभागा।

आदिम 'पीकिंग मैन' उस चीन का पुरखा था जिसने अपने प्रारंभिक राजकुलों को सूर्य वंश कहा, स्वर्ग के पवित्र पुत्र। और यह स्वर्ग के पवित्र पुत्र सदियों राजा पुजारी के रूप में हान जनता पर शासन करते रहे। स्वर्ग उनका जाना था, उसका राज और तेवर उनके जाने थे, उनकी आवश्यकताएँ, आहार, वसन सभी। इतिहास पर अभी बादल छाए थे। राजवंश अभी तक अपनी पुरोहिताई से स्वतन्त्र न हो सके थे; चीन के राजकुल भी अपने शासन की बागडोर के साथ पुरोहित का चोगा धारण करते थे और शासक वर्ग तथा जनता की ओर से स्वर्ग के प्रसादन के लिए भाग्यवानों की बलि चढाते थे! वह ज़माना मोहनजोदड़ो का समकालीन था। चीन की राजनीति का तब बचपन था।

पर बिलकुल बचपन भी नहीं क्योंकि ताक़त के इस्तेमाल का उसके शासकों को चस्का लग चुका था और वह चस्का निरन्तर के रक्तपात से ही अपना आहार पाता था। उन राजकुलों के बाद सिया आए। दूसरी सहस्राब्दी ई पू. उनके नोंक झोंक के तेवर लिए उतरी। सम्राट् यू ने अपने बलिदानों और प्रशस्तियों द्वारा 'महान्' विरुद प्राप्त किया पर कुछ काल बाद शाँगों ने उस राजकुल के तख़्त पर अधिकार कर लिया। खेतो की जुताई बड़े साध से हुई, नगर और क़स्बे ख़ासी अदद में उठ खड़े हुए। पीतल और काँसे की ढलाई मिट्टी के बरतनों पर हावी हुई और मिट्टी के बरतन भी अपनी चिक्नी ज़मीन लिए चमचमा उठे, भाषा ने भारती की संज्ञा धारण की।

शाँगों के बाद चाऊ आए जिन्होंने ज़मीन की मिलकियत में दूरगामी परिवर्तन किए, हुकूमत की नई सूरतें गढ़ीं। संस्कृति के नए पाए खड़े हुए, राजाओं और सामन्तों ने ऐश्वर्य का बाना पहना। सामन्त और मांडलिक सम्राट् की नक़ल में अपने-अपने दरबार सजाने लगे, उनमें तड़क-भड़क की सीमा न रही, भोग और विलास उनके जीवन का पर्याय बन चले। चाऊ शासन साथ ही दर्शन का भी प्रतीक हुआ। लाओ-त्ज़ू, कनफ़ूशस्, मो-त्ज़ू, मेंग-त्ज़ू, सुन-त्ज़ू, उठे और गिरे और अपने दर्शन द्वारा विचारों की परम्परा उन्होंने आगे बढ़ाई।

धीरे धीरे चाऊओं के शासनाकाश पर चीनों के संहारक मेघ मँडराने लगे और एक दिन ई. पू. २२० में शिह हुआँग ती ने सारे चीन पर अधिकार कर उत्तर, दक्खिन और मध्य की समूची भूमि पर चीनी इतिहास का पहला साम्राज्य स्थापित किया। शिह हुआँग ती जिसकी कीर्ति अगर हुई यद्यपि वह अमरता उसके गुणों को चिर स्थाई न कर सकी, उसके अयश को ही उसने चिरकालिक बनाया। देश को, उसे लगा, दार्शनिकों और उनके अनुयायियों ने निष्क्रिय बना दिया है और उसने उन्हें पकड़ अग्नि की ज्वालाओं में डालना शुरू किया, उनकी पुस्तकें जला डालीं। परन्तु उसकी ख्याति विशेषतः उस प्रसिद्ध चीनी दीवार से फैली जो संसार के सात आश्चर्यों में है, चीन के परकोटे की तरह जो उसके उत्तर में पूरब से पच्छिम प्रायः १५०० मील दौड़ती है, जिसमें मिस्री ख़फ़रू औ खुफ़रन के बनाए पिरामडों के-से पचास बन सकते थे और जिसे हुआँग ती ने अपने उन्हीं उत्तर-पश्चिमी हूण शत्रुओं के डर से बनवाया था जिनकी भयावनी औलाद ने एक साथ रोमन और गुप्त साम्राज्यों की कमर तोड़ दी।

चिन साम्राज्य बवण्डर होकर भी पहला था। उसका स्थायित्व क्षणिक इसलिए हुआ कि उसकी सत्ता उसकी तलवार पर क़ायम थी। हानों ने चाक उलट दिया। ४०० वर्षों तक निरन्तर उन्होंने चीन का ऐश्वर्य बढ़ाया, उसकी संस्कृति के विशाल खम्भे खड़े किए, साहित्य और कला में अनजाने प्रतीक और मान चीन को प्रदान किए। भारत के इतिहास में जो स्थान गुप्त

साम्राज्य का है वही चीन में हान साम्राज्य का है।

हानों के बाद चीन के टुकड़े-टुकड़े हो गए। खूनी सेनाएँ दक्खिन से उत्तर और उत्तर से दक्खिन आग और तलवार लिए फिरती रहीं। अनेक राजकुल देश के अनेक भागों में उठ खड़े हुए। इसी बीच हूणों ने मध्य एशिया, योरप और भारत पर खूँख़ार हमले किए थे। पर प्रायः तभी जब ये भारत के हृदय पर चोटें कर रहे थे। प्रशान्त भारतीय बौद्ध भिक्षु, उन्हीं के घर कानस् में बुद्ध की विचार-सम्पदा लुटा रहे थे, अजन्ता की प्रतिकृतियाँ तान हुआङ्ग के दरीगृहों में उतार रहे थे जिन्हें चीन के मत्स्यान्याय का वह ज़माना भी न मिटा सका। और फिर तांग।

तांगों ने हानों के खड़े किए संस्कृति के विशाल खम्भों पर कलश-कँगूरे रचे, उन्हें मस्तक प्रदान किए और चीनी संस्कृति के अट्ट शिखरों पर सौन्दर्य की ध्वजा फहराई। साहित्य और कला अपनी चरम परिणति को प्राप्त हुए। पैग़म्बर ने अरब के रेगिस्तान से लिखा—'खुदा एक है उसे जानो, मूरतों का परिवार तर्क कर दो।' तांग सम्राट् ने मूरतों का परिवार क़ायम रखा और एक खुदा मानने वालों का स्वागत करते हुए कहा—'चीन की ज़मीन निःसीम है, उस पर चाहे जितनी मस्जिदें बनालो।'

तांगों की उदारता उस काल की खूनी दुनिया में शान्ति के उपासकों की आशा बन गई। परन्तु ऐश्वर्य की छाया में विलास पलता है, निष्क्रियता पतन की जननी है, प्रमाद की परिणति तांगों की विभूति रोमनों और गुप्तों के वैभव की भाँति शक्तिम बर्बर चोटों से टूट गई जब महत्वाकांक्षा चीनी सेनापतियों ने देश में आग की लपलपाती जिह्वा को स्थान स्थान पर प्रज्वलित कर दिया। फिर देश की एकता सुँगों ने स्थापित की और वे होनान में प्रतिष्ठित हुए। तभी उत्तर-पश्चिमी ओर से सहसा उतर कर तातारों ने सुँगों के साम्राज्य को झकझोर दिया। सुँगों ने यद्यपि तलवार कमज़ोर हाथों में पकड़ी पर कला और साहित्य में उन्होंने प्रगति अच्छी की। उसी काल लू चियू यूआन हुआ जिसके चित्र आज भी चीनी कला की ऊँचाइयाँ घोषित करते हैं। साहित्य सुँगों की संरक्षा में पर्याप्त फूला फला। परन्तु तब का संसार मात्र साहित्य और कला की उपासना से नहीं जीवित रह सकता था। मँगोलों की निरन्तर चोटों ने सुँगों की शक्ति तोड़ दी। कुबले खाँ ने १२७७ में 'यूआन' नाम से प्रसिद्ध मँगोल राजकुल की चीन में प्रतिष्ठा की।

मँगोलों का शासनकाल चीन में फिर भी कुछ कम श्रेयस्कर न हुआ यद्यपि उनके साइबेरिया-प्रशान्त महासागर से वियना तक और मध्य रूस से मिस्र तक फैले साम्राज्य का चीन अंग मात्र बन कर रह गया। फिर भी पीकिंग और नानकिंग की शहर पनाह पर धातु के ढले विशाल यंत्रों की इतिहास में पहली वैज्ञानिक वेधशालाएँ इन्हीं मँगोल खानों ने स्थापित कीं जिनकी प्रशस्ति वेनिस के प्रसिद्ध घुमक्कड़ मार्कोपोलो ने अपने भ्रमण वृत्तान्तों में गाई है।

मँगोलों के बाद मिंग आए, मिंग जो चीनी थे और जिन्होंने पीकिंग को उसकी वास्तु-सम्पदा प्रदान की। मिंगों का काल व्यापार के विकास का युग है। पच्छिम और पूरब के नगरों के साथ चीन का तब सौदागरी सम्बन्ध स्थापित हुआ। उस काल पोर्सलेन और जड़ाऊ हाथी दाँत का तथा रेशम पर चित्रित कीमख़्वाब का जो काम हुआ वह किसी देश, किसी काल के गौरव की विभूति बन सकता है। आज भी जो चीन के संग्रहालयों में प्राचीन सम्पदा ठसी पड़ी है उसका अधिक भाग इन्हीं मिंगों से सम्बन्ध रखता है जिन्हें १६४४ में मँचुओं ने नष्ट कर दिया।

मँचूरिया में मँचुओं ने अपना राज क़ायम किया था और अब उन्होंने चीन के हृदय पीकिंग पर भी कब्ज़ा कर लिया। प्रायः तीन सदी उन्होंने चीन की ज़मीन को सोखा और बरबाद किया। मँचुओं का साम्राज्य जनता की सभी कोमल भावनाओं पर पाला की तरह पड़ा। उसका अन्त १९११ में डा० सुन यात सेन की जनवादी क्रान्ति द्वारा हुआ। क्रान्ति जो जनवादी केवल आंशिक रूप में थी।

उसके पहले मंचुओं के पिछले शासन काल में ही पच्छिम से योरोपीय जातियों का राहु चीन के आकाश पर फैल चला था। अंग्रेज़, फ्रेंच, जर्मन और अन्त में अमेरिकन चीन की हकूमत में दस्तन्दाज़ी करने लगे। चीन उन शक्तिमान् विदेशियों के स्वार्थों का अखाड़ा बन गया जो योरप की लड़ाइयाँ भी चीन में ही लड़ने लगे थे। अफ़ीम की तिज़ारत के लिए युद्ध, धार्मिक हस्तक्षेप के बहाने प्रतिशोध का युद्ध, उत्तराधिकार का युद्ध, सभी प्रकार की लड़ाइयाँ कुछ काल उस देश में चलती रहीं।

फिर कोमिनतौंग, जापानी हमले, चियाँग और अन्त में नए चीन का महान् वर्तमान प्रजातन्त्र ।

यह तो चीन का इतिहास हुआ, काल की एक पर एक पड़ी परतों का ब्यौरा । परन्तु पुराने चीन का राज़ और उसकी खामियाँ फिर भी न खुलीं । उन्हें खोलने के लिए हमें न केवल उन परतों के भीतर, उनके संग्रहालयों में झाँक कर देखना होगा वरन् चीन की उस आर्थिक और सामाजिक नीति में भी जिसने चीनी समाज को सदियों तबाह किया है और जिसके अकल्याणकर रूप को उसने अभी हाल में जड़ से उखाड़ फेंका है ।

पुराने चीन में भी अन्य देशों की भाँति वर्गगत तृष्णा और वासना का साम्राज्य फैला रहा है । व्यवस्था और क़ानून स्वाभाविक ही वर्ग विशेष के स्वार्थों के अनुकूल बने और जहाँ एक वर्ग को लाभ हुआ दूसरे को उनसे अपेक्षाकृत हानि भी हुई । वस्तुतः एक के लाभ के बदले दूसरों की हानि अधिक हुई । चीन का सारा पार्थिव वैभव, भूमि को सीमारहित मान सब धीरे धीरे थोड़े हाथों में संकुचित होता गया और जनता नित्य प्रति कङ्गाल बनती गई । ऐसा नहीं कि शासकों में समय-समय पर कल्याण की चेतना न जगती रही हो पर वह कल्याण-चेतना अधिकतर उसी प्रकार की रही है जैसे हमारे गांधी की, यानी कि धनी अपने धन को कंगालों के लिए सुरक्षित रखें । कहना न होगा कि यह स्थिति द्वन्द्ववाद की है और जो नित्य प्रति अनेकानेक हथकण्डे इसलिए अपनाता है कि वह जनता को उसके इष्ट और उचित से प्रवंचित कर सके वह भला उस जनता के लिए इससे छीना-चुराया हुआ अधिकार क्यों दे देगा । अनेक बार चीन के इतिहास में अपनी प्रेरणा और दार्शनिकों तथा सुधारकों की चेष्टा से शासक जनहित में प्रवृत्त हुए परन्तु जनता का लाभ उचित मात्रा में इसलिए न हो सका कि प्रयास केवल सुधार का हुआ था स्थितियों में क्रान्ति का नहीं । बुनियादी क्रान्ति की आवश्यकता चीन में भी थी जो तब सम्भव न हो सकी और न तब क्रान्तिवादी सैद्धान्तिक दर्शन की कमी से वह संभव ही थी । तल का मार्जन होता गया नीचे की परतों की गलीज़ ठोस बनती गई ।

चीन के फैले खेतों के स्वामी बड़े बड़े सेनापति और ज़मींदार थे जिनके जीवन में विध्वंस की मात्रा अपने हाथों अधिक घटी थी, परार्थ की कम । विपुल वैभव, आवश्यकता से अधिक विपुल जीव्य साधन, विपुल मात्रा में पेय-अपेय का सेवन, बहुमूल्य वस्तुओं का अनन्त भोग उनके जीवन को विकृत करने लगे, मानवता का माधुर्य परुष होने लगा और मानव धीरे धीरे अपने से मानव का आहार बन गया । निर्ममता का स्वभाव है कि वह आतिशबाज़ी के शोलों की तरह रुक नहीं सकती, कम नहीं होती, तब तक निरन्तर बढ़ती और तीखी होती जाती है जब तक सहसा अपने हीं वेग से फूट नहीं पड़ती, फूट कर बिखर नहीं जाती । सामन्तों की निर्ममता इतनी बढ़ी कि उनकी और उनके पिट्ठुओं की भूख के परिणामस्वरूप उनके उदर में सारा चीन समा गया। उनके लिए चीन के मेहनतकश किसान ज़मीन की छाती फाड़ सोने-सा नाज निकालते पर स्वयं उन्हें उस ज़मीन का एक चप्पा, उसमें उपजे अन्न का एक कण नसीब न होता, उनकी उपजाई रुई का, उनके काते रेशम का एक धागा नसीब न होता । उनके लिए प्रकृत था स्वामियों का उच्छिष्ट भोजन, उतारे हुए फटे वस्त्र ।

यह धक्का भौतिक शरीर का था पर सुकुमार मानस इससे कठिन स्थितियों को झेलता था । किसी की बहू बेटी सुरक्षित न थी । स्वयं खेतों में काम करनेवाले, हवेली में नौकरी करनेवाले अपने आदमियों की नारियों की लज्जा भी इन श्रीमानों ने न बचने दी । इतना ही जैसे काफ़ी न था । गाँव में, क़सबों में, शहरों में रहनेवाले ज़मींदारों और युद्धपतियों के अपने हरम थे जिसमें छोटी से बड़ी उम्र तक की अनेक स्त्रियाँ श्रीमानों की काम लिप्सा की साधन बन उनके अस्वाभाविक अग्नि में स्वाहा होती थीं । चीनी क़ानून सदा से बहुपत्नी विवाह को औरस क़रार देता आया था, वृद्ध, बाल और अनमेल विवाहों के विरुद्ध भी उसने कभी निषेध न किया और नतीजा यह हुआ कि नारी की स्थिति सदा दयनीय बनी रही, उत्तरोत्तर दयनीय होती गई । पुरुष को अनेक विवाह करने का अधिकार तो था ही वह चाहे जितनी रखैलें भी रख सकता था । इन रखैलों की परम्परा तब तक बढ़ती जाती थी जब तक पुरुष की काम चेतना सर्वथा निर्जीव न हो जाय अथवा इन कमनीय आश्रितों को आहार देने की क्षमता उसमें न रहे । परन्तु वस्तुतः अनेक बार तो न काम चेतना की निर्जीवता और न उदरपूर्ति के साधनों की सीमा ही नारी-चयन की इस सामन्ती प्रवृत्ति की मर्यादा बाँध सकी । हरम की हदें बढ़ती गईं और

१९५३

उसकी रक्षा के लिए उन खोजों की भी जिनका व्यापार चीनी सौदागरों की रोकड़ की एक लम्बी अदद थी ।

नारीत्व का अपमान धीरे धीरे इतना बढ़ा कि वह प्रकृत हो गया और उस दिशा में कभी किसी ने सोचने का न तो कष्ट किया न नारी के अधिकारों के संबन्ध में कोई प्रयास । वेश्याओं की संख्या गाँव, क़सबों और नगरों में निरन्तर बढ़ती गई और उस क्षेत्र में देश-व्यापी व्यापार शुरु हो गया । कान्तोन, शंघाई, पीकिंग, नानकिंग, तियेन्तसिन, हानचाऊ सर्वत्र विलास का बाज़ार गरम हुआ । नगर का कोई भाग नया बनते समय यह मुमकिन न था कि उसमें ऐसे घरों का इन्तज़ाम न हो जहाँ नारीत्व मूली के मोल बिके ।

और फिर उस महा देश में रोज़मर्रा की लड़ाइयाँ । सामन्तों के परस्पर कलहों की सीमा जब बढ़ जाती तो आग की लपटें देश के एक सिरे से दूसरे सिरे तक घरों के कँगूरे चाट चलतीं, नदियों का जल रक्त से लाल हो उठता, ज़मीन और जँगल लाल हो उठते, छिपने की कन्दराएँ और भागने के मैदान तक लाल । सालों, सदियों यह पागल खेल चलते और जनता बरबाद होती जाती । इन्सान इन्सान का दुश्मन बन जाता, भाई भाई के गले पर चोट करता । गोया प्रकृति के खूनी तेवर इन्सान का लहू बहाने को पर्याप्त न थे ।

प्रकृति के खूनी तेवर । चीन का इतिहास जिसने पढ़ा है उसे अभिराम निसर्ग जैसे परस्पर विरोधी वक्तव्य जान पड़ेगा । नदियाँ अपनी तरल भुजाओं से साधारणतः मनुष्य की हित साधिका होती हैं । सभ्यताएँ इसी से उनकी घाटियों में जनमती और फैलती हैं । चीन की नदियाँ भी, विशेषतः पीली औ याँगत्सी, उसी प्रकार इन्सान की उम्मीदों का आसरा बनीं । चीनी सभ्यता की कलमें पहले उन्हीं के काठों में लगीं, पर उन्हें बरबाद करने में भी उन नदियों ने कोई कसर न की । हुआई और चीन नदियाँ अपनी सैंकड़ों सहायक भुजाओं के साथ आबादियों पर चढ़ आतीं और लाखों प्राणी मनुष्य और उनके मवेशी, करोड़ों बीघे ज़मीन हर साल बरबाद हो जाते । सम्राट् और उसके सामन्तों के कानों पर जनता की हाहाकार के बावजूद भी जूँ न रेंगती । उनके ऐशो इशरत के लिए, खज़ाने भरे थे, बखारें भरी थीं, ऊँची ज़मीन हरे कलेवर लिए मुस्कुराती थी उसी तरह जैसे उनके लम्बे चौड़े हरमों में नाज़नियाँ । जब कभी विद्रोह बढ़ा तब सम्राट् नदी के किनारे या तो मनुष्य की बलि दे देता या लोहे के साँड खड़ा करा देता जिससे नदियों का देव बाढ़ों की भयँकरता कम कर दे ।

बेगार मज़ूरी निरन्तर बढ़ती जा रही थी । खेतों से लेकर चीनी दीवार तक अपना पसीना बहाने वालों को रोटी मिलना तो दुश्वार था ही, अकाल के पैंतरों से भी उसकी कम बरबादी न हुई । अकाल और उत्तर-पच्छिमी हमलों से निजात पाने के लिए जनता लाखों-करोड़ों की संख्या में दक्खिन की ओर चल पड़ती, प्रान्त के प्रान्त उजड़ जाते । सूबे के सूबे उखड़ कर दक्खिन की राह लेते और उधर की आबादियों के दुश्मन बन जाते । हान, मँगोल और तातार, उद्गर, बौद्ध और मुसल्मान एक दूसरे से भिड़ते और नष्ट होते रहते, शासन को परवाह न थी ।

उन्नीसवीं सदी में ख़ास कर जो अफ़ीम का चस्का लगा तो सारा देश एक स्वाभाविक निद्रा के वशीभूत हो गया । विदेशी व्यापारियों का स्वार्थ फिर घटा की तरह देश के आकाश पर छा गया और क्रूरता का उन्माद इतना भयानक हो उठा कि अलताई और कियान शान ने अपने आँखें मीच लीं । भारतीय सिपाही गदाधरसिंह ने अपनी डायरी में जो उस काल के देश पर छाए भय का चित्र खींचा है वह रोंगटे खड़े कर देने वाला है । चीनी नारियाँ फ़िरंगी को देख वैसे भागती थीं जैसे आदमी शेर को देख कर नहीं भागता । अंग्रेज सिपाही को आता देख चीनी नारी का अनेक बार कुएँ में कूद जाना आम घटना हो गई ।

१८६० और ९० के बीच का चीनी इतिहास प्रवंचना और रक्त का इतिहास है । शायद ही किसी मुल्क में स्वार्थ का इतना नंगा नाच हुआ हो और वह नाच पीकिंग के महलों में उसी सम्राट् की आँखों के सामने जो अपने को जनता का रक्षक कहता था ! जब प्रशान्त महासागर लाँघ अमेरिका भी फ्रान्स, जर्मनी और इंग्लैण्ड के लाभ में हिस्सा बँटाने चीन की ज़मीन पर उतरा तो निकट के उदीयमान महत्वाकांक्षी जापान के भीतर एक हूक सी उठी—क्यों न इस लावारिस अभागे चीन को अपने अर्थ का साधन बनाया जाए ? और जापान ने अपने पँजे फैलाने शुरु किए । रूसी टक्कर से उसका हौसला और बढ़ा । इसी बीच चीन की हालत में भी कुछ खलबली मची । १८६० से ही जो क्रान्ति की

आग वहाँ दबी दबी सुलग रही थी । १६११ में वह भड़क उठी । सुन यात-सेन के प्रयत्नों ने मँचू सम्राट् का जो शासन उखाड़ फेंका तो देश ने एक नई ज़िन्दगी पाई पर ज़िन्दगी ऐसी जो महज सांस लेती थी, जिसकी आकार-चेष्टाएँ अस्पष्ट हो गई थीं ।

उधर जापानी साम्राज्यवादी सजग थे । पहली लड़ाई के बाद उनका दबदबा पूरब में काफ़ी बढ़ा और निरन्तर बढ़ता ही गया । दूसरे महासागर तक पहुँचते-पहुँचते वह पूर्वी आकाश पर काल मेघ की भाँति सर्वत्र छा गया । पूरब का वह दूसरा महा समर वस्तुतः उसी ने चीन पर सन् १६३७ में हमला करना शुरू किया । चीन अपनी मुसीबतों में फँसा हुआ भी जापान से लड़ पड़ा । मँचुओं के बाद देश में एक राष्ट्रीय नवजीवन का आभास निश्चय पैदा हो गया था । यद्यपि वह, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, सही राष्ट्रीय जीवन न था। जनवादी शक्तियाँ फिर भी तथाकथित राष्ट्रीय शक्ति से लड़ रही थीं और राष्ट्रीय शक्ति देश की जनता से नहीं समुद्र पार के व्यापारियों के हाथ की कठपुतली बनती जा रही थी । फिर भी दोनों की सम्मिलित शक्ति ने आक्रमणकारी जापानियों को मार भगाया ।

जापान के हटाते ही गृह युद्ध अपनी भयंकर उग्रता में खुल पड़ा । अमेरिका कोमिनतांग की ओर से लड़ने लगा और जनवाद माओ के नेतृत्व में । धीरे धीरे जनसत्ता प्रवृत्तियाँ प्रबल होने लगीं । उसी प्रकार जैसे माओ की सेना उत्तर दक्खिन की ओर बढ़ती देश को देशी-विदेशी शत्रुओं से मुक्त करने लगी । मुक्त किया भी उसने उसे प घायल, अधमरा, ग़लीज़भरा, सदियों की दुर्व्यवस्था का मारा, अर्थ पिशाचों द्वारा कुचला चीन उसके पल्ले पड़ा, माओ, चाऊ एन लाई और चू ते के पल्ले । यह पुराना चीन था ।

४ ए. थार्नहिल रोड,
इलाहाबाद

—भगवतशरण उपाध्याय

सुन्दरता और पशु

पेरिस की एक ज़ू में जानवरों को खाना खिलाया जा रहा था । पेरिस की एक सुन्दर रमणी एक गोरिला को खाते देख कर उसके पिंजड़े के पास खड़ी हो गई ।गोरिला ने सुन्दर रमणी को देखा और वह अपना खाना भूल गया । गोरिला रमणी का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करने के लिए तरह तरह के करतब दिखाने लगा ।

अन्त में रक्षक उस रमणी के पास आया और कहने लगा : "महोदया, क्या आप कृपया यहाँ से आगे चलेंगी । आप गोरिला को थका रही हैं ।"

जी. आर.

व्रज की उपासना पद्धति में व्रजरज

उपासना का अर्थ है समीप रहना; उपास्य के समीप सदा बना रहे यही उपासक का ध्येय है। उपासना में उपास्योपासकोपासना की ओर बरबस दृष्टि जाती है। इन तीनों में से प्रत्येक को अलग मान कर तीन प्रकार की विचारधाराएँ देखी जाती हैं। उपास्य को उपासक से भिन्न माननेवाला है भक्तिमार्ग, उपासक को गौरव देना है योगमार्ग; उपासना क्रिया को महत्त्व देना है कर्मकाण्ड और इन तीनों को आत्मसात् कर एक से भिन्न नहीं दृष्टि द्वारा ज्ञानमार्ग है। यहाँ उनका विवेचन हमारा मन्तव्य नहीं।

व्रज की उपासना निराली है और इसका निरालापन इतना अधिक है कि रसिकाचार्य श्री हरिवंश जी (सं० १५५६) महाराज ने स्पष्ट कहा है कि वृन्दावन में एक परम रहस्य है जहाँ तक पहुँचना नारद, ब्रह्मा, महादेव, शुकदेवादि के भी वश नहीं ×। उस परम रहस्य ने श्रीकृष्ण का चित्त हर लिया है। व्रज की इस अनुपम उपासना-पद्धति में विशेष ध्यान की बात है कि श्रीकृष्णचन्द्र मनहरण का रहस्य वेद और वेदज्ञ ऋषि मुनियों द्वारा ज्ञात मार्गों से अलौकिक मार्ग में है, जिस तक रसिकों को छोड़ अन्य कोई पहुँच ही नहीं पाया है।

इसका रहस्य फिर क्या है? व्रज की उपास्यदेवता हैं श्री लाड़िली जी (राधारानी)। इसमें भी भेद है। स्त्री गौरव के कारण पुरुषवर्ग नारी को साधारणतया प्राधान्य देता है और यदि वह महिला का प्रिय हुआ तो उसे छोड़ जाने का ही नहीं *। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रियालोलुप, प्रियानुरक्त श्रीकृष्ण को पाने के लिए प्रिया की उपासना प्रधानतया करणीय है। श्री किशोरी जी के प्रसन्न होते ही उनके बिना बेचैन होनेवाले श्री किशोर जी (श्रीकृष्ण) का संग (दर्शन) हो जाएगा जो परम प्राप्तव्य है। देवियों की उपासना भारत में प्रचलित है, पर वे पद्धतियाँ अलग हैं और उनका रूप भी पृथक् है। काली, दुर्गा, छिन्नमस्ता आदि अभक्तों को संहार करने में क्रूर कर्म साधिका हैं। श्री महारानी सीता जी आदर्श पुरुष श्री रामचन्द्र की अनुरक्ता हैं। श्री उमा रमा आदि पतिसेवा-परायणा हैं। अस्तु, कहीं उनके दाम्पत्य का वर्णन नहीं मिलता।

यह नवल मधुरस मिला तो केवल श्रीधाम वृन्दावन में। शृङ्गार रस को रसराज माना जाता है; अतः मधुरोपासना भी उपासना शिरोमणि है। कहा है:

"रङ्गी रङ्ग अनुराग सों पगीं दुहुन के प्यार।
और न कछू सुहाइ मन जीवन जुगुल-विहार॥"

श्री विश्वनाथ चक्रवर्ती जी ने लिखा है:

"आराध्यो भगवान् व्रजेशतनयस्तद्धाम वृन्दावनम्।
रम्या काचिदुपासना व्रजवधूवर्गेण या कल्पिता॥"

[व्रजाधिपति नन्द सुत जो ऐश्वर्यवान् हैं, आराधना के योग्य हैं; उनका ही धाम वृन्दावन है। कोई रम्य उपासना है तो वह केवल व्रज सीमन्तिनियों द्वारा कल्पित है।]

श्री वल्लभाचार्य जी ने बालोपासना भी चलाई पर श्रेष्ठता मधुरोपासना को ही मिली। श्री ध्रुवदास जी का मत है:

"ज्ञानशान्तरस से अधिक अद्भुत पदवी दास।
सखाभाव तिनते अधिक जिनके प्रीति-प्रकास॥
अद्भुत बाल चरित्र को जो जसुदा सुख लेत।
ताते अधिक किशोर रस व्रजवासिन के हेत॥

× यन्नारदाजेशशुकैरगम्य वृन्दावने वञ्जुलमञ्जुकुञ्जे।
तत्कृष्णचेतो हरणैकविज्ञमत्रास्ति किंचित् परमं रहस्यम्॥

* यत्पादपद्मनखचन्द्रमणिच्छटाया:
विस्फूर्जितं किमपि बोपवधूष्वदर्शि
पूर्णानुराग-रससागर-सार-मूर्त्तिः
सा राधिका मयि कदापि कृपांकरोति॥
(श्री राधा सुधानिधि)

तथा

मन वच कायिक एक रस धरे महाव्रत प्रेम।
निसियहिं सेवत कुँवर याही सुख के नेम॥

सर्वोपरि है मधुर रस युगुल किशोर विलास।
ललितादिक सेवहिं तिनहिं मिटत न कबहूँ प्यास॥"

इससे यह स्पष्ट है कि सुबल, श्रीदामा, मधुमंगल, मनसुखा, आदि के सख्यभाव से नन्द-यशोदा का वात्सल्य ऊँचा है और उससे भी ऊँचा है गोपियों का मधुर रस। इस वृन्दावनी रस को प्रगटनेवाले हैं आद्याचार्य श्री हरिवंश जी महाराज। कहा है :

"करुणानिधि अरु कृपानिधि श्रीहरिवंश उदार।
वृन्दावनरस कहन कौं प्रगट धरयो अवतार॥"

इस प्रकार व्रजरस किंवा वृन्दावन रस का महत्त्व स्थापित होता है। इसे राधावल्लभ सम्प्रदाय में हित-तत्त्व कहा जाता है। हित का अर्थ हेतु प्रेम है। यह सब का हित करनेवाला है। यहाँ श्री लाड़िलीलाल से उद्भूत जो अलौकिक रसानुभूति है वही परमोच्च इष्ट है।

"निर्गुन सगुन ब्रह्म ते न्यारो विहरत सदा संघात।
'व्यास' विलास रास रस अद्भुत निगम अगोचर वात॥"

श्री व्यास जी महाराज का उद्घोष है कि यह निगम के भी अगोचर की बात है।

जिस प्रकार वेदान्त में स्व को भोक्ता माना जाता है उसी प्रकार किशोरी-किशोर-रस का द्रष्टा, अनुभव करनेवाला भक्त होता है। इस प्रकार यहाँ साधारण दृष्टि से काम को ही अभीष्ट माना गया है पर बात इससे कहीं ऊँची है। इस वृन्दावनी रस ने हिन्दी साहित्य में वह बाढ़ ला दी जिसकी बराबरी का विश्व में कहीं प्राप्य नहीं। इस आधार पर संयोग वियोग नामक उभय पक्ष साहित्य में सुप्रचलित हैं। कुछ सम्प्रदाय संयोग को और कुछ वियोग को जीव के भगवच्चिन्तन में सहायक और उपयोगी मानते हैं। अस्तु, इन्हीं दो भावों की कविताएँ विशेषतया पाई जाती हैं जो भक्तिकाल की अमूल्य निधि हैं। प्रिया प्रियतम दोनों रस से इतने शराबोर हैं कि पास रहते हुए भी सुधि नहीं। इस हित-तत्व का परिपाक दोनों में युगपत् ही होता है, कहा है :

"एक प्राण मन दोई तन अँखियन की-सी प्रीति।
जैसे न्यारी रहत हैं देखत एकहिं रीति॥
एक रंग रुचि एक वय एकै भाँति सनेह।
एकै सील सुभाव मृदु रस के हित द्वै देह॥"

इससे रस के लिए अद्वैत का ही दो होना कहा जा सकता है। रस की गाढ़ अवस्था में एक ही की स्थिति और वह भी स्वानुभूति रूप में ही होगी; कहा है :

"रस की अवधि इहाँ लौ भाई।
विधि तन मन एकै ह्वै जाई॥"

इस अवस्था का किसी रसिक ने अधोलिखित सरस वर्णन किया है :

"न आदि न अन्त विहार करें,
दोउ लाल-प्रिया में भई न चिन्हारी।
नई नई भाँति नई नई काँति,
नई नवलानवदेहि विहारी॥
हिये चित आहि रहे मुख चाहि,
रहे तन-प्रान सु सर्वस हारी।
रहैं इक पास करें मृदु हास,
सुनौ ध्रुव प्रेम अकत्थ कथारी॥"

वियोग के बिना संयोग की सम्पुष्टि नहीं होती। 'उज्ज्वल नीलमणि' में कहा है 'न विना विप्रलम्भेन संयोगः पुष्टिमश्नुते' वैष्णवों के विविध सम्प्रदायों ने अपनी उपासना पद्धति भी संयोग प्रधान वा वियोग प्रधान मानी है। वृन्दावन में तो यह प्रचलित है कि 'श्री हरिव्यासदेव वेदतन्त्र को मन्त्र मनोहर श्री वृन्दावन नित्य विहार'। अतएव हिन्दी साहित्य में मधुर रस के उभय पक्षीय मनोरस विवरण खूब पाए जाते हैं।

वृन्दावन में रस का इतना प्रभावपूर्ण प्रवाह हुआ कि श्रीधाम वृन्दावन अद्वितीय हो गया और कवियों ने अपने अपने अनुभव के अनुसार इसका वर्णन किया है। उदाहरण के तौर पर यहाँ कुछ उक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं :

"स्यामास्याम विहार नित वृन्दाविपिन उदार।
अर्ब खर्ब बैकुण्ठ को गर्व मिटावन हार॥
जय वृन्दावनधाम निज सकल लोक सिरताज।
सर्वेश्वर सर्वेश्वरी जहाँ रहत जुवराज॥
अवधादिक हरिधाम को फल वैकुण्ठ कहंत।
वनरज ऊपर वारिये सो वैकुण्ठ अनन्त॥
जय जय वृन्दाविपिन जुगुलकेलि आगार।
ताकी महिमा कहन को हारे वेद हजार॥
(श्री रूप रसिक जी)

"कुञ्जविहारी भजन करि कुञ्जविहारी देखि।
श्री वृन्दावनवास करि जनम सफल करि लेखि ॥"
(श्री ललित मोहिनी देव जी)

"हमारो वृन्दावन उर और।
माया काल तहाँ नहीं व्यापै जहाँ रसिक सिर मौर ॥
छूटि जात सत असत वासना मन की दौरादौर।
'भगवतरसिक' बतायो श्रीगुरु अमल अलौकिक ठौर ॥"
(श्री भगवत रसिक जी)

"हम व्रज सुखी व्रज के जीव।
प्रान, तन, मन, नैन सरवस राधिका को पीव।
कहाँ अनन्द मुक्ति में यह कहँ मृदु मुसकान;
कहाँ ललित निकुञ्जलीला मुरलिका कल गान।
कहाँ पूरन सरद रजनी जोन्ह जगमग जोत;
कहाँ नूपुर बीन धुनि मिलि रास मण्डल होत।
कहाँ पाँति कदम्ब की झुकि रही जमुना बीच;
कहाँ रंग विहार फागुन मचत केसरि कीच।
दास नागरि सबहि सुख अरु मुक्ति आदि अपार;
सुनहुँ व्रज बसि श्रवन में व्रज वासिन की गार।"
(श्री नागरीदास जी)

वृन्दाविपिन रसिक रजधानी।
राजा रसिकविहारी सुन्दर सुन्दर रसिकविहारिनि रानी।
ललितादिक ढिंग रसिक सहचरी युगलरूप मदयानी;
रसिक टहलनी वृन्दादेवी रचना रुचिर निकुंजखानी।
जमुना रसिक रसिक द्रुमबेली रसिक भूमि सुखदानी;
इहाँ रसिकचर थिर'नागरिया' रसिकर्दिरसिक सबै गुनगानी ॥
(श्री नागरीदास जी)

विविध महानुभावों ने वृन्दावन की विविध रीति से प्रशंसा की है; इस सारी प्रशस्ति के मूल में कोई ऐसी वस्तु होनी चाहिए जिस धन का धनी बन कर अन्य सब प्राप्त करने की इच्छा निर्मूल हो जाती है। श्री गंगा जी द्वारा हरिद्वार, सागर के कारण श्री जगन्नाथपुरी, सेतुबंध के कारण श्री रामेश्वर जी प्रसिद्ध हैं उसी प्रकार अपनी रज (धूल) के कारण व्रज की विश्रुति है। व्रजरज के ही लोभ से भारत के विविध कोनों से श्रद्धालु जनता यहाँ आती है और स्व श्रद्धा और विश्वास के अनुरूप रज से इष्ट को प्राप्त करती रही है और आज भी कर रही है। इसका प्रमाण है समस्त भारत से आने वाले यात्रियों का अपार जनसमूह जो वृन्दावन पधार कर अपने को कृतपुण्य मानता है और व्रज वासियों को भोग देता है। वृन्दावन-दर्शन, वृन्दावनवास अनेक पुण्यों का फल माना जाता है।

"भाग बड़ो वृन्दावन पायो।
जा रज को सुर नर मुनि कलपत विधि शङ्कर शिर नायो ॥
बहुतक युग या रज बिन बीते जन्म जन्म डहकायो।
सो रज अब कृपा करि दीनी अभय निशान बजायो ॥
आय मिल्यो परिवार आपने हरि हँसि कण्ठ लगायो।
स्यामा स्यमजू विहरत दोऊ सखी-समाज मिलायो ॥
सोग सन्ताप करो मति कोई दाव भलो बनि आयो।
'श्रीरसिकविहारी' की गति याही धनि धनि लोक कहायो ॥
(श्री रसिकदेव जी)

अब देखना यह है कि व्रजरज में इतनी शक्ति कहाँ से आई जिससे आबाल-वनिता-वृद्ध-समुदाय इधर खींचता चला आ रहा है। भगवान् के ऐश्वर्यधाम अनेक हैं पर लीलाधाम, परमधाम वृन्दावन है, व्रज ही है। यहाँ के रज की महत्ता श्रीकृष्णचन्द्र जी ने समझी थी। रज के भक्षण से मुख में समस्त विश्व को दिखलाने की क्षमता कन्हैया में आ गई थी, सर्वविदित है यह बात। इस रज में ही भगवान् नंगे पाँव लकुटी ले कर गौओं के पीछे भागे थे। श्रीमद्भागवत में यह स्पष्ट है कि लाला के चरण तले लक्ष्मी अपना वक्षःस्थल रखती फिरती थीं कि कहीं उनका महत्त्व छिन न जाए। अखिल ब्रह्माण्ड के किसी भूखण्ड को यह सौभाग्य प्राप्त न हुआ था; जहाँ लक्ष्मी पग पग पर डोलती फिरी हो। महत्त्व का इससे बढ़ कर क्या प्रमाण दिया जा सकता है।

यह निर्विवाद प्रत्यक्ष सिद्ध है कि आज भी कलिकाल ने सामूहिक रूप से जितना नामजप यहाँ होता है उतना अन्यत्र कहीं नहीं। व्यक्तिगत तपस्या से कोई महापुरुष किसी स्थान विशेष को पवित्र कर ले यह दूसरी बात है। सामूहिक दृष्टि से आज भी यहाँ की धूलि को यह सौभाग्य प्राप्त है जो भजन की ओर लोगों को अजस्र प्रेरित करती रहती है और संभव है आगे भी करती रहेगी। विगत कुछ शताब्दियों से यहाँ रह कर महात्माओं ने विविध तप किए। आज भी वार्धक्यों का प्राप्तव्य क्या है? रज की प्राप्ति (शरीर के मिट्टी अंश को व्रज रज से मिला देना) ही सबका चरम लक्ष्य है।

रज को इतनी ख्याति दिलाई यहाँ के सन्तों ने,

भजनानन्दी अकिंचन साधुओं ने। श्री गोविन्दशरण देवजी ने कहा भी है :

"देही बिन ज्यों देह यों धामक्षेत्र बिनु संत।
ताते नितप्रति पाठ कर धामक्षेत्र निज तंत॥"

तैल धारावत भजन कर उसने अपने शरीर को चिन्मय बना ही लिया था और अपने उत्कट भजन से चतुर्दिक् को भी चिन्मय कर दिया था। उनके भौतिक तत्त्वों को जला कर चिन्मय तत्त्वों को रज में मिला देने की प्रक्रिया चल रही है। रज के चिन्मय स्वरूप को आज भी जो श्रद्धालु देखना चाहें देख सकते हैं। बड़े बड़े पद्मपति, अभ्युदय सम्पन्न व्यक्ति यहाँ आकर महात्माओं के उपदेश मिट्टी में बैठ कर सुनते और अपने को धन्य मानते हैं। जिनको अन्यत्र उच्चासन मिलता था वे यहाँ धूल में बैठ कर, लोट कर, दण्डवती परिक्रमा लगा कर आनन्दित होते और कृतकृत्य मानते हैं। व्रज का एक छोटा-सा टुकड़ा वृन्दावन है जिसकी आबादी लगभग २३,००० है।

भारत का वैभव काल अब न रहा। विराट् यज्ञों का समय जाता रहा, विपुल क्रियाशक्ति के दिन लद गए। ज्ञान तथा कर्म के स्वर्ण दिवस उठ गए। अब तो तन क्षीण, मन मलीन, गठरी दीन होकर हमें अपना लक्ष्य प्राप्त करना है। इन तीनों की एकत्र प्राप्ति व्रजरज में है। मिट्टी चिकित्सा से देह को पीन (मोटा) कीजिए।× व्रजरेणु से मलिन मन को निर्मल कीजिए। मिट्टी से ही बरतन चमकते हैं। चञ्चला के अचला रूप से अपना व्यवहार चलाइए। इस प्रकार व्रजरज से ही तन-मन-धन की प्राप्ति कीजिए।

व्रज का परम धन है रज। श्रेष्ठी वर्ग धन को छिपा कर तिजौरी में गुप्त रखता है पर व्रज के तपोधन अपने परम धन को फैला कर, बखेर कर, उड़ा कर रखते हैं कि जो चाहे जितना मन हो ले सके। यही व्रज की अलौकिक महत्ता है। यह चौरहार्य भी नहीं, क्योंकि चौराधिपति द्वारा यह पहले ही आत्मसात् की जा चुकी है।

मोक्ष सबसे उत्तम, चरम, परम लक्ष्य माना गया है। चार पुरुषार्थों में यही चरम प्राप्तव्य है। यहाँ व्रज में, मुक्ति की बड़ी छीछालेदर (निरादर) है। 'भक्ति भरे जहूँ पानी।' व्रज में मुक्ति मिट्टी हो गई। सूर ने भी कहा है :

'मुकुति अग्नि मन्द महूँ भेली'

इससे ही यहाँ की रज से मुक्ति चाहनेवालों को उनका ध्येय भी अनायास मिल जाता है। भुक्ति और मुक्ति देव कन्याएँ हैं। ये दोनों बड़ी सजधज के साथ व्रजवासियों को आकर्षित करती फिरती हैं, उन्हें फसाने में सदा संलग्न रहती हैं; पर व्रजवासी भी कच्ची गोली से नहीं खेलते; उनका मन तो खिंच चुका है सेवा देवी द्वारा। क्योंकि उनके सखा कन्हैया ने सेवा देवी को ही स्वीकारा था। शैशव से वार्धक्य तक उनके सारे काम सेवा प्रेरित ही तो थे। पूतनोद्धार से प्रभास क्षेत्र के हत्याकाण्ड तक में उनकी सेवावृत्ति ही लक्षित होती है। अतः भगवत्सान्निध्य से सतत यौवना सेवा को ही व्रजवासी वरते हैं।

व्रजरेणु को परम प्राप्तव्य बना कर बदले में कुछ पाने की आशारूपी वणिक् वृत्ति का निराकरण किया गया है। जहाँ बदला है वहाँ प्रेम कैसा? रज की प्राप्ति कैसे संभव है? 'देवो भूत्वा देवं यजेत्' की नीति से उपासना होती है। जिसको प्राप्त करना है वैसा पहले बनना पड़ता है। विस्तार में न जा कर केवल इतना ही कह देना कि रज से ही रज की प्राप्ति संभव है, पर्याप्त है। दुःखी भारत के पास अन्य सम्बल ही क्या है? रज हमारी निरीहता का, अकिञ्चनता का प्रतीक है।

व्रजरेणु की परमौषधि का परम पावन इतिहास है। एक बार द्वारिका के द्वारिकाधीश श्री कृष्णचन्द्र के हृदय में पीड़ा होने लगी। चिकित्सकों का क्या अभाव? राजवैद्य की औषधि कारगर नहीं हुई। न तो शूलारिवटी और न ए. पी. सी. चूर्ण ही दर्द को घटा सका। 'दर्द बढ़ता ही गया ज्यों ज्यों दवा की'। तन्त्र मन्त्र यन्त्र सब निरर्थक हुए। इसी बीच भक्ति के आचार्य श्री नारद जी भी आ पहुँचे। उनसे भी यह कष्ट देखा नहीं गया। वे भक्ति की महिमा जानते थे। वे समझ गए। उन्होंने कहा कि भक्त की पगधूलि के लगाते ही पीड़ा कपूर हो जाएगी। द्वारिका में भक्त की छानबीन होने लगी। पर राजा को पगधूल देने को कोई राजी न हुआ।

लाचार सत्यभामा जी ने नारद जी से दवा की व्यवस्था करने का आग्रह किया। उन्होंने ऋषि, मुनि,

---

× महात्मा गांधी, एल्डोल्फ जुस्ट आदि देशी विदेशी विद्वानों ने मिट्टी से रोगों की चिकित्सा का मार्ग दिखाया है—ले.

राजर्षि, ब्राह्मण, विष्णु, महेश शेष सब को खटखटाया पर पदाङ्घ्रिरेणु देने को कोई प्रस्तुत न हुआ। अन्त में, निराश होकर जब नारद लौट रहे थे तो व्रज में नन्द बाबा को भी सूचना देने की ठानी। उनकी सारी बातों को सुन गोपियों ने ढेर की ढेर पगधूलि दे दी और कहा कि हमें पगधूलि देने स्वरूप दैव जो दण्ड देना चाहे दें, उसे हम सहर्ष स्वीकारती हैं पर प्यारे पीड़ा से छटपटाएँ और दवा होते हम न दें, यह नहीं हो सकता। यदि हमारे प्राणों की आवश्यकता हो तो सीधे यहीं आना, तुरन्त अपरिमित प्राण मिल जाएँगे। हे नारद जी, आप यहाँ अधिक देर न रुकिए. शीघ्र ही मनमोहन की चिकित्सा कर उन्हें नीरोग बनाइए। गोपी-पाद-पांसु से भगवान् की पीड़ा अशेष हुई। तब से व्रजरज का महत्व और भी बढ़ गया है।

जो भाग्यवान् भावमय व्रज में विचर सकते हैं वे पूज्य हैं; पर वे पामर परम पूज्य हैं जो अपनी श्रद्धा के बल पर व्रजरज को महत्व देके आए हैं। भावमय व्रज ने इने गिने लोगों का उद्धार किया पर रजोमय व्रज ने अगणित को तारा है और आज भी तार रहा है। व्रज में अभिमान का लेश संभव नहीं यह व्रजरज की उपासना से स्पष्ट है।

इस प्रकार युगुलोपासना के अन्तर्गत निकुञ्जलीला का वर्णन है, जो इस प्रकार के व्यक्ति हैं वे इससे लाभ उठावें पर जो इस विचार के विपरीत हैं वे भी वंचित न रह जाँय अतः रजोपासना की भी व्यवस्था की गई। इस प्रकार ज्ञान, कर्म, योग, सब का सम्मिश्रण व्रज की उपासना पद्धति में अपनी विशेषता के साथ सन्निहित है।

—व्रजभूषण मिश्र
एम. ए.; बी. टी.

मदनमोहन घेरा,
वृन्दावन

उत्तर

प्रश्न : क्या साम्यवाद का वास्तव में सैनिक उत्तर हो सकता है?

उत्तर : नहीं। आपको एक विचार का उत्तर उससे अच्छे विचार से देना चाहिए। पिछले दोनों युद्धों में विजितों और पराजितों की अवस्था एक समान बुरी रही। आज विनाश के भय से लोग लड़ना नहीं चाहते। लड़ाई का मैदान मानसिक है। हमें अपने विचारों को अपने विरोधी लोगों को हृदयंगत करना चाहिए। यदि हम विचारों के मैदन में हार जाएँगे तो यह एक भयानक मुसीबत होगी।

—मेजर जनरल फुलर
रीडर्स डाइजैस्ट

विष्णुधर्मोत्तर पुराणगत रस-चर्चा

साहित्य-शास्त्रियों के बीच रस-विषयक चर्चा के प्रसंग में अग्नि-पुराण का बहु बार उल्लेख हुआ है अतएव साधारण पाठक के मन में यदि यह धारणा स्थिर हो गई हो कि रस का विचार यदि पुराणों में कहीं किया गया है तो एक मात्र अग्नि-पुराण में ही, तो आश्चर्य नहीं होगा। विद्वानों के बीच रस के प्रसंग में विष्णुधर्मोत्तर की चर्चा जितनी न्यून और निस्सार रूप में हुई है, उससे इतना तो स्पष्ट ही है कि उक्त पुराण को सम्मान नहीं मिला। प्राचीन शास्त्रियों ने भी इस ग्रन्थ की उपेक्षा ही की है, जिसके परिणाम-स्वरूप परवर्ती साहित्यक विचारकों ने इस पर दृष्टिपात करना बहुत आवश्यक नहीं समझा, किन्तु शास्त्र-विवेचन के क्षेत्र को छोड़कर काव्य रसिकों और कवियों के बीच इस ग्रन्थ के अनेक पदों को सम्मान मिला और उन्होंने अपने ग्रंथों में उसका पूरा उपयोग भी किया है। प्रसिद्ध इतिहासकार अल्बेरुनी तक ने इसके ३० पदों को उद्धृत किया है। बल्लाल सेन का 'दानसागर' भी इस ग्रन्थ का ऋणी है। महामहोपाध्याय श्रीयुत काणे ने कई ग्रन्थों का उल्लेख करते हुए विष्णुधर्मोत्तर के ऋण की चर्चा अपने ग्रन्थ 'हिस्ट्री आफ संस्कृत पोइटिक्स' के ६७-६८ पृष्ठों पर की है। उन्होंने इसका रचना-काल ५०० से ६०० ई० के मध्य माना है। उनका विचार है कि यह ग्रन्थ भट्टि से पूर्व का है क्योंकि विष्णुधर्मोत्तर पुराण केवल १७ अलङ्कार स्वीकार करता है, भट्टि आदि के समान ३०-४० नहीं।

इस वृहत्काय पुराण के तीन भाग हैं। इनमें तृतीय का सम्बन्ध नाटक, अभिनय, रस तथा भाव आदि से है। नाट्यशास्त्र तथा काव्यालङ्कार को लेकर कम से कम १००० छन्दों तथा चार गद्यात्मक अध्यायों की रचना की गई है। ३० तथा ३१ अध्याय में क्रमशः रस तथा भावों की चर्चा की गई है। रस का वर्णन करते हुए पुराणकार ने २८ तथा भावों के वर्णन में ५८, कुल ८६, छन्दों का प्रयोग किया है। इसका लेखक रस का प्रवल समर्थन करता हुआ कहता है :

"नाट्यस्य मूलं तु रसः प्रदिष्टो, रसेन हीनं न हि वृत्तिमस्ति।
तस्मात्प्रयत्नेन रसाश्रयस्य, वृत्तस्य यत्नं. पुरुषेण कार्यम् ॥"
३०-२८॥

उसका विचार है कि नाट्य का मूलाधार यह रस ही है, अतएव रस परिपाक का पूर्ण यत्न करना अवश्यक है।

इतना प्रवल समर्थन करने पर भी उक्त पुराण को शास्त्रों और शास्त्रकारों की ओर से महत्व नहीं मिला, इसका एकमात्र कारण है उसके द्वारा भरत का अनुगमन इस पुराण की एतत्सम्बन्धी पंक्तियां भरत के नाट्यशास्त्र से उद्धृत मात्र हैं। पुराणकार ने अनेक पंक्तियां ज्यों की त्यों भरत से ले ली हैं। और ऋण कहीं भी स्वीकार नहीं किया है। दूसरे, इस पुराण को सम्मान मिलने में इस कारण भी कठिनाई हुई कि इसमें केवल एक एक दो-दो पंक्तियां भर कह कर छोड़ दिया गया है, विवेचन की चेष्टा नहीं की गई। भरत की ही पंक्तियां लेकर भी भरत से कम ही लिखा गया। फलस्वरूप, यदि कहीं किसी मौलिक विचार का प्रदर्शन किया भी गया तो वह भरत की पंक्तियों के बीच ओझल हो गया। केवल,

१—"न ह्येक रसजं काव्यं किंचिदस्ति प्रयोजनम्।
भावो वापि रसो वापि प्रवृत्तिर्वृत्तिरेव वा॥"

अथवा

२—"बहूनां समवेतानां रूपं यस्य भवेद्बहु।
स मन्तव्यो रसः स्थायी शेषाः संचारिणः स्मृताः॥"

जैसी पंक्तियाँ ही भरत से नहीं ली गई हैं, बल्कि परिभाषा, लक्षण, तथा, भेद आदि भी भरत के ही अनुकूल रखे गये हैं। यहाँ ऐसे स्थलों को उद्धृत करना अनावश्यक समझ कर हम केवल पुराणगत रस-विवेक की नवीनता की ओर ही ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं। भरत की पंक्तियों पर जीवित रह कर भी यह ग्रन्थ मौलिक दृष्टि से शून्य नहीं है।

मौलिकता-प्रदर्शन की सबसे पहली चेष्टा लेखक ने रससंख्या के विचार के अन्तर्गत ही प्रदर्शित की है। भरत ने नाट्य से केवल आठ ही रसों का सम्बन्ध स्थापित किया था किन्तु वि. ध. पुराण को शान्त भी नाट्य

में मान्य है। ३० वें अध्याय का सबसे पहला श्लोक इसी रससंख्या का उल्लेख करते हुए उनकी भिन्न दृष्टि की सूचना देता है। उनकी पंक्ति की विचित्रता यह भी है कि वे भरत के समान श्रृंगार से उसका आरंभ न करके हास्य का सबसे पहले नाम लेते हैं।

"हास्यश्रृङ्गारकरुणारौद्रवीरभयानकाः।
बीभत्साद्भुतशान्ताख्या नव नाट्ये रसाः स्मृताः॥१॥"

भले ही आगे की पंक्ति में भरत की वाक्यावली में ही स्वीकार करते हों कि :

"श्रृंगाराद्धि भवेद्धास्यो रौद्राच्च करुणोदयः ॥२॥"
"वीराच्चैवाद्भुतोत्पत्तिर्बीभत्साच्च भयानकः ॥३॥"

इस प्रकार स्थापना करते हुए पुराणकार ने स्पष्ट स्वीकार किया है कि :

"शान्तो रसः स्वतन्त्रोऽत्र पृथगेव व्यवस्थितः।"

शान्त की उन्होंने स्वतन्त्र स्थापना की है। इस शान्त के देवता स्वयं परम-पुरुष हैं तथा वैराग्य से ही इसकी उत्पत्ति होती है। सर्वभूतदया तथा मोक्ष-मार्ग में प्रवर्तन करने के कारण अथवा समस्त जीव-समूह के प्रति समान-भाव को उत्पन्न करने के कारण उस अनुभूति का नाम शान्त-रस है. जहाँ सुख, दुःख, द्वेष अथवा मत्सर की पहुँच नहीं[1]।

इस वर्णन की अन्तिम पंक्तियाँ भरत के नाट्य-शास्त्र में उपलब्ध हैं। उनका क्रम है :

"न यत्र दुःखं न सुखं न द्वेषो नापि मत्सरः।
समः सर्वेषु भूतेषु स शान्तः प्रथितो रसः॥"

किन्तु, पुराणकार ने शान्त को वैराग्य-जनित बता कर ही छोड़ दिया है, उसके स्थायी-भाव की चर्चा नहीं की है। निर्वेद, शम, धृति अथवा अन्य कोई भी नाम इस प्रसंग को लेकर उठाया ही नहीं गया, फलतः शान्त के स्थायी भाव के विषय में उनके मत का पता नहीं लगता। वस्तुतः पुराणकार का ध्यान मुख्यतः शान्त की नाट्योपयोगिता पर रहा है अतएव उसके स्थायीभाव की चर्चा न कर उन्होंने अभिनेयता सम्बन्धी (स चाभिनेयो भवति लिंगग्रहणतस्तथा।) विचार प्रस्तुत करके ही सन्तोष कर लिया।

रस-प्रसंग में दूसरी नवीनता श्रृंगार-विवेचन में प्रदर्शित की गई है। पुराणकार ने श्रृंगार के विप्रलम्भ पक्ष की दश अवस्थाओं का जो उल्लेख किया है, वह नाम के विचार से नया ही है। विप्रलम्भ के अन्तर्गत इन दश अवस्थाओं का वर्णन भरत ने भी किया है। भरत ने २४ वें अध्याय के निम्न श्लोकों में उनका नामोल्लेख किया है, तथा उसके पश्चात् वहीं विस्तारपूर्वक उनका व्याख्यान भी किया गया है :—

"एवं विधैः कामलिंगैरप्राप्तसुरतोत्सवा।
दशावस्थागतं कामं नानाभावैः प्रकाशयेत् ॥१५६॥
प्रथमे त्वभिलाषः स्यात् द्वितीये चिन्तनं भवेत्।
अनुस्मृतिस्तृतीये तु चतुर्थे गुणकीर्त्तनम् ॥१६०॥
उद्वेगः पंचमे प्रोक्तो विलापः षष्ठ उच्यते।
उन्मादः सप्तमो ज्ञेयो भवेद् व्याधिस्तथाष्टमः॥
नवमे जडता प्रोक्ता दशमे मरणं भवेत् ॥१६२॥"

तात्पर्य यह कि भरत के अनुसार—तथा अन्यों द्वारा भी मान्य—यह दश अवस्थाएँ क्रमशः अभिलाष, चिन्तन, अनुस्मृति, गुणकीर्त्तन, उद्वेग, विलाप, उन्माद, व्याधि, जडता तथा मरण हैं। किन्तु, पुराणकार की परिगणित दशाएँ इनसे भिन्न हैं। उनका वर्णन उन्होंने निम्न प्रकार से किया है :

"विप्रलम्भे तु निर्दिष्टाः कामावस्थास्तथा दश।
चक्षुः प्रीतिर्विनिर्दिष्टा प्रथमायां नराधिपः॥
मनसश्च तथा संगो द्वितीयायां प्रकीर्तितः।
स्मरणं च तथा प्रोक्तं तृतीयायां निरन्तरम्॥
निद्राभेदश्चतुर्थ्यां तु पंचम्यां तनुता तथा।
व्यावृत्तिर्विषयेभ्यस्तु षष्ठ्यां प्रोक्ता नराधिपः॥
लज्जाप्रणाशः सप्तम्यामुन्मादस्तदनन्तरम्।
नवम्यां तु तथा मूर्च्छा दशम्यां मरणं भवेत्॥"

जिसके अनुसार उनके द्वारा वर्णित दशाएँ क्रमशः चक्षुप्रीति, मनःसंग, स्मरण, निद्रा, तनुता. व्यावृत्ति, लज्जानाश, उन्माद, मूर्च्छा तथा मरण होंगी। तुलना

---

[1] —शान्तस्य तु समुत्पत्तिर्नृपवैराग्यतः स्मृताः।
स चाभिनेयो भवति लिंगग्रहणतस्तथा ॥६॥
सर्वभूतदयाध्यानमोक्षमार्ग प्रवर्तनेः।
नास्ति यत्र सुखं दुःखं न द्वेषो नापि मत्सरः ॥१॥

द्वारा स्पष्ट प्रतीत होता है कि नामकरण के विचार से उन्माद तथा मरण के अतिरिक्त सभी दशाओं का नाम नया ही है। स्वयं पुराणकार ने तो इनका विस्तृत व्याख्यान किया नहीं है, जिससे इनके स्वरूप तथा भरत से अन्तर का ज्ञान पाठक को हो सकता, तथापि भरत द्वारा उक्त दशाओं के विस्तृत व्याख्यान के अध्ययन से प्रकट हो जाएगा कि इनमें से कई का उनके द्वारा कथित दशाओं के एकाध लक्षण को लेकर ही नामकरण कर दिया गया है। 'चक्षुःप्रीति' भरत के 'अभिलाष' से भिन्न नहीं है। भरत ने 'अभिलाष' का लक्षण निर्धारित करते हुए बताया है कि इस अवस्था में व्यक्ति अपने प्रिय के दर्शन पथ में आने का प्रयत्न करता है, कभी उस स्थान पर जाता है जहाँ से प्रेमी का सम्बन्ध है, कभी वहाँ से होकर निकलता है और इस प्रकार अपने प्रेम-भाव को व्यक्त करता है :

"निर्गच्छति प्रविशति करोति चाकारमेव मदनस्य।
तिष्ठति च दर्शनपथे प्रथमस्थानाश्रिते कामे ॥२४-१६४॥"

उक्त श्लोक के तृतीय चरण से इसी चक्षुप्रीति का, जिसका पुराणकार ने उल्लेख किया है, भाव व्यक्त हो रहा है।

द्वितीय अवस्था मनःप्रीति अथवा संगेच्छा चिन्ता के अन्तर्गत ग्रहण की जा सकती है। भरत के अनुसार चिन्ता का लक्षण है :

"केनोपायेन सम्प्राप्तिः कथं वा संभवेन्मम।
दूतीनिवेदितैर्वाक्यैरिति चिन्तां विनिर्दिशेत् ॥१६५॥"

पुराणगत नामोल्लेख से केवल संगेच्छा तो प्रकट होती है, शेष दूती आदि का कोई विचार नहीं उठता। किन्तु, इतने से भी मनःप्रीति को चिन्ता मानने में सहायता ही मिलती है, बाधा उपस्थित नहीं होती। छठी दशा, व्यावृत्ति, वस्तुतः अलग भेद न होकर भरत के अनुस्मृति-विचार के अन्तर्गत ही एक लक्षण मात्र है। भरत ने उस अवस्था को अनुस्मृति कहा है जिसमें एक व्यक्ति बार बार निश्वास लेता हुआ प्रिय के विषय में पुनः पुनः चिन्तन करता हुआ अन्य कार्यों की ओर से विमुख हो जाता है। वि. ध. पुराण की व्यावृत्ति स्पष्टतः भरतकृत अन्तिम लक्षण मात्र है। अलग अवस्था नहीं। इसे उन्होंने निम्न श्लोक में प्रकट किया है :

"मुहुर्मुहुर्निश्वसितैर्मनोरथविचिन्तनैः।
प्रद्वेषस्त्वन्यकार्याणामनुस्मृतिरुदाहृता ॥१६७॥"

'स्मरण' दशा को 'गुणकीर्तन' माना जा सकता है। 'लज्जाप्रणाश' 'उन्माद' की एक अन्तर्दशा मात्र है। इस अवस्था में प्रीति प्रेमी के कार्य-कलापों से स्पष्ट रूप में प्रकट होने लगती है। अनिमिष दृष्टि, दीर्घ निःश्वास, ध्यानमग्नता, विहारकाल में रुदन आदि इस उन्माद के अभिनेय लक्षण हैं :

"तिष्ठत्यनिमिषदृष्टिर्दीर्घं निश्वसिति गच्छति ध्यानम्।
रोदिति विहारकाले नाट्यमिदं स्यात्तथोन्मादे ॥१७६॥"

इन लक्षणों का किसी में प्रकट होना निश्चय ही लज्जाप्रणाश कहा जा सकता है। सामान्यतः आज भी किसी में उन्माद बता देना उसके पागलपन और निर्लज्ज व्यवहार का ही बोधक है। इस विचार से उन्माद तथा लज्जाप्रणाश का अलग अलग नामोल्लेख संगत नहीं प्रतीत होता। 'तनुता' 'व्याधि' का एक लक्षण स्वीकार किया जा सकता है। 'मूर्च्छा' का उल्लेख बहुत से लेखकों ने मरण के स्थान पर किया है, किन्तु पुराणकार ने 'मरण' को भी अलग स्थान दिया है। इसी प्रकार 'निद्रा' की भी गणना अपनी ओर से की गई है। सारांश यह कि, निद्रा तथा मूर्च्छा को छोड़ कर शेष सभी भरतकृत विवेचन के अन्तर्गत आ जाते हैं। किन्तु भरत के द्वारा वर्णित समस्त दश दशाओं का अन्तर्भाव इनमें नहीं हो पाता। उद्वेग, विलाप, तथा जड़ता का उल्लेख किसी प्रकार भी न हो सका। साथ ही निद्रा जैसी अवस्था अनावश्यक रूप से साथ जोड़ दी गई। लज्जाप्रणाश भी उन्माद का ही एक लक्षण होने से व्यर्थ ही है। तनुता भी व्याधि के घेरे में पूरी पूरी नहीं बैठती। उसका सम्बन्ध शरीर से है, मन से नहीं। इस प्रकार विप्रलम्भ की इन दश अवस्थाओं में से केवल सात ही उपयोगी हैं।

वीर रस के भेद वर्णन में भी पुराणकार ने कुछ स्वतन्त्रता से काम लिया है। भरत ने वीर के दान, धर्म तथा युद्ध से सम्बन्धित तीन प्रकार बताए थे, किन्तु पुराणकार धर्मवीर का उल्लेख न करके दयावीर का उल्लेख करता है। भरत का श्लोक था :

"दानवीरं धर्मवीरं युद्धवीरं तथैव च।
रसवीरमपि प्राहुस्तज्ज्ञास्त्रिविधसम्मतम् ॥६-७६॥"

किन्तु पुराण की उक्ति है :

युद्धवीरं दयावीरं दानवीरं तथैव च ॥
रसं वीरमिति प्राहुस्तज्ज्ञास्त्रिविधमेव च ।
॥ अ० ३१, ५५ तथा ५६ ॥

शेष का भेद-वर्णन भरत के अनुकूल उनकी शब्दावली में किञ्चित् हेर फेर के साथ वही है ।

३१ वें अध्याय में पुराणकार ने ४६ भावों के वर्णन करने का प्रयत्न किया है । वह क्रमशः स्थायीभाव, संचारी, सात्विक की गणना कराता हुआ अन्त में अत्यन्त संक्षेप में कुछ रसों के संचारी तथा सात्विकों का भी वर्णन करता है । कुछ संचारियों तथा कुछ सात्विकों का वर्णन यथास्थान न करके केवल रस में उनका उल्लेख कर दिया गया है और कुछ नए संचारियों की कल्पना भी की गई है । स्थायी के अन्तर्गत केवल शान्त का स्थायी छोड़ दिया गया है, शेष का वर्णन किया गया है जो भरत का अनुगमन भाव में ही नहीं पंक्तियों के रूप में भी करता है । किन्तु, भरत ने एक एक स्थायी को जिस प्रकार श्लोक तथा गद्य का सहारा लेकर स्पष्ट बताया है वह विस्तृत विशद रूप पुराण के वर्णन का नहीं है ।

यहाँ भी सबसे पहले हास्य के स्थायी का ही वर्णन किया गया है । हास के भरत ने स्मित हास तथा अतिहसित नाम से दो भेद किए हैं किन्तु वि. ध. के अनुसार अतिहसित के स्थान पर अभिहसित नाम होना चाहिए । शोक के अभिनय के लिए रुदन क्रिया का दोनों ने ही उल्लेख किया है किन्तु भरत ने जहाँ रुदित के आनन्दज, आर्तिज तथा ईर्ष्या समुत्थ नामक तीन भेद दिए हैं वहाँ पुराणकार ने एक की भी चर्चा नहीं की । भरत ने उत्तमादि प्रकृति के विचार से भी शोक का विचार किया है, किन्तु पुराणकार इस सम्बन्ध में बिलकुल मौन है । क्रोध के रिपुज, गुरुज, भृत्यज तथा प्रणयोद्भव, यह चार भेद दोनों ने ही स्वीकार किए हैं । अभिनेय लक्षणों में भी परस्पर साम्य है किन्तु भृत्यज क्रोध का अभिनय दोनों ने भिन्न भिन्न प्रकार से बताया है । पुराणकार ने भृत्यज क्रोध के प्रदर्शन में, 'भृत्यानां च दयालुः' कह कर, दयालुता के अंश को स्वीकार किया है किन्तु भरत के लक्षण इससे नितान्त भिन्न प्रकार के हैं । उनका मत है कि :

"यः परिजने तु रोषस्तर्जननिर्भर्त्सनादिविस्तारैः ।
विप्रेक्षणैश्च विविधैस्तस्याभिनयः प्रयोक्तव्यः ॥"
(अ० ७, १६)

भृत्य के प्रति क्रोध प्रदर्शन के लिए तर्जन, भर्त्सना, नेत्र-विस्फार, तथा अनेक प्रकार की तिरस्कारमयी दृष्टि से देखना आदि अभिनय करना चाहिए ।

भय के वर्णन में भी पुराणकार ने उसे केवल 'स्वापराध जनित' ही बता कर उसकी चर्चा समाप्त कर दी है । भरत के समान न तो यही कहा है कि :

"गुरुराजापराधेन रौद्राणांचापि दर्शनात् ।
श्रवणादपि घोराणां भयं मोहेन जायते ॥ ७, २२ ॥"

और न भय के अभिनेय लक्षणों की ही वैसी लम्बी सूची दी है ।

सात्विकों में केवल स्वर भेद, अश्रु तथा वैवर्ण्य केवल तीन का परिचय एक एक पंक्ति में दिया गया है । शेष का नाम केवल रसों में आनेवाले संचारियों के साथ गिना भर दिया गया है । प्रलय का नाम वहाँ भी नहीं लिया गया है । विचित्रता यह है कि पुराणकार का विचार वैवर्ण्य को अभिनेय ही स्वीकार नहीं करता । उनका कहना है कि इसका प्रदर्शन अत्यन्त दुष्कर है ।

"वर्णान्तरत्वाद्विज्ञेयं वैवर्ण्यं नाट्ययोक्तृभिः ॥४३॥"
"वैवर्ण्यं नाभिनेतव्यं प्रयत्नात्तद्धि दुष्करम् ॥४४॥"

किन्तु, भरत को इसमें सन्देह करने की आवश्यकता ही नहीं प्रतीत हुई और उन्होंने उसके अभिनय का विधान अत्यन्त सरलता से निम्न शब्दों में कर दिया :

"मुखवर्णपरावृत्या नाडीपीडनयोगतः ॥७, १०४॥"
"वैवर्ण्यमभिनेतव्यं प्रयत्नादंगसंश्रयम् ॥७, १०५॥"

संचारियों के वर्णन में पुराणकार ने वृत्ति, क्रीड़ा, तथा सन्देह, इन तीन नवीन संचारियों का नाम लिया है । इनमें 'सन्देह' का लक्षण 'वितर्क' से मिलता हुआ है और नामकरण भी केवल पर्याय ही है । अतः इसको नवीन मानने की आवश्यकता नहीं । सन्देह का लक्षण : 'विचारणार्थे सन्देहः कार्यो भ्रूक्षेपकम्पनैः' भरत की निम्न पंक्तियों की काटछाँट मात्र है :

'विचारणादि सम्भूतः सन्देहजननात्मकः ।
वितर्कस्त्वभिनेयः स्याच्छिरोभ्रूक्षकम्पनैः ॥७, ६१॥"

वृत्ति तथा क्रीड़ा के लक्षण पुराणकार ने क्रमशः इस प्रकार दिए हैं :

"लोके भ्रान्तिविनाशाद् वृत्तिनमिह जायते ॥२३॥"
"प्रयोग्योलब्धभंगेन अलब्धस्य विवर्जितम् ॥२४॥"

तथा,

"क्रीडा नामेह भवति चारव्याद्धर्षसंभवा ॥२४, उत्तरार्द्ध॥"
"क्रीडनेन प्रयोज्या सा गुरुवाक्यप्रतिक्रमैः ॥२५॥"

इस प्रकार विवेचन करते हुए पुराणकार ने क्रमशः हास्य, रति, शोक, क्रोध, विस्मय, उत्साह, भय, जुगुप्सा, आदि ८ स्थायीभावों, निर्वेद, ग्लानि, शङ्का, असूया, मद, श्रम, आलस्य, दैन्य, मोह, स्मृति, व्रीड़ा, चपलता, हर्ष, आवेग, विषाद, औत्सुक्य, निद्रा, अपस्मार, सुप्त, अमर्ष, अवहित्था, उन्माद, मरण, त्रास आदि २४ प्राचीन संचारियों तथा स्वरभेद, अश्रु तथा वैवर्ण्य इन तीन सात्विकों का पृथक् पृथक् लक्षण देते हुए वर्णन किया है। साथ ही संचारियों में वितर्क के स्थान पर सन्देह तथा वृत्ति एवं क्रीडा नामक दो अन्य नए संचारियों का उल्लेख करते हुए उनके लक्षण का प्रतिपादन किया है। इस प्रकार जिन भावों का लक्षण सहित निरूपण किया गया है उनमें से ३६ प्राचीन हैं, तथा ३ नवीन उद्भावनाएँ हैं। इसके अतिरिक्त साहित्य-शास्त्रियों के बीच मान्य चिन्ता, धृति, जडता, गर्व, उग्रता, मति, व्याधि संचारियों तथा स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, तथा वेपथु आदि सात्विकों की रसों के अन्तर्गत आने वाले भावों में चर्चा मात्र कर दी गई है। संचारियों में विबोध तथा सात्विकों में प्रलय को पूर्णतया छोड़ ही दिया गया है। तात्पर्य यह कि उनके अनुसार वर्णित भाव तो ४६ ही हैं भले ही उनके वर्णन में एकाध की वृद्धि और कमी दिखाई देती हो। शान्त के स्थायी की चर्चा नहीं हुई है। शान्त की अभिनेयता तथा वैवर्ण्य की अभिनेयता पर भी उनके विचार भरत के पश्चात् मौलिक ही हैं। अतः स्पष्ट है कि यद्यपि पुराणकार भरत मुनि की विवेचना तथा शब्दावली का अत्यन्त ऋणी है और उसका रस तथा भाव-निरूपण बहुत संक्षिप्त भी है तथापि उसे अवहेलनीय नहीं कहा जा सकता।

— आनन्द प्रकाश दीक्षित
एम. ए.

सेण्ट एण्ड्रूज कालेज,
गोरखपुर

मैंने देखा कि रूस में प्रत्येक नागरिक अपूर्व उत्साह के साथ निर्माण कार्य में व्यस्त है। वहां के लोगों में काम करने के लिए बड़ा उत्साह है। वे बोलते कम हैं और काम अधिक करते हैं। जो कार्य सरकार प्रारम्भ करती है—सारा देश बिना किसी आनाकानी के उसमें जुट जाता है। यह बात नहीं है कि वहाँ सरकार की आलोचना नहीं होती। आपस की बातचीत में स्वतन्त्रतापूर्वक एक दूसरे की आलोचना होती है। वहाँ के लोग आत्म-आलोचन में अधिक विश्वास रखते हैं न कि दूसरों की नुक्ताचीनी में।

—डा. सैफुद्दीन किचलू

हिन्दी वीर-काव्यों में शृंगार रस वर्णन

वीर-रस की दृष्टि से जिन काव्यों का हिन्दी साहित्य में निर्माण हुआ है उनमें शृङ्गार रस का विशिष्ट स्थान रहा है। शृङ्गार-रस वर्णन में कवियों ने विविध पद्धतियों को अपनाया है। शृङ्गार रस के चित्रण में स्त्री-पुरुष-जाति-भेद, नखशिख-वर्णन, ऋतु-वर्णन आदि का सविस्तार वर्णन मिलता है। इसके लिए जटमल, मान तथा जोधराज विशेष प्रकार से उल्लेखनीय हैं। अधिकांश कवियों ने शृङ्गार-वर्णन में तल्लीन होकर अपने ग्रन्थों की कथावस्तु के निर्वाह को एकदम विस्मृत कर दिया है। रासो-परम्परा और रीतिकाल का प्रभाव इन ग्रन्थों के शृङ्गार-चित्रण में स्पष्ट रूप से लक्षित होता है। कहीं कहीं पर अश्लीलता के नग्न चित्र भी प्रस्तुत कर दिए गए हैं।

उक्त कतिपय दोषों के होते हुए भी इन काव्यों में शृङ्गार रस के ऐसे सुन्दर वर्णन भी मिलते हैं जो उत्तमता में रीतिकालीन श्रेष्ठ शृङ्गारी कवियों से किसी भी दशा में कम नहीं हैं।

गोरेलाल जैसे कवि ने अलौकिक शृङ्गार की ओर ही संकेत किया है। कुछ ऐसे भी कवि मिलते हैं जिन्होंने वीर रस में शृङ्गार का पुट दिया है। इस सम्बन्ध में जोधराज तथा पद्माकर के नाम विशेष रूप से दिए जा सकते हैं।

कुछ कवियों के शृङ्गार-वर्णन में स्ववाचकत्व दोष आ गया है। परन्तु इन कतिपय दोषों के होते हुए भी शृङ्गार-रस अधिकांश ग्रन्थों में वीर रस का समकक्ष बन गया है।

नीचे इस धारा के कुछ प्रमुख कवियों की शृङ्गार रस सम्बन्धी विशेषताओं को क्रमानुसार अंकित किया जा रहा है जिससे शृङ्गार रस का स्वरूप समझने में पाठक को अधिक सरलता हो सके।

केशव : केशव ने अपने ग्रन्थ 'वीरसिंह देव चरित' में शृङ्गार रस का वर्णन करने का सफल प्रयत्न किया है। अबुलफ़ज़ल की मृत्यु का समाचार पाकर अकबर के राजप्रासाद में करुण-क्रन्दन मच गया, उस अवसर पर करुण का वर्णन करते हुए कवि अपनी शृङ्गार प्रियता के लोभ का संवरण न कर सका—उदाहरणार्थ नीचे का पद देखा जा सकता है :

> "कोलाहल महलन में भयो।
> तिनकी प्रतिधुनि सुनि मन रयो॥
> मुग्धा मध्या प्रौढ़ा नारी।
> उठि दौरी जहँ तहँ डर डारी॥
> भूषन पटन संभारत अंग।
> अधिक सोभ बाढ़ी अंग अंग॥
> चञ्चल लोचन जल झलमले।
> पवन पाय जनु सरसिज हले॥
> चिलके अलिक अलक अति बनी।
> तरकी तन अँगिये की तनी॥
> राजकुमारि हँसैं मुँह मोरि।
> तुरकिन के उपजै दुख कोरि॥
> रोवति तन तोरति अति बनी।
> बिच बिच बाजति ढोलक धनी॥"[1]

उपर्युक्त पंक्तियों तथा इनसे आगे के छन्द[2] देखने से स्पष्ट हो जाता है कि करुण-दृश्य के अंकित करते समय कवि शृङ्गार की भावना में बह गया है, परिणाम यह हुआ है कि उसने रस परिपाक की अपेक्षा रसाभास का दृश्य उपस्थित कर दिया है।

रामसिंह की प्रतिष्ठा को पद्मिनी[3] और शरद् ऋतु को नायिका[4] का रूप देकर कवि ने नख-शिख वर्णन का अच्छा परिचय दिया है। इस प्रकार इस ग्रन्थ में केशव ने अलङ्कारों और प्रकृति-चित्रण की सहायता से अपनी शृङ्गार रस-प्रियता का पर्याप्त परिचय दिया है।

जटमल : जटमल ने गोराबादल की कथा में शृङ्गार-वर्णन को अधिक प्रधानता दी है। इस ग्रन्थ का अधिकांश भाग स्त्री-पुरुष-जाति वर्णन से सम्बन्धित है। इस प्रसंग में यह कहीं कहीं पर अश्लीलता की सीमा तक

---

[1] वीरसिंह देव चरित—छन्द १२-१४, पृ. ३६।

[2] वही, छन्द—४, पृ. वही।

[3] वही, छन्द—१४-२६, पृ. ५०-५१।

[4] वही, छन्द—१६-२०, पृ. ६८।

पहुँच गया है, यथा :

"गर्धभ-गति गुण हीण, परै ढरि पीन पयोहर ।
मच्छ-गन्ध तन मलिन, चुल्ह-सम-तुल्य भगंदर ॥"५

यहाँ पर यह कह देना भी अप्रासंगिक न होगा कि स्त्री-जाति-वर्णन तथा पुरुष-जाति-वर्णन का ग्रन्थ की मुख्य घटनावली से कोई सम्बन्ध नहीं है। अत एव इस वर्णन से वीर-भावना के विकसित होने में कोई भी सहायता नहीं मिलती है।

कहीं कहीं पर शृङ्गार वर्णन करने में जटमल को अच्छी सफलता भी मिली है। जैसा कि निम्नलिखित उदाहरण से स्पष्ट होता है :

"नव-सत साजि सजाइ, नारि वादल पै आई ।
थैं क्यूँ रमणि न विरम्यो, चलेउ क्यूँ करन लड़ाई ॥
अजहुं न माँडी सेज, घाव नख नाहिं चमक्के ।
कुचन चोट ना सही, सहवि किम साँग धमक्के ॥
छूटन्त नाल गोला तहाँ, टूटनि धड़ सिर ऊपरै ।
यूँ बादल सूँ नारी कहै, मताँ देख दल तै मुरै ॥"६

उक्त उदाहरण में अश्लीलता का कुछ पुट होते हुए भी रस का परिपाक पर्याप्त मात्रा में हुआ है।

भूषण : भूषण के ग्रन्थों में वीर-रस की रस-राजकता है। पर उसके साथ में कवि ने अन्य सभी रसों का वर्णन किया है। अन्य रस वीर रस के साथ लिपटे हुए हैं। इनके कतिपय स्फुट पदों में शृङ्गार-रस का स्वतन्त्र रूप से चित्रण किया गया है। नीचे केवल एक उदाहरण दे देना पर्याप्त होगा :

"नैन जुग नैनन सों प्रथमै लड़े हैं धाय,
अधर कपोल तेऊ टरैं नहि टेरे हैं ।
अड़ि अड़ि पिलि पिलि लड़े हैं उरोज बीर,
देखो लगे सीसन पै घाव ये घनेरे हैं ॥
पिय को चखायो स्वाद कैसो रति-संगर को,
भए अंग-अंगनि तें केते मुठभेरे हैं ।
पाछे परे बारन कौं बाँधि कहै आलिन सों,
भूषण सुभट येई पाछे परे मेरे हैं॥"७

मान : मान राजदरबारी कवि थे। अत एव इनके राजविलास में वर्णनात्मक पद्धति की प्रधानता है। इस शैली के परिणामस्वरूप कवि ने रस-चित्रण की ओर कम ध्यान दिया है। फिर भी इस धारा के कतिपय कवियों की अपेक्षा इन्हें रस-निरूपण में अधिक सफलता मिली है, विशेष कर शृङ्गार रस-वर्णन में।

मान ने शृङ्गार-रस का वर्णन करने में नख-शिख का सुन्दर चित्रण किया है। शृङ्गार रस का निरूपण करने में कवि कतिपय स्थलों पर अश्लील हो गया है, जैसा कि निम्नलिखित पद्य से विदित होता है :

"कहुँ लम्ब कुच तिय किद्ध, पुहवी अनादि प्रसिद्ध ।
कहुँ जनत कामिनि जात, तब पवन राखत तात ॥"८

मान के शृङ्गार-वर्णन में कहीं कहीं पर सुन्दर चित्रण के भी दर्शन होते हैं, यथा :

"सुचि सुरभि सकोमल सारी । कव्वरि मनु नागिनि कारी ॥
सिर मोती माँग सुसाजैं । रापरी कनक मय राजैं ॥"९

ऊपर के संक्षिप्त परिचय से यह परिणाम निकलता है कि मान ने शृङ्गार-रस-वर्णन में अपने काव्य-चातुर्य का पर्याप्त परिचय दिया है। अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन होते हुए भी उसकी इस योग्यता का आभास हमें मिल जाता है कि उसमें रसानुभूति की पूर्ण क्षमता थी।

गोरेलाल : गोरेलाल के ग्रन्थ 'छत्रप्रकाश' में चरित नायक के युद्धों का ही विशेष रूप से वर्णन किया गया है। इस काव्य में शृङ्गार रस का वर्णन नहीं के बराबर है। कहीं कहीं पर उसमें शृङ्गारिक भावना के दर्शन हो जाते हैं, यथा :

"इत उत ये चितवत नहीं, मन्द मन्द मुसकात ॥
सीता सों चाहत कह्यौ, कछू रसीली बात ॥"१०

स्वामी प्राणनाथ के द्वारा छत्रसाल को जो उपदेश दिया गया है, उसमें यत्र-तत्र लौकिक शृङ्गार-भावना का वर्णन करते हुए लाल कवि ने अलौकिक प्रेम की ओर संकेत किया है।११

---

५ गोरा बादल की कथा, छन्द ४८, पृ. १३।
६ वही, छन्द ११३, पृ २७-२८।
७ विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, भूषण ग्रन्थावली, फुटकर, छन्द ६२, पृ. ११२।
८ राजविलास, छन्द ८३, पृ. १३।
९ वही, छन्द ७, पृ. १०४।
१० छत्र प्रकाश, अध्याय ४, पृ. २५।
११ वही, अध्याय २३, पृ. १५३-१५४।

सूदन : सूदन ने अपनी रचना 'सुजान-चरित' में सभी प्रमुख रसों का निरूपण किया है। श्रृङ्गार-रस को भी विशेष महत्व प्रदान करके कवि ने अपनी श्रृङ्गार रसात्मक-प्रवृत्ति का परिचय दिया है। इनके श्रृङ्गार चित्रण पर रीतिकालीन परम्परा का अधिक प्रभाव पड़ा है। वह कहीं कहीं पर अश्लीलता की सीमा के निकट पहुँच गया है, जैसा कि इस उदाहरण से स्पष्ट है :

"सैंन के सदन दोऊ राजत मदन भरे,
बदन बिलोकि कै ललकि लपटाने हैं।
उर सौं उरज मिले, अधर सुघरु चारु,
चूमत कपोल लोल लोचन लजाने हैं॥
हार उरझाने मुरझाने हैं कुसुमभार,
अंग मदसूदन तऊ न अरसाने हैं।
बैन तुतराने सराने भौंह ताने रस,
साने मुसिकाने ललचाने रतिमाने हैं॥"[१२]

उक्त छन्द उस अवसर का है जब कि राव बहादुर सिंह बड़गूजर अपने शत्रु से युद्ध करने का निश्चय करके अन्तःपुर में प्रविष्ट हुआ है। इस प्रसंग में कवि वीर रस सम्बन्धी उक्तियों एवं वीर-भावनाओं से सम्बन्धित अच्छे संवाद करवा सकता था पर वह श्रृङ्गार रस की ओर एक दम झुक गया और रीतिकालीन श्रृङ्गारिक भावना से अपने को न बचा सका।

उपर्युक्त कतिपय दोष होते हुए भी सूदन को श्रृङ्गार रस वर्णन में प्रचुर मात्रा में सफलता मिली है। इस दृष्टि से उनका एक विशिष्ट स्थान है।

पद्माकर : रस-चित्रण की दृष्टि से पद्माकर हमारे समक्ष दो रूपों में आते हैं—१. रीतिकाव्यकार और २. कवि। इन्होंने 'जगत् विनोद' में हिन्दी की प्रचलित परम्परा का पूर्ण रूप से अनुसरण किया है। इन्होंने अधिकांश स्थलों पर भावों और रसों का नाम लेना ही आवश्यक समझा है। इसका परिणाम यह हुआ है कि इनका रस और भाव-निरूपण उतना उत्तम नहीं बन पड़ा है जितना कि होना चाहिए था।

हिम्मत-बहादुर-विरुदावली में पद्माकर स्वतन्त्र कवि के रूप में हमारे सामने आते हैं। उनकी यह रचना वीर-रस-प्रधान है, पर यथावसर उसमें अन्य रसों को भी स्थान मिला है। नीचे श्रृङ्गार-गर्भित-वीर-रस की एक उक्ति दी जाती है, जिससे इनकी श्रृङ्गारिक प्रवृत्तियों का कुछ आभास मिल जाता है :

"उड़त अमित गति करि-करि ताछन,
जीतत जनु कुलटान-कटाछन।
थिरकत थिरकि चलत अंग-अंगनि,
जीतत जुमकि पौन-मग संगनि।"[१३]

अन्त में यह कह देना अधिक समीचीन प्रतीत होता है कि पद्माकर में इस धारा के अन्य कवियों के समान परम्परा का प्रभाव ही प्रधान है। पर उनका रस-निरूपण इस धारा के बहुत से कवियों की अपेक्षा अधिक स्पष्ट है। रस निरूपण की दृष्टि से उनके 'जगद्विनोद' में दिए हुए उदाहरण अधिक स्वच्छ, स्पष्ट और सजीव हैं।

जोधराज : जोधराज के 'हम्मीर-रासो' में श्रृङ्गार का प्रयोग रासो-परम्परा के अनुसार हुआ है। इस रचना में जोधराज को वीर की अपेक्षा श्रृङ्गार-रस-वर्णन में अधिक सफलता मिली है। वस्तुतः हम्मीर-रासो श्रृंगार-रस प्रधान ग्रन्थ है, श्रृंगार-रस वर्णन में कवि ने ऋतु-वर्णन[१४] और नख-शिखचित्रण[१५] जी खोल कर किया है। इनका श्रृंगार रस-वर्णन संयम और शालीनता की सीमा को लाँघ कर अश्लीलता की चरम सीमा को पहुँच गया है :

"कंचन लता सी थहरात अंग अंग मिलि
सीकर समूह अंग अंगनि में दरसै।
चुम्बन-कपोल नैन खण्डन अरध नख,
गहत पयोधर प्रचण्ड पानि परसै॥
आनन्द उमंगन मैं मुसकात बाल तुत-
रात बतरात सतरात रस बरसै।
लपटनि झपटनि मसकनि अनेक अंग,
रति रंग जंग तैं अनंग रंग सरसै॥"[१६]

ऊपर के विवेचन से यह सार निकलता है कि

---

[१२] सुजान चरित्र, छन्द ३६, पृ. १४७।
[१३] हिम्मत-बहादुर-विरुदावली, छन्द ५३, पृ. ६।
[१४] हम्मीर-रासो, छन्द १००-१३०, पृ. २०-२७।
[१५] वही, छन्द १३१,-१४२, पृ. २७-२८।
[१६] वही, छन्द २४२, पृ. ४८-४६।

'हम्मीर-रासो' में श्रृङ्गार की रस प्रधानता है, पर श्रृङ्गार रस का विकृत और अश्लील रूप ही पाठक के सामने आता है। इस सम्बन्ध में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि कवि ने रासो-परम्परा का आश्रय ले कर रस-निरूपण की उसी परिपाटी को अपनाया है जो रासो-ग्रन्थों में प्रचलित थी। इस परम्परा पालन की दृष्टि से विचार करने पर 'हम्मीर-रासो' के रचयिता को पर्याप्त सफलता मिली है।

इस धारा के प्रमुख कवियों के श्रृङ्गार रस प्रयोग के उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन से यह बात सिद्ध हो जाती है कि उक्त कवियों का ध्यान श्रृङ्गार-रस-वर्णन की ओर विशेष रूप से गया है। इन कवियों ने कतिपय हेर फेर के साथ प्रायः एक ही परम्परा का आधार ले कर श्रृङ्गार-रस की उद्भावना की है। इनके श्रृंगार वर्णन में परम्परा की ही प्रधानता है। कुछ कवियों के द्वारा चित्रित कतिपय स्थलों को छोड़ कर सम्पूर्ण श्रृङ्गार रस का वर्णन सफलतापूर्वक किया गया है। इस काव्य में वीर रस की प्रधानता होते हुए भी श्रृङ्गार रस को एक प्रमुख स्थान मिला है, इसे स्वीकार करने में किसी को आपत्ति नहीं हो सकती।

—डा० टीकमसिंह तोमर,
एम. ए.; डी. फिल·

बलवन्त राजपूत कालेज,
आगरा

सौ वर्ष के पश्चात्

सन् २०५३ में मनुष्य के पास बहुत कम काम करने के लिए रह जाएगा। आज से सौ वर्ष पूर्व बहुत से कार्य हाथों से करने पड़ते थे—वे सब कार्य मशीनों द्वारा सम्पन्न हो जाते हैं। सन् १९५३ में लोग चिमनियाँ साफ़ करते थे। आज वे बटन दबाते ही बिजली से स्वयं साफ़ हो जाती हैं। कपड़े, फ़र्नीचर, भोजन और जीवन के लिए अन्य उपयोगी वस्तुएँ सब मशीनों द्वारा तैयार हो जाती हैं जब कि दो सौ वर्ष पूर्व उन्हें हाथों से तैयार करना पड़ता था। मशीनों से चलाने के लिए अभी तो हाथों की ज़रूरत है परन्तु सौ वर्षों के बाद वे बटन दबाने पर स्वयं चला करेंगी। मोटर और रेलें स्वयं चलेंगी; विमान स्वयं संचालित होंगे; समाचार-पत्रों का स्थान टैलीविज़न ले लेगा। संसार में कहीं एकान्त नहीं रह जाएगा। मनुष्य अपना समय पढ़ने, खेलने, गाने, नाचने और चित्रण आदि में व्यतीत करेगा। वह केवल वही कार्य करेगा जिसे मशीन नहीं कर सकती।

—बर्ट्रैण्ड रसेल

आधुनिक हिन्दी कविता में प्रकृति

प्राचीन काल से ही भारतीय जीवन, दर्शन और साहित्य में प्रकृति का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। प्रायः चार-पाँच हज़ार वर्ष से यहाँ की आर्थिक व्यवस्था कृषि-परक रही है। यहाँ की सभ्यता ग्रामीण सभ्यता है। प्रकृति की गोद में पलनेवाले मानव को प्रकृति के सुन्दर और विरूप दृश्यों ने आकृष्ट किया है। अस्तु, संस्कृत साहित्य में हम प्रकृति-चित्रण का महत्त्वपूर्ण स्थान पाते हैं। महाकाव्य की साहित्यिक परिभाषा के अनुसार प्रकृति के अंगों, प्रभात, सन्ध्या, वाटिका तथा ऋतुओं का उसमें वर्णन किया जाना अनिवार्य माना गया है। संस्कृत साहित्य में प्रकृति का अनुरंजक वर्णन मिलता है, उसमें सुन्दर दृश्य विधानों की कमी नहीं। साथ ही प्रकृति उस युग के कलाकार की जीवन सहचरी है। विरही यक्ष जिस मेघ को दूत बना कर अलकापुरी भेजता है निश्चय ही वह प्रकृति को जड़ पदार्थ मात्र नहीं मानता वरन् उसमें अपने से ही प्राणों का स्पन्दन पाता है। कवि प्रकृति पर अपने भावों का आरोप करता है, जब वह सुखी होता है प्रकृति उसे सुखमय जान पड़ती है, दुःख की अवस्था में व्यथित। कवियों की प्रवृत्ति प्रायः प्रकृति के अतिरंजित सौन्दर्यपूर्ण वर्णन करने की ओर रही है। सूखे ठूंठ को देख कर 'शुष्को काष्ठस्तिष्ठत्यग्रे' के बदले 'नीरसतरुरिह विलसति पुरतः' अधिक काव्योचित माना गया है। उस काल में प्रकृति का यथार्थ वर्णन नहीं मिलता। इसी भारतीय परम्परा के अनुकूल प्राचीन हिन्दी कविता में प्रकृति चित्रण मिलता है। तुलसी के 'रामचरित मानस' में 'वर्षा-वर्णन' और 'शरद्-वर्णन' में एक नई प्रवृत्ति प्रकृति के उदाहरणों से उपदेश देने की मिलती है। यह युग की विचारणा का प्रभाव रहा होगा। तुलसी का उद्देश्य समाज को उद्बोधन-प्रबोधन करना था और प्रकृति के द्वारा भी उन्होंने नीति-उपदेश दिया है।

रीतिकाल की हिन्दी कविता में प्रकृति-वर्णन रूढ़िमात्र सा हो गया था, सेनापति इसके अपवाद थे। साधारणतः कवि लोग संस्कृत कवियों के आधार पर सूची गणना कर देते। यह सूची गणना की प्रवृत्ति इस हास्यास्पद स्थिति तक पहुँच चली थी कि केशव ने दक्षिण भारत में उन पौधों का परिगणन किया है जो केवल उत्तर-प्रदेश में ही होते हैं! रीतिकाल में नायिका-भेद का प्रचार होने के कारण कवियों की दृष्टि प्रकृति के स्वतंत्र वर्णन की ओर नहीं रही। वे उसका उद्दीपन विभाव के रूप में ही वर्णन करते थे। 'ऋतु-वर्णन' परम्परा पालन के लिए ही किया जाता उसमें यथार्थ चित्रण का अभाव होता।

नई हिन्दी कविता में प्रकृति चित्रण का महत्त्वपूर्ण स्थान है। काव्य में प्रकृति को यह स्थान मिलने का क्या कारण है? पश्चमीय सभ्यता भारत में भौतिक समृद्धि की चकाचौंध को लिए आई थी। गाँव उजड़ रहे थे और नागरिक सभ्यता का विकास हो रहा था। आर्थिक लाभ के नए दृष्टिकोण ने लोगों को अभिभूत कर लिया था। व्यक्तिवादी विचारणा की प्रधानता हो चली थी। ऐसे समय में कविता का विषय क्या हो सकता है? स्वयं कवि को ही कौन पूछनेवाला था? यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि जब हम अपनी इच्छाओं को खण्डित होते देखते हैं तो अपने लिए एक मानसिक विभ्रम बना कर उसमें उन इच्छाओं की पूर्ति का संयोजन करते हैं। कवि ने देखा कोई उसका साथी नहीं है अतः वह प्रकृति की ओर लौटा। भक्ति युग में निराश्रित होने पर उसने ईश्वर की ओर देखा था, वीर और रीति काल में वह राजाओं का मुखापेक्षी बना। आधुनिक युग में जब कि राजाश्रय निःशेष हो चला था, भौतिकवादी दृष्टिकोण ने ईश्वर की सत्ता में ही संशय उत्पन्न कर दिया था और व्यक्तिवादी विचारणा के कारण कोई किसी का नहीं रहा तब कवि ने प्रकृति की ओर देखा, उसी में उसने सचेतन प्राणों की स्थापना की, 'पल्लवों में उसने एक अस्फुट यौवना बालिका का रूप पाया, निर्झरणी में एक अपनी ही धुन में मस्त कल स्वर में गाती हुई नायिका को पहचाना' और इस तरह उसने इस व्यक्तिवादी युग में प्रकृति के रूप में अपना चिर-सहचर पहचाना।

छायावादी युग में प्रकृति के चेतनीकरण किए जाने का यही स्पष्टीकरण है। आलोचकों ने छायावादी कविता

में प्रकृति का चेतनाभास पा कर उसमें आत्मा-परमात्मा सम्बन्धी अध्यात्मिक भावनाओं का आरोप किया है। इसे हम एक भ्रान्ति ही कह सकते हैं। प्रकृति चेतन है क्योंकि कवि ने अपने प्राणों को उसमें डाल दिया है, इसलिए नहीं कि वह उसमें ईश्वरीय सत्ता की अनुभूति करता है। अवश्य, प्रकृति के प्रतीकों के द्वारा कवियों ने रहस्यात्मक अनुभूतियाँ प्रगट की हैं जो कि प्रकृति को चेतन स्वरूप देखने से भिन्न है। छायावादी कविता सर्वात्मवादी (Pantheistic) नहीं है, वह प्रकृति को एक चेतन सत्ता के रूप में व्यक्त करती है।

साथ ही इस युग में जिन अंग्रेज़ी कवियों को पढ़ा गया और उनकी जिन कविताओं के अनुवाद किए गए उनमें प्रकृति चित्रण की प्रधानता थी अतः कवियों का ध्यान प्रकृति चित्रण की ओर आकृष्ट हुआ। जिस रूप में अंग्रेज़ी साहित्य में प्रकृति-चित्रण किया गया था उसका प्रभाव भी हिन्दी साहित्य में पड़े बिना नहीं रहा।

रीतिकालीन कविता में किए गए प्रकृति-चित्रण की सर्वप्रथम प्रतिक्रिया यथार्थवादी दृष्टिकोण के रूप में हुई। रीतिकालीन प्रकृति चित्रण स्वभाविक न होकर सुना सुनाया था अतः वह कृत्रिम भी था और अलंकारिक वर्णन से बोझल। अंग्रेज़ी साहित्य के प्रभाव स्वरूप बंगला में प्रकृति के यथार्थ रूप का चित्रण किया जाने लगा था। उसी के प्रभाव स्वरूप हिन्दी में भी यह प्रवृति आई। संस्कृत साहित्य में प्रकृति चित्रण को महत्त्वपूर्ण स्थान मिला था किन्तु, वहाँ प्रकृति चित्रण स्वतंत्र विषय कभी नहीं बना था। कवि गण सूर्योदय, संध्या, सरोवर आदि का वर्णन कथा के बीच में कर देते थे। प्रकृति चित्रण का या तो उद्दीपन रूप में चित्रण होता था या कथा वर्णन में विश्राम लेने के लिए उसका वर्णन किया जाता। हिन्दी साहित्य में भी नवयुग के आगमन के पूर्व यही स्थिति रही। अतः भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने बंगला के नए 'पयार' छंद में जब 'प्रातःसमीरण' का वर्णन किया तो उन्होंने हिन्दी कविता में प्रकृति चित्रण की नई प्रवृत्ति का सूत्रपात किया। प्रकृति को स्वतन्त्र विषय बना कर उसका वर्णन करना एक नई बात थी। यह सत्य है, जैसा कि आलोचकों ने कहा है भारतेन्दु का मन प्रकृति में नहीं रमता, रीतिकालीन कवियों की तरह उन्होंने प्रायः अलंकारिक वर्णन ही किए हैं फिर भी 'प्रातः समीरण' कविता प्रातःकाल के दृश्य का सुन्दर यथार्थ दृश्य उपस्थित करती है :

"मन्द मन्द आवै देखो प्रात समीरन
करत सुगन्ध चारों ओर विकीरन"

सर्व श्री बालमुकुन्द गुप्त, राय देवीप्रसाद 'पूर्ण', मैथिलीशरण गुप्त, अयोध्यासिंह उपाध्याय, रामनरेश त्रिपाठी, श्रीधर पाठक, मुकुटधर पाण्डेय, जयशंकर प्रसाद, गिरिजाकुमार माथुर आदि की कविताओं में प्रकृति का यथार्थवादी अनुरंजक वर्णन राशि राशि मिलता है। यथातथ्य रूप चित्रों के यह वर्णन प्रकृति के सौम्य मनोहर रूप को ही नहीं उसके उग्र भयंकर रूप को भी चित्रित करते हैं। पन्त की 'परिवर्तन' कविता में यह दोनों रूप अत्यन्त स्पष्ट हैं।

परन्तु, पश्चमीय विचारधारा के प्रभाव स्वरूप नवयुग के कवियों में प्रकृति के प्रति एक नया ही दृष्टिकोण पाया जाता है। अंग्रेज़ी कवि वर्डस्वर्थ की तरह, जो कि फ्रान्स के दार्शनिक रूसो की विचारधारा से प्रभावित थे, हिन्दी कवियों में भी प्रकृति को एक सजीव सत्ता के रूप में देखने की प्रवृत्ति पायी जाती है। प्रकृति केवल जड़ और सुन्दर पदार्थ नहीं है वरन् कवि उसमें जीवित प्राण सत्ता की प्रतिष्ठा देखता है। प्रकृति उसके जीवन पर एक अनिर्वचनीय प्रभाव डालती जान पड़ती है, वह प्रकृति से शिक्षा ग्रहण करता है और उससे व्यापक जीवन दर्शन की उद्भावना करता है। श्रीधर पाठक की रचना 'काश्मीर-सुषमा' में प्रकृति का यह चिन्मय रूप दृष्टव्य है :

"प्रकृति यहाँ एकान्त बैठि निज रूप संवारति
पल पल पलटति भेस छनिक छवि छिन छिन धारति
विमल अम्बु सर मुकुरन मंह मुख-बिम्ब निहारति
अपनी छवि पै मोहि आपही तन मन वारति
सजति सजावति सरसति हरसति, दरसति प्यारी
बहुरि सराहति भाग पाय सुठि चित्त रसारी
विहरति विविध-विलास-भरी जोवन के मद सनि
ललकति, किलकति, पुलकति, निरखति, थिरकति बनि ठनि
मधुर मंजु छवि पुञ्ज छटा छिरकति बन कुञ्जन
चितवति, रिझवति, हसति, डसति, मुसक्याति, हरति मन"

अंग्रेज़ी कवियों ने प्रकृति को केवल चेतन रूप में

ही नहीं देखा वरन् उसके द्वारा वे अलौकिक विश्व सत्ता के अस्तित्व से भी परिचित होते हैं और उसके प्रतीकों के द्वारा एक रहस्यात्मक अध्यात्मिक अनुभूति की अभिव्यक्ति करते हैं। भारत तो आध्यात्मपरक देश है ही। स्वामी विवेकानन्द और स्वामी रामतीर्थ के नव्य-वेदान्त दर्शन में प्रकृति को यही स्थान मिला है। रवीन्द्र की 'गीताञ्जलि' में भी प्रकृति की ओर संकेत कर बार बार कवि अलौकिक चिन्मय ब्रह्म की ओर संकेत करता है। अस्तु, हिन्दी कविता में भी इसी प्रवृत्ति का विकसित होना स्वाभाविक था। श्रीधर पाठक ने 'जगत-सचाई सार' में कहा :

"ध्यान लगा के जो देखो,
तुम सृष्टि की सुघराई को
बात बात में पाओगे उस
ईश्वर की चतुराई को"

रहस्यवादी कवि पन्त कहते हैं :

"न जाने नक्षत्रों से कौन,
निमन्त्रण देता मुझको मौन !"

इसके अतिरिक्त नवयुग का कवि प्रकृति से अपना निकट संबन्ध स्थापित करता है जो कि प्राचीन कविता में नहीं दिखलाई देता। अवश्य, तुलसी के राम सीता के वियोग में पूछ बैठते हैं :

'हे खग-मृग, हे मधुकर श्रेनी,
तुम देखी सीता मृग नैनी।'

परन्तु, अंततः राम को जब उत्तर नहीं मिलता तो वे अपनी खीझ प्रकट करते हैं। स्पष्ट है यह प्रश्न केवल भावातिरेक में पूछा गया है अन्यथा, राम जानते हैं कि प्रकृति जड़ है, वह क्या उनके प्रश्न का उत्तर देगी ? परन्तु पन्त केवल जिज्ञासा वश 'छाया' को सम्बोधित करते हैं :

"कौन कौन तुम परहित वसना,
म्लान मना भू पतिता सी।
वात-हता विच्छिन्न लता सी,
रति श्रान्ता व्रज वनिता सी।"

वे उसे अपने ही जैसा बना लेने का अनुरोध करते हैं और अंत में 'सखी' कह कर इच्छा प्रकट करते हैं :

"हाँ सखि, आओ बाँह खोल कर,
लग कर गले जड़ालें प्राण।
फिर तुम तम में, मैं प्रियतम में,
हो जावें द्रुत अन्तर्धान।"

यहाँ प्रश्नों का उत्तर नहीं मिलने का प्रश्न ही नहीं उठता, कवि स्वयं अपने भावों को उँडेलता जाता है। प्रकृति से इस भावात्मक सम्बन्ध स्थापित करने का कारण क्या है इसका विवेचन प्रारंभ में किया जा चुका है। व्यक्तिवादी युग की मानसिक प्रतिक्रिया का यह फल था।

इतिहास के अध्ययन के परिणाम स्वरूप नवयुग में प्रकृति के साथ एक नए तरह का संबन्ध स्थापित किया गया जिसमें प्रकृति के उपादान अतीत इतिहास के संबन्ध चित्रों को प्रकट करते हैं। अंग्रेजी उपन्यासकार स्कॉट ने प्रकृति का इसी रूप में चित्रण किया था। 'शेष स्मृतियाँ' के गद्य-गीत मुगलकालीन इतिहास की कितनी स्मृतियों को जगाते हैं ! हिन्दी कविता में भारतेन्दु ने प्रारंभ में 'हा पंचनद ! हा पानीपत !' कह कर विगत वीरता की भावनाओं को जगाया था। अतीत की स्मृतियों को जगाने का यही रूप हम 'रेणुका' के कवि दिनकर में पाते हैं। निराला की 'यमुना के प्रति' कविता भी पुरानी स्मृतियों को जगाती है :

"यमुने ! तेरी इन लहरों में,
किन अधरों की आकुल तान।
पथिक प्रिया सी जगा रही है,
किस अतीत के गौरव गान।"

अंग्रेजी राज्य की परतन्त्रता में रहने के कारण स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए संघर्ष में लीन हिन्द की प्रमुख विचारधारा राष्ट्रीयता रही है। कविता में राष्ट्र प्रेम 'भारत-माता' का मूर्तिमान रूप प्रकट कर उसके प्रति अपनी शत शत श्रद्धाञ्जलियाँ अर्पण करने में भी व्यक्त हुआ है। राष्ट्र-कवि मैथलीशरण गुप्त ने भारत-माता के जिस रूप को हमारे सामने रखा उससे यद्यपि पन्त की प्रगट की गई भारत-माता का रूप भिन्न है फिर भी प्रवृत्ति वही है :

"नीलाम्बर परिधान हरित पट पर सुन्दर है"

× × ×

"भारत माता ग्रामवासिनी
गङ्गा जमुना में आँसू—जल
मिट्टी की प्रतिमा उदासिनी !"

यह युग विज्ञान का है। विज्ञान के लिए यह संभव नहीं है कि कभी वह कवि की कल्पना के पंख तोड़ सके। कवि ने विज्ञान के सिद्धान्त और परिभाषाओं के आधार पर प्रकृति का नए रूप में चित्रण किया। बच्चन की 'सतरंगिनी' में किरण किस तरह सात रंगों को धारण करती है Prism के इस सिद्धान्त को काव्यमय भाषा में प्रकट किया गया है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि पश्चिमीय प्रभाव के कारण हिन्दी कविता में प्रकृति-चित्रण का नया रूप विकसित हुआ है।

हैदराबाद

—हरिकृष्ण पुरोहित

विश्वशान्ति और साहित्य

विश्वशान्ति को बल के प्रयोग से प्राप्त नहीं किया जा सकता। इसे प्रशासन जनता पर जबर्दस्ती लाद नहीं सकता —यद्यपि कुछ हद तक इसकी आवश्यकता है। विश्वशान्ति को हम एकमात्र उचित शिक्षा द्वारा ही प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रकार की शिक्षा में साहित्य बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य कर सकता है।

भविष्य के साहित्य में रोगकारी, अस्वास्थ्यकर, अन्धजोशीली और बुरी प्रवृत्तियों को त्यागना होगा और एक मनुष्य को दूसरे मनुष्य से मिलनेवाली, मध्यमार्गीय, सहयोगपरक, स्वास्थ्यकर, उदार और उदात्त प्रवृत्तियों को बल प्रदान करना होगा और वह भी सुन्दर कला के रूप में—प्रचार के रूप में नहीं। यह साहित्य मनुष्य को शान्ति, मेल और सहिष्णुता की ओर ले जाएगा।

—'प्रबुद्ध भारत' से

तमसो मा ज्योतिर्गमय

स्वामी दयानन्द सरस्वती के पश्चात् भारत में महात्मा गांधी के रूप में महान् सामाजिक क्रान्तिकारी का आविर्भाव हुआ। इन दोनों महापुरुषों ने देश को आमूलचूल हिला दिया। प्रायः आधी शताब्दी तक महर्षि दयानन्द के आदर्श और आदेश की पूर्ति में देश और समाज ने आर्य समाज के रूप में जो कार्य किया है वह निष्फल नहीं गया, यद्यपि आर्य समाज आज मृतप्राय संस्था है और महर्षि दयानन्द का नाम मात्र शेष है।

भारतीय क्षितिज पर गांधी जी सामाजिक और राजनीतिक दो कलाओं सहित उदित हुए। उनके तेजोमय वर्चस्व से देश आसेतु हिमालय उद्दीप्त हुआ। भारत में जागरण और जीवन की ज्योति जगी। उनका पुण्यतेज सागर और पर्वत के उस पार भी पहुँचा और शताब्दियों पश्चात् एक बार पुनः पूर्व और पश्चिम के संसार ने भारत के शाश्वत आलोक में उसके पुरातन संदेश को सुना।

किन्तु, आज स्पष्ट दिखाई दे रहा है कि जो गति दयानन्द की हुई वही गांधी की होती जा रही है। गांधी जी के अनुयायी ही गांधी जी की जीवन-शिक्षाओं को तिलांजलि दे रहे हैं—राजनीतिक आचरण में और सामाजिक तथा वैयक्तिक आचरण में भी। स्यात् हममें से बहुतों ने यह नहीं समझा कि गांधी जी का राजनीतिक रूप तो एक प्रकार से उनके जीवनक्रम का, उनके सत्य और अहिंसा के प्रयोग का, एक आनुसङ्गिक रूप था। मूलतः तो वे सामाजिक प्राणी थे और वैयक्तिक दैनिक व्यवहार उनके सत्यशोध की कसौटी थी।

सम्प्रति काल में लोग गांधी जी को दो प्रकार से स्मरण करते हैं। या तो बाह्योपासक और अन्ततोगत्वा मूर्तिपूजक भावुकताप्रधान मनोवृत्ति के कारण, उनको लोकोत्तर मानव और अप्रमेय अलौकिक पुरुष की भांति पूजने को उद्यत हो पड़ते हैं, या फिर उनके विरोधी बन बैठते हैं। जिस प्रकार उनके अनुयायियों द्वारा उनको विस्मृत कर देने के आचरण की पुष्टि में उनकी प्राकृतिक गतिशून्यता के अतिरिक्त, और कोई कारण नहीं है, उसी प्रकार उनके विरोधियों के पास भी, उनकी नितान्त निष्क्रियता के अतिरिक्त कोई तर्क नहीं है। संसार में महापुरुषों का विरोध प्रायः निर्मूल ही हुआ है।

इन अकारण द्वेषियों की विशेष चिन्ता नहीं। चिन्ता है उन लोगों के विपरीत आचरण की वृद्धिङ्गत प्रगति की जो आज भी अपने को गांधी जी का अनुयायी कहते हैं। सचमुच ही गांधी जी को लोग बड़ी तीव्र गति से भूलते जा रहे हैं। गांधी जी का अनुसरण तो व्यावहारिक आचरण की कसौटी है, जिस पर व्यक्ति को अपने को परखना पड़ता है। अपने को गान्धी जी का अनुयायी कहने वाले कदाचित् आज आत्म-परीक्षण के लिए उद्यत नहीं हैं, भले ही गांधी जी ने स्वतः अपना जीवन सत्यासत्य की शोध में खपा दिया हो।

विश्वविग्रह की विभीषिका : हज़रत ईसा यद्यपि पौरस्त्य पुरुष हैं किन्तु पश्चिम उनकी शिक्षाओं से बहुत अधिक ओतप्रोत हुआ है। इसका अर्थ यह नहीं है कि महामानव ईसा ने जिन शाश्वत सत्यों की पुनर्स्थापना में अपना अमित बलिदान दिया उनको पश्चिम के समाज ने अपने जीवन-व्यवहार में अपनाया हो। वह तो केवल बाह्याचार मात्र को ही "पिता, पुत्र और पवित्रात्मा" की प्रीत्यर्थ प्रदान किया हुआ परम पुरुषार्थ मानते हैं।

फलतः पश्चिमी जगत् में, जीवन के उच्चतर महान् मूल्यों के प्रति उपेक्षा की मात्रा निरन्तर बढ़ते जाने के कारण, भौतिक सुखों की आकांक्षा ने लिप्सा का रूप धारण किया। योरप में औद्योगिक क्रान्ति इसी कारण हुई। इसी कारण से पाश्चात्य देशों ने संसार के निर्बल देशों पर आरम्भ में आर्थिक साम्राज्य और उपरान्त आस्त्रिक साम्राज्य स्थापित किया। शताब्दियों तक यह क्रम चला और एक मानव के नीचे दूसरा मानव पड़ा कराहता रहा।

किन्तु, विकास और वैभव का यह विशाल भवन हिंसा और शोषण की खोखली बुनियाद पर खड़ा था। फलतः विश्वव्यापी दो महायुद्धों की सृष्टि हुई, जिसके दुष्परिणामों से जर्जरीभूत आज का यूरोप प्रकाश और मार्गनिर्देश को प्राप्त करने की चिन्ता में लग पड़ा है।

औद्योगिक क्रान्ति से प्रत्युत्पन्न जीवन के महत्तम

आदर्शों के अवमूल्यन की वृद्धिंगत क्रियाशीलता की संक्रामकता के विषाक्त चक्र से आज यूरोप के वे देश भी नहीं बचे हैं जो अपने को साम्यवादी कहते हैं।

अत एव यूरोप के विचारशील राजनीतिक और सामाजिक व्यक्ति ऐसा अनुभव ही नहीं करने लगे हैं बल्कि स्पष्टतः कह रहे हैं कि यदि मानव को आत्म-विनाश की—जिसमें वह सम्प्रति तीव्र गति से संलग्न होकर तीसरे महायुद्ध की तैयारियाँ कर रहा है—विभीषिका से बचाना है तो उसका सर्वोच्च व्यावहारिक मार्ग गान्धीवाद में निहित है।

सम्भावित विनाश की इस बेला में यूरोप आज निरोधात्मक उपाय की रूपरेखा बना रहा है। इसके लिए समष्टि के हित में व्यष्टि को मूलाधार मान कर वर्तमान खण्ड-विखण्डित समाज की पुनर्व्यवस्था के लिए वह अपने यहाँ, अहिंसात्मक उपायों की खोज कर रहा है। व्यक्ति के अहिंसक बनने से उसका प्रभाव समाज पर भी पड़ेगा, जहाँ सत्याग्रह के सर्वोच्च नैतिक साधन द्वारा नव-जीवन-निर्माण के मार्ग में राष्ट्र के समक्ष आने वाली बाधाओं का निवारण किया जा सकेगा। इस प्रकार व्यक्ति, समाज और राष्ट्र तीनों का समुच्चय होने से सामूहिक हित होगा।

यह है योरप के आज के विचारकों की परम्परा। ईसाई मत और गांधीवाद में समानशीलता की दुहाई देते हुए वे कह रहे हैं कि जब तक विश्व गांधीवाद के मूलभूत आदर्शों को अङ्गीकार नहीं करता, तब तक मानव-जाति के संरक्षण और कल्याण की कोई आशा नहीं है।

गांधी माहात्म्य : यह भी एक मानव-स्वभाव-गत दौर्बल्य है कि वह जिनके बीच रहा हुआ होता है उनके अभूतपूर्व प्रभावों से उतना प्रभावित नहीं होता जितने विश्व के अन्य मानव। "गाँव का जोगी-जोगना आन गाँव का सिद्ध" लोकोक्ति भी मानव के स्वभाव-वैचित्र्य की परिचायक है। यह भी हम भारतीयों की एक मानसिक विशेषता अथवा विचित्रता है कि हम अपने घर में पड़ी पारस मणि को भूल कर अन्यों के द्वारों पर पड़े घूरे में से कौड़ियाँ बीनते फिरने में अपने को अधिक गौरवान्वित अनुभव करते हैं। शिक्षित कहे जाने वाले आज के भारतीय की यह प्रकृति है। गांधी जी के जीवन-व्यवहार की व्यापकता के विषय में अमरीकन पादरी होम्स ने कहा है—"वैयक्तिक अनुशासन के रूप में अन्य-जनों ने जो कुछ शिक्षण" दिया है गांधी जी ने उसी को विश्व कल्याण के लिए सामाजिक कार्यक्रम में परिवर्ति कर दिया है।"

विश्व की वर्तमान विभीषिका की ओर संकेत करते हुए डा० वुड कहते हैं—"महायुद्ध और उसकी तैयारियों की आशङ्का से ग्रसित विश्व के लिए गांधी जी क नेतृत्व एक चुनौती और आशा की आभा के समान है।"

ईसाई मिशनरियों को सचेत करते हुए एक बा गांधी जी ने कहा था—"अपने भाषण और लेखों द्वारा ही धर्मपरिवर्तन कराने की हमें आवश्यकता नहीं है। केवल अपने जीवन द्वारा ही हम ऐसा कर सकते हैं। क्यों न हम अपने जीवन को अध्ययन योग्य एक खुली पोथी जैसा बनाएँ?" आगे उन्होंने कहा था—"जाने और अनजाने किसी भी रूप में आप इस देश के रहन-सहन और रीतिरिवाज में हिंसात्मक हस्तक्षेप न करें, जब तक कि वे मौलिक नैतिकता के प्रतिकूल नहीं हैं। मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि पौरस्त्य देशवासियों के जीवन में आमूल कतरव्योंत करना आपके धर्म का अङ्ग नहीं है।" इस प्रकार की स्पष्ट चेतावनी देने की सामर्थ्य गांधी जी जैसे आत्मबली में ही हो सकती है।

गान्धी जी मूलतः धार्मिक महापुरुष थे। १९१ ई. में तत्कालीन भारत मन्त्री श्री मान्टेगु ने जब उन पूछा कि "आप तो वास्तव में समाज सुधारक हैं, राजनीति में आप कैसे आ गए?" तो गान्धी जी ने उ दिया कि चूँकि वे समाज-सुधारक हैं, इसीलिए उनको राजनीति में भाग लेने के लिए घसीट लिया गया है। उनका धार्मिक जीवन-क्रम उनके व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन से अलग-अलग नहीं था। उनकी राजनीति धर्ममय थी और धर्म राजनीतिमय। एक स्थान पर उन्होंने स्वतः इस प्रसंग की सुन्दर व्याख्या की है। कहते हैं:

"मैं जो राजनीति में भाग लेता हुआ दिखाई दे हूँ, वह केवल इस कारण कि सम्प्रति काल में राजनीति हमें सर्प-कुण्डली की भाँति अपने चक्र में लिए हुए है जिसमें से, कोई कितना भी प्रयत्न करले, बाहर न निकल सकता। मैं इस सर्प से मल्लयुद्ध करना चाह हूँ। ××× मैं राजनीति में धर्म को प्रविष्ट करने प्रयत्न कर रहा हूँ।" एक अन्य स्थान पर उन्होंने कहा है—"मैं अनेक ऐसे धार्मिक व्यक्तियों से मिला जो छद्म वेशधारी राजनीतिक व्यक्ति हैं। किन्तु, बाह्याकृति एक राजनीतिज्ञ की धारण करता हुआ

अपने अन्तरतम में धार्मिक व्यक्ति हूँ।"

इंजील में 'पर्वत का उपदेश' एक प्रसिद्ध परिच्छेद है। बापू ने उसमें के कुछ अंशों को अपनी 'आश्रम भजनावली' नामक प्रार्थना पुस्तिका में उद्धृत भी किया है। किन्तु इस उपदेश और वर्तमान ईसाई राष्ट्रों के जीवन-क्रम में आकाश-पाताल का अन्तर देख कर उन्होंने कहा है—"ईसाई मत के नाम पर जो कुछ हो रहा है वह तो 'पर्वत के उपदेश' का प्रतिनिषेध है।" इसी प्रकार ईसा को उन्होंने शहीद, मूर्तिमन्त बलिदान और दैवी शिक्षक माना है, किन्तु 'पूर्ण पुरुष' की भाँति प्रत्युत्पन्न सम्पूर्णता सम्पन्न व्यक्ति नहीं। गान्धी जी ने अपने विचार से अनुभव किया है कि बलिदान की दृष्टि से हिन्दू धर्म ईसाइयत से बहुत आगे है। और वे कहते हैं:

"हिन्दू धर्म का जहाँ तक मुझे ज्ञान है, वह मेरे आत्मा का सन्तोष करता है। मेरे प्राण में वह परिव्याप्त है, तथा भगवद्गीता और उपनिषदों में मुझे जो आन्तरिक आनन्द प्राप्त होता है वह मुझे 'पर्वत के उपदेश' में भी प्राप्त नहीं हुआ।"

गान्धी जी सर्वतोभद्र समाज-सुधारक थे। उनके समाज-सुधार की परिधि में भारत के कोटि कोटि ग्रामीणों और गरीबों को प्रथम स्थान प्राप्त था। इसीलिए उन्होंने भारत के पुरातन घरेलू धन्धों को भी, अपनी राजनीति का एक प्रमुख अङ्ग बना कर, उनके पुनरुत्स्थापित करने का प्रयत्न किया। खद्दर के तो वे अलम्बबरदार थे, क्यों? इसलिए कि खद्दर भारत के ग्रामीण धन्धों की रीढ़ और जननी है। इसीलिए उन्होंने कहा:

"खद्दर को जागृति काल के चिन्ह स्वरूप ग्रहण नहीं किया गया। वह तो एक पुनर्व्यवस्थित समाज का आर्थिक स्तम्भ है। दरिद्रता और दुर्गति की समस्या की कुंजी है। अनेक प्रकार के देहाती धन्धों में सब से प्रमुख ऐसा धन्धा है जिस अकेले के द्वारा ही गाँवों को, भारतीय राष्ट्रीयता की बुनियाद के रूप में, पुनः अधिकृत स्थान प्राप्त कराया जा सकता है।"

आज खादी की अवज्ञा सब से अधिक गान्धी जी के तथाकथित अनुयाइयों द्वारा ही हो रही है। खादी पूर्वापेक्षा अब बहुत कम बिकती है और लाखों रुपयों की खादी चरखा संघ के भण्डारों में भरी पड़ी है। जो लोग आज स्वयं खादी की उपेक्षा किए हुए हैं वे गाँवों की भूखों मरती जनता के बीच जाकर उनसे खादी का व्यवसाय अपनाने की चेष्टा करेंगे यह तो कल्पना ही दुराशा मात्र है।

गांधी-इरविन समझौते के उपरान्त ही कराची की एक सार्वजनिक सभा में गान्धी जी ने कहा—"गान्धी मर जाएगा, पर गान्धीवाद हमेशा जीवित रहेगा।" और यह स्पष्ट है कि उनका गान्धीवाद तथाकथित धार्मिक उपचार अथवा बाह्य लोकाचार मात्र नहीं है।

मानव-स्वभाव की परम्परागत दुर्बलता को अनुभव करते रहने में वे प्रतिक्षण जागरूक थे। अत एव उपर्युक्त उक्ति के कुछ वर्ष उपरान्त ही, १९३६ में गान्धी सेवा संघ के सम्मेलन में हम उन्हें इस भाँति कहते हुए सुनते हैं—"मैं अपने पीछे कोई सम्प्रदाय नहीं छोड़ जाना चाहता। 'गान्धीवाद' नामक कोई पृथक् उपादान नहीं है। मैं यह दावा नहीं करता कि मैंने किसी नवीन सिद्धान्त अथवा परम्परा की बुनियाद डाली है। मैंने तो अपने तरीके पर हमारे दैनिक जीवन और समस्याओं में शाश्वत सत्य को कार्यान्वित करने का विनम्र प्रयास किया है। ××× संसार को सिखाने के लिए मेरे पास नया कुछ नहीं है। सत्य और अहिंसा उतने ही पुरातन हैं जितने कि पर्वत।"

गान्धी जी एक युग पुरुष थे, जो शताब्दियों पश्चात् कभी उद्भूत होते हैं। गोलमेज़ परिषद् की दूसरी बैठक के समय गांधी जी का इंग्लैण्ड के प्रमुख व्यक्तियों और समाज पर बड़ा प्रभाव पड़ा। लार्ड सेंके ने उन्हें बहुत मान दिया था। वे उनसे प्रभावित भी हुए। उन्होंने कहा है—"ऐसा लगता था मानो समय-समय पर गान्धी जी अपनी आत्मा की वाणी से प्रभावित होते थे।"

उनके परम पुरुषार्थ का प्रमाण एक नहीं अनेक स्थितियों और घटनाओं में प्राप्त होता है। "उनका अपमान किया गया, सताया गया, धमकियाँ दी गईं, पीटा गया और दखन में एक बार तो गोरों की भीड़ ने उनकी खाल ही उधेड़ डाली होती, किन्तु वे तब भी अपने मन में कटुता नहीं लाए।" इसीलिए एडवर्ड टामसन ने गान्धी जी के सम्बन्ध में कहा है कि—"सुकरात के बाद इस पटतर का ऐसा सम्पन्न आत्मसंयम-पूर्ण व्यक्ति संसार को देखने को नहीं मिला।"

आइन्स्टीन जैसे विश्वविभूति क्या कुछ कम प्रभा-

वित हुए थे हमारे बापू से। संसार के इस अद्वितीय वैज्ञानिक ने स्वीकारोक्ति की है—"पराधीनताग्रस्त राष्ट्रों के उद्धार के लिए उन्होंने एक नितान्त नवीन मानवीय प्रणाली का आविष्कार किया है। उन्होंने अपने देश के लोगों को बल प्रदान किया है, उनको समुत्थित बनाया है। उनमें अपने वैयक्तिक उदाहरण द्वारा नैतिक शक्तियों का समावेश किया है।"

आज दक्षिण आफ्रिका में भारत की ही नहीं, एशिया की भी नहीं, मानव के बीच मानव के मान की रक्षा की निरस्त्र लड़ाई चल रही है। गांधी जी ने उस लड़ाई की ही नहीं उसको लड़ने की नवीन प्रणाली का प्रचलन कर के विश्व के सम्मुख एक नया आदर्श रखा था। तब दक्षिण आफ्रिका में गांधी जी का जनरल स्मट्स से साम्मुख्य था। किन्तु वीर जनरल ने भी उनका लोहा माना और कहा—"हिंसापूर्ण हथियारों के बिना ही लड़े जाने वाले इस नैतिक युद्ध का मुकाबला भला कौन कर सकता है।"

आज राष्ट्र के विकास में जो गतिशून्यता आई है, वह कोई अनहोनी बात नहीं है। भारतीय इतिहास हमारी प्रगतिहीनता का साक्षी है। गांधी जी ने सन् '२५ में ही इसको अपनी दूरदृष्टिता से अनुभव कर लिया था। इसीलिए उन्होंने तब लिखा था—"मुझे तो जो दिखाई देता है वह भारत के विषय में इतना स्वाभाविक और संभव है कि यहाँ की अकर्मण्य जनता के हृदयों में अहिंसा के सिद्धान्त की पैठ योरप की कर्मशील जनता के अनुपात में बहुत देर में हो पाएगी।" सो, सचमुच ही आज हम अहिंसा के व्यापक क्षेत्र में कहीं भी अपने को प्रभावित नहीं होने देते।

अत एव, आज, गांधीवाद के इस अवसान काल में हमारे जैसे अकर्मण्य गतिशून्य राष्ट्र के व्यक्ति क्यों न ईश्वर से यह प्रार्थना करके ही सन्तोष कर लें :

असतो मा सद्गमय।
तमसो मा ज्योतिर्गमय।
मृत्यो र्माऽमृतंगमय।

—मङ्गलदेव शर्मा

ऑल इंडिया काँग्रेस कमेटी,
७, जन्तर मन्तर रोड,
नई दिल्ली

चतुष्पथी शिक्षाप्रणाली

चतुष्पथी शिक्षाप्रणाली भारतवर्ष की प्राचीन शिक्षाप्रणाली है। यह गुरुकुलीय पद्धति की है। विद्यार्थी गुरुओं के घर में रहते थे और वे उनके घर में परिवार के एक व्यक्ति की तरह रहते थे। वे पुस्तकों की अपेक्षा गुरु के जीवन से अधिक शिक्षा प्राप्त करते थे। उनकी शिक्षा जीवित और जागृत होती थी। चतुष्पथी शिक्षाप्रणाली निःशुल्क होती थी। प्राचीन भारतीय परम्परा के अनुसार शिक्षा वाणिज्य की वस्तु नहीं थी। न तो अध्यापक धन लेकर शिक्षा को बेचता था और न विद्यार्थी पैसा देकर अध्ययन के लिए आग्रह कर सकते थे।

—डा० रमा चौधुरी
(स्टेट्समैनः पत्र के स्तम्भों से)

श्रवण बेळगोळ–तीर्थ

[मैसूर राज्य में श्रवण बेळगोळ जैन-धर्म का प्रसिद्ध तीर्थ स्थान है। यहाँ एक पहाड़ पर श्री बाहुबलीजी (गोम्मटेश्वर) की साठ फुट ऊँची अत्यन्त सुन्दर नग्न शिला मूर्त्ति है। बारह वर्ष में एक बार महामस्तकाभिषेकोत्सव मनाया जाता है—तब समस्त भारत के जैन लोग मूर्त्ति के दर्शनार्थ आते हैं। श्रवण बेळगोळ इतिहास और स्थापत्य की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण स्थान है।]

भारतवर्ष में अनेक धर्म हैं। इनमें जैन धर्म अपने ढङ्ग का निराला है। इस पवित्र देश में आज से कोई ढाई सहस्र वर्ष पूर्व श्री महावीर स्वामी का जन्म हुआ था। राजगृह (विहार) में जाइए तो महावीर का टीला आज भी देखने में आता है। कहते हैं कि उस टीले पर महावीर स्वामी ने तपस्या की थी। एक और टीला पास ही बताया जाता है जिस पर भगवान् बुद्ध ने तपस्या का आचरण किया था। गौतम बुद्ध के समकालीन अजित केशकम्बली नामक एक दार्शनिक का भी नाम लिया जाता है जो मृत्यु के साथ ही जीव की इति माननेवालों में से थे। कितने ही ऐसे दार्शनिक विहार या पूर्व भारत में उस समय हुए होंगे जिनका हमें पता नहीं। ये सब वैदिक धर्म के माननेवालों में से नहीं थे। इनके भी काफ़ी अनुयायी थे। इनमें से केवल महावीर स्वामी और बुद्ध भगवान् के नाम अमर हो गए।

जैन लोगों के लिए अहिंसा से बढ़ कर कोई धर्म नहीं है। उनका सिद्धान्त यह है कि जीव अपने सुकर्म (आश्रव) द्वारा संवर का अनुष्ठान कर बन्धन-मुक्त हो जाता है। तब पूर्वार्जित कर्म से पूर्णतया मुक्त होने योग्य हो कर (निर्जन द्वारा) निर्वाण के योग्य होता है। इस दशा को पहुँच कर श्रावक जीव सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् चरित द्वारा श्रमण हो कर अर्हत् या "केवलि" के पद को प्राप्त होता है। श्री महावीर स्वामी अर्हत् या जिन थे। पर वे प्रथम जिन नहीं थे। वे चौबीसवें जिन या तीर्थंकर थे। तात्पर्य यह है कि महावीर स्वामी के पहले भी जैन-धर्म भारतवर्ष में रहा।

हिन्दुओं के जैसे भगवान् या परमात्मा का अस्तित्व न मानने पर भी जैन लोग हिन्दुओं के समान ही शरीर के अवयवों का निग्रह करके योग या ध्यान द्वारा अपने को कर्म-जगत् से सर्वथा मुक्त होने पर जोर देते हैं। अपने आचरणों में—अहिंसा, संयम या इन्द्रिय-दमन, अपरिग्रह जैसे मामलों में—हिन्दुओं से भी जैन लोग एक क़दम आगे बढ़े हुए हैं। इस अत्यन्त परिशुद्ध दशा पर जोर देने की प्रवृत्ति या आचरण की शुद्धि में काफ़ी कड़ाई का पालन करने के कारण जैन-धर्म अद्यापि अपरिवर्तनशील रहा है। जैन-धर्म की दो शाखाएँ अवश्य हैं—श्वेताम्बर और दिगम्बर पर दोनों में तत्त्वतः कोई भेद नहीं है।

अपने तीर्थंकरों के बारों में सुनना, उनके संबन्ध में पढ़ना और उनके मन्दिरों का दर्शन कर आना ही जैन लोगों के लिए तीर्थ करना होता है। विहार की पावापुरी (क्षेत्र) में श्री महावीर स्वामी की पादुका एक सरोवर के बीच में शिला-मन्दिर में स्थित है जिसके दर्शनों के लिए सहस्रों जैन प्रतिवर्ष जाते हैं। दक्षिण भारत में (मैसूर के हासन जिले में, मैसूर नगर से साठ मील और बङ्गलौर नगर से कोई एक सौ मील की दूरी पर) श्रवणबेळगोळ नामक स्थान में एक छोटे से पहाड़ पर श्री बाहुबलीजी (गोम्मटेश्वर) की साठ फुट ऊँची एक नग्न शिला-मूर्ति खड़ी है जिसके दर्शनों के लिए कोई बारह वर्ष में एक बार संपन्न होनेवाले उत्सव में समस्त भारत के जैन लोग आते हैं। यह उत्सव महामस्तकाभिषेकोत्सव कहलाता है। यों तो सुदूर दक्षिण में, दक्षिण कन्नड जिले (मद्रास-प्रान्त) में भी कर्कळ और एणूरु नामक स्थानों में श्री बाहुबली स्वामी की शिला-मूर्तियाँ विराजमान हैं। पर श्रवणबेळगोळवाली मूर्ति के समान सुन्दर कोई मूर्ति नहीं है।

गोम्मटेश्वर प्रथम तीर्थंकर पुरुदेव के पुत्र हैं और भरतेश्वर के छोटे भाई। उनको भुजबलि या बाहुबली भी कहते हैं। राज्य के लिए दोनों भाइयों में युद्ध हुआ, जिसमें भुजबलि की जीत हुई। पर उन्होंने युद्ध में पराजित अपने गुरु भाई को बड़ी उदारता से अपना राज्य दे दिया और आप संसार से निरक्त (श्रमण) हो कर तपस्या करने चले गए। उन्होंने तपस्या करके "केवलि" पद को प्राप्त किया। भाई की इस साधना पर मुग्ध हो कर भरत ने पौदनपुर नामक स्थान (तक्षशिला के पास) में उनके एक विग्रह की स्थापना करायी। काल पाकर विग्रह के चारों ओर कुक्कुट सर्पों (विषैले कुक्कुट) ने अपना घर कर लिया। इसलिए इस स्थान तक पहुँचना ही मुश्किल हो गया। पीछे चल कर अदीक्षित व्यक्तियों के नेत्र इस

विग्रह को देखने में असमर्थ हो गए। इस विग्रह की प्रसिद्धि की कथा सुन कर इसके दर्शनों के लिए चामुण्ड-राय मन्त्री (जो कर्नाटक के गङ्गवंशीय राजा सत्यवाक्य या राचमल्ल के मन्त्री ९७४ ई० से ९८४ ई० तक रहे) निकल पड़े। पर उनसे पौदनपुर तक की लम्बी यात्रा पूरी करते नहीं बनी। इसलिए उन्होंने श्रवणवेळगोळ में एक ऐसी ही मूर्ति की स्थापना करने का संकल्प कर लिया। श्रवणबेळगोळ में दो पहाड़ हैं—एक छोटा और दूसरा बड़ा। छोटा पहाड़ चन्द्रगिरि कहलाता है। बड़े पहाड़ को इन्द्रगिरि कहते हैं। श्रवणवेळगोळ ग्राम इन दोनों पहाड़ियों के बीच की तलहटी में बसा हुआ है। चामुण्डराय ने चन्द्रगिरि पहाड़ पर खड़े हो कर एक तीर मारा। यह तीर इन्द्रगिरि पहाड़ की चोटी पर स्थित एक शिला में जा लगा। इसी शिला में चामुण्डराय को गोम्मटेश्वर के दर्शन हुए। उन्होंने मुनि अरिष्टनेमी की देख रेख में इसी शिला को कटवा कर बाहुबलि स्वामी की यह महान् एवं अद्भुत मूर्ति सन् ९८३ ई० में बनवायी।

बड़े पहाड़ पर खड़ी हुई गोम्मटेश्वर (बाहुबलि स्वामी) की यह मूर्ति उत्तराभिमुखी है। भुजाएँ विशाल हैं, दोनों हाथ नीचे की तरफ़ सीधे बढ़ाए हुए और उँगलियाँ खुली हैं। कमर पतली है। क़द के लिहाज़ से घुटनों के नीचे टाँगें ज़रा नाटी और मोटी हो गई हैं। घुटनों के दोनों तरफ़ पांव तक शिला के बमेठे हैं। इनमें से साँप निकलते हुए से उत्कीर्ण किए गए हैं। दोनों जाँघों और हाथों से एक माधवी लता लिपटी हुई है। यह मूर्तिकार के शिला-चातुर्य का द्योतक है। कुल मूर्ति बृहत्, अनोखी एवं विशालकाय है। मूर्ति की आपाद-मस्तक ऊँचाई ५८ फुट है। सारी मूर्ति एक अखण्ड-शिला में से काटी गई है। यह सारा पहाड़ ही एक अखण्ड शिला है जिस पर यह मूर्ति स्थित है। मूर्ति की गम्भीर मुखाकृति से ध्यानावस्थित या समाधि दशा की इतनी सुन्दर अभिव्यक्ति होती है कि प्रेक्षक इसे देख कर मन्त्र-मुग्ध हो जाते हैं। होठों पर ज़रा-सी मुस्कुराहट की रेखा झलकती हुई-सी है। ऐसा लगता है कि श्री बाहुबली स्वामी सारे ब्रह्माण्ड को स्मित-मिश्रित गाम्भीर्य से निहार रहे हैं। शिल्पी ने जैन-धर्म के प्रधान त्याग-भाव को इस मूर्ति के प्रत्येक अंग में पूर्णतया भर दिया है। मूर्ति की नम्रता जैन धर्म के संयम, सर्वत्याग एवं सम्पूर्ण आत्म-निग्रह का प्रतीक है। होठों पर की दयामयी मुस्कान मानों सुख-दुःख, शीतोष्ण और पाप-पुण्य जैसे द्वन्द्वों पर विजय प्राप्त करके, उनसे पार हो कर निर्वाण-दशा को प्राप्त "केवलि" की आत्मानन्द दशा की द्योतक है।

अभी हाल में अर्थात् ५-३-५३ (गुरुवार) को महामस्तकाभिषेकोत्सव सम्पन्न हुआ था। पिछला अभिषेक १९४० में हुआ था। उत्सव में मैसूरनरेश हिज़ हाइनेस श्री जयचामराजेन्द्र ओडेयर बहादुर, जी०सी०एस०आई० जी०सी०बी० पधारे हुए थे। साथ में राजघरानेवाले भी थे। मूर्ति के पीछे बड़ा मचान बँधा हुआ था। नीचे पाद के सामने ज़मीन पर एक सहस्त्र कलश (जल पूर्ण कुम्भ) चालीस फुट की धान की चौकी पर स्थापित किए गए थे। सर्वप्रथम अभिषेक प्रातः १०-३० बजे श्री मैसूर-नरेश के नाम पर किया गया। उसके बाद जो सबसे अधिक धन (१८००१) रुपये देकर प्रथम बोली बोले थे उन सेठ के नाम पर अभिषेक सम्पन्न हुआ। उन्हीं सेठ ने मचान पर पहुँच कर जल-कुम्भ से स्वयं अभिषेक किया। सभी कलशों की बोली से कोई डेढ़ लाख रुपए मिले। यह धन मैसूर सरकार में जमा रहता है जिसके सूद से इस उत्सव का व्यय निकल आता है। प्रथम दो तीन कलशों के बाद, सेठ साहूकार आदि भक्त बारी बारी से जल, नारियल का पानी, केसरी-युक्त जल, दूध, दही जैसे द्रव्यों के घड़ों से अभिषेक करते गए। अभिषिक्त, द्रव मूर्ति के मस्तक पर से पाँव तक बहते हुए जल प्रपात जैसा लगता था। दुग्धाभिषेक के बाद तो दूध की नदी ही बह आई। जल के अभिषेक से मानों पानी की झड़ी सी मस्तक से पाँव तक झर आई। पाद के पास एक छोटा-सा कुण्ड है जिसे ललित-सरोवर कहते हैं। इसमें सारा तीर्थ (अभिषिक्त जल) जमा होता है। महामस्तकाभिषेकोत्सव देखने योग्य एक महान् पर्व है।

इस उत्सव में भाग लेने के लिए पाँच लाख जैन-यात्री जमा हुए थे। पहाड़ के नीचे कोई पाँच छः सौ डेरे तने थे जिनमें यात्रियों के ठहरने की सुविधा कर दी गई थी। पहाड़ पर नीचे से ऊपर तक बिजली की बत्ती का प्रबन्ध किया गया था। गाँव में जगह जगह पीने के पानी का बम्बा लगाया गया था। गाँव में भी कई जैन बस्तियाँ (जैन-मन्दिर) हैं जिनमें भण्डारी बस्ती और मंगाई बस्ती प्रधान हैं। इनमें मंगाई बस्ती में एक बहुत सुन्दर हाथी (पत्थर का) है। गाँव में एक जैन मठ भी है जिसके प्रधान चारुकीर्ति पण्डिताचार्य स्वामी हैं।

छोटे पहाड़ पर अनेकों जैन-मन्दिर तथा शिला-लेख हैं। ये मन्दिर बड़े पहाड़ पर बने हुए कतिपय मन्दिरों से प्राचीन हैं। छोटे पहाड़ पर एक शासन-बस्ती है। यह बारहवीं शताब्दि का मन्दिर है। इसका निर्माण काल १११७ ई. होगा। इसके गर्भगृह में प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ की मूर्ति स्थापित है।

छोटा पहाड़ समुद्रतल से ३०५२ फुट ऊँचा है। इस पहाड़ का प्राचीन नाम संस्कृत के शिला लेखों में 'कटवप्र' मिलता है। इस पहाड़ पर स्थित मन्दिरों में सब से सबसे प्राचीन मन्दिर आठवीं शताब्दि का है। मन्दिर मन्दिर एक प्राचीर-दीवार के अन्दर स्थित हैं।

द्राविड़-शैली की शिल्प-कला के नमूने हैं। इस प्राचीर दीवार के बाहर एक गुफ़ा स्थित है जिसे भद्रबाहु की गुफ़ा कहते हैं। श्रुतकेवलि भद्रबाहु स्वामी ने उत्तर भारत से श्रवणबेळगोळ की इस गुफ़ा में आ कर वास किया था। इसी गुफ़ा में इनका देहान्त भी हुआ था। गुफ़ा में स्थित एक शिला-पटिया पर भद्रबाहु के चरण-चिन्ह अंकित हैं। कहा जाता है कि मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त ने तीर्थयात्रा करते हुए यहाँ पहुँच कर दक्षिणाचार्य से दीक्षा प्राप्त की थी। उन्होंने इसी गुफ़ा में रह कर आजीवन भद्रबाहुस्वामी के चरण-चिन्हों की पूजा में अपना समय बिताया था। यहीं उन्होंने अपना देहोत्सर्ग भी किया था। श्रुतकेवलि भद्रबाहु स्वामी ने उत्तर भारत में यह भविष्यवाणी की थी कि उत्तर भारत में द्वादशवर्षीय घोर अकाल पड़ेगा। इस पर बहुत से जैन श्री भद्रबाहु स्वामी के साथ दक्षिण भारत चले आए। इनके शिष्य चन्द्रगुप्त भी साथ थे। श्रवणबेळगोळ तक पहुँच कर भद्रबाहु ने अपना अन्त निकट जान कर साथियों को आगे बढ़ने की आज्ञा दे दी और आप वहीं ठहर गए। चन्द्रगुप्त भी वहीं गुरु जी की पाद सेवा में लगे रहे और आखिर सल्लेखन-क्रिया (आजीवन अनशन व्रत रखने) से अपना देह त्याग किया। इस पहाड़ पर स्थित शिला-लेख तथा यहाँ की प्रचलित दन्त-कथा और बृहत्कथाकोश (९३१ ई.), भद्रबाहु चरित (१५ वीं सदी) जैसे संस्कृत ग्रन्थ तथा मुनिवंशाभ्युदय (१६८० ई.) और देवचन्द्र-कृत राजावळि-कथा जैसे कन्नड-ग्रन्थों से चन्द्रगुप्त भद्रबाहु वाली यह कथा सप्रमाण सिद्ध होती है। इस तरह भारतवर्ष के प्रथम सम्राट चन्द्रगुप्त के जीवन के अन्तिम दिनों की झाँकी इस स्थान में मिल जाने से श्रवणबेळगोळ अखिल भारत का एक ऐतिहासिक स्थान (इतिहास प्रसिद्ध स्थान) भी माना जा सकता है।

छोटे पहाड़ पर कुल तेरह मन्दिर हैं। साधारणतया इन मन्दिरों में एक गर्भगृह, उसके सामने की एक खुली सुखनासी (जिसमें खड़े होकर गर्भगृह के अन्दर की मूर्ति के दर्शन किए जा सकते हैं) और उससे लगा हुआ एक नवरंग होते हैं। नवरंग के द्वार पर द्वारमण्डप और उसके आगे कहीं कहीं मुखमण्डप भी होते हैं। नवरंग की छत के नीचे के हिस्से को भुवनेश्वरी कहते हैं। साधारणतया छोटे पहाड़ पर स्थित मन्दिर होयसळ कालीन कला के द्योतक होने के कारण अत्यन्त भव्य बन पड़े हैं।

छोटे पहाड़ पर से उतर कर थोड़ा दूर चलिए। वहीं कल्याणी पड़ती है। कल्याणी झील को कहते हैं। कल्याणी के पास ही बड़े पहाड़ की सीढ़ियाँ दीखती हैं। तोरणद्वार या प्रवेशद्वार से पाँच सौ सीढ़ियाँ चढ़ जाइए तो आप बड़े पहाड़ पर पहुँच जाएँगे। परकोटे के प्रवेशद्वार पर यहाँ एक ऊँचा चबूतरा मिलता है जिस पर पहुँचाने के लिए छब्बीस सीढ़ियाँ लगी हुई हैं। इस चबूतरे पर ओदेगल बस्ती (बस्ती मंदिर) बनी हुई है। चबूतरे की दीवारों में शिला-टेकें तिरछी लगाई गई हैं। इस पर बने हुए मन्दिर को ओदेगल बस्ती कहते हैं। इस मन्दिर में नवरंग की तीनों दिशाओं में तीन गर्भगृह (तथा उनसे लगी हुई तीन सुखनासियाँ) हैं जिनमें आदिनाथ, शांतिनाथ और नेमिनाथ की मूर्त्तियाँ विराजमान हैं। इस मन्दिर से आगे बढ़िए और छियालीस सीढ़ियाँ चढ़ कर ऊपर आप अखण्ड द्वार पर पहुँचिएगा। यह प्रवेशद्वार एक ही अखण्ड-शिला को काट कर बनाया गया है। इसके सरदल पर गजलक्ष्मी की अत्यन्त सुन्दर मूर्त्ति उत्कीर्ण की गयी है। अखण्ड द्वार से होते हुए आप भीतरी परकोटे में पहुँचिएगा। वहाँ आप गोम्मटेश्वर की मूर्त्ति को एक विशाल आँगन में स्थित पाते हैं। गोम्मटेश्वर-मूर्त्ति के चारों ओर ओसारा इधर का बना हुआ है जिसे सुत्तालय (कन्नड़ में) कहते हैं। सुत्तालय के बरामदे में 'चौबीसों तीर्थंकरों' की नग्न मूर्त्तियाँ विद्यमान हैं। इनमें से अधिकांश मनौती की मूर्त्तियाँ हैं। मूर्त्ति के एकदम सामने के मण्डप के पास और मूर्त्ति के सम्मुख मुँह किए हुए गुळ्ळाकायज्जि की शिलामूर्त्ति विद्यमान है। इस देवी के हाथ में एक मुळ्ळकायि (बैंगन जैसी तरकारी) धरी हुई है। कहते हैं कि चामुण्डराय ने गोम्मटेश्वर की मूर्त्ति बनवाने के बाद मस्तकाभिषेक कराया। परन्तु अभिषिक्त जल घुटनों के पास तक भी नहीं पहुँचा। भला चरणामृत कैसे मिले! इस पर चमुण्डराय को बड़ा दुःख हुआ। तब एक देवी जी बैंगन जैसी किसी चीज़ में थोड़ा सा दूध लिए हुए आई और चामुण्डराय ने इस दूध से अभिषेक कराया कि नहीं, सारे पहाड़ पर दुग्ध नदी बह निकली। इस पर चामुण्डराय का माथा ठनका। संसार-प्रसिद्ध बाहुबली की मूर्त्ति बनवाने पर चामुण्डराय का जो गर्व था उसे अब इस भक्तिन ने चूर चूर कर दिया।

इस तरह इतिहास, पुराण तथा जैन धर्म के अतिरिक्त कला एवं स्थापत्य की दृष्टि से भी श्रवणबेळगोळ भारत वर्ष में अत्यन्त प्रसिद्ध स्थान है।

मैसूर यूनिवर्सिटी,
मैसूर

—ना. नागप्पा
एम. ए.

ज्वाला और ज्योति

पात्र

पुरुष

रायसाहब लक्ष्मीचन्द्र : उद्योगपति, कॉलेज के संस्थापक
रावराजा महेन्द्रसिंह : एक जागीरदार, रायसाहब के मित्र
प्रिन्सिपल : लक्ष्मी कॉलेज के प्रिन्सिपल
मनोज : मिनिस्टर का पुत्र; दर्शन (एम. ए.) का विद्यार्थी
अनिल : इतिहास (एम. ए.) का विद्यार्थी
नीरज : साहित्य (एम. ए.) का विद्यार्थी तथा कवि;
प्रदीप : विज्ञान (एम. एस् सी) का विद्यार्थी;
रामू : रायसाहब का नौकर;

स्त्री

शोभना : लक्ष्मीचन्द्र की पुत्री; राजनीति (एम. ए.) की छात्रा
मीरा : महेन्द्रसिंह की पुत्री; अर्थशास्त्र (एम. ए.) की छात्रा
कामिनी : रायसाहब लक्ष्मीचन्द्र की पत्नी; शोभा की माँ

पहला दृश्य : ज्वाला

[समय सन्ध्या के चार बजे 'लक्ष्मी कालेज' का सिंहद्वार जिस पर उभरे अक्षरों में नाम लिखा हुआ है। सन्ध्याकालीन सूर्य की किरणें नाम पर पड़ रही हैं जिससे वह और भी चमक उठा है। नीचे सामने कालेज की सीढ़ियाँ हैं। इधर उधर कुछ बैंचें हैं।

अभी-अभी 'समाज-शास्त्र परिषद्' के तत्त्वाधान में हुई 'अखिल भारतीय समाजवाद प्रतियोगिता' का वाद-विवाद समाप्त हुआ है। सामने द्वार के बीचोंबीच शोभना और मीरा को बीच में किए एक ओर से मनोज और अनिल तथा दूसरी ओर से नीरज और प्रदीप कॉलेज की सीढ़ियाँ उतर रहे हैं उतर कर सामने लॉन में पड़ी हुई बैंचों पर सब बैठ जाते हैं। सब बड़े प्रसन्न हैं]

अनिल : आपने तो आज दर्शकों को चकित कर दिया मिस शोभना? ऐसा धुँआधार भाषण तो इस कॉलेज के इतिहास में किसी लड़की ने अब तक नहीं दिया था।

मनोज : स...च...सु...च मिस शोभना! मेरी धमनियों का खून तो खौलने लगा था आपके ओजस्वी भाषण को सुन कर। ऐसा लगता था...

मीरा : कि आपके मस्तिष्क का बॉयलर (Boiler) फटने ही जा रहा है! क्यों न मिस्टर मनोज! (खिलखिला कर हँसती है साथ में सब हँसते हैं)

मनोज : देखिए! आप तो हँसी समझ रही हैं मिस मीरा। मैं हँसी नहीं कर रहा। जो कुछ कह रहा हूँ हृदय के गहन तल से कह रहा हूँ!

मीरा : ओहो! ओहो! आप तो सदैव हृदय के गहन तल में ही गोते लगाया करते हैं।

मनोज : देखिए आपने फिर एक व्यंग छोड़ा!

नीरज : 'मीरा' होकर भी आप कविता से उतनी ही दूर हैं जितना पूर्व से पश्चिम। मीरा के नाम को तो न लजाइए कम से कम! भला कविता और व्यंग्य का क्या साथ? मैं पूछता हूँ आखिर आप लड़कियों ने यह लड़कों की कला कहाँ से सीख ली?

मीरा : आप लोगों के सत्संग से। सहशिक्षा का कुछ तो लाभ मिलना ही चाहिए।

शोभना : और आप लड़कों ने हम लड़कियों से क्या सीखा? ज़रा यह भी तो बताइए हमें!

नीरज : हमने? हमने सीखा पुतलियों से तिरछी रेखाएँ खींचना, व्रीड़ा से मुँह पर गुलाल छिड़क लेना, पलकों से धरती को कुरेदने लगना और...और।

मीरा : बस! बस!! रहने भी दीजिए मिस्टर नीरज! सारी कविता यहीं समाप्त कर दीजिएगा क्या!

अनिल : भई नीरज!! छोड़ो भी यह कविता!! देखते नहीं आज का युग कल्पना का नहीं, यथार्थ का है। स्वर्ण के अलङ्कारों का नहीं लोहे के हल और हथौड़े का है।

शोभना : आप ठीक कहते हैं मिस्टर अनिल ! 'व्योम-कुञ्जों की परी कल्पना' को तो निर्वासन दीजिए अब 'और रोटी और कपड़े' की पुकार की प्रतिष्ठा कीजिए इस कविता में ।

मनोज : सचमुच युग बदल रहा है । केवल कल्पना में नहीं यथार्थ में परिवर्तन की हलचल हो रही है, धरती के नीचे भूकम्प है, आकाश में बादलों की घुमड़ है । धरती के ज्वालामुखी का विस्फोट होने जा रहा है और चारों ओर तूफ़ान और आँधी, बाढ़ और आग बढ़ी चली आ रही है और हम चारों ओर से घिर गए हैं । अब हम सोते नहीं रह सकते । हमें सचेत होना ही होगा । नवयुवकों पर ही समाज का भविष्य निर्भर है लड़कों और लड़कियों को साथियों की तरह कन्धे से कन्धा भिड़ा कर चलना होगा !

मीरा : क्यों नहीं ! हम लोगों को जो समाज शिक्षा दे रहा है वह इसलिए नहीं कि हम संसार भर के ज्ञान की पूँजी अपने इन मस्तिष्कों में भर कर उसके बोझ से इठलाते हुए चलें । यह तो हम पर समाज का एक ऋण है जो हमें चुकाना होगा !

प्रदीप : जी, ब्याज-सहित और आज से ही !

मनोज : शिक्षा हमें इसीलिए तो मिलती है कि हम संसार की समस्याओं का, जीवन के प्रश्नों का सूक्ष्म अध्ययन करें और उनके विषय में गहराई से सोच सकें, निर्भय होकर शुद्ध विचार तो बना सकें !

मीरा : बस फिर वही, अध्ययन ! चिन्तन ! मनन ! विचार ! और इससे आगे कुछ नहीं ? आपने भी फ़िलॉसफ़ी क्या पढ़ी सारे जीवन को ही फ़िलॉसौफ़ी बना डाला । मिस्टर मनोज ! मैं कहती हूँ आप वैसे ही फ़िलासफ़र बन जाएँगे जो छड़ी को तो पलँग पर लिटा देता था और स्वयं अपने कमरे के कोने में खड़ा हो जाया करता था ! (सब हँसते हैं)

नीरज : अजी मनोज जी की कुछ मत पूछो ! आजकल तो एक नए सत्य का अन्वेषण कर रहे हैं ये । जब वह महान् सत्य संसार के सामने प्रकट हो जाएगा तो यह विश्व पृथ्वी से आकाश में पहुँच जाएगा, आकाश में !

प्रदीप : आकाश में तो पहिले ही है यह विश्व ! तुम भी क्या बात कर रहे हो नीरज ! कविता में क्या कल्पना ही कल्पना अधिक भरी रहती है ?

अनिल : पर देखें, सुनाओ भी तो वह क्या नया सिद्धान्त है इन नए दार्शनिक महोदय का (मनोज की पीठ पर हाथ थपथपाता है) जिससे ये कान्ट और शॉपनहोर के भी कान काट देंगे !

नीरज : तो सुनोगे अनिल ? वह एक नए इतिहास का निर्माण करेगा ! तुम इतिहास के विद्यार्थियों के लिए बड़े काम का होगा वह ।

मीरा : अजी इतिहास का विद्यार्थी तो भूत में रहता है, भूत में । वह भविष्य को क्या जाने ?

अनिल : जी नहीं । इतिहास भूत को समझा कर वर्तमान का अध्ययन करता है और भविष्य की ओर संकेत करता है !

शोभना : तो सुनाइए भी भविष्य का निर्माण करनेवाला वह दार्शनिक सत्य कौनसा है जिसे मिस्टर मनोज खोज रहे हैं !

नीरज : तो लीजिए ! ये दार्शनिक महोदय संसार के सामने रखना चाहते हैं यह सत्य कि समाज की अशान्ति और उपद्रव युद्ध और विनाश नर-संहार और रक्तपात का एक ही कारण है दर्शन और तत्वज्ञान की उपेक्षा । यदि दर्शन और तत्वज्ञान की शिक्षा प्रत्येक मनुष्य को मिलने लग जाए तो निश्चित मानिए कि कुछ ही दिनों में वह रोटी की समस्या को भूल कर चोटी की समस्या को पालेगा-मेरा आशय है (ऊपर दिखा कर) उस परम तत्व की खोज में वह इतना लीन हो जाएगा कि संसार की भूख और प्यास हाहाकार और चीत्कार उसकी शान्ति भंग नहीं कर सकते और इस प्रकार सब प्राणी एक 'आध्यात्मिक साम्यवाद' से अपने आप समाज में सुख और शान्ति स्थापित हो जाएगी !

मीरा : भई क्या अद्भुत विचार है ! कितना क्रान्ति–

कारी चिन्तन, कितना युगान्तरकारी दर्शन ।

अनिल : भाई, मानना पड़ेगा कि इस उर्वर मस्तिष्क को अवश्य किसी ऊँचे दार्शनिक की हड्डियों की खाद मिली है तभी तो इसमें ऐसे अद्‌भुत फल फूल लग रहे हैं ।

प्रदीप : जब यह 'दर्शन' प्रकट होगा तो ऐटमिक बम से भी महान् शक्तिशाली होगा आपका यह आत्मिक बम्ब ।

अनिल : दार्शनिक महोदय ! इसका कौन-सा नाम रखेंगे आप ? गाँधी बम ?

मीरा : मै समझती हूँ एक्स बम (X Bomb) इसका सबसे उपर्युक्त नाम होगा ! (हँसी)

प्रदीप : पर मुझे लगता है कि कहीं बनाते-बनाते इनके मस्तिष्क में ही न फट पड़े (मुँह से फटने का अभिनय करते हुए) यह बम ! (सब हँसते हैं)

मनोज : भाई, हम तो विचार और दर्शन के प्राणी हैं सूक्ष्म तत्त्वों की बात करते हैं । ठोस मिट्टी की बात करनी हो तो मीरा जी हैं अर्थशास्त्री ? रोटी, कपड़ा, लोहा, लकड़ी, घास-फूस की दुनिया तो इनके मस्तिष्क में मिलेगी ।

अनिल : या फिर बात कीजिए हमारे विज्ञान के अवतार प्रदीप जी से जिनको टैस्ट ट्यूब से ही अवकाश नहीं है । इसी टैस्ट ट्यूब में डाल लेंगे एक दिन समाज की सब अव्यवस्था को और सुना देंगे उसको मिटाने का वैज्ञानिक फारमूला (Formula) !

मीरा : अरे भाई विश्व की अशान्ति को न तुम्हारा दर्शन मिटाएगा न मिटाएगा इनका विज्ञान । वह तो मिटेगा अर्थ-शास्त्रों के अस्त्र-शस्त्रों से ही । अर्थ-शास्त्र की जेब में आज की सब समस्याओं की कुंजी रहती है ! घर के चक्की-चूल्हे से लेकर मिलों और कारखानों तक समाज के प्रत्येक क्षेत्र में जो कुछ चलता दिखाई देता है सब अर्थ-शास्त्र की नींव पर ही तो खड़ा है ।

प्रदीप : जी हाँ, हम अर्थ-शास्त्र खाते हैं, हम अर्थ शास्त्र पीते हैं ! यह भी कह दीजिए कि हम अर्थशास्त्र हँसते हैं और अर्थशास्त्र रोते हैं । (हँसी)

नीरज : सचमुच भई ! जिस हँसने और रोने पर कविता का एकाधिकार था उसका तो अब अर्थशास्त्र से राष्ट्रीयकरण कर लिया है, राष्ट्रीयकरण (हँसी)

अनिल : हाँ, तो अर्थशास्त्री महोदय का क्या मत है इस पर कि आखिर यह समाज की अशान्ति और विषमता कैसे मिटेगी ? और कैसे होगा फिर से स्वर्ण युग का आरम्भ ?

मीरा : सुनना चाहते हैं आप ? तो सुनिए—समाज में जब तक आर्थिक शोषण रहेगा तब तक पूंजीवाद मर नहीं सकता । जब तक पूंजीवाद जीता है तब तक साम्राज्यवाद चलेगा और युद्ध और रक्तपात तो साम्राज्यवाद के खेल हैं, खेल । इनको मिटाना हो तो आर्थिक शोषण की जड़ काटो ।

मनोज : और आर्थिक शोषण को मिटाने का एक ही उपाय है कि प्रत्येक मनुष्य, प्रत्येक घर, प्रत्येक गाँव स्वावलम्बी बने । देश के उद्योगों का विकेन्द्रीयकरण हो, गांधी जी के बताए हुए मार्ग पर ही रचनात्मक प्रवृत्तियों का विकास हो । तभी होगी समाज में समता और तभी होगा 'सर्वोदय' ।

प्रदीप : क्या कहना ! तभी संसार में प्रेम की वंशी बजेगी, शान्ति का अमृत बरसेगा । आनन्द और उल्लास का नृत्य चारों ओर होने लगेगा । इसी को कहते हैं 'यूटोपिया' (Utopia) क्यों न मिस शोभना ?

शोभना : मैं तो समझती हूँ जब तक साम्राज्यवाद अपनी अन्तिम सांस नहीं ले लेता तब तक समाजवाद का जागरण न होगा । साम्राज्यवाद के शव पर ही समाजवाद की नींव रखी जाएगी ।

नीरज : यह ठीक रहा मिस शोभना । आप एक उद्योगपति की कन्या हैं, इसलिए 'पूंजीवाद' का नाम तक आप नहीं लाती और साम्राज्यवाद को मिटा देने पर उतारू हैं । क्या साम्राज्यवाद पूंजीवाद की ही सन्तान नहीं है ? और मिस मीरा ! आप ठहरीं एक जागीरदार की सुपुत्री ।

इसलिए पूंजीवाद के ऊपर उबल पड़ी हैं। आर्थिक शोषण क्या सामन्तवाद के घेरे में नहीं हो रहा है? मैं समझता हूँ कि मिस शोभना, और मिस मीरा दोनों मिलकर पहिले इसका फैसला कर लें कि आर्थिक शोषण दोनों में से कौन कर रहा है? मेरा मतलब है पूंजीवाद शोषक है या सामन्तवाद?

प्रदीप : जब तक मिस शोभना, समाज के इस राजरोग पूंजीवाद का अन्त नहीं होता जो कि मिलों और फ़ैक्ट्रियों के द्वारा जन शोषण का कार्य और व्यापार करता है और जब तक मिस मीरा, सामन्तवाद इन छोटी-मोटी जागीरों के रूप में फोड़े की तरह समाज के शरीर पर दिखाई दे रहा है तब तक ऊपरी दवाओं से समाज का शरीर स्वस्थ नहीं हो सकता।

नीरज : आपका, मेरा मतलब है आपके पिता का जो यह लक्ष्मी मिल्स चलता है मिस शोभना, आपने सोचा है उसके कल-पुर्जों में, उसकी मशीनों में, हजारों लाखों मज़दूरों की ही हड्डियाँ पिस रही हैं। आपके मिल की चिमनी जो धुआँ उगलती है उसमें कितने असंख्य पशुतुल्य जीवन बितानेवाले श्रमिकों की आहें मिली हुई हैं। आपके मिल के घोर गर्जन में कितने पीड़ित कारीगरों की चीत्कारें दबी हुई हैं। आपके मिल के तैयार किए हुए कपड़ों में मज़दूरों की नसों का ताना-बाना है और आप बात करती हैं समता की, समाज के सुख और शान्ति की। आपको अपने भाषण के शब्दों का ध्यान है? अब तक भवन की दीवारें गूँज रही होंगी आपकी गर्जना से।

प्रदीप : और मिस मीरा! आप बुरा न मानें। पर जब तक साम्राज्यवाद के दास और पूँजीवाद के पोषक सामन्तवाद की अन्तिम दीवारें नहीं ढह जातीं तब तक जनता को सच्ची मुक्ति नहीं मिल सकती। हम जिन साम्राज्यवादी जंजीरों को तोड़ कर स्वतन्त्र कहलाते हैं उनकी अन्तिम कड़ियों की जंजीरें अब भी दिखाई दे रही हैं।

शोभना : आपका व्यंग्य मैं समझ गई हूँ मि० नीरज! पर मुझे स्मरण है कि मैंने आज क्या कहा है। मैं कह सकती हूँ कि मैंने मुँह से जो शब्द कहे हैं मेरे हाथ उनको सच करने में कोई बात उठा नहीं रखेंगे!

प्रदीप : अजी धोखा है धोखा! आप तो उड़ाते जाइए पिता की लूट का माल और पीटे जाइए जनता के अधिकारों का, समाजवाद का, डंका। संसार अभी बड़ा भोला है।

मनोज : पर मिस शोभना, आपने आज एक क्रान्तिकारी भाषण देकर रायसाहब के लिए तो एक विपत्ति खड़ी कर ही दी!

शोभना : आप इसे विपत्ति क्यों कहते हैं मि० मनोज? वह तो उनके लिए मुक्ति का कारण बनेगा। मेरा तो कम-से-कम यही विश्वास है!

नीरज : ईश्वर करे आपका यह विश्वास झूठा नहीं हो! यह तो कल प्रातःकालीन सूर्य की किरणें बताएँगी मिस शोभना कि आपमें क्या परिवर्तन होता है। अभी तो बुलाइए अपनी 'नीली चिड़िया' को और बैठ कर उड़ जाइए उस पर, धूल उड़ाती हुई पैदल चलनेवालों के स्वच्छ कपड़ों पर।

शोभना : मैंने गाड़ी पहले ही भिजवा दी है मि० नीरज! मैं नहीं बैठूँगी आज से! चलिए साथ ही चलें पैदल-पैदल!

मनोज : मनुष्य की शिक्षा का सार यही है कि वह अपने विचारों की प्रतिच्छाया अपनी वाणी में भी दे!

मीरा : और उसका अपने कार्य में अनुवाद करे—यह कहना न भूलिए मि० मनोज। नहीं, शोभना क्या तुम सचमुच इतनी गम्भीरता से सोच रही हो? अपने माता-पिता से विना पूछे तुम यह क्या कर रही हो?

शोभना : पवित्र मन से किया संकल्प कभी विफल नहीं होता मीरा। संसार के सभी महान् अनुष्ठानों के मूल में इसी प्रकार के संकल्पों का बीज रहा है!

मनोज : दर्शन का यही सार है।

अनिल : इतिहास भी यही कहता है!

प्रदीप : विज्ञान यही सिद्ध करता है।

नीरज : और साहित्य भी यही दिखाता है।

(सब हँसते हुए एक ओर चले जाते हैं)

(पट परिवर्तन)

दूसरा दृश्य 'ज्योति'

[रायसाहब लक्ष्मीचन्द्र के भवन का ड्राइंग रूम। समय प्रातः ७-३० बजे। लक्ष्मीचन्द्र सोफ़ा पर बैठे हुए 'जनराज' नामक दैनिक पत्र पढ़ रहे हैं। उनके सामने एक छोटी टेबल पर एक ट्रे में चाय के प्याले, केतली आदि रखे हैं। कुछ और तश्तरियों में टोस्ट-बिस्कुट और मेवा भी हैं। लक्ष्मीचन्द्र अखबार के अन्तिम पृष्ठ की एक खबर को ध्यान से पढ़ रहे हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि उस समाचार ने उनके अन्तरतम को भी उद्वेलित किया है। चेहरे पर कभी रोष, कभी खिन्नता, कभी आकुलता के भाव प्रकट हो रहे हैं। वे कभी उद्विग्न होकर इधर उधर देखने लगते हैं और अखबार उलट पलट कर पुनः उसी पृष्ठ पर आँखें गड़ा देते हैं। इतने में एक द्वार से कामिनी (श्रीमती लक्ष्मीचन्द्र) आती है। परन्तु लक्ष्मीचन्द्र इतने व्यस्त हैं कि उनका ध्यान नहीं जाता।]

कामिनी : क्यों चाय अभी तक नहीं पी ? कब से ठण्डी हो रही है ?

लक्ष्मीचन्द्र : (सहसा ध्यान हटा कर) मैं चाय से भी अधिक 'डोज' ले रहा हूँ इस समय। यह कॉलेज की उच्च शिक्षा तो इन नौजवानों को मटियामेट करके छोड़ेगी (झुँझला कर अखबार एक ओर रख देता है।)

कामिनी : (साश्चर्य) क्यों, क्या अब फिर कोई हड़ताल हो गई है वहाँ ?

लक्ष्मीचन्द्र : इस बार हड़ताल नहीं तो दूसरा बवंडर उठा है। आजकल के विद्यार्थी राजनैतिक हलचलों में बहुत उछल-कूद मचाने लगे हैं। क्या पढ़ाई का आजकल एक ही उद्देश्य उपद्रव कराना रह गया है ? वहाँ मिलों की नींव को उड़ाने के लिए 'डाइनामाइट' तैयार किया जाता है। जागीरों और जमींदारों के ऊपर गिराए जाने के लिए 'बम' बनाया जाता है। मैं पूछता हूँ कि क्या यह लड़के शान्ति से पढ़ लिख नहीं सकते। शिक्षा के नाम पर भिन्न भिन्न परिषदें और सभाएँ, व्याख्यान और वादविवाद से क्रान्ति और विप्लव के बीज बो रहे हैं। मुझे प्रिन्सिपल को बुलाना ही पड़ेगा। कम-से-कम मेरे कालेज में ऐसा नहीं हो सकता। (उत्तेजित हो जाता है)

कामिनी : क्रान्ति तो बड़ा सस्ता शब्द हो गया है इन पढ़े लिखे नवयुवकों की जीभ पर। बस थोड़ी सी पुस्तकें पढ़ लीं, कुछ बात करने का ढंग आया न आया और बस शोषण और वर्ग-संघर्ष, विस्फोट और क्रान्ति का मन्त्र रटने लगे यह लोग।

लक्ष्मीचन्द्र : और यह तो बड़ा अन्याय है कि मेरे ही कालेज में यह सब हो। मेरी ही तिजोरी का पैसा इसमें लगे और उसी तिजोरी को लूटने का षड्यन्त्र करें इसके विद्यार्थी। और यह पत्रकार भी कम आग उगलते हैं, आग! जब देखो तब एक चिनगारी-सी छोड़ देते हैं। जैसे इस चिनगारी के बिना इनके पत्र समाचार फीके, सब समाचार ठण्डे। मैं कहता हूँ कि कालेज में होने वाली इन वादविवाद सभाओं में क्यों बुलाए जाते हैं ये पत्रकार लोग। क्या सार्वजनिक सभाएँ कुछ कम हैं इनके लिए।

कामिनी : क्या लिखा है इस पत्रकार की कलम ने ? देखें, ये भी तो सुनूँ।

लक्ष्मीचन्द्र : (अखबार उठा कर देता हुआ) लो तुम्हीं पढ़ लो न अपनी शोभा की प्रशंसा। यह प्रशंसा तो हमारा खून सुखा रही है खून ! हमारे हृदय की धड़कन बढ़ जाती है इसे पढ़ कर। लो (आवेश में अखबार देकर) और तुम इस से कुछ कहती तक नहीं। यह लड़की अपने पिता के ही विरुद्ध क्रान्ति करेगी क्या कामिनी ?

(कामिनी पढ़ती है राय साहब हाथ सिर पर लगा कर बैठ जाते हैं।)

"ये उद्योगपति नहीं, समाज के रक्तशोषक हैं। लक्ष्मी कालेज में संस्थापक के विरुद्ध विद्रोह। परिषद् में लक्ष्मी मिल को हस्तगत करने का प्रस्ताव पास।..."

लक्ष्मीचन्द्र : (बीच में टोक कर) बस बस रहने दो। मेरा सिर अभी फट पड़ेगा। मैं यह सब नहीं सुनना चाहता। (चाय पीने के लिए प्याला उठाता है। ओठ में लगा कर) ओफ़ ! चाय तो बिलकुल ठंडी हो गई। (उच्च स्वर) अरे रामू। (रामू का प्रवेश)

रामू : जी सरकार,

लक्ष्मीचन्द्र : यह चाय दूध सब ठण्डा हो गया। ले जाओ यह सब। यह दूध कुत्ते को दे देना। (टोस्ट उठा कर) और यह टोस्ट भी उसे डाल देना। दूसरा दूध गरम करके लाओ और टोस्ट भी।

रामू : अभी लाया सरकार! (ट्रे उठा कर ले जाता है)।

शोभना : (सहसा प्रवेश करके) पिताजी। यह आप क्या कर रहे हैं? देश के लाखों गरीबों को अन्न का दाना नहीं मिलता और आप टोस्ट कुत्तों को डलवाने के लिए कह रहे हैं। वे जबान बच्चों को दूध का घूंट तक नहीं मिलता और आप इसे फिंकवा देने का हुक्म दे रहे हैं। ओफ़! अन्न और दूध का यह अपमान?

लक्ष्मीचन्द्र : और तुम मेरी इस सम्पत्ति का अपमान करने आई हो। (कामिनी से) लो यह है तुम्हारी चिनगारी। मैं कहता हूँ इसे रोको। नहीं तो यह अपने ही घर को भस्म कर देगी।

शोभना : चिनगारी स्वयं नहीं उत्पन्न होती पिताजी। (माँ से) और चिनगारी किस में नहीं रहती माँ! जिस लकड़ी से मधुर गीत देनेवाली बांसुरी बनती है उसी के हृदय में आग की चिनगारी भी बसती है। जिस पत्थर से देवता की प्रतिमा बनती है उसी के कलेजे में ज्वाला छिपी हुई है। क्षमामयी पृथ्वी के भीतर भी आग है। पानी के नीचे भी आग है। चिनगारी कहाँ नहीं है माँ!

कामिनी : परन्तु यह चिनगारी अपने को ही जलाने के लिए नहीं होती बेटी। देखो जिस सम्पत्ति की एक मात्र उत्तराधिकारिणी तुम हो उसी के विरुद्ध तुम यह सब बवण्डर उठा रही हो।

लक्ष्मीचन्द्र : क्या, यही सब देखने-सुनने और पढ़ने के लिए मैंने तुम्हें पढ़ाया लिखाया है। तुम नहीं जानती यह सब सम्पत्ति तुम्हीं को तो मिलने वाली है।

शोभना : क्षमा कीजिए पिताजी, आपको दुःख होना स्वाभाविक है। फोड़ा जब पक जाता है तब उसकी पीड़ा में मुँह कराहता है, आँखें आँसू बहाती हैं, परन्तु निष्ठुर हाथ उसे चीर कर काट कर फेंक देते हैं। क्या यह बुरा है पिताजी? फोड़ा कभी नहीं कह सकता कि काटने में उसे सुख हुआ है। शरीर जानता है कि फोड़ा कटने में ही उसका रोग दूर होगा।

लक्ष्मीचन्द्र : तो मैं रोग हूँ। मेरी सब पूंजी फोड़ा है। क्या यही सब सुनाने के लिए तू शिक्षित हुई है!

शोभना : यह मैं नहीं सारी जनता कह रही है पिताजी। यह तो युग का सत्य है। क्या शिक्षा सत्य को छिपाना सिखाती है पिताजी?

लक्ष्मीचन्द्र : लड़की, तू नहीं जानती कि तू यह किससे कह रही है। उससे जिसके आगे बड़े बड़े अधिकारी हाथ जोड़े खड़े रहते हैं! यह कालेज की वाद-विवाद सभा नहीं है। यह तुम्हारी कक्षा भी नहीं है कि जहाँ तुम यह सब असभ्यता कर सकती हो। तुम मेरे सामने से हट जाओ। मैं तुम्हारे प्रिन्सिपल से बात करूँगा कि मेरे ही कालिज में मेरे ही विरोध में यह सब कुछ क्या होता है और उसका साधन बनाई जाती है मेरे ही रक्त मांस से बनी हुई मेरी लड़की। (उत्तेजित होकर एक ओर के दरवाज़े में चले जाते हैं)

शोभना : माँ पिता जी की उत्तेजना बढ़ गई है। मैं और कुछ कह कर आग में घी डालने का काम नहीं करूँगी। मैं अभी यहाँ से चली जाती हूँ। मुझे एक आवश्यक कार्य से मीरा से मिलना भी है।

कामिनी : अच्छा जाओ, लौटना जल्दी ही। मैं तब तक तुम्हारे पिता जी को कुछ समझा बुझा लूँगी (शोभना जाती है)।

लक्ष्मीचन्द्र : क्या शोभना चली गई? अभी तो मुझे उससे बहुत-सी बातें कहनी थीं।

कामिनी : हाँ, मीरा के यहाँ गई है अभी लौट आएगी। (लक्ष्मीचन्द्र उत्तेजित होकर वेग से इधर उधर घूमते हैं फिर अचानक एक मेज़ पर रखे हुए टेलीफ़ोन के पास जाकर रिसीवर उठाते हैं और नम्बर मिलाते हैं)

लक्ष्मीचन्द्र : १ हैलो, प्रिन्सिपल?

२ अच्छा मैं हूँ लक्ष्मीचन्द्र ।

३ नमस्ते, देखिए आप इस समय आ सकते हैं क्या ?

४ अच्छा तो आ जाइए, मैं आपकी प्रतीक्षा करूँगा ।

५ इस समय साढ़े आठ बजे हैं आपको पन्द्रह मिनट लगेंगे । आप पौने नौ पर यहाँ आ जाएँगे चाय यहीं पी लीजिए । (रिसीवर रख देते हैं)

लक्ष्मीचन्द्र : (कामिनी से) आज प्रिन्सिपल से सारी बात कर लूँगा । यह नहीं हो सकता कि मेरा ही कालेज इन षड्यन्त्रों का केन्द्र बने ।

कामिनी : पर इसे आप षड्यन्त्र क्यों मान बैठे हैं ? यह तो युग की ज्वाला है जो चिनगारी के रूप में प्रकट हो रही है ।

लक्ष्मीचन्द्र : आखिर किस कूड़ा-कर्कट को जलाने आई है यह ज्वाला ।

कामिनी : कुछ नहीं यह युग जनता के अधिकारों का है, शोषण का इसमें स्थान नहीं हो सकता ! इसी शोषण के विरुद्ध है यह सब आवाज़ ।

लक्ष्मीचन्द्र : बस वही शोषण शोषण ? मैं पूछता हूँ कि मैंने अपने इस उद्योग में शोषण किया ? माना कि मैं लाखों कमाता हूँ तो उतना ही दोनों हाथ लुटाता भी तो हूँ । अभी कल ही की तो बात है कस्तूर बा फण्ड में एक लाख रुपए चन्दा किसने दिया था ? गोसेवा संघ को सौ सांड किसने भेंट कर दिए । काँग्रेस के चुनाव के लिए किसने थैली खोल दी थी ? आए दिन काँग्रेसी मन्त्री दरवाज़े पर अड़े रहते हैं, हज़ार से कम तो बात ही नहीं होती । यह पूँजी न होती तो यह सब कहाँ से होता ?

कामिनी : परन्तु सब उद्योगपति आप जैसे नहीं होते ! एक मगर यदि मांस खाना छोड़ देगा तो क्या सभी मगरों को अहिंसक मान लिया जाएगा ।

लक्ष्मीचन्द्र : परन्तु दोषियों के साथ निर्दोष क्यों पिसे ?

कामिनी : यह तो होता ही आया है । परन्तु आप शान्त हृदय से सोचेंगे तो इसमें कोई दोष नहीं लगेगा । कोई वस्तु समाज के हित की है या नहीं इसके निर्णय का अधिकार तो समाज ही को है । पर जाने भी दीजिए ये बातें । आज तो शोभना की वर्षगांठ है उसे कुछ मत कहिए । उसे तो कुछ उपहार देना चाहिए था आज !

लक्ष्मीचन्द्र : अच्छा ! (मुस्कराते हुए) यह बात तो मुझे मालूम ही नहीं थी । तुमने अच्छी स्मृति दिलाई । काश कि आज सवेरे यह अप्रिय प्रसंग न आता । कितने वर्ष की हुई शोभना ?

कामिनी : बीस वर्ष पूरे हो गए कल । इक्कीसवां लग रहा है आज । अब तो कुछ चिन्ता कीजिए उसकी । आप मानें तो एक बात कहूँ !

लक्ष्मीचन्द्र : क्यों न मानूँगा तुम्हारी बात । सदा ही मानता आया हूँ । फिर आज तो शोभना का शुभ जन्म दिवस है । क्यों क्या कोई लड़का है ध्यान में ?

कामिनी : मैं तो सोचती हूँ शोभना और मनोज... क्यों मनोज कैसा लगता है आपको ?

लक्ष्मीचन्द्र : तुम्हारा मतलब मिनिस्टर के लड़के से है । लड़का तो सुशील है । एम-ए. में पढ़ता है न वह भी । शायद दर्शन लिया है उसने । कहीं उसके भी ऐसे ही क्रान्तिकारी विचार तो नहीं हैं ?

कामिनी : आप फिर घूम कर उसी विषय पर आ रहे हैं । अजी अब तो क्रान्तिकारियों को प्यार करना सीखिए । क्रान्तिकारी बुरे नहीं होते । क्या शोभना बुरी है ? क्या मनोज बुरा है ?

रामू : (प्रवेश करके) सरकार कालेज का साहब आया है ।

लक्ष्मीचन्द्र : हाँ, हाँ बुला लो । (रामू जाता है । (कामिनी से) लो, प्रिन्सिपल आ गए । आज तुम्हारी शोभना और तुम्हारे मनोज सभी क्रान्तिकारियों का कच्चा चिट्ठा जाने लेता हूँ । (प्रिन्सिपल का प्रवेश)

लक्ष्मीचन्द्र : आइए, आइए प्रिन्सिपल साहब (दोनों अभिवादन करते हैं)

कामिनी : बैठिए (इतने में नौकर चाय लाता है, प्रिन्सिपल बैठते हैं) ।

कामिनी : लीजिए, चाय पीजिए (कामिनी चाय तैयार करती है) ।

लक्ष्मीचन्द्र : मैंने आपको इसलिए कष्ट दिया प्रिन्सिपल

साहब कि आज के अखबार में आपके वाद-विवाद की बड़ी प्रशंसा है। बड़ा क्रान्तिकारी निर्णय हो गया !

प्रिन्सि-ल : (प्याला होंठ से हटाते हुए) हाँ, श्रीमान्, वादविवाद का स्तर बहुत ही ऊँचा रहा। शोभना ने तो प्रथम पुरस्कार पाया है। दूर दूर के प्रान्तों से विद्यार्थी आए थे पर सब का भाषण शोभना के भाषण के सामने फीका पड़ गया। ट्रॉफी भी अपने ही कालेज को मिली, यह और भी गौरव की बात है श्रीमान्।

लक्ष्मीचन्द्र: तब तो शोभना की पीठ ठोकनी चाहिए मुझ को ! परन्तु प्रिन्सिपल साहब, एक उद्योगपति के कालेज में उद्योगपति की ही लड़की, उद्योगपतियों के समाप्त करने के विषय में धुआँधार भाषण दे और प्रस्ताव पास हो जाए यह क्या विचित्र नहीं है ?

कामिनी : क्या यह कालेज के संस्थापक की ही आलोचना नहीं है ?

लक्ष्मीचन्द्र: अभी मैंने जब अखबार उठाया तो मैं स्तब्ध रह गया पढ़ कर। आपके लिए गौरव की बात हो सकती है कि आप इन भोले भाले विद्यार्थियों से क्रान्तिकारी विचार उगलवाएँ किन्तु, मेरे लिए तो घोर लज्जा की बात है यह, एक उद्योगपति का कालेज विचार करे इन उद्योग-पतियों के विरुद्ध, आग उगले अपने...... ।

प्रिन्सिपल : यही तो अपने कालेज की एक विशेषता है श्रीमान्, कि यहाँ किसी प्रकार का मताग्रह विद्यार्थियों पर लादा नहीं जाता। सत्य के प्रकाश की जो किरण उन्हें दी जाती है उस पर किसी प्रकार का नियन्त्रण नहीं रखा जाता। उनके आगे जीवन की सभी समस्याएँ, समाज के सभी प्रश्न आते हैं। क्या आप चाहते हैं कि अन्धेरे में पथ दिखानेवाले ज्योति स्तम्भ से यह कहा जाए कि तुम अमुक वस्तु पर प्रकाश डालो, अमुक वस्तु पर मत डालो।

लक्ष्मीचन्द्र: यह बात अच्छी तो है प्रिन्सिपल साहब ! परन्तु अपने कालेज में मुझ जैसे उद्योगपति के विरोध में आवाज उठे यह मेरे लिए भी तो सोचने की बात है। क्या आप चाहते हैं कि इस निर्णय की मुझ पर कोई प्रतिक्रिया ही न हो ? मैं यह क्यों न मान लूँ कि मेरा कालेज मुझ से कह रहा है कि तुम्हारा यह सब उद्योग छीन लिया जाना चाहिए ?

प्रिन्सिपल : यह तो आपकी उच्च और उदार भावना है राय साहब ! परन्तु अभी तो ऐसी कोई बात नहीं है कि व्यक्तिगत उद्योगों को, मिलों और फैक्टरियों को रातों रात छीन लिया जाय। यह तो राष्ट्र की प्रगति में एक बहुत बड़ी बाधा डालना होगा। अभी हम इस स्थिति में हैं ही कहाँ कि उद्योगों का राष्ट्रीयकरण हो सके। भारत के विद्वान् अर्थशास्त्री भी यही मानते हैं।

लक्ष्मीचन्द्र: यह बात तो निश्चित ही है प्रिन्सिपल साहब ! अभी कहाँ है सरकार के पास इतना धन ? कहाँ है अभी इतनी शक्ति और योग्यता और स्वार्थ रहित देश भक्ति की भावना ! अभी तो मैं सोचता हूँ कि दस साल तक राष्ट्रीयकरण की बात सोचना भी अपराध है।

कामिनी : यदि व्यक्तियों को व्यक्तिगत उद्योग स्थापित करने को प्रोत्साहन न मिलेगा तो प्रत्येक दिशा में नई प्रतिभा प्रकट कैसे होगी ? यह भी तो सोचने की बात है।

लक्ष्मीचन्द्र: मैं विश्वास दिलाता हूँ कि मैं ऐसी कोई बात न करूँगा जो राष्ट्र के हित के विरुद्ध हो।

कामिनी : हमारे मिल के मजदूरों ने कभी हड़ताल नहीं की, जलूस नहीं निकाला, कभी सभा नहीं की। सब काम अच्छे ढंग से चल रहा है।

प्रिन्सिपल : यह तो मैं जानता हूँ रायसाहिब इसीलिए तो आपकी इतनी प्रशंसा है। आप उद्योगपति अवश्य हैं पर ऐसे नहीं जो जनता के ऊपर भार हों, आप पूंजीवाद के अंग अवश्य हैं परन्तु आपके यहाँ पूंजी शोषण नहीं करती, पोषण करती है। राष्ट्र की कितनी ही

संस्थाएँ आपके दान से चलती हैं ।

कामिनी : क्यों प्रिन्सिपल साहब, महात्मा जी होते तो क्या ऐसे उद्योगपतियों को ऐसे मिटा देने की बात कहते ?

प्रिन्सिपल : कभी नहीं, गांधी जी तो किसी वर्ग के शत्रु नहीं थे । वे तो धनपतियों से यह आशा करते थे कि वे राष्ट्र के धन की वृद्धि करें परन्तु उसका उपयोग समाज के लिए हो । वे अपनी संपत्ति के संरक्षक रहें ।

लक्ष्मीचन्द्र : तब क्या हमारी सरकार गांधी जी का यह मत इतनी जल्दी भूल जाएगी ?

प्रिन्सिपल : यह नीति अच्छी तो अवश्य है परन्तु इससे ख़तरे भी बहुत हैं । वे सभी वर्गों से आशा करते थे कि वे अपना अपना कर्त्तव्य अपने आप पालन करेंगे । वे दबाव के पक्ष में तो थे ही नहीं ।

कामिनी : सचमुच वे मनुष्य के देवता में विश्वास करते थे इसलिए ऊँचे आदर्श की कल्पना करते थे । परन्तु, होता तो यह है कि मनुष्य का राक्षस अधिक प्रबल हो जाता है ।

प्रिन्सिपल : आपने गांधी जी को अच्छे रूप में समझा है । इसलिए तो समाजवाद इस प्रकार के हृदय परिवर्तन में विश्वास नहीं करता और राज्य को ही कठोर से कठोर रूप देकर समाज में नैतिकता लाना चाहता है ।

लक्ष्मीचन्द्र : तब तो समाजवाद में मनुष्य को देवत्व का विकास करने का अवसर ही नहीं मिल सकेगा । व्यक्तिगत विकास तो तभी होता है जब उसे बन्धन से मुक्त स्वतन्त्र छोड़ दिया जाय ।

प्रिन्सिपल : सच बात तो यह है चाहें गांधीवाद रहे या समाजवाद, समाज का सुख तो अन्त में व्यक्तियों की नैतिकता पर ही निर्भर रहेगा । आज की शिक्षा का यही धर्म है कि वह समाज के लिए सच्चा मार्ग बताए ।

कामिनी : मूल बात तो यह है कि शिक्षा के सामने सत्य की खोज का प्रश्न ही सब से बड़ा है—व्यक्तियों के हित अहित का प्रश्न तो गौण है । उसे तो मार्गदर्शक का कार्य ही करना चाहिए, व्यक्तियों के स्वार्थ का पोषण करना उसका धर्म नहीं । क्या यह आदर्श ठीक नहीं है ?

लक्ष्मीचन्द्र : मुझे यह सुन कर प्रसन्नता है कि मेरे कालेज में युग और समाज के इन जीवित प्रश्नों पर विचार होता है ।

प्रिन्सिपल : आज के नवयुवक ही कल के प्रकाश दर्शक (Torch bearer) बनेंगे । उनको समाज की समस्त समस्याओं का ज्ञान देना तो हमारा कर्तव्य होना ही चाहिए ।

कामिनी : तब तो यह हमारी भूल थी कि हम शोभना को इस प्रकार चिनगारी मान बैठे थे ।

प्रिन्सिपल : चिनगारी ? मैं शोभना को भलीभाँति जानता हूँ रायसाहिब । आज तक ऐसी बुद्धिमती लड़की कालिज में नहीं हुई । उससे कभी किसी का अहित नहीं हो सकता । फिर आप तो उसके माता-पिता ठहरे । क्या प्रगतिशील विचार होने और प्रगट करने से ही कोई बुरा हो जाएगा ?

लक्ष्मीचन्द्र : नहीं, यह बात तो नहीं है । यह दोष तो हमारे संस्कारों का है कि हमें इन नये युग के विचारों में अपने अहित की झलक दिखाई दी ।

प्रिन्सिपल : यह स्वाभाविक भी है महोदय ! पर आपको तब ऐसी पुत्री पर गर्व होना चाहिए । मुझे तो लगता है कि वह आपके कुल की ज्योति बनेगी ।

कामिनी : जो कुछ विचार वह प्रकट करती है—उन पर आचरण करने का भी बड़ा आग्रह करती है वह ।

प्रिन्सिपल : यही तो मनुष्य की उच्चता का चिन्ह है । मुझे उसका भविष्य उज्ज्वल दिखाई देता है । आप उसका विवाह करने से पहिले मुझ से परामर्श करना न भूलिए कृपया ।

लक्ष्मीचन्द्र : अवश्य, अवश्य, क्यों प्रिन्सिपल साहब, मनोज लड़का कैसा है ? आप तो उसके विचार और स्वभाव से परिचित होंगे ।

प्रिन्सिपल : मनोज सोने का बना हुआ है—सुशीलता में, अनुशासन में, कर्तव्य-पालन में, समय-पालन

में वह अद्वितीय है और उसके विचारों की तो कुछ पूछिए हो मत।

लक्ष्मीचन्द्र: हाँ, हम दोनों के ध्यान में तो वही लड़का है। परन्तु एक ही कमी है उसमें। उसके घर को हम तीन पीढ़ियों से जानते हैं। उसकी आर्थिक स्थिति कुछ ऐसी ही रही है। उसके पिता अभी मिनिस्टर हो गए तो क्या हुआ?

प्रिन्सिपल: उँह, उसकी क्या चिन्ता है, आपकी भारी सम्पत्ति किसकी होगी रायसाहब!

कामिनी: और फिर सम्पत्ति है भी कितने दिन की? आनेवाले युग में सम्पत्ति का कोई मूल्य ही नहीं रह जाएगा।

प्रिन्सिपल: आप ठीक सोचती हैं। सद्गुण, सच्चरित्रता और बुद्धि ही मनुष्य की सच्ची पूंजी है। मनोज आपका एक योग्य उत्तराधिकारी होगा यह मैं विश्वास दिला सकता हूँ।

लक्ष्मीचन्द्र: अच्छा तो प्रिन्सिपल साहब! मैं आज आपके हाथों अद्भुत अनुष्ठान कराना चाहता हूँ। जिस भविष्य का संकेत उसकी विचार धारा दे रही है मैं उसको वर्तमान बनाना चाहता हूँ। आपके शब्दों ने मेरे विचारों की भ्रान्ति दूर कर दी है और मुझे एक आनन्दमयी प्रेरणा हो रही है। मैं चाहता हूँ कि आप कोई ऐसा मार्ग बताएँ जिससे मैं शोभना के विचारों को आचरण के द्वारा चरितार्थ करूँ।

कामिनी: और आज शोभना के जन्म-दिवस के अवसर पर ही।

प्रिन्सिपल: यह आप जैसे महानुभावों के अनुरूप ही है। इसका सबसे अच्छा रूप यदि आप आज्ञा दें तो मैं प्रस्तुत कर सकता हूँ। मुझे एकान्त चाहिए और चाहिए कागज़-क़लम।

कामिनी: हाँ हाँ, आप पास के कमरे में जा सकते हैं। आपको पूरा अधिकार है। आप जो कहेंगे मैं वही करूँगा।

(प्रिन्सिपल पास के कमरे में जाते हैं!)

लक्ष्मीचन्द्र: अभी नहीं आई शोभना। वह आ जाती तो अपने क्षोभ और रोष को प्रायश्चित्त में बदलता। तुम यदि अपनी सौम्य और शीतल वाणी का उपचार न करतीं तो आज का यह दिन दुःखद स्मृति हो जाता।

कामिनी: और अब यही एक सुखद सत्य में बदलने जा रहा है।

लक्ष्मीचन्द्र: निश्चय ही! अच्छा यह तो बताओ! तो मैं मनोज के लिए उसके पिता से बातचीत चलाऊँ न?

कामिनी: इसमें देरी करनी ही न चाहिए!

[महेन्द्र सिंह उनकी पुत्री मीरा और शोभना का प्रवेश]

लक्ष्मीचन्द्र: आइए रावराजा साहब, आज सवेरे, सवेरे ही!

महेन्द्रसिंह: आज तो शोभना का जन्म दिवस है और आपने मुझे खबर तक नहीं दी? यह तो मुझे शोभा से ही विदित हुआ। मीरा और मैं दोनों इसीलिए तो आए हैं। शोभा को कुछ उपहार नहीं दिया? (प्रिन्सिपल को देख कर) ओह आप! कहिए अच्छे तो हैं? आपके कालेज की तो बड़ी धूम हो रही है। कल का सब समाचार मीरा ने मुझे बताया है। ईश्वर करे आपका कालेज फूले फले।

प्रिन्सिपल: आप लोगों के आशीर्वाद से ही कालेज दिनों दिन उन्नति कर रहा है।

शोभना: प्रिन्सिपल साहब को मैं प्रणाम करती हूँ। आप यहाँ?

प्रिन्सिपल: तुम्हें बधाई देने आया हूँ बेटी। आज तुम्हारी वर्षगांठ है न?

शोभना: परन्तु वर्षगांठ का समारोह उत्तेजना और उद्वेग के वातावरण में प्रारम्भ हुआ है प्रिन्सिपल साहब?

प्रिन्सिपल: परन्तु उसका अन्त आनन्द और उल्लास में होगा शोभना। तुम नहीं जानती तुम्हारे पीछे राय साहब ने बड़ा क्रान्तिकारी परिवर्तन कर डाला है।

महेन्द्रसिंह: कौन-सा महत्त्वपूर्ण निर्णय कर डाला है आपने?

कामिनी: वही जो शोभना चाह सकती थी। आज के दिन पुत्री की इच्छा पूरी करना ही पिता की प्रसन्नता है।

शोभना: (गद्गद् कर) यह सब तुम्हीं ने किया होगा माँ?

कामिनी: नहीं, तुम्हारे पिता जी को ही इसका श्रेय है तुम्हारी कल की बात को केवल बात ही नहीं रहने देंगे वे।

शोभना: पिता जी! (दौड़ कर पिता से लिपट जाती है) रायसाहब शोभना के सिर पर हाथ रखते हैं।

लक्ष्मीचन्द्र: मेरी बेटी! मैंने तुझे सवेरे-सवेरे न जाने क्या कहा था—वह मेरी भूल थी, तू उसे भूल जाना बेटी!

शोभना: नहीं, पिता जी! मैं ही आपके दुःख का कारण बनी। इसका मुझे खेद है।

लक्ष्मीचन्द्र: आज के इस क्षण से एक दूसरा युग आरम्भ होता है बेटी ! और इसकी प्रेरणा तू है । तू तो मेरी प्रसन्नता का कारण है । मेरा गर्व, मेरी गरिमा, मेरी शोभा तू है ! शोभा ! आज तेरी वर्षगांठ है ! मेरी बेटी । सवेरे सवेरे जो गांठ पड़ गई थी उसे मैं किसी मंगल कार्य के द्वारा खोल देना चाहता हूँ । मैंने संकल्प किया है कि मैं शोभा जैसी योग्य पुत्री का पिता बन सकूँ । (महेन्द्रसिंह से) आप भी अच्छे अवसर पर आ गए राजा साहब । मैंने आज एक अत्यन्त शुभ निर्णय किया है। शोभा के जन्म दिवस पर मैं उसे युग का एक आवश्यक उपहार देना चाहता हूँ ।

कामिनी : आप और प्रिन्सिपल साहब इसके साक्षी बनेंगे।

महेन्द्रसिंह: आपका उपहार अवश्य ही आपकी प्रतिष्ठा के अनुरूप होगा । धैर्य की और अधिक प्रतीक्षा न कीजिए राय साहब । अब हम सब की उत्सुकता बहुत बढ़ गई है ।

लक्ष्मीचन्द्र: तो प्रिन्सिपल साहब ! आपसे अधिक अच्छा अधिक योग्य दूसरा पुरोहित और कौन हो इस यज्ञ का जो मैं आज करना चाहता हूँ ? आप लाइए वह वस्तु और सम्पन्न कीजिए इस अनुष्ठान को ।

प्रिन्सिपल : (पास के कमरे में वेग से प्रवेश करते हैं । सब लोग उत्कण्ठा और उत्सुकता से इधर उधर देखते हैं—एक मिनिट में प्रिन्सिपल एक दस्तावेज हाथ में लिए आते हैं)—लीजिए यह है रायसाहब का युगान्तरकारी निर्णय ! इतिहास इसको स्वर्णाक्षरों में अंकित करेगा । समाज इसका स्वागत करेगा । यह आनेवाले भविष्य की सूचना है । नवयुग के नाटक की प्रस्तावना है—श्रमिक राज के समारोह का मंगलाचरण है । रायसाहब के इस महान् निर्णय के आप सब साक्षी हों । यह केवल विनोद और क्रीड़ा का अभिनय नहीं व्यवहार और आदर्श के मिलन का पदार्थ—पाठ बने। (दस्तावेज पढ कर सुनाते हैं)

"मैं अपनी पुत्री शोभना के इक्कीसवें जन्मोत्सव पर उसे एक ऐसा उपहार दे रहा हूँ जैसा आज तक किसी पिता ने किसी पुत्री को नहीं दिया होगा । मैं अपने एकमात्र उद्योग 'लक्ष्मी मिल्स' और तत्सम्बन्धी सम्पूर्ण सम्पत्ति को अपनी पुत्री शोभना को प्रदान कर रहा हूँ ।

और मैं साथ ही यह अधिकार भी उसे दे रहा हूँ कि वह अपने प्रगतिशील विचारों के अनुरूप उसके श्रमिकों द्वारा निर्वाचित एक संरक्षक मण्डल (Board of Trustees) द्वारा श्रमिकों और जनता के हित में उसका संचालन करे ।

भविष्य में मेरा इस सम्पत्ति पर कोई अधिकार नहीं रह जाएगा । पुत्री का स्नेह ही इस दान पात्र की अमिट स्याही और पिता का प्रेम इसके स्थायित्व की मुद्रा बने ।—लक्ष्मीचन्द्र"

महेन्द्रसिंह : रायसाहब, आपके इस अद्भुत दान के आगे मेरा मस्तक श्रद्धा से झुक जाता है । यह एक महान् यज्ञ है । इतिहास में यह एक ऐसी घटना होगी जिस पर भावी समाज की रीति नीति, गर्व और गौरव का अनुभव करेगी। आपका यह त्याग सचमुच अनुकरणीय है। इसने मुझे भी प्रेरणा दी है कि यदि मैं आप जैसे सच्चे मित्र का मित्र हूँ तो मैं आपके पथ का अनुसरण करूँ ।

मैं भी आज आपके सामने यह संकल्प करता हूँ कि उस भूखण्ड को जिसे मैंने जनता के हाथ से छीन कर अपनी सम्पत्ति मान रखने का अपराध किया था उसका प्रायश्चित्त मैं उसे जनता को लौटा कर कर रहा हूँ ।

मुझे विश्वास है की मेरी पुत्री मीरा को मेरे इस कार्य पर अपनी स्वीकृति की मोहर लगाने में प्रसन्नता होगी क्योंकि वह भी शोभना की छोटी बहिन ही तो है ।

प्रिन्सिपल : रायसाहब और गव राजा साहब, आप दोनों योग्य पिता तो हैं ही, अपने नर्ग के मार्गदर्शक भी हैं । आप सचमुच धन्य हैं। शोभना और मीरा तुम दोनों दो ज्योतियाँ हो जो समाज के अज्ञानपूर्ण पट को सत्य की लौ से (ज्ञान का स्नेह देती हुई) निरन्तर आलोकित करोगी । शोभना बेटी, आगे बढ़ो तो। (शोभना आगे बढ़ती है, प्रिन्सिपल साहब दानपत्र को रायसाहब के हाथ से स्पर्श करके शोभना के बढ़े हुए हाथों में रख देते हैं।)

(पटाक्षेप)

—डा० सुधीन्द

बलवंत राजपूत कालेज,
आगरा

चिट्ठी-पत्री

['चिट्ठी-पत्री' के स्तम्भों को हम अधिक लोकप्रिय बनाना चाहते हैं। साहित्य की गति-विधि और अन्य समस्याओं पर हम 'अजन्ता' के पाठकों के विचारों को जानना चाहते हैं। इन स्तम्भों में वे अपने विचार प्रकाशित करने के लिए भेज सकते हैं। इन स्तम्भों के द्वारा लेखकों और पाठकों के बीच में निकट सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है। इन स्तम्भों में प्रकाशित सर्वश्रेष्ठ पत्रों पर पुरस्कार की योजना की गई है। पत्र संक्षिप्त और निर्वैयक्तिक होने चाहिएँ। पत्र अधिक से अधिक 'अजन्ता' के दो कालम होने चाहिएँ—सं.]

१

मदुरा में मीनाक्षी

...'अजन्ता' के फरवरी अंक में हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक श्री उदयशंकर जी भट्ट का लेख 'दक्षिण यात्रा' पढ़ कर बड़ी प्रसन्नता हुई। पण्डित जी ने मदुरा का वर्णन करते हुए लिखा है 'मदुरा में कामाक्षी का मन्दिर कदाचित् दक्षिण भारत के मन्दिरों में सबसे बड़ा है' इस लेख में एक खटकनेवाली बात है। प्रायः शब्दों के सदृश-अनुरणन के कारण भट्ट जी भूल कर गए हैं। मदुरा में विराजमान देवी 'मीनाक्षी' हैं, कामाक्षी नहीं। तेलुगु में एक कहावत भी प्रचलित है जिसमें उत्तर भारत की काशी और दक्षिण की मदुरा और कांची भारत की सांस्कृतिक एकता दिखाने के लिए एक साथ पिरोई गई हैं। "कांची कामाक्षी, मदुरा मीनाक्षी, काशी विशालाक्षी।" मैं 'अजन्ता' के पाठकों तथा भट्ट जी का ध्यान इस ओर आकृष्ट करना चाहता हूँ!

तिरुपति

—**हनुमच्छास्त्री 'अयाचित'**

२

कुछ सुझाव

...इधर 'अजन्ता' का स्तर काफी उठ रहा है। फरवरी के अंक में 'संस्कृति और संघर्ष: स्वरूप और कारण' श्री सोमनाथ गुप्त का तथा 'भारत के प्रमुख वाद्य यन्त्र' श्री ललित सहगल के लेख बड़े अच्छे हैं। श्री उदयशंकर भट्ट और श्री भगवतशरण उपाध्याय के यात्रा वर्णन भी बड़े मर्मस्पर्शी हैं। मेरी बधाई स्वीकार कीजिए।

सुझाव के रूप में निवेदन करूँ कि थोड़ी-सी (Variety) भी दीजिए। कहने का तात्पर्य यह कि कभी एक कहानी अथवा कभी अच्छा एकांकी अथवा कोई स्केच या रिपोर्टाज़, कोई आलोचना, कभी किसी लेखक की और कभी किसी ग्रन्थ की धुरन्धरतापूर्वक। इतना ही नहीं साथ ही साथ सामग्री थोड़ी और ठोस जुटाइए। मेरा निवेदन है कि लेखों के विषय भिन्न-भिन्न, नए-नए हों और काफी अध्ययन तथा मनन के बाद लिखे गए लेख दीजिए। विद्वानों से खूब लिखवाइए उदाहरण के लिए श्री सोमनाथ जी का लेख।

इच्छा है कि 'अजन्ता' में खूब लिखूँ। सभ्यता और संस्कृति, उत्पत्ति, विकास और पतन, नृविज्ञान का इतिहास, धर्म, नृत्य और गान, परिवार अथवा और कोई नृवैज्ञानिक विषय पर, समाजशास्त्र सम्बन्धी आजकल जो विभिन्न विचारधाराएँ हैं उनका परिचय अथवा आलोचना अथवा दोनों, आलोचनात्मक परिचय, आत्महत्या के सम्बन्ध में समाजशास्त्रियों के विचार डार्विन की 'जीवन-संघर्ष' की पुष्टि अथवा आलोचना, अथवा श्रम के ऊपर कोई लेख, गृहसमस्या, न्यूनतम वेतन आदि जिस प्रकार का भी लेख आप चाहें। आप हिन्दी संपादकों में पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने नृवैज्ञानिक लेखों को प्रोत्साहन दिया है। मैंने कई प्रयत्न किए पर सदा असफल ही रहा। मैं चाहता हूँ कि नृविज्ञान, समाजशास्त्र, संस्कृति और सभ्यता, श्रम पर जितना भी

अंग्रेजी में लिखा गया है उतना ही हिन्दी में भी लिखा जाय। यदि इतना सम्भव न हो तो जो भी थोड़ा बहुत हो सके उसी के लिए प्रयत्न किए जाएँ। विद्वानों से लिखवाइए, लेखकों से संपर्क और बढ़ाइए। मुझे पूर्ण आशा ही नहीं विश्वास है 'अजन्ता' एक न एक दिन अवश्य ही हिन्दी साहित्य की सर्वप्रिय पत्रिका हो जाएगी। मैं उस दिन की प्रतीक्षा बड़ी उत्सुकता से कर रहा हूँ। वह दिन अब बहुत दूर नहीं।

हरदोई —**रामगोपाल शुक्ल**

[श्री रामगोपाल शुक्ल एक सुयोग्य लेखक हैं। हमें उनके गम्भीर और विचारपूर्ण लेखों को 'अजन्ता' में प्रकाशित करने में बहुत प्रसन्नता होगी। हम 'अजन्ता' के लेखों के स्तर को ऊँचा करना चाहते हैं और इसके लिए हमें श्री रामगोपाल शुक्ल जैसे योग्य लेखकों के सहयोग की आवश्यकता है। आशा है कि हमें उनका सहयोग प्राप्त होगा—सं.]

३

पत्र-पत्रिकाए और लेखक

...मैं यह प्रायः देखता हूँ कि कई लेखक अपने लेखों और कविताओं को कई पत्रों में प्रकाशनार्थ भेज देते हैं। परिणाम यह होता है कि वे लेख और कविताएँ कई पत्रों में प्रकाशित हो जाती हैं। संभवतः लेखक और कवि कई पत्रों को अपनी रचनाएँ निम्न कारणों से भेजते हैं:

(१) पत्रों के द्वारा जो पारिश्रमिक दिया जाता है वह उन्हें सन्तोषजनक नहीं प्रतीत होता और इसलिए वे अपनी रचना के द्वारा कई पत्रों से पारिश्रमिक प्राप्त कर लेना चाहते हैं।

(२) मासिक पत्रों में लेख और कविताओं के प्रकाशित होने में विलम्ब हो जाता है और इसलिए वे यह समझ बैठते हैं कि उनकी रचना उस पत्र में प्रकाशित नहीं होगी जिसमें कि उन्होंने भेजी है। इसलिए वे अपनी रचना दूसरे पत्रों को भेज बैठते हैं और इसकी सूचना वे पत्र के सम्पादकों को नहीं भेजते। परिणाम यह होता है कि उनकी रचना दोनों पत्रों में प्रकाशित हो जाती है।

(३) कई लेखक अपनी रचना के प्रचार के लिए अपनी रचना को एक से अधिक पत्रों में प्रकाशित कराना चाहते हैं। इसी कारण वे अपनी रचनाओं को कई पत्रों में भेज देते हैं।

अब जरा इन कारणों पर विचार किया जाए। यह सत्य है कि हमारी भाषा की पत्रिकाएँ रचनाओं पर जो पारिश्रमिक देती हैं वह अधिक नहीं होता परन्तु, इसका यह अर्थ नहीं है कि लेखक अपनी रचनाओं को कई पत्रों में प्रकाशित करवा कर अधिक पारिश्रमिक प्राप्त करने का प्रयत्न करें। कम-से-कम अब वह समय आ गया है कि हमारी पत्र-पत्रिकाएँ पारिश्रमिक देने का प्रयत्न करती हैं। एक वह भी समय था जब कि अच्छे-से-अच्छे हिन्दी के पत्र इस हीन अवस्था में थे कि वे अपने अच्छे-से-अच्छे लेखकों को कुछ पारिश्रमिक नहीं दे सकते थे परन्तु, फिर भी लेखक अपनी रचनाएँ उनके पास भेजते थे। वह समय भी आ जाएगा कि जब पत्र-पत्रिकाएँ इस अवस्था में आ जाएँगी कि वे अपने योग्य लेखकों को सन्तोषजनक पारिश्रमिक दे सकेंगी। एक लेखक के लिए पारिश्रमिक एक आवश्यक वस्तु है परन्तु, वह ऐसी एकमात्र वस्तु नहीं है जिससे कि लेखक को अपने लिखने के लिए प्रेरणा प्राप्त हो सके। फिर भी यदि लेखक अपनी रचना को कई पत्रों के पास भेजते हैं तो उनका यह कर्तव्य हो जाता है कि वे पत्र के सम्पादकों को इसकी सूचना दे दें।

दूसरी बात में भी तथ्य है। मासिक पत्र मास में एक बार निकलते हैं और उनके पास इतनी रचनाएँ पहुँच जाती हैं कि वे लेखक की रचना को समय पर प्रकाशित करने में असमर्थ हो जाते हैं। परिणाम यह होता है कि लेखक देरी को सहन नहीं कर पाता और वह अपनी रचना को दूसरे पत्रों में भेज देता है। ऐसी अवस्था में भी लेखकों का यह कर्तव्य हो जाता है कि वे इस विषय में सम्पादकों को सूचित कर दें कि वे अपनी रचना को दूसरे पत्र में भेज रहे हैं।

जो लेखक अपनी रचनाओं के प्रसार के लिए कई पत्रों को भेज देते हैं उनका भी यह कर्तव्य है कि वे सम्पादकों को इस बात की सूचना दे दें कि उन्होंने अपनी रचना को किन किन पत्रों को भेजा है। इस पर भी यदि पत्र-सम्पादक उनकी रचना को प्रकाशित करना चाहेगा तो फिर इसका उत्तरदायित्व सम्पादकों पर होगा लेखकों पर नहीं। अपने लेखों के विषय में उन्हें सम्पादक को पूर्णरूप से सूचित कर देना चाहिए। भिन्न भिन्न पत्रों में एक लेखक की वही रचनाएँ बार बार प्रकाशित हों यह न तो लेखकों के लिए उचित है और न हमारी पत्र-पत्रिकाओं के लिए शुभ लक्षण है।

—देवशर्मा

हरिद्वार

४

'एक सुझाव'

...'अजन्ता' का मार्च अंक मिला; सदा की तरह साफ़, सुथरा सुरुचिपूर्ण और सम्पन्न। बधाई स्वीकार करें।

सुझाव पर दी गई टिप्पणी के लिए कृतज्ञ हूँ। उसे 'कल्पना' में उद्धृत कर रहे हैं।

— **भवानीप्रसाद मिश्र**

हैदराबाद

नीर-क्षीर

[समालोचना के लिए प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ सम्पादक 'अजन्ता' के नाम से भेजी जानी चाहिएँ ।]

भारतीय संस्कृति की रूपरेखा

लेखक ..गुलाबराय
प्रकाशक..साहित्य प्रकाशन मंदिर, ग्वालियर
मूल्य.....३॥)

प्रस्तुत पुस्तक में इस बात का प्रयत्न किया गया है कि एक साधारण विदग्ध (?) पुरुष को अपने देश की संस्कृति के विषय में जितना ज्ञान नितान्त आवश्यक है उतना दिया जा सके ।” पुस्तक के तीन भाग किए गए हैं। पहले भाग में 'भारतीय संस्कृति की रूपरेखा और संस्कृतियों का सम्मिश्रण' पर लिखा गया है। दूसरे भाग में वैदिक साहित्य से लेकर संस्कृत नाटक तक लिखा गया है। इस भाग में जो कुछ लिखा गया है वह बहुत कुछ सूचनामात्र है। तीसरे भाग में हिन्दी भाषा और साहित्य, भारतीय दर्शन, भारतीय समाज में नारियों का स्थान, भारत का अन्य देशों से सम्पर्क, प्राचीन भारत में वैज्ञानिक उन्नति और प्राचीन राज-व्यवस्था आदि विषयों पर लिखा गया है। यदि इस पुस्तक में भारत की अन्य भाषाओं और साहित्य के विषय में कुछ सूचना दी जा सकती तो अच्छा होता। यद्यपि यह पुस्तक कई पुस्तकों के आधार पर लिखी गई है तो भी इस पुस्तक के विषयों को बहुत कुछ अपनी इच्छा के अनुसार चुना गया है। इस पुस्तक में संस्कृत के साहित्य को जितना स्थान दिया गया है उतना अन्य विषयों को नहीं यद्यपि अन्य विषयों पर कुछ विस्तार से लिखे जाने की आवश्यकता थी। पुस्तक के जिस विषय को जिन पुस्तकों के आधार पर लिखा गया है--यदि उनकी इसमें पृथक् रूप से सूचना दे दी जाती तो उत्तम होता।

दूब के आँसू

लेखक.....श्री पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश'
प्रकाशक...सहयोगी प्रकाशन, आगरा
मूल्य......२)

इस पुस्तक के गीतों के विषय में लेखक ने लिखा है : “मैंने इन प्रेमगीतों में अपने हृदय की व्यथा-कथा ही अभिव्यक्त की है ।......मैंने इन गीतों को कला के आवरण से ढँकने का व्यर्थ प्रयास नहीं किया । सीधे-सादे ढंग से ही अपनी बात कह दी है ।...मेरा वास्तविक रूप उन गीतों में है जिनमें वेदना के विष (?) को पीकर आगे बढ़ने के निश्चय की सूचना है ।” प्रस्तुत पुस्तक में लेखक के ३१ गीतों का संग्रह है जो भिन्न-भिन्न समयों पर लिखे गए हैं । लेखक के हृदय में कोमल भावनाएँ हैं जो शब्दों के सरल रूप में अभिव्यक्त हुई हैं । कहीं यह सरलता रसपूर्ण है परन्तु कहीं कहीं इस सरलता में सरसता नहीं आ सकी है । कहीं कहीं भाव ठीक तरह अभिव्यक्त नहीं हो पाए हैं यद्यपि वे समझ में आते हैं । यद्यपि लेखक ने कला की ओर अपनी उदासीनता अभिव्यक्त की है तो भी कहीं गीत की तुक मिलाने के लिए वे अपनी भावनाओं को ऐसा रूप दे जाते हैं जिसमें अभिव्यक्ति में खींचतान का अनुभव होता है । कई कविताएँ सुन्दर हैं और उन्हें कई बार पढ़ने को हृदय करता है ।

“आँखों में आते हैं आँसू ।
दुनिया क्या जाने-किस पीडा
को बाहर लाते हैं आँसू ।
में क्या कोई खुद रोता हूँ

में क्या खुद व्याकुल होता हूँ
उठती है जब हूक हृदय में
पलकों पर छाते हैं आँसू ।"

'मेरा सुख दुनिया की आँखों को बन शूल गया" कविता में एक मनोवैज्ञानिक सत्य को प्रगट किया गया है :

"ऐसी दुनिया जो अभाव में, दुख में मेरी थी
जिसे सताया करती निशि दिन चिन्ता मेरी थी
सुखी देख कर मुझे आज वह मुझ से रूठ गई
उसका वह अनुकुल ढंग अब बन प्रतिकूल गया
मेरा सुख दुनिया की आँखों में बन शूल गया"

लेखक का हृदय भावनाशील है, भावनाओं में एक अपनापन और गहराई है परन्तु कई स्थानों पर शब्द भावनाओं को सरस नहीं बना पाए हैं। यदि लेखक कहीं कहीं जरा पुनः स्पर्श (Retouch) कर दे तो हम समझते हैं कि उनकी कविता कला की दृष्टि से ही नहीं अपि तु अभिव्यक्ति की दृष्टि भी से अधिक समर्थता प्राप्त कर सकेगी।

दशकुमार चरित (राजकमल अमर साहित्य)
लेखक......महाकवि दण्डी
अनुवादक...श्री निरंजनदेव आयुर्वेदालङ्कार
प्रकाशक.....राजकमल पब्लिकेशन्स, बम्बई
मूल्य........५॥)

आजकल हमारी भाषाओं में अंग्रेजी और अन्य यूरोपीय भाषाओं के कथा-साहित्य के अधिक अनुवाद हो रहे हैं। इसका परिणाम यह हुआ है कि अपने देश के कथा-साहित्य से हमारे देश की अधिकांश जनता अपरिचित है क्योंकि वह उसे मूल रूप में पढ़ नहीं सकती। हिन्दी में जिस प्रकार यूरोपीय महान् लेखकों के प्रामाणिक अनुवादों की आवश्यकता है, उसी प्रकार संस्कृत, पाली प्राकृत और अपभ्रंश के महान् लेखकों के प्रामाणिक अनुवादों की आवश्यकता है। राजकमल प्रकाशन ने दण्डी की प्रसिद्ध पुस्तक 'दशकुमार चरित' का प्रामाणिक अनुवाद प्रकाशित कर इस ओर क़दम उठाया है। इसके लिए वे बधाई के पात्र हैं। अनुवाद के प्रारम्भ में श्री डा. मोतीचन्द ने एक आमुख लिखा है जिसमें दण्डी के जीवन और कृतिसम्बन्धी आवश्यक परिचय प्रदान किया गया है और संस्कृत साहित्य में दण्डी के स्थान का विवेचन किया गया है। उन्होंने यह विवेचना अधिकतर संस्कृत के प्राच्य विद्वानों के आधार पर की है और उन्हीं के मतों का दिग्दर्शन किया है परन्तु इस विषय में कुछ स्वतन्त्र रीति से नहीं लिखा। वे लिखते हैं : "दण्डी ने स्वयं कहा है कि ('दशकुमार चरित' को लिखने से) उसका उद्देश्य प्राचीन शृङ्गारिक कथाएँ कहना है।...इसलिए इसमें उपदेश देने की प्रवृत्ति बहुत कम दिखाई देती है। ......दशकुमार चरित का मुख्य उद्देश्य जन-जीवन की जिसमें छोटे-बड़े सब आ जाते हैं—झलकें दिखाना था।" संस्कृत साहित्य में दशकुमार का अपना ही एक विशिष्ट स्थान है। यदि इसकी कथा को उपयुक्त रूप से स्क्रीन पर लाया जाए तो हम समझते हैं कि इससे दण्डी की लोकप्रियता बढ़ेगी और इससे संस्कृत के कथा-साहित्य की ओर विश्व के लेखकों का ध्यान आकृष्ट हो सकेगा। पुस्तक का अनुवाद आधुनिक ढंग से हुआ है यद्यपि उसमें प्राचीनता की भी पुट है। अनुवादक ने पुस्तक के अनुवाद में बड़ी कुशलता दिखलाई है। यह सत्य है कि इस अनुवाद से हमें पुस्तक की कथा की मार्मिकता का जिस प्रकार ज्ञान होता है वैसा दण्डी के लिखने की शैली का नहीं और लेखक के परिचय के लिए उसकी शैली का ज्ञान परम आवश्यक है। हिन्दी के अनुवाद में यदि उसी शैली का अनुसरण किया जाता तो कथा में यह प्रवाह और रस उत्पन्न नहीं हो सकता था। आशा है कि इस प्रकार के अनुवादों से जनता की रुचि अपने देश के प्राचीन साहित्य को पढने के लिए जागृत होगी।

सामयिक निबन्ध
लेखक......श्री इन्द्र एम. ए.
प्रकाशक...हिन्दी भवन, जलन्धर और इलाहाबाद
मूल्य........२।)

प्रस्तुत पुस्तक में सामयिक समस्याओं पर ४० निबन्ध लिखे गए हैं। लेखक ने इस पुस्तक में सामयिक विषयों पर विद्यार्थियों के लिए निबन्ध लिखे हैं। हमारे देश के विद्यार्थियों में वर्तमान समस्याओं का विश्लेषण करने तथा उन पर विचार करने की प्रवृत्ति को जागृत करने के लिए इन निबन्धों को लिखा गया है। इन निबन्धों में विषयों को ठीक तरह समझ सकने की सामग्री को प्रस्तुत किया गया है परन्तु, इन निबन्धों में लेखक की शैली या व्यक्तित्व का अनुभव नहीं होता। विद्यार्थियों

में इस प्रकार की पुस्तकों का एक यह भी परिणाम होता है कि विद्यार्थी पुस्तक में लिखे हुए विचारों को ही अपना विचार बना लेते हैं-उनमें जिज्ञासा और विचार करने की प्रवृत्ति जागृत नहीं होती। उनके लिए ये पुस्तकें रैडी मेड (Ready Made) विचारों का कार्य करती हैं।

आय-कर विधान एवं हिसाब रेलवे
(Income-Tax Law & Accounts)
लेखक: श्री चन्द्रभान गुप्त, एम-ए., बी. काम
प्रकाशक: रामप्रसाद एण्ड सन्स; आगरा
मूल्य: ५) रुपए

लेखक ने प्रस्तुत पुस्तक में आय-कर विधान की मुख्य धाराओं को सरल भाषा में उपयुक्त उदाहरणों की सहायता से समझाने का प्रयत्न किया है। आय-कर को समझना सुगम नहीं है। किस प्राप्ति पर आय-कर लगता है किस पर नहीं इस बात का निर्णय करना जजों के लिए भी सन्देहास्पद हो जाता है। इस पुस्तक को इस ढंग से तैयार किया गया है कि न केवल बी. काम के विद्यार्थी इस विषय को सुगमता से समझ सकें अपि तु साधारण जनता भी जिन्हें आय-कर को समझने में कठिनाई होती है इसे सरलता और क्रियात्मक रूप में समझ सकती है। पुस्तक में आय-कर के विधान की मुख्य धाराओं को स्पष्टता से समझाने का प्रयत्न किया गया है। पुस्तक के अन्त में आय-कर पर प्रश्न दिए गए हैं जिनके उत्तर भी साथ में ही विषय को स्पष्टतया समझाने के लिए दिए गए हैं। श्रीयुत गुप्त ने पुस्तक को बड़ी योग्यता से लिखा है। भिन्न भिन्न अवस्थाओं में आय-कर किस प्रकार लगाया जाता है—आय-कर की पृष्ठभूमि और इतिहास क्या है, आय-कर का लक्षण और व्याख्याएँ, आय-कर विधान का विश्लेषण और इसके साथ साथ ऐसे सरल उदाहरण जो प्रतिदिन के जीवन में प्राप्त होते हैं—आदि सभी विषयों पर इस १७६ पृष्ठ की पुस्तक में प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है और पुस्तक को सभी दृष्टियों से उपयोगी बनाया गया है। यह अच्छा होता यदि लेखक पुस्तक के अन्त में अंग्रेजी परिभाषाओं के लिए व्यवहृत परिभाषा शब्दों की सूची को दे देता यद्यपि उसने हिन्दी शब्दों के साथ ब्रैकेटों में अंग्रेजी के शब्दों को दे दिया है। कई जगह अंग्रेज़ी के शब्दों को अंग्रेजी में ही दे दिया है जो उचित नहीं प्रतीत होता। Depreciation के लिए घिसाई शब्द, Mercantile के लिए महाजनी, Charge के लिए भार, Unabsorbed के लिए अशोधित, Administrator के लिए प्रबन्धक, Executor के लिए एक्ज़ीक्यूटर, Non-resident के लिए परदेशी, Return के लिए नक़्शा, Super और Additional के लिए एक ही शब्द अतिरिक्त, Meeting के लिए मीटिङ्ग, not ordinary resident के लिए कच्चे निवासी और Bona-fide के लिए उचित रूप से, आदि शब्द दिए गए हैं जिनके विषय में मतभेद हो सकता है। यह प्रसन्नता की बात है कि हिन्दी में अब इस प्रकार की पुस्तकों को लिखा जाने लगा है। आशा है कि लेखक को इस विषय में हिन्दी में अन्य पुस्तकें लिखने के लिए प्रोत्साहन मिलेगा।

हैदराबाद —**वंशीधर विद्यालङ्कार**

श्रवणबेळगोळ
अनुवादक: श्री ना. नागप्पा
प्रकाशक: पुरातत्व विभाग, मैसूर
मूल्य: बारह आना

'श्रवणबेळगोळ' दक्षिण भारत के मैसूर राज्य में जैन धर्म का महत्वपूर्ण तीर्थ-स्थान है। यहाँ बारह वर्ष के उपरान्त एक बार श्री गोमटेश्वर की ६० फुट ऊँची शिला मूर्ति का महाभिषेकोत्सव होता है। उस समय श्री गोमटेश्वर के दर्शनार्थ सारे भारतवर्ष से जैन लोग श्रवणबेळगोळ में आते हैं। प्रस्तुत पुस्तक मैसूर पुरातत्व विभाग के भूतपूर्व अध्यक्ष स्वर्गीय डा० मैसूर हट्टिकृष्ण की उक्त शीर्षक की अंग्रेजी में लिखित पुस्तक का हिन्दी अनुवाद है। अनुवाद अच्छा हुआ है।

पुस्तक इस प्रसिद्ध धार्मिक ऐतिहासिक और प्राकृतिक सौन्दर्य के स्थान पर आनेवाले यात्रियों को ध्यान में रख कर लिखी गई है। मैसूर राज्य और श्रवणबेळगोळ के नक़्शे भी दिए गए हैं और आर्ट पेपर पर प्रायः दो दर्जन चित्र प्रकाशित किए गए हैं। भूमिका में श्रवणबेळगोळ के नाम की व्युत्पत्ति और इतिहास पर संक्षिप्त प्रकाश डाला गया है। श्रवणबेळगोळ इन्द्रगिरि और चन्द्रगिरि दो पहाड़ियों की उपत्यका में बसा है। आगे के दो अध्यायों में इन दोनों पहाड़ियों पर स्थित अनेक बस्तियों (कन्नड़ में बस्ति मन्दिर को कहते हैं) का वर्णन है। एक अध्याय में श्रवणबेळगोळ ग्राम का वर्णन है और एक अन्य अध्याय

में श्रवणबेळगोळ के आसपास के ग्रामों का वर्णन दिया गया है। पुस्तक श्रवणबेळगोळ के इतिहास और वहाँ की विशेषताओं पर अच्छा प्रकाश डालती है। पुस्तक को इस सुन्दर रूप में प्रकाशित करने के लिए मैसूर राज्य का पुरातत्व विभाग बधाई का पात्र है।

गौतम नंद

लेखक : जगन्नाथ प्रसाद 'मिलिन्द'
प्रकाशक : साहित्य प्रकाशन मन्दिर
हाईकोर्ट रोड, ग्वालियर
मूल्य : १ रु० १२ आ०

'गौतम नंद' श्री जगन्नाथ प्रसाद 'मिलिन्द' की तीसरी नाटक रचना है। प्रायः २४ वर्ष पहले मिलिन्द जी ने 'प्रताप-प्रतिज्ञा' नाटक लिखा था जिसने उन्हें साहित्य-क्षेत्र में प्रथम कोटि के नाटककार के रूप में प्रतिष्ठित किया था। एक सुदीर्घ काल तक वे साहित्य साधना से विरत रहे। "उन वर्षों में भारतीय जनता की राजनीतिक और आर्थिक स्वतन्त्रता के लिए यथाशक्ति सक्रिय संघर्ष करने का यत्न किया। मैं समझता हूँ कि मानव के नाते वह मेरा पहला कर्त्तव्य था। मानवता को मैं साहित्यिकता के ऊपर स्थान देता हूँ।" भारतीय लोकतन्त्र के अभ्युदय के उषःकाल में साहित्य, संस्कृति और कला के क्षेत्र में कार्य करने के लिए वे प्रेरित हुए हैं। साहित्य के क्षेत्र में उनका पुनः पदार्पण हर्ष का विषय है।

प्रस्तुत नाटक के चरित नायक गौतम नंद गौतम बुद्ध के अनुज थे। इतिहास में उनका यह वर्णन मिलता है कि गौतम बुद्ध के गृहत्याग के बाद शुद्धोदन की आशा नन्द पर टिकी थी परन्तु बुद्ध के आदेश पर वे भी विवाह, नवगृह-प्रवेश तथा राज्यभिषेक के ऐन मौके पर भिक्षु बन गए। लेखक ने 'प्रारम्भिक' में भदन्त अश्वघोष के 'सौन्दरनन्द' नाटक का भी उल्लेख किया है परन्तु उससे उन्हें उल्लेखनीय सहायता नहीं मिली है। अतः नाटक का कथानक प्रधानतया कल्पना के सहारे खड़ा किया गया है। नाटक का सामयिक महत्त्व भी है। "अवसरों को छोड़ने की यह पुरानी कहानी अवसरवाद, योगवाद और स्वार्थ के नए आक्रमणों के विरुद्ध भी रचनात्मक संघर्ष की दीप-ज्योति बन सकती है।"

सुन्दरिका नारी स्वतन्त्रता और सन्यास के बदले कर्म-मार्ग पर चलना जीवन का आदर्श मानती है। वह पूछती है—क्या सीता के रहते राम उसे छोड़ कर सन्यास ले सकते थे? अतः वह उन व्यक्तियों को जो पत्नियों को छोड़ कर भिक्षुक बनते हैं कर्त्तव्य से च्युत समझती है—और साथ ही बुद्ध धर्म में नारी को परिव्रज्या न देने के कारण उसे अपूर्ण समझती है। एक बार वह आखेट के लिए माधविका के साथ जाती है। वहीं देवदत्त के साथ आखेट के लिए आए हुए नन्द से उसकी भेंट होती है। सुन्दरिका आत्मार्पण करती है किन्तु, इस शर्त्त पर कि नन्द भिक्षुक नहीं बनेंगे। नन्द प्रतिश्रुत होते हैं। बुद्ध नन्द के यहाँ भिक्षुक बन कर आते हैं। उस समय विवाह, नवगृह प्रवेश और राज्याभिषेक के समारोह में सब मग्न होते हैं। एक सेविका बताती है कि उसने तथागत को आकर लौटते हुए देखा है। नन्द को बड़ा पश्चात्ताप होता है, वह तथागत के पीछे जाता है। तथागत उसे अपना भिक्षा-पात्र सौंप देते हैं और उनके उपदेश पर नन्द परिव्रज्या ग्रहण करते हैं। प्रभावती, शुद्धोदन और माधविका तथागत के निवास स्थान पर जाते हैं। माधविका नारी के लिए दीक्षा के अधिकार की माँग करती है और नन्द की सामान्यता तथा त्याग की प्रशंसा करती है। भिक्षु आनन्द कहते हैं : "मानवता का चिर कल्याण तभी संभव होगा, जब घर घर से नन्द जैसे त्यागी तरुण साधना के पथ पर आगे बढ़ेंगे। भोगवाद, स्वार्थ और अवसरवाद के प्रहारों से पीड़ित संसार का नया निर्माण बलिदान के आधार पर ही हो सकेगा।"

स्पष्ट है स्वार्थ और अवसरवाद की बात 'मिलिन्द' जी ने आज के राजनीतिक वातावरण से प्रभावित होकर की है अन्यथा, नन्द के राज्य करने में स्वार्थ अथवा अवसरवादिता की कोई बात ही नहीं थी। खटकनेवाली बात है जहाँ तीसरा अंक नन्द के त्याग और सुन्दरिका की सहनशीलता का चरम स्थल है वहाँ केवल हलका मौन है, त्याग और बलिदान की उस सघन पृष्ठभूमि से रहित जो रंगमंच पर साधारण सी क्रियाओं को भी महत्व प्रदान कर देता है। नन्द के त्याग की महत्ता बताने के लिए माधविका का भाषण अनपेक्षित (Uncalled For) था। लगता है जैसे नन्द का चरित्र अभी प्रकाश विकीर्ण करनेवाला था कि सहसा शून्य-सा, मौन-सा छा गया है।

'मिलिन्द' जी प्रस्तुत रचना में नाटक कला की वर्तमान प्रगति के प्रति सचेत हैं । यद्यपि "प्रताप-प्रतिज्ञा" की भावुकता और भाषा की रवानगी 'गौतम नन्द' में नहीं मिलती परन्तु उसकी क्षतिपूर्ति अधिक स्वाभाविकता ला कर की गई है। अभिनय की दृष्टि से 'गौतम नन्द' नाटक की वर्तमान टेकनिक के अधिक निकट है—पात्रों की संख्या अपेक्षाकृत कम है, दृश्य अधिक नहीं हैं और नाटक बहुत लम्बा नहीं । इस नाटक का परोक्ष उद्देश्य जैसे संकेत करता है मिलिन्द जी सामाजिक या राजनीतिक नाटक लिखने की पृष्ठभूमि तैयार कर रहे हैं । 'मिलिन्द' जी के सामाजिक और राजनीतिक नाटक उनके विशाल अनुभव के साथ बहुत उपादेय हो सकते हैं ।

सफ़र की साथिन

लेखक : रामसरन शर्मा
प्रकाशक : आत्माराम एण्ड सन्स,
काश्मीर गेट, दिल्ली ६.
मूल्य : १-१२-०

'सफ़र की साथिन' श्री रामसरन शर्मा के ९ एकांकियों का संग्रह है। 'अपनी बात' में लेखक ने स्वीकार किया है "न लिखूँ तो कुछ बिगड़ता नहीं, लिखूँ तो कुछ बननेवाला नहीं......मैं सचमुच ही चुप बैठ रहूँ, यदि लिखने से थोड़ा-बहुत धन न मिलता हो।" यद्यपि वर्तमान युग में साहित्यिकारों के इलाज, उनके सम्बन्धियों की परवरिश आदि के लिए यदा.कदा अपीलें निकलती हैं, परन्तु कठिनाई साहित्यिकारों की है। साहित्य के नाम पर जो कुछ भी केवल मनोरंजन के लिए प्रकाशित किया जाता है उसका बाज़ार गरम है। रेलवे बुकस्टालों पर, पत्र-पत्रिकाओं की दुकानों पर साहित्य की कोई उच्च रचना भूले से ही मिल सकती है। हमें भय है धन के उद्देश्य से लिखे जानेवाले साहित्य का स्तर सस्ती जन रुचि की माँग को करना हो जाता है। प्रस्तुत पुस्तक में भी ऐसा ही प्रयास किया गया है। यद्यपि लेखक ने कहा है—"हिन्दी में हास्य लिखनेवाले हैं कहाँ? इस चुनौती के उत्तर में यह हास्य नाटक लिखे गए हैं।" परन्तु केवल तीन चार एकांकी हास्य का उद्देश्य लेकर लिखे गए हैं—'वकालत', 'पत्रकारिता', 'बीमारी'। इनमें पात्र वही हैं और घटनाओं का भी तारतम्य बाँधा गया है, वे थोड़े परिवर्तन के साथ एक छोटे नाटक में बँध सकते हैं। परन्तु इनमें हास्य पर्याप्त शिष्ट या यों कहें सूक्ष्म नहीं है। अन्य नाटकों में अधिकांश भूतों के सम्बन्ध में हैं यथा--सफ़र की साथिन, बेचारी चुड़ैल, भूतों की दुनिया। 'भूतों की दुनिया' द्वारा समाज के बनावटीपन और दुराचार पर व्यंग्य किया गया है। 'मिल की सीटी' और 'बन्द दरवाज़ा' अच्छे व्यंग्य बन पड़े हैं। इन नाटकों में कुछेक तो एक ही दृश्य के हैं परन्तु एक से अधिक दृश्योंवाले एकांकियों में दृश्य प्रायः एक-डेढ़ पृष्ठ में ही बदल जाते हैं, दृश्यों का इतना शीघ्र बदलना नाटकीयता की दृष्टि से दोषयुक्त है। संवादों की भाषा स्वाभाविक और चुस्त है।

जनपद (त्रैमासिक)

कार्यनिर्वाहक सम्पादक : बैजनाथसिंह 'विनोद'
प्रकाशक : हिन्दी जनपदीय परिषद्, कुलपति निवास
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, बनारस
मूल्य : वार्षिक छः रुपए
एक प्रति...डेढ़ रुपया

अप्रैल १९५२ में व्रज साहित्य सम्मेलन के अवसर पर हाथरस में जनपदीय कार्यकर्त्ताओं का एक सम्मेलन हुआ था और उसमें हिन्दी जनपदीय परिषद् की स्थापना की गई। जनपद उसी संस्था का मुखपत्र है। इसके सम्पादक मण्डल में सर्वश्री बनारसीदास चतुर्वेदी, वासुदेवशरण अग्रवाल, उदयनारायण तिवारी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', हजारीप्रसाद द्विवेदी और बैजनाथसिंह 'विनोद' हिन्दी के जाने-माने साहित्यकार हैं। सौभाग्यवश परिषद् और जनपद को लोक साहित्य के क्षेत्र में कार्य करनेवाले उत्साही कार्यकर्ताओं का सहयोग मिला है।

जैसा श्रीयुत रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपने लेख में कहा है—'गाँवों की रसधारा सूख रही है!...असंख्य ग्रामों को लेकर जो हमारा देश है, उस देश की मनोभूमि में भी रस का उद्भव आज रुक गया है।" परन्तु, लोक-संस्कृति का इस प्रकार विलीयमान होना बहुत बड़ा दुर्भाग्य होगा। वास्तव में देखा जाए तो हमारी संस्कृति का जितना संरक्षण लोक-साहित्य ने किया है उतना लिखित साहित्य ने नहीं।

लोक-साहित्य जहाँ एक ओर हमारे इतिहास और संस्कृति पर प्रकाश डालता है वहाँ दूसरी ओर हमारी आज की समस्याओं का समाधान भी प्रस्तुत

करता है। यही एक मार्ग है जिससे आधुनिक साहित्य की कृत्रिमता दूर होकर उसे सप्राण और जन-जीवन से सम्बन्धित बनाया जा सकता है। शब्द भण्डार के लिए संस्कृत या अंग्रेज़ी की ओर जाने के बदले सामान्यतः जनपदीय भाषाओं में प्रयुक्त शब्दों को लेना अधिक उचित होगा।

'जनपद' में उसके घोषित उद्देश्य के अनुकूल पाठ्य-सामग्री है। आरम्भ में राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्रप्रसाद का भाषण है जो उन्होंने जनपदीय कार्यकर्त्ता सम्मेलन का उद्घाटन करते हुए दिया था। स्वर्गीय रवीन्द्रनाथ ठाकुर का संक्षिप्त लेख लोकसाहित्य के प्राति उनके प्रेम को प्रकट करता है। विशेष पठनीय लेख हैं—श्री जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी का 'जनपदीय आन्दोलन' जो इस क्षेत्र में हिन्दी में किए गए अब तक के कार्य का संक्षिप्त ब्यौरा प्रस्तुत करता है, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का 'लोक-साहित्य का अध्ययन' (क्रमशः) तत्सम्बन्धी समस्याओं पर प्रकाश डालता है। श्री रामनरेश त्रिपाठी का 'ग्राम साहित्य' और श्री दलसुख मालवणिया का 'गुजरात के लोककवि मेघाणी' लोकगीतों के संग्रहकर्त्ताओं के अनुभवों को बतलाते हैं। भोजपुरी और मालती भाषाओं और भोजपुरी लोक गीतों पर लेख हैं। श्री हरिहर प्रसाद गुप्त का 'बैल सम्बन्धी कुछ शब्द' लेख विशेष ध्यान आकृष्ट करता है। इसमें आज़मगढ़ ज़िले के पश्चिमी भाग तहसील फूलपुर से संग्रहीत किए हुए ११० शब्द तथा मुहावरे हैं। खड़ी बोली के साहित्यिक प्रयोग के लिए शब्दों के रूप निश्चित किए जाने में इस प्रकार के संग्रह बहुत उपादेय सिद्ध हो सकते हैं। शब्दों के अर्थ में कितना सूक्ष्म अन्तर (Fine distinction) दर्शानेवाले शब्द हमारी जनपदीय भाषाओं में हैं! क्या यह भण्डार अन्धेरे में कबाड़खाना बना रहने के लिए है? हम हिन्दी में जनपदीय आन्दोलन की सफलता और 'जनपद' के उच्चतर स्तर की कामना करते हैं।

प्रेरणा (मासिक)

सम्पादक : कमल कोठारी
प्रकाशक : प्रेरणा प्रकाशन, सोजती गेट, जोधपुर
मूल्य : वार्षिक १४ रुपए एक प्रति...सवा रुपया।

'प्रेरणा' मासिक पत्र के प्रकाशन में इतनी नवीनता नहीं है जितना उसका ढोल पीटा गया है। इस पत्र में प्रधानता कुछ स्तम्भों की है जिन्हें स्तम्भ न कह कर विषय कहना ही उपयुक्त होगा। "कुछ समय तक प्रत्येक अङ्क में प्रेरणा के यही प्रमुख स्तम्भ रहेंगे—शरत् बाबू, मीराँ, कहानियों का यशपाल, हजारी प्रसाद द्विवेदी निबन्धकार के रूप में, प्रेमचन्द के पात्र।" इसके अतिरिक्त कॉडवेल की पुस्तक 'स्टडीज़ इन डाइंग कल्चर' का अनुवाद धारावाहिक रूप से प्रकाशित किया जा रहा है। उक्त विषयों के चुनाव का कोई सन्तोषजनक कारण नहीं, कारण है केवल सम्पादक की इच्छा! क्योंकि उसने जो कारण दिए हैं वे कोई अर्थ नहीं रखते—मसलन् 'यशपाल ने लिखा बहुत है पर उस पर अब तक लिखा बहुत ही कम गया है। हो सकता है कि इसके पीछे किसी न किसी संगठित षड़यन्त्र का कुचक्र हो" इस तरह की कल्पना के लिए अंग्रेज़ी में कहावत है Fighting its own Frankenstein अपनी ही बनाई हुई चीज़ के भय से भयभीत होना। हमारे जानते इस षड्यन्त्र की कल्पना करने का कोई कारण नहीं है। अस्तु, इन विषयों के अतिरिक्त 'प्रेरणा' में कहानी-कविता कुछेक अन्य लेख भी हैं। "प्रेरणा में सभी नए ही लेखक हैं। लेकिन हिन्दी के बहुत सारे तथा कथित बड़े लेखकों से वे किसी भी अंश में छोटे नहीं हैं" सम्पादक के इस दावे के सम्बन्ध में हम समझते हैं प्रेरणा के लेखों का स्तर अभी ऊँचा उठने की बहुत गुंजाइश है।

परन्तु, निश्चय ही प्रेरणा का प्रकाशन उत्साहदायक है—विशेष कर राजस्थान से इतने सुन्दर रूप में प्रकाशित होने के कारण जहाँ अच्छे मासिक पत्रों की नितान्त कमी है। मुख पृष्ठ पर श्री जी. एफ. वाट्स का "आशा" का चित्र है। छपाई गेट अप अच्छे हैं। श्री कमल कोठारी का मीराँ पर, श्री विजयदान देथा का शरत् बाबू पर और श्री प्रयागराज मेहता का अनुवंशिकता और वातावरण लेख पठनीय हैं। मीराँ का अध्ययन तत्कालीन समाज की परिस्थितियों के पार्श्व में प्रस्तुत किया गया है। शरत् के व्यक्तित्व पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। श्री गणपतिचन्द्र भण्डारी की 'रक्तबीज' और श्री मरुधर मृदुल की 'मनुष्य की परम्परा' कविताएँ सुन्दर हैं। श्री नारायणसिंह की राजस्थानी भाषा में 'साँझ' कविता प्रकाशित हुई है। 'प्रेरणा' में राजस्थानी साहित्य के लिए एक स्थायी स्तम्भ भी हो सकता है।

—हरिकृष्ण पुरोहित
हैदराबाद

सामयिक

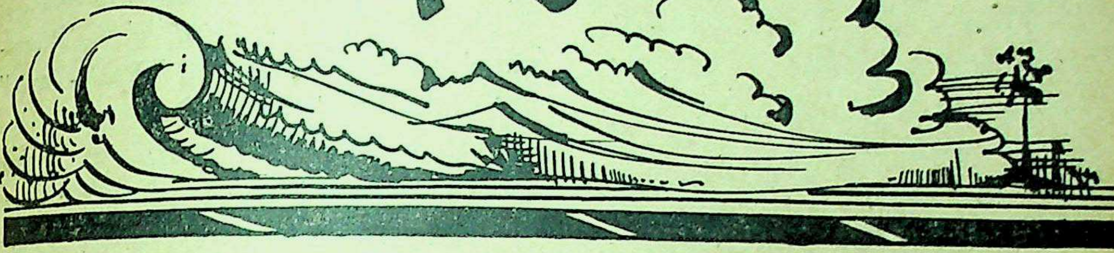

॥

अंग्रेज़ी भाषा की बनावट, उन्नति और विकास

जनवरी-मार्च १९५३ के The Bihar Educationist (बिहार शिक्षक) में पटना यूनिवर्सिटी के वाइस चान्सलर श्री डा. के. एन. बहल का 'अंग्रेज़ी भाषा की बनावट, उन्नति और विकास' पर एक लेख प्रकाशित हुआ है। उसमें से निम्न अंश नीचे दिया जाता है :

“समस्त जीवधारियों की यह मुख्य विशेषता है कि उनमें परिवर्तन होता रहता है और यह परिवर्तन ही जीवधारियों के क्रमिक विकास का कारण होता है। यह परिवर्तन प्रत्येक जीवित भाषा में सदा होता रहता है चाहे उसका स्पष्टतया अनुभव न हो। इस परिवर्तन में दोनों वस्तुएँ होती हैं : विकास और ह्रास, लाभ और हानि, उन्नति और अवनति, जन्म और मृत्यु। यह परिवर्तन शरीर में हृदय की गति के समान होता है। जब तक यह होता रहता है भाषा जीवित रहती है, जब यह समाप्त हो जाता है भाषा मर जाती है। इस सम्बन्ध में मुझे हैनरी फ़ोर्ड के निम्न शब्द स्मरण हो आते हैं : “जब किसी मनुष्य में परिवर्तन नहीं होता उसकी मृत्यु हो जाती है। उसकी अन्त्येष्टि क्रिया तो बाद में होनेवाली बातें हैं।”

छोटे राष्ट्र अपनी भाषा को परिवर्तन से बचा सकते हैं। ग्रीक भाषा में आज भी बहुत कम परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। भाषा का परिवर्तन उसके बोलनेवालों के अनुपात से होता है। अंग्रेज़ी बोलनेवालों की संख्या बहुत है; अंग्रेज़ समस्त भूमण्डल पर फैल गए हैं। हम समझते हैं कि २५ वीं या ३० वीं शती की भाषा--यदि संसार तब तक जीवित रहा—आज की भाषा से वैसे ही सर्वथा भिन्न होगी जैसे कि आज की अंग्रेज़ी १७ वीं और १८ वीं सदी से भिन्न है।

मैं सबसे पूर्व इस बात पर विचार करता हूँ कि किस प्रकार अंग्रेज़ी ने विदेशी शब्दों को आत्मसात् कर लिया है और उससे अपने को पुष्ट बना लिया है। यही देखिए कि अंग्रेज़ी ने भारतीय भाषाओं से कितने शब्दों को अपना लिया है। “चिट” शब्द को लीजिए। आज इसका अर्थ है “छोटा कागज़ का लिखा हुआ पर्चा या नोट।” यह शब्द हिन्दी के “चिट्ठी” शब्द से बना है। पहले यह नौकरों के चरित्र के सर्टिफ़िकेट के अर्थ में प्रयुक्त होता था परन्तु, अब किसी भी विषय पर लिखे हुए छोटे-से नोट के अर्थ में प्रयुक्त होता है। “बैंगलो” शब्द को लीजिए। यह शब्द “बंगला” से बना है जो बंगाल का है। पहले इसका अर्थ एक माले के छोटे-से हलके अस्थायी मकान के लिए होता था। आज यह शब्द बड़ी कोठी के अर्थ में प्रयुक्त होता है। एक और शब्द “पैजामा” को लीजिए। यह शब्द फ़ारसी शब्द “पायजामा” से लिया गया है जिसका अर्थ है टाँगों का कपड़ा। अब समस्त विश्व में इस शब्द का प्रयोग होता है और इसका अर्थ “सोने का सूट” होता है जिसमें ढीले ट्राउज़र और जैकेट होते हैं। यूरोपीय लोगों की पूर्व के देशों में आने से पूर्व सोने की कोई पोशाक नहीं थी। यूरोप में प्रारम्भिक दिनों में राजा और रानियाँ भी सब कपड़े उतार कर सोया करते थे। पूर्व के देशों में आने के पश्चात् उन्होंने भारत से पैजामा लिया और उसके साथ एक ढीली जैकेट को जोड़ लिया। इसी प्रकार “कच्चा”, “पक्का” और 'पण्डित' शब्द हैं जिन्हें अंग्रेज़ी ने अपना बना लिया है। अंग्रेज़ लोग “क़ानूनी पण्डित” और अमरीकी लोग “बोस्टन

के पण्डित" बोलते हैं ।

इन शब्दों को अपनाने से अंग्रेज़ी का विकास हुआ है । अमरीकी लोगों ने प्रोग्रेस शब्द को क्रिया के रूप में प्रयुक्त करना प्रारम्भ कर दिया है । इसी तरह और भी बहुत से शब्द हैं जब कि प्रारम्भ में उनका प्रयोग किया गया बहुत से विद्वान् उसका विरोध करते रहे परन्तु, अब सब उनका प्रसन्नतापूर्वक व्यवहार करते हैं । १५ वर्ष हुए इंग्लैण्ड के विश्वविख्यात वैज्ञानिक साप्ताहिक पत्र "नेचर" ने "साइंटिस्ट" (Scientist) शब्द का विरोध किया था और इसके स्थान पर "मैन आफ़ साइन्स" (Man of Science) विज्ञान के आदमी, शब्द को उससे अधिक पसन्द किया था । अभी पिछले वर्ष कलकत्ता और देहली से प्रकाशित होनेवाले "स्टेट्समैन" ने यूरोपीय महाद्वीप (Continent) के तीन शब्दों के विरोध में आवाज़ उठाई थी । इन में से पहला शब्द "जर्मन एक्सपैलीज़" (German Expelleess) "जर्मन बहिष्कृत" था जो कि सोवियत ज़ोन से आया था—दूसरा शब्द रूमानिया के शहरों से आया था और वह शब्द था "डि कन्जेशनाइज्ड" (Decongestionised) और तीसरा शब्द था "ट्रामैटोरियम" (Tramatorium) अर्थात् ट्रामों का डिपो ।

शब्दों के अर्थों में परिवर्तन हो जाता है और कई शब्द ऐसे हो जाते हैं जिनको कि कोई प्रयोग में नहीं लाता और वे समाप्त हो जाते हैं । कई शब्दों का अशुद्ध प्रयोग होने लग जाता है और जब एक भाषाविषयक प्रयोग की अशुद्धि सार्वत्रिक होती है तब वह नियम बन जाती है और शुद्ध हो जाती है परन्तु, इसका विरोध आवश्यक है। पहले Mutual 'पारस्परिक' शब्द दो व्यक्तियों के लिए आता था परन्तु अब दो से अधिक व्यक्तियों के लिए आता है ! इसी प्रकार Reliable शब्द को लीजिए । यह एक दोगला शब्द है इसमें लैटिन से Rely लिया गया है और फ्रेंच भाषा से Able । पहले इस शब्द पर आपत्ति उठाई गई परन्तु अब इस शब्द का प्रयोग सब लोग करते हैं ।

एक और प्रकार की ग़लती है । एक शब्द है जिसे ग्रीक से लिया गया है और वह शब्द "Phil" है । यह शब्दों से पूर्व प्रयुक्त होता है जैसे Philanthropist अर्थात् मानव को प्रेम करनेवाला । एक और शब्द को लीजिए फिलिप "Phillip" अर्थात घोड़ों को प्रेम करनेवाला । यदि Phil शब्द को शब्दों के पीछे प्रयुक्त किया जाए तो इसका अर्थ बदल जाता है। जैसे "Theophilus" अर्थात् "भगवान् का प्यारा"। इसके अनुसार जब हम यह कहते हैं टर्कों या रूसियों को प्यार करनेवाला तो हमें 'Turcophile' या 'Russophile' नहीं कहना चाहिए अपि तु "Philo-Turk" या 'Philo-Russ" कहना चाहिए ।

शब्दों की अर्थभ्रष्टता के लिए कुछ उदाहरण लीजिए । 'Knave' शब्द का अर्थ पहले 'लड़का' या 'बच्चा' होता था परन्तु अब इसका अर्थ धूर्त होता है । Villain शब्द का अर्थ 'कृषि क्षेत्र का नौकर' से बुरा नहीं था परन्तु अब यह शब्द पहले सिरे के बदमाश के अर्थ में प्रयुक्त होता है । इसी प्रकार Craft का अर्थ "शक्ति और निपुणता" था और इसे अच्छे अर्थों में प्रयुक्त किया जाता था परन्तु अब इसका प्रयोग बुरे अर्थों में किया जाता है । Boor शब्द का अर्थ प्रारम्भ में खेती करने वाला था परन्तु अब बदतमीज और कर्कश व्यक्ति के अर्थ में प्रयुक्त होता है । Pagan शब्द का अर्थ "ग्रामीण" था परन्तु अब इसका अर्थ अविश्वासी होता है । इसी प्रकार Heathen शब्द का अर्थ खुले स्थानों का निवासी था परन्तु, अब इसका अर्थ होता है यहूदी या मुसलमान ।

"Libel" शब्द का अर्थ पहले छोटी पुस्तक या अहानिकर लिखे हुए परिपत्रक (Document) होता था अब Scandalous बदनामकारी और हानिकर वक्तव्य के अर्थ में प्रयुक्त होता है । "Demon" का अर्थ "भगवान्" से "शैतान" हो गया है । "Libertiue" का अर्थ स्वतन्त्र मनुष्य या वह दास जिसे स्वतन्त्र कर दिया गया हो से उस व्यक्ति के अर्थ में हो गया है जो दुराचारी और विषयासक्त हो। इसी तरह "Gossip" शब्द के अर्थ कुछ से कुछ हो गए हैं। एक शब्द और लीजिए । "Imp" इस शब्द का अर्थ पहले अंकुर, कलम या वंश था फिर इसका अर्थ 'मानुषीय वंश अर्थात् बच्चा' होने लगा । इसे किसी भी प्रकार बुरे अर्थों में प्रयुक्त नहीं किया जाता था । राजाओं के बच्चों को "Royal Imps" कहा जाता था परन्तु अब इसे बुरे अर्थों में प्रयुक्त किया जाता है । कहा जाता है "Devil and his Imps" शैतान और उसके बच्चे।

अब शब्दों की भिन्नरूपता के विषय में। एक

शब्द से कई भिन्न शब्द बन जाते हैं। एक बड़ा रोचक लेख 'पिजन इंग्लिश' पर लिखा जा सकता है जिसे कि चीनियों ने विकसित किया है! एक कथा प्रसिद्ध है दूसरे महायुद्ध से पूर्व डा० वैलिङ्गडन कू लंडन में और वाशिंगटन में चीन के राजदूत थे। वे बहुत अच्छी अंग्रेज़ी बोलते थे। एक दिन एक डिनर में उनके पास उच्चवर्गीय अंग्रेज़ महिला बैठी हुई थी। इस अंग्रेज़ महिला को यह ज्ञान न था कि श्री विलिङ्गडन कू अच्छी अंग्रेज़ी बोलते हैं। उस महिला ने उनसे पिजन इंग्लिश में बातचीत करनी प्रारम्भ की "ड्रिङ्की सूपी" "लाइकी सूपी।" ......डिनर समाप्ति पर विलिङ्गडन कू का अंग्रेज़ी में सुन्दर भाषण हुआ। भाषण के पश्चात् वह उस अंग्रेज़ी महिला से कहने लगा: "लाइकी स्पीची।" और भी स्थानों में इसी प्रकार अंग्रेज़ी के शब्दों ने भिन्न रूप धारण कर लिए हैं। अमरीका के लोगों ने अपनी अंग्रेज़ी पृथक् ही बना ली है जिसे कि वे अमरीकी अंग्रेज़ी कहते हैं। मैं जब अमरीका गया तो मैं प्रो० ओटो लोइवी से मिला। इन्हें भैषज्यशास्त्र में नोबल पुरस्कार प्राप्त हुआ था। मैं जिस स्थान पर उनसे मिला था मैंने उसके सम्बन्ध में उनसे कहा कि यह Homely घर जैसा स्थान है। इसके उत्तर में उन्होंने कहा—"आप इंग्लिश में बातें कर रहे हैं। अमरीका में Homely का अर्थ Ugly होता है—हमारे यहाँ इसे Homey कहा जाता है। इसी तरह मुझे कई नए अमरीकी शब्दों से परिचय हुआ। अमरीका में Lift को Elevator और Moving Staircase को Esaclat r कहा जाता है। अमरीका में चेक (Check) शब्द को (अमरीका में Cheque शब्द का प्रयोग नहीं होता) कई अर्थों में प्रयुक्त किया जाता है। होटल की डेस्क की पुस्तक पर जब आप हस्ताक्षर करते हैं तो कहा जाता है कि आपने (Checke in) कर दिया है। जब आप बिल का पैसा दे देते हैं तो कहा जाता है कि आपने (Check out) कर दिया है। बैङ्क के Cheque को भी चेक (Check) कहा जाता है। रसीद को भी Check कहा जाता है। डालर के करंसी नोट को भी Check कहा जाता है और होटल के बिल को भी Check कहा जाता है। अमरीकन केक बिस्कुट होते हैं और अंग्रेज़ी केकों को (Cookies) कुकीज़ कहा जाता है।"......

॥ · ·

इंग्लैण्ड में युद्धोत्तर थिएटर

लन्दन के पत्र 'टाइम्स' में युद्धोत्तर थिएटर के सम्बन्ध में एक लेख प्रकाशित हुआ है जिसमें से निम्न अंश दिया जा रहा है:

"विगत शरद्-काल से लन्दन थिएटर विशेष रूप से निष्क्रिय जान पड़ता है। इन दिनों मौलिक नाटक नहीं खेले गए और किसी प्रसिद्ध अभिनेता ने कोई क़माल नहीं दिखाया तथा जौन गिलगड की नवीन कृति 'द वे ऑफ द वर्ल्ड' का ऐसा प्रभाव नहीं हुआ कि वह शरद् की जड़ता को वसन्त के उल्लास में परिणत कर दे।

यह दुःख की बात अवश्य है परन्तु, इससे निराश होने की आवश्यकता नहीं। थिएटर की कला जिन संघर्षी शक्तियों के बीच सन्तुलन बनाए हुए अपना अस्तित्व कायम रखती है उसे ध्यान में रखते हुए कह सकते हैं कि वर्तमान समय में उस स्थिति की सम्भावना नहीं है जब नाटक खेलना बिलकुल बन्द हो जाए। युद्धोत्तर थिएटर से अनेक बार यह आशा होती है कि युद्ध से उद्बुध चेतना निरन्तर प्रवाहमान चेतना है और उसमें कुछेक महीनों की थकान से विकृति उत्पन्न नहीं हो सकती।

इस जीवन्त शक्ति का प्रमुख कारण नवीन दर्शक वर्ग है जो गत युद्धकाल में आविर्भूत हुआ। जिन नाटकों की माँग उन्होंने की वे क्षुद्र निरर्थक विषयों के नहीं थे—जिनकी अब तक प्रत्येक युद्ध-काल में अत्यधिक माँग थी—वरन् जो कुछ भी नाटकीय दृष्टि से उपयुक्त समझा जाता उसे उन्होंने अपने मनोरंजन का साधन बनाया। इस माँग की पूर्ति अधिकांश पुराने नाटकों को खेल कर की गई। शेक्सपियर या शॉ, तुर्गनेव, चेकोव, इब्सन, वेब्स्टर या फोर्ड किसी की शैली असंगत नहीं समझी गई और काॅवर्ड की कृति 'लव फॉर लव' तथा अन्य सरस विदेशी रचनाएँ 'अरसेनिक', 'ओल्ड लेस' 'द मैन हू केम टू डिनर' अत्यन्त लोकप्रिय सिद्ध हुईं। इस प्रकार नवीन दर्शक-वर्ग को शिक्षित किया गया तथा नाटकों की इस पुनरावृत्ति ने अभिनेता को अपनी कला माँजने का सुअवसर दिया। उसकी कला श्रेष्ठ और विभिन्न प्रकार के नाटकों में अभिनय करके तथा समृद्ध और प्रभावोत्पादक भाषा का उपयोग करके विकसित हुई और युद्ध के अन्त में अंग्रेज़ी नाटक ने अपने प्रभावशाली अभिनेताओं गिलगुड, आलिविअर, वोलफिट, रिचर्डसन, सिबिल,

थार्नडाइक और इडिथ इवान्स के साथ अपने ऐतिहासिक विकास के दूसरे युग में प्रवेश किया।

युद्धोत्तर थिएटर जिसका इस नवीन दर्शक वर्ग ने निर्माण किया अपने निकट पूर्ववर्ती युग से स्पष्ट ही भिन्न है। उन्नीसवीं की प्राचीन सैद्धान्तिकता या एडवर्ड-युग की शहरी बनाव-शृङ्गार का इसमें अभाव है। यह ऐसे क्रोमियम चढ़े (Chromium plated) नाटकों को जिन का युद्ध के अन्तकाल में प्रचार बहुत बढ़ गया था आदर की दृष्टि से नहीं देखता। इन सभी पूर्वकालीन थिएटरों की अपेक्षा युद्धोत्तर थिएटर समय का महत्त्व पहचानता है। इसके दर्शक दुःखद अवस्थाओं को देखने के लिए विशेष उत्सुक रहते हैं और नाटक के सभी प्रकारों के प्रति अधिक सहनशील हैं।

निस्सन्देह इससे पूर्व भी थिएटर में आनेवाले ऐसे बहुत से दर्शक रहे हैं जो ऐश्वर्यपूर्ण आभिजात्य संस्कृति में पले थे, जिनमें प्रत्युत्पन्नमतित्व था और काव्य और सुन्दर शब्द-चयन के प्रति उनके हृदय में अपेक्षाकृत अधिक अनुराग था। तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि नाटक को कला की दृष्टि से देखनेवाले दर्शकों की इससे पहले कभी पर्याप्त संख्या रही हो—ऐसे दर्शकों की जो प्रदर्शन और नाटक की तुलना कर सकें तथा अपने बहुपक्षी ज्ञान के आधार पर अभिनय और शो (Show) की आलोचना कर सकें। इन दर्शकों ने फिर भी दुःखान्त अभिनय के लिए वातावरण प्रस्तुत किया। वे दुःखान्त नाटक के अभिनेता से असाधारण व्यक्तित्व के प्रदर्शन की माँग नहीं करते थे अपि तु उसकी चारित्रिक विशेषताओं पर ही उनका अधिक ध्यान रहता था। अतः मनोवैज्ञानिक गहराइयों और नाटककार के सूक्ष्म मन्तव्यों को जानने के लिए उनमें व्यग्रता नहीं रहती थी।

दुःखान्त नाटक के अभिनेता से आज जो माँग की जा रही है वह किसी प्रकार कम दुःसाध्य नहीं है—कदाचित् वह अधिक दुःसाध्य है—उन माँगों से जो पहले उससे की जाती थीं। केवल हाव-भावों से, चाहे वे कितने ही सुन्दर हों उन माँगों की पूर्ति नहीं होती। यहाँ युद्धोत्तर थिएटर की सामान्य प्रवृत्तियों का ज़िक्र करते समय यह आवश्यक नहीं है कि दुःखान्त नाटकों के विभिन्न अभिनेताओं की सफलता की ऊँचाई का जहाँ वे युद्ध के अन्तिम दिनों में पहुँच गए थे व्यक्तिगत रूप में ब्यौरा प्रस्तुत किया जाए। परन्तु, अधिकांश लोग इस वर्ग में माइकेल और रेडग्रेव का नाम सम्मिलित करने में सहमत होंगे और यह बात ध्यान देने योग्य है कि स्ट्रेटफोर्ड में लोकप्रिय होने के बाद गिलगड आश्चर्यकारी अनिश्चित काल के पश्चात् अब पुनः सुखान्त और दुःखान्त दोनों प्रकार के नाटकों में अभिनय की पूर्ण सिद्धहस्तता लिए प्रकट हुआ है।

युद्धोत्तर थिएटर में एक नई क्रान्तिकारी बात यह है कि दर्शक स्वयं कथानक को किसी प्रकार का महत्व नहीं देते। रटिगन (Rattigan) सुखान्त और अन्य नाटकों का कथा के आधार पर निर्माण करते रहे हैं तथा स्वाभाविकता का प्रतिबन्ध मानने के कारण उन्हें सोमरसेट मौम का उत्तराधिकारी कहा जा सकता है। वर्तमान सफल नाटककारों में एकमात्र वही उसका उत्तराधिकारी है। प्रीस्टले में कथा कहने की अप्रतिम प्रतिभा है किन्तु शैली के विभिन्न प्रकारों का व्यवहार करते हुए उसने कथा के बिना ही नाटक लिखे हैं। सीन ओ' केसे इस बात की चिन्ता नहीं करते कि उनकी कल्पना कितनी विशृंखल है यदि उसमें आकर्षित करने की शक्ति हो। जेम्स ब्रिडे के 'डेफे लारियोला' के पात्रों का रूप अत्यन्त शीघ्रता से परिवर्तित होता है और उनमें चरित्र-विकास का आदि, मध्य या अन्त कहीं भी दृष्टिगत नहीं होता।

शॉ की यह विद्रोही घोषणा कि कथानक गम्भीर नाटक के लिए अभिशाप है अब एक युग-धर्म बनता जा रहा है। शॉ ने विचारों के लिए कथानक का उत्सर्ग करना आरम्भ किया था। उसके अनुयायी पात्र को घटनाओं की शृंखला से अलग करके देखते हैं जिससे कि उसका अधिक गहराई से अध्ययन किया जा सके। मनोरंजन का साधन प्रस्तुत करते हुए वे प्रायः खिझाने का प्रयत्न करने लगते हैं परन्तु दर्शक इस पर भी कुछ बुरा नहीं मानता।

आधुनिक दर्शकों ने जिस थिएटर का निर्माण किया है वह कदाचित् इतना अच्छा है कि श्रेष्ठ लेखक इस प्रकार के थिएटर में अपना नाटक खेले जाने की लालसा करें। उन नवयुवक लेखकों की कमी नहीं जो थिएटर के लिए लिखना पसन्द करते हैं। परन्तु थिएटरों के मैनेजर इस सम्बन्ध में सहमत हैं कि उनके पास जो नाटक आते हैं वे रंगमंचीय कला की दृष्टि से बहुत कमज़ोर होते हैं। विगत कई वर्षों की अपेक्षा आज एक नवयुवक नाटककार के लिए अपने नाटक को अभिनय के लिए स्वीकृत

कराना अधिक मुश्किल जान पड़ता है, ऊँचे किराए और भारी क़ीमतों के कारण थिएटर के मालिक प्रयोग करने में असमर्थ बनते जा रहे हैं और छोटे छोटे थिएटरों के मालिक भी किसी प्रकार का संकट उठाने के लिए तत्पर नहीं हैं। फलतः नए लेखकों के लिए रंगमंच की वास्तविकताओं को जानने में कठिनाई बढ़ती जा रही है।

यह ध्यान देने योग्य बात है कि गीतिनाट्य के पुनरुत्थान में—जो कि युद्धोत्तर थिएटर के लिए एक गौरवपूर्ण बात है—आरम्भ में पेशावर थिएटरों के बदले गिरजे की देन अत्यन्त महत्वपूर्ण रही है। यदि चिचेस्टर के विशप का संरक्षण उसे नहीं मिला होता तो उसका विकास बहुत धीमा या दूसरी ही दिशा में होता। ईसा के जन्म दिवसोत्सव पर डा० बेल ने बड़े गिरजाघर में राजकवि द्वारा विरचित नाटक को खेलने की अनुमति प्रदान की तथा दो वर्ष पश्चात् सन् १९२९ में वार्षिकोत्सव के अवसर पर नाटक खेलने की प्रथा प्रारम्भ की जो प्रायः किसी आधुनिक कवि द्वारा लिखा जाता तथा पादरियों के संघ में अभिनीत किया जाता था। डा० बेल ने धार्मिक नाट्य संघ भी स्थापित किया था जिसने ई० मार्टिन ब्राउन के पथ-प्रदर्शन में आरम्भिक समय में पेशावर थिएटर के क्षेत्र से बाहर गीति-नाट्य के प्रति दर्शकों को आकर्षित करने में सहायता दी।

अंग्रेज़ी थिएटर में टी. एस. इलियट का नाटककार के रूप में प्रवेश करानेवाले डा० बेल थे। उनकी प्रेरणा से इलियट ने धार्मिक नाट्य संघ के लिए 'दि रॉक' (चट्टान) और केन्टरबरी (पादरी-संघ) के लिए 'मरडर इन दि कैथेड्रल' (गिरजाघर में हत्या) गीति-नाट्य लिखे। पादरी-संघ के उदाहरण पर गिरजे द्वारा प्रभावित अन्य क्षेत्रों में भी नाटक खेले गए तथा ट्वेक्सबरी एबे में खेले गए क्रिस्टोफर फ्राइ के नाटक पर पहली बार साहित्य के आलोचकों का ध्यान गया। अतः गीतिनाट्य का पुनरुत्थान बहुत-कुछ अंशों में धार्मिक आन्दोलन का परिणाम है। निश्चय ही मूलतः वह जीवन के प्रति धार्मिक दृष्टिकोण का पक्षपाती है।......

युद्धोत्तर काल में नए लेखक साहित्य के अन्य रूपों की अपेक्षा गीति-नाट्य लिखने की ओर अधिक प्रवृत्त हुए हैं। वर्तमान समय के नैतिक मानों की अराजक भूल भुलैयों के बीच वे एक सत्य को पकड़ना चाहते हैं जो उनके व्यक्तिगत अनुभव की कसौटी पर खरा सिद्ध हो सके। उन्हें क्या कहना है इसे वे प्रायः स्पष्ट नहीं जानते और जो कहना चाहते हैं उसे भली प्रकार अभिव्यक्त नहीं कर पाते। परन्तु वे समय की माँग को पहचानते हैं और उसकी पूर्ति करने में पूर्णतया रत हैं। यथार्थ को प्रगट करने के लिए अलङ्कारों से रहित गद्य आवश्यक समझा जाता था किन्तु उनकी सम्मति में आज उसकी धार कुण्ठित हो गई है। कम-से-कम अपनी शक्तियों का वह इस समय पूरा प्रयोग कर चुका है। नाटकों में काव्य का पुनरुत्थान कभी कल्पना की बात जान पड़ती थी। किन्तु, पिछले कुछ वर्षों से उसकी अत्यधिक आवश्यकता अनुभव की जा रही है। गीति-नाट्य आश्चर्यजनक रूप से उन्नति कर रहे हैं। दर्शक-वर्ग अब भी काव्य को अंग्रेज़ी रंगमंच की स्वाभाविक भाषा मानने के लिए तैयार नहीं है परन्तु, जो सफलता इलियट और फ्राइ के गीति-नाट्यों को मिली है उससे ज्ञात होता है कि आधुनिक विषयों को प्रभावपूर्ण ढंग से गीति-नाट्यों द्वारा प्रदर्शित किया जा सकता है। क्या यह सम्भव नहीं है कि शीघ्र ही वे कम-से-कम मन ही मन इस कठिन बात को स्वीकार कर लें कि वर्त्तमान युग के चरित्रों के आन्तरिक भाव गद्य में पूर्णतया अभिव्यक्त नहीं किए जा सकते। बहुत कुछ इस पर निर्भर करेगा कि एडनबरो उत्सव पर अभिनीत किए जाने वाले नए नाटक 'कान्फिडेन्सिअल क्लार्क' द्वारा इलियट गीति-नाट्य के लिए कितना क्षेत्र बना पाते हैं।

परन्तु नवयुवक कवियों के लिए जिनके नाटक प्रायः 'मरकरी थिएटर' में अभिनीत होते हैं यह समझ लेना आवश्यक है कि विक्टोरिया-युग के गीति-नाट्यकारों की यह धारणा कि दर्शकों के गले के नीचे उससे भी अधिक कविता उतारी जाय जितनी वे आसानी से निगल सकें, उनके लिए उपयुक्त नहीं है।......

गीति-नाट्य का समय से पहले ही इतिहास का अंग मात्र बन कर रह जाना रंगमंच के लिए एक दुर्भाग्य होगा। युद्धोत्तर प्रगति का भविष्य में एक निश्चित कारण शेक्सपिअर के नाटक होंगे जो दर्शकों के लिए विभिन्न सामग्री प्रस्तुत करते हैं तथा बिना किसी अवरोध के सर्वश्रेष्ठ अभिनेताओं द्वारा उनकी भाषा का धारावाहिक प्रवाह चलता है। उस दृष्टि से प्रगति का क्षेत्र पुराने स्थान विक से हट कर स्ट्रेटफ़ोर्ड में आ गया है।"

सम्पादकीय

संसद् और हिन्दी

यह संतोष का विषय है कि संसद् में हिन्दी में भाषण करनेवालों की संख्या बढ़ती जा रही है। गत वर्ष रेलवे मन्त्री श्रीयुत लालबहादुर शास्त्री के हिन्दी में भाषण देने पर संसद् के कई सदस्यों ने बड़ा विरोध किया था परन्तु इस वर्ष हिन्दी में दिए गए भाषणों का वैसा विरोध नहीं किया गया। वित्त-मन्त्री श्रीयुत चिन्तामणि देशमुख ने पेप्सु राज्य की पूरक माँगों पर वाद-विवाद का उत्तर केवल हिन्दी में दिया और इस प्रकार एक परम्परा स्थापित कर दी कि वित्त-मंत्री केवल हिन्दी में उत्तर दे सकते हैं। इस संसद् में एक महत्वपूर्ण बात यह हुई कि संसद् के उपाध्यक्ष श्री अनन्त शयनम् आयंगर ने यह व्यवस्था दे दी कि संसद् में कोई भी सदस्य हिन्दी या अंग्रेज़ी में बोल सकता है अतः इन दोनों भाषाओं में दिए हुए भाषणों का अनुवाद नहीं किया जाएगा यद्यपि किसी अन्य भाषा में किए गए भाषण का अनुवाद किया जा सकेगा। इस व्यवस्था के द्वारा संसद् में हिन्दी को अंग्रेज़ी के बराबर स्थान मिल गया है और एक प्रकार से संसद् के सदस्यों के लिए हिन्दी जानना अनिवार्य हो गया है क्योंकि हिन्दी में दिए गए भाषण का अनुवाद नहीं किया जाएगा। यदि इसी प्रकार संसद् के सदस्य हिन्दी के प्रति अपने कर्त्तव्य को पूरा करेंगे तो हमें आशा है कि धीरे धीरे संसद् का समस्त कार्य हिन्दी में होना प्रारम्भ हो जाएगा। संसद् के सदस्यों का यह कर्त्तव्य है कि वे न केवल स्वयं हिन्दी सीखें परन्तु, इसके साथ साथ संसद् के द्वारा भारत की समस्त जनता में हिन्दी के प्रति उत्साह और सद्भावनाओं को जागृत करें।

केन्द्रीय सरकार का बजट और हिन्दी

संसद् में शिक्षा का बजट प्रस्तुत करते हुए शिक्षा मन्त्री श्री मौलाना आज़ाद ने कहा : "शिक्षा मन्त्रालय हिन्दी का राष्ट्रभाषा के रूप में प्रचार करने के लिए आगामी तीन वर्षों में चौदह लाख रुपया व्यय करना चाहता है।" साथ ही उन्होंने कहा, "हिन्दी को राष्ट्र-भाषा के रूप में लोकप्रिय बनाने में शिक्षा मन्त्रालय को दो समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है। इनमें पहली समस्या हिन्दी में वैज्ञानिक और टेकनिकल शब्दावली का निर्माण करना है और दूसरी समस्या अहिन्दी भाषी क्षेत्रों की है।" हमें यह समझ में नहीं आता कि क्या समस्त राष्ट्र में हिन्दी को लोकप्रिय बनाने में ये दो ही रुकावटें हैं और यदि ये ही दो ऐसी बड़ी समस्याएँ हैं तो श्री मौलाना आज़ाद को इस पर भी प्रकाश डालना चाहिए था कि वे इन समस्याओं का समाधान किस प्रकार कर रहे हैं। शिक्षा मन्त्रालय द्वारा वैज्ञानिक और टेकनिकल शब्दावली को तैयार करने का काम तो एक कमेटी के सुपुर्द किया गया है परन्तु शिक्षा मन्त्रालय अहिन्दी प्रदेशों में हिन्दी को लोकप्रिय बनाने के लिए क्या कार्य कर रहा है और उसको वहाँ अपने प्रयत्नों में क्या सफलता प्राप्त हुई है इस विषय पर उन्हें यथासम्भव पूरी जानकारी देनी चाहिए थी। इसके साथ साथ राष्ट्र-भाषा प्रेमियों को एकमात्र इसी बात पर संतोष नहीं हो सकता कि शिक्षा मन्त्रालय ने हिन्दी का राष्ट्र-भाषा के रूप में प्रचार करने के लिए तीन वर्ष में चौदह लाख रुपए की स्वीकृति दे दी है। शिक्षा मन्त्रालय यह प्रचार किस प्रकार करना चाहता है, इसके विषय में उसकी क्या योजना है और जो रुकावटें अहिन्दी भाषी प्रान्तों में हिन्दी प्रचार के सम्बन्ध में हैं उनको किस प्रकार दूर करना चाहता है इन सब बातों को पूर्णतः स्पष्ट किया जाना चाहिए था। हमें राष्ट्रभाषा के प्रचार में जो सबसे बड़ी रुकावट प्रतीत होती है वह यह है कि राष्ट्रभाषा के प्रचार के लिए जिस प्रकार का वातावरण तैयार किया जाना चाहिए उस प्रकार का वातावरण भारत सरकार के शिक्षा मंत्रालय द्वारा तैयार नहीं किया जा रहा है। जिस प्रकार कृषि मंत्रालय की ओर से पोस्टरों, प्रदर्शनों और प्रचार के द्वारा अधिक अनाज उत्पन्न करने के लिए वातावरण तैयार किया जा रहा है उसी प्रकार शिक्षा मंत्रालय को समस्त राष्ट्र में हिन्दी के लिए अनुकूल वातावरण तैयार करना चाहिए।

ताजमहल और सामुदायिक योजना

ब्रिटेन के प्रसिद्ध श्रम नेता एन्यूरिन बेवन ने जो अभी पिछले दिनों भारत में पधारे थे और ताजमहल देखने के लिए गए थे ताजमहल के विषय में कहा है : "ताजमहल शाहजहाँ की सामुदायिक योजना का प्रयत्न है। उसे बनने में अठारह वर्ष लगे। हज़ारों मज़दूर सुबह होते ही अपनी फूस की झोंपड़ी में से निकल कर उसे बनाते। रात को थक कर फूस की झोपड़ियों में सो जाते। वे इतने अधीर और थकित

होते थे कि आनेवाली पीढ़ियों के लिए जिस महान् कला के आदर्श का निर्माण कर रहे थे उसके सौन्दर्य पर एक नज़र डालने का भी उन्हें अवकाश नहीं मिलता था। मैं समझता हूँ कि इसके निर्माण करने में उनका परामर्श लिया जाता तो वे अपने स्त्री और बच्चों के लिए अधिक अन्न उपजाने या अपनी झोपड़ी को सुधारने की जगह ताज के निर्माण के लिए ही सहमत होते।" आज तक ताजमहल की प्रशंसा कला की दृष्टि से तो बहुत से स्थापत्य शास्त्रियों और कलाकारों ने की है परन्तु, श्रमिक वर्ग की दृष्टि से श्रीयुत एन्यूरिन बेवन का इसे 'शाहजहाँ की सामुदायिक योजना' कहना यह सिद्ध करता है कि उच्च कला का श्रमिक जनों के जीवन से उतना ही सम्बन्ध है जितना कि धनी वर्ग का। सत्य तो यह है कि सच्ची कला में धनी और निर्धन का भेद नहीं रहता।

वर्तमान शिक्षा प्रणाली

अभी पिछले दिनों लोकसभा में वर्तमान शिक्षा प्रणाली की अत्यन्त कटु आलोचना की गई। यह कहा गया कि राष्ट्रपति और प्रधान मन्त्री से लेकर देश के सभी नेता और शिक्षा-शास्त्री शिक्षा प्रणाली में परिवर्तन की आवश्यकता के विषय में बहुत कुछ कहते हैं परन्तु, शिक्षा मन्त्रालय की ओर से अभी तक इसके विषय में कुछ नहीं किया गया। अभी पिछले दिनों पटना विश्वविद्यालय के पदवीदान समारोह में राष्ट्रपति डा. राजेन्द्र प्रसाद ने दीक्षान्त भाषण देते हुए वर्तमान शिक्षा प्रणाली के प्रति गहरा असन्तोष प्रकट किया। उन्होंने कहा: "वर्तमान शिक्षा प्रणाली हमारी वर्तमान आवश्यकताओं को पूरा नहीं करती और जब तक उसमें आवश्यक संशोधन नहीं किए जाएँगे तब तक हम अपनी समस्याओं को हल नहीं कर सकेंगे।" शिक्षा के क्षेत्र में सुधार करने के लिए यद्यपि कई कमेटियों का आयोजन किया गया है तो भी अभी तक हमारी शिक्षा की अवस्था अधिकांश में उसी दशा में है जिसमें अंग्रेज़ उसे छोड़ कर गए थे। इस अवस्था को परिवर्तित करने के लिए शिक्षा शास्त्रियों के द्वारा शीघ्र से शीघ्र योजना बननी चाहिए और किसी प्रान्त में या एक ज़िले में इस योजना को सफल बनाने के लिए पहले उसे छोटे पैमाने पर क्रियान्वित किया जाना चाहिए और धीरे धीरे इसका विस्तार एक प्रान्त में और फिर अन्य प्रान्तों में किया जाना चाहिए। यदि वर्तमान शिक्षा प्रणाली को इसी रूप में रहने दिया गया तो हमें भय है कि हम अपने राष्ट्र की किसी भी महान् योजना को पूर्णतया सफल नहीं बना सकेंगे। हम समझते हैं कि आज हमारे देश में पंचवर्षीय योजना के प्रति जो इतना निरुत्साह और उदासीनता दृष्टिगोचर होती है, उसका एक मुख्य कारण हमारे राष्ट्र की शिक्षा प्रणाली है।

मार्शल स्तालिन की मृत्यु

मार्शल स्तालिन की मृत्यु से विश्व का एक युग-प्रवर्तक महान् पुरुष उठ गया है। उनके विचारों और कार्यों से चाहे किसी को मतभेद क्यों न हो परन्तु यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि उनका प्रभाव एकमात्र रूस की जनता पर ही नहीं परन्तु विश्व की जनता पर पड़ा है और पड़ रहा है। विश्व में आज जिस नए युग का निर्माण हो रहा है उसमें मार्शल स्तालिन का बड़ा हाथ है। मार्शल स्तालिन के बहुत-से विरोधी भी साम्यवादी विचारों की शक्ति को अनुभव करते हैं। हाँ, वे उनको क्रियात्मक रूप देने में हिंसात्मक साधनों का अवश्य विरोध करते हैं। स्तालिन ने ही रूस को इतना शक्तिशाली राष्ट्र बनाया कि उसने द्वितीय महायुद्ध में जर्मनी का न केवल वीरतापूर्वक मुक़ाबला किया अपि तु जर्मनी पर सैनिक विजय प्राप्त की। सैनिक शक्ति से बड़ी शक्ति विचारों की शक्ति है। जब तक विचारों में प्रगति और डायनमिक शक्ति नहीं होती तब तक जन-समुदाय में नव जीवन और उत्साह उत्पन्न नहीं होता। रूस और चीन की जनता में जो जीवन और उत्साह दिखाई देता है उसका प्रधान कारण सैनिक शक्ति नहीं परन्तु, साम्यवादी विचारधारा है। यह संभव है कि रूस का सैनिक क्षेत्र में पराभव हो सके परन्तु विचारों के क्षेत्र में साम्यवादी विचारधारा को सुगमता से परास्त नहीं किया जा सकता। मार्शल स्तालिन पर सर्वाधिकारी (Dictator) होने के दोष के आरोप में सत्यता हो सकती है, उनकी राजनीति और शासन तन्त्र में हिंसा और निर्दयता की संभावना भी हो सकती है क्योंकि क्रान्तिकारी परिवर्तनों में इनका होना अनिवार्य नहीं तो कई अवस्थाओं में अवश्यंभावी है परन्तु इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि उन्होंने रूस में सामूहिक तौर पर प्रत्येक क्षेत्र में नवीन आशा, नवीन जागृति, नवीन उत्साह, नवीन संगठन और नवीन कर्मशक्ति को जागृत किया है। यह प्रायः कहा जाता है कि रूस में शिक्षा, साहित्य,

राजनीति आदि के क्षेत्र में एक प्रकार का Regimentation (आबद्धता) है और वहाँ व्यक्तित्व और स्वतन्त्र विचारों के लिए अवसर और गुंजाइश नहीं है। बहुत से आलोचक जो रूस और चीन की यात्रा करके आए हैं इसका प्रतिवाद करते हैं परन्तु जहाँ समूह का और सामूहिक शक्ति का प्रश्न आता है वहाँ समूह और सामूहिक प्रश्नों पर व्यक्तित्व और व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य को तरजीह न मिलना बहुत कुछ स्वाभाविक है। जिस प्रकार सेना और सैनिक संगठन में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को स्थान नहीं प्राप्त होता उसी प्रकार जब एक विशाल जन-समुदाय को सामुदायिक हित के लिए संगठित किया जाता है उस समय सामूहिक और सामुदायिक विचारों को संगठित रूप में प्रधानता प्राप्त होना अस्वाभाविक नहीं है। महान् जन-समुदाय में एकप्राणता उत्पन्न करना सुगम कार्य नहीं है और मार्शल स्तालिन ने इसी महान् कार्य को करके दिखाया है। मार्शल स्तालिन के रचनात्मक कार्यों को देखते हुए यह स्वीकार करना पड़ेगा कि उनकी शक्ति आधारतः ध्वंसात्मक नहीं रचनात्मक थी और यदि उनकी शक्ति रचनात्मक न होती तो मार्शल स्तालिन को अपने कार्य में इतनी सफलता प्राप्त न होती। उनके साधन हिंसात्मक और ध्वंसात्मक हो सकते हैं परन्तु उनका उद्देश्य सर्वसाधारण में सामूहिक चेतना को जागृत करना था—ऐसी चेतना जो सर्वसाधारण को अपनी शक्ति का अनुभव कराए और जिसके द्वारा कोई भी शक्तिशाली व्यक्ति या लघु समुदाय उनका शोषण न कर सके। मार्शल स्तालिन ऐतिहासिक पुरुष थे। विश्व के इतिहास में उनका स्मरण कई दृष्टियों से किया जाएगा।

पिछड़ी जातियों पर कमीशन

कुछ समय पूर्व भारतीय प्रशासन ने हमारे राष्ट्र की पिछड़ी हुई जातियों की अवस्था की जाँच करने के लिए एक कमीशन की नियुक्ति की है। कहा जाता है कि इन पिछड़ी जातियों की संख्या १३३१ है जिसमें और भी बहुत-सी उपजातियाँ हैं। हमारे देश की अधिकांश जनता अपठित और पिछड़ी हुई है—ऐसी अवस्था में कुछ थोड़ी सी जातियों को पिछड़ी हुई कहना कहाँ तक उचित है। एक ओर तो हम इस प्रकार के समाज का निर्माण करना चाहते हैं जिसमें न जाति-भेद हो और न वर्ण-भेद और वर्ग-भेद परन्तु, जब हम इस प्रकार नवीन जातियों का नामकरण करते हैं और जब उन्हें राजनैतिक दृष्टि से कुछ विशेष महत्व और अधिकार प्रदान करते हैं—तब इस नए जातिभेद को भी महत्व प्राप्त हो जाता है। महत्व चाहे उच्च वर्ग को प्राप्त हो और चाहे निम्न वर्ग को भेद उत्पन्न करने में सहायक होता है। दलित जातियाँ, परिगणित जातियाँ, आदिवासी लोग—'हरिजन, गिरिजन और इतर जन' इनकी सम्मिलित संख्या को १४ करोड़ बतलाया जाता है। इन जातियों के अतिरिक्त यदि अन्य जातियों को भी लिया जाए तो वे भी कम पिछड़ी हुई नहीं हैं। पिछड़े हुए लोगों को आगे बढ़े हुए लोगों तक कैसे पहुँचाया जाए और दोनों की किस प्रकार समान अवस्था हो जाए—यह तो तभी सम्भव हो सकेगा यदि समस्त राष्ट्र की जनता को दृष्टि में रख कर सब को एक समान अवस्था में लाने का प्रयत्न किया जाए। जिन जातियों को आगे बढ़ा हुआ कहा जाता है—उन जातियों में वर्ग-भेद और जाति-भेद क्या किसी प्रकार कम तीव्र अवस्था में है? हमें विश्वास है कि यदि तथाकथित उच्च वर्ग में वर्ग-भेद और जाति-भेद मिट जाए और उनमें पारस्परिक समानता की भावना उत्पन्न हो जाए तो देश में इस प्रकार का वातावरण उत्पन्न हो सकेगा कि उसके द्वारा समस्त जनता में स्वयं समानता की भावनाएँ समान रूप से जागृत हो सकेंगी। भिन्न भिन्न जातियों के विषय में इस प्रकार कमीशन बिठाने से एक प्रकार से अप्रत्यक्ष रूप से जातिभेद को ही प्रोत्साहन प्राप्त होता है। कमीशन के उद्घाटन के समय प्रधानमंत्री श्री जवाहरलाल नेहरू ने यद्यपि इस कमीशन के नामकरण पर दुःख प्रकट किया और कहा कि भारतवर्ष के ६० प्रति शतक लोग पिछड़े हुए हैं और पिछड़ी हुई जातियों को भी कई बातों में आगे बढ़ा हुआ कहा। कमीशन के विषय में भी उन्होंने कहा—"कमीशन क्या कर सकता है। कमीशन सवाल जवाब करे उससे काम नहीं बनता। क़ायदा, क़ानून से ज़्यादह सफलता नहीं प्राप्त हो सकती।" इन बातों को अनुभव करते हुए भी कमीशन नियुक्त क्यों किया गया इसके विषय में उन्होंने केवल इतना ही कहा कि कमीशन का नियुक्त करना आवश्यक था—इसलिए किया गया। इसे क्यों आवश्यक था इस पर उन्होंने कुछ नहीं कहा। इन कर्मीशनों की नियुक्ति से ऐसा प्रतीत होता है कि पिछड़ना, दलित होना आदि भी जैसे कुछ लोगों का ही विशेष अधिकार है।

Education

Start - in - Life

Marriage of your children

Assured without any

embarrassment

Besides a comfortable old age

for you

for All Types Of Insurance

Consult:-

THE

HYDERABAD CO-OPERATIVE

INSURANCE SOCIETY Ltd.

Bashir Bagh Road, Hyderabad-Dn.

THE

Twin Co-operative Insurers

Head Office : **Bashir Bagh Road, Hyd.Dn.**

1. The Hyderabad Co-operative Insurance Society Ltd.

A POLICYHOLDERS' SOCIETY

Assets as at 31-12-51 exceed Rs. 80 Lakhs. (for Co-operative Life Assurance only.)

2. The Co-operative General Insurance Society Ltd., (for Fire, Motor, Accident and Misc. Insurance.)

State and District Positions Available

For REALLY EFFICIENT

FIELD WORKERS.

Write in condidence to the General Manager.

तार का पता : हिन्दी   टेलीफोन नं. ४४५०

हिन्दी, तेलुगु, मराठी और अंग्रेज़ी

की सब तरह की सुन्दर छपाई

के लिए हमेशा याद रखिये।

हि

न्दी

प्रे

स

हैदराबाद राज्य हिन्दी प्रचार सभा

श्रीराम हिन्दी भवन

नामपल्ली • स्टेशन रोड • हैदराबाद-द.

హైదరాబాద్ రాజ్య

హిందీ ప్రచార సభ

తమరికి హిందీ, తెలుగు మరియు ఇంగ్లీషు

భాషలలో తప్పులు లేకుండ అందమైన

అచ్చుపనులు కావాలంటే

తమ నగరములోనే

హిందీ ప్రెస్

కే దయచేయండి.

నాంపల్లి స్టేషన్ రోడు, హైదరాబాద్ (దక్షిణ.)

టెలిఫోన్ **౪౪౫౦** టెలిగ్రాం "**హిందీ**"

हिन्दी के उत्तमोत्तम

तथा उच्च

श्रेणी

के

सा

साहित्य

त्य

की

प्राप्ति के लिए एकमात्र

स्थान

हैदराबाद राज्य हिन्दी प्रचार सभा

श्रीराम हिन्दी भवन, हिन्दी मार्ग, नामपल्ली : हैदराबाद-द.

टेलीफोन नं. ५४५० ❀ तार—"हिन्दी"

प्रकाशक :—प्रियबन्धु, हिन्दी प्रेस, हैदराबाद राज्य हिन्दी प्रचार सभा, हैदराबाद-द.

अजन्ता

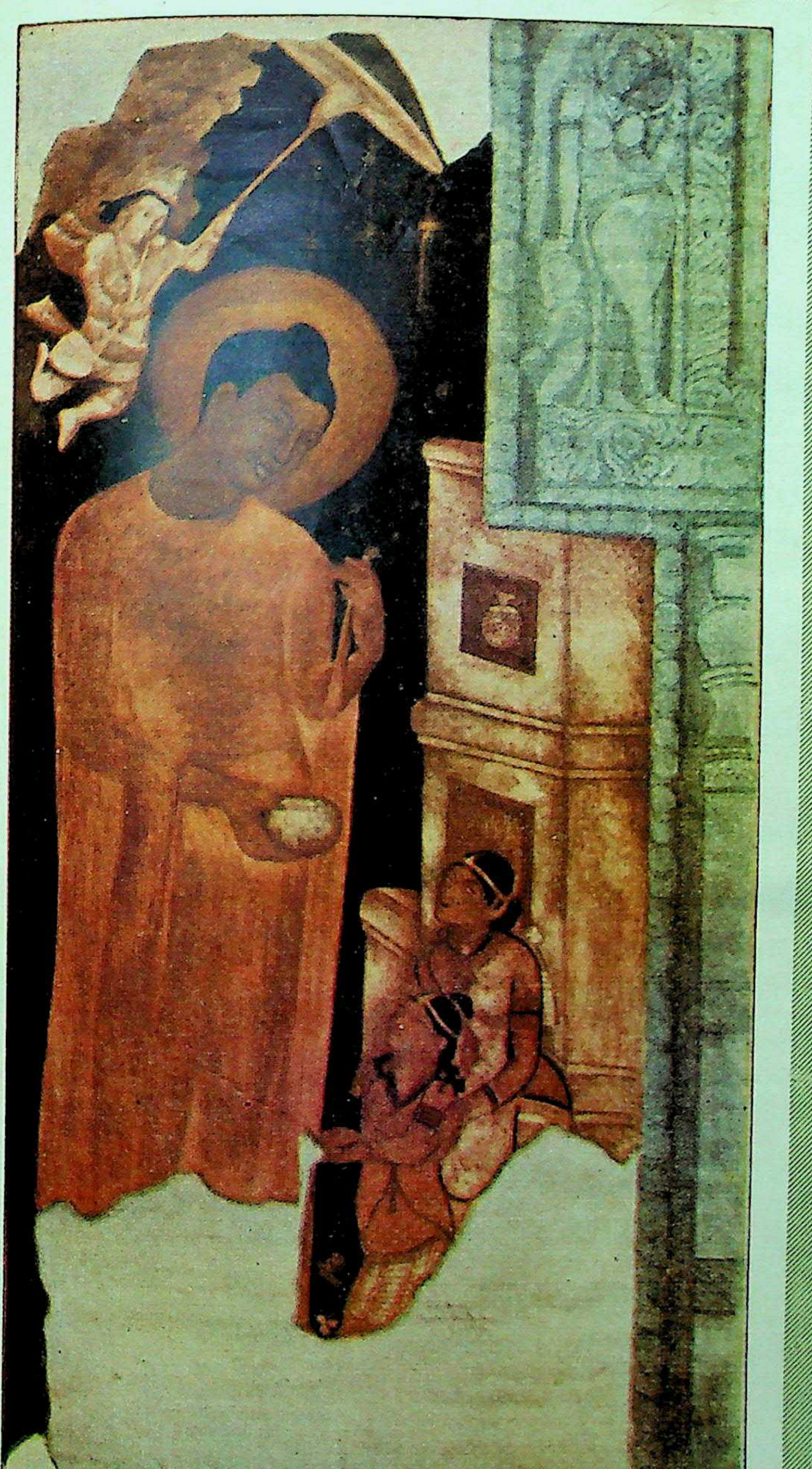

वर्ष ५ जुलाई १९५३ अंक ७

हैदराबाद राज्य हिन्दी प्रचार सभा

राजस्थान, पंजाब, मध्यप्रदेश, हैदराबाद, मैसूर, त्रावणकोर और मद्रास राज्यों के

शिक्षा विभाग द्वारा स्वीकृत

◆

इस अङ्क में :

श्री बनारसीदास चतुर्वेदी
श्री जयन्तप्रसाद बागची
श्री टीकमसिंह तोमर
श्री रामगोपाल शुक्ल
श्री एन. वी. चन्द्रशेखर स्वामी
श्री श्याम परमार

श्री जगन्नाथप्रसाद 'मिलिन्द'
श्री नीरज
श्री विद्यावती मिश्र
श्री कोमलसिंह सोलंकी

◆

अगले अङ्क में :

श्री चन्द्रबली पाण्डे
श्री श्याम मोहन श्रीवास्तव
श्री विनोद वी. राव
श्री के. शेषाद्रि
श्री राजकिशोर पाण्डेय

श्री आरसीप्रसाद सिंह
श्री इकबाल बहादुर श्रीवास्तव
श्री सुरेन्द्रमोहन मिश्र

"**अजन्ता**" का वार्षिक मूल्य :— ६) एक अङ्क का :— १)

आवश्यक सूचना:— नमूने की प्रति के लिए १ रु० म. ऑर्डर द्वारा अग्रिम भेजिए।

The Hyderabad Co-operative Dominion Bank Ltd.

[Estd. MARCH 1915]

Telephone : 4610 Telegram : DOMINBANK

(Apex Bank for the Co-operative Movement in the State)

Sub Offices :
PATHER GATTI,
UNIVERSITY BRANCH
(Adickmet)

Head Office :
SHAHRAH-E-OSMANI
HYDERABAD-DECCAN.

Branches :
JADCHARLA (Dt, Mahboobnagar) THUNGABHADRA PROJECT (Munirabad)

1. CURRENT ACCOUNTS are opened free of charge and interest is allowed at 1½% per annum.
2. SAVINGS DEPOSITS are accepted and interest is allowed at 2% per annum.
3. SPECIAL SAVINGS DEPOSITS are accepted and interest is allowed at 1½% per annum.
4. DRAFTS are issued on all important COMMERCIAL CENTERS and within the HYDERABAD STATE.
5. PENSIONS, MANSABS, etc, are collected on commission basis, premiums remitted & all standing instructions on behalf of the customers carried out. SAFE DEPOSIT LOCKERS & VAULUTS are available at HEAD OFFICE.

BANKING BUSINESS OF EVERY DESCRIPTION TRANSACTED

Md. Ghulam Ghouse
M. A., B. SC., C. A. I. I. B.,
DEPUTY GENERAL MANAGER.

A. H. Venkat Rao.
B. A., L L. B.,
HONY. SUPERVISING DIRECTOR.

L. N. Gupta,
I. A. S.
PRESIDENT.

FIRE: ACCIDENT: MARINE:

THE HYDERABAD UNITED INSURANCE CO., LTD.,

SPONSORED BY

THE GOVT. OF HYDERABAD.

Post Box No. 164, Abid Road, HYDERABAD-Dn.

Telegram: ***HUICOL*** *Telephone:* ***5579***

Chairman:
L. N. GUPTA Esq. I. A. S.,

General Manager:
H. D. MEHTA Esq.,

'HIND' ***BRANCHES :*** ***Bombay, Calcutta, Madras, Nizamabad & Manchirial.***

जीवन साहित्य

हिन्दी के उन मासिक पत्रों में से है जो

१. लोक रुचि को नीचे नहीं, ऊपर ले जाते हैं,
२. मानव को मानव से लड़ाते नहीं, मिलाते हैं,
३. सच्ची और स्थायी शान्ति को असंभव नहीं, संभव बनाते हैं,
४. आर्थिक लाभ के आगे झुकते नहीं, सेवा के कठोर पथ पर चलते हैं,

जीवन साहित्य की सात्विक सामग्री को छोटे बड़े, स्त्री-बच्चे सब निःसंकोच पढ़ सकते हैं। उसके विशेषांक तो एक से एक बढ़ कर होते हैं।

जीवन साहित्य विज्ञापन नहीं देता। केवल ग्राहकों के भरोसे चलता है। ऐसे पत्र के ग्राहक बनने का अर्थ होता है राष्ट्र की सेवा में योग देना।

वार्षिक शुल्क के ४) रु. भेज कर ग्राहक बन जाइए।

ग्राहक बनने पर मण्डल की पुस्तकों पर
आपको कमीशन पाने की भी सुविधा हो जाएगी।

सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली

त्रैमासिक

आलोचना

के

दो विशेषांक

इतिहास विशेषांक-अक्तूबर १९५२
५) रु०

इतिहास शेषांक-जनवरी १९५३
३) रु०

विशेष रूप से संग्रहणीय हैं।

इन दोनों अंकों में प्रकाशित लेख हिन्दी साहित्य के आलोचनात्मक इतिहास का अद्वितीय आकलन बन गये हैं।

वार्षिक-१२)रु० : : एक प्रति-३) रु०

राजकमल प्रकाशन,
१, फ़ैज़ बाज़ार, दिल्ली

मनोविज्ञान

काशी मनोविज्ञान शाला का मासिक पत्र

दर्शन और मनोविज्ञान की

आधुनिक प्रवृत्तियों पर

प्रकाश डालनेवाला

हिन्दी में अपने ढङ्ग का

अकेला पत्र

सम्पादक : **लालजीराम शुक्ल**

वार्षिक मूल्य : ४) रुपए।

मिलने का पता :

व्यवस्थापक 'मनोविज्ञान'
६१/२५ सिद्धगिरि, बनारस

सम्पदा

[उद्योग, व्यापार और अर्थशास्त्र का]
उत्कृष्ट हिन्दी मासिक]

उद्योग, व्यापार, कृषि, बैंक, बीमा, श्रम तथा राष्ट्रनिर्माण आदि देश की प्रायः सभी आर्थिक समस्याओं पर विचार करने के लिए हिन्दी में सम्पदा से बढ़ कर कोई पत्रिका आपको नहीं मिलेगी।

देश का पुनर्निर्माण करने के लिए जो महान् पंचवर्षीय योजना बनाई गई है,

उसका विस्तृत परिचय, आलोचनात्मक विवेचन तथा विविध दृष्टिकोण जानने के लिए ग्राफ़ों, नक्शों से परिपूर्ण **योजना** अङ्क मंगाइए।

योजनांक १) रु. : वार्षिक मूल्य ८) रु.

मैनेजर 'सम्पदा' :—
अशोक प्रकाशन मन्दिर,
रोशनारा रोड, दिल्ली.

प्रेरणा

'प्रेरणा' का यह चौथा अङ्क सम्पूर्ण रूप से 'मेघदूत' पर ही है।

- *मूल काव्य का राजस्थानी में पूरा अनुवाद*
- *मूल काव्य का हिन्दी गद्य में अनुवाद*
- *विश्व कवि कालिदास और उनके इस अद्वितीय काव्य से सम्बन्धित महत्वपूर्ण निबन्ध*

राजस्थानी में इस अतुलनीय कृति का काव्यमय अनुवाद स्वयं एक अतुलनीय प्रयास है।

अनुवादक : **नारायणसिंह**

इस अङ्क का भी वही साधारण मूल्य।

एक प्रति का १।)
वार्षिक मूल्य १४)

सोजती गेट,
जोधपुर

सम्पादक : **कोमल कोठारी**

राष्ट्रभारती

सम्पादक

मोहनलाल भट्ट ::: हृषिकेश शर्मा

(१) यह हिन्दी पत्रिकाओं में सब से अधिक सस्ती, एक सुन्दर साहित्यिक और सांस्कृतिक मासिक पत्रिका है। (२) इस पत्रिका को, राष्ट्रभाषा हिन्दी के तथा लगभग सभी भारतीय साहित्य और संस्कृति को बल व प्रेरणा पहुँचाने वाले प्रान्तीय भाषाओं के श्रेष्ठ विद्वान् साहित्यकारों का सहयोग प्राप्त है। (३) इसमें ज्ञानपोषक और मनोरंजक श्रेष्ठ लेख, कविताएँ, कहानियाँ, एकांकी, नाटक, रेखाचित्र और शब्दचित्र रहते हैं। (४) बंगला, मराठी, गुजराती, पंजाबी, राजस्थानी, उर्दू, तमिल, तेलगु, कन्नड़, मलयालम आदि भारतीय भाषाओं के सुन्दर हिन्दी अनुवाद भी इसमें रहते हैं। (५) प्रति-मास १ ली तारीख को प्रकाशित होती है।

वार्षिक चन्दा ६) रुपए। **नमूने की प्रति १० आना मात्र।**

आज ही ग्राहक बन जाइए।

ग्राहक बना देने वालों को विशेष सुविधा दी जाएगी।

पत्र-बिक्री (एजन्सी) तथा विज्ञापन-दर के लिए आज ही लिखिए।

पता व्यवस्थापक **'राष्ट्रभारती'** *राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, पो० हिन्दी नगर, वर्धा (मध्य प्रदेश)*

पश्चिमोत्तर भारत की प्रमुख हिन्दी मासिक पत्रिका

विश्व ज्योति

सम्पादक-(१) **श्री विश्वबन्धु शास्त्री,**
(२) **श्री सन्तराम,** बी. ए.
संचालक-**श्री विश्वेश्वरानन्द,** वैदिक संस्थान, साधु आश्रम, होश्यारपुर।

गत मार्च से प्रारंभ होकर अल्प काल में ही इस पत्रिका ने अपनी विशेषताओं के कारण हिन्दी-जगत् में अपना विशिष्ट स्थान बना लिया है।

विश्व हित की साधना के लिए :

[क] शुद्ध सांस्कृतिक साहित्य का सृजन,
[ख] प्राचीन और नवीन ज्ञान-विज्ञान का समन्वय,
[ग] बौद्धिक क्रांति और नई चेतना का जागरण,
[घ] अन्यायपूर्ण सामाजिक विषमताओं का दूरीकरण,
[ङ] सभी प्रकार के विचारों का निष्पक्ष अध्ययन और आलोचन करना ही **विश्व ज्योति** का लक्ष्य है।

इसे तुरन्त मँगाइए और लाभ उठाइए।

वार्षिक चन्दा : ८) रुपए

परन्तु १०) रु. वार्षिक चन्दा देकर विश्वेश्वरानन्द वैदिक संस्थान के सदस्य बन जाने पर भेंट के रूप में मुफ़्त।

पत्र व्यवहार का पता :

व्यवस्थापक, 'विश्व ज्योति' साधु आश्रम होश्यारपुर, (पंजाब)

देशबन्धु का **व्रज संस्कृति अंक**

सम्पादक	सह सम्पादक
ज्यो. राधेश्याम द्विवेदी	बैजनाथ

विशेषांक का मूल्य १२ आने मात्र।

इस विशेषाङ्क में व्रज की ललित कलाएँ, लोकगीत, लोक कहानियाँ, व्रज की वेशभूषा, व्रज की सभ्यता आदि पर उत्कृष्ट लेख होंगे। यह अङ्क अगस्त '५३ में प्रकाशित होगा। इस अङ्क के कुछ लेखक: * डा. वासुदेवशरण अग्रवाल * श्री अगरचन्द नाहटा * बा. गुलाबराय, एम. ए. * पं. रविशङ्कर रावल * पं. उदयशङ्कर भट्ट * उदयशङ्कर शास्त्री * डा. सत्येन्द्र एम. ए. * पं. कृष्णदत्त वाजपेयी * बा. प्रभुदयाल मीतल।

इस अङ्क का प्रचार भारत के कोने कोने में किया जा रहा है। 'देशबन्धु' द्वारा विज्ञापनदाता अपनी वस्तुओं का प्रचार समस्त भारत में कर सकते हैं।

विशेष विवरण के लिए लिखिए :

व्यवस्थापक **'देशबन्धु'** मथुरा

कल्पना का **कला अंक**

इस अङ्क का सम्पादन :

- ● श्री जगदीश मित्तल
- ● श्री दिनकर कौशिक
- ● श्री के. एस. कुलकर्णी कर रहे हैं।

सलाहकार :

सर्वश्री डा. स्टेला क्रैमरिश डा. हरमन ग्वेत्स डा. वासुदेवशरण अग्रवाल, डा. मुल्कराज आनन्द, अजित घोष, जी. वेंकटाचलम, काल जे. खण्डेलवाल, पृथ्वीश नियोगी, विनोदविहारी मुखर्जी

विशेषाङ्क का मूल्य रु. ५)

मार्च तक ग्राहक बननेवालों को विशेषांक का अतिरिक्त मूल्य नहीं देना पड़ेगा। इस अङ्क का विदेशों में भी प्रचार करने की योजना है, विज्ञापनदाताओं के लिए अच्छा अवसर।

विशेष विवरण के लिए लिखें :

व्यवस्थापक **'कल्पना'**
८३१, बेगम बाजार : : : हैदराबाद (दक्षिण.)

हिन्दी का अपने ढङ्ग का पहला पत्र

वार्षिक मूल्य १०)
पृष्ठ संख्या १२५

गुलदस्ता

नमूने की प्रति
एक रुपया

(हिन्दी डाइजैस्ट)

३६३८ पीपलमण्डी आगरा

अंग्रेजी डाइजैस्ट पत्रिकाओं की तरह दुनिया की भाषाओं के साहित्य से सुन्दर संक्षिप्त संकलन देने वाला यह अपने ढंग का हिन्दी में अकेला पत्र है, हास्य, व्यंग, मनोरंजक निबन्ध तथा कहानियाँ इसकी विशेषताएँ हैं।

कुछ सम्मतियाँ

"गुलदस्ता की टक्कर का मासिक पत्र अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ। मैं इस पत्रिका को आद्योपांत सुनता हूँ।"

—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक

"गुलदस्ता अच्छी जीवनोपयोगी सामग्री दे रहा है।"

—जैनेन्द्रकुमार, दिल्ली

"गुलदस्ता विचारों का विश्वविद्यालय है, जिसे घर में रखने से सभी लाभ उठा सकते है।"

—प्रो. रामचरण महेन्द्र

"आर्थिक समीक्षा"

अखिल भारतीय काँग्रेस कमेटी के आर्थिक राजनीतिक
अनुसंधान विभाग का पाक्षिक पत्र

प्रधान सम्पादक : श्री आचार्य श्रीमन्नारायण अग्रवाल
सम्पादक : श्री हर्षदेव मालवीय

हिन्दी में अनूठा प्रयास :—

आर्थिक विषयों पर विचारपूर्ण लेख
आर्थिक सूचनाओं से ओतप्रोत

भारत के विकास में रुचि रखनेवाले प्रत्येक व्यक्ति के
लिए अत्यावश्यक, पुस्तकालयों के लिए
अनिवार्य रूप से आवश्यक।

वार्षिक चंदा : ५ रुपया ❀ एक प्रति का : ३॥ आना

व्यवस्थापक, प्रकाशन विभाग
अखिल भारतीय काँग्रेस कमेटी,
७, जन्तर मन्तर रोड, नयी दिल्ली.

"नया पथ"

हिन्दी की नयी साहित्यिक चेतना का प्रतिनिधि, हिन्दी साहित्य में देशभक्ति, जनसेवा स्वाधीनता और शांतिकामना की महान् और गौरवशाली परम्परा को आगे ले जानेवाला राजनैतिक-सांस्कृतिक मासिक पत्र।

विशेष स्तम्भ

मासिक टिप्पणियाँ, व्यंग और प्रहसन, आज की राजनीति, मार्क्सवाद की पाठशाला, आर्थिक लेखा जोखा, कथा-कहानी और कविताएँ, विज्ञान और हम, सिनेमा जगत, हमारी संस्कृति, पुस्तक परिचय,

पहला अङ्क 'तुलसी अङ्क' होगा।

सम्पादक : श्री शिववर्मा

वार्षिक चन्दा ६) रु. ❀ अर्ध वार्षिक ३) रु.
एक प्रति ॥) आने.

'नया पथ' कार्यालय,
राज भवन, सेण्डहर्स्ट रोड, बम्बई, ४

नई पीढी का सचित्र त्रैमासिक

नव निर्माण

—(सम्पादक : नेमिचन्द जैन भावुक)—

* साहित्य शिक्षा, संस्कृति व कला का संगम
* राजनीति विज्ञान
* तारों की छाया में
* चना जोर गरम
* ज्ञान के आलोक में
* आप भी कहें हम भी कहें
* कसौटी पर
* ये धूल भरे हीरे आदि स्तम्भों से युक्त

अपनी ही विशेषताओं से प्रेरित-प्रभावित

एक प्रति १ रु. मय विशेषांक का

कुमार साहित्य परिषद, जोधपुर

विशेष : मार्च अंक की प्रतियाँ अप्राप्य, जून की प्राप्य
निःशुल्क प्रति भेजने में असमर्थ।

'अजन्ता' के नियम

सम्पादकीय विभाग

१ 'अजन्ता' में प्रकाशनार्थ रचनाएँ हँसिया छोड़ कर एक ओर टाइप करके भेजी जाएँ। रचना-प्राप्ति की सूचना कार्यालय से भेजी जाएगी। रचनाओं की एक प्रतिलिपि लेखक अपने पास रखें, जिससे रचना के खोने का भय न रहे।

२ रचना भेजते समय इस बात का ध्यान रखा जाए कि उसे अन्यत्र प्रकाशनार्थ नहीं भेजा गया है।

३ रचनाओं के स्वीकृत होने की स्थिति में उनका सुविधा के अनुसार ही उपयोग किया जा सकेगा।

४ आलोचनार्थ पुस्तक और पत्र-पत्रिकाओं की दो प्रतियाँ सम्पादक, 'अजन्ता' के नाम भेजना आवश्यक है।

५ किसी भी रचना के संशोधन आदि का अधिकार सम्पादक को रहेगा।

६ 'अजन्ता' में प्रकाशित रचनाओं का अन्यत्र उपयोग प्रकाशक की अनुमति ले कर किया जाए।

व्यवस्था विभाग

१ 'अजन्ता' का वार्षिक चन्दा ६) और एक प्रति का मूल्य १) है। किसी भी मास से ग्राहक बना जा सकता है। कम से कम छः मास का चन्दा स्वीकार किया जाता है।

२ पत्र-व्यवहार करते समय ग्राहक संख्या का उल्लेख करें।

३ 'अजन्ता' के एजेन्सी नियम निम्न प्रकार हैं:—

- (अ) कम से कम पाँच प्रतियाँ मँगाने पर एजेन्ट नियुक्त जाएगा।
- (आ) माल वी. पी. द्वारा भेजा जाएगा।
- (इ) बिना बिकी हुई प्रतियाँ वापस नहीं ली जाएँगी।
- (ई) कमीशन २५ प्रतिशत दिया जाएगा। नमूना अंक मुफ्त नहीं भेजा जाता, १) रु. मनीआर्डर अग्रिम भेजें।

४ एक साथ चार ग्राहक बनानेवाले को साल भर 'अजन्ता' मुफ्त भेजा जाएगा।

५ 'अजन्ता' में निम्न दर पर विज्ञापन स्वीकार किए जाते हैं:

चौथा	आवरण	पृष्ठ	१००) रु.	प्रतिमाह
तीसरा	,,	,,	७०) रु.	,,
दूसरा	,,	,,	७०) रु.	,,
साधारण	पृष्ठ	,,	४०) रु.	,,

पत्र व्यवहार करें:—

व्यवस्थापक

'अजन्ता' कार्यालय

हैदराबाद राज्य हिन्दी प्रचार सभा

नामपल्ली स्टेशन रोड, हैदराबाद द.

अजन्ता

सचित्र मासिक पत्रिका

वर्ष ५ जुलाई १९५३ अङ्क ७

सम्पादक

वंशीधर विद्यालंकार
श्रीराम शर्मा

प्रबन्ध सम्पादक

हरिकृष्ण पुरोहित एम. ए.

—: संचालक :—

हिन्दी प्रचार सभा, हैदराबाद

अनुक्रमणिका

पृष्ठ संख्या
१ क्रान्ति और निर्माण
जगन्नाथप्रसाद 'मिलिन्द' १
२ गीत
नीरज ३
३ गीत
विद्यावती मिश्र ६
४ विश्वास
कोमलसिंह सोलंकी ७
५ आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी
बनारसीदास चतुर्वेदी ९
६ मध्यकालीन बँगला वैष्णव काव्य
जयन्तप्रसाद बागची १३
७ प्रथम पंचम वर्षीय नियोजन
अवनीन्द्रकुमार विद्यालङ्कार २१
८ प्राचीन समाज में परिवार
रामगोपाल शुक्ल २९
९ तेलुगु मुहावरे
शंकरय्या शास्त्री
१० रूपक और प्रतीक
मुरलीधर श्रीवास्तव ३३
११ हिन्दी-वीर-काव्य धारा और प्रकृति चित्रण
डॉ. टीकमसिंह तोमर ३५
१२ कन्नड़ की कहावतें
लक्ष्मीदेवी
१३ भारत गौरव हिम शेर तेञ्जिंग
कन्हैयालाल मिएडा ४५
१४ लोक साहित्य में 'बारह मासी' गीत
श्याम परमार ४८

पृष्ठ संख्या
१५ रूसी लेखक क्राइलोफ की तीन लोक-कथाएँ
महेशकुमार मूँधड़ा ५२
१६ वह भला कॉमरेड
लुडविक् उहलाएट
अनु. प्रेमकुमार ५४
१७ कन्नड का जैन साहित्य
एम. वी. चन्द्रशेखर स्वामी ५५
१८ कला की हत्या
यादवेन्द्रनाथ शर्मा 'चन्द्र' ५९
१९ चिट्ठी-पत्री ६४
[१] हर्षनाथ
[२] रामगोपाल शुक्ल
[३] रामचन्द्र बंसवाला
[४] चन्द्रबली पाण्डे
[५] रामेश्वरदयाल दुबे
[६] राजकुमारी शिवपुरी
२० नीर-क्षीर ६७
[१] विश्वबन्धु
[२] हरिकृष्ण पुरोहित
२१ सामयिक ७३
[१] चीन के आधुनिक उपन्यास
[२] आधुनिक अंग्रेजी पद्य-नाटक
[३] आधुनिक भारतीय रंगचित्रण
२२ सम्पादकीय ७८
वंशीधर विद्यालङ्कार

चित्र—कलहन्तरिता (शृंगारमंजरी) पुरातत्व विभाग, हैदराबाद के सौजन्य से

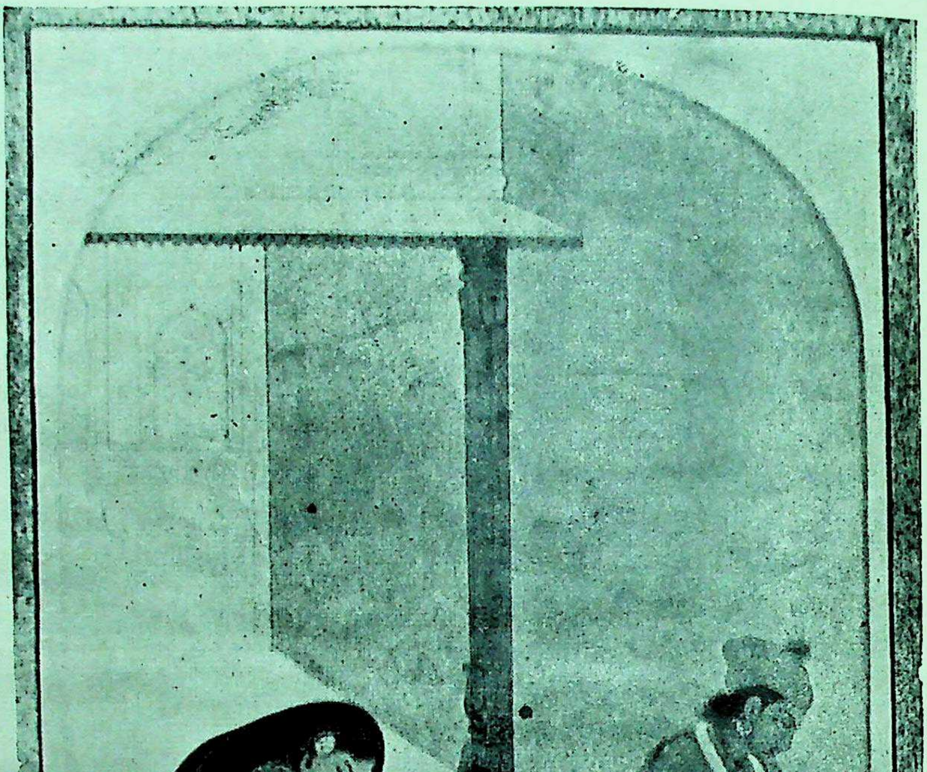

कलहन्तरिता
(शृंगार मंजरी)

पुरातत्त्व विभाग, हैदराबाद
के सौजन्य से

वर्ष ५ | जुलाई १९५२ | अङ्क ७

क्रान्ति और निर्माण

तुम वर्षा के स्वागत को उत्सुक, साथी
उस आँधी के भय से हो कंपित
जो पहली वर्षा के पहले आती है
जिससे नभ भू हो जाते हैं आच्छादित

मैं उस आँधी के स्वागत, अभिनन्दन को
आगे बढ़ता हूँ हृदय खोलकर अपना
जिसका अनुचर घन, विद्युत, वर्षा, श्यामल
नव शस्यों का मेरे नयनों का सपना

तुम नवल सृष्टि की करते विकल प्रतीक्षा
पर, उसके पहले प्रलय—क्रान्ति जो आती

उससे आतंकित, आशंकित होते हो,
उससे तव उर की धड़कन है बढ़ जाती

मैं मन्द स्मितरेखा ले निज अधरों पर
उर में आशा का अक्षय दीप जला कर
नव विश्वसृष्टि के स्वागत में विप्लव के
पथ पर पुलकित होता हूँ पलक बिछा कर

कितना प्रदाह, बड़वाग्नि, क्षार अन्तर में
संचित रख सागर गहन प्रतीक्षा करता
कितनी ज्वाला, कितना उत्ताप सहन कर
भूतल निदाघ को निज प्राणों में भरता

तब दीर्घ विरह के तप के बाद मिलन की
घड़ियाँ आतीं, सागर का स्नेह उमड़ता
प्यासी पृथ्वी के वक्षःस्थल पर घन बन
वह होने को उत्सर्ग अशेष घुमड़ता

यह क्रान्ति सृजन का, दुख सुख का स्वाभाविक
क्रम है, इसको समझो, सीखो सहना भी
यदि लाभ चाहते हो नवीन रचना का
सीखो विनाश के उपक्रम में रहना भी!

मैंने तो विष की बूँद बूँद में अनुभव
है किया अमृत का हँस हँस कर क्षण क्षण में!
जब जब आने को हुआ सृजन का नवयुग
ताण्डव विनाश का देखा है कण कण में!

लश्कर,
ग्वालियर

—जगन्नाथप्रसाद 'मिलिन्द'

गीत

इस तरह तय हुआ साँस का यह सफ़र
ज़िन्दगी थक गई, मौत चलती रही

एक ऐसी हँसी हँस पड़ी धूल यह
लाश इन्सान की मुस्कराने लगी
तान ऐसी किसी ने कहीं छेड़ दी
आँख रोती हुई गीत गाने लगी,
एक नाज़ुक किरन छू गई इस तरह
ख़ुद-ब-ख़ुद प्राण का दीप जलने लगा
एक आवाज़ आई किसी ओर से
हर मुसाफ़िर बिना पाँव चलने लगा,
रूप के गाँव का पर मिला छोर यों
देह बढ़ती रही उम्र ढलती रही

(२)

एक दिन देखता हूँ कि रूठी हुई
चाँदनी चन्द्रमा से खड़ी दूर है
एक दिन यह सुना फूल की चोट से
एक पाषाण का दिल हुआ चूर है
एक दिन आँसुओं ने कहा आँख से
'रो न, हम आएँगे कल बदल कर कफ़न'
एक दिन एक बोला शलभ दीप से
'चूम लूँ मैं तुझे तब मुझे कर दफ़न
पर सुनी अनसुनी बात ऐसी हुई
रूठ सोया शलभ, लौ मचलती रही

(३)

एक दिन कह रही थी भ्रमर से कली
'ओठ जूठे किए हैं मुझे तू न छू'
कह रहा था भ्रमर सुन अरी बावली !
'निष्कलुष मैं बनूं ले मुझे चूम तू'
आ गया एक झोंका तभी उस तरफ़
हिल उठी डाल तो भू, गगन हिल गए
कुनमुनाई-लजाई कली तो बहुत
आप ही आप लेकिन अधर मिल गए
अन्त ऐसे हुआ उस मिलन का मगर
दिन सिसकता रहा, रात खलती रही

(४)

एक दिन एक आया पथिक द्वार पर
टुक रुका एक दो घूंट पानी पिया
पथ-सफ़र का लिया साथ सामान सब
एक फेंकी विवश दृष्टि औ' चल दिया
उस दिवस से मगर एक तसवीर-सी
अश्रु की भीति पर रोज़ खिंचने लगी
रंग भरने लगे जागकर रात दिन
मोतियों से गली गैल सिंचने लगी
किन्तु पूरा हुआ चित्र वह इस तरह
रंग हुए एक सब, छवि बदलती रही

(५)

एक दिन ज़िन्दगी की कड़ी धूप में
दो पखेरू मिले मुक्त नभ के तले
कुछ न बोले न डोले न कुछ बात की
हो गया प्यार लेकिन नयन जब मिले
ओठ ज्यों ही उठे तो नियत हँस उठी

आँधियाँ चल पड़ीं, तम बरसने लगा
छुट गया हाथ से हाथ भींगा हुआ
गालियाँ मार संसार हँसने लगा
और फिर यों कटी वह विरह की निशा
स्नेह बुझता रहा, याद जलती रही

(६)

एक दिन एक तारा गिरा टूट कर
एक उजड़े हुए नीड़ ने रख लिया
फूल ने मुस्करा कर तभी यह कहा
'यह बुझा है दिया क्यों इसे दिल दिया ?'
बोलने तब लगा नीड़ का एक तृण
'हर दुखी को दुखी से सदा प्यार है
आँसुओं के लिए गोद बस धूल है
फूल को तो धरे शीश संसार है'
किन्तु झगड़ा ख़तम इस तरह यह हुआ
फूल झरता रहा, धूल खिलती रही

(७)

एक दिन एक बोली पिटी गोट यों
'एक मौक़ा अगर तू मुझे और दे
मान सच यह कि बाज़ी बदल दूँ अभी
हार को जीत से, जीत को हार से,
सुन खिलाड़ी प्रथम बार झिझका जरा
फिर बदल गोट वह चाल चलने लगा
जब लगी अक़्ल सब तब बहुत देर में
खेल का कुछ तराज़ू बदलने लगा,
पर हुआ खेल वह भी ख़तम इस तरह
गोट पिटती रही, चाल चलती रही

१०६/१६, नेहरू नगर
कानपुर

—नीरज

गीत

बहुत दूर अब हार से और जय से हृदय हो चुका है !
न अंतर मुझे अस्त में या उदय में,
न अंतर मुझे चेतना में निलय में,
न अंतर मुझे साधना में प्रणय में,
न अंतर मुझे है सृजन में प्रलय में,
नियति भूमि पर कर्म ही भाग्य फल के विटप बो चुका है !
बहुत दूर......

कभी तुष्टि ही प्यास बन बोलती है,
कभी प्यास जल-वृष्टि को तोलती है,
बहुत मर्म प्रति आह भी खोलती है,
किसी के लिए चाह भी डोलती है,
हृदय सब भुगत, शांत-सा हो चुका है, बहुत रो चुका है !
बहुत दूर......

मनुज हो न यदि पीर तुम झेल पाए,
नहीं शूल पर पैर तुमने बढ़ाए,
जरा-सा पड़ा बोझ कंधे झुकाए,
बदल भूमि का भाग्य यदि तुम न पाए,
समझ विश्व लेगा कि तुम में छिपा देवता सो चुका है !
बहुत दूर......

बशीरत गंज, लखनऊ
—विद्यावती मिश्र

विश्वास

साथी, यह विश्वास न छीनो

आतुर इन प्राणों से पूछो
गीतों में कितना प्रवेग है,
झंकृत मधु-वीणा से पूछो
श्वासों में कंपन अशेष है
हैं दो छोर गीत के मेरे
व्यथा-भार इस ओर अपरिमित
उधर फूल-सी हंसी किसी की
परिचित से हैं, प्राण अपरिचित
रो रो कर अब हंस लेने दो
रोते रोते भाव बंध गए,
हंसते हंसते गीत खुशी में
अपने से कुछ दूर हो गए
इस विस्तृत सौन्दर्य लोक में
मेरा द्वैत कहीं खो जाता,
घिर आते बादल अंधियारे
बालक सा मन तब रो आता
तुम हो मूक मलय सी तन्वी–
कविता का आकाश न छीनो!
साथी, यह विश्वास न छीनो!

(२)

मधुर हंसी पलकों में भर कर
सीपी से दो मधुर अधर धर,
काली अलकों से लहराते··
कुंतल अंशों पर घिर आते
अञ्चल जब उड़ उड़ कर थमता
कुन्द-इन्दु के बीच सिमिटता,
घिर आती बदली कजरारी
वदन विधु केशों में घिरता
मन्द मन्द जब राजहंस–सी
तुम चलती धरती निहारती,
पलकों के बोझल सपनों सी
रूप–राशि अपनी संवारती
गीतों के सरगम भरते हैं,
स्मिति वाणी दे जाती है
व्यथा भार से झुके पलक तब,
कोयल काली गा जाती है
तुम अपने में भूले भटके
टेढ़ी मेढ़ी राह बनाते,

पग पग पर रुकते इठलाते
राजमार्ग पर बढ़ते जाते
यह भी चित्र तुम्हारा ही है
मैंने देखा दूर डगर से

कविता में भर गए आप ही
भाव किसी अपनी छाया से

यह तो मन की मौज किसी की
गाए गीतों को मत छीनो !
साथी, यह विश्वास न छीनो !

(३)

तुमसे मेरा परिचय ही क्या
दो पल पलकों भर देखा है,
जैसे नील गगन में मानों
कोई श्वेत वही रेखा है
केवल अपने विश्वासों पर,
अनगाए गाने लिखता हूं
जीवन के दो तन्तु मिला कर
स्वर के साज सजा पाता हूं

कभी कभी करुणा रो पड़ती है
कभी वीर हुंकार मचाते,
कभी द्रोह, विप्लव की तानें
कभी मृत्यु संगीत सुनाते
और कभी पगली बयार जब,
मलयानिल के मिस बह जाती
मधु से छकी सुरभि में कोई,
मेरे गीतों को गा जाती
कितने रूप सजाया करता
मिट्टी की दुनिया के अपने,
कितने लोक बसाया करता
विश्वासों के झूठे सपने
पर मेरा विश्वास जगत् में
मुझे जिलाया ही करता है,
सौ सौ बार मरण पा कर भी
मैं हर बार जिया करता हूं

जीने का अधिकार मिला है—
गाने का अधिकार न छीनो !
साथी यह विश्वास न छीनो !

—कोमलसिंह सोलंकी

मध्यभारतीय हिन्दी साहित्य सभा,
लश्कर (ग्वालियर)

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी

(संस्मरण पत्रों में)

स्वर्गीय आचार्य पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी को अपने साहित्यिक जीवन में सहस्रों ही पत्र लिखने पड़े। चूँकि वे रेलवे विभाग में इक्कीस वर्ष तक बड़ी मुस्तैदी और योग्यता के साथ नौकरी कर चुके थे, इसलिए उनका प्रत्येक कार्य नियमबद्ध तथा विधिवत् होता था। पत्रोत्तर देने में वे कभी विलम्ब नहीं करते थे। डाक दौलतपुर शाम को पहुँचती थी, और दूसरे दिन वह वहाँ से चलती थी। द्विवेदी जी लौटती डाक से ही चिट्ठी का जवाब दे देते थे। द्विवेदी जी से पत्रोत्तर पाने का एक फ़ारमूला-सा बन गया था : चिट्ठी पहुँचने का समय × २ + १.

द्विवेदी जी हमेशा अपनी टेबल साफ़ करते थे। वे वक़्त पर आपना काम निपटाना जानते थे। इसलिए स्वभावतः उनके अधिकांश पत्र कामचलाऊ ही होते थे। कलापूर्ण पत्र लिखने के लिए फ़ुरसत चाहिए, जिसका द्विवेदी जी के पास प्रायः अभाव ही रहता था। इसलिए भाषा-सौन्दर्य के ख्याल से द्विवेदी जी के पत्र उस कोटि को नहीं पहुँचे, जिस कोटि को स्व० पं० पद्मसिंह जी शर्मा के अनेक पत्र आसानी से पहुँच जाते थे। पर एक बात में द्विवेदी जी के पत्र लाजवाब हैं। यानी उनमें उनके चरित्र का चित्रण बड़ी खूबी के साथ हुआ है। उनका प्रत्येक पत्र उनके स्पष्ट मस्तिष्क का एक नमूना है। जो कुछ लिखते थे बहुत साफ़ लिखते थे। उनके पत्रों में लगालेसी की कोई बात न होती थी। चूँकि द्विवेदी जी वर्तमान हिन्दी युग के निर्माता थे, उनके प्रायः सभी पत्रों का महत्व है, पर ख़ास तौर पर महत्वपूर्ण वे पत्र हैं जो उन्होंने कुछ चिढ़ कर लिखे थे, और जिनके छपाने का उस समय कोई सवाल ही नहीं उठता था। उस तरह के दो पत्र मेरे पास सुरक्षित हैं, एक हिन्दी में, दूसरा अंग्रेज़ी में।

बात यह हुई थी कि एक बार कलकत्ते के एक वयोवृद्ध हिन्दी लेखक ने जो एक लोकोक्ति कोश के संग्रह-कर्ता थे, मेरे पत्र के कार्यालय में पधार कर बातचीत के सिलसिले में कह दिया, द्विवेदी जी तो लखपति आदमी हैं। मैंने यह बात द्विवेदी जी को लिख भेजी। मैं जानता था कि द्विवेदी जी इससे चिढ़ कर कैफ़ियत की एक लम्बी चिट्ठी अवश्य भेजेंगे और मेरा अनुमान सत्य निकला! निस्सन्देह यह मेरी अक्षम्य धृष्टता थी, पर द्विवेदी जी के कृपापूर्ण स्वभाव पर मुझे पूर्ण विश्वास था। उस पत्र को सुनने के बाद आशा है कि मेरे श्रोता भी मुझे माफ़ कर देंगे। द्विवेदी जी ने लिखा था :

'१७ वर्ष की उम्र में मैंने रेलवे में मुलाज़मत शुरू की, सिर्फ़ १५ रु. मासिक पर। २१ वर्ष बाद जब छोड़ी तब सिर्फ़ १५० रु. + पर्सनल अलाउन्स ५० रु. = २०० रु. मिलते थे। १८ वर्ष तक सरस्वती का काम किया। छोड़ने के वक़्त सिर्फ़ १५० रु. मिलते थे। तब से सिर्फ़ ५० रु. मासिक पेंशन। कभी एक पैसा भी किसी से हराम का नहीं लिया। मेरी रहन सहन, घर द्वार सब आपका देखा हुआ है। कानपुर का कुटीर भी आप देख चुके हैं। इस तरह रह कर जो कुछ बचाया वह सब प्रायः ख़ैरात कर दिया, यथा कई लड़कों को अपने ख़र्च से पढ़ा दिया। उनमें से कुछ एम ए., बी. ए. भी हैं। रिश्ते में अपनी तीन भानजियों की शादियाँ और गौने किए। ग़ैरों की भी दो लड़कियाँ ब्याहीं। गाँव में कई ग़रीब घरों की लड़कियों की शादियों में मदद दी। कई विधवाओं का पालन किया। दो एक अब भी वृत्तियाँ पाती हैं। पिता की इच्छाएँ पूर्ण कीं, गया श्राद्ध, ब्राह्मण भोजन, दान पुण्य, मकान और कूप आदि निर्माण के रूप में।

"गत वर्ष मेरे कुटुम्ब की अन्तिम स्त्री मरी। तब मैंने अन्त्येष्टि कर्म करने के सिवा १००० रु. दीन दुखियों को बाँट दिया। कानपुर का पुस्तक संग्रह ना. प्र. सभा को पहले ही दे चुका था। एक गाड़ी पुस्तकें छः महीने हुए यहाँ से उसे और भेजीं। दो गाड़ियाँ अभी और भेजना है। १००० रु० इस सभा को जो अभी अभी दिए हैं सो आप जानते ही हैं। अब भी लोकोक्तिकार के अनुमानित लाख, डेढ़ लाख या करोड़, दो करोड़ जो बच रहे हैं वे प्रायः सब के सब हिन्दु विश्व विद्यालय को देनेवाला हूँ। पत्र व्यवहार कर रहा हूँ, जनवरी-फरवरी में आप और वे महाशय भी

सुन लें कि कितने लाख हैं । यह सब मैंने लिख तो दिया पर डर है कि मेरे मरने पर कहीं आप ये बातें छपवाने न दौड़ पड़ें । मैं इसकी जरूरत नहीं समझता । लाख दो लाख का स्वप्न देखनेवालों का स्वप्न मैं भंग नहीं करना चाहता ।”

यहाँ यह बता देने की ज़रूरत है कि द्विवेदी जी ने ६४०० रु० हिन्दु विश्वविद्यालय को इसलिए दान दे दिए थे कि उनके व्याज से कुछ छात्रवृत्तियाँ दे दी जाएँ। इसी पत्र में उद्विग्न होकर द्विवेदी जी ने आगे लिखा था : “लोकोक्ति कोश वाले सज्जन को यह चिट्ठी दिखाइए और उनसे कहिए कि मैं उनसे, मुर्शिदाबाद वाले नवाबी जगत् सेठों से तथा कारनेगी और रॉकफ़ेलर से भी अधिक अमीर हूँ। अमीर किसे कहते हैं यह शायद वह नहीं जानते। शङ्कराचार्य जानते थे उनका कहना है कि जो जितना ही अधिक संतोषशील है वह उतना ही अधिक अमीर है और जो जितना ही तृष्णालु है वह उतना ही दरिद्र। मैं तो दुनिया भर के अमीरों को, लक्षाधीशों को ही नहीं, कोट्यधीशों को भी अपने सामने तृणवत् समझता हूँ क्योंकि :

“निस्पृहस्य तृणं जगत्”

इसे वे अपने कोश के दूसरे संस्करण में रख सकते हैं । ये लोग दूसरे के माल मत्ते की नाप तोल अपने मान दंड से तो करते हैं, पर यह कभी नहीं सोचते कि इनसे पूछें किसी चीज़ की इन्हें कमी तो नहीं, और हो तो उसे दूर करने की कोशिश करें ।”

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि इस पत्र में एक स्वाभिमानी लेखक की आत्मा उबल पड़ी है । द्विवेदी जी ने जो पत्र मुझे अंग्रेज़ी में लिखा था उसका भी कुछ इतिहास है । बात यह हुई कि एक बौद्ध संस्था के मुखपत्र का एक विशेषांक स्वर्गीय देवमित्र धर्मपाल की स्मृति में निकला था । उसकी एक प्रति मैंने द्विवेदी जी के पास भेज दी और उसके ऊपर लिख दिया (Complimentary Copy) ‘भेंट की प्रति’ । द्विवेदी जी भला इन दो अंग्रेज़ी शब्दों को कैसे सहन कर सकते थे । तुरन्त ही उन्होंने अंग्रेज़ी में ही एक विस्तृत पत्र ३१ अगस्त १९३३ को मुझे लिख भेजा, जो कई दृष्टियों से अत्यन्त महत्वपूर्ण है । उसके कुछ अंश ही सुना देना चाहता हूँ :

“About 40 years ago I ordered certain books on Buddhism (१) ललित विस्तर (२) बुद्ध चरित (३) सौन्दरनन्द (4) Light of Asia and (5) Beal's Buddhists Records. These books gave me a very good idea of Buddhism and its founder. Of all of them the Sanskrit books (2) and (3) gave me indescribable pleasure. Although they are not with me now, some portions thereof made so vivid an impression upon my mind that I can repeat them by heart even at this distance of time. When about to renounce the world, Gautam's mental struggle has been descirbed in (2) as follows:—

“तं गौरवं बुद्धगतं चकर्ष भार्यानुरागः पुनराचकर्ष।
सोऽनिश्चियान्नापि ययौ न तस्थौ तरंस्तरंगेष्विव राजहंसः ॥”

According to Buddhism निर्वाण has been defined in the follownig verses in (3)

“दीपो यथानिर्वृतिमभ्युपेतो,
नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् ।
दिशं न कांचित् विदिशं न कांचित
स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम् ॥
तथा कृती निर्वृतिमभ्युपेतो
नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्
दिशं न कांचिद् विदिशं न कांचिद्
क्लेशक्षयात् केवलमेति शान्तिम् ॥”

These books are the works of अश्वघोष. This great poet and master teacher flourisned even before कालिदास.

Your two words ‘complimentary copy’ in English on the cover of the journal have prompted me to scribble these lines in that foreign language of which I have so scanty a knowledge and trust you will forgive me for doing so.”

इस पत्र का भावार्थ यह है : “चालीस वर्ष हुए मैंने बौद्ध धर्मसम्बन्धी पाँच किताबें मँगाई थी—ललित-विस्तर, बुद्धचरित, सौन्दरनन्द, लाइट ऑफ एशिया और बील साहब की बुद्धिस्ट रेकर्ड्स् । इन ग्रन्थों से मुझे बौद्ध

धर्म तथा उसके संस्थापक के विषय में पर्याप्त ज्ञान हो गया। इनमें से दो संस्कृत ग्रन्थों ने (नं. २ और नं. ३ ने) मुझे इतना आनन्द दिया जो वर्णन से परे है। यद्यपि ये ग्रन्थ इस समय मेरे पास नहीं हैं, तथापि उनके कुछ श्लोक में चालीस वर्ष बाद भी सुना सकता हूँ।" पत्र के अन्त में द्विवेदी जी ने लिखा था: "तुम्हारे दो शब्दों 'कौम्पलीमेन्टरी कापी' ने मुझे प्रेरित किया कि मैं भी उस विदेशी भाषा में ही पत्र लिखूँ, जिसका मुझे इतना अल्प ज्ञान है।"

कहने की आवश्यकता नहीं कि यह द्विवेदी जी का मधुर व्यंग था। पूज्य द्विवेदी जी नवीन लेखकों को प्रोत्साहन देने में अद्वितीय थे। एक दिन उनका एक पत्र मुझे प्राप्त हुआ:

"उस दिन चैत्र की 'माधुरी' मिली। लेख सूची पढ़ी। उसमें एक लेख मिला, 'उर्दू कविता में इसलाह।' उसे पढ़ा कर सुना। बड़ी खुशी हुई। लेख बहुत पसन्द आया। लेखक काव्य मर्मज्ञ और बड़े ही सरस हृदय हैं। उन्होंने एक मिसरे में ख़ुदा के साथ रियायत की है। उनका कहना है:

'अगर सौ बार सर मारे
तो मुश्किल से ख़ुदा समझे'

मुझे यह अन्याय खला है। मेरी राय में तो:

'अगर सौ साल सर मारे
तो मुश्किल से ख़ुदा समझे'

यदि यह लाइन इस तरह कही जाती तो असलियत के ज़्यादा करीब पहुँच जाती।

लेखक का नाम व्रजमोहन वर्मा है। आपके सहकारी सम्पादक का भी यही नाम है। क्या यह लेख उन्हीं का है? यदि हो तो आप बड़े ख़ुशकिस्मत हैं, जिन्हें इतना सहृदय और काव्य-तत्वज्ञ सहायक मिला।"

द्विवेदी जी की सहृदयता का एक उदाहरण सुन लीजिए। एक कुष्ठाश्रम की यात्रा करके उसके विषय में मैंने एक लेख लिखा था। द्विवेदी जी ने उसे पढ़ कर मुझे १।३।३३ के पत्र में लिखा था:

"फरवरी के अङ्क में मैंने 'तीर्थयात्रा' नामक लेख पढ़ा। कोढ़ियों के दिए हुए प्रेमोपहार की बात पढ़ते ही मेरी आँखों से अश्रुधारा बह निकली। मैं बड़ी देर तक विकल रहा। धन्य उफ़मैन साहब। मेरे हृदय में कुछ समय से अजीब परिवर्तन हो गया है। मुझ से दूसरों को दुःखी नहीं देखा जाता। इस कारण कभी घरवालों की फटकार भी मुझ पर पड़ती है। फरवरी की पेंशन आने में देर है। कुछ ही टके इस समय पास हैं। उन्हें मिलर साहब को भेजता हूँ।"

द्विवेदी जी के अनेक पत्र बड़े स्नेहपूर्ण हैं। ३० सितम्बर १९३५ के पत्र में उन्होंने लिखा था:

"आप आमदनी का हिसाब रक्खा कीजिए, और दृढ़ संकल्प करके आमदनी का एक चौथाई अंश बचा कर रख दिया कीजिए। १५ रु० महीने से मैंने नौकरी शुरू की थी। ५० रु० वेतन पाने तक एक पाँचवाँ भाग बचता रहा, फिर चौथाई। मेरा घर, मंदिर, कुएँ, बाग़ात सब उसी बचत का परिणाम हैं।"

एक बार कविवर हितैषी जी ने उन्हें लिखा कि अमुक पत्रिका वोटों द्वारा 'कवि' 'महाकवि' इत्यादि का निर्णय कराना चाहती है। इस पत्र के उत्तर में द्विवेदी जी ने लिखा था: "वोट गिन कर कवियों, सुकवियों और कविश्रेष्ठों का निश्चय करना तो ख़ूब ही रहा। १०, २० उल्लू बैठ कर कोकिल के लिए वोट दें, कि उसके आलाप से सिर में दर्द पैदा हो जाता है, तो कैसी रहे? राय विशेषज्ञों और सज्ञों की मानी जाती है कि सभी की?

'तत्वं किमपि काव्यानां जानाति विरलो भुवि।
मार्मिकः को मरन्दानामन्तरेण मधुव्रतम्।'

क्यों व्यर्थ ही हैरान होते हो! सबको महाकवि बन जाने दो। जैसा ज़माना आजकल का है वैसा ही एक बार भल्लट कवि के समय में भी था। जानते हो उस समय उसने क्या कहा था, उसकी उक्ति का भावार्थ सुनिए:

'ज़बान सब के मुँह में है। गूँगा कोई है नहीं। धर्म शास्त्र या क़ानून में रोक भी कोई नहीं। इधर राजा को इन बातों से सरोकार ही नहीं, उसकी समझ में यह सारा गोरखधन्धा आता ही नहीं। इससे जितने लोग शब्दों की कातकूत करनेवाले हैं वे अपने गले से ढोल या डफला लटका द्वार द्वार पर पीटते और कहते फिरें हम कवि, हम कवि, हम महाकवि, हम कविश्रेष्ठ, हम कविश्रेष्ठ। रहे हम, सो हम तो आज से मौन धारण किए लेते हैं।'

इसी भाव के द्योतक दो चार कवित्त आप और सनेही जी बना कर प्रकाशित करें, तो मज़ा आए।

—महावीरप्रसाद द्विवेदी"

द्विवेदी जी हृदय के बड़े कोमल थे, अमर शहीद गणेशशंकर जी के स्वर्गवास पर उन्होंने मुझे १०-४-३१ के पत्र में लिखा था :

"गणेश की निधन वार्त्ता सुनी। दिल दहल उठा। नींद भूख जाती रही। हाय ऐसे सज्जन, ऐसे सच्चरित्र, ऐसे दयालु पुरुष रत्न की इतनी क्रूरतापूर्ण हत्या। गणेश मेरे लड़के, मेरे भाई के सदृश थे। मुझे इस सदमे से जो कष्ट हुआ है, उसे मेरा मन ही जानता है।"

अपने जीवन के अन्तिम वर्ष उन्होंने दौलतपुर में तथा उसके आसपास की ग्रामों की जनता की सेवा में बिताए। उनका सम्पूर्ण ध्यान उन दिनों ग्रामीणों की सेवा पर ही केन्द्रित हो गया था। एक पत्र में उन्होंने बन्धुवर श्री श्रीराम शर्मा जी को लिखा था :

"आप के लेख में जो चित्र ज़मींदारों आदि का है वह सजीव है। यही दशा इस तरफ़ भी है। खूब लिखिए। कोरियों, चमारों आदि ग़रीबों के चरित लिख कर आत्मा को उन्नत कीजिए। बड़े बड़ों के चरित लिखने वाले बहुत हैं, दीन दुखियों के जीवन का खाका खींचने वाले कोई नहीं। अंग्रेज़ों के मुल्क में तो कीट, पंतगों और पशु पक्षियों तक के जीवन चरित निकलते हैं।"

अन्त में द्विवेदी जी का अन्तिम पत्र सुना कर अपनी इस वार्त्ता को समाप्त करूँगा :

"प्रियवर चतुर्वेदी जी,

पहले तो आप मुझ पर विशेष कृपा किया करते थे, क्या कारण है जो अब आप मेरी ख़बर तक नहीं लेते, जीता हूँ या मर गया।......

महाराजा साहब ने बहुत यश, बहुत कीर्ति कमाई। उनका हिन्दी प्रेम सर्वथा प्रशंसनीय है। अनेक ग्रन्थकारों, कवियों और हिन्दी हितैषियों के विषय में वे द्वितीय कर्ण हो रहे हैं। ईश्वर करे वे दीर्घायु हों, और उनका कल्याण हो। यह लिखते समय मुझे संस्कृत का एक श्लोक याद आ रहा है। अर्क़ (मदार) झाड़ी वर्षा ऋतु से कहती है:

"त्वयि वर्षति पर्जन्य सर्वे पल्लविता द्रुमाः
अस्माकमर्कवृक्षाणां जीर्णपत्रेऽपि संशयः"

मैं अब बहुत वृद्ध हो गया। कमज़ोरी बेहद बढ़ रही है। चलने में पैर लड़खड़ाते हैं। दृष्टि मन्द हो गई है। लीडर अब अच्छी तरह नहीं पढ़ सकता, छटांक भर दलिया भी हज़म नहीं होता। दूध पी कर और लौकी का ज़रा-सा साग खा कर जी रहा हूँ। देखूँ ये भोग कब तक भोगने पड़ें।

कृपापात्र
म० प्र० द्विवेदी"

मुझे इस बात का हार्दिक दुःख है कि मैं द्विवेदी जी के इस पत्र का उत्तर न दे सका। भरपूर प्रयत्न करने पर भी उनकी कुछ सेवा मैं न कर सका। द्विवेदी जी के सैंकड़ों पत्र यत्र तत्र विखरे पड़े हैं, यदि उनका एक संग्रह ही हो जाए तो हिन्दी जगत् के लिए वह बड़ा उपयोगी सिद्ध होगा।*

१२३, नौर्थ एवेन्यू
नई दिल्ली

— बनारसीदास चतुर्वेदी

चिन्ता, उदासी, उद्विग्नता और बैठे बैठे सोचने का सबसे अच्छा इलाज है साहसपूर्वक उठ कर खड़े हो जाना और सहानुभूति के साथ किसी दूसरे के दुःख को दूर करने का प्रयत्न करना।

—आर्नोल्ड बेनेट

---

* आकाशवाणी, दिल्ली के सौजन्य से

मध्यकालीन बँगला वैष्णव काव्य

'भ्रमरगीतसार' की भूमिका में हिन्दी-साहित्य में कृष्ण-काव्य के अभ्युत्थान की पृष्ठभूमि का विवेचन करते हुए आलोचकप्रवर रामचन्द्र शुक्ल जी ने लिखा है : "जयदेव की देववाणी की स्निग्ध पीयूष-धारा, जो काल के प्रभाव से दब गई थी, अवकाश पाते ही लोक-भाषा की सरसता में परिणत होकर मिथिला की अमराइयों में विद्यापति के कोकिल-कण्ठ से प्रकट हुई और आगे चल कर व्रज के करील-कुंजों के बीच फैल मुरझाए मनों को सींचने लगी। आचार्यों की छाप लगी हुई आठ वीणाएँ श्रीकृष्ण की प्रेम-लीला का कीर्तन करने उठीं, जिनमें सबसे ऊँची, सुरीली और मधुर झनकार अन्धे कवि सूर की वीणा की थी।"

कहने का तात्पर्य यह है कि हिन्दी-साहित्य के पूर्व-मध्यकाल में श्रीकृष्ण-विषयक काव्य की अखण्ड धारा प्रवाहित हुई जिसमें सूर, नन्ददास, परमानन्ददाम आदि अष्टछाप के कवि, मीरा, रसखान एवं अंशतः श्रीराम के अनन्य भक्त गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी योग दिया। उत्तर-मध्यकाल अर्थात् रीतिकाल में भी "राधिका कन्हाई सुमिरन को बहानो है" कहकर रीतिकालीन कवियों ने राधा-कृष्ण-प्रेम के उदात्त एवं परमाध्यात्मिक स्वरूप को बिगाड़ भले ही दिया हो पर इन कवियों के श्रृंगार रस के आलंबन कार्यतः राधा-कृष्ण ही बने रहे।

हिन्दी की तरह मध्यकालीन बंगला साहित्य में भी कृष्ण भक्ति की एक ऐसी लहर आई कि सारा मध्यकालीन बँगला साहित्य "कृष्णभक्ति काव्य" या "वैष्णव-काव्य" के नाम से व्याख्यात किया जा सकता है। इस साहित्य के जन्मदाता प्रत्यक्ष एवं परोक्ष दोनों ही रूपों में चैतन्य महाप्रभु माने जा सकते हैं, जिनके "हरेर्नाम, हरेर्नाम, हरेर्नामैव केवलम्" महामन्त्र का समकालीन एवं परवर्त्ती कवियों पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि उनके साथ साथ सारा 'गौड़देश' कृष्ण-प्रेम की सरिता में अवगाहन करने के लिए लालायित हो उठा।

बँगाल की अमूल्य सम्पदा "पदावली-कीर्त्तन" या "लीला-कीर्तन" का उत्स यही वैष्णव या कृष्ण-विषयक साहित्य है। वैष्णव धर्म अत्यन्त प्राचीन है। आर्य-अनार्य संस्कृतियों के सम्मिश्रण के परिणामस्वरूप उद्भूत इस वैष्णव धर्म की छत्र-छाया में राधाकृष्ण की अर्चना का प्रसार सारे बंगदेश में हुआ।

महाप्रभु चैतन्य को वास्तविक जन्मदाता मानते हुए भी यह कहना पड़ेगा कि बंगला वैष्णव साहित्य के बीज जयदेव की रचनाओं में मिलते हैं। बारहवीं शताब्दी के द्वितीयार्द्ध में ही जयदेव ने अपने सुललित गीति-काव्य 'गीत गोविन्द' की रचना की थी। कुछ विद्वानों की सम्मति है कि जयदेव ने इस काव्य की रचना पहले बंगला में कर तदुपरान्त इसका अनुवाद संस्कृत में किया था परन्तु यह बात कुछ जँचती-सी नहीं है। जयदेव के समय साहित्यिक बंगला का जन्म ही नहीं हुआ था; उस समय उसमें काव्य रचना की भाषा बनने की सामर्थ्य नहीं आ पाई थी। इस्लाम के भारत के पूर्वी भागों में अधिक प्रवेश के साथ ही बँगला भाषा की सृष्टि हुई; विशेष रूप से बंगाली हिन्दुओं ने कम से कम साहित्यिक क्षेत्र में अपना सांस्कृतिक स्वातन्त्र्य बना रखने के लिए इस भाषा की पुष्टि करना आरंभ किया।

मध्यकालीन बंगला-साहित्य में सबसे पहले जिस उच्च कोटि के वैष्णव कवि की रचना हमें मिलती है वह है—'बड़ू चण्डीदास।' इन्होंने अपनी सरस भावोल्लासपूर्ण रचनाओं द्वारा गौड़ देश में वैष्णव-भावना की पर्याप्त पुष्टि की। आप मैथिल-कोकिल विद्यापति के समकालीन माने जाते हैं। इन दोनों ही कवियों का वर्ण्य विषय है : राधा-कृष्ण की प्रणय-लीला।

पन्द्रहवीं शताब्दी में चैतन्य महाप्रभु का आविर्भाव हुआ। वैष्णव धर्म के माधुर्य के प्रति आकृष्ट होकर उन्होंने हरिनाम और कृष्ण-भक्ति-प्रकार को ही अपने जीवन का व्रत बनाया। उन्हें राधाकृष्ण लीला पढ़ने और सुनने का विशेष अनुराग था। इसीलिए उनके अनुचर दामोदरस्वरूप उन्हें चण्डीदास और विद्यापति के पद सुनाया करते थे। महाप्रभु के आग्रह और अनुराग के परिणाम स्वरूप वैष्णव पदावली का प्रचार उत्कल प्रदेश तक हुआ था; उन्हीं के दिखाए हुए आदर्श पर "गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय" की स्थापना हुई एवं काला-

न्तर में जगन्नाथपुरी एवं वृन्दावन इस सम्प्रदाय के प्रधान केन्द्र बन गए।

गौड़ीय वैष्णवों ने भगवान् श्रीकृष्ण को प्रेमास्पद मान कर उनके साथ आराधिका शिरोमणि श्रीराधिका की प्रणय लीला व्यक्त की है। जैसे वल्लभाचार्य के "पुष्टिमार्ग" में प्रेम ही को सब कुछ माना गया है (प्रेम पुरुषार्थो महान्), उसी प्रकार गौड़ीय वैष्णव कवियों ने संसार के समस्त प्रेम सम्पर्कों के बीच भगवान् की दिव्य कला के दर्शन किए हैं। जब उन्होंने यह देखा कि माँ अपनी सन्तान के लिए हृदय का सारा स्नेह उँडेल देती है, प्रभु के लिए दास अपने प्राण दे देता है, मित्र के लिए मित्र अपने सभी स्वार्थों का त्याग कर देता है, प्रियतम एवं प्रियतमा एक दूसरे के समीप आकर एकात्मा बनने का प्रयास करते हैं, तब इन सभी स्नेह-व्यापारों में वे किसी असीम अलौकिक एवं प्रेममयी सत्ता का अनुभव करते हैं। इस प्रकार इन वैष्णवों ने पाँच रूपों में भगवान् की उपासना की है—शान्त, दास्य. सख्य, वात्सल्य, मधुर या कान्ता। कुछ वैष्णव कवियों के नाम इस प्रकार हैं: चण्डीदास, नरहरिदास, यादवेन्द्र, ज्ञानदास. चम्पतिदास, यदुनाथदास इत्यादि।

इन वैष्णव गीति-काव्यों के विषय में एक बात विशेष रूप से द्रष्टव्य है: वह है इनकी सीमित कथावस्तु। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के स्वर में स्वर मिला कर (देखिए "भ्रमरगीतसार" की भूमिका) हम इनके विषय में कह सकते हैं: "उनकी रचना जीवन की ओर नहीं गई है; बाल-क्रीड़ा, प्रेम के रंग-रहस्य और उसकी अतृप्त वासना तक ही रह गई है। इन भक्तों के श्रीकृष्ण प्रेम की मूर्त्ति मात्र हैं, बड़े बड़े भूपालों के बीच बैठ लोक-व्यवस्था करने वाले द्वारका के कृष्ण नहीं।"

कारण स्पष्ट है। ये वैष्णव कृष्ण के कोमल रूप मात्र की झलक दिखाना चाहते थे। इनके सुललित पद केवल वात्सल्य और श्रृङ्गार इन दो कोमल रसों के ही उपयुक्त हैं; अन्य कठोर रसों के वर्णन द्वारा इनकी श्रुति मधुरता वे नष्ट नहीं करना चाहते थे। 'वैष्णव पदावली' की सीमित कथावस्तु का विभाजन हम इस प्रकार कर सकते हैं:

चैतन्य महाप्रभु की प्रशस्ति, श्रीकृष्ण की बाल-लीला, श्री राधा का रूप-वर्णन, श्रीकृष्ण का पूर्वराग, श्री राधा का पूर्वराग, रासोल्लास, अभिसार, मिलन, निवेदन, ऋतु-उत्सव, रसावेश, मुरली-शिक्षा, खण्डिता, मान, विरह, भाव-मिलन एवं प्रार्थना।

वैष्णवों में परम्परानुसार श्रीचैतन्य को विष्णु का अवतार माना जाता है। चण्डीदास, नरहरिदास, वासुदेव घोष, लोचनदान आदि कई कवियों ने महाप्रभु की बाल-लीला, वैराग्य, हरि-प्रेम आदि का वर्णन किया है। यहाँ तीन संक्षिप्त उद्धरण दिए जाते हैं:

(१) "आजु के गो मुरली बाजाय।
ए तो कभु नहे श्यामराय॥
ईहार गौर वरण करे आल।
चूड़ाटी बाँधिया के वा दिल॥"

—चण्डीदास

आज कौन मुरली बजा रहा है? यह तो श्रीकृष्ण नहीं हो सकते, क्योंकि कृष्ण तो साँवले हैं. इसका वर्ण अत्यन्त श्वेत है। इसके सुन्दर बाल किसने बना दिए हैं?

(२) "पराण-निमाई मोर खेपा बड़ बटे गो
एकदिन देखिनु नयने।
धूलाय धूसर तनु किवा अपरूप गो
हामागुड़ि फिरये अंगने॥"

—नरहरिदास

मेरा प्राणों से भी अधिक प्यारा "निमाई" अर्थात् चैतन्य बड़ा ही पागल या चंचल है। एक दिन मैं अपनी आँखों से देख आया। उसका धूल में सना हुआ शरीर क्या ही सुन्दर लगता था, वह घुटनों के बल आँगन में दौड़ता फिरता था।

"विष्णु प्रिया वधू साथे, कान्दिया कान्दिया पथे
डाके राची निमाई बलिया
ता सुनि नदीयार लोके, कान्दे उच्चै स्वरे शोके
जारे तारे पूछेन वारता॥"

—वासुदेव घो

चैतन्य महाप्रभु जब सन्यास लेकर चले गए त पुत्रवधू विष्णुप्रिया के साथ माता शचीदेवी मार्ग पागल-सी रोती हुई उन्हें ढूँढ़ती फिरती है—बार बा 'निमाई' 'निमाई' कहकर पुकारती है। महाप्रभु चले ग सुनकर नवद्वीप के सभी लोग जोर जोर से रोने लगे।

गौड़ीय वैष्णव कवियों ने सूरदास जी की तरह कृष्ण की बाल्यावस्था का उतने अधिक विस्तार के साथ वर्णन नहीं किया है। उनकी वृत्ति श्रृंगार में—विशेषतः संयोग श्रृंगार में अधिक रमी है। फिर भी यत्र-तत्र ढूँढने पर श्रीकृष्ण की बाल-लीला की झाँकी मिल जाती है। वात्सल्य रस के आलंबन हैं श्रीकृष्ण, आश्रय हैं उनकी दो माताएँ और उद्दीपन है बालक का सुन्दर रूप।

परम्परा से बालकृष्ण का जो स्वरूप चला आ रहा है, उसीको इन कवियों ने अपनाया है। पर एक बात द्रष्टव्य है। हिन्दी के सूर आदि कवियों ने गोपियों का, बालकृष्ण की माखन चोरी के विरुद्ध यशोदा के समीप उलाहने लेकर आने का जो वर्णन किया है, उसका बहुत ही कम उल्लेख इन कवियों में मिलता है। जो भी हो, वात्सल्य का जो चित्र मिलता है, वह बड़ा ही रोचक है। सङ्केत रूप में हम यहाँ कुछ उदाहरण प्रस्तुत करते हैं :

"दधि-मन्थ-ध्वनि, सुनइते नीलमणि
आओल संगे नलराय
जशोमति हेरि मुख, पाओल परम सुख
कहे सुन नीलमणि, तोरे दिब खीर ननी
खाइया नाच मोर आगे
नवनी-लोभित हरि, मायेर बदन हेरि
कर पाति नवनीत माँगे।"

—घनरामदास

दधि मथने का शब्द सुन कर नीलमणि अर्थात् श्रीकृष्ण बलराम के साथ आ गए। बालक का सुन्दर मुख देख कर माता यशोदा को बड़ा सुख मिलता है—कहती है सुन बेटा, तुझे खीर और मक्खन दूँगी; खाकर मेरे सामने जरा नाच। नवनीत के प्रेमी भगवान् माँ के मुख की ओर देख कर नवनीत के लिए हाथ पसारते हैं।

(२) "मरि बाछा, छाड़ रे वसन
कलसी उलाइया तोमारे लइन एखन ॥
राङ्गा लाठी दिन हाथे खेलाइओ श्रीदाम साथे
घरे गेले दिन खीर ननि।
मायेरं करुण भाष, सुनिया छाड़िल बास
आगे आगे चले व्रजराय।
किंकिणी काकली ध्वनि अति सुमधुर सुनि
रानी बले—सोनार नाटा जाय ॥"

—नरसिंहदास

बालक कृष्ण ने माँ का आँचल पकड़ लिया है। माँ कहती है बेटा बलिहारी जाऊँ, मेरा आँचल छोड़ दे; जल से भरा हुआ घड़ा उतार कर अभी तुझे गोद में उठाए लेती हूँ। तुझे सुन्दर रंग बिरंगी लकुटी दूँगी—श्रीदामा के साथ खेलना। घर पहुँच कर तुझे खीर और मक्खन दूँगी। माँ की बात सुन कर बालक ने उसे छोड़ दिया और आगे आगे चलने लगा। बालक की करधनी की क्षुद्रघण्टिकाएँ लय के साथ बजने लगीं। माँ गद्गद होकर कहती है, मेरे लाड़ले की कितनी सुन्दर चाल है!

(३) "आमार शपति लागे, ना धाइओ धेनुर आगे,
पराणेर पराण नीलमणि
निकटे राखिह धेनु, पूरिह मोहन वेणु,
घरे नसि आमि नेन सुनि।"

बालक श्रीकृष्ण पहली बार गाय चराने जा रहे हैं। माता यशोदा कहती है, मेरे प्राणों से भी अधिक प्रिय नीलमणि ! गौओं के आगे आगे मत चलना—मेरी शपथ है ! गौओं को आँखों से ओझल न होने देना और अपनी मोहन मुरली बजाना, जिसमें घर बैठी बैठी ही सुन सकूँ। मिलाइए :

"दूरि कहिं जनि जाहुँ ललारे,
मारेगी काहू की गैया। सूर।"

वैष्णव कवियों के वात्सल्य-वर्णन पर संक्षेप में विचार कर लेने के पश्चात् हम इनके श्रृंगार-वर्णन के विविध पक्षों पर दृष्टि डालेंगे। इन कवियों के श्रृङ्गार-वर्णन के विषय में एक बात स्पष्ट है। विद्यापति ने यद्यपि मैथिली-भाषा में कृष्ण-लीला गाई, परन्तु उनका प्रभाव इन कवियों पर थोड़ा-बहुत पड़ा है। एक चण्डीदास ऐसे कवि हैं, जिनकी उद्भावनाएँ मौलिक एवं प्रतिभा विद्यापति के समकक्ष मानी जा सकती है, अन्यथा अन्य सभी कवियों ने न केवल अपनी भाषा को ही विद्यापति के अनुरूप बनाने का प्रयास किया, वरन् उनकी सूक्तियों को भी अपने ढंग से रखने का प्रयास किया। परन्तु यहाँ एक बात और कहनी है-विद्यापति जैसा नग्न श्रृङ्गार-वर्णन इन लोगों ने नहीं किया है, इनका श्रृङ्गार बहुत कुछ मर्यादित है। कहने का तात्पर्य यह है कि महाप्रभु के प्रभाव के कारण श्रृङ्गार को ये लौकिक रूप में नहीं, अपितु आध्यात्मिक रूप में रखना चाहते थे—विद्यापति के समान "इनके भक्त

हृदय का रूप वासनामयी कल्पना के आवरण में छिप नहीं सकता है ।"

इनका शृङ्गार रस श्रीराधा के रूप-वर्णन से प्रारम्भ होता है :

"कि कहब माधव बुझई न पारि ।
किए धनी बाला किए वर नारी ॥
रस-परसङ्ग सुनई सुख पान ।
रसवति-संग छोड़ि न जान ॥"
—अज्ञात

सखी-वचन कृष्ण-प्रति: हे माधव ! क्या कहूँ, कुछ समझ में नहीं आता कि वह धनी, वह वरनारी अर्थात् राधा क्या है ! श्रीराधा का प्रसंग सुन कर ही मैं सुखानुभव करूँगी, उस रसवती का साथ छोड़ कर मैं कहीं न जाऊँगी ।

यौवनोदय के साथ राधा-कृष्ण एक दूसरे के प्रति आकृष्ट होते हैं । वैष्णव कवियों ने दोनों के पूर्वराग का उल्लेख किया है ।

श्रीकृष्ण का पूर्वराग

(i) "मरि कोन विधि, आनि सुधानिधि
थुईल राधिका नामे,
सुनिते से वाणी अवश तखनि,
मुरछि पड़िल हामे ।"
— चण्डीदास

श्रीकृष्ण-वचन ; अहा ! ऐसा प्रतीत होता है कि विधाता ने अमृत का खज़ाना एकत्रित करके चन्द्रमुखी राधा का निर्माण किया है । उसकी वह मधुर वाणी सुनते ही मैं शिथिल हो गया मूर्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा ।

(ii) "थिर विजुरी वदन गोरि
पेखलूँ घाटेर कूले ।
कानड़ छाँदि कवरि बाँधे
नरमल्लिकार फूले ॥"
—चण्डीदास

माधव-वचन : स्थिर बिजली के समान गौर वर्णवाली राधिका को आज मैंने पनघट पर देखा । उसकी वेणी कन्नड़ स्त्रियों की वेणी जैसी गुँथी हुई थी और उसके जूड़े में नवमल्लिका का सुन्दर फूल सुशोभित था ।

श्रीराधा का पूर्व राग :

(i) "सई केबा सुनाइल श्याम-नाम
कानेर भीत दिया मरमें पशित गो
आकुल करिल मोर प्राण ।"
—चण्डीदास

सखी, किसने मधुर श्याम-नाम सुनाया ! ज्यों ही ये दो अक्षर (श्याम) मेरे कानों में पड़े हैं, त्यों ही (वे) प्राणों में प्रवेश करके मुझे व्याकुल कर रहे हैं ।

(ii) "कि हेरिलूँ कदम्ब-तलाते
बिनि परिचये मोर, पराण के मन करे
जिते कि पारये पासरिते ।" अनन्तदास

अहा ! आज कदम्ब के नीचे क्या ही अलौकिक दृश्य देखा ! बिना परिचय के ही मेरे हृदय में खलबली मच गई । क्या मैं जीते जी वह दृश्य भूल सकती हूँ?

इस प्रकार हम देखते हैं कि राधाकृष्ण का अनुराग उभयानुराग या समानानुराग है ।

पूर्वानुराग के पश्चात् अभिसार की बेला आती है । भयङ्कर वर्षा हो रही है श्रीराधा प्रियतम श्रीकृष्ण से मिलने के लिए न जा सकी । उसे यही पश्चात्ताप होता है :

"ए घोर रजनी मेघेर घटा
केमने आइल बाटे
आँगिनार कोने बन्धुया तितिछे
देखिया पराण फाटे ।"
—चतुरदास

यह घनान्धकारमयी रात्रि है, आकाश में घटाएँ छाई हुई हैं : न मालूम कितने सङ्कट झेल कर प्रियतम संकेत स्थल तक आया होगा । आँगन के एक कोने में खड़ा हुआ प्रियतम भीग रहा होगा, यह सोच कर मेरा हृदय दुःख से फटा जा रहा है ।

कभी श्रीराधा 'शुक्लाभिसारिका' बन कर श्रीकृष्ण से मिलने कुंज की ओर चल देती है :

"चान्दनि रजनि उजोरलि गोरी
हरि अभिसार रभस रसे भोरि ॥"
—गोविन्ददास

चाँदनी रात में गोरी राधिका, हरि के साथ मिलने

के आनन्द की कल्पना में विभोर होकर, अभिसारिका बन कर कुंज की ओर चल पड़ी।

और कभी "कृष्णाभिसारिका" बन कर कुंज की ओर चल देती है :

"मन्दिर-माँझ सेज न हिं वेजत
देहलि मानये दूर,
अब कुहु जामिनी, चलये एकाकिनी
गोविन्ददास कह झुर ॥"

—गोविन्ददास

जो अपने घर सेज छोड़ कर एक डग भी नहीं चलती, जिसके लिए घर की देहली तक जाना भी अत्यन्त कष्टयुत था, वही आज, अमावस्या की अन्धकारमयी रात्रि में अकेली अभिसार के लिए चली जा रही है; सचमुच प्रेम की रीति अत्यन्त ही विचित्र है, गोविन्ददास स्पष्ट कहता है।

प्रियतम श्रीकृष्ण से मिल कर राधिका आनन्द से गद्गद् हो जाती है, पर उसे शङ्का भी है—क्या मिलन का यह सुख स्थायी होगा ?

"पूर्ब्वे आछिल भागि तेंइ पाइयाछि लागि
प्राण कान्दे विच्छेदेर डरे

× × ×

दिया चाँद मुखे मुख, पूरिब सकल सुख,
जे नले से बलुक पाप लोके
नारी ना करित विधि, तोमा हेन गुणनिधि
लइया फिरितूँ देश।"

—नरोत्तमदास

मेरे पूर्व जन्मों के पुण्य का फल है कि तुम मुझे इस जन्म में प्राप्त हुए लेकिन हृदय विच्छेद की शङ्का से रोता है। तुम्हारे चन्द्र-मुख से मुख मिला कर मन की साध पूरी करूँगी, चाहे दुष्ट लोग कुछ भी कहें! नरोत्तमदास कहते हैं कि राधा कहती है कि यदि विधाता मुझे अबला नारी न बनाता तो मैं तुम जैसे गुणसागर को लेकर देश-देशान्तर में घूमती—संसार को यह बताने के लिए कि मेरे पास कैसा अनमोल रत्न है।

इसी प्रेम-प्रसंग में वैष्णव कवियों ने होली और रास-लीला का बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया है। जिस प्रकार 'पुष्टिमार्ग' में दोनों का महत्त्वपूर्ण स्थान है, उसी प्रकार इस वैष्णव काव्य में भी। यहाँ होली पर दो कवियों की कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं :

(१) "मधुबने माधवि दोलत रंगे
ब्रज वनिता फागु देई श्याम-अंगे"

—ज्ञानदास

मधुवन में माधव आनन्द में झूम रहे हैं; गोपियाँ श्याम के अंगों पर फाग बरसा रही हैं।

(२) आनिरे अरुण सब वृन्दावन
उड़िया गगन छाय।

—उद्धवदास

सारा वृन्दावन अबीर से लाल हो उठा है—आकाश अबीर की 'धूल' से आच्छन्न हो रहा है।

वैष्णव कवियों ने मुरली पर बड़ी ही मार्मिक और मौलिक उद्भावनाएँ की हैं। राधा श्रीकृष्ण से न केवल मुरली बजाना सीखना चाहती है, साथ ही स्वयं मुरली-धर बन कर यह भी जानना चाहती है कि मुरली में ऐसा कौन-सा टोना है कि मुरलीवाले ने ब्रज-ललनाओं को अपने प्रेम-पाश में बाँध रक्खा है :

(१) "मुरली कराओ उपदेश।
जे रंध्रे जे ध्वनि उठे जानाओ विशेष ॥
कोन् रन्ध्रे बाजे बाँशी अति अनुपाय।
कोन् रन्ध्रे 'राधा' बलि डाके आमार नाम ॥
कोन् रन्ध्रे बाजे बाँशी सुललित ध्वनि।
कोन् रन्ध्र केका शब्दे डाके मयूरिणि ॥

—ज्ञानदास

प्यारे मुरली का उपदेश दो, अर्थात् मुरली बजाना सिखाओ। जिस रन्ध्र से जो ध्वनि निकलती हो, उसे स्पष्ट रूप से बताओ। किस रन्ध्र में फूँक मारने से मेरा नाम—राधा—लेकर मुरली पुकारती है, किस रन्ध्र से निकली हुई आवाज़ सुन कर मोरनी हर्षित होकर केका ध्वनि करती है—ये सभी बातें मुझे बताओ।

(२) "बहुदिनेर साध आछे हरि।
बाजाइते मोहन मुरली ॥
तुमि लह मोर नील शाड़ी।
तब पीत धड़ा देह परि ॥

× × ×

तुमि लह मोर आभरण ।
मोरे देह तोमारि भूषण ॥"

—वृन्दावनदास

हे हरि, बहुत दिनों की साध है कि तुम्हारी मुरली बजाऊँ; लेकिन इससे पहले मैं कृष्ण बनना चाहती हूँ। तुम मेरी नीली साड़ी पहन लो और अपना पीताम्बर मुझे दे दो--मै पहनूँ। तुम मेरे आभूषण पहन लो और मैं तुम्हारे।

संयोग श्रृङ्गार के अन्तर्गत चण्डीदास आदि कवियों ने श्री राधा के मान का भी थोड़ा बहुत वर्णन किया है। श्रीकृष्ण अन्यत्र विहार करके आए हैं; प्रातःकाल उनकी राधा से भेंट होती है। राधा उनकी उनींदी एवं अलसाई हुई आँखें तथा शरीर पर रति के विविध चिन्हों से जान लेती है कि प्रियतम किसी अन्य स्त्री से प्रेम करने लगे हैं। इसलिए 'मान' करके प्रियतम को उलाहने देती हुई कहती है :

"छूँओना, छूँओना वँधू ऐखाने थाको ।
मुकुर लइया चाँद मुखखानि देखो ॥
नयनेर काजल बयाने लेगेछे–
कालर उपर काल ।
प्रभाते उठिया ओ मुख देखिलाम
दिन जाबे आज भाल
अधरेर ताम्बुल बयाने लेगेछे
घूमे ढुलु-ढुलु आँखि
कुटिल नयने कहिछे सुन्दरी
अधिक करिया तोड़ा
कहे चण्डीदास आपन स्वभाव
छाड़िते न पारे चोरा ॥"

—चण्डीदास

प्रियतम, मुझे मत छूओ दूर ही रहो। जरा दर्पण लेकर अपना चन्द्रमुख तो देखो। नेत्रों में लगाने का काला काजल तुम्हारे 'काले' मुख पर कैसी सुन्दर झलक दिखा रहा है! रात को न सोने के कारण आँखें अलसाई हुई एवं उनींदी हैं। प्रातःकाल सबसे पहले यही मुख देखा, आज दिन अच्छा बीतेगा! अधर को रंगनेवाला ताम्बूल मुख पर लगा हुआ है।

मान के कारण आँखें तरेर कर सुन्दरी राधा क्रोधपूर्वक ये शब्द कृष्ण से कह रही है। चण्डीदास कहते हैं कि भला 'चोर' कहीं अपना स्वभाव छोड़ सकता है?

इस छन्द में कवि ने किस निपुणता से "गूढ़ोक्ति" एवं "व्याजनिन्दा" अलङ्कारों का प्रयोग किया है, यह विशेष रूप से द्रष्टव्य है।

मुरली पर भी गोपियों की दृष्टि जाती है। परन्तु इन कवियों की मुरली-विषयक भावना सूर आदि कवियों से भिन्न है। सूर की गोपियों को तो मुरली स्पर्द्धा करनेवाली सौत के रूप में दिखाई देती है :

"मुरली तऊ गुपालहि भावति ।
सुन री सखी, जदपि नँदनँदहि नाना भाँति नचावति ॥"

पर वैष्णव कवियों की गोपियाँ मुरली पर इसलिए खीझती हैं कि उसीने स्वर का जादू फैला कर उन्हें लोक-मर्यादा, कुल-मर्यादा, शील-मर्यादा आदि से अलग कर दिया।

"सजनी लो सई
खनिक बैसह श्यामेर बाँशीर कथा कई
श्यामेर बाँशीटी दुपुरे डाकाति
सरबस हरि लैल

× × ×

कुल-करम, धीरज धरम
सरम भरम फाँसि
चण्डीदास कहे एई से कारणे
कानु–सरबस बाँशी ॥"

—चण्डीदास

सखी, जरा बैठ, तुझसे श्याम की मुरली की बात कहूँ। श्याम की बाँसुरी ने दिन दहाड़े डाका डाल कर मेरा सर्वस्व छीन लिया। कुल-कर्म अर्थात् मर्यादा, धैर्य, धर्म, लज्जा इन सबके लिए यह मुरली फाँसी के समान है। चण्डीदास कहते हैं कि इसीलिए तो मुरली श्रीकृष्ण का सर्वस्व है!

इन कवियों ने विप्रलम्भ शृंगार की भी बड़ी व्यापक एवं मार्मिक अभिव्यंजना की है। सच तो यह है कि "Our sweetest songs are those that tell of the saddest thought" अंगरेज़ कवि शेली के इस कथनानुसार वियोग-वर्णन में जो तल्लीनता है वह संयोग-वर्णन में नहीं। आजकल जो वैष्णव पदावली (कीर्त्तन) गाई जाती है उसमें विरह के प्रसंग ही अधिक होते हैं, संयोग के बहुत कम।

इस वियोग-वर्णन में एक बात द्रष्टव्य है। हिन्दी में जिस भ्रमरगीत परम्परा का विकास हुआ वह परम्परा बंगाल के वैष्णव साहित्य में, कम-से-कम मेरे देखने में नहीं आई। मेरे कहने का अभिप्राय यह है कि हिन्दी के सूर, नन्ददास आदि कवियों ने उद्धव द्वारा निर्गुण का उपदेश दिलवा कर तथा उनके उत्तर में गोपियों द्वारा उद्धव को जली-कटी सुनवा कर, सगुण का मण्डन करते हुए जिस प्रेम-तत्त्व की व्यंजना की, उस आदर्श पर गौड़ीय वैष्णव नहीं चले। इन कवियों का वियोग-वर्णन करुणा की एक अखण्ड धारा है जिसे उद्धव आदि ने निर्गुण की बाँध लगा कर कहीं भी मोड़ने या रोकने का प्रयास नहीं किया है।

श्रीकृष्ण मथुरा जा रहे हैं। ललिता सखी आ कर राधा को यह समाचार सुनाती है—पर राधा को विश्वास ही नहीं होता कि उसका प्रेम-पाश तोड़ कर कृष्ण कहीं अन्य भी जा सकते हैं :

"ललितार कथा शुनि हाँसि हाँसि विनोदिनी
कहिते लागिल धनी राई।
आमारे छाड़िया श्याम मधुपुरे जाइबेन
ए कथा तो कभु शुनि नाई॥
तोमरा जे बल श्याम मधुपुरे जाइबेन
कोन् पथे बँधू पलाइबे।
ए बूक चिरिया जने बाहिर करिया दिब
तने तो श्याम मधुपुरे जाबे।"

—चण्डीदास

ललिता की बात सुन कर हँस कर धनी राधिका ने कहा मुझे छोड़ कर श्याम मधुपुरी जाएँगे, मैंने तो नहीं सुना! तुम लोग तो कहती हो कि कृष्ण मथुरा जाएँगे, लेकिन प्रियतम भागेंगे कैसे? वे तो मेरे हृदय में बन्द हैं। यदि मैं अपना हृदय चीर कर उन्हें बाहर निकाल दूँ. तभी तो कृष्ण मथुरा जा सकेंगे!

परन्तु श्रीकृष्ण सचमुच मथुरा चले जाते हैं। वियोग के कारण श्रीराधा की दशा अत्यन्त दयनीय हो जाती है। उसे कभी प्रेम करने के लिए अनुताप होता है, कभी अपने दुर्भाग्य पर. खीझ, कभी मर जाने की अभिलाषा।

(१) "ना जानिया ना शुनिया पीरिति करिलाम गो,
परिणामे परमाद देखि।
आषाढ़ श्रावण मासे घन देया वरिसये
एमनि झरये दुटि आँखि।"

—वासुदेव घोष

सोच-समझ कर मैंने प्रेम किया, परिणाम में दुःख उठाना पड़ रहा है। आषाढ़ और श्रावण के महीनों में जैसे घटाएँ बरसती हैं, उसी प्रकार मेरी दोनों आँखें बरस रही हैं।*

(२) "सुखरे लागिया ए घर बाँधिलूँ
अनले पुड़िया गेल
पियास लागिया जलद सेविनु
नजर पड़िया गेल
ज्ञानदास कहे—कानुर पीरिति
मरण-अधिक मेल॥"

—ज्ञानदास

सुख की आशा में मैंने प्रेम का घर बनाया था, विरह की आग में जल कर राख हो गया। (प्रेम की) प्यास दूर करने के लिए जलद (श्रीकृष्ण) की सेवा की थी, पर सूखा (विरह) पड़ गया। ज्ञानदास कहते हैं कि कन्हैया का प्रेम परिणाम में मृत्यु से भी अधिक दुःखदायक है।

(३) "तोमरा अनेक सखी थेको मझु संगे
मरण-काले कृष्ण-नाम लिखे दियो अंगे॥
ललिता प्राणेर रखी, मन्त्र दियो काने
मरा देह पड़े जबु कृष्ण नाम सुने॥
ना मोड़ाइयों राधा-अङ्ग, भासाइओ जले
मरिले तुलिया दियो तमालेर डाले॥
कबहुँ से पिया यदि आसे वृन्दावन।
पराण पायन हम पिया-दरशने॥"

विद्यापति (श्रीखण्डवाले)

तुम सभी सखियाँ मेरे साथ रहना– मृत्यु के समय शरीर पर कृष्ण-नाम लिख देना। प्राणधारी सखी ललिते, तुम मेरे कानों में अन्तिम मंत्र देना–कहीं कृष्ण-नाम सुने बिना ही प्राण न छूट जाएँ। राधा का शरीर

---

* मिलाइए : "बरसे मघा झकोरी झकोरी।
मोर दुई नैन चुवैं जस ओरी॥"—जायसी

"प्रीति करि काहू न सुख लह्यो"

—सूर

जलाना मत और न ही पानी में डालना। मृत्यु के पश्चात् उसका शरीर तमाल की डाल पर रख देना। यदि कभी वह निष्ठुर प्रियतम वृन्दावन आवें तो मैं उनके दर्शन से फिर जी उठूँगी।

दो एक स्थलों पर 'मान सम्मिलन' की व्यंजना अत्यन्त मार्मिक है—इसे हम वियोग की उन्माद-दशा मान सकते हैं:

"बहुदिन पर बँधुआ एले।
देखा ना हईत पराण गेले॥
एतेक सहिल अबला बले।
फाटिया जाइत पाषाण दले॥
× × ×
कखन कोकिल आसिया कसक गान।
भ्रमरा धरुक ताहार तान॥
मलय पवन बहुल मन्द।
गगने उदय हउक चन्द॥"

—चण्डीदास

प्रियतम, बहुत दिनों बाद लौट कर आए; प्राण चले जाने से फिर दर्शन न होते। एक अबला होने के कारण ही मैंने वियोग में इतना दुःख सहा—पत्थर का हृदय भी इस दुःख से फट जाता। अब मैं संयोगिनी हूँ अब कोयल पंचम स्वर में राग अलापे, भ्रमर गूँजें, शीतल, मन्द, सुगन्धित मलयानिल चले; आकाश में पूर्ण चन्द्र प्रकाश करे।

परम्परानुसार वियोगिनी प्रियतम को उनकी निष्ठुरता के लिए कहीं कहीं कोसती अवश्य है, पर करुणा के कारण हृदय का प्रसार भी होने लगता है। प्रियतम निष्ठुर भले ही हों पर हैं तो वे जीवन-सर्वस्व! राधा यही प्रार्थना करती है कि श्रीकृष्ण जन्म-जन्मान्तर तक उसे प्राप्त होते रहें! महाकवि चण्डीदास की इन प्रसिद्ध पंक्तियों में वियोगिनी 'कीर्त्ति-कुमारी' के हृदय की यह भावना बहुत ही मार्मिक रूप से व्यक्त हुई है:

"बँधू, कि आर कहिब आमि
जीवने मरणे जनमे जनमे
प्राणनाथ हइओ तुमि।"

प्रियतम! क्या कहूँ! बस, यही प्रार्थना है कि जीवन में, मृत्यु में, जन्म जन्मान्तर में तुम्हीं मेरे प्राणनाथ बने रहना। *

निष्कर्ष-रूप में हम कह सकते हैं कि मध्यकालीन वैष्णव-पदावली बँगला-साहित्य की एक अमूल्य निधि है। इन गीति-काव्यों के रचयिता अत्यन्त ही भावुक कवि थे, इसमें सन्देह नहीं। इन पदों में भावपक्ष उत्कर्ष की चरम सीमा को पहुँचा है, कला-पक्ष भले ही उतना पुष्ट न हो।

"स्वान्तःसुखाय" इन अमर गीति-काव्यों की रचना करनेवाले सन्तों की ओर संकेत करते हुए कवीन्द्र रवीन्द्र ने कहा है—"शुधु वैकुण्ठेर तरे वैष्णवेर गान नहे"—केवल वैकुण्ठ प्राप्ति ही इन वैष्णवों के गीतों का उद्देश्य नहीं है।

इसी परम्परा पर माइकेल मधुसूदन दत्त ने "व्रजाङ्गना" काव्य की रचना की। कवीन्द्र रवीन्द्र ने भी इस प्राचीन शैली में कुछ गीत लिखे, जो "भानुसिंह की पदावली" के नाम से प्रसिद्ध है। इसकी कुछ पंक्तियाँ यहाँ उद्धृत की जाती हैं:

"सावन गगने घोर घन घटा,
निशीथ यामिनी रे
कुंजे पथे सखी कैसे जाइब
अवला कामिनी रे।
कह रे सजनी ये दुर्योगे,
कुंजे निर्दय काना
दारुण बाँशी काहे बजावत
सकरुणा राधा-नाम॥"

श्रावण के आकाश में घनघोर घटाएँ छाई हुई हैं—रात्रि अन्धकारमयी है। हे सखी, इस काली अन्धेरी वर्षा की रात में मैं असहाय अबला, प्रबल इच्छा रहते हुए भी, किस प्रकार कुञ्ज की ओर अभिसार के लिए जाऊँ? हे सजनी, बताओ मेरी विवशता भली-भाँति जानते हुए भी, मुझे सताने के लिए निर्दय "कान्ह मुरली पर सकरुणा "राधा" नाम क्यों बजा रहे हैं?

—जयन्त प्रसाद बागची

बलवन्त राजपूत कालेज,
आगरा

---

* मिलाइए: मेरे जनम मरण के साथी
जुगन जुगन की दासी मीरा—मीरा

प्रथम पंचम वर्षीय नियोजन

१५ अगस्त १९४७ एवं २६ जनवरी १९५० के समान ८ दिसम्बर १९५२ भी भारत के इतिहास में एक ऐतिहासिक दिवस माना जाएगा । पहली बार सम्पूर्ण भारत का समग्र आर्थिक चित्र हमारे सामने आया । राजनीतिक दृष्टि से भारत एक है । प्रकृति ने इसको आर्थिक तथा भौगोलिक दृष्टि से भी एक बनाया है किन्तु मानव ने उसको विभक्त कर दिया । शेष भारत भी विघटनात्मक एवं विकेन्द्रीकरण की शक्तियों के दबाव के कारण विभक्त न हो जाए, इसके लिए इस देश में राजनीतिक जनतन्त्र के साथ साथ आर्थिक तथा समाजिक जनतन्त्र की स्थापना की आवश्यकता है और यह नियोजन का युग उस आवश्यकता की पूर्ति की ओर पहला क़दम है ।

नियोजन का युग है किन्तु अब तक नियोजन का परीक्षण सर्वंकष अधिनायकतन्त्र के राष्ट्रों में ही किया गया है। जनतन्त्रीय राष्ट्रों में इस विशाल परिभाषा में अभी तक नहीं किया गया है । अधिनायकतन्त्री राष्ट्रों में केन्द्रीय आदेश द्वारा श्रम का मनमाना जहाँ चाहिए वहाँ उपयांग किया जा सकता है किन्तु जनतन्त्र राष्ट्रों और विशेषतः संघीय शासन के देशों में यह सम्भव नहीं। यहाँ नियोजन की सफलता एकमात्र स्वयंस्फूर्त स्वेच्छापूर्ण जन-सहयोग पर निर्भर है । जन-सहयोग का मिलना दो बातों पर निर्भर है। एक है सुशासन, सुप्रबन्ध और शासकों की पवित्रता तथा कार्य के प्रति निष्ठा। दूसरी वस्तु है, नियोजन भविष्य के लिए क्या आशा प्रदान करता है। नियोजन वस्तुतः भविष्य के लिए ही किया जाता है । इसलिए यदि जनता को यह विश्वास न हो कि इससे उसकी अवस्था आज की अपेक्षा अधिक सुन्दर एवं उन्नत होगी, तो वह नियोजन की सफलता के लिए आवश्यक त्याग तथा बलिदान करने को सहर्ष प्रस्तुत न होगी। भविष्य की उज्ज्वल आशा ही वर्तमान में कष्ट सहने की प्रेरणा देती है । इसके अभाव में वर्तमान जीवन भी भार हो जाता है । जनसाधारण से निष्काम त्याग की आशा नहीं की जा सकती । अतः नियोजन के अन्दर प्रेरणादायी तत्व होना चाहिए, जो जनता को उसको सफल बनाने के लिए कटिबद्ध होने की प्रेरणा दे। प्रश्न यह है, क्या इस नियोजन में ऐसा कोई स्फूर्तिदायी तत्व है ?

पिछले एक हजार साल से परतन्त्र रहा देश पाँच सालों की स्वाधीनता के बाद ही छलांग मारनेवाला नहीं हो सकता । जिसकी नसों और नाड़ियों से रक्त बराबर निकाला ही गया हो, उनको पुनः भरा न गया हो, वह सहसा उठ कर दौड़ने की आशा नहीं कर सकता । यही बात भारत की है । इसकी नसें सूखी हुई हैं । रक्त उनमें नहीं के बराबर है । उनमें सर्वप्रथम रक्त-संचार करना है । यह नियोजन यही काम करता है । इस देश के सामने जीवन-मान के स्तर को ऊँचा करने का प्रश्न नहीं, बल्कि पहला मुख्य प्रश्न है कि करोड़ों लोगों को जीवनयापन की प्राथमिक सुविधा प्रदान की जाए । यह देश को कृषितन्त्र से सहसा औद्योगिक तन्त्र में बदल कर नहीं किया जा सकता । ब्रिटिश शासन ने इस देश को कच्चे माल की पूर्ति करनेवाला बना के रखा । आज उसको सहसा नहीं बदला जा सकता । इच्छा करते हुए भी हम संयुक्त राष्ट्र अमरीका और ब्रिटेन के समान देश की जन संख्या के एक बड़े भाग को खेती से हटा कर उद्योगों में नहीं लगा सकते । हमारे साधन सीमित हैं, यह न भूलना चाहिए । फिर प्रतिवर्ष १¼ प्रतिशत अर्थात् ४५००००० की रेट से जनसंख्या बढ़ रही है । इन मर्यादाओं को ध्यान में रख कर हमें विचार करना चाहिए, क्या नियोजन में ऐसा कोई तत्व है, जो भारत के कोटि-कोटि जनों के हृदय में नूतन आशा और नए जीवन का संचार कर सके ?

भारत आज राष्ट्र-निर्माण के कार्य में प्रवृत्त है । यह कार्य महान् है । आचार्य चाणक्य ने इस महान् कार्य को उठाया था परन्तु वह आज तक अधूरा ही पड़ा है । अमरनाथ से श्री रामेश्वरम् और कन्दाला से डिबूगढ़ या स्नदिया तक विस्तृत विशाल देश के अन्दर विचारों, आदर्शों और महत्वाकांक्षाओं के बीच भारतीयता का सूत्र विद्यमान नहीं । प्रान्तीयता, जातीयता, साम्प्रदायिकता, भाषा-प्रेम सदृश संकीर्ण विचार भारतीय दृष्टि को उत्पन्न और विकसित होने देने में बाधक हैं । एक भाषा-भाषी

जिले का दूसरे भाषा-भाषी प्रान्त में रहना असम्भव मानना और पृथक्ता और विच्छेद के लिए सत्याग्रह तक करना, एवं प्रादेशिक तथा क्षेत्रीय संस्कृतियों के विकास और उनके संवर्धन पर जोर देना सूचित करता है कि हम अभी तक भारतीयता के विकास के अनुरूप विस्तृत भारतीय दृष्टिकोण नहीं बना सके हैं और गुजराती अस्मिता, महाराष्ट्रीय अस्मिता तथा वंग-गौरव के पीछे राष्ट्र देवता की पूजा करना भूल गए हैं। यह नियोजन, यह आर्थिक विकास एवं प्रगति का यह कार्यक्रम, सर्वसाधारण जनता को भारत की शब्दावली में सोचने और विचारने को प्रवृत्त करेगा और इस प्रकार नवीन भारतीय राष्ट्र का नूतन आधार पर निर्माण होगा। यह अपने आप में एक महान् कार्य है और इसको पूरा करने में, अपनी शक्ति तथा योग्यता के अनुसार इसमें योग देना ही एक ऐसा गौरव है जिसको प्राप्त करने के लिए हरेक देशभक्त सदा उद्यत होगा।

पंचवर्षीय नियोजन देश की सुप्त अन्तर्चेतना को जगाएगा, अन्तर्निहित सुप्त शक्तियों को जागृत करेगा, जनता में नवीन पौरुष उत्पन्न करेगा और उसको अपनी हरेक शिकायत दूर करने के लिए सरकार पर आश्रित रहने तथा परमुखापेक्षी बनने से रोकेगा। गाँव-गाँव में आत्म निर्भरता का स्वर गूँजेगा। यदि नियोजन और उसके आर्थिक कार्य-क्रम को जन-जन और झोपड़ी-झोपड़ी तक ठीक तरह पहुँचाया गया, तो सुस्त काहिल एवं अल्प सन्तोषी जनता पुरुषार्थी और कर्मठ जनता में परिणत हो जाएगी और भारत के गाँव कवि के शब्दों में गूँज उठेंगे : "कर्म में बसते हैं भगवान्।"

इसलिए नियोजन-कमीशन की इस बात से हताश और निराश होने का कोई कारण नहीं कि २७ वर्षों के बाद प्रति जन की औसतन वार्षिक आय दुगुनी होगी। यह अन्तर भले ही देखने में कम हो किन्तु इस विशाल देश में जो महान् शक्ति उत्पन्न करेगा उसका मूल्य कुछ कम नहीं। जागृत, उद्बुद्ध और कर्मठ जन शक्ति का अपना महत्व है और भारत को १९५६ तक हो जाने वाली ४० करोड़ की जन शक्ति पर उचित गर्व होना चाहिए। यह महान् जन शक्ति ही भारत को एशिया में ही नहीं, अपि तु विश्व की राजनीति में 'सन्तुलन-शक्ति' प्रदान करती है। इस महान् जन-शक्ति को यह नियोजन संगठित करेगा और एक सूत्र में आबद्ध करेगा। नियोजन के सब दोष और सब अपूर्णताएँ इस एक बात से छिप जाती हैं।

पुराना विचार : भविष्य के लिए नियोजन बनाने का विचार नया नहीं। आचार्य चाणक्य ने लिखा है कि राज्य के पास सौ साल पुराने बजट भी होना चाहिए। रेकार्ड रखना बताता है कि भविष्य के लिए नियोजन बनाने की बात आज की नहीं है। आज के युग में सोवियत रूस ने इसको चलाया है और इसने दुनिया के शिक्षित समाज की कल्पना-शक्ति को वश में कर लिया है। भारत में १९३८ से यह विचार घूम रहा है। नेताजी सुभाष बोस ने काँग्रेस को प्रेरित किया और आज के प्रधान मंत्री श्री नेहरू की अध्यक्षता में राष्ट्रीय नियोजन कमीशन नियुक्त किया गया। इसके उद्यमी मंत्री प्रो. के. टी. शाह ने लगभग बीस पुस्तिकाएँ इसकी ओर से प्रकाशित की और नियोजन कार्य का मार्ग प्रशस्त किया। युद्धकाल में भारत के उद्योगपतियों ने 'बम्बई-योजना' उपस्थित की। श्री मानवेन्द्रनाथ राय की 'रेडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी' ने 'जनता-योजना' उपस्थित की। सरकार ने सर अर्देशर दलाल के अधीन नियोजन विभाग ही खोला। किन्तु 'वेवल गवर्नमेंट' द्वारा तैयार किए गए आर्थिक कार्यक्रम थे और वे भी विभागीय थे; वे नियोजन न थे। वे केवल युद्धोत्तर काल के लक्ष्य को सूचित करते थे। वे हमारे सामने भारत के वर्तमान और भविष्य का समग्र चित्र उपस्थित नहीं करते थे। यह कार्य इसी नियोजन कमीशन ने किया है और बताया है कि हम कहाँ हैं, किस मार्ग से हमें जाना है और हमारा गन्तव्य स्थान कहाँ है। भारतीय संविधान के अन्तर्गत राज्य-निर्देशिका नीति द्वारा निर्दिष्ट लक्ष्य की पूर्ति कैसे सम्भव है, और उसकी सीढ़ी क्या है, इस कार्य को इस कमीशन ने किया है। यह कार्य भी छोटा नहीं। बम्बई योजना ने भी यह काम नहीं किया था। उसने केवल उत्पादन का लक्ष्य निश्चित किया था। समाज के निर्माण की बात उसकी दृष्टि में नहीं थी। वह आज की व्यवस्था को बदलने को तैयार नहीं थी। इसके विपरीत नियोजन-कमीशन ने आर्थिक शक्ति को विचार कर मिश्रित आर्थिक तंत्र को स्वीकार किया है, किन्तु उसका लक्ष्य इस देश में वर्गहीन समाज और समाजवादी जनतंत्र स्थापित करना है। उद्देश्य की महानता वर्तमान नियोजन को पिछलों से सर्वथा अलग कर देती है, यद्यपि दोनों के उत्पादन लक्ष्य

एक ही हैं। बम्बई योजना ने निम्न लक्ष्य हमारे सामने रखा था :

(करोड़ रु. में)

	प्रथम	द्वितीय	तृतीय नियोजन	कुल
मूल उद्योग	४८०	१२००	१८००	३४८०
उपभोग माल के उद्योग	३१०	३००	३६०	९७०
खेती	२००	४००	६४०	१२४०
यातायात	११०	३२०	५१०	९४०
शिक्षा	४०	८०	३७०	४९०
निवास	१९०	४२०	१५९०	२२००
विविध	३०	७०	...	...
योग	१४००	२९००	५७००	१००००

(मोटे तौर पर)

इसके फलस्वरूप प्रति व्यक्ति की औसतन आय बढ़ने का अनुमान इस प्रकार किया गया था :

	१९३१	१९६१	वृद्धि प्रतिशत
	रु.	रु.	
खेती	११५	२००	९३
उद्योग	१६१	३६८	१२९
नौकरी	२६४	३९७	५०

बम्बई योजना के निर्माताओं ने संयुक्त भारत के लिए पंचवर्षीय नियोजन तैयार किया था। उस समय देश के उद्योगों के सम्मुख कपास और जूट की समस्या नहीं थी और न उस समय तक भाकरा, दामोदर, तुंगभद्रा, चम्बल, सदृश नदी घाटी परिकल्पनाओं का काम प्रारम्भ हुआ था। पूँजी इस कारण बझी नहीं हुई थी। परन्तु भविष्य की दृष्टि से 'टेनेन्सी वैली अथार्टी' के ढंग पर इस देश में नदी घाटी परिकल्पनाओं की पूर्ति और जल-विद्युत् का उत्पादन आवश्यक है। विद्युत्-शक्ति के अभाव में उद्योग चल नहीं सकते। हमारा देश बिजली पैदा करने में बहुत पीछे है। कैनाडा का एक बड़ा प्लाण्ट जितनी बिजली पैदा करता है, उतनी बिजली हमारे सारे देश में पैदा होती है। इस कारण भविष्य की दृष्टि एवं औद्योगिक भारत के निर्माण के विचार से वे आवश्यक हैं। नींव के अभाव में क्या विशाल महल खड़ा हो सकता है? इसलिए वर्तमान नियोजन का खेती पर बल देना एक अर्थ रखता है। यह अकारण नहीं। साथ ही इससे यह भी मालूम होता है कि नियोजन बनानेवाले स्वप्नदर्शी आदर्शवादी नहीं, बल्कि व्यावहारिक एवं यथार्थवादी हैं और उन्होंने वर्तमान परिस्थिति की उपेक्षा नहीं की। प्राथमिकता की दृष्टि से पंचवर्षीय नियोजन का रूप इस प्रकार निर्धारित किया गया है :

	(करोड़ में रु०)	(कुल का प्रतिशत)
कृषि और सामूहिक-विकास	३६१	१७.५
सिंचाई	१६८	८.१
बहुमुखी सिंचाई और-विद्युत परिकल्पना	२६६	१२.९
विद्युत	१२७	६.१
सम्वाहन और संचार	४९७	२४.०
उद्योग	१७३	८.४
समाज सेवा	३४०	१६.४
पुनर्वासन	८५	४.१
अन्य	५२	२.५
योग	२०६९	१००.०

यह नियोजन राष्ट्र निर्माण के लिए ही नहीं, बल्कि ३६ कोटि लोगों के निर्माण के लिए है। इन करोड़ों लोगों में से ७० प्रतिशत गाँवों में रहते हैं। ये अब शान्त और मौन नहीं रह रहे हैं। १९३० की मन्दी, द्वितीय महायुद्ध, भारतीय स्वाधीनता और वयस्क मताधिकार ने इनको गतिशील शक्तिशाली बना दिया है। सर्वत्र नई आकांक्षा और नूतन आशा का उदय हुआ है। कोई भी नियोजन गाँवों में बसनेवाली ७० प्रतिशत जनता को भुला कर आगे नहीं बढ़ सकता।

देहातों की समस्या है बेरोज़गारी और अपर्याप्त काम। ५ करोड़ से ६ करोड़ परिवार खेती उद्योग में लगे हुए हैं। अधिकांश के खेत छोटे छोटे और बिखरे हुए हैं। यह खेती भी इन्द्रदेव की कृपा पर निर्भर है। खेती का काम भी साल में तीन से चार मास का है। कुल खेती का केवल पंचमांश ऐसा है, जहाँ सिंचाई की कुछ सुविधा है, और वहाँ खेती का काम साल में छः से आठ मास हो सकता है। पूरक उद्योग बहुत अल्प हैं। ज़मीन पर ज़रूरत से ज़्यादा आदमी काम कर

रहे हैं। इसके साथ प्रतिवर्ष २५ लाख नए खाने वाले बढ़ जाते हैं। इस कारण यह प्रश्न केवल आर्थिक बरबादी का ही नहीं है वरन् मानवीय मूल्यों के विनाश का भी है। प्रश्न यह है कि इस विनाश को रोकने का उपाय क्या है?

पहला उपाय है कि खेती वैज्ञानिक ढंग से की जाए। खेती में अधिक से अधिक विज्ञान की सहायता ली जाए। इसके साथ विविधतामय आर्थिक तन्त्र का विकास किया जाए। दूसरा उपाय है कि देश की जल सम्पत्ति का सर्वोत्तम उपयोग किया जाए। निस्सन्देह इसका पहले के साथ सम्बन्ध है किन्तु भारत की खेती का सिंचाई के साथ गहरा सम्बन्ध है; अतः इस पर विशेष रूप से ज़ोर देने की आवश्यकता है। सिंचाई की सुचारु व्यवस्था होने से न केवल उत्पादन बढ़ेगा, बल्कि किसान को साल में अधिक समय काम भी मिलेगा। कुटी उद्योगों और लघु परिमाण के उद्योगों की स्थापना करके नया काम देना चाहिए। बड़े परिमाण के उद्योगों का विकेन्द्रीकरण भी इसके लिए आवश्यक है।

इसको ध्यान में रख कर २० अरब ६६ करोड़ रु. के नियोजन में से १७ प्रतिशत खेती और सामूहिक विकास की योजना पर व्यय किया जा रहा है। सिंचाई और विद्युत् उत्पादन पर २७.२ प्रतिशत खर्च होगा। नियोजन ने अपने सामने ६७ लाख टन और अन्नाधान्य उत्पन्न करने का लक्ष्य रखा है। इसमें ४० लाख टन गेहूँ, १० लाख टन चना और दालें और ५ लाख टन ज्वार बाजरा होगा। नियोजन की आशा इस प्रकार है:

नाम वस्तु	उत्पादन लाख	प्रतिशत वृद्धि
अन्य धान्य	७६ (टन)	१४
कपास	१२.६ (गाँठे)	४२
जूट	२०.६ (गाँठे)	
गन्ना (गुड़)	७.० (टन)	१२
तेलहन	४.० (टन)	८

खेती का उत्पादन बढ़ाना ही केवल अभीष्ट नहीं। गाँवों में बसनेवाले लोगों का जीवन-मान बढ़ाना भी अभीष्ट है। ५ करोड़ ६ करोड़ परिवारों तक पहुँचने की कोशिश की जाएगी। उनकी खेती की कठिनाइयाँ दूर की जाएँगी। विज्ञान के नए नए शोध उन तक पहुँचाए जाएँगे। सुझाव और सुधारों को पूरा करने के लिए उनको कर्ज़ देने की भी व्यवस्था की जाएगी। इसके लिए सामूहिक खेती के योग्य अनुकूल अवस्थाएँ भी उत्पन्न की जाएँगी। संयुक्त राष्ट्र अमरीका में जैसे 'विस्तार आन्दोलन' है, वैसे ही इस देश में 'सामुदायिक विकास योजना' का सूत्रपात किया गया है। हमारे देश के गाँवों में से लगभग एक तिहाई—प्रायः १२०००० गाँव इस योजना के अन्दर आ जाएँगे। सारा देश आठ दस वर्षों में इस योजना के अन्तर्गत आ जाएगा।

सामुदायिक योजना का प्रारम्भ देश के विभिन्न राज्यों में चुने हुए स्थानों में ५५ ग्राम विकास की परिकल्पनाओं से किया गया है। प्रत्येक परिकल्पना के साथ लगभग ३०० गाँव सम्बद्ध हैं। हरेक चुने हुए प्रदेश की आबादी लगभग २ लाख है और खेती की ज़मीन लगभग १.५ लाख एकड़ है। दो लाख की आबादी में ५०००० वयस्क काम करने योग्य लोग होंगे। यदि इनके खाली समय का आधा भाग भी स्वेच्छा-सेवा में लिया जा सका और आठ घण्टे की मजदूरी प्रति व्यक्ति १ रु. ८ आना की दर से मानी जाए, तो लोगों के अपने प्रयत्नों का अंशदान ७५ लाख रु. होगा। इसके साथ यदि ५० हज़ार स्त्रियों की स्वेच्छा-सेवा को भी सम्मिलित किया जाए, तो गाँववालों का अंशदान १३ करोड़ रु. होगा जब कि परिकल्पना का अपना अंशदान ६५ लाख रु. होगा।

भारत सरकार पहली बार राज्यों को आधा-अनुदान स्टाफ की वृद्धि के लिए दे रही है। अल्पकालिक प्रत्यय के लिए और १०६ करोड़ रु. दे रही है। यह निधि सहकारी समितियाँ और अन्य एजेन्सियों द्वारा दी जाएगी। २५ करोड़ रु० कर्ज़ में अन्तरिम काल के लिए और पाँच करोड़ रु. लम्बी मुद्दत के कर्ज़ पर दिया जाएगा। इसके अतिरिक्त स्थानीय कामों–पीने का पानी, गाँव की सड़कें आदि के लिए १५ करोड़ रु. रखा गया है। इससे देहात के लोगों में अपनी ज़रूरतों को अपने प्रयत्नों से पूरी करने के लिए नया उत्साह उत्पन्न होगा। १५ करोड़ रु० अकाल-निवारण के लिए भी रखे गए हैं।

खेती का उत्पादन बढ़ाने के साथ गाँवों में सम्पत्ति और आय के मध्य विद्यमान विषमता को दूर करने के लिए भूमि सम्बन्धी नीति में परिवर्तन करने का विचार किया गया है। इसका उद्देश्य शोषण का अन्त है, और प्राप्त काश्तकार और मजदूरों के हितों की रक्षा हो,

१९५३

जनता जीवन के विविध अवसरों का उपयोग करने में समर्थ हो। भूमि सुधार के सुझावों में (१) बीच के लोगों (२) मालिकों (३) छोटे और मध्य श्रेणी के मालिकों (४) गैर मौरुसी काश्तकारों और (५) भूमिहीन मजदूरों का ध्यान रखा गया है। भू-स्वामित्व के विषय में कमीशन ने सुझाया है कि (१) भू स्वामित्व की उच्चतम सीमा निर्धारित की जाय; (२) खुद काश्त करने वालों को सुविधाएँ दी जाएँ; (३) कुशलता के एक निश्चित स्तर तक खेती कायम रखने के सम्बन्ध में क़ानून बनाया जाय और (४) छोटे और मध्य-वित्त के भू-स्वामियों को सहकारिता के आधार पर खेती करने के लिए प्रोत्साहन दिया जाय। कमीशन ने यह भी सिफ़ारिश की है कि बड़े भूस्वामियों की जो भूमि गैर-मौरुसी काश्तकारों द्वारा जोती जाती है, वह यदि निर्धारित उच्चतम से अधिक हो, तो उस भूमि का स्वामी काश्तकार को बना देना चाहिए।

कमीशन ने सरकारी ग्राम प्रबन्ध की भी सिफ़ारिश की है। इससे गाँव के सामाजिक और आर्थिक विकास में पर्याप्त सहायता मिलेगी। इसमें ग्राम पंचायतों का भाग महत्वपूर्ण है क्योंकि काश्तकारी क़ानून को अमल में लाना, भूमिहीन खेती करनेवाले हर मजदूरों के हितों की रक्षा, छोटे स्वामियों के लिए खेती की व्यवस्था, बड़े भू-स्वामियों से ली गई ज़मीन का वितरण, गाँव की परती ज़मीन को जोतना आदि काम पंचायतें ही कर सकती हैं। सरकारी ग्राम-प्रबन्ध, गाँव की भूमि तथा अन्य साधनों का संघटन तथा विकास गाँव के समस्त लोगों के हित को दृष्टि में रख कर किया जाएगा। कमीशन ने भूमि-सुधार संघटन की स्थापना का भी सुझाव दिया है। इसका उद्देश्य भूमि-सुधार कार्य-क्रमों का मूल्यांकन, भूमिसम्बन्धी समस्याओं की जाँच, सहकारी खेती के क्षेत्र में प्राप्त अनुभवों का अध्ययन आदि है।

बहुमुखी और विशाल सिंचाई योजनाओं पर ५६१ करोड़ रु. व्यय करने का उपबन्ध किया गया है। देश के विभाजन के समय भारत के समस्त सिंचाई-कामों का हिसाबी मूल्य ११० करोड़ रु० था। आज की कीमतों के अनुसार इसका मूल्य ४०० करोड़ रु. होगा। इसके अतिरिक्त ११० करोड़ रु० सिंचाई के छोटे कामों के लिए दिए गए हैं। इसमें नल-कूपों का भी समावेश किया गया है। इस समय भारत में २५०० नल-कूप हैं। नियोजन काल में ५००० नल कूप और बनाए जाएँगे। इससे १५ लाख एकड़ अधिक भूमि की सिंचाई हो सकेगी। सम्पूर्ण सिंचाई योजनाओं के कारण १७० करोड़ एकड़ अधिक ज़मीन की सिंचाई करना सम्भव होगा। इसके अतिरिक्त १४६ लाख किलोवाट और अधिक बिजली पैदा होगी। नियोजन तथा सम्मिलित परिकल्पनाओं के पूर्ण होने पर ८५ लाख एकड़ और ज़मीन की सिंचाई का प्रबन्ध हो जाएगा अर्थात् सिंचित ज़मीन में २५५ लाख एकड़ ज़मीन की वृद्धि होगी।

भारतीय नदियों का इतिहास भारत का इतिहास है। इन्होंने देश को स्वर्ण देश बनाया है और समृद्ध किया है। इसलिए नियोजन-काल में ११० परिकल्पनाओं का पूरा होना इस देश के लिए एक विशेष अर्थ रखता है। निर्माण, जांच और विचार के अन्तर्गत विद्यमान सब परिकल्पनाओं के लिए २००० करोड़ रु. की आवश्यकता होगी। इससे सिंचित भूमि में ४०० एकड़ की वृद्धि होगी, ७० लाख किलोवाट बिजली पैदा होगी। इस समय जो परिकल्पनाएँ हाथ में हैं, इन पर ८८० करोड़ रु. व्यय होगा। इन पर अब तक १५३ करोड़ रु. व्यय हो चुका है और यह भी इसमें सम्मिलित है। नियोजन-काल में ५५८ करोड़ रु. व्यय होगा जो कि कुल नियोजन-व्यय का २७ प्रतिशत है। इन परिकल्पनाओं द्वारा और ८५ लाख एकड़ ज़मीन सिंचाई में आएगी और इनसे १०८ लाख किलोवाट बिजली पैदा होगी। उससे प्रतिवर्ष २१ लाख टन अधिक अनाज पैदा होगा।

नियोजन में निम्न पाँच परिकल्पनाओं को सम्मिलित किया गया है :

	अनुमानिक व्यय (लाख रु० में)	सिंचाई (००० एकड़ों में)	बिजली (किलोवाट)
कोसी	६६.००	२६२०	४०
सोयना	३३.००	...	२४०
कृष्णा	...	...	...
चम्बल	३३७५	१२००	८०
हिन्द	३५००		२४०

राज्य-सरकारें ११० परिकल्पनाओं को पूरा करने में व्यस्त हैं। जहाँ राज्य सरकारें इस कार्य को नहीं कर पा रही, वहाँ उनको केन्द्र ने ले लिया है। हीराकुण्ड, काकरापारवीयर और नहरी परिकल्पनाएँ इसी श्रेणी की हैं। महत्वपूर्ण परिकल्पनाओं में भाकरा-नांगल (पंजाब, पेप्सु

और राजस्थान), तुंगभद्रा (हैदराबाद और मद्रास), मचकुंड (मद्रास और उड़ीसा), मयूराक्षी (बंगाल), लोअर भवानी (मद्रास), घाट प्रभा लेफ बैंन केनाल (बम्बई) और दामोदर घाटी परिकल्पना (बिहार-बङ्गाल) आदि अनेक परिकल्पनाएँ विश्व की सबसे बड़ी परिकल्पनाओं में से हैं। भाकरा का बान्ध और हीराकुण्ड का मही का सबसे लम्बा बाँध (१५७४८ फुट) इसी कोटि के हैं। अमरीका का फोर्ट पेक और गैरिसन यद्यपि क्रमशः २१०२६ फुट और १२००० फुट लम्बे और क्रमशः २५० फुट और २१० फुट ऊँचे हैं किन्तु ये परिकल्पनाएँ बहुमुखी नहीं हैं। फोर्ट पेक में सिंचाई का पहलू नहीं है और गैरिसन डाम में बिजली उत्पादन की योजना नहीं है। इसके विपरीत हीराकुण्ड में सिंचाई, बाढ़-नियंत्रण, जल-विद्युत उत्पादन और नौका नयन इन सब बातों का समावेश है।

औद्योगिक विकास पर १७३·०४ करोड़ रु. व्यय होगा। औद्योगिक उत्पादन का लक्ष्य ऐसा नहीं है जो सहज में पूरा न हो सके। १९५१ और १९५२ के उत्पादन की नियोजन द्वारा निर्धारित लक्ष्य के साथ तुलना करने पर यह बात स्पष्ट हो जाएगी। यथा :

उद्योग १९५५-५६ का

निर्धारित लक्ष्य

(१) सीमेण्ट	४५·० लाख टन
(२) एलुमीनीयम	१२·० लाख टन
(३) अमोनिया सल्फेट	४५०००० लाख टन
(४) द्रुव पट्रोलियम	४०३० लाख गैलन
(५) बीटूमेन	३७५०० टन
(६) सूती वस्त्र	४७००० लाख गज
(७) सूती वस्त्र (करघा)	१७००० लाख गज
(८) सूत	१६४०० लाख पौण्ड
(९) जूट माल	१२००००० टन
(१०) पम्प	८५०००
(११) डिजल एंजिन	५००००
(१२) बाइसिकल	५३००००
(१३) शक्ति अलकोहल	१८० लाख गैलन
(१४) ढला लोहा	१९·५ लाख टन
(१५) इस्पात	१३·८ लाख टन

सन् १९५१-५२ में उक्त पदार्थों का उत्पादन क्रमानुसार निम्न प्रकार रहा है :

उत्पादन

	१९५१	१९५२
(१)	३१९५६०० टन	३५१२९७४ टन
(२)	...	...
(३)	५२७०५ टन	१७७१४५ टन
(४)	...	...
(५)	...	...
(६)	४०६६४ लाख गज	४५६९० लाख गज
(७)	...	...
(८)	१३०४४ लाख पौण्ड	१४३५६ लाख पौण्ड
(९)	८९२००० टन	...
(१०)	३४३००	...
(११)	५५००	...
(१२)	११४२७६	१९१८२२
(१३)	५० लाख गैलन	...
(१४)	१५·७ लाख टन	...
(१५)	१०७६००० टन	१०८०४४० टन

नियोजन–काल के प्रारम्भिक वर्षों में औद्योगिक प्रगति बहुत कुछ वैयक्तिक साहस और उद्यम पर निर्भर रहेगी क्योंकि राष्ट्रीय अंचल में साधन विकास कार्यों से जुट जाएँगे। राष्ट्रीय अंचल के पीछे नीति यह है कि जो उद्योग वैयक्तिक साहस की सामर्थ्य से बाहर हैं, या जिसको वह लेने के लिए इच्छुक नहीं, उन पर राज्य अपनी शक्ति केन्द्रित करेगा। नियोजन कमीशन के अनुसार औद्योगिक अंचल की सफलता इस पर निर्भर है कि ७०७ करोड़ रु० विनियुक्त किया जाना सम्भव है या नहीं। सरकार ९४ करोड़ रु० विनियोग करेगी। वृद्धि विस्तार आधुनिकीकरण, पुनर्स्थापन आदि पर वैयक्तिक साहस ३८३ करोड़ रु० चालू व्यय में और १५० करोड़ रु० ह्रास फण्ड पर खर्च किया जाएगा। यह राशि ८० करोड़ रु० दिए गए आय-कर भत्ता में सम्मिलित नहीं है। केन्द्रीय सरकार ८३ करोड़ रु० और राज्य ११ करोड़ रु० औद्योगिक उत्पादन को बढ़ाने पर खर्च करेंगे। वैयक्तिक साहस के उद्योगों में २३३ करोड़ रु० विनियोग करने की आवश्यकता होगी। इसमें से ४३ करोड़ रु० लोहा और इस्पात उद्योग को, ६४ करोड़ रु० पेट्रोलियम उद्योग को,

१३ करोड़ रु० सीमेण्ट को, ६ करोड़ एलुमीनियम उद्योग को तथा १२ करोड़ शक्ति-आलकोहल आदि पर व्यय होगा। मिश्र आर्थिक तंग जारी रहेगा। सरकार और वैयक्तिक साहस मिल कर पूँजी लगाएँगे, और दोनों मिल कर उसका संचालन करेंगे।

बड़े उद्योगों के साथ ग्राम्य उद्योगों का भी विकास किया जाएगा। निम्न ग्राम्य उद्योग चुने गए हैं :

१. ग्राम्य तेल उद्योग
२. नीम के तेल से साबुन बनाना,
३. धान साफ़ करना,
४. ताड़ से गुड़ बनाना,
५. गुड़ और खाण्ड सारी
६. चमड़ा
७. ऊनी कम्बल
८. हाथ से काग़ज़ बनाना
६. मधुमक्खी पालन
१०. दियासलाई

संवाहन के क्षेत्र में मुख्य रूप से वृद्धि रेलवे के विस्तार में होगी। इस क्षेत्र में अन्य निर्धारित लक्ष्य हैं : (i) जहाजरानी १६५५-५६ में ६००००० रु० टन हो जाए (ii) काण्डला का नया बन्दरगाह बन कर तैयार हो जाए (iii) विद्यमान बन्दरगाहों का विकास और आधुनिकीकरण (iv) विद्यमान नागरिक उड्डयन क राष्ट्रीयकरण।

सामाजिक मङ्गल और सामाजिक सेवा पर नियोजन ने ३३६·८१ करोड़ रु० व्यय करने का उपबन्ध किया है। इसमें से ६७·७६ करोड़ रु० स्वास्थ्य पर और ५५ करोड़ रु० पुनर्वासन पर व्यय होगा। नियोजन काल में स्वास्थ्य-रक्षा के लिए डाक्टरों, नर्सों आदि की संख्या इस प्रकार बढ़ाई जाएगी :

	१६५०-५१	१६५५-५६	प्रतिशत वृद्धि
डाक्टर	२५०४	२७८२	११·१
कम्पाउण्डर	८६४	१६२१	८१·३
नर्स	२२१२	३०००	३५·६
दाई	१४०७	१६३२	३७·३
वैद्य, हकीम	६१४	१११७	२२·२

अस्पतालों और डिस्पेंसरियों की संख्या में वृद्धि इस प्रकार होगी :

	१६५०-५१	१६५५-५६	प्रतिशत वृद्धि
अस्पतालों की-संख्या	२००१	२०६२	२·४
डिस्पेंसरियों की-संख्या			
(नगरों में)	१३५८	१६६५	२४·८
(गाँवों में)	५२२६	५८४०	११·६
अस्पतालों में बिस्तरों की संख्या	१०६४७८	११७२२२	१०·१
डिस्पेंसरी में बिस्तरों की संख्या			
(नगरों में)	२०१३	२२३३	११·४
(देहातों में)	५०६६	५५८२	१८·२

क्षय रोग को रोकने पर विशेष रूप से ध्यान दिया जाएगा। १६५५-५६ तक इसके लिए ४६ सेनीटोरियम, और ५६५६ विस्तार विस्तर, ५० अस्पताल और ४८१४ विस्तर, तथा क्लिीनिकों की संख्या १८० होगी और उनमें २५६२ विस्तर होंगे।

पंचवर्षीय नियोजन में गृहनिर्माण के लिए ४८-६६ करोड़ रु० रखा गया है। इसमें से केन्द्रीय सरकार ३८·५ करोड़ रु० और राज्य सरकारें १०-१६ करोड़ रु० खर्च करेंगी। मकानों को बनाने के लिए केन्दीय सरकार राज्यों को सहायता देगी। इस सम्बन्ध में राज्यों को दी जानेवाली सहायता में २५० प्रतिशत वृद्धि की जाएगी। राज्य लिए गए कर्ज को २५ वर्ष में चुकावेंगे।

प्रश्न यह है कि इस नियोजन को पूरा करने के लिए आवश्यक वित्त कहाँ से आएगा ? नियोजन कमीशन ने इसका उत्तर दिया है कि सरकार की चालू आय से ७३८ करोड़ रु० की बचत होगी; वैयक्तिक अंचल में ५३० करोड़ रु० विनियोग होगा। ८॥ करोड़ रु० शेष रहते हैं। यह बाह्य सहायता, आन्तरिक कर बढ़ाने या कर्ज से पूरा किया जाएगा। भारत को अब तक १५६ करोड़ रु० की सहायता प्राप्त हो चुकी है। १६५१ में विकास पर २३२ करोड़ रु०, १६५१-५२ में लगभग २८५ करोड़ रु० और दूसरे वर्ष के लिए बजट व्यय ३४६ करोड़ रु० था। प्रति वर्ष ५०-६० करोड़ रु० विकास-व्यय बढ़ रहा है। नियोजन को पूरा करने के लिए

विकास-व्यय को और ५० करोड़ रु० प्रति वर्ष बढ़ाने की आवश्यकता है। यदि अधिक मात्रा में पूंजी विनियोग हुआ, तो आय का विस्तार होगा और फलतः करों से अधिक आय होगी। यदि करों से आय कम होगी तो आवश्यकता पड़ने पर कागज़ी मुद्रा का विस्तार कर के वित्तीय आवश्यकता की पूर्ति की जाएगी।

नियोजन में विनियोग के लिए प्राप्त घरेलू पूंजी का अनुमान २७०० से २८०० करोड़ रु० किया गया है। इसमें स्टर्लिंग पावना का ४५० करोड़ रु० और जोड़ना चाहिए। यदि विदेशी पूंजी विनियोग के लिए मिली तो ३५०० से ३६०० करोड़ रु० विकास के लिए प्राप्त होगा। इसमें ५० प्रतिशत से कुछ अधिक राष्ट्रीय अंचल में व्यय होगा। शेष वैयक्तिक अंचल को प्राप्त होगा। इस कारण वित्तीय अभाव में नियोजन के पूर्ण न होने का भय निर्मूल है।

इस नियोजन की सफलता पर पाँच साल बाद राष्ट्रीय आय में ५ प्रतिशत की वृद्धि होगी। २७ वर्षों के बाद प्रति व्यक्ति की आय दुगनी हो जाएगी। परन्तु यदि जनता की ओर से पर्याप्त सहायता मिली, तो बीस वर्षों में भी दुगनी आय का होना सम्भव है। नियोजन काल के अन्दर बढ़ी आय का २० प्रतिशत अंश, फिर ५० प्रतिशत अंश नियोजन की सफलता के लिए लिया जाएगा। इससे पूंजी विनियोग दस वर्षों में ६¾ प्रतिशत से बढ़ कर १० प्रतिशत और इस अवधि के अन्त तक २० प्रतिशत हो जाएगा। विदेशी पूंजी की सहायता आवश्यक हो गई है। वैयक्तिक उद्योगों को लाभ उतना नहीं समझा जाता है। १९५०-५१ में उनको ९८ करोड़ रु० का लाभ हुआ, जिसमें करों द्वारा ४० करोड़ रु० ले लिया गया, २४ करोड़ रु० मुनाफ़ा बाँटने में दिया गया और ३४ करोड़ रु० अपने पास रखा। यह राशि ऐसी नहीं जो नियोजन की पूँजी-आवश्यकता को पूर्ण कर सके।

इस नियोजन के कारण सब को काम और रोज़ी नहीं मिलेगी। परन्तु यह न भूलना चाहिए कि यह नियोजन सब को काम और रोज़ी देने की दिशा में एक कदम है। नियोजन के होने पर उत्तरोत्तर काम और रोज़ी में भी वृद्धि होगी। प्रथम पंचवर्षीय नियोजन काल में छोटी सिंचाई के कामों से जिस पर कि ११३ करोड़ रु० व्यय होगा—६० करोड़ जन-दिनों को काम मिलेगा। भूमि विकास के कार्यक्रम पर ३५ करोड़ रु० व्यय होगा और इससे १०० करोड़ जन–दिनों को काम मिलेगा। इसके फल स्वरूप ३० लाख व्यक्तियों को एक साल काम मिलेगा।

सिंचाई योजना के कारण ६० लाख परिवार २ करोड़ एकड़ ज़मीन जोतने लगेंगे। खेती का विस्तार होने से ७४ लाख एकड़ जमीन और जोत में आएगी और ७½ लाख परिवारों को काम मिलेगा। इसके अतिरिक्त खेती से सम्बन्धित अन्य कामों के कारण १९५५-५६ तक और २५ प्रतिशत को प्रति व्यक्ति के हिसाब से और ३० दिन काम मिलेगा। नियोजन के इस लाभ को नगण्य नहीं समझना चाहिए।

—अवनीन्द्रकुमार विद्यालङ्कार

इतिहास-सदन, कनाट सर्कस,
नई दिल्ली

...सहिष्णुता का अर्थ है कि आप उस समय सहनशील बनें जब कि अन्य लोग आपके प्रति असहिष्णु हों।...यदि आधुनिक विश्व में सहिष्णुता का कोई क्रियात्मक स्वरूप हो सकता है तो वह यही कि इसका प्रयोग अन्धे जोश के विरोध में किया जा सके। यदि वर्ग वर्ग, जाति जाति, श्रेणी श्रेणी और राष्ट्र राष्ट्र में शान्ति स्थापित करनी हो और वह एकमात्र कोमल शब्दों के स्वरूप में ही न हो तो हमें अपने जीवन को सहिष्णुता के आधार पर ढालना होगा।

प्राचीन समाज में परिवार

साधारणतया कभी भी स्त्री या पुरुष अकेला नहीं रहा। पैतृक समाज में सदा स्नेहालु पिता का साया बच्चों पर रहा तथा मातृक समाज में सन्तान सदा ममतामयी माता की गोद में पली। यह दूसरी बात है कि किसी अवस्था में परिवार व्यवस्थित है और किसी में नहीं, कहीं परिवार उन्नत है और कहीं अउन्नत। परन्तु है परिवार सर्वत्र व्याप्त। नहीं तो फिर चीटियाँ क्यों सदा काम में जुटी देखी गई हैं ? चूहे बिल क्यों बनाते हैं ? चिड़ियाँ घोंसलों का निर्माण क्यों करती हैं ? मोर विभोर होकर क्यों नाचता है ? किसी बाहरी जन्तु के पहुँच जाने पर युद्ध क्यों होता है ? इनमें किसी भी प्रश्न का विश्लेषण हमें परिवार की प्रतिष्ठा और व्यापकता की ओर ले जाएगा। परिवार के ही फलस्वरूप आवश्यकतानुसार विभिन्न प्राणियों ने घरों को बनाया।

परिवार का उद्देश्य और उत्पत्ति के कारण : केवल काम की तृप्ति ही परिवार का उद्देश्य नहीं। क्योंकि बुभुक्षा की शान्ति परिवार के बाहर अविवाहित होने पर भी की जा सकती है। उदाहरण के लिए 'काई पुरुष' को लीजिए : "A Kai does not marry because of desires he can readily gratify outside of wedlock without assuming any responsibilities; he marries because he needs a woman to make pots and to cook his meals." ×

डा० लावी के अनुसार कोई विवाह घर को सुचारु रूप से चलाने के लिए करता है न कि केवल काम की तृप्ति के लिए। निःसन्देह परिवार यौन क्रिया की सुचारु रूप से व्यवस्था करता है। पुरुष के आचरण पर नियन्त्रण भी परिवार का उद्देश्य हो सकता है, केवल सेक्स की तृप्ति नहीं।

आदिकाल में जब पुरुष शिकारी जीवन की अवस्था में था तब आखेट से वह अपना पेट भरता था। होते-होते एक ऐसा समय आया होगा जब शक्तिशाली पुरुष ने वृद्धावस्था के कारण शिकार का मीलों पीछा करना अपने सामर्थ्य के बाहर समझा होगा। और तब उसने वीर युवकों, बलवान शिकारियों की आवश्यकता का अनुभव किया होगा। फलस्वरूप परिवार के आदि पुरुष ने व्यवस्था की और उसने सहर्ष पारिवारिक बंधन स्वीकार किए।

पुरुष ने आदि समय में यह अनुभव किया होगा कि उसे कोई ऐसा प्राणी मिले जिसे वह अपना कह सके, जिसके सामने वह अपना दुख-सुख कह सके, अपना अन्तर खोल कर रख सके, जो संकट अथवा आपत्ति में उसकी सहायता करे, बीमारी में सेवा-सुश्रुषा करे, जिसे वह अपना प्यार दे सके और उसका प्यार ले सके। फलस्वरूप पुरुष ने एक सहचरी की आवश्यकता का अनुभव किया होगा। उसने यह भी अनुभव किया होगा कि उसे एक ऐसा प्राणी चाहिए जो उसके बच्चों का पालन-पोषण कर सके, जिससे उसका नाम चल सके। इसलिए ही उसने गृहस्थी का भार अपने ऊपर ले लिया होगा।

प्राचीन समाज में उत्पत्ति के साधनों की कमी, जीवन संघर्ष अति कठोर और युग बहुत पिछड़ा होने के कारण लड़ते-लड़ते, संघर्ष करते-करते एक दशा वह आ जाती होगी जब वह थक जाता रहा होगा और उसने अनुभव किया होगा कि क्या ही अच्छा होता यदि कोई थपकियाँ देकर उसे सुलाता या किसी आँचल का साया उसके ऊपर होता। अपने यहाँ कहा भी गया है कि स्त्री और पुरुष गाड़ी रूपी जीवन के दो पहिए हैं जिन्हें व्यवस्थित ढंग से चलाने के लिए दोनों का सहयोग आवश्यक है। जीवन की सभी अवस्थाओं में स्त्री और पुरुष का सहयोग रहता है। चपल और कून ने परिवार के निम्नलिखित तीन सेट दिए हैं :

(१) माता-पिता और बच्चे।
(२) स्त्री और पुरुष।
(३) वृद्ध और युवक।

चपल और कून इन दोनों विद्वानों का मत है कि परिवार चाहे मातृक हो या पैतृक अथवा वह

× Dr. R. H. Lowie—Primitive Society Pp. 62

सक्रान्ति-काल (transitional Period) में हो उपरोक्त तीनों में से एक न एक सेट प्रत्येक अवस्था में लागू होगा। मोटे तौर पर और किसी भी सेट की सम्भावना नहीं। अतः पुरुष ने अपने जीवन को सुखमय, आकर्षक और गुदगुदा बनाने के लिए परिवारिक बन्धन स्वीकार किए होंगे।

इन सबसे भिन्न श्री रिचर्ड महोदय अपनी नवीन मान्यता रखते हैं। अपका कथन है कि परिवार का उद्देश्य और उसकी उत्पत्ति का कारण प्राकृतिक है। क्या पशु, क्या पक्षी और क्या मनुष्य सभी में परिवार का पाया जाना इस बात का द्योतक है कि परिवार मनुष्यों को एक प्राकृतिक देन है। आपने कहा भी है: "The reasons are probably deeply rooted. Since many of animals have a family organization of some kind and since all men have it, it is perhaps the one social phenomenon which we are justified in calling "natural" *

परिवार के प्रकार: अभी तक परिवार तीन प्रकार के ही देखने में आए हैं। पहले मातृक दूसरे पैतृक और तीसरे मातृक-पैतृक अथवा पैतृक-मातृक। मातृक परिवार में विवाह के पश्चात् पुरुष स्त्री के घर जाकर रहता था, सम्पत्ति और उत्तराधिकार माता से पुत्री को प्राप्त होते थे और परिवार के बच्चे माता से नाम ग्रहण करते थे, माता परिवार की मुखिया—हेड मानी जाती थी और पिता को कोई स्थान प्राप्त न था। बच्चों का पुरुष अभिभावक मामा होता था। पैतृक समाज मातृक का उल्टा, आजकल जैसा हमारा समाज है। डा० लावी के शब्दों में: "To cite but one other instance, the patronymic Torres Straits Islanders permit boy or man to take his maternal uncle's most valued possession, while the nephew immediately obeys his mother's brother's injunction against fighting" इससे स्पष्ट हो गया कि मामा की महत्ता आज की नहीं युगान्तर की है। और मातृक-पैतृक समाज में माता की महत्ता से परिवार में पिता की महत्ता की स्थापना होती है। उदाहरण के लिए मलाबार के नायरों में परिवार मातृक था परन्तु अब समाज बदल रहा है फलस्वरूप वह आज मातृक-पैतृक अवस्था में है।

सर हेनरी मेन ने १८६१ में प्राचीन यूनान के रोमन और हिब्रो इतिहास का मनन करके समाजशास्त्रियों के सम्मुख अपना निष्कर्ष रखा कि सर्वप्रथम आदि काल में पैतृक परिवार था। बाद में जीविकोपार्जन के साधनों की वृद्धि और सभ्यता के विकास ने मातृक परिवार को जन्म दिया जिसने मातृक समाज की नींव डाली।

विकास सिद्धान्त: मार्गन के अनुसार सर्वप्रथम परिवार अव्यस्थित और असंगत था। यौन क्रिया में छूट होने से, समाज स्वच्छन्द, बन्धनहीन होने के कारण स्त्री और पुरुष दोनों अपने आचरण में स्वतन्त्र थे। उस समय माता और सन्तान का परिवार था। पिता का कुछ पता न था और न ही उसे कोई उल्लेखनीय स्थान समाज में प्राप्त था। जीविका के साधन उन्नत होते ही लड़कियों की हत्या का प्रचलन हुआ। परिणामस्वरूप थोड़े ही समय में स्त्रियों की कमी हो गई और पुरुषों की अधिकता। फलस्वरूप पाण्डव विवाह (Polyendry) का जन्म हुआ। फिर युग की प्रगति और उत्पत्ति के साधनों में विकास होने से लड़कियों की हत्या बन्द हो गई। यहाँ तक कि होते होते एक ऐसी स्थिति आ गई जब बहु-विवाह प्रथा प्रचलित हुई। परन्तु आत्मा और बुद्धि के विकास से युग और समाज ने एक समय में एक स्त्री या एक पति ही न्यायसंगत माना। पाण्डव विवाह में पिता का कोई अस्तित्व न था परन्तु बहु-विवाह के समय पिता प्रमुख हो गया और माता गौण। इस प्रकार पुरुष शनैः शनैः परिवार का स्वामी हो गया और स्त्री उसकी दासी।

मार्गन ने परिवार के इतिहास का विवेचन करते हुए निष्कर्ष निकाला कि प्राचीन काल में स्त्री और पुरुष दोनों यौन क्रिया में स्वतन्त्र थे, उन्हें पूर्ण स्वतंत्रता थी, कोई भी बन्धन न था। कुनबे की प्रत्येक स्त्री प्रत्येक पुरुष की पत्नी होती थी। अंग्रेजी में इसे Sexual Promiscuity कहा गया है। बैचोफन ने सर्व प्रथम मार्गन के इस कथन का खण्डन किया। इस विद्वान ने प्राचीन समाज में सामूहिक विवाह प्रथा का प्रचलन दर्शाया। सामूहिक विवाह प्रथा की जानकारी के लिए हम अंग्रेज मिशनरी लांगोमन फिशर के आभारी हैं। आपने आस्ट्रेलिया के परिवारों का अध्ययन करके यह परिणाम निकाला कि

---

* General Anthropology Edited by Franz Boas Pp. 412.

१८५२

प्राचीन समाज में सामूहिक विवाह प्रथा प्रचलित थी। इस विद्वान् ने अपने मत की पुष्टि में दक्षिणी आस्ट्रेलिया में ग्रैनियर पर्वत की नीग्रो जाति को रखा। यह जाति दो भागों में बँटी है एक तो कूर्का और दूसरी कूमाइट। इनमें प्रथा थी कि एक गिरोह के स्त्री और पुरुष आपस में विवाह नहीं कर सकते थे। हाँ, एक समूह के पुरुष दूसरे समूह की स्त्रियों के सामूहिक पति निस्सन्देह होते थे। मार्क्स ने लिखा भी है: "Sexual intercourse within each of these classes (Kroki & Kromite) is strictly proscribed, on the other hand, every man of the class is the born husband of every woman of the other class, and she is his born wife. Not individuals but entire groups are married to one another; class to class." *

इस कथन की पुष्टि वेस्टामार्क ने भी की। वेस्टामार्क ने अपनी महत्वपूर्ण पुस्तक (History of Human Marriage) में मार्गन के मत का खण्डन करके सामूहिक विवाह प्रथा की स्थापना की है। इनका कथन है कि एक जाति की प्रत्येक स्त्री प्रत्येक पुरुष की पत्नी के स्थान पर एक समूह की हर स्त्री दूसरे समूह के प्रत्येक पुरुष की पत्नी है। यहीं पर मार्गन और वेस्टामार्क का मतभेद था।

परिवार के प्रकार : सगोत्र परिवार : सामूहिक विवाह प्रथा के फलस्वरूप सगोत्र परिवार का जन्म हुआ। इसमें एक ही गोत्र के लड़के-लड़कियाँ विवाह नहीं कर सकते थे। खून की दूरी अति आवश्यक थी। यह परिवार दूसरे पूर्वज की संतान के साथ विवाह का संकेत देता है। इसके अन्तर्गत सभी बाबा तबके के लोग सभी दादी तबके की स्त्रियों के सामूहिक पति होते थे। और बच्चे सभी बूढ़ों को बाबा कहते थे और सभी बूढ़ियों को दादी। एंगल्स के शब्दों में : There is this form of the family, only ancestors and descendents, perents and children, are excluded from the rights and obligations of marriage with another. Brothers and sisters, male and female cousins of the first, second and more remote degrees are all mutually husbands and wives. At this stage the relation of brother and sister includes the excercise of sexual intercourse with one another as a matter of course. In its typical form, such a family would consist of the descendents of a pair among whom, again, the descendents of each degree are all brothers and, precisely for that reason, all mutual husbands and wives" ×

यह निष्कर्ष इन विद्वानों ने पातोनेशिया की हवाई जाति के परिवार का अध्ययन करने के बाद निकाला।

पुनालुकन-परिवार : इस परिवार के अन्तर्गत पिता और पुत्री, माता और पुत्र तथा भाई और बहन आदि के संभोग को वर्जित माना गया। सगोत्र विवाह को हेय बताया गया। इस समय लोगों ने पारिवारिक जीवन में ईर्ष्या का भी अनुभव किया जिससे बाद में एक समय में एक पत्नी को ही उचित ठहराया। एंगल्स ने कहा भी है "Affords a good illustration of the operation of the principle of natural selection. It is beyond question that tribes among whom imbreeding was restricted by this advance were bound is develop more rapidly and fully than those among whom inter-marriage between brothers and sisters remained both rule and duty." ‡

दम्पति-परिवार : स्त्रियों के चुरा, उठा अथवा भगा ले जाने के फलस्वरूप हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि व्यक्तिगत विवाह का जन्म होने लगा था। एक समूह की स्त्री और दूसरे समूह का पुरुष पति-पत्नी के रूप में अपना जीवन निर्वाह करते थे। इस समय में साधारणतया एक समय में एक स्त्री के एक पति और एक पुरुष के एक पत्नी का प्रचलन था। यद्यपि एक पुरुष के एक से अधिक स्त्रियाँ भी इस परिवार के अन्तर्गत देखी गई हैं परन्तु वे सभी घर की मालकिन न होती थीं। सब से पहली स्त्री घर की मालकिन पटरानी कहलाती थी। गृहस्थी का भार और कामकाज अकेले न निबटा पाने पर वह स्वयं पति से आग्रह करती थी कि उसे सहयोगिनी

---

* Fredrick Engels Origia of family, private property and state Pp. 54-55)

× वही पृ. ५६

‡ वही पृ. ५६

चाहिए। तब पति और स्त्रियाँ लाता था। ये स्त्रियाँ दासियाँ मात्र होती थीं। इससे अधिक कुछ नहीं। इस प्रकार दम्पति परिवार विकसित हुआ जिसे हम परिष्कृत रूप में आज भी देखते हैं।

परिवार का भविष्य : परिवार का भविष्य यह है कि उसका कोई भविष्य नहीं है। पूँजीवादी युग में सारे सम्बन्ध आर्थिक व्यवस्था पर निर्भर रहते हैं। परिवार आर्थिक संकटों के कारण छोटे-छोटे टुकड़ों में बँटता जा रहा है। सहयोग और स्नेह हम खोते जा रहे हैं। आज पड़ोसी-पड़ोसी को नहीं पहचानता। एक उदाहरण याद आ गया। मेरे एक परिचित कौंसिल के सदस्य हैं। उनकी श्रीमती जी पार्लियामेंट की सदस्या हैं। पति महोदय लखनऊ में रहते हैं और श्रीमती जी दिल्ली में। बच्चे रहते हैं नैनीताल में। एक बार विचारे पतिदेव बीमार पड़े। पार्लियामेन्ट की बैठक चल रही थी। सो श्रीमती जी न जा सकीं। विचारे पतिदेव भाग्याधीन स्वयं धीरे धीरे ठीक हो गये। यह है आज का परिवार! पूँजीवाद के आर्थिक संकट के साथ ही परिवार का भी संकट बढ़ता जा रहा है जिसके हल का कोई चिन्ह दिखाई नहीं देता।

कोतवाली रोड,
हरदोई (उ० प्र०)

— रामगोपाल शुक्ल

तेलुगु मुहावरे

अजागल स्तन सगोत्रुलु
काम का न काज़ का दुश्मन अनाज का।

गगन प्रसून वादमु
निष्प्रयोजन वादविवाद।

गट्टु चेरिनंत बुट्टि वानिकि बोम्म गट्टि नट्टु
नदी पार हुए तक नाविक की स्तुति करना किनारे पहुँचने पर उसी का मज़ाक उड़ाना।

कोंडनुद्रव्वि एलुकनु बट्टुट
पहाड़ खोद कर चूहा निकालना।

उरिसिन पुंड्लपै नुप्पु जल्लु
जले पर नमक छिड़कना।

उक्ष्मु रायि चेसि कोनुट
दिल पत्थर का बना लेना।

अल्लुंडिप्रोद्दुन अकादशिनाड्ड
कभी भी नहीं।

अवरिकि वारे यमुना तीरे
कोई किसी का नहीं, जिसका रास्ता उसी को।

गत जल सेतु बंधमु
बीते हुए पर विचारना।

अशोक बाजार,
हैदराबाद

—शंकरय्या शास्त्री

रूपक और प्रतीक

प्राचीन साहित्य में प्रतीकों की प्रचुरता है। यह विश्व विराट् देव का मन्दिर है जहाँ अहर्निश उसकी पूजा आरती चलती रहती है। इस शरीर को उस परमात्मा का मन्दिर माना गया है, इस पुर में ही वह पुरुष निवास करता है। यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे। कभी पिण्ड उसका शरीर और कभी ब्रह्माण्ड उसका शरीर। मिट्टी और देह का प्रतीक भी प्रसिद्ध[1] है, इस मृत्पिण्ड में उस ब्रह्माण्ड की झलक पा जाते हैं। विधाता रूपी कुम्भकार काल के कुलाल चक्र पर जीवन-घट गढ़ता है। समाज रूपी पुरुष का रूपक भी पुरुष सूक्त में प्रसिद्ध ही है। कोई इसे मन्दिर मानता है तो कोई 'पींजड़ा'[2] निवृत्तिमार्गी के लिए यह शरीर नवद्वारे का पिंजड़ा है, बन्धन है जिससे मुक्त हो जाने पर ही मुक्ति मिल सकती है। प्राण-पखेरू इस शरीर के पिंजड़े को तोड़ कर अनन्त आकाश में मुक्त विहार करने लगता है। बस दृष्टि-भेद ही से रूपक-भेद है। हृदय-सर में हँस विचरण करता है, पर मुक्ति-मुक्ता चुगने वाला हँस ही परम हँस है। उपमा से अधिक काव्य रूपक में होता है—उपमा में सदृशता के साथ भिन्नता, रूपक में पूर्ण एकता की स्थापना। 'रवि नभ का नेत्र है' इस कथन में जितनी कविता है, जितनी व्यंजना है उतनी 'नभ रूपी मुख पर रवि नेत्र के समान है' में कविता नहीं है। उपमा में समान वाचक पद के आ जाने से वह व्याख्यातुल्य मन्द हो जाती है। इसी से अच्छे कवि पूर्णोपमा से वाचकलुप्तोपमा को अधिक सुन्दर मानते हैं। जहाँ सादृश्य प्रकट किया जाय वहाँ उपमा और जहाँ सादृश्य के आधार पर पूर्ण-विलय हो जाए वहाँ रूपक। उपमाएँ आजकल रूपसाम्य या गुणसाम्य के अतिरिक्त प्रभाव-साम्य के कारण भी चुनी जाती हैं। कुछ लोग रूपक को संकुचित या संक्षिप्त उपमा मानते हैं। पर यह ठीक नहीं। इससे तो यह कहना अधिक सही है कि उपमा रूपक का ही विश्लेषित और विस्तृत रूप है। यह [illegible] नहीं [illegible] है, इसमें जितना काव्य-सौन्दर्य है वह उसका हृदय पत्थर-सा कठोर है, इस वाक्य में कहाँ है ?

प्रतीक रूपक या उपमा साम्य या सादृश्य के आधार पर ही कवि मानस में सूझते हैं। वस्तुओं में सादृश्य देखने की शक्ति मन की बहुत बड़ी शक्ति है। भिन्न-भिन्न वस्तुओं के स्वरूप और गुण पर विचार कर उनमें स्थित असमानता पर ध्यान न देकर सादृश्य को ही प्रधानता देना यह कवि की एक प्रगतिशील रचनात्मक क्रिया है। प्रतिभाशाली कवि में यह शक्ति विशेष मात्रा में रहती है। कवि की यह शक्ति कल्पना के सहारे बड़े प्रभावशाली रूपकों, प्रतीकों या उपमाओं को लड़खड़ा देती है। साधारण विचार और काव्यमय विचार (भाव) में भी मन सादृश्य देखता है पर दोनों में अन्तर है। प्रथम में व्यवहारिक उपयोगिता को दृष्टि में रखा जाता है और दूसरे में दो वस्तुओं में सादृश्य या समानता का देखना निर्बन्ध रूप से होता है। एक भी बात में, गुण या प्रभाव में सादृश्य देखने से ही कवि-मानस की यह शक्ति कार्य करने लगती है। कभी कभी इस सादृश्य को हम देख नहीं सकते, अनुभव मात्र कर सकते हैं। कभी-कभी दो वस्तुओं में सादृश्य नहीं रहता, पर समान भाव उठाने की शक्ति रहती है। ऐसे गूढ़ और संवेद्य मात्र सादृश्य को कवि ही अनुभव करता है। हेजलिट के अनुसार वस्तुओं में छिपे सादृश्य को सहज दृष्टि से देख लेना या कल्पना की यह सहज शक्ति किसी कलाकृति पर प्रतिभा की छाप लगाती है। यह शक्ति भी प्रकृति के समान अनजाने काम करती है। कल्पना भी एक प्रकार की भावना ही है—सूक्ष्म या व्यापक सादृश्य का अनुभव करना या वस्तुओं की प्रकृति में प्रवेश कर उनके साम्य को देखना भी एक प्रकार की भावना-स्फूर्त शक्ति ही है।

मानवीकरण या व्यक्तीकरण (Personification) अलङ्कार को भी रूपक का ही एक भेद माना जा सकता है। इसमें किसी पदार्थ को व्यक्ति के रूप में कल्पित किया जाता है या वस्तु का व्यक्ति में विलय

---

[1] माटी कहे कुम्हार से तू क्या रौंदे मोहि
एक दिन ऐसा होयगा मैं रौंदूँगी तोहि

[2] नौ द्वारे का पींजड़ा तामें पंछी पौन
रहिबे को आचरज है, गये तो अचरज कौन ?

हो जाता है। भारतीय भाषाओं में अनेक फूलों, नदियों या प्राकृतिक दृश्यों में शब्द रूप के कारण ही स्त्रीत्व या पुंसत्व आरोपित कर लेते हैं। इसमें मनमाना नहीं किया जा सकता। कली और फूल में स्त्रीत्व या पुंसत्व इसी कारण आरोपित हैं। इस आरोप के कारण कल्पना को एक निश्चित दिशा प्राप्त होती है। काव्य पुरुष और कविता-कामिनी का प्रसिद्ध रूपक कितनी ही कल्पनाओं का प्रेरक है। हिमालय नगराज है और उसकी कल्पना पुरुष रूप में ही हो सकती है। सरिता या निर्झरी गिरिसुता है पर्वत पुत्र नहीं; भारतीय कवि की कल्पना शब्द-रचना के सहारे चलती है भ्रमर-भ्रमरी, कमल कमलिनी, चकोर चकोरी, निर्झर-निर्झरी के सम्बन्ध में प्रिय-प्रियाभाव निहित है। कवीन्द्र रवीन्द्र के 'निर्झरेर स्वप्नभंग' का निर्झर पुरुष है, पर दिनकर की निर्झरिणी अभिसारिका है। निर्जीव वस्तुओं में स्त्रीत्व पुंसत्व का आरोप होने के कारण भारतीय शब्द अर्थात् संस्कृत भाषा के शब्द अधिक काव्यमय हैं। 'राजा वसन्त वर्षा ऋतुओं की रानी' (दिनकर) में वर्षा इसीलिए रानी और ऋतुराज वसन्त राजा हुआ है। अंग्रेज़ी के बहुत-थोड़े शब्दों के साथ ही ऐसा देखा जाता है। पौराणिक गाथाओं में अनेक कल्पनाएँ इसी व्यक्तीकरण (Presonification) के कारण बहुत मनोहर लगती हैं। भारतीय कवि के आगे प्रकृति का सुन्दरी के रूप में उपस्थित होना अधिक स्वाभाविक है। प्रकृति पुरुष-प्रिया है, यही दार्शनिक परम्परा रही है। प्रकृति का भयंकर रूप सहज रूप से मन पर अंकित नहीं होता।

"छुपी हुई सादृश्यताओं का स्वयंप्रकाश्य या जिसे हम कल्पना की अन्तर्प्रकृति कह सकते हैं और जो कदाचित् प्रतिभा का अनिवार्य अंश है क्योंकि अन्य परिस्थितियों की अपेक्षा कला-सृजन के क्षणों में वह अवस्था प्रकट हुए बिना नहीं रहती अतः निश्चय ही एक प्रकार की प्रेरणा है।" क्योंकि प्रकृति की सहज आकृति सुन्दर है, उसकी विकृति भयंकर है। लता और वृक्ष में क्रमश· नारीत्व और पुंसत्व ही नहीं प्रियाप्रिय का भाव कवियों की कोरी कल्पना नहीं है, वरन् शब्द-रचना से प्रेरित भी है।

अतः रूपक और प्रतीक योजना के पीछे किसी जाति की विचार-परम्परा या दर्शन भी है। सांख्य के प्रकृति-पुरुष विषयक सिद्धान्त और वेदान्त के 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' और 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' के सिद्धान्त का प्रभाव भारतीय साहित्य पर पड़ा है तथा इससे प्रभावित अनेक रूपकों और प्रतीकों का प्रचार हुआ है। संस्कृत श्लिष्ट शब्दों के कारण अनेक सुन्दर कल्पनाएँ साहित्य में आई हैं। इसके दो अर्थ पक्षी और जीव. परमहंस, जीवन-मुक्त ज्ञानी पुरुष, मानस और मानसरोवर आदि रूपकों ने कवियों के भावों को कितना सुन्दर रूप दे दिया है, यह अनेक उद्धरणों से सिद्ध किया जा सकता है। प्रतीकों से सम्बन्ध अन्योक्तियों का भी है। अन्योक्ति काव्य भारत में अत्यन्त प्रिय रहा है। ऐसी अन्योक्ति-पद्धति की रचनाएँ यूरोपीय साहित्य में नहीं मिलती हैं। अन्योक्ति के मूल में सादृश्य वर्तमान रहता है। गुण साम्य या व्यवहार-साम्य के बिना प्रभावशाली अन्योक्ति रची नहीं जा सकती। अतः अब प्रश्न यह उठता है कि हम भिन्न भिन्न वस्तुओं में सादृश्य या साधर्म्य का दर्शन किस शक्ति द्वारा करते हैं। यह अन्तर्दृष्टि की शक्ति कवि कल्पना का ही एक रूप है।

काव्य में प्रतीक भी हमारी परम्परा और जीवन-दर्शन पर अवलम्बित हैं, यह हम कह चुके हैं। अरुणोदय प्रकाश और जागरण के आगमन का सूचक है, अतः उषा, प्रभात आदि भी प्रतीक रूप में काव्य में आए हैं। संध्या दिन का अवसान है। अतः जीवन की संध्या से जीवन के अन्तिम दिन समझा जाता है। रजनी अंधकार और नैराश्य का संकेत करती है। दिन प्रकाश और आशा का संदेश लाता है। 'ऊष्मा' जीवन के ताप, संकट और संघर्ष तथा वसन्त जीवन के आनन्द और विकास का लाक्षणिक अर्थ रखता है। मेरे नयनों में सावन घिर आये का अर्थ है 'निशि दिन बरसत नयन हमारे।' लाक्षणिक शब्द एक विशेष भाव के द्योतक होने के कारण दीर्घ काल के प्रयोग से प्रतीक रूप में काव्य में स्थान पा जाते हैं। ऐसे शब्दों को हम प्रतीकात्मक शब्द कहते हैं। हमने संक्षेप में प्रतीक के धर्म और स्वरूप की ओर संकेत कर दिया है। इसके प्रभाव और व्यापकता पर विशेष विचार अपेक्षित है।

—मुरलीधर श्रीवास्तव

राजेन्द्र कालेज,
छपरा

हिन्दी-वीर-काव्य धारा और प्रकृति-चित्रण

सामान्य परिचय : हिन्दी साहित्य में प्रकृति का आलम्बन रूप अपेक्षाकृत बहुत कम और उद्दीपन तथा अप्रस्तुत स्वरूप प्राचुर्य से मिलता है। हिन्दी कवियों का अधिकतर काम गिनी गिनाई वस्तुओं के नाम लेकर अर्थ-ग्रहण मात्र कराना रहा है, सूक्ष्मरूप विवरण और आधार आधेय की संश्लिष्ट योजना के साथ बिम्ब ग्रहण करना नहीं।

इसके साथ ही राज-सभाओं में समस्या-पूर्त्ति की जाने लगी जिसमें कवि उपमा, उत्प्रेक्षा आदि की बेसिर-पैर की अद्भुत उक्तियों द्वारा वाहवाही लूटने लगे। जो कल्पना पहले भावों और रसों की सामग्री जुटाया करती थी वह बाजीगर का खिलवाड़ करने लगी।

केशव के पीछे रीति कालीन परम्परा में एक प्रकार से प्रबन्ध काव्यों का बनना बन्द-सा हो गया। आचार्य बनना प्रमुख समझा जाने लगा, कवि बनना नहीं। अलकार और नायिका भेद के लक्षण ग्रन्थ लिख कर अपने रचे हुए उदाहरण देने में ही कवियों ने अपने कार्य की समाप्ति मानली। ऐसे फुटकर रचयिताओं की परिमित कृति में प्राकृतिक दृश्य ढूढ़ना ही व्यर्थ है, शृंगार के उद्दीपन के रूप में षट्-ऋतु का वर्णन अवश्य मिलता है, पर उसमें बाह्य प्रकृति के रूपों का प्रत्यक्षीकरण मुख्य नहीं होता। नायक नायिका का प्रमोद या सन्तोष ही मुख्य होता है। आख्यान काव्य में दृश्य वर्णन को बहुत कम स्थान दिया गया है। यदि कुछ वर्णन परम्परा-पालन की दृष्टि से है भी तो वह अलंकार प्रधान है, उपमा, उत्प्रेक्षा आदि की भरमार इस बात की स्पष्ट सूचना दे रही है कि कवि का मन दृश्यों के प्रत्यक्षीकरण में लगा नहीं है, उचट उचट कर दूसरी ओर जा रहा है।

भक्ति धारा के कवियों में तुलसी तथा सूर ने प्रकृति चित्रण किए। वे भी परम्परा का अनुसरण मात्र समझे जाने चाहिएँ।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि हिन्दी में प्रकृति-चित्रण प्रायः उपेक्षित रहा है। वह एक बँधी हुई परम्परा के अन्तर्गत चलता रहा है। मध्ययुगीन वीर-काव्य धारा उसी परिपाटी का अनुकरण करती रही है। आचार्य केशव उस परम्परा के संचालक एवं पोषक हुए।

अतः यह कहना अनुचित न होगा कि आलोच्य वीर-काव्य धारा में प्रकृति प्रायः उपेक्षित रही। उसका जो कुछ थोड़ा-बहुत रूप मिलता है वह एक परम्परागत शैली का अनुसरण मात्र है। इन कवियों में से कुछ केशव, भूषण, पद्माकर, आदि आचार्य और रीति कवि थे। अतएव अलङ्कार, चमत्कार आदि की प्रवृत्ति से उनके प्रकृति-चित्रण आक्रान्त हो गए। इस धारा के कवियों ने प्रकृति शैली के पौराणिक रूढ़िगत ढंग को भी अपनाया। उन्होंने उसे विचित्र विचित्र कल्पनाओं से सजाया और संवारा है। प्रकृति को उद्दीपन के रूप में ही उन्होंने देखा है। प्रकृति के सहचरण रूप को प्रस्तुत करने की प्रवृति को इन कवियों ने बहुत कम अपनाया है। संस्कृत काव्य-परम्परा की 'आप्त' शैली के प्रभाव से प्रकृति का उद्दीपन विभाव रूढ़ होकर मध्ययुग की विभिन्न परम्पराओं में उद्दीपन की विभिन्न प्रवृत्तियों से युक्त फैला हुआ है। प्रकृति नितान्त अस्वाभाविक स्थिति तक पहुँची हुई है। इसके प्रभाव से प्रस्तुत काव्यधारा भी अछूती नहीं रह सकी है। ऋतु-वर्णन अपने दोनों रूपों—उत्तापक और उत्तेजक तथा ऋतु के अवसर पर विलास एवं ऐश्वर्य-सम्बन्धी क्रिया-कलापों की योजना की गई है। उदाहरणार्थ 'हम्मीर रासो' का प्रकृति-चित्रण इस सम्बन्ध में देखा जा सकता है।

इस क्षेत्र के मुक्तक ग्रन्थों में परिमित क्षेत्र रहने के कारण प्रकृति को अधिक प्रधानता नहीं मिली है। प्रबन्ध-काव्यों में राज-दरबारों के प्रभाव के कारण प्रकृति को अधिक प्रधानता नहीं मिली है। दोनों ही प्रकार के ग्रन्थों पर, ऐश्वर्य विलास, युद्ध-वर्णन, नायक की प्रशंसा, शौर्य-चित्रण, युद्ध-सामग्री, वीरों तथा अन्य वस्तुओं की लम्बी सूचियों के कारण भी इन ग्रन्थों में प्रकृति उपेक्षित रही है। इन कवियों की प्रवृति ठाटबाट की ओर अधिक थी।

अपभ्रंश कवियों की साहित्यिक परम्परा में धार्मिक वातावरण और सामन्ती कवियों में शृंगारिक भावना

अधिक है। इसका भी प्रभाव इस धारा पर स्पष्ट रूप से वर्त्तमान है।

इन्हीं कारणों से इस धारा में प्रकृति प्रायः उपेक्षित रही। उसका जो कुछ भी उल्लेख किया गया वह केवल परम्परा का अनुकरण मात्र था। पर कुछ कवियों ने प्रकृति के अच्छे उदाहरण भी अपने ग्रन्थों में रक्खे हैं जिनका यथा स्थान आगे के पृष्ठों में उल्लेख किया गया है। ये उदाहरण इस बात के द्योतक हैं कि इन कवियों में प्रकृति चित्रण सम्बन्धी मौलिकता तथा स्वाभाविकता का एकदम अभाव न था, पर परम्परा, राजनैतिक उथल-पुथल तथा परिस्थितियों ने उन्हें ऐसा विवश बना दिया था कि प्रकृति की ओर देखने का उन्हें अवसर ही न मिल सका था। इन्हीं कारणों से इस धारा में प्रकृति का वह स्वरूप मिलता है जिसकी ओर ऊपर संकेत किया जा चुका है।

इस धारा के कुछ चुने हुए कवियों द्वारा चित्रित प्रकृति के स्वरूप पर सविस्तार विचार किया जा रहा है जिससे प्रकृति का वास्तविक स्वरूप पाठकों को अधिक स्पष्ट हो सके।

केशव: केशव संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित तथा हिन्दी के आचार्य थे। इसीलिए अपनी आचार्यत्व-भावना के वशीभूत होकर संस्कृत लक्षण-ग्रन्थों के आधार पर उन्होंने कवि-प्रिया में वर्ण्यों की एक तालिका उपस्थित की है। उसमें उन्होंने उन वस्तुओं के नाम गिनाए हैं जिनका वर्णन कवि को प्रकृति-चित्रण करने में करना चाहिए। अपने इन्हीं लक्षणों के अनुसार परवर्ती संस्कृत कवियों की शैली के अनुकरण पर केशव ने प्रकृति चित्रण किया है। यद्यपि 'कवि-प्रिया' की रचना 'वीरसिंह देव चरित्र' के पश्चात् हुई है पर उसका आधार संस्कृत के वे लक्षण ग्रन्थ थे, जिनके सिद्धान्त आलोच्य ग्रन्थ निर्मित करते समय केशव के मस्तिष्क में वर्तमान थे। इसीलिए 'कवि-प्रिया' में कथित प्रकृति वर्णन सम्बन्धी विभिन्न उद्धरणों को देते हुए आगे के पृष्ठों में 'वीरसिंहदेव चरित्र' और 'रत्न बावनी' के प्रकृति चित्रण का विवेचन किया जा रहा है जिससे केशव के प्रकृति चित्रण सम्बन्धी विचार स्पष्ट हो सकें।

'वीरसिंह देव चरित्र' में सूर्योदय, वैतवा, संगम, वर्षा, तथा शरद् ऋतु-वर्णन की प्रधानता है, इन पर नीचे क्रमानुसार विचार किया जा रहा है:

सूर्योदय वर्णन: केशव ने सूर्योदय का वर्णन करने के लिए अरुणाता, पयपावनता, मुनि-व्रत, शंख, वेद ध्वनि, पन्थ पर यात्रियों का आना जाना, कोक कोकनद के सन्ताप का दूर होना, कुवलय, तारा आदि के दुःख का उल्लेख करना समीचीन माना है।[1]

'वीरसिंह देव चरित्र' में वर्णित सूर्योदय के कतिपय छन्द 'रामचन्द्रिका' में ज्यों के त्यों मिलते हैं।[2] इनका यह सूर्य-वर्णन आलंकारिक है। एक ही पद्य में कतिपय अलंकारों का मिश्रण करके केशव ने वर्णन को गौण बना दिया है। उत्प्रेक्षा, उपमा, रूपक, संदेह, श्लेष आदि अलंकारों के फेर में पड़ कर कवि कहीं पर सूर्य को अरुण-मुख वाला वानर और कहीं गगन की अरुणिमा को वड़वा-नल-ज्वाल के रूप में अद्भुत् चमत्कार पूर्ण कल्पना करने में अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझ बैठा है। इस प्रसंग में वह स्वतः सम्भावी कल्पना के आधार पर कालिदास और भारवी का अनुकरण करते हुए प्रतीत होता है। साथ ही माघ से श्रीहर्ष की ओर जाने की प्रवृत्ति भी दृष्टि-गोचर होती है। इन समस्त शैलियों के सम्मिश्रण का कारण यही है कि केशव ने संस्कृत के सभी कवियों से लिया है और साथ ही वह अलंकारवादी भी है, इस कथन को समझने के लिए सूर्योदय के वर्णन का यह छन्द देखिए:

"अरुण गात अति प्रात पद्मिनी प्राणनाथ मय
जनु केशव ह्वै गये कोकनद कोक प्रेम मय
किधौं सक्र को छत्र मढ़्यौ मानिक मूयख पट,
परि पूरन सिंदूर पूर कैधौं मंगल घट।
सुभ सीमित कलित कपाल कै किल कापालिक काल को
ललित लाल कैधौं लसत दिग भामिन के भाल को।"

इस छन्द में सूर्य-वर्णन की इतनी प्रधानता नहीं है जितनी कि होनी चाहिए थी। कवि ने रूपक तथा संदेह से पुष्ट उत्प्रेक्षा का प्रयोग करने के लिए चमत्कार

---

[1] कवि-प्रिया, छन्द २२ से २३. पृष्ठ ५२

[2] वीरसिंह देव चरित्र, छन्द २२ से २८, पृ
६८ से ६६, रामचन्द्रिका, पूर्वार्द्ध, छन्द ८ से १५
पृष्ठ ५७ से ५६।

पूर्ण युक्तियों की ओर अधिक ध्यान दिया है।

नदी वर्णन : केशव ने नदी के चित्रण के प्रसंग में ये वर्ण्य वस्तुएँ मानी हैं :

"जलचर है गय जलज तट, यज्ञ कुंड मुनिवास।
नहान दान पावन नदी, वरणी केशवदास।"

इसी के आधार पर इन्होंने 'वीरसिंह देव चरित्र' में प्रयाग के संगम और बेतवा नदी का वर्णन किया है।

इन्होंने संगम वर्णन में नर नारी के स्नान आरती, वीरसिंह देव द्वारा किए गए राजसी दान, दनार्थ लाए गए सुसज्जित हाथी को जल में प्रविष्ट कराके विभिन्न उत्प्रेक्षा पूर्ण उक्तियाँ कही हैं :

"सुभ कैलास सिला के माँह, मानहु सजल जलद की छाँह।
सूरज सेत सेज मन हरै, तापर जनु शनि क्रीड़ा करे।"

सम्भवतः केशव ने कालिदास का अनुकरण करते हुए संगम का वर्णन किया है। कालिदास का संगम वर्णन उपमा प्रधान होने पर भी अधिक स्वाभाविक है।[1] केशव का यह चित्रण परिपाटी का अनुसरण मात्र, नगर निकट सम्बन्धी नदी की शोभा से युक्त एवं राजसी टाट बाट से युक्त अलंकार-प्रधान है।

बेतवा-वर्णन : केशव द्वारा किए गए बेतवा नदी और रामचन्द्रिका के गोदावरी चित्रण में बहुत-कुछ साम्य है। इस वर्णन में धार्मिक भावों एवं अलंकारों का प्राधान्य है।

वर्षा-वर्णन : केशव ने वर्षा-वर्णन के लिए यह आदर्श माना है :

"वर्षा वर्णन हंस पयान बक, दादुर चातक मोर।
केतक कंज कदम्ब जल, सौदामिन घनघोर।"

इसी आधार पर उन्होंने वर्षा का चित्रण किया है। वीरसिंह देव चरित्र[2] का वर्षा-वर्णन रामचन्द्रिका[3] के वर्षा वर्णन के समान है। दोनों में एक ही भावना को प्रधानता दी गई है। पुराणों में वर्णित वर्षा के समान अलंकार उद्दीपन तथा नायिका वर्णन के आभास से युक्त है :

"कुपल कालिका सी सोहिए, नीलकंठ तन मन मोहिए।
परकीया सी अभिसारिनी, सतमारग की विध्वंसिनी।"

शरद्-वर्णन : इस कवि का शरद्-वर्णन भी परम्परा के संकीर्ण मार्ग में आबद्ध है। इन्होंने इस ऋतु के ये वर्ण्य माने हैं :

"अमल अकाश प्रकाश, शशि, मुदित, कमल कुल कास।
पंथी पितर पयान नृप, शरद् सु केशवदास।"

इसी आदर्श के आधार पर केशव ने शरद्-ऋतु का वर्णन किया है। 'वीरसिंह देव चरित्र'[4] और 'रामचन्द्रिका'[5] के शरद्-वर्णन में पूर्णरूपेण समानता है। यह वर्णन भी अलंकारों पर आश्रित है। शरद् के इस वर्णन में सुन्दरी युवती नारद-मति आदि शरद् के विविध रूपकों का प्रयोग किया गया है। नीचे एक उदाहरण दे कर इस कथन को अधिक स्पष्ट किया जा रहा है :

"चिकुर चोंर, रुचि चन्द्राननी,
कुन्द दंत दुतिमद मोचनी।
भृकुटि कुटिल सुरधनु दुति सनी,
खंजरीट चंचल लोचनी।
विम्बाधर शुकनासा बनी,
तिलक चिलक रुचि जाति न भनी।
अम्बर लीन पयोधर धरै,
जलज हार मनु हरषित करै।"

इससे प्रत्यक्ष है कि केशव के ऋतु वर्णन भी उसी प्रकार के हैं जिस प्रकार के अन्य चित्रण। इन्होंने कहीं पर भी ऋतुओं से सम्बन्धित प्राकृतिक रमणीयता का काव्योचित वर्णन नहीं किया है। अतएव यह स्पष्ट हो जाता है कि उनका मन प्रस्तुत प्राकृतिक विषयों की रम्यता में मग्न होना नहीं जानता था। वे अप्रस्तुत की कौतुहल-पूर्ण योजना में लगे रहते थे। विविध अलंकारों, उद्दीपन, नीति आदि की दृष्टि से किए गए 'भागवत' और 'मानस' के समान उनके प्रकृति-चित्रण मिलते हैं। केशव परम्परा के पूरे अनुयायी एवं बाण आदि संस्कृत कवियों से पूर्णरूपेण प्रभावित थे। डाक्टर बड़थ्वाल का यह मत "प्रकृति के बीच में वे आँख बन्द करके जाते थे"[6] ठीक ही है। 'वीरसिंह देव चरित्र' और 'रामचन्द्रिका' में एक ही प्रकार के

---

[1] रघुवंश, सर्ग १३, श्लोक ५४ से ५७, पृष्ठ ४१६-४२०।

[2] वीरसिंह देव चरित्र, छन्द १-१५ पृ० ६७-६८२

[3] रामचन्द्रिका, पूर्वार्द्ध, छन्द ६-२२, पृ० २०४ से २११

[4] वीरसिंह देव चरित्र, छन्द १५-२१, पृ० ६८

[5] रामचन्द्रिका, पूर्वार्द्ध, छन्द २३-२७, पृ० २११, २१२

[6] नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग १०, १९८६ वि० पृष्ठ ३६४

अधिकांश प्राकृतिक चित्रणों का पारस्परिक साम्य इस बात की पुष्टि करता है कि कवि एक परम्परा एवं भावना के वशीभूत था। इसीलिए उक्त ग्रन्थों में इस प्रकार की आवृत्ति बन पड़ी है। प्राकृतिक दृश्यों के सौन्दर्य की विभिन्न दृष्टियों से प्राप्त अनुभूति का हृदय की रागात्मिका वृत्ति से सामंजस्य स्थापित करके मनोरम प्राकृतिक चित्रण उपस्थित करने की केशव में लेश मात्र भी क्षमता न थी।

भूषण : भूषण ने भी इस क्षेत्र में अन्य कवियों के समान कवि-परम्परा का अनुकरण किया है। 'शिवराज भूषण' में विविध अलंकारों के उदाहरण देते समय उन्होंने प्रकृति का उल्लेख किया है। पर उसे वास्तविक प्रकृति-चित्रण नहीं कहा जा सकता। अपने नायक का यश-सौरभ विकसित करना ही उनके काव्य का मुख्य उद्देश्य था। उनके प्रकृति-वर्णन उद्दीपन एवं अलंकार शैली के अन्तर्गत ही माने जाने चाहिएँ। उनके 'रायगढ़' वर्णन में राजसी ठाट-बाट, एवं श्रृंगारिक वर्णन ही प्रधान हैं, यथा :

"भूषण भनत जहँ परसि कै मनि पुहुप रागन की प्रभा।
प्रभु-पीतपट की प्रकट पावत सिन्धु, मेघन की सभा।
मुख नागरिन कै राजहीं कहुँ फटिक महलन संग में।
विकसंत कोमल कमल मानहुँ अमल गंग तरंग में।"

इसी प्रसंग में उपवन का वर्णन करते हुए भूषण ने वृक्षों, लताओं तथा पक्षियों के नाम गिनाने वाली परिपाटी का अनुकरण किया है। उनके नाम गिनाकर उन्होंने अपने कार्य की इतिश्री समझी है। वे वहाँ उत्पन्न होते हैं या नहीं इससे उन्हें कोई प्रयोजन नहीं। दाख दाड़िम, सेव आदि उत्तरी भारत के वृक्ष दक्षिण में लगा कर देश-दोष एवं अपने अज्ञान का परिचय दिया है। परम्परागत लकीर का पीटना ही उन्होंने प्रधान कर्त्तव्य माना है जैसा कि इन पंक्तियों से स्पष्ट है :

"कहुँ केतकी कदली करौंदा कुँद अरु करवीर हैं।
कहुँ दाख दाड़िम सेव कटहल तूत अरु जंभीर हैं।
कितहूँ कदम्ब-कदम्ब कहुँ हिंताल ताल तमाल हैं।
पीयूष तें मीठे फलै कितहूँ रसाल रसाल हैं।
लसत बिहंगम बहु लवनित बहु भाँति बाग महँ।
कोकिल कीर कपोत केली कल-कल करंत तहँ।
मंजुल महिर मयूर चटुल चातक चकोर-गन।
पियत मधुर मकरन्द करत झंकार भृंग गन।
भूषण सुवास फल फूल जुत चहुँ रितु बसंत बसंत जहं।
इम राज दुग्ग राजत रुचिर सुखदायक सिवराज कहं।"

इन उदाहरणों से इस बात की पुष्टि हो जाती है कि भूषण ने आचार्यों की बतलाई हुई 'आप्त वाक्य' वाली परिपाटी का अनुकरण किया है।

अप्रस्तुत पद्धति : उनके द्वारा चित्रित प्रकृति के कुछ रूप अलंकार-परम्परा के अन्तर्गत आते हैं। विविध अलंकारों के उदाहरणों के लिए शिवाजी के गुणों को चुनकर भूषण ने उपमान आदि प्रकृति से लिए हैं। इस शैली में भूषण ने प्रथम प्रतीप, चतुर्थ प्रतीप, पंचम प्रतीप उपमेयोपमा, ललितोपमा, रूपक (कलियुग-रूपक, जलधि-रूपक) शुद्धापह्नुति, गम्योत्प्रेक्षा, भाविक, अत्युक्ति, अपह्नुति, यमक, वृत्यानुप्रास, उपमा, विरोधाभास उदाहरण आदि अलंकारों को लिया है। इतने अलंकारों के उदाहरणों के लिए प्रकृति के विभिन्न उपमानों का ग्रहण करना कवि की इस क्षेत्र में असाधारण प्रतिभा का परिचायक है।

भूषण वीर-रस की अनेकरूपता को परिपूर्ण करने के लिए संश्लिष्ट योजना का सहारा ले सकते थे पर उन्होंने सब स्थानों पर स्फुट योजना ही का आश्रय ग्रहण किया है। प्रबन्ध-काव्यों में ही नहीं स्फुट पद्यों में भी संश्लिष्ट चित्रण सफलतापूर्वक किए जा सकते हैं यद्यपि यह सत्य है कि मुक्तक रचना में क्षेत्र सीमित रहता है। भूषण ने रीतिकालीन श्रृंगार रस के प्रभाव से ऊँचे उठ कर वीर रस प्रधान काव्य रचना की, पर प्रकृति-चित्रण में उन्होंने केवल परम्परागत शैली का ही अनुकरण किया। उसमें नवीन योजना कहीं नहीं की। केवल इतना ही उनके पक्ष में कहा जा सकता है कि अपने नायक के यश-गान, अलंकार के प्राधान्य, मुक्तक शैली तथा परम्परागत परिपाटी के कारण प्रकृति उनके काव्य में उपेक्षित तथा संकुचित सीमा के भीतर प्रयुक्त हुई है। पर परिपाटी के अनुसार प्रकृति-चित्रण करने में वे अपनी धारा के एक प्रमुख कवि हैं।

मान : ऋतु-विलास वर्णन : मान कवि ने 'राज-विलास' में ऋतु-विलास का वर्णन किया है जो अत्यन्त प्रसिद्ध है पर इस वर्णन में इस कवि ने नाम गिनाने की परिपाटी का ही अनुकरण किया है, यथा :

"अंवर विलगी अंब, करनी बहु कदंब।
आंबिली तरु असोक, थट्ठे सु असन थोक।
आंवरी अगछि औन, चंपकइ दोष चैन।

अति अखरोट अखि, चारु चार जीह चखि ।६
केतकी रु कचनार, केवरा प्रमोद कार ।
षारिक पिंड खजूर, भाषियै अंगूर भूरि ।८
ज्योंजा तूत नालिकेर, गुलतररा गिरि मेर ।
चन्दन महक्कक चारु, दारिम सु देवदारु ।१०”

(राजविलास, पृष्ठ ८०)

कवि ने इस वर्णन में दूरदर्शिता से काम नहीं लिया है और कदम्ब, अशोक, अखरोट, पिंडखजूर, अँगूर, चन्दन, देवदारु आदि वृक्षों को उदयपुर के उपवन में लाकर लगा दिया है। इससे आगे के पद्यों में बादाम, सुपारी आदि का उल्लेख भी मान की असावधानी का परिचायक है। इस कोरी नामावली को परम्परानुसार न गिना कर कवि उसका विम्ब ग्रहण करा सकता था। उस ओर से उसने अपनी आँखें एकदम बन्द कर लीं।

उस वाटिका के पक्षियों का वर्णन भी परिपाटी के अनुसार ही हुआ है पर चिड़ियों के स्वभाव सम्बन्धी कुछ अच्छी उक्तियाँ इस कवि से बन पड़ी हैं :

“कावरि कपोत पोत कोरि, तूती फरु लैंत तोरि ।
लावारु तीतर लख चंचु चारु मेवा चख ।१७”

इससे आगे चल कर महल, हाथी, घोड़ा, बंगला, आदि का उल्लेख करके इस कवि ने राजसी ठाट-वाट को ही प्रधानता दी है। ‘मानवृत्त’ सम्पूर्ण प्रकृति-वर्णन परम्परा का अनुकरण मात्र होते हुए भी अलंकार एवं चमत्कार शैली से सर्वथा मुक्त है, यह राजसी उपवन का चित्रण है। इस दृष्टि से विचार करने पर विदित होगा कि इस उपवन के चित्रण में केवल उन्हीं उपकरणों का उल्लेख किया गया है जिनका ऐसे अवसरों पर उल्लेख करने की परम्परा चली आती थी। पर इस प्रसंग में पक्षियों के कलरव, पुष्पों के प्रफुल्लित होने, शीतल-मन्द सुगन्धित-वायु के प्रसरण, ऋतु-वर्णन आदि के द्वारा विम्बग्रहण कराया जा सकता था पर इस ओर कवि का ध्यान ही नहीं जा सका।

वर्षा वर्णन : ‘राज-विलास’ में एक स्थान पर वर्षा-वर्णन अत्यन्त स्वाभाविक एवं मनोरम बन पड़ा है।[1] आषाढ़ में आकाश में उठते हुए मेघों का चित्र अंकित करते हुए कवि कहता है :

“अति पावस उल्हरिय करिय कंठल धुरकाली ।
आसा बंधि असाढ़ हरप करसणि कर हाली ।
बद्दल दल वित्थुरिय चारु चपला चमकंतह ।
गज्जघोष गम्भीर मोर गिरि सोर मचंतह ।
आदीत सोम छवि आवरिय घण आयौ घमसाण घण ।
वरसन्त बुंद बड़ बड़ विमल जलधार वल्लभ जगत जण।”

(राजविलास पृ० ८)

कहीं कहीं पर मान ने प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण एवं विस्तृत विश्लेषण की प्रतिभा का भी परिचय दिया है :

“जल बहत जोर षलहलत खाल,
पयधार पतत दगगग प्रनाल ।
पप्पीह चीह पिउ पिउ पुकार,
भूरुह विहस्सि अट्टार भार ।
× × × ×
टपकंत बुन्द तरु पव्व डाल,
पंडव सुकीन द्रुम वल्लि माल ।
बग टग लगाय पावस बइट्ठ,
दारा सु बली पतिव्रता दिट्ठ ।
सारंग करत गायन सुजान,
रीझंत नेह सुनि रायराण ।
मल्हार घठत माचंत मेह,
नर नारि चित्त बाधंत नेह ।”

(राजविलास, पृ० ९-१०)

इस सम्पूर्ण वर्णन द्वारा मान ने वर्षा का विम्ब ग्रहण कराने में पूर्ण सफलता प्राप्त की है और उसके प्रायः सभी प्रमुख अंगों की विवेचना करके अपनी सूक्ष्म वुद्धि का परिचय दिया है।

पुराणों में वर्णित कृष्ण द्वारा गोवर्द्धन उठाने के कथानक को लेकर मान कवि ने वर्षा का रूपक बाँधा है। इसका परिगणन परम्परागत पौराणिक ऋतु-वर्णन के अन्तर्गत ही किया जाना चाहिए। यह छन्द निम्न लिखित है :

“करिके व्रज पर कोप मुसुलधारनि घन मंडिय ।
बद्दल बसमति व्योम एक करि अधिक उमंडिय ।
उदक चढ़त आकाश गोप गोपी सब गइयनि ।
गोवर्द्धन गिरि गह्यो भीर पत्ती निज भइयनि ।

---

[1] राजविलास, सं० ३८-५७, पृ० ८-१०

बैराट रूप रचि विष्णु तब कर अंगुरि पर धरि अचल।
बरसन्त सत्त अहनिशि अवधि सो संकट टारयौ सकल।"
(राजविलास पृ० १२८)

इसी प्रकार 'राजसर' प्रसंग में वर्षा का केवल उल्लेख भर किया गया है, उसका स्वाभाविक वर्णन नहीं।

देवमूर्ति अर्चना[१] में चम्पक, गुलाब आदि सुरभित पुष्पों का चढ़ाया जाना और उन पर भौंरों का मँडराना दिखलाया जाना कुछ अनुचित-सा लगता है। अच्छा होता यदि भौंरों का उल्लेख किसी वाटिका के प्रसंग में किया गया होता। देवालय प्रसंग में यह कुछ अस्वाभाविक तथा परिपाटी-पालन का परिचायक है।

कवि मान ने 'चित्रकोट' वर्णन[२] में सरोवरों, कुंडों आदि उदयपुर के सुन्दर वर्णन[३], राजसरोवर के बनवाने के प्रसंग[४] में नदी, पर्वत आदि का उल्लेख किया है पर यह सभी प्रासंगिक परम्परागत है। कवि का ध्यान प्रकृति चित्रण की ओर अधिक नहीं गया है। ऐसा विदित होता है कि उन प्रसंगों में उनकी बुद्धि अपने प्रधान विषयों उदयपुर, राजसरोवर की नींव, बाँध बाँधने, महल बनवाने आदि में अधिक रमी है, क्योंकि उन्होंने इन सभी का वर्णन सूक्ष्म तथा विस्तारयुक्त दिया है।

मान प्रकृति के कोमल एवं मधुर रूप का वर्णन करने में जितने सिद्धहस्त थे उतने ही चतुर उसके उग्र एवं रूक्ष स्वरूप के चित्रण में भी। मरुभूमि के निवासी इस कवि के लिए यह स्वाभाविक था। दुर्भिक्ष का वर्णन करते समय उन्होंन प्रकृति के इसी उग्र रूप को लिया है। वर्षा के न होने से मरुस्थल की दशा नीचे के पद्य में देखिए :

"पश्चिम पवन प्रचंड बजत अहनिसि सु बंध बिनु।
अथिर उतारु आभ प्रात प्रहरेक बहत पुनि।
क्रूर अधिक करि किरन तपत मध्यानहिं तापन।
प्रचलत पश्चिम पहुर अनिल शीतल असुवाहन।
निशि तार नक्षत्र निर्म्मल निखरि बद्दल विद्युत गाज बिन।
भय भीत चिन्ह दुरभक्ष कै देखि सकल जग मोदु मन।"
(राजविलास, पृ० १३६)

मान ने 'नखशिख' वर्णन में प्रकृति से उपमान लेने की पद्धति का भी अनुकरण किया है, जैसा कि इस उदाहरण से स्पष्ट है :

"अरविंद पुष्प कि मीन अक्ष सु प्रचल षंजन पेषियं।
सारंग शिशु दृग सरिस सुन्दर रैह अंजन रेषियं।
संभृत जुग जनु सुधा संपुट विश्व सकल विहारनी।
अद्भुत अनूप मराल आसनि जयति जय जगतारनी।"
(राजविलास, पृ० ५)

सेना के प्रयाण में हाथियों की उपमा मेघों से देना, सेना को भादों की मेघमाला मानना तथा मद चूते हाथियों के पास भौंरों का गुंजारना आदि परम्परागत अप्रस्तुतों का प्रयोग भी मान कवि ने किया है[५]। अप्रस्तुत में अतिशयोक्ति के प्रयोग का एक उदाहरण नीचे दिया जाता है :

"महियल जितै मराडान दैखियैं जितै दिगन्तह।
सूर जितै संचरै पवन जिते पसरत्तह
जितै दीप, अरु जलधि जानि ससि तारक जंह लग
जितै बृष्टि जलधार जितै नर नारि रुप जग।
इल जितीक अष्ट कुली अचल बसुमति दैखिय सम विषम
कवि मान कहे दिट्ठो न कहुं सरवर राज समुद्द सम।"

उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि कवि मान ने प्रकृति के विविध रूपों को विभिन्न दृष्टियों से देखने और समझने का प्रयत्न किया है। इन्होंने परम्परागत नाम गिनाने की परिपाटी, नखशिख वर्णन में प्राकृतिक उपमान, अप्रस्तुत पद योजना, प्रकृति के उग्र रूप तथा आलम्बन स्वरूपों को अपनाया है। उनके द्वारा चित्रित प्राकृतिक विवरण अधिकांश परम्परागत ही हैं पर जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है उनमें संश्लिष्ट-योजना की योग्यता थी जिसका इन्होंने यथा अवसर परिचय भी दिया है। परम्परा के अनुकरण में उन्होंने केशव और भूषण की अलंकार प्रधान शैली को नहीं अपनाया है। इन कवियों ने जिस अलंकृत पद्धति का अनुकरण किया है उसमें अलङ्कारों के दुर्वह भार से दब कर प्रकृति का रूप विकृत हो गया है। मान ने उनके विपरीत अपनी सीधी-

---

१. राजविलास, छं० ८१-८२, पृ० १३२। २
२. वही छं० २-३, पृ० १६।
३. वही छं० ६०-१४७, पृ० ४३-५४।
४. राजविलास. छं० १०५-१११, पृ० १३५-१३६
५. राजविविलास, छं० ८७, पृ० १६१-१६२,
छं० २७, ३०, पृ० १८२।

सादी सरल शैली में प्रकृति चित्रण किया है और ऊहात्मक. काल्पनिक उड़ान का प्रायः कम आश्रय लिया है। इतना होते हुए भी यह कहना ही पड़ेगा कि यह कवि अपने ग्रन्थ में प्रकृति को अधिक स्थान दे सकता था, पर उसने ऐसा नहीं किया। सम्भवतः इसका कारण यही हो कि वह चरित्र-काव्य लिख रहा था, प्रकृति चित्रण उसका प्रधान विषय नहीं था। तो भी उसके कथानक में ऐसे अनेक अवसर आए हैं जहाँ पर प्रकृति के सुन्दर चित्र चित्रित किए जा सकते थे, जिनकी ओर से कवि प्रायः उदासीन रहा है। इन दोषों और अभावों के होते हुए भी प्रकृति चित्रण की दृष्टि से मान अपनी धारा में एक प्रमुख कवि हैं इसके मानने में किसी को संकोच नहीं हो सकता।

सूदन : सूदन ने अपने काव्य 'सुजान-चरित्र' में प्रकृति-चित्रण, ऋतु-वर्णन आदि को कोई स्थान नहीं दिया है। इस ग्रन्थ में प्राकृतिक वर्णन के अभाव का कारण कथानक की इतिवृत्तात्मकता तथा युद्ध-वर्णन की प्रमुखता है। यद्यपि सूदन ने अन्य क्षेत्रों में अपनी रुचि-वैचित्र्य-बहुता का परिचय दिया है पर प्रकृति के प्रति उन्होंने उपेक्षा-भाव ही प्रदर्शित किया है। इन्होंने प्रासंगिक ढंग से परम्परागत योजना तथा नख-शिख-वर्णन में प्रचलित उपमानों को ही 'सुजान चरित्र' में अपनाया है।

सेना के प्रयाण तथा युद्ध-वर्णन में वर्षा, मेघ आदि के प्रचलित रूपक का उत्प्रेक्षा आदि के साथ सूदन ने बहुत प्रयोग किया है :

"जब कूंच कियो रस वीर सनं।
तब पीत पताकन सोभ बनं॥
जनु चञ्चल दामिन सोभ घनं,
हय टापन सौं कहुं होत ठनं।
बहु सेनु दरैरनु दैति चली,
मनु सावन की सरिता उझली।
अहि सैल मनौ मुख काखि रहै,
अरु ढालन कच्छप रूप गहै।
जल जोरि तुरंगन देखि रहै,
मनु मीन जहाँ धुज देह लहै।
द्रुम ज्यों द्रुम ढाहति आवत है,
इम सैन नदी सु कहावत है।"

(सुजान चरित्र, पृ० ५७)

युद्ध-वर्णन में 'प्रयाग' के रूपक का कतिपय स्थलों पर इन्होंने सुन्दर प्रयोग किया है :

"अनी दोऊ बनी घनी लोह कोह सनी धनी
धर्मनु की मनी बान बीतत निषंग में
हाथी हटि जात साथी संगन थिरात और
भारती में न्हात गंग कीरति तरंग में
भानु की सुता सी कवि सूदन निकारी तेंग
बाहत सराहत कराहत न अंग में।
वीर रस रंग में यों आनन्द उमंग में सो
पगु पगु प्राग होत जोधन कों जंग में।"

(सुजान चरित्र, पृ० २१)

युद्ध-क्षेत्र को काल की वाटिका मान कर कवि ने एक अत्यन्त सुन्दर एवं स्वाभाविक उत्प्रेक्षा युक्त रूपक बाँध कर प्रकृति वर्णन किया है :

"गेंदा से गुलफ गुल मेहँदी से अंत भार,
कुजय कलित तास खोपरी सुभाल की।
नासा गुलबासा मुख सूरजमुखी से भुज,
कलगा बँधूक ओत जीव दुति लाल की।
कोकनद कर ज्यों करन गुल कोकनसें,
इंदीवर नैन बाल जाल अलि-माल की।
पानी किरवानी सौं हरयानी कर सूरज कै,
पर-भूमि फूली फुलवारी मानौ काल की।

(सुजान चरित्र, पृ० ८७)

युद्ध में वसन्त-ऋतु की कल्पना भी कवि ने उत्तम ढंग से की है, यथा :

"गोली भौंरसी भननात, पिक ज्यौं गाल कुहकत जात।
धूवाँ त्यौं पराग उड़ात, गंधक गंध सौरभ गात।
टूट्टत तरवरन की डार, सोई होतु है पतझार।
देखैं ए उदीपन साज, गढ़ ज्यौं सदन है रितुराज।
तासैं ह्वै सकाम सरीर धाए सामुहैं जदुवीर।
गढ़ की भूमि सो नव नारि, भूषन वस्त्र शस्त्र विचारि।
बुरजैं उरज ही कै भाइ. तिनकौं गह्यौ चाहतु धाइ॥"

(सुजान चरित्र पृ० ११४)

कहना न होगा कि युद्ध-वर्णन में प्रकृति का पुट देकर उद्दीपन की दृष्टि से सूदन द्वारा इस छन्द की रचना की गई है।

कृष्ण-रूप-वर्णन में इस कवि ने परम्परागत प्राकृ-

तिक उपमानों को ही अपनाया है, यथा :

"लोचन नील कमल से सोहैं भौंहें अलि-अवली सी ।
जो व्रज बधू निहारति उर मैं सो रहि जात छली सी ।"

सूदन ने व्रज का भी वर्णन किया है पर उसमें भी परम्परा का अनुसरण मात्र है, इन्होंने इसमें नाम गिनाने की साधारण परिपाटी को अपनाया है। नगर, दुर्ग, आदि के चित्रण की ही इस सम्पूर्ण वर्णन में प्रधानता है, पर कहीं कहीं पर उनसे उत्तम पंक्तियाँ भी बन पड़ी हैं, यथा :

"तहाँ कूप कासार वापी जु सूझै
सबै मानसर की प्रभा कौं न बूझै ।
जहाँ आठहूँ भाँति के कंज फूलैं
मनौं नीर आकास तारे अडूलैं ।
तहाँ हँस हँसी चकी चक्क डोलैं
किते अण्ड-जाती करैं हैं कलोलैं ।
तटे बाग हैं राग कै भौंन मानौं,
फुलैं फूली देवी जिन्हैं जी सुहानौं ।"

(सुजान चरित्र, पृ० २३५)।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि कवि का मन अधिकतर युद्ध-वर्णन में ही रमा है। उसी के लिए उसने परम्परागत प्रस्तुत की सहायता ली है। रूप-वर्णन में भी वही परिपाटी अपनाई गई है। पर उसने केशव और भूषण की अलंकार प्रधान शैली का अनुकरण नहीं किया है। उसके सभी प्राकृतिक वर्णन स्वाभाविक तथा परम्परागत और रस-विकास में सहायक हैं। बँधी हुई सीमा के भीतर ही सूदन ने प्राकृतिक चित्रों को सजाया है।

पद्माकर : पद्माकर के अन्य ग्रंथों को देखने से विदित होता है कि उन्होंने प्रकृति-वर्णन में श्रृंगारी कवियों की शैली अपनाई है। उनके ऋतु-वर्णन में वर्षा और बसन्त का वर्णन उत्तम हुआ है। पर उनके वीर-रस ग्रन्थों में प्रकृति-चित्रण नगण्य है। सेना और युद्ध-वर्णन में वर्षा के सुन्दर रूपक बाँधे हैं, यथा :

"तहं रन उतंग मतंग माते,
उमड़ि बद्दल सै रहै ।
चहुँ ओर धुरवा सै घुमड़ि,
घर धूरि धारन के थहै ।
झमझम झला सै धान वार,
चपला चमक बरछीन की ।
भननाति गोलिन की भनक,
जनु धनि धुकार झिल्लीन की ॥८०॥
दिसि दिसन दादुर सै उमगि,
सुनकीत्र दूंदि मचावहीं ।
कल कीर कोकिल सै तहाँ,
ढाढ़ी महाधुनि छावहीं ।
रन रंग तुंग, तुरंग गण,
सत्वर उडत्त मयूर सै ।
तहँ जगमँगानी जामगी,
जुगनून हू कै पूर सै ॥८१॥"

(हिम्मतबहादुर विरुदावली पृ. ८१)

'हिम्मतबहादुर-विरुदावली' में इन्होंने अन्य स्थलों पर हाथियों, अस्त्र-शस्त्रों आदि युद्ध-सामग्री से तथा वर्षा के विविध उदाहरणों से उपमान लेकर उत्प्रेक्षा, उपमा, रूपक, सन्देह, भ्रम आदि की सहायता से युद्ध-वर्णन किया है। इनके उदाहरणों के लिए कतिपय छन्द देखे जा सकते हैं।[1]

प्रकृति-वर्णन की दृष्टि से पद्माकर को इस धारा के कवियों में विशेष महत्व नहीं दिया जा सकता। इन्होंने प्रचलित प्रस्तुतों का प्रयोग करके पिष्ट-पेषण ही का कार्य किया है। इसका एक कारण ग्रन्थ का संक्षिप्त आकार भी हो सकता है। पर उनके श्रृङ्गार-रस सम्बन्धी ग्रन्थों के प्रकृति-वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि वे परम्परा मुक्त कवि थे। मानव-स्वभाव आदि के चित्रण में ही उनका ध्यान अधिक लगा था।

जोधराज : जोधराज ने 'हम्मीर रासो' में ऋतु-वर्णन किया है। उन्होंने बसन्त-ऋतु से प्रारम्भ करके षट्-ऋतु-वर्णन करते हुए पुनः बसन्त का चित्रण किया है।[2] इस सम्पूर्ण वर्णन में उर्वशी द्वारा पद्म-ऋषि को च्युत करने के प्रयत्न दिखाए गए हैं। अतएव इस वर्णन का मुख्य उद्देश्य उद्दीपन ही है। इस वर्णन को देख कर 'पृथ्वीराजरासो' के इकसठवें समय 'वनवज्ज समय' में वर्णित षट्-ऋतु का स्मरण हो आता है।[3] जोधराज ने ऋतुओं का

---

[1] हिम्मत बहादुर विरुदावली छंद ४१, ४७, ४६, ६४, ७३, ७६, ८२, ८३, ११५, १४७, २१०।

[2] हम्मीररासो छंद १००-१२६, पृष्ठ २०-२७।

[3] पृथ्वीराजरासो, छंद १-७२ पृष्ठ १५७७-१५८८।

क्रम रक्खा है जो चन्द का है । दोनों ग्रन्थों के वर्णन उद्दीपन प्रधान हैं । पर चन्द के वर्णन अधिक विस्तृत हैं। यह विशेषता जोधराज में नहीं आने पाई है । ऐसा विदित होता है कि जोधराज चन्द के ऋतु वर्णन से परिचित थे ।

इन्होंने वसन्त-ऋतु के वर्णन में उद्दीपन के उपकरण ही गिनाए हैं, यथा :

"संगीत भाव गावैं अनंत
सुर नर सुनंत बसि होत मंत ।
बन उपबन फुल्लहि अति कठोर
रहैं जोंर भौंर रस अम्ब मौर ॥१०२॥
कल कूजत कोकिल ऋतु वसन्त
सुनि मोहत जहँ तहँ सकल जंत ।
नर नारि भए कामंध अंध
तजि लाज काज परि काम फँद ॥१०३॥"
(हम्मीर रासो पृ० २१)

जोधराज ने अन्यत्र बसन्त-वर्णन के बहाने से उर्वशी के नख शिख एवं शृंगारिक चेष्टाओं का उत्प्रेक्षा आदि की सहायता से चित्रण किया है । कुछ उदाहरण ये हैं :

"कपोल गोल आदसं कि भौंह भौंर सादसं ।
प्रफुल्लि कंज लोचनं मृगाक्षि गर्व्व मोचनं । ॥१३७॥
सुहंत स्याम अल्लकं भ्रमत्त भौर वल्लकं
अरून रेख बेसयं पियूष कोस दैखयं । ॥१४०॥
(हम्मीर रासो पृ. २८)

इस कवि ने ग्रीष्म ऋतु-वर्णन में उसकी प्रखरता आदि का वर्णन न करके एक आश्रम की कल्पना करते हुए उष्णता से बचने तथा उद्दीपन के उपकरणों का उल्लेख किया है, यथा :

"इक आश्रम सुन्दर अति अनूप ।
तिय गान करत सुन्दर सरूप ।
सौरभ अपार मिली मंद पौन ।
मृग मद कपूर मिल करत गौन ॥१०७॥
श्रीखण्ड मेद कैसर उशीर,
तिहिं परिस ताप मिट्टत सरीर
गंधर्व और किन्नर सुबाल,
मिली अंग रंग पहरें सुमाल ॥१०८॥
(हम्मीर रासो, पृष्ठ २२)

इनके वर्षा वर्णन में भी उपर्युक्त प्रवृत्ति लक्षित होती है :

"घन घोर गज्जंत वर्षंत पानी ।
कलापी पपीहा रहैं भूरि बानी ।
तहाँ बाल झूलंत गावंत झीनी ।
रही जाय आश्रम भई काज भीनी ॥१२॥"

इसी प्रकार इनके शरद्-ऋतु-वर्णन में भी उद्दीपन प्रधान है यद्यपि प्रकृति-चित्रण की दृष्टि से प्रारम्भ ठीक किया है :

"बहु खंजन रंजन भृंग भ्रमैं,
कल हंस कला-निधि बेद भ्रमैं ।
बसुधा सब उज्जल रूप कियं,
सित वासन जानि बिछाय दियं ॥११७॥"

पर आगे चलकर बाला के हाव-भाव वर्णित किए गए हैं । हेमन्त तथा शिशिर वर्णन में भी इसी एक भाव की प्रधानता है :

बहै-बहु भाँति त्रिबिद्धि समीर,
रहे नहिं धीरज होत अधीर ।
लता तरु भेंटत संकुल भूरि,
भए त्रण गुल्म हरे जड़ भूरि ॥१२६॥"

अल्लाउद्दीन के आखेट[1] तथा राव हम्मीर की वाटिका[2]-वर्णन में जोधराज ने नाम गिनाने की परम्परागत शैली का ही अनुकरण किया है । आखेट वर्णन में उद्दीपन भाव की भी प्रधानता है। कवि की इस प्रवृत्ति के कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं :

"कहुँ रहै कैवरा जुही जाय,
संदुप्प ओर संभो सु आय ।
आचीन नगगस और असोक,
पाटल सचमोलिय बोलि कोक ॥३५६॥
एला लवंग अंगूर बैलि,
माधुज्ज लता माधुरी झेलि ।
तरु ताल तमाल रु ताल और,
ता मध्य कमल अरु कुमुद भौर ॥३६०॥"

इस प्रकार जोधराज ने परम्परागत प्रकृति-वर्णन को ही अपनाया है । इस सम्पूर्ण धारा में जोधराज ने ही

---

[1] हम्मीर रसो छन्द १६७-२०६, पृ८ ४०-४३ ।

[2] वही छं० ३५५-३७६, पृ० ७२-७३ ।

सभी ऋतुओं का वर्णन किया है। पर उनमें परिपाटी का पालन तथा उद्दीपन की ही प्रधानता अधिक है। उनके सम्पूर्ण प्रकृति वर्णन में कोई नवीन बात नहीं है। केवल परम्परा का अनुकरण मात्र है।

अन्य कवि : प्रकृति-वर्णन की दृष्टि से इस धारा के अन्य कवियों का स्थान अत्यन्त साधारण है। केवल गोरेलाल ही ऐसे कवि हैं जिनका उल्लेख यहाँ पर किया जा सकता है। इन्होंने अपने 'छत्रप्रकाश' में स्वामी प्राणनाथ के उपदेशान्तर्गत प्रकृति-चित्रण की ओर कुछ ध्यान दिया है। पर यह वर्णन भी 'भागवत' के उपदेशात्मक ढंग पर लिखा गया है। इसमें नख-शिख, शृंगार, तथा जुगल किशोर-किशोरी के कुंज-विहार का ही प्राधान्य है।

शेष कवियों–जटमल, श्रीधर, मतिराम (केवल आलोच्य छन्दों में), सदानन्द तथा गुलाब कवि का इस सम्बन्ध में कोई विशेष महत्व नहीं है। उपर्युक्त कवियों की रचनाओं में प्रासंगिक रूप से यत्र तत्र प्रकृति के उल्लेख आगए हैं जो उद्दीपन एवं अप्रस्तुत-पद-योजना के अन्तर्गत ही माने जाने चाहिएँ।

इस प्रकार मध्यकालीन हिन्दी-वीर-काव्य धारा में प्रकृति चित्रण की वास्तविक स्थिति क्या थी इसका परिचय उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन से पाठकों को प्राप्त हो सकेगा, ऐसी आशा है।

—डा० टीकमसिंह तोमर
एम. ए; डि. फिल.

बलवन्त राजपूत कालेज,
आगरा

कन्नड़ की कहावतें

बेंद मनेगे हिरिदिद्दे लाभ
आग लगन्तो झोपड़ा जो मिले सो लाभ
कुणीलारद सूळेगे नेलवेल्ला डोंकु
नाच न जाने आँगन टेढ़ा।
मुत्तगक्के मूरेले
ढाक के तीन पत्ते
नायि बालद डोंकु
कुत्ते की दुम टेढ़ी।
मनेगे मारि हेररिगे उपकारि
घर का भेदी लंका ढाहे।
कोणन मुंदे किरडि बारिसद हागे
काला अक्षर भैंस बराबर।
हित्तिल गिड मद्दल्ल
घर की बूटी दवा नहीं होती (घर का जोगी जोगड़ा)।

लक्ष्मीपुरम्,
मैसूर

—लक्ष्मीदेवी

भारत गौरव हिम शेर तेजिंग

संसार का सब से ऊँचा पर्वत शिखर एवरेस्ट युगों से अविजित रहा। भारत और तिब्बतीय परम्पराओं के अनुसार एवरेस्ट शिखर पर मानव का विजय पा सकना न केवल कठिन परन्तु असम्भव था। गत ३२ वर्षों से विभिन्न देशीय पर्वतारोही अभियानों द्वारा किए गए विफल आक्रमणों के आधार पर एवरेस्ट दुर्जेय और अजेय हो गया था। परन्तु 'मनुष्य अपार शक्तिशाली है' इसका समुज्ज्वल उदाहरण रखते हुए भारत गौरव हिम सम्राट तेजिंग ने भारतीय वीरता के इतिहास की करवट बदल दी और सदियों से अजेय गगन चुम्बिनी एवरेस्ट हिम शिखाओं पर प्रथम चरणचिन्ह रख कर संसार में मानव विजय का उद्घोष किया।

एवरेस्ट विजय प्राप्ति के लिए विभिन्न देशों द्वारा किए गए आक्रमणों में ११ चढ़ाइयों के नाम उल्लेखनीय हैं जिनमें से नौ दलों के साथ तेजिंग बराबर जाता रहा है। तेजिंग में एवरेस्ट विजय की लालसा घर कर गई थी और वह इस कामना की पूर्ति के लिए प्राणों की बाजी लगाने पर कटिबद्ध था। तेजिंग को भारतीयता का बड़ा अभिमान है, वह अपने को एक वीर भारतीय मानता है, और इसी विचार से उसने अपनी सफलता को भारत की सफलता माना तथा एवरेस्ट विजय कर पाऊँ इसी लक्ष्य को दृष्टिगत रखते हुए वह केवल मात्र २५० रु० माहवार के वेतन पर पर्वतारोही दलों के साथ एवरेस्ट विजय की आकांक्षा से प्रेरित होकर हथेली पर जान रख कर गया। गत ५ मार्च १९५३ को दार्जिलिंग से ब्रिटिश अभियान में सम्मिलित होने के लिए रवाना होते समय तेजिंग ने कहा था कि मुझे पूर्ण विश्वास है कि यदि मौसम ने साथ दिया तो मैं निःसन्देह एवरेस्ट शिखर के दर्शन करके ही लौटूंगा। मुझे पूरा भरोसा है कि इस बार हमारी विजय निश्चित् है। १९५२ में तेजिंग स्वीश अभियान के साथ गया था और २८ मई १९५२ को दल के सदस्य रैमन्ड लम्बर्ट को साथ ले कर २८२१५ फुट तक पहुँच गया था जो संसार में उच्चतम स्तर था। इतनी ऊँचाई पर एवरेस्ट शिखर तक चढ़ कर कोई मानव लौट कर नहीं आया था। तेजिंग आगे भी जाना चाहता था किन्तु वह सफल नहीं हो सका। परन्तु उसे यह निश्चय हो गया था कि उसकी दूसरी चढ़ाई एवरेस्ट की जय-यात्रा होगी। अपने स्वीश दल के अनुभवों के आधार पर तेजिंग ने ब्रिटिश अभियान में सम्मिलित होने के पूर्व यह शर्त लिखवा ली थी कि "यदि आपके दल के सदस्य आगे न जा सके और मैं ठेठ तक जा सका तो मैं जाने को स्वतन्त्र होऊँगा और मुझे किसी प्रकार रोका न जा सकेगा।" दल के नेता कर्नल जान हन्ट ने तेजिंग की न केवल यह शर्त ही मानी थी अपि तु उसे अपने दल का सदस्य बना लेने का भी आश्वासन दिया था, परन्तु आज तक तेजिंग को दल का अधिकृत सदस्य बनाने का उल्लेख कहीं नहीं देखा गया। हाँ, हिम-सम्राट् के प्रगाढ़ अनुभवों का लाभ उठाने और उसकी विजय का श्रेय लेने की नीति से तेजिंग को अन्य सदस्यों जैसी सहूलियत जरूर दे दी थी। तेजिंग एवरेस्ट के उच्च शिखरों पर जा पहुँचेगा इसकी शायद किसी ने कल्पना भी न की होगी। परन्तु स्वीश पर्वतारोही रैमन्ड लम्बर्ट इस बात को भली भांति जानता था कि यदि एवरेस्ट पर कोई आदमी चढ़ने में कामयाब हो सकेगा तो वह विश्व का सर्वप्रथम मानव तेजिंग होगा। लम्बर्ट के इस इशारे पर ही ब्रिटिश दल के नेता हन्ट ने (जिसने तेजिंग को ले जाने का प्रोग्राम नहीं बनाया था) जाने के कुछ ही दिन पूर्व उसे साथ ले जाने की व्यवस्था की। तेजिंग को एवरेस्ट विजय का निश्चय था और उसने यह रहस्य अपनी स्त्री से कह दिया था कि वह इस बार जब भी जाएगा एवरेस्ट विजय करके ही लौटेगा। परन्तु भारत सरकार को इस बात का विचार तक न था। २८२१५ फुट तक चढ़ कर संसार में विजय का सर्वोच्च स्तर स्थापित कर चुकने पर भी भारत सरकार ने तेजिंग के सम्मान में एक शब्द तक नहीं कहा और इसी विचार से ब्रिटिश दल के साथ जाते समय भारत सरकार ने तेजिंग को भारतीय राष्ट्र का कोई प्रतीक नहीं दिया कि तुम सफल हो जाओ तो भारत की पवित्र भेंट भी संसार के सर्वोच्च भाल पर अटका आना! परन्तु तेजिंग की रगों में भारतीय का माद्दा है और वह भारत विजय को अपना कर्त्तव्य मानता है—भारत की शान में अपनी शान! अतः

उसने दार्जीलिंग से प्रस्थान करते समय तथा पत्र प्रतिनिधियों से भेंट के समय यह संकेत भी किया कि हम लोग इस बार एवरेस्ट पर विजय तो अवश्य पाएँगे परन्तु मुझे दुःख होगा कि हमारे साथ कोई भारतीय राष्ट्र का प्रतीक नहीं होगा और इसलिए वह विजय नीरस होगी। परन्तु इस चर्चा पर भी भारत सरकार ने कोई ध्यान नहीं दिया और तेजिंग को भारतीय राष्ट्र का प्रतीक एवरेस्ट शिखर के लिए कहीं से प्राप्त नहीं हुआ। उसने अपने भारतीयता के अरमानों की रक्षार्थ भारतीयता का प्रतीक एक छोटा-सा तिरंगा खरीदा और चुपचाप जेब में डाल कर चल पड़ा। तेजिंग ने अनेक बार यह चर्चा की कि यदि भारत सरकार अपने स्वतन्त्र दल का गठन कर दे तो वह किसी भी विदेशी दल से शीघ्र एवरेस्ट विजय कर सकता है। परन्तु यह ध्यान ही किसे था कि पर्वतारोही दलों के साथ एक साधारण भार वाहक के रूप में जानेवाला तेजिंग कभी एवरेस्ट विजय कर पाएगा और इसीलिए तेजिंग की ओर किसी ने ध्यान नहीं दिया। परन्तु विदेशी पर्वतारोही जिन्होंने एवरेस्ट विजय के लिए प्राणों की बाज़ी लगा रखी थी वे तेजिंग की शक्ति से भलीभाँति परिचित थे और इसीलिए प्रत्येक दल तेजिंग को अपने साथ ले जाना चाहता था। परन्तु अंग्रेज़ों की कूटनीति की कुछ झलक इस एवरेस्ट विजय यात्रा में तेजिंग के साथ किए गए व्यवहार से भी प्रत्यक्ष है। परन्तु तेजिंग इन्हीं के साथ वर्षों से रहता आया है और वह अपने लक्ष्य के पूर्त्यार्थ अपने को सिद्ध करने में फिर भी सफल हुआ। २७५०० पर आठवाँ शिविर डालने के पश्चात् जब दल के नेता और अन्य सदस्य बार-बार अपनी सरतोड़ कोशिश करके हार चुके और २७५०० फुट से आगे न चढ़ सके तो हताश होकर शिविर में आ गए तथा बेतार के तार से दल की असफलता के समाचार प्रसारित कर दिए और लौटने की तैयारी करने लगे। किन्तु तेजिंग अपनी अपार शक्ति को कछुए की भाँति दबाए बैठा था। जब सब सदस्यों की भरसक शक्ति के बावजूद दल ने हार मानली और आगे बढ़ सकने में असमर्थता प्रकट कर दी तब हिम शिखरों का शेर तेजिंग भारत सम्मान का प्रतीक जेब में दबाए हुए उठा और हिम कुठार को अतुलित वेग से एवरेस्ट शिखरों पर जमी हुई सनातन हिमावलियों पर गाड़ता हुआ आगे अदम्य उत्साह से बढ़ता चला। तेजिंग के साथ ब्रिटिश दल का एक न्यूज़ीलैण्ड का ३४ वर्ष का सदस्य ई. पी. हिलारी भी था जो तेजिंग के साथ साथ चढ़ता रहता था। तेजिंग के दिल में विश्व-मुकुट एवरेस्ट के हिम शिखरों पर राष्ट्रीय झण्डा फहराने का जोश हिलोरे मार रहा था। मौसम ने साथ दिया और तेजिंग अपने बीसियों वर्षों के प्रगाढ़ अनुभव एवं प्राकृतिक हिमारोहिणीशक्ति के अप्रवत वेग से चढ़ता-चढ़ता २९ मई १९५३ को एवरेस्ट के अन्तिम शिखर पर जा पहुँचा और युगों से अविजित एवरेस्ट के भाल पर मानव विजय की पताका गाड़ते हुए संसार में मानव शक्ति की दुंदुभि फूँक दी तथा ब्रिटिश दल का यूनियन जैक, राष्ट्रसंघ का झण्डा तथा नैपाल का और तेजिंग के आन्तरिक स्नेह एवं भारत गौरव का प्रतीक तिरंगा फहराकर विश्व में जय जयकार किया। संसार पुकार उठा—शाबास तेजिंग! एवरेस्ट की हिमावलियों ने भी हार मानली। तेजिंग तुम वास्तव में विश्व में शेर पुरुष हो जो यहाँ तक पहुँचे। भारतीय वीरता के इतिहास ने करवट बदली और तेजिंग का नाम विश्व-वीरता के अखण्ड इतिहास में सदा के लिए स्वर्णाक्षरों में अंकित हो गया। हिम शिखाओं ने मानव शक्ति के आगे नत मस्तक होकर तेजिंग का लोहा माना और प्रणाम करने के लिये विश्व का उतुंग श्रृङ्ग गिरि मुकुट एवरेस्ट तेजिंग के चरणों पर झुक गया और एवरेस्ट विजय का ताज तेजिंग के भाल पर रख विश्व में सम्मानित किया।

जब कर्नल हन्ट ने तेजिंग की विजय का संदेश पाया तो सोचा कि यह तो भारतीय है जिसके सर विजय का सेहरा बँधा और दूसरा न्यूज़ीलैंडी। परन्तु कोई ब्रिटिश तो शिखर पर नहीं पहुँचा। अतः दल के नेता कर्नल हन्ट ने दूसरे सदस्यों के साथ, विजय प्राप्त कर लौटे हुए हिम सम्राट् तेजिंग को साथ ले कर पहुँचने का महा प्रयास किया, परन्तु एवरेस्ट शिखर के पट तेजिंग के विजय श्री का कुंकुम लगाने के पश्चात् किसी अन्य मानव के लिए बन्द हो गए थे, अतः दल के नेता कर्नल हन्ट को लौटने को बाध्य होना पड़ा।

तेजिंग का सम्मान : तेजिंग को गत सात २८२१५ फुट तक चढ़ कर संसार में उच्चतम रिकार्ड कायम करने की प्रशंसा में स्वीश की अल्पाइन तथा इंग्लैं के विश्व विख्यात क्लब ने अपना सदस्य बनाया त नैपाल सरकार ने तेजिंग को प्रताप वर्द्धक चक्र देक सम्मानित किया; और हालीवुड के फिल्म निर्माताओं ने तेजिंग को फिल्म निर्माण के लिये निमंत्रण भेजा। परन्तु

भारत-गौरव चरित्रवान् तेजिंग ने इसे केवल बड़ाई का एक साधन समझ कर अस्वीकार कर दिया। संसार ने तेजिंग को सम्मान दिया और विश्व में तेजिंग की जय जयकार का नारा घोषित हुआ। परन्तु भारत सरकार ने उसके पश्चिमी प्रान्तान्तर्गत दार्जिलिंग में बसने वाले तेजिंग के सम्मानार्थ दो शब्द भी नहीं कहे? यह देश का दुर्भाग्य है कि जिस वीर के मन में भारत का इतना गौरव रहे कि वह राष्ट्र की शान के लिए अपने साथ छुपा कर एवरेस्ट पर फहराने के लिये तिरंगा ले जाय, उसके सम्मान में भारत सरकार चुपकी साधे बैठी रहे। यद्यपि भारत सरकार ने तेजिंग की इस महान् सफलता पर एक वीर पदक दिया है तथा राजधानी के नागरिकों ने अभिनन्दन ग्रन्थ लिखने की तैयारी की है परन्तु एवरेस्ट विजय विश्व विख्याति का प्रश्न है, तेजिंग का वीरोचित सम्मान किया जाना अपेक्षित है। यह भारत का गौरव है कि तेजिंग भारत का नागरिक है और उसके दिल में भारतीय राष्ट्र का इतना सम्मान है कि वह अपने साथ तिरंगा ले गया। उसने एवरेस्ट शिखर पर भारत का प्रतीक फहरा कर विश्व में भारत की शान को चार चाँद लगा दिए।

तेजिंग का पूरा नाम तेजिंग नोर्की है। तेजिंग शेरपा जाति का सिंह पुरुष है। तेजिंग का जन्म १९१४ के जून मास में नैपाल की तिब्बत से लगती हुई उत्तर पूर्वी सीमा पर स्थित शोलूखम्बा नाम के क्षेत्र के अन्तर्गत नानबेवा ग्राम में हुआ। तेजिंग को बाल्यावस्था से ही पर्वतारोहण का शौक़ था। उनके पिता रोज़ी की खोज में दार्जिलिंग आए और तेजिंग अपने शौक के अनुसार सबसे पहले एक पर्वतारोही अभियान के साथ साधारण भार वाहक के रूप में गये। १९३८ तक इसी प्रकार जाते रहे तथा इसके पश्चात् पर्वतारोही अभियानों के लिए भारवाहकों की व्यवस्था करने का धन्धा शुरू किया; तथा स्वयं पथप्रदर्शक का काम करने लगे। तेजिंग का रंग गोरा और शरीर पतला तथा गठीला है और ऊँचाई ५ फुट ३ इंच है। आपकी सुन्दरी स्त्री का नाम आँगन्हामू है। पीमा और नीमा नाम की दो पुत्रियाँ हैं जो आजकल दार्जिलिंग के नैपाली गर्ल्स हाई स्कूल में पढ़ती हैं, तेजिंग अपनी पुत्रियों को आधुनिक ढंग की शिक्षा देना चाहता है तथा आधुनिक वेश भूषा में रखना चाहता है। तेजिंग कुत्ता पालने का भी शौक़ीन है और इस समय उसके पास खानगार नाम का एक सफ़ेद कुत्ता है। तेजिंग बहुत पढ़ा लिखा नहीं है परन्तु वह एक साहसी कर्मवीर है; किन्तु तो भी तेजिंग अच्छी नैपाली, अंग्रेज़ी और हिन्दी बोल लेता है। तेजिंग पश्चिमी बंगाल प्रान्तान्तर्गत रम्य पर्वतीय नगरी दार्जिलिंग की तुंग सुंग बस्ती में रहता है। तेजिंग की माता का नाम किं गुइम तथा पिता का नाम मींग मार है।

तेजिंग का एक छोटा-सा किन्तु सुन्दर लाल छप्पर का घर है। तेज़िंग के घर में पर्वतारोहण सम्बन्धी अनेक तसवीरें और सामान तथा साहित्य है; और आगन्तुकों का स्वागत तेजिंग की स्त्री गरमा-गरम चाय से करती है। तेजिंग पर्वतारोहण की जानकारी करवा कर बहुत प्रसन्नता का अनुभव करता है। तेजिंग के स्वागत सत्कार के लिए काठमाण्डू में भव्य तैयारियाँ की गईं तथा इंग्लैण्ड से भी निमन्त्रण मिला। भारत सरकार ने उन्हें वीर चक्र प्रदान किया तथा बंग प्रादेशिक सरकार राष्ट्र फिल्म प्रदर्शन करने और वीरोचित सम्मान करने की तैयारियाँ कर रही है। मानव-हिम-सम्राट् तेजिंग का विश्वव्यापी सम्मान हमारे राष्ट्र की प्रतिष्ठा के अनुकूल है।

५/१, गोविन्दचन्द्र घर लेन,
कलकत्ता १.

—कन्हैयालाल भिण्डा

मुझे इस बात का पता लगाने में पंदरह वर्ष लगे कि मुझ में लेखक बनने की प्रतिभा नहीं है परन्तु मैं लिखना न छोड़ सका क्योंकि तब तक मैं लेखक के रूप में बहुत प्रसिद्ध हो चुका था।

—रौबर्ट बेंचली

लोक साहित्य में 'बारह मासी' गीत

'बारह मासी' गीतों में प्रायः विप्रलम्भ-शृंगार ही अधिक गाया जाता है। यही कारण है कि उनमें बुद्धि-तत्व की अपेक्षा रागात्मक-व्यञ्जना अपनी सम्पूर्ण कलाओं सहित प्रकट होती है। 'मैथिली लोकगीत' के संग्राहक ने 'बारहमासा' को 'अनुभूत्यात्मक अभिव्यञ्जना' कहा है। बारहमासा के 'नैसर्गिक सौन्दर्य के सामने कीट्स की हल्के पैर, गहरे नीलरंग की बनफ़शा-सी आँखें, काढ़े हुए बाल, मुलायम पतले हाथ, श्वेत कण्ठ और मलाईदार वक्ष-प्रदेश वाली नायिका भी फीकी पड़ जाती है।'[१] अपने स्वच्छ ग्रामीण सौन्दर्य में उठे हुए बारहमासी गीत किसी भी कृत्रिम सौन्दर्य की अपेक्षा प्रभावशाली सिद्ध होने में पीछे नहीं रहते। संस्कृत और प्राकृत के कवियों ने 'लोकाभिव्यक्तियों' के सारल्य से निःसन्देह साहित्य को अलंकृत किया है। विद्यापति और जायसी ने परम्परा या लोकवर्तियों से प्रभावित होकर ही अपने विरह वर्णन में संजीवनी का संचार किया। उनमें अंकित भावों की तीव्रता एवं हृदय-हारिता बिना लोक भावों के माध्यम के सम्भव ही न थी।

लोक प्रचलित 'बारहमासे' अथवा 'बारहमासी' गीत आषाढ़ से आरम्भ होते हैं। यद्यपि इसके लिए कोई शास्त्रीय नियम नहीं है। परम्परागत मान्यता मात्र ही ध्यान देने योग्य है। वैसे एक-दो मास इधर-उधर से आरम्भित बारहमासे भी लोक-साहित्य के भण्डार में उपलब्ध हैं। डा० रघुवंश ने बारहमासे प्रस्तुत करने की तीन प्रमुख रीतियों का उल्लेख किया है—'एक में वर्णन चैत्र से आरम्भ होता है, दूसरी में आषाढ़ से और तीसरी में अवसर के अनुसार।'[२]

प्रचलित परम्परानुसार बारहमासों का प्रयोग उद्दीपन विभाव की दृष्टि से ही होता आया है। सेनापति के बारहमासों (जो बसन्त से आरम्भ होते हैं) में यही बात पायी जाती है, पर कहीं-कहीं कवि द्वारा प्रसूत स्वतन्त्र-चित्रण ऋतुओं के बिम्ब-ग्रहण में बहुत सहायक होते हैं। बारहमासों की यह साहित्यिक परम्परा संस्कृत काव्य के मार्ग से होती हुई, समय-समय पर प्रान्तीय भाषाओं के साहित्यों को प्रेरित करती हुई, प्रबन्ध-काव्य के क्षेत्र में आज भी प्रिय विषय बनी है। 'साकेत' का बारहमासा इस दृष्टि से हिन्दी क्षेत्र का एक उदाहरण है।

इसमें संदेह नहीं कि हिन्दी का आदि-साहित्य लोक भाषा की निधि से प्रभावित था। अतः बारहमासी गीतों की परम्परा का लोक-साहित्य से प्रभावित होना असम्भव नहीं प्रतीत होता। अपभ्रंश की अनेक रचनाओं में जो शृंगार लोक-साहित्य से प्रभावी घोषित किया गया है, वही आगे चलकर संस्कृत के मुक्तकों को प्रभावित करने में सफल हुआ। अतः इसमें संदेह नहीं कि आधुनिक बारहमासी-परम्परा लोक-साहित्य की भूमि पर आधारित होकर विकसित हुई है।

बारहमासी गीतों में प्रत्येक मास का वर्णन क्रम से किया जाता है। हर मास की रूपरेखा संक्षेप में दी जाती है, किन्तु इस बात का अवश्य ध्यान रखा जाता है कि जिन उपकरणों से ऋतु-वर्णन की योजना की जाती है वे प्रचलित और सर्वानुभूत हों। विरहिणी उन्हीं को लेकर अपने प्रवासी प्रियतम को स्मरण करती है। इस प्रकार ऋतुओं पर मानवी भावों का पूर्ण आरोप होता है।

नीचे दो मालवी बारहमासियाँ दी जा रही हैं। प्रथम बारहमासी गर्बा-गीतों में गाई जाती है। खेतों को निराते समय और चक्की पीसते हुए भी बारहमासों (सियों) को गाया जाता है। वर्षा और वसन्त उद्दीपन की दृष्टि से प्रसिद्ध ऋतुएँ हैं। इन्हें लेकर ही मनचली विरहिणियाँ अपने वियोग गा उठती हैं।

गर्बा की बारहमासी

"सखि, लागो असाड़े मास, प्रभु बन चाल्या रे
चाल्या, चाल्या रे दुवारकानाथ, हरि मन्दर सूनो रे
म्हारा प्रभुजी ने राख्या बिलमाय[३], कामणी करिया रे[४]
सखि, एक सो दासी ने साथें, दूजी कुबजा रे

---

[१] रामइकबालसिंह 'राकेश', मैथिली लोकगीत, पृ० ३६०

[२] प्रकृति और हिन्दी काव्य, पृष्ठ ४०३।

[३] बहलाकर, [४] वशीकरण कर के

१६५३

सखि, लागो सावण मास, बिजेला चमके रे
झीणीं--झीणीं पड़ रही बुन्द सालूड़ा भीजे रे
सखि, लागो भादव मास, घटा घनघोर छुई रे
छुई रे, छुई रे दुधारी रात, हरि मन्दर सूनो रे
सखि, लागो कुँवारे मास, दसेरो आयो रे
म्हारा प्रभुजी बिना यों कुण दसेरो मनावे रे
सखि, लागो कार्तिक मास, दिवाळी आई रे
सखि घरे-घरे गोरेधन पुजाय[3], हरि मन्दर सूनो रे
सखि, लागो अगणे मास, सियाळो[4] आयो रे
म्हारा प्रभुजी बिना यो कुणे सोड़[5] पधारे रे
सखि, लागो पोसज मास, अँगिया फाटी रे
म्हारा किसनजी बिना यो कुण अंगिया सिवाड़े[6] रे
सखि, लागो म्हावज मास बसन रितु आई रे
म्हारा प्रभुजी बिना यो कुण बसन रमावे[7] रे
सखि, लागो फागण मास होली आई रे
सखि, घर घर फागे खेलाय, हरि सन्दर सूनो रे
सखि, लागो चेतज मास गणेगोर[8] आई रे
सखि, घर घर गणगोर पुजाये, हरि मन्दर सूनो रे
सखि, लागो बेसाख मास, उणालो[9] आयो रे
घर-घर पंखा डोलाय, प्रभु मन्दर सूनो रे
सखि, लागो जेठज मास, प्रभु घर आया रे
आयो आयो से जवानी रो जोस कसेना[10] टूटे रे[11]”

प्रस्तुत बारहमासी में प्रत्येक मास की संक्षिप्त रूप-रेखा के साथ त्यौहारों का क्रम भी मिला दिया है, जिनमें ऋतुओं का साधारण बिम्ब प्रत्यक्ष हो जाता है।

कृष्ण और राधा लोक-कवियों के प्रिय नायक और नायिका हैं। इन्हीं के माध्यम से वे अपने जीवन की साधारण-असाधारण प्रेम सम्बन्धी अनुभूतियों को व्यक्त करते हैं। आलम्बन कृष्ण हैं और उनके विरह में तप्त राधा के अतिरिक्त अनके गोपियाँ भी हैं। सूर ने अपने 'भ्रमर-गीत' में कृष्ण के लिए गोपियों को ही रुलाया है। उद्धव का प्रसंग भी एक लोकगीत में आया है। उसमें गोपियाँ उद्धव का नाम लेकर प्रत्येक मास में अपना दुखड़ा रोती है। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने सच ही कहा है कि सूरदास में किसी चली आती हुई परम्परा का विकास मालूम होता है। यह विश्वास, संकलित लोकगीतों में वर्णित प्रसंग और परम्परात्मक चित्रण से और भी अधिक पुष्ट होता है।

विरह सम्बन्धी बारहमासी गीत दो प्रकार के होते हैं: (१) जिनमें आदि से अन्त तक वियोग ही हो तथा (२) जिनमें अन्तिम मास में नायक आता है और विरहिणी को उसके संयोग का अवसर प्राप्त होता है।

ऊपर दी गई बारहमासी दूसरे प्रकार की है।

नीचे दूसरे प्रकार की बारहमासी उद्धृत की जा रही है जो अपनी यात्रा के दौरान में साँवरे निवासी (म० भा०) पीराजी कानग्वाल ब्राह्मण से सुनकर लेखक द्वारा लिपिबद्ध की गई है। कानग्वाल वैष्णव-मार्गी होते हैं जो कन-टोपी पहनने के कारण कानग्वाल कहलाते हैं। इनका निर्वाह ग्रामों में भिक्षावृत्ति और हरिभजन पर होता है। दूसरा बारहमासी गीत इस प्रकार खुलता है:

“गिरधर बंसी बाजु लाल तोरी आवाज सुनकर में दवड़ी[12]
रमझम-रमझम मेहला[13] वरसे कृष्ण घांट पे लागि झड़ी
पेला[14] मेना असाड़ लगिया जंगल हो गई हरियाली
धोरी[15] धूरन याद करत रही झुर रही अपना मेला में
दुजार[16] मेना सवरण लगिया मेरो मन हो रह्यो बेरागी
कोई ढूँडे बामण-बनिया, में ढूँढूँ रमता जोगी
भादो मेना लगो लालजी धमक पड़े मेरो मन हरखे
हे धमक पड़े बादल गरजे
दूध कटोरा पियो मन मोहन में सुखिया दुख क्यों सँरजूँ[17]
कँवार मेना लगो लालजी आन मिलो नन्द का बासी
प्रभु आन मिलो ब्रज का बासी
सभी ग्वाल हिलमिल चलो माखण-मिसरी जीमण को
कातिक मेना भाग मनमोहन गोड़ धोड़े नन्द लाला
फाड़ पीताम्बर-सोड़ गेंदवा होड़न आवे हल लाला
अगन मेना लगो लालजी झींकत पाती नंद बाँचू

---

[3] दीपावली के दूसरे दिन स्त्रियाँ गोवर्धन-पूजा करती हैं। यह वही पूजा है जिसका कृष्ण के गोवर्धन पर्वत धारण करने से सम्बन्ध है। [4] जाड़ा, [5] विस्तर, [6] सिलानां, [7] रमण करे, [8] गणगौर पूजा राजस्थान और मालवा की स्त्रियों का प्रमुख त्योहार है जिसे 'तीज' के नाम से अथवा गौरी पूजा के नाम से भी पुकारा जाता है। [9] गर्मी की ऋतु, [10] बन्द। [11] सौ. हीरादेवी से प्राप्त। [12] दौड़ी, [13] मेघ, [14]. पहला, [15] धवरी गाय [16] दूसरा [17] सृजन करूँ।

सँावरी सूरत पै मुकट बिराजे, गळसोंये मोतियन माला
माह मेना लगे लालजी मनियन में करो उतवेरी
सुनो सखी री मोरे मन की जेसी पड़ी जेसी सेई
फागन रास रच्यो मन मोहन लाल गुलाल भरूँ झोरी
भर-भर मुठिया डाल कृष्ण पे लपट-झपट खेलों होली
चेत चिताम्बर मेरे मन की लागी भाल प्रभु नहीं सूझे
सुनो सखीरी मोरे मन की मन का दर्द न कुण पोछे
बेसाख मेनो लगो लालजी पीपळ पूजन में जासी
दरसन दो म्हाराज कृष्णजी लख चोंरासी टल जासी
जेठ मेनो लगो लालजी ऊपर छाँया गवलण की
ऊपर छाँया मोरन की
मात जसोदा करे आरती आन मिले ब्रज का बासी
'सूरदास' प्रभु त्हारे मिलन की हरिचरणों कि बलिहारी
प्रभु चरणों की मैं दासी
श्री किसन की बारामासी सवा पेर हिरदे लागी'

उपर्युक्त बारहमासी केवल विरहिणी तक ही सीमित' नहीं, इसमें धोहरी और ग्वालबालों के साथ यशोदा भी है, कृष्ण सभी के समान आलम्बन हैं। इसमें विरह और मिलन की भावनाएँ एकमेक होकर मिल गई हैं। भक्ति-भावना का अंश भी 'दरसन दो महाराज कृष्ण जी लख चोंरासी टल जासी' में व्यक्त हुआ है। अन्त में सूरदास की छाप है। इससे यह न समझना चाहिए कि उक्त बारहमासी सूर-रचित है। लोकगीत-कार अपनी उत्कट श्रद्धा वश पूर्ववर्ती भक्तों के नाम अपनी रचनाओं के अन्त में प्रायः ले आते हैं। 'कहे कबीर' के नाम से पाई जाने वाली रचनाएँ भी इसी प्रवृत्ति की द्योतक हैं। ऐसे ही मैथिली लोकगीतों में कई गीत विद्यापति की छापवाले हैं। एक गीत के विषय में पं० रामनरेश त्रिपाठी ने अपनी पुस्तक में उल्लेख किया है। हमारा अनुमान है विद्यापति की छापवाला वह गीत[1] किसी जन कवि की ही रचना होगी। अन्त में विद्यापति का नाम उसकी श्रद्धा भक्ति के कारण ही सहज रूप से अवतरित हुआ है।

बारहमासी हमारे लोक साहित्य की महत्वपूर्ण सम्पत्ति है। सदियों से लोकजीवन में इन रचनाओं ने रस-संचार किया है।

बारह महिनों की ऋतु-सम्बन्धी प्रमुख परम्परा या सांकेतिक उपकरण एवं चित्र-सूत्र नीचे दिए जा रहे हैं, जो प्रायः भारतीय बारहमासी गीतों में मुख्यतः पाए जाते हैं :

१ असाढ़ (आषाढ़) : घन गरजे घोर' (मा०)
'सखि चलल जलधार हे' (मै०)
'गरजि गरजि के सुनाई' (भो०)
२ सावन (श्रावण) : 'झमकि झरी लागे हिंडोले,' झीणी झीणी बूँदे' (मा०)
'रिमझिम बरस बूँदें हे—हमरो बलम परदेश' (मै०)
'सावन रिमझिम बुँनवा बरिसे
पियवा भींजेला परदेस' (भो०)
३ भादव (भाद्रपद) : 'बड़ी बड़ी बुँदिया बरसत नीर',
'धमक पड़े बादल'
गरजे, 'छई रे दुधारी रात' (मा०)
'भादव सेजिया भयावन रात
बिजली घटा देखि काँपत गात' (मै०)
'भादो रइनी भयावन सखि हो
चारू ओर बरसेला धार' (भो०)
'धर्म करे सगरौ संसार, बनबोल्यो भोर'
४ कुँवार (आश्विन) : 'आसिन शरद जनावत जोर
उगए चाँदनी दुख बरजोर' (मै०)
'कुँवार ए सखि कुँवर विदेसे गइले
दे गइले तीन निसान,
सीर सेनुर, नयन काजर, जोबन जीव के काल' (भो०)
५. कार्तिक (कार्तिक) : 'दीवावले (दीपावली), गोरधन पुजाय' (मा०)
'कार्तिक निज पूर्णिमा
चलु सखि, गंगा स्नान' (मै०)
'कातिक ए सखी कातिकी लगतु हे
सब सखि गंगा नहाय' (भो०)
६ अगहण (मार्गशीर्ष) : 'चहुँदिसी उपजा धान',
'सियालो आयो' (भा०)
७ पोस (पौष) : 'बयार चलेज स खड्ग की धार' (अ०)
'पियबिन जाड़ा न जाय हमार (ब्र०),

---

[1] 'आय बालम पूजीहै आस, पूरा विद्यापति बारह मास'
—कविता कौमुदी (५ वां भाग), पृष्ठ ५०२

'जाड़ा छेदे तन सुई सन छन-छन' (मैं०)
'पूस हे सखि, ओस परतु हे
भींजेला अँगिया हमार हे' (भो०)
८ माह (माघ) : 'हे सखि ऋतु बसंत आयेले' (मै०)
'माघ हे सखि पाला पड़तु हे
बिन पिया जाड़ो ना जाइ हे' (भो०)
९ फागुन (फाल्गुन) : 'फगुनी बयार, तरुवरपात सवै झरि जाय' (अ०)
'सब रंग बनायल खेलन पियउ संग हे
फागुन हे सखि होरि आयल' (मै०)
'फागुन सखी फाग खेलतु है
घर घर उड़ेला अबीर हे' (भो०)
१० चेत (चैत्र) : 'चेत फुले हे बन टेसुल' (अ०), (तीज)
'चैतहि बेला फुलिय गेल
फूलि गेल-सब रंग फूल' (मै०)
११ बेसाख (वैशाख) : 'पवन चलत जस बरसत आग' (अ०)
'विरह कुहुकत मोर गात है
कैसे काटे हम उखम धाम' (मै०)
'बइसाख ए सखि उखम लागे
तन से ढरेला नीर' (भो०)
१२ जेठ (ज्येष्ठ) : 'धधकै धरती ओ' असमान' (अ०)
'जेठ मास सखि, लूक लागे
सर सर चलेल समीर' (भो०)
बिन नाथ चन्दन शीतलादिक
धधकि जारत देह यारे (मै०)[२]

बहादुरगंज,
उज्जैन (म. प्र.)

—श्याम परमार

सहारा का मरुस्थल

......सहारा शब्द का अरबी में अर्थ है रिक्तता। सहारा एक विस्तृत और एकान्त स्थान है। यह एक रेतीली और गरम जगह है। सहारा में टमनरसेट नामक एक स्थान है। टमनरसेट में तुआरेग लोग रहते हैं। ये घुमक्कड़ लोग हैं और चारों ओर फैली हुई मरुभूमि में वे अपने तम्बू या कैम्प लगाते हैं। तुआरेग लोगों में स्त्रियाँ नहीं पुरुष पर्दा करते हैं। पर्दों का रंग गहरा और नील के रंग का होता है। इसके कारण तुआरेग लोगों की त्वचा नीली-सी प्रतीत होती है। वे आँखों में भी नीला रंग लगाते हैं। हम तुआरेग जाति के पुरुषों का चेहरा नहीं देख सके क्योंकि वे खाने के समय भी पर्दा करते हैं और खाते पीते हुए भी भोजन आदि को पर्दे के अन्दर ही एक दूसरे को देते हैं। इन लोगों में पर्दे की प्रथा इतनी पुरानी है कि कोई नहीं जानता कि इस प्रथा का प्रारंभ किस प्रकार हुआ। संभवतः इस का प्रारम्भ मुखों को सूर्य से बचने के लिए किया गया हो।......

—जौन गन्थर
(रीडर्स डाइजैस्ट से)

---

[२] अ०—अवधी, मै०—मैथिली, भो०—भोजपुरी और मा०—मालवी के लिए प्रयुक्त संकेत हैं।

रूसी लेखक क्राइलोफ की तीन लोक-कथाएँ

रूस के राष्ट्रीय लोक साहित्यिक आइवन आन्द्रेविच क्राइलोफ का जन्म १७६८ ई० में एक मध्यवर्गीय सिपाही के घर में हुआ। जब ये ग्यारह वर्ष के थे तभी इनके पिता का देहान्त हो गया। गरीबी के कारण छोटी उम्र में ही इन्हें जीविकोपार्जन में लगना पड़ा। फिर भी क़रीब पन्द्रह साल की उम्र में ही इन्होंने लिखना शुरू कर दिया। सफल पत्रकार और नाट्यकार की हैसियत से तो इन्होंने नाम कमाया ही मगर इनकी लोककथाओं ने इन्हें अमर बना रखा है।

प्रारंभिक साहित्यिक जीवन में इन्होंने फ्रांसीसी लोककथाकार ला फोन्तेन की कुछ रचनाओं का अनुवाद किया परन्तु आगे चल कर मौलिक रचनाएँ भी लिखने लगे।

क्राइलोफ को घुमक्कड़ी का बहुत शौक़ था। कई वर्षों तक ये देश के विभिन्न भागों में घूमते रहे। घुमक्कड़ी करने के कारण ये अपने देश की जनता के बहुभाग अर्थात् किसानों के सम्पर्क में आए। जनता के जीवन का इन्होंने अच्छी तरह अध्ययन किया। जनता के साथ इनके इस सम्पर्क की छाप हमें इनकी रचनाओं में भी मिलती है। इनकी भाषा रूस के किसानों की भाषा से बहुत मिलती-जुलती है। इनकी भाषा समझने में किसी को कठिनाई नहीं होती। आज भी इनकी रचनाएँ रूस में बड़े चाव से पढ़ी जाती हैं।

ये सफल साहित्यिक के रूप में जीवनकाल में ही काफ़ी यश पा चुके थे। सन् १८११ ई० में इन्हें रूसी विद्वद् परिषद् का सदस्य पद प्राप्त हुआ। १८४४ ई० में क्राइलोफ की मृत्यु हुई।

यहाँ भारतीय लोककथा साहित्य के सम्बन्ध में कुछ शब्द कह देना अनुचित नहीं होगा। हमारे देश का, उसकी विभिन्न भाषाओं का लोककथा-साहित्य काफ़ी विशाल है। यूरोप और एशिया की लोककथाओं पर 'पंचतंत्र' की गहरी छाप दिखाई पड़ती है। हज़ार वर्ष से अधिक हुए जब इनका अनुवाद विदेशी भाषाओं में शुरू हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी में इसका रूसी में भी अनुवाद हुआ।

प्रायः सौ वर्षों से पाश्चात्य देशों में लोककथा साहित्य का अध्ययन वैज्ञानिक रूप से हो रहा है परन्तु हमारे देश में शायद अभी तक लोक-कथा साहित्य का पूरी तरह से वैज्ञानिक अध्ययन आरम्भ नहीं हुआ है। योग्य अध्यापकों और विद्यार्थियों की हमारे देश में कमी नहीं है। हम आशा करते हैं कि जिस दिन भी वे इस दिशा में क़दम उठाएँगे उन्हें सफलता अवश्य मिलेगी।

लोक-कथा साहित्य की उपेक्षा करना ठीक नहीं कहा जा सकता। कुछ लोगों का विचार है कि बन्दर और बिल्ली, भेड़िए और मेमने आदि जानवरों की कहानियाँ बच्चों के लिए रोचक और शिक्षाप्रद हैं परन्तु बड़ी उम्र के आदमियों, पढ़े-लिखे लोगों के लिए यह फिज़ूल चीज़ें हैं। परन्तु वास्तव में यह बात नहीं है। लोककथाओं का महत्व छोटी और बड़ी हर उम्र के व्यक्तियों के लिए है और सभी को उन्हें पढ़ना चाहिए। इनमें मनुष्य के स्वभाव का अध्ययन और देश की संस्कृति के तत्व छिपे रहते हैं। इन चीज़ों को समझना हमारे लिए हर प्रकार से लाभप्रद है।

सुप्रसिद्ध रूसी लेखक क्राइलोफ की कहानियों का अनुवाद दुनिया की कितनी ही भाषाओं में हो चुका है। नीचे इनकी तीन कहानियों का हिन्दी भावानुवाद दिया जा रहा है। ये तीन कहानियाँ हैं: (१) भाग्यलक्ष्मी (२) मेमना (३) च्यूँटा।

(१) भाग्य लक्ष्मी और भिखारी : एक भिखारी अपनी फटी हुई थैली हाथ में लेकर दर-दर भटका करता था।

एक घर से दूसरे घर की ओर जाते हुए उसने अपने मन में कहा—'मुझे यह बात बहुत ही विचित्र लगती है कि कोई भी धनी आदमी अपने भाग्य से सन्तुष्ट नहीं है। उसके पास चाहे जितना भी धन हो, वह और अधिक धन पाने की सदा कोशिश करता है। इसी मकान में एक धनी व्यापारी रहता था। उसके पास जितना धन था उतने से सन्तुष्ट न होकर उसने दूसरे देशों से व्यापार करने के लिए जहाज़ खरीदे। उसने सोचा था कि इससे उसके पास और पैसे आएँगे। मगर जहाज़ डूब गए और

समुद्र उसके सारे रुपए हज़म कर गया ।

'उस सड़क वाले मकान में भी जो आदमी रहता था उसके पास लाखों रुपए थे । मगर वह तो और भी कई लाख चाहता था : उसने फाटका खेलना शुरु किया जिसका नतीजा यह हुआ कि उसका घर तबाह हो गया ।

'लोगों को इतना बेवकूफ नहीं होना चाहिए ।'

उसी क्षण भाग्य लक्ष्मी प्रकट हुई ।

"सुनो", देवी बोली, "लम्बे अर्से से मैं तुम्हारी मदद करना चाहती थी । मेरे सामने थैली का मुँह खोलो । तुम जितनी सोने की मोहरें लेना चाहोगे, मैं दूँगी । मगर एक शर्त है । अगर एक भी मोहर थैली के बाहर गिर पड़ी तो सारी मोहरें धूल हो जाएँगी । तुम्हारी थैली टूटी हुई तथा बहुत ही कमज़ोर जान पड़ती है । इसलिए इसमें जितनी मोहरें आ सकें उतनी ही लेना ।"

भिखारी बहुत खुश हुआ । उसने थैली का मुँह खोल दिया । सोने की मोहरें उसमें आने लगीं ।

भाग्य लक्ष्मी ने पूछा—"क्यों, इतनी काफी होंगी ?"

भिखारी बोला—"अभी और आने दो ।"

"मगर देखो, तुम्हारी थैली पुरानी तथा कमज़ोर है; कहीं टूट तो नहीं जाएगी ?"

नहीं, नहीं, आने दो । अभी इसमें और मोहरें आ सकती हैं ।

"यह थैली भारी हो चुकी है । होशियारी से सम्भालो ।"

"कुछ मोहरें और । बस एक मुट्ठी ।"

"यह करीब-करीब भर चुकी है । अब लेना बन्द कर दो"

"बस, थोड़ी और दीजिए ।"

इसी क्षण थैली नीचे से फट गई । सारी मोहरें ज़मीन पर गिर कर धूल हो गईं ।

भिखारी के पास फटी थैली के सिवाय कुछ नहीं रहा ।

(२) मेमना : एक मेमने ने अपने साथियों से कोई चाल चलने की सोची । उसने भेड़िये की खाल ओढ़ ली । और अपने साथियों के बीच चुपचाप आ घुसा ।

साथियों में उसकी चाल से कैसी खलबली मची है, इस बात को वह समझे इसके पहले ही रखवाली करने वाले कुत्ते गुर्राते हुए, अपने तेज दाँत निकाल कर, उसे फाड़ डालने के लिए उस पर टूट पड़े ।

गड़रिये ने मेमने को भेड़ की खाल ओढ़े देखा । उसने कुत्तों को आवाज़ देकर अपने पास बुला लिया ।

बेचारा मेमना दर्द के कारण में-में करता घबरा कर ज़मीन पर गिर पड़ा ।

कोई भी समझदार मेमना कभी भी भेड़िये का स्वांग रच कर क़वायद करने की बेवकूफी नहीं करता ।

(३) च्यूँटा : पुराने ज़माने की बात है । एक च्यूँटा असीम शक्तिशाली था । उसके समान शक्ति शायद ही पहले किसी च्यूँटे में रही हो । एक विश्वसनीय इतिहासकार का कहना है कि वह च्यूँटा सचमुच जौं के दो दाने ज़मीन से एक साथ उठा लेता था ।

अपने अपरिमेय साहस के लिए भी वह च्यूँटा पर्याप्त ख्याति प्राप्त कर चुका था । उसकी किसी कीड़े से मुठभेड़ होती तो वह उस पर तुरन्त आक्रमण करता और उसे टुकड़े-टुकड़े कर डालता । वह मकड़ियों पर भी आक्रमण कर बैठता ।

उसके अदम्य साहस के कृतित्व की कहानियों से च्यूँटों की सारी पहाड़ी गूँजती थी ।

हमारा च्यूँटा भी अपने नाम और यश की चर्चा से फूला नहीं समाता था । वह स्वयं को वास्तव में आश्चर्यजनक व्यक्ति समझने लग गया था । उसमें इतना अभिमान आ गया कि अन्त में उसने बड़े नगर में जा कर नई कीर्ति प्राप्त करने की बात सोची ।

वह सूखी घास के ढेर पर चढ़ कर गाड़ी हाँकनेवाले के पास जा बैठा और इस तरह जैसे राजा की बग्घी में सवार हो, नगर में पहुँचा । परन्तु उसके अभिमान पर कैसी चोट पड़ी ! उसने सोचा था कि बाज़ार में लोग जैसे आग लगाने पर दौड़ कर आते हैं उसी तरह उसके पराक्रम की करतूतों को देखने के लिए भी दौड़ कर आएँगे । मगर यह नहीं हुआ । सभी आदमी अपने-अपने काम में व्यस्त रहे, किसी ने भी उस बेचारे च्यूँटे की ओर ध्यान नहीं दिया ।

हमारे च्यूँटे ने लोगों का ध्यान अपनी ओर खींचने के लिए लाख कोशिशें कीं । वह एक पत्ता उठा लाया । उसे फैला कर वह उससे लुढ़का एवं पुनःउछल कर उस पर चढ़ गया ।

मगर इस पर भी कोई आदमी उसे देखने के लिए

नहीं रुका।

इतनी मेहनत करने के कारण बेचारा च्यूँटा थक गया। एक कुत्ता अपने मालिक की गाड़ी के पास लेटा हुआ था। च्यूँटा उसके पास गया और झुंझला कर कहने लगा —"बाबा रे! यह नगर भी कैसा है? यहाँ के लोगों में न तो अक़्ल है और न उनके आँखें ही हैं। घण्टे भर तक पसीना बहा कर मैंने अपनी शक्ति और चातुरी का प्रदर्शन किया है। क्या यह सचमुच सम्भव है कि किसी ने भी मुझे नहीं देखा? क्यों? घर पर तो च्यूँटों की सारी पहाड़ी मेरा गुणगान करती है!"

इसलिए, घोर निराशा लेकर च्यूँटा महोदय वापस अपनी च्यूँटों की पहाड़ी पर लौट आए।

— महेशकुमार मूँधड़ा

६० बी, रतन सरकार, गार्डन स्ट्रीट
कलकत्ता ७

एक जर्मन कविता—
(मूल जर्मन से अनुवादित)

वह भला कॉमरेड

मेरा एक कॉमरेड था,
उससे अधिक भला तुम पा नहीं सकते।
जब युद्ध की दुंदुभि प्रतिध्वनित हुई
वह मेरे पक्ष में आगे बढ़ा
क़दम पर क़दम रखते हुए,
क़दम से क़दम मिलाए हुए।

एक गोली आई उड़ती हुई,
क्या वह मेरे योग्य थी अथवा तेरे?
किन्तु वह उसके शरीर को भेद चुकी थी
वह पड़ा हुआ था मेरे पैरों के आगे।
मानो वह मेरा ही एक भाग था
मानो वह मेरा ही एक अंश था।

मैं उस तक अपना हाथ बढ़ाना चाहता था
उसी बीच मैं उसे पुकार उठा :
'मैं तुझ तक अपना हाथ बढ़ा कर क्या करूँ?
तू शाश्वत् जीवन पाए
ओ मेरे भले कॉमरेड,
ओ मेरे भले कॉमरेड!"

—लुडविक् उहलाण्ट
अनु० प्रेमकिशोर

एत्मादपुर,
आगरा

कन्नड़ का जैन साहित्य

कन्नड़ साहित्य की, लगभग ग्यारह सौ वर्षों से अबाध गति से बहती हुई वाहिनी को साहित्य-शास्त्रियों ने चार मुख्य भागों में बाँटा है। पहला, सन् ८५० से लेकर सन् ११६० तक जैन काल अथवा आदिकाल कहलाता है। दूसरा, सन् ११६० से लेकर सन् १५०० तक वीरशैव काल के नाम से पुकारा जाता है। तीसरा, सन् १५०० से सन् १६०० तक वैष्णव काल कहलाता है और चौथा सन् १६०० से आज तक आधुनिक काल कहलाता है। इन चारों कालों में कन्नड़ साहित्य अपनी उन्नति करता हुआ आधुनिक युग में पाश्चात्य संस्कृति, साहित्य तथा सिद्धांतों से प्रभावित होकर भिन्न भिन्न दिशाओं में प्रवाहित हो रहा है।

इन चारों कालों में से प्रथम काल में अर्थात् जैन काल में कन्नड़ साहित्य की जितनी अभिवृद्धि तथा विकास हुआ उतना अन्य किसी भी काल में नहीं। इस काल के प्रायः सब कवि जैन ही थे और जैन धर्म का प्रचार तथा उत्कर्ष ही उनका प्रधान उद्देश्य था। इन कवियों ने कन्नड़ साहित्य के भण्डार को अपनी अमर कृतियों से भर कर उसकी जो सेवा की है, वह चिरस्मरणीय रहेगी।

कन्नड़ साहित्य के अब तक प्राप्त ग्रन्थों में सबसे प्राचीन ग्रन्थ है राजा नृपतुंग का लिखा हुआ "कविराज मार्ग।" राजा नृपतुंग एक राष्ट्रकूट राजा थे और "मान्यखेट" में सन् ८१४ से सन् ८७७ तक राज्य करते रहे। कहा जाता है कि इस ग्रन्थ के असली लेखक, नृपतुंग के एक दरबारी कवि श्रीविजय हैं परन्तु आजकल यह नृपतुंग के नाम से ही संबद्ध है। इसका रचना काल सन् ८७० है। यह ग्रन्थ प्राचीन होते हुए भी कन्नड़ का सर्व प्रथम ग्रन्थ नहीं कहा जा सकता, क्योंकि :

यह एक लक्षण ग्रन्थ है, इसलिए यह कदापि प्रथम न्थ नहीं हो सकता।

इस ग्रन्थ में ऐसे आठ या दस प्राचीन महाकवियों के उल्लेख तथा उदाहरण हैं जिन्होंने गद्य व पद्य में प्रख्यात रचनाएँ की हैं जो आज अप्राप्य हैं। ये महाकवि असंख्य कविगणों में प्रमुख कवि बताए गए हैं।

इस ग्रन्थ में कवि के कर्तव्य, उत्तरदायित्व तथा उद्देश्यों का सुदीर्घ वर्णन है। इसलिए इसके पीछे एक कवि-परम्परा के होने में संदेह की गुंजायश ही नहीं।

"कविराजमार्ग" में जिन प्राचीन कवियों का उल्लेख है उनमें मुख्य हैं : श्रीवर्धदेव, सामन्त-भद्र, पूज्यपाद, कवि परमेष्ठी, विमल, उदय, नागार्जुन, जयबन्धु, दुर्विनीत आदि। श्रीवर्धदेव "चूड़ामणि" के लेखक हैं, जो कन्नड़ के महान् ग्रन्थों में से एक माना जाता है। यह "तत्वार्थ-शास्त्र" पर एक टीका है और ९६००० पदों में समाप्त हुआ है। इस ग्रन्थ की प्रशंसा में संस्कृत के सुप्रसिद्ध कवि 'दण्डी' का कथन है : "जिस तरह शिव की जटा के मूल से गंगा की उत्पत्ति हुई, उसी प्रकार यह ग्रन्थ सरस्वती की जिह्वा के अग्र-भाग से उत्पन्न हुआ है।" दण्डी का यह कथन ही सिद्ध करता है कि यह ग्रंथ ईसा की पाँचवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध का अथवा छठी शताब्दी के पूर्वार्द्ध का है। कन्नड़ के सुप्रसिद्ध वैयाकरण 'भट्टाकलंक' (सन् १६०४) इसको कन्नड़ का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ मानते हैं।

छठी शताब्दी के कवियों में सामंत-भद्र, पूज्यपाद तथा कवि परमेष्ठी प्रसिद्ध हैं। सामंत-भद्र संस्कृत तथा कन्नड़ के एक प्रकाण्ड पण्डित थे और अपने समय के सर्वश्रेष्ठ शास्त्रज्ञ माने जाते थे। इन्होंने कई प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों की संस्कृत में ही विद्वत्तापूर्ण टीकाएँ लिखी हैं। लेकिन कन्नड़ में रचा गया इनका कोई ग्रन्थ आज तक प्राप्त नहीं है। पूज्यपाद, जो देवनन्दी नाम से भी प्रसिद्ध हैं, इनके समसामयिक थे। इन्होंने संस्कृत में वैद्यक शास्त्र पर कई ग्रंथ लिखे हैं और पाणिनी के व्याकरण पर "पाणिनी शब्दावतार" नामक एक टीका लिखी है। इन्होंने स्वतन्त्र रूप से एक व्याकरण "जैनेन्द्र" नाम से लिखा है। कवि परमेष्ठी का कोई ग्रंथ आज प्राप्त नहीं है और उनके जीवन का बहुत-सा भाग आज भी अन्धकार में ही है।

इनके अतिरिक्त गुणानन्दी ने तर्कशास्त्र व्याकरण-शास्त्र तथा साहित्यशास्त्र पर कई रचनाएँ की हैं। इन सब कवियों में "दुर्विनीत" सबसे अधिक प्रसिद्ध तथा लोकप्रिय हैं। इन्होंने "शब्दावतार" नामक एक ग्रन्थ की रचना की है; गुणाढ्य की "बृहत् कथा" का पैशाची से

कन्नड़ में अनुवाद किया है। इन्होंने भारवी के "किरातार्जुनीय" के पन्द्रहवें सर्ग पर, जो बहुत ही क्लिष्ट माना जाता है, एक सरल व्याख्या लिखी है।

यह तो हुआ सन् ८५० के पहले का कन्नड़ साहित्य, जिसके बारे में सिर्फ़ उल्लेख ही मिलता है। लेकिन वह उल्लेख इतना प्रामाणिक है कि उसकी सत्यता के बारे में कोई संदेह नहीं रहता। इस तरह कन्नड़ साहित्य का आरम्भ कोई सोलह सौ वर्षों के पहले अर्थात् ईसा की चौथी शताब्दी में ही हुआ है। लेकिन प्राप्त ग्रन्थों में सबसे प्राचीन "कविराजमार्ग" ही है।

सन् ८५० के बाद पाए जानेवाले ग्रन्थों में सर्वप्रथम है प्रथम गुणवर्मा का लिखा हुआ "हरिवंश" अथवा "नेमिनाथ पुराण"। इसने एक और ग्रन्थ "शूद्रक" लिखा है, जिसमें इसने "मृच्छकटिक" के रचयिता राजा शूद्रक के साथ अपने आश्रयदाता राजा महेन्द्रकान्त की तुलना की है। इस कवि का काल सन् ८८६-९१३ है।

इसके अनन्तर तीन ऐसे कवि आते हैं जो कन्नड़ साहित्य के "रत्नत्रय" घोषित किए गए हैं। वे हैं: पम्पा, पोन्ना और रन्ना। चूँकि ये कन्नड़ साहित्य के सर्वश्रेष्ठ कवियों में से हैं और जैन साहित्य के विद्यार्थी के लिए इनका अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है, इन पर विस्तार के साथ विचार करना समुचित होगा।

पम्पा : पम्पा कन्नड़ साहित्य के सर्वश्रेष्ठ कवि माने जाते हैं और सर्वप्रथम कवि न होते हुए भी आदि कवि की उपाधि से भूषित हैं। हिन्दी साहित्य में गोस्वामी तुलसीदास जी को जो स्थान प्राप्त है, वही स्थान कन्नड़ साहित्य में पम्पा को प्राप्त है। पम्पा का जन्म सन् ९०२ में आन्ध्र-प्रान्त के अन्तर्गत वेंगी में हुआ था। इनके पूर्वज ब्राह्मण थे, लेकिन इनके पिता अभिरामदेव ने जैन मत ग्रहण कर लिया था। बाद में ये पुलिगेरे में बस गए थे, जहाँ ये चालुक्य राजा अरिकेसरी के मुसाहब तथा गहरे मित्र बन गए। इन्होंने दो ग्रन्थ लिखे "आदि पुराण" तथा "विक्रमार्जुन" अथवा "पम्पा भारत"। ये दोनों ग्रन्थ सन् ९४१ में रचे गए थे। कहा जाता है कि इन्होंने भारत को छः महीनों में और आदि पुराण को तीन महीनों में लिख डाला।

"आदि पुराण" प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ का जीवन-चरित्र है। यह ग्रन्थ अपनी शैली के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध है। लेकिन जिस ग्रन्थ के कारण पम्पा की इतनी ख्याति हुई है वह उनका "पम्पा भारत" है। जैन कवि होते हुए भी इन्होंने जैन-भारत की लीक न पकड़कर व्यास-भारत की कथा ही अपनाई है। यह इनके सच्चे कवि-हृदय का परिचायक है। अलबत्ता कथा में कहीं-कहीं परिवर्तन भी हैं; जैसे, द्रौपदी केवल अर्जुन की ही पत्नी है, पाँचों पाण्डवों की नहीं; अर्जुन ही कथानायक है और हस्तिनापुर में सुभद्रा के साथ उसी का राजतिलक होता है; राजतिलक के साथ ही ग्रंथ समाप्त हुआ है, अन्य पर्वों का इसमें अभाव है। इन सब परिवर्तनों का कारण यह है कि अर्जुन के चरित्र के द्वारा पम्पा ने अरिकेसरी का ही चरित्र-चित्रण किया है। अर्जुन के साथ ही कर्ण के चरित्र-चित्रण में कवि ने अपनी सारी विद्वत्ता उँडेल दी है। इस ग्रन्थ की विशेषता यह है कि इसमें अन्य कृतियों की तरह संस्कृत-गर्भित पण्डिताऊ भाषा का उपयोग नहीं हुआ है, वरन् कवि ने संस्कृत की कोमलकांत पदावली के साथ ठेठ भाषा का भी सुचारु रूप से व्यवहार किया है।

पोन्ना : कवि पोन्ना पम्पा के समसामायिक हैं। ये भी वेंगी के ही निवासी थे और जैन बनने के पहले ब्राह्मण थे। इन्होंने संस्कृत और कन्नड़ दोनों में समान अधिकार के साथ रचनाएँ की हैं। इसलिए उन्हें "उभय-कवि-चक्रवर्ती" की उपाधि प्राप्त थी। यह उपाधि इन्हें राष्ट्रकूट राजा कृष्णराज से, जो "अकालवर्ष", "अनुपम" आदि नामों से भी पुकारे जाते हैं, मिली थी। पोन्ना का सब से प्रसिद्ध ग्रन्थ है "शांतिपुराण" जिसमें सोलहवें तीर्थंकर "शांति" के जीवन का सुदीर्घ वर्णन है। इनका एक और ग्रन्थ है "जिनाक्षरमाला"। इनके अन्य ग्रन्थ अप्राप्य हैं।

रन्ना : रत्नत्रय के तीसरे कवि हैं रन्ना। ये वैश्य थे और चूड़ियाँ बेचने का व्यापार करते थे, किन्तु बाद में ये जैन बन गए थे। ये पश्चिमीय चालुक्य वंश के राजा तैलप (सन् ९७६-९९७) और उनके उत्तराधिकारी राजा आहवमल्ल (सन् ९९७-१००८) के आश्रित थे। इनका पहला ग्रन्थ है "अजित पुराण" जिसमें दूसरे तीर्थंकर "अजित" के जीवन का वर्णन है। इस ग्रन्थ की रचना सन् ९९३ में हुई थी। इनका दूसरा और सबसे अधिक प्रसिद्ध ग्रन्थ है "साहस-भीम-विजय" अथवा "गदायुद्ध", जिसमें भीम-दुर्योधन के युद्ध की कथा है। इस ग्रन्थ के नायक भीम हैं जिनकी तुलना राजा आह-

मल्ल से की गई है। दुर्योधन का चरित्र इस ग्रन्थ में इतना अच्छा बन पड़ा है कि कहीं कहीं उसका चरित्र भीम के चरित्र तक को ढँक लेता है। यह ग्रन्थ वीर तथा करुण रस की खान है। पोन्ना की तरह रन्ना के भी अन्य ग्रन्थ अप्राप्य हैं।

इस "रत्नत्रय" के समकालीन अन्य कवियों में चामुण्डराय का नाम सबसे प्रसिद्ध है। चामुण्डराय गंग राजा रायमल्ल के मंत्री थे। मैसूर के श्रवण बेळगोळ की सुप्रसिद्ध गोम्मटेश्वर की मूर्ति, जिसका महामस्तकाभिषेक हाल ही में हुआ, इन्हीं चामुण्डराय की बनाई हुई है। इस महत्कार्य के फलस्वरूप इनको "राय" की उपाधि प्राप्त हुई थी। ये रन्ना के आश्रयदाताओं में से एक थे। इन्होंने गद्य में "त्रिशक्ति-लक्षण-महापुराण" तथा "चामुण्डराय पुराण" की रचना की है। ये दोनों साहित्यिक तथा सुन्दर गद्य में लिखे गए हैं और दूसरी रचना में चौबीसों तीर्थंकरों की जीवनी है। ये दोनों रचनाएँ कन्नड़ के गद्य साहित्य की प्राचीनतम कृतियाँ मानी जाती हैं। इनका रचना काल सन् ९७८ है।

इन कवियों के अतिरिक्त प्रथम नागवर्मा ने सन् ९८४ में "छन्दाम्बुधि" की रचना की, जो आज भी कन्नड़ साहित्य में रचित छन्दशास्त्रों में सर्व श्रेष्ठ मानी जाती है। इसमें सूत्रों के साथ उदाहरण भी दिए गए हैं, जिससे यह विद्यार्थियों के लिए बहुत ही उपयोगी सिद्ध हुआ है। नागवर्मा ने बाण की "कादम्बरी" का कन्नड़ में अनुवाद भी किया है।

दसवीं शताब्दी में कन्नड़ साहित्य का जितना विकास हुआ उसकी तुलना में ग्यारहवीं शताब्दी में साहित्य मानों जड़ पड़ा रहा। इस जड़ता के दो कारण हैं—राजनैतिक तथा धार्मिक। उस समय सारे देश में जो अब तक शांति के क्रोड़ में चैन से आराम कर रहा था, युद्ध की सनसनी फैल रही थी। कवियों की तूती बोली ने नगाड़े की चोट का रूप धारण कर लिया था। वैदिक धर्म धीरे धीरे पनपने लगा था और जैन धर्म के साथ उसका संघर्ष भी धीरे धीरे तीव्र हो रहा था। जैन कवियों का ध्यान काव्य-क्षेत्र से हटकर धर्म-क्षेत्र पर जा टिका था।

अवश्य इस काल में दो-एक उत्कृष्ट ग्रन्थों की रचना भी हुई थी। सन् १०४९ में श्रीधराचार्य ने ज्योतिषशास्त्र पर एक ग्रन्थ लिखा, जो इस विषय पर कन्नड़ में लिखा गया सर्व प्रथम ग्रन्थ है। सन् १०७९ के लगभग कन्नड़ के सर्व प्रथम ब्राह्मण कवि चंद्रराज ने "मदन-तिलक" नाम की एक छोटी सी पद्य-रचना की। इसमें अलंकारों का भरपूर उपयोग हुआ है और श्लेष आदि अलंकार के चमत्कारों का पूरा पूरा प्रदर्शन है। इसी समय बलिपुर के नागवर्म्माचार्य ने वैराग्य पर एक ग्रन्थ "चन्द्रचूड़ामणि-शतक" की रचना की। इसके पश्चात् हम सीधे बारहवीं शताब्दी तक साहित्यिक जागृति का अभाव पाते हैं।

बारहवीं शताब्दी में कन्नड़ साहित्य फिर से जागृत हुआ और इस काल में कई महाकवि भी प्रकट हुए। उनमें सर्वश्रेष्ठ हैं "नागचन्द्र" या "अभिनव पम्प"। ये विद्वत्ता तथा काव्य-कुशलता में पम्पा की श्रेणी के हैं। इनके जीवन के सम्बन्ध में बहुत कम जानकारी प्राप्त है, अतः इनके जीवन का भली-भाँति निरूपण होना बहुत कठिन हो गया है। लेकिन यह तो अधिकारपूर्वक कहा जा सकता है कि ये बल्लाल राजा बिट्टिदेव के आश्रित थे। बिट्टिदेव का समय सन् ११०४-११४१ था। ये बिट्टिदेव पहले जैन थे लेकिन अपने जीवन के अंतिम दिनों में विशिष्टाद्वैत मत के संस्थापक श्री रामानुजाचार्य के उपदेशों के फलस्वरूप वैष्णव बन गए।

नागचन्द्र ने दो काव्य रचे हैं—"मल्लिनाथ पुराण" तथा "रामचरित पुराण"। पहला ग्रन्थ उन्नीसवें तीर्थंकर मल्लिनाथ की जीवनी है और दूसरा ग्रन्थ "पम्पा भारत" के ढँग पर लिखी गई रामायण है। लेकिन नागचन्द्र की रामायण वाल्मीकि रामायण से कोसों दूर जा पड़ी है। नागचन्द्र ने कथा की प्रेरणा वाल्मीकि से नहीं, बल्कि विमलसूरि तथा अन्य जैन रामायण-कर्ताओं से ग्रहण की थी। विमलसूरि के प्राकृत-ग्रन्थ "पउम-चरिअ" का रावण ही नागचन्द्र का आदर्श है। "पम्प रामायण" में राम के बदले रावण और लक्ष्मण के ही चरित्र अधिक प्रभावशाली बन पड़े हैं। कथा में भी बहुत-से परिवर्तन हैं जिनसे यह एक बिलकुल ही अलग रामायण मालूम पड़ती है। फिर भी शैली, भाषा तथा साहित्यिक सौन्दर्य की दृष्टि से यह एक उत्कृष्ट ग्रन्थ है।

इस काल में कई अन्य कवियों ने भी साहित्य की वृद्धि में योग दिया। बल्लाल राजा के दरबार में नागचन्द्र के साथ ही कवियत्री कान्ति तथा कवि राजादित्य भी थे। कान्ति कन्नड़ की प्रथम कवियत्री हैं। यह इनका असली नाम मालूम नहीं होता, क्योंकि प्रत्येक जैन सन्यासिनी

को "कान्ति" नाम से पुकारा जाता था। कहा जाता है कि इनमें और नागचन्द्र के बीच समस्यापूर्तियाँ हुआ करती थीं। एक बार नागचन्द्र ने बाज़ी लगाई कि वे कान्ति के मुँह से अपनी प्रशंसा कराएँगे। बाज़ी जीतने के लिए उन्होंने भरे दरबार में मूर्छित होने का अभिनय किया और मृत्यु का भी स्वाँग भरा। कान्ति बड़ी दुःखी हुई और वह दिल खोल कर नागचन्द्र की प्रशंसा करने लगी। नागचन्द्र चट से उठ बैठे और लगे अपना पुरस्कार माँगने।

नागचन्द्र और कान्ति के साथ ही राजादित्य भी बिट्टिदेव के दरबारी कवि थे। कवि होने के साथ ही वे एक प्रसिद्ध गणितज्ञ भी थे। कन्नड़ में गणित पर इन्होंने सर्वप्रथम काव्य रचना की। इन्होंने बड़ी खूबी के साथ गणित के सूत्रों को पद्यबद्ध कर दिया है जिससे वे विद्यार्थियों के लिए बड़े ही उपयोगी बन पड़े हैं।

इसी काल में धारवाड़ के नयसेन ने "धर्मामृत" नाम से नीति-शास्त्र पर एक ग्रन्थ लिखा है। अन्य कवियों में विशेष उल्लेखनीय हैं: द्वितीय नागवर्म जिन्होंने "काव्यावलोकन", "कर्णाटक-भाषा-भूषण" तथा "वस्तु कोष" नाम से तीन व्याकरण-पुस्तकें लिखी हैं; कर्णपार्य, जो "नेमिनाथ-पुराण" के रचयिता हैं; जगद्दल सोमनाथ, जिन्होंने कन्नड़ में वैद्यक शास्त्र पर सर्वप्रथम पुस्तक "कल्याण काटक" लिखी है और वृत्ति विलास जिन्होंने अमित की संस्कृत रचना "धर्म परीक्षा" का कन्नड़ में अनुवाद किया है। इनमें अन्तिम रचना "धर्म-परीक्षा" की विशेषता है कि इसमें कवि ने ब्राह्मण धर्म की त्रुटियों का वर्णन कर, उसके ऊपर जैन धर्म की प्रतिष्ठा की है। धर्म-परीक्षा, जिसका रचना काल सन् ११६० है; जैन-काल की अन्तिम कृति मानी जा सकती है।

यद्यपि यहाँ तक पहुँचते-पहुँचते जैन काल की समाप्ति हो जाती है, फिर भी, जैसा कि हर एक साहित्य में होता है, यह काव्य-परम्परा अबाध गति से बहती रही है और सन् १६०० तक अपना प्रभाव डालती रही। इस काल के कतिपय प्रमुख कवियों पर प्रकाश डालना समुचित होगा।

कन्नड़ साहित्य के प्रथम उपन्यासकार "नेमिचन्द्र" इसी युग में हुए थे। इनका उपन्यास है "लीलावती" जो सुबन्धु के "वासवदत्ता" पर आधारित है। दूसरे प्रमुख कवि हैं जन्ना। इनका काव्य "यशोधर-चरिते" अत्यन्त प्रसिद्ध है और "पम्पा रामायण" के टक्कर का माना जाता है। शिशुरामायण ने इसी समय "सांगत्य" नाम की एक नई कविता-प्रणाली का आरम्भ किया। इसने साँगत्य में दो रचनाएँ की हैं—"अंजन-चरित्रे' और "त्रिपुरदहन"। "त्रिपुरदहन" एक रूपक है जिसमें जन्म, विकास तथा मृत्यु तीन पुरों के रूप में चित्रित हैं जिनका दहन ही मनुष्य के मोक्ष का एकमात्र साधन बताया गया है।

इस काल के एक और कवि हैं "आण्डय्या" जिन्होंने "मदन विजय" नाम से एक ग्रन्थ की रचना की है, जिसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों का सर्वथा अभाव है। भाषा बिल्कुल ठेठ है। संभवतः कुछ विद्वानों के अनुरोध पर आण्डय्या ने प्रयोग के तौर पर इसकी रचना की थी। इनके अतिरिक्त कुमुदेंदु ने कुमुदेंदु-रामायण की रचना की। इस रचना पर "पम्पा रामायण" का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। इसकी कोई प्रामाणिक प्रति अब तक प्राप्त नहीं है।

इस समय तक वीरशैव मत अपनी पूर्ण उन्नति प्राप्त कर चुका था, जिसके कारण जनता पर जैन मत का प्रभाव धीरे धीरे क्षीण होता जा रहा था। यही कारण है कि कुमुदेंदु के बाद कोई भी उल्लेखनीय लब्ध-प्रतिष्ठ जैन-कवि नहीं हुआ। जैन कवियों की परम्परा की यहीं से समाप्ति समझनी चाहिए।

जैन कन्नड़ के आदि कवि हैं। कन्नड़ का आदि काव्य "कविराजमार्ग" एक जैन कवि का ही था और आदि कवि पम्पा भी जैन ही थे। जैन कवि कन्नड़ काव्य-देवी का हर प्रकार से शृंगार कर कृतकृत्य हुए हैं। कन्नड़ भाषा का संस्कार कर, उसे काव्य-रचना-सुलभ बनाने का पूरा श्रेय इन्हीं को प्राप्त है। इन्होंने कन्नड़ को काव्य दिए, लक्षण ग्रन्थ दिए, साथ ही रसिक जनों को मनोरम लगने वाले काव्य के साथ जीवन के उपयुक्त ज्ञान का भी प्रसार किया। इन्होंने कन्नड़ काव्य में नई कल्पनाएँ भरी और उसे एक नया ही दृष्टिकोण प्रदान किया। पम्पा का वाग्विलास, रन्ना की वीर श्री और नागचन्द्र का माधुर्य कन्नड़ के लिए अमूल्य भेंट हैं। कन्नड़ साहित्य का जब तक अस्तित्व है, तब तक ये कन्नड़ भाषा भाषियों के पूज्य तथा स्मरणीय रहेंगे, इसमें संदेह नहीं।

—एन. वी. चन्द्रशेखर स्वामी

५६६ रामचन्द्र अग्रहार,
मैसूर

कला की हत्या

और जब नज़मा अपनी फटी सलवार को छुपाती गुर्जर के समीप आई तो ऐसी मालूम हो रही थी, मानों वह किसी का खून करके आई हो। चेहरे के भावों और विवशता से बोझिल नयनों से स्पष्टतया ज्ञात हो रहा था कि वह अपने बचाव के लिए कुछ सहायता चाहती है। लेकिन वह खामोश रही और कुछ देर खामोशी में गुज़ारते हुए उसने देखा एक परिश्रमी कलाकार की चपल तूलिका को जो उस पहाड़ के उत्तंग शिखर को चित्रित करने में लीन थी। नज़मा कब आई, इसका उसे ध्यान ही नहीं था। ध्यान था केवल उस शृंग की चोटी का जो प्रत्यूष का प्रखर प्रकाश पाकर सतरंगी आभा उत्पन्न कर रही थी।

"गुर्जर" नज़मा उसकी तन्मयता को भंग करती हुई बोली।

"......"

वह ध्यानामग्न अपना चित्र बना रहा था।

"गुर्जर" नज़मा का स्वर कुछ तेज हुआ। इस बार उसने अपनी शान्त पलकें उठाईं और नजमा को देख कर अपने अधरों पर मन्द मुस्कान लाता हुआ बोला: "कहो नज़मा, आज दोपहर दोपहर कैसे?"

"एक बहुत जरूरी काम से आई हूँ।"–वह दुख से बोझिल स्वर में बोली: "कुछ सहायता करोगे?"

"क्यों नहीं?"

"शायद"

"ऐसा निराश तो नहीं होना चाहिए।"

"मुझे कुछ रुपयों की जरूरत है।"

"कितने की?"

"सौ रुपयों की।"

"सौ"—उसने "सौ" शब्द को इस ढंग से दुहराया कि नज़मा को शंका हो गई कि गुर्जर के पास रुपये नहीं हैं, फिर भी वह चाह भरी दृष्टि से उसकी ओर देख रही थी।

"नज़मा" वह पुनः विवश स्वर में बोला—"उत्तर देते नहीं बनता, लेकिन लाचार हूँ। अभी मेरे पास बीस-पच्चीस रुपयों से ज्यादा नहीं हैं। कुछ दिन और ठहर जाओ तो मिल सकते हैं।"

"कैसे"?—आँखों और ज़ुबान में प्रश्न था—"तुम तो कह रहे थे कि मैंने कला के लिए अपना घर भी गिरवी रख दिया है...फिर रुपये आएँगे कहाँ से?"

"इसकी फ़िक्र तुम्हें नहीं करना चाहिए। विलायत की प्रदर्शनी में मेरी तसवीर अव्वल आई है, उसके इनाम में मुझे एक हज़ार रुपये मिलेंगे।"

"तब तक तो यहाँ क्या होगा? इसका मैं अन्दाज़ भी नहीं लगा सकती...गुर्जर।" उसका स्वर तेज और वेदनामय हो गया—"मेरी अस्मत का सवाल है। यदि शफीकुर्रहमान जी को आज रुपये नहीं पहुँचे, तो हमारा घर-बार छीन लिया जाएगा वरना उसके बदले में मुझे एक रात......।"

"तुम्हें"

"हाँ, मुझे।"

"यह कभी नहीं हो सकता नज़मा, मैं किसी भी मूल्य पर यह नहीं होने दूँगा।" उसका स्वर रोष में परिणत हो गया।

"तुम नहीं होने दोगे, क्यों?...लेकिन यहाँ हमारे और तुम्हारे होने और न होने से काम थोड़े ही बन जाएगा।...यहाँ पैसा चाहिए...पैसे।" नज़मा के स्वर में व्यंग्य था। आँखों में गरीबी से उत्पन्न मन्द चिनगारी।

वह मन ही मन बोला—"क्यों?"—और नज़मा के लाल मुँह को देख कर कहने लगा: "इसलिए कि तुम मेरी कला की कामयाबी हो जो मुझे केवल जीवन में कामयाबी और आनन्द ही नहीं, बल्कि मेरी कला में सौन्दर्य और यथार्थ अनुभूति की भी जान डालती हो।"—उसका हृदय भावना से भर आया: "नज़मा!" अनुकम्पा भरे स्वर में बोला: "जब मैं तुम्हारी तसवीर बनाता-बनाता थक जाता हूँ, जब मेरी आँखें एकटक तसवीर की ओर निहारते-निहारते पथरा-सी जाती हैं, उस समय मद से भरी तुम अपनी आँखों को मेरी आँखों में गाड़ कर कहती हो: 'गुर्जर! आज तुम्हारी आँखों में अजीबपन कैसा?' मैं निहाल हो जाता हूँ। मेरी सारी थकान मिट जाती है और जिस रोज तुम्हें नहीं देखता हूँ उस रोज मुझे सूना सूना-सा लगता है। जानती हो,

मैं तुम्हारे बिना अधूरा हूँ।"

"लेकिन गुर्जर !" वह बीच में बोल पड़ी : "पर मुहब्बत वक़्त के तकाज़े पर कुर्बानी भी तो माँगती है।"

"कुर्बानी भी दे सकता हूँ, जान भी दे सकता हूँ नज़मा ! लेकिन दौलत की समस्या के आगे मजबूर हूँ। कहाँ से लाऊँ सौ रुपए।"...वह बड़बड़ाता चुप हो गया।

"कहाँ से ?" उसने अपनी भौंहें टेढ़ी करके कहा–क्या दुनियाँ में दौलत नहीं है कि तुम्हें "सौ" रुपए नहीं मिल सकते।"

"दुनिया में दौलत बहुत है नज़मा ! जिसके अच्छे उपयोग से सारे बाशिन्दे अपनी जिन्दगानियों को अमन-चैन से बसर कर सकते हैं किन्तु पूँजीवादी आर्थिक ढाँचा इस प्रकार का है कि सारी दौलत चन्द सरमायदारों, सूदखोरों और ज़मींदारों के हाथ में है और हम मेहनतकश और गरीबों का जीना भी कठिन हो रहा है। यही तो विडम्बना है।"

"अच्छा" वह स्खलित स्वर में बोली और अपने होठों को दाँतों से दबाती, चलने के लिए उद्यत हुई तभी गुर्जर ने पुकारा—"जा रही हो नज़मा ?"

"हाँ, तुमने मेरे आखिरी सहारे को भी तोड़ डाला।" नज़मा रुककर बोली—"अब्बा क्या कहेंगे कि तू उसी (चित्रकार) पर शेखी बघार रही थी।...वे हमेशा कहा करते हैं-ये परदेशी चन्द रोज़ के लिए आते हैं और काम बन जाने पर चले जाते हैं।"

गुर्जर के हृदय में झंझावात उठ रहा था लेकिन उसे मजबूरी की चट्टान रोके हुए थी। पास नज़मा नत मस्तक खड़ी अपने पैर के अँगूठे से पहाड़ी भूमि के एक कंकड़ को उखाड़ रही थी और साथ सोच भी रही थी कि इस कंकड़ की तरह अब मेरी सुहावनी झोंपड़ी उजड़ जाएगी।

"नज़मा !"

उसने अपनी वेदना भरी पलकें उठाईं जिनमें आँसू बरबस थमे हुए थे, बस एक वाक्य ही उसके रुके हुए आँसुओं के बाँध को तोड़ने के लिए पर्याप्त था।

"नज़मा !...शफ़ीकुर्रहमान जी का घर कहाँ है ?"

बस थमा हुआ बाँध टूट पड़ा।

नज़मा रो पड़ी सिसक सिसक और गुर्जर का अपना स्वर भी भर आया—"नज़मा ! डरो नहीं, तेरी अस्मत लूटने से पहले ही मैं उस वहशी का खात्मा कर दूँगा। तुम मुझे उसके घर का ठिकाना तो बताओ। मैं उसके पास जाकर कुछ दिन की और मोहलत माँग आ आता हूँ।"

"जाओ भले ही पर ज़रा ध्यान रखना, उससे बच कर रहना, बड़ा शैतान है वह। तुम्हें तो भून कर रख देगा।"

"तो क्या हुआ आखिर मुहब्बत कुर्बानी भी तो माँगती है।"

"मुझे ऐसी कुर्बानी की ज़रूरत नहीं। तुम्हारी सूरत तो देखने को नसीब होगी।"

"अच्छा बताओ।"

नज़मा ने हाथ का इशारा करके रहमान जी के घर को बतलाया। गुर्जर चिन्तित चल पड़ा। नज़मा का दिल बैठ गया। क्या होने वाला है इसका उसे बड़ा भय था और गुर्जर टेढ़ी मेढ़ी पहाड़ी पगडंडियों को पार करता हुआ, सोचता हुआ जा रहा था—"इंसान हैवान भी बन सकता है। पूँजीपति होकर वह गरीब पर कितना जुल्म करता है लेकिन गरीब अपने मुँह से उफ़ तक नहीं निकालता कैसी विडम्बना है ? चाहिए तो इन्हें मुक़ाबला करना, पर सरमायादार अपनी नादिरशाही, निरकुंशता और धर्म के मिथ्या भय से डरा देते हैं और गरीब...जो मज़बूत से मज़बूत दीवार को तोड़ सकते हैं पर धर्म की दीवार के सामने चाहे वह कच्ची व हिलती हुई क्यों न हो, एक धक्का भी नहीं लगा सकते। कितनी धर्म भीरुता और अशिक्षता है गरीबों में।...उस रहमान के बच्चे को भी देखो अपने कर्ज़दारों की बहू-बेटियों पर कितनी गन्दी नज़र रखता है...।" विचारों में लीन गुर्जर रहमान जी के मकान से आगे चला गया था। अतः लौटकर आया और अपने मानसिक संतुलन को बराबर करके रहमान जी को आवाज़ लगाई। रहमान जी ने दरवाजा खोल कर पूछा : "कहाँ से तशरीफ़ लाए हैं ?"

"पहाड़ की चोटी से।"

"फ़रमाइए मैं आपकी क्या खिदमत कर सकता हूँ ?"

"आप, नज़मा के अब्बा को कुछ दिन की और मोहलत दे देने की मेहरबानी करेंगे।"

"मोहलत क्यों ?" अपने ललाट पर बल डाले हुए रहमान जी विस्मय से बोले।

"उनके घर में अभी बड़ी तंगी है।"

"तो मैं क्या करूँ ? तंगी-मंगी को मैं कितने दिन देखता रहूँ ?"

"आप नहीं देखेंगे तो भला दूसरा कौन देखेगा ? यहाँ के साहूकार तो आप ही हैं और यहाँ के लोगों की गरीबी की हालत से भी आप परिचित हैं। जानते तो हैं कि यहाँ के लोगों को दो जून भर-पेट खाना भी नहीं मिलता; तिस पर आपकी धाँधली और सूद...।"

"आप ठीक कहते हैं लेकिन यह कम्बख़्त ठीक वक़्त पर सूद भी नहीं पहुँचाता।"

"सूद पहुँचाए कहाँ से ? वे बहुत गरीब हैं।"

"यह सब खुदा की मर्जी है। वह किसी को ऐसी इशरत का जहान बख़्शीस करता है और किसी को रंजो-ग़म भरी दुनिया।"

"नहीं, यह सब इन्सान के करिश्मे हैं। वह अपने से कमज़ोर को हर वक़्त दबाता रहता है।"

"लेकिन हम अपने पैसे खैरात में तो नहीं देते। हम कुछ कमाना चाहते हैं।...असल जब ये लोग हमसे रुपए लेने आते हैं तो बड़े बड़े वायदे करके जाते हैं और जब देने का वक़्त आता है तो साले मुँह चुराते फिरते हैं।...नज़मा के अब्बा को ही देखो, एक सप्ताह हो गया है, मुँह भी नहीं दिखलाता। और आज जब मैंने फ़ैसला कर लिया है कि सारे रुपए लेकर ही रहूँगा वर्ना एक रात उस नाज़ुक सी नज़मा को......।"

"खामोश ! इतने इन्सानियत से मत गिरिए।"

"तो पटक दीजिए, हूँ...।" मूँछों पर ताव देते हुए वे बोले।

"रुपए अभी नहीं हैं, संभालिए अपना सूद और ज्यादा गड़बड़ करेंगे तो रिपोर्ट कर दूँगा कचहरी में समझे, वकील हूँ...वकील।"

रहमान जी काँप गए। उन्होंने सोचा कि यह परदेशी कोई पढ़ा लिखा मालूम होता है। अतः मुझे शान्त ही रहना चाहिए।

× × × ×

"हाँ नज़मा ! बस ऐसे ही, जरा धूप में...हाँ,...थोड़ी इधर,...थोड़ी और,...बस हाँ।" एक नई मुद्रा बना रहा था गुर्जर नज़मा की। नज़मा का यह दूसरा चित्र था जिसे गुर्जर बड़ी मेहनत से बना रहा था। कभी वह अपनी तूलिका को रोक कर पल भर के लिए सोच लेता था—"कैसा कलात्मक शरीर है इस सुन्दरी का। मेरी कला की वास्तविक प्रगति तो यही है। नज़मा...मेरी कला।"

एकाएक नज़मा भड़क पड़ी : "भाड़ में जाय तुम्हारी तसवीर। मेरी तो रग रग में दर्द होने लगा है। कैसी टेढ़ी खड़ी कर रखी है।" इतना कह नज़मा वहाँ से हट गई। बादल उमड़ पड़ा था। हवा भी चल पड़ी थी। नज़मा के हृदय में एक उन्माद और एक तरंग-सी उठने लगी। उसने गुर्जर का हाथ पकड़ कर कहा : "गुर्जर आज समाँ कैसा सुहावना है ?"

"बहुत, लेकिन आज तुम्हारी इन आँखों में इतनी मस्ती क्यों ?"

"समय का तकाज़ा है।"

"मतलब।"

"आओ न मेरे पास"--और क्षण भर नज़मा के गर्म होंठ गुर्जर के काँपते अधरों पर जा टिके। गुर्जर सिहर गया और अपने को उससे उन्मुक्त करता हुआ बोला : "नज़मा ! तुम मेरी कला हो और मैं अपनी कला को कामयाबी के पहले कलंकित नहीं कर सकता।" लेकिन नज़मा पर कुछ असर नहीं हुआ तब गुर्जर तेज स्वर में बोला : "नज़मा ! ऐसा मालूम हो रहा है तुम्हारे दिल का प्यार धीरे धीरे वासना की ओर उन्मुख हो रहा है।" नज़मा ने भी गुर्जर के पास छः माह बराबर हिन्दी पढ़ी थी। अतः उसी लहजे में बोली--"गुर्जर ! प्यार का दूसरा नाम ही तो वासना है। आदमी मुहब्बत क्यों करता है ? अपनी वासना को पूरी करने के लिए। वह अवसर का इन्तजार करता रहता है और जैसे ही मौका उसके हाथ लगता है वैसे ही वह प्यार की आड़ में अपनी वासना की प्यास बुझा लेता है। शुरु से आखिर तक कोई भी, चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, कोई किसी को देवी या देवता समझ कर जिन्दगी भर खुदा समझकर पूजता नहीं। सच्ची प्रेमिका और बीवी में वासना होती है लेकिन उसका आभास नहीं होता, समझे।"

वह चुप रहा।

"बोलो जवाब दो। क्या आदमी और औरत की शारीरिक भूख की पूर्ति की जरूरत नहीं।"

"हाँ"

"फिर आलिंगन......"

'गुर्जर बाबू !" डाकिए ने पुकारा और उसके हाथ में तार देकर चलता बना। तार में लिखा था; "सीमान्त के आस पास भीषण दंगा। तुम शीघ्र भारत लौट आओ।"

तार उसके दोस्त का था। गुर्जर भयभीत होकर ज्यों का त्यों खड़ा रहा।

"क्या बात है ?"

"दंगे शुरू हो गए हैं। मैं यहाँ से अपने देश जाऊँगा।"

"और मुझे"

"यही तो समस्या है मेरे लिए। यदि तुम्हें ले चलता हूँ तो तुम्हारे पिता मालूम पड़ने पर मेरी नस ही उतार लेंगे, लेकिन छोड़ भी नहीं सकता। तुम्हारे बिना मेरी जिन्दगी की तमन्नाएँ और कला की कामयाबी अधूरी ही रह जाएगी !"

"डरो नहीं गुर्जर ! मैं तुम्हें गुप्त रास्तों से ले चलूँगी पर मुझे छोड़ मत जाना मैं तुम्हारी जीते जी जहाँ तक मेरी ताकत काम करेगी, बाकायदा हिफाजत करूँगी। आज रात के अँधेरे में हम भाग चलेंगे समझे।"

"हाँ"...एक दीर्घ निश्वास छोड़ी गुर्जर ने।

× × + ×

पुलिस ने सलाम करके कहा कि ये हिन्दुस्तान जा रहे हैं। पुलिस इन्सपेक्टर ने एक नजर गुर्जर और घूँघट में खड़ी नजमा पर डाली, फिर बड़ी लापरवाही से कहा : "तलाशी ले लो।"

पुलिस ने तलाशी लेकर कहा : "सरकार यह कोई जासूस मालूम हो रहा है। इसके पास हमारी पहाड़ियों के रास्ते आदि के नक्शे हैं।"

"हैं ! नक्शे"--रोष से भृकुटी टेढ़ी करता हुआ बोला : "ऐ मियाँ, साले हमें धोखा देता है।" शराब का नशा ज़ोर पर था।

"नहीं इन्सपेक्टर साहब, ये नक्शे नहीं, ये तो मेरी हाथ की बनाई हुई तसवीरें हैं।"

"हमें बच्चा समझता है। साले तुम जैसों को मैंने कितनों को ही पकड़ा है। आठ साल हो गए हैं इन्सपेक्टरी करते। चंगेज इन तसवीरों को एक एक करके जला डालो।"

और एक एक करके उसकी सारी तसवीरें क्रमशः जलने लगीं। तसवीरें क्या, उस गरीब चित्रकार की सारी मेहनत, सारी इच्छाएँ और सारी कल्पनाएँ जलने लगीं। हाथ जोड़ कर वह बोला : "मैं खुदा की कसम खाकर कहता हूँ, ये नक्शे नहीं, ये तसवीरें हैं; और किसी को हानि पहुँचाने के लिए नहीं बनाई गई हैं। खुदा गवाह! सरकार इन तसवीरों को न जलाया जाए।"

इन्सपेक्टर ने एक क्रूर अट्टहास किया और साथ ही सिपाहियों ने--"नादान अगर जासूसी भी करनी थी तो ढंग से करता।...हाँ तुम्हारा नाम क्या है ?"

"गुर्जर"

"तो तुम मुसल्मान हो।"

"जी" शायद मुसल्मान समझ कर उसके चित्र न जलाए जाएँ उसने सोचा।

"कम्बख्त ! मुसल्मान होकर तू अपने वतन की खिदमत के बजाय बुरा करता है। जा तुझे बस इतनी ही सजा देता हूँ वर्ना खाल खिंचवा लेता।" शराब के नशे में इन्सपेक्टर वहीं पर लुढ़क गया।

"बेगुनाहगार को सजा देने वाले को खुदा कभी भी माफ़ नहीं कर सकता।"

"तुम और बेगुनाह" सारे सिपाही हँस पड़े। गुर्जर और नज़मा ने अपने कानों में अँगुलियाँ डाललीं।

"चंगेज़ देखते क्या ? जलाते क्यों नहीं ?"

"अगर मुझ पर आपका कोई सन्देह है तो आप इन्हें अपने पास रखलें।"

"नहीं, यह सारे जलाए जाएँगे, जाओ यह मेरा आखिरी फ़ैसला है।"

--और देखते देखते सारे चित्र जला दिए गए। और वह चला हृदय में एक टीस लिए—"ये देश के रक्षक जो निरपराध को बिना जाने-बूझे दंड दे डालते हैं और ये हैं पाकिस्तान के बुद्धू सिपाही जो अपराधी नहीं, अपराधी की वस्तुओं को दंड देते हैं।......"

"नज़मा !"–उसने पुकारा "तेरी बदौलत मैं फिर से नए चित्र बनालूँगा। मेरी कला तो तुम्हीं हो।"

वह चला पड़ा और भारत की सीमा पर पहुँच कर वह एक जगह बैठना चाहता ही था कि एक सिपाही ने उससे पूछा :

"कहाँ से आ रहे हो ?"

"सीमान्त से।"

"हिन्दू हो ।"

"जी"

"यह कौन है ?"

"मेरी पत्नी ।"

"तुम्हारी तलाशी ली जाएगी ।" कह कर तलाशी ली गई पर कुछ भी नहीं मिला; किन्तु अफ़सर की नज़र नज्मा के रूमाल पर जा पड़ी जिस पर लिखा हुआ था, उर्दू में गुर्जर की तूलिका से : "नाज़ुक सी नज्मा"

"तो यह मुसलमान है ?" कड़क कर अफ़सर ने पूछा ।

"जी"

"इसे भगा कर लाए हो ?"

"नहीं, यह मुझ से प्यार करती है ।"

"घूँघट उठाओ ।"

"घूँघट यह नहीं उठा सकती ।"

"क्यों ?"

"पर्दानशीन है ।"

"लहनसिंह घूँघट हटाओ ।"

"सरकार किसी पर ज़बरदस्ती करना, बड़ा जुर्म है । '

"जुर्म के बच्चे, जुर्म हमारे हाथ में हैं । उठाओ घूँघट ।"

लहनसिंह आगे बढ़ा परन्तु गुर्जर ने उसे धक्का मार दिया, फिर क्या था सारे सिपाहियों ने गुर्जर को पकड़ लिया । नज्मा ने घूँघट हटा लिया । शायद कहीं ये सिपाही गुर्जर को पीट न दें । नज्मा की सुन्दरता पर अफ़सर मर पिटा । वासना तीव्र रूप से जाग पड़ी ।

"मेरे कमरे में ले जाओ"

"सरकार ! अपने उत्तरदायित्व को समझिए । आपको यहाँ पर बलात्कार करने के लिए नहीं रखा गया, अपि तु बलात्कार से बचाने के लिए ।"

"खामोश, साले सारे लूटते हैं—हमसे बड़े बड़े—फिर हम क्यों किसी का मुँह देखते फिरें ।"

"कुत्ते...नीच...बदमाश !"

धड़ाम्—एक घूँसा गुर्जर के मुँह पर पड़ा । नज्मा बेहोश हो गई । गुर्जर के मुँह से खून बहने लगा । बस वह विस्फारित नेत्रों से प्रस्तर की प्रतिमा बना मूक देखता रहा—अपनी निष्कलंक कला पर दानवता के गहरे चिन्ह अंकित होते, देश के सेवकों के सुन्दर नमूने... ।"

एक चीख़ आई नज्मा के विवश मुँह से । गुर्जर स्वयं बेहोश-सा होने लगा । मुँह से निकल रहा था—"मेरी कला की हत्या न करो उसे, अनिच्छित कलंकित मत करो ।...कला की......ह......त्या...... !"

तभी एक घूँसा और लगा, उसे चुप करने के लिए । पुलिस कह रहा था—"शान्त रह पगले कहीं के"

"शान्त रह पगले कहीं के ।"—उसका स्वर टूट रहा था । स्वर टूट गया लेकिन उसे महसूस हो रहा था—उसकी टूटी हुई आत्मा की ध्वनि सारे विश्व के वातावरण में गूँज रही है । जो कह रही है—जीवन, व्यवहार, विचार सब में क्रान्ति हो एक आमूलचूल परिवर्तन हो । तभी ये वहशी इन्सान इन्सानियत को समझेंगे ।

३७३, अप्पर कलीरएटपुरा रोड,
कलकत्ता ७

—यादवेन्द्रनाथ शर्मा 'चन्द्र'

अभी मैंने पश्चिमी देशों का दौरा किया । मैंने देखा कि वहाँ साधारण से साधारण मनुष्य और स्त्रियाँ चाहे वे किसी वर्ग से सम्बन्धित हों—अपने देश को विकसित करने के प्रति उत्साह दिखातीं थीं परन्तु मुझे यह कहते हुए दुःख होता है कि हमारे देश में इस प्रकार के उत्साह का अभाव है । हम में से प्रत्येक को इस बात में गर्व का अनुभव करना चाहिए कि हमारा देश क्या कर रहा है । जब तक बलिदानपूर्ण देशभक्ति की भावना नहीं है, तब तक हम कुछ प्राप्त नहीं कर सकते । केवल धन और ऊँचे पद प्राप्त करना ही हमारे जीवन का लक्ष्य नहीं होना चाहिए ।

—डा. राधाकृष्णन

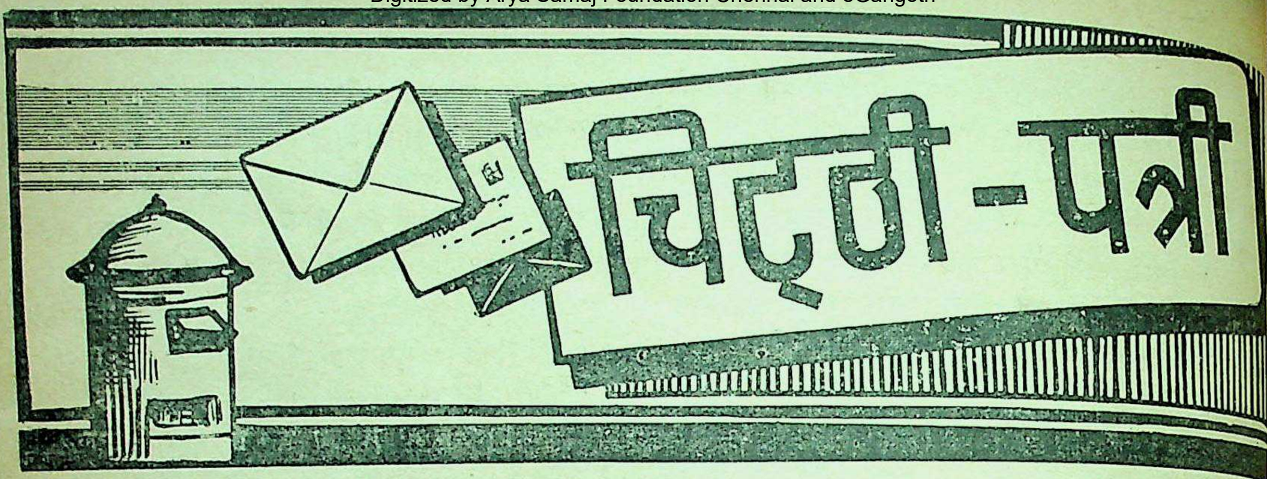

चिट्ठी-पत्री

[' चिट्ठी–पत्री ' के स्तम्भों को हम अधिक लोकप्रिय बनाना चाहते हैं। साहित्य की गति-विधि और अन्य समस्याओं पर हम ' अजन्ता ' के पाठकों के विचारों को जानना चाहते हैं। इन स्तम्भों में वे अपने विचार प्रकाशित करने के लिए भेज सकते हैं। इन स्तम्भों के द्वारा लेखकों और पाठकों के बीच में निकट सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है। इन स्तम्भों में प्रकाशित सर्वश्रेष्ठ पत्रों पर विशेष पारिश्रमिक की योजना की गई है। पत्र संक्षिप्त और निर्वैक्तिक होने चाहिए पत्र अधिक से अधिक ' अजन्ता ' के दो कालम के होने चाहिएँ —सं.]

(१)

कविता 'गगन की आग' : हिन्दी के पत्र

···जून के "अजन्ता" अंक में प्रकाशित श्री भवानी-प्रसाद मिश्र की कविता " गगन की आग " काफी स्वस्थ एवं सुन्दर है। आमतौर पर, आजकल हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होने वाली कविताओं में दम नहीं होता, लगता है जैसे कवि ने ऊब-ऊब कर लिखा हो और सम्पादक ने फ़र्ज अदायगी के तौर पर छाप दिया हो। कुछ कविताएँ तो वादों के चक्कर में और भी बेढंगी हो जाती हैं। किन्तु श्री भवानीप्रसाद की यह कविता काफी वजनदार है। ऐसी ही कविताओं से हिन्दी भाषा समृद्ध होगी।

चिट्ठी-पत्री स्तम्भ में प्रकाशित श्री उषर्बुध "आर्य" का नोट "हिन्दी पत्रों की स्थिति" बड़े काम का है। सम्पादकों तथा लेखकों को इस ओर विशेष रूप से ध्यान देना चाहिए। हिन्दी के अधिकांश सम्पादकों तथा लेखकों ने शायद ईमानदारी से परिश्रम करना नहीं सीखा है। अभी हाल ही में एक सम्माननीय हिन्दी दैनिक ने डा० श्यामाप्रसाद मुखर्जी को श्री आशुतोष मुखर्जी के ज्येष्ठ पुत्र लिखा था। इस तरह की गलतियाँ देखने में आती हैं, जिनसे थोड़ी सतर्कता से काम लेने पर आसानी से बचा जा सकता है। इस भयावह स्थिति से बचने के लिए दृढ़ क़दम उठाना परमावश्यक है। यह कार्य चाहे किसी संस्था के जिम्मे किया जाय अथवा पत्रकार संघ द्वारा सम्पन्न हो। बेहतर होता यदि हिन्दी साहित्य सम्मेलन, नागरी प्रचारणी सभा और राष्ट्रभाषा प्रचार समिति आदि संस्थाएँ इस काम का भार अपने ऊपर लेतीं।

—हर्षनाथ

(२)

श्री शिवपूजन सहाय

प्रियवर,

अजन्ता मिला। देखकर प्रसन्नता हुई कि उसका स्तर निरन्तर उठता जा रहा है। मैटर पर भी आपने यथेष्ट ध्यान दिया है और Varity पर भी। श्री आदित्य मिश्र का लेख पढ़ा। बहुत अच्छा लगा। आशा है 'अजन्ता' इसी प्रकार बराबर उन्नति के पथ पर अग्रसर होता जाएगा।

अब मेरा गिला सुनिए, कि इधर काफ़ी दिनों से हिन्दी की सभी पत्र-पत्रिकाओं ने विशेषतया बिहार की, वयोवृद्ध साहित्य सेवी आचार्य शिवपूजन सहाय जी की अस्वस्थता के विषय में चिन्ता प्रकट की है। बाबू शिवपूजन सहाय जी ने अपना सारा जीवन साहित्य की सेवा में, हिन्दी की सुश्रुषा में गला दिया। उन्होंने जीवन भर सरस्वती की पूजा की। फलस्वरूप लक्ष्मी सदा रूठी रही। आज शिव जी क्षय रोग से पीड़ित हैं। इस रोग ने आदरणीय और लक्ष्मीधर वाजपेई को तो हम से छीन ही लिया

अब शिव बाबू पर आँख गड़ाए है। यह लोकतन्त्र भी अजीब है। तमाम चीख-पुकार के बाद भी सरकार के कान पर जूँ तक नहीं रेंगती। ख़्वाजा अहमद अब्बास ने जब 'सरदारजी' कहानी लिखी तो सरकार ने लेखक पर मुक़दमा चलाने की सोची। कृष्णचन्द्र ने 'पेशावर एक्सप्रेस' लिखी तो सरकार ने उनसे जवाब माँगा। स्व० वाजपेई आज हमारे बीच नहीं हैं। उनकी मृत्यु से तो कुछ सबक लें। या सरकार केवल मुक़दमा चलाने के ही लिए है, जवाब माँगने के लिए ही है और उसे अपने नागरिकों के जीवन की भी कोई चिन्ता नहीं। तब यह कागज़ की नाँव कैसे चलेगी? शिव जी के रोग के निदान के लिए हमें अपना सब कुछ बलिदान कर देना चाहिए। हमें आन्दोलन करना चाहिए। गोष्ठियों में बैठ कर, प्रस्ताव पास कर सरकार से माँग करनी चाहिए कि सरकार शिव जी की चिकित्सा का भार अपने ऊपर ले। यदि सम्भव हो सके तो हमें कुछ चन्दा भी इकट्ठा करके भेजना चाहिए। बिहार के साहित्यिक कोष का आयोजन कर रहे हैं। मेरे लेखक और पाठक बन्धुओ! यदि इसी तरह हमारे साहित्यिक संत एक-एक करके हमसे दूर होते गए तो साहित्य अनाथ होता जायगा। क्या हमारे साहित्यिकों का भी युग कभी आएगा? क्या हमारा ज़माना भी बदलेगा? मित्रो! कामना करो कि शिव बाबू चिरायु हों। उन पर मौत की काली छाया हम कभी नहीं पड़ने देंगे। उन्हें हम चाहते हैं, साहित्य चाहता है, समाज और युग चाहता है। उठो और आगे बढ़ कर उन्हें मौत के मुँह से छीन लो। अन्यथा, इतिहास हमें कभी क्षमा नहीं करेगा। आने वाली संतान हमें कभी भी माफ़ नहीं करेगी।

—रामगोपाल शुक्ल

[आचार्य शिवपूजन सहाय के सम्बन्ध में हमें 'असरकारी सूचना' (सं० ५८४) प्राप्त हुई है कि पहले की अपेक्षा अब उनका स्वास्थ्य कुछ अच्छा है, परन्तु यक्ष्मा के रोग में जिस सावधानी और आराम की आचार्य जी को आवश्यकता है उसकी व्यवस्था किए बिना 'हिन्दी जगत्' अपने उत्तरदायित्व से मुक्त नहीं हो सकता। बिहार राज्य सरकार ने आचार्य जी की अस्वस्थता की अवधि में उनकी सहायता के लिए ५ हज़ार रुपये का अनुदान स्वीकृत किया है तथा वह उनकी चिकित्सा का प्रबन्ध कर रही है। भारत सरकार ने एक वर्ष की अवधि के लिए श्री शिवपूजन सहाय के परिवार के निर्वाह के लिए १५० रुपये प्रतिमास का अनुदान स्वीकार किया है। इसके लिए बिहार सरकार और भारत सरकार दोनों धन्यवाद के पात्र हैं। जीवन भर साहित्य-साधना में रत रह कर हमारे सरस्वती के उपासक प्रायः लक्ष्मी के उपेक्ष्य रह जाते हैं। हमारा कर्तव्य है कि हम अपने साहित्यकारों की जितनी सहायता हो सके करें। 'अजन्ता' परिवार अपने पाठकों और लेखक बन्धुओं से अपील करता है कि वे आचार्य शिवपूजन सहाय की अस्वस्थ अवस्था में शक्ति भर आर्थिक सहायता करने का प्रयत्न करें। 'अजन्ता-कार्यालय' में इस सम्बन्ध में निधि प्राप्त होने पर वह आचार्य जी के घर के पते पर भेज दी जाएगी।

विगत ४० वर्षों के साहित्यिक जीवन में आचार्य जी ने माधुरी, जागरण, मतवाला, गंगा, बालक, हिमालय, साहित्य आदि पत्रों और द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ, बिहार स्मारक ग्रन्थ, डा० राष्ट्रपति राजेन्द्रप्रसाद अभिनन्दन ग्रन्थ आदि का सम्पादन किया। आप एक अच्छे आलोचक और गद्य लेखक हैं।—सं०]

(३)

सफल एकांकी

...जून '५३ का 'अजन्ता' मिला। विभिन्न प्रकार के लेखों, कविताओं तथा एकांकियों को देख कर बहुत आनन्द हुआ। विशेष कर "आन्दोलन" एकांकी को पढ़ कर। श्री रामगोपाल शुक्ल ने इस एकांकी में विनोद का भण्डार ही फैला दिया है। प्रत्येक पंक्ति विचार पूर्वक और तर्क-शुद्ध लिखी गई है। आवेश में आकर आपने एक जगह तो यहाँ तक लिख दिया है: "पुरुषों का धर्म स्त्रियों के पैर दबाना है।" दूसरी विशेष बात यह कि आपने उस युग के मनुष्यों के नाम बहुत ही सुन्दर रक्खे हैं। शायद उन्हें उस समय और नाम ही न सूझे हों। खैर फिर भी "आन्दोलन" एकांकी मेरे अपने आज तक के अध्ययन में पहला प्रशंसनीय तथा विनोदपूर्ण एकांकी है। अतः मैं इस "आन्दोलन" कर्त्ता को हृदय से बधाई देता हूँ। **—रामचन्द्र बन्सवाला**

(४)

भाषा की शक्ति

प्रिय महोदय,

आप की टिप्पणी पर्याप्त है, इस विषय को लेकर शास्त्रार्थ करने से लाभ क्या? शासन की दृष्टि अभी हिन्दी

के अनुकूल नहीं। अभी तो जन-सन्तोष के लिए कुछ कर भर देना है। अतः हम हिन्दी वालों को सभी प्रकार से हिन्दी को पुष्ट करना है। इसी से इधर अपना विचार इन प्रश्नों में पड़ने का नहीं होता।

प्रायः लोग समझते हैं कि विज्ञान का पढ़ना पढ़ाना अँग्रेजी के बिना नहीं हो सकता। यह उनका शुद्ध भ्रम है। विज्ञान में 'संज्ञा' का राज्य होता है। संज्ञा से किसी भाषा की शक्ति का बोध नहीं होता, भाषा की शक्ति का पता चलता है दर्शन से। मैं तो परिहास में प्रायः कह दिया करता हूँ कि विज्ञान में 'राशि का नाम' चलता है तो 'व्यवहार' में घर का नाम। यही स्थिति प्रायः सर्वत्र है। पर हमारे देश के सयाने इसके अनुसार चलना ठीक नहीं समझते। उनकी दृष्टि में 'राशि नाम' ही ठीक है। किन्तु क्या लोक हृदय कभी उनका साथ दे सकता है?

—चन्द्रबली पांडे

(उक्त टिप्पणी 'भारतीय भाषा विकास सम्मेलन' है जो 'अजन्ता' के जून '५३ अंक के सम्पादकीय के रूप में प्रकाशित हुई है।—सं०)

(५)

सभा का गौरव

...'अजन्ता' को आप ने ऊपर उठा कर जो प्रशंसनीय कार्य किया है वह सभा के गौरव के अनुकूल है। बधाई स्वीकार करें।

रामेश्वरदयाल दुबे

(६)

साकेत में भाव-पक्ष

...'साकेत' प्रबन्ध-काव्य है किन्तु इसमें ऐसे अनेक स्थल हैं जहाँ भाव-व्यंजना द्वारा रस परिपाक की पर्याप्त गुंजायश है। गुप्त जी ने ऐसे मार्मिक स्थलों को चुनने और उन पर लिखने में पर्याप्त सहृदयता से काम लिया है। अन्तिम चार-पाँच सर्ग तो इस दृष्टि से और भी अधिक मार्के के हैं। प्रारम्भिक सर्गों में भी कथा का कोरा क्रम-विकास नहीं है। कथा-क्रम के नीरस स्थलों को कवि ने अपने वाणिविलास द्वारा चमत्कृत कर दिया है। गुप्त जी को ज्ञात है कि काव्य का पाठक अपनी रस जिज्ञासा की तृप्ति के लिए कवि के समीप आता है, कोरे सत्य और उपदेश तो विज्ञान और धर्म-शास्त्र के विषय हैं। उनके लिए कवि के समक्ष आने की आवश्यकता नहीं है। इसलिए वे अपने काव्य में उपदेष्टा, वैज्ञानिक अथवा दार्शनिक के रूप में नहीं हैं प्रत्युत कवि के ही रूप में हैं। भावातिरेक में सर्वत्र उन्होंने बुद्धिवाद को डूबो नहीं दिया है। यदि वे तर्क-बुद्धि को ही प्रधानता दे देते तो भावों की गंगा सूख जाती और काव्य-प्रबन्ध शुष्क हो जाता।

गुप्त जी की कला में जैसे जीवन की पवित्रता गल कर एक हो गई है, उसी प्रकार उनकी भावधारा में उदात्त वातावरण उमड़ कर सस्ती भावुकता से ऊँचे प्रदेश की ओर उठता है। उनकी अनुभूति का अनुसरण करके स्वार्थ की समतल भूमि में अधिक समय तक रहने का अवकाश नहीं है। भावों की यह उदात्तता कवि की अत्यन्त प्रिय होने के कारण 'साकेत' के समस्त वायु-मण्डल को घेरे हुए है। छोटे-छोटे पात्रों के जीवन में वातावरण की उदात्तता समाई हुई है। विचारों और भावों की क्षुद्रता स्वार्थ की पंकिल भूमि में लोटती हुई कहीं दिखाई नहीं पड़ती। 'साकेत' अनुभूति का स्वर्ग है, जहाँ जीवन के सुख-दुःख की एक मधुर परिणति का आभास मिलता है—ऐसी परिणति जो अन्ततः मनोवृत्तियों को उठाने के निमित्त है।

पुण्य पवित्रता और पवित्र सात्विकता उनके शृंगारी भावों में भी पाई जाती है। करुणा तो स्वयं पवित्र है ही। उनके वीरता के उद्गारों में अत्याचार और अनाचार, अनीति और अनय के कलुष्य की छाया भी नहीं पड़ने पाती। गंगा स्नान करके आती हुई वैष्णवी की तरह उनकी भावुकता ऐन्द्रियता में निमग्न होनेवाली नहीं है। 'साकेत' के चार सौ पृष्ठों में रामनरेश त्रिपाठी के स्वप्न का दृश्य कहीं नहीं उपस्थित होता, और न पंत, प्रसाद अथवा निराला के शृंगार के दर्शन होते हैं। पाठक कवि के हास्य, रुदन, आनन्द, प्रेम और शृंगार सभी में सम्मिलित होता है, पर इन्द्रियासक्ति की ओर उसकी तन्मयता नहीं होती। यह कवि की पाठक और अपने भावाभिव्यंजन दोनों पर विजय है।

भारत के धार्मिक वातावरण का प्रतिनिधित्व करने वाले, गङ्गा-यमुना एवं महर्षियों की इस पुण्य-भूमि की स्वाभाविक विशुद्धता को भावक्षेत्र में बनाए रखनेवाले, गुप्त जी अकेले कवि हैं। उन्होंने अपने पाठकों की अन्तर्वृत्ति को अच्छी तरह पहचाना है। उनकी वा को इसीलिए सबसे अधिक लोक-प्रियता प्राप्त हुई है।

—राजकुमारी शिवपुरी, एम. ए.

नीर-क्षीर

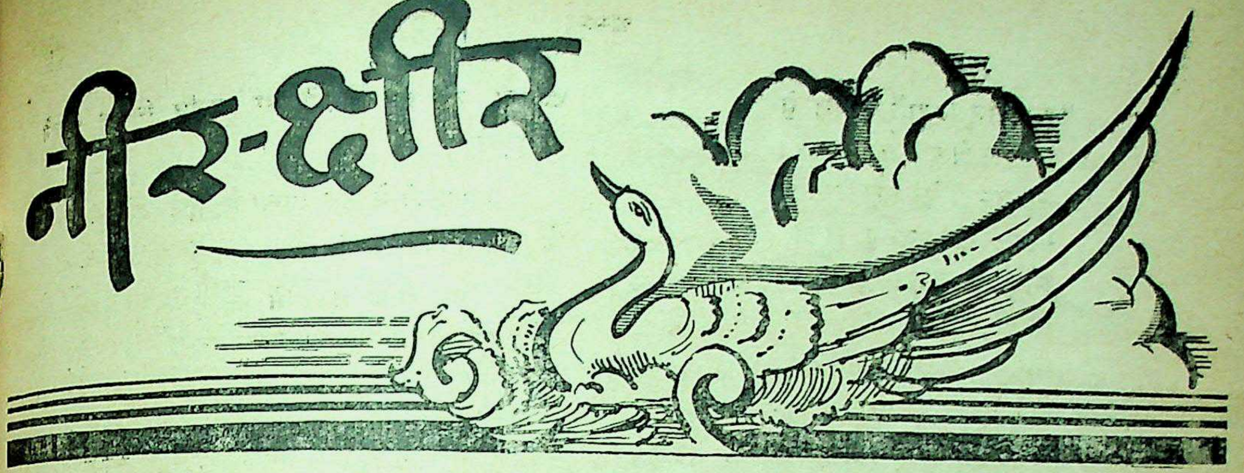

[समालोचना के लिए प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ सम्पादक 'अजन्ता' के नाम से भेजी जानी चाहिएँ]

टूटती शृंखलाएँ (कविता संग्रह)
लेखक : महेन्द्र भटनागर
प्रकाशक : कारवाँ प्रकाशन
बड़ा सराफ़ा, इन्दौर (म. भा.)
मूल्य : १।॥)

प्रस्तुत संग्रह में श्री महेन्द्र भटनागर की प्रगतिशील एवं प्रयोग शैली की ६० कविताएँ संग्रहीत हैं । हिन्दी कविता की अभिव्यंजना-शक्ति को विकसित करने वाले नए कवियों में श्री महेन्द्र भटनागर का प्रमुख स्थान है । 'टूटती शृंखलाएँ' के उत्तरार्ध भाग में जो नई शैली की कविताएँ हैं, वे हिन्दी-साहित्य के उज्ज्वल भविष्य की सूचक हैं । महेन्द्र जी ने नए उपमानों तथा नए विषयों को अपनी कविता का माध्यम चुना है । इस दृष्टि से 'ज़िन्दगी की शाम', 'जब-जब,' 'विश्वास है,' 'मन,' 'बहुत हुआ', 'बस रहने दो,' 'रात का आलम,' 'प्रभात,' 'ज़िन्दगी,' 'पहली बार,' आदि कविताएँ बड़ी सफल एवं प्रभावोत्पादक हैं । कुछ नई शैली के कविताओं के उद्धरण इस प्रकार हैं :

"ठण्डी हो रही है रात
धीमी यन्त्र की आवाज़
रह-रह गूँजती अज्ञात
स्तब्धता को चीर देती है,
कभी सीटी कहीं से दूर इंजन की,
कहीं मच्छर तड़प भन-भन अनोखा शोर करते हैं,
चूहे भूखे निकल कर तोड़ का बड़ जोर करते हैं,
घड़ी घण्टे बजाती है ।
कि बाक़ी रुक गए सब काम,
स्थिर, गतिहीन, जड़, निस्पन्द,
खोकर—चेतना बेहोश,
साँसें ले रही है जान,
हो अनजान !"

अथवा

"जब-जब बढ़ी थीं ये लहरेंग रजती हुई
तब-तब चलाई थी नौका,
समुन्दर चकित था !
जब-जब ये चमकीं थीं बिजली लरजती हुई
तब-तब बढ़ाए क़दम दृढ़,
निलय भी नमित था !"

इनके अतिरिक्त महेन्द्र भटनागर की कविता की सबसे बड़ी विशेषता उनका मानवतावादी दृष्टिकोण है । युग की अनुभूति बड़े कलात्मक ढंग से महेन्द्र जी की कविताओं में व्यंजित हुई है । सर्वत्र आशावादी स्वर मिलेगा । कवि का जनवादी शक्तियों पर अटूट विश्वास है । 'जन समुन्दर' में यही विश्वास उभर कर आया है ।

"ये चरण युग के चरण हैं, कब झुकेंगे ?
ये शहीदों के चरण हैं, क्या रुकेंगे ?
कौन-सा अवरोध कम्पित कर सकेगा ?
पंथ पर तूफ़ान आहें भर थकेगा !"

हर क़दम पर, हर क़दम पर !
बढ़ रहा दृढ़ जन-समुन्दर !"

वे 'विचारों' की शक्ति और सृजन में विश्वास करते हैं :

"तुम आज विचारों के बल से
जन रच दो दुनिया एक नई।
यह उजड़ा वेष धरा का तो
यह ग्रहण लगा नभ राका तो
आँखों को लगता बुरा-बुरा
पी ली मानों प्राचीन सुरा
तुम आज सृजन की घड़ियों में,
जन रच दो दुनिया एक नई!"

और इस बदलती हुई दुनिया की गति से परिचित ही नहीं विशेष रूप से जागरूक भी हैं :

"विश्व के इतिहास में जनता सबल बन
आज पहली बार जागी है!
कि आज पहली बार बाग़ी है!
... ...
केलीफोर्निया की मृत्युघाटी से,
कलाहारी, सहारा, हब्स, टन्ड्रा से
मिटी लो निम्नतम पशुता।
सभी संस्कृत-दिशा उन्मुख जगत जनता!"

कुल मिला कर महेन्द्र भटनागर का यह कविता-संग्रह हिन्दी-कविता के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण प्रकाशन है, जिसका साहित्यिक-मनीषियों द्वारा उचित मूल्यांकन होना चाहिए।

—**विश्वबन्धु**

लड़खड़ाते क़दम

लेखक : महेन्द्र भटनागर
प्रकाशक : स्वरूप ब्रदर्स, इन्दौर
मूल्य : एक रुपया

'लड़खड़ाते क़दम' श्री महेन्द्र भटनगर की ग्यारह कहानियों का संग्रह है—कहानियाँ ऐसी जो स्केच, कथोपकथन के नाम से भी पुकारी जा सकती हैं और जिनके द्वारा लेखक वर्त्तमान पूँजीवादी व्यवस्था पर आघात और समाज के निम्न वर्ग का संघर्षमय जीवन व्यक्त करना चाहता है—चाहता इसलिए कि वह जीवन उभर-उभर नहीं आता, अपना क्षणिक किन्तु दुरन्त परिचय दे जाता है और ऐसा प्रतीत होता है मानों लेखक जल्दी में कुछ संकेत करना चाहता है (इस संकेत में कला का स्पर्श गहरा नहीं है) अन्यथा, उसे इन विषयों पर गम्भीर निबन्ध लिखने चाहिए थे।

प्रसाद जी नें कहीं लिखा है, छोटे व्यक्ति की महत्ता को दर्शाना ही प्रगतिवाद है। प्रगतिवाद की इससे सुन्दर और सच्ची व्याख्या हो नहीं सकती। परन्तु, छोटे की महत्ता इन कहानियों में व्यक्त नहीं हुई है। संग्रह की मूर्धन्य कहानी—लड़खड़ाते क़दम : ग्रामीण पार्वती का पति उसे छोड़ गया, वह शहर में अपने लड़के के साथ आ कर मिल में नौकरी करती है, मन चले लोगों की छेड़-छाड़ के कारण वह नौकरी छोड़ कर बर्तन माँजने का काम शुरू करती है, एक चपरासी परमा से उसे प्रेम हो जाता है, दोनों शादी कर लेते हैं, उनकी आर्थिक अवस्था अच्छी है और परमा शराब पीने लगता है, वह मिल के मैनेजर से दस रुपया लेता है, पार्वती को एक रात के लिए बेचने के लिए कि उसे शराब के पैसे मिल सकें और पार्वती धोखे से भेजी जाती है, परमा शराब पिए, पाँच रुपए हाथ में लिए लड़खड़ाते क़दमो से घर में प्रवेश करता है। क्या कहना चाहता है लेखक?—क्या शराब मज़दूर इसलिए पीते हैं कि अच्छी लगती है? क्या यौन-नैतिकता (Sex Morality) को भारतीय मज़दूर तिलांजलि दे चुका है? मिल-मालिकों की बुराई और चरित्रहीनता को ही दिखाना हो तो इसके लिए मज़दूर के चरित्र को छोटा करके दिखाना कदाचित् आवश्यक नहीं है। सबसे अधिक आश्चर्य तो इस बात का है कि लेखक ने इस कहानी में आर्थिक कठिनाइयों का कहीं ज़िक्र तक नहीं किया!

हाँ कुछ कहानियाँ और कुछ-एक स्केच हैं जिनमें समाज के चरमराते हुए आर्थिक ढाँचे की ओर संकेत है परन्तु उनमें अधिकांश विवरण मात्र हैं, मानवीय हृदय के स्पन्दन का योग भी उनमें होता तो इन स्केचों का मूल्य अधिक बढ़ जाता। प्रमुख विषय : युद्ध की विभीषिका, हिन्दू मुस्लिम समस्या, स्वतंत्रता आन्दोलन आदि हैं जिनमें लेखक का चिन्तन प्रधान है। कहीं-कहीं वह हवाला भी देता है "मुझे कम्युनिस्ट लेखक रजनी पामदत्त की बात याद......।" 'पुरुष और नारी' कथोपकथन के रूप में निबन्ध है। 'तृप्ति' कहानी अच्छी बन पड़ी है, परन्तु वह कहानी ही है, लेखक के विचारों की प्रतिनिधि नहीं है।

विहग-गीत

लेखक : वारणासि राममूर्ति 'रेणु'
प्रकाशक : लक्ष्मी हिन्दी विद्यालय, चिलकलूरिपेट,
जिला गुण्टूर

'विहग-गीत' श्री राममूर्ति 'रेणु' की चौदह कविताओं का संग्रह है। कवि दक्षिण भारत निवासी हैं और उनकी कविता में हिन्दी के लिए एक नयापन है। भाषा पर उनका अधिकार अच्छा है और इन कविताओं में दक्षिण भारत की संस्कृति की छाप स्पष्ट है। कवि ने परिशिष्ट में कुछ टिप्पणियाँ दी हैं जो हिन्दी पाठक को दक्षिण की संस्कृति से परिचित कराती हैं।

'कृष्णा-विलाप' कविता में कवि घूमते हुए कृष्णा नदी के तट पर जाता है जहाँ कृष्णा अपने प्राचीन गौरव और वर्तमान दीनता की गाथा कवि को सुनाती है। इस कविता में कृष्णा के किनारे पली आन्ध्र प्रदेश की प्राचीन संस्कृति का परिचय मिलता है। 'हम्पी की पुकार' (हम्पी भगवान् नृसिंह की उग्र मूर्ति है) में भी वर्तमान दुरावस्था पर क्षोभ प्रकट किया गया है। सम्पूर्ण राष्ट्र-हित को एक समझ कर कवि ने अपनी पूत भावनाएँ प्रकट की हैं। उसे देश की वर्तमान दुरावस्था से क्षोभ है। 'विधवा' और 'अश्रु तर्पण' करुणापूर्ण कविताएँ हैं। 'दे सिंह का युद्ध प्रयाण' में दे सिंह की वीर पत्नी अपने पति को विदा करते समय कहती है, यदि वे युद्ध क्षेत्र में काम आए तो वह शव मँगा कर देखेगी :

"पेट पीठ दोनों परखूँगी
घाव कहाँ है, यह निरखूँगी
हृदय छिद गया तो हरखूँगी
सती बनूँगी; स्वामी, चन्दन चिता पर स्वामी
मेरे कहीं अभाग्यवश अगर
पीठ भिद गई, थूक थूक कर
फिंकवाऊँ अलग अलग कर
कुत्तों को शव स्वामी! क्षमा करेंगे स्वामी!!"

राजस्थान की वीर क्षत्राणियों की याद दिलाता है। प्रस्तुत कविता कवि के 'दे सिंह' काव्य का अंश है जो अभी अप्रकाशित है।

प्रकृति-प्रेम, राष्ट्रीय भावना और सूक्ष्म कल्पना श्री 'रेणु' जी के काव्य की विशेषताएँ हैं, आशा है वे अपनी अन्य रचनाओं से हिन्दी का श्री भण्डार भरेंगे।

बदलता युग

लेखक : महेन्द्र भटनागर
प्रकाशक : दीनानाथ बुक डिपो,
खजूरी बाज़ार, इन्दौर
मूल्य : डेढ़ रुपया।

'बदलता युग' श्री महेन्द्र भटनागर की तैंतालिस कविताओं का संग्रह है। संग्रह की अधिकांश कविताएँ हमारे राष्ट्रीय जीवन के विगत दस-एक वर्षों से सम्बन्धित हैं। पहली ही कविता में हमें कवि की दृढ़ वाणी सुनाई पड़ती है—'गिर नहीं सकती कभी विश्वास की दीवार।' और यह दीवार त्रस्त-शोषित-सर्वहारा-वर्ग के जन-संगठित बल की दीवार है। अधिकांश कविताओं का सामयिक महत्व है—बंगाल का अकाल, नाविक सैनिकों का विद्रोह, साम्प्रदायिक दंगे, मलान की नीति, देशी राज्यों की समस्या, शराबबन्दी, स्वतन्त्रता दिवस आदि इनके विषय हैं।

श्री महेन्द्र भटनागर के विचारों में देश के साम्प्रदायिक दंगों का कारण अंग्रेज़ साम्राज्यवादी थे। वे कहते हैं :

"क्या पता था देश का यह भाग्य आएगा
दूर हो अंग्रेज़ बैठा मुस्कराएगा!"

परन्तु, सत्य तो यह है (अज्ञेय के शब्दों में) 'हम प्रति दिन घृणा के बीज बोते हैं और जब वह अंकुरित होता है तो कहते हैं धरती ने हमारे साथ धोखा किया।' यह नहीं कि श्री महेन्द्र भटनागर के उक्त विचार में सत्य का अंश न हो परन्तु उनका यह कहना :

"दिन दूर न होगा जब नक्शे
से खुद पाकिस्तान हटेगा
ऊँचे ऊँचे भवन गिरेंगे
शोषण पूँजीवाद मिटेगा"

साम्य की नहीं भेद की भावना ही बढ़ाता है। सत्य उनके लिए है जिनमें उसे सहने की शक्ति होती है। पाकिस्तान राष्ट्र का निर्माण हो चुका है तब इन भावनाओं का पोषण विश्व-शान्ति नहीं, कलह की ओर ही ले जा सकता है; और 'लुटी हुई विश्व माँ, पछाड़ खाए बिना नहीं रह सकती।

अधिकांश कविताओं में जीवन की क्रूरता और अन्धकार की अभिव्यंजना हुई है—हमारे राष्ट्रीय जीवन के

पिछले कुछ वर्ष इतने हड़कम्प भरे रहे हैं कि कवि के स्वर में कठोरता आ जाना आज सहज स्वाभाविक है। जिसने अपने देश की दशा देखी है :

"कर दिए वीरान
कितने लहलहाते खेत जीवन के
सुनाई दे रहे स्वर
दुःख अभावों और क्रन्दन के !"

उसके विश्वास की दृढ़ता निश्चय ही सराहनीय है :

"गिर नहीं सकती कभी विश्वास की दीवार
निर्मित तप्त जन-जन के लहू से,
वज्र सी, फ़ौलाद सी दृढ़ हड्डियों से
नींव के नीचे पड़े
कातर अनेकों मूक जन बलिदान !
यह विश्वास जीवन के नए भवितव्य का
धुंधला नहीं निस्सार
गिर नहीं सकती कभी अगणित प्रहारों से
नए विश्वास की दीवार !"

हम आशा करते हैं यह विश्वास—मनुष्य की असीम शक्ति का विश्वास नई हिन्दी कविता में दृढ़तर रूपों में व्यक्त होगा। 'मालवा में अकाल' और 'धरती की पुकार' इस संग्रह की मर्मस्पर्शी कविताएँ हैं।

प्रगतिवाद की रूपरेखा
लेखक : मन्मथनाथ गुप्त
प्रकाशक : आत्माराम एण्ड सन्स
काश्मीरी गेट, दिल्ली ६
मूल्य : सात रुपए।

प्रगति या प्रतिक्रिया अर्थात् आगे बढ़ाना या पीछे लौटाना। प्रस्तुत पुस्तक के लेखक का मत है कि 'कोई भी जहाँ से चलता है ठीक वहाँ लौट नहीं पाता।" अर्थात् इतिहास अपने को कभी नहीं दुहराता। इतिहास अपने को दुहराए या नहीं दुहराए परन्तु यह सत्य है मनुष्य अपने इतिहास का निर्माण करते हुए नित्य नई ठोकरें खाते हुए देखा गया है। अतः यदि वह भावी मार्ग-दर्शन के लिए आवश्यकता होने पर पीछे की ओर लौट कर देख ले तो उचित ही होगा—परन्तु यह लौटाना स्वर्ण अतीत की गोद में मुँह दुबकाना नहीं होना चाहिए, उसका यह लौटना भी 'प्रगति' के लिए ही समर्पित हो। प्रस्तुत पुस्तक की एक बड़ी कमी यह है कि इसमें हमारे प्राचीन साहित्य और संस्कृति के प्रगतिशील तत्वों की चर्चा नहीं है। इतनी बड़ी विरासत की उपेक्षा करके प्रगति किस प्रकार सम्भव हो सकती है? कदाचित् लेखक को इसके लिए अवकाश न हो। उस दशा में इस पुस्तक का शीर्षक 'प्रगतिवाद की रूपरेखा' भ्रामक है। ३७ लेखों में से केवल तीन-चार लेख 'प्रगतिवाद' के सम्बन्ध में लेखक के विचारों को अभिव्यक्त करते हैं। शेष सम-सामयिक साहित्यिक समस्याओं पर लेखक के विचारों को प्रदर्शित करते हैं और 'साहित्य' को लेखक ने बृहत्तर अर्थ में लिया है जिसमें रेडियो, सिनेमा, पत्र-पत्रिकाएँ आदि भी सम्मिलित हैं।

'आक्षेपों का उत्तर' में नवीन जी की 'क्वासी' पुस्तक की भूमिका का प्रगतिवादी पक्ष लेकर उत्तर दिया गया है। 'साहित्य में प्रगतिशीलता', 'प्रगतिवाद और यौन आचार', 'प्रगतिवाद की चतुःसीमा', 'साहित्यकार और राजनीति' लेखों में प्रगतिवाद की समस्याओं पर विचार किया गया है। कुछ लेख जिनका साहित्य से सीधा सम्बन्ध नहीं है, इसमें सम्मिलित कर लिए गए हैं : 'भारतीय संस्कृति' 'विज्ञान में बढ़ती हुई अनास्था', 'महापुरुषवाद और प्रतिभा का जन्म तथा विकास' 'विकासवाद और धर्म' आदि। पुस्तक का सबसे अच्छा अंश वे लेख हैं जिनके द्वारा हिन्दी पाठकों को अन्य भाषा-साहित्यों का परिचय मिलता है। इनमें 'गुड़िया का घर' और 'आधुनिक हिन्दी और बंगला साहित्य' अच्छे लेख हैं :

साहित्य में प्रगतिशीलता की चर्चा करते हुए लेखक यह मत प्रकट करता है कि प्रगतिवाद किसी पार्टी (कम्युनिस्ट पार्टी) की बपौती नहीं है।

"जब नेतृत्वहीन भारतीय जनता अपने जीवन-मरण के संग्राम में लिप्त थी और लाखों व्यक्ति जेलों में सड़ रहे थे, उस समय इस प्रकार के साहित्य की सृष्टि करना, जिसमें जापान तथा जर्मनी के विरुद्ध संग्राम करना ही शौर्य माना गया था, प्रगतिशीलता के साथ बलात्कार था।"

अवश्य यह मानते हुए भी कि प्रगति को पार्टी के बन्धन में जकड़ना उचित नहीं है हम यह जानना चाहेंगे क्या फाशिज़्म का विरोध प्रतिक्रिया है? यदि नहीं,

तो साम्राज्यवाद जो पूँजीवाद का बिगड़ा रूप है और फाशिज़्म जो उसका भी भयंकर रूप, इन दोनों का विरोध अवश्य होना चाहिए परन्तु दो बुराइयों में एक चुनना हो तो निश्चय ही फाशिज़्म का पहले विरोध करना होगा। क्योंकि उससे सारे विश्व की स्वतन्त्रता को खतरा है। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि किसी देश की स्वतन्त्रता विश्व स्वतन्त्रता के आन्दोलन का एक अंग बन कर हीं हासिल की जा सकी है। कम-से-कम यह बड़ा आदर्श है। हाँ उस युग के तथाकथित प्रगतिवादी साहित्य का स्थायी महत्व नहीं रहा शायद इसलिए कि हमारे साहित्यकारों ने 'विचार' के रूप में ही फाशिज़्म विरोध की बात की, उसका तीव्र अनुभव उन्होंने नहीं किया–जिस प्रकार बंगाल के काल या साम्प्रदायिक दंगों की घटनाओं का किया।

लेखक का साहित्यकारों को संदेश है "युग निर्माण के अखाड़े में कूद पड़ें, और यदि किसी कारण से वे समझते हैं कि उनका साधन अयथेष्ठ है, तो वे लेखनी को छोड़ कर और किसी अस्त्र को अपनाएँ।"

प्रस्तुत पुस्तक से प्रगतिवाद के स्टैण्ड पर कोई नया प्रकाश नहीं पड़ता। 'कलाकार की स्वतन्त्रता' और 'व्यक्तिवाद' का विरोध व्यक्त किया गया है और शोषित वर्ग के विजय के प्रयोजन की पूर्ति के लिए साहित्य सर्जना करना उचित बतलाया गया है। लेखक ने चण्डीदास को उद्धृत करते हुए कहा है कि सत्य की यह परिभाषा कुछ कुछ बुरी नहीं :

"सबार उपरे मानुष सत्य
तहार उपरे नाई"

और प्रगतिवाद की विशेषता है कि वह भावुकतामय मानवतावाद में बह कर वर्ग-संघर्ष के प्रति अंधा नहीं है। 'वर्ग-संघर्ष' और 'मनुष्य का सत्य' इन दोनों के बीच काफ़ी बड़ा व्यवधान है—और उस व्यवधान को देखने की आवश्यकता भी लेखक महसूस नहीं करता।

और एक शिकायत है लेखक की भाषा के सम्बन्ध में :

"राजनीति में नकली नेता और वीर होते हैं, तो साहित्य में भी बाघ की खाल ओढ़े हुए गदहों की कमी नहीं है, जो परस्पर प्रशंसा करके भोले पाठकों को उल्लू बनाया करते हैं।"

× × × ×

"प्रगतिशील साहित्य कोई बन्दर नहीं है कि कोई दल अपनी थीसिस बदलने के साथ ही उसको जैसा चाहे वैसा नचाए।"

क्या इससे शिष्टतर शब्दों की भाषा में कमी है ?

प्रेरणा (मेघदूत अंक)
सम्पादक : कोमल कोठारी
प्रेरणा प्रकाशन
सोजती गेट, जोधपुर
मूल्य : वार्षिक १४) एक प्रति १।)

'यक्ष-प्रिया के विरह में रामगिरि पर किसी तरह एक वर्ष की अवधि बिता कर यक्ष तो कभी का शापमुक्त हो गया परन्तु महाकवि कालिदास ने जिस यक्ष का चित्रण 'मेघदूत' में किया है लगता है वह चिर विरही युग-युगान्तर से रामगिरि पर पड़ा है और युग-युगों तक उसका शाप-त्राता नहीं मिल पाएगा' क्योंकि वह 'समस्त विश्व के विरहियों का पुंज प्रतीक' है। विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ टैगोर ने कहा है, "संसार के जितने भी प्रवासी थे, क्या उन सब ने उस दिन अपने समवेत स्वर में मेघमाला को हाथ जोड़ कर, मस्तक नवाँ कर यह विरह का गीत गाया था ?" 'मेघदूत' संसार के सर्वश्रेष्ठ प्रेम-काव्यों में से है। 'प्रेरणा' के प्रस्तुत अंक में श्री नारायणसिंह भाटी द्वारा 'मेघदूत' मूल काव्य का राजस्थानी में अनुवाद प्रकाशित किया गया है।

क्रोचे ने कहा है, कला अविभाज्य है—अपने में सम्पूर्ण है, कलाकृति का अनुवाद संभव नहीं है। बहुत अंशों में यह कथन सत्य है। कवि कोरा द्रष्टा नहीं होता वह मूलतः स्रष्टा है। और कोई सृजन आत्मदान के बिना सम्भव नहीं होता। किसी तथ्य का कवि वर्णन मात्र नहीं करता वह उस तथ्य को अपने अनुभव में पुनर्जीवित करता है। और वह जीवन उसके काव्य में अभिव्यक्ति पाता है। इसीलिए प्रत्येक कवि का अनुभव नया-नया होता है—क्योंकि दो व्यक्तियों के स्वप्न और अनुभव कब एक रहे हैं ? जिसे हम सफल अनुवाद कहते हैं वह मात्र अनुवाद नहीं होता। उदाहरण के लिए उमर खैयाम की 'मधुशाला' का फिट्ज़राल्ड कृत अनुवाद जिसने अनुवाद को भी खैयाम की ही तरह विश्व-प्रसिद्ध बना दिया स्वतन्त्र-रचना के सदृश प्रतीत होता है। हमें प्रसन्नता है अनुवाद की स्वतन्त्रता का श्री नारायणसिंह ने सदुपयोग

किया है इसीलिए यह अनुवाद सफल अनुवाद बन सका है :

> "उण परवत पर केक बिताया दिनड़ा दोरा
> डालियो भुजबन्द हाथ रूप रंग पड़िया फोरा"

मूल के 'कनकवलय' का अर्थ 'कंकण' होगा परन्तु अनुवादक ने 'भुजबन्द' शब्द का प्रयोग किया है, राजस्थान में 'भुजबन्द' बाँधने की प्रथा है, यक्ष की विरह कृशता में 'भुजबन्द' का नीचे उतर आना अत्यन्त स्वाभाविक प्रतीत होता है।

> "कन्थ हरे निज कांमणियां रा अम्बर ढीला
> कांमण डूबी लाज, न छोड़े लार रसीला
> फेंके अजक गुलाल करंती कांम जतन रा
> रहे भरमती आप, बुझै कद दीप रतन रा"

रत्नदीप बुझाने के लिए 'अजक कर गुलाल फेंकना' [गुलाल प्रेम की प्रतीक है, मूल में '(कुंकुम) चूर्ण' का प्रयोग हुआ है] काव्य-सौन्दर्य को बढ़ानेवाला है। अनुवाद में सर्वत्र प्रवाह है :

> गावण म्हारा गीत परणी जतन करंती
> आढ़ण मैलो चीर गोद में वीण धरंती
> ईंखे मिंत पयोद आंखड़ी नीर भरंतां
> भूली राग सुवाल़ जतन सूं तार लुवंता
>
> × × ×
>
> सुण बाला, इक रैंण पोढ़ती कंठ लगाणी
> जागी जजकां, नैण बिलखतां नीर भराणी
> पूछंतां, मुल़काय कह्या थें बोल सयाणी
> 'छलिया! पेख्यौ तूझ विलमणो नार विराणी।'

कुछ पंक्तियाँ तो लोकोक्तियों का रूप धारण करने की क्षमता रखती हैं 'भल मोटो नट जाय, नीच रो 'हाँ' न भलेरो', 'देख पराई-पीड़ मयालू हियां पिघालें।'

पुस्तक के अन्त में राजस्थानी से खड़ी बोली में शब्दार्थ दिए गए हैं जिससे राजस्थानी न जाननेवालों के लिए भी यह सहज पठनीय बन गई है। श्री नारायण सिंह द्वारा किए गए 'मेघदूत' के राजस्थानी अनुवाद से जहाँ यह शुभ लक्षण प्रकट होता है कि हमारे नए साहित्यकार Classics की परम्परा को लेकर आगे बढ़ रहे हैं—जिनका ज्ञान भावी विकास के लिए सदैव आवश्यक होता है—वहाँ राजस्थानी भाषा में यह प्रयोग महत्वपूर्ण है और हम सम्पादक के इस कथन से सहमत हैं 'इस सफल अनुवाद का श्रेय नारायणसिंह जी को तो है ही किन्तु उसके साथ ही उस महान् भाषा को भी है जिसमें ये कोमलतम भाव विकसित हो सके।'

प्रवाह : (प्रगतिशील साहित्य विशेषाङ्क)
अप्रैल-मई १९५३
सम्पादक : शिवचन्द्र नागर
राजस्थान भवन, अकोला (म. प्र,)
मूल्य : वार्षिक ६) रु.

'प्रवाह' का प्रगतिशील साहित्य विशेषांक प्रगतिवादी साहित्य का प्रतिनिधि अंक तो नहीं कहा जा सकता क्योंकि उसमें प्रगतिवादी लेखकों की अधिक रचनाएँ नहीं हैं, प्रधानतया आलोचनात्मक लेख हैं परन्तु अपने ढंग से ईमानदारी के साथ कुछ लेखों में इसमें प्रगतिवाद की समस्याओं की तरफ ध्यान आकृष्ट किया गया है। इस दृष्टि से श्री नंदकिशोर मित्तल का "साहित्य में संयुक्त मोर्चे की समस्या" और श्री ललितमोहन अवस्थी का "भाषा की समस्या" लेख प्रमुख हैं। 'संयुक्त मोर्चे' के सम्बन्ध में प्रगतिवादी आलोचकों के मतभेदों को प्रकट करते हुए श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त के इस कथन पर लेखक ने आपत्ति की है कि संयुक्त मोर्चे का बिचला अंश मार्क्सवादी लेखक होंगे। किसी जनवादी संगठन में इस प्रकार की बन्दिश लगाना उचित नहीं जान पड़ता कि उसका नेतृत्व फलाँ वर्ग के लोग करेंगे। श्री मित्तल के मत में "नामों और व्यक्तियों के पीछे दौड़ने का ही यह नतीजा है कि पाँच छः के अतिरिक्त कोई प्रगतिशील लेखक की नज़र नहीं आता...नामों के मोह को छोड़ कर हमें बिखरी हुई पौध को फिर से इकट्ठा करना है।" वे भारतीय साहित्य की विरासत को पहचानने की सिफ़ारिश करते हैं। भाषा सम्बन्धी लेख जिससे अनेक विद्वानों का तीव्र मतभेद होना आवश्यक है—प्रगतिवादियों की भाषा सम्बन्धी नीति को स्पष्ट करता है—जो कि एक राष्ट्र भाषा की आवश्यकता नहीं मानते। श्री रामचरण महेन्द्र का 'हिन्दी के प्रगतिशील एकांकी' लेख परिचयात्मक सामग्री प्रस्तुत करता है। इस अंक में तेलुगु, तमिल, बंगला, गुजराती आदि में प्रगतिवादी धारा पर भी अलग अलग लेख हैं। इन लेखों को पढ़ने से प्रतीत होता है—यदि 'वाद' का फ़तवा हम कतिपय लेखकों के सिर पर नहीं थोपें तो भी इनसे अनुभूति की दृष्टि से मानव हृदय की एकात्मता का परिचय मिलता है।

हैदराबाद —हरिकृष्ण पुरोहित एम. ए

सामयिक

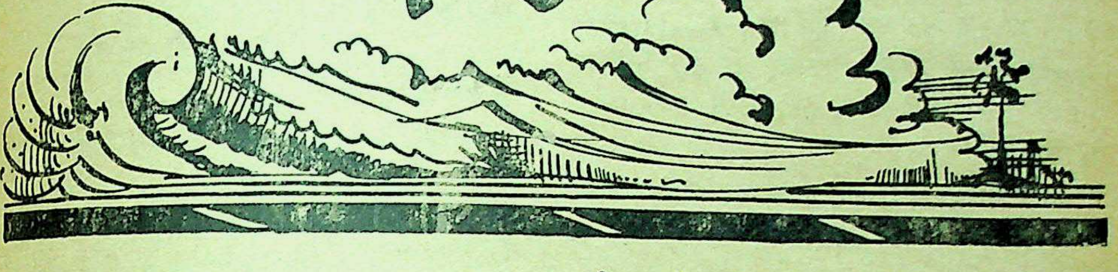

॥

चीन के आधुनिक उपन्यास

मद्रास के प्रसिद्ध मासिक अंग्रजी पत्र 'त्रिवेणी' में श्रीयुत वीरेन्द्र सी. बनर्जी का 'चीन के आधुनिक उपन्यासकार' लेख प्रकाशित हुआ जिसका निम्न अंश यहाँ दिया जा रहा है :

"चीन की आत्मा वहाँ की धरती में अपनी जड़ें जमाए हुए है, और धरती के प्यार के कारण ही चीन के लेखकों में वफ़ादारी और उनकी रचनाओं में एक सुगन्ध व्याप्त है जो चीन की अपनी है। उनके आदर्श और स्वप्न ऊँची उड़ानें भरते हैं और प्रायः उनमें करुणा की स्निग्ध धारा प्रवाहमान रहती है। परन्तु उनका सम्बन्ध सदैव प्रतिदिन के जीवन से बना रहता है, उस धरती से जो मट्टी के गुणों वाली है। चीन में उपन्यास और कहानियों का विकास परम्परागत लोक कथाओं के आधार पर हुआ है, जो कि उसके लेखकों के लिए निरन्तर नवीन प्रेरणा की स्रोत रही हैं।

"चीनी साहित्य की रचना निरन्तर दो प्रकार की भाषाओं में होती रही है—वेन-ली (लिखित भाषा) और पाई-हुआ (बोलचाल की भाषा)। अधिकांश पुराणपंथी लेखकों ने वेन-ली में लिखा है। इस भाषा को समझ पाना साधारण पाठक के लिए कठिन है अतः साहित्य केवल कुछ विद्वानों के बुद्धि-विलास का साधन मात्र बना रहा।

४ मई १९१९ के आन्दोलन ने चीनी जीवन पर गहरा प्रभाव डाला यद्यपि उसके प्रधान कारण राजनीतिक थे। साहित्य के क्षेत्र में डा० यू शिह ने इसका पूर्व आभास दिया जब उन्होंने १९१७ में साहित्य के सम्बन्ध में अपना नया मत प्रकट किया कि वेन-ली की अपेक्षा पाई-हुआ में साहित्य की रचना होनी चाहिए। नई शैली और नवीन दृष्टिकोण की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी।

रूप और विषय-वस्तु में क्रमशः पाई-हुआ का क्षेत्र व्यापक हुआ। यहाँ तक कि विज्ञान और दर्शन के विचार भी पाई-हुआ में अभिव्यक्त किए जाने लगे। दो विश्व-युद्धों के बीच के काल में व्याकरण के नियमों में भी परिवर्तन दृष्टिगत होने लगे। चीनी भाषा में अनेक यूरोपीय शब्दों का प्रवेश हुआ। यूरोपीय भाषाओं के व्याकरण के नियमों को अपनाने के कारण यूरोपीय साहित्यों से अनुवाद का कार्य सुगम हो गया और चीन के आधुनिक साहित्य में पश्चिमी पद्धति, शैली और विषय-वस्तु का महत्व अत्यधिक आंका जाने लगा। नए रूस के क्रान्तिकारी आदर्शों का प्रभाव आरम्भ में ही चीन के उपन्यासों में दिखाई देने लगा अतः चीन के उपन्यासों में हम आरम्भ से ही शैली के बदले विषय की प्रधानता पाते है।

आधुनिक चीनी साहित्य में लू शून के कहानी-संग्रह के प्रकाशन (१९१८) का बहुत महत्त्व है। स्वयं लू शून ने अपनी रचना के सम्बन्ध में कहा था कि उसमें परम्परावादी चीनी कुटुम्ब प्रथा एवं तथाकथित नैतिकता के आदर्शों के दुष्परिणामों को चित्रित करने का प्रयास किया गया है। उस युग के चीन के सभी लेखकों का यही स्वर है। लू शून के सभी पात्रों के हृदय में प्रेम की भावना अनिवार्य रूप से पाई जाती है चाहे वे अस्वाभाविक या अजीब व्यक्ति ही क्यों न हों। इस रचना को पूरा करने में लेखक ने अथक श्रम किया था। ढेर के ढेर ऐसे कागज़ के पुर्ज़े उसके पास होते जिन पर वह कुछ न कुछ नोट करता था और एक कुशल निर्माता की

तरह कहानी की रचना करते समय वह उनका उपयोग करता। लू शून जिस समय जपान में चिकित्सा का अध्ययन कर रहा था तब उसने एक बार 'चीन के गुप्त दूत' का चित्र देखा जिसमें उसे दण्ड पाते हुए चित्रित किया गया था। लू शून इस चित्र से बहुत प्रभावित हुआ और उसने इस व्यवस्था को नष्ट करने की ठानी। लू-शून का भावी प्रतिद्वंदी लेखक कुओ मो-जो भी जापान में चिकित्सा का अध्ययन करता था। उसने भी देखा कि चीनी जनता के लिए शरीर विज्ञान के अध्ययन की अपेक्षा मानसिक उपचार की अधिक आवश्यकता है।

लू शून ने एक 'अनुसंधान साहित्य समिति' स्थापित की और कुओ मो-जो ने भी यू ता-फू और अन्य साहित्यिक मित्रों के सहयोग से 'कलाकार समिति' का निर्माण किया। उनका कहना था कि साहित्य का सम्बन्ध केवल सौन्दर्य से है और सौन्दर्य की अभिव्यक्ति ही कल्याणमय है। वे साहित्य और नैतिकता में किसी प्रकार का समझौता करने के लिए प्रस्तुत नहीं थे। जहाँ कुओ मो-जो की शैली में प्रहार करने की शक्ति है वहाँ यू ता-फू की रचनाएँ हृदय के मर्म को स्पर्श करती हैं। लू शून की तरह वह भी पुरानी रूढ़ियों को नष्ट करना चाहता था। परन्तु जहाँ लू शून कला के द्वारा सामाजिक सुधार का हामी था वहाँ यू ता-फू और उसके साथी समाज-सुधार की समस्याओं की ओर ध्यान न देकर कला की आराधना में रत थे। जहाँ एक के लिए समाज सुधार प्रमुख उद्देश्य था और साहित्य उसका साधन, वहाँ दूसरे के लिए साहित्य में कला का सर्वाधिक महत्त्व था और सुधार यदि आवश्यक हो तो केवल परोक्ष रूप में आ सकता था।

इन दो आन्दोलनों को - एक 'कला कला के लिए' और दूसरा 'कला सामाजिक हित के लिए,' वास्तव में एक दूसरे से पृथक नहीं किया जा सकता। इन दोनों में एक प्रकार का सम्बन्ध था। शी चे-शुन की कृतियों से इस बात का अनुमान लगाया जा सकता है। वह न तो स्वच्छन्दतावादी लेखक था और न सुधारवादी और फ्रायड के मनोविज्ञान का कथा साहित्य में सर्व प्रथम उसी ने प्रयोग किया था।

समय की गति के साथ ये आन्दोलन स्वतः समाप्त हो गए और राजनीतिक आन्दोलनों ने इन सब को आच्छादित कर दिया। सन् १९२४ में डा० सन यात-सेन की मृत्यु और सन् १९२७ की द्वितीय क्रान्ति के बीच का काल साहित्य में नए परिवर्तन का युग है। जो लेखक अब तक राजनीतिक या सामाजिक आन्दोलनों से दूर रहते थे उन्होंने भी अपने को इस प्रकार के आन्दोलनों में उलझे हुए पाया। चीन का आधुनिक साहित्य युद्ध-काल में जन्मा और युद्धों के बीच पनपता रहा है—युद्ध एक के बाद एक। इस विशिष्ट युग की बेचैनी माओ तुन के उपन्यासों में प्रकट हुई है। माओ तुन का कथन है कि हमें अतीत के प्रति भावुक दृष्टिकोण नहीं अपनाना चाहिए और न भविष्य के प्रति हम अधिक आशावान हो सकते हैं। इस प्रकार हम उसकी रचनाओं में वर्तमान की संतुलित व्याख्या पाते हैं और तथ्यों के निरूपण का सराहनीय प्रयास।

हुनान के प्रभावशाली लेखक चाँग चियेन-यी ने अपना विषय किसानों के जीवन से चुना। जहाँ वह अपनी अति आधुनिक कहानियों में निर्भयता पूर्वक नग्न भाषा का प्रयोग करता है, वहाँ उसकी रचनाओं में लू शून का प्रभाव स्पष्ट है। एक व्यंग्य लेखक के रूप में भी चाँग चिन-यी प्रसिद्ध है परन्तु उसका वास्तविक महत्व जीवन से सम्बन्धित घटनाओं का चित्रण करने में है। द्वेष और सहानुभूमि का साथ-साथ चित्रण करने की उसमें असाधारण प्रतिभा थी। यहाँ उसकी एक कहानी 'लड़की के स्तन' का उदाहरण पर्याप्त होगा, जिसमें एक विवाहित स्त्री पति से प्रेम न पाकर अपने प्रेमी के निकट आती है और उससे उसको एक बच्चा हो जाता है। जाति का पंच एक ओर उसे दण्ड देता है और दूसरी ओर उसके साथ व्यभिचार भी करना चाहता है। अन्त में वह उस वृद्ध पंच और समाज से बदला लेने में सफल होती है और अपने प्रेमी से मिलती है। कहानी में लेखक का छोटी से छोटी बात से निकट परिचय ज्ञात होता है और सभी पात्रों के प्रति उसकी सहानुभूति व्यक्त हुई है। चाँग थिन-यी ने एक स्थल पर लिखा है कि मानव-शरीर में एक ऐसी शिरा है जिसका परिचय अभी शरीर-वैज्ञानिक को नहीं चला है--और यह शिरा है अन्तर्विरोधों की, असम्बन्धताओं की। सम्भव है चाँग थिन-यी, लू शून अथवा कुओ मो-जो जैसा महान् कलाकार न हो, उसका क्षेत्र इतना विस्तृत न हो परन्तु उस शिरा को उसने अन्य लेखकों की अपेक्षा अधिक गहराई से पहचाना है। उसकी

कृतियों में चीन की धरती के जीवन की धड़कनें हैं ।

सन् १९३१ में मंचूरिया पर जापानी आक्रमण के परिणामस्वरूप चीन के साहित्य में एक बिलकुल नवीन प्रवृत्ति-राष्ट्रीयता का जन्म हुआ । विद्रोह की जिस भावना को ले कर लू-शून ने साहित्य-निर्माण किया था वह अब विकसित हुई । सिआ चुन ने सर्व प्रथम अपनी कहानियों में शत्रु के विरुद्ध अपने देश की जनता को उभाड़ा । इसके उपरान्त नवयुवक लेखकों ने आक्रमणकारी युद्धातुर जापानियों के विरुद्ध अपने देश की जनता को अपनी मातृ-भूमि की रक्षा करने के लिए ललकारा, परन्तु ऐसा करते समय इस युग के साहित्य ने स्वयं अपनी सीमाएँ बना लीं । लेखकों के सामने राष्ट्रीय जगृति ही सबसे बड़ा लक्ष्य था ।

आधुनिक चीनी लेखक केवल अपने पाठकों को आनन्दित करने के लिए साहित्य-सर्जना नहीं करते । वे चाहते हैं कि उनकी रचनाएँ पढ़ कर लोग गम्भीरता-पूर्वक वर्त्तमान शासन-प्रणाली, समाज-व्यवस्था और जीवन की अन्य समस्याओं के सम्बन्ध में सोचें और तत्सम्बन्धी अभावों की पूर्ति करने के लिए प्रयत्नशील बनें । साहित्यिक पुनर्जागरण के युग से द्वितीय विश्व-युद्ध तक चीन में पर्याप्त संख्या में अच्छी पुस्तकें नहीं लिखी गई हैं । साहित्यिक पुनर्जागरण और उसके पश्चात्वर्ती युद्ध—एक के बाद एक, इस गति से आते रहे कि सभी कहानियों और उपन्यासों का विषय स्पष्टतः और अनिवार्यतः युद्ध ही है । इस प्रकार के साहित्य का स्थानीय महत्व है परन्तु शाश्वत मूल्य नहीं । तथापि चीन के ऐसे कई लेखक हैं जो युग की सीमाओं को तोड़ कर युग-युग के कलाकार बन गए हैं । ये प्रतिभाशाली लेखक हैं : लू शून, कुओ मो-जो, लाओ शी, माओ तुन ।

द्वितीय विश्व-युद्ध का चीन के लेखकों पर यह प्रभाव हुआ कि वे पश्चिम की शैली और पद्धति को छोड़ कर जन-साधारण की भाषा के साहित्य में अधिकाधिक प्रयोग करने लगे । युद्ध-काल में ऐसा होना स्वाभाविक भी था जब कि विभिन्न प्रान्तों से अपने घर-बार छोड़ कर लेखकों ने सैनिक जीवन व्यतीत करना प्रारम्भ किया और अनेक लेखक शहरों को छोड़ कर अपने गाँवों में जाकर रहने के लिए भी वाध्य हुए । इस प्रकार वे जन-साधारण के जीवन से निकटतर सम्पर्क में आए और साहित्य का यथार्थ जीवन से निकटतर सम्बन्ध स्थापित हुआ । चीनी साहित्य पर अवांच्छनीय पश्चिमीय प्रभाव पूर्णतया समाप्त हो गया है । कहा जा सकता है कि चीन के लिए घरेलू और विश्व-युद्ध अभिशाप के छद्म वेष में वरदान सिद्ध हुए—चीन एक जागृत राष्ट्र बना तथा चीनी साहित्य के सामने आज उसका मार्ग स्पष्ट है, चाहे वह युद्धों और क्रान्तियों, अकाल और निराशाओं से क्यों न घिरा हो ।"

॥

आधुनिक अँग्रेजी पद्य-नाटक

डा० रनजी सहानी की एक रेडियो वार्ता 'आधुनिक अँग्रेजी पद्य-नाटक' 'इंडियन लिसनर' में प्रकाशित हुई है उसका निम्न अंश यहाँ दिया जा रहा है :

"प्रत्येक साहित्य के इतिहास में गद्य से पहले पद्य रचा गया और अँग्रेजी पद्य-नाटक मार्लो के समय से ही लिखे जाते रहे हैं । १९ वीं सदी में प्रायः सभी अँग्रेजी कवियों ने पद्य-नाटक लिखे—बायरन, शैली, टेनीसन, स्विनबर्न ये पद्य-नाटककारों के केवल कुछ-एक नाम हैं । यही अवस्था बीसवीं सदी में भी रही । प्रायः प्रत्येक कवि सफल नाटक लिखना चाहता है । इसका कारण कदाचित् यह है कि नाटक लिख कर वह अधिक अर्थ-प्राप्ति कर सकता है । परन्तु ध्यान देने योग्य बात यह है कि नाटक जितना ही अधिक काव्यमय होता है, अभिनय की दृष्टि से वह उतना ही असफल सिद्ध होता है । यह कथन शेक्सपीयर के नाटकों के सम्बन्ध में भी सत्य है । प्रश्न यह है, क्या नाटक और काव्य का समन्वय व्यर्थ प्रयास है ?

थोमस हार्डी का 'दिनास्टस्' तीन भागों में सम्पूर्ण हुआ है । वह कदाचित् इस शताब्दी का अँग्रेजी का सबसे महान् नाटक है परन्तु केवल कुछ स्थलों को छोड़ कर अभिनय की दृष्टि से वह असफल है । प्रायः कविता ऊँची उड़ान लेती है और स्वप्न का रूप धारण करती है और स्वप्न भौतिक दृश्य-रूप धारण करने के लिए तत्पर नहीं होते । यह नाटक भौतिक आँखों के बदले आत्मा की आँखों के देखने के लिए है—पढ़ने में बहुत सुन्दर लगता है, और देखने में मन को ऊबाने वाला । यीट्स के नाटक पढ़ कर मन अभिभूत हो जाता है परन्तु अभिनीत किए जाने पर वे अस्वाभाविक, थकानप्रद और अस्वस्थ मस्तिष्क की उपज जान पड़ते हैं । स्टर्ग मूर के नाटक छाया से भी अधिक छायामय प्रतीत होने के कारण कभी नहीं खेले गए । लारेन्स बिनियन ने भी पद्य-नाटक

लिखे परन्तु वे सुन्दर होते हुए भी अभिनय के योग्य नहीं हैं; यद्यपि उसका 'शकुन्तला' नाटक इन पंक्तियों के लेखक को व्यक्तिगत रूप में बहुत सुन्दर प्रतीत होता है। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि अच्छी कविता और अच्छे नाटक दोनों का संयोग संभव नहीं। परन्तु निश्चय ही हम यह नियम नहीं बना सकते। गोर्डन बोटोमले के पद्य-नाटक अभिनय की दृष्टि से भी सफल हैं। उसके नाटकों–'काइन्ड लिअर'स् वाइफ' 'ग्रुअच' और 'राइडिंग टू लिथेन्ड' में एक प्रकार के रहस्य, विकास और अनिवार्यता का प्रभाव है, एक ही कार्य-व्यापार पर वह अपनी समग्र शक्तियों को केन्द्रित करके नाटकीय एकता, गति और आकर्षण उत्पन्न करता है। यहाँ कहानियों के संसार को हम वास्तविकता में परिणत होते देखते हैं और यह सफलता कम नहीं है। हम कदाचित् यह कह सकते हैं कि ऐसा पद्य-नाटक लिखना बहुत कठिन है जो अभिनय की दृष्टि से भी सफल हो।

परन्तु इन सारे नियमों को टी. एस. इलियट ने खण्डित कर दिया। इलियट शुद्ध कविता में विश्वास नहीं करता। उसकी सम्मति में वह मृत है और उसका प्रयोग करने वालों पर भी निष्क्रियता का प्रभाव डालती है। वह कविता की केवल हड्डियों में विश्वास करता है। प्रस्तुत पंक्तियों का लेखक इस बात में सौभाग्यशाली है कि उसे व्यक्तिगत रूप में स्वयं इलियट से उसके विचारों को जानने का एक से अधिक बार अवसर मिला है।

इलियट के मत में, जिसे हम काव्य-भाषा कहते हैं वह एक व्यर्थ-सी रीति मात्र है। शेक्सपीयर के किसी नाटक का एक पात्र कहता है—"हम संसार के साधारण मनुष्यों की भाषा में क्यों नहीं बोल पाते?" यही बात है। इलियट का कहना है कवि मनुष्यों की भाषा में क्यों नहीं बोलता? वह क्यों सजावट की भाषा पसन्द करता है? कविता शब्दों की गति में, भाषा की ऐसी जादूभरी व्यवस्था में है जब शब्द स्वयं गाने लगते हैं, कविता प्रत्येक वस्तु में विद्यमान है केवल उसका तत्व पहचानने की कला हमारे अन्दर होनी चाहिए। अतः इलियट की कविता सामान्य भाषा में विविध स्वरों में प्रकट हुई है। 'दी वेस्ट लैंड' और 'फोर क्वार्टेरस्' उसी रूप में कविता नहीं हैं जिस रूप में हम शेली और कीट्स की कविता पाते हैं। उसकी कविता में "एक प्रकार की धीमी शान्त वाणी है, जैसे वह आवाज़ दूर किसी पहाड़ की हो, बिल्कुल निर्वैयक्तिक, कभी बोलचाल के लहजे को लिए हुए जो उसे धरती के निकट ले आती है जिससे भाव के दो विरोधी पक्ष प्रकट होकर हमें आश्चर्यान्वित कर देते हैं और इस प्रकार कल्पना का एक नया सामञ्जस्य प्रस्तुत करती है।" इलियट की भाषा में सजावट नहीं है अतः वह अभिनय के लिए उपयुक्त है। वह मृत्यलोक के मनुष्यों की भाषा है फिर भी उससे कितनी अधिक-कुछ है!

इलियट के पद्य-नाटकों की सफलता का यही कारण है। निश्चय ही उसमें अन्य गुण भी हैं जो प्रत्येक सफल कलाकार में होने आवश्यक हैं परन्तु वे उसकी विशिष्टताएँ नहीं हैं। इलियट के किसी नाटक को लें उसमें वही तत्व मिलेंगे: प्रकृति का सौन्दर्य, जीवन की क्षुद्रता, छोटे मनों की अहमन्यता और दार्शनिक का चिन्तन। 'मरडर इन दी केथेड्रल' और 'फेमिली यूनियन' हमें अच्छे लगते हैं। उनमें प्रयुक्त असाधारण सामान्य भाषा के प्रयोग के कारण को छोड़ें तो इसलिए कि वे जीवन के चारों पहलुओं को छूती हैं—भौतिक, मानसिक नैतिक और आध्यात्मिक। 'कोकटेल पार्टी' मनोरंजक नहीं है क्योंकि उसमें उपदेश की प्रधानता है।

और क्रिस्टोफर फ्राई पिछले कुछ वर्षों से जिसकी अत्यधिक चर्चा है, इसमें संदेह नहीं उसने कविता और रंगमंच को नई देन दी है। 'फर्स्ट बोर्न' और 'ए फोनिक्स टू फ्रिक्वेन्ट' क्रमशः सफल ट्रेजेडी और कामेडी हैं। 'लेडीज नौट फोर वर्किंग' एक सुन्दर रूपक है जो अंग्रेजी रंगमंच पर स्वस्थ वायु का संचरण करता है और जीवन की महत्वहीनता को जो इलियट के नाटकों में अनिवार्यतः अपना प्रभाव डालती है, नकारता है। 'वीनस ओबजर्वड' में जीवन के सुख के प्रति आस्था प्रकट हुई है।

एक और पद्य-नाटक का उल्लेख करना आवश्यक है। रोनाल्ड डंकन का 'दिस वे टू टूम्ब' कविता और रंगमंच के तत्वों का उसमें बहुत सुन्दर समन्वय हुआ है। लेखक का दूसरा नाटक 'स्ट्रेटोन' इतना सफल नहीं कहा जा सकता।

शेष नाटक भी अपने बड़े बड़े अधिकार जताते हैं परन्तु यह सब उस आवाज़ की तरह है जिसमें गूंज हो किन्तु अर्थ नहीं रहता।"

॥

आधुनिक भारतीय रंगचित्रण

'टाइम्स ऑफ इण्डिया' में श्री ए. एस. रमन का लेख 'लोक-कला गाँवों में जीवित शक्ति' प्रकाशित हुआ है जिसका निम्न अंश यहाँ दिया जा रहा है :

"आधुनिक भारतीय कला के उन्नायकों में तीन व्यक्तियों के नाम प्रमुख हैं : अवनीन्द्रनाथ टैगोर, अमृत शेरगिल और यामिनी राय। ये कलाकार सम-सामयिक भारतीय रंगचित्रण कला की तीन प्रमुख प्रवृत्तियों के नेता हैं। ये प्रवृतियाँ हैं : बंगाली स्कूल, पेरिस स्कूल और लोक कला स्कूल।

रवि वर्मा के रंगचित्रण में प्राचीन के पुनरावर्तन और पश्चिम की यथार्थवादी शैली के सामञ्जस्य का प्रयास लक्षित होता है। इस दृष्टि से वे बंगाली स्कूल के पूर्व-पथगामी थे। भारत के अंग्रेजी शासकों ने प्रारम्भ में यहाँ की कला को निम्नतर सभ्यता की सृष्टि समझ कर उसके प्रति उपेक्षा का व्यवहार रखा। इसकी प्रतिक्रिया अवश्यम्भावी थी। कला के इतिहास में अवनीन्द्रनाथ टैगोर का महत्व मूलतः प्राचीनता का नवोत्थान करनेवाले के रूप में रहेगा। वे अपने समकालीन युग की पश्चिम की कला-प्रवृत्तियों से परिचित नहीं थे। प्रभाववादियों और उसके अनुयायियों द्वारा प्राच्य-कला के अनुसन्धान का महत्व समझ पाने में वे अपने आप को असमर्थ पाते थे। निस्सन्देह वे एक समन्वयवादी थे परन्तु उनका समन्वय भी मूलतः एक प्राच्य संस्कारों में सने हुए कलाकार का समन्वय था।

भारतीय कला को अमृत शेरगिल की देन पेरिस पद्धति का प्रयोग है जिसका उन्होंने स्वयं सीधा अध्ययन किया था। वे बहुत से प्रश्नों का उत्तर स्वयं अपने जीवन-काल में नहीं दे गईं अतः उन के बारे में हम केवल अनुमान कर सकते हैं। उन्होंने हमारे देवी-देवताओं का चित्रण क्यों नहीं किया? शायद इसलिए कि देवत्व उन्होंने अपने चारों ओर के स्त्री-पुरुषों में देखा। उन्होंने बंगाली स्कूल की पद्धति को क्यों नहीं अपनाया और पेरिस स्कूल की ओर क्यों झुकीं? कदाचित् इसलिए कि वे जानती थीं कि विगत शताब्दी के छठे दशक से पेरिस उस नवीन शक्ति का प्रतीक रहा है जो संसार के समस्त कलाकारों की स्वतन्त्रता और संगठन की प्रेरक है। यदि मेक्सिको, स्पेन और रूस के कलाकार पेरिस पद्धति के माध्यम से अपने देश के जीवन की अभिव्यक्ति कर सकते हैं तो निस्सन्देह भारतीय जीवन की अभिव्यक्ति भी इस माध्यम से हो सकती है। अमृत शेरगिल ने सबसे पहले पूर्वी और पश्चिमी कला में समन्वय स्थापित किया। जब एक कलाकार नए स्वप्न देखता है तथा नवीन जीवन-मूल्यों को अपरिचित किन्तु, प्रभावशाली भाषा में अभिव्यक्त करता है तो समकालीन लोगों का उसे समझ पाना कठिन होता है। अपनी मृत्यु से एक वर्ष पहले सन् १९४० में उन्होंने कहा था : 'ज्यों ज्यों समय बीतता है मेरी कला लोगों के लिए समझने में कठिन हो रही है और मैं समझती हूँ वे उसे पसन्द भी नहीं करते।' भारत के वर्तमान जीवन को चित्रित करना उनका लक्ष्य था। उनके सामने प्रश्न था यदि वर्तमान काल में अजन्ता के चितेरे होते तो वे भारतीय जीवन का चित्रण किस रूप में करते। स्वच्छन्दवादी प्रवृत्ति मिश्रित पेरिस पद्धति के माध्यम से अमृत शेरगिल ने वर्तमान भारतीय जीवन को चित्रित किया जो निश्चय ही बंगाली स्कूल की अपेक्षा भारतीय हृदय के अधिक निकट था।

यामिनी राय की कला के सम्बन्ध में आजकल सबसे अधिक चर्चा रहती है। कुछ लोग उन्हें 'भारतीय पिकासो' बतलाते हैं; परन्तु वे लोग न यामिनी राय के बारे में कुछ जानते हैं न पिकासो के सम्बन्ध में। क्योंकि इन दोनों कलाकारों की कला का रूप एक दूसरे से बिलकुल भिन्न है, एक स्रष्टा है — दूसरा छाया मात्र। यामिनी राय का महत्व बंगाल या पेरिस स्कूल से उनके सम्बन्ध में नहीं है वरन् 'लोक कला' का नया स्कूल चलाने में है जो कि उत्तर-प्रभाववादियों के आदिम कला की ओर लौटने के अनुरूप ही है। जहाँ बंगाल की लोक कला का अनुसन्धान करके उन्होंने ऐतिहासिक महत्व का कार्य किया है वहाँ उन्होंने इस स्कूल को एक क़दम भी आगे नहीं बढ़ाया है।

आधुनिक भारतीय कला के उपरोक्त तीन स्कूलों में लोक कला स्कूल अनेक कारणों से स्वस्थ कला का विकास कर सकता है। प्रथम उसकी जड़ें जमीन में हैं, द्वितीय अब तक उसका विकास नहीं हुआ है, तृतीय बंगाली या पेरिस स्कूल की अपेक्षा हमारे कलाकारों के लिए यह अधिक सुलभ है, चतुर्थ हमारे गाँवों में यह अब भी जीवित शक्ति है, पाँचवें उसके सीधेपन और तात्विक महत्व के कारण उसमें सर्वजनीन स्पर्श शक्ति है। आशा है यामिनी राय के विपरीत हमारे नए कलाकार लोक कला स्कूल का उपयोग अधिक से अधिक विधायक तत्वों के निर्माण के लिए करेंगे।"

सम्पादकीय

हिन्दी : राजभाषा या संघभाषा

जिस प्रकार हम भौगोलिक रूप से समस्त भारत का एकीकरण (Integration) चाहते हैं उसी प्रकार सभ्यता और संस्कृति आदि की दृष्टि से भी समस्त भारत का एकीकरण होना चाहिए। काश्मीर के विदेश, यातायात और सैनिक दृष्टि से भारत के साथ सम्बद्ध हो जाने पर भी बहुत से भारतीय देशभक्तों और विचारकों को जो वस्तु अप्रिय प्रतीत हो रही है वह है उसका भारत के साथ पूर्णतया एकीकरण न होना। भौगोलिक दृष्टि से इस एकीकरण का विशेष महत्व नहीं हो सकता क्योंकि अन्ततः भौगोलिक एकीकरण शारीरिक एकता है—यदि सभ्यता और संस्कृति आदि के दृष्टिकोण से भारतवर्ष का एकीकरण पूर्णतया सम्पन्न न हो। सभ्यता और संस्कृति आदि की एकता ही वह आन्तरिक एकता है जो समस्त भारत को एकमात्र शासन की दृष्टि से ही नहीं अपि तु आन्तरिक दृष्टि से वास्तविक रूप में एक बना सकती है। यह आन्तरिक एकता कभी सम्पन्न नहीं हो सकती जब तक समस्त राष्ट्र की एक भाषा न हो—एक भाषा जिसे शासन की दृष्टि से हम राजभाषा या संघभाषा नहीं परन्तु समस्त राष्ट्र की सभ्यता और संस्कृति के एकीकरण की दृष्टि से राष्ट्रभाषा के नाम से कह सकें। वैसे तो समस्त भारत राष्ट्र में जितनी भी भाषाएँ बोली जाती हैं वे समस्त राष्ट्र की ही भाषाएँ हैं परन्तु यदि इन समस्त भाषाओं को राष्ट्रभाषा के नाम से कहा जाएगा जैसा कि देश के कई गण्यमान्य विचारक करना चाह रहे हैं—तो इसका सीधा सादा यह अर्थ होगा कि भारत एक राष्ट्र नहीं अनेक राष्ट्र हैं, जिन्हें शासन की या अन्य इसी प्रकार की सुविधा की दृष्टियों से एक बनाया गया है। यदि भारत एक राष्ट्र है तो उसकी भाषा जिसे राष्ट्रभाषा के नाम से कहा जाए—एक ही भाषा हो सकती है। भारतवर्ष में चाहे कितनी ही भाषाएँ क्यों न बोली जाती हों उनके साहित्य का अध्ययन करने से जो बात अत्यन्त स्पष्टता के साथ अनुभव की जा सकती है वह है उन सब में एक ही प्रकार की विचारधारा का प्रवाहित होना। एक ही प्रकार के विचार हैं जो इन समस्त भाषाओं में अभिव्यक्त किए जाते रहे हैं। यदि हमारे देश के एक भाषा के साहित्य को दूसरी भाषा में परिवर्तित किया जाए तो उसके साहित्य में किसी प्रकार की विदेशीयता का अनुभव नहीं होता। बात एक ही है—विचारधारा एक ही है जिसका चाहे भारत के किसी प्रदेश से उद्भव हुआ हो वह समस्त देश में किसी न किसी रूप में फैलती रही है। यदि समस्त भारतीय भाषाओं के साहित्यों का तुलनात्मक अध्ययन किया जाए तो हमें भाषाओं में भी वह विभिन्नता अनुभव नहीं होती—विचारों, साहित्यिक रूपों, प्रतिमाओं और प्रतीकों में तो यह विभिन्नता बिलकुल ही अनुभव नहीं होती। इसी विचारधारा की एकता के कारण हमारे राष्ट्र की सामूहिक, साहित्यिक और सांस्कृतिक एक भाषा का होना एकमात्र सर्वथा स्वाभाविक ही नहीं अपि तु आवश्यक भी है।

जिस समय हमारे देश का संविधान बनाया गया-भाषा के प्रश्न को बहुत देर के बाद उठाया गया और जब हिन्दी को समस्त देश की भाषा निर्धारित कर दिया गया तो बहुत-से विधि-विधान के पण्डित अपने विचारों के अनुसार उसकी व्याख्याएँ करने लग गए। कइयों ने कहा कि हिन्दी समस्त भारत के शासन तन्त्र की भाषा है; वह सरकारी भाषा या राजभाषा स्वीकृत की गई है परन्तु राजभाषा—शासन की भाषा—या दफ़्तरी भाषा (Official language) होने का यह अर्थ नहीं कि हिन्दी राष्ट्रभाषा है। जिस प्रकार पहले अंग्रेज़ों के समय में भारतीय प्रशासन की भाषा अंग्रेज़ी थी—उसी प्रकार १५ वर्षों में अंग्रेज़ी राजभाषा का स्थान भारतीय राजभाषा हिन्दी ले लेगी। हम समझते हैं कि हिन्दी के साथ दफ़्तरी भाषा या राजभाषा शब्द के प्रयोग से हमारे देश के भाषा विषयक वातावरण में बहुत-सी ग़लतफ़हमियाँ पैदा हो गई हैं। इसी कारण हिन्दी के साथ राजभाषा शब्द हमें ठीक नहीं रुचा और जँचा और हमने इस शब्द के प्रयोग पर कई बार आपत्ति भी उठाई। जब हम किसी भाषा को एकमात्र शासन की दृष्टि से ही प्रमुखता देते हैं तो उसका सम्बन्ध शासन से हो आता है और शासन—दूसरे देश या भाषा का हो बहुत-सी अवस्थाओं में असह्य प्रतीत होता है। फिर इस प्रकरण में अंग्रेज़ी का साथ हो जाने के कारण अंग्रेज़ी भाषा के साथ विदेशी राज्य के जो सहभाव हैं वे हिन्दी के साथ भी संयुक्त हो जाते हैं। यही कारण है कि कई विचारकों ने हिन्दी को भी अंग्रेज़ी के समान ही भारतवर्ष के अन्य प्रान्तों के लिए विदेशी भाषा तक कहने में किसी प्रकार का संकोच नहीं किया है

और वे इसी प्रकार की युक्तियों को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि जब हमें एक विदेशी भाषा को ही लेना है तो फिर अंग्रेजी को ही क्यों न लिया जाए जो कि एक तो कई वर्षों से इस देश के शासन की भाषा रही है, प्रत्येक दृष्टि से हिन्दी से अधिक समृद्ध है और जो आज विश्व की अन्तर्राष्ट्रीय भाषा है। उनकी सम्मति में एकमात्र दो ही भाषाओं का अध्ययन पर्याप्त है एक तो प्रदेशीय भाषा और मातृभाषा जो कि उच्चतम स्तर तक शिक्षा का अनिवार्य रूप से माध्यम होनी चाहिए और दूसरा अँग्रेजी का। वे समझते हैं कि अँग्रेजी के द्वारा एक तो अपने जीवन और विचारों को आधुनिक और प्रगतिशील विश्व के अनुकूल बनाया जा सकता है दूसरा अपने देश के शासन को प्रान्तों की दृष्टि से ही नहीं विश्व की दृष्टि से भी एक सूत्र में आबद्ध किया जा सकता है। शासन के प्रश्न के साथ एक प्रकार के दबाव का भी प्रश्न उपस्थित हो जाता है और इस दबाव के साथ अन्य कई इस प्रकार की गुत्थियाँ उत्पन्न हो जाती हैं जिनमें एक बार उलझ जाने पर फिर इस समस्या को सुलझाना अधिकाधिक कठिन हो जाता है।

जो विचारक इससे जरा आगे बढ़ते हैं वे हिन्दी को एक संघ भाषा मानने के लिए तैयार होते हैं। संघ भाषा (Federal Language) से उनका तात्पर्य यह है कि भारतीय संघ की एक ऐसी भाषा जो भारत के भिन्न भिन्न प्रान्तों के लोगों के आपस में विचारों के आदान प्रदान में सहायक हो, एक ऐसी भाषा जिसका ज्ञान इतना हो कि भारत के एक राज्य का निवासी दूसरे राज्य से अपने कार्य का संचालन कर सके और जिसके द्वारा वह दूसरे प्रान्तवासियों से सुगमतापूर्वक मिल जुल सके। वे हिन्दी को इससे अधिक महत्व देने के लिए उद्यत नहीं हैं। इसी कारण वे हिन्दी को संघ भाषा कहते हैं-अर्थात् जो समस्त भारतीय संघ की भाषा है। वे शिक्षा के क्षेत्र में भी हिन्दी को उतना ही स्थान देना चाहते हैं जिससे हिन्दी का इतना ज्ञान हो जाए कि कार्य में किसी प्रकार की रुकावट न हो। वे इस भाषा का काम चलाऊ ज्ञान पर्याप्त समझते हैं।

इस प्रकार के विचारकों के सम्मुख जब राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी का प्रश्न उठता है तो वे कहते हैं कि अभी जिस हिन्दी का प्रश्न है वह तो भारत के एक प्रान्त-विशेष की ही भाषा है। उसका विकास अभी तक जो कुछ हुआ है वह एकमात्र प्रान्तीय आधार पर ही हुआ है। ऐसी अवस्था में अभी से उसे राष्ट्रभाषा कैसे कहा जा सकता है! हिन्दी का राष्ट्रभाषा का स्वरूप तो वह होगा जिसमें भारतवर्ष के समस्त प्रान्तों की भाषाओं का स्वतंत्रतापूर्वक सम्मिश्रण होगा और जब तक ऐसी भाषा का विकास न हो जाए तब तक राष्ट्रभाषा का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता।

ये सब प्रश्न इस रूप में इसलिए खड़े हो गए हैं क्योंकि अभी तक आन्तरिक दृष्टि से भारत को एक राष्ट्र के रूप में समझने का प्रयत्न नहीं किया गया है और यही कारण है कि प्रान्तों के विभाजन में भाषाएँ आज इतना उग्र रूप धारण कर रही हैं। भारतवर्ष के स्वतंत्र होने के पश्चात् जिस प्रकार भारत का समस्त शासन तंत्र अभी तक पुराने ही सत्ताधिकारियों के हाथों में है जो कि जनता में किसी प्रकार की जागृति और जीवन की अपेक्षा शासन का नियंत्रण और संचालन को ही बड़ी वस्तु समझते हैं—उसी प्रकार बहुत-से अंग्रेजी वातावरण में पले हुए विचारक भाषा के प्रश्न को भी बहुत कुछ शासन की दृष्टि से देखते हैं और हिन्दी के साथ यद्यपि अभी तक विशेषरूप से केन्द्रीय शासन का सम्बन्ध नहीं हुआ है—तो भी शासन के भय से ही इस प्रकार की उलझनें पैदा हो रही हैं। यह सत्य है कि समस्त राष्ट्र के संचालन के लिए हमें एक भाषा की आवश्यकता है परन्तु इससे भी अधिक हमें समस्त राष्ट्र के हृदय, सभ्यता और संस्कृति को एक रूप में अभिव्यक्त करने के लिए एक भाषा की आवश्यकता है। इसके सम्मुख शासन एक गौण वस्तु है और इस प्रश्न के हल होने के साथ शासन का प्रश्न तो स्वयमेव हल हो जाता है। यदि एकमात्र शासन को दृष्टि में रख कर इस प्रश्न को हल करने का प्रयत्न किया गया तो राष्ट्रभाषा को वह महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त नहीं हो सकता जो कि उसे प्राप्त होना चाहिए। हमें हिन्दी की समस्त राष्ट्र की एकता की प्रतीक के रूप में आवश्यकता है। यह तो निर्विवाद है कि ज्यों ज्यों हिन्दी भारतवर्ष के समस्त प्रान्तों की भाषा बनेगी उसमें समस्त प्रान्तों का कुछ-न-कुछ पुट अवश्य मिलेगा परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि हम राष्ट्रभाषा का प्रारम्भ ही नहीं करेंगे। राष्ट्रभाषा जब सुरक्षित रूप से समस्त राष्ट्र के हाथों में आ जाएगी—उस समय समस्त राष्ट्र इसका स्वयं निर्माण कर लेगा। जो लोग हिन्दी को राष्ट्रभाषा

बनाना चाहते हैं उनका दृष्टिकोण पूर्ण रूप से भारतव्यापी होना चाहिए। उन्हें इस प्रश्न पर एक प्रान्त की दृष्टि से कभी विचार नहीं करना चाहिए। राष्ट्रभाषा के प्रश्न को भारत तक सीमित न करके उन्हें समस्त राष्ट्र के समतल पर लाना चाहिए। इस प्रश्न को यदि किसी भी प्रकार एक प्रान्त या कुछ प्रान्तों की सीमा में आबद्ध करने का प्रयत्न किया गया तो इसमें राष्ट्रभाषा को हानि पहुँचने की सम्भावना है। जब हम यह कहते हैं कि राष्ट्रभाषा के प्रश्न को राष्ट्र के समस्त प्रान्तों के समतल पर हल किया जाना चाहिए तो इससे हमारा यह अर्थ है कि न केवल इसके प्रति समस्त प्रान्तों की जनता की सहानुभूति और सद्भावना ही होनी चाहिए, अपि तु समस्त प्रान्तों में यह भावना भी उत्पन्न होनी चाहिए कि हिन्दी उसकी अपनी ही भाषा है। राष्ट्रभाषा के विरोधी अधिकतर वे ही लोग हैं जो किसी-न-किसी रूप मे अंग्रेज़ी के प्रवल समर्थक हैं। यदि उन्हें अंग्रेज़ी और अपनी मातृभाषा के विषय में निर्णय देना हो तो हम समझते हैं कि अधिक संभावना इसी बात की है कि वे मातृभाषा को छोड़ कर अंग्रेज़ी के पक्ष में ही अपना निर्णय देंगे। जो लोग मातृभाषा के समर्थक हैं वे चिरकाल तक राष्ट्रभाषा के विरोधी नहीं रह सकते क्योंकि हिन्दी किसी भी रूप में प्रादेशिक भाषाओं के विकास की विरोधिनी नहीं है। हिन्दी तो इन समस्त भाषाओं को एकता के सूत्र में ग्रथित करती हुई समस्त भारत के राष्ट्र को आन्तरिक दृष्टि से, सभ्यता और संस्कृति की दृष्टि से एक बनाना चाहती है। वह भारतीय शासन को नहीं, समस्त भारतीय जनता के जीवन को एकहृदय और एकप्राण बनाना चाहती है। समस्त राष्ट्र के जीवन पर ही इसका जीवन अवलम्बित है। समस्त राष्ट्र की शक्ति पर ही इसकी शक्ति निर्भर करती है।

मद्रास राज्य की नवीन शिक्षा-प्रणाली

यह समझना ठीक नहीं है कि अंग्रेज़ी राज्य के अन्त से ही भारत स्वतंत्र हो गया है और देश की सभी समस्याओं का हल निकालने के आवश्यक प्रयत्न किये गए हैं। वास्तव में अनेक समस्याएँ प्रतिदिन अधिकाधिक उग्र रूप में हमारे सामने प्रकट हो रही हैं और ऐसी दशा में तादृश्यता (Status Quo) बनाए रखना जहाँ एक ओर अदूरदर्शिता का सूचक है वहाँ दूसरी ओर जन-जीवन के प्रति प्रशासन की उपेक्षा भी प्रकट करता है। वर्तमान शिक्षा-प्रणाली में सुधार की माँग यद्यपि अंग्रेज़ी राज्य-काल में ही की गई थी परन्तु स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद भी इस दिशा में ठोस क़दम नहीं उठाया गया। हाल ही में मद्रास राज्य के मुख्य-मन्त्री श्रीयुत सी. राजगोपालाचार्य ने मद्रास प्रान्त में नवीन प्रारंभिक शिक्षा-योजना आरम्भ की है। यद्यपि इस योजना को विरोधी दल का सहयोग प्राप्त नहीं हो सका और धारा-सभा में दो मत से उसे अस्वीकार किया गया परन्तु, सत्र (Session) के बीच में अव्यवस्था न फैले इसलिए इस प्रणाली को चालू रखा गया। श्रीयुत सी. गोपालाचार्य द्वारा प्रस्तावित योजना गान्धी जी की बेसिक शिक्षा योजना को लक्ष्य में रख कर बनाई गई है और इसमें ग्रामोद्योगों को महत्व दिया गया है। इस योजना के अनुसार शिक्षा का समय पाँच घण्टे के बदले तीन घण्टे कर दिया गया है। अध्यापक छः घण्टे तक कार्य करेंगे। कक्षाओं के दो शिफ़्ट चलेंगे। इस प्रकार उतने ही समय, जगह और खर्च में इस समय जितने विद्यार्थी शिक्षा पा रहे हैं उससे दुगने विद्यार्थी शिक्षित किए जा सकेंगे। सम्पूर्ण योजना का लक्ष्य है: "भारतवर्ष जैसे ग़रीब देश में यह अत्यन्त आवश्यक है कि किसी भी प्रकार की फ़िज़ूलख़र्ची को बन्द किया जाय और जो कुछ ख़र्च होता है उससे अधिक से अधिक लाभ उठाया जाए।" ग्रामोद्योग सिखाने के लिए शिक्षक नियुक्त करने के बदले विद्यार्थियों को पेशेवर लोगों के यहाँ कार्य सिखाया जाएगा और इसकी देख-रेख कमेटी करेगी।

जहाँ पाँच के बदले तीन घण्टे शिक्षा का समय नियत करने का प्रस्ताव है, इस सम्बन्ध में किसी को गम्भीर आपत्ति नहीं होगी; परन्तु शिक्षक नियुक्त करने के बदले पेशेवर लोगों के यहाँ उद्योग सिखाना उचित नहीं प्रतीत होता। शिक्षा और मनोविज्ञान से अनभिज्ञ अपने काम में पारंगत श्रमिक सफल शिक्षक भी सिद्ध हो यह आवश्यक नहीं है। ६ और १२ वर्ष की उम्र के विद्यार्थियों के लिए यह तय करना कठिन होगा कि उन्हें किस उद्योग की शिक्षा लेनी चाहिए जिससे वे भविष्य में सफलतापूर्वक जीवन व्यतीत कर सकें। इस दशा में अधिकांश विद्यार्थी अपने परम्परागत पेशे को ही अपनाएँगे जिससे जाति-प्रथा की बुराइयों का दृढ़ होना स्वाभाविक जान पड़ता है। फिर इस योजना के प्रति जनता का आवश्यक उत्साह भी नहीं है।

प्रश्न आरंभिक शिक्षा का ही नहीं है, उच्च शिक्षा का भी है। अंग्रेज़ी राज्य-काल में शिक्षा का क्षेत्र सीमित था अतः समस्या इतनी गम्भीर नहीं थी। आज प्रतिवर्ष सहस्त्रों की संख्या में विश्वविद्यालयों से स्नातक निकलने लगे हैं जिनके सामने कोई भविष्य नहीं होता। हमारे नवयुवकों का धन और समय व्यर्थ नष्ट होता है इसका जवाबदेह कौन है? हम समझते हैं जिस प्रकार भाषा इत्यादि के सम्बन्ध में अलग-अलग राज्यों में प्रयोग किए जा रहे हैं परन्तु संगठित प्रयत्न के अभाव में समस्या का निदान नहीं मिल पाता उसी प्रकार शिक्षा के क्षेत्र में भी असंगठित प्रयत्नों का विशेष महत्व नहीं हो सकता है। वर्तमान शिक्षा प्रणाली में सुधार के लिए संगठित प्रयत्न किया जाना चाहिए। धन ही सब कुछ नहीं है। हम राष्ट्रीय ख़र्च में कमी करें यह ठीक है परन्तु वह राष्ट्र के नवयुवकों और भावी नागरिकों के जीवन के साथ खिलवाड़ करने की कीमत पर किसी प्रकार वांछित नहीं है।

Educ
St
Besi
for
Cons
HYDE
INS
Ba
है द रा ब
श्रीराम
टेलिफोन :

Education

Start-in-Life

Marriage of your children

Assured without any

embarrassment

Besides a comfortable old age

for you

for All Types Of Insurance

Consult:-

THE

HYDERABAD CO-OPERATIVE
INSURANCE SOCIETY Ltd.

Bashir Bagh Road, Hyderabad-Dn.

THE

Twin Co-operative Insurers

Head Office : **Bashir Bagh Road, Hyd.Dn.**

1. The Hyderabad Co-operative Insurance Society Ltd.

A POLICYHOLDERS' SOCIETY

Assets as at 31-12-51 exceed Rs. 80 Lakhs. (for Co-operative Life Assurance only.)

2. The Co-operative General Insurance Society Ltd., (for Fire, Motor Accident and Misc. Insurance.)

State and District Positions Available

For REALLY EFFICIENT
FIELD WORKERS.

Write in condidence to the General Manager.

हिन्दी के उत्तमोत्तम

तथा

उच्च श्रेणी के

साहित्य

की प्राप्ति के लिए

एकमात्र स्थान

हैदराबाद राज्य हिन्दी प्रचार सभा
श्रीराम हिन्दी भवन, नामपल्ली, स्टेशन रोड
हैदराबाद-द.

टेलिफोन : ५४५०
तार : हिन्दी

तार का पता : हिन्दी
टेलीफोन नं. ५४५०

हिन्दी, तेलुगु, मराठी और अंग्रेज़ी

की सब तरह की सुन्दर छपाई

के लिए हमेशा याद रखिये।

हिन्दी प्रेस

हैदराबाद राज्य हिन्दी प्रचार सभा
श्रीराम हिन्दी भवन
नामपल्ली • स्टेशन रोड • हैदराबाद-द.

प्रकाशक :—प्रियबन्धु, हिन्दी प्रेस, हैदराबाद राज्य हिन्दी प्रचार सभा, हैदराबाद-द.

क्या आपने निम्नलिखित प्रकाशन पढ़े हैं?

- सबसे सही पहला कदम
- नया हैदराबाद सीरीज़
  पुस्तिकाएँ १ से ७
- हमारे संसदीय सदस्य
- हैदराबाद की सामुदायिक योजनाएँ
- आलमपुर—"दक्षिण काशी"
- हैदराबाद राज्य के विभागों का कार्य-संचालन—१९५२.
- जनसंख्या आँकड़े

प्राप्ति स्थान

प्रकाशन शाखा

सूचना और जन-सम्पर्क विभाग

हैदराबाद दक्षिण.

खरीदिए :

आज का हैदराबाद

(अंग्रेज़ी, उर्दू, तेलुगु, कन्नड़, और मराठी में प्रकाशित)

आपका अपना मासिक

(हिन्द अड. कार्पो.)

अजन्ता

गुरुकुल कांगड़ी

११-५३

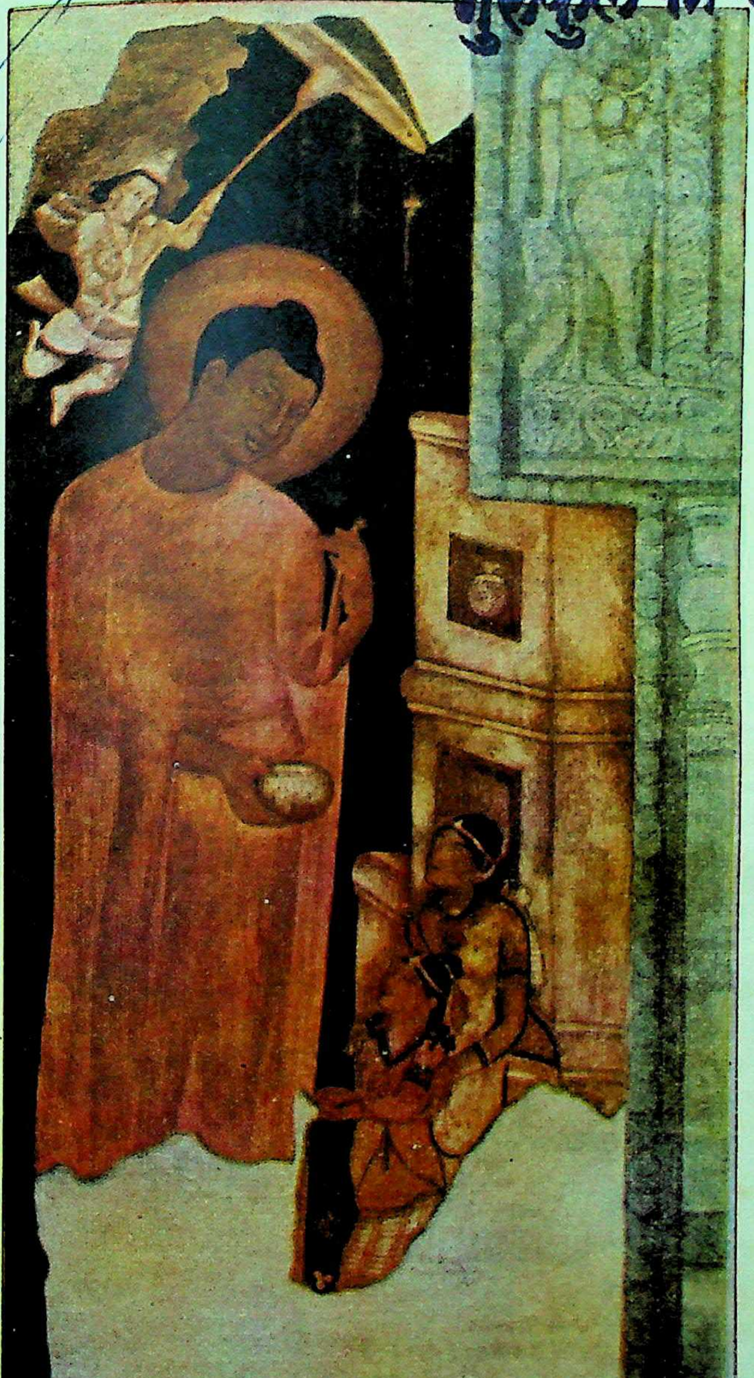

वर्ष ५ अक्टूबर १९५३ अंक १०

हैदराबाद राज्य हिन्दी प्रचार सभा

राजस्थान, पंजाब, मध्यप्रदेश, हैदराबाद, मैसूर, त्रावणकोर और मद्रास राज्यों के

शिक्षा विभाग द्वारा स्वीकृत

* * *

इस अङ्क में

कालिदास दीक्षित 'कुसुमाकर'
प्रो. एम. एस. दोरास्वामी
चन्द्रकान्तराव गोडसे
प्रो. प्रकाशचन्द्र गुप्त
चन्द्रबलीसिंह
राजेन्द्र यादव
श्रीराम शर्मा 'राम'

विद्यावती मिश्र
लक्ष्मीशंकर मिश्र 'निशंक'
अनिलकुमार
राजकुमारी शिवपुरी

* * *

अगले अङ्क में

डा. महादेव साहा
अगरचन्द नाहटा
टीकमसिंह तोमर
श्याम परमार

रमाकान्त श्रीवास्तव
कोमलसिंह सोलंकी

"अजन्ता" का वार्षिक मूल्य :— ६) एक अङ्क का :— १)

आवश्यक सूचना :—नमूने की प्रति के लिए १ रु० म. ऑर्डर द्वारा अग्रिम भेजिए।

The Hyderabad Co-operative Dominion Bank Ltd.,

[Estd. MARCH 1915]

Telephone : 4610 Telegram : DOMINBANK

(Apex Bank for the Co-operative Movement in the State)

Sub Offices :
PATHERGATTI, UNIVERSITY
BRANCH (ADIKMET)

Head Office :
SHAHRAH-E-OSMANI,
HYDERABAD-DECCAN.

Branch Office :
THUNGABHADRA PROJECT
(MUNIRABAD)

1. CURRENT ACCOUNTS opened free of charge and interest is allowed at 1½% per annum.
2. SAVINGS DEPOSITS accepted and interest allowed at 2% per annum.
3. SPECIAL SAVINGS DEPOSITS are accepted and interest allowed at 1½% per annum.
4. FIXED DEPOSITS accepted. For Revised Rates apply to the Bank.
5. 3 YEAR CASH CERTIFICATES issued in denominations of Rs. 100, 500, 1,000 & 5,000 at 4% Compound Interest, Earlier encashment facilities offered. Particulars can be had from the Bank.
6. DRAFTS are issued on all important COMMERCIAL CENTERS and within the HYDERABAD STATE.
7. PENSIONS, MANSABS, etc, collected on commission basis, premiums remitted & all standing instructions on behalf of the customers carried out. SAFE DEPOSIT LOCKERS & VAULTS available at HEAD OFFICE.

BANKING BUSINESS OF EVERY DESCRIPTION TRANSACTED

Md. Ghulam Ghouse
M. A., B. SC., C. A. I. I. B.,
DEPUTY GENERAL MANAGER.

A. H. Venkat Rao.
B. A., B. L.,
SUPERVISING DIRECTOR.

L. N. Gupta,
I. A. S.
PRESIDENT.

* * *

FIRE: ACCIDENT: MARINE:

THE HYDERABAD UNITED INSURANCE CO., LTD.,

SPONSORED BY

THE GOVT. OF HYDERABAD.

Post Box No. 164, Abid Road, HYDERABAD-Dn.

Telegram: **HUICOL** *Telephone:* **5579**

Chairman:
L. N. GUPTA Esq., I. A. S.,

General Manager:
H. D. MEHTA Esq.,

'HIND'

BRANCHES : Bombay, Calcutta, Madras, Nizamabad & Manchirial.

'मेघदूत' के महत्वपूर्ण प्रकाशन के बाद

प्रेरणा का छठा-सातवाँ अंक

'प्रेमचन्द के पात्र'

विशेषांक होगा

* इस अंक में प्रेमचन्द के उपन्यासों और कहानियों के सभी महत्त्वपूर्ण पात्रों पर अधिकार पूर्ण लेख होंगे।

* विशेषांक का मूल्य लगभग ४) होगा।

* प्रेरणा के स्थाई ग्राहकों के लिए वही मूल्य रहेगा।

शीघ्र ही वार्षिक ग्राहक बन कर
इस सुविधा का लाभ उठाएँ।

अग्रिम आर्डर 'प्रेरणा' के पते से भेजिये।

प्रेरणा : सोजतीगेट, जोधपुर.

कथा साहित्य में चरित्र चित्रण
का
महत्वपूर्ण प्रयोग

"नया पथ"

हिन्दी की नयी साहित्यिक चेतना का प्रतिनिधि, हिन्दी साहित्य में देशभक्ति, जनसेवा स्वाधीनता और शांतिकामना की महान् और गौरवशाली परम्परा को आगे ले जानेवाला राजनैतिक-सांस्कृतिक मासिक पत्र।

विशेष स्तम्भ

मासिक टिप्पणियाँ, व्यंग और प्रहसन, आज की राजनीति, मार्क्सवाद की पाठशाला, आर्थिक लेखा-जोखा, कथा-कहानी और कविताएँ, विज्ञान और हम, सिनेमा जगत, हमारी संस्कृति, पुस्तक परिचय,

पहला अङ्क 'तुलसी अङ्क'

सम्पादक : **श्री शिववर्मा**

वार्षिक चन्दा ६) रु. ❁ अर्ध वार्षिक ३) रु.
एक प्रति ॥) आने.

'नया पथ' कार्यालय,
राज भवन, सेण्डहर्स्ट रोड, बम्बई, ४

पश्चिमोत्तर भारत की प्रमुख हिन्दी मासिक पत्रिका

विश्व ज्योति

सम्पादक

श्री विश्वबन्धु शास्त्री, श्री सन्तराम, बी. ए.
संचालक-**श्री विश्वेश्वरानन्द,**

विश्व हित की साधना के लिए :

[क] शुद्ध सांस्कृतिक साहित्य का सृजन,
[ख] प्राचीन और नवीन ज्ञान-विज्ञान का समन्वय,
[ग] बौद्धिक क्रांति और नई चेतना का जागरण,
[घ] अन्यायपूर्ण सामाजिक विषमताओं का दूरीकरण,
[ङ] सभी प्रकार के विचारों का निष्पक्ष अध्ययन और आलोचन।

वार्षिक चन्दा : ८) रुपए

१०) रु. वार्षिक चन्दा देकर विश्वेश्वरानन्द वैदिक संस्थान के सदस्य बन जाने पर भेंट के रूप में मुफ़्त।

पत्र-व्यवहार का पता :

व्यवस्थापक, 'विश्व ज्योति' साधु आश्रम,
होशियारपुर, (पंजाब)

:: दक्षिण भारत ::

दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा का

सांस्कृतिक मासिक पत्र

इस पत्र के द्वारा :

* दक्षिण की प्राचीन और आधुनिक संस्कृति सम्बन्धी जानकारी......

* दक्षिण के साहित्य, राजनीति, शिक्षा, कला, रचनात्मक कार्यक्षेत्रों के विवरण और उनके उन्नायकों का परिचय......

* दक्षिण की तेलुगु, तमिल, कन्नड़, मलयालम और उत्तर के विद्वानों का साहित्य सृजन का परिचय पाइए......

वार्षिक चन्दा : रु. ६) **अर्ध वार्षिक : रु. ३॥)**

एक प्रति : ०-१०-०

इस पते पर लिखें :

व्यवस्थापक, पत्रिका विभाग
दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा
त्यागरायनगर, मद्रास-१७

जीवन साहित्य

हिन्दी के उन मासिक पत्रों में से है जो

१. लोक रुचि को नीचे नहीं, ऊपर ले जाते हैं,

२. मानव को मानव से लड़ाते नहीं, मिलाते हैं,

३. सच्ची और स्थायी शान्ति को असंभव नहीं, संभव बनाते हैं,

४. आर्थिक लाभ के आगे झुकते नहीं, सेवा के कठोर पथ पर चलते हैं,

जीवन साहित्य की सात्विक सामग्री को छोटे बड़े, स्त्री-बच्चे सब निःसंकोच पढ़ सकते हैं। उसके विशेषांक तो एक से एक बढ़ कर होते हैं।

जीवन साहित्य विज्ञापन नहीं देता। केवल ग्राहकों के भरोसे चलता है। ऐसे पत्र के ग्राहक बनने का अर्थ होता है राष्ट्र की सेवा में योग देना।

वार्षिक शुल्क के ४) रु. भेज कर ग्राहक बन जाइए।

ग्राहक बनने पर मण्डल की पुस्तकों पर
आपको कमीशन पाने की भी सुविधा हो जाएगी।

सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली

त्रैमासिक

॥

आलोचना

के

दो विशेषांक

इतिहास विशेषांक-अक्तूबर १९५२

५) रु०

इतिहास शेषांक-जनवरी १९५३

३) रु०

विशेष रूप से संग्रहणीय हैं।
इन दोनों अंकों में प्रकाशित लेख हिन्दी साहित्य के आलोचनात्मक इतिहास का अद्वितीय आकलन बन गये हैं।

वार्षिक-१२)रु० :: एक प्रति-३) रु०

राजकमल प्रकाशन,

१, फ़ैज़ बाज़ार, दिल्ली

मनोविज्ञान

काशी मनोविज्ञान शाला का मासिक पत्र

दर्शन और मनोविज्ञान की

आधुनिक प्रवृत्तियों पर

प्रकाश डालनेवाला

हिन्दी में अपने ढङ्ग का

अकेला पत्र

सम्पादक : **लालजीराम शुक्ल**

वार्षिक मूल्य : ४) रुपए।

मिलने का पता :

व्यवस्थापक 'मनोविज्ञान'

६१/२५ सिद्धगिरि, बनारस

राष्ट्रभारती

सम्पादक

मोहनलाल भट्ट
हृषिकेश शर्मा

सस्ती, सुन्दर साहित्यिक और सांस्कृतिक मासिक पत्रिका। इस पत्रिका को, राष्ट्रभाषा हिन्दी तथा प्रान्तीय भाषाओं के श्रेष्ठ विद्वान् साहित्यकारों का सहयोग प्राप्त है। ज्ञानपोषक और मनोरंजक श्रेष्ठ लेख, कविताएँ, कहानियाँ, एकांकी, नाटक, रेखा-चित्र और शब्दचित्र। बंगला, मराठी, गुजराती, पंजाबी, राजस्थानी, उर्दू, तमिल, तेलगु, कन्नड़, मलयालम आदि भारतीय भाषाओं के सुन्दर हिन्दी अनुवाद भी इसमें रहते हैं।

वार्षिक चन्दा ६) रुपए। नमूने की प्रति १० आने मात्र।

ग्राहक बना देने वालों को विशेष सुविधा दी जाएगी

पता : व्यवस्थापक,

'राष्ट्रभारती' राष्ट्रभाषा प्रचार समिति,
पो० हिन्दी नगर, वर्धा (मध्य प्रदेश)

'अजन्ता' के नियम

सम्पादकीय विभाग

१ 'अजन्ता' में प्रकाशनार्थ रचनाएँ हाशिया छोड़ कर एक ओर टाइप करके भेजी जाएँ। रचना-प्राप्ति की सूचना कार्यालय से भेजी जाएगी। रचनाओं की एक प्रतिलिपि लेखक अपने पास रखें, जिससे रचना के खोने का भय न रहे।

२ रचना भेजते समय इस बात का ध्यान रखा जाए की उसे अन्यत्र प्रकाशनार्थ नहीं भेजा गया है।

३ रचनाओं के स्वीकृत होने की स्थिति में उनका सुविधा के अनुसार ही उपयोग किया जा सकेगा।

४ आलोचनार्थ पुस्तक और पत्र-पत्रिकाओं की दो प्रतियाँ सम्पादक, 'अजन्ता' के नाम भेजना आवश्यक है।

५ किसी भी रचना के संशोधन आदि का अधिकार सम्पादक को रहेगा।

६ 'अजन्ता' में प्रकाशित रचनाओं का अन्यत्र उपयोग प्रकाशक की अनुमति ले कर किया जाए।

व्यवस्था विभाग

१ 'अजन्ता' का वार्षिक चन्दा ६) और एक प्रति का मूल्य १) है। किसी भी मास से ग्राहक बना जा सकता है। कम से कम छः मास का चन्दा स्वीकार किया जाता है।

२ पत्र-व्यवहार करते समय ग्राहक संख्या का उल्लेख करें।

३ 'अजन्ता' के एजेन्सी नियम निम्न प्रकार हैं :—

- (अ) कम से कम पाँच प्रतियाँ मँगाने पर एजेन्ट नियुक्त किया जाएगा।
- (आ) माल वी. पी. द्वारा भेजा जाएगा।
- (इ) बिना बिकी हुई प्रतियाँ वापस नहीं ली जाएँगी।
- (ई) कमीशन २५ प्रतिशत दिया जाएगा।

४ नमूना अंक मुफ़्त नहीं भेजा जाता, १) रु० मनी-आर्डर अग्रिम भेजें।

५ एक साथ चार ग्राहक बनानेवाले को साल भर 'अजन्ता' मुफ़्त भेजा जाएगा।

६ 'अजन्ता' में निम्न दर पर विज्ञापन स्वीकार किए जाते हैं :

चौथा	आवरण पृष्ठ	१००) रु.	प्रतिमाह
तीसरा	,, ,,	७०) रु.	,,
दूसरा	,, ,,	७०) रु.	,,
साधारण पृष्ठ	,,	४०) रु.	,,

पत्र व्यवहार करें :—

व्यवस्थापक

'अजन्ता' कार्यालय,

हैदराबाद राज्य हिन्दी प्रचार सभा
नामपल्ली, स्टेशन रोड, हैदराबाद-द.

अजन्ता

सचित्र मासिक पत्रिका

वर्ष ५ अक्तूबर १९५३ अङ्क १०

सम्पादक
वंशीधर विद्यालंकार
श्रीराम शर्मा

प्रबन्ध सम्पादक
हरिकृष्ण पुरोहित एम. ए.

—: संचालक :—
हिन्दी प्रचार सभा, हैदराबाद

अनुक्रमणिका

पृष्ठ संख्या

१ गीत
विद्यावती मिश्र १

२ उठ रहा विश्वास तारे टूटते हैं
'निशंक' एम. ए. ३

३ प्रथम शरद् का नीलाकाश
अनिलकुमार ४

४ गीत
राजकुमारी शिवपुरी ८

५ बापू और साहित्यकार
कालिकाप्रसाद दीक्षित 'कुसुमाकर' ९

६ अंग्रेज़ी साहित्य
एम. एस. दोरास्वामी १२

७ लाल क्रांति का कवि : मायाकोवस्की
चन्द्रबलीसिंह १५

८ मराठी की कहावतें
ललिता देवी २६

९ रवीन्द्र साहित्य में नारी
रेणुका चक्रवर्ती २७

१० हिन्दी उपन्यास का भविष्य
प्रकाशचन्द्र गुप्त ३०

११ साहित्य और संगीत
दुर्गाशंकर 'पारिजात' ३३

१२ 'बेनुबंस तै भएसि घमोई'
विश्वनाथप्रसाद मिश्र ३७

पृष्ठ संख्या

१३ रंगरूट
राजेन्द्र यादव ४०

१४ मेरे नाम से आनेवाले पत्र
चन्द्रकान्तराव गोडसे ४४

१५ पंजाबी लोकगीत
महेन्द्र 'राजा'
मोहिनी शर्मा ४७

१६ सूर तथा पोतन्ना
बाल शौरिरेड्डी ५६

१७ कमला के बेटा !
श्रीराम शर्मा 'राम' ५५

१८ स्वप्न निर्माता
लक्ष्मीनारायण अग्रवाल एम० ए० ५९

१९ चिट्ठी-पत्री ६६
[१] एल. एन. गुप्त
[२] मा. देवेगौड़ "बोम्मरणा"
[३] प्रेमकिशोर

२० नीर-क्षीर ७०
[१] वंशीधर विद्यालंकार
[२] हरिकृष्ण पुरोहित

२१ सामयिक ७४
[१] सुगाली — कर्नूल के जंगलों की जातियाँ
[२] एल्बर्ट आइन्सटीन

२२ सम्पादकीय ७८
वंशीधर विद्यालङ्कार

चित्र : पैठण की खुदाई से प्राप्त मूर्तियाँ...पुरातत्त्व विभाग, हैदराबाद के सौजन्य से

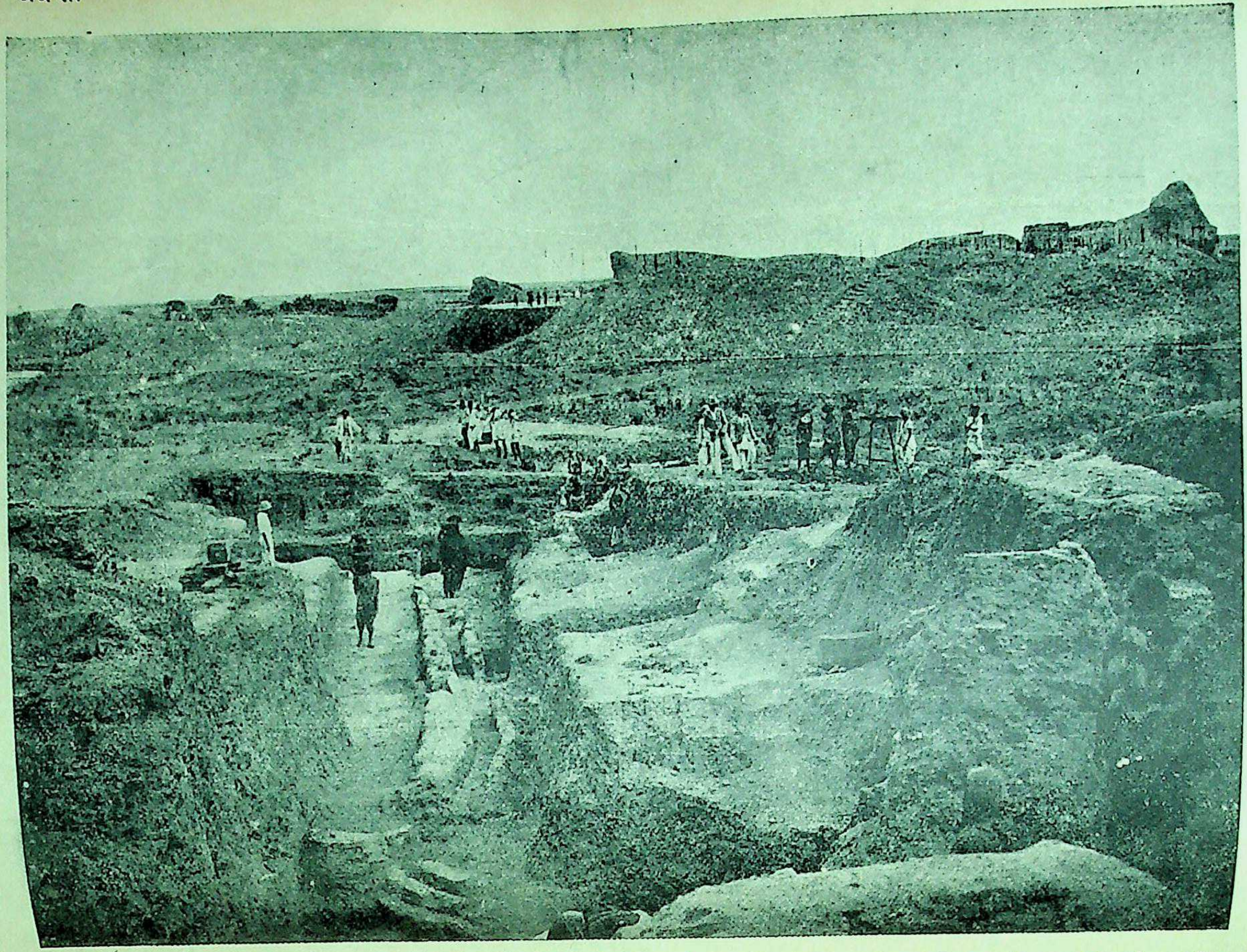

पैठण की खुदाई

पुरातत्व विभाग हैदराबाद के सौजन्य से

पैठण की खुदाई

पुरातत्व विभाग हैदराबाद के सौजन्य से

वर्ष ५ अक्तूबर १९५२ अङ्क १०

गीत

सपनों से श्रृंगार किया करते पागल हैं !

कुंद केतकी छोड़ भला मैं क्या तारों के
सौरभ से अपना भूला अलि-मन बहलाऊँ,
तुम्हीं बता दो केवल दृग की दो बूँदों को
किस आकर्षण से विस्तृत सागर बतलाऊँ,
सत्य सामने देख कल्पना की छलना को, जीवन आधार किया करते पागल हैं !
सपनों से श्रृंगार किया करते पागल हैं !

घन बरसे तो अन्न उगा, हरियाली छाई
आतप से पीड़ित जग ने पाई शीतलता,
भला कहो इस हँसी खुशी में कैसे देखूँ
किसी यक्ष का मोह, विरहिणी की आकुलता,
साधारण जीवन में भी दुःख की कसकन का, अर्थहीन व्यापार किया करते पागल हैं!
सपनों से शृंगार किया करते पागल हैं!

हार-जीत की कड़ियों से ही यह जीवन-पथ
और प्रवासी की गति को नापा जाता है,
पर अंगद का चरण भावना के रावण से
कर्म राम के होते हार नहीं पाता है,
हाथों के पौरुष, श्वासों की तत्परता को, विधि का कारागार किया करते पागल हैं!
सपनों से शृंगार किया करते पागल हैं!

मिट्टी मेरा रंग, मनुजता मेरी तूली
और लक्ष्य मेरा प्रतिमा को पूर्ण बनाना,
फिर जड़-चेतन मय इस जगती के मंदिर में
नर-नारायण के सम्मुख निज शीश झुकाना,
पाप-पुण्य से अपनी सत्ता की गुरुता का, निष्फल उपसंहार किया करते पागल हैं!
सपनों से शृंगार किया करते पागल हैं!

बशीरतगंज,
लखनऊ

—विद्यावती मिश्र

उठ रहा विश्वास तारे टूटते हैं ।

कौन संध्या के मलिन आभास सा यह
रोदसी में घन तिमिर बन छा गया है ?
सूखता जाता पलक का नीर भी तो
वेदना से आँख भर आती गगन की ;
चित्र बन कर रह गया मेरा अधूरा
तूलिका के रंग फीके पड़ गए हैं ,
वज्र सा टूटा, अंगुलियाँ कंप रही हैं ,
मैं थकित, विस्मित, चकित, गतिहीन सा हो—
कल्पना का सत्य बन कर देखता हूँ
क्यों उषा के ओठ नीले पड़ गए हैं ?

काँपती लौ सामने उसी उसी दीप की जो
क्या हवा के प्यार से बोझिल हुई है ?
जल चुकी बाती शलभ के प्राण बन कर
क्षीण अन्तिम श्वास की लौ शेष अब भी ;
मृत्यु से भी आज हँस हँस कह रहा है
"उठ रहा विश्वास तारे टूटते हैं"
मैं रहा जलता हृदय में स्नेह था जब
पर न उसका एक कण भी शेष है अब ।
हीनता मेरी जगत् की दृष्टि में भी
दोष, दुर्बलता, पतन, अभिशाप ही है
पर भरा किसने हृदय में स्नेह किंचित् ?
और जलता गात कब किसने छुआ है ?
मैं स्वयं ही जल उठा था ज्योति छू कर
दे उसी का दान मैं अब बुझ रहा हूँ ।

कान्यकुब्ज कालेज
लखनऊ

'निशंक'
एम० ए०

प्रथम शरद् का नीलाकाश

[गीति रूपक]

स्त्री-पुरुषों का समवेत गान

संगीत

उतरा भू पर शरद् सुहावन !
इसका शुभ आगमन देख कर पुलक उठा जग जग का कन कन
उतरा भू पर शरद् सुहावन !

मधुर सुनहली रेत दमकती
लहराती सुमधुर रस धारा,
झील, सरोवर, नद, नदियों में
भरा हुआ ज्यों चंचल पारा।
नभ की इस नीलम छलनी से
जैसे दूध बरसता छन छन !
उतरा भू पर शरद् सुहावन !

उजले कपसीले खेतों में
खिल खिल वह चाँदी सा हँसता,
सन्ध्या किरण बिछा कर सुन्दर
मन में वह सोने सा बसता।
ऋतुओं में सुकुमार सुशोभित
वैभव नभ का, धरती का धन।
उतरा भू पर शरद् सुहावन !

इसके आते ही पौधों में
मोती से भुट्टे भर आए,
जिनसे पालित पोषित जग में
मानव की मुख छवि मुसकाए।
उज्ज्वल फूल शरद् धरती का
और गगन का चाँदी का घन !
उतरा भू पर शरद् सुहावन !

(कोरस का स्वर विलीन होकर उद्घोषक का स्वर उभरता है :)

उद्घोषक— प्रथम शरद् के नील गगन में
नील कमल का नीलापन
नीलम की धरती पर अंकित

इसके सुन्दर शुभ्र चरण।
जैसे देवदूत अकलंकित
स्वर्ग भूमि पर कर विचरण,
सुख-दुख की गगरी छलकाता,
यह शोभित चाँदी का घन।
कशाघात सह हिम उपलों का
कमल वधू का अन्तर जर्जर
उमड़ उमड़ उठते हैं जग में
इसीलिए दुख के नद निर्झर।
स्वाती की अमृत वर्षा से
खेतों में मोती भर आते
सुख के इस नीले गुम्बद में
तारों के दीपक जल जाते।

नारी स्वर— निलय में ज्योतिखण्ड जलते
नक्षत्र लोक के बीच बनी
विधु-झील मनोरम दूध भरी,
तिर रही समुद्र मृदु पंख खोल
विवसना शरद् की स्वर्ग परी।
कंचन जल सिंचित पीत जलद
झीने रेशम के कोमलतर
बन कुन्द कास के वसन सुखद
सरका कर चन्द्र सरोवर पर।
गीले कुन्तल का मेह झरे
तुम ले आना नीहार बने
हे मेरे नभवासी सहचर
मैं सींचूगी मधु के सपने।
जीवन की खेती में सबके
आशाओं के अंकुर पलते!
निलय में

उद्घोषक— और शरद् के नील निलय में
सूनापन प्रेमी के उर सा
गूँज रहा है गहन गुफा में
भग्न बीन के टूटे सुर सा।

पुरुष स्वर— हृदय कानन में सखी री
मैं तुम्हें हर पल बुलाता!

सान्ध्य-सिंचित धूम्रवलयांकित
क्षितिज की तिमिर वेला
व्योम विरही की उसाँसों का
निशा में मौन मेला !
एक खग विधु, बिम्ब तुम सा
रश्मि पंखों को हिलाता,
तब हृदय की कौमुदी में
री तुम्हें घुल घुल बुलाता !
हृदय कानन में०—

वे विदा के जड़ विपल
मुसकानमयी तुम भींग सिहरी
ओस सिंचित नयन-कोरों में
उठी थी मिलन लहरी।
सुधि जलद का यान नीरव
उन पलों का चित्र लाता;
तब हृदय की शारदीया में
नयन जल अर्घ्य पाता।
हृदय कानन में०—

मूँदती चपला पलक पुट
चन्द्रमुख पर तिमिर मलती
खोलती मुख मुकुल पुहुपिनि
अधर दल पल्लव उमलती।
हृदय गह्वर में अमिय सा
पवन किसलय झिलमिलाता
तब अरुण पद रंगिनी में
नयन में जल जल बुलाता।
हृदय कानन में०—

उद्घोषक— दुख के नीले दाग दबा कर
आसमान का नीला अन्तर,
चुप हो लेना पड़ता मन को
अपने दुख की कथा सुना कर।
सुख की रजत तरल रसधारा
नीले दुख पर दूध बिछाती
और चाँद की दोपहरी में
पूनम का आँगन भर जाती।

१६५३

छिप जाता है तिमिर व्यथा का
चन्द्र वदन के पीछे
फिर नूपुर बाँध दिशा के
यह शरद् उतरता नीचे।
दूध भरी माँसल किरणें
गिरि, खेत, वनों में झरती
दिग्वधू क्षितिज कुञ्जों में
मंगलमय गुंजन करती।

समूह गान— मधुमयी शीतल चन्द्रपुरी
दुपहरी दूध भरी !
धो रही अलक मधु गन्ध परी
झर कर लघु सौरभ बूँदों ने
कुमुदों में किसलय सुरभि भरी
तिर रही पवन में मधु लहरी
रजत चन्द्र नगरी
मोतिम किरण भरी !
ढलती निशीथिनी वेला में
रजनी निकट खरी
रुपहली सलज सस्मित-वदना
यह सखि कौन अरी ?
लिए चन्द्र गगरी
फेनिल दूध भरी !
खिल तिमिर जलधि में समुद पले
नभ कुसुम कली के दीप जले
उफन रहा रे हृदय व्योम का
उन्मद शरद् विभा निखरी
अमिय फुहार भरी।
रात न ढल ढल री !
इठला कर उपवन में नव रँग
भर देते कलियों के अँग अँग
मधुकर की रँग रलमली मचे
कल उषा सजे सोहाग भरी
ढलक चन्द्र गगरी
मोतिम किरण भरी !

इतवारी,
नागपुर नं. २

—अनिलकुमार

गीत

बढ़ चली आलोकमय ले उर-अकम्पित दीप !

मोतियों से शेष दृग-कण
पलक का श्रृंगार
मोम के तन में सजा कर
विरह का श्रृंगार

ले मधुरतम अश्रु मोती, ले पलक-लघु-सीप
बढ़ चली आलोकमय ले उर-अकम्पित-दीप !

भर दिए संगीत के स्वर
रच दिए मनुहार
आस ले प्रतिपल, अकिंचन
स्वाँस के मधु तार

निरे निर्मल नीर दृग के अश्रुकण से लीप
बढ़ चली आलोकमय ले उर-अकम्पित-दीप ।

अद्भुत आँसू की लड़ी की बाँध बँदनवार
वेणु के स्वर कंठ भर उनका करूँ सत्कार
शून्य में रेखा बनाऊँ ज्योति ले लघु दीप
बढ़ चलूँ आलोकमय ले अकम्पित दीप !

—राजकुमारी शिवपुरी

राजमहल गर्ल्स कालेज,
जोधपुर

बापू और साहित्यकार

यदि साहित्य का उद्देश्य जीवन का पथ प्रदर्शन और प्रगतिशील विचारों को जनता के समक्ष उपस्थित करना है तो महात्मा गांधी इस युग के एक प्रमुख साहित्यकार थे। उनकी विचारधारा ने देश में केवल राजनीतिक ही नहीं वरन् सामाजिक, आर्थिक और साहित्यिक क्रान्ति पैदा की। सबसे बड़ी बात तो यह थी कि गांधी जी ने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में जिस क्रांति के बीज वपन किए वह हिंसात्मक न होकर अहिंसात्मक है और यही कारण है कि वह दुनिया में अपना विशेष स्थान रखती है। इतिहास के पृष्ठों में यह अहिंसात्मक क्रांति सदैव सुवर्ण अक्षरों में चमकती रहेगी। प्रायः साहित्य, राजनीति और समाज का अगुवा होता है, मार्ग निर्देशन करता है परन्तु हमने देखा कि गांधी जी की विचारधारा ने समस्त भारतीय भाषाओं के साहित्य की दिशा मोड़ दी और उसमें नूतन शक्ति का प्रादुर्भाव हुआ। यही कारण है कि अधिकांश साहित्यकारों ने महात्मा गांधी के जीवन को अपनी रचनाओं का आधार बनाया। दंडी यात्रा के बाद से ही महात्मा गांधी कवियों और साहित्यकारों की विचारधारा को प्रभावान्वित करने लगे थे जिसका परिणाम यह है कि सन् १९२० के बाद के अधिकांश साहित्य को हम गांधीवादी विचारधाराओं से अनुरंजित देख सकते हैं।

हिन्दी साहित्य में गांधी जी का सबसे अधिक प्रभाव राष्ट्र कवि मैथिलीशरण जी गुप्त और उपन्यास सम्राट प्रेमचन्द जी पर पड़ा। वैसे तो गुप्त जी प्रारम्भ से ही राष्ट्रीय विचारधारा के कवि थे। उनकी 'भारत भारती' में देश के अतीत, वर्तमान और भविष्य का जो अंकन किया गया है, वह हमारी उन भावनाओं का द्योतक है, जिसे हिन्दी का साहित्यकार भारतेंदु हरिश्चंद्र जी के जमाने से समझने लगा था। इसीलिए गुप्त जी ने 'भारत भारती' में कहा कि:

"हम कौन थे, क्या होगए और क्या होंगे अभी
आओ विचारें आज मिलकर ये समस्याएँ सभी"

गुप्तजी की यह भावना उनके समस्त साहित्य में पाई जाती है और यह भी सत्य है कि उन्होंने देश और समाज के भूत, वर्तमान तथा भविष्य पर गांधीवादी दृष्टिकोण से विचार किया है। यद्यपि कुछ लोग यह कहते हैं कि गांधीवाद कोई पृथक विचारधारा नहीं है और गांधीजी के विचारों तथा कार्यक्रमों को गांधीवाद नाम नहीं दिया जा सकता। हाँ, उसे गांधी साधना कहा जा सकता है। वास्तव में गांधीवादी विचारधारा मानवता की उपासना का ही दूसरा रूप है। इसीलिए उसमें सत्य तथा अहिंसा को प्रधानता दी गई है। सुप्रसिद्ध विचारक काका कालेलकर का कहना है कि "गांधीमत की बुनियाद में मुख्य वस्तु है आत्मा की प्रधानता। मनुष्य का जीवन आज तो शरीर और आत्मा का विषम संसार है। आत्मा शरीर में रह कर शरीर के द्वारा अपना साक्षात्कार करना चाहती है, और शरीर आत्मा की वजह से कायम रह कर भी आत्मा का इन्कार करके उसे नीचे खींचना चाहता है। ऐसी दशा में शरीर-धर्म और आत्मा का धर्म इन दोनों के बीच के विरोध को पहचान कर आत्मा को प्रधानपद देना और शरीर को साधना के द्वारा काबू में लाकर आत्मा के वशवर्ती बनाना, यही गांधीजी की साधना का मुख्य स्वरूप है।" गांधीजी की विचारधारा पर गीता के अनासक्ति योग का प्रभाव तो है ही, गीता में प्रतिपादित आत्मा की अमरता और उसकी विशेषता का संदेश भी उसमें प्रति पग पर पाया जाता है।

आधुनिक युग के सुप्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक फ्रायड मन की तीन स्थितियाँ चेतन, अवचेतन और अर्धचेतन मानते हैं। उनका यह भी मत है कि अवचेतन मन चेतन मन पर प्रभाव डालता रहता है। यही कारण है कि मनुष्य की प्रत्येक प्रवृत्ति वासना प्रधान होती है। परन्तु अरविन्द घोष ऐसे विचारक इस बात को नहीं मानते। वे यह मानते हैं कि अर्धचेतन मन अपना प्रभाव डाल कर मन की स्थितियों में परिवर्तन कर सकता है। यही भारतीय विचार परंपरा है और इसका कारण मनुष्य की आत्मा की प्रधानता एवं अमरता मानना पड़ेगा। ऐसे अवसरों पर ही मनुष्य में विचारों की दृढ़ता का पूर्ण परिपाक हो जाता है और तब वह तुलसी के राम की भाँति कहने लगता है:

"जासु बिलोकि अलौकिक सोभा
सहज पुनीत मोर मन क्षोभा"

गांधीवादी विचारधारा का मुख्य आधार मन की अतिचेतन स्थिति और आत्मा की शाश्वत अभिव्यक्ति है। यही साहित्य का मुख्य आधार है। गांधी जी की विचारधारा का प्रभाव देश के अधिकांश कवियों की वाणी पर स्पष्ट रूप से लक्षित होता है और उन्होंने अपनी वाणी को "बापू की आराधना" का साधन बनाया। राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने बापू की मृत्यु के बाद "अञ्जलि और अर्घ्य" नामक पुस्तक लिखी उसमें उनकी बापू के प्रति हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित की गई है। आपने लिखा :

"तूने निज सर्वस्व आप ही दीन जान कर हमें दिया
और अंत में हमने तेरा प्राण रत्न भी लूट लिया"

श्री सियारामशरण जी ने तो बापू के बारे में बहुत ही कुछ कहा है और उनके जीवन में भी बापू का घनिष्ठ प्रभाव दिखलाई पड़ता है। वे सेवाग्राम में बहुत दिनों तक बापू के साथ रहे भी थे। आपकी पुस्तक "नोआखाली" इस दृष्टि से पढ़ने योग्य है। इसमें सांप्रदायिकता की संकीर्ण भावना पर बड़े मार्मिक ढंग से विचार व्यक्त किए गए हैं। उन्होंने कहा है :

"धर्म समझना है मनुजों का
तो अपने कवि से सुनजा
"धर्म धर्म" रटते हैं जो वे
धर्म बहाना है उनका।
बुझा नहीं भीतर का अब तक
कुप्रवृत्ति का आदमखोर
धर्म हुआ ऊपर का बाना
उसके नग्न निदारुण का।"

धर्म का सच्चा अर्थ न समझ कर उसे दिखावा समझ रखा गया है। यही कारण है कि आज संसार में मानवता का मूलोच्छेद होकर पशुता का दिन पर दिन विकास होता जा रहा है और वह विज्ञान जिसे मानवता का शृंगार होना चाहिए था, आज दानवता का पथ प्रशस्त कर रहा है। गांधी जी ने अपनी अंतर्दृष्टि से मानवता के सच्चे स्वरूप को पहचाना था और वे चाहते थे कि संसार में मानवता का विस्तार कर मनुष्य को सुखी और संतुष्ट बनाया जाए। आज का इन्सान क्या है और गांधी जी की प्रेरणा उसे किस ओर ले जाना चाहती थी, यह ब्राजिल की कवियित्री सेसिलिया मेइरलेस ने अपनी एक कविता में बड़े सुन्दर ढंग से व्यक्त किया है। यह कविता महात्मा गांधी की मृत्यु के बाद आपने लिखी थी। कविता का हिन्दी अनुवाद श्री देवेन्द्र सत्यार्थी ने अपनी पुस्तक "वन्दनवार" में दिया है, जो इस प्रकार है :

"इंसान अभी वहशी हैं, महिला!
हवा तुम्हारे जीवन को है छीन रही,
औ' मेरे जीवन का सर्वोत्तम भाग
वर्दी बिना, पताका बिना एक मनुज
वह गिरती दीवारों के बीच,
भारत की महिलाएँ झुकी हुई हैं,
आज दीर्घ निश्वासों की गठरी सी
जल रही तुम्हारी चिता,
तुम्हें गंगा ले जाएगी अब दूर
इक मुट्ठी भर राख जिसे जल चूमेगा समीप से,
जल से इसे उठाकर सूरज सौंपेगा ईश्वर को।"

कला और साहित्य में मानवता का प्रतिबिंब इसी प्रकार प्रकट होता है। कला हमारे जीवन की सहचरी बन कर चलती है, अनुचरी नहीं और यही कारण है कि कला में जीवन की सर्वतोमुखी प्रतिभा का समावेश रहता है। कला का भव्य प्रासाद मानवता की शृंखलाओं पर ही बनता है और प्रेम का माधुर्य उसमें स्वर्ग की सुषमा और शाश्वत आनन्द बिखेरता है। कला का प्रतिबिंब जलाशय या आकाश का प्रतिबिंब नहीं होता। कला का प्रतिबिंब तो मान्यताओं और अभिव्यक्तियों से विभूषित होता है। गांधी जी का जीवन स्वयं कलात्मक जीवन था और इसलिए कलाकारों की दृष्टि में उनके विभिन्न स्वरूपों की कल्पना जागृत होती है। हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि श्री सुमित्रानन्दन पन्त ने बापू के जीवन में पुरातन और नवीन का जो समन्वय देखा वह उनकी कविता में प्रकट हुआ है :

"तुम मांस हीन तुम रक्तहीन,
हे अस्तिशेष! तुम अस्तिहीन,

तुम शुद्ध बुद्ध आत्मा केवल,
हे चिर पुराण हे चिर नवीन।"

हिन्दी के क्रान्तिकारी कवि श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' तो बापू को "ओ क्षुरस्य धारा पथगामी" कह कर सम्बोधित करते थे। कविवर दिनकर बापू की मृत्यु के बाद कहते हैं :

"किरणें समेट फिर नबी एक
भूतल को कर श्रीहीन चला
फिर एक हठी मोहन यशुदा को,
सभी भाँति कर दीन चला।
चालीस कोटि के पिता चले,
चालीस कोटि के प्राण चले
चालीस कोटि हतभागों की
आशा, भुजबल, अभिमान चले।"

कविता में राष्ट्र की आत्मा और चालीस कोटि प्राणों का स्वर बोल रहा है। और ऐसा लगता है कि मानों कवि अपनी समस्त आत्मा की शक्ति बटोर कर वाणी द्वारा बापू के निकट प्रत्यक्ष रूप से अपनी श्रद्धांजलि अर्पित कर रहा है।

श्रीमती सुमित्रा कुमारी सिनहा ने अपनी कविता में बापू का वास्तविक जीवन चित्रित कर दिया है। वे कहती हैं :

"कंकालों में जीवन अमृत भरनेवाला बापू!
शान्ति प्रेम से स्वतन्त्रता को वरनेवाला, बापू!"

और

"रख न सके स्वर्गिक विभूति को मृत्यु लोक के प्राणी
स्वर्ग लोक में बुला ले गई, उसे सुरों की वाणी।"

श्री जगमोहन अवस्थी ने लिखा :

"पथदर्शक सिद्धान्त तुम्हारे प्रहरी होंगे युग के
अमर रहोगे सदा देवता बन क्षणभंगुर जग के"

बापू की मानवता उद्धारक भावना का साहित्यकारों विशेष कर कवियों पर प्रभाव पड़ना आवश्यक था। इसीलिए श्री शिवमंगलसिंह सुमन ने अपनी कविता "महानिर्वाण" में लिखा :

"युग युग से शोषित मानवता की
मुक्तिहेतु आह्वान किया,
समता, स्वतन्त्रता, शान्ति स्नेह
हित जीवन तक कुरबान किया।"

बच्चन, नरेन्द्र शर्मा तथा हिन्दी के प्रायः सभी कवियों ने किसी न किसी रूप में बापू के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की है और इसका कारण "यह है कि हिन्दी का कलाकार युग की प्रवृत्तियों से विमुख नहीं। उस पर युग और युग निर्माता का प्रभाव पड़ना भी स्वाभाविक है। रूसी कवि माइकावस्की का मत है कि "साहित्य क्षेत्र में केवल स्वस्थ दृष्टिकोण से काम नहीं चलेगा। अपनी कला और अभिव्यंजना को अपने साहित्यिक प्रतिद्वंदियों के स्तर तक उठना होगा।" यह तभी संभव है कि जब साहित्यकार युगद्रष्टा और युग की विचार परम्पराओं का ज्ञाता हो। बापू के प्रति व्यक्त की गयी साहित्यिक भावनाएँ केवल बापू के जीवन के बारे में नहीं, वरन् हमारे साहित्य की सजगता पर भी प्रकाश डालती हैं जिनके कारण भविष्य में हमारा साहित्य अमरता व शुचिता की ओर दिन पर दिन अग्रसर होगा।

—कालिकाप्रसाद, दीक्षित 'कुसुमाकर'

वर्धा

संसार में बहुत-सी प्रतिभा का विनाश ज़रा-से साहस के अभाव से हो जाता है। बहुत-से लोग जीवन में केवल इसलिए अप्रसिद्ध रह जाते हैं क्योंकि उनमें एक बार प्रयत्न करने का साहस नहीं होता।

—सिडनी स्मिथ

अंग्रेज़ी साहित्य

साधारणतया अंग्रेज़ी साहित्य में वे सब पुस्तकें अन्तर्गत हैं जो केवल अंग्रेज़ों ने ही नहीं अपि तु अटलाण्टिक पार के अमरिकी लेखकों ने भी लिखी हैं। कामनवैल्थ देशों के लेखकों ने अंग्रेज़ी साहित्य को अपने ही ढंग पर निर्माण किया है। भारतवर्ष ने अपने ही ढंग पर अंग्रेज़ी साहित्य की रचना की। कुछ भारतीय प्राध्यापकों ने अंग्रेज़ी साहित्य का गम्भीर अध्ययन किया और इंडो-ऐंग्लिकन साहित्य पर प्रबन्ध लिखे। कुछ भारतीय अंग्रेज़ी लेखकों ने अंग्रेज़ी गद्य पर ही नहीं परन्तु अंग्रेज़ी पद्य पर भी ऐसा अधिकार प्राप्त किया कि अंग्रेज़ों को भी आश्चर्य होता है। इनमें मदनमोहन घोष, तरुदत्त, सरोजिनी नायडू और इन सब से विशिष्ट श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अंग्रेज़ी साहित्य में विशेष सम्मान प्राप्त किया। श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर की अधिकांश पुस्तकें बंगाली में हैं जिनका उन्होंने बाद में अंग्रेज़ी में अनुवाद किया है। उनकी 'गीतांजलि' और अंग्रेज़ी की अन्य मौलिक पुस्तकों से उनके अंग्रेज़ी भाषा और शब्दों के संगीत पर विस्मयकारी अधिकार से परिचय प्राप्त होता है।

महात्मा गान्धी ने अंग्रेज़ी भाषा में अपनी ही एक विशिष्ट अनुकरणीय शैली में लिखा। उनकी भाषा सरल और एकदम सीधी है। परन्तु हम इस लेख में अंग्रेज़ी के अंग्रेज़ लेखकों के सम्बन्ध में ही लिखेंगे—इसमें स्काच, वैल्श और आइरिश भी अंतर्गत हैं।

आर्नोल्ड ने साहित्य का लक्षण किया है: "संसार में वह सर्वोत्तम वस्तु जो विचारी और अभिव्यक्त की गई है।" इस लक्षण के अनुसार अंग्रेज़ी साहित्य में उन सर्वोत्तम वस्तुओं का प्रकाश है जिनको इंग्लिस्तान में सोचा और कहा गया है। साहित्य एकमात्र सुन्दर लेखन का या अलंकृत शब्दावली का ही नाम नहीं है परन्तु एक महान् भाषा में महान् विचारों का नाम है। समस्त राष्ट्रीय साहित्य एक राष्ट्र के जीवन में एक विशेष दृष्टिकोण को प्रस्तुत करता है और अंग्रेज़ी साहित्य भी अंग्रेज़ों के जीवन और विचारों को उत्कृष्टतम रूप में प्रदर्शित करता है।

अंग्रेज़ी भाषा में जो विशेषताएँ हैं वे ही विशेषताएँ अंग्रेज़ी साहित्य में भी हैं। जैस्पर्सन ने अंग्रेज़ी भाषा का लक्षण निम्न प्रकार किया है:

"अंग्रेज़ी एक व्यवस्थित, शक्तिपूर्ण व्यवहारिक और गम्भीर भाषा है जो सूक्ष्मता और सौन्दर्य की परवाह नहीं करती परन्तु तार्किक सम्बद्धता की परवाह करती है और उन वस्तुओं का विरोध करती है जो पालिश के नियमों या व्याकरण या कोश के कठोर बन्धनों द्वारा जीवन को संकीर्ण बनाती हैं। जैसी भाषा होती है वैसा ही राष्ट्र होता है।

"क्योंकि शब्द प्रकृति के समान ही अन्तरात्मा को
आधा प्रकाशित करते हैं और आधा अप्रकाशित करते हैं"
(टैनीसन)

अंग्रेज़ी साहित्य की यही विशेषताएँ हैं। उसमें तेज या यौवन है, उसमें पुरुषत्व और सीधापन है जो कि अंग्रेज़ी साहित्य की विशेषता है। इसमें जितनी दृढ़ता है उतनी मृदुता नहीं। इसमें स्वप्नदर्शी भावुकता या कोमल सहानुभूति नहीं है। वह कविता जो अपने होठों को चुम्बन के लिए प्रस्तुत करती है—अंग्रेज़ी में प्रायः नहीं पाई जाती यद्यपि कई कवियों ने इस प्रकार के संगीतमय पद लिखे हैं। संभवतः इटली और फ्रान्स की कविताओं में इस प्रकार की चीज़ें बहुत मिलेंगी। रूस के साहित्य में रहस्यमय और आध्यात्मिक विशेषता है। भारतीय साहित्य में विशेषतया संस्कृत में महान् और उदात्त आदर्शवाद है जो कि अंग्रेज़ी साहित्य में बिलकुल नहीं पाया जाता।

यदि विश्व के साहित्य की तुलना में अंग्रेज़ी साहित्य पर विचार किया जाए तो हमें निराश होना पड़ेगा। शेक्सपिअर को छोड़कर इंग्लैण्ड ने और कोई भी प्रथम श्रेणी का कवि विश्व-साहित्य को नहीं दिया। बायरन का नाम यूरोप में प्रसिद्ध है परन्तु वह अंग्रेजी के सर्वोत्तम कवियों में नहीं है। अन्य अंग्रेज़ी गद्य या पद्य के लेखक इंग्लैण्ड या अंग्रेज़ी बोले जानेवाले देशों से बाहर अज्ञात हैं। यहाँ तक कि मिल्टन जो कि 'प्रकाश के पुत्रों में तीसरा' कहा जाता है विश्व के सब से महान् कवियों

में शायद ही आ सके। विश्व के महान् कवियों में होमर, वर्जिल, दान्ते, कालिदास और शेक्सपिअर के नाम गिने जाते हैं।

इसका मुख्य कारण यह है कि अंग्रेजी साहित्य विशिष्ट रूप से अँग्रेज़ जाति की भावनाओं का प्रतीक है। और कहा जा सकता है कि यह स्थानीय द्वीप में सीमित है। उदाहरणार्थ अँग्रेज़ी कहानियों में प्रेम और आचरण की बाह्य समस्याएँ नहीं हैं जो कि टालस्टाय, डोस्टोवस्की और चेखोव की रूसी कहानियों में पाई जाती हैं। अँग्रेज़ उपन्यासकार अँग्रेज़ जीवन और आचरण का ही चित्रण करते हैं। यद्यपि उनकी रचनाओं में महानता है परन्तु उनकी पुस्तकें विश्व की सर्वोत्तम कृतियों में नहीं आती।

अंग्रेज़ी साहित्य को "अहंकारी ग्रीस और आत्म-प्रशंसक रोम" से प्रेरणा प्राप्त हुई। अंग्रेज़ी साहित्य पर श्रेणिक परम्पराओं का प्रभाव पड़ा है। सत्य तो यह है जैसा कि प्रो. क्विलर कौज ने कहा है कि अंग्रेज़ी साहित्य का स्रोत ऐंग्लो-सैक्सन या मध्यकालीन स्रोतों की अपेक्षा ग्रीस, इटली और फ्रान्स से अधिक बना है। अंग्रेज़ प्रतिभा और स्वभाव की समझौते की ओर सदा प्रवृत्ति रही है। यही कारण है कि जब कि उन्होंने श्रेणिक परम्पराओं से रूप (Form) और शैली को पूर्णतया अपनाया है। दूसरी बातों में उन्होंने नए प्रयोग किए हैं और श्रेणिक परम्पराओं को इस तरह परिवर्तित किया है जिससे कि अंग्रेज़ प्रतिभा का परिचय प्राप्त होता है। जब कि त्रासद और कामद, प्रगीत और महाकाव्य श्रेणिक पाबन्दियों और नमूनों के आधार पर लिखे गए हैं सर्वोत्तम अंग्रेज़ी लेखकों की इनमें भी अपनी ही ऐसी स्वतन्त्रता और व्यक्तित्व अभिलक्षित होता है कि आश्चर्य होता है। सम्भवतः शेक्सपिअर श्रेणिक साहित्य के विषय में कुछ भी नहीं जानता था। परन्तु उसका युग श्रेणिक विद्वत्ता का युग था और यद्यपि वह "थोड़ी-सी ग्रीक और कुछ लैटिन" जानता था। वह नाटक के उन नियमों से अनभिज्ञ नहीं हो सकता जो कि अरस्तू ने अपनी पुस्तक 'पोएटिक्स' में लिखे हैं। इतने पर भी शेक्सपिअर की न तो कामद और न त्रासद ही स्पष्ट रूप से श्रेणिक आदर्शों के अनुसार लिखी गई हैं। बेन जौनसन श्रेणिक आदर्शों के अनुसार ही लिखते हैं परन्तु उनकी रचनाएँ शेक्सपिअर की रचनाओं के सामने निष्प्रभ हैं। इतना ही नहीं इंग्लैण्ड में एक नए प्रकार के ड्रामा का विकास हुआ जिसका नाम 'ट्रेज़ी कामेडी' (त्रासक-कामद) था। इस प्रकार के नाटक एकमात्र इंग्लैण्ड में ही लिखे गए। इसी प्रकार नाटक का इतिहास या नाटक का तिथि-क्रम भी पूर्ण रूप से अंग्रेज़ी ढाँचे के हैं। इस प्रकार की रचनाएँ १५८० से १५९० तक दस वर्षों में ही लिखी गईं और इन्हें शेक्सपिअर ने पूर्णत्व प्रदान किया। इसी प्रकार मिल्टन ने वर्जिल की शैली का अनुकरण किया है परन्तु स्पेन्सर ने 'एपिक' और 'रोमांस' के बीच के मार्ग का अनुसरण किया है।

इसी बात को ड्राइडन ने निम्न प्रकार कहा है :

"हमारे देश की प्रतिभा आविष्कार नहीं करती
परन्तु दूसरों की प्राप्तियों को
और अधिक उन्नत कर देती है।"

अंग्रेज़ी साहित्य में आध्यात्मिक रंग या विशेषता का अभाव है। अंग्रेज़ गूढ़ विचार या एकमात्र बौद्धिक विलास पसन्द नहीं करता। अंग्रेज़ी में धार्मिक या रहस्य-मय कविता बहुत कम है। यह कुछ डोने, क्रैशो, वौगन, हौपकिन्स और टौमसन की रचनाओं में मिलती है। अंग्रेज़ी कविता की बृहद् पूँजी को देखते हुए अंग्रेज़ी में धार्मिक या आध्यात्मिक कविताएँ इतनी कम हैं कि निराश होना पड़ता है। यदि हम रूसी उपन्यास 'दि ब्रदर्स कारमजोव' या कोई अन्य उपन्यास पढ़ें जो कि क्रान्ति से पूर्व लिखे गए हैं तो हमें आकर्षण का केन्द्र बिलकुल भिन्न दिखाई देता है। यह आत्मा है जो अपने आवेश में, अशान्ति में, सुन्दरता या कुरूपता के विस्मयपूर्ण मिश्रण में हमें सबसे अधिक आकर्षित करता है। परन्तु अंग्रेज़ उपन्यासकार या कवि के लिए 'आत्मा' नाम की वस्तु विदेशी है। यहाँ तक कि यह संवेदनविहीन है। वह आत्मा के प्रदेश का उपयोग नहीं करता। कुछ आधुनिक उपन्यासकारों ने (जैसे कि वर्जिनिया वुल्फ) ने अवचेतन के प्रदेश में प्रवेश किया है और चेतना की धारा में से उपन्यासों का निर्माण किया है। परन्तु यह आधुनिक वस्तु है और कुछ रूसी प्रभाव है। इंग्लैण्ड के महान् उपन्यासकारों ने 'आत्मा' को बिलकुल छोड़ दिया है और हमें एकमात्र बाह्य सज्जा और वस्तुओं, एकमात्र सामाजिक वातावरण या जीवन की घटनाओं को ही दिया है परन्तु 'आत्मा' को छोड़ दिया है। ब्राउनिंग

इसमें अपवाद है। वह 'आत्मा के विकास' हृदय की आत्मा के प्रयत्न और लक्ष्य के प्रति उत्सुक था। उसने इसके अतिरिक्त सब वस्तुओं को बेकार कहा। उसने अपने नाटकीय स्वगत कथनों को इसी सिद्धान्त के आधार पर लिखा। किसी और अंग्रेज़ी लेखक ने आत्मा की अमरता के विषय में नहीं लिखा। शेक्सपिअर की सर्वोत्तम त्रासद (Tragedy) अपनी ऊंची से ऊँची उड़ान में धर्मनिर्पेक्ष है–आध्यात्मिक नहीं। शेक्सपिअर नायक के मन की छटपटाहट को प्रदर्शित करता है—ऐसी घुटन जिसका अन्त मृत्यु में हो जाता है—वह मृत्यु के परे अमरता तक नहीं देख सकता। हम भारतवासी तो आध्यात्मिक प्रवृत्ति के कहे जाते हैं जो कि हमारी दृष्टि में दूसरे संसार के हैं। अंग्रेज़ी नाटक में यह एक बड़ी कमी हो सकती है। मैं न तो इस दोष को छुपाना चाहता हूँ और न उसे अनावश्यक रूप से विशद करके दिखाना चाहता हूँ। मैं मानता हूँ कि अंग्रेज़ी साहित्य में यह एक ठोस कमी है।

परन्तु इसकी क्षतिपूर्ति के साधन भी हैं। किसी दूसरी भाषा के साहित्य में जीवन का इतनी विविधताओं में, स्तरों, रंगों और प्रचुरता में इतनी गहराई से चित्रण नहीं हुआ है जितना कि अंग्रेज़ी साहित्य में। अंग्रेज़ी की कविताएँ और उपन्यास जीवन, प्रकृति, प्रेम, और मृत्यु से सम्बन्धित हैं। वे हमारे सम्मुख जीवन के दृश्य (Vision) को प्रस्तुत करते हैं जो कि धार्मिक या दार्शनिक नहीं है परन्तु मनुष्य में इस बात के विश्वास को बल देता है कि मनुष्य वीर बन सकता है।

"पुरानी कथाएँ तो शाश्वतिक हैं। प्रेम आज भी प्रत्येक प्रेमी के लिए एक नया चमत्कार है मानो कि वही पहले प्रेमी हैं और असंख्य लोगों ने सृष्टि के प्रारम्भ में प्रेम नहीं किया। मृत्यु मेरे और तुम्हारे लिए तुच्छ नहीं है क्योंकि जीवन के प्रारम्भ से यह सदा सर्वसाधारण के हिस्से में आती रही है; चाँद और तारे भी हज़ारों सदियों के व्यतीत हो जाने के पश्चात् भी लैबीलोन और ईजिप्त की नदियों के पास या इज़राइल की भूमि के पर्वत और शस्य क्षेत्रों में या अरब की गम्भीर शान्ति में चाँद और तारे पुराने नहीं हुए—जहाँ मनुष्य ने इनको देखा, सोचा-विस्मय किया और स्वप्न लिए।"

उन्होंने "प्रकृति के उस एक स्पर्श की प्रशंसा की है जो कि समस्त संसार को संबद्ध कर देता है।" उन्होंने "हृदय के प्रेम की पवित्रता, जीवन के उन्मत्त आह्लादों की प्रशंसा और स्तुति की है—जीवित रहना कितना अच्छा है, जीवन कितना अच्छा है—यही उनके लिखने का विषय है इससे हमें उनके उन पदों का तात्पर्य ज्ञात होता है जिसमें 'आनन्दमय और पुरानी शराब' की प्रशंसा की गई है।" जीवन की अच्छाई, सौन्दर्य और प्रेम का बार बार वर्णन किया है।

अंग्रेज़ कवि चौसर से कीट्स तक सब ने सौन्दर्य की यहाँ तक प्रशंसा की है :

> "Beauty is truth, Truth Beauty,
> That is all ye know on earth
> And all ye need to know"
>
> 'सौन्दर्य सत्य है और सत्य सौन्दर्य
> समस्त पृथ्वी में तुम यही एक बात जानते हो
> और यही एक बात है जिसे तुम्हें
> जानने की आवश्यकता है।'

— एम. एस. दोरास्वामी

उस्मानिया यूनिवर्सिटी,
हैदराबाद-दक्षिण

जो भी मनुष्य सत्यतापूर्वक जीवन व्यतीत करना चाहता है उसे जीवन में ख़तरों को अवश्य मोल लेना पड़ता है। यदि मनुष्य अपने को ख़तरों से बचाने के लिए अपने चारों ओर बाड़ें ही बाड़ें खड़ी कर ले तो वह अपने जीवन को चारों ओर से बन्द कर लेगा।

—केनेथ एस. डेविस

लाल क्राँति का कवि : मायाकोवस्की

मायाकोवस्की सोवियत संघ की नई ज़िन्दगी और उसके नए सपनों का कवि था और उसकी मृत्यु के पश्चात स्तालिन ने कहा था : 'मायाकोवस्की हमारे समाजवादी युग का सबसे अधिक प्रतिभा-सम्पन्न कवि था और अब भी है। उसकी याद के प्रति उदासीनता दिखाना अपराध होगा।" लाल क्रान्ति को गर्व के साथ उसने 'अपनी क्रांति' कहा और अनेक आलोचकों की टीका-टिप्पणियों के बावजूद उसने अपनी प्रतिभा को उस क्रान्ति के दुश्मनों के विरुद्ध एक अस्त्र की भाँति प्रयुक्त किया। उसने समाजवादी व्यवस्था को ताक़तवर बनाने के लिए कवि-योद्धा का धर्म अपनाया और इश्तहारों, चित्रों, व्यंग्य-चित्रों और राज्य की ओर से विज्ञापन के लिए शीर्षकों और छोटी-छोटी कविताओं द्वारा उसकी अच्छाइयों का प्रचार किया, उसके संदेश को उस विशाल संघ के गाँव-गाँव नगर-नगर में पहुँचाया। अपने बीस वर्षों के कार्य की प्रदर्शिनी के अवसर पर स्वयं अपने विषय में उसने यह कहा था : "एक क्रान्तिकारी कवि का काम पुस्तकें लिख कर ही समाप्त नहीं हो जाता; सभाएँ, भाषण, उत्तम हास्यपूर्ण कविताएँ, विचारों के प्रचार के लिए एक दिन के अवसर विशेष पर लिखी गई छोटी-छोटी नाटिकाएँ, रेडियो पर उसकी ज़िन्दा आवाज़ और ट्रामगाड़ियों पर बड़े-बड़े अक्षरों में लिखे गए नारे—ये सभी समान रूप से और कभी-कभी बहुत ही बहुमूल्य कविता के उदाहरण हैं।" प्रदर्शिनी के विषय में उसने यह लिखा था : "इस प्रदर्शिनी का उद्देश्य यह सिद्ध करना है कि एक क्रान्तिकारी लेखक ह्रासशील व्यक्ति नहीं होता जिसकी कविता छपने के बाद आलमारी के सबसे ऊपरी दराज़ में पड़ी-पड़ी धूल में दब जाए, बल्कि एक क्रान्तिकारी लेखक प्रतिदिन के कार्य में और समाजवाद के निर्माण में बहुत ही सक्रिय भाग लेता है। यह बतलाते हुए कि उसे सोवियत संघ में जो कुछ भी हो रहा है उसमें रुचि है—चाहे वह फैक्टरियों में काम करनेवालों के लिए छोटे-से-छोटे नियम हों या कोई और बड़ा काम हो—उसने लिखा था : "यह चीज़ मेरी क़लम को और मेरे कवि को अपनी ओर खींच लेती है और मैं इसे लम्बकेशी गीतकारों के अत्यधिक, अलौकिक, प्रेरणापूर्ण विषयों से कहीं अधिक महत्वपूर्ण समझता हूँ। क्यों मैं किसी प्रेमी और उसकी प्रेमिका के प्रेम के विषय में लिखने के लिए अपने को बाध्य मानूँ और क्यों न मैं अपने को इस राज्य का एक अंग मानूँ जो एक नई ज़िन्दगी रच रहा है। इस प्रदर्शिनी का विशेष उद्देश्य यह सिद्ध करना है कि कवि वह नहीं है जो घुँघराले बालोंवाले मेमने की भाँति प्रेम के गीत मिमियाता फिरे, बल्कि वह है जो हमारे तीव्र वर्ग-संघर्ष में अपनी क़लम को सर्वहारा के हाथों में एक अस्त्र बना कर रखता है और जो किसी भी गंदे या परिश्रम-साध्य काम को, क्रान्ति के सम्बन्ध में किसी भी विषय को या जनता द्वारा खेती में किसी नई योजना के निर्माण को घृणा की दृष्टि से नहीं देखता और जो इनमें से किसी पर भी प्रचारात्मक कविताएँ लिखता है।" इस प्रकार मायाकोवस्की ने लाल-क्रान्ति में अपने को घुला-मिला दिया था और उसी की ज़मीन और हवा-पानी में पनपा। उसकी प्रत्येक धड़कन उस नई ज़िन्दगी की धड़कन थी, उसका प्रत्येक सपना उस नई ज़िन्दगी का सपना था। इसीलिए क्रान्ति के बाद लिखी गई एक कविता के नीचे उसने अपना नाम नहीं दिया क्योंकि उसके अनुसार उसकी कविता को लिखनेवाली सोवियत संघ की सारी जनता थी :

"१,५०,०००,००० व्यक्ति बोलते हैं
मेरी जीभ पर"

व्लादिमीर व्लादिमिरोविच मायाकोवस्की का जन्म जार्जिया के एक प्रांत में बगदादी नाम के गाँव में हुआ था। यह गाँव चारों ओर ऊँचे पहाड़ों से घिरा हुआ था और हर जगह अंगूर की बेलें फैली हुई थीं। पहाड़ के क़दमों में लकड़ी के लट्ठों के बने हुए घर थे। एक तेज़ सोते के किनारे स्थित ऐसे ही घर में मायाकोवस्की परिवार रहता था। स्वयं मायाकोवस्की ने अपनी रोमानी प्रवृत्तियों का कारण इसी प्राकृतिक सौन्दर्य को बतलाया था।

क्रान्ति की भी दीक्षा मायाकोवस्की को बचपन में ही मिल गई। १९०५ की क्रांतिकारी घटनाओं ने उस पर

क्या प्रभाव डाला होगा यह एक पत्र से स्पष्ट है जो उसने मास्को में रहनेवाली अपनी बड़ी बहन को लिखा था :

"प्रिय लूडा,

तुम्हारा पत्र मिला और उसके मिलते ही हम सब उत्तर लिखने के लिए बैठ गये । अभी तक कोई भयानक चीज़ कुताइस में नहीं हुई है, हालाँकि अपर स्कूल और तिजारती स्कूल में हड़ताल रही । हड़तालें करने के लिए काफ़ी कारण थे । तोपों का मुँह अपर स्कूल की तरफ़ कर दिया गया और उन सबों ने तिजारती स्कूल में तो और भी तारीफ़ का काम किया, उन्होंने तोपों को अहाते में लाकर खड़ा कर दिया और यह घोषणा कर दी कि अगर किसी ने अपनी ज़ुबान भी खोली तो सारे स्कूल की वे धज्जियाँ उड़ा देंगे ।

"कोसक सिपाहियों ने 'चकाचौंध' कर देने वाली एक दूसरी विजय त्बीलिसी में प्राप्त की । अपर स्कूल के लड़कों को यह हुक्म दिया गया कि वे सिर से टोपियां उतार कर निकोलस की उस मूर्ति को, जो हमारे सामने जुलूस में लाई गई थी, सलाम करें और जब विद्यार्थियों ने इससे इन्कार कर दिया तो कोसकों ने उन पर गोलियाँ चलाईं ।"

इस समय मायाकोवस्की की उम्र बारह साल की थी । १९०६ में उसके पिता की मृत्यु हो गई और मायाकोवस्की ने लिखा है कि उनको दफ़नाने के बाद परिवार के पास तीन रुबल भर रह गए थे । कुर्सियां और मेज़ें बेचकर सारा परिवार मास्को चला आया जहां उनका कोई विशेष परिचय न था । भर पेट खाना भी मिलना मुश्किल था । पिता की मृत्यु के बाद परिवार को केवल १० रुबल पेन्शन के मिलते थे । काम चलाने के लिए मायाकोवस्की की माँ ने कुछ विद्यार्थियों को किराये पर टिका लिया था । ये विद्यार्थी समाजवादी थे और मायाकोवस्की उनके सम्पर्क में आकर मार्क्स, एंगेल्स और लेनिन को पढ़ने लगा । १९०८ में वह बोल्शेविक पार्टी का सदस्य बन गया । मार्च १९०८ और जुलाई १९०९ के बीच तीन बार ज़ार की पुलिस द्वारा गिरफ़्तार कर जेलों में डाला गया । अंतिम बार की गिरफ़्तारी में वह ११ महीनों तक बुतिर्की के जेल में रखा गया ।

११ महीनों का यह समय उसके जीवन में बहुत ही महत्वपूर्ण और एक नई दिशा का समय था । जेल में उसने बहुत अधिक और भिन्न भिन्न प्रकार के साहित्य का अध्ययन किया । उसने नए साहित्य का अध्ययन किया, प्रतीकवादियों और फिर बायरन, शेक्सपिअर और लिओ टालस्टाय की रचनाओं को देखा । उसने नई शैलियों और काव्य के रूपों का भी विस्तृत अध्ययन किया । उसके हृदय में इस प्रकार समाजवादी साहित्य और शैली निर्माण करने का उत्साह जगा । जेल से छूटने के बाद इस काम में पूरी तरह से लग जाने के विचार से उसने बोल्शेविक पार्टी को छोड़ दिया । इस समय के अपने मानसिक संघर्ष के विषय में मायाकोवस्की ने लिखा है : "मैं जेल से बाहर एक मानसिक उथल-पुथल लेकर आया । जिन लेखकों को मैंने पढ़ा था वे महान् कहे जानेवाले लेखक थे । लेकिन उनसे कहीं अधिक अच्छा लिखना कितना आसान था । मैंने दुनिया के प्रति एक सही दृष्टिकोण प्राप्त कर लिया था । मुझे बस कला के क्षेत्र में अनुभव की जरूरत थी । मुझे यह कहाँ मिल सकता था ? मैं अभी अधकचरा था । मेरे लिए पक्की ट्रेनिङ्ग की जरूरत थी । अनेक हाई स्कूलों ने मुझे ठुकरा दिया था, स्ट्रागनोवस्की के स्कूल ने भी । पार्टी में रहने का मतलब था लुकछिप कर रहना । और मैंने सोचा कि लुकछिप कर रहने का मतलब यह होगा कि मैं अपने अध्ययन को पूरा न कर पाऊँगा । यानी भविष्य में मेरे लिए सिर्फ यह काम रह जाता -- ज़िन्दगी भर इश्तहार लिखना और किताबों से सही विचारों को लेकर उन्हें फिर से सजाना, उन विचारों को जिन्हें मेरे मस्तिष्क ने नहीं निकाला था । जो कुछ मैंने पढ़ा अगर वह मुझ से छीन लिया जाता तो मेरे पास शेष क्या रहता ? मार्क्सवादी प्रणाली : संभवतः यह एक अबोध बालक के हाथों पड़ गई थी । किसी प्रणाली का प्रयोग उस समय सरल हो जाता है जब कोई उसे अपने विचारों में लागू करे । लेकिन मेरी जब शत्रुओं से मुठभेड़ हो जाती हैं तब ? आखिर मैं बेली (एक रूसी प्रतीकवादी कवि) से अच्छा नहीं लिख पाता ।...अतीत की काव्य शैली के विरुद्ध, जो मेरे ऊपर एक ग्लेशियर की भाँति टूट पड़ी थी, मैं कौन-सी चीज़ रख सकता था ? क्या क्रांति के लिए गंभीर ट्रेनिंग की आवश्यकता न थी ! मैं मेदयेदेव के पास, जो मेरा पार्टी कामरेड था, गया; उससे कहा कि, मैं समाजवादी कला का निर्माण करना

चाहता हूँ। वह बहुत देर तक हँसता रहा और तब कहा: "तुम कायर हो।" मैं अब भी सोचता हूँ कि उसे मेरे साहस का पूरा अनुमान न था। मैंने पार्टी का काम छोड़ दिया और अध्ययन में लग गया।"

लेकिन प्रारंभ असफलता से हुआ। "मुझे ऐसा जान पड़ता कि मैं कविता लिख नहीं सकता। मेरे प्रयत्न दयनीय होते। मैं चित्रकला की ओर मुड़ा।" बाद में मायाकोवस्की एक ऐसे स्कूल में भर्ती हुआ जहाँ चित्रकला, मूर्तिकला इत्यादि की शिक्षा दी जाती थी और यहाँ बड़े ही नाटकीय ढंग से उसकी मित्रता बरल्यूक नाम के विद्यार्थी से हुई। वही मायाकोवस्की को कविता में 'भविष्यवाद' (Futurism) की ओर ले आया। एक रात मायाकोवस्की ने अपने साथी को अपनी कुछ कविताएँ सुनाई। बरल्यूक ने उसकी ओर देखते हुए कहा : "तुमने यह सब कुछ खुद लिखा है! तुम में बहुत प्रतिभा है।" इस प्रशंसा ने मायाकोवस्की को उमंग से भर दिया और उसी के शब्दों में "मैं कविता में डूब गया। उस रात को मैं अकस्मात् कवि बन गया।" फिर तो बरल्यूक ने हर एक व्यक्ति से उसे 'प्रतिभावान' कह कर उस पर कविता लिखने के लिए दबाव डालना शुरू किया। उसने कहा—"देखो, अब तुम लिखते चलो! नहीं तो तुम्हारी वजह से लोग मुझे खासा मूर्ख समझ लेंगे।" बरल्यूक ने ही मायाकोवस्की को फ्रांसीसी और जर्मन कवियों की भी रचनाएँ सुनाईं। उसने ही मायकोवस्की को आधा रुबल प्रतिदिन देना शुरू किया ताकि वह अपना लिखना भूख की चिंता से मुक्त रह कर जारी रखे। थोड़े ही समय बाद मायाकोवस्की का परिचय रूस के दो और उदीयमान कवियों से हुआ जिनका नाम ख्लेब्नीकाफ़ और क्रुचेनिख था। इन सब लोगों ने मिलकर भविष्यवादी कला का घोषणा-पत्र १९१३ में निकाला और अपनी रचनाओं का संकलन "सामाजिक रुचि पर थप्पड़" (A Slap at Public Taste) शीर्षक से निकाला।

इस काल का भी मायाकोवस्की के कवि-जीवन में बड़ा महत्व है। उसने स्वयं इसके संबंध में यह लिखा है: "मेरे लिए यह काव्य के रूप पर श्रम करने का काल था, काव्यमय शब्द पर अधिकार प्राप्त करने का काल।" इसे स्मरण रखना इसलिए और भी अधिक आवश्यक है कि मायाकोवस्की की प्रचार-वृत्ति के नीचे कुछ लोग उसकी कलाकारवाली प्रतिभा नहीं देख पाते। मायाकोवस्की की कविता अधिक से अधिक प्रचारात्मक होती गई, उसने अधिक से अधिक तथा कथित अकाव्यमय विषयों को चुना, लेकिन कहीं भी कविता के संवाद में कमी नहीं आई। सही शब्दों के चुनाव में मायाकोवस्की उतना श्रम करता था जितना श्रम उस खान खोदनेवाले को करना पड़ता है जो हजारों टनों की चट्टानों को काट कर तब कहीं कीमती खनिज को प्राप्त करता है।

मायाकोवस्की की प्रारंभिक रचनाएँ नगर के जीवन तक सीमित हैं। किन्तु नगर का जो चित्र हमारे सामने आता है वह चौड़ी चौड़ी सड़कोंवाला, रोशनी में नहाता हुआ अमीरों का नगर नहीं, वरन् उनका है जो भूख और बेबसी में अपनी छोटी-छोटी कोठरियों में पड़े ज़िंदगी गुजार देते हैं और जिनकी मुसीबतों पर ध्यान देने के लिए अमीरों के पास वक्त नहीं। इस काल की रचनाओं में उसकी सबसे प्रसिद्ध रचना है उसका दुःखांत नाटक जिसका शीर्षक स्वयं मायाकोवस्की का अपना नाम है। इसमें कवि बेबसों के प्रति अपनी सहानुभूति, अपना प्रेम अभिव्यक्त करता है; वे भी उसके पास आते हैं किन्तु, कवि उनके प्रति गहरी सहानुभूति के सिवाय और कुछ उन्हें नहीं दे पाता। इस प्रकार इन रचनाओं में समाज की शोषण व्यवस्था के प्रति असंतोष है, किन्तु भविष्य की गोद में पल रही क्रांति का कोई संकेत नहीं।

१९१४ के महायुद्ध की घोषणा के बाद मायाकोवस्की का विचार हुआ कि फ़ौज में भर्ती होकर वह युद्ध के भीषण जीवन को समीप से देखे, किन्तु वह खतरनाक व्यक्ति समझा जाने के कारण सेना में नहीं लिया गया। युद्ध की विभीषिकाओं के बढ़ने के साथ-साथ उसके प्रति मायाकोवस्की की घृणा भी बढ़ती गई। इसी समय उसने एक कविता लिखी—"आह, बन्द कर दो, आह बन्द कर दो अखबारों की आँखों को।" इसी भाव की अनेक कविताएँ उसने लिखीं। जिन्दगी में एक ऐसी पस्तहिम्मती आई कि कला में भी उसकी रुचि घट गई।

१९१५ में कुछ पैसा हाथ आने पर वह फिनलैण्ड चला गया। इसी वर्ष उसकी प्रसिद्ध कविता "A Cloud in Trousers" लिखी गई, जब मायाकोवस्की अपने ही शब्दों में "सुन्दर—बाईस वर्ष का नौजवान" था। इस कविता की प्रेरणा कवि को अपने असफल प्रेम से मिली।

ओडेसा में कवि मार्या अलेक्ज़ेंड्रोविना नाम की १७ वर्ष की एक अत्यन्त सुन्दर और चतुर लड़की के प्रेम में **बन्दी** हो गया। कवि के जीवन में प्रेम का यह पहला उदय था और वह उसके साथ पागल-सा हो उठा। इस कविता में उसने पूँजीवादी संस्कृति के अंगों पर इन चार भागों में आक्रमण किया—१ "तुम्हारा प्रेम मुर्दाबाद" २ "तुम्हारी कला मुर्दाबाद" ३ "तुम्हारा समाज मुर्दाबाद" ४ "तुम्हारा धर्म मुर्दाबाद।" इस कविता के सम्बन्ध में हर्बर्ट मार्शल का, जिसने इसका अंग्रेज़ी में अनुवाद किया है, यह कहना है : "पाठक को यह ध्यान रखना चाहिए कि यह कविता रूस में १९१५ में लिखी गई थी, ज़ारशाही के ज़माने में, एक साम्राज्यवादी युद्ध के दौरान में और उस समय जब मायाकोवस्की पर 'भविष्यवाद' का सबसे अधिक प्रभाव था। इस पृष्ठभूमि से यह कविता इस प्रकार ऊपर उठती है मानो निश्चय ही यह एक ऐसे व्यक्ति की अन्तिम निराश पुकार हो जो विश्व के सामने निरावरण और अकेला खड़ा हो :

"मेरी अन्तिम पुकार
कम से कम तुम
आनेवाले युगों के भीतर अपनी चीख भर जाओ
और कहो कि मैं जल रहा हूँ जल !"

'भविष्यवादी' कला और विचारधारा में प्राचीनता के प्रति विद्रोह की भावना इस कविता में बड़े जोरदार शब्दों में उसने व्यक्त की :

"दादा लोगों की मधुरता से मैं रिक्त हूँ
मेरी आत्मा में एक भी पका बाल नहीं
दुनिया को अपनी बिजली जैसी तड़प से गुंजाता हुआ
मैं चला आता हूँ—सुन्दर
बाईस वर्ष का नौजवान !"

भविष्य की ओर देखता हुआ कवि बोला :

"मैं 'शून्य' कहता हूँ
उस सबको जो पहले हो चुका है।"

मानवता के प्रति जो अगाध श्रद्धा इस कविता में उमड़ती दीख पड़ती है उसका उदाहरण वाल्ट ह्विटमैन की कविताओं के अतिरिक्त शायद ही कहीं मिले। उसने लिखा :

"जीवित मनुष्य का लघुतम कण भी
अधिक बहुमूल्य है उस सब से जो कुछ
मैंने किया है या करता हूँ।"

और—

"प्रार्थनाओं से कहीं अधिक सत्य
स्नायु और रक्तवाहिनी नसें हैं।"

लेकिन इस कविता का सब से अधिक महत्व इस बात में है कि यहाँ हम सब से पहले मायाकोवस्की की विचारधारा को एक ठोस रूप लेते देखते हैं। इसी कविता में उसने शीघ्र आनेवाली लाल क्रान्ति की घोषणा की। मायाकोवस्की का मानवता-प्रेम वर्ग-संघर्ष के रास्ते में रोड़ा नहीं था। वह जानता था कि बिना वर्ग-संघर्ष के मानवता की मुक्ति नहीं होने की। इसलिए उसने टालस्टाय की भाँति क्षमा, अहिंसा इत्यादि का नारा नहीं उठाया। उसने क्रान्ति की घोषणा, उसकी भविष्यवाणी अत्यन्त दृढ़ शब्दों में की :

"मैं,
जिसका मेरे युग के सहधर्मी उपहास करते हैं
तिरस्कृत क्षीण तुक जैसा समझ कर,
वह चीज देखता हूँ जिसे और नहीं देखते
समय के पर्वतों के ऊपर से होकर आती हुई
जहाँ मनुष्य की दृष्टि नहीं पहुँच पाती
भूखे हुए लोगों की भीड़ में
क्रान्ति का काँटोंवाला ताज पहने हुए
१९१६ को देखता हूँ
और तुम्हारे बीच मैं इसकी भविष्यवाणी करनेवाला हूँ
जहाँ कहीं भी व्यथा है वहाँ मैं हूँ
हर एक गिरती हुई आँसू की बूँद पर
क्रास पर लटके ईसा मसीह की वेदना मुझे होती है
लेकिन हर प्रकार की क्षमा को खत्म करने की
घोषणा करता हूँ मैं।"

इस कविता के कुछ अंशों को मायाकोवस्की ने सब से पहले गोर्की को सुनाया था और उन्हें सुन कर गोर्की उसके कन्धे पर सिर धर कर रोने लगा था। यह कविता उस समय के समाज को ही चुनौती न थी बल्कि उस समय की कविता को भी क्योंकि मायाकोवस्की ने अपनी क्रान्तिकारी विचारधारा के लिए कविता

की एक नई शैली का भी निर्माण किया। इस कविता में उसने नए ढंग से तुकों और पंक्तियों का व्यवहार कर एक अत्यन्त ओजपूर्ण शैली निकाली जो वाल्ट ह्विटमैन की शैली का प्रवाह निर्माण करने के साथ–साथ शब्दों के चुनाव में कहीं अधिक सावधानी और मितव्ययता बरतती थी। इस कविता में मायाकोवस्की का प्रयोगवादी और नया रूप उभर कर सामने आया।

इसी वर्ष मायाकोवस्की को सेना में जबरन भर्ती कर लिया गया किन्तु मायाकोवस्की इस साम्राज्यवादी युद्ध में जान देने के लिए तैयार न था। इसलिए उसने बहाना बना कर मोर्चे पर जाने से अपने को बचा लिया। गोर्की के कहने से उसने कुछ कविताएँ लिखीं जिसमें "युद्ध और विश्व" कविता काफ़ी प्रसिद्ध है और जिस पर ज़ार-शाही के सेन्सर ने पाबन्दी लगा दी थी। इन कविताओं में साम्राज्यवाद और युद्ध के प्रति घृणा अभिव्यक्त की गई थी। लेकिन मायाकोवस्की लाल क्रान्ति के कुछ पूर्व निराशा की एक गहन निशा में खोया-सा जान पड़ता है। यह समय क्रान्ति से पहले के उन छः महीनों का है जब रूस में घोर सामाजिक अशान्ति और निराशा का वातावरण था। उसे अपनी शक्ति और प्रतिभा में विश्वास था किन्तु वह वातावरण उसे न मिलता था जिसमें वह उनका उपयोग कर सके। इसलिए उसने लिखा :

"किस रुग्ण और
सन्निपात की रात्रि में
किस दानव के हाथों ने
मेरा निर्माण किया
जो मैं इतना विशाल हूँ
किन्तु इतना
निरर्थक !"

अक्तूबर १९१७ की क्रांति ने उसे वह वातावरण दिया। मायाकोवस्की की सहानुभूति हमेशा रूस की बोल्शेविक पार्टी से रही और क्रांति की घड़ी में भी, जब वह सरकारी सेना में था, उसने मेन्शेविकों और करेन्सकी के विरुद्ध लिखा था। इसलिए क्रांति का उसने खुले दिल से स्वागत किया। अक्तूबर क्रांति के प्रति अपने रुख का ज़िक्र उसने अपनी आत्मकथा में इन शब्दों में किया है : "इसे स्वीकार किया जाय या अस्वीकार ? मेरे सामने यह सवाल कभी उठा ही नहीं। यह तो मेरी अपनी क्रांति है।" काननयान ने जो कवि का मित्र रह चुका है, एक महत्वपूर्ण दस्तावेज़ का ज़िक्र करते हुए इस सम्बन्ध में लिखा है : "अभी हाल में ही एक मज़ेदार डाकुमेंट लेनिनग्राद में प्राप्त हुआ है, जो कलाकारों के यूनियन की उस मीटिंग की रिपोर्ट है जो १७ नवम्बर १९१७ की क्रांति के कुछ दिन बाद हुई थी। इस बैठक ने शिक्षा के मंत्री ल्यूनाचार्स्की द्वारा देश की कला के संगठन के लिए एक प्रस्ताव पर विचार-विनिमय किया गया था। उपस्थित लोगों में से कुछ ने बोल्शेविकों द्वारा राज्य सत्ता को हाथ में ले लिए जाने की तीव्र निन्दा की और यह प्रस्ताव रखा कि सरकार से कोई सहयोग न किया जाय। बहुमत किसी निर्णय पर नहीं पहुँच सका और चुप साधे रहा। केवल मायाकोवस्की एक सीधा और साफ़ प्रस्ताव लेकर आगे आया : 'नई सत्ता का स्वागत किया जाय और उससे सम्पर्क बढ़ाया जाय।'

क्रांति के बाद की कविताओं में समाजवाद और नई जिन्दगी के लिए मायाकोवस्की का उत्साह उमड़ पड़ता है। इस नए उत्साह की सुन्दर अभिव्यक्ति उसके नाटक "Mystery Bouffe" में हुई जिसमें नाटक, महाकाव्य, विद्रूप सब शैलियों का उपयोग कर मायाकोवस्की ने समाजवादी व्यवस्था के निर्माण की तस्वीर खींची है। एक इंजिनियर पात्र इस काव्य-नाटक में यह कहता है :

"हम अनेक पृथ्वियों के निर्माता हैं,
ग्रहपिण्डों का शृंगार करने वाले
हम चमत्कारों के स्रष्टा हैं
सूर्य की किरणों के
चमकीले झाड़ू बना, हम साफ़ कर देंगे
बादलों को आसमान से
बिजली की सहायता से।
दुनिया की सरिताओं को हम मधु की धार बना देंगे।
दुनिया के कूचों पर हम चमकते सितारे जड़ देंगे।"

समाजवादी क्रांति की प्रशंसा में सोवियत साहित्य में यह पहला नाटक था और अपनी शैली के दृष्टिकोण से भी यह सर्वथा नवीन था।

उसने सरकार द्वारा स्थापित कला-विभाग को अपना सहयोग दिया और अपने युग के कवियों को भी इस नई जिन्दगी को ताक़त पहुँचाने के लिए संदेश दिया।

लगातार मायाकोवस्की की कविताएँ राजनीतिक विषयों पर और समाजवादी कला के समर्थन में निकलने लगीं। उसकी कविता की शैली और उसकी विचारधारा यथार्थ के नज़दीक आती गई। मायाकोवस्की को अपनी कविताएँ मज़दूरों और आम जनता के बीच सुनाने के निमंत्रण मिलने लगे और इसका बड़ा ही अच्छा असर उसकी शैली पर पड़ा। मायाकोवस्की ने आमफ़हम शब्दों और तथाकथित अकाव्यमय शब्दों का सफल प्रयोग कर समाजवादी यथार्थवाद की नींव को और मजबूत बनाया। उसकी प्रसिद्ध कविता "लेफ्ट मार्च" १९१८ में लाल जहाजियों के बीच सुनाने के लिए लिखी गई थी और इसमें हम मायाकोवस्की की इस नई दिशा का संकेत पाते हैं। उस कविता की अंतिम पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :

"कहीं गरुण पथी की दृष्टि कमज़ोर पड़ती हैं ?
क्या हम प्राचीन पर आँखें गड़ाते जाएँगे ?
सर्वहारा की अंगुलियाँ
ज़ोर से पकड़ चुकी हैं
इस दुनिया की गर्दन
सीना तानकर ! कंधा सीधा रख !
उमड़ते हुए लाल झंडों को आसमान में गाड़ दो !
ओ, कौन है जिसका दाहिना पैर उठ रहा ?
लेफ्ट !
लेफ्ट !
लेफ्ट !"

लाल क्रांति के पश्चात् सोवियत संघ को भीतरी और बाहरी दुश्मनों के आक्रमणों से बचाने और अपने देश में समाजवादी-व्यवस्था को शक्ति प्रदान करने के लिए मायाकोवस्की ने जिस प्रकार अपनी प्रतिभा का एक अस्त्र की भाँति प्रयोग किया वह संसार के साहित्य में एक बेजोड़ चीज़ है। सन् १९२० में उसने लगभग ३००० पोस्टरों और उनके लिए उचित ६००० शीर्षकों की सृष्टि की। ये पोस्टर दुकानों की अगली खिड़कियों पर चिपकाए जाते थे और उनके द्वारा समाजवादी सरकार की छोटी से छोटी योजनाओं की अच्छाई पर प्रकाश डाला जाता था। डेनिकिन और उसके साथियों की निन्दा व्यंग्य चित्रों द्वारा की जाती थी। उनके विरुद्ध और बाहरी दुश्मनों की सेनाओं से लड़ती लाल सेना के लिए जाड़े के कपड़े एकत्र करना, साबुन बनाने की विधि, अनुशासन की भावना को जाग्रत करना, खेती के सामानों का सहकारी स्वामित्व, रक्त-रोग से पीड़ित बच्चों को कुकुरमुत्ते खिलाना——इन सब बातों का प्रचार इन पोस्टरों द्वारा किया जाता था और मायाकोवस्की ने इसमें अपने कवि या कलाकार के धर्म का अपमान न समझा। इस प्रचार के द्वारा कवि की राजनीतिक समझ बढ़ती गई और उसने देश के प्रति अपनी प्रतिभा के उत्तरदायित्व की अनुभूति और परख की। इसलिए गृहयुद्ध के खत्म हो जाने पर भी मायाकोवस्की ने अपना प्रचारात्मक काम खत्म नहीं किया क्योंकि गृहयुद्ध के बाद देश को निर्माण के मोर्चे पर मज़बूत बनाना था। एक लम्बे अर्से के बाद मायाकोवस्की ने १९२२ में अपनी कविता "कान्फरेन्सों के सम्बन्ध में" लिखी जिसमें सहानुभूतिमय व्यंग्य की शैली में कम्यूनिस्टों की अटूट कान्फरेन्सों का मज़ाक किया गया था। लेकिन फिर भी पोस्टरों और शीर्षकों द्वारा प्रचार का काम बन्द नहीं हुआ। १९२२ से लेकर १९२५ तक के समय में उसने धर्म, शराबखोरी इत्यादि के विरुद्ध और शिक्षा और संस्कृति की विकास-योजनाओं के प्रशंसात्मक चित्रों की सृष्टि की। १९२२ के बाद उसने रोज़मर्रा की समस्याओं पर अनेक कविताएँ लिखीं और किसी भी अवसर विशेष के लिए मायाकोवस्की की कविता सम्पादकों के निमन्त्रण के पहले ही अक्सर तैयार रहती थीं। कातनयान का कहना है कि कवि अक्सर सम्पादकों के निमन्त्रण का यह उत्तर देता था : "हाँ, मुझे मालूम है। मैं इसे आधी पहले ही लिख चुका हूँ।"

लेनिन की मृत्यु दुनिया के सर्वहारा वर्ग पर बिजली टूटने के समान थी। मायाकोवस्की ने लेनिन की मृत्यु पर जो रचना की शायद वह उसकी सुन्दरतम सृष्टि है। इस कविता में लेनिन के महान् व्यक्तित्व का जो महत्व दुनिया की मेहनतकश जनता के लिए था उसे मायाकोवस्की ने परख कर अभिव्यक्ति दी। कविता का प्रारम्भ शोक की सघनता से होता है लेकिन उसका अन्त विजय और उल्लास के साथ होता है क्योंकि लेनिन की ज़िन्दगी सर्वहारा वर्ग की विजय की दृढ़ नींव पड़ जाने के बाद ही खत्म हुई थी। कवि ने मौत के बाद भी लेनिन के हाथों में दुनिया के सर्वहारा वर्ग का झण्डा देखा और उसने पुकारा :

"मेहनतकशो!
उठो
अन्तिम लड़ाई के लिए कमर कस कर!
अपनी पीठ सीधी करो
अपने घुटनों पर से उठ खड़े हो
सर्वहारा की फ़ौज
तुम्हारे लिए रुकने का मौक़ा नहीं।
इनक़िलाब ज़िन्दाबाद,
खुश हो और जल्दी करो!
यह सब से महान् युद्ध है
उन महान् युद्धों में
जो इतिहास के पन्नों में लिखे हैं।"

इस कविता में लेनिन का महान् व्यक्तित्व, उनकी संगठन करने की शक्ति, सर्वहारा के दुश्मनों के विरुद्ध उनकी मोर्चेबन्दी में चतुरता, योद्धा के साथ-साथ उनमें महान् विचारक की प्रतिभा और प्रखरता—इन सब के दर्शन हमें होते हैं। इस कविता में मायाकोवस्की एक तपे हुए बोल्शेविक कवि के रूप में आया और उसने अपनी वाणी और शक्ति को सर्वहारा वर्ग को समर्पित करते हुए ये पंक्तियाँ लिखीं :

"गर्जना करनेवाली अपनी सारी कवि-शक्ति
तुम्हें समर्पण करता हूँ
ओ दुश्मन पर धावा बोलनेवालों के वर्ग!
'प्रालीतारियत'—यह शब्द—
भद्दा और कुरूप है
उनके लिए
जिनके लिए कम्यूनिज़्म
मौत-सी भयानक व्याधि है
किन्तु हमारे लिए
यह एक शब्द
इतना प्रबल संगीत है
कि वे भी
जो मौत में सो रहे हैं
उठ कर युद्ध के लिए तैयार हो जाते हैं।"

१९२२ के बाद मायाकोवस्की लगभग हर साल दूसरे देशों के भ्रमण के लिए निकल जाता था। स्वयं अपने देश का कोना-कोना उसने देख रखा था और एक स्थान से दूसरे स्थान जाकर कभी विद्यार्थियों के बीच, कभी साधारण नागरिकों के बीच, कभी नाविकों के बीच और कभी खान के मज़दूरों और सिपाहियों के बीच वह अपनी कविताओं का पाठ करता रहता था। इससे उसे सोवियत संघ की नई ज़िन्दगी को नज़दीक से देखने का मौक़ा मिलता था और साथ ही अपने सुननेवालों के संपर्क में आने से मायाकोवस्की अपनी शैली में भी आवश्यक विकास करता गया। १९२६ में अपने कार्य के इस पक्ष पर दृष्टि डालते हुए उसने कहा था : "मैं फ्रांस के प्राचीन प्रेमगाथा गानेवाले कवियों और चारणों की परम्परा जीवित करता हूँ और एक नगर से दूसरे नगर अपनी कविताएँ सुनाता फिरता हूँ।" मायाकोवस्की अपने सुननेवालों में बहुत शीघ्र ही प्रिय हो जाता था। आकर्षक व्यक्तित्व और उसकी कविताओं में समाजवाद के निर्माण और सपनों की तसवीर के अतिरिक्त उसकी वाणी में एक महान् वक्ता की ओजस्विता थी और इसके कारण उसकी कविताओं का ज़ोरदार प्रभाव सुननेवालों पर पड़ता था। उसके साथ काम करनेवाले पी० लाउत ने इन सफ़रों का बड़ा ही रोचक वर्णन किया है और वहाँ हमें मायाकोवस्की के व्यक्तित्व के अनेक पहलुओं की झाँकी मिलती है।

अपने देश के अतिरिक्त मायाकोवस्की ने यूरोप, अमरीका और मेक्सिको इत्यादि का भी भ्रमण किया। यह भ्रमण केवल तफ़रीह के लिए न था बल्कि वह ज़िन्दगी को नज़दीक से देखना चाहता था और सोवियत संघ और पूँजीवादी देशों की ज़िन्दगियों के अन्तर को देख कर वह गर्व से सिर उठा लेता था। उसकी कविता "मेरा सोवियत पासपोर्ट" में सोवियत संघ की नागरिकता का अभिमान फूटा पड़ता है। दूसरे देशों के अधिकारियों को, जो उसकी ओर घूर-घूर कर देखते हैं, वह उसी तरह घूरते हुए और गर्व से कहता है :

"पढ़ो इसे
और ईर्ष्या करो
मैं नागरिक हूँ
समाजवादी सोवियत संघ का!"

अमरीका की उत्पादन प्रणाली से वह प्रभावित हुआ लेकिन उसकी बर्बरता से भी वह परिचित था; इसलिए न्यूयार्क के सम्बन्ध में लिखी गई अपनी एक कविता में उसने कहा :

"न्यूयार्क को देख किसे आश्चर्य नहीं होगा ?
इसलिए मुझे भी आश्चर्य होता है
किन्तु मैं उसको श्रद्धा नहीं दे सकता
मैं अपना सिर उसे नहीं झुका सकता ।
हम सोवियतवाले
जानते हैं कि कहाँ सिर झुकाना चाहिए
सरमायदारों के सामने
कभी नहीं ।"

मायाकोवस्की का यह अदम्य उत्साह, उसकी कला की यह जानिबदारी, प्रतिक्रियावादी रैप (Rapp) की आँखों में खटकती थी । इसलिए उन्होंने मायाकोवस्की पर निरन्तर आक्रमण करते रहने का षड्यन्त्र रचा और कहते रहे कि उसने कला को धूल में मिला दिया है । उसमें समाजवादी कला को निर्माण करने की क्षमता नहीं है, वह न तो जनता के निकट है और न वह जनता के हित की परवाह करता है । इस प्रकार का आक्रमण समय-समय पर उसकी रचनाओं और उस पर होता रहा । मैक्सिम गोर्की को ज़हर द्वारा मार डालने के षड्यन्त्र जैसा ही भीषण षड्यन्त्र यह भी था । असफल प्रेम, गिरते स्वास्थ्य और इस प्रकार के रोगों से क्षुब्ध हो कर इस महान् योद्धा-कवि ने १९३० में आत्महत्या कर ली । आज इन आरोपों को सुन कर कोई भी व्यक्ति क्रुद्ध हुए बिना नहीं रह सकता लेकिन मायाकोवस्की के जीवन काल में इन आरोपों द्वारा काफ़ी भ्रम पैदा किया गया था । लेकिन आज मायाकोवस्की सोवियत संघ की पीढ़ी का सब से अधिक प्रिय कवि है । श्रीमती लेनिन ने लेनिन के सम्बन्ध में अपने संस्मरणों में लिखा है कि एक स्थान पर नौजवानी के बीच लेनिन ने पाया कि वे पुश्किन से कहीं अधिक प्यार मायाकोवस्की से करते थे । इससे मायाकोवस्की की हत्या के पीछे सोवियत के नागरिकों की उदासीनता न थी, वरन् उसके विरुद्ध गन्दे प्रचार का एक गुट द्वार षड्यन्त्र था ।

हर्बर्ट मार्शल ने इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कि क्यों मायाकोवस्की साथ ही साथ एक लोकप्रिय कवि और क्लासिक भी है यह लिखा है कि "वह क्लासिक अपनी मौलिकता और काव्य् के रूप की पूर्णता के कारण है और अपनी कविता में लोकप्रिय आज की जिन्दगी के रोजमर्रा विषयों के कारण ।" मार्शल ने मायाकोवस्की और प्राचीन ग्रीस के योद्धा कवियों में समानता का ज़िक्र करते हुए यह भी लिखा है ; "निस्सन्देह यह देखने की चीज़ है कि क्लासिक ग्रीस और आज के रूस के महान् कलाकारों में कैसी समानता है । वे क्रांतिकारी कलाकार भर नहीं है, वरन् क्रांतिकारी और कलाकार हैं । और जिस तरह एसकिलस की समाधि पर मरथान में उसकी बहादुरी की प्रशंसा खुदी हुई है और उसकी नाटक सृष्टि करने की शक्ति की नहीं, उसी प्रकार मायाकोवस्की की यादगार पर ये शब्द खोदे जा सकते हैं : "यह व्यक्ति १९०९ में बोल्शेविक था ।"

लाल क्रांति ने मायाकोवस्की की कविता के विषय और उसकी कला में भी क्रांति की । प्रारम्भ का व्यक्तिवादी कवि अब समाज की हर धड़कन की लय में अपने दिल और दिमाग़ की धड़कन मिला कर रहने लगा । गृहयुद्ध के ज़माने में किसी आलोचक ने १९ वीं सदी के रूस के प्रसिद्ध कवि नेक्रासोव के बारे में उसकी लिखित राय जाननी चाही । पहला प्रश्न इस प्रकार था—"क्या आपको नेक्रासोव की कविताएँ पसन्द हैं ?" मायाकोवस्की का उत्तर था—"कुछ कह नहीं सकता । इस प्रश्न पर मैं गृहयुद्ध खत्म हो जाने के बाद विचार करूँगा।" मायाकोवस्की क्रांति के पश्चात् अपनी कला को जागरूक बनाकर समाजवाद का अस्त्र बनाने में लगा रहा । उसने अपने एक लेख में लिखा कि वह स्वयं अपनी कविताओं को इन दो कल्पना-चित्रों से आँकता था : "यदि सारे कवि अपनी कब्रों से बाहर निकल आएँ तो वे यह अवश्य कहें : "हमारे समय में ऐसी कविताएँ न थीं । न तो हमने ऐसी कविताएँ देखी थीं और न यही जानते थे कि उन्हें कैसे लिखा जाता है । दूसरे, यदि अतीत अपनी कब्र से बाहर उठ खड़ा हो—ह्वाइट गार्ड्स और वे सब लोग जो पुरानी व्यवस्था को फिर से क़ायम करना चाहते हैं—तो मेरी कविताओं में वह अभिशाप होना चाहिए जो उनका पता चला ले और उनका विनाश कर दे ।"

अक्तूबर क्रान्ति के पहले भी मायाकोवस्की की सामाजिक चेतना जगी हुई थी किन्तु उसे दिशा भ्रम भी हो जाता था । अक्तूबर क्रान्ति के पहले १९१५ में उसने अपने साथी कवियों से चुनौती के स्वर में पूछा था :

"और तुम
जो एक चाँद को देख कर काँप उठते हो

और शेखी मारते हो कि तुम एक भव्य युग के
अभिभावक हो
आज के लिए लिखने को तुम्हारे पास है क्या ?
किसी भी सालिसिटर के सहयोगी के लिए
जिन्दगी
सौगुनी अधिक रुचिकर है जितनी तुम्हारे लिए
संभ्रान्त कविगण !
क्या तुम्हारा मन भरा नहीं
दूतों से
महलों से
प्रेम से
और बकाइन के फूलों से ?
अगर तुम्हीं जैसे लोग
स्रष्टा हो सकते हैं
तो मैं सारी कला पर थूकता हूँ ।"

और १९२८ में उसने अपने भविष्यवादी साथियों को आगे बढ़ने का बुलावा देते हुए लिखा था :

"वही सच्चा कम्यूनिस्ट है
जो इसलिए कि लौटा न जा सके पुल को जला देता है
धीरे धीरे चलना छोड़ो, भविष्यवादियो !
और कूद पड़ो भविष्य में ।"

उसने इस नई ज़िन्दगी को एक यथार्थवादी की भाँति देखा। मायाकोवस्की ने लाल क्रान्ति को आसमान में तारों की भाँति न देख कर उसे अपने देश की जनता की ज़िन्दगी में सुख, समृद्धि और एक ऊँची मानव संस्कृति के निर्माण के रूप में देखा। इसलिए उसने इस क्रान्ति और उसकी नई व्यवस्था से निकटतम सम्बन्ध क़ायम किया। जैसा कि कातनयान ने कहा है मायाकोवस्की के लिए क्रांति एक विषय मात्र न थी वरन् वह क्रांति के लिए ही जीता था। १९२४ में पुश्किन की जयंती के अवसर पर उसने ये पंक्तियाँ लिखी थीं :

"अब हमारी क़लमें
संगीनें बन गई हैं
और हमारे दाँत
इस्पात की भाँति मज़बूत ।
क्रांति की लड़ाइयाँ
'पोल्तोवा'[1] की लड़ाइयों से कहीं अधिक अहम हैं
और प्यार कहीं ज्यादा भव्य है
ओनेजिन[2] के प्यार से ।"

अपनी कविता "बीस वर्ष" में आने वाली पीढ़ियों को संबोधित करते हुए उसने कहा :

"मैं चाहता था
तुम्हारे लिए लिखूँ
प्रेम—गाथाएँ
वे आकर्षक होती हैं
और उनसे द्रव्य-लाभ भी होता है
लेकिन मैंने अपने को वश में रखा
और पैरों के नीचे घोंट डाला
स्वयं अपने गीतों का गला ।
सुनो !
साथी उत्तराधिकारियों और वंशजों
एक प्रचारक को,
लाउड-स्पीकर-इन-चीफ़ को :
भीषण रव
कविता का प्रलय प्रवाह,
मैं तुम्हारे पास चला आ रहा हूँ
गीतों के संग्रहों को पार करता
और मैं जीवित व्यक्ति की भाँति
जीवितों से बोलता हूँ ।"

मायाकोवस्की के विषय में यह कहा जाता था, विशेषतः उन आलोचकों की ओर से जो किसी भी प्रयोग के विरोधी थे, कि उसने कविता को एक स्वतः प्रसूत, स्वांतः सुखाय और उसके ब्रह्मानन्दी ऊँचे स्तर से उतार कर फैक्टरियों में आर्डर पर बने हुए माल के स्तर पर ला दिया है। स्वयं मायाकोवस्की का उत्तर यह था कि कवि और प्रकार के निर्माताओं से भिन्न नहीं है और उसकी रचना किसी ब्रह्मानंद का फल नहीं, वरन उसकी जागरूक चेतना का फल है। इसलिए उसने अपनी कविता "घर की ओर" में १९२५ में लिखा था :

---

[1] पुश्किन रचित एक कविता जिसमें पोल्तोवा की लड़ाई का वर्णन है। इसमें पीटर महान् ने स्वीडेन के बादशाह चार्ल्स बारहवें को हराया था।

[2] पुश्किन की सबसे प्रसिद्ध रचना "यूजीन ओनेजिन" का प्रेमी-नायक।

"मैं चाहता हूँ कि योजना कमीशन
पसीने से तर हो जाए बहस करते करते
कि मुझे कितनी कविता का निर्माण करना है
राज्य की निर्माण-योजना के भाग के रूप में"

क्योंकि :

"मैं महसूस करता हूँ
कि मैं एक सोवियत फैक्टरी हूँ
जहाँ सुख का निर्माण होता है।"

उसी कविता की अंतिम प्रसिद्ध पंक्तियों में उसने यह अभिलाषा प्रकट की :

"मैं चाहता हूँ कि क़लम
बन्दूक़ की बराबरी करे
और उसकी गणना हो
लोहे के साथ
उद्योग में,
और यह कि पोलित ब्यूरो के कार्यक्रम में
विषय नम्बर एक
स्तालिन की रिपोर्ट हो--
'कविता का उत्पादन'"

और मायाकोवस्की की क़लम बन्दूक़ के बराबर थी। पिछली लड़ाई के ज़माने में फाशिस्तों के खिलाफ़ लड़ते हुए सोवियत संघ के सिपाही मायाकोवस्की की कविताओं को चाव के साथ मोर्चे पर पढ़ते थे। मायाकोवस्की की कविताओं में घोर निराशा के बीच भी आशा का संदेश है और उसने बहुत पहले ही फाशिस्तों की बर्बर योजनाओं की ओर संकेत करते हुए लिखा था :

"जब तुम्हारे सामने
खड़ा हो जाय
फाशिस्तों का टिड्डी-दल
उस समय ऐसा न हो
कि तुम्हारे हाथ तलवार पर न हों।"

उसने फाशिस्तों के विरुद्ध मोर्चेबंदी का आदेश देते हुए कहा था :

"जहाँ कहीं भी
ज़मीन पर,
सूरज की रोशनी पड़ती है
वहाँ सबका नारा होना चाहिए
एक सा
बोलो--
फाशिस्तों से
संगीतों की प्रखर बुद्धि से;
गोलियों के शब्दों में आग की जीभ से।"

फाशिस्तों के विरुद्ध अनवरत युद्ध की आवश्यकता की यह भविष्यवाणी और समाजवादी मानवता और संस्कृति के प्रति मायाकोवस्की का उमड़ता हुआ उत्साह और प्रेम---ये चीज़ें थीं जो युद्ध में लगे हुए सोवियत सिपाहियों को अपने देश की रक्षा और संसार को फाशिज़्म से बचाने के लिए दृढ़ता से मुक़ाबिला करने की शक्ति में योग देती थीं।

लेकिन मायाकोवस्की की महानता केवल उसके विषयों पर ही नहीं है बल्कि इस पर भी कि उसने अपने नए विषयों के लिए कविता की ऐसी शैली का निर्माण किया जिसमें :

"गोली सा--स्वरपात
और तुक--जैसी एक मकान से दूसरे मकान में
गोलियों की बौछार हो।"

मायाकोवस्की की काव्य-शैली उसके विचारों और भावों पर और भी तेज़ सान चढ़ा देती है। मायाकोवस्की ने सजग कलाकार की भाँति एक नई काव्य शैली का निर्माण किया---जैसा कि उसने अपने एक लेख "कविता लिखने का ढंग" में लिखा था : "काव्य रचनाओं में नवीनता अनिवार्य वस्तु है।" और यह नई शैली एक ऐसे मुक्त काव्य के रूप में आई जिसमें बोलचाल के स्वरपात की सुन्दरता, भाषण-कला में स्वरों के आरोह-अवरोह की प्रेषणीयता, गीतिकाव्य की व्यक्तिगत अनुभूति और तीव्रता--इन सबका अत्यन्त प्रभावोत्पादक प्रयोग किया गया। मायाकोवस्की ने रूसी कविता की क्रान्तिकारी परम्परा को जीवित रखने के साथ-साथ उसे एक नया रूप दिया और इस दृष्टिकोण से पुश्किन और उसके बीच इतना महान् कवि कोई और नहीं।

मायाकोवस्की मध्यम सुरोंवाली मीठी-मीठी आवाज़ का कवि नहीं--उसमें भीषण प्रवाह है। वह पंचम स्वर का कवि है। उसकी कविता में पहाड़ों की, चट्टानों की विराट् भव्यता के साथ साथ एक सजग सुगढ़ता है।

१५५३

अपनी कविता का चित्र उसने इन पंक्तियों में खींचा था :

"मेरी कविता
ज़ोर लगा कर
बोझिल युगों को चीरती हुई
बाहर निकलती है
विचार मग्न
चट्टान की भाँति परुष
युगों की भाँति भीषण
जैसे कि आज
कोई पानी का बम्मा निकलता है
जो कभी मज़बूती से गाड़ा गया था
रोम के दागे हुए दासों द्वारा।"

इस दृष्टिकोण से मायाकोवस्की और वाल्ट ह्विटमैन में बहुत कुछ समानता है किन्तु शब्दों के चुनाव में मायाकोवस्की ने वाल्ट ह्विटमैन से अपेक्षाकृत मितव्ययता से काम लेकर और प्रभाव की प्रबलता अक्षुण्ण रख कर अपने को कहीं अधिक बड़ा कलाकार सिद्ध किया है शब्दों के चुनाव के विषय में मायाकोवस्की ने कहा था : "हम चाहते हैं कि भाषा का हरएक शब्द बम की तरह धड़ाका करे, चोट में दर्द की भाँति चुभे या विजय के तुमुल नाद-सी ध्वनि उत्पन्न करे। कविता की व्यंजना शक्ति को उसकी सीमा तक पहुचा देना चाहिए।" और मायाकोवस्की की यह शैली स्वाभाविक शैली थी क्योंकि उसकी कविताएँ कमरे में बैठे हुए एक-दो आदमियों के पढ़ने के लिए नहीं थीं बल्कि मैदानों, फैक्टरियों और हालों के विशाल समूहों के लिए।"

इसी के फलस्वरूप मायाकोवस्की की शैली पर एक दूसरा प्रभाव यह पड़ा कि उसने धड़ल्ले के साथ बोलचाल और असाहित्यिक समझे जानेवाले शब्दों का और गालियों का भी प्रयोग किया। कविता में प्राचीनतावादी आलोचक इसकी बड़ी कटु आलोचना करते थे और इसे वे मायाकोवस्की में एक उथले प्रयोगवाद की प्रवृत्ति मात्र कहते थे। इस सम्बन्ध में मायाकोवस्की ने एक सभा में यह उत्तर दिया था : "यहाँ एक साथी का कहना है कि इन अभद्र शब्दों का लिखने में प्रयोग कर, जब कि हम ज़िन्दगी में उनका प्रयोग न करते, कोई समाजवाद का निर्माण नहीं कर सकता। यह सोचना निरा भोलापन होगा कि मैं उन शब्दों के सहारे समाजवाद का निर्माण करना चाहता था। ये साथी सही हैं—आप समाजवाद का किन्हीं भी शब्दों के सहारे निर्माण नहीं कर सकते। मैंने उन शब्दों का इस्तेमाल इसलिए नहीं किया है। मुझे भी यह चीज़ भाती है जब कोई कवि यथार्थवाद की ओर से अपनी आँखें मूँद कर मधुर मधुर-स्वरों में गाता है, लेकिन कोई उसे कुत्ते का पिल्ला समझ कर उसकी नाक सीधे ज़िन्दगी में जा कर लगा दे तो? यह तो काव्य की एक शैली भर है।"

बहुत से लोगों का यह विचार था कि मायाकोवस्की प्राचीन कवियों की सारी परम्परा को खतम कर रहा था। स्वयं मायाकोवस्की अपने प्रयोगवाद का आशय यह कभी नहीं समझता था। उसका तो यह कहना था कि समाजवादी व्यवस्था की नई ज़िंदगी और उसके नए मानों में साहित्य रचना के पुराने मान नहीं काम दे सकते। उसका प्रयोगवाद नए विषयों और नए पढ़ने और सुनने वालों के लिए एक नई शैली ढूँढने का प्रयत्न था। उसी सभा में इस सम्बन्ध में मायाकोवस्की ने यह कहा था : 'एक साथी का कहना है कि मैं साहित्य के प्राचीन ग्रन्थों के सौन्दर्य को खतम कर रहा हूँ। मैंने इस प्रकार की मूर्खता का कोई काम नहीं किया है।...अगर मैं उनके ख़िलाफ़ कभी भी युद्ध करता हूँ तो इसलिए नहीं कि उनका अन्त कर दिया जाय। मैं चाहता हूँ कि उनका अध्ययन हो, उनका विश्लेषण हो और जो कुछ भी उनमें मज़दूर वर्ग के हित का हो सकता है उसका इस्तेमाल हो। लेकिन उन्हें आप आँख मूँद कर स्वीकार नहीं कर सकते।" प्राचीन साहित्य को देखने का यह तरीक़ा मार्क्सवादी तरीक़ा था और लेनिन ने अभिजातवर्गीय संस्कृति के प्रति यही दृष्टिकोण अपनाया था।

मायाकोवस्की के काव्य का अत्यन्त व्यापक प्रभाव सोवियत संघ के कवियों पर पड़ा है। मायाकोवस्की के शैली के क्षेत्र में प्रयोग आज सोवियत की अनेक रिपब्लिकों में कवियों के लिए प्रकाश-स्तम्भ की भाँति हैं। ऐजरबैजान, तुर्कमेनिया, कज्ज़ाकिस्तान आदि की रिपब्लिकों में कवियों ने मायाकोवस्की की ही भाँति बोलचाल के शब्दों और काव्य में सम्बन्ध जोड़ने का सफल प्रयोग किया है, जहाँ पहले अरबी और फ़ारसी के शब्दों की भरमार रहती थी। मायाकोवस्की के उदात्त रूपकों और चित्र योजनाओं की शैली का भी प्रभाव सोवियत संघ के अनेक कवियों पर पड़ा है। असमेव, किरसनोव, तिखो-

नोव इत्यादि कवियों को हम मायाकोवस्की की परम्परा के कवि कह सकते हैं। मायाकोवस्की ने सोवियत साहित्य में जो क्रांति की उसके प्रति श्रद्धा प्रकट करने के लिए ही उसके साथी कवि असयेव ने उसे लेकर एक महाकाव्य की सृष्टि की है और मायाकोवस्की के व्यक्तित्व के क्रांतिकारी महत्व को बतलाते हुए लिखा है :

"हमारा यह मित्र आने वाले दिनों में दिखाई पड़ेगा
मेक्सिको में,
पेरिस में,
कोकेशस की खड्डों में,
दुनिया को अपनी विशाल आँखों से आर-पार
देखता हुआ—
घुटी हुई दाढ़ी मूछों में उत्सुक मुस्कुराहट लिए हुए
और पत्थर की सड़ी हुई मूर्त्ति की भाँति नहीं
या काँसे की निर्जीव मूर्त्ति-सा
या प्राणहीन मिट्टी के लौंदे-सा
बल्कि मानवीय मुस्कुराहटों के साथ
यह व्यक्ति जीवित रहेगा
निरंतर जैसे खून दौड़ता है
आदमी की नसों में"

मायाकोवस्की ने सोवियत काव्य में शैली और विषय में जनवादी परम्परा को समाजवादी दिशा दी और उसके कारण आज उसे हर सोवियत नागरिक के दिल और दिमाग में आदर का-स्थान प्राप्त हुआ है और उसी की अभिव्यक्ति स्तालिन ने मायाकोवस्की के सम्बन्ध में कहे गए इन शब्दों में की थी : मायाकोवस्की हमारे समाजवादी युग का सबसे अधिक प्रतिभावान कवि था और अब भी है। उसकी याद के प्रति उदासीनता अपराध होगा।"

—चन्द्रबलीसिंह

उदय प्रताप कालेज,
बनारस

मराठी की कहावतें

लोका सांगे तत्वज्ञान आपण कोरडा पाषाण.
लोगों को तत्वज्ञान सुनाते हैं स्वयं बिलकुल पत्थर हैं

घरचें झालें थोडें आणि व्याह्यानें धाडलें घोडें.
घर में पहले ही कमी थी—उस पर समधी ने घोड़ा भेज दिया

दुष्काळांत तेरावा महिना.
पहले ही दुष्काल था उस पर तेरह महीने का साल हो गया

भटाला दिली ओसरी, भट हातपाय पसरी·
भट्ट जी को थोड़ी सी जगह रहने को दी—उन्होंने अपने हाथ पैर फैला लिए

उतावळा नवरा गुडघ्याला बाशिंग.
उतावला दूल्हा सेहरे को घुटने पर बाँधता है

आधींच मर्कट तशांतही मद्य प्याला.
पहले ही था बन्दर फिर उसने पौ लिया शराब

—ललिता देवी

हैदराबाद

रवीन्द्र साहित्य में नारी

जन्म से मृत्यु तक, सुख में, दुःख में, विषाद में, हास्य में, रुदन में, सर्वदा किसी न किसी रूप में नारी के साथ प्राणीमात्र का सम्बन्ध बना ही रहता है। कोई भी नारी से बच कर नहीं रह सकता। नारी विविध रूपों में सदा साथ रहती है। और इसी कारण कहा जा सकता है कि संसार के समस्त साहित्य का ९० प्रतिशत अंश नारी के क्रिया कलापों, उसकी विविध लीलाओं से भरा पड़ा है। नारी पुरुष के लिए सदा से एक पहेली ही रही है। और कवियों के लिए तो और भी ज्यादा रहस्यमय रही है और है। इस बात में कोई सन्देह नहीं कि पुरुष नारी से कभी उऋण नहीं हो सकता। आधुनिक नारियों के सम्बन्ध में लिखते हुए रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने स्वयं इनके ऋण को स्वीकार किया है--"जिन्हें तुम आधुनिका कहती हो, उन्हें मैं पहिचानता हूँ, और (सच पूछो तो) कवि-यश के लिए उन्हीं के निकट बारह आने का ऋणी हूँ। आधुनिका के ही हाथ मैंने 'यत्परो नास्ति' (जिस से अधिक हो नहीं सकता उतना पुरस्कार भी पाया है, दण्ड भी पाया है। सबूत भी रख गया हूँ। इस काल की रमणी के रमणीय तालों में ही इस रमणी के रक्त का छन्द बँधा हुआ है। नजदीक पाऊँ या खो दूँ, तथापि उसी की स्मृति से आज भी मेरे गानों में सुर-सौरभ जगा करता है। जो मनोलोक में माधुरी निकुंज की दूती हैं, मैंने तो उन्हीं का गुण गुंजार किया है। पुरुष कवि के भाग्य में कोई शुभ ग्रह है, इसीलिए उसके प्रति यह महान् अनुग्रह सदा होता आया है :

"आधुनिका जारे बलो तारे आमि चिनि जे,
कवि यशे तारि काछे बारो आना ऋणी जे।
तारि हाते चिर दिन यत्परो नास्ति,
पेयेछि पुरस्कार, पेयेछिअने शास्ति।
प्रमाण गियेछि रेखे, ऐ कालिनी रमणीर,
रमनीय ताले बांधा छन्द ऐ धमनीर।
काछे पाइ हाराइ-वा-तबू तारि स्मृतिते,
सुर सौरभ जागे आजो मोर गीतिते।
मनोलोके दूति जारा माधुरी निकुंजे,
गुंजन करियाछि ताहादेरि गुण जे।
से कालेओ कालिदास वररुचि आदिरा,
पुर-सुन्दरीदेर प्रशस्तिवादीरा।
जादेर महिमा-गाने जागालेन वीणा रे,
ताराओ सबाइ छिलो अधुनार किनारे।
ताहादेरि कल्याणे काव्यानुशीलना-
पुरुष कविर भाले आछे कोनो सुग्रह,
चिरकालताइ तारे एत महानुग्रह।"

रवीन्द्रनाथ के साहित्य में इसी स्त्री-रूप-कूल में बँध कर प्रेम और कल्याण की निर्मल धारा नाना रूपों में बही है। उनके विभिन्न ग्रन्थों में हम नारी के विभिन्न रूपों को देख सकते हैं। वे सभी उनकी रचनाओं में एक-एक पूर्ण और विशिष्ट रूप को प्राप्त हुए हैं। उन जीवन्त रूपों में सदियों की सताई हुई, अपनी आन पर जान देने वाली, प्रेम में पागल, कर्तव्य पर सब कुछ न्यौछावर करनेवाली तथा परिवार के लिए प्राण देनेवाली स्त्रियों के दर्शन मिलते हैं। जो नारी देश के घर घर में माँ, बहन, कन्या, और पत्नी रूप में अपने को भुला कर समय बिता रही है, उसे हमारे कवि ने अमर देवी के आसन पर बिठलाया है। अपने 'दुई बोन' में कवि ने स्त्रियों की दो जातियाँ मानी हैं—एक तो प्रधानतः 'माँ' की और दूसरी 'प्रिया' की। 'माँ' को उन्होंने वर्षा ऋतु—जलदान देने वाली, फलदान देनेवाली और ताप से बचानेवाली माना है और प्रिया को वसन्त ऋतु—अत्यन्त गम्भीर एवं रहस्यमय माना है; जिसकी चंचलता रक्त में एक तरंग पैदा कर देती है।

उनके काव्य साहित्य में भी इसी तरह के दो नारी रूपों को हम देखते हैं—एक उर्वशी का और दूसरा लक्ष्मी का।

"कौन क्षणे
सृजनेर समुद्र मन्थने
उठे छिलो दुई नारी—अतलेर शय्या तले छाड़ि।
एक जना उर्वशी सुन्दरी—
विश्वेर कामना-राज्ये रानी—

स्वर्गेर अप्सरी
अन्यजना लक्ष्मी से कल्याणी---
विश्वेर जननी ताँरे जानि
स्वर्गेर ईश्वरी ।''

एक मादक सौन्दर्य से हृदय को पागल बना देती है, किन्तु दूसरी अपनी श्री, ह्री और कल्याण से शान्ति की वर्षा करती है । एक को सम्बोधन करके कहते हैं—'हे अनन्त यौवना उर्वशी, तुम क्या कभी भी बारी उम्र की अविकसित कलिका नहीं थी' :

''कोनो काले छिले नारि मुकुलिका,
बालिका वयसी, हे अनन्तयौवना उर्वशी !''

दूसरी के लिए कहते हैं– 'तुम मंगल की देवी हो, मंगल की पूर्ण मूर्ति हो ।'-''पवित्र तुमि निर्मल तुमि, तुमि देवी, तुमि सती ।'' नारी का यह लक्ष्मी रूप और भी स्पष्ट हुआ है 'गोरा' में । साधारणतः नारी का यही रूप हम घर घर में देखते हैं । रवीन्द्रनाथ की नारी—घर की लक्ष्मी सताए हुए को सान्त्वना देती है, तुच्छ को भी प्रेम के गौरव से प्रतिष्ठा देती है । वह जीवन की सारी कटुताओं को बिना चूं किए झेल लेती है, किन्तु औरों पर आँच नहीं आने देती ।

एक प्रश्न उठता है—नारी के उस मोहक रूप की, जिसे पाकर वह अपने को भी भूल बैठती है और दूसरों को भी भुला डालती है, सृष्टि किसने की ? कवि ने उत्तर दिया है—'ऐ नारी, तुम केवल विधाता की सृष्टि नहीं हो, पुरुष ने तुम में सौन्दर्य का संचार करके तुम्हें अपने अन्तर से गढ़ा है । तुम आधी मानवी और आधी कल्पना हो'—'' शुधु विधातार सृष्टि नह तुमि नारी, पुरुष गड़ेछे तोरे सौन्दर्य संचारि, आपन अन्तर हते ! अर्धेक मानवी तुमि अर्धेक कल्पना ।'' नारी के उस अर्ध कल्पित रूप का उज्ज्वल चित्र 'चोखेर बाली' में विनोदिनी के रूप में स्पष्ट देखने को मिलता है । कवि की राय में —'पुरुष को यथार्थ होना आवश्यक है, किन्तु स्त्रियों को तो सुन्दर होना ही चाहिए । पुरुष के व्यवहार का स्पष्ट होना अच्छा है, किन्तु स्त्रियों के व्यवहार में अनेक आवरण आभास और इंगित होना जरूरी है ।' नारी के लिए कवि ने उदारता उड़ेल दी है :

''नारी यदि नारी हय
शुधु, शुधु धरणीर शोभा, शुधु आलो
शुधु भालोवासा, सुमधुर छले
शत रूप भंगिमाय पलके-पलके
फुटाए-जड़ाए बके बधे हेंसे केंदे
सेवाय सोहागे छेपे चेपे थाके सदा
तबे तार सार्थक जनमा की हरबे
कर्मकीर्ति वीर्यबल शिक्षा दीक्षा तार ।''

नारी के रूप में तो ''जननी का स्नेह, रमणी की दया, कुमारी का नवीन प्रेम—इन सबने मिल कर कवि की हृदय वीणा में सम्मिलित गान झंकृत कर दिया है :

''जननीर स्नेह रमनीर दया,
कुमारीर नव-नीरव प्रीति ।
आमार हृदय वीणार तन्ने,
बाजाए तुलिलो मिलित गीति !
आनन्दमयी मूरति तूमि,
फूटे आनन्द बाहुते तोमार ।
छूटे आनन्द चरण चूमि !''

आदर्श जननी का चित्र हमें 'चोखेर बाली' में अन्नपूर्णा और मासीमा के रूप में, 'गोरा' में आनन्दमयी के रूप में और 'शेषेर कविता' में योगमाया के रूप में देखने को मिलता है । जहाँ ऐसी भी माता हैं जो पुत्र के लिए समाज, संस्कार आत्मीय परिजन और यहाँ तक कि अपना सर्वस्व छोड़ कर कह सकती हैं 'यह बचा रहे, यही हमारे लिए बहुत है, हमें किसी और सम्पत्ति की जरूरत नहीं है ।' वहाँ ही गान्धारी जैसी धर्म और सत्य के लिए पुत्र को त्याग करनेवाली जननी भी हैं । और ऐसी माताओं को भी साहित्य में उन्होंने स्थान दिया है जो अन्याय को आदर देकर सन्तान के स्वभाव को बिगाड़ देती हैं, पुत्र के दोष, त्रुटि, चरित्र शैथिल्य को देख कर भी आँखें बन्द कर लेती हैं !

दूसरा चित्र है पत्नी का । वहाँ कल्याणी सती होकर दिखलाई पड़ती है, केवल रूपसी होकर नहीं । जहाँ धैर्य, वीर्य और क्षमा प्रेम के प्रकाश को फैलाते हैं, वहाँ (सुन्दरता लाने के लिए) रंग के आयोजन और आडम्बर की कोई आवश्यकता नहीं ।' रवीन्द्रनाथ की गृहिणी यदि सेविका न बने तो स्वामिनी भी नहीं हो सकती ।

रवीन्द्र साहित्य में स्त्री चरित्र का प्रत्येक पहलू से और उनकी सभी समस्याओं को सामने रख कर विश्लेषण किया गया है । उनका अच्छी तरह से तो क्या, थोड़े से

में भी दिग्दर्शन कराना इस अल्प-काव्य लेख की शक्ति और सामर्थ्य के बाहर की बात है। कवि के स्त्री चरित्रों की एक विशेषता यह है कि वे संयम और समाज की परिधि में रह कर भी सत्य को सुन्दर और शिव से पिछड़ने नहीं देते हैं। दूसरी विशेषता यह है कि जहाँ रक्त का सीधा सम्बन्ध है–बिल्कुल अपनापन है, जहाँ अपनी माता और सहोदरा बहिन है वहाँ तो थोड़े बहुत रूप में उदारता का अभाव है, यहाँ तक कि कुछ संकीर्णता भी दिखाई पड़ती है। मगर जहाँ केवल प्रेम का बन्धन है, स्नेह का रिश्ता है, वहाँ आदर्श भक्ति, प्रीति और वात्सल्य भाव की मूर्ति प्रदीप्त हो उठी है। "गोरा" की आनन्दमयी और लीला आदि इसके उदाहरण हैं।

अभी तक आदर्श चरितों के सम्बन्ध में ही कहा गया है। एक दूसरा पहलू भी है यथार्थता का। यथार्थ सत्य को छोड़ कर बच नहीं सकता। उसमें क्षुद्रता है, संकीर्णता है, राग है, लोभ है, वासना है, फिर भी हम उसे छोड़ नहीं सकते। 'शेषेर कविता' में कवि ने एक ऐसा ही चित्र खींचा है। दूसरा चित्र है 'गोरा' में आनन्दमयी के रूप में।

स्त्रियों की वर्तमान दुरवस्था को देख कर कवि ने जिस रूप में अपनी व्यथा का प्रकाश किया है, वह मौखिक नहीं अन्तर की पुकार है। स्त्री शिक्षा के सम्बन्ध में भी उन्होंने बहुत कुछ कहा है। अपनी 'सबला' कविता में कवि ने नारी के हृदय में जल रही भावना को प्रदीप्त किया है। रवीन्द्र की नारी केवल प्रदीप जला कर—वरण करके अब सन्तुष्ट नहीं रहना चाहती। उसकी आकांक्षा उससे भी एक क़दम आगे बढ़ गई है।

'हे विधाता! नारी को अपना भाग्य जय करने का अधिकार क्यों नहीं दोगे? क्यों दैवात उपस्थित दिन में रास्ते के किनारे क्लान्त धैर्य होकर प्रत्याशा की पूर्ति के लिए जगी रहूँगी। क्यों केवल आसमान की ओर ही ताकती रहूँगी। सार्थकता का मार्ग खुद क्यों न खोज लूँगी? दुर्धर्ष अश्वों को दृढ़ वल्गापाश में बाँधकर संधान का रथ तेजी से क्यों न दौड़ाऊँगी? दुर्जय आश्वास से प्राणों की बाजी लगा कर दुर्गम दुर्ग से साधना का धन क्यों न आहरण कर लाऊँगी?

'वधू के वेश में किंकिणी को बजाती हुई सोहाग के गृह में न जाऊंगी, मुझे प्रेम के वीर्य से निःशंक बना लो। वीर हाथों में एक दिन वरमाला लूँगी—ऐसा लग्न क्या गोधूलि क्षीण आलोक में एकदम विलीन हो गया है? अपनी कठिनता को मैं कभी उसे भूलने न दूँगी। दुर्बल लज्जा का आच्छादन फेंक दूँगी...माथे का घूँघट खोल कर उसे बताऊँगी, त्रैलोक्य में एक मात्र तुम्हीं मेरे हो। हे विधाता! मुझे वाक्यहीन न रखो, मेरे रक्त में आज रुद्र वीणा जग रही है।'.....

"नारी के आपन भाग्य जय करिबार
केनो नाहि दिये आधिकार
हे विधाता!
पथप्रान्ते केनो र' ब जागि'
क्लान्त धैर्य प्रत्याशा पूरणेर लागि'
दैवागत दिने
शुधु शून्ये चेये र' ब। केनो विजे नाहि ल' ब चिने
सार्थकेर पथ।
केनो ना छुटावो तेजे सन्धानेर रथ
दुर्धर्ष अश्वेरे बाँधि' दृढ़ वल्गा पाशे।
दुर्जय आश्वासे
दुर्गमेरे दुर्ग ह' ते साधनार धन
केनो नाहि करि आहरन
प्राण करि' परम।
याव ना वासर कक्षे वधुवेशे बाजाए किंकिणी
आमारे प्रेमेर वीर्ये करो अशंकिनी
वीर हस्ते वरमाला ल' ब एक दिन
से लग्न कि एकान्ते विलीन
क्षीण दीप्ति गोधूलिते
कभूता' रे दिब ना भूलिते
मोर दृप्त कठिनता
विनम्र दीनता
सम्मानेर योग्य नहे तार
फेले देबी अच्छादन दुर्बल लज्जार।
देखा हबे क्षुब्ध सिन्धुतीरे
तरंग गर्जनोच्छवास, मिलनेर विजयध्वनिरे
दिगन्तरे बक्षे निक्षेपिबे।
माथाय गुण्ठन खुलि' कब ता' रे मर्त्यें वा त्रिदिवे
एकमात्र तुमिइ आमार'
हे विधाता आमारे रेखोना वाक्यहीना
रक्ते मोर जागे रुद्र वीणा।"

—रेणुका चक्रवर्ती

४१/६२ हौजकटोरा,
बनारस

हिन्दी उपन्यास का भविष्य

राल्फ़ फ़ॉक्स (Ralph fox) अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'दि नोवल एण्ड दि पिपुल' में उपन्यास को "पूँजीवादी युग का महाकाव्य" कहते हैं। जो कार्य पुराने समाज में महाकाव्य द्वारा होता था, वह आधुनिक युग में उपन्यास ने पूरा किया है। किसी युग में महाकाव्य हमें सामाजिक सम्बन्धों का पूरा चित्र देता था। आदिम समाज में तो महाकाव्य संपूर्ण सामूहिक चेतना को व्यक्त करता था। महाभारत अथवा 'इलियड' के समान महाकाव्य का नाम चाहे किसी विशेष व्यक्ति के साथ जुड़ा भी हो, इनमें कई पीढ़ियों की चेतना व्यक्त हुई है। वास्तव में आदिम युगों की कला अनाम है और युग की सामूहिक प्रेरणा की प्रतीक है। महाकाव्य में हम युग के सामाजिक संघर्षों, परिस्थितियों और भावनाओं के व्यापक और विस्तृत चित्र पाते हैं। काल की गति के साथ महाकाव्य भी दाँते (Dante) अथवा मिल्टन के समान महाकवि की रचना के रूप में हमारे सामने आते हैं। इन बाद के महाकाव्यों में सामाजिक संघर्षों की वह उन्मुख और अबाध गति से बहनेवाली कथा हमें नहीं मिलती, यद्यपि इन नए महाकाव्यों में हम सुगढ़ता, शिल्प, प्रौढ़ता और अधिक संयम पाते हैं। आदिम समाज के महाकाव्य का प्रतिरूप हम एक बार फिर "आल्हा" में पाते हैं, जब उसी प्रकार के संघर्ष सामूहिक चेतना को विकल कर रहे थे और झकझोर रहे थे। इसी प्रकार यूरोप के मध्यकालीन समाज में भी हम चारणों की गुमनाम कविता पाते हैं जो वे घूम-घूम कर सभाओं और दरबारों में गा कर सुनाते थे।

आधुनिक युग में कवि की प्रेरणा बहुधा व्यक्तिवादी और अन्तमुखी होने लगती है, और गीति-काव्य के रूप में ही अधिकतर कविता का विकास होता है। आधुनिक युग में उपन्यास महाकाव्य का ध्येय अपनाता है और सामाजिक सम्बन्धों के व्यापक चित्र हमें देता है। 'डिकेन्स' अथवा टाल्स्टाय और बालज़ाक के उपन्यासों में हमें सामाजिक संघर्षों की सविस्तर कथा मिलती है। जो भूमि काव्य ने छोड़ी थी, उस पर उपन्यास अपना अधिकार स्थापित करता है। आधुनिक युग में, जब पूँजीवादी समाज का विकास होता है, उपन्यास ही सर्व साधारण की मानसिक क्षुधा निवारण करते हैं। काव्य की परिधि सीमित और संकुचित होने लगती है। यह बात विशेष रूप से पूँजीवाद के हासकालीन काव्य पर लागू होती है, जब टी. एस. इलियट ऐसे प्रतिभा-संपन्न कवि का "महाकाव्य" 'दि वेस्ट लैंड' कुछ सौ पंक्तियों में समा सकता है। उपन्यास में भी एक धारा इसी प्रकार अन्तर्मुखी होकर संकुचित होने लगती है, यह जेम्स जॉयस आदि के उपन्यासों से स्पष्ट है; किन्तु हम कह सकते हैं कि आधुनिक युग की व्यापक, सामूहिक चेतना का प्रतिनिधित्व उपन्यास अधिक सफलतापूर्वक कर सका है। एक आलोचक ने तो यहाँ तक कहा है कि "सभ्यता का विकास होता है, और कविता का हास होता है!" इस वाक्य को स्वीकार न करते हुए भी हम यह समझ सकते हैं कि सभ्यता के विकास के साथ-साथ काव्य की अन्तर्मुखी प्रवृत्तियाँ अधिक दृढ़ हुई हैं। इसके विपरीत फिलडिंग ने अपने उपन्यास टाम जोन्स को "Comic epic, poem in prose", "गद्य में हास्य-प्रधान महाकाव्य" कहा था। आगे चल कर डिकिन्स, हार्डी, गॉल्ज़वर्दी, बालज़ाक, टालस्टाय आदि यूरोप के महान् उपन्यासकारों ने इसी महाकाव्य की परम्परा को अपनाया और विकसित किया। आज भी अनेक उपन्यासकार जैसे Sigvid Undset अथवा अंग्रेज़ी में Hugh Walpole अपने उपन्यासों को Saga अथवा महाकथा का रूप देते हैं।

भारत में भी आरम्भ से ही उपन्यास महाकाव्य का रूप धारण करता है। यह रवीन्द्रनाथ ठाकुर, शरद बाबू और प्रेमचन्द के उपन्यासों से स्पष्ट है। इन महान कथाकारों की रचनाओं में हमें सामाजिक सम्बन्धों और संघर्षों के व्यापक चित्र मिलते हैं, उनकी चेतना बहिर्मुखी है और उनकी प्रेरणा अहम् के केन्द्र-बिन्दु पर स्थिर नहीं है। वह व्यक्ति को समाज के एक अंग के रूप में ही देखते हैं और उनके महान् पात्र समाज के प्रतिनिधि पात्र

१६५१

हैं। यह विनय, गिरीन या होरी के समान पात्रों से स्पष्ट है।

आगे चल कर उपन्यास में भी अन्तर्मुखी धारा कविता के समान ही घर बनाती है और "शेखर" के समान उपन्यास लिखे जाते हैं, जिन्हें महाकाव्य की श्रेणी में रखना कल्पनातीत है। आज हिन्दी उपन्यास में इन दो धाराओं का संघर्ष हम देखते हैं, उपन्यास की सामाजिक धारा जो जीवन को उसकी समग्रता और व्यापकता में देखना चाहती हैं और महाकाव्य की परंपरा को अपनाती है और संकुचित होती हुई अन्तर्मुखी प्रवृत्ति जो व्यक्ति के अहम् को जीवन का केन्द्र-बिन्दु मान लेती है।

हिन्दी उपन्यास की वर्तमान अवस्था पर पल भर दृष्टिपात करके ही हम भविष्य के विकास की संभावनाओं पर विचार कर सकते हैं। प्रेमचन्द ने हिन्दी उपन्यास को भारतीय जनता की आशाओं और आकांक्षाओं का प्रतिनिधि बनाया। उनके साहित्य में आधुनिक भारत का जीवन अपनी संपूर्णता में हिलोर मारता हुआ प्रगट होता है। उनके पात्र भारतीय जीवन के प्रतिनिधि पात्र और प्रतीक हैं। प्रेमचन्द का कथा साहित्य हिन्दी उपन्यास का उच्चतम शिखर है। प्रेमचन्द के परवर्ती कथा-साहित्य में न वह हिमालय-सा विस्तार है, न ऊँचाई। प्रेमचन्द के बाद हिन्दी में अनेक प्रतिभाशाली उपन्यासकार प्रगट हुए, जिन्होंने कथा—साहित्य को समृद्ध और सम्पन्न बनाया। इन्हें हम हिमालय के लघु शिखर कह सकते हैं।

जैनेन्द्र ने भारतीय मध्य वर्ग की वेदना अपने उपन्यासों में प्रगट की और टूटते मध्यवर्गीय परिवार के करुण चित्र खींचे। उन्होंने सामाजिक शोषण की चक्की में पिसती भारतीय नारी का अत्यन्त मर्मस्पर्शी, हृदय को हिलानेवाला चित्र "त्याग-पत्र" में प्रस्तुत किया। उसके बाद मानो एक दशक के लिए मौन साध कर अब फिर जैनेन्द्र ने "सुखदा" और "विवर्त्त" में "सुनीता" की पुनरावृत्ति की है।

श्री भगवतीचरण वर्मा ने पुरानी मान्यताओं के प्रति विद्रोह का झंडा अपने कथा-साहित्य में उठाया। आप भी जैनेन्द्र जी की ही भाँति मध्य वर्ग के जीवन का कोई लघु अंश अपने उपन्यासों में प्रस्तुत करते हैं, किन्तु स्वच्छन्दता से और अराजकता का निर्देश करते हुए। यह "तीन वर्ष" और "इन्स्टॉलमेन्ट" के समान रचनाओं से स्पष्ट है। "टेढ़े मेढ़े रास्ते" में मानो आप कहते हैं: "सभी रास्ते ग़लत हैं, गान्धीवाद का, आतंकवाद का, कम्यूनिज़्म का!" कौन रास्ता सही है, यह आपके उपन्यासों से स्पष्ट नहीं है। अपने चिन्तन में अनेक उलझनों के बावजूद भगवती बाबू ने भारतीय जीवन की पीड़ा को अपने साहित्य में व्यक्त किया है।

श्री सियारामशरण गुप्त ने भारतीय नारी की एक अत्यन्त करुण और सजल झाँकी अपने उपन्यास "नारी" में दी है। दीपक की लौ के समान निर्मल और द्रवित करने वाली यह कथा है।

श्री वृन्दावनलाल वर्मा और राहुल सांकृत्यायन ने ऐतिहासिक उपन्यास लिख कर हिन्दी के कथा-साहित्य को नई दिशा और गति दी। इसके पूर्व भी भगवती बाबू ने "चित्रलेखा" लिखा था, और यशपाल, रांगेय राघव आदि भी "दिव्या" और "मुर्दों का टीला" के समान ऐतिहासिक उपन्यास लिख कर इस परम्परा का विकास कर रहे हैं। इन रचनाओं में हमें अतीत के सामाजिक संघर्षों और संबंधों का परिचय मिलता है, और इस परम्परा को हम महाकाव्य की दिशा में जाने वाली परम्परा कह सकते हैं। "झाँसी की रानी" में वर्माजी भारतीय जनता के ब्रिटिश साम्राज्य-विरोधी संघर्षों का वर्णन करते हैं, और "गढ़ कुंडार" में बुन्देलों के अतीत जीवन का। राहुल सांकृत्यायन गुप्त साम्राज्य और गण-राज्यों की टक्कर का वर्णन "जय यौधेय" में करते हैं। "दिव्या" में युग-युग से शोषित भारतीय नारी का चित्र यशपाल अंकित करते हैं। रांगेय राघव मोहन जोदड़ो के विलास और वैभव के स्वप्न सामाजिक संघर्षों की पृष्ठभूमि में देखते हैं।

इस धारा को भगवत शरण उपाध्याय की ऐतिहासिक कहानियों से काफ़ी बल मिला है, और इधर श्री रुद्र ने "बहती गंगा" में काशी की जनता की ब्रिटिश-विरोधी दन्त कथाओं को ओज, शक्ति और वेग से अंकित किया है।

आज हिन्दी के लगभग सभी प्रतिभावान उपन्यासकार सामाजिक चेतना अपनी रचनाओं में व्यक्त कर रहे हैं। इनमें केवल 'अज्ञेय' ही व्यक्तिवादी और अन्तर्मुखी दृष्टिकोण अपने उपन्यासों में प्रगट कर रहे हैं। 'शेखर' को सभी सामाजिक चेतना से शून्य करके आपने उसे अहम के उपासक के रूप में प्रस्तुत किया था। "नदी के द्वीप" में वही चरित्र फिर एक बार भुवन के नाम से पेश किया गया है, किन्तु इस बार उसका चरित्र और भी दूषित और अनाकर्षक है। जिन स्त्रियों से वहाँ प्रेम करने का दावा करता है, उन्हें ही वह ठगता है। चन्द्रमाधव के चरित्र के साथ बड़ी खींचातानी की गई

है। यहाँ अपना कला-कौशल भूल कर लेखक ने अपने पूर्वग्रहों को लम्बी छूट दी है। "नदी के द्वीप" में कोई आधारभूत एकता और तारतम्य नहीं है। कथा के महीन धागे में पिरोए हुए प्रकृति के वर्णन और अंग्रेज़ी काव्य के उद्धरण भुवन और उसकी प्रेमिकाओं के यौन-संबन्धों के साथ बरबस जोड़े गए हैं, और यह धागा बार-बार टूट जाता है। प्रसंगवश यह भी कहा जा सकता है कि काम-विकृतियों के वर्णन में कुछ आलोचकों ने "नदी के द्वीप" की तुलना "घेरे के बाहर" नाम के उपन्यास से भी की है।

'अज्ञेय' के अतिरिक्त हिन्दी के अन्य सभी प्रतिष्ठित उपन्यासकार सामाजिक धारा का ही निर्वाह कर रहे हैं। इस दिशा में समुचित विकास करके ही हिन्दी उपन्यास भविष्य का महाकाव्य बन सकता है।

यशपाल ने आरम्भ से ही अपने उपन्यासों में सामाजिक जीवन का चित्रण किया है। इधर "मनुष्य के रूप" के बाद आपका कोई उपन्यास प्रकाश में नहीं आया है; कहानियाँ, एकांकी और संस्मरण लिखने में आप व्यस्त रहे हैं। अनेक आलोचकों ने यशपाल के साहित्य में यौन-सम्बन्धों के प्रति अत्यधिक आकर्षण की ओर ध्यान दिलाया है। स्वस्थ और संयत यौन-सम्बन्ध जीवन की अत्यन्त प्रेरक सृजनात्मक शक्ति है; कलाकार की सामाजिकता इसी दृष्टि को निरन्तर विकसित और प्रतिष्ठित करेगी।

श्री इलाचन्द्र जोशी ने मनोविश्लेषण के पथ को तज कर सामाजिक सम्बन्धों और संघर्षों को अपने नए उपन्यासों का लक्ष्य बनाया है। यह हम उनके नवीनतम उपन्यासों 'मुक्तिपथ' और "सुबह के भूले" में देख सकते हैं। इन कथाओं में जोशी जी अपने पात्रों की अहमपरक् प्रवृत्तियों को दबा कर उनकी आधारभूत सामाजिकता का विकास दिखाते हैं। इस प्रकार आपके पात्र स्वस्थ मार्ग अपनाते हैं और सामाजिक कल्याण का ध्येय प्रतिष्ठित करते हैं।

'अश्क' ने भी "गिरती दीवारें" के बाद "गर्म राख" में अधिक स्वस्थ, सामाजिक दृष्टि अपनाई है। जन-आन्दोलनों और उनके प्रमुख कार्यकर्ताओं का जैसा सजीव और मार्मिक चित्रण "गर्म राख" में हम पाते हैं, वह अन्यत्र हिन्दी उपन्यास में नहीं मिलता। 'अश्क' कला-शिल्प के प्रति विशेष सचेत हैं और विशाल 'कैन्वैस' लेकर भी सभी पात्रों और कथानक के विकास के प्रति आप सतर्क रहे हैं। लाहौर की गलियों, सड़कों और घरों में सतत प्रवाहित मानव जीवन के उतारे आपके चित्र बड़े सजीव और मार्मिक हैं।

हिन्दी उपन्यास की सामाजिक धारा का एक अत्यन्त सफल और उत्कृष्ट उदाहरण नागार्जुन का "बलचनमाँ" है। प्रेमचन्द के बाद हिन्दी का कोई अन्य कथाकार भारतीय किसान के जीवन में इतना गहरा नहीं उतरा। "बलचनमाँ" में नागार्जुन ने अपने कठोर क्रूर शैशव के अनुभवों का सरल और सहज स्वाभाविक भाषा में हृदय द्रावक वर्णन किया है। दरभंगा के ग्राम-संसार में किसान का क्रूर शोषण, राजनैतिक नेताओं की बगुला भक्ति और ज़मींदारों के अनाचार की करुण कथा इस उपन्यास में उभर कर पाठक के सामने आती है।

इस प्रकार सामाजिक संघर्षों का विस्तृत और व्यापक चित्र हिन्दी उपन्यास हमें दे रहा है। अन्तर्मुखी प्रवृत्तियाँ काव्य में अधिक सफलतापूर्वक घर कर सकती हैं, इसी कारण महाकाव्य की परंपरा के निर्वाह का भार उपन्यास को सम्हालना होता है। प्रेमचन्द से "बलचनमाँ" तक यह भार हिन्दी उपन्यास ने विशेष सफलतापूर्वक निबाहा भी है। अनेक प्रतिष्ठित कथाकारों ने इसी धारा का साथ दिया है; भगवतीप्रसाद वाजपेयी, रांगेय राघव, राधाकृष्ण, भैरव प्रसाद गुप्त—सभी इस परम्परा को विकसित कर रहे हैं। श्री भगवतीप्रसाद ने दो नए उपन्यास "पतवार" और "चलते-चलते" हाल में ही लिखे हैं। राधाकृष्ण "रूपान्तर" में पौराणिक आख्यान को रूपक बना कर, जीवन से विमुखता और जीवन में योगदान, इन दो मनोवृत्तियों का अध्ययन करते हैं। श्री भैरवप्रसाद गुप्त ने हाल में "गंगा मैया" नाम का ओजपूर्ण और सबल उपन्यास लिखा है। हिन्दी उपन्यास की यही धारा आगे चल कर भी निरन्तर वेगवती और बलशाली बनेगी। सामाजिक संघर्षों की बढ़ती तीव्रता के साथ सामाजिक दृष्टि साहित्य में अधिकाधिक प्रतिष्ठित होगी और अन्तर्मुखी धारा उत्तरोत्तर और भी क्षीण होगी। इसी अर्थ में उपन्यास को हम 'भविष्य का महाकाव्य' कह सकते हैं। हिन्दी उपन्यास की वर्तमान प्रगति यही दिखाती है कि वह दृढ़तापूर्वक महाकाव्य की परम्परा को अपना रहा है।

—प्रकाशचन्द्र गुप्त

इलाहाबाद यूनिवर्सिटी
इलाहाबाद

साहित्य और संगीत

वेदों और उपनिषदों में "उद्गीथ" नामक एक शब्द का उल्लेख किया गया है। 'छान्दोग्य उपनिषद्' में तो "उद्गीथ" के महत्व पर प्रकाश भी डाला गया है। "उद्गीयते ह्युद्गीथः" अर्थात् जो उच्च स्वर से गाया जाए। इस "उद्गीथ" को ही सब का रस माना जाता है :

"एषां भूतानां पृथ्वी रसः पृथिव्या आपो रसोऽपानोषधयो रस ओषधीनां पुरुषो रसः पुरुषस्य वाग्रसो वाच ऋग्रस ऋचः सामरसः साम्न उद्गीथो रसः।"

अर्थात् सब भूतों का रस पृथ्वी; पृथ्वी का रस जल; जल का रस औषधियाँ; औषधियों का रस पुरुष; पुरुष का रस वाणी, वाणी का रस ऋग्वेद; ऋग्वेद का रस सामवेद और सामवेद का रस उद्गीथ है। यों तो उद्गीथ या उपनिषदों में विस्तारपूर्वक उल्लेख किया गया है पर हम एक ही मंत्र यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं :

"अथ खलु य उद्गीथः स प्रणवो यः प्रणवः स उद्गीथ इत्यसौ वा आदित्य उद्गीथ एष प्रणव ओमिति ह्येष स्वरन्नेति।"

अर्थात् जितना कुछ गेय काव्य-साहित्य या संगीत है सब प्रणव ओंकार है और जो कुछ ओंकार है वह सब गेय है अर्थात् गाने की वस्तु है। सृष्टि के प्रारंभ में इस प्रणव ओंकार का ही गान किया गया। ओ-ओ-ओ-म यही संगीत उस कवि ने गाया। कवि शब्द 'कु' धातु से सिद्ध होता है जिसका अर्थ गीत गाना ही है। ईश्वर को भी कवि कहते हैं क्योंकि उसने वेदों के मन्त्र ऋषियों के मानस में गा-गा कर सुनाए। काव्य और संगीत की उत्पत्ति इस प्रकार से वैदिक काल के पूर्व ही हो चुकी थी तथा वैदिक ग्रन्थों में तो उनका विकसित स्वरूप दृष्टिगोचर होता है। ऋग्वेद के उषः सूक्त में काव्यत्व विशेष रूप से है तथा सामवेद में तो भारतीय संगीत पर अत्यधिक प्रकाश डाला गया है।

प्रसिद्ध कवि आल्फ्रेड आस्टिन का कथन है कि—"No verse which is unmusical or obscure can be regarded as poetry, whatever other qualities it may possess." अर्थात् कविता में और चाहे कितने भी गुण क्यों न हों पर यदि वह संगीत विहीन और अर्थ की रमणीयता से हीन हो तो फिर वह कविता नहीं कहला सकती। इसी प्रकार एक विद्वान् ने कहा है कि—"Poetry is music in words and music is poetry in sound." अर्थात् कविता शब्दों के रूप में संगीत है और संगीत स्वर के रूप में कविता है। कविता और संगीत का वांछनीय सम्बन्ध है। महाकवि मिल्टन जो कि स्वयं भी संगीत के बहुत बड़े प्रेमी थे, काव्यकला और संगीत कला को एक दूसरे की बहन मानते थे। 'रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्दः काव्यम्' नामक उक्ति द्वारा यह अवश्य विदित होता है कि रमणीय अर्थ प्रतिपादित करनेवाले शब्दों को काव्य कहते हैं। पर उन शब्दों में रमणीयता का प्रादुर्भाव तभी हो सकता है जब कि उनमें संगीत की सी ध्वनि हो। संगीत की सहायता से प्रायः साहित्य के आभ्यंतरिक और बाह्य दोनों प्रकारों के सौन्दर्य की अभिवृद्धि होती है। हमारा पुरातन काव्य साहित्य गेय ही है। आयुर्वेद आदि ग्रन्थों में भी संगीत का व्यापक प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। गीतिकाव्य का तो अर्थ यही है कि वह काव्य जो गाया जा सके। यों तो हिन्दी काव्य प्रायः गेय ही माना जाता है और काव्य तथा संगीत का सहज सामंजस्य ही गीतिकाव्य कहलाता है। डा० रामकुमार वर्मा के शब्दों में—"गीतिकाव्य का यह लक्षण है कि उसमें व्यक्तिगत विचार भावोन्माद, आशा निराशा की धारा अबाध रूप से बहती है। कवि के अन्तर्जगत के सभी विचार-व्यापार और उसके सूक्ष्म हृदयोद्गार उस काव्य में संगीत के साथ व्यक्त होते हैं।" गीतिकाव्य में काव्य और संगीत को विलग नहीं किया जा सकता।

गीत प्रधानतः दो प्रकार के होते हैं। काव्यगीत और ग्रामगीत या लोकगीत। इन दोनों प्रकार के गीतों पर संगीत का व्यापक प्रभाव पड़ता है। एक ग्रामगीत देखिए :

"आजु सोहाग की राति चंदा तुम उइहउ।
चंदा तुम उइहउ, सुरुज जिनि उइहउ॥
मोर हिरदा बिरस जिनि किहेउ मुरुग जिनि बोलेउ।

मोर छतिया बिहरि जिनि जाइ तु पह जिनि फाटेउ ॥
आजु करहु बड़ि राति चंदा तुम उइहउ ।
धीरे धीरे चलि मोरु सुरुज बिलम से अइहउ ॥

[आज सोहाग की रात है चन्द्रमा तुम उदय होना परन्तु हे सूर्य तुम मत उदय होना ।

हे मुर्गे ! तुम मत बोलना; बोल कर मेरा हृदय बिरस मत करना । पौ तुम मत फटना क्योंकि कहीं तुम्हारे फटने से मेरी छाती न फट जाय ।

हे चन्द्र आज रात लम्बी करना और तुम अवश्य उदय होना परन्तु हे मेरे सूर्य तुम धीरे धीरे चलकर देर से आना ।]

प्रस्तुत ग्रामगीत संगीत के स्वर ताल पर गाया जा सकता है । आधुनिक गीति काव्य के रूपों पर लोकगीतों का बहुत प्रभाव पड़ा है । उत्तर प्रदेश में लावनी का अत्यंत प्रचार रहा और कव्वाली, कजली बिरहा आदि भी वहाँ के भिन्न भिन्न भागों में प्रचलित रहे । लावनी का प्रभाव आधुनिक हिन्दी गीति काव्य पर भी विशेष रूप से पड़ा । एक उदाहरण देखिए—

"वह सभा चतुर जो बिगड़े काम सुधारै,
जब तलक बनै तब तलक न हिम्मत हारै । (टेक)
जो राजा को औ रैयत को दुख होवै
वह मंत्र बिचारै दोनों को सुख होवै,
मंत्री वह है जिसमें यह पौरुख होवै,
सब अंग पलै जब मुखिया मुख ज्यों होवै ।
सिद्धान्त में साधै, विवेक मंत्र बिचारै,
जब तलक बनै तब तलक न हिम्मत हारै ।"

लावनी में पाँच पंक्तियों के पश्चात् एक चरण की पुनरावृत्ति हुआ करती है । लावनी की ही भाँति कजली, दादरा आदि अन्य लोक-गीतो में भी एक एक पंक्ति की पुनरावृत्ति हुआ करती है । यह पुनरावृत्ति आधुनिक गीतिकाव्य में भी स्वीकार की गई । 'शंकर' जी ने अपनी 'पंचपुकार' नामक कविता में इसी पुनरावृत्ति का प्रयोग किया है—

"किसी से कभी न हारूँगा । टेक)
उर्दू की बेनुक्त इबारत लिख दूँ काबिल-दीद,
'बीनी खुद बुरीद' को पढ़ के 'बेटी देय खरीद':
चुनीदाँ नम्र गुजारूँगा,
किसी से कभी न हारूँगा ।"

शनैः शनैः ज्यों ज्यों आधुनिक हिन्दी गीतिकाव्य का विकास होता गया छन्दों में नूतनता आती गई और संगीत की रूपरेखा भी परिवर्तित होती गई । प्रसाद जी ने तो अपने गीतिकाव्य में संगीत का संस्कृत (क्लासिकल) रूप प्रस्तुत किया है ।* उनके नाटकीय गीतों में तो राग-रागनियों की भी योजना है ।

काव्य में संगीत छन्दों की लय से एक भिन्न वस्तु मानी जाती है और गवैयों के गीतों से भी उसमें विभिन्नता देख पड़ती है । 'निराला' जी का 'बादल राग' देखिए :

"झूमझूम मृदु गरज-गरज घन घोर !
राग-अमर ! अम्बर में भर निज रोर !
झर झर झर निर्झर-गिरि-सर में,
घर, मरु, तरु-मर्मर, सागर में,
सरित-तड़ित-गति-चकित पवन में,
मन में, विजन-गहन-कानन में,
आनन-आनन में, रव-घोर-कठोर—
राग-अमर ! अम्बर में भर निज रोर !"

इस कविता का संगीत कवि का अपना खास संगीत है । निराला जी ने लिखा भी है : "रागरागनियों में भी स्वतंत्रता ली गई है । भाव प्रकाशन के अनुकूल उनमें स्वर विशेष लगाए गए हैं—उनका शुद्ध रूप मिश्रित हो गया है । यह भाव प्रकाशनवाला बोध पश्चिमी संगीत के अनुसार है ।" अपने संगीत के विषय में भी वे लिखते हैं : "जो संगीत कोमल, मधुर और उच्च भाव, तदनुकूल भाषा और प्रकाशन से व्यक्त होता है, उसके साफल्य की मैंने कोशिश की है । ताल, प्रायः सभी प्रचलित हैं प्राचीन ढंग रहने पर भी वे नवीन कण्ठ से नया रंग पैदा करेंगी ।"

श्री सुमित्रानन्दन पन्त तो शब्दों का चयन ही इस प्रकार से करते हैं कि पदों का अर्थ शब्दों के नाद द्वारा ही प्रतिध्वनित हो जाता है । देखिए :

---

* दे० : 'प्रसाद का गीतिकाव्य' नामक लेखक का निबन्ध, 'विशाल भारत' दिसम्बर १९५१ ।

"जगत् की शत-कातर-चीत्कार
बेधतीं बधिर ! तुम्हारे कान !
अश्रु-स्रोतों की अगणित-धार
सींचती उर-पाषाण !

अरे क्षण क्षण सौ सौ निश्वास
छा रहे जगती का आकाश !
चतुर्दिक घहर घहर आक्रान्ति,
ग्रस्त करती सुख शान्ति !"

गीतिकाव्य के अतिरिक्त काव्य के अन्य रूपों तथा अन्य छन्दों पर भी संगीत का प्रभाव पड़ता है। मालिनी को पीलू राग और सुरफाख्ता ताल पर तथा शार्दूल विक्रीड़ित छन्द को 'गारवा' राग और 'झंपा' ताल पर सरलता से गा सकते हैं। मन्दाक्रान्ता स्रग्धरा, वियोगिनी, वसन्ततिलका और भुजंगप्रयात आदि भी किसी न किसी राग और ताल पर गाए जा सकते हैं। यहीं तक नहीं व्रजभाषा के घनाक्षरी छन्द भी निस्संकोच रूप से 'गेय' माने जा सकते हैं। रत्नाकर जी का निम्नांकित कवित्त आसानी से गाया जा सकता है :

"नन्द औ जसोमति के प्रेम-पगे पालन की,
लाड़ भरे लालन की लालच लगावती।
कहै रतनाकर सुधाकर-प्रभा सौं मढ़ी,
मंजु मृगनैननि के गुन-गन गावती॥
जमुना-कछारनि की रंग-रस-रारनि की,
बिपिन-विहारनि की हौंस हुमसावती।
सुधि ब्रज-बासिनि दिवैया सुख-रासिनि की,
ऊधौ नित हमकौं बुलावन कौं आवती॥"

इस प्रकार कविता और संगीत का तो सम्बन्ध है ही परन्तु गद्य में भी संगीतात्मकता आवश्यकीय है। "गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति" के अनुसार गद्य ही कवियों के लिए कसौटी है; अर्थात् किसी भी लेखक की कुशलता उसकी गद्य शैली द्वारा ही जानी जा सकती है। "वाक्यं रसात्मकं काव्यम्" के अनुसार रसात्मक वाक्य ही काव्य है परन्तु गद्य में भी सरसता का होना परमावश्यक है। काव्य तो सरस होना ही चाहिए पर गद्य में कहीं नीरसता न झलक पड़े इसका ध्यान प्रत्येक लेखक को रखना चाहिए। संस्कृत साहित्य में बाणभट्ट का नाम अमर है। उनके गद्य में संगीत की ध्वनि, रसोत्कर्ष, भाव प्रकाशन और कोमलकान्त पदावली आदि गुणों की बहुलता है। 'कादम्बरी' में गद्य का निखरा हुआ रूप देख पड़ता है और बाणभट्ट को जो संस्कृत साहित्य में गद्यकाव्य का जन्मदाता माना जाता है वह कुछ अनुचित नहीं है। हिन्दी साहित्य में भी कई ऐसे लेखक हैं जिनकी भाषा में संगीतात्मकता है। यहाँ हम प्रेमचन्द जी की 'मुक्तिमार्ग' नामक कहानी से एक अवतरण प्रस्तुत कर रहे हैं जिसमें भावव्यंजकता, स्पष्टता, मधुरता, सरलता और प्रवाह के साथ साथ लय तथा संगीत भी है। देखिए :

"अग्नि-मानव-संग्राम का भीषण दृश्य उपस्थित हो गया। एक पहर तक हाहाकार मचा रहा। कभी एक पक्ष प्रबल होता था, कभी दूसरा। अग्नि पक्ष के योद्धा मर मर कर जी उठते थे और द्विगुण शक्ति से रणोन्मत्त होकर शस्त्र प्रहार करने लगते थे। मानव पक्ष में जिस योद्धा की कीर्ति सबसे उज्ज्वल थी, वह 'बुद्धू' था। बुद्धू कमर तक धोती चढ़ाए, प्राण हथेली पर लिए अग्नि-राशि में कूद पड़ता था, और शत्रुओं को परास्त करके, बाल बाल बच कर, निकल आता था। अन्त में मानव दल की विजय हुई, किन्तु ऐसी विजय जिस पर हार भी हँसती।"

संगीत का नाटकों के भी साथ अभिन्न सम्बन्ध है बल्कि यह भी कह सकते हैं कि वह नाटक का एक प्रमुख अंग है। अरस्तू ने अपने 'पोएटिक्स' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ में नाट्य रचना के नियमों का उल्लेख करते हुए नाटक में निम्नलिखित तत्व आवश्यक माने हैं—Fable (कथा) Characters (पात्र), Diction (शैली) Thought (भावप्रकाशन) Decoration (अलंकार) और Music (संगीत)। इस प्रकार अरस्तू ने संगीत को भी नाटक का आवश्यक तत्व माना है। संस्कृत नाटकों में तो संभाषण के मध्य कवित्वमय वातावरण प्रस्तुत करने के उद्देश्य से पद्यों का प्रयोग हुआ करता था। इस प्रकार प्राचीन आचार्यों ने भी नाटकीय सौन्दर्य की वृद्धि के हेतु संगीत की सहायता ली थी। हिन्दी नाटकों में भी गीतों का प्रयोग होता रहा यद्यपि प्रारम्भ में उनमें कवित्व का अभाव ही रहा। पारसी नाटकों में तो गानों का विशेष रूप से प्रचार था और उनके नाटकों में तो 'शकुन्तला' जैसी

नायिकाएँ 'पतली कमर बल खाय' जैसे वासनामूलक और कुरुचि उत्पादक गीत ही गाया करती थीं। हमारे कुछ प्रारम्भिक नाटकों में भी यह प्रभाव दिखाई पड़ता है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अवश्य इस दिशा में कुछ नवीनता लानी चाही पर वे भी प्राचीन परम्परा के ही पोषक रहे और डा० श्रीकृष्ण लाल के शब्दानुसार "हरिश्चन्द्र स्कूल के नाटककार मुक्तक पद्यों के द्वारा रीतिकालीन कविता का वातावरण उपस्थित करते थे परन्तु कुछ नाटककारों ने पद, ठुमरी, दादरा इत्यादि गानों का भी प्रयोग किया।" आगे चल कर श्री जयशंकर 'प्रसाद' तथा उनके समकालीन नाटककारों ने इस दिशा में उल्लेखनीय प्रगति की और पद, दादरा, ठुमरी की अपेक्षा हिन्दी गीतिकाव्य की नवीन प्रवृत्तियों के विकसित स्वरूप को प्रस्तुत किया। प्रसाद जी के नाटकीय गीत तो हिन्दी साहित्य की अक्षय निधि हैं तथा उनके द्वारा यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि वास्तव में संगीत द्वारा नाटकीय सौन्दर्य द्विगुणित हो उठता है। उन्नीसवीं शताब्दी समाप्त होते होते ही यूरोप में आधुनिक नाटकों का सूत्रपात हो चुका था और इब्सनवाद का प्रभाव पूर्ण रूप से छाया हुआ था। इब्सन का प्रभाव यूरोप में ही नहीं बल्कि भारतीय नाटककारों पर भी पड़ा है। इब्सनवादी नाटकों में संगीत को कोई विशेष स्थान नहीं दिया जाता बल्कि आधुनिक पाश्चात्य नाट्यशास्त्री तो नाटक के केवल कथावस्तु, चरित्र चित्रण और संवाद नामक तीन तत्व ही आवश्यक मानते हैं। इस प्रकार इधर अब हिन्दी नाटकों में गीतों को प्रस्तुत नहीं किया जाता परन्तु पात्रों के संभाषण में प्रयुक्त होनेवाली भाषा तो संगीत पूर्ण ही रहती है। श्री लक्ष्मीनारायण जी मिश्र के 'सिन्दूर की होली', 'मुक्ति का रहस्य' और 'राजयोग' नामक नाटकों में यह विशेषता स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि साहित्य के सभी विभिन्न अंगों से संगीत का किसी न किसी रूप में सम्बन्ध अवश्य है और संगीत का जो महत्व स्वीकार किया जाता रहा है वह कुछ अत्युक्तिपूर्ण नहीं है। परन्तु संगीत द्वारा केवल रमणीयता का आविर्भाव ही करना चाहिए। और यदि कहीं संगीत की बहुलता हो गई या उसी का प्रभाव कृतियों पर विशेष रूप से पड़ने लगा तो फिर पाठकों को अरुचि ही होती है। महामुनि भरत ने 'नाट्यशास्त्र' में स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि "रूपकों में गीत वाद्य और नृत्य की बहुलता होने से स्वयं नटों को ही नहीं बल्कि दर्शकों को भी अरुचि हो जाती है फलस्वरूप रस परिपाक न होने से रूपकों में कुछ भी आनन्द नहीं आता।" इसी प्रकार कविता को भी यदि संगीत का अनुगामिनी बना दिया जाता है तो फिर कवित्व का ह्रास ही होता है। अंग्रेज़ी कवि स्विनबर्न ने अपनी कविताओं को संगीत की अनुगामिनी बना दिया है अतः उनमें भावों की वह सुघरता दृष्टिगोचर नहीं होती। संगीत के सहयोग के बिना साहित्य सौन्दर्य की वृद्धि को जो असंभव माना जाता है उसके लिए यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि शब्दों की सहायता से कोई भी साहित्यकार भावों को सुन्दरतम रूप में व्यक्त कर सकता है। यदि संगीत किसी भाव को संकेत मात्र द्वारा ही प्रदर्शित करता है और केवल ब्रह्म जगत् के चित्रण में ही विशेष समर्थता दिखा सकता है तो साहित्य बाह्य और आभ्यंतरिक जगत् दोनों प्रकार की परिस्थितियों का चित्रण कर सकता है। साथ ही साहित्य का क्षेत्र संगीत की अपेक्षा बहुत अधिक विस्तृत है।

इतना होते हुए भी वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला, संगीतकला, और काव्यकला, नामक पाँचों कलाओं में अन्तिम दो ही श्रेष्ठतम मानी जाती हैं तथा संगीत को तो विशेष महत्व दिया जाता है। संगीत कला का एक बड़ा सुन्दर पर सबसे सूक्ष्म और दार्शनिक रूप है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि साहित्य और संगीत दोनों का अपनी अपनी दृष्टि में विशेष महत्व है तथा जैसा कि राजर्षि भृतहरि ने लिखा है कि जो प्राणी साहित्य और संगीतकला से विहीन है—अर्थात् जिसे साहित्य और संगीतकला का ज्ञान नहीं है—वह बिना सींग और पूँछ के पशु के समान है वह उचित ही है। देखिए:

"साहित्य-संगीत-कला विहीनः
साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः
तृणं न खादन्नपि जीवमान—
स्तद्भागधेयं परमं पशूनाम् ॥"

—दुर्गाशंकर मिश्र 'पारिजात'

हँसापुरी, भण्डारा रोड
नागपुर (म. प्र.)

'बेनुबंस तै भएसि घमोई'

'घमोय' या 'घमोई' का पूरब में बहुत प्रचलित नाम 'भँड़भाँड़' है। 'भँड़भाँड़' शब्द पछाहीं खड़ी बोली हिन्दी का नहीं है। यह पूरबी शब्द है। पूरब और पछाहँ के भेद से किसी किसी पदार्थ के नाम या उनके प्रयोग में भिन्नता है। यह निश्चित है कि हिन्दी के आधुनिक साहित्य के संवर्धन में पूरब ने अधिक योग दिया है। हिन्दी प्रचार और प्रसार के केन्द्र पूरब में हो जाने से पूरबी शब्दों का प्रसार अधिक है। जिस जंतु को यहाँ 'बर्रे' कहते हैं उसका नाम पछाहँ में 'भिड़' है। जिसे यहाँ 'गोजर' कहते हैं उसका नाम वहाँ 'कनखजूरा' है। इसी प्रकार जिसे यहाँ 'भँड़भाँड़' कहते हैं उसका नाम पछाहँ में 'सत्यानासी' है। भँड़भाँड़ नाम का साहचर्य बुरा नहीं है, अनभिज्ञ लोग सुनकर इसे 'भाँड़' ही समझते होंगे। पर 'सत्यनासी' के अर्थ का साहचर्य बुरा है। फल यह है कि इसका पौधा घर में उगने से भय होता है। यदि उगे तो उसे तुरन्त उखाड़ फेंकते हैं। इसके जनता में देशभेद से प्रचलित अनेक नाम हैं, उनमें से एक नाम, जो अवध में चलता है, 'घमोय' है। इसके अन्य नामों का विवरण न देकर इन्हीं तीन नामों (भँड़भाँड़, सत्य नासी, घमोय) का विचार और विवरण यहाँ दिया जाता है :

"भँड़भाँड़"—संज्ञा पुं० (सं० भाँडीर) एक कँटीला क्षुप जिसकी पत्तियाँ नुकीली, लंबी और कँटीली होती हैं। यह जाड़े के दिनों में उगता है। इसका फूल पोस्त के फूल के आकार का पीले या बसंती रंग का होता है। फूल के झड़ जाने पर पोस्त की तरह लम्बी और काँटों से युक्त ढेंढ़ी लगती है जिसमें पकने पर काले रंग के पोस्त से और कुछ बड़े दाने निकलते हैं। इन दानों को पेरने से तेल निकलता है जो जलाने और दवा के काम आता है। इसके पौधे से पीले रंग का दूध निकलता है जो घाव और चोट पर लगाया जाता है। इसकी जड़ भी फोड़े फुंसियों पर पीसकर लगाई जाती है। इसके नरम डंठल की गूदी की तरकारी भी बनाई जाती है।"—(हिन्दी शब्दसागर)। "सत्यानासी—"संज्ञा स्त्री०। एक कँटीला पौधा जो प्रायः खंडहरों और उजाड़ स्थानों पर जमता है। घमोई। भँड़भाँड़। स्वर्णक्षीरी। पीतपुष्पा। विशेष—इसके बीच में गोभी के पौधे की तरह एक काँड ऊपर को गया होता है और चारों ओर नीलापन लिए हरे कटावदार पत्ते निकलते हैं जिन पर चारों ओर विषैले काँटे होते हैं। इस पौधे को काटने या दबाने से एक प्रकार का पीला दूध या रस निकलता है। फूल पीला, कटोरे के आकार का और देखने में सुन्दर पर गन्धहीन होता है। फूल झड़ जाने पर गुच्छों में फल या बीजकोश लगते हैं जिनमें राई के से काले काले बीज भरे रहते हैं। इन बीजों से एक प्रकार का तीक्ष्ण तेल निकलता है जो खुजली पर लगाया जाता है। वैद्यक में सत्यानासी कड़वी, दस्तावर, शीतल तथा कृमिरोग, खुजली और विष को दूर करनेवाली मानी गई है।"—(वही)।

इसी का नाम 'घमोय' या 'घमोई' भी है। पर 'हिन्दी शब्दसागर' ने दोनों में भेद किया है। तुलसीदास जी ने लिखा है कि 'बेनुबंस तैं भएसि घमोई'। इस 'घमोई' को 'घमोय' से भिन्न करके 'शब्दसागर' दोनों को पृथक्-पृथक् देता है। यद्यपि 'सत्यानासी' के पर्यायवाची में 'घमोई' ही नाम है। अवध में यह माना जाता है कि यदि बाँस की जड़ में 'घमोई' उत्पन्न हो जाय तो वह सूख जाता है, समाप्त हो जाता है। इसी से 'बेनुमूल तैं भएसि घमोई' पाठ भी है। जहाँ बाँस की कोठियाँ होती हैं वहाँ उसकी जड़ के पास यह नहीं उगता। यदि उगे तो फिर बाँस नहीं रहता। पर 'हिन्दी शब्दसागर' ने दोनों को पृथक् माना है। देखिए :

"घमोई—संज्ञा स्त्री० (देश०) कटंगी बांस का एक प्रकार का रोग जिसके पैदा न होने से उस बाँस में नए कल्ले नहीं निकलने पाते। इस बाँस की जड़ों में बहुत से पतले और घने अंकुर निकलते हैं जो बाँस की बाढ़ और नए कल्लों की उत्पत्ति रोक देते हैं।"—(वही)।

"घमोय—संज्ञा स्त्री, (देश०) एक छोटा पौधा जो गोभी की तरह का होता है। इसके पत्ते कटावदार तथा काँटों से भरे होते हैं। पत्तों के पीछे तथा कटाव की नोकों पर काँटे होते हैं। इसमें केवल एक डंठल ऊपर की ओर जाता है, इधर उधर टहनियाँ नहीं फैलतीं।

फूल पीले और प्याले के आकार के होते हैं। फूलों के झड़ जाने पर कँटीले बीज-कोश रह जाते हैं। इसके डण्ठलों और पत्तों से एक प्रकार का पीला रस निकलता है जो आँख के रोगों में उपकारी माना जाता है। यह पौधा उजाड़ स्थानों में आप से आप उगता है। पर्य्या० स्वर्णक्षीरी। सत्यानासी। भँड़भाँड़।''–(वही)। 'घमोई' का अर्थ शब्दसागर में बाँस का एक रोग 'रामचरितमानस' के कुछ टीकाकारों के आधार पर किया गया है। पर 'घमोई' का अर्थ अनेक लोगों ने वहाँ सत्यानासी ही किया है। 'मानस' के छठे सोपान (लंकाकाण्ड) की उक्त पंक्ति है, जब रावण अपने पुत्र मेघनाद को इसलिए डाँटता है कि उसने कहा था:

> ''नारि पाइ फिरि जाहिं जौं तौ न बढ़ाइअ रारि।
> नाहि त सनमुख समर महि तात करिअ हठि मारि॥''

इस पर रावण कहता है:

> ''(सुत सन कह दसकण्ठ रिसाई)।
> असि मति सठ केहि तोहि सिखाई॥
> अबहीं ते उर संसय होई।
> बेनुमूल सुत भएहु घमोई॥''

इसे इसलिए उद्धृत करना पड़ा कि 'कुल का नाशक' अर्थ ध्यान में रखने के ही कारण बेचारी 'घमोय' 'घमोई' नाम का रोग हुई जा रही है। बाँस की जड़ में 'घमोय' होने का यह अर्थ क्यों न लगाया जाए कि कहाँ मार करनेवाला बाँस और कहाँ उसकी जड़ में उसी थाले में, उसके चरणों में उत्पन्न घमोय-सी तुच्छ वस्तु जो बाँस की छड़ी गिरने से भी नष्ट हो जाए। सत्यानासी काँटेदार तो होता है, पर होता बहुत कोमल है। तुलसीदास जी ने इस शब्द का प्रयोग 'गीतावली' में भी किया है:

> ''बुधि बल साहस पराक्रम अछत राखे भोइ।
> कहत मन तुलसीस लंका करउँ सघन घमोइ॥''

ऊपर से यह पता तो आपको चल ही गया है कि 'घमोई' उजाड़ जगह में होती है। लंका में सघन घमोइ कर देंगे, सोने की लंका उजाड़ खण्डहर हो जाएगी, जहाँ घनी घमोइ या सत्यानासी उग जाएगी, छा जाएगी।

वैसवाड़े में इसे 'कड़ुवा' कहते हैं, पूरब में कटीला और भँड़भाँड़। स्मरण रहे, सरसों का तेल भी 'कड़ुवा' कहा जाता है। तेल की तीक्ष्ण झार के कारण ही उसका नाम 'कड़ुवा' है। इसमें भी यही गुण है।

वैद्यक के एकाध निघंटु का भी विवरण देख लीजिए। 'राजनिघंटु' में 'स्वर्णक्षीरी' के नाम और गुण यों दिए गए हैं:

> ''स्वर्णक्षीरी स्वर्णदुग्धा स्वर्णाह्वा रुक्मिणी तथा।
> सुवर्णहेमदुग्धी च हेमक्षीरी च काञ्चनी॥
> स्वर्णक्षीरी हिमा तिक्ता क्रिमी–पित्त–कफापहा।
> मूत्रकृच्छाश्मरीशोफदाहज्वरहरा परा॥''

गाँवों में तो किसी को खुजली हुई कि उसने 'भँड़भाँड़' की जड़ मरिच के साथ पीस कर पी। रेचक होने के कारण उदर-शुद्धि हो जाती है। रक्तदोष दूर हो जाता है। इसकी पत्ति पीस कर पामा (एक्जिमा) में लगाते हैं और श्वेतकुष्ठ के दाग पर भी इसकी पत्ति मरिच के साथ पीस कर रखते हैं। इसका पीला पीला दूध आँखों में—अत्यन्त कोमल अवयव में—लगाते हैं, आँख के रोगों के लिए यह परमगुणकारी मानी जाती है। इसे निघंटु कथित गुणों में 'शोफहरा' भी कहा गया है। इधर 'बेरी बेरी' रोग के हेतु सरसों के तेल में 'भँड़भाँड़' के तेल की मिलावट और उस मिश्रित तेल का सेवन भी बताया गया है। बेरी बेरी में 'शोथ' प्रधान लक्षण है। कदाचित् भँड़भाँड़ की अधिकता दुर्गुण का कारण हो। उसका थोड़ा ग्रहण लाभकर है, पर अधिक ग्रहण हानिकर, जैसे घी कोई सेर दो सेर पी ले तो उसकी दुर्दशा निश्चित है। यही भँड़भाँड़ के तेल की स्थिति है। थोड़ा हो तो कुछ ठीक, अधिक होने से विरेचन होता है और लोगों को हानि पहुँचती है। बेरी बेरी में शोथ और अतिसार दोनों होता है। इनमें से अतिसार भँड़भाँड़ के कारण हो सकता है। पर इसी के कारण शोथ विचारणीय है। गाँवों में साधारण स्थितिवाले लोग केवल भँड़भाँड़ का ही तेल जलाने के काम में नहीं लाते, एक दूसरी घास के बीजों का तेल भी निकालते हैं। वह परम शोथकारी है। वह भी देहातों में बहुत होती है। वह खेतों में भी उगती है, जब कि भँड़भाँड़ खेतों में न होकर उजाड़ परती भूमि, नाले-नाली के दोनों कूलों पर होता है। इस घास का नाम 'तितली' है। इसके बीज एकदम गोल नहीं होते। पर इसके द्वारा शोथ की कथा सुन कर आप दंग रह जाएँगे। गाँव पर एक लड़के ने भूल से किसी दीपक

का तेल हाथ से छू लिया । सो भी इसलिए कि बत्ती बुझने बुझने हो रही थी, सींक से उसे न उकसा कर उसने हाथ से ही उकसा दिया । संयोग से मुँह में उसी समय कुछ खुजली सी प्रतीत हुई और लड़के ने उसी तेलवाले हाथ से मुँह खुजला दिया । उस समय तो कुछ पता न चला, पर सबेरे उस लड़के का सारा मुँह फूलकर दूना हो गया । घर भर के लोग परेशान । जब तेलिन ने बतलाया कि लड़के ने रात में कहीं मेरे घर का दीया तो नहीं छू लिया और उसी हाथ से मुँह तो नहीं खुजला लिया तब पता चला कि यह तितली के तेल का ताण्डव है । तितली के तेल से हुआ शोथ कष्टद नहीं होता, एक दो दिन में आपसे आप ठीक हो जाता है । अब कल्पना कीजिए कि यदि कहीं इसका तेल उदर में पहुँच जाए तो क्या हो ? तेल निकालनेवाले उसमें हाथ नहीं लगाते उसे कूट कर पानी में छोड़ देते हैं और पानी सहित उसे उबलने देते हैं। फिर उतराते हुए तेल को ऊपर ऊपर से पसा लेते हैं अथवा पंख या परी आदि से उठा लेते हैं। सरसों के तेल में भँड़-भाँड़ की ही नहीं, तितली की खोज भी करनी चाहिए ।

बनारस हिन्दु यूनिवर्सिटी
बनारस

—विश्वनाथप्रसाद मिश्र

सीता-कोटुआ (गुफ़ा)

रामायण की कथा का सिंहली रूप :

"लंका का राजा रावण सीता को चुरा ले गया । उसके पति महाविष्णु उसको खोजते फिरते थे । रास्ते में उनकी बन्दरों के राजा से भेंट हुई । इसकी पत्नी को वालीय छीन कर ले गया था । दोनों मिल गए और महाविष्णु ने वालीय को मार दिया और उसकी पत्नी वेन्दीरी को बन्दरों के राजा को वापस दे दिया । अपनी कृतज्ञता को अभिव्यक्त करने के लिए वन्दुर (वानरों के राजा) ने सीता को ढूँढ़ने में महाविष्णु की सहायता की । सीता रावण के पहाड़ी किले नुवार एलिया में क़ैद थी । वन्दुर ने सीता को छुड़ाने के लिए शहर में आग लगा दी । नगर जल कर राख की ढेरी हो गया और उसने सीता को छुड़ा लिया । जलने के कारण नौवरा एलिया की मट्टी आज तक काली है । इस अवसर पर महाविष्णु आए और उन्होंने रावण को यहान गला चट्टान के पास मृत समझ कर छोड़ दिया परन्तु वह जीवित था । लड़ाई के पश्चात् वह सरकता हुआ एक गुफ़ा में चला गया जहाँ वह आज भी जीवित है । महाविष्णु और सीता मिल गए । एक दिन महाविष्णु की बहन ने सीता से पूछा कि रावण कैसा है । सीता ने केले के पत्ते पर उसका चित्र बनाया । जब वह चित्र बना रही थी-इतने में महाविष्णु आ गए । सीता ने चित्र को पलंग की चादर के नीचे छिपा दिया । कुछ समय बाद महाविष्णु पलंग पर लेटे हुए थे । रावण का चित्र नीचे था । पलंग हिलने लगा । महाविष्णु ने देखा कि रावण का चित्र है । वे क्रुद्ध हुए और उन्होंने समन देव को सीता को ले जा कर मारने की आज्ञा दी । समन देव दयालु था । उसने उसे एक गुफ़ा में छुपा दिया और एक मुनि को सौंप दिया । गुफ़ा में उसको एक बच्चा हुआ । उसका नाम संद लिंग कुमार था । एक दिन सीता जंगल में कन्द-फल लाने के लिए गई हुई थी । बच्चा खाट से गिर गया परन्तु उसे कोई चोट न लगी और वह सोता रहा । मुनि ने आ कर देखा कि खाट खाली है । उसने घास इकट्ठी की और प्रार्थना करता रहा । प्रार्थना से संद लिंग कुमार जैसा एक और बच्चा हो गया । जब सीता आई उसने पहले इस बच्चे को और फिर पहले बच्चे को देखा । उसे बहुत आश्चर्य हुआ । मुनि ने आकर सब बातें बतलाईं परन्तु सीता को विश्वास नहीं हुआ । मुनि ने कमल लाकर फिर प्रार्थना की और उनमें से वैसे ही दो बच्चे निकले । ये सब सीता-कोटुआ में आनन्द से पलने लगे । बड़े होने पर इनमें से एक मलय का राजा हुआ । वह विदेश से आकर सीता को वहाँ ले चलने के लिए आग्रह करने लगा । सीता ने नहीं माना । उसने क्रोध में आ कर सीता को तीर से मार डला । कहते हैं कि आज भी सीता की आत्मा सीता-कोटुआ में रहती है ।

(स्टेट्समेन से)

—सीता विजयतुंग

रंगरूट

*सामयिकता और साहित्य का प्रश्न वास्तव में ऐसा प्रश्न है, जिसका नपा तुला उत्तर देना कठिन है, खतरे से खाली भी नहीं है; न उसका कोई निश्चित परिमाण ही बताया जा सकता है कि साहित्य में इतनी सामयिकता होनी चाहिए और इतनी 'शाश्वतता'। क्या साहित्य रोजमर्रा की घटनाओं का अखबार बन कर रह जाय? जिसकी दूसरे दिन कोई क़ीमत ही न रहे—या मानव जीवन से ऊपर इतना अधिक शाश्वत हो कि हवाई बन कर जिए? किताब 'पढ़ाकुओं' की अलमारी में सजी रहे और जब उनकी इच्छा हो, मन उचटे, 'मूड' आए तो वे शराब के पैग की तरह दो एक अध्याय पढ़लें और आनंद विभोर होकर तारीफ़ करते हुए रखदें और युगों तक यही क्रम चलता रहे—साहित्य की सार्थकता इसमें है या एक तूफ़ान की इधर उधर हलचल बवंडर उठा दूसरे दिन समाप्त हो जाय, इसमें? रूसो और गोर्की की रचनाएँ हमारा आदर्श हों या प्रसाद की 'कामायनी' और टागोर की 'गीतांजलि'?

और अगर सच पूछा जाय तो यह झगड़ा केवल शब्दों का है। जब साहित्य हमारे जीवन का प्रतिबिम्ब है तो उसमें उठनेवाली हलचलों, परिवर्तनों, सुख-दुःखों से बचकर वह कैसे रह सकता है, और अगर वह जीवन में 'शिवम्' के लिए हथियार बनता है तो 'अमरत्व' उसकी बपौती है। अमर न भी रहे: एक बहुत प्रसिद्ध आप्त वाक्य हमारे साथ है—'मुहूर्तं ज्वलितं श्रेयं न धूमायते चिरम्'। और यह एक क्षण की ज्वाला बुझ चाहे तत्काल जाय, चमकती सदैव रहती है। इस सत्य को शब्दों की अपेक्षा तथ्यों से देखना अधिक अच्छा है।

बरेन बसु का 'रंगरूट' एक सामयिक घटना पर लिखा गया उपन्यास है—दूसरे महायुद्ध की घटना। लेकिन क्या वह वहीं तक सीमित है? नहीं, इस समाज व्यवस्था में जब तक युद्ध है, जब तक फौजें युद्धों का ईंधन है, जब तक मनुष्य मनुष्य नहीं है, तब तक वह उपन्यास सत्य है, सामयिक है। वह पुराना हो नहीं सकता। सामयिकता किसी चीज़ को हलका या गम्भीर नहीं बनाती हलका या गम्भीर बनाता है वह दृष्टिकोण, और लेखक की वह दृष्टि कि जो उस सामयिक घटना या समस्या को वैज्ञानिक क्रम में देखती है—या भावुकता में। बंगाल का काल और साम्प्रदायिक दंगों पर लिखी गई हज़ारों चीज़ें क्यों तभी मर गयीं और महाकाल इतने भूखे! (सो मैनी हंगर्स) या और 'इन्सान मर गया' क्यों आज भी हमें आकृष्ट करती हैं? इसका कारण है सामयिकता को रखने और परखने का दृष्टिकोण।

बंगला के ही एक ही सामयिक घटना पर तीन लेखकों के तीन पक्षों के तीन उपन्यास हैं, द्वितीय महायुद्ध और फौजों की आन्तरिक स्थिति पर बरेन बसु का 'रंगरूट' द्वितीय महायुद्ध और सामाजिक शहरी ह्रासोन्मुख मध्यवर्ग के जीवन पर ताराशंकर बन्ध्योपाध्याय का 'मन्वन्तर' और युद्ध और गाँवों की समस्याएँ शहर की स्थिति को ले कर अकाल पर भवानी भट्टाचार्य का 'इतने भूखे!" तीनों एक ही काल एक ही स्थान के जीवन के तीन पहलू देते हैं और जिस तरह देते हैं शायद संसार का कोई इतिहासज्ञ उस रूप को खड़ा नहीं कर पाता। बंगाली जीवन और संस्कृति का शायद ही कोई हिस्सा हो जो इनसे बचा हो—क्या इस सबसे भी अलग अमरता कोई चीज है। यह बिलकुल एक अलग चीज है कि उपन्यास कला की दृष्टि से 'मन्वन्तर' अनूठा है, 'कजली' में कोई नई बात नहीं है और 'रंगरूट' का लेखक जैसे अपनी विषय वस्तु के आगे विवश हो गया है।

रंगरूट के विस्तृत अध्ययन से यह चीज़ और भी साफ़ हो जाती है।

सबसे पहली बात तो यह है कि रंगरूट एक ऐसे जीवन के विषय में लिखा गया है जो हमारे देश का एक बहुत ही महत्वपूर्ण अंग रहा है लेकिन उस विषय पर लिखने की किसी ने कोई आवश्यकता ही नहीं समझी थी; सैनिक जीवन हमारे लिए हमेशा ही एक डर, रहस्य और आतंक का जीवन रहा है। हमारे बड़े से बड़े नेता ने उसे कभी भी भीतर से देखने की कोशिश नहीं की। राहुल जी के साथ एक बार का वार्तालाप याद आरहा है। उन्होंने कहा था—"हमारे—खास तौर से हिन्दी के—लेखकों में यह एक 'मेनिया' रहा है कि जहां

---

* श्री बरेन बसु के उपन्यास 'रंगरूट' की समीक्षा

ज़रा भी उन्होंने कलम पकड़नी सीखी फौरन ही ह्रासोन्मुख मध्यवर्ग की घिसी-पिटी आदर्शवादी प्रेमकथाएँ बयान करनी शुरू कर दीं। विविधता तो है ही नहीं। कितना लम्बा जीवन और देश हमारे सामने पड़ा है इसकी ओर कोई देखता ही नहीं। इतनी अच्छी औपन्यासिक प्रतिभा लेकर इलाचन्द्र जोशी आए। काश ! वह अपने देश या पहाड़ी जीवन पर ही उपन्यास लिखते तो हिन्दी उपन्यासों को नयी देन होती— लेकिन उन्होंने भी वही रोना रोया। कथा साहित्य में हम अपने देश की संस्कृति को तभी प्रतिफलित कर सकेंगे जब हमारा हर लेखक देश के उस भाग की सभ्यता, संस्कृति को सही दृष्टिकोण से सामने लाएगा जिसके वह अत्यन्त निकट सम्पर्क में रहता है।

सभ्यता और संस्कृति को सही दृष्टिकोण से सामने लाना आसान नहीं। जहाँ तक इस कार्य को प्रारम्भ करने का सवाल है वहाँ तक तो ठीक है वर्ना इस कार्य में हमारे आज के बड़े से बड़े लेखक भी डगमगा गये हैं। शरत् को हम छोड़ देते हैं, महान् प्रतिभाशाली होते हुए भी वे एक स्वप्नमयी उच्छृंखलता और व्यक्तिवादी क्रान्ति के भावुक और रोमाण्टिक कलाकार थे, केवल उनकी रचनाएँ पढ़कर यदि हम यह सोचें कि बंगाल में प्रेम साकार हो गया है, सौन्दर्य बिखर पड़ा है, वहाँ की रमणियाँ अपने प्रेमियों की देख-भाल किसी भी घर की समझदार बड़ी बूढ़ी से कम नहीं करती—सच पूछा जाय तो केवल चौके में बैठकर अपने प्रेमियों से खाना बनाते हुए प्रेमालाप करने के अतिरिक्त उन्हें कोई काम ही नहीं है—तो हम ऐसा सोचने में अधिक ग़लती नहीं करते। लेकिन सबसे अधिक प्रगतिशील लेखक कृष्णचन्द्र भी यदि अपने साहित्य के द्वारा काश्मीर को ऐन्द्रजालिक मोहिनी से भर दें तो क्या उसे सही दृष्टिकोण कहा जाएगा? उनका सारा साहित्य पढ़ कर ऐसा लगता है जैसे काश्मीर किसी ऐसे स्वर्ग का नाम है (जहाँ प्राकृतिक सौन्दर्य तो है ही उससे तो इनकार किया ही कैसे जा सकता है) हर चश्मे के किनारे पूरे चाँद की रात में कोई सुन्दरी युवती अपने प्रेमी की राह देख रही है। वहाँ हर व्यक्ति कम से कम प्रेम करने के लिए तो स्वतन्त्र है ही और वहाँ परदेसियों से मुहब्बत करने के लिए हर लड़की क्वाँरी बैठी है। इस स्तर पर तो शरत् और कृष्णचन्द्र के रोमानी दृष्टिकोण में कोई अन्तर नहीं है—अन्तर है अपने-अपने प्रान्तों की रुचि, स्वभाव और सामर्थ्य का, एक ने घर की चहार दीवारी को चुना, दूसरे ने खुले मैदान, फैले खेत, गाते झरने और दौड़ते दरिया।

बंगाली जीवन और इस दृष्टि से 'रंगरूट' भारतीय साहित्य को एक महत्वपूर्ण देन है। हम 'रंगरूट' के ज़रिए मिलिट्री की भीतरी गठन, कमज़ोरियों, विवशताओं और विशेषताओं से परिचित होते हैं जो इस उपन्यास की रोचकता का अपने आप में एक स्वतन्त्र कारण है। इसके साथ ही वह उस समय के फ़ौजी जीवन का गतिमान चित्र है जब फौज अपनी सारी विशेषताओं और वरदानों के साथ हमारे सामने आती है—अर्थात् द्वितीय महायुद्ध के वे दिन जब युद्ध अपने चरम पर था। ऐसी गतिमान स्थिति में हर आवश्यक चीज़ को एक सधे दृष्टिकोण से सामने लाते जाना बहुत ही कुशल कैमरामैन का काम था।

'रंगरूट' के फौजी जीवन को दिखाने का माध्यम लेखक ने 'अमल' को रखा है जो नौकरी न मिलने पर घर की परिस्थितियों से ऊब कर फौज में भर्ती हो जाता है। वह बी. ए. पास है। इसलिए हर चीज़ को नए दृष्टिकोण से देखता है। बड़ी आसानी से 'अमल' के किस्से अर्थात् उपन्यास के कथानक को चार भागों में बाँटा जा सकता है।

एक : जब बी. ए. पास करके अमल इधर-उधर भटकता है और नौकरी न मिलने पर फौज में भर्ती हो जाता है।

दो : फौज के जीवन के जब वह निकट संपर्क में आता है और जब हर नई चीज़ उसके आत्म-सम्मान को ठेस पहुँचाती है, जब हर फौजी व्यवहार को वह आश्चर्य, क्षोभ से देखता है। सिविलियन जीवन के संस्कार उसमें हैं और हर क्षण वे उसके वर्तमान जीवन की तुलना में आते हैं।

तीन : जब मिलिट्री जीवन के चर्खे में वह अपने आपको पूरी तरह ढाल लेता है। इस स्थान पर लेखक ने जैसे अमल के जीवन को छोड़ कर मिलिट्री जीवन और सिविलियन जीवन के अन्तर, साधारण सिपाही और अफ़सरों के अन्तर दिखाए हैं।

चार : जब लड़ाई निकट आती जाती है, सिपाही लड़ाई के मुँह की ओर चले जाते हैं लेकिन इस ज़िन्दगी से वे इस बुरी तरह ऊब गए हैं कि उनमें आपस में

विरोध जागता है, जो चीज़ धीरे धीरे घुटती जाती थी, वह फूटने लगी है—वे हर अनुचित बात का विरोध करने लगे हैं। उनमें अपने अधिकारों की रक्षा के संघर्ष की भावना जाग रही है। एक ही विवशता में रहते हुए वे अनजान रूप से एक दूसरे के निकट आ गए हैं अत्याचार के ख़िलाफ़ बग़ावत कर देते हैं।

इस उपन्यास की दूसरी सब से बड़ी विशेषता यह है कि यद्यपि लेखक ने अमल को कथा का आधार बनाया है लेकिन कहीं भी कहानी व्यक्ति 'अमल' तक सीमित नहीं रह गई है। कुछ अंशों में उपन्यास की मुख्य कमज़ोरी भी यही है कि फौज़ी जीवन में आने से पहले तो लेखक दिखाता है कि अमल की कुछ व्यक्तिगत भावनाएँ—आकांक्षाएँ थीं, लेकिन जैसे ही वह फौज में आया—यह सब कुछ समाप्त हो गया है। बाद में 'अमल' कभी नहीं आता—आता है एक सिपाही सामने, जो अपने जैसे काठ के हज़ारों सिपाहियों से ज़रा भी अलग नहीं है। लेखक की कला की यह सब से बड़ी विशेषता है कि उसने अपने पात्र को कहीं भी विशेष, या असाधारण नहीं बनने दिया, वह हर जगह सामान्य है साधारण है। इसलिए सच्चे अर्थों में फौज के हज़ारों लाखों आदमियों का प्रतिनिधि है—एक शब्द में 'टाइप' चरित्रों का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। लेखक ने भरसक प्रयत्न किया है कि अमल को इतना अधिक महत्व न मिल जाए, कि पाठक उसके आस पास के वातावरण संगी-साथियों को भुला दे—या उसे नदी का द्वीप बना दे। इस तरह बड़ी सफलता से बरेन बसु ने पूरी फौज को फोकस में रखा है—और कोशिश की है कि फौज़ की सारी विशेषताएँ सामने आएँ। साधारण सिपाही कैसे खाते हैं, रहते हैं, मनोरंजन करते हैं, उनकी बातों के विषय, यहाँ तक कि मुहावरे और भाषा तक, क्या होते हैं; वे किस तरह ऊँच-नीच में बँटे होते हैं, कैसे उनमें आपस में भेद डाला जाता है, ज़रा-ज़रा-सी बात पर उनके साथ कैसा दुर्व्यवहार किया जाता है, एकान्त के क्षणों में वे क्या सोचते हैं; कैसे घर और पुराना जीवन उनके सपनों में आता है, जब वे साधारण कस्बों में जाते हैं तो क्या व्यवहार वे करते हैं या किया जाता है। साथ ही अफ़सर और सिपाहियों का भेद, अंग्रेज और अमेरिकनों का भेद; साथ ही मिलिट्री में चलनेवाले व्यभिचार, दुराचार और भ्रष्टाचार। मतलब; मिलिट्री जीवन का शायद ही कोई ऐसा पहलू हो जिस पर लेखक की दृष्टि न गई हो—महीन से महीन और छोटी से छोटी बात को उसने पकड़ा है।

जब इतनी गहरी दृष्टि से लेखक ने यह सब देखा है, समझा है; सारे अन्तर्विरोधों को पहचाना है तभी यह एक सही रूप में इस उमस और घुटन से फूटती दिशा की ओर इंगित कर सका है। इसमें सबसे बड़ी उसकी सफलता यह है कि इसके लिए उसे पूरे उपन्यास में कहीं भी लेक्चरबाज़ी नहीं करनी पड़ी, कहीं भी दो-दो चार-चार पृष्ठों में उसने क्रान्ति का अर्थ, समाज की स्थिति और गति, संसार की राजनीति पर बहस नहीं की। जो कुछ जैसा आया है बड़ा स्वाभाविक और काबिल मक़बूल होकर आया है। जबर्दस्ती उपन्यास को 'क्रान्तिकारी' बनाने के फेर में उपन्यास की घटनाओं को तोड़ा मरोड़ा नहीं गया। इसका बहुत बड़ा कारण लेखक का निजी अनुभव है; वर्ना शायद कोई दर्शक-लेखक इस सब की कल्पना भी नहीं कर सकता था। वे लोग बुरे हैं, दुराचारी हैं, औरत और शराब को किसी भी क़ीमत पर वे प्राप्त करना चाहते हैं; आपस में उनमें बड़ा भेद है! वे लोग कायर हैं, अफ़सरों के सामने लाख क्रुद्ध और क्षुब्ध होते हुए भी वे एक शब्द भी नहीं बोल सकते, भेड़ की तरह चुप रहते हैं, काठ के पुतलों की तरह आज्ञा पालन करते हैं, मिलिट्री के अनुशासन ने उन्हें पीस डाला है, उसके ख़िलाफ़ वे ज़बान नहीं हिला सकते, वे लोग बहुत डरपोक हैं देश की सामाजिक राजनैतिक स्थिति से उन्हें कोई मतलब नहीं है, उनमें से हर आदमी किसी भी तरह की पहल क़दमी करने से डरता है, लेकिन फिर भी वे कौनसी सामान्य स्थितियाँ हैं जहाँ वे सब अपने-आपको एक अनुभव करते हैं, जहाँ उन सब की मानवीय भावनाएं एक ही वेग और आवेग से उठती हैं—जहाँ वे हर विरोध और संघर्ष में एक हैं—बस इसकी पहचान ही लेखक की वह सब से बड़ी विशेषता है जो उपन्यास को सही क्रान्तिकारी उपन्यास बना देती है और संसार के उस सर्वश्रेष्ठ साहित्य के साथ उसे रखती है जो नई ज़िन्दगी के लिए लड़ रहा है।

यों तो इस सामान्य भूमि के उदाहरण क़दम क़दम पर मिलते हैं। दो स्थान तो वास्तव में याद रखने लायक हैं। अमल जब क़ैद स्वीकार कर लेता है और बाहर उसको छुड़ाने आए हुए साथियों से कहता है : "इसके अलावा कोई दूसरा रास्ता भी नहीं था सादिक !" सादिक नाराज़ होकर कहता है : "रास्ता नहीं था इसका क्या मतलब ? हमारे ऊपर आपने क्यों नहीं भरोसा किया ! क्या हम कुछ भी नहीं कर सकते थे ?" और उसे

देख कर अमल ने अपनी आँखें नीची कर लीं। दूसरा स्थल वह जब सुनील, जो रहमान के ऊपर अत्याचार होने की ख़बर पाकर जब सब सिपाहियों को उसका विरोध करते हुए देख कर कहता है : "क्या ज़रूरत है खगेन, इन सब झमेलों में फँसने की! घर लौटने के दिन तो नज़दीक हैं, अब ये चन्द दिन क्या मुँह बन्द करके काट देना ही अच्छा नहीं होगा!' वही सुनील रहमान को गोल पोस्ट पर लटकाए जाते देख कर कहता है : "नहीं बैठे-बैठे यह सब देखा नहीं जाता।"

इन सम्पूर्ण परिस्थितियों और वातावरण के अलावा लेखक ने पूरी फ़ौज को समय के साथ भी रखा है, युद्ध के नक्शे किस तरह तेज़ी से बदल रहे थे, हर घटना को सिपाहियों के सामने किस तरह रखा जाता था, उसका उन पर क्या प्रभाव पड़ता था, अमेरिका किस तरह अंग्रेज़ी फ़ौज में हावी हो रहा था, फ़ौजी ज़िन्दगी के साथ साथ हर जगह की सामाजिक और नागरिक ज़िन्दगी कैसे पारस्परिक रूप में प्रभावित हो रही थी, फ़ौज के बारे में साधारण आदमियों के विचार क्या थे—ये सब बातें हैं जिन्होंने उपन्यास को प्रथम श्रेणी का बना दिया है। जब पाठक उपन्यास समाप्त करके चुकता है तो ऐसा लगता है जैसे कम-से-कम वह दो साल फ़ौज की कठिन ज़िन्दगी बिता कर आया है।

लेकिन साथ ही एक कमी भी मुझे दिखाई दी। जहाँ सन् बयालीस के आन्दोलन के प्रति लेखक की पूरी सहानुभूति है, वहीं एक बहुत बड़ी घटना को उसने नज़रअन्दाज़ कर दिया है। जिन दिनों और जिन स्थानों का श्री बरेन बसु ने चित्रण किया है, यह एक बहु प्रचारित सर्वमान्य सत्य साधारण जनता में मान लिया गया है कि उन्हीं जगहों पर जापानियों के साथ हिन्दुस्तानी फ़ौज सुभाष बोस के अधिनायकत्व में लड़ रही थी, जगह-जगह अंग्रेज़ों की तरफ़ से लड़नेवाली फ़ौजों ने भी उनका साथ दिया था—वे उनमें जाकर मिल गयीं थीं। इस उपन्यास में इस सबका कोई ज़िक्र भी नहीं है यही नहीं जापानियों को फ़ासिस्ट प्रतीक बना कर एकाध जगह तो परोक्ष रूप से अंग्रेज़ों के युद्ध का समर्थन भी किया गया है—क्या यह एक ऐसी बात नहीं है जो लेखक को अन्तर्राष्ट्रीयता के पक्ष में राष्ट्रीयता के प्रति संदिग्ध बना देती है?

ऐसा अनजाने हुआ है, यह बात गले के नीचे नहीं उतरती, क्योंकि पाठक हर क्षण महसूस करता है कि लेखक बड़ा ही सचेत है, सैकड़ों बिछी रेल की पटरियों में इधर उधर न भूल कर वह सधी गति से एक पर निर्द्वन्द्व बढ़ा चला जा रहा है—अपना लक्ष्य, अपनी स्थिति, अपना सामर्थ्य, साधन और गति सब को वह खूब अच्छी तरह जानता है। जो लेखक इतनी कम पंक्तियों में पूरा युद्ध, उसमें भारतीय सिपाहियों की स्थिति ऐसे शक्तिशाली रूप में रख सकता है उसके लिए क्या कठिन है?

सिपाही पहाड़ियों पर चढ़ रहे हैं, रास्ते में युद्ध के और टूटे फूटे सामानों के अलावा उनकी निगाह एक आदमी के हड्डियों के ढाँचे पर पड़ती है—

सुनील ने कहा : 'बताओ तो यह कंकाल, जापानी का है या अंग्रेज़ का?

कुछ सैनिक वहाँ पर झुक कर लम्बाई चौड़ाई नापने लगे—एक ने गम्भीर होकर कहा : 'मालूम पड़ता है किसी अंग्रेज़ का है।'

दूसरे ने कहा : "अंग्रेज़ का होता तो क्या यहाँ ऐसे ही पड़ा रहता? ज़रूर किसी जापानी का है।" (मतलब अंग्रेज़ का होता तो सुन्दर क़ब्र बनी होती, फूल पौधे खिले होते, क़ब्र पर कुछ आकर्षक वाक्य खुदे होते—वीरता का बखान होता)

रबीन ने कहा : "जापानी का होता तो कलकत्ते में ले जाकर कर्ज़न पार्क में दिखाया जाता (अंग्रेज़ फ़ौज की वीरता की घोषणा के लिए) यह ज़रूर हमारी तरह किसी कंगाली का है।"

जो हो यह उपन्यास, साधारण पाठकों या हज़ारों की संख्या में फ़ौज में पिसनेवालों को एक नई चेतना देगा, उन्हें नई कथा, नई भूमि, नया वातावरण, नए पात्र देगा जो उनके इतने पास थे फिर भी वे उन्हें देख नहीं पाए थे; साथ ही हिन्दी के उन लेखकों को एक नई दिशा देगा जो घिसी-पिटी कथाओं को ही लेकर चलते हैं, या प्रयोगवाद में उलझे हैं। समाज और देश के प्रति जिनका कोई कर्तव्य नहीं है।

और सामयिकता और साहित्य पर सैकड़ों लेखों से अच्छा उदाहरण है। भाषा कहीं कहीं बंगाल का मोह नहीं छोड़ पाई है, लेकिन कुछ अच्छे मुहावरे हैं जो हिन्दी की शक्ति ही बढ़ाएँगे जैसे—माँ से मौसी का दर्द अधिक है—असली व्यक्ति को तो चिन्ता कम है हमदर्द अधिक दिखा रहे हैं। गाय मार कर जूता दान करना।

राजामण्डी,
आगरा

—राजेन्द्र यादव

मेरे नाम से आनेवाले पत्र

मैंने अपने बचपन में किसी सिनेमा में एक घटना देखी थी। उस समय वह मुझे बड़ी अजीब लगी थी। एक घर जल रहा था। कुछ लोग बड़ी फुर्ती से अन्दर के लोगों को बचाने के लिए दौड़ धूप कर रहे थे, कुछ और कीमती चीजें बचा कर बाहर लाने की कोशिश कर रहे थे। उस समय एक व्यक्ति (संभवतः वह नायक होगा) अपने हाथों में एक छोटी-सी संदूक ले कर बाहर आता है। प्राणों को संकट में डाल कर बचाने लायक कौन सी वस्तु उस पेटी में थी यह जानने के लिए मैं विकल था। जब पेटी खोली जा रही थी तो बैठे बैठे अपनी जगह गर्दन को ऊपर उठा कर अधीर वृत्ति से देख रहा था—और—और मैंने देखा उसमें किसी के पत्र रखे हुए थे।

इतना क्रोध आया मुझे उस व्यक्ति पर। आज मुझे अपने उस क्रोध पर हँसी आती है। मेरी नजर में सुन्दर सीपें, सुन्दर शंख 'चाक' (खड़िया) के रंगीन टुकड़े पत्रों से अधिक महत्व रखते थे। तब मैंने उस व्यक्ति को मन ही मन खूब बुरा भला कहा—'मूर्ख" कहा! यदि पत्रों की अपेक्षा उन पर के टिकटों को वह सुरक्षित रखता, तो मैं उसे क्षमा कर देता। परन्तु "पत्र" जैसी निष्प्रयोजन वस्तु के लिए उसने अपने प्राण संकट में क्यों डाले यह समस्या बहुत दिन तक मैं हल न कर सका।

और आज........ ......

मेरे पास भी एक सुन्दर पेटी है। उसमें मेरे मित्रों के पास से भेजे गए पत्र सुरक्षित हैं। बचपन में उस नायक की उपेक्षा करनेवाला मैं, आज मुझे मिलनेवाले पत्रों को बार बार पढ़ते रहता हूँ इस पर कोई विश्वास नहीं करेगा.........न करें।

समय परिवर्तन के साथ साथ मानव जीवन के उपेक्षित विषय उसके प्रेम और आकर्षण की वस्तु बन सकती है। इस पर मेरा पूरा विश्वास है।

प्रति दिन आनेवाली डाक की मैं बड़ी अधीरता से प्रतीक्षा करता हूँ। मेरी डाक में अधिकतर पत्र सरकारी काम काज से संबन्धित होने पर भी, मैं उन महत्वपूर्ण किन्तु अल्पजीवी पत्रों का औपचारिक समाचार लेकर, उनसे झट अलग होता हूँ और मेरे लिए प्रतीक्षा करनेवाले अपने स्नेहीजनों के पत्रों को उसी स्नेह से उठाता हूँ जैसे मधुर "पपी" (चुंबन) देने के लिए व्याकुल और प्रतीक्षा करनेवाले बालकों को वात्सल्य भरे हृदय से उठा लेते हैं। फिर कितनी ही देर तक हमारी बातचीत होती है। उस समय मुझे जो सुख की अनुभूति होती है उसमें स्नेह, वात्सल्य आदि कई भावनाओं का परिपाक रहता है। उस सुख की कल्पना सूरज की पहली सुनहली किरणों को देख कर उन्मुक्तता से नाचने, गाने और मधुर कलरव करनेवाले पक्षियों को ही हो सकती है।

छाया चित्रों द्वारा (चित्रों द्वारा) किसी व्यक्ति के बाहरी रूप का दर्शन कराया जा सकता है, परन्तु उसके भीतरी परिवर्तनों का यदि चित्र लिया जा सकता तो—पर, मेरे विचार से पत्र लेखकों की तत्कालीन भावनाओं का बोध करानेवाले चित्र ही तो हैं। लेखों में अपनी व्यक्ति-निष्ठ शैली को स्पष्ट कराने के लिए विशेष साहित्यिक गुणों की जरूरत होती है। परन्तु पत्रों द्वारा मन के भीतरी भावों को प्रगट करने के लिए किसी विशेष लेखन शैली, रचनातन्त्र अथवा साहित्यिक गुणों की आवश्यकता नहीं है। दिल से जो पत्र लिखे जाते हैं, उनमें लेखक के हृदय की झाँकी स्पष्ट या अस्पष्ट रूप से मिले बिना नहीं रहती।

यदि किसी समय मेरा मन चञ्चल अथवा अशांत हो जाए तो मैं पुराना "चित्र-संग्रह" (आलबम) लेकर देखते बैठता हूँ। परन्तु उदास और अशांत मन को दृढ़ बनाने की क्षमता "आलबम" की अपेक्षा मेरी उस पत्र-मंजूषा में है। एक एक पुराना पत्र निकाल कर पढ़ने लगता हूँ तो मुझे उनके फिर से पढ़ने के आनन्द के साथ जैसे फिर से मिलने की ही अनुभूति प्राप्त होने लगती है।

मेरे बचपन में, जापानी टिकियाँ—अब मुझे याद नहीं उन्हें उस समय क्या कहा जाता था—बड़ी प्रसिद्ध थीं। एक एक टिकिया पानी में डालते ही हरे भरे छोटे पल्लवों से वह अंकुरित और पल्लवित होती और उसे सुन्दर सुन्दर पुष्प भी लग जाते और पल भर में उसका बड़ा आकर्षक विस्तार होता था। यही अनुभव

मुझे पूरा पत्र पढ़ने पर होता है । स्मृति की आर्द्रता में एक एक पत्र तत्संबन्धी व्यक्तियों की सुख दुःख भरी घटनाओं के चित्र आँखों के आगे खड़े कर देते हैं और मैं उनमें कितनी ही देर तक खो जाता हूँ ।

'अण्णा' मास्टर के पत्र पढ़ते समय उनकी वृद्ध, शान्त और गम्भीर मूर्ति का दर्शन हो जाता है । उनके पत्र होते तो सीधे सादे ही हैं परन्तु वे बड़ी कोमल भावनाओं के स्पर्श से जैसे लिखे जाते हैं । उनका वात्सल्य से भरा हाथ मेरी पीठ पर फिर रहा है, यह संवेदना मुझे उनके पत्र पढ़ते हुए होती है । वे बहुत कम किसी को पत्र लिखते हैं । इसलिए उनके पत्र अनपेक्षित रीति से बरसनेवाली झड़ी के समान सुखप्रद होते हैं । पत्र लिखने के लिए वे ऊदे रंग का कागज़ लिए होंगे, मोती जैसे अक्षरों से उन्होंने बड़ी कोमलता से अपने दिल के भावों को पिरोया होगा । फिर धीरे से उस पत्र को ढङ्ग से मोड़ कर, उसे डाक पेटी में डालने के लिए खुद बाहर निकले होंगे । पत्र यथा स्थान यथा समय पहुँचेगा या नहीं इन शंकाओं से उनका मन अस्थिर हुआ होगा और डाक पेटी में पत्र डालने से पहले वे अपने हृदय से उस पत्र को लगाए होंगे । ये सारी बातें मुझे मालूम हैं । जिस किसी को पत्र लिखना हो तो 'अण्णा' जी की यही वृत्ति रहती है । पुत्री को ससुराल के लिए विदा करते समय जिस प्रकार पिता की आँखें सजल बन जाती हैं, दिल भर आता है, गला रुँध जाता है, उसी प्रकार 'अण्णा' जी मास्टर पत्र भेजते समय विकल हो जाते हैं ।

मेरा एक मित्र 'लेखक' है । वह समय समय पर पत्र भेजता है । सामाजिक विषमता और राजनीति के भोंदूपन पर खूब फटकारें रहती हैं । उसके जीवन का "दर्शन" भी बीच-बीच में व्यक्त होता रहता है । आगामी उपन्यास अथवा प्रबन्ध के संकेत भी उसके पत्रों में मिलते हैं पर उनकी प्रस्तावनाओं के विचार स्थूल रूप से मेरे पत्र में पहले ही प्रगट हुए रहते हैं । उसकी पत्नी लेखिका न सही पर अपना हृदय वह "ओवियों"* द्वारा सीधे सादे ढङ्ग से व्यक्त करती है । सहज गति से लिखी हुई ये "ओवियाँ" इतनी भावपूर्ण होती हैं, कि उनको बार-बार पढ़ने से मन कभी नहीं ऊबता ।

इन दोनों का बालक "किशोर" संवाददाता बनकर लिखता है । एक बड़े कागज़ पर समाचार पत्र की नकल करते हुए बड़े बड़े शीर्षक देता है और छोटे छोटे स्थम्भों में समाचार देता है और मेरे पास भेज देता है । उसमें घर की बातें रहती हैं, गाँव की मनोरंजक बातें भी दी जाती हैं । उसका यह समाचार पत्र, जब मैं हाथ में लेकर पढ़ने लगता हूँ, तो सोचने लगता हूँ, "आज का यह बाल-पत्रकार कल का विख्यात पत्रकार तो न होगा—"

लेखक न होते हुए भी पत्र लेखन का शौक मेरे मित्र को है, वह लिखता है :

"मेरे पत्र लेखन के शौक का लोग मज़ाक उड़ाते हैं ..शौक से उड़ाएँ...पर मैं तुमसे कहता हूँ, यदि कभी मुझे फाँसी का दण्ड सुनाया जाए और मेरी अंतिम इच्छा के सम्बन्ध में पूछा जाए तो मैं कहूँगा मेरे—अपने मित्रों को एक एक पत्र दिल खोल कर लिखने की मुझे अनुमति दी जाए ।" हँसिए मत ! मैं सच कहता हूँ मेरे लिखे हुए सब पत्र यदि कोई मेरे जीवन के संध्याकाल में एकत्र कर ला देंगे, तो संसार की वह अनमोल भेंट होगी मेरे लिए......"

अपने पत्रों के सम्बन्ध में इस मित्र का यह कितना आत्मविश्वास है । कोई इसे व्यर्थ की आत्मस्तुति कहेंगे पर वास्तव में इसके पत्र हैं बड़े अनमोल । महाकवि के समान कल्पना विलास इसके पत्रों में विलसता रहता है । उसके पत्रों के सम्बन्ध में बरती गई जरा-सी भी उपेक्षा वह सह नहीं सकता । यदि उनका एकाध पत्र खो दिया जाए तो जीवन भर वह फिर आपको पत्र न लिखेगा ।

लखनऊ में रहते समय मुझे एक प्रेमी घराने के आतिथ्य का अवसर मिला था । तीन महीनों तक मैं वहाँ मेहमान के नाते रहा । उस घराने में एक प्रेमी वृद्ध स्त्री थी जो सब पर अपने स्नेह की बौछार करती है । उन्हें "जीजी" पुकारते हैं । मेहमान होते हुए भी मुझे वे सब अपने प्रिय पुत्र के समान देखा करती थीं । मेरी वर्षगाँठ उन्होंने बड़े ठाठ से आयोजित की थी । आज दिन भी वे मुझे अपनी वर्षगांठ के अवसर पर कोई भेंट और सरस पत्र भेजा करती हैं ।

---

* 'ओवी' मराठी का एक छंद है ।

एक बार जब "जीजी" बीमार थीं तो मैंने उनका कुशल समाचार पत्र द्वारा जानना चाहा। तब उत्तर में उन्होंने लिखा था :

"पृथ्वी के जीवन का दाह होते देख कर आकाश का दिल भर आता है, और वह स्नेह भरे आँसू बहाने लगता है। वह आँसू...ममता की वह निर्मल भेंट......पृथ्वी छोटी छोटी सीपों में बन्द कर सागर के तले रख देती है। उनके विशुद्ध प्रेम के प्रभाव से उन आँसुओं का मोतियों में परिवर्तन होता है ठीक इसी तरह हम लोग आपके स्नेह भरे पत्रों का जतन करेंगे। आशा है एक दिन वह भी मोती बन जाए........"

"जीजी" का पत्र मुझे हिन्दी साहित्य का उत्कृष्ट गद्य काव्य प्रतीत होता है। बम्बई में रहने वाले मेरे एक मित्र को बड़े लम्बे लम्बे पत्र लिखने का बुरा शौक है। कभी कभी वे २० या २५ पृष्ठ तक पहुँच जाते हैं। अभी बम्बई में जब आँधी आई थी तब उसने लिखा था :

"जीवन में अनेक प्रकार की आँधियों का अनुभव हो जाता है पर आँधी का जीवन, अल्पकाल के लिए ही क्यों न हो, अनुभव लेने का संयोग अकस्मात् ही मिलता है। ऐसा स्वर्णावसर अनायास मिलने के कारण मैं बेचैन हो गया। घर में कदम टिक न सके। बाहर की चेतना में लीन होने के लिए मैं अधीर हो उठा।

आँधी की उस गति में सुई के समान चुभनेवाली लहरों के तुषारों का स्पर्श लेते हुए मैं लगातार चार घण्टे समुद्र के किनारे भटकता रहा। मेरे कमरे पर पहुँचने के बाद मुझे जल स्नात देख कर मेरे पड़ौसी मज़ाक उड़ाने लगे। बेचारे, गरम कपड़े पहन कर, मफ़लर गले के अतराफ कसकर बांध, आराम कुर्सी पर पड़े पड़े काफी का स्वाद ले रहे थे। मेरी दृष्टि में. उनमें और दीवार पर टंगे हवा से अस्थिर कैलण्डर में कोई अंतर न था।"

पत्र का आँधी पानी का वर्णन पढ़कर मुझे भी क्षण भर के लिए यह आभास हुआ कि मैं निसर्ग का वह क्रूर तांडव खुद अपनी आँखों से जैसे देख रहा हूँ।

निसर्ग की सुन्दरता के साथ साथ उसकी भीषणता में भी रम जानेवाले मेरे इस मित्र का मन बड़ा अजीब है। पूर्णिमा की स्निग्ध ज्योत्सना की तरह अमावस्या की घनी अंधेरी रात में भी उसे सुन्दरता का साक्षात्कार होता है। इसकी प्रतीति कभी कभी वह अपने पत्रों में इस प्रकार ला देता है।

हैदराबाद

पत्र लिखने में बहुत समय न गँवाने के लिए कई बार मैंने उसे सचेत किया है पर सच यह है कि उसके पत्र के लिए मैं कितना व्याकुल रहता हूँ यह केवल मेरा मन ही जानता है।

पर, सबसे अधिक यदि किसी की चिट्ठी मुझे प्रिय लगती है तो उषा की। तीन चार बरस की वह अपढ़ बालिका पर प्रतिमास अपने पिताजी की चिट्ठी के साथ वह अपनी चिट्ठी अवश्य भेजा करती है। वह चिट्ठी है एक सफेद कागज़ का टुकड़ा और उस पर खींची हुई आड़ी टेढ़ी लकीरें। इस अगम्य लिपि के द्वारा वह अपने मन के भावों को स्पष्ट रीति से व्यक्त करती है। कितनी स्वैर है उसकी लिपि। न उसे "व्याकरण" का बन्धन है न तन्त्र की मर्यादा। संसार की सब लिपियों कि अपेक्षा उसकी लिपि अधिक "स्वयंभू" और "स्वयं-सिद्ध" है।

और कितने ही पत्र मेरे सामने पड़े हैं। मेरे जीवन के कितने ही उदास और नीरस क्षणों को, सुखी और सरस बनाने का श्रेय इन्हें प्राप्त है।

ऐसे पत्रों की वृष्टि भी हो जाए तो मेरा जी कभी न रुकेगा। आकस्मिक अथवा अनायास भी ऐसे पत्र मुझे मिलते जाएँ तो संसार के किसी भी कोने में मैं सुख से रहूँगा। दूर किसी निर्जन द्वीप पर भी एकाकी रहने का मुझे अवसर मिले तो भी चिन्ता की बात नहीं पर मेरी अपनी पत्र-पेटी साथ रहनी चाहिए।

एक प्रसिद्ध लेखक ने पत्रों को जीवन का गीति काव्य (भावगीत) कहा है। मैं समझता हूँ ऐसे पत्र दो हृदयों की भावनाओं के दर्शन करानेवाली शिल्प गुफाएं हैं। विस्मृति की गड़गड़ाहट में कभी गड़प हों तब...ना, ना, इसकी कल्पना भी मैं नहीं सह सकता।

तभी तो मैंने पत्र मंजूषा पर "न मुरझानेवाले सुमन" ऐसा लिखा है :

कभी न मुरझानेवाले नितान्त ताजे रहनेवाले, अमिट सौरभ प्रदान करनेवाले यह अमर पुष्प नहीं तो और क्या हैं!

—चन्द्रकान्तराव गोडसे
एच. पी. एस.

पंजाबी लोकगीत

कुछ लोगों की यह धारणा है कि कविता के आनन्द का अनुभव मात्र शिक्षित वर्ग ही कर सकता है, पर वास्तव में देखा जाए तो उनकी यह धारणा भ्रमपूर्ण है। यदि शिक्षित वर्ग नाना प्रकार के छन्दोबद्ध गीतों द्वारा अपना मनोरंजन करता है, तो ग्रामीण व्यक्ति भी अपने छिटफुट गीतों द्वारा अपना मनोरंजन करते हैं। भले ही उनके गीतों में नाना प्रकार के छन्द न हों, शब्दाडम्बर न हो, अलङ्कारों की भरमार न हो, पर जो स्वाभाविकता, मर्मस्पर्शिता और हृदय पर प्रभाव डालने की शक्ति उनके गीतों में होती है, वह शिक्षित वर्ग की कविता में बहुत कम देखने को मिलती है।

किसी पुस्तक में पढ़ा था कि लोकगीतों का अध्ययन करते समय प्रान्त विशेष का समस्त हर्ष-विषाद, मान-अपमान, सुख-दुःख, धार्मिक विश्वास, रीति-रिवाज़ आदि सब हमारी आँखों में फिर जाते हैं और इस बात की सत्यता मुझे तब मालूम हुई जब मैंने स्वयं कुछ पंजाबी लोकगीत सुने।

लोकगीतों में हमारा धर्म, हमारी संस्कृति, हमारे पर्व, हमारे त्यौहार आदि सभी कुछ झाँकते रहते हैं। हमारे रीति–रिवाज़, अन्ध विश्वास, रूढ़ियाँ, नृत्य कला आदि ही लोकगीतों के आधार कहे जा सकते हैं। किसी भी प्रान्त का शायद ही कोई ऐसा लोकगीत होगा जो उपरोक्त में से किसी एक पर आधारित न हो।

ग्राम-गीत किसी एक कवि या व्यक्ति की संपत्ति और आवाज़ नहीं वरन् सारे समाज की और सारे प्रान्त की संपत्ति और आवाज़ हैं। और आज जब कि साहित्य में भी इनकी ओर ध्यान दिया जाने लगा है, ये साहित्य की संपत्ति और आवाज़ भी कहे जा सकते हैं।

इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि किसी भी लोकगीत का साहित्यिक मूल्य आँकना बड़ा कठिन काम है और उससे भी कठिन काम है यह पता लगाना कि उसका ऐतिहासिक महत्व क्या है। पर हमारे त्यौहार, रीति-रिवाज़ आदि का जब तक अस्तित्व रहेगा लोक-गीतों का महत्व तब तक कम नहीं हो सकता। हमारे लोक-गीत हमारे धर्म, पर्वों त्यौहारों आदि के प्राण हैं। यद्यपि लोकगीतों के विषय में कोई भी निश्चित रूप से नहीं कह सकता कि ये कब बने, किसने इन्हें लिखा; परन्तु इसके बावजूद ये लोकगीत हमें हमारे पूर्वजों, प्राचीन संस्कृति और अतीत के गौरव की याद दिला देते हैं।

हाँ, तो मैं पंजाबी लोक-गीतों की बात कह रही थी। पंजाबी लोकगीतों को चार भागों में विभक्त किया जा सकता है—(१) संस्कार गीत (२) ऋतु गीत (३) क्रिया गीत (४) जाति गीत।

हमारे यहाँ सोलह प्रकार के संस्कार होते हैं जिनमें पुत्रजन्म, मुण्डन, यज्ञोपवीत, विवाह और द्विरागमन विशेष रूप से मनाए जाते हैं। पुत्रजन्म के अवसर पर जो गीत गाए जाते हैं, उन्हें पंजाबी में 'होल्लर' कहते हैं। इन गीतों की प्रथा काफी पहले से चली आ रही है। इन गीतों में जो हर्षोल्लास एवं आनन्द की भावना रहती है वह वर्णनातीत है। नीचे का एक गीत देखिए जिसमें एक छोटी बहन अपने बड़े भाई के घर पुत्रजन्म के अवसर पर बधाई देने जा रही है।

ननद : वड्डे वीरे घर होल्लर जन्मेया नी
मैं चल्ली वधाइयाँ देण।
गड्डी देया गड्डवालेया जी मेरी गड्डी नू हौले हौले तोर
दुखन कन्ना दियाँ बालियाँ जी मेरे मत्थे पवे झकझोर।

भाभी : डाबो चन्दन चौंकियाँ जी लाला,
नणद खड़ी बुयो बार
वडे चिरादें बाद लाड़ो मेरीं, आई दरयाओं पार
गैनयाँ विच्चो हार चँगेरया जी लाला,
सो मेरी नणदी नू दे !

ननद : हार हवेलाँ अपने घर रखीं नी भावो
लैनियाँ फुलझड़ियाँ।

भाभी : फुलझड़ियाँ साहूकाराँ दे होन बीबी
साडे न फुलझड़ियाँ।
रुठडी ननदी लै औ गई जी लाला
नँघ गई दरया।
नगें नगें पैरीं बीबी दा वीर गया जी
अपनी भैणाँ नू ल्याया मना।

थाल भरया सुच्चे मोतियाँ दा जी,
लाला उपर फुलझडियाँ ।
हार हवेला नइयों पाँदी ननद
मेरी पहनेगी फुलझडियाँ ।
लैं दे के ननदी घर चल्ली, जी
अपने वीरे तू दे जाईं सीस ।

ननद : पोतीं पड़ोतीं मेरा वीर जीवे जी,
मेरी भावी दा अटल सुहाग ।
—बड़े भाई के घर पुत्र जन्मा है,
मैं बधाई देने जा रही हूँ ।
गाड़ीवाले तू मेरी गाड़ी को,
धीरे धीरे चला ।
मेरे बालियोंवाले कान दुखते हैं,
माथे में धमक पहुँचती है :

(बहन अपने भाई के घर पहुँच जाती है । वह द्वार पर खड़ी है । यह समाचार उसकी भाभी को मिलता है । अतः वह अपने पति से कहती है :)

चन्दन की चौकी बिछाओ लाला जी
ननद दरवाजे के बाहर खड़ी है
चिर काल के पश्चात् मेरी लाडो,
दरिया के पार से आई है ।

(और फिर भाभी का अनुरोध, ननद बैठ जाती है । कुशल क्षेम पूछने के उपरान्त वह अपनी ननद को उपहार दे रही है :)

गहनों में से हार चुना है लाला जी,
वह मेरी ननद को दीजिए ।

(पर यहाँ ननद अड़ जाती है । वह जानती है कि भाभी के पास फुलझडियाँ एक विशेष प्रकार का गहना है । अतः वह कहती है :)

हार वार अपने घर रखो भाभी,
मैं तो फुलझड़ियाँ लूँगी ।

भाभी : "फुलझड़ियाँ साहूकारों के यहाँ होगी बीवी,
हमारे यहाँ फुलझड़ियाँ नहीं हैं ।

(भाभी का स्पष्ट उत्तर सुन कर ननद के स्वाभिमान को ठेस लगती है । वह वैसे ही उठ कर चल देती है । और तब भाभी को पश्चात्ताप होता है । वह अपने पति से कहती है :)

रूठी हुई ननद तो वह गई लाला जी,
नदी पार कर गई ।

और फिर :

नंगे पाँव बहन का भाई गया,
और अपनी बहन को मना लाया ।
सच्चे मोतियों का थाल भरा है लालाजी,
ऊपर फुलझड़ियाँ हैं ।
मेरी ननद हार नहीं पहनती,
वह फुलझड़ियाँ पहनेगी ।
ले दे कर ननद अपने घर चली है,
अपने भाई को आशीष दे जाना ।

ननद : पौत्र प्रपौत्रों तक मेरा भाई जीवे,
मेरी भाभी का अटल सुहाग ।

पुत्र जन्म के इन गीतों में आनन्द के उल्लास का विशद वर्णन होना स्वाभाविक ही है । होल्लर के अन्तर्गत आनेवाले गीतों में जच्चा के हृदय को विभोर कर देनेवाली पंक्तियाँ तो हैं ही, वृद्ध जनों को हँसा देने की सामर्थ्य भी है । इन गीतों में गर्भावस्था का सांगो-पांग वर्णन भी मिलता है ।

मुण्डन और यज्ञोपवीत संस्कारों के अवसर पर गाए जानेवाले गीतों को 'मुण्डन' एवं 'जनेऊ के गीत' कहते हैं । मुण्डन के गीतों में 'माता दी भेंट' अर्थात् 'कुल देवी का चढ़ावा' गीत मुख्य है । स्त्रियों के कोमल कण्ठों से प्रसूत ये मंगल गीत अनायास ही श्रोताओं के हृदय में अपना प्रभाव स्थापित कर देते हैं । 'जनेऊ' के गीतों में यज्ञोपवीत के अवसर पर किए जानेवाले अनेक प्रकार के विधि-विधानों का वर्णन पाया जाता है । इन गीतों से पंजाब की प्राचीन सभ्यता एवं विधि-विधानों पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है ।

पंजाब में विवाह संस्कार काफी धूमधाम से होता है । इस अवसर पर होनेवाला कोई भी कार्य ऐसा नहीं होता जो बिना गीतों के संपन्न हो जाए । विवाह से एक महीना पूर्व ही स्त्रियाँ मंगल गीत गाना प्रारम्भ कर देती हैं । विवाह के छोटे से छोटे कार्य पर भी स्त्रियों के समवेत स्वर से गाए हुए गीत काफी सुन्दर होते हैं । उनके शब्द शब्द में हृदय का उल्लास बिखर पड़ता है ।

कन्या के विवाह पर गाए जानेवाले मांगलिक गीतों को पंजाबी में 'सुहाग' और लड़के के विवाह पर गाए जानेवाले गीतों को 'घोडियाँ' कहा जाता है ।

'सुहाग' के अन्तर्गत आनेवाले गीतों में अधिकतर कन्या की अपने माता पिता एवं अन्य सम्बन्धियों के प्रति विनय भरी प्रार्थना निहित रहती है जिनमें वह कहती है—मेरा विवाह दूर मत करना, मेरा वर सुन्दर और योग्य ढूँढ़ना, मुझे भूल मत जाना आदि।

इन गीतों में मधुरता के साथ साथ करुणा भरी रहती है जो अनायास ही हृदय को अपनी ओर खींच लेती है।

विवाह के पश्चात् विदाई के समय जो गीत गाए जाते हैं, वे 'वधावा' के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन गीतों में जो करुणा है, वह अन्यत्र शायद ही मिले। शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति हो जो इन गीतों को सुन कर सिसक न पड़े।

विदाई के समय पारिवारिक व्यक्तियों के गले मिलती हुई नव विवाहिता कन्या, करुण स्वर में विदाई का राग गाती हुई शहनाई और नेत्रों में अश्रु भरे हुए खड़ा जन-समुदाय इन गीतों को और भी अधिक करुण बना देता है। निम्नांकित मर्मस्पर्शी गीत देखिए जिसमें कन्या के लिए उसके पिता की गली पर्वत बन गई है—

"गलियाँ ताँ तेरियाँ बाबुल पर्वत होइयाँ,
अंगन होया परदेस रे।
सुन बाप मेरे क हर मन चाव रे, क दिल दरयाव रे।
माँ रोंदी दी अगियाँ भिज गई, बाप रोवे दरयाव रे।
सुन बाप मेरे क हर मन चाव रे, क दिल दरयाव रे।
वीर रोवे सारा जग रोवे, मेरी भावी दे मन चाव रे।
सुन बाप मेरे क हर मन चाव रे, क दिल दरयाव रे।
सठ सहेली बावल दर खड़ी, मैंनूँ नहीं मिलन दा चाव रे।
सुन बाप मेरे क हर मन चाव रे, क दिल दरयाव रे।"
—गलियाँ तो तुम्हारी बाबुल, पर्वत हो गई हैं,
आँगन परदेस हो गया है
सुनिये, पिताजी ! हर एक के मन में चाव हैं,
दिल दरिया सदृश्य है।
माँ के रोने से अंगिया भींग गई
बाप के रोने से दरिया भर गया
सुनिए, पिताजी ! हर एक के मन में चाव हैं,
दिल दरिया सदृश्य है।
भाई के रुदन से सम्पूर्ण विश्व रो उठा है
पर मेरी भाभी के मन में चाव है,
सुनिए, पिताजी ! हर एक के मन में चाव है,
दिल दरिया सदृश्य है।
ओ बाबुल, साठ सहेलियाँ द्वार पर खड़ी हैं
मुझे मिलने का चाव नहीं है—
सुनिए, पिताजी ! हरएक के मन में चाव है
दिल दरिया सदृश्य है।"

और इसके बाद डोली में बैठ कर जाती हुई अपनी कन्या को देख कर स्त्रियाँ करुण क्रन्दन कर गा उठती हैं:

"लै चलल्ले बावला लै चल्ले वे
मैंनूँ अज दी रैन कटा, बावल तेरा पुन्न होवे
पुन्न होवे परताप होवे
मैंनूँ अज दी रैन कटा बावल तेरा पुन्न होवे
सोलह तें वरसाँ रख लई,
रखियो न जावे रैन, धिए घर जा अपने
लै चल्ले बाबुला लै चल्ले वे
मैंनूँ अज दी रैन कटा, बावल तेरा पुन्न होवे"
—ले चले बाबुल ले चले ओ
मुझे आज की रात कटा दो, बाबुल तुम्हारा पुण्य होगा।
सोलह वर्षों तक तो रख ली,
अब रात भर भी नहीं रखी जाती, बेटी अपने घर जाओ
ले चले बाबुल ले चले ओ,
मुझे आज की रात कटा दो, बाबुल तुम्हारा पुण्य होगा।

दूसरे प्रकार के लोकगीत वे हैं जो मौसमी गीत के नाम से विख्यात हैं। पंजाबी में प्रत्येक ऋतु के अलग अलग अनेकों गीत हैं जो उन ऋतुओं में गाए जाते हैं। सावन के महीने का 'तीज' का त्यौहार पंजाब में 'तीयाँ' के नाम से विख्यात है। इस अवसर पर पंजाब के प्रत्येक ग्राम और शहर में लगातार पन्द्रह दिनों तक मेला लगता है। इस मेले में मात्र स्त्रियाँ ही जाती हैं और अपनी इच्छानुसार नाचती गाती हैं। स्थान स्थान पर झूले पड़ जाते हैं जिससे अपनी इच्छानुसार कुछ स्त्रियाँ झूलों पर और कुछ अपनी अलग अलग मण्डली बना कर गाती हैं। उस समय स्त्रियों के विभिन्न गीतों से वातावरण में एक अजीब प्रकार की मस्ती छा जाती है। अधिकांश मण्डलियों में संगीत के साथ साथ नृत्य भी होता है और तब नूपुरों की झंकार के साथ सम्मिलित सावन के गीत हृदय को मुग्ध कर देते हैं।

ये गीत प्रायः विरह प्रधान होते हैं। वैसे संयोग प्रधान गीत भी होते हैं, पर जो मर्मस्पर्शिता विरह प्रधान गीतों में पाई जाती है वह संयोग प्रधान गीतों में नहीं।

नीचे का एक गीत देखिए जिसमें एक स्त्री बादल से अपने पिता के देश में बरसने के लिए कहती है :

"बरसीं ताँ बरसीं मीहाँ मेरे बावल दे देस,
होर वी वरसीं सौहरे क्यारियाँ।
वरसिया ताँ वरसिया बीवी तेरे बावल दे देस
होर बी बरसिया वीवी सौहरे क्यारियाँ।"
—वरसना, बरसना हे मेघ मेरे पिता के देश में
और ससुराल की क्यारियों पर भी वरसना
मैं बरस आया हूँ, बरस आया हूँ,
हे कुलवधू, तेरे पिता के देश
और बरस आया हूँ, हे कुलवधू,
तेरे ससुराल की क्यारियों पर भी ;

इन ऋतु गीतों के अतिरिक्त बारह मासा प्रमुख है जो प्रत्येक ऋतु में गाया जाता है। बारह मासे में वर्ष भर के सुख दुःख का बहुत सुन्दर वर्णन किया जाता है।

पंजाब में भिन्न भिन्न जातियाँ भिन्न भिन्न प्रकार के गीत गाती हैं। जैसे गुर्जर लोग 'गुर्जरी' और पहाड़ी लोग 'झंझोटी' विशेष रूप से गाते हैं। इसके अतिरिक्त जाट लोग भी अपनी लम्बी लम्बी तानवाले गीत गाते हैं, जिन्हें यदि पंजाबी के पक्के गाने कहा जाए तो अत्युक्ति न होगी।

निम्न गीत पहाडियों की झंझोटी है जो काफी सुन्दर है :

"मेरे माही दा हो भल्ला वे मजाजिया
पटुआ गुन्द लैन दे
कोठे उत्ते मैं खड़ी, कोई खड़ी सकावाँ केस
इधर उधर मैं देख्या, कोई नजर न आया देस
मेरे माही दा हो भल्ला वे मजाजिया
पटुआ गुन्द लैन दे।
नदी कनारे मैं खड़ी, कोई पापी रुढ़या आय
सस्स मेरी दा पुत्तर लाया, गल नाल लैया ए लाय
मेरे माही दाहो भल्ला वे मजाजिया
पटुआ गुँद लैन दे
नदी कनारे बगला बैठा, चुन चुन मच्छियाँ खाय
बगले दे मैं सोटी मारी, तड़फ तड़फ मर जाय
मेरे माही दा हो, भल्ला वे मजाजिया
पटुआ गुँद लैन दे।"
—मेरे माही का भला हो, ओ मिजाजी, सेहरा गूँथ लेने दो
कोठे उपर खड़ी मैं केश सुखा रही हूँ।
मैंने इधर उधर देखा पर कोई देश नजर नहीं आया
मेरे माही का भला हो, ओ मिजाजी, सेहरा गूँथ लेने दो
नहीं किनारे मैं खड़ी हूँ, कोई पापी बहता आ रहा है
मेरी सास का पुत्र है, मैंने उसे गले से लगा लिया
मेरे माही का भला हो, ओ मिजाजी सेहरा गूँथ लेने दो
नदी किनारे बैठा वगुला मछलियाँ चुन चुन कर खा रहा है
बगले को मैंने छड़ी मार दी, वह तड़फ तड़फ कर मर गया
मेरे माही का भला हो, ओ मिजाजी, सेहरा गूँथ लेने दो।

इन गीतों के अलावा बहुत से ऐसे मुलक गीत भी हैं जिन्हें हम किसी भी श्रेणी में नहीं रख सकते। वे स्वतंत्र रूप से गाए जाते हैं। वैसे तो पंजाबी लोकगीतों में सभी रसों की अभिव्यक्ति हुई पर प्रधानता करुणा की है जो गीतों के नारी समाज के निकट अधिक पल्लवित होने के कारण स्वभाविक भी है।

निम्नांकित एक गीत देखिए जिसमें कोई स्त्री पति के वियोग जन्य कष्टों की आशंका से पति से परदेश न जाने का अनुरोध करती है—

"दम्मा देया लोभिया परदेस न जाईं
कताँगीं मैं तिकड़ा, घर वैठ के खाईं"
— ओ, धन के लोभी, तुम परदेश मत जाना
मैं बारीक सूत कातूँगी, तुम घर वैठ कर खाना

इनके अतिरिक्त पंजाबी लोकगीतों में 'टप्पे' भी अपना एक विशिष्ट स्थान रखते हैं। इन टप्पों में शृंगार के अन्य भेदों प्रभेदों के साथ ही साथ नायक नायिका के हाव भावों का भी काफी विशद वर्णन मिलता है। शिष्ट हास्य भी पाया जाता है, जो हृदय को विभोर कर देता है। इनमें विरह वर्णन प्रमुख है। दो दलों में विभक्त होकर स्त्रियाँ जब टप्पे गाती हैं, तब अजीब समाँ बँध जाता है और श्रोता मुग्ध हो उठते हैं।

सभी लोकगीतों की तरह पंजाबी लोकगीतों का अध्ययन अत्यन्त महत्वपूर्ण है। सामाजिक तथा सांस्कृतिक दृष्टि से इनका जितना भी मूल्य आँका जाय थोड़ा होगा। इन लोकगीतों में ऐसे अनेक नए शब्द और मुहावरे भरे पड़े हैं जिनके अपनाने से हिन्दी साहित्य की अभिवृद्धि होगी।

भदैनी,
बनारस

— महेन्द्र 'राजा'
मोहिनी शर्मा

सूर तथा पोतन्ना

भारत में गीता के बाद भागवत का स्थान महत्त्वपूर्ण माना जाता है। गीता की रचना महात्मा व्यास ने की थी। और इनके साथ साथ उन्होंने भागवत और महाभारत का भी सृजन किया था। किन्तु तेलुगु साहित्य में व्यास-भागवत देवी भागवत के नाम से प्रसिद्ध है। पोतन्ना ने जिस भागवत का उल्था किया उसके रचयिता श्री बोपदेव थे। ये महाराष्ट्र के रहनेवाले थे। कहा जाता है कि उन्हीं बोपदेव ने पुनर्जन्म में पोतन्ना का रूप धारण किया।

संस्कृत भागवत में २०,००० श्लोक हैं। कुछ लोग २२,००० भी मानते हैं। तेलुगु भागवत को पोतन्ना ने ३०,००० पद्यों से सुशोभित किया था तो सूरदास ने सवा लाख पदों से परन्तु प्राप्त हैं केवल ७, ८ हज़ार ही।

पोतन्ना का जन्म शा. श. १३०० * में हुआ था। (अर्थात् सन् ई. १३७७ में)। सूरदास का जन्म विक्रम सं. १५४० में हुआ था। इससे हम इस निर्णय पर पहुँच सकते हैं कि ये दोनों समकालीन नहीं थे।

भागवत का मूल रूप संस्कृत में ही है। लेकिन भक्त कविजनों ने अपनी अपनी भाषा में अनुवाद करके समाज का बड़ा उपकार किया था। उस समय प्रान्तीय भाषाएँ प्रौढ नहीं थीं। सब कहीं संस्कृत का ही बोलबाला था। उसी भाषा को राजाश्रय प्राप्त था। अतः दक्खिन की सभी भाषाएँ प्रायः ईसा के पूर्व अंधकार में थीं।

तेलुगु का साहित्य ११ वीं शताब्दी में विकास के पथ पर पग धरने लगा था। कवित्रय (नन्नय, एर्रप्रिगड, तिक्कन्ना) ने राजाश्रय में रह कर ही महाभारत का तेलुगु में अनुवाद किया था जैसे वीरगाथा काल के कवियों ने राजाश्रय में रह कर साहित्य की सृष्टि की थी। किन्तु भक्ति-काल में उत्तर भारत में कवियों को राजाश्रय प्राप्त न था लेकिन दक्षिण में राजा लोग कवियों को खूब प्रोत्साहन दे रहे थे। तथापि भक्त कवियों ने भूभर्ता को अपनी कृति को सौंपना अपमान समझा। वे अपने इष्टदेव को ही कृतिभर्ता बनाने में आत्म-सम्मान का अनुभव करते थे।

१४ वीं शताब्दी में सर्वज्ञ सिंगमराजा की मृत्यु हुई। दक्षिण हिन्दुस्तान कई टुकड़ों में विभक्त हुआ। ओरुगल्लु × अपने प्राचीन वैभव को खो बैठा। दक्खिनी पठार का स्थान जहाँ बहमनी साम्राज्य था तुरुष्कों के अधीन हो गया था।

उत्तर में मुग़ल सेना के संचालक तैमूर लूटने में लगे हुए थे। वहाँ का राज्य भी विभक्त हो गया था। हिन्दु जनता निराश्रित थी। और असहाय जनता ने भगवान पर भरोसा रख कर भविष्य की ओर देखा। उनका विश्वास था कि भगवान अपने भक्तों की रक्षा करेंगे। सोमनाथ मन्दिर के गिराये जाने पर सगुण भगवान उनकी रक्षा न कर सके अतः निराकार भगवान की ओर भी कुछ लोग आकर्षित हुए। इस प्रकार भक्ति की विभिन्न धाराएँ भारत में बहने लग गईं। रामानन्द, कबीर इत्यादि के गानामृत का बोध और भक्तों की वाणियाँ चारों ओर सुनाई देने लगीं।

ऐसी स्थिति में पोतन्ना ने प्राचीन आन्ध्र के वैभव का स्मरण किया और वर्तमान से उसकी तुलना की। वर्तमान समाज अन्धकार के गहन गड्ढे में विलीन होता जा रहा था और वे भविष्य की कल्पना कर सिहर उठे।

पोतन्ना ने अपनी बाल्यावस्था में 'भोगिनी दंडकम्' की रचना की थी। वे बड़े रसिक थे। उनके सिर पर यौवन और दारिद्रय सवार थे। आर्थिक संकट ने उन्हें राजाश्रय में जाने को बाध्य किया। अतः उन्होंने राजाश्रय में जाने का निश्चय तो किया लेकिन आत्म-आलोचन करने के पश्चात् राजाश्रय में जाने से अपने आपको रोक लिया।

इस प्रकार जब पोतन्ना कोई रास्ता न पाकर किंकर्तव्य विमूढ़ हो गये थे तब चिदानन्द योगी ने इन्हें मार्ग दिखाया। भगवान की उस परम सत्ता व महिमा का वर्णन किया जो त्रिकालों में भक्तों की रक्षा में लगे रहते हैं। गुरु का प्रभाव इन पर दिन-ब-दिन बढ़ता

---

* शालिवाहन शक को ७७ वर्ष जोड़ने से सन् ई० होगा। १३४ वर्ष मिलाने से वि. सं. होगा।

× ओरुगल्लु वर्त्तमान हैदराबाद में स्थित है।

गया। ईश्वर को समझने में देर नहीं हुई। पहले ये शिवोपासक थे। अब इनका हृदय विशाल हो गया। 'एकमेवाद्वितीय ब्रह्म' का बोध हुआ--राम, कृष्ण, हरि इत्यादि शब्द भगवान् के पर्यायवाची मालूम हुए। दया, सत्य और पवित्रता की उपासना करने लगे और वासनाओं से विरक्ति भाव पैदा हुआ।

काव्य-क्षेत्र में भी अन्य कवियों ने काफी साधना की थी। इनके पहले भास्कर कवि ने रामायण की रचना की थी। इसका प्रभाव पोतन्ना में परिवर्तन ला रहा था। कहते हैं एक दिन ईश्वर की उपासना में पोतन्ना मग्न थे। तब इन्हें आकाश-वाणी सुनायी दी, "श्री मद्भागवत की रचना करो, भवबंधन से मुक्ति मिलेगी" इसी उपासनावस्था में इनके मुँह से अचानक ये शब्द निकल पड़े :

"ओनरन् नन्नयादि कवुली युर्विन बुराणावलुल
तेनुगुन जेयुचु मत्पुराकृत शुभोदिक्यंबु दानेह्लिदो
तेनुगुन जेयरु मुन्नु भागवतमुन् दीनिन् देनिगिंचि ना
जननंबुन् सफलंबु जेसद बुनर्जन्मंबु लेकुंडगन्"

नन्नय आदि कवियों ने पुराणों का अनुवाद तेलुगु में करके अपने जन्म को सफल बनाया है। महाभारत और रामायण के अनुवाद हो चुके हैं किन्तु भागवत के लिए अभी तक यह भाग्य प्राप्त नहीं है। अतः भागवत का अनुवाद करके मैं अपने जन्म को पुनर्जन्म के बन्धनों से मुक्त बनाऊँगा।

उपर्युक्त पद्य में पोतन्ना ने अपने काव्य लिखने के उद्देश्य बताए हैं। ये केवल नाम, प्रतिष्ठा और पैसे के लिए रचना नहीं करते थे। इनका उद्देश्य भवबन्धन से मुक्ति पाना था। जहाँ सूरदास ने व्यास भागवत का अनुवाद किया था, पोतन्ना ने बोपदेव के भागवत का आन्ध्रीकरण किया है क्योंकि महाराष्ट्र आन्ध्र का सीमाप्रान्त है। ओहगल्लु (वरंगल जहाँ पोतन्ना रहा करते थे, महाराष्ट्र से सन्निकट सम्बन्ध रखता था। भाषा का भी पारस्परिक सम्बन्ध था। अतः बोपदेव का संस्कृत भागवत उन्हें अधिक रुचिकर रहा। उसके अनुवाद में पोतन्ना को आशातीत सफलता प्राप्त हुई।

जैसे सूरदास जी वल्लभाचार्य से दीक्षा लेकर उनके उपदेशानुसार भागवत की रचना में मग्न हुए थे, वैसे ही चिदानन्द योगी का उपदेशामृत पोतन्ना को प्राप्त था। पोतन्ना के समय में दक्षिण में भक्ति की धारा अबाध गति से बहने लग गयी थी। यों तो पोतन्ना सूर के ठीक एक शताब्दी पहले हुए थे और सूर के जन्म के पहले ही पोतन्ना की मृत्यु हो गई थी। अतः ये दोनों समकालीन न होते हुए भी अनेक विषयों में इनमें समानता पायी जाती है :

(१) दोनों भक्त तथा प्रतिभावान थे।

(२) दोनों ने काव्य-रचना के लिए गुरु का प्रोत्साहन पाया।

(३) दोनों किसी राजा को अपनी कृति देने तैयार न थे।

(४) दोनों अपने उपास्य देव की लीला में मग्न थे। जहाँ सूर अपने इष्टदेव के साथ खेला करते थे, पोतन्ना भगवान के पदरज के पास पड़े रहने में ही अपना गौरव मानते थे।

(५) दोनों का काव्यगत विषय एक ही था। यद्यपि दोनों का क्षेत्र एक था फिर भी उपासना-पद्धति, व्यावहारिक जीवन, समाज के प्रति दृष्टिकोण तथा जीवन-निर्वाह के विषयों में दोनों बिलकुल भिन्न दिखाई देते हैं।

अन्तर : (१) काव्य की रचना में पोतन्ना को केवल चिदानन्द योगी की ही नहीं बल्कि श्रीरामचन्द्र की भी प्रेरणा मिली थी।

(२) सूर कृष्ण के रूप माधुर्य के ही उपासक थे और वे बालकृष्ण में ब्रह्माण्ड देखा करते थे। पोतन्ना कृष्ण को केवल गुणनिधान मानते थे और उनके विराट स्वरूप की उपासना करते थे।

(३) 'भ्रमरगीत' में सूर ने ज्ञान और भक्ति की होड़ लगाई तथा विभिन्न प्रकार की दलीलों को उपस्थित कर के उद्धव का घमंड चूर कराया। पोतन्ना ने गोपियों को आध्यात्मिक रूप देकर आदर्श-प्राय बनाया।

(४) पोतन्ना परिवार के साथ रहा करते थे। उन्हें पारिवारिक जीवन का अच्छा अनुभव था। इतना होते हुए भी वे पहुँचे हुए भक्त थे. सूर भक्त ही नहीं संत भी थे।

(५) भक्त तो दोनों थे, किन्तु पोतन्ना शिव एवं राम के भक्त थे। सूर केवल कृष्ण ही के उपासक थे।

(६) सूर ने बालक्रीड़ा और रासलीला को अधिक प्रधानता दी। पोतन्ना ने जीवन के विविध पक्षों का आदर्शपूर्ण अनुभव समाज के सामने रखा।

(७) पोतन्ना के सामने राजा की ओर से जो कठिनाइयाँ उपस्थित की गईं उनसे सूर सर्वदा मुक्त थे।

(८) पोतन्ना ने अपनी भक्ति के बल पर राजा और श्रीनाथ कवि को झुकाया था। इस प्रकार की घटना सूर के जीवन में कोई घटी ही नहीं।

(९) सूरदास अपने ईश्वर के साथ हठ भी करते दिखाई देते हैं। ये सख्य भाव के उपासक थे। पोतन्ना तो विनयशील थे इनकी भक्ति दास्य भाव की है।

(१०) दशम स्कंध के वर्णन में सूर ने जिस प्रतिभा और मनोविज्ञान के दर्शन कराए उसे पोतन्ना नहीं दिखा सके।

(११) जहाँ दशम स्कंध के वर्णन में सूर ने गागर में सागर भर दिया तो पोतन्ना ने सप्तम स्कंध में प्रह्लाद का वर्णन करते हुए नवों रसों का जिस प्रकार से दिग्दर्शन कराया उसमें उनकी प्रतिभा प्रस्फुटित हुई है।

विशेषताएँ: (१) अनुवाद करने में पोतन्ना ने जिस पद्धति का अनुसरण किया वह अनोखा एवं प्रशंसनीय है।

(२) कठिन स्थलों पर उसकी व्याख्या करते हुए विषय को सरल एवं बोधगम्य बनाने का प्रयत्न किया और मूल भावों की रक्षा की।

(३) नीरस घटनाओं को सरस बना कर काव्य का महत्व बढ़ा दिया।

(४) कविता वैचित्र्य से दूर रहनेवाले वेदांत विषयों का प्रतिपादन मधुर एवं कोमल शब्दों से सुसज्जित कर उसमें कमनीयता की गंध पैदा की।

(५) मूल भावों की रक्षा में बड़ी होशियारी दिखाई है और आवश्यकता पड़ने पर बीच–बीच में छोटी-छोटी घटनाओं को और जोड़ कर सरस बनाया।

(६) छन्द, अलंकार और रसों की दृष्टि से काव्य प्रौढ़ कहा जा सकता है।

इन उपर्युक्त घटनाओं से पोतन्ना का भागवत केवल अनूदित नहीं रहा और उसने स्वतंत्र महाकाव्य का रूप पाया है। अतः पोतन्ना को महाकवि कहने में कोई अतिशयोक्ति न होगी। काव्य के सभी लक्षण भागवत में विद्यमान हैं और कवि के गुण पोतन्ना में हैं।

सूर ने भागवत का पोतन्ना जैसे छायानुवाद ही किया था, लेकिन दशम स्कंध सूर की सृष्टि कहें तो कोई अत्युक्ति न होगी। इसे सूर ने इतना सरस बनाया कि पाठक गण पढ़ते पढ़ते स्तब्ध रह जाते हैं और उनकी महिमा गाने लगते हैं। यहाँ स्थानाभाव के कारण पोतन्ना की काव्यगत विशेषताएँ बता कर लेख समाप्त करना हमारा अभीप्सित है।

दोनों कवि स्वतन्त्र प्रकृति के थे। ये अपनी कृतियों को किसी राजा को सौंपने में काव्य तथा कवि का अगौरव मानते थे। दोनों ने अपने काव्य की रचना भगवान को कृतिभर्ता मान कर की। पोतन्ना का यह पद्य इसका सुन्दर उदाहरण है:

''इम्मनुजेश्वराधमुल किच्चि पुरंबुलु वाहनंबुलन्
सोम्मुलु कोन्नि पुच्चुकोनि सोक्कि शरीरमु वासि कालुचे
सम्मेट व्रेटुलन् बड़क सम्मति श्रीहरि किच्चि चेप्पेनी
बम्मेर पोतराजोकडु भागवतम्बु जगद्धितंबुगन्''

इस काव्य को किसी राजा को सौंप कर प्रतिफल के रूप में उनसे नगर, वाहन, आभूषण लेने से परलोक में यम की यातनाएँ भोगनी पड़ेंगी। उनसे दूर रहने के लिए मैंने अपनी इच्छा से काव्य को विष्णु को सौंप दिया। इस कृति का स्वामी मनुष्य मात्र नहीं बन सकता। मानव इसका कृतिभर्ता बनने के लिए सर्वथा अयोग्य है।

पोतन्ना का भागवत इतना लोक प्रसिद्ध हुआ कि कर्नाटक के राजा ने मुग्ध हो कर उसे पाने की इच्छा से पोतन्ना के मित्र एवं रिश्तेदार श्रीनाथ को मनवाने भेजा। उस समय पोतन्ना खेत में काम कर रहे थे। श्रीनाथ ने उनसे कुशल प्रश्न पूछा।

"कृषक महाशय! कुशल तो हैं?"

तब पोकन्ना ने उत्तर दिया:

"बाल रसाल साल नव पल्लव कोमल काव्य कन्यकन
गूलल किच्चि यप्पडुपु कूड्डु भुजिंचुट कण्टे सत्कवुल
हालिकुलैन नेमि गहनान्तर सीमल गन्ध मूल कों
द्दालिकुलैननेमि निजदार सुतोदर पोषणार्थ मै।"

आम के कोमल पत्तों जैसी काव्य–कुमारी को उन दुष्ट लोगों के हाथों में सौंप कर सुख भोगने की अपेक्षा सत्कवि जङ्गलों में अपनी पत्नी तथा संतान का पेट भरने के लिए खेती करना अपने गौरव की बात समझते हैं। हम इतने नीच नहीं हैं कि पवित्र काव्य-कुमारी को अयोग्य एवं मूर्खों के कर्कश हाथों में सौंप दें। इससे बढ़ कर पापकार्य और कौन हो सकता है! ऐसे मूर्खों के लिए लानत है! धिक्कार है!! अपना पेट पालने

के लिए हम स्वावलम्बी बन कर कानन सीमा में अन्न पैदा करेंगे। उससे जो कुछ भी रूखा-सूखा, कन्द मूल और फल मिलेंगे उसी से तृप्त होंगे। इसमें भले ही हमें कठिनाइयों का सामना करना पड़े किन्तु हम अपनी वाणी को धातु के टुकड़ों पर बेचना नहीं जानते हैं। हम मनुष्य हैं। इस नाते मानवता की रक्षा करना चाहते हैं। इसी में हमें सुख है, गौरव तथा आनन्द है।

यह सुन कर श्रीनाथ अवाक् रह गये। उन्होंने कल्पना तक न की थी कि पोतन्ना से ऐसा उत्तर मिलेगा। कहने के लिए उनके पास कोई उत्तर भी नहीं था। लज्जा से शिर झुकता जा रहा था। विनम्रता के साथ उन्होंने विनती की—कृषक जीवन ही सर्वश्रेष्ठ है। किसान ही संसार का पालनहार है। फिर "धनमूलमिदं जगत्" कहावत भी इस समय भूली नहीं जा सकती। इसके अभाव में कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त मैंने राजा को वचन दिया है कि भागवत को अवश्य दिलाऊँगा। मेरी लाज रखिए। श्रीनाथ की परिस्थिति सुन कर पोतन्ना चिन्ताग्रस्त थे। कोई जवाब नहीं दिया। उनको मौन रहते देख श्रीनाथ ने सोचा "मौनं अंगीकार सूचकं"। वापस गए और यह खबर उन्होंने राजा को दी।

इस प्रकार वे श्रीनाथ की बातों पर विचार करके तिलमिला उठे। उन्हें अपनी भूल मालूम हुई। वह सोच रहे थे कि मैंने श्रीनाथ को अपना निर्णय नहीं सुनाया। उन्होंने जाकर राजा से कहा होगा कि पोतन्ना अपना काव्य सौंपने को तैयार है। राजा के पूछने पर मैं जवाब क्या दूँ? मैं चुप रह गया। मेरी बुद्धि उस समय काम नहीं कर सकी। इस चिंता में वे लीन थे। उसी समय उनकी आँखों के सामने वाणी की देवी सरस्वती आँसू गिराते हुए दिखाई दी। तब उन्हें यह ज्ञात हुआ कि उनके चुप्पी साधने के कारण ही सरस्वती ने सोचा होगा कि मैं उन्हें दुष्टों के हाथ सौंप रहा हूँ। तब भारती को विश्वास दिलाते हुए पोतन्ना ने कहा :

"काट्टुक कंटिनीढ चनुगट्टु पइन बडनेल येड्च दो
कैटभ दैत्य मर्दनुनि गादिलि कोडल यों मदम्ब श्रो
हाटक गर्भुराणि निनु नाकटिकिन गोंपोड यल्ल
कर्नाट किरात कीचकुल कम्म त्रिशुद्धिग नम्मु भारती!"

हे सरस्वती! क्यों इस प्रकार अश्रुधारा बहा रही हो! तुम्हारी कज्जलमयी आँखों से बहने वाली अश्रुधारा मेरे हृदय को विदीर्ण कर रही है। तुम्हें किस बात की कमी है? तुम तो वसुन्धरा की माता हो, तुम्हें मैं इस बवंडर से बाहर लेजा कर किसी किरात या हृदयहीन राजा को सौंप नहीं सकूँगा। मनोवाक्काय कर्मणाओं (मन, वाक् तथा कर्म) से विश्वास करो।

इस प्रकार सरस्वती को आँसू बहाते देख पोतन्ना का हृदय भी रो पड़ता है। दारिद्र्य बाधा से पीड़ित हो कर भी पोतन्ना यह विश्वास दिलाते हैं कि मैं ऐसा नीच काम करके अपना आत्मघात कभी नहीं कर सकूँगा।

पढ़ते पढ़ते पाठकों के हृदय करुणाप्रेरित उन भावों से द्रवीभूत हो जाते हैं। करुण रस बाँध तोड़ कर उमड़ पड़ता है। इस प्रकार महाकवि पोतन्ना रुलाते हैं और रोते हैं। और यह अपील करते हैं कि कविता पवित्र वस्तु है। उसे धन के लोभ में पड़ कर नीचों के हाथों में सौंप कर सरस्वती के साथ अन्याय नहीं करना चाहिए।

इधर जब श्रीनाथ ने जाकर कर्नाटक राजा को खबर दी कि पोतन्ना अपनी कृति सौंपने आ रहे हैं तो उनको न आते देख राजा क्रुद्ध हो जाते हैं और एक दिन शिकार खेलते खेलते पोतन्ना के यहाँ पहुँच जाते हैं। पोतन्ना के इनकार करने पर फ़ौज के बल से उस काव्य को हस्तगत करना चाहते हैं। तब तक भागवत की पूर्ति नहीं हुई थी। श्री रामचन्द्र स्वयं उनकी रक्षा कर रहे थे। भगवान तो भक्तों के बड़े हिमायती हैं। उनके साथ रहने पर पोतन्ना का कौन क्या कर सकता था? राजा ने पोतन्ना का घर जलाया। कई प्रकार की यातनाएँ दीं। सबको पोतन्ना भगवान की इच्छा समझ कर सहन करते जा रहे थे। अन्त में पोतन्ना के महत्व को राजा समझ जाते हैं और उनकी आँखें खुलती हैं। वह उस कृति के भर्ता होने में अपने को अयोग्य मानते हैं और पोतन्ना से क्षमा याचना करते हैं।

—बाल शौरिरेड्डी

हिन्दी प्रचार सभा,
मद्रास १७

कमला के बेटा !

सम्भवतः कमला के लिए इससे बड़ा दुर्भाग्य और कोई नहीं हो सकता कि उसका एकमात्र पुत्र अलिन पागल हो जाए। वह अभी दस वर्ष का था। उसकी सुन्दरता, मोहकता कमला के मन में बसी थी, लगभग दो वर्ष हुए कि अलिन टाईफाइड में पड़ा। उसी रोग में डाक्टर ने इन्जेक्शन लगाए तो उसकी गर्मी अलिन के मस्तिष्क में पहुँच गई। फलस्वरूप, मस्तिष्क दुर्बल और विकृत हो गया। टाईफाईड का बुखार तो चला गया, परन्तु वह रोगी को पहिले से अधिक चञ्चल और अधीर बना गया। उसका प्रभाव अलिन की माँ पर भी पड़ा और पिता पर भी। किन्तु अलिन के पिता आनन्द बाबू केवल घर में तो रहते नहीं थे, वे सुबह निकलते और शाम को लौटते। उनके पास इस बात के लिए अनेक साधन थे कि स्वस्थ रहें, निश्चिन्त रहें। किन्तु कमला इस अवस्था से दूर थी। वह रात के कुछ घण्टों को छोड़ कर शेष समय में घर और अपने अलिन की सीमा में बँधी रहती। कैसी विवशता थी उसकी कि नारी थी और माँ थी। दिन में वह शाश्वत भाव से माँ बनी रहती और रात में मानो निराकार रूप से मोहिनी रूप धारण कर सुन्दर, सलोनी और मधुर पत्नी बनने के लिए विवश होती थी। वह दिन भर के थके हुए पति के सामने अपने यौवन की—नारी जीवन की मानो समस्त कलापूर्ण कृति समेट कर समर्पण का अभिनय करती और उस पति के जीवन में लीन हो जाने की असफल चेष्टा करती। उसके पति के अन्तर में जो कठोर, हिंसक और कामुकतापूर्ण भाव परिव्याप्त था, वह मानो बरबस ही, उसे उलीच-उलीच कर बाहर निकालती और शिव के समान उस गरल को पी जाना चाहती.....

निदान, कमला स्वस्थ नहीं थी। मन उद्विग्न, चञ्चल था। उसके मानस में जो विद्रोहाग्नि भड़क उठी मानो वह उसे बरबस ही शान्त करने का प्रयत्न करती। अत एव, कमला पूर्ववत् थी। उसके हृदय-मन्थन में जाने क्या क्या बिलोया जा रहा था जिसका परिणाम यह हुआ कि कमला का स्वास्थ्य गिर गया। उसकी चञ्चल और मदपूर्ण आँखें माथे में धँस गईं। गोरे और गुलाबी गाल पिचक गए। स्वस्थ और गठित शरीर हड्डियों का ढाँचा बन गया। एक दिन हो तो भुगना जाए! कमला के सामने तो नित-नया दिन आता और कोई न कोई परेशानी, चिन्ता अथवा हृदय को पीड़ा देनेवाला सम्वाद अपने साथ लाता।

बात यह थी कि अलिन के मस्तिष्क में जिस प्रकार का पागलपन आया, वह न केवल कमला और उसके पति आनन्द बाबू के लिए चिन्ता का विषय था, अपि तु, वह पड़ोसियों के लिए भी शिकायत करने का एक साधन बन गया। पुत्र के पागल बनने से पूर्व कमला का स्वभाव बहुत दम्भी और स्वाभिमानी था। किसी की कड़वी बात सुनना, उसके स्वभाव के विरुद्ध था। परन्तु जब उसका भाग्य स्वयं ही फूट गया, तो बरबस, उसने अपना सिर झुका लिया। अलिन के प्रति जो भी शिकायत उसके पास आती, तो वह बिना प्रतिवाद के उसे सुनती और अपने पुत्र का दोष स्वीकार कर लेती। अवस्था यहाँ तक पहुँची कि अलिन पर बच्चे कीचड़ उछाल रहे हैं, कंकड़ मार रहे हैं, 'पागल' कह कर उसके पीछे भाग भी रहे हैं, तो भी अपनी छाती थाम कर कमला सुनती, देखती और मन मार कर रह जाती।

किन्तु उस दिन तो सचमुच ही, कमला की आत्मा तड़प गई। वह विवेकहीन भी बन गई। बात यह थी कि पड़ोसी बाबू रामनाथ के लड़के सुरेश की बाँह पर अलिन ने इतने जोर से काटा कि बत्तीसों दाँत उसकी बाँह पर गड़ गए। खून निकल आया। सुरेश चीख उठा। उसकी माँ ने देखा, तो ममता और क्रोध एक ही साथ आँखों में उतर आया। तुरन्त ही, उसने रसोई घर से चिमटा उठा लिया और तड़ाक-तड़ाक उसने कई हाथ अलिन की पीठ पर, टाँगों पर और मुँह पर मार दिए। मार खा कर अलिन चीख उठा। वह दौड़ा हुआ अपनी माँ के पास गया। मोहल्ले में शोर मच गया। कमला ने जब अलिन के बदन पर चिमटे के निशान देखे, तो उसकी छाती पर घूँसा लगा। उसी समय एक लड़की

ने आकर बता दिया कि अलिन को सुरेश की माँ ने मारा है। चिमटे से मारा है। इतना सुनना था कि कमला लड़के को साथ ले, तुरन्त वहाँ पहुँची। जाते ही बोली—'अरी डायन, तू ने लड़के को मारा और जिन्दा छोड़ दिया! इसे मार देती, तो अच्छा था!'

उस समय सुरेश की माँ भी तैश में थी। वह अपने पुत्र की बाँह पर काटने का निशान देख-देख क्रोध से भरी थी। तिस पर, कमला की बात सुनी, तो उसने सुरेश की बाँह दिखा दी। उसी अवस्था में बोली: 'माँ मैं भी हूँ। मेरा भी लड़का है। जब अलिन पागल हो गया है, तो पागलखाने भेजना चाहिए। घर में रखना चाहिए। आज तो काटा है, कल...हाँ, कल चाकू भी मार देगा...'

दोनों ही नारियां शिक्षित थीं, कुलीन घर की थीं। कमला ने बात समझ ली। स्थिति पहचान ली। हाय! कैसी विवशता थी उसकी कि उसका पुत्र पागल क्या हुआ, जैसे अपने साथ कमला को भी पागल बनाने में समर्थ बन गया। लेकिन कमला तो माँ थी, वह अपने पुत्र की आत्मा का चीत्कार भी सुनती और समझती थी। वह कुछ नहीं बोली। अलिन को साथ लिए घर लौट गयी। घर आकर वह सीधी अपने कमरे में चली गयी और चारपाई पर पड़ते ही, फूट-फूट कर रो पड़ी। उसी अवस्था में उसने तड़प कर अलिन से कहा: 'अरे तू मर जा! चला जा! भाग जा!' किन्तु अलिन तो मौन था। वह खड़ा खड़ा अपना कुरता फाड़ रहा था। माँ की बात सुनकर हँस भी रहा था। उसी अवस्था में उसने कमला से कहा: 'मैं तुझे भी मारूँगा..... तेरा गला घोंट दूँगा......'

और रोते हुए ही, अपने अन्तर के उद्वेग, पीड़ा तथा कोलाहल से भरे मन के बहते हुए आँसुओं को लेकर, उन्हें गालों पर बहाकर कमला कह रही थी— 'हाँ, तू मुझे मार दे! मेरा अन्त कर दे। तेरी यह दशा तो न देखूँगी! दूसरों से पिटता हुआ तो न पाऊँगी।'

परन्तु इतना सुनकर तो वह अलिन,—दस वर्ष का अलिन इतने जोर से हँसा, इतना चंचल बना कि उसने एकाएक कमला को भी डरा दिया, उसके हँसने और चीत्कार करने से कमला चौंक गयी और मकान गूँज गया। तदन्तर वह अलिन माँ को छोड़ कर दूसरे कमरे में पहुँच गया। वह एक जँगले के सींकचों को पकड़ कर उस पर चढ़ गया और चिल्लाया—'माँ, देख, मैं जा रहा हूँ ..मैं उड़ा जा रहा हूँ...मैं परिन्दा...मैं हवा...'

कमरे में पड़ी हुई कमला ने अलिन की इतनी-सी बात को सुना, तो जैसे बरबस ही, उसकी छाती में चहुँ ओर धुआँ घुट गया। आँसू रुक गये। मुँह सूख गया। उसने उस धुएँ के अन्धकार में देखा, जैसे कोई काली और भयानक छाया उसके अलिन की ओर बढ़ रही है और अपने तेज नाखून उसकी ओर उठा कर ओठ फड़फड़ा रही है। वह छाया दाँत किटकिटा रही है। जिसे देखते ही, कमला चिल्लायी—'अलिन . बेटा!'

उसी समय आनन्द बाबू दफ़्तर से लौट आये। वह कमरे के सामने आ खड़े हुए। कमला चारपाई से उठ कर अलिन के पास जा रही थी। वह अव्यवस्थित अवस्था में थी। उसकी आत्मा कोलाहल से पूर्ण थी। छाती में धड़कन और सांस तेज थी। उसकी आँखों में मानो अब भी वह प्रेतिनी या कम्पन घूम रही थी। वह उसी को लक्ष्य कर रही थी, किन्तु जैसे ही, उसने पति को सामने पाया, उन्हें मुसकराते देखा, तो पीड़ा तथा व्यथा से भरी हुई कमला ने अपना मुँह आनन्द की छाती पर रख दिया और तड़प कर रोते हुए कहा—'मेरे अलिन को बचा लो...मेरे प्राण को......'

सदय भाव में, आनन्द बाबू ने उसके सिर पर हाथ रखा और बाहर दूर अन्तरिक्ष की ओर देखते हुए कहा—'हमारे भाग्य में यही लिखा था, कमला देवी! अलिन क्या पागल बना, उसने तुम्हें पागल कर दिया!'

किन्तु तुरन्त ही, कमला ने अपना मुँह उठा कर कहा—'मैं इससे अधिक दुःख और क्लेश सह लूँगी। पर मेरा अलिन तो ठीक रहे। मेरा बच्चा लांछित और प्रताड़ित तो न बने!'

आनन्द ने कहा: 'भाग्य अपना-अपना! हमारा उससे नाता है, इसलिये दुःख होता है। मैंने मोहल्ले में आते ही सुन लिया कि आज अलिन ने सुरेश को काट खाया।

तड़प कर कमला ने कहा—'पर उसकी माँ ने तो मेरे बच्चे की देह को उधेड़ दिया!'

'हाँ, कमला, मैंने यह भी सुना। क्रोध आया। पर दोष अलिन का पहिले था। अधिक भी था।

मुँह गिराकर कमला ने कहा—'अलिन तो अजान है, पागल है। पहिले क्या किसी से लड़ता था!'

'पर जब दिन खराब आते हैं, तो सोना भी खोटा निकल आता है। आज हमारा भाग्य खोटा हो गया है!'

उदास भाव में आनन्द बाबू ने कहा ।

किन्तु कमला ने कहा—'सुरेश की माँ को सोचना चाहिए था ।'

उसी समय अलिन दौड़ कर आया और पीछे से पिता की पीठ पर चढ़ गया । वह कहते रहे, 'अरे, ठहर !' पर वह तो गले पर सवार हो गया । दोनों हाथों से गला पकड़ लिया और बोला– 'घोड़ा बनो ! चलो, तिक्-तिक् !'

कमबख्ती के मारे आनन्द बाबू को दफ्तर के कपड़े पहिने हुए ही घोड़ा बनना पड़ा । पतलून पहिने थे, ठीक से मुड़ा भी नहीं गया । किन्तु अलिन पीठ पर सवार । नकटाई उसके हाथ में । मुँह से बोल रहा है—'चल बे घोड़े, तिक्-तिक् !'

कमला ने कहा—'न, बेटे ! तेरे बाबूजी हैं, छोड़ दे ?'

तो अलिन ने कहा—'कहो, चीं ! अब नहीं जाओगे?'

बरबस, आनन्द बाबू ने कहदिया—'चीं !'

'अच्छा, जाओ तुम्हें छोड़ दिया । माफ़ भी कर दिया ।'

कमला और आनन्द ने इतना सुना, तो हँस दिया ।

आनन्द ने कहा—'कम्बख्त, कभी तो बात अच्छी करता है कभी नहीं । आज इसने लड़के को काट खाया, यह अच्छा नहीं किया ।'

कमला ने कहा—'और इसका बदन देखा ?'

'हाँ, देख लिया ! अब मत कहो । मैं बाप हूँ । मैं भी अपने पुत्र की सीमा में बँधा हूँ, मन में तो आता है कि सुरेश की माँ को जा कर उधेड़ दूँ । पर मैं पहिले अपना सीना परखता हूँ । उसे खोटा पाता हूँ ।'

इतना सुनकर, कमला ने सांस भरी और अपना सिर झुका लिया ।

आनन्द ने कोट उतार दिया । जब उसने नकटाई खोलनी आरम्भ की, तो कमला की ओर देख कर बोला–'यहाँ से दूर एक पागलों का अस्पताल है । सुनता हूँ वहाँ व्यवस्था अच्छी है । कोशिश सफल हो जाय, तो सरकार से भी अलिन के लिए कुछ सहायता मिल सकती है । कहो—तो चेष्टा करूँ ।'

कमला ने कहा—'मैं नहीं भेजूँगी । मैंने पाला है, बड़ा किया है, तो मैं ही......।'

आनन्द ने कहा—'पगली मत बनो । अपनी अवस्था देखो । इस अलिन के पीछे ही तुम्हारी यह दशा हो गयी है । तीस वर्ष की तुम्हारी यह आयु है, और लगती हो, जैसे पचास वर्ष की बुढ़िया......'

इतना सुनते ही, कमला ने अपना सिर पीछे दीवार पर टिका दिया, लगा कि उसे पति से इतना सुनना निःसन्देह, असह्य हुआ । किन्तु उसी अवस्था में उसने कहा—'तो मैं क्या करूँ मैं...'

आनन्द ने कहा—'माली पौधे लगाता है. तो ऐसा नहीं होता कि सभी पौधों में फल हो । कोई सूखता है । कोई बिना उपजे ही......'

तड़प कर कमला ने कहा—'पर मैंने तो एक ही पौधा पाया । जीवन में एक ही फल देखा ।'

सुनकर, आनन्द बाबू मुसकराये । तनिक हँस भी दिये ।

इतना देख, कमला ने फिर तड़प कर कहा—'तुम मा नहीं ! मेरी स्थिति में नहीं ! मेरे दर्द की पुकार तुम्हारी कल्पना में भी नहीं !'

आनन्द ने कहा—'कमला, मैं अनुभव करता हूँ । तुम्हें दर्द है, मैं इसे स्वीकार करता हूँ । परन्तु हो क्या ? नियति के काम में हमारा वश ही क्या ?' और तभी उसने मानो अपने अन्तर की भावना को सम्बोधित किया और देखा कि उसका अभाव क्या है...इच्छा क्या... अर्थ क्या ! कदाचित उसी को लक्ष्य कर वह बोला—'देखती हो, जीवन पूरा पड़ा है ! सजी हुई दुनिया है, सजा हुआ मानव, ये भव्य और मनोरम दृश्यावलियाँ...'

तेजी से मानो अधीर बन कर, कमला ने कहा—'हाँ, हाँ, दुनिया सजी है ! आदमी सजा है ! यह औरत !' वह अतिशय क्षीण और दीन भाव लेकर बोली–'तो मुझसे क्या कहते हो ! तुम अपनी ओर देखते हो, दुनिया देखते हो !' इतना कहा और कमला ने अपनी दृष्टि खिड़की के बाहर उठा दी । उसने धुन्धला अन्तरिक्ष देखा और उसी ओर लक्ष्य करते हुए कहा—'जीवन अपना, भावना अपनी !' तभी उसने अपनी वाणी पर झटका दिया—'लेकिन देखते हो, मैं नारी हूँ ! मैं माँ हूँ ! अलिन पागल है या अच्छा'; हीरा है या कंकड़; यह मेरा बच्चा है ! मेरी आत्मा है । मेरे ही हृदय का एक स्पन्दन ! मैं इसे भूल नहीं सकती । मैं अपने अलिन की विवशता, असमर्थता को देख, न सज सकती हूँ, न अपनी वेदना भूल सकती हूँ । मैं अब पत्नी नहीं, माँ हूँ,...... अलिन की मा !'

किन्तु आनन्द के मन में उस समय कुछ और था । वह उसके मुँह तक भी आ गया था । वह युवक, वह अपनी वासनाओं का दास, वह जीवन को आँख खोल कर देखनेवाला व्यक्ति, जैसे निश्चय ही, नितान्त

अधीर और चंचल बन गया था। वह समाज की सजी हुई, मनोरम और भव्य दीखती किसी भी सुन्दर नारी के सदृश कमला को भी देखना चाहता था। उसके मन में अभी वे शब्द थे, जो उसने दाम्पत्य-जीवन के आरम्भ काल में ही, उस सोहाग की रात में कमला से कहे थे। समर्पण, अनुभूति और प्यार भरे वे शब्द अब भी अन्तर में गूँज रहे थे। वे मानो पुनरावृत्ति चाहते थे। वे एक बार आनन्द के मुँह से निकल कमला या किसी अन्य नारी के सम्मुख अपना प्रदर्शन करना चाहते थे। वे, निश्चय ही, किसी को सम्बोधित कर हवा में मिलना चाहते थे। वे मानो उसके अन्तर में घुट रहे थे। वे उसके गले तक आते और विवश बन कर लौट जाते थे। और आनन्द की इच्छा यह कि उसे जीवन में दो वस्तुएँ मिलें, नारी और पैसा! उसने अपने जीवन के उठाव पर, दौड़ती हुई दुनिया की राह पर चलते हुए, जब चारों ओर दृष्टि दौड़ाई, तो इन्हीं दो वस्तुओं की इच्छा की! परन्तु आज तो उसने एकाएक देखा कि बुढ़ापा आ रहा है। साँस फूल रहा है। उसकी चाह—जीवन की चाह मर रही है। मन की आकांक्षा का खून हो रहा है! अलिन पागल हो गया है तो इस कमला नें मानो योगिनी बनने का—इस भरी जवानी में ही मर जाने का बीड़ा उठा लिया है। लगता है कि इसने जीवन से तर्क किया है। इच्छाओं को मार दिया है। जीवन भार समझ लिया है। भला कोई पूछे इससे, कहे तो, अरी, पगली! अलिन पागल हो गया तो क्या, भाग्य अच्छा चाहिए, माँ बनने का अवसर फिर मिल सकता है! ईश्वर फिर सुनेगा और तेरी कोख भर देगा!

परिणामस्वरूप, आनन्द बाबू ने अलिन को पागलखाने में भेजने का निश्चय कर लिया। कमला को समझा दिया। लेकिन जब अलिन का पागलखाने जाना पूर्णतः निश्चित हो गया, एक दिन की सन्ध्या में आनन्द ने यह आकर बताया, तो उस समय कमला से भोजन नहीं किया गया। उसने सन्ध्या समय ही अलिन के बाल सँवारे और उसे नया कुरता पहनाया। उस समय अलिन सो रहा था। कमला उसके पास आकर बैठ गई। बालों पर हाथ फेरने लगी। उसके मन में धुआँ घुमड़ रहा था। वह उसका मन्थन कर रहा था। भरी आँखें टपक पड़ीं। अलिन के ऊपर गिरीं, निदान, वह जाग गया। उसने कमला की ओर देखा। उसका हाथ पकड़ लिया। उस हाथ को अपनी छाती पर रख, वह नितान्त समझ भरे स्वर में बोला—'माँ!'

एकाएक तड़प कर कमला ने कहा—'बेटा!'

अलिन ने कहा—'माँ' मैं पागल हूँ। सब कहते हैं, मैं पागल हूँ। तू भी कहती है!'

कम्पित स्वर में कमला बोली—'न, बेटा! कौन कहता है कि तू पागल है! मैं नहीं कहती!'

'हाँ, तू मेरी माँ है, न! तू नहीं कहती!' और वह खिलखिला दिया। कमला का हाथ अपने मुँह में दे लिया। उसने काट लिया। उस हाथ पर दाँत उखड़ आए, परन्तु कमला ने उफ़ तक न किया! अलिन बोला—'देख, मैंने काट लिया—ही-ही-ही-ही!'

किन्तु काटने की पीड़ा पाकर भी कमला ने कहा—'बेटा!' सचमुच, वह तब अतिशय भावुक थी! जैसे केवल माँ थी! उसकी सूक्ष्म काया ही वहाँ थी।

अलिन उठा और कमला की पीठ पर चढ़ गया। बोला—'घोड़ी, तिक्-तिक्!'

कमला ने कहा--'बेटा, माँ मर जाएगी!'

'तो तू मर जाएगी, माँ! क्यों?'

'अब तू सयाना हो गया है। तेरा बोझ'...

और अलिन तब नीचे उतर कर बोला—'तो तू रोती क्यों है! क्या...?'

कमला ने उसका सिर अपनी छाती से लगा कर कहा—'बेटा, मैं रोती नहीं! मैं हँसती हूँ। मैं खुशी मनाती हूँ मैं अपने अलिन को देख कर......'

और अलिन इतना सुनने से पूर्व ही खिड़की पर जा चढ़ा। वह वहीं से बोला—'देख माँ मैं कितना ऊँचा हूँ'.....

कमला ने इतना सुना और जाने कैसी विवशतापूर्ण अवस्था में अपना सिर झुका दिया।

× × ×

अलिन को पागलखाने में दाखिल करा कर जब दो मास बाद पति-पत्नी उसे देखने पहुँचे, तो कदाचित् वह कमला के दुर्भाग्य का पटाक्षेप ही था। अलिन ने उसे नहीं पहचाना। उसके हाथ से फल भी नहीं लिया। उसे बुलाया, पुचकारा, तो उसने हँस दिया। वह वहाँ से भाग गया।

कुछ देर बाद आनन्द ने कहा—'उठो, कमला! अलिन हमको भूल गया।'

चौंक कर, जैसे छाती पर घूँसा खाकर, कमला तड़प उठी। वह आँखों से आँसू बहाती हुई बोली—तुमने मेरा बेटा छीन लिया ..अब वह माँ को भूल गया...मेरा अलिन......'

किन्तु आनन्द क्या कहता! वह स्वयं मुँह फेर कर रो पड़ा। वह सोचता था, कमला बदलेगी, स्वस्थ बनेगी, परन्तु उसका स्वास्थ्य तो पहिले से अधिक विकृत और मलिन बन गया......

—श्रीराम शर्मा 'राम'

१२०, पार्लियामेंट हाउस,
नई दिल्ली

स्वप्न निर्माता

पात्र परिचय

स्वप्न निर्माता : प्रभावशाली एवं आकर्षक व्यक्तित्ववाला एक विवेकशील वृद्ध पुरुष ।
कमल : एक कल्पनाशील नवयुवक कलाकार ।
लता : कमल की सहयोगिनी ।
समय : शीतकाल की संध्या ।
स्थान : काश्मीर की सुरम्य घाटियों में बनी एक कॉटेज ।

(दृश्य : कॉटेज के बीच में एक कमरा जिसमें कोई विशेष सजावट नहीं है । सामने खिड़की में से अस्त होते हुए सूर्य का प्रकाश आ रहा है तथा खिड़की के बाहर सुदूर दिशा में लाल आलोक से ढकी हिमाच्छादित पर्वतश्रेणी दिखाई दे रही है । कक्ष के दोनों ओर दो दरवाज़े हैं जिनमें से बाईं ओर का दरवाज़ा एक पास वाले कक्ष के लिये खुलता है तथा दूसरा बाहर जाने के लिए है । एक कोने में एक छोटी टेबिल तथा एक कुर्सी रखी है । टेबिल पर कुछ पुस्तकें, लेखन-सामग्री तथा एक मिट्टी के तेल का लेम्प रखा है । कक्ष के बीच में एक बड़ी मेज़ रखी है तथा तीनों ओर तीन कुर्सियाँ (दर्शकों की ओर पीठ करके कुर्सी नहीं है) रखी हैं । टेबिल के ऊपर एक बड़ा लेम्प छत से लटक रहा है ।

कमरे की दीवारों पर कुछ कपड़े तथा वायलिन टंगा है । कक्ष की बाँईं ओर शीत से बचने के लिए एक सिगड़ी जल रही है जिस पर इस समय चाय की केटली रखी है । सिगड़ी के पास ही एक छोटा स्टूल रखा है तथा एक जोड़ी स्लीपर । सिगड़ी के पास ही एक स्टूल पर लता कमल की प्रतीक्षा में कुछ चिन्तित सी बैठी है । सूर्य का अरुण आलोक उसके सुन्दर मुख पर पड़ रहा है । कुछ देर के पश्चात् वह उठकर खिड़की के पास जाती है और पुनः लौट कर मेज पर चाय का सामान जमाने लगती है । धीरे धीरे दूर से आती हुई एक गीत की अस्पष्ट ध्वनि सुनाई देती है और जैसे जैसे गीत की ध्वनि पास आती जाती है, लता का मुख प्रसन्नता से खिल उठता है । गीत अब स्पष्ट सुनाई देने लगा है :

"सुनसार डगर का राही मैं,
एकाकी पथ पर चलता हूँ ।
है दूर कहीं मंज़िल मेरी,
मैं दीप अकेला जलता हूँ ।"

(सहसा गीत पास आकर बन्द हो जाता है । दाहिने ओर के द्वार से कमल का प्रवेश)

कमल : ओह ! बाहर कितनी सर्दी है । मेरे पैर तो जम कर जैसे बर्फ़ हो गये हैं ।

लता : तुम अपने इन ठंडे जूतों को उतार कर ये स्लीपर पहिन लो जिन्हें मैंने आग के पास गर्म होने को रख दिया था ।

(कमल आग के पास बैठकर जूते बदलने लगता है)

कमल : (गुनगुनाते हुए)

"सुनसान डगर का राही मैं,
एकाकी पथ पर चलता हूँ ।"

कमल : (गुनगुनाना बन्द कर) चाय तैयार है ?

लता : हाँ । केवल पानी में उबाल आने की देर है ।

कमल : आज बाजार में कितनी सर्दी थी । शीत के कारण आज मैं भली भाँति गा भी न सका, गला जैसे जम कर बर्फ़ हो गया था ।

लता : (मुस्कराते हुए) तुम भी ठीक केटली के समान हो । इसका गीत भी ठण्डी हो जाने पर रुक जाता है और गर्म होने पर यह भी तुम्हारे समान गाने लगती है ।

कमल : काश ! इसे भी मेरे समान अपने गीतों से प्यार होता ।

लता : लेकिन मुझे विश्वास है कि यह भी अपने गीतों से प्यार करती है । देखो । इसके स्वर अब फूट रहे हैं—जैसे चाय की रानी गा उठी हो । (मेज़ के पास जाकर चाय तैयार करते हुए) आओ चाय तैयार है ।

कमल : (सिगड़ी के पास ही बैठे हुए) उसका आकार है, रूप है, पर आत्मा नहीं है । और गीत के लिए चाहिए प्राणों का स्पन्दन, आत्मा की आवाज़ ।

लता : क्या बड़बड़ा रहे हो ?

कमल : मैं कुछ सोच रहा हूँ लता ।

लता : पहिले यहाँ आकर चाय पियो नहीं तो यह ठण्डी हो जाएगी । जब कोई आग के पास बैठ कर सोचता है तो उसकी ज्वाला से विचार धुआँ बन कर ऊपर उड़ जाते हैं । (मुस्करा देती है)

कमल : यह संसार भी तो एक धूम्र रेखा के समान है । एक विशाल मरघट, जहाँ सदा मानवता की चिता सुलगती रहती है, जहाँ जलती हुई चिन्गारियाँ और धुएँ के अतिरिक्त कुछ नहीं है ।

लता : निराश मत हो कमल। देखो आज मैंने तुम्हारे लिए क्या बनाया है ? (मुस्कराती है)

कमल : लता, तुम सदा हँसती क्यों रहती हो ?

लता : मैं सदा प्रसन्न रहना चाहती हूँ—इसलिए।

कमल : हूँ (उठकर टेबिल के पास बैठ जाता है। दोनों चाय पीते हैं। कुछ देर शान्ति।)

लता : चाय ठीक बनी है !

कमल : हाँ—करीब करीब।

लता : हूँ। चाय और लोगे ?

कमल : नहीं। पर लता तुम मेरी इतनी देख रेख क्यों करती हो ?

लता : (सुनी अनसुनी करते हुए) देखो सूर्य अब अस्त हो गया है।

कमल : (खिड़की के पास जाकर) दूर क्षितिज में उस पार जैसे सन्ध्या सुन्दरी की गोद में थक कर विश्राम ले रहा हो। सुन्दरी......लता तुमने उसे कभी देखा है।

लता : किसे ?

कमल : उसे जो बाजार के अन्त में बने उस गोल से मकान के द्वार पर खड़ी होकर मेरे गीत सुना करती है। मैं उसे सुन्दरी कह कर पुकारता हूँ।

लता : मैंने उसे कभी नहीं देखा।

कमल : लेकिन हम दोनों एक दूसरे को देख चुके हैं। जब तक मैं गाता रहा वह मुझे एक टक देखती रही। काश ! जितनी सुन्दर वह है उतने ही सुन्दर उसके विचार भी हों।

लता : सुन्दर है......तो उसने जरूर पाउडर लगा रखा होगा। (व्यंग से मुस्कराती है।)

कमल :—नहीं उसने कुछ नहीं लगा रखा था। और तुम यह कैसे कह सकती हो जब कि तुमने उसे कभी देखा ही नहीं ?

लता : शायद मैंने उसे देखा था।

कमल : सुनो लता व्यर्थ में ईर्ष्या करने से कोई लाभ नहीं है। मैंने और तुमने आधे साझे में इस व्यापार का जब प्रारंभ किया था तब हम दोनों ने यह तय किया था कि हम दो साझेदारों के समान रहेंगे। और हम अपनी अपनी इच्छानुसार चाहे जिससे विवाह कर सकेंगे।

लता : मैं किसी से ईर्ष्या नहीं करती। तुम्हारी यह धारणा मिथ्या है।

कमल : (किसी ध्यान में डूबकर गुनगुनाने लगता है)

"मैं तुम्हें अपना समझ कर प्यार करता हूँ।
तुम मुझे अपना समझ कर याद कर लेना।"

लता : क्या तुमने उस लड़की को तमाशा समाप्त होने के बाद देखा था ?

कमल : (चौंक कर) नहीं। वह भीड़ में कहीं गुम हो गई थी। (अचानक उठते हुए) मैं बहुत चाय पी चुका हूँ और अब बाहर जाकर उसे खोजूँगा।

लता : इस समय बाहर जाना उचित नहीं है। तुम्हें चाहिए कि यहाँ आग के पास बैठो और कपड़े ठीक करने में मेरी मदद करो। (रोकना चाहती है।)

कमल : मुझे व्यर्थ रोकने की कोशिश मत करो। संसार में अनेकों कार्य ऐसे हैं जो घर में बन्द रह कर नहीं हो सकते।

लता : किन्तु विश्राम के लिए घर में रहना आवश्यक है। ठीक उसी तरह जिस तरह असीम नीलाकाश का पथिक दिनकर, दिनान्त के बाद विश्व के किसी कोने में जाकर थक कर सो जाता है। इसीलिए दिवस के बाद रात्रि का आगमन होता है जिससे कि दिन भर का हारा थका मनुष्य रात्रि में विश्राम ले सके।

कमल : ओह ! इसे सुनकर तो मेरी गीत लिखने की इच्छा हो रही है।

लता : तो लिखो न।

कमल : अभी उसकी कल्पना अधूरी है। गीत पूरा होने पर उसे अपने खेल में सुनाऊँगा। मेरे उस गीत पर तुम्हें नृत्य करना होगा। (बाहर जाने लगता है।)

लता : बाहर मत जाओ कमल। यहीं ठहर जाओ, रात हो चली है और यहाँ मैं अकेली रह जाऊँगी।

कमल : कलाकार का मन बहुत संवेदनशील होता है। अन्तर की पुकार वह रोक नहीं सकता। मुझे ऐसा लगता है जैसे दूर उन घाटियों में सुन्दरी मेरी प्रतीक्षा कर रही है। यहाँ बैठ कर मैं तुम्हारी बड़बड़ नहीं सुनना चाहता।

लता : पर अभी तुम्हीं तो कह रहे थे कि मैं सदा प्रसन्न रहती हूँ। (रूठ जाती है।)

कमल : देखो, तुम फिर झगड़ा करने पर उतारू हो गई हो।

लता : मुझे क्षमा करो कमल। किन्तु बाहर कुहासा पड़ने के कारण बहुत सर्दी हो गई है।

कमल : मैं तुमसे फिर कहता हूँ कि मैं यहाँ नहीं रुकूँगा। मैं उस लड़की को अवश्य खोज निकालूंगा जो कि मेरी कल्पना और आदर्श के बिलकुल अनुरूप है।

लता : तुम न जाने किस आदर्श सुन्दरी की कल्पना किया करते हो ?

कमल : और तुम क्या कभी किसी सुन्दर और आदर्श पुरुष की कल्पना नहीं करतीं ?

लता : नहीं। मैं व्यावहारिकता से दूर कभी नहीं जाती।

कमल : नारी कितनी अकल्पनाशील होती है। उनमें केवल मातृत्व और निराशा की भावना ही प्रधान होती है। यही भावना जब प्रबल हो उठती है तो वे उसे प्यार की संज्ञा दे देती हैं। लेकिन मैं तो सौन्दर्य का उपासक हूँ। मैं चाहता हूँ कि एक अपरिचित रूपराशि सदा मेरी आँखों के सामने रहे और मैं उसे प्यार करता रहूँ।

लता : किन्तु अपनी कल्पना में डूबकर तुम वास्तविकता से दूर क्यों हट जाते हो ! स्वर्ग के सपने देखनेवाला धरा पर कभी सुखी नहीं रह सकता। मैं पूछती हूँ कि तुम मेरी उपेक्षा क्यों करते हो। (रो देती है।)

कमल : ओहो, मैं शायद तुम्हें कभी नहीं समझा सकूँगा। अच्छा तो मैं जाता हूँ।

(कमल गुनगुनाता हुआ बाहर चला जाता है। धीरे धीरे उसके गीत की ध्वनि आना बन्द हो जाती है और धीरे-धीरे कुटिया में अन्धकार छाने लगता है। लता आग के पास जाकर उदास बैठ जाती है और सहसा उसके अधरों से एक गीत फूट निकलता है)

लता :

हेरी मैं तो प्रेम दीवानी, मेरो दर्द न जाने कोय।
घायल की गति घायल जाने कि जिन लागी होय......

(गीत समाप्त होने से पूर्व ही वह फूट फूट कर रोने लगती है। सहसा द्वार पर खट खटा कर लता खड़ी हो अपने को संभालती है तथा फिर छत पर लटका हुआ लैम्प जला देती है।)

लता : कौन है ? अन्दर आजाइये।

दरवाजा खुलता है और एक दिव्य पुरुष के समान आकर्षक व्यक्तित्ववाला वृद्ध पुरुष हाथ में छड़ी लिए हुए प्रवेश करता है। उसके मुख से सहानुभूति तथा उसकी लम्बी श्वेत दाढ़ी एवं केशों से उसके अनुभव की गम्भीरता प्रगट होती है। वह धोती तथा कुरता पहिने है एवं कन्धों पर सुन्दर शाल ओढ़े हुए है। उसके कक्ष में प्रवेश करने के पश्चात दरवाजा पुनः आप से आप बन्द हो जाता है।)

लता : (उसके व्यक्तित्व से प्रभावित होकर, उठते हुए) पधारिये ! मैं आपकी क्या सेवा कर सकती हूँ।

स्वप्न निर्माता : तुम आश्चर्य कर रही होगी कि मैं कौन हूँ ? पर इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है बेटी। तुम्हारे गीत की करुण ध्वनि मुझे यहाँ तक खींच लाई।

लता : धन्यवाद, आप कुछ जलपान कीजिएगा ?

स्वप्न निर्माता : नारी का सब से बड़ा गुण यही तो है, मनुष्य के लिए भोजन की चिन्ता, लेकिन बेटी मुझे भूख नहीं है। मैं भोजन बहुत थोड़ा करता हूँ—थोड़ी-सी आत्मीयता—एक छोटी-सी मुस्कान भी मुझे तृप्त करने के लिए पर्याप्त है।

लता : कृपया आप बैठने का कष्ट तो करेंगे ?

स्वप्न निर्माता : (कुर्सी की ओर अग्रसर होते हुए) बैठने में मुझे कोई आपत्ति नहीं है। मैं जहाँ भी जाता हूँ अपने लिए सुविधाजनक वातावरण आप बना लेता हूँ। बहुत-से व्यक्तियों का तो विचार है कि मेरे बिना उनका कार्य ही नहीं चल सकता—अस्तु मेरा सर्वत्र स्वागत होता है।

लता : यहाँ भी आपका स्वागत है।

स्वप्न निर्माता : धन्यवाद। हाँ तो तुम करुण स्वर में गा रही थीं।

लता : मन में जब वेदना होती है तो वह स्वर बन कर फूट पड़ती है। धैर्य का बांध जब टूट जाता है तब भावनाओं की बाढ़ आ ही जाती है।

स्वप्न निर्माता : ईश्वर तुम्हारा कल्याण करे। मुझे सब ज्ञात है। कमल ही इसका मूल कारण है। तुम उसे प्यार करती हो और वह तुम्हारी रत्ती भर भी चिन्ता नहीं करता। इसी दुःख के कारण तुम रोती हो। यह दुनिया भी कितनी विचित्र है।

लता : मैं सदा दुःखी नहीं रहती, किन्तु आज उसका व्यवहार अत्यन्त कठोर था।

स्वप्न निर्माता : क्या वह सदा क्रुद्ध रहता है ?

लता : नहीं। पर आजकल आमदनी न होने के कारण उसका स्वभाव चिड़चिड़ा हो गया है। शीत के कारण कोई भी खेल सफल नहीं हो पाता है। कमल चाहता है कि वह स्थानीय पत्र में प्रचार के रूप में एक लेख हम लोगों के सम्बन्ध में लिखे। उसका विचार है कि यदि सम्पादक को सपरिवार बिना टिकिट के खेल देखने के लिए आमंत्रित किया जाए तो शायद वह यह लेख छाप देगा।

स्वप्न निर्माता : क्या तुम सोचती हो कि कमल का महत्व तुम्हारे आँसुओं के मूल्य के बराबर है ?

लता : हाँ, मैं उसे हृदय से प्यार करती हूँ और ये अश्रु कण...... गला भर आता है तथा आँखों से दो बूंद आँसू गिर पड़ते हैं।)

स्वप्न निर्माता : रोना ठीक नहीं है बेटी। अश्रुकणों के ये अनमोल मोती व्यर्थ नहीं लुटाए जाते हैं। ईश्वर ने उन्हें बहुत थोड़े से परिमाण में हृदय को सदा सरस बनाए रखने के लिए हमें दिया है। जब उनका यह अल्प कोष

रीत जाता है तो हृदय भी शुष्क हो जाता है।

लता : कमल बहुत अच्छा व्यक्ति है। आप शायद अभी उसे अधिक नहीं जानते हैं पर मैं उसे अच्छी तरह पहिचानती हूँ। यह सच है कि वह सदा असन्तुष्ट रहता है पर इसका एकमात्र कारण यही है कि उसने किसी से प्रेम करना नहीं सीखा। आप जानते हैं कि प्यार मनुष्य के जीवन में कितना परिवर्तन कर देता है।

स्वप्न निर्माता : यह सत्य है। क्या प्रेम के कारण तुम में भी कुछ परिवर्तन हुआ है?

लता : हाँ, मैं सदा कमल को सुख एवं सुविधा पहुँचाने के लिए कुछ न कुछ करती रहती हूँ और इससे मुझे अपार संतोष होता है। अगर मैं उसे प्यार नहीं करती तो शायद मेरा जीवन भी असन्तोषमय हो जाता।

स्वप्न निर्माता : क्या तुम्हें विश्वास है कि तुम्हारा प्रेम सच्चा है!

लता : हाँ।

स्वप्न निर्माता : जब भी तुम कमल का स्मरण करती हो, तब क्या मातृत्व की भावना तुम में प्रबल हो जाती है! क्या तुम्हें एक शिशु की पदचाप और उसके नन्हे से हाथ अपनी ओर बढ़ते हुए प्रतीत होते हैं?

लता : हाँ, आपका अनुमान बिल्कुल ठीक है।

स्वप्न निर्माता : तुम ठीक सोचती हो। लेकिन तुम केवल कमल से ही इतना प्रेम क्यों करती हो?

लता : क्योंकि... ..क्योंकि वह कमल है।

स्वप्न निर्माता : वही पुराना तर्क! "क्योंकि वह कमल है।"

लता : यद्यपि वह सदा स्वप्नों की दुनिया में खोया-सा रहता है, जैसे उसकी आत्मा ही किसी स्वप्न देश की वासी हो लेकिन मुझे विश्वास है कि वह प्रयत्न करने पर बड़े बड़े कार्य कर सकता है। क्या तुमने कभी उसे मुस्कराते हुए देखा है? कितना जादू है उसकी मुस्कान में। और मैं चाहती हूँ कि वह सदा मेरी ओर देख कर मुस्कराता रहे। किन्तु वह ऐसा नहीं करता। (उदास हो जाती है।)

स्वप्न निर्माता : ओह! तो वह अन्य स्त्रियों की ओर देख कर भी मुस्कराता है?

लता : हमारे खेल में रोज एक न एक स्त्री आ ही जाती है। आज भी एक बहुत सुन्दर लड़की खेल देखने आई थी। इस समय कमल उसी की खोज में गया हुआ है। परन्तु इसमें दोष किसी का नहीं है। उसकी भावनाएँ सौन्दर्य की प्यासी हैं और लड़कियाँ उसके गीतों को सुन कर उसे प्यार करने लगती हैं। (गर्व से) मेरा विश्वास है कि प्रत्येक व्यक्ति कमल से प्यार करता है।

स्वप्न निर्माता : अगर इनमें से कोई सुन्दर लड़की उससे विवाह कर ले तो?

लता : वे ऐसा कभी नहीं करेंगी। कोई भी सुन्दर लड़की एक निर्धन गायक से कभी विवाह नहीं करेगी। लेकिन अगर कमल विवाह कर लेगा तो मैं......मैं यहाँ से चली जाऊँगी। (सावधान होकर) मैं आप से न जाने क्या क्या कहने लगी थी। क्षमा कीजिए, मुझे ऐसा लगता है कि मैं आपको बहुत दिनों से जानती हूँ।

(लता उठ कर खिड़की के पास जाकर खड़ी हो जाती है। गगन में चाँद उदय हो गया है और उसका हल्का प्रकाश खिड़की के मार्ग से होकर कमरे में आ रहा है।)

स्वप्न निर्माता : (खिड़की के पास जा कर उसे सान्त्वना देते हुए) हाँ। तुम मुझे बहुत दिनों से जानती हो। बेटी, चिन्ता मत करो तुम्हारा जीवन सुखी होगा।

(लता उसके सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार से प्रभावित हो जाती है। सहसा दूर से कमल के गाने की आवाज आती है)

"बहुत बुलाने पर भी मेरे द्वार नहीं आती हो
बिना बुलाए आ जाती क्यों याद तुम्हारी।"

स्वप्न निर्माता : यह कौन गा रहा है (गीत की ध्वनि पास आती है)

लता : कमल।

[कमल का प्रवेश]

कमल : यहाँ तो कोई नहीं है (स्वप्न निर्माता को देख कर) आप कौन हैं महाशय?

स्वप्न निर्माता : मैं तुम्हारे लिए अनजान हूँ पर लता ने मुझे देखते ही पहिचान लिया था।

कमल : यह तो मैं भी देख रहा हूँ कि आप एक वृद्ध पुरुष हैं।

स्वप्न निर्माता : हाँ, मैं अब बूढ़ा हो चला हूँ। इस संसार में बहुत काल तक रह चुका हूँ। तुम मुझे बूढ़ा समझते हो पर मेरी अवस्था को देखते हुए लोग मुझे काफ़ी स्वस्थ समझते हैं। क्या तुम सोच सकते हो कि मैं इस संसार में कितना सफ़र तय कर चुका हूँ।

कमल : (अपनी बाँह की लम्बाई बताते हुए) ओह! इतना?

स्वप्न निर्माता : (गम्भीरता से) ज्ञात होता है कि तुम दिन भर मूर्खताएँ करते करते पागल हो गए हो।

लता : कमल तुम्हें इस तरह बातें नहीं करना चाहिए।

स्वप्न निर्माता : लता, क्या तुम भोजन की तैयारी कर चुकी हो?

लता : ओह यह तो मैं भूल ही गई थी। मुझे बाजार से अभी सामान भी लाना है अन्यथा सब दुकानें

बन्द हो जाएँगी। (वृद्ध से,) क्या आप कृपया मेरे वापिस आने तक यहाँ ठहरने का कष्ट करेंगे?

स्वप्न नि० : मैं वायदा नहीं करता पर प्रयत्न अवश्य करूँगा। (लता बाहर चली जाती है। कुछ देर शान्ति रहती है। स्वप्न निर्माता कमल को देखकर मुस्कराता है) हूँ। तो तुम्हारा व्यापार ठीक चल रहा है।

कमल : ठीक? दिन भर उछल कूद करने के बाद भी कुछ आमदनी नहीं होती है। लेकिन मैं आज एक महत्वपूर्ण काम कर आया हूँ। मैंने स्थानीय पत्र के सम्पादक को अपने पत्र में एक लेख छापने के लिए राजी कर लिया है। मुझे आशा है कि इस लेख को पढ़ कर जनता बहुत आकर्षित होगी और मुझे पर्याप्त धन मिलेगा।

स्वप्न नि० : कमल, अगर संसार की सारी दौलत तुम्हें मिल जाय तो भी तुम सुखी न रह सकोगे।

कमल : मैं सुखी नहीं रहूँगा? संसार की अगर सारी दौलत मिल जाय तो मैं अपने को ही नहीं वरन संसार को भी सुखी बना दूँगा।

स्वप्न नि० : तुम सदा धन, नाम और थोथे आदर्श का स्वप्न देखते हो और इस स्वप्न के नशे में पास की अच्छी वस्तुएँ भी नहीं पहिचानते। तुम असन्तुष्ट हो। क्योंकि तुम आनन्द प्राप्त करने की कला से अनभिज्ञ हो।

कमल : गीत और संगीत यही जीवन की कलात्मक अभिव्यक्ति है। इस अभिव्यक्ति की चरम सीमा ही आनन्द है। मैं उसमें डूब जाना चाहता हूँ।

स्वप्न नि० : किन्तु तुम उसे कभी प्राप्त नहीं कर सकते। आनन्द प्राप्ति के लिये आवश्यक है कि तुम्हारा गीत अनन्त हो, असीम। जिसका गान कभी रुक न सके और यह तभी सम्भव हो सकता है कि उसका गायक पूर्णतः सुखी हो।

कमल : धीरे धीरे यह भी हो जाएगा।

स्वप्न नि० : (बात बदलते हुए) मैं चाहता हूँ कि हम कुछ काम काज की बातें करें तो अच्छा होगा।

कमल : अवश्य। हमारा तमाशा बहुत अच्छा होता है। प्रथम पंक्ति का टिकिट दो रुपया तथा इसके बाद १ रुपया तथा पीछे बैंचों का टिकिट केवल ८ आना है। कहिये आप कितने टिकिट खरीदेंगे।

स्वप्न नि० : तुम नहीं जानते कि मैं कौन हूँ?

कमल : कोई बात नहीं। हम सब का स्वागत करते हैं।

स्वप्न नि० : (गम्भीरता पूर्वक) कमल मैं स्वप्न निर्माता हूँ!

कमल : क्या?

स्वप्न नि० : मैं उन स्वप्नों का निर्माण करता हूँ जो संसार की आँखों में रोज बना करते हैं।

कमल : (हँसता हुआ) महाशय, अच्छा हो यदि आप कुछ देर विश्राम करलें। ऐसा लगता है कि आप इस वृद्धावस्था में कुछ सठिया-से गये हैं।

स्वप्न नि० : अपने अहंकार के कारण तुम मेरी बात नहीं समझ सके हो। मैं उन स्वप्नों का निर्माण करता हूँ जो मनुष्य के जीवन में सुख का संचार करते हैं। क्या तुम जानते हो पतझड़ में कोकिला का गीत क्यों बन्द हो जाता है? वे उस समय मेरे पास आजाती हैं और वे मुझे बताती हैं कि संसार में किसे सुन्दर स्वप्नों की आवश्यकता है। मैं उनके स्वप्नों में नवीन शक्ति भर कर उन्हें वापिस भेज देता हूँ और जब उनके स्वर पेड़ों की झुरमुट से फूटते हैं तो पृथ्वी पर बसन्त लौट आता है। मानव हृदय नवीन आशा और उमंगों से भर जाता है और कोयल का वह मधुर संगीत नये स्वप्नों का निर्माण करने लगता है।

कमल : किन्तु मुझे आपके इस कथन पर कोई विश्वास नहीं है।

स्वप्न नि० : क्या तुमने कभी सोचा है कि फूलों के झर जाने के बाद उनका सौन्दर्य कहाँ लुप्त हो जाता है? सुन्दर रंग विरंगी तितलियाँ कहाँ से आती हैं और फिर कहाँ चली जाती हैं?

कमल : मैंने इस पर कभी विचार नहीं किया।

स्वप्न नि. : वे सब मेरे पास आते हैं। प्रत्येक सुन्दर वस्तु जिसकी संसार उपेक्षा करता, मेरे यहाँ आश्रय पाती है; और तब मैं अपने स्वप्न का निर्माण करता हूँ। वह पावन स्वप्न जिसे दुनियाँ "प्रेम" कहकर पुकारती है।

कमल : आपकी बातें बड़ी मजेदार हैं।

स्वप्न नि० : क्या तुम मेरी बात का विश्वास नहीं करते?

कमल : विश्वास केवल बातों से नहीं किया जा सकता, उसके लिए प्रत्यक्ष अनुभव भी चाहिये।

स्वप्न नि० : मेरी बातों पर विश्वास करके देखो, तुम्हें अनुभव भी हो जाएगा।

कमल : लेकिन मैं तुम्हारे स्वप्न का अनुभव कैसे कर सकूँगा?

स्वप्न नि० : उसके अनेक चिन्ह हैं। सच्चे प्रेम का अनुभव होते ही तुम्हारे अंग में एक मधुर कम्पन होने लगेगा। जैसे प्रेम अपने पंख फड़फड़ा रहा हो। तुम्हारा मन एक अलौकिक आनन्द से भर जाएगा और तुम्हारा तिमिराच्छादित पथ ज्योत्स्ना के स्निग्ध आलोक से जगमग हो जाएगा।

कमल : क्या कोकिला ही सारे स्वप्नों का निर्माण करती है?

स्वप्न नि० : नहीं, मेरे पास मेरे स्वप्न का सन्देश पहुँचानेवाले अन्य दूत भी हैं। रोज संध्या को जब दिनान्त हो जाता है तो बीता हुआ दिवस मेरे पास लौट

आता है। मैं पुनः उसे एक नवीन दिवस के रूप में संसार में भेज देता हूँ और फिर ऊषा की लालिमा के साथ पंछियों का सामूहिक गान मेरे संदेश को चारों ओर फैला देता है। बालकों के निर्दोष हृदयों में मेरे स्वप्नों की रचना होती है और वे उस आनन्द में विभोर होकर मुस्करा उठते हैं।

कमल : मैं भी सदा स्वप्नों की दुनिया में विचरता रहा हूँ और वे स्वप्न मैंने स्वयं ने बनाए हैं किन्तु वे पूरे नहीं हो पाते। न जाने ऐसी कौनसी भूल है जो मेरे जीवन को सदा विषाद से भर देती है।

स्वप्न नि० : तुम अपने जीवन में से इस विषाद को दूर कर दो और उसके स्थान पर करुणा का संचार करो। प्रेम के लिए करुणा की आवश्यकता होती है और इसीलिए मैं नित्य प्रातःकाल तुहिन बिन्दुओं के रूप में अश्रुकणों का उपहार संसार को देता हूँ जिससे कि मानव जीवन में दया और करुणा का संचार हो सके।

कमल : (प्रभावित हो कर) अश्रुकणों का उपहार! सुन्दर। जैसे प्रेम साकार हो उठा हो। काश यह उपहार कोई मुझे भी भेंट करता?

स्वप्न नि० : यह भेंट तुम्हें मिल सकती है, यदि तुम अपने में उसे पहिचान लेने की शक्ति पैदा करो।

कमल : लेकिन ऐसा कौन है जो यह भेंट मुझे देगा? ऐसा कौन है जिसके स्वप्न मेरे स्वप्नों के अनुकूल होंगे?

स्वप्न नि० : मैंने बीस वर्ष पूर्व एक शिशु के भीतर तुम्हारे अनुकूल एक स्वप्न का निर्माण किया था। वह शिशु आज बढ़ कर बीस वर्ष की सुन्दर नवयुवती बन गया है जिसकी सघन मेघों के समान कजरारी आँखें और रेशम के समान कोमल कुन्तल हैं।

कमल : उसके सम्बन्ध में कुछ बता सकते हो?

स्वप्न नि० : मैं तुम्हें उसका पूरा परिचय दे सकता हूँ। मैंने उसे संसार में भेजते समय उसका वर्णन अपने पास रख लिया था। यह है उसका वर्णन जिसे तुम अपने पास रख सकते हो। (एक कागज़ देता है।)

कमल : वह मुझे कहाँ मिल सकेगी?

स्वप्न नि० : उसके लिए तुम्हें खोज करनी होगी।

कमल : तो मैं उसे खोजने के लिए इसी क्षण प्रस्थान करूँगा। (जाने लगता है।)

स्वप्न नि० : किन्तु इस समय रात्रि में जाने से कोई लाभ नहीं होगा।

कमल : किन्तु मैं उसे शीघ्र खोज लेना चाहता हूँ। कहीं ऐसा न हो कि मेरे पहुँचने से पहले कोई अन्य व्यक्ति उसे अपनाले।

स्वप्न नि० : कमल। तुमने कभी उस आदमी की कहानी सुनी है जो कुकुरमुत्ता एकत्रित करना चाहता था?

कमल : कुकुरमुत्ता। (मुँह बिगाड़ लेता है)

स्वप्न नि० : वह व्यक्ति इस डर से कि कहीं, अन्य मनुष्य उससे पहले न पहुँच जावें, रात्रि को ही अपने घर से रवाना हो गया। किन्तु प्रातः काल होने पर उसे कुछ न मिल सका और वह खाली हाथ घर लौट आया। घर लौट कर उसने देखा कि उसके द्वार के पास ही कुकुरमुत्ता उग आया था। अस्तु तुम्हें भी चाहिए कि कुछ समय धैर्य के साथ प्रतीक्षा करो।

कमल : आपकी राय उचित है। किन्तु क्या आप यह कह सकते हैं कि मैं उसे प्राप्त कर सकूँगा?

स्वप्न नि० : मैं निश्चित रूप से कुछ नहीं कह सकता। क्योंकि तुम इस विषय में नितान्त मूर्ख प्रतीत होते हो।

कमल : (हिचकिचाते हुए) यह मेरे लिए अपमान जनक है...पर.........

स्वप्न नि० : हाँ हाँ आगे कहो?

कमल : पर बात ठीक है। इस मामले में अपने राम अभी तक बुद्धु ही रहे हैं। प्रेम की पहिचान मुझे नहीं।

स्वप्न नि० : यही तो तुम्हारे लिए अच्छा नहीं है। जब तुम आकाश की ओर देख कर चलते हो तब ज़रा भूमि का भी ध्यान रखा करो। केवल बाह्य सौन्दर्य को ही सब कुछ मत समझो। नारी के अन्तर की भावनाओं, उसकी आत्मा को पहिचानो। बाह्य सौन्दर्य क्षणिक, पर आन्तरिक अमर है। (स्वप्न निर्माता उसके ऊपर हाथ रख कर उसे समझाता है। लता का बाजार से खरीद कर लाई हुई वस्तुओं सहित प्रवेश।)

लता : (प्रसन्नता पूर्वक) ओह आप अभी तक यहीं हैं।

स्वप्न नि० : किन्तु अब मैं जाऊँगा..... मेरा जीवन उस पथिक की भाँति है जो कहीं नहीं ठहरता।

लता : (दरवाजा रोक कर खड़ी हो जाती है) नहीं, आप नहीं जा सकेंगे।

स्वप्न नि० : क्या तुम चाहती हो कि मैं खिड़की से कूद कर चला जाऊँ?

कमल : (जो अब स्वप्न निर्माता से पूर्णतः प्रभावित हो चुका है) लता, हमारे अतिथि का आदर करो। तुम नहीं जानतीं कि इस समय तुम किससे बातें कर रही हो। ये स्वप्नों के निर्माता हैं। उन स्वप्नों के जो मनुष्य के जीवन में सुख-दुःख के ताने-बाने बुना करते हैं। इन्होंने मुझे अपनी एक महान कृति का अधिकार आज सौंप दिया है और अब उसे केवल खोजना शेष है।

स्वप्न नि० : बेटी, जाने से पहिले मैं तुम्हें एक उपदेश देना चाहता हूँ। याद रखो कि संसार का प्रत्येक मनुष्य मूर्ख है, भटका हुआ है और उसे केवल नारी का स्नेह और त्याग ही सही मार्ग दिखा सकता है।

(वृद्ध चलने लगताहै ।दोनों उसे प्रणाम करते हैं। आशीर्वाद देते हुए शीघ्रतापूर्वक वृद्ध का प्रस्थान)

लता : (दरवाजे के पास दौड़ कर जाती है एवं बाहर देखते हुए) ओह । वह कहीं दिखाई नहीं देते । एकदम अन्तर्धान हो गये ।

कमल : मेरी युग युग की साध अब पूर्ण होगी। मुझे मेरे स्वप्नों की रानी मिलेगी और तब जीवन पथ पर हम दोनों साथ चलेंगे । (गाने लगता है)

"सांध्य गगन हो चला तिमिरमय,
मन कहता प्रिय आने वाले ।"

(गाना बन्द करके) लता ! ऐसा लगता है मानों मैं किसी को प्यार करने लगा हूँ ।

लता : ईश्वर करे तुम सुखी रहो ।

कमल : (उसे चिढ़ाता हुआ गाने लगता है)

"मैं गगन हूँ, तुम गगन की चांदनी सी हो ।
इस धरा पर प्राण तुम, मधु यामिनी सी हो ।"

लता : हमें अब काफी धन कमाना चाहिये जिससे कि तुम उसकी समस्त इच्छाओं की पूर्ति कर सको । मैं इसके लिये खूब नाचूंगी । लोग यह कह उठें "उसने नृत्य करने के लिये अपने प्राणों तक की बाजी लगा दी ।"

कमल : तुम ठीक कहती हो । हमें अपना खेल चलाना होगा । मैं अभी समाचार पत्र के लिए लेख लिखे डालता हूँ । (कोने में रखी मेज के पास कुर्सी पर बैठ कर लिखने लगता है ।)

कमल : हाल ही में नगर में प्रसिद्ध कलाकारों की एक पार्टी आई है । यह कलाकार उच्च कोटि के लोकगीतों एवं नृत्यों का प्रदर्शन करते हैं । कमल के मधुर गीत सुन कर जनता झूम उठती है तथा लता का मनमोहक नृत्य उन्हें मुग्ध कर देता है । लता एक सुन्दर नवयुवती है तथा जिसके......(लता से --तुम्हारे केशों का स्वरूप कैसा है ?(लता की ओर गौर से देखता है ।)

लता : रेशम के समान कोमल, काले और घुँघराले।

कमल : ओह। तुम्हारे केश कितने सुन्दर हैं ! इसका अनुभव मुझे अब तक नहीं हुआ और तुम्हारी आँखें ?

लता : तुम्हीं देख लो न ?

कमल : सघन मेघों के समान कजरारी, जिनमें प्यार की तड़प है । मैं भी कितना मूर्ख हूँ जो आज तक यह नहीं जान सका ?

लता : क्या नहीं जान सके ?

कमल : तुम्हारा स्वर भी कितना कोमल है जैसे वीणा की मधुर झंकार हो या किसी सुदूर अमराई में कोकिला गा उठी हो । किन्तु मैं भी कितना मूर्ख हूँ । (स्वप्न निर्माता द्वारा दियाहुआ वर्णन पढ़ने लगता है ।)

लता : क्या बात है कमल ? तुम मूर्ख क्यों हो...

कमल : लता । जरा यहाँ प्रकाश के सामने तो आकर खड़ी हो जाओ ?

लता : क्यों क्या बात है ?

कमल : कोई बात नहीं । (स्वप्न निर्माता द्वारा दिया हुआ कागज़ पढ़ते हुये उसकी ओर देखता है ।) वे आँखें जिनमें प्यार छलकता हो, वे बाहें जो तुम्हारे आलिंगन के लिये व्याकुल हों और वे अधर जो तुम्हारे अधरों से मिल जाना चाहते हों । वह नारी जो तुम्हारे ऊपर सर्वस्व न्यौछावर करना चाहती हो । 'लता' क्या यह सच है । मैंने आज तक कभी इस बात पर ध्यान ही नहीं दिया कि तुम कितनी सुन्दर हो । आज बिलकुल बदली-बदली-सी लगती हो । कितना सुन्दर है तुम्हारा मुख जैसे गुलाब का पुष्प ।

लता : ओह कमल । तुम्हें क्या हो गया है ?

कमल : 'प्रेम' जिसका आज मुझे अनुभव हो रहा है । क्या तुम इसे नहीं समझ सकी हो । न जाने कब का भटका हुआ कमल आज तुम्हारे प्यार को पहिचान गया है । उस प्यार को जो मनुष्य को सही मार्ग पर ले जाता है । स्वप्न निर्माता का स्वप्न आज सत्य बन गया है ।

लता : ओह कमल (हर्ष से पुलकित हो जाती है ।)

कमल : (प्रसन्नता पूर्वक) मेरा हृदय आज तुम्हारे प्रेम भरे गीतों से स्पन्दित हो उठा है, मेरी बाँहें फड़क रही हैं जैसे उनमें पंख लग गये हों । ऐसा लगता है कि मैं उड़ कर स्वर्ग की ओर जा रहा हूँ । नक्षत्रों के बीच हमारे गीत गूँज रहे हैं ।

लता : मैं तो न जाने कब से मिलन पथ पर बैठी तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही थी—तुम्हीं ने आने में देर कर दी । (खिड़की के पास जा कर खड़ी हो जाती है । सुदूर आकाश में पूर्णिमा का चाँद पूर्ण रूप से उदय हो गया है ।)

लता : (चाँद की ओर देख कर) वह देखो दूर गगन से मुस्कराता हुआ चाँद हमें बधाई दे रहा है ।

कमल : (लता के पास जा कर उसके दोनों हाथ अपने हाथों में पकड़ते हुए) हाँ, लता । मिलन की यह वेला हर्ष का महान् पर्व है । आओ जीवन के इन नवीन क्षणों में हम ईश्वर से प्रार्थना करें कि वह हमारा जीवन सदा सुखी रखे । (दोनों गाते हैं)

"मंगल मय हो जीवन अपना, दूर गगन के वासी वर दो
जीवन के इस दुर्गम पथ को, सुगम आज करुणामय कर दो ।*"

—लक्ष्मीनारायण अग्रवाल एम. ए.

सूचना और जनसम्पर्क विभाग
लश्कर

---

* स्व. श्री ओलिफैन्ट डाउन के नाटक "दि मेकर आफ ड्रीम्स" के आधार पर ।

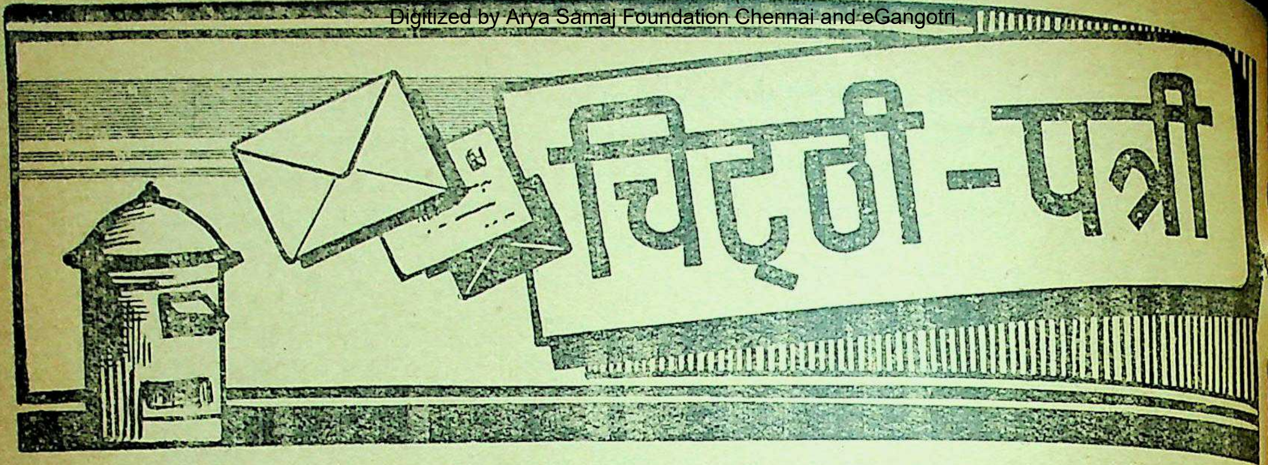

चिट्ठी-पत्री

['चिट्ठी-पत्री' के स्तम्भ को हम अधिक लोकप्रिय बनाना चाहते हैं। साहित्य की गति-विधि और अन्य समस्याओं पर हम 'अजन्ता' के पाठकों के विचारों को जानना चाहते हैं। इस स्तम्भ में वे अपने विचार प्रकाशित करने के लिए भेज सकते हैं। इस स्तम्भ के द्वारा लेखकों और पाठकों के बीच में निकट सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है। इस स्तम्भ में प्रकाशित सर्वश्रेष्ठ पत्रों पर विशेष पारिश्रमिक की योजना की गई है। पत्र संक्षिप्त और निर्वैयक्तिक होने चाहिएँ। पत्र अधिक से अधिक 'अजन्ता' के दो कालम के होने चाहिएँ—सं०]

(१)

आन्ध्र सारस्वत परिषद्

[आन्ध्र सारस्वत परिषद् हैदराबाद में तेलुगु भाषा-भाषी जनता की प्रमुख साहित्यिक संस्था है। जो सहयोग हैदराबाद राज्य हिन्दी प्रचार सभा और आन्ध्र सारस्वत परिषद में पिछले वर्षों रहा है वह इस बात का द्योतक है कि हिन्दी और प्रादेशिक भाषाओं का मैत्री और सद्भावनाओं के साथ हैदराबाद में विकास हो रहा है। सहयोगी संस्था के निजी भवन में स्थानान्तरित करने के अवसर पर सभा के अध्यक्ष श्री एल. एन. गुप्त ने आन्ध्र सारस्वत परिषद् के अध्यक्ष श्री रामानुजराव के नाम मंगल कामनाओं का एक पत्र भेजा है जिसे यहाँ प्रकाशित किया जा रहा है।—सं.]

प्रिय श्री रामानुजराव,

आन्ध्र सारस्वत परिषद् अपने निजी भवन में स्थानान्तर कर रही है, यह जान कर बड़ी खुशी हुई। इस सुअवसर पर मैं बधाइयाँ और मंगल कामनाएँ प्रस्तुत करता हूँ। आन्ध्र सारस्वत परिषद्, जो हैदराबाद की तेलुगु भाषा-भाषी जनता की प्रमुख साहित्यिक संस्था है. शहर हैदराबाद और तेलंगाना में सांस्कृतिक विकास का सराहनीय कार्य कर रही है। हैदराबाद राज्य हिन्दी प्रचार सभा के अध्यक्ष के नाते मैं इस सुअवसर पर कहना चाहता हूँ कि सभा और परिषद् के बीच सदा से मैत्री और सद्भावना का सम्बन्ध रहा है। मुझे विश्वास है कि नीति और दृष्टि का यह सामंजस्य जो अब तक रहा है विकसित होता रहेगा और हिन्दी के साथ प्रादेशिक भावनाओं की उन्नति चाहनेवालों के हाथों को मजबूत करेगा। हैदराबाद हिन्दी प्रचार सभा और हिन्दी के कार्यकर्ताओं का, प्रादेशिक भाषाओं के प्रति उतना ही उत्तरदायित्व है जितना हिन्दी के प्रति। हमारी अभिलाषा है कि आन्ध्र सारस्वत परिषद् प्रतिदिन बलवती हो और लाखों तेलुगु भाषा-भाषियों की साहित्यिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने में सफल हो; और तेलंगाना के बुद्धिजीवियों में राष्ट्रीय, प्रगतिशील और मानवता का दृष्टि-कोण पैदा करने में मार्गदर्शक हो, जो भारत में शान्ति प्रगति और समृद्धि का कारण बन सके।

—एल. एन. गुप्त

हैदराबाद

(२)

भारतीय लोकभाषाएँ

···आपकी 'अजन्ता' पर मुग्ध हूँ। इसके लेख बहुत ही विचारशील होते हैं। १९५३, अगस्त की 'अजन्ता' में एक लेख छपा है—"भारतीय लोकभाषाओं का विकास"। लेखक हैं श्री श्याममोहन श्रीवास्तव। लेख तो बड़ा खोजपूर्ण है। मगर द्राविड़ भाषाओं के बारे में लेखक की खोज अपूर्ण जान पड़ती है। या यों कहना उचित होगा कि लेखक ने इन द्राविड़ भाषाओं के बारे में जो कुछ अंग्रेज़ी या अन्य भाषाओं की किताबों के ज़रिए ज्ञान प्राप्त किया है बहुत ही कम और संदिग्ध है। मैं स्वयं इन भाषाओं को पढ़ लिख सकता हूँ फिर भी

अपनी मातृभाषा कन्नड़ को छोड़ कर दूसरी द्राविड़ भाषाओं के बारे में अधिकारपूर्ण ढंग से विशेष कुछ कहने में असमर्थ हूँ। इसलिए दूसरी द्राविड़ भाषाओं के विषय में कुछ न कह कर अपनी मातृभाषा कन्नड़ के विषय में कुछ निवेदन करना चाहता हूँ। कन्नड़ के बारे में कोई अधिकारपूर्ण ग्रन्थ अब तक अंग्रेज़ी या किसी अन्य भाषा में नहीं लिखा गया। जो कुछ इस बारे में मिलता है वह अधूरा और संदिग्ध है। इसका कारण यही जान पड़ता है कि अंग्रेज़ लोगों ने जब कन्नड़ के बारे में छानबीन की तो उसके बारे में कुछ अधिकारपूर्वक कहना उनके लिए संभव नहीं था। वे कन्नड़ अच्छी जानते भी नहीं थे। यह प्रथम प्रयास था जिसका फल भी एकदम अधिकारपूर्ण नहीं हो सका। यह बात उन दिनों की सभी भारतीय भाषाओं के बारे में ठीक मालूम होती है। उन लोगों ने हमारी आँखें खोलीं और आगे काम करना हमारा कर्तव्य है यह समझाया। इसलिए कन्नड़ के बारे में लिखते समय कन्नड़ के कुछ ग्रन्थ पढ़ कर उसके बारे में लिखना ठीक होगा या ग्रन्थों का आधार दे कर बचना उचित। मगर इस लेख में जहाँ कन्नड़ के बारे में लिखा गया है, वहाँ देखने से उपरोक्त बातों में से कोई बात भी खरी नहीं उतरती।

लेखक कहते हैं कि कन्नड़ लोकभाषा मैसूर में बोली जाती है। आश्चर्य है कि इलाहाबाद में रहनेवाले इन लेखक महोदय ने कन्नड़ के बारे में इतना महत्वपूर्ण प्रकाश डाला। श्रीमान् जी को संभवतः कन्नड़ के अक्षर भी मालूम नहीं होंगे। कन्नड़ भाषा केवल मैसूर ही में नहीं सारे कर्णाटक में बोली जाती है। इसको बोलनेवाले लोगों की संख्या भी २½ करोड़ से अधिक है।

वे कन्नड़ की साहित्यिक भाषा को कृत्रिम और बनावटी कहते हैं। मगर यह बात केवल कन्नड़ के ही बारे में नहीं अपि तु सभी भाषाओं के बारे में सच है। किसी भी भाषा में जनसाधारण की भाषा का रूप अलग होता है और साहित्यिक भाषा का रूप अलग होता है। क्या हिन्दी में ऐसी बात नहीं है? मेरे जानते तो अंग्रेज़ी, उर्दू, मराठी, तमिल, तेलुगु और मलयालम में भी यही बात है। न जाने कौन सी भाषा लेखक महाशय के सिद्धान्त के अनुसार है!

तुलु, कोडगु, टोडा और कोटा के बारे में भी लेखक की धारणा सही नहीं कहला सकती। तुलु तो कन्नड़ की विभाषा है; उसमें थोड़ा बहुत साहित्य भी है। कोडगु, टोडा और कोटा तो कन्नड़ की ही बोलियाँ हैं।

मैसूर —मा० देवेगौड़ “बोम्मण्णा”

(३)

विश्व साहित्य की अमर कविताएँ

‘अजन्ता’ के सितम्बर ’५३ अङ्क में श्रीयुत लक्ष्मीशङ्कर व्यास एम. ए. का ‘विश्व-साहित्य की अमर कविताएँ’ लेख पढ़ा। प्रयास अच्छा बन पड़ा है किन्तु है अपूर्ण। (अपने इस रूप में भी), और यह दर्शाता है कि लेखक ने विश्व साहित्य की जिन रचनाओं का उल्लेख किया है उनमें से कुछ को उसने मूल में देखा और पढ़ा है। किन्तु कुछेक के विषय में तत्सम्बन्धी प्राप्त अंग्रेज़ी सामग्री से ही काम चलाया है। मेरा इशारा लेटिन साहित्य की ओर है। लेटिन-भाषा के महाकवि वर्जिल की जिस रचना का वर्णन किया गया है उसका नाम ‘इक्लोग्स’ नहीं है। अपि तु ‘बूकोलिका’ है जिसे अंग्रेज़ी नाम ‘बूकोलिक्स’ नाम दिया गया है। इसके लिए मूल ग्रन्थ का अवलोकन मात्र द्रष्टव्य है। ‘इक्लोग्स’ शब्द तो उक्त रचना में वर्णित विषय का प्रकार बताता है कि इस रचना में अंग्रेज़ी के ‘इक्लोग्स’ जैसे गीत हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे कालिदास का ‘रघुवंश’ महाकाव्य है, प्रसाद का ‘अजातशत्रु’ नाटक है, महादेवी की ‘यामा’ गीतिकाव्य है।

दूसरे, यह ‘बूकोलिका’ नामक रचना क्या है, इस विषय में भी लेखक कुछ स्पष्ट नहीं कर सका है। विश्व साहित्य की अमर रचना होने के नाते उसमें वर्णित विषय का सही ज्ञान होना आवश्यक है। अतः मैं इस विषय में कुछ अधिक बताना चाहता हूँ। ‘बूकोलिका’ (Bucolica) नामक लेटिन-शब्द यूनानी भाषा के ‘बौकोलिका’ (Boukolka) शब्द से व्युत्पन्न है, जिसका इस भाषा में अर्थ है ‘चरवाहों से सम्बन्धित गीत’। अतः ‘बूकोलिका’ नामक रचना का हिन्दी नाम ‘चरवाहों के गीत’* हुआ। इस रचना में ऐसे ही दस

---

* वर्जिल कृत इसी ‘बूकोलिका’ नामक रचना का ‘चरवाहों के गीत’ नाम से मैंने जो मूल भाषा से सटीक अनुवाद प्रस्तुत किया है उसका प्रकाशन निकट भविष्य में ‘नया समाज’ (कलकत्ता) में धारावाहिक रूप से होनेवाला है। हिन्दी साहित्य में इस प्रकार के काव्य का नितान्त अभाव है—ले०

गीत संकलित हैं जो चरवाहों से सम्बन्धित काव्य के उदाहरण हैं । इन गीतों का ·आधार थ्योक्रितुस, ग्राम्य-गीतों (इडिल्लस) को लिखनेवाला पहिला यूनानी कवि, के ग्राम्य-गीत हैं, किन्तु ये गीत ग्राम्य-गीतों से इन दशाओं में भिन्न हैं : ग्राम्य–गीतों का प्राकृतिक वातावरण सत्य आधार पर निर्भर रहता है; दृश्य तथा कथानक वास्तविकता लिए होते हैं; चरवाहे सजीव हाड़-माँस के प्राणी होते हैं; इसके विपरीत, ये चरवाहों के गीत अप्राकृतिक हैं: इनके दृश्य काल्पनिक हैं; इनके चरवाहे विडम्बन मात्र हैं और समय-समय पर वे कवि वर्जिल के रूप को (यथा १ ले गीत में नीतिरुस) अथवा गाल्लुस या कैसर के रूप को (यथा ५ वें गीत में दफ्निस) धारण कर लेते हैं । लौकिक रीति के अनुसार चरवाहों के गीत, ग्राम्य-जीवन के वास्तविक आकर्षण के विपरीत, एक कलात्मक विषय है जिसमें कवि ग्रामीण मनुष्य के रूप में स्वयं सक्रिय भाग लेता है और अपने कलात्मक ग्राम्य-जीवन के चित्रण से श्रोतागणों को मन्त्र-मुग्ध करता है । किन्तु अतिलौकिक अतिसुन्दर भी हो सकता है । अतः इन गीतों का काव्य सौन्दर्य सर्वमान्य रहा है । तत्कालीन लेटिन-कवि होरेस ने इन गीतों में 'कोमलता तथा काव्य शोभा' (मोल्ले अत्के फाकेतुम । वेर्गिलिओ अन्नुएरुन्त गौदेन्तेस रूरे कमेनै—समोंनिस, १।१०।४४) का समावेश पाया है । मकौले और वाल्टेयर ने जो इनकी प्रशंसा की है उसका वर्णन अनावश्यक है । इन गीतों का योरुपीय साहित्य में जो समय-समय पर अनुकरण किया गया है वही इनके काव्यगत सौन्दर्य का यथेष्ट प्रमाण है । यह रचना अधिकांश रूप में कल्पना-प्रधान है । भाषा का सौन्दर्य कथानक के काल्पनिक चित्रण को भी छिपा नहीं सका है । ये गीत वास्तविकता को आदर्श रूप देते हैं और इसलिए उन्हें काल्पनिक बना देते हैं । वास्तव में इन गीतों को गहन अध्ययन का विषय समझना चाहिए । हमें इनमें कवि की काव्य-प्रतिभा के उत्तरोत्तर विकास के भी दर्शन होते हैं ।

'बूकोलिका' के दसों गीतों का विषय-क्रम इस प्रकार है :

(१) वे गीत जो थ्योक्रितुस के नितान्त अनुकरण हैं (यथा २ रा, ३ रा, ५ वाँ, ७ वाँ और ८ वाँ);

(२) वह गीत जो पोल्लिओ को निवेदित है, (यथा ४ था,;

(३) वे गीत जो वारुस को निवेदित हैं, (यथा ६ ठा और ९ वाँ); और (४) वह गीत जो सम्राट् ऑगुस्तुस को निवेदित है, (यथा १ ला) । इस प्रकार हम देखते हैं कि अधिकांश गीत थ्योक्रितुस के ग्राम्य-गीतों पर आधारित हैं । वर्जिल ने लेटिन-साहित्य में यूनानी आदर्श उपस्थित किया है । किन्तु इस नाते हम उसे रोमन-थ्योक्रितुस के रूप में ग्रहण कर सकते हैं । इसके साथ ही उसके चरवाहों से सम्बन्धित चित्र न तो असामयिक ही हैं और न निरे कल्पनाप्रधान ही । हमें उनमें उस समय की अस्त-व्यस्त राज्य व्यवस्था में पले चरवाहों और किसानों के अनुभवों का ज्ञान होता है । बाह्य-जगत् की वास्तविकता को समझते हुए कवि ने इनमें अपने समय के महान् व्यक्तियों की प्रशंसा की है । इन सब बातों के होते हुए भी गीतों में एक अव्यक्त काव्य-प्रवृत्ति निहित है, जो इन दसों गीतों में कथानक की भिन्नता होने पर भी सर्वव्यापक है ।

इस रचना के विषय में इतना ही परिचयात्मक लेख पर्याप्त होगा । विश्व-साहित्य पर लिखनेवालों से प्रार्थना है कि वे कम से कम इन विषयों पर अधूरी जानकारी लेकर क़लम न चलाएँ तो अच्छा है, इसी लेख में 'महात्मा ईसा' के अवतार की भविष्यवाणी की जो बात लिखी है वह असंदिग्ध होते हुए भी निराधार है । 'बूकोलिका' के 'पोल्लिओ' शीर्षकवाले ४ थे गीत में, जो पोल्लिओ के न्यायाधीश होने के समय ४० ई० पू० में लिखा गया था (तू कोन्सूले—४।११), केवल ऐसा निर्देश भर मिलता है, जिसमें वर्जिल ने शान्ति तथा ग्रामीण-कल्याण के युग का आगमन चित्रित किया है । इस नवीन युग के आरम्भ तथा उन्नति की कल्पना उसने एक शिशु के जन्म से सम्बन्धित की है (तू मोदो नास्केन्ती पुएरो—४।८) । यह शिशु कौन था ? इसका स्वाभाविक उत्तर यही है कि वह पोल्लिओ का पुत्र था; क्योंकि उस समय तक उसके दो पुत्र जीवित थे जिनमें से एक कैउस असिनिउस गाल्लुस आगे चल कर अत्यन्त विख्यात हुआ, जिसके विषय में सम्राट् ऑगुस्तुस ने कहा था कि केवल वही ऐसा मनुष्य है जो उसका उत्तराधिकार पाने के लिए महत्त्वाकांक्षी है । स्वयं गाल्लुस ने यही बात वैयाकरण अस्कनिउस पेदिआनुस को सुनाई थी कि वही इस गीत में वर्णित शिशु है । यहाँ पर यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि यह गीत पोल्लिओ को निवेदित है ।

इस मत के विरोध में एक विवाद यह भी है कि इस गीत की भाषा, यथा पंक्ति १७, 'वह संसार का पथ-प्रदर्शक बनेगा' (पाकातुम्के रेगेत पात्रिईस विर्तूनीबुस ओर्बेम), जो पोल्लिओ के पुत्र के लिए प्रयुक्त की गई है औक्तावियन को अवश्य ही अरुचिकर रही होगी। किन्तु उस समय पोल्लिओ वहाँ का नाम मात्र सम्राट् था और औक्तावियन अभीतक सम्राट् ऑगुस्तुस नहीं हुआ था। साथ ही वर्गिल की भाषा साभिप्राय इतनी संदिग्ध और कल्पनापूर्ण है कि निरंकुश सम्राट् तक इसे दण्डनीय नहीं समझ सकता। कुछ आलोचकों का विचार है कि यह शिशु औक्तावियन के भावी पुत्र का द्योतक है। औक्तावियन ने तभी स्क्रीबोनिआ नामक युवती से विवाह किया और उसे सन् ३९ ई० पू० में त्याग दिया था; उसकी इस रानी ने तभी यूलिआ नामक कुख्यात पुत्री को जन्म दिया था। किन्तु वर्जिल ने जानबूझ कर इस बात को पहेली की भाँति अत्यन्त संदिग्ध रखा है, और उसे ऐसा करना अपेक्षित भी था। अतः यह धारणा कि वर्जिल ने इस गीत की रचना औक्तावियन के इस वैवाहिक प्रसङ्ग में की, सर्वथा निर्मूल है।

दूसरे, इस गीत तथा ऐसे ही ईसाइआह द्वारा विरचित एक हेब्रू गीत की भाषा इतनी अधिक सारूप्य है, तथा दोनों में भविष्य में उत्पन्न होने वाले एक शिशु का वर्णन मिलता है, कि आरम्भ के ईसाइयों में ऐसा दृढ़ मत प्रचलित न हुआ कि वर्जिल ने किसी अज्ञात रूप से मसीहा की भविष्यवाणी को इन पंक्तियों में उद्धृत किया है। मध्ययुग में भी यही मत प्रभावशाली रहा, और पोप ने अपना विचार इस प्रकार प्रकट किया कि उसका मसीहा वर्ज़िल के 'पोल्लिओ' के अनुकरण में इस गीत में निहित है तथा यह गीत ख्रीष्ट के जन्म सम्बन्धी एक सिबीलियन भविष्यवाणी से उद्धृत किया गया है। किन्तु ऐसा मत अधिक मान्य नहीं हो सकता, क्योंकि यदि मसीहा की आशाएँ किसी प्रकार पूर्व से इटली तक पहुँच भी चुकी होंगी तो भी इस गीत से यह निर्धारित नहीं किया जा सकता कि वर्जिल उनसे भली प्रकार परिचित था। आगामी स्वर्ण-युग का वर्णन उस काल में तथा उससे पहले भी एक सामान्य विषय था, और एक शिशु का जन्म जो तत्कालीन परिस्थितियों से घटित हुआ पोल्लिओ के राज्यकाल से ही सम्बन्धित है, किन्तु यह निश्चय रूप से अभीष्ट है कि इस प्रकार कविता आशावादी होती है और कवि को कल्पना का विशाल क्षेत्र प्रदान करती है। यहाँ पर यह कहना अनुचित न होगा कि उस समय स्वर्ण-युग का वर्णन तथा तत्सम्बन्धी पूर्ण आनन्दावस्था का आगमन ऐसे लोकप्रिय विषय थे जिन पर युवक कवि अपनी प्रतिभा का परिचय देते थे; इनके द्वारा भाषा तथा कला दोनों की प्रगति सम्भव थी। किन्तु यह अत्यन्त आश्चर्य का विषय है कि इस प्रकार एक शिशु के जन्म की घोषणा इस गीत में की गई है जो उस समय का सामान्य आशावादी दृष्टिकोण था। सापेक्ष दृष्टि से, चाहे इस शिशु का सम्बन्ध किसी व्यक्ति विशेष से हो, इसका आशय यहाँ पर आगामी युग के आरम्भ से है, जिसका आरम्भ उसके जन्म के मानवीकरण से उपलक्षित है। जर्मन आलोचक सोन्टाक ने अपनी पुस्तक 'वर्जिल आल्स बूकोलिकाडिखटेर' (वर्जिलः चरवाहों के गीतों के कवि रूप में) लिखा है (पृष्ठ ८५) 'उस शिशु का जन्म, तात्पर्य यह है कि एक उत्तम युग का प्रादुर्भाव।' ('डी गेबुर्ट डेम क्नाबेन, डास हैस्ट डास औफट्रेटेन ऐनेर बेस्सेरेर जेनेरेशन')। अतः यह विषय अभी तक संदिग्ध है, यद्यपि नवीन युग के प्रादुर्भाव का शिशु के जन्म-रूप में मानवीकरण ही मान्य मत है। इस नाते वे परिस्थितियाँ भी महत्वपूर्ण हैं जिनके कारण रोम में भी उतने ही दैविक रहे होंगे जितने कि तत्कालीन समय में फिलिस्तीन में ख्रीष्ट के जन्म के अवसर पर थे।

एक बात और, वर्जिल की 'बूकोलिका, नामक रचना जितनी अधिक प्रसिद्ध हुई है, वैसी ही उसकी अन्य दो रचनाएँ—'गोओर्गिकोन' तथा 'ऐनेइद' भी हैं। यदि उस लेख में इनका भी वर्णन कर दिया जाता तो और भी अच्छा रहता। वास्तव में, ऐसे लेखों में विश्व साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन, प्रत्येक साहित्य की सभी विशेषताओं को ध्यान में रख कर, किया जाना कहीं अधिक महत्वपूर्ण है।

ऐसी ही बात लेखक के यूनानी-साहित्य पर लिखे गए नोट पर भी लागू होती है। वह भी अधूरा और मूल रचनाओं के अध्ययन से दूर का है। वर्णन बहुत ही संक्षिप्त है, जब कि वह साहित्य भी अन्य साहित्यों की भाँति बढ़ा चढ़ा है।

ऐत्मादपुर,
आगरा

—प्रेमकिशोर

नीर-क्षीर

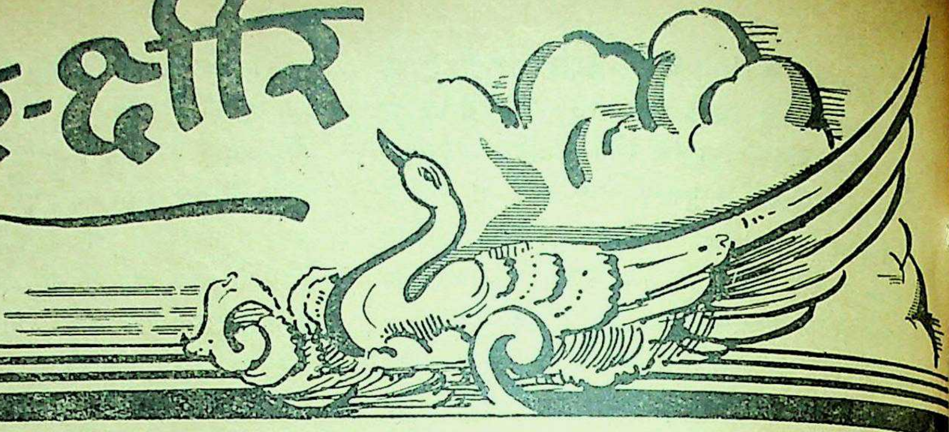

[समालोचना के लिए प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ सम्पादक 'अजन्ता' के नाम से भेजी जानी चाहिएँ]

संक्षिप्त राष्ट्रभाषा कोश

सम्पादक : महापण्डित राहुल सांकृत्यायन
प्रकाशक : राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा
मूल्य : ५) रुपए।

कोश निर्माण का कार्य बड़ा उत्तरदायित्वपूर्ण है। प्रत्येक कोशकार अपनी ही एक विशिष्ट पद्धति पर अपने कोश का निर्माण और संपादन करता है। संपादक महोदय ने तो इस कोश की कोई अपनी भूमिका नहीं लिखी जिससे इस कोश की विशेषताओं का ज्ञान हो सकता। इस कोश के विषय में प्रकाशक की ओर से यह लिखा गया है : "समिति के प्रारम्भ से ही एक ऐसे हिन्दी कोश की आवश्यकता अनुभव की जा रही थी जो अनेक दृष्टियों से इतना परिपूर्ण हो कि हिन्दीतर प्रान्तों में राष्ट्रभाषा हिन्दी का अध्ययन करनेवाले विद्यार्थियों की आवश्यकता की अधिक से अधिक पूर्त्ति कर सके। कोश के लिए शब्दों का चयन करते समय राष्ट्रभाषा के विद्यार्थियों की आवश्यकता को पूरी तरह ध्यान में रखा गया है। राष्ट्रभाषा के क्षेत्र में प्रतिदिन के उपयोग में आनेवाले हिन्दी, उर्दू तथा संस्कृत, अरबी, अंग्रेज़ी से अपनाए गए सभी शब्दों के अर्थ दिए गए हैं।"

हमने इस संक्षिप्त राष्ट्रभाषा कोश की जो विशेषताएँ देखीं हैं : एक तो यह कोश संक्षिप्त क्या अत्यन्त संक्षिप्त है—शब्दों में और अर्थों में भी। बहुत से शब्द इस कोश में लिए ही नहीं गए हैं। दूसरी विशेषता इस कोश की यह है कि इसमें बहुत से शब्दों के अर्थ हिन्दी में न लिखे जाकर अंग्रेज़ी में लिखे गए हैं। अर्थ अंग्रेज़ी शब्दों में नागरी अक्षरों में लिखे गए हैं। यदि वे अर्थ के स्थान पर लिखे हुए अंग्रेज़ी भाषा के शब्द सर्वसाधारण में प्रचलित होते तो हमें शायद कोई विशेष आपत्ति न होती परन्तु यह संभव है कि सर्वसाधारण अधिकांश में संभवतः उन शब्दों से परिचित नहीं हो सकते। ऐसी अवस्था में यह कोश "राष्ट्रभाषा हिन्दी का अध्ययन करनेवाले विद्यार्थियों की आवश्यकता" की "अधिक से अधिक पूर्त्ति" कर सकेगा इसमें हमें सन्देह है। उदाहरणार्थ अनन्नास का अर्थ लिखा है पाइन ऐपल। यदि राष्ट्रभाषा का कोई विद्यार्थी अंग्रेज़ी नहीं जानता तो वह अनन्नास का अर्थ किस प्रकार समझेगा। राष्ट्रभाषा में पाइन ऐपल शब्द प्रचलित नहीं है। सशस्त्र बल का अर्थ लिखा गया है आर्मर्ड फोर्सेज़, शोधना का अर्थ दिया गया है रिसर्च; सहो-कलम का अर्थ लिखा गया है स्लिप आफ़ पेन, लोक-समाज का अर्थ कम्युनिटी; रतिशास्त्र का अर्थ दिया गया है सेक्सोलाजी; व्यक्तित्व का अर्थ दिया गया है पर्सनैलिटी आदि। पता नहीं क्या समझ कर राष्ट्रभाषा के इस कोश में अर्थों में इन अंग्रेज़ी शब्दों को दिया गया है। क्या इस कोश को यह समझ कर लिखा गया है कि राष्ट्रभाषा का प्रत्येक विद्यार्थी अंग्रेज़ी को जानता ही होगा। कई शब्दों के अर्थों में अंग्रेज़ी के शब्द दिए गए हैं परन्तु उनके साथ हिन्दी में भी अर्थ दे दिए गए हैं। यदि अंग्रेज़ी के शब्दों को दिया जाना इतना आवश्यक था तो क्या संपादक महोदय इन शब्दों के साथ अन्य हिन्दी शब्दों को नहीं दे सकते थे! तीसरी विशेषता हमने इस कोश की यह देखी कि अंग्रेज़ी के जिन पारिभाषिक शब्दों को हिन्दी में संपादक महोदय ने बनाया है उन हिन्दी की अप्रचलित और अपनी ओर

से निर्दिष्ट परिभाषाओं को भी इस राष्ट्रभाषा कोश में इस प्रकार अन्तर्गत कर लिया गया है कि जैसे वे भी राष्ट्रभाषा के प्रचलित शब्द हैं। राष्ट्रभाषा कोश में उन्हीं शब्दों का चयन किया जाना चाहिए था जो शब्द राष्ट्रभाषा में साधारणतया प्रचलित हैं। जिन शब्दों या परिभाषाओं को अंग्रेज़ी के आधार पर संपादक महोदय ने हिन्दी में बनाया है उन शब्दों या परिभाषाओं को राष्ट्रभाषा कोश के शब्दों में इस प्रकार सम्मिलित कर लेना कि मानों वे शब्द या परिभाषाएँ हिन्दी-जगत् की मान्यता प्राप्त कर चुकी हैं— ठीक नहीं है। ऐसे शब्दों या परिभाषाओं के शब्दों के अर्थ भी नागरी अक्षरों में अंग्रेज़ी में दिए गए हैं। उदाहरणार्थ: अभिकरण=एजेन्सी; अभिकर्ता=एजेन्ट; अब्दकोश=इयर बुक; आयुक्त=कमिश्नर; उपायोजना=इम्प्लायमैण्ट; वादपद=इश्यू; विवरणी=रिटर्न; विश=लैण्डलेडी; श्रेष्ठि चत्वर=स्टाक एक्सचैंज; सन्था=एसोसिएशन; सुफा=ट्रे; सूत्रित=फौर्मुलेटेड; निरोधा=क्वारंटीज आदि। चौथी विशेषता यह है कि इस कोश में उर्दू में प्रचलित अरबी और फ़ारसी शब्दों को प्रचुर मात्रा में सम्मिलित किया गया है। इनमें बहुत से शब्द ऐसे हैं जो कि हिन्दी में प्रचलित नहीं हैं। इसी प्रकार कुछ और विशेषताओं का उल्लेख किया जा सकता है। हिन्दी की अन्य उपभाषाओं में प्रचलित कई शब्दों को इस कोश में सम्मिलित किया गया है।

कई शब्दों के विचित्र अर्थ लिखे गए हैं। शाण्ड (५१५) का एकमात्र अर्थ लिखा गया है बाँझ मर्द। बाँझ शब्द का अर्थ सम्पादक महोदय ने दिया है अपने कोश में वन्ध्या (३५८)। क्या हिन्दी में मर्द को बाँझ कहने का मुहावरा है? विन्ध्याटवी का अर्थ दिया गया है सतपुड़ा की पहाड़ियाँ (५०४)। क्या सतपुड़ा की पहाड़ियाँ और विन्ध्य पर्वतमाला एक ही हैं? हाल शब्द का अर्थ दिया गया है सार्वजनिक कामों के लिए दालान (३०३)। संपादक महोदय ने दालान शब्द का अर्थ दिया है बरामदा। बैठका (!) (२०६) हाल शब्द का अर्थ अंग्रेज़ी कोशों में दिया गया है "Large Public room in Palace etc. महलों आदि में सर्वसाधारण का बड़ा कमरा।" इसी प्रकार अन्य कई उदाहरण दिए जा सकते हैं जिनसे यह ज्ञात होता है कि शब्दों का अर्थ लिखने में विशेष सावधानी नहीं बरती गई है।

इस कोश में एक और परिवर्तन किया गया है। साधारणतया हिन्दी के कोशों में अनुनासिक या सानुस्वार शब्द पहले दिए जाते हैं परन्तु इस कोश में प्रत्येक अक्षर के अन्त में दिए गए हैं। सम्भवतः यह परिवर्तन इसलिए किया गया है क्योंकि ङ, ञ, ण, न और म अक्षर सब व्यंजनों के अंतिम अक्षर हैं और अनुनासिक या अनुस्वार इन्हीं का ही रूप है।

"हिन्दीतर प्रान्तों में राष्ट्रभाषा हिन्दी का अध्ययन करनेवाले विद्यार्थियों" को अधिकतर कठिनाई उन शब्दों के विषय में हो सकती है जो हिन्दी की प्रादेशिक बोलियों में प्रचलित हैं और इस संक्षिप्त राष्ट्रभाषा कोश में यद्यपि हिन्दी की प्रादेशिक बोलियों के बहुत से नए शब्दों को सम्मिलित किया गया है तो भी साहित्य में प्रचलित बहुत-से शब्दों को सम्मिलित नहीं किया गया है। दूसरी कठिनाई इस प्रकार के विद्यार्थियों को शब्दों के मुहावरों को समझने में हो सकती है। क्योंकि यह कोश 'संक्षिप्त' है इसीलिए संभवतः मुहावरों को इस कोश में बिलकुल स्थान नहीं दिया गया है। आशा है कि इस कोश को अधिक उपयोगी बनाने के लिए अगले संस्करणों में इन्हें भी "सम्मिलित" करने का प्रयत्न किया जाएगा।

आकर्षणशक्ति

लेखक : गुलाबरत्न बाजपेयी 'गुलाब'

प्रकाशक : केदारनाथ बाबूलाल राजगढ़िया सीरीज
१३, सैयद साली लेन कलकत्ता

मूल्य : डेढ़ रुपया

प्रस्तुत पुस्तक का यह सातवाँ संस्करण है। नवयुवकों में नव जीवन, नव उत्साह और नव शक्ति को उत्पन्न और अनुभव कराने के लिए इस पुस्तक को लिखा गया है। इस पुस्तक को लिख कर लेखक ने मनुष्य जीवन में रस, आनन्द और उसे सच्चे अर्थों में जीवन बनाने का प्रयत्न किया है। लेखक की भाषा में ओज है, आकर्षण है और पुस्तक को पढ़ने से मन को प्रसन्नता होती है। यह सत्य है कि इस पुस्तक में लेखक ने प्रतिदिन की परिचित साधारण सचाइयों को लिखा है परन्तु परिचित होते हुए भी लोग क्रियात्मक जीवन में इनसे कितने अपरिचित हैं और जब तक इन्हें जीवन में क्रियात्मक रूप में परिणत न किया जाए तब तक इनकी महत्ता और वास्तविकता

× हिन्दी के किसी कोश में बाँझ शब्द का अर्थ का प्रयोग मर्द के विषय में नहीं किया गया है।

का अनुभव नहीं किया जा सकता। पुस्तक को पढ़ने से चित्त में चैतन्य जागृत होता है और कर्मशील होने की प्रेरणा प्राप्त होती है। प्रत्येक नवयुवक को इस पुस्तक को अवश्य पढ़ना चाहिए।

हैदराबाद —**वंशीधर विद्यालङ्कार**

पहेली

लेखक : राजेन्द्र रघुवंशी
प्रकाशक : विश्व साहित्य
५१६१, राजामण्डी, आगरा
मूल्य : बारह आना।

'पहेली' एक छोटा-सा एकांकी नाटक है जिसमें पूंजीवाद से पीड़ित आधुनिक युग के निराशाजनक मध्यवर्ग का चित्रण किया गया है। नाटक शर्मा जी के होटल में आरम्भ होता है जहाँ शर्मा जी ने 'नो क्रेडिट' लेबल लगा दिया है परन्तु सक्सेना, खाँ साहब आदि हैं कि उधार के बिना उनका काम नहीं चलता। और शर्मा भी कड़े होकर भी इतने कड़े नहीं होते कि 'बेकारबार' लोग जो पहले से ही निराश हैं उन्हें सचमुच ही चाय न देकर और भी अधिक निराश करदें। खाँ साहब कबाड़ीखाने से डेढ़ रुपए में पलँग का फ्रेम लेना चाहते हैं। वकील हैं कि 'क्रासवर्ड पजल' निकालने में लगे हैं। कोई गरीबी के कारण 'इन्सल्ट प्रूफ' बन गया है तो कोई जुआरी। इस प्रकार इन मध्यवर्ग के लोगों में घोर निराशा व्याप्त हो रही है और उसका कोई इलाज नहीं दिखाई देता। शर्मा झल्ला कर कहता है : 'इस तरह मर मर कर जीना गलत है! भूखे रहो, बीमार रहो, दिमाग खराब कर लो! क्यों कर लें?' अन्त में लेखक खाँ साहब के शब्दों में व्यंग करता है : 'हमारी सरकार भी एक अजीब पहेली सुलझाने में लगी है। उधार पर उधार कर रही है, व्याज तक चुकाना नहीं चाहती। बॉण्ड पर बॉण्ड निकालती है—कभी तीन परसेन्ट पर, और फिर उसका टाइम खतम हुआ तो साढ़े तीन परसेन्ट पर। फिर टाइम खतम हुआ तो चार परसेन्ट व्याज का लालच देकर रिन्यू कर देती है...एक अंधविश्वास है कि एक दिन सब कुछ चुक जायगा। क्लू मिलाए जा रहे हैं, रिजल्ट खुल रहे हैं...' लेखक मध्यम वर्ग को सलाह देता है कि पिसे हुए लोग जिस आवाज को उठा रहे हैं उस आवाज को सुन कर उसी के साथ मिल जाएँ। अर्थात् यदि हम पूरे नाटक को सैद्धान्तिक शब्दावली में बदलें तो उसका निष्कर्ष यही है : पूंजीवादी आर्थिक व्यवस्था में मध्यवर्ग की परेशानियां बढ़ जाती हैं वह यदि अपने आप को 'डी-क्लास' करके सर्वहारा वर्ग का साथ देता है तो संसार को प्रगति की ओर ले जाता है अन्यथा उसका कोई भविष्य नहीं है। पाठक चाहे लेखक के सिद्धान्त को स्वीकार न करे परन्तु लेखक ने मध्यम-वर्ग का चित्र सच्चा खींचा है। निष्कर्षों से (Inference) चाहे मतभेद हो परन्तु प्रतिज्ञाएँ (Prepositions) वास्तविक हैं।

प्रस्तुत नाटक की यह विशेषता है कि उसमें मध्यवर्ग के खोखले जीवन का चित्र उतारा गया है। सभी पात्र ऐसे हैं जो हमारे जीवन के चारों ओर घूमते नज़र आते हैं। कथा या गानों का इसमें कोई महत्व नहीं, पात्रों की बातचीत में कोई बनावट नहीं लगती है जैसे प्रतिदिन का जीवन जो हम जीते हैं वही इसमें उतारा गया है। नाटक की सादगी स्पृहणीय है। लेखक 'जन-नाट्य संघ' के सफल अभिनेता हैं—और प्रस्तुत नाटक का क्रम 'दर्शक, स्टेज और लेखक' रहा है। इसी कारण इसमें स्वाभाविकता सहज प्राप्य है।

अवशेष

लेखक : सुधाकर पाण्डेय
प्रकाशक : लोकसेवक प्रकाशन
बुलानाला, बनारस
मूल्य : दो रुपए

'अवशेष' आधुनिक ढंग का नाटक है—विषय और बस्तु दोनों की दृष्टि से। इसकी कथा आधुनिक कालेज जीवन में छात्र-छात्राओं के सम्पर्क से सम्बन्धित है। चन्द्रकान्त एक धनवान लड़का है, वह अञ्जलि नामक कुमारी से प्यार करता है। ऊषा के आकर्षित करने का प्रयत्न करने पर एक बार वह उसे अपमानित कर देता है। रमेश जो कि चन्द्र का मित्र है ऊपर से साधु और चन्द्र का हितचिन्तक बनता है परन्तु इस अवसर का लाभ उठाता है। वह अंजलि का लिखा हुआ प्रेम-पत्र चन्द्र की मेज के दराज में से ले आता है और अंजलि को लांछित करने की धमकी देता है। रमेश ऊषा से प्रेम जताता है परन्तु यहाँ भी उसे चिकनी बातें तो मिलती है पर प्रेम नहीं। रमेश चन्द्र के पिता के स्थान

चन्द्र के विरुद्ध भरता है और चन्द्र के पिता को तुरन्त चन्द्र की शादी कर देने के लिए प्रेरित करता है। अंजलि चन्द्र से वचन लेती है कि वह अपना मन अपने पिता को समर्पित कर दे और शादी के अवसर पर वह वधू के लिए भेंट भी लेकर जाती है। नाटक का कथानक प्रतिदिन के जीवन का चित्र है। लगता है जैसे हम अपने आस-पास की घटनाओं को ही इसमें देख रहे हैं। भावुकता या कृत्रिमता का लेश भी नहीं है। कथानक बहुत ही उपयुक्त है और घोर यथार्थ में लेखक ने आदर्श का अनूठा समन्वय किया है—कर्त्तव्य की वेदी पर दो प्रेमी अपनी भावना के प्रति कठोर बन जाते हैं। अन्त में अंजलि उच्छ्वास-सा छोड़ जाती है—'अब मेरा क्या'... । चन्द्र हतप्रभ है और उसका पिता दाँत पर दाँत दबाता है मानों लेखक रूढ़िवादिता का ठट्ठा कर रहा है। कथोपकथन में व्यंग्य की चुलबुलाहट है। नाटक का अंकों में विभाजन न होकर मध्यान्तर का प्रयोग किया गया है—गायन या लम्बे और भावपूर्ण संवादो से मुक्त है। संक्षेप में, 'अवशेष' नाटक हिन्दी के विख्यात वर्तमान नाटककार श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र की परम्परा का सुन्दर प्रयोग है।

ईश्वर के सम्पर्क में

अनुवादक : केदारनाथ गुप्त एम. ए.
प्रकाशक : छात्रहितकारी पुस्तकमाला
दारागंज, प्रयाग
मूल्य : दो रुपया

'ईश्वर के सम्पर्क में' अंग्रेज़ी लेखक रैल्फ वाल्डो ट्राइन की प्रसिद्ध पुस्तक 'इन ट्यून विद द इनफनाइट' (In Tune with the Infinite) का हिन्दी अनुवाद है।

प्रस्तुत पुस्तक धार्मिक मतभेदों से परे शाश्वत धर्म पर विश्वास प्रकट करती है। ईश्वर में विश्वास करनेवाले को किसी प्रकार का डर नहीं होता क्योंकि वह समझता है ईश्वर उसका रक्षक है। लेखक धर्म के नाम पर होनेवाली बुराइयों के प्रति सतर्क है। "आजकल गिरजाघरों से अनास्था हो रही है। कारण यह है कि वहाँ के उपदेशकों पर महात्मा ईसा के उपदेशों का असली प्रभाव नहीं पड़ा है और वे नीरस पुराने धर्म के सिद्धान्तों की उधेड़ बुन में लगे रहते हैं। उनका विशेष प्रयत्न यही रहता है कि लोग धर्म के पीछे मरने के लिए तैयार रहें। जर्मनों की एक कहावत है, "दूसरों के पास पहले न जाओ। हमको ऐसे मनुष्य की आवश्यकता है जो हमें पहले यह सिखा दें कि जीवित किस प्रकार रहना चाहिए।" और लेखक जीवन में विनयशीलता को प्रमुख स्थान देता है—ढिठाई का उत्तर धैर्य से, बहस का नम्रता से और घृणा का प्रेम से उत्तर देने के लिए प्रेरित करता है। पुस्तक में सर्वत्र ईसाई धर्म के सिद्धान्तों की सरस व्याख्या मिलती है। अनुवाद में प्रवाह है।

ज्ञानोदय : (नमूना अङ्क)

सम्पादक : कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'
महावीर अधिकारी
प्रकाशक : भारतीय ज्ञान पीठ, काशी
कार्यालय : ज्ञानोदय कार्यालय, स्टेशन रोड
सहारनपुर

'ज्ञानोदय' का नमूना अङ्क पत्र के उस परिवर्त्तित रूप को प्रकट करता है जिस रूप में भविष्य में उसे प्रकाशित किया जाएगा। इस रूप में पत्र का आकार-प्रकार बदल गया है, वह बड़े आकार में और अधिक चित्रों से युक्त है तथा सम्पादक का उद्देश्य जीवन के विभिन्न क्षेत्रों का ज्ञान जागृत करना रहा है। जैसा कि सम्पादकीय में कहा गया है: 'भारतीय पत्रकारिता के इस गतिरोध के युग में पत्रों की काया स्थूल और रंगीन होती जाती है और उनकी आत्मा निस्तेज और फीकी पड़ती जाती है।' हर्ष का विषय है कि 'ज्ञानोदय' रूप की सुन्दरता के साथ सस्ती व्यवसायिक वृत्ति को लिए हुए नहीं है। प्रस्तुत अंक के लेखों और विषयों के विभाजन से स्पष्ट हो जाता है कि पाठकों को ठोस और उपादेय सामग्री देने का प्रयत्न रहा है। यदि एक ओर 'प्राचीन ग्रीस पर विहंगम दृष्टि' डाली गई है तो दूसरी ओर वर्त्तमान वैज्ञानिकों—अल्बर्ट आइन्सटीन और सी. वी. रमन का परिचय दिया गया है; यदि एक ओर 'प्राचीन केश रचना' (भारतीय संस्कृति) पर लेख है तो दूसरी ओर आधुनिक फ्रान्सिसी साहित्यकार जीन पाल सार्त्र के साहित्य पर विचार हैं। साहित्य समीक्षा, विज्ञान और पुरातत्व, मनोविज्ञान आदि दूसरे स्तम्भ हैं। पत्र में कहानी और कविता को भी स्थान है परन्तु मासिक पत्र होने के कारण केवल बीस पृष्ठ बहुत अनुपयुक्त जँचते हैं।

हैदराबाद —हरिकृष्ण पुरोहित

सामयिक

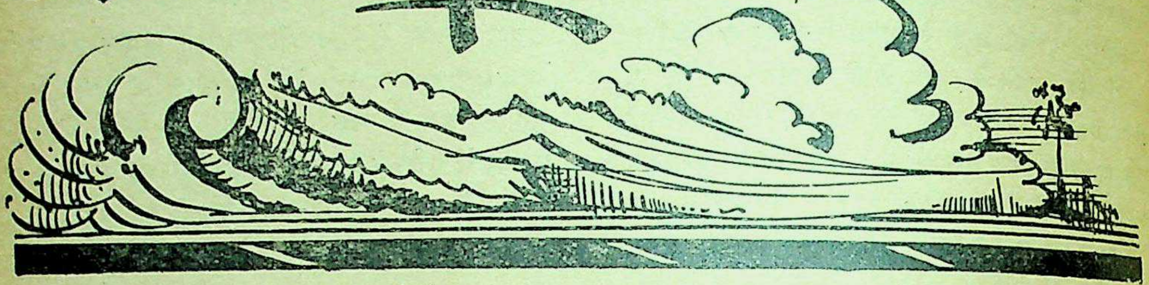

सुगाली—कर्नूल के जंगलों की जातियाँ

कर्नूल नए आन्ध्र राज्य की अस्थाई राजधानी बनाई गई है। कर्नूल के जंगलों में एक जाति निवास करती है जिसे सुगाली कहते हैं। सुगाली शब्द संभवतः सुगौली शब्द से बना है क्योंकि इस शब्द का अर्थ है अच्छे ग्वाले। इन सुगाली लोगों के विषय में दिल्ली के **'हिन्दुस्तान टाइम्स'** के साप्ताहिक संस्करण में श्रीयुत सुधीर बोस का एक लेख प्रकाशित हुआ है। इस लेख में से निम्न अंश दिया जाता है :

"...जिस प्रकार आसाम के नाग लोग हैं उसी प्रकार आन्ध्र राज्य में कर्नूल में सुगाली लोग हैं। नृतत्त्वशास्त्र की दृष्टि से इनका अध्ययन बड़ा आकर्षक है। ये लोग कर्नूल ज़िले में अनुवंशिक रूप से ग्वालों का काम करते हैं। 'सुगाली' शब्द का अर्थ है अच्छा ग्वाला। कहा जाता है कि ये गोप थे जिन्होंने यमुना के तट पर भगवान् कृष्ण के साथ अपना जीवन व्यतीत किया था। कुछ विज्ञ लोगों के मत के अनुसार सुगाली लोग रेलों और मोटरों से पूर्व मुख्यतया नमक ढो कर ले जाया करते थे। संस्कृत में नमक को "लवण" कहते हैं और 'लवण' शब्द से ही 'लम्बाड़ा' बना है।

रेल और मोटर के आने के पश्चात् उन्हें अपने इस पन्थ से कुछ विशेष प्राप्ति न रही और इसलिए जंगल में वे ऐसी जगह बस गए जहाँ गाय-भैंसों के लिए घास अच्छी थी और जहाँ वे खेती और मज़दूरी का काम कर सकते थे। कर्नूल ज़िले में अच्छे जंगल हैं इसलिए बहुत-से सुगाली लोग यहीं बस गए। वे मुख्यतया गाय-भैंस पालते थे। वे उस धन्धे की पेचीदगियों से अच्छी तरह परिचित हैं। खेती के विषय ने लिनलिथगो कमीशन का यह मत था कि सुगाली लोगों को गाय और भैंस का अच्छा ज्ञान है। ग्रामीण जनता में ये ही लोग हैं जो गायों और भैंसों को पालते हैं और इनके विषय में आवश्यक जानकारी रखते हैं।

सुगाली लोगों की अपनी ही बोली है। यह बोली हिन्दी का बिगड़ा हुआ रूप है जिसमें स्थानीय द्रविड़ भाषा का मिश्रण हो गया है। सुगाली लोग वैष्णव समुदाय के कहलाते हैं। वे भगवान श्रीकृष्ण के पुजारी हैं। बहुत-से सुगाली श्री बालाजी की भी पूजा करते हैं।

सुगाली लोगों का सांस्कृतिक जीवन में नृत्य और गायन की प्रधानता है। वे खुली वायु में निर्बन्ध नृत्यों का आनन्द लेते हैं और उसके समस्त गीत श्रीकृष्ण की प्रशंसा के विषय में हैं। स्त्रियों के अद्भुत नृत्य ढोल और ताल के साथ किए जाते हैं और वृन्दावन में गोपियों के नृत्य का स्मरण दिलाते हैं। सुगाली लोगों में होली बड़ी धूमधाम से मनाई जाती है। स्त्रियाँ इस अवसर पर चमकदार वस्त्र पहनती हैं और ग्रामवालों से अनाज और धन एकत्रित करती हैं।

सुगाली लोगों को सुन्दरता का भी बहुत ध्यान रहता है। पुरुष तो सीधी-सादी और सुन्दर पोशाक पहनते हैं परन्तु स्त्रियाँ रंगीन और चमकदार कपड़े पहनती हैं। स्त्रियाँ तरह तरह की सींगों की चूड़ियाँ पहनती हैं। सुगाली पुरुषों और स्त्रियों के नाम बड़े आकर्षक होते हैं। सीता बाई, बिलि, लक्ष्मी, रामजी नायक और सोमल नायक। सुगाली स्त्रियाँ क़द में ठिगनी होती हैं परन्तु उनके शरीर के अंग बड़े सुघड़ और सुडौल होते हैं। वे परिवार में शासन करती हैं, वे घर का सब काम करती हैं। वे जंगल में रेवड़ के साथ जाती हैं, गोबर हटाती हैं और भोजन तैयार करती हैं। अपने

खाली समयों में वे कपड़े बनाती हैं।

मध्यभारत के गोंड लोगों की तरह सुगाली लोग बड़े अन्ध विश्वासी होते हैं। सुगाली विवाह बड़ी धूमधाम से करते हैं; उनके विवाह वैसे ही होते हैं जैसे हिन्दुओं में। पत्नी की क़ीमत गाएँ दे कर चुकाई जाती है। एक पुरुष एक, दो या उससे अधिक विवाह कर सकता है। उनमें विवाह की एक विचित्र प्रथा यह है कि यदि बड़े भाई की मृत्यु हो जाए तो उसकी पत्नी विवाह के लिए तब तक प्रतीक्षा करती है जब तक कि उसका छोटा भाई जवान हो जाता है और उससे विवाह कर लेता है।

यदि सुगालियों के जीवन की डोक्यूमेण्टरी फ़िलम तैयार की जाए तो इस भूली हुई जाति के लोगों में नया आकर्षण उत्पन्न हो जाएगा।"

॥

एल्बर्ट आइन्सटीन

अमेरिका के प्रसिद्ध पत्र 'रीडर्स डाइजेस्ट' में श्री जोसेफ़ फ़िलिफ़ का एक लेख 'एलबर्ट आइन्सटीन का जगत्' प्रकाशित हुआ है उसका निम्न अंश यहाँ दिया जा रहा है:

वर्त्तमान युग के इतिहास में कदाचित् सब से अधिक महत्त्वपूर्ण घटना एटम बम्ब का आविष्कार है। इस आविष्कार ने युद्ध के तरीकों में आमूल परिवर्त्तन कर दिया है और प्रायः सभी गम्भीर राजनीतिक चिन्तकों को सामरिक महत्त्व के स्थलों के सम्बन्ध में सोचने के लिए बाध्य किया है। फिर भी जो व्यक्ति मूलतः इस आविष्कार के लिए उत्तरदायी है वह अपने जीवन के अधिकांश समय में एक प्रमुख शान्तिपोषक नेता रहा तथा उसके विचारों को लोग स्वप्निल और अव्यवहारिक समझते रहे। यह व्यक्ति एलबर्ट आइन्सटीन था जिसने फ्रेंकलीन डी. रूजवेल्ट को पत्र लिख कर मैनहटन योजना आरम्भ कराई और आइन्सटीन के ही सापेक्षता के सिद्धान्त के आधार पर अणुशक्ति का विकास सम्भव हुआ।

अपने जीवन में एलबर्ट आइन्सटीन को सदैव ऐसी बातों से वास्ता पड़ा जिनकी उसे कभी कामना नहीं रही। प्रचार और प्रसिद्धि, तथा सम्पत्ति व सत्ता के लिए आग्रह। उसके सम्बन्ध में लोगों को अनेक गलतफ़हमियाँ और उस पर अनेक वादविवाद हुए। सैकड़ों वैज्ञानिकों ने अपना अधिकांश जीवन उसके सिद्धान्तों की व्याख्या करने अथवा उन्हें गलत सिद्ध करने के प्रयत्न में लगाया। यद्यपि वह व्यक्ति की स्वतन्त्रता और प्रजातन्त्रात्मक संस्थाओं में विश्वास करता है परन्तु उसे 'बॉल्शविक' और 'वाल स्ट्रीट का दलाल' दोनों नामों से पुकार गया। यद्यपि ईश्वर में उसका अटल विश्वास है परन्तु उसे एक बहुत बड़े नास्तिक के रूप प्रस्तुत किया गया है।

आइन्सटीन को बहुत सम्मान प्रदान किया गया है परन्तु उसने जीवन में सोचने और काम करने के लिए एकान्त के अतिरिक्त कभी कुछ भी नहीं चाहा। "मैं सुखी हूँ क्योंकि मुझे किसी व्यक्ति से किसी वस्तु की अपेक्षा नहीं," आइन्सटीन ने कई बार कहा है: "परन्तु मेरे सहयोगी यदि मेरे कार्य की प्रशंसा करते हैं तो अवश्य मुझे सुख की अनुभूति होती है।"

सन् १९३३ में जर्मनी से न्यू जरसी में प्रिन्सटन की 'इन्सटीट्यूट फॉर एडवान्स स्टडी' में आने के बाद आइन्सटीन को अत्यधिक प्रसिद्धि प्राप्त हुई। वैज्ञानिक जो कि शब्दों का दुरुपयोग पसन्द नहीं करते आइन्सटीन को प्रायः 'सन्त महान्' और 'प्रिय' के नाम से सम्बोधित करते हैं।

इस समय आइन्सटीन की आयु ७० वर्ष की है। उसके बिना कन्घी किए हुए लम्बे बाल और सूक्ष्म मूछें सफेद हो गई हैं। उसके चेहरे में दृढ़ता नहीं; उसकी आँखें जब किसी की ओर देखती हैं तो यद्यपि उनमें धैर्य और किञ्चित जिज्ञासा होती है परन्तु वे थकी-सी नज़र आती हैं और उनमें लाल डोरे दिखाई पड़ते हैं। उसकी आवाज़ धीमी और कोमल सुनाई पड़ती है और उसके उच्चारण में जर्मन प्रभाव स्पष्ट अनुभव होता है।

आराम के प्रसाधनों से युक्त अपने भव्य कार्यालय में जहाँ से एक छोटे से जंगल पर दृष्टिपात करने से थकान दूर करने का अवसर प्राप्त होता है वह बिना किसी आयोजन के अपनी 'यूनिफ़ाइड फील्ड थ्योरी' (संगठित क्षेत्रीय सिद्धान्त) पर कार्य करने बैठता है जिस पर कि पिछले तीस वर्षों से वह बराबर प्रयोग करता आ रहा है। यह सिद्धान्त भौतिक जगत की दो महान् शक्तियों—गुरुत्व शक्ति और विद्युत-चुम्बकीय शक्ति—को जोड़ता है और इस प्रकार सभी ज्ञात भौतिक क्रियाओं के सम्बन्ध प्रकट करता है।

वह पुनः अपनी कुर्सी पर बैठता है। अपने घुटनों पर एक बड़ा पैड (Pad) संतुलित करता है और सूक्ष्म व सुन्दर लिपि में अंकित करता है। जब कोई समस्या उसके सामने प्रस्तुत होती है तो वह कुछ क्षणों के लिए शान्त व गम्भीर मुद्रा में सोचने लगता है कभी अपने सिर के बालों की लट को अंगुली के सहारे मोड़ता हुआ। उसका प्रत्येक सिद्धान्त जैसा कि वह कहता है महीनों और

वर्षों के परिश्रमपूर्ण "विचारमय प्रयोगों" का प्रतिफल है। पेंसिल और कागज़ उसके वैज्ञानिक प्रयोगों की आवश्यक वस्तुएं हैं; उसका मस्तिष्क उसकी प्रयोगशाला है। वह गलत रास्तों में भटकता है, गलत निर्णयों पर पहुँचता है परन्तु कभी धैर्य नहीं छोड़ता।

उसे विश्वास रहता है कि समस्या का हल अवश्य मिलेगा क्योंकि "ईश्वर चतुर है परन्तु धूर्त नहीं।" आइन्सटीन प्रकृति की सरलता और तर्कपूर्ण व्यवस्था में विश्वास करता है। "इस विश्वास ने मुझे प्रयोग सम्बन्धी महान् कठिनाइयों के समय भी अधीर होने से बचा लिया।" जब वह अपने परिणामों को तोलता है तो कल्पना करता है "क्या यह तरीका सम्भव है जिसमें ईश्वर ने सृष्टि का निर्माण किया।" एक सृजनशील वैज्ञानिक के रूप में वह अपने अनुसन्धान को सत्य होने पर 'सुन्दर' अनुभव करता है।

मध्याह्न में एक बजे आइन्सटीन तुरन्त अपना कार्य बन्द कर देता है और घर जाता है जहाँ मिस हेलेन ड्यूकाज़ जिसने कि सन् १९३६ में आइन्सटीन की द्वितीया की मृत्यु के उपरान्त गृहकार्य अपने हाथों में ले लिया है, उसे नाश्ता कराती है। वह उसे उसके कामों का स्मरण दिलाती है, जो कुछ वह लिखाता है, लिख लेती है, चेकबुक मिलाती है और इस बात का ध्यान रखती है कि भोजन के नियमों का कड़ाई से पालन हो। डाक्टरों के आदेश से उसे अपने प्रिय चुरट से वंचित रहना पड़ता है। उसके साथियों का कहना है कि वह कभी कभी एकांत में अध्ययन के समय इस नियम का उल्लंघन कर देता है।

दोपहर में वह झपकी लेता है और अपने पत्रों का उत्तर देता है। उसकी डाक में प्रतिदिन २५ से ३५ पत्र आते हैं। प्रत्येक उचित प्रार्थना का वह समुचित उत्तर देता है। एक बार एक नवयुवक वैज्ञानिक ने उसके पास एक दिलचस्प गणित की समस्या का हल भेजा तो आइन्सटीन ने पाया कि यद्यपि उसका हल ठीक है परन्तु गणना में दो भूलें रह गई हैं। यह सोच कर कि अपने मौलिक कार्य में वैज्ञानिकों को कितना गौरव का अनुभव होता है। उसने उस नवयुवक को लिखा कि उसके हल निकालने में कुछ भूलें रह गई हैं। इससे उस नवयुवक को अपनी भूलें स्वयं निकाल कर अपने कार्य को मौलिक रखने का अवसर मिल गया।

आइन्सटीन की अधिकांश संध्याएँ अपने अध्ययन के कमरे में व्यतीत होती हैं। ऊँची कमरवाली कुर्सी पर बैठे हुए वह प्रायः आधी रात तक कार्य करता रहता है। कोई उलझन पेश आने पर वह उससे भी बहुत देर तक कार्य करता रहता है। प्रिन्सटन की पुलिस ने कई बार साढ़े चार बजे प्रातः यूनिवर्सिटी के मैदान में नीचा सिर किए और कमर के पीछे हाथ बाँधे भटकते हुए पाया है।

एकान्त उसे प्रिय है परन्तु वह Recluse नहीं है। वह कई बार संध्या अपने मित्रों के साथ व्यतीत कर देता है और उस समय अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति, राजनीति और संगीत पर बातचीत करता है। उसे मज़ाक में आनन्द आता है और तनिक-सी बात पर हँस पड़ता है।

जब एक बार उससे पूछा गया जीवन में सफलता का मार्ग क्या है तो आइन्सटीन ने उत्तर दिया: 'यदि जीवन की सफलता को 'A' मान लिया जाए तो यह नियम इस प्रकार अभिव्यक्त किया जाएगा—$A = X + Y + Z$ और X कर्मशीलता है, Y खेलना है।' फिर Z ? उसका अर्थ है: 'अपना मुँह बन्द रखो।'

अपने कार्य के अतिरिक्त आइन्सटीन को सब से प्रिय संगीत है। चन्दा एकत्रित करने के आयोजनों के लिए कुछ अवसरों पर उसने वायलिन बजाई है परन्तु वास्तव में वायलिन की अपेक्षा पियानो अच्छा बजाता है और मोज़र्ट की शैली में गतों को सुधार कर स्वयं आनन्दित होता है।

यदि सम्भव हो तो आइन्सटीन यात्रा को टाल देता है। वह प्रिन्सटन में रह कर संतुष्ट रहता है जहाँ कि उसे शांति प्राप्त होती है जिसकी उसे सदैव चाह रही। उसके पड़ौसियों को इस पर आश्चर्य नहीं होता कि हज्जाम की दुकान में जाने की चिन्ता से बचने के लिए वह लम्बे बाल रखता है अथवा आराम देह कपड़े पहिनता है—'बिना दबाए हुए Slacks 'ढीली लम्बी बाँहों का स्वैटर' कभी बैल्ट की जगह पुरानी नेकटाई बाँधे।

बहुत-से महान् व्यक्तियों की तरह आइन्सटीन विनम्र और शान्त है। जब एक बार वह पेलस्टीन के सम्बन्ध में आयोजित वाशिंगटन में एक सभा भवन में दिखाई पड़ा तो भवन के सभी उपस्थित व्यक्तियों ने तालियों की गड़गड़ाहट से उसका अभिवादन किया। इस पर आश्चर्यचकित होकर उसने अपने एक मित्र को धीरे से कहा: 'मैं क्या कहता हूँ उसे सुनने तक इन्हें धैर्य रखना चाहिए था।'

हाल ही में आइन्सटीन को इज़राइल का प्रेसिडेन्ट बनने के लिए आमन्त्रित किया गया था जिस पर उसने ने विनम्र उत्तर भेजा कि ऐसे किसी पद के लिए मैं अयोग्य हूँ जिसमें मानवीय सम्बन्धों का प्रश्न होता है। मेरे लिए भौतिक विज्ञान का अध्ययन ही उपयुक्त विषय है जिसका कि मुझे किञ्चित ज्ञान प्राप्त हो सका है।'

लोगों को इस बात पर आश्चर्य होता है कि आइन्सटीन ने विगत वर्षों में ऐसी संस्थाओं को क्यों सहायता पहुँचाई जो बाद में कम्युनिस्ट प्रचार का माध्यम बनीं। इसका कारण कदाचित् यही है कि सम्बन्धित संस्थाओं के तथाकथित उदात्त आदर्शों से वह प्रभावित हो गया और उनके नेतृत्व और नीयत पर उसने शंका नहीं की। आइन्सटीन के एक मित्र का कथन है कि वह कम्यूनिज़्म का शत-प्रतिशत विरोधी है। वह स्वतंत्र प्रकृति का मनुष्य है और इतना व्यक्तिवादी है कि किसी प्रकार के विचारों के प्रतिबन्ध को नहीं सह सकता। पूर्णतः वह कभी किसी एक सामाजिक संगठन का अंग नहीं बन सका। उसके एकान्तप्रिय होने की प्रवृत्ति उसके बचपन के चित्रों में उसकी आँखों को देखने से ही प्रकट हो जाती है। बचपन में वह अपने माता-पिता से बहुत कम बात करता था जिससे वे उसे असाधारण समझने लगे। अध्यापक लोग उसे अयोग्य समझते थे। १२ वर्ष की आयु में उसने गणित और विज्ञान का स्वतंत्र रूप से अध्ययन आरम्भ कर दिया। ग्रेजुएट बनने के पश्चात् अध्यापन के लिए उसे तीन पद प्राप्त हुए और तीनों को उसने छोड़ दिया। उसे आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। उसने मिलवा मारेक से विवाह किया जिससे उसको दो पुत्र हुए। सन् १९०२ से २३ वर्ष की अवस्था में बर्न के स्थायी कार्यालय में उसने परीक्षक का पद स्वीकार किया। इस पद पर रहते हुए वह अपने अध्ययन का कार्य जारी रख सका। उसका लक्ष्य काल और आकाश, पदार्थ और शक्ति में सम्बन्ध स्थापित करना था। कभी कभी वह इतना निराश हो जाता कि सही निर्णय पर पहुँचने से एक दिन पहले उसने अपने मित्र से कहा : 'मैं यह काम छोड़ देनेवाला हूँ।'

छब्बीस वर्ष की अल्प आयु में—विज्ञान जगत् में कोई महत्वपूर्ण प्राप्ति इतनी अल्प आयु में कभी नहीं हुई—आइन्सटीन ने भौतिक विज्ञान के एक पत्र में अपने 'सापेक्षता के विशिष्ट सिद्धान्त' को प्रकाशित किया। उसने अपने सिद्धान्त को $E = MC^2$ समीकरण के रूप में प्रस्तुत किया। मोटे तौर पर, प्रकाश की गति के वर्ग के भार-गुना का फल शक्ति है। इस समीकरण द्वारा यह बताया गया कि यदि किसी प्रदार्थ के आधे पौंड की शक्ति को मुक्त किया जाय तो उसके परिणाम स्वरूप TNT के सात दशक टन की ध्वंसात्मक शक्ति का विस्फोट होगा।

यद्यपि इस सिद्धान्त ने सृष्टि के प्रति मनुष्य के दृष्टिकोण को परिवर्तित कर दिया परन्तु उस समय बहुत थोड़े भौतिक विज्ञानवेताओं ने इसके महत्व को पहिचाना और इसका महत्व उनके सामने तब स्पष्ट हुआ जब कि हिरोशिमा में यह सिद्धान्त वास्तविकता में परीणित किया गया।

एटम बम्ब के निर्माण में आइन्सटीन की देन सैद्धान्तिक आधेय प्रदान करने से अधिक रही है। तिसियों में अनेक नात्सी अणुशक्ति के विकास में रत थे। उन्होंने अमेरिका के सैनिक अधिकारियों को इसकी ओर आकर्षित करने का प्रयत्न किया परन्तु उसका कुछ प्रभाव नहीं हुआ। अन्त में उन्होंने निराश होकर आइन्सटीन से अपने प्रभाव को काम में लाने के लिए अपील की और सन् १९३९ की एक रात आइन्टीन ने रूज़वेल्ट को इतिहास प्रसिद्ध पत्र लिखा : 'हाल ही के कार्य से मुझे आशा बँधती है कि यूरेनियम के तत्व की लिस्ट भविष्य में शक्ति का महत्वपूर्ण साधन बनाने में सफलता प्राप्त हो सकेगी......यह नई प्रक्रिया बम्ब बनाने के लिए भी उपयोगी सिद्ध होगी।' प्रेसिडेन्ट रूज़वेल्ट ने तत्काल मैनहटन योजना आरम्भ की और अमेरिका के संयुक्त राष्ट्र ने ध्वंसात्मक शस्त्रों के निर्माण की दौड़ में ऐतिहासिक प्रवेश किया।

आज भी आइन्सटीन उसी गति से कार्य कर रहा है जैसे कि पिछले पचास वर्षों से करता आ रहा है। उसका संगठित क्षेत्रीय सिद्धान्त उसके पैंतीस वर्षों के अथक परिश्रम का फल है। आइन्सटीन का विश्वास है कि यह सिद्धान्त 'पर्याप्त विश्वासप्रद' है परन्तु वस्तुतः वह नहीं जानता यह सही है या गलत! वह अपने ज़ीवन के शेष दिनों को गणित के उन साधनों को पाने के प्रयत्न में लगाना चाहता हैं जिससे कि उसके सिद्धान्त की सत्यता और असत्यता का पता चल सके। असफलता की संभावना से वह विचलित नहीं होता। वह जानता है कि मनुष्य सर्वज्ञ कभी नहीं हो सकता और कि 'सबसे सुन्दर जिस' वस्तु का हम अनुभव कर सकते हैं वह है रहस्यमय।

सम्पादकीय

हिन्दी परिषदों में अंग्रेज़ी

हमें समझ में नहीं आता कि जो सम्मेलन, कान्फ़रेन्स या परिषदें अखिल भारतीय आधार पर एक-मात्र हिन्दी के प्रश्नों पर विचार करने के लिए आमन्त्रित की जाती हैं उनमें अंग्रेज़ी का प्रश्न क्यों बार बार उठाया जाता है। यह एक फ़ैशन-सा हो गया है कि विश्वविद्यालयों के दीक्षान्त भाषणों में और या फिर हिन्दी के सम्मेलनों और परिषदों में अंग्रेज़ी के महत्त्व और उसकी आवश्यकता को पुनः पुनः दुहराया जाता है। ये सम्मेलन या परिषदें इसलिए संयोजित या निमन्त्रित की जाती हैं कि देश में हिन्दी भाषा की उन्नति, विकास, प्रसार, साहित्य, विज्ञान और परिभाषा के निर्माण आदि के विषय में जो कुछ कार्य हो रहा है उस पर सम्मिलित और विशिष्ट रूप से विचार किया जा सके। हमें यह देख कर दुःख होता है कि इन परिषदों में अंग्रेज़ी के विषय में और हिन्दी के विषय में उन्हीं पुरानी घिसी घिसाई और पिटी पिटाई बातों को इस तरह से दुहराया जाता है जैसे कि कोई नई बात कही जा रही हो। अंग्रेज़ी की आवश्यकता या महत्त्व को अन्य परिषदों के प्लेटफ़ार्म से कहा जा सकता है परन्तु इन परिषदों में हिन्दी के प्रश्नों पर ही गम्भीरतया और पूर्णतया विचार किया जाना चाहिए।

यह बात तो नहीं है कि हिन्दी या हिन्दीवालों की ओर से अंग्रेज़ी का विशेष रूप से विरोध हो रहा है जो इस बात को हिन्दी की परिषदों या सम्मेलनों के सम्मुख बार बार रखने की आवश्यकता हो। हिन्दी भाषा और हिन्दी साहित्य आदि के विषय में जो निर्माणात्मक कार्य हो रहा है, वह किस प्रकार का हो रहा है, वह ठीक दिशा में अग्रसर हो रहा है या नहीं, इस कार्य में किस प्रकार की रुकावटें, विघ्न या कठिनाइयाँ हैं और उन्हें किस प्रकार दूर किया जा सकता है, हिन्दी की प्रगति, विकास और प्रसार के लिए हमें इस समय क्या और करने की आवश्यकता है इत्यादि प्रश्नों पर उच्च स्तर पर, विशिष्ट रूप से ठोस विचार किया जाना चाहिए। प्रारम्भ में जो भी कार्य होते हैं वे परीक्षणात्मक होते हैं, वैयक्तिक होते हैं और उन पर सम्मिलित रूप से आलोचना और विचार अत्यन्त आवश्यक है। जो आलोचना भी होनी चाहिए वह भी साधारण स्तर पर नहीं परन्तु विशिष्ट और विस्तृत रूप से होनी चाहिए। परीक्षण अधिकांश में प्रथमतः वैयक्तिक होते हैं परन्तु व्यक्ति भी अपने परीक्षणों को किन्हीं उसूलों के आधार पर ही करते हैं। व्यक्तियों की निर्वैयक्तिक रूप से आलोचना करते हुए इन उसूलों पर भिन्न भिन्न पहलुओं से विचार किया जाना आवश्यक है और इसीलिए इन सम्मेलनों या परिषदों का संयोजन किया जाता है। वह समय अब चला गया है कि इस प्रकार के सम्मेलनों या परिषदों में उन्हीं पुरानी घिसी-घिसाई साधारण बातों (Platitudes) को दुहराया जाए। अंग्रेज़ों के समय से हमारे देश में राजनीति और राजनीतिज्ञों की प्रधानता हो गई है और यह हमारे देश का दुर्भाग्य है कि हमारे देश के राजनीतिज्ञ समाज, राष्ट्र और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में विशेषज्ञों के रूप में अपने विचार अभिव्यक्त करते हैं।

अभी पिछले दिनों में भारतीय हिन्दी परिषद् का ११ वाँ अधिवेशन पटना विश्वविद्यालय की ओर से निमन्त्रित हुआ। भारतीय हिन्दी परिषद् के अधिवेशनों में हिन्दी के विश्वविद्यालयों में कार्य करनेवाले प्राध्यापक ही अधिकांश में सम्मिलित होते हैं। इस परिषद् के सभापति थे उत्तर प्रदेश के राज्यपाल श्रीयुत कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी। श्रीयुत मुंशी हमारे देश के राजनैतिक और साहित्यिक जीवन में अपना एक विशिष्ट स्थान रखते हैं और एक गम्भीर विचारक हैं। वे हिन्दी के प्रेमी और समर्थक हैं और हिन्दी को राष्ट्रभाषा के स्थान पर आसीन करने में उनका हाथ है। वे हिन्दी के विषय में जितना राजनैतिक दृष्टि से विचार कर सकते हैं उतना साहित्यिक या अन्य दृष्टियों से नहीं। हिन्दी पर राजनैतिक दृष्टि से भी विचार किए जाने की आवश्यकता है परन्तु उसके लिए स्थान भारतीय हिन्दी परिषद् का प्लेटफ़ार्म नहीं हो सकता।

उन्होंने अपने विचारों को निर्भीकता और स्पष्टता से अभिव्यक्त किया है। उन्होंने हिन्दी के साहित्यकारों और परिभाषाकारों को भाषा को सजीव और अपने देश और विश्व की और प्रान्तीय भाषाओं से आवश्यकता के अनुसार समृद्ध करने का उचित परामर्श दिया है। उन्होंने संस्कृत से शब्दावलि लेने के साथ उसकी सीमा की ओर भी आवश्यक ध्यान आकृष्ट किया है। प्रादेशिक भाषाओं

से गहरे सम्बन्धों को स्थापित करने की आवश्यकता का भी उन्होंने निर्देश किया है। श्री मुंशी जी का भाषण अधिकतर राजनैतिक स्तर का है और वे हिन्दी पर मुख्यतया राजनैतिक दृष्टि से ही विचार कर सकते हैं।

उनके भाषण को पढ़ने से हमें ऐसा प्रतीत होता है कि प्रान्तीय भाषाओं के चैतन्य और प्रगति से उनके हृदय में एक भय-सा उत्पन्न हो गया है और इस भय ने न केवल उन्हें हिन्दी के प्रति आशंकित कर दिया है अपि तु अंग्रेज़ी के प्रति आवश्यकता से अधिक आकर्षित किया है। इस बढ़ती हुई प्रादेशिक चेतना ने श्री मुंशी जी के हृदय में भारतीय एकता के प्रति एक गहरी आशंका उत्पन्न कर दी है और वे यह अनुभव करने लग गए हैं कि यदि इस समय हिन्दी द्वारा भारतवर्ष में एकता को स्थिर नहीं किया जा सकता तो फिर अभी अंग्रेज़ी ही सही। ऐसा न हो कि प्रत्येक प्रन्त में प्रान्तीय भाषा का बोलबाला हो, हिन्दी भारतीय एकता को स्थिर रखने में असमर्थ हो और ऐसी अवस्था में भारत की एकता खतरे में पड़ जाए। इससे तो अच्छा है कि अभी कुछ समय तक और अंग्रेज़ी को चलने दिया जाए जिससे भारतवर्ष की राजनैतिक एकता तो बनी रहे। कुछ इसी प्रकार का तर्क या मनोवृत्ति उनके भाषण में दृष्टिगोचर होती है। वे अपने भाषण में कहते हैं: "...अंग्रेज़ी को शीघ्र ही समाप्त करना ख़तरनाक है। प्रादेशिक भाषाओं के प्रति प्रेम, प्रादेशिक गौरव का पुनरुत्थान, भाषाई साम्राज्यवाद की स्थापना की भावना, हमारी भाषा बोलनेवाले और 'दूसरी' भाषा बोलनेवालों के बीच एक मनोवैज्ञानिक दीवार खड़ी करने आदि से राष्ट्रीयता का शीघ्र ही अन्त हो जाएगा।...यदि आप अंग्रेज़ी की शीघ्र ही समाप्ति के लिए ज़ोर देते जाएँगे—तो उससे हिन्दी को कोई लाभ नहीं बल्कि हानि ही होगी। इससे राष्ट्रीयता को धक्का लगेगा, प्रादेशिकता फैलेगी और भाषाई कटुता से भारत को भारी हानि उठानी पड़ेगी।..."

हमारे संविधान में अंग्रेज़ी को १५ वर्ष की अवधि दी गई है। क्या हिन्दी भाषावालों की ओर से इस प्रकार के कोई प्रयत्न हो रहे हैं कि इस १५ वर्ष की अवधि में किसी प्रकार की कमी कर दी जाए या फिर श्रीयुत मुंशी जी यह समझते हैं कि अंग्रेज़ी को समाप्त करने के लिए १५ वर्ष की अवधि पर्याप्त नहीं है। इस अवधि को बढ़ाया जाना चाहिए। भारतीय संविधान को बनानेवाले महानुभावों में श्रीयुत मुन्शी जी भी एक हैं। यदि श्री मुंशी जी १५ वर्ष की अवधि को पर्याप्त नहीं समझते तो उन्हें या तो संविधान में परिवर्तन करवाने का प्रयत्न करना चाहिए और या फिर अंग्रेज़ी की वर्तमान स्थिति को १५ वर्ष के अन्दर समाप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। जब वे यह कहते हैं कि यदि आप अंग्रेज़ी को शीघ्र ही समाप्त करने के लिए ज़ोर देते जाएँगे .. तो इससे राष्ट्रीयता को धक्का लगेगा...यहाँ शीघ्रता से उनका क्या अर्थ है यह ठीक तरह समझ में नहीं आता। १५ वर्ष की अवधि से पूर्व तो अंग्रेज़ी संविधानतः ही समाप्त नहीं हो सकेगी और फिर यह थोड़े ही है कि अंग्रेज़ी के राज्य की भाषा की समाप्ति के पश्चात भी अंग्रेज़ी भाषा का अध्ययन हमारे देश में समाप्त हो जाएगा। शिक्षा के क्षेत्र में अंग्रेज़ी और अन्य विदेशी भाषाओं का सम्पर्क तो बना ही रहेगा—वह संपर्क तो समाप्त नहीं हो जाएगा।

श्री मुंशी जी यह समझते हैं कि यदि अंग्रेज़ी को शीघ्रता से समाप्त करने का प्रयत्न किया गया तो प्रादेशिक भावनाओं की वृद्धि होगी और राष्ट्रीयता का अंत हो जाएगा। यदि हम इन विचारों को दूसरे शब्दों में कहें तो यों कह सकते हैं कि ऐसी अवस्था में हमारे देश में राष्ट्रीयता की रक्षा अंग्रेज़ी के द्वारा ही हो सकती है। हम देख रहे हैं कि इस समय अंग्रेज़ी के ज़ोर के होते हुए भी प्रादेशिक भाषाएँ और प्रादेशिक भावनाएँ भारत के प्रत्येक प्रदेश में उत्पन्न और विस्तृत हो रही हैं। ये भावनाएँ प्रादेशिक जागृति के चिन्हमात्र हैं। यदि हमारे देश में अंग्रेज़ी के द्वारा राष्ट्रीयता की भावना सर्वसाधारण में उत्पन्न हुई होती तो अंग्रेज़ी के होते हुए अब उसके समाप्त हो जाने की क्यों आशंका होती? सत्य तो यह है कि अंग्रेज़ी के प्रति हमारा मोह या प्रेम हमारे हृदय में अंग्रेज़ोंऔर इंग्लैण्ड के प्रति प्रेम या मोह उत्पन्न कर सकता है परन्तु वह हमारे देश में राष्ट्रीयता को कैसे विस्तृत और स्थिर कर सकता है? यदि भारतवर्ष का एक प्रदेश दूसरे प्रदेश के साथ सम्बन्ध अंग्रेज़ी के द्वारा क़ायम रख सकता है तो क्या इसी सम्बन्ध को हम राष्ट्रीयता के नाम से कह सकते हैं? राष्ट्रीयता तो एक सजीव शक्ति है, वह एक डायनमी कुव्वत है जो स्वयं राष्ट्र की भावनाओं के द्वारा ही उत्पन्न हो सकती है और इस राष्ट्रीयता को स्थिर और विस्तृत करने के लिए हमें राष्ट्र की भावनाओं को सजग और विस्तृत करना होगा। यह कार्य अंग्रेज़ी के द्वारा सम्पन्न

नहीं हो सकता—इसे तो एकमात्र राष्ट्रभाषा के द्वारा ही किया जा सकता है।

श्रीयुत मुंशी जी ने अपने भाषण में श्रीयुत स्वामी दयानन्द जी का उदाहरण दिया है। उन्होंने अपने भाषण में कहा कि स्वामी दयानन्द ने ७० वर्ष पूर्व हिन्दी को राष्ट्रभाषा स्वीकार करके उसका प्रचार किया था। क्या मुंशी जी यह समझते हैं कि यदि स्वामी दयानन्द अपने कार्य को हिन्दी में न करके अंग्रेज़ी में करते तो भारतवर्ष में इतनी जागृति और राष्ट्र की भावना को उत्पन्न कर सकते थे? वे तो अंग्रेज़ी जानते ही नहीं थे। वे हिन्दी के द्वारा ही अपने कार्य में सफल हो सके। यदि महात्मा गांधी हिन्दी के प्रचार पर बल न देते और उसके प्रचार की संस्थाएँ खुलवाने का प्रयत्न न करते तो क्या वे समस्त राष्ट्र को अंग्रेज़ी के द्वारा एक सूत्र में सामुदायिक रूप से बाँध सकते थे?

हमें आज भारतवर्ष के प्रदेशों में जो जागृति दिखाई देती है उसका यह एक स्वाभाविक परिणाम है कि हमें प्रदेशों में अपनी भाषाओं के प्रति प्रेम दिखाई देता है और यह प्रेम होना स्वाभाविक है। हमारे देश में आत्म-प्रबुद्धता आने के कारण पहले हमें अपने घर को और अपने प्रदेश को देखना और उसकी उन्नति के लिए प्रयत्नशील होना आवश्यक और स्वाभाविक है। भारतवर्ष का कोई भी प्रदेश अपने आपको भारतवर्ष से तो पृथक् नहीं करना चाहता। वह भारत का एक अंग बन कर रहना चाहता है। हम मानते हैं कि प्रादेशिक भावनाओं को अपने उचित स्थान पर रखते हुए राष्ट्रीयता की भावनाओं को प्रोत्तेजित किया जाना चाहिए। राष्ट्र की भावनाओं के द्वारा प्रादेशिक भावनाएँ स्वयं अपने प्रदेश की तरह अपनी सीमाओं में आबद्ध हो जाएँगी। यदि उचित प्रादेशिक भावनाओं को दबाने का अनुचित प्रयत्न किया जाएगा तो उसका परिणाम ठीक नहीं होगा। प्रदेश स्वयं संभवतः अपनी भाषाओं द्वारा समस्त राष्ट्र की भावनाओं को उत्पन्न कर सकते हैं और हमें इसी के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए। हमारे देश में प्रादेशिक भाषाओं का प्रश्न एक-न-एक दिन उठना ही था परन्तु हम इन प्रश्नों को टाल कर या अंग्रेज़ी के द्वारा हल नहीं कर सकते। हमें इन प्रश्नों पर भारतवर्ष की अपनी मौलिक दृष्टि से विचार करना होगा अंग्रेज़ी की दृष्टि से नहीं। प्रादेशिक भाषाओं और हिन्दी में अटूट सम्बन्ध है और इस सम्बन्ध को जीवित, जागृत और विस्तृत करना चाहिए और यह सम्बन्ध जितना निकट और विस्तृत होगा उतनी ही प्रादेशिक भाषाएँ हिन्दी में मिलेंगी और हिन्दी भाषा प्रादेशिक भाषाओं में। यह सम्मिलन जितना अधिक और स्वाभाविक होगा उतनी ही राष्ट्रीयता की भावना प्रबल होगी। यह सम्मिलन भाषा और साहित्य दोनों में अनिवार्य रूप से होगा। इस सम्मिलन से ऊपर या नीचे की, हीनता या बड़प्पन की या साम्राज्यवाद आदि की भावनाओं का स्वयंमेव अन्त हो जाएगा। इसलिए हम समझते हैं कि राष्ट्रीयता की रक्षा प्रादेशिक भावनाओं को दबाने या अंग्रेज़ी भाषा के द्वारा नहीं की जा सकती। वह तो प्रादेशिक भाषाओं की उन्नति, प्रगति और राष्ट्रभाषा के द्वारा ही हो सकती है अंग्रेज़ी की स्थिरता से नहीं।

किसी भाषा के साहित्यकारों द्वारा ही उस भाषा के साहित्य का निर्माण होता है। सत्य तो यह है कि साहित्यकार ही भाषा के स्वरूप को साहित्य में निर्मित और विकसित करते हैं। भाषा स्वयं अपने साहित्य का निर्माण नहीं कर सकती। यदि ऐसा हो तो यह ऐसा ही होगा कि जैसे मट्टी घड़े का स्वयं ही निर्माण कर ले। साहित्यकार किसी एक सीमा तक भाषा के स्वरूप को लेते हैं--वे अपने व्यक्तित्व के द्वारा जहाँ विविध प्रकार के साहित्य का निर्माण करते हैं वहाँ भाषा को नई शैलियाँ और नए शब्द भी प्रदान करते हैं। जिस समय हमारे राष्ट्रभाषा के साहित्यकार भारतवर्ष के प्रत्येक प्रान्त से आएँगे उस समय उनके द्वारा निर्मित साहित्य में उनके प्रान्त या प्रदेशों की विशेषताएँ अभिव्यंजित होंगी और प्रान्तीय या प्रादेशिक नई शब्दावली, अभिव्यंजनाएँ और मुहावरे राष्ट्रभाषा के स्वरूप को समृद्ध और विकसित कर सकेंगी और इसी समृद्धि और विकास के साथ राष्ट्रभाषा के स्वरूप में विविधता और पूर्णता आएगी। यह कार्य प्रारम्भ हो चुका है। राष्ट्रभाषा अब एकमात्र अपने ही प्रदेश में सीमित नहीं रह गई है। हमारे राष्ट्र के भिन्न भिन्न प्रदेशों के साहित्यकार इसे अपना रहे हैं और वे इसमें केवल अपने प्रदेश की भाषा और साहित्य को ही प्रस्तुत नहीं कर हैं अपि तु वे ऐसे नए साहित्य का भी निर्माण कर रहे हैं जिससे राष्ट्रभाषा वास्तव में और जीवित रूप में समस्त राष्ट्र की राष्ट्रीयता का और संस्कृति का प्रतिनिधित्व कर सकेगी और उसकी जीवित और जागृत प्रतीक बन सकेगी।

Education

Start - in - Life

Marriage of your children

Assured without any

embarrassment

Besides a comfortable old age

for you

for All Types Of Insurance

Consult:-

THE

HYDERABAD CO-OPERATIVE

INSURANCE SOCIETY Ltd.

Bashir Bagh Road, Hyderabad-Dn.

THE

Twin Co-operative Insurers

Head Office : **Bashir Bagh Road, Hyd.Dn.**

1. The Hyderabad Co-operative Insurance Society Ltd.

A POLICYHOLDERS' SOCIETY

Assets as at 31-12-51 exceed Rs. 80 Lakhs. (for Co-operative Life Assurance only.)

2. The Co-operative General Insurance Society Ltd., (for Fire, Motor Accident and Misc. Insurance.)

State and District Positions Available

For REALLY EFFICIENT
FIELD WORKERS.

Write in condidence to the General Manager.

सिकन्दराबाद में साहित्यिक पुस्तकों
का
एक मात्र प्रतिष्ठान

पुस्तक भवन,

सिकन्दराबाद

हिन्दी प्रचार सभा, सिकन्दराबाद
नगर शाखा द्वारा स्थापित

सभी परीक्षाओं के पाठ्यक्रम, पुस्तकालयों के लिए
उत्तमोत्तम ग्रन्थ, और बाल-साहित्य
हमारी विशेषताएँ

***

निम्न लिखित
कों की पुस्तकें थोक भाव में हमसे लीजिए:—
१ हिन्दी प्रचार सभा, : : २ विनोद पुस्तक मन्दिर
हैदराबाद
आगरा

तार का पता : हिन्दी   टेलीफोन नं. ४४५०

हिन्दी, तेलुगु, मराठी और अंग्रेज़ी
की सब तरह की सुन्दर छपाई
के लिए हमेशा याद रखिये।

हि
न्दी
प्रे
स

हैदराबाद राज्य हिन्दी प्रचार सभा
श्रीराम हिन्दी भवन

नामपल्ली • स्टेशन रोड • हैदराबाद-द.

—प्रियबन्धु, हिन्दी प्रेस, हैदराबाद राज्य हिन्दी प्रचार सभा, हिन्दी भवन, हिन्दी मार्ग, नामपल्ली हैदराबाद-द

हिन्दी के उत्तमोत्तम
तथा उच्च
श्रेणी
के

सा
साहित्य
त्य

की
प्राप्ति के लिए एकमात्र
स्थान

हैदराबाद राज्य हिन्दी प्रचार सभा

श्रीराम हिन्दी भवन : नामपल्ली रोड : हैदराबाद-द.

तार : "हिन्दी"

टेलिफोन नं. ५४५०

**

सम्मति के लिए

अजन्ता

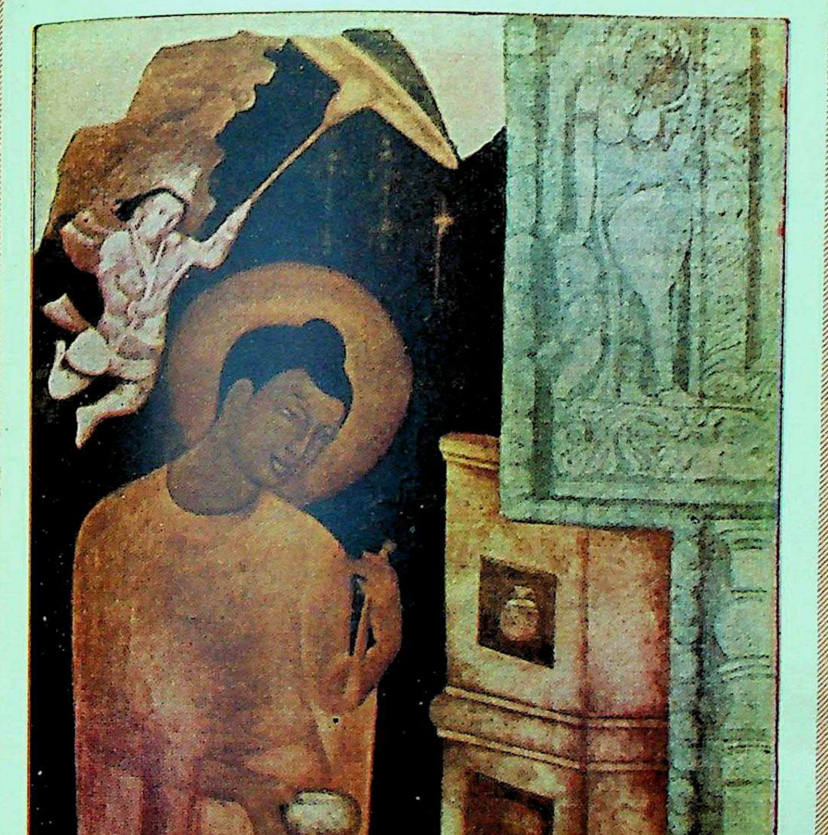

वर्ष ५ नवम्बर १९५३ अंक ११

हैदराबाद राज्य हिन्दी प्रचार सभा

राजस्थान, पंजाब, मध्यप्रदेश, हैदराबाद, मैसूर, त्रावणकोर और मद्रास राज्यों के

शिक्षा विभाग द्वारा स्वीकृत

❁

इस अंक में

एम. एम. दोरास्वामी
डा० महादेव साहा
लक्ष्मीरंजनम्
अगरचन्द नाहटा
डा० टीकमसिंह तोमर
रामगोपाल शुक्ल

आरसीप्रसाद सिंह
रमाकान्त श्रीवास्तव
विद्यावती मिश्र

◆

अगले अंक में

डा० रांगेय राघव
डा० लक्ष्मणप्रसाद चौधरी
डा० जयदेव विद्यालङ्कार
श्यामाचरण दुबे
प्रभाकर माचवे

लक्ष्मीशङ्कर मिश्र 'निशङ्क'
ओ३म्प्रकाश शर्मा

"अजन्ता" का वार्षिक मूल्य :— ६)

एक अङ्क का :— १)

आवश्यक सूचना :—नमूने की प्रति के लिए १ रु० म. ऑर्डर द्वारा अग्रिम भेजिए।

The Hyderabad Co-operative Dominion Bank Ltd.,

[Estd. MARCH 1915]

Telephone : 4610

Telegram : DOMINBANK

(Apex Bank for the Co-operative Movement in the State)

Sub Offices :
PATHERGATTI, UNIVERSITY
BRANCH (ADIKMET)

Head Office :
SHAHRAH-E-OSMANI,
HYDERABAD-DECCAN.

Branch Office :
THUNGABHADRA PROJECT
(MUNIRABAD)

1. CURRENT ACCOUNTS opened free of charge and interest is allowed at 1½% per annum.
2. SAVINGS DEPOSITS accepted and interest allowed at 2% per annum.
3. SPECIAL SAVINGS DEPOSITS are accepted and interest allowed at 1½% per annum.
4. FIXED DEPOSITS accepted. For Revised Rates apply to the Bank.
5. 3 YEAR CASH CERTIFICATES issued in denominations of Rs. 100, 500, 1,000 & 5,000 at 4% Compound Interest, Earlier encashment facilities offered. Particulars can be had from the Bank.
6. DRAFTS are issued on all important COMMERCIAL CENTERS and within the HYDERABAD STATE.
7. PENSIONS, MANSABS, etc, collected on commission basis, premiums remitted & all standing instructions on behalf of the customers carried out. SAFE DEPOSIT LOCKERS & VAULTS available at HEAD OFFICE.

BANKING BUSINESS OF EVERY DESCRIPTION TRANSACTED

Md. Ghulam Ghouse
M. A., B. SC., C. A. I. I. B.,
DEPUTY GENERAL MANAGER.

A. H. Venkat Rao.
B. A., B. L.,
SUPERVISING DIRECTOR.

L. N. Gupta,
I. A. S.
PRESIDENT.

FIRE: **ACCIDENT:** **MARINE:**

THE HYDERABAD UNITED INSURANCE CO., LTD.,

SPONSORED BY

THE GOVT. OF HYDERABAD.

Post Box No. 164, Abid Road, HYDERABAD-Dn.

Telegram: ***HUICOL***

Telephone: ***5579***

Chairman:
L. N. GUPTA Esq. I. A. S.,

General Manager:
H. D. MEHTA Esq.,

'HIND'

BRANCHES : Bombay, Calcutta, Madras, Nizamabad & Manchirial.

जीवन साहित्य

हिन्दी के उन मासिक पत्रों में से है जो

१. लोक रुचि को नीचे नहीं, ऊपर ले जाते हैं,
२. मानव को मानव से लड़ाते नहीं, मिलाते हैं,
३. सच्ची और स्थायी शान्ति को असंभव नहीं, संभव बनाते हैं,
४. आर्थिक लाभ के आगे झुकते नहीं, सेवा के कठोर पथ पर चलते हैं,

जीवन साहित्य की सात्विक सामग्री को छोटे बड़े, स्त्री-बच्चे सब निःसंकोच पढ़ सकते हैं। उसके विशेषांक तो एक से एक बढ़ कर होते हैं।

जीवन साहित्य विज्ञापन नहीं देता। केवल ग्राहकों के भरोसे चलता है। ऐसे पत्र के ग्राहक बनने का अर्थ होता है राष्ट्र की सेवा में योग देना।

वार्षिक शुल्क के ४) रु. भेज कर ग्राहक बन जाइए।

ग्राहक बनने पर मण्डल की पुस्तकों पर
आपको कमीशन पाने की भी सुविधा हो जाएगी।

सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली

त्रैमासिक

आलोचना

के

दो विशेषांक

इतिहास विशेषांक-अक्तूबर १९५२
५) रु०

इतिहास शेषांक-जनवरी १९५३
३) रु०

विशेष रूप से संग्रहणीय हैं।
इन दोनों अंकों में प्रकाशित लेख हिन्दी साहित्य के आलोचनात्मक इतिहास का अद्वितीय आकलन बन गये हैं।

वार्षिक-१२)रु० :: एक प्रति-३) रु०

राजकमल प्रकाशन,
१, फ़ैज़ बाज़ार, दिल्ली

मनोविज्ञान

काशी मनोविज्ञान शाला का मासिक पत्र

दर्शन और मनोविज्ञान की
आधुनिक प्रवृत्तियों पर
प्रकाश डालनेवाला
हिन्दी में अपने ढङ्ग का
अकेला पत्र

सम्पादक : लालजीराम शुक्ल
वार्षिक मूल्य : ४) रुपए।

मिलने का पता :

व्यवस्थापक 'मनोविज्ञान'
६१/२५ सिद्धगिरि, बनारस

राष्ट्रभारती

सम्पादक
मोहनलाल भट्ट
हृषिकेश शर्मा

सस्ती, सुन्दर साहित्यिक और सांस्कृतिक मासिक पत्रिका। इस पत्रिका को, राष्ट्रभाषा हिन्दी तथा प्रान्तीय भाषाओं के श्रेष्ठ विद्वान् साहित्यकारों का सहयोग प्राप्त है। ज्ञानवर्धक और मनोरंजक श्रेष्ठ लेख, कविताएँ, कहानियाँ, एकांकी, नाटक, रेखा-चित्र और शब्दचित्र। बंगला, मराठी, गुजराती, पंजाबी, राजस्थानी, उर्दू, तमिल, तेलगु, कन्नड़, मलयालम आदि भारतीय भाषाओं के सुन्दर हिन्दी अनुवाद भी इसमें रहते हैं।

वार्षिक चन्दा ६) रुपए। नमूने की प्रति १० आने मात्र।

ग्राहक बना देने वालों को विशेष सुविधा दी जाएगी

पता : व्यवस्थापक,
'राष्ट्रभारती' राष्ट्रभाषा प्रचार समिति,
पो० हिन्दी नगर, वर्धा (मध्य प्रदेश)

कथा साहित्य में चरित्र चित्रण

का

महत्वपूर्ण प्रयोग

'मेघदूत' के महत्वपूर्ण प्रकाशन के बाद

प्रेरणा का छठा-सातवाँ अंक

'प्रेमचन्द के पात्र'

विशेषांक होगा

* इस अंक में प्रेमचन्द के उपन्यासों और कहानियों के सभी महत्त्वपूर्ण पात्रों पर अधिकार पूर्ण लेख होंगे।

* विशेषांक का मूल्य लगभग ४) होगा।

* प्रेरणा के स्थाई ग्राहकों के लिए वही मूल्य रहेगा।

शीघ्र ही वार्षिक ग्राहक बन कर
इस सुविधा का लाभ उठाएँ।

अग्रिम आर्डर 'प्रेरणा' के पते से भेजिये।

प्रेरणा : सोजतीगेट, जोधपुर.

सस्ता, सरल, आकर्षक और शिक्षाप्रद

राजनीति, साहित्य और विज्ञान सम्बन्धी लेखों का समन्वय

नया पथ

सचित्र हिन्दी मासिक पत्र

* कठिन से कठिन विषय को जनता की भाषा में रखना ही नया पथ का उद्देश्य है।

* हिन्दी के चोटी के लेखकों, कवियों, कहानीकारों और विभिन्न विषयों के अधिकारी विद्वानों का सहयोग नया पथ को हासिल है।

* देश-विदेश की राजनीतिक और साहित्यिक समस्याओं पर विचार-पूर्ण लेखों तथा कहानियों और कविताओं के अलावा इसके विशेष स्तम्भ हैं : मार्क्सवाद की पाठशाला, सिनेमा-जगत्, पुस्तक परिचय, सरल विज्ञान, महीने का महत्व, आदि।

चन्दा : वार्षिक ६)-छमाही ३)-एक प्रति ८ आना

नया पथ कार्यालय,
३१४, वल्लभभाई पटेल रोड, बम्बई ४.

पश्चिमोत्तर भारत की प्रमुख हिन्दी मासिक पत्रिका

विश्व ज्योति

सम्पादक

श्री विश्वबन्धु शास्त्री, श्री सन्तराम, बी. ए.

संचालक-**श्री विश्वेश्वरानन्द,**

विश्व हित की साधना के लिए :

[क] शुद्ध सांस्कृतिक साहित्य का सृजन,
[ख] प्राचीन और नवीन ज्ञान-विज्ञान का समन्वय,
[ग] बौद्धिक क्रांति और नई चेतना का जागरण,
[घ] अन्यायपूर्ण सामाजिक विषमताओं का दूरीकरण,
[ङ] सभी प्रकार के विचारों का निष्पक्ष अध्ययन और आलोचन।

वार्षिक चन्दा : ८) रुपए

१०) रु. वार्षिक चन्दा देकर विश्वेश्वरानन्द वैदिक संस्थान के सदस्य बन जाने पर भेंट के रूप में मुफ़्त।

पत्र-व्यवहार का पता :
व्यवस्थापक, 'विश्व ज्योति' साधु आश्रम,
होशियारपुर, (पंजाब)

:: दक्षिण भारत ::

दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा का

सांस्कृतिक मासिक पत्र

इस पत्र के द्वारा :

* दक्षिण की प्राचीन और आधुनिक संस्कृति सम्बन्धी जानकारी......

* दक्षिण के साहित्य, राजनीति, शिक्षा, कला, रचनात्मक कार्यक्षेत्रों के विवरण और उनके उन्नायकों का परिचय......

* दक्षिण की तेलुगु, तमिल, कन्नड़, मलयालम और उत्तर के विद्वानों का साहित्य सृजन का परिचय पाइए......

वार्षिक चन्दा : रु. ६)   अर्ध वार्षिक : रु. ३॥)

एक प्रति : ०-१०-०

इस पते पर लिखें :

व्यवस्थापक, पत्रिका विभाग
दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा
त्यागरायनगर, मद्रास-१७

अवन्तिका का काव्यालोचनांक

—(द्वितीय वर्ष का प्रथम अंक)—

सम्पादक
लक्ष्मीनारायण सुधांशु

वार्षिक १०)
इस अंक का ३)

* जिसमें हिन्दी कविता के सभी युगों और प्रायः सभी पक्षों की व्याख्या अधिकारी आलोचक प्रस्तुत करेंगे।
* जिसमें संस्कृत और अंग्रेज़ी के आचार्यों के समीक्षा-सिद्धान्तों के सुचिन्तित विवेचन होंगे।
* जिसमें छायावाद, प्रगतिवाद और प्रयोगवाद पर बीसों लेख रहेंगे।
* जो हिन्दी-कविता के सिंहद्वार की एक नई कुंजी प्रस्तुत करेगा।
* जिसमें लिखनेवाले कुछ विद्वानों के नाम हैं, पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पं० नन्ददुलारे वाजपेयी, डाक्टर नगेन्द्र, पं० रामनरेश त्रिपाठी, पं० सुमित्रानन्दन पन्त, श्रीमती महादेवी वर्मा, श्री रामधारीसिंह दिनकर, श्री स० ही० वात्स्यायन अज्ञेय, पं० शान्तिप्रिय द्विवेदी, श्रीयुत रायकृष्ण दास, पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र तथा श्री नलिनविलोचन शर्मा।

अपनी प्रति सुरक्षित कराने को आज ही पत्र लिखें।

प्रकाशन की प्रस्तावित तिथि १५ दिसम्बर, १९५३ ई०

:: प्रकाशक ::

श्री अजन्ता प्रेस लिमिटेड, पटना—४

अच्छी फ़ोटोग्राफी
के
लिए

सेन्ट्रल स्टुडियो

कभी न भूलिए

कोडाक के प्रमाणित विक्रेता

बशीरबाग :: हैदराबाद :: दक्षिण

अजन्ता

सचित्र मासिक पत्रिका

वर्ष ५ नवम्बर १९५३ अङ्क ११

सम्पादक

वंशीधर विद्यालंकार
श्रीराम शर्मा

प्रबन्ध सम्पादक

हरिकृष्ण पुरोहित एम. ए.

—: संचालक :—

हिन्दी प्रचार सभा, हैदराबाद

अनुक्रमणिका

पृष्ठ संख्या

१ गीत
आरसीप्रसाद सिंह १
२ अरूप
कोमलसिंह सोलंकी ३
३ खान अब्दुल गफ्फ़ार खान
रमाकान्त श्रीवास्तव ५
४ जीवन क्या है
विद्यावती मिश्र ८
५ काव्य में मूर्त्ति-कल्पना
एम. एस. दोरास्वामी ६
६ विक्तर ह्यूगो
डा० महादेव साहा १५
७ पश्तो साहित्य की प्रारम्भिक गतिविधियाँ
रामगोपालाचार्य २०
८ तेलंगाने में इतिहास की सामग्री
बाल शौरिरेड्डी २३
६ जीवन के प्रति दृष्टिकोण
दीनानाथ सिद्धान्तालङ्कार २६
१० वामनावतार और जैन मुनि विष्णुकुमार
अगरचन्द नाहटा २६
११ श्री बाबूराव विष्णु पराडकर
रामेश्वरदयाल दुबे एम. ए. ३५
१२ हिन्दी चारण-काव्य में वीर-रस-निरूपण
डा० टीकमसिंह तोमर ३८
१३ मराठी कहावतें
तुकाराम कुलकर्णी ४३

पृष्ठ संख्या

१४ हिन्दी में गद्यगीत
मदनमोहन शर्मा एम. ए. ४४
१५ लोकवार्ता एवं लोकसाहित्य का पारस्परिक संबंध
श्याम परमार एम. ए. ४८
१६ तेलुगु नाटक साहित्य
लक्ष्मीरंजनम् ५४
१७ जीवन का मोल [एकांकी]
रामगोपाल शुक्ल ६१
१८ चिट्ठी-पत्री ६५
[१] बनारसीदास चतुर्वेदी
[२] विनयमोहन शर्मा
[३] शान्तिभाई जोबनपुत्रा
[४] भगवतशरण चतुर्वेदी 'शरण'
[५] 'प्रवासी'
१६ नीर-क्षीर ६८
[१] वंशीधर विद्यालङ्कार
[२] हरिकृष्ण पुरोहित
२० सामयिक ७३
[१] कोरिया की बरतन-कला
[२] अमीर खुसरो : एक नया दृष्टिकोण
[३] चीन के फल
[४] हंगरी में विश्व के श्रेणिक साहित्य का पठन
२१ सम्पादकीय ७८
वंशीधर विद्यालङ्कार

चित्र : पैठण की खुदाई से प्राप्त मूर्त्तियाँ...पुरातत्त्व विभाग, हैदराबाद के सौजन्य से

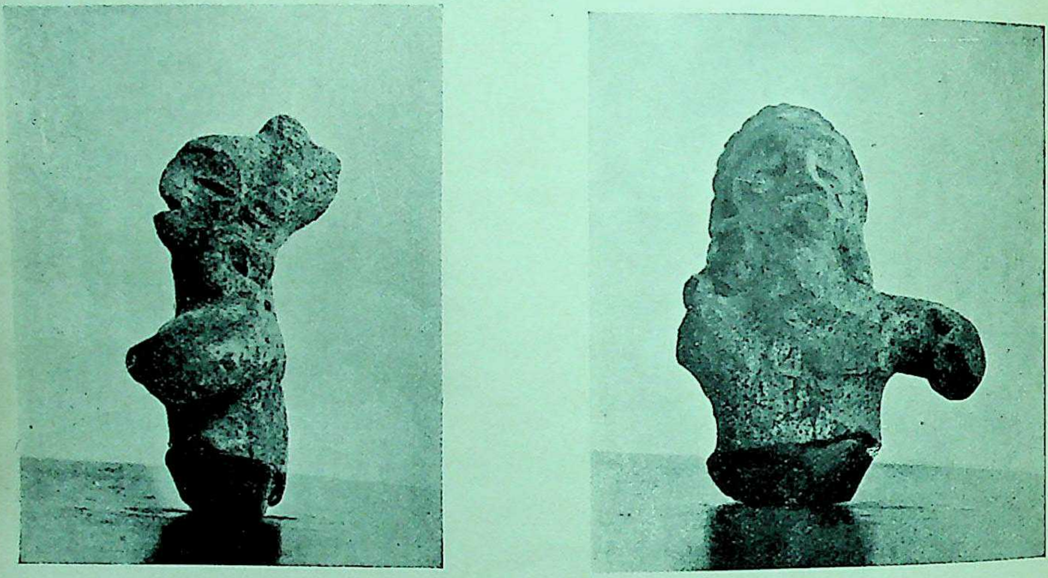

पैठण की खुदाई से प्राप्त मूर्तियां पुरातत्व विभाग हैदराबाद के सौजन्य से

S. NALANDKER

अजन्ता

वर्ष ५ नवम्बर १९५२ अङ्क ११

गीत

स्वप्न बन आए कभी, अब
प्राण बन कर गा रहे हो
एक मादक ज्वार—से
मानस-क्षितिज पर छा रहे हो

तुम अचेतन में मिले थे,
चेतना में खो रहे हो
क्यों अतल में भी समा कर
यों अपरिचित हो रहे हो ?

तुम घटा बन कर उठे,
सुरचाप से मुस्का रहे हो
स्वप्न बन आए कभी, अब
प्राण बन कर गा रहे हो

मुखर वाणी में हुए ये
एक दिन भर प्रीति का स्वर

आज क्यों मेरे हृदय में
तुम छिपे चिर-मौन बन कर ?

दूर का सन्देश नीरव
एक केवल ला रहे हो
स्वप्न बन आए कभी, अब
प्राण बन कर गा रहे हो

एक दिन बन मर्म—मधु
तुमने किया स्वीकार बन्धन,
आज सीमाहीन उड़ना
चाहते हो क्यों पवन बन ?

तुम समाए पीर—से, बन
अश्रु ढुलके जा रहे हो
स्वप्न बन आए कभी, अब
प्राण बन कर गा रहे हो

एक दिन आया अतिथि-सा
द्वार पर जो था अकामी,
था पता किसको, वही
बन जाएगा सर्वस्व-स्वामी ?

यह द्विधा झाँकी, न छिपते
हो, न सम्मुख आ रहे हो
स्वप्न बन आए कभी, अब
प्राण बन कर गा रहे हो

तोड़ देती निर्झरी भी
एक दिन पाषाण—कारा
लाँघ जाती है किनारों को
नदी की तीक्ष्ण धारा

सिन्धु तुम कैसे कि तट से
ही बँधे अकुला रहे हो ?
स्वप्न बन आए कभी, अब
प्राण बन कर गा रहे हो

—आरसीप्रसाद सिंह

पटना १

अरूप

रूप अरूप सभी भाते हैं

प्यासे अलसाए लोचन झुक,
मृग मद कहीं कभी टिक जाते
काजल से कोरक से गहरे
जब अजान बन कर रुक जाते
मूक भावना से कोमल तब
कैसा गीत कहो गाते हैं?
रूप अरूप सभी भाते हैं

पथ पर चलते, रुके नहीं जो,
गति पर बढ़ते, गले नहीं जो
रूप रहित कर्मठ एकाकी—
चलना ही जिनकी गति बाक़ी
वे दो चरण किसी के बोलो,
मेरे बन कर रह जाते हैं
रूप अरूप सभी भाते हैं

यह देखो, यह चित्र तुम्हारा,
रूप वेश लावण्य सुधामय

वह देखो निर्धन-सी काया
रूपहीन ज्योतित प्रतिभामय
रूप तुम्हारा नहीं, गीत में
इस अगीत को सब गाते हैं
रूप अरूप सभी भाते हैं

मेरे चित्र, तुम्हारे अपने,
मेरे भाव तुम्हारे सपने,
तुम स्वरूप हो पर अरूप में
मेरे गीत कभी क्या अपने?
रूप कभी दे जाते तुम हो
पर अरूप मुझको भाते हैं

गीत तुम्हारे ही लिख देता
तुम इस स्वर में गा जाते हो
प्राण कभी आकुल से होकर
अपनी बातें लिख जाते हैं
रूप अरूप सभी भाते हैं

—कोमलसिंह सोलंकी

मध्य भारत हिन्दी साहित्य सभा,
लश्कर, ग्वालियर

ख़ान अब्दुल ग़फ़्फ़ार ख़ान

सोचो तुम ठंडे दिमाग़ से,
बन्द आज जो वर्षों से है कारागृह में,
वह फ़ख्रे अफ़ग़ान न केवल
और न केवल बादशाह खाँ
बल्कि रवानी उन पैरों की, उन इस्पाती पैरों की
जो नहीं कभी विचलित हो सकते हैं सत पथ से;
नहीं कभी रुक सकते हैं आगे बढ़ने से
चाहे जितना कस कर ज़ंजीरों-से जकड़ो
वे करते निर्माण नया इतिहास बराबर
उनके धरती पर पड़ने-से
नई चेतना की उठतीं लहरों पर लहरें
देश प्रेम के पावन जल में पुष्पित विकसित
वह शतदल-सा पावन, निर्मल;
वह दिनकर के तेज पुञ्ज से स्वयं विभूषित
देशद्रोह की काली रजनी देख तिरोहित जिसको होती
दीन धर्म से परे शान्ति का पैग़म्बर वह
कारागृह क्या मृत्यु वरण भी कर सकता है हँसते-हँसते
दुहराया जाता है फिर इतिहास पुरातन
पीट पीट कर छाती रोते आये हैं जो
याद करबला की अब तक कर,
वही शहादत फिर ऐसी देने जाते हैं
देख जिसे शरमायेगा करबला पुरातन
आज़ादी का माँग रहा है पानी बैठा
यह इमाम हुसेन जेल में
पर यज़ीद की भाँति कर रहे सौदा उससे
आज़ादी की प्यास बुझाने के बदले में
कहा जा रहा उससे छोड़ो धर्म सत्य का मार्ग सुपावन
किन्तु अडिग वह
सत्यनिष्ठ, दृढ़व्रती, यातना अभ्यासी,
ईर्षा, द्वेष, क्रोध, मोह से परे मानवेतर मानव,

सत्य अहिंसा की वेदी पर आत्माहुति का विश्वासी
बोझिल, कष्टप्रद कारागृह --
के पत्थर के नीचे दब कर
प्राणों का उत्सर्ग कर रहा धीरे-धीरे
प्रतिशोधों से जलते मानव
महा महिम के सत्य न्याय के उच्च स्वर को
सीमित करना चाह रहे हैं कारागृह की दीवारों में
कारागृह की दीवारों में शक्ति नहीं जो सीमित कर लें
कभी नहीं सीमित कर पाईं
और न सीमित कर पायेंगी
देश-काल से परे व्यक्ति की अकलुष वाणी
सागर की लहरों में तिर कर,
पर्वत के शिखरों पर चढ़ कर,
चन्द्र, सूर्य, उडुगण में चल कर,
गूँज रही है उसकी वाणी पावन, शाश्वत
उसकी मुक्ति न होगी केवल मुक्ति उसी की
अपि तु नई धाराएँ जीवन की निकलेंगी ऐसी शत शत
धर्म, रूढ़ियों और अन्ध विश्वासों के ऊसर-बंजर पर
नैतिक अधःपतन के पर्दे के अंदर से
नये कोपलों में झाँकेगी जीवन की आत्मा चिरंतन
देश-काल की सीमाओं से परे स्वप्न उसके जीवन के
मानवता को मानवता का भान कराने—
की अभिलाषा से वे प्रेरित।
शासन सत्ता के मद में ये खोये भूले
प्रतिशोधों, षड्यन्त्र, प्रपंचों की भीड़ों में भूले भटके
दिवा-स्वप्न के द्रष्टा उससे होड़ कर रहे
यह कितना उपहासजनक है
तिमिर असत् का कभी होड़ कर पाया है सत् के दिनकर से ?
बहुत दिनों की बात नहीं है
सत्य अहिंसा के उन्नायक
सब देवों के देव महात्मा गांधी का जब आवाहन
उत्तर-पश्चिम के गिरि श्रृंगों से टकराया
युद्धप्रिय खूँखार पठानों और कबीलों—
की हिंसात्मक मनोवृत्ति उपहास कर उठी
क्योंकि शिराओं में युग-युग से

रक्त उफ़नता था हिंसा का
उसी समय यह नीलकंठ, यह शिव शंकर
हँसते-हँसते पान कर गया विष हिंसा का
सत्य-अहिंसा की वेदी पर
मर मिटने के लिये पठानों की निकलीं टोली की टोली
ब्रिटिश राज्य के
पहरेदारों की संगीनें,
बन्दूकों से निकल-निकल गोलियाँ हज़ारों
छेद गईं उनके सीनों को ।
किन्तु शान्त, गम्भीर, धीर वे खड़े रहे
पहरेदारों के बने खिलौने ।
प्रतिहिंसा की वह्नि प्रज्ज्वलित हो न सकी थी
क्रूर दमन की झंझा के झोंके थक हारे
और तभी
गिरिराज हिमालय की पर्वतमालाओं से चल
हिन्द महासागर की ऊँची लहरों तक
वंग देश से सिन्धु देश तक
लक्ष-लक्ष कंठों से सहसा उत्सारित हो
स्वर निकला था—"वह गांधी है"
स्वतन्त्रता के महायज्ञ में
आत्माहुति देने से जो न हटा पीछे था
जिसके तप के योग दान से
स्वतन्त्रता की किरण विहँसती आई थी
ऋषियों-मुनियों की तपोभूमि में
टूटी थीं बेड़ियाँ गुलामी की वर्षों की,
अंगड़ाई ले उठ बैठी थी भारत की आत्मा चिरंतन
आज वही फिर बन्दी जीवन बिता रहा है !
ईसा, बुद्ध, मुहम्मद, गांधी—
की चिरकालिक परंपरा में
वह ईश्वर का प्रतिनिधि मानव
उसके नीरव बलिदानों से
अभी सीखना शेष, विश्व को

१०६/१ सीसामऊ,
कानपुर

—रमाकान्त श्रीवास्तव

जीवन क्या है ?

रास, रंग, मस्ती, वैभव से जली बिजलियाँ,
मधु, मस्ती, सौरभ, सुहास में पली तितलियाँ,
आत्म-वासना में जलते रंगीन सितारे,
लहरों के अंचल में लिपटे हुए किनारे,

धन-कुबेर के स्वप्न जवानी की तस्वीरें,
इठला कर मुसका कर मुझ से पूछ रही हैं—
जीवन क्या है ?

करती है संघर्ष मनुजता से मर्यादा,
वैभव की अभिलाषा रखता जीवन सादा,
जिसके पतझर में अब भी मधु ऋतु की आशा,
जीवन-मरण, भरण-पोषण ही जिसकी भाषा,

मध्य वर्ग की कुशल किन्तु अभिशापित गृहिणी,
आँसू से मुँह धोकर मुझ से पूछ रही है -
जीवन क्या है ?

मिट्टी जिसका वसन, शून्यता ही आभूषण,
है अभाव से होता प्रतिक्षण का अभिषिंचन,
जहाँ सृजन को शोषण का आधार मिला है,
महानाश का ही जीवन को प्यार मिला है,

अन्नपूर्णा, किन्तु क्षुधा की दासी है, वह—
निर्धनता शरमा कर मुझ से पूछ रही है—
जीवन क्या है ?

—विद्यावती मिश्र

बशीरगंज,
लखनऊ

काव्य में मूर्त्तिकल्पना

'अंग्रेज़ी कविता—अपनी मूर्त्तिकल्पना के वैभव के लिए लोकप्रिय और वाज़ समय कुख्यात रही है ।' अंग्रेज़ी कविता एक साधारण पाठक को दुरूह और संश्लिष्ट मूर्त्ति-कल्पना के कारण अस्पष्ट-सी प्रतीत होती है । अतः इस विषय पर विचार करना उपयोगी होगा । रूपक और उपमा समस्त भाषाओं की कविता में प्रयुक्त होते हैं—इसलिए इस विषय का व्यापक महत्व भी है ।

समालोचना के अनुसन्धान के लिए यह एक नया विषय है । १७८० के पश्चात् कल्पना का अधिक प्रयोग होने के कारण रोमांसवादियों ने इसे नया महत्व प्रदान किया । इस विषय पर आलोचना की दृष्टि से केरोलिन स्पर्जन द्वारा शेक्सपिअर की मूर्त्तियों के अध्ययन के पश्चात् विचार किया जाना प्रारम्भ हुआ ।

अरिस्टोटल अपनी पुस्तक 'पोएटिक्स' में रूपक के वरदान को एक महत्वपूर्ण शक्ति समझता है । 'सब से बड़ी बात रूपक पर अधिकार है । यह किसी अन्य प्रकार से प्राप्त नहीं हो सकता; यह प्रतिभा का चिन्ह है ।' उत्तम गद्य में—जैसा की स्विफ़्ट का कथन है : "जब तक कि वह काव्यात्मक या आलंकारिक या आवेशपूर्ण न हो—इस अलंकरण से बचना चाहिए ।" डा० जोनसन ने स्विफ़्ट के विषय में कहा था : "यह शैतान कभी रूपक का प्रयोग नहीं करता ।" कौलरिज ने कहा है : "वर्तमान युग में कवि का अपने सम्मुख संभवतः यह उद्देश्य रहा करता है जो कि उसकी कला की अत्यधिक विशेषता है..... नई और आकर्षक मूर्त्तियाँ ।" कवि वस्तुओं को साधारण पुरुष से भिन्न दृष्टि से देखता है क्योंकि उसके पास दिव्य दृष्टि और शक्ति होती है । ब्लेक ने ठीक कहा था : "मूर्ख उसी वृक्ष को नहीं देख पाता और बुद्धिमान देख लेता है ।" हम सब वर्डस्वर्थ के 'पीटर बेल' के समान हैं :

"नदी के किनारे का प्रिमरोज
उसके लिए वह एकमात्र पीला प्रिमरोज था
और इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं"

कवि साधारण से अधिक देखता है इसीलिए वह कवि है । महान् कवि, दृष्टि के वरदान के कारण ही महान् होते हैं । स्पेन्सर की 'फेएरी क्वीन' चित्रों की एक गैलरी है । शेक्सपिअर का 'प्रत्येक शब्द एक चित्र है ।' कीट्स 'पाँचों इन्द्रियों का कवि है ।' प्रत्येक सुन्दर कविता एक चित्र-कल्पना या मूर्त्ति-कल्पनाओं का संकलन होती है ।

मूर्त्ति-कल्पना का सरल लक्षण यह हो सकता है 'वह चित्र जो शब्दों द्वारा बनाया जाता है ।' यह चित्र भाषा के साधारण माध्यम द्वारा बनाया जाता है जब कि एक चित्रकार अपने चित्रों को रंगों द्वारा बनाता है । परन्तु चित्र में ऐन्द्रियिक विशेषता होती है—इसमें भावावेश का गुण होता है जिसे कि कवि तीव्र रूप से अनुभव करता है और शक्तिशाली रूप में अभिव्यक्त करता है, तथा उसमें वह लय और संगीतात्मकता को जोड़ देता है ।

कैरोलीन स्पर्जन एक मूर्त्ति-कल्पना का लक्षण बताता है—'एक छोटा शब्द-चित्र जिसका एक कवि चित्र खींचने, प्रदर्शन करने और अपने विचारों को आभूषित करने के लिए प्रयोग करता है । यह एक वर्णन है, विचार है जिसे कि कवि तुलना या सादृश्य या किसी अन्य रूप से हमारे सम्मुख भावनाओं या सहभावों के साथ प्रकाशित करता है । एक वस्तु की समग्रता को गम्भीरता और सम्पन्नता से जिसमें लेखक उसे देखता है, समझता या अनुभव करता है, यह प्रस्तुत करती है ।'

मूर्त्ति-कल्पना कविता में अन्तर्हित होती है । इसका तात्पर्य यह है कि एक कविता एक पाठक की 'मन की आँख' के सामने भावातिरेक से युक्त ऐन्द्रियिक मूर्त्ति-कल्पनाओं की श्रृंखला द्वारा अपने विचार या विचारों को प्रस्तुत करती है । स्पेन्सर के बहुत-से वर्णनात्मक संदर्भ—'फेएरी क्वीन' के आनन्द निकुंज के समान भव्य शब्द-चित्र हैं । इसी प्रकार की एक कविता कीट्स की 'दि ईव आफ सेंट एग्नीज़' है ।

या कवि अपनी मूर्त्ति-कल्पनाओं को इसी उद्देश्य से आभूषित, चित्रित या स्पष्ट करने के लिए शब्द-चित्रों का

प्रयोग करता है । वह चाक्षुस, कर्ण की स्पर्शीय या घ्राण मूर्त्तियों का प्रयोग कर सकता है। चाक्षुस मूर्त्ति-कल्पनाएँ—सचमुच चाक्षुस मूर्त्ति-कल्पनाएँ अत्यधिक प्रयुक्त और अत्यन्त आश्चर्यकारक होती हैं । ये तुलनाएँ केवल आभूषणात्मक हो सकती हैं जिनमें भावात्मक वेग होता है । उदाहरणार्थ :

'ओह, मेरा प्रेम एक लाल, लाल गुलाब सदृश है
जो कि जून में अभी नया नया खिला है
ओह, मेरा प्रेम मीड़ के समान है
जो कि तान में मधुरता से बजाई जाती है'

या, किसी विचार को स्पष्ट करने के लिए तुलना की जा सकती है । मिल्टन के 'पेरेडाइज़ लोस्ट' में बहुत-सी उपमाएँ इसी प्रकार की हैं । अथवा कोई कवि तुलना या व्याख्या की आवश्यकता के अतिरिक्त भी एक मूर्ति-कल्पना विकसित कर सकता है जैसे कि होमर ने अपने 'इलियड' में किया है । इस मूर्त्ति-कल्पना को पेर वाल्ट ने पुच्छल सादृश्य (Long Tail Similie) या महाकाव्योचित उपमा अथवा होमरीय उपमा कहा है । मिल्टन कभी कभी ऐसी ही उपमाओं का प्रयोग करता है और आर्नोल्ड भी अपनी कविता 'सोहराब और रुस्तम' में ऐसी उपमाओं को काम में लाता है । एक पूरी कविता की भी एक उपमा हो सकती है जैसे कि फ्रान्सिस टौमस की कविता 'दि हाउण्ड आव हेवन' में मूल विचार ईश्वर का है, कुत्ता मनुष्य का तब तक पीछा करता है जब तक कि वह मुक्त नहीं हो जाता ।

परन्तु सब प्रकार के रूपक और उपमाएँ कवि के जीवन के कुल अनुभव, अपने चारों ओर के जीवन के पर्यवेक्षण या जीवन के प्रति अंतःप्रेरित और काल्पनिक प्रतिक्रिया के आधार पर निर्मित होते हैं । अनुभव कवि के जीवन का सार है, यह वह रंग है जो मन के कैदखाने से बाहर निकल आता है—रंग जो कि विचार में प्रतिबिम्बित होता है । उसमें सहानुभूति की शक्ति—स्थिति को समझने की शक्ति होनी चाहिए इससे पूर्व कि वह कविता के लिए जीवन के अनुभवों का उपयोग कर सके । यह बात एकमात्र कवि के लिए ही नहीं प्रत्येक लेखक के लिए सत्य है । बिना अनुभव के वह कुछ नहीं है । एक बार एक अमरीकी लक्षाधिपति महिला ने सोमेरसेट मोम से पूछा कि उसका पुत्र जिसने विश्वविद्यालय की शिक्षा प्राप्त की है किस प्रकार एक लेखक बन सकता है । मोम ने उस महिला को सलाह दी कि अपने पुत्र को खूब रुपया दो और दो तीन वर्षों तक आराम करने और मज़ा उड़ाने दो । महिला को यह सलाह पसन्द नहीं आई । उसने इस सलाह को गम्भीरता-विहीन समझा और प्रतिकार किया । मोम ने उत्तर में लिखा कि उसने जो कुछ सलाह दी है गम्भीरतापूर्वक दी है । जहाँ तक वह जानता है—इसी प्रकार कोई भी मनुष्य लेखक बन सकता है । महिला ने पत्र-व्यवहार बन्द कर दिया और मोम को सूचित किया कि उसके पुत्र ने अपने पिता की तरह व्यापार (Trade) करने का निर्णय कर लिया है और उसने सूअर का व्यापार आरम्भ कर दिया है । इसी प्रकार यदि किसी कवि या लेखक को अनुभव न हो तो उसे तेजी के व्यापार में प्रविष्ट हो जाना चाहिए।

शेक्सपिअर ने कवि के मार्ग को दो भिन्न प्रकरणों में प्रदर्शित किया है । 'एज यू लाइक इट' में विदूषक 'टचस्टोन' जब एक ग्रामीण लड़की एरड्री से जो गरीब और अभागिनी है प्रेम करने लगता है, कहता है :

एक गरीब अभागी वस्तु, श्रीमान्,
लेकिन मेरी श्रीमान् कहो तो
सचमुच, परमात्मा ने तुझे काव्य रूप बनाया है
एरडरी : मुझे मालूम नहीं कि काव्यमय का क्या अर्थ है ?
क्या यह शब्द और कार्य में ईमानदार है
क्या यह सच्ची वस्तु है--
टचस्टोन : नहीं, सचमुच—जितनी कविता सच्ची होगी
उतनी काल्पनिक—झूठी है,
और प्रेमी तो कविता के प्रेमी होते हैं
कविता में वे जिसकी क़सम खाते हैं--
प्रेमी के रूप में उसे ही झूठ सिद्ध करते हैं
इस प्रकार आश्चर्यपूर्ण मिथ्या
कवि का व्यापार है !''

यह सिद्ध करने के लिए कि प्रेमियों के सम्बन्ध में टचस्टोन ने जो कहा है सत्य है निम्न उदाहरण दिए जाते हैं :

''मेरा ऐश्वर्य उतना ही असीम है जितना कि समुद्र
मेरा प्रेम उतना ही गहरा है जितना कि समुद्र''
या
''और मैं हे मेरे प्रिय ! मैं तुझे तब तक प्यार करूँगा,
जब तक कि सब समुद्र सूख जाएँगे,

जब कि सब समुद्र सूख जाएँगे
और धूप में चट्टानें पिघल जाएँगी ।"

क्या हम इन बातों पर विश्वास कर सकते हैं ? परन्तु भावों की अतिशयोक्ति के बिना कविता संभव नहीं है। कीट्स कहता है : "कविता का काम सुन्दर अतिशयोक्ति से विस्मित करना है ।" परन्तु वह किस प्रकार मिथ्या (Feign) से विस्मत करता है ? शेक्सपिअर इसका 'मिड समर नाइट्स ड्रीम' में थीसियस के द्वारा उत्तर देता है :

"कवि की आँख; सुन्दर पागलपने में भटकती हुई
आकाश से पृथ्वी
और पृथ्वी से आकाश पर
दृष्टि डालती है ।
और, ज्यों ही कल्पना
अज्ञात वस्तुओं को शारीरिक रूप में
प्रकट करती है,
कवि की कलम उन्हें आकृति प्रदान करती है
वह वायवी न-कुछ को
नाम और स्थानीय जगह प्रदान करती है ।"

गेटे ने कविता के जन्म का वर्णन किया है । 'मैंने अपने में प्रभावों को एकत्रित किया—सैकड़ों प्रकार के प्रभाव—ऐन्द्रियिक, जीवनपूर्ण , सुन्दर, कई रंगमय—जैसे कि किसी सजग, काल्पनिक शक्ति ने उन्हें प्रस्तुत किया हो।' "इन मूर्त्ति-कल्पनाओं के जमघट से" जैसा कि विलियम जेम्स कहता है, —"जीवन के अनुभव की अराजकता जो कि ऐसे अनुभवों से सम्पन्न है—कवि चुनता है और उनसे चुनता है जो कि उस समय उसके कार्य के अनुकूल होते हैं ।" काव्य-कल्पना की उसने पवित्र-प्रेत से सुन्दर तुलना की है जो कि अराजकता पर चिन्तन कर रहा है । प्रत्येक कविता सृष्टि का नया कार्य है । अतएव कवि विस्तृत और विभिन्न अनुभवों की तलाश में रहता है । कीट्स ने अपने एक पत्र में लिखा था : 'Oh for a life of sensations, rather than of thoughts' 'विचारों की अपेक्षा इन्द्रियानुभूति के जीवन, आह तुम्हारी चाह !' उसके मित्र हेडोन ने उस कहानी को लिपिवद्ध किया है कि उसने किस प्रकार शैम्पेन की स्वादिष्ट ठंडक के आनन्द की तीव्र अनुभूति पाने के लिए एक बार अपनी ज़बान पर काली मिर्च को छिड़क लिया था ।

शक्तिपूर्ण भावों के स्वाभाविक उद्रेक से कवि कविता की रचना प्रारम्भ करता है और ज्यों ज्यों वह अपने उपचेतन प्रदेशों से मूर्त्ति-कल्पनाओं के जमघट से निकल कर आगे आगे बढ़ता जाता है जिससे कि उसका मन पूर्ण है, वह चयन करने लगता है । वे अनुभव एक आकृति बन जाते हैं—परन्तु वे स्वाभाविक होने चाहिएँ अनिच्छापूर्ण नहीं । कीट्स एक और स्थान में कहते हैं :

'सूर्य के समान मूर्त्ति-कल्पना का उदय, प्रगति और समाप्ति उसके लिए स्वाभाविक होने चाहिएँ—उसका प्रकाश और अस्त प्रशान्त होना चाहिए—चाहे वह ऐश्वर्य-पूर्ण हो, गोधूलि की सम्पन्नता में उसे छोड़ते हुए।' जो कुछ ब्लेक ने लिखा वह बहुत ठीक प्रतीत होता है :

"तुम जानते हो कि बच्चे का अर्थ क्या है !
यह रेत के कण में विश्व को देखना है
एक जंगली फूल में बसा हुआ स्वर्ग है
आपकी हथेली पर यह रखी हुई अनन्तता है
एक घंटे में बँधा हुआ चिरकाल है ।"

और, जब तक कि कवि छोटे बच्चे न बन जाएँ—वे स्वर्ग के राज्य में प्रविष्ट नहीं हो सकते या परनेसस की सीढ़ियों पर नहीं चढ़ सकते ।

परन्तु सच्चे कवि की मूर्त्ति-कल्पना उसकी अपनी होती है । अन्ततः गीत की शाश्वत विषय-वस्तु क्या है ? प्रकृति, प्रेम, मृत्यु—साधारण विषयों की परिसमाप्ति कर देते हैं ।

"संभवतः करुणा-गीत प्रवाहित होते हैं
पुरानी, दुःखी, दूरस्थ वस्तुओं के विषय में
और युद्धों पर जो बहुत समय पहले लड़े गए थे,
या यह कोई अत्यन्त साधारण गीत है
कोई दैनिक जीवन का परिचित विषय है
कोई स्वाभाविक शोक, हानि या दुःख,
जो हो चुका है और या फिर हो सकता है ।"
--वर्ड्सवर्थ

पुराने विषय तो शाश्वतिक हैं । प्रेम प्रत्येक प्रेमी के लिए जो प्रेम करता है एक चकाचौंधी चमत्कार है मानों असंख्यों ने सृष्टि के प्रारम्भ से कभी प्रेम ही नहीं किया । "मृत्यु मेरे और तुम्हारे लिए तुच्छ नहीं है क्योंकि यह

जीवन के प्रारम्भ से ही सर्वसामान्य रही है और न चाँद और तारे पुराने हुए हैं क्योंकि असंख्य शताब्दियाँ—बेबीलोन और ईजिप्त की नदियों की किनारे या इज़राइल के पर्वतों और चरागाहों में व्यतीत हो चुके हैं, या अरब की विस्तृत शान्ति में मनुष्यों ने उनको देखा, बार बार सोचा, विस्मय किया और सपने लिए।"—**लोवेस**

इन विषयों को चित्रित (Illustrate) करने के लिए उपमाएँ असमाप्य हैं, मूर्त्ति और मूर्त्ति-कल्पनाओं का कहीं अन्त नहीं है । परन्तु चिरकाल तक रहनेवाली अत्यन्त प्रभावशाली समानताएँ वे होती हैं जो कि सूर्य, चन्द्र, तारों, आकाश और विस्तृत समुद्र से ली जाती हैं।

उपमाएँ अनन्त हैं परन्तु भावात्मक महत्व को प्राप्त करने के लिए कवि ऐसी मूर्त्ति-कल्पना का प्रयोग करता है जिससे उसकी तात्कालिक मानसिक स्थिति प्रतिबिम्बित हो जाए। चन्द्र को कविता में कितना अधिक प्रयोग में लाया गया है और कितने भिन्न भिन्न प्रकार से। अपने प्रेमपात्र के मुख से उसकी प्रायः तुलना की जाती है। एक कवि चन्द्र और तारों की तुलना परी-लोक की देवी से करते हैं और उसका सेवक कहता है :

"मधुर आना
कोमल और कृतज्ञ संध्या का, फिर रात्रि का
अपने इस गम्भीर पक्षी के साथ—
इस सुन्दर चन्द्रमा के साथ
और इन स्वर्ग के रत्नों के साथ—
उसकी तारों की-सी रेलगाड़ी के साथ।"

सरोजिनी नायडू चन्द्रमा को 'आकाश के माथे पर शीर्षफूल' कहती हैं। और उनके भाई हरीन्द्रनाथ ने कोठरी में बन्द एक अपने साथी क़ैदी के विषय में जो कि कवि नहीं था प्रस्तुत लेखक को बताया : वह चाँद की उपमा जेल की चपाती से देता था। वह कहता था कि चाँद एक बड़ी चपाती है जिसे कि १५ दिन में धीरे धीरे टुकड़े कर करके खाता है।

सर विलियम सिडनी के लिए चन्द्रमा उसकी तरह पीला प्रेमी है :

"हे चन्द्र ! तुम कितने दुःखी कदम रखते
आसमानों पर चढ़ते हो
कितने चुपचाप-कैसे उदासीन चेहरे के साथ
क्या ! क्या स्वर्ग में भी
कोई धनुर्धर है जो तेज़ तीर चलाता है।"

टौमस हार्डी चन्द्रमा को आकाश का शाश्वत प्रहरी समझता है जो कि मानव इतिहास के दुःखी अभिनय को देखता रहता है :

"चन्द्रमा ! तुम इसके विषय में क्या सोचते हो
जैसे कि तुम चलते जाते हो
ओ—मैं इसके विषय में सोचता हूँ—प्रायः सोचता हूँ
यह एक प्रदर्शन है
जिसे ईश्वर शीघ्र ही बन्द कर देगा
जैसे कि मैं जाता हूँ।"

डा० जौनसन उपमाओं की श्रेष्ठता के विषय में कहते हैं : "एक उपमा के पूर्ण होने के लिए यह आवश्यक है कि वह विषय को स्पष्ट करे और उसे उदात्तता प्रदान करे; उसे समझाने के लिए और भी अधिक स्पष्ट करे और कल्पना को अधिक गौरव के साथ चित्रित करे।' डा० जौनसन पोप की 'एसे आन क्रिटिसिज़्म' की उपमाओं को पसन्द करते हैं। इसमें एक विद्यार्थी की विज्ञान में प्रगति को एक यात्री की एल्प्स की यात्रा से तुलना की गई है। अंग्रेज़ी भाषा में यह सर्वोत्तम उपमा है।

कीट्स की 'टू होमर' कविता की पंक्ति 'मध्यरात्रि में कल का उगता प्रभात जगता है' की बहुत प्रशंसा की गई है परन्तु 'दि ओड टू ए नाइटेंगिल' कविता में पक्षी के गीत के विषय में कहते हुए :

"वही जो अनेक बार
जादुई झरोखों से आया है-
जो खुलते हैं फेनभरे
ख़ौफ़नाक समुद्रों पर
खोए हुए परी लोक में"

संभवतः क्लौड के 'दि एनचान्टेड केसल' के चित्र से उन्हें इस मूर्त्ति-कल्पना का संकेत मिला होगा।

अडोनीस में शैली की पंक्तियाँ :

"एक रहता है और अनेक
बदलते और चले जाते हैं
स्वर्गिक प्रकाश ज्योतित रहता है,
मृत्यु-लोक की छायाएँ उड़ जाती हैं
जीवन अनेकरंगी काँच के ढक्कन की तरह

१६५३

शाश्वतता की श्वेत चमक को मंद कर देता है"

हेनरी वौगन की पंक्तियाँ 'वर्ल्ड' कविता में :

"उस रात मैंने शाश्वतता को देखा
अन्तहीन शुद्ध प्रकाश के गोले की तरह चलते हुए—
चारों ओर वैसी ही शान्ति, जैसा कि प्रकाश था
चारों ओर नीचे को समय, घण्टों,
दिनों और वर्षों के रूप में
खगोलों के द्वारा हाँके जाते
एक अन्तहीन छाया की तरह चलते हुए
जिसमें कि सृष्टि और
उसके सारे उपादान बहे जा रहे थे।"

इसी तरह शेक्सपिअर आदि से बहुत से उदाहरण लिए जा सकते हैं।

आधुनिक कविता में । कुछ कवि एक युग के नहीं समस्त युगों के होते हैं—कविता अपने युग को प्रतिच्छायित करती है। एलिज़ाबेथयुगीन कविता उस युग की है जो साहसिकता, अनुसन्धान, शक्ति और समृद्धि का था। विक्टोरिया-युग की कविता निराशापूर्ण, गम्भीर, भावना-प्रधान साम्राज्यवादी है। हमारा आधुनिक विश्व, विज्ञान का विश्व कहलाता है। विज्ञान ने हमें नए आविष्कार, नए विचार और नए अनुभव दिए हैं। अब रोमांटिक भावना और शुद्ध नैतिक दृष्टिकोण के स्थान पर वैज्ञानिक दृष्टिकोण प्रधान हो गया है। प्रथम विश्व-युद्ध के पूर्व हमें मूर्त्ति-कल्पनावादियों और प्रतीकवादियों की कविता मिलती है। दो विश्व-युद्धों ने, जिनमें भयानक विनाश हुआ है, मनुष्य की आशाओं को तोड़ दिया है और उसका प्रगति में विश्वास नष्ट हो गया है। हमारा युग निराशा का युग है। टी. एस. इलियट की 'वेस्ट लैण्ड' कविता हमारे युग की मानसिक स्थिति की द्योतक है।

ये कवि हमारे सामने कैसी मूर्त्ति-कल्पनाएँ खींचते हैं! यह कविता टी. एस. इलियट की है। इसका शीर्षक है: 'दि लव सौंग ऑफ एलफ्रेड प्रूफ्रोक':

"आओ विदा लें तुम और मैं
जब कि आकाश के आँगन में संध्या घिर आई है
मेज पर सोए हुए रोगी को
संज्ञाहीन करने के लिए दवा-सी देती हुई"

यह मूर्ति-कल्पना मौलिक और प्रभावोत्पादक है। इसके बहुत-से प्रशंसक हैं परन्तु मुझे यह अच्छी नहीं प्रतीत हुई।

कवि किसी भी वस्तु को काव्यात्मक बना सकता है यदि उसकी कल्पनात्मक प्रतिक्रिया प्रबल हो। जेम्स थोम्पसन की प्रतिक्रिया प्रबल है :

"जैसे हम दौड़ते हैं, दौड़ते हैं—रेलगाड़ी में
पेड़ और घर घूमते हुए पीछे भागते हैं
परन्तु मैदानों के ऊपर के तारों के स्वर्ग
उड़ते हुए हमारे मार्ग पर आ जाते हैं।

आकाश के असंख्य सुन्दर सितारे
रात के जंगल के श्वेत पंछियों की तरह
इस उदास पृथ्वी पर झुंड के झुंड
आकर उड़ते हैं!

हमारी मन की उड़ानों के साथी
निर्भय होकर हम आगे ही उड़ते जाएँगे
मंज़िल दूर है—इससे क्या,
द्रुतगामी जहाज से हम जाते हैं—
जब कि पृथ्वी हमारे पैरों से छूटती—सरकती है
प्रिय हम अपने साथ अनेकों स्वर्ग लिए जाते हैं!"

यह कविता मुझे तत्काल प्रभावित करती है। स्टीफन स्पेन्डर की कविता के सम्बन्ध में भी यही बात है :

रात की एक्सप्रेस

"पहली शक्तिशाली और स्पष्ट घोषणा के बाद
पिस्टनों की काली विज्ञप्ति देकर
बिना अधिक हलचल के
किन्तु एक रानी की तरह मन्थर गति से
वह स्टेशन से चलती है

... ...

वहाँ उस मीनार के पार जहाँ खुला मैदान है
अपनी गति को तेज करती हुई वह
रहस्यमयी बन जाती है।

समुद्र पर प्रकाशमय आत्मविश्वास के साथ
जाते हुए जहाज़ की तरह
अब वह गाने लगती है, पहले बहुत धीमे,
फिर तेज और अन्त में पागलों-सी उन्मत्त होकर
मोड़ पर ज़ोर से बजती सीटी का गीत
सुरंगों में कर्णगह्वरों को गुँजाती
ब्रेक और असंख्य बोल्टों की आवाज़
उसके चलते हुए चक्कों का उठता हुआ गीत!"

आधुनिक कवियों के एक फ्रांसिसी स्कूल ने घोषणा की कि वे कविता के उन विषय तत्वों पर लिखना चाहते हैं जो आधुनिक शहरों में मिलते हैं—इंजनों, विमानों, सबमेरिनों, हुंडी की लेन-देन की जगहों, वाल स्ट्रीट या गेहूँ के गोदामों, प्रत्येक वैज्ञानिक आश्चर्य या फेक्टरियों और रेल के मधुर गीतों में पाए जाते हैं। एजरा पाउण्ड कहती हैं कि यह कवि का कार्य है कि वह ऐसे विषयों का अनुभुतिपूर्ण चित्रण करे।

वाल्ट विटमैन ने अपनी 'वेरस लिवरा' में लिखा है :

"मकान बनाना, नापतोल, सूचना बोर्डों को रंगना
लुहार का काम, कनस्तर बनाना
टिन रोपना, लकड़ी की छतें बनाना
जहाज़ों को बाँधना,
माल उतारने चढ़ाने की जगह बनाना
मछलियों पर नमक चढ़ाना
जीर्ण वस्त्रों को सींना
फ्लैगरों के साथ चलना
पम्प, लट्ठे गाड़ने का यन्त्र,
भार उठाने का विशाल यन्त्र
कोयले की भट्टी
भट्टी का कालापन
कसाई की दूकान पर गाय का माँस
कसाई का कसाईघर
और कसाई के पहने हुए खून लगे कपड़े
मवेशियों का बाड़ा
काटने का बड़ा चाकू
काँच के बर्त्तन साफ़ करनेवाले का
खौलते पानी का टब
गट्ठर बाँधनेवाले का लकड़ी का हथौड़ा,
सर्दी में सुअर के माँस को बाँधने का विपुल कार्य
ये सब दृश्य तुम्हारे सामने रहते हैं,
दिन और रात ओ कार्यव्यस्त व्यक्ति!
कोई भी हो तुम, कैसा भी हो तुम्हारा दैनिक जीवन।
इनमें है यथार्थ तुम्हारे और मेरे जीवन का,
इनमें हैं गीत तुम्हारे और मेरे लिए
इनमें है विकास का अवसर, इनमें हैं विषय
संकेत, संभावनाएँ।"

परन्तु आजकल विपुल संख्या में लिखी जानेवाली आधुनिक कविता से मैं अप्रभावित रहता हूँ। मैं उनकी प्रशंसा के लिए यह स्वीकार करने के लिए तत्पर हूँ कि मुझमें उनके लिए रुचि नहीं है। मैं परम्परावादी हूँ और अन्त तक अपनी रुचि के विरुद्ध नहीं जाता या अभी हम आधुनिक वैज्ञानिक संस्कृति, आधुनिक प्रभावों और अनुभवों को पचा नहीं सके हैं।

जो वस्तुएँ सुन्दर हैं वे सदा हमारी प्रशंसा और पूजा-भाव को जागृत करती रहेंगी।

"चाँदनी रात में उपवन में खिला हुआ गुलाब का एक फूल, हरी घास पर पेड़ों की छाया, खिले बादाम, देवदार की सुगन्ध, शराब का प्याला और सारंगी की तान; यह तथा जीवन और मृत्यु का करुण गीत, एक दृढ़ आलिंगन, रिक्त फैले हुए बाहु, एक क्षण जो सदैव के लिए दूर चला जाता है, अपने संगीत और प्रकाश की स्मृति के साथ विगत घरेलू धन्धों की छाया और उलझन में, वह सब जिसे हम प्यार करते हैं, वह सब जो हमें छल कर चला जाता हैं, पंख फैलाए पक्षी की तरह, हवा में बह जाती सुगन्ध की तरह, इन सब से प्रभावित होने के लिए हमारी रुचि परिष्कृत होती है और इसके प्रभाव को साहित्य की संज्ञा से अभिहित किया जाता है।

— एम. एस. दोरास्वामी

उस्मानिया यूनिवर्सिटी,
हैदराबाद

विक्तर ह्यूगो

(१८०२—१८८५)

विक्तर ह्यूगो का जन्म और कार्य क्षेत्र फ्रांस था। आज वह सारे संसार की स्वतंत्रता, सुखी जीवन और शांतिकामी जनता के अपने हो गए हैं। विश्व-संस्कृति के महान् प्रतिनिधियों में उनका स्थान अमर हो गया है। आए दिन जिस उत्साह और हर्ष के साथ अल-वैरुनी (९७३-१०४८), बू-अली सीना (९८०-१०३७), लियोनार्दो द विंची, गोगोल आदि की सहस्राब्दियाँ अर्द्धसहस्राब्दियाँ, शतवार्षिकियाँ सारे संसार में मनाई जा रही हैं, उसी उत्साह और हर्ष के साथ विक्तर ह्यूगो का पर्व भी मनाया जा रहा है। इन उत्सवों के द्वारा हमें नए सिरे से अपने इन महान् पुरुषों के जीवन और कार्य से परिचित और प्रेरित होने का अवसर मिलता है और हम उनके जनवादी समाज-कल्याणकारी विचारों से लाभ उठा सकते हैं। जाति विशेष के महान् विचारकों से परिचित होने, उनके निकट आने और इससे अपने जीवन को समृद्ध करने का भी मौक़ा मिलता है।

ह्यूगो ने फ्राँसीसी साहित्य के सभी अंगों को समृद्ध किया। कवि, नाट्यकार, उपन्यासकार के अतिरिक्त वे राजनीतिक विषयों के भी अच्छे लेखक और सुवक्ता थे। पिछली शताब्दी के फ्रांसीसी जनवादी छायावादियों में ह्यूगो का स्थान प्रमुख है। अपने पूर्ववर्त्ती और समकालीन प्रूधों, ओवेन, गाडविन काल्पनिक समाजवादी महान् विचारकों के प्रभाव के कारण मनुष्य और उसकी महान् शक्तियों में पूर्ण विश्वास रखते थे। कविताओं में ही क्या, यह बात उनकी गद्य रचनाओं में भी जीती जागती दिखाई पड़ती है।

उन्नीसवीं सदी के फ्रांसीसी साहित्य की बलज़ाक, ज़ोला के साथ ही ह्यूगो को छोड़ कर कल्पना ही नहीं की जा सकती। इस शताब्दी के फ्राँसीसी साहित्य की शक्ति और दुर्बलता, दोनों ही ह्यूगो की रचनाओं में दिखाई पड़ती हैं।

ह्यूगो के पिता एक साधारण आदमी थे। राजनीति में वे रिपब्लिकन मत के माननेवाले थे। फ्रांसीसी क्रान्ति में अपनी कुशलता से वे नेपोलियन की सेना में जनरल के पद पर पहुँच सके थे। उनकी माँ १७९३-९५ में राजा का पक्ष लेनेवाली पार्टी की जबर्दस्त समर्थक थीं।

ह्यूगो का प्रारम्भिक जीवन इन्हीं दोनों परस्पर विरोधी विचारों की आब-हवा में बीता। किशोरावस्था में नेपोलियन की विजयी सेना के साथ यूरोप के विभिन्न देशों की खाक छानते हुए उनकी शिक्षा हुई। जीवन-यात्रा के पहिले उन्होंने यूरोप के देशों की यात्राएँ कीं। "हमारे विजयी सैनिक शिविरों के साथ मैं पराजित यूरोप में भटकता रहा, जीवन के पार जाने के पहिले मैं पृथ्वी के आरपार घूमा।"*

साहित्यिक जीवन के प्रारम्भ में कैथलिक धर्म और राज्यतन्त्र की प्रशंसा में लिखी कविताएँ ह्यूगो पर उनकी माता का प्रभाव बताती हैं। लेकिन १८३० के कुछ पहिले ही वह इससे मुक्त होकर समसामयिक छायावादी आन्दोलन के प्रगतिशील प्रतिनिधि के रूप में सामने आए।

ह्यूगो ने अपने इस काल के नाटकों में जनता की भाषा को अपना कर प्राचीन परम्परा को तोड़ने के लिए ज़बर्दस्त कदम उठाया।× ऐसा करके उन्होंने साहित्य को जीवन के और भी निकट लाने का प्रयास किया। "मैंने विधि-सम्मत नियमों को फीज़ियन टोपी पहना दी। कुलीनों की या सामान्य जनों की शब्दावली भिन्न नहीं होती। मैं यह घोषित कर चुका हूँ कि सभी प्रकार की शब्दावली एक ही होती है—निर्बन्ध और प्रसन्न।" ये शब्द उन्होंने अपने 'रे'पोन्स' के 'अन एक्टे द एक्यूज़ेशन' में लिखे। १८३० की राजतन्त्र विरोधी क्रन्ति के बाद ही 'नोटरे डेम द पेरिस' नाटक में उन्होंने लिखा कि अत्याचार और

---

* Odes et Ballads : Mon erfance;—les Rayons et les Ombres : ce qui se passait anx Fenillantines vres 1813; les contemplation: Aux Fivillantines.

× संस्कृत की भाँति दूसरी भाषाओं के सामन्ती नाटकों में राजा, आमात्य वर्ग की भाषा एक और स्त्री-पात्रों तथा नौकर चाकरों की भाषा दूसरी होती थी।

अन्याय के विरुद्ध जनता के रोष की गवाही पेरिस के पार्क दे रहे हैं। ह्यूगो ने अपनी रचनाओं को जनता के जीवन और भाग्य के निकट पहुँचाया। साधारण जनता के इसी नैकट्य के कारण वह फ्रान्स के महान् जनवादी लेखक बन सके। उन्होंने प्रतिगामी छायावादियों की भाँति संसार को सिर के बल नहीं खड़ा किया। अपने समकालीन लामार्तिन, विगनी, शेतोब्रियाँ आदि की कौलीन्यवादी-अनुदारता और उनके व्यक्तिवाद से उन्होंने अपने को मुक्त रखा। दिल और दिमाग का स्थान कल्पना को उन्होंने कभी नहीं लेने दिया। इसी बात से यूरोप के छायावादी युग में यथार्थवाद की नींव पड़ती है। १८२७ में लिखे 'क्रोमवेल' नाटक की भूमिका में यथार्थवादी कला के प्रति सहानुभूति प्रकट की। कलाकारों से उन्होंने अपील की कि वे ऐतिहासिक सत्य के प्रति वफादार रहे, स्थान और काल को सचाई के साथ चित्रित करें।

'लेस ओरिएंटल्स' (१८२६) काव्य, 'नोर्टे डेम द पेरिस' (१८३१) नाटक इस बात की गवाही देते हैं कि इनका लेखक अपने समय के जनवादी आदर्शों के साथ रहा। झंकारमयी 'कानारिस' कविता में केवल भव्य चित्र ही नहीं बल्कि तुर्क साम्राज्यवाद के विरुद्ध ग्रीक देश भक्त का जय गान भी गाया है। 'लेस फेनिलेज़ द ओटेमेन' (१८३१) में पूँजीवादी शहर के सर्वहारा मेहनतकश के साथ सहानुभूति प्रकट की है। इस समय तक ह्यूगो का हृदय सभी तरह के अत्याचारों के विरुद्ध घृणा से भर गया था। इस काव्य में उन्होंने लिखा :

"जब मैं सुनता हूँ, इस पृथ्वी पर किसी स्थान में कोई राष्ट्र अपनी दासता के भयंकर जुए में पिस रहा है और वह उसी तरह सहायता के लिए पुकार रहा है जैसे कि दुःख के कंटकों से पीड़ित हमारी मातृ-भूमि ग्रीस पुकार रही थी—या जैसे क्रॉस पर टँगे आयरलैण्ड का खून बह रहा था और वह मृत्यु से पूर्व पीड़ा से कराह उठता था, जब शृंखलाओं में बँधे ट्यूटोनिया को दस सम्राटों के दमन को सहना पड़ रहा था और आवाज नहीं निकलती थी; बेलजियन शेर को बैल की तरह अपना सिर झुका कर जुए में डाल देना पड़ा था और वह अपनी रास को दाँतों से काट भी नहीं पाता था—तब मैं निरंकुश शासकों को अभिशाप देता हूँ और अनुभव करता हूँ कि कवि ही उनका न्यायाधीश है! मैं प्यार, कुटुम्ब व बच्चों को, शान्ति की स्निग्धता और सुख के गीतों को भुला देता हूँ और अपनी वीणा पर प्रलय के तराने छेड़ता हूँ।"

'नोट्रे डेम द पेरिस' में पन्द्रहवीं शताब्दी का कथानक और चित्र होने पर भी ह्यूगो ने जिस सहानुभूति के साथ इस तत्कालीन सामन्ती नगर की तथाकथित सभ्यता द्वारा परित्यक्त गरीबों का जीवन, इसके ऐतिहासिक स्मारकों इमारतों आदि का चित्र उपस्थित किया है उससे पता चलता है कि वह अपने देश से कितनी मुहब्बत करते थे। राजा और पुरोहितों के अत्याचार के विरुद्ध जिस बहादुरी से उस समय जनता उठ खड़ी हुई थी इसका प्रभाव भी इस पुस्तक के प्रकाशन के बाद समकालीन घटनाओं पर पड़े बिना नहीं रहा।

अब से सामाजिक न्याय ह्यूगो की रचनाओं का मुख्य प्रतिपाद्य विषय-सा हो गया। उन्होंने १८३० की जुलाई क्रान्ति की प्रशंसा की, उसमें वीरगति को पाने वाले योद्धाओं को बड़े गौरवपूर्ण शब्दों में याद करते हुए कविताएँ लिखीं। उनके 'ले रोइ द म्यूज़' (१८३२) और 'रुयी ब्लास' नाटक राज्यतन्त्र विरोधी हैं। पहिले नाटक को सरकार ने खेलने नहीं दिया। इसकी भूमिका में उन्होंने लिखा : "अनेक प्रश्नों पर विचार करने के लिए हम बाध्य होते हैं। कहाँ है कानून? कहाँ है अधिकार? क्या साधारणतया इस प्रकार की घटनाएँ सम्भव हैं? क्या तथाकथित जुलाई क्रान्ति वास्तव में कभी घटित हुई थी?"

बलज़ाक ने 'ला पीअन द चापग्रिन' (१८३१) अधिक अन्तर्दृष्टि के साथ लिखा : "प्रशासन अर्थात बैंकिंग और कानून की नौकरशाही ने फ्रांसीसी जनता को नए शब्दों और पुराने विचारों की चकाचौंध से भरमाने की आवश्यकता को अनुभव किया।"

राजतन्त्र पर प्रहार करते हुए ह्यूगो उसके तत्कालीन रूप के विरोधी नहीं रहे। १८४१ में वह 'फ्रांसीसी' के सदस्य और १८४५ में फ्रांस के मेयर बनाए गए। लेकिन १८४८ की क्रान्ति के बाद उनके विचार फिर बदले। अपनी राजनीतिक अनुदारता छोड़ी। विधान परिषद् के सदस्य चुने गए। प्रजातन्त्री शासन-व्यवस्था का समर्थन करने लगे।

महान् रूसी क्रान्तिकारी जनवादी विचारक चर्नेशेवस्की का कहना ठीक था कि ह्यूगो के राजनीतिक विचारों को अवसरवादिता नहीं कह सकते, यह एक गुमराह नरमदली का अपने आदर्शों की सचाई के पीछे भटकना है।

१८५३

१८ वें लुई बोनापार्ते के विद्रोह के बाद हम ह्यूगो को उसके घोर विरोधी के रूप में पाते हैं। अपने निर्वासन के उन्नीस वर्षों तक ह्यूगो लगातार इस 'मुकुटधारी डाकू' के खिलाफ निरन्तर लड़े । उनकी कविताएँ इसकी साक्षी दे रही हैं । एक कविता में घोर व्यंगोक्ति के साथ उन्होंने लिखा :

"आगे ओ मुंडवालों !
अपनी शर्म कोछुपाओ
देखो कहाँ हैं जनता के प्रतिनिधि
हथिया लेनेदो लुटेरों को सत्ता ।"

ये पंक्तियाँ आज भी जनता की ज़बान पर हैं और आए दिन के संघर्षों में एक जबर्दस्त हथियार का काम कर रही हैं। पिछले युद्ध में नाजियों के विरुद्ध और आज अमरीकी साम्राज्यवादियों के विरुद्ध जनता में जोश भर रही हैं।

अपनी कविता 'कार्टे डि यूरोपे' में युद्ध के अत्याचार और खतरे का उल्लेख करते हुए लिखा है :

"चारों ओर तलवारों और भालों की खड़खड़ाहट
सुनाई पड़ती है—
बलिवेदी के नंगे रक्त कुण्ड
जहाँ-तहाँ दृष्टिगत होते हैं ।"

'निर्मम कत्लेआम से अर्धमृत' पेरिस अपनी सड़कों से खून के धब्बे नहीं धो सकता । 'खूनी रूसी ज़ार' ने विशाल देश को कारागार में बदल दिया है । इटली, जहाँ ईश्वर ने ईडन का नन्दन-कानन बनाया, वहाँ आज गुलामी पनप रही है; वेनिस जेल और नेपल्स भयानक क़ब्रगाह है ।"

कवि ने आनेवाली पीढ़ी को लक्ष्य करके लिखा है कि वह गुलाम जनता के लिए स्वतंत्रता लाएगी, मुट्ठी भर धनिकों और अनगिनत ग़रीबों के बीच की खाई को पाट देगी।

फ्रांस के लिले शहर के मज़दूरों के नारकीय जीवन का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं कि मैंने इस नरकुण्ड की ज़िन्दगी, इसकी ग़रीबी और भूख को देखा है :

"ज़िन्दगी की गुफ़ाएँ ! उनके कलापूर्ण मेहराब
ये और रुदन, मैंने सुना है मौत को गहरी
कालिमा के बीच खड़खड़ाते हुए ।"

धनियों को सम्बोधित करके उन्होंने लिखा :

"क्या वे कभी समझेंगे ? कण कण करके इन नमी की दीवारों से घृणय सम्पदा एकत्रित की गई है—इन काली गुफ़ाओं से, इन ग़रीब दिलों से ।"

अन्त में उन्हें चेतावनी देते हुए कहते हैं : "नीच जल्लादो ! हँस लो । अत्याचारित फ्रांस इसका पूरा बदला चुका कर रहेगा ।"

'चेटिमेन्टस्' शीर्षक काव्यमाला में उन्होंने शोषकों से चोली दामन का सम्बन्ध रखनेवाले पुरोहितों और पोप की खबर ली है । पोप को 'रक्षक नहीं बल्कि जनता के लिए जल्लाद' लिखा है ।

तुर्क साम्राज्यवाद के पक्ष में जब ब्रिटेन के बाद फ्रांस ने भी रूस के विरुद्ध युद्ध घोषित करके नेपोलियन तृतीय ने अपने अभिषेक में पोप का आशीर्वाद पाना चाहा तो उन्होंने लिखा : "एक वेश्या को किस प्रकार वश में किया जाता है ? पोप को किस प्रकार वश में किया जाता है ? जेरिमिया ने जेरुशलम के लिए और लूथर ने रोम के लिए पुकार कर कहा था : वेश्या ! एम० बोनापार्ट ने पोप को एक भेंट देने का निश्चय किया है—यही रास्ता है ईश्वर को समाधि देने का ।"

लेखक का परम् पवित्र कर्त्तव्य है कि अपनी जनता को सजग बनाए, उसकी ज़िन्दगी को सुखी और समृद्ध बनाने के लिए शिक्षित करे, हर तरह की धोखेबाज़ी से उसे आगाह करते चले । ह्यूगो ने अपने इस कर्तव्य को निभाने के लिए वैटिकन तथा उसके इज़ारदारों का डट कर मुक़ाबला किया :

"जनता के लिए कार्य करने की अत्यन्त आवश्यकता है। पुस्तकों के द्वारा नासमझ भीड़ को वास्तविकता जनता के रूप में बदलना कवि का कर्त्तव्य है । यही कार्य है जिसके प्रति समाजवादी कहलानेवाले व्यक्तियों ने पिछले चालीस वर्षों से अपने आप को समर्पित कर दिया है ।"

निर्वासन में ह्यूगो ने फ्रांस के लिए ही नहीं बल्कि इटालवी एकता और स्वतंत्रता के नेता गैरीबाल्डी के पक्ष में, संयुक्त राष्ट्र अमरीका के दक्षिणी राज्यों के हब्सी गुलामों की बग़ावत के फांसी की सज़ा पाए हुए नेता जान ब्राऊन के पक्ष और क्रीट की आज़ादी के रण बाकुरों के पक्ष में लेखनी उठाई । ब्राऊन की फाँसी पर लिखा : "अमेरिका यह जान ले और इस पर ग़ौर करे—केन ने ऐबल का वध किया बात इतनी-सी नहीं है, वह इससे

कहीं भयंकर है, वाशिंगटन ने आज स्पार्टेकस का वध किया है ।"

ह्यूगो ने फौज के पीछे जनता की गाढ़ी कमाई को खर्च करने का कितनी ही बार विरोध किया है । वे कहा करते थे कि इस पैसे को जनता की भलाई के लिए शान्तिपूर्ण निर्माण के कामों में खर्च किया जाना चाहिए । २१ अगस्त १८४६ में पेरिस में होनेवाले अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति काँग्रेस में दिए गए अपने भाषण में कहा था :

"यूरोप के राष्ट्रों के बजट और आँकड़ों को जाँचने से इस तथ्य का पता चलता है कि यूरोप के राष्ट्र प्रति वर्ष सेना संचालन के लिए दो खरब रुपए खर्च करते हैं ; युद्ध की सामग्री का व्यय इसके अतिरिक्त होता है । इस प्रकार व्यय तीन खरब हो जाता है, इस पर दो अरब से अधिक व्यक्तियों के उत्पादन-कार्य न करने के कारण उत्पादन में होनेवाली क्षति की गणना नहीं की जा सकती । सबसे स्वस्थ, शक्तिशाली और युवा, प्रत्येक राष्ट्र के सबसे समर्थ लोगों के उत्पादन-कार्य न करने की क्षति को यदि कम से कम एक खरब आँका जाए तो हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि यूरोप स्थायी सेनाओं पर प्रति वर्ष चार खरब खर्च करता है । श्रीमन्, पिछले बत्तीस वर्षों से शान्ति रही है और शान्ति के इन बत्तीस वर्षों में १२८ खरब की विपुल राशि का युद्ध पर व्यय हुआ है ! कल्पना कीजिए, यदि यूरोप की जनता एक दूसरे के प्रति अविश्वास, ईर्ष्या और घृणा का व्यवहार न रख कर एक दूसरे से प्रेम करे, कल्पना कीजिए फ्रांसीसी, अंग्रेज़ या जर्मन होने के पहले इन देशों के लोग अपने को मनुष्य समझें—अपने देशों को घर और मनुष्य जाति को एक कुटुम्ब और यह १२८ खरब की विशाल राशि जो मूर्खता से अविश्वास पर व्यय होती है—एक दूसरे के प्रति विश्वास जगाने में व्यय की जाए, यह १२८ खरब जो घृणा पर व्यय होता है, सहयोग पर किया जाए, यह १२८ खरब युद्ध की अपेक्षा शान्ति पर व्यय हो, श्रम, बुद्धि, उद्योग, जल-यात्रा, वाणिज्य, कृषि, विज्ञान और कला पर तो कल्पना कीजिए उसके परिणाम का ! यदि ३२ वर्ष तक यह १२८ खरब का विपुल धन इन बातों पर व्यय होता और उस पर अमेरिका ने जो सहायता यूरोप को दी है—जानते हो उससे क्या हो सकता था ? अब तक संसार का रूप ही बदल गया होता । नदियों पर जाल बिछे होते, पर्वतों की छातियाँ चीर दी गई होतीं, दोनों महाद्वीपों पर हर रास्ते रेल की पटरियाँ गड़ी होतीं, व्यापारिक जहाज सौगुने अधिक हो गए होते, बंझर न होते, जमीन कहीं बिना जुती हुई न दिखाई देती, दलदलवाली जमीन न रहती, जहाँ इस समय रेगिस्तान है वहाँ नगर बन गए होते और जहाँ इस समय समुद्रों के किनारे पर्वत शृंग दिखाई देते हैं वहाँ बन्दरगाह बने होते ।

"श्रीमन्, विचार कीजिए युद्ध के लिए तैयार रहने वाले राष्ट्र और उनके नेता कैसी अंधी दौड़ दौड़ रहे हैं । ३२ वर्ष तक १२८ खरब युद्ध के लिए खर्च किए गए—युद्ध जो इन ३२ वर्षों में हुआ नहीं—यदि यूरोप में यह धन शान्ति की स्थापना के लिए खर्च किया जाता जो इस समय यूरोप में रही तो हम डंके की चोट कह सकते हैं यूरोप का वह रूप आज नहीं होता जो आपके सामने है : हमारे महाद्वीप का रूप एक युद्ध-क्षेत्र के बदले कारखाने का दिखाई देता और मानुषीय राजनीति के वश हुए पिडेमोन्ट और अनन्त नगरी रोम के दर्दनाक दृश्य, वीरतापूर्वक लड़नेवाले हंगरी और वेनिस का यह रूप और अशान्ति और दारिद्रय में पिसते हुए अभागे फ्रांस को न देखना होता : अपने चारों ओर दुःख, रुदन, घरेलू युद्ध और अनजाने भविष्य के बदले हमारी आँखों के सामने आशा, आनन्द, उदारता और सब जन हिताय समृद्धि प्राप्त करने के प्रयत्नों का दृश्य होता और हम अपनी कार्यरत सभ्यता से विश्व-सामञ्जस्य की किरणों को विकीर्ण होते हुए पाते ।"

आज अमरीकी साम्राज्यवादी मालथस के बड़े भक्त हो गए है । इस ब्रिटिश पादरी ने १७६८ में अपने 'ऐसे ओन पोपुलेशन' में इस झूठ का प्रचार किया कि दुनिया की आबादी जिस हिसाब से बढ़ रही है उस हिसाब से जीवन धारण की सामग्री बहुत कम बढ़ रही है । अतएव उसने गरीबों को जन्म-नियन्त्रण का प्रवचन दिया जब कि उसके बिरादरी के पादरी आठ आठ, दस-दस बच्चे पैदा कर रहे थे । आज अमरीकी कहते हैं कि संसार में ७०-७५ करोड़ लोग ही सुख से रह सकते हैं । यह कह कर वे दुनिया की बाकी १६० करोड़ की आबादी को एटम बम खिलाने की भूमि तैयार कर रहे हैं । ह्यूगो मालथस के कट्टर विरोधी थे । उन्होंने लिखा है कि गरीबी को दूर करने के लिए जन्म-नियन्त्रण की आवश्यकता नहीं । सामाजिक व्यवस्था बदल देने पर अकेले फ्रांस की ही पैदावार से ३० करोड़ लोगों को खिलाया जा सकता

है, वहाँ की पैदावार को दस गुना बढ़ाया जा सकता है, उनके 'नाइनटी थ्री' नामक सामाजिक उपन्यास के पात्र इसी तरह का यथार्थवादी स्वप्न देखते हैं।

अपने निर्वासन के जीवन में बेकारी, गरीबी आदि की समस्याओं को ह्यूगो ने समाज की बुनियादी बुराइयाँ समझा। 'ला मिजरेबल्स' में उन्होंने इसी समस्या को लिया है। यह फ्रांस की जनता के जीवन का गद्य में महाकाव्य है। इस के बादवाले उनके दूसरे उपन्यासों का जो अपूर्व स्वागत हुआ वह उनके छायावादी दृष्टिकोण के लिए नहीं बल्कि जनता के संघर्षों के स्वागत, उसके जीवन के जोशीले चित्रण, उसके साथ एकात्म भाव के कारण ही हुआ।

२२ मई १८८५ को ह्यूगो की मृत्यु पर सारे फ्रांस में शोक छा गया। 'मार्सेल' (फ्रांस का राष्ट्रीय संगीत) गाते हुए लाखों ने उनकी अर्थी का साथ दिया और श्रद्धांजलियाँ अर्पित कीं। फ्रांस के पूँजीपतियों ने ह्यूगो को माफ़ नहीं किया है। जीवन काल में ही उन्होंने उसे तरह-तरह से बदनाम किया, कलंक मढ़े! आज भी वे चुप नहीं बैठे हैं। वे और उनके भाड़े के आलोचक ह्यूगो की महत्ता को मानने के लिए तैयार नहीं हैं। कोई उन्हें रहस्यवादी, कोई घोर कृपण, कोई विचारों को निरन्तर बदलने के लिए अहंवादी कहकर गालियाँ दे रहा है। 'पाह' नामक एक फ्रांसीसी पत्रिका ने उनकी ओर संकेत करते हुए लिखा है : 'प्रतिभा सदैव निम्न वासनाओं से प्रेरित होती है।'

१९४१ में पेरिस के 'विक्टर ह्यूगो उद्यान' से उनकी मूर्ति हटा दी। लेकिन फ्रांस की आज़ादी के योद्धाओं ने उनके L' Honneur des poets नामक दो खण्डों में प्रकाशित काव्य संचयन में उन्हें बड़े आदर के साथ स्थान दिया। 'अन्डर ग्राउन्ड रेजिस्टेन्स' के लेखकों ने अपनी पुस्तकों का नामकरण उनकी कविताओं से टुकड़े लेकर किया। १९५१ में पियेर द्य गल के सभापतित्व में चलने वाली पेरिस की म्युनिसिपल कौंसिल ने जिस वेदी पर ह्यूगो की मूर्ति स्थापित थी उसे भी हटवा दिया। उसकी जगह पर आज फोर्ड कम्पनी की एक मोटर का नमूना प्रदर्शनी के लिए रखा गया है। विक्टर ह्यूगो की मूर्ति की जगह फोर्ड कार का नमूना। यह है अमरीकी साम्राज्यवाद की नीति यूरोप के एक महान् कलाकार और योद्धा के प्रति।

१८७१ में ह्यूगो ने लिखा था : "राजा लोग किसका स्वप्न देखते हैं? युद्ध का। और जनता क्या स्वप्न देखती है? शान्ति का। जनता एक दूसरे को प्यार करती है और संगठित होती है। राजा लोग सोचते और युद्ध के लिए तैयारियाँ करते हैं जनता शान्ति के नाम पर किए जाने वाले उन कार्यों का विरोध करती है। यह विरोध भव्य है।"

ह्यूगो की अमरवाणी १८७०, १९१४ और १९३९ में गूँजी। आज भी वह संसार के इतिहास में सब से महान् और विशाल शान्ति आन्दोलन के बीच गूँज रही है।

फ्रांस के महान् कलाकार लुई आरागाँ ने ठीक ही कहा है : "कांसे की मूर्त्ति को हटाने या पुनर्स्थापित करने, मेंढ़कों के टर्र टर्र अथवा विद्युत संवेदन से विक्टर ह्यूगो की हमारे मध्य विद्यमानता में कोई अन्तर नहीं पड़ता। विक्टर ह्यूगो की आवाज़ तूफ़ानों में खो गई होती परन्तु जब वह महान् मानवीय तूफ़ान के साथ मिलती है तो स्वयं तूफ़ान बन जाती है, जब वह करोड़ों के जनसमुदाय में पुनर्जीवित होती है जिसमें आदर्श स्वप्न वास्तविकता का रूप धारण करता है, जिसमें विचार और शब्द एक शक्ति और कार्य में परिणित होते हैं। देश देश की जनताओं का बिजली-पानी भरा तूफ़ान उन पर गिरेगा जो अब तक समझते आए गाज गिराना उन्हीं का अपना अधिकार है। मानवीय आँधी नभोमण्डल से सदैव के लिए काले बादलों को बहा ले जाएगी। नाइटर पहाड़ों को चीरने का कार्य करेगा, गनपाउडर तोपों में दागे जाने के बदले लम्बे सूराख़ करने के काम आएगा, अणुशक्ति का प्रयोग नदियों के रास्तों को बदलने और समुद्रों को बनाने के लिए किया जाएगा—जैसा कि रूस में किया गया, तथा ऐसी अनेक अद्भुत बातों को वास्तविकता में परिणित किया जाएगा जो कि मानव को शान्ति के जगत् में महान् और सुखी बना सके।"

—**डा० महादेव साहा**

स्वाधीनता कार्यालय,
कलकत्ता १६

पश्तो साहित्य की प्रारम्भिक गतिविधियाँ

पश्तो अफ़गानिस्तान की प्रमुख भाषा है। वैसे तो यह समस्त अफ़गानिस्तान में बोली जाती है, किन्तु दक्षिण-पूर्वी अफ़गानिस्तान इसका प्रमुख गढ़ है। अन्य क्षेत्रों में बहुत-सी क्षेत्रीय भाषाएँ प्रचलित हैं। इन भाषाओं में परस्पर इतना अन्तर नहीं है कि एक क्षेत्रवाला दूसरे क्षेत्र की भाषा न समझ सके। पश्तो भारतीय यूरोपिय भाषा समूह से सम्बन्धित है और अरबी फ़ारसी लिपि में लिखी जाती है। भारतीय जनगणना की सन् १९०१ ई० की रिपोर्ट के अनुसार पश्तो पामीर के घालचाह-भाषा-समूह से भी बहुत कुछ सम्बन्ध रखती है। घालचाह-भाषा-समूह की ओरमुरी या बारजिस्ता और पश्तो में तो बहुत ही कम अन्तर है। ओरमुरी भी पश्तो की तरह अरबी-फ़ारसी लिपि में लिखी जाती है। बारजिस्ता बजिरिस्तान के कैनिगोरम नामक स्थान के आस-पास बोली जाती है। ओरमुरी भाषा का लिखित साहित्य नहीं है क्योंकि इसके बोलनेवाले एकदम असभ्य और कुछ ही हज़ार हैं। ओरमुरी-भाषा-भाषियों का अटल विश्वास है कि वे चार सौ वर्ष पहले यामान से अरब में आए थे और उनकी भाषा का आविष्कार उमर लाबान नामक अलौकिक पुरुष ने किया था। ये लोग अपने को मीर बाराक का वंशज मानते हैं। मीर बाराक के नाम पर ही ओरमुरी का नाम बारजिस्ता (मीर बाराक की भाषा) पड़ा। ओरमुरी नाम पड़ने के दो कारण हो सकते हैं : प्रथम तो उमर साहब के द्वारा आविष्कृत होने के कारण उन्हीं के नाम पर इसका नामकरण किया गया हो। उमर और ओरमुरी शब्दों में मौलिक सम्बन्ध है। द्वितीय मुख्य कारण यह प्रतीत होता है कि ओरमुरी भाषा-भाषी ओरमुर सम्प्रदाय के अनुयायी हैं। अतः सम्भव है कि सम्प्रदाय के नाम पर ही नामकरण किया गया हो। ओरमुर सम्प्रदाय का उद्गम स्थान करमथी सम्प्रदाय प्रतीत होता है। ९ वीं और १० वीं शताब्दी में करमथी सम्प्रदाय का प्रमुख गढ़ मुलतान था। इन्हीं दिनों में इसके प्रचारक समस्त मुसलमानी देशों में गए थे। ओरमुर और करमाथी सम्प्रदायों के सिद्धान्तों में कोई विशेष अन्तर नहीं है। मुसलमानों ने इनको धर्म-विध्वंसक करार दिया है। दोनों सम्प्रदायों के अनुयाइयों के बारे में कहा जाता है कि वे सच्चरित्रता को अधिक महत्त्व नहीं देते।

पश्तो साहित्य का जन्म : पश्तो साहित्य का आविर्भाव १५ वीं और १६ वीं शताब्दियों के दौरान में हुआ। इसके प्रथम प्रेरक पीर रोशन हैं। पीर रोशन रोशनी संप्रदाय के जन्मदाता भी हैं। रोशनी संप्रदाय का दूसरा नाम ईहदादी संप्रदाय है। मुसलमानों ने रोशनी संप्रदाय को भी 'धर्म विध्वंसक' करार दिया है। ईहदादी, ओरमुर और करमथी संप्रदायों में मौलिक एकता है। ईहदादी के अनुयायी सी रातो में इकट्ठे होकर स्वच्छन्द आचरण करते हैं।

'एशियाटिक रिसर्चेज़' जि. ११, कलकत्ता, में श्री जोन लीडेन महोदय ने लिखा है : "ईहदादी संप्रदाय का उद्देश्य अपने देश के परम्परागत धार्मिक सिद्धान्तों के विरुद्ध विद्रोह करना था। किन्तु हम यह भी नहीं कह सकते कि रोशनी के अनुयायी परम्परागत धार्मिक सिद्धान्तों का विध्वंस करके किसी नवीन प्रगतिशील समाज की रचना करना चाहते थे। इनका उद्देश्य तो केवल खाओ, पियो और आनन्द मनाओ ही था।" ईहदादी के अनुयाइयों ने तरह तरह के प्रलोभनों द्वारा जनता को अपने चंगुल में फँसाने के प्रयत्न किए। इससे जनता में एक क्रान्तिकारी लहर दौड़ गई। जन साधारण ने ईहदादिओं के प्रति घृणा प्रदर्शित की। किन्तु पीर रोशन के अनुयाइयों ने इन बातों की परवाह न की क्योंकि वे पीर साहब को अलौकिक पुरुष मानते थे और अपनी अल्हड़ता के आगे किसी की चलने न देते थे। पीर साहब के पुत्र जलालउद्दीन ने मोमन्द और पोरिस नामक सरदारों के नेतृत्व में एक बड़ी भारी लुटेरी सेना इकट्ठी कर रखी थी। पेशावर के आस-पास इन लोगों की खूब मनमानी चलती थी। जलालउद्दीन की सेना ने सुन्दर स्त्रियों और धन की खूब लूट मचाई। इन लोगों का हौसला यहाँ तक बढ़ा कि १५९३-९४ ई. में काबुल के गवर्नर को भी क़त्ल कर दिया गया। पीर रोशन का पौत्र ईहदाद ईहदादिओं का प्रमुख नेता था और लुटेरों के इतिहास में अपना खास स्थान रखता है। किन्तु पीर रोशन ने बड़ी चालबाज़ी और शान्ति से काम

लिया। पीर साहब की पैनी आँख ने एकदम परख लिया कि अफ़गान जाति की मातृभाषा पश्तो है किन्तु उसके धार्मिक ग्रन्थ तथा अन्य साहित्य अरबी और फ़ारसी में हैं जिन्हें कुछ ही लोग समझ सकते हैं। अतः अफ़गान जनता को आकर्षित करने के लिए पश्तो का प्रचार अत्यावश्यक है। इसी दृष्टिकोण से पीर साहब ने अपने सिद्धान्तों को सीधी-साधी पश्तो में जनता के सम्मुख रखना प्रारम्भ कर दिया। फिर क्या था? जनता पीर साहब की ओर झुकती चली गई। किन्तु मुल्लाओं में बड़ा भारी असन्तोष फैल गया। उन्होंने भी रोशनी के अनुयायिओं के विरुद्ध जबर्दस्त प्रोपेगण्डा करना शुरु कर दिया। पीर रोशन की वजह से इन बेचारों को भी अरबी और फ़ारसी को ताक में रख देना पड़ा और पश्तो अपनानी पड़ी। पीर साहब के सब से बड़े विरोधी मुल्ला अखुन दारबेज़ाह ने रोशनी सम्प्रदाय के खण्डन के लिए और अपने सिद्धान्तों के स्थापनार्थ सर्व प्रथम पश्तो में लिखना आरम्भ किया। इस प्रकार हम देखते हैं कि पश्तो साहित्य रोशनी सम्प्रदाय के संघर्ष के साथ-साथ विकसित हुआ और पीर रोशन उसके प्रेरक हैं।

ईहदादी आन्दोलन उस समय प्रारम्भ हुआ जब पश्तो एक असभ्य भाषा थी। शिक्षा का माध्यम अरबी और फ़ारसी थीं। समाज में उन्हीं का आदर था जो अरबी और फ़ारसी जानते थे। अरबी और फ़ारसी के ज्ञाता ही धर्म-स्थानों में उच्च-उच्च पदों पर कार्य करते थे। सरकारी दरबार तो पश्तो वालों के लिए बन्द ही था। छोटी मोटी नौकरियाँ भी उन बेचारों को बड़ी मुश्किल से मिलती थीं।

रोशनी संप्रदाय का आन्दोलन न केवल धर्म विध्वंसक अथवा धार्मिक आन्दोलन ही था वरन् ईहदादिओं ने जनता की सामाजिक और राष्ट्रीय भावनाओं को भी उग्र बनाया। फलस्वरूप पश्तो साहित्य धर्म का ही अन्धा-धुन्ध अनुकरण करके न चला था, बल्कि उसमें सामाजिक और राष्ट्रीय तत्त्व भी सन्निहित थे। रोशनी के अनुयायिओं ने मौलिक ग्रन्थ रचना में योग दिया और मुल्लाओं ने उनके खण्डन में। कुछ लेखकों ने अरबी और फ़ारसी के ग्रन्थों का पश्तो में अनुवाद किया। अनुवादित साहित्य अधिकतर शृङ्गारिक था। शेख सादी और शीराज के काव्यों का अनुवाद तो अफ़गान जनता के हृदय में सदैव के लिए घर कर गया। रोशनी के संघर्षकालीन साहित्य के पश्चात् पश्तो साहित्य में 'वीरगाथा काल' का अभ्युदय होता है। वीरगाथा काल का साहित्य ठीक भारतीय आल्हा जैसा है। पश्तो साहित्य की प्रारम्भिक गतिविधियों के सुप्रसिद्ध समीक्षक मेजर रोवर्टी ने इस साहित्य को अफ़गानों के वीर हृदय का उद्‌गार कहा है। मेजर साहब ने नौशाहरा के विश्व-विख्यात युद्ध पर लिखी गई आल्हा का अंग्रेज़ी में अनुवाद किया है। नौशाहरा के युद्ध में सिक्खों ने अफ़गानों को बुरी तरह से हराया था। और अब्बास खान की निर्मम हत्या की थी। श्री जे. डी. कनिंघम ने 'हिस्ट्री आफ दि सिक्ख' में लिखा है: "नौशाहरा की जीत की खुशियाँ बड़ी धूमधाम से मनाई गईं। सिक्खों के हौसले दिन दूने और रात चौगुने होते चले गए।" श्री फेरिहर महोदय ने 'हिस्ट्री आफ दि आफग़ान्स' में अपना व्यक्त मत किया है: "नौशाहरा की हार ने अफ़गानों की समस्त आशाओं पर पानी फेर दिया। सिक्ख जाति उन्हें हौआ बन चुकी थी।" नौशाहरा के युद्ध पर लिखी गई आल्हा बड़ी मार्मिक और वीरगाथा कालीन साहित्य में विशेष स्थान रखती है। पश्तो का वीरगाथा-सम्बन्धी साहित्य अति विशाल है। इसमें से बहुत-सा अभी भी अप्रकाशित है। कितना ही साहित्य तो लिपिबद्ध भी नहीं हुआ है क्योंकि जगह जगह के लोगों ने मनमानी आल्हाएँ तैयार कर ली थीं।

पश्तो साहित्य को भारत की देन : पश्तो साहित्य के उत्थान में भारत का प्रमुख स्थान है। भारत के मुल्लाओं और मुस्लिम सरदारों ने पश्तो साहित्य की अभिवृद्धि के लिए बहुत कुछ लिखा है। कुछ अफ़गानों का विचार है कि पीर रोशन बुन्देलखण्ड के कालिंजर नामक स्थान पर बुलाए गए थे। उन्होंने वहाँ पर एक मुल्ला को शिष्य बनाया था। इस तथ्य को बहुत से इतिहासकारों ने उद्‌धृत किया है। धर्म और अध्यात्मवाद के सुप्रसिद्ध लेखक मुल्ला अब्दुर रहमान भारत ही के सपूत थे। पश्तो साहित्य के शेख सादी मुल्ला अब्दुल हमीद भी कहीं पेशावर के आस-पास हीं पैदा हुए थे। राजनीति और अध्यात्मवाद के प्रतिभावान् लेखक अफरीदी क़ासिम अली का जन्म फर्रुखाबाद में हुआ था। अफरीदी साहब अंग्रेज़ी सत्ता के जबर्दस्त दुश्मन थे। इनकी भाषा अंग्रेज़ी मिश्रित थी। पश्तो शब्दकोष के प्रथम रचयिता हाफिज़ महाबतखान और अल्हाद यारखान भी भारतभूमि के ही लाल थे। सर जार्ज वालों ने हाफिज़ महाबतखान को

शब्दकोष की रचना के लिए प्रेरित किया था। खटक सरदार को भी भारत से ही प्रेरणा मिली थी। खटक साहब की कविता का अंग्रेजी में भी अनुवाद हो गया है। इनकी कविता में औरङ्गजेब को एकदम दानव चित्रित किया गया है। शाहजहाँ सरदार साहब का आदर्श पात्र है। हजार मीर की प्रतिभा का विकास भी भारतवर्ष में ही हुआ था। यह शाहजहाँ के दरबारी कवि और लेखक थे। मीर साहब ने हिन्दुस्तान में रोशनी सम्प्रदाय का प्रचार किया। वह केवल कवि और लेखक ही न थे, बल्कि बहादुर लड़ाके भी थे। शाहजहाँ ने उनकी वीरता से प्रसन्न होकर उन्हें १००० हजार घोड़ों का कमाण्डर बना कर पानीपत के मैदान में भेजा था।

यहां पर हमने भारत के प्रसिद्ध पश्तो साहित्य निर्माताओं का ही संक्षिप्त विवरण दिया है। ये साहित्य-महारथी पश्तो साहित्य के आधार स्तम्भ माने जाते हैं। कहना न होगा कि पश्तो साहित्य के प्रारम्भिक उत्थान के कवियों और लेखकों में भारत का स्थान ही सर्वोपरी है। भारत में तो आज भी यत्र-तत्र कितने स्थानों पर पीर रोशन के अनुयायी पश्तो में लिखते मिलेंगे। सन् १६०४ ई० में पीर रोशन का खानदान जालन्धर में आ कर बस गया था। इस खानदान का मूल निवास मदीना था, किन्तु १३ वीं सदी में ये लोग काबुल के समीप आ कर बस गए। इसके पश्चात् पीर रोशन कॅनिगोरम में आ कर बस गए। कॅनिगोरम के आस-पास की समस्त जातियाँ पीर रोशन की अनुयायी हो गईं। अन्त में पीर रोशन, उनका पुत्र तथा पौत्र किसी युद्ध में मारे गए। अब अफ़गानिस्तान में ईद्दादियों के लिए कोई स्थान न था। उन पर तरह तरह के अत्याचार होने लगे। अतः ये लोग विवश होकर भारत आए। विशेषतः पंजाब इनका प्रमुख गढ़ बना। पंजाब में रोशनी के अनुयायियों ने पश्तो में बहुत कुछ लिखा।

वाल-डोंगरी हिल्स,
काँदीवली, बम्बई

—रामगोपालाचार्य

सौजन्य

मनुष्य के लिए सौजन्य से बढ़ कर अन्य कोई मूल्यवान् वस्तु नहीं है।

—टेरेन्स

वह सौजन्य वास्तविक नहीं है जो गहरी नैतिकता पर आधारित न हो।

—गेटे

जीवन छोटा है परन्तु इसमें सौजन्य के लिए सदा अवसर है।

—एमर्सन

मधुर छोटे सौजन्यो! तुम्हारा स्वागत है क्योंकि तुम जीवन मार्ग को स्निग्ध और अनुकूल बना देते हो।

—स्टर्न

तेलंगाने में इतिहास की सामग्री

दक्षिण के हैदराबाद प्रान्त में जो आठ तेलुगु ज़िले हैं, वे तेलंगाना के नाम से प्रसिद्ध हैं। यह तेलंगाना प्रदेश आर्थिक, सामाजिक एवं ऐतिहासिक दृष्टि से भी दक्षिण में काफ़ी महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर चुका है। इस भूमि पर अनेक राजाओं ने राज्य किया है और यहाँ की कई प्रकार की संस्थाओं ने सारे देश को अपने प्रान्त की महिमा का परिचय भी दिया है। सांस्कृतिक एवं भाषा की दृष्टि से इसे आन्ध्र प्रान्त का अविभाज्य अंग माना जाना चाहिए। परन्तु अंग्रेज़ों के आगमन के पहले इस भू भाग पर मुसलमान नवाबों का आधिपत्य रहा और बाद में वह हैदराबाद रियासत का अंग बन गया। शेष आन्ध्र के १२ ज़िले जो रायल सीमा के नाम से मशहूर हैं, वे वर्तमान मद्रास प्रान्त के अभिन्न अंगों के रूप में परिणत हुए। यह विभाजन उस समय शासन की सुविधा को ध्यान में रख कर किया गया था। यही कारण है कि मद्रास प्रान्त में आन्ध्र, तमिल, कर्नाटक और केरल चारों भाषा-भाषी प्रान्त एक ही सरकार के अन्तर्गत लिए गए हैं। आज जब कि भाषावार प्रान्तों के विभाजन का आन्दोलन चल रहा है, उसमें आन्ध्र प्रान्त की रचना भाषावार प्रान्तों के बँटवारे की समस्या की नींव के रूप में रहेगी। किन्तु आन्ध्र में मिलनेवाले हैदराबाद में और आठ ज़िले हैं जिनकी मातृभाषा तेलुगु है और वहाँ तेलुगु बोली व समझी जाती है। आज वे भी आन्ध्र प्रान्त में मिल कर विशाल आन्ध्र की कल्पना को साकार रूप में देखने को उत्सुक हैं।

इन आठ ज़िलों का इतिहास जितना पुराना है, उतना शायद ही भारत के किसी प्रान्त का इतिहास पुराना होगा। अनेक राज्यों ने इस भू भाग पर जन्म लिया और फूले-फले। उन्होंने अपनी उन्नति का परिचय सारे भारत को दिया था। आज भले ही उनका महत्व कम दिखाई देता हो, फिर भी उनकी उन्नति एवं पतन के चिन्ह अब भी उस प्रान्त में मौजूद हैं। किन्तु पुरातत्व विभाग की अरुचि से कहिए या जनता, साहित्यिकारों या नेताओं की उदासीनता कहिए, वे शेष चिन्ह अपने महोन्नत वैभव का परिचय देते हुए यत्र तत्र जीर्ण-जीर्ण शिथिलावस्था में पाए जाते हैं। किसी जाति का गौरव अपनी वर्तमान दशा को लेकर ही नहीं वरन् उसके प्राचीन वैभव के महत्व पर भी निर्भर करता है। जिस प्रकार मोहन जो दड़ो और हड़प्पा भारत के इतिहास, संस्कृति और सभ्यता के गौरवमय चिन्ह माने जाते हैं, वैसे ही तेलंगाने की प्राचीन दशा का परिचय आज हम उन शिलालेखों, सिक्कों, मूर्त्तियों, मन्दिरों एव साहित्य के द्वारा पा सकते हैं।

किसी देश के प्राचीन इतिहास का अध्ययन करने के लिए उस समय के शिलालेख, सिक्के, शिल्पकला, इमारतें, आभूषण, साहित्य आदि ही तो साधन हैं। अतः हमें तेलंगाने के इतिहास को जानने के लिए इन पुराने ऐतिहासिक साधनों का परिचय प्राप्त करना होगा, जो उसके प्राचीन इतिहास के एकमात्र शेष चिन्ह हैं। एक प्रसिद्ध विद्वान् ने लिखा था—"तेलंगाना आन्ध्र के इतिहास की बपौती है। इस भू भाग का प्रत्येक इंच आन्ध्रों के तीन-चार हज़ार वर्षों के पूर्व के आचार-व्यवहार, पाण्डित्य, प्रकर्ष, धर्म, शिल्प-चित्रकला, सप्रदाय, संस्कृति तथा सभ्यता का परिचय दे रहा है। तेलंगाने के पेड़-पौधे, पत्थर-पहाड़, आन्ध्र के प्राचीन इतिहास का भव्य स्मरण दिलाते हैं।" अगर हम उस प्रान्त का भ्रमण करके देखें तो हमें इन विद्वान् की बातों में कोई अतिशयोक्ति मालूम न होगी। शिल्प-चित्र कला के उपासकों एवं विद्वानों के लिए यह तीर्थ स्थान है। साहित्यिकों के लिए तो वह शारदा-पीठ है। इन सब के होते हुए भी फ़ायदा क्या है? "दूकान में अष्टैश्वर्य हैं पर दामाद के मुँह में शनि देवता बैठा है" वाली कहावत के अनुसार सरकार की उदासीनता से दक्षिण भारत तथा पश्चिम आन्ध्र के इतिहास को स्पष्ट करनेवाले अनेक ऐतिहासिक अवशेष काल-प्रवाह में नष्ट हो गए हैं और होते जा रहे हैं। अब तक जो समूल नष्ट हो गए हैं उन्हें छोड़ दें तो भी कम से कम जो जीर्णावस्था में अपने महोन्नत प्राचीन वैभव का प्रदर्शन कर रहे हैं, उन्हें सुरक्षित रख सकें तो तेलुगु जाति का बड़ा उपकार होगा। तेलंगाने भर में जो अशेष ऐतिहासिक साधन हैं, वे कई रूपों में यत्र तत्र बिखरे पड़े हैं। उनमें शिलालेख और ताम्रपत्रों का

स्थान मुख्य कहा जा सकता है।

शिलालेख और ताम्रपत्र : तेलङ्गाने में अनेक राज्यों का उत्थान एवं पतन हुआ है। समय समय के शिलालेख एवं ताम्रपत्र इसके प्रबल प्रमाण हैं जो प्रान्त-भर में इतनी संख्या में मौजूद हैं कि मानों तेलङ्गाना शीघ्र परिवर्तित होनेवाले शासनों का अड्डा रहा हो। इस प्रान्त में राष्ट्रकूट, कल्याणी, बादामी, चालुक्य, काकतीय आदि वंशों ने राज्य किया। इसलिए उन वंशों के अनेक राजा-महाराजा, मन्त्री एवं सामन्तों से सम्बन्धित शिलालेख और ताम्रपत्र बहुतायत से पाए गए हैं; और पाए जा रहे हैं। इनका संग्रह करके तेलङ्गाने का श्रृङ्खलाबद्ध अच्छा इतिहास तैयार किया जा सकता है। प्रसन्नता की बात है कि इधर हैदराबाद की सरकार एवं संस्थाओं का ध्यान इस ओर गया है और संग्रह कार्य में कई लोग लगे हुए हैं। "लक्ष्मण राय परिशोधक मण्डली" वालों ने "तेलङ्गाने के ताम्रपत्र" नाम से कुछ ताम्रपत्रों का प्रकाशन किया है तथा हैदराबाद का पुरातत्व विभाग भी प्रशंसापूर्ण कार्य करके कुछ ताम्रपत्रों को प्रकाश में लाया है। इस प्रकार के हज़ारों शिलालेख भूगर्भ में हैं। इन अज्ञात पड़े हुए ऐतिहासिक साधनों की खोज गहरी की जानी चाहिए अन्यथा कालांतर में शेष चिन्हों के भी नष्ट होने की संभावना है। तेलङ्गाने में शिलालेखों की अपेक्षा ताम्रपत्र बहुत कम ही प्राप्त हुए हैं। लगभग ६०, ७० वर्ष के पूर्व 'असफ़जाह की सरकार के लैंड कमीशन' वालों के इनामदारों से दानपत्र एवं ताम्रपत्रों को ले कर उनके नाम पर ज़मीन कर दी है। इसलिए वे दानपत्र तथा ताम्रपत्र कमीशन के कार्यालय में सड़ रहे हैं। उनसे भी इतिहास की लिए काफ़ी सहायता मिल सकती है।

सिक्के : इतिहास के साधनों में सिक्कों का स्थान काफ़ी महत्वपूर्ण माना जा सकता है। इनसे राजाओं के समय आदि का पता लगाने में काफ़ी सहायता मिलती है। तेलङ्गाने में कहीं कहीं ताम्र और सीसा (सीसक) के सिक्के मिल रहे हैं। कोंडापुरम और फणिगिरि में खुदवाई होने पर आन्ध्र शातवाहनों से सम्बन्धित सीसा के सिक्के और तूर्पु सत्रपु राजाओं के ज़माने के प्राचीनतम सिक्के भी उपलब्ध हुए हैं। उस समय न केवल इतिहास प्रसिद्ध राजाओं के ही अपितु छोटे-छोटे प्रान्तों के सामन्तों के सिक्के भी प्रचलित थे। इसलिए इतिहास का समग्र विवरण प्राप्त करने में बड़ी आसानी मालूम होती है। उदाहरण के लिए वर्तमान गद्वाल रियासत के प्राचीन सिक्के बहुत मशहूर हैं। पुरातत्व विभाग के अजायब-घर में प्राचीन काल के अनेक प्रकार के सिक्के संग्रह करके रखे गए हैं। इस कार्य में विशेष रूप से दिलचस्पी ले कर बड़ी मेहनत के साथ खोज करके हैदराबाद के इरिगेशन शाखा के अफ़सर श्री के. वेंकटाचारी जी एम. ए. ने विभिन्न समय के सैकड़ों सिक्कों का संग्रह किया है।

साहित्य : इतिहास के साधनों में प्राचीन साहित्य का स्थान मुख्य है। साहित्य समाज का प्रतिबिम्ब होता है। प्राचीन काल के आचार, व्यवहार, संस्कृति, सभ्यता, राजनैतिक, आर्थिक एवं सामाजिक दशा का परिचय उस समय के ग्रन्थों में मिलता है। हमारे पूर्वजों ने ताड़ के पत्रों पर काव्य, नाटक, वस्तु, शिल्प कला संबन्धी बातों को लिख रखा है। परन्तु आज वे ग्रन्थ पण्डितों के घरों में, मन्दिरों में सड़ रहे हैं। इस प्रकार ताड़ के पत्रों पर लिखी हुई सामग्री काफ़ी मात्रा में उपलब्ध हुई है। न मालूम और इस प्रकार के अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थ दीमक का आहार बन कर नष्ट हो गए हों, कुछ मूल्यांकन ही नहीं किया जा सकता। कहीं-कहीं अज्ञानता के कारण कुछ ग्रन्थ छिपे पड़े हैं। मुख्यतया गल, आनगोंदि, आत्मकूर, वनपर्ति, जटप्रोलु, गोपालपेट, दोमकोण्डा, पालवञ्च आदि प्राचीन छोटी-छोटी रियासतों में पुराने ग्रन्थ सड़ रहे हैं। वरंगल, महबूबनगर, करीमनगर आदि ज़िलाओं के पण्डितों के घरों में शायद वे बन्द पड़े हैं। इनकी रक्षा करना अत्यंत आवश्यक है। इस प्रकार के कई कीमती ग्रन्थों को 'लक्ष्मणराय इतिहास परिशोधक मण्डली' ने इकट्ठा किया है। कुछ ग्रन्थ उस्मानिया विश्व विद्यालय में सुरक्षित हैं। अभी-अभी इन ग्रन्थों का महत्व जान कर पुरातत्व विभाग इस ओर दिलचस्पी ले कर संग्रह कार्य में लगा है। मद्रास के 'प्राच्य ग्रन्थालय' में 'मेकञ्जी लोकल रिकार्ड' के फाइलों में महबूबनगर, मेदक, नल्लगोण्डा, रायचूर, हैदराबाद और वरङ्गल जिलाओं से सम्बन्धित अच्छा विवरण है। उनकी प्रति लिपि करा के हैदराबाद सरकार अपने ग्रन्थालयों में रखवा सकती है।

स्थल पुराण : आलंपूर, गङ्गापूर, वेमुलवाड़ा आदि तीर्थस्थानों में 'स्कन्ध पुराण' और 'ब्रह्मांड पुराण' के अंतर्गत आनेवाले अनेक 'स्थल पुराण' हैं। इनमें केवल अद्भुत घटनाओं एवं महिमा का वर्णन है जिन पर विश्वास करना कठिन है। इसलिए इन अतिशयोक्तियों से पूर्ण

बातों को छोड़ भी दें तो भी शेषांश तो इतिहास का उपकरण बनेगा। एकाध वास्तविक घटना को आधार मान कर ही उसमें अद्भुत बातों का आरोप किया गया है। अतः इन पुराणों में जिन बातों का वर्णन है, उनकी मूल बातों का परिचय प्राप्त करके सचाई की खोज करनी होगी।

वीरों की मूर्तियाँ : महान् व्यक्तियों के मरने पर जैसे उनकी मूर्तियों की प्रतिष्ठा की जाती है, वैसे ही राजा, मन्त्री, सामन्त या वीरों के मरने पर भी उनकी मूर्तियों की प्रतिष्ठा करने की परिपाटी-सी हो गयी है और धार्मिक नेताओं की बात तो क्या कहें ? इस प्रकार जहाँ मूर्ति की प्रतिष्ठा की जाती है, वहीं उस वीर की कहानी खुदवायी जाती है। इस प्रकार की मूर्तियाँ तेलंगाने में हमें पग-पग पर बहुल संख्या में दिखाई देंगी। एक एक वीर की कहानी हमें आल्हा-ऊदल की याद दिलाएगी। एक एक वीर नारी की कहानी हमें संयोगिता एवं लक्ष्मीबाई का स्मरण दिलाएगी। तेलंगाने के सभी गाँवों के बाहर या गाँवों के मुख द्वारा पर शोभित वीरों की मूर्तियाँ इतिहासकारों के लिए बड़ी उपयोगी सिद्ध होंगी। ये मूर्तियाँ दो प्रकार की हैं। (१) वीर मूर्ति (२) सती मूर्ति। किसी योद्धा के मरने पर उस वीर की तथा किसी पतिव्रता नारी रत्न के सती होने पर उसी स्थान पर उस नारी रत्न की मूर्ति की स्थापना करने की प्रथा थी। उन मूर्तियों के साथ उनके नाम, स्थान, समय, मृत्यु का कारण आदि अन्य बातों का पूरा विवरण दिया जाता था। इन मूर्तियों के आधार पर अमूल्य ऐतिहासिक अंशों का पता लग सकता है। अतः इन उपकरणों के संग्रह में किसी प्रकार का विलम्ब व उपेक्षा नहीं होनी चाहिए।

प्रागैतिहासिक बातें : इतिहास के पूर्व के कई ऐसे चिन्ह हमें मिलते हैं जिनका समय निर्धारित करना कठिन मालूम होता है। विशेष परीक्षण के उपरान्त उसके समय का अन्दाज लगाया जा सकता है। मानव जाति का आरम्भ कब हुआ ? उनकी उन्नति क्रम का विवरण हमें स्पष्ट रूप से नहीं मिलता है। परन्तु उस समय के साधन और उपकरणों को पाकर इतिहास का पता लगाने में कुछ अंशों तक हम सफल हो सकते हैं। इस प्रकार के इतिहास के साधन सभी प्राचीन भूखंडों में उपलब्ध होते हैं। पुराने समय की क़ब्रें तेलंगाने में अब तक हस्तमपेटा, आलेरु, रायगिरि, पणिगिरि, गाजुलबंडा, अलंपूर आदि प्रदेशों में पायी गयी हैं। पुरातत्व विभागवालों ने उन्हें खुदवा कर अनेक ऐतिहासिक साधनों को प्राप्त कर लिया है। उनमें प्राचीन काल के मिट्टी के बर्तन, पत्थर के हथियार, मनुष्यों के कंकाल, और आभूषण मुख्य हैं। इनसे उनकी सभ्यता एवं समय का पता लगाने में बड़ी सहायता मिल रही है।

इमारतें : तेलंगाने के अनेक प्रदेशों में उत्तम वास्तु कला, सुन्दर शिल्प कला से निर्मित कई इमारतें पाई गई हैं। इनसे वास्तु कला-शिल्प कला में तेलंगाने का स्थान उस शैली के आधार पर निर्धारित किया जा सकता है। निज़ामाबाद ज़िले के यल्लारेड्डी, मेदक ज़िला के पटन चेरुवु, महबूबनगर ज़िला के उमामहेश्वर, गंगापुर के जटप्रोलु, नलगोंडा ज़िला के पानगल्लु, नागुलपाडु, पिल्ललमर्रि, कोल्लनुपाक, वरंगल ज़िला के हनमकोण्डा, परकाल तालुका के रामप्पगुडि, करीमनगर के धर्मपुरि, वेमुलवाड़ा, आदिलाबाद और रायचूर ज़िलाओं के आलमपूर, बूडूर, कल्लूरु आदि गाँवों में उच्च कोटि की शिल्प कला से शोभित कई मन्दिर हैं। कहीं कहीं जीर्ण शीर्ण अवस्था में महल भी अपने खण्डहरों से अतीतकालीन वैभव का प्रदर्शन करते हुए दिखाई देते हैं। विशेषतया तेलंगाने के प्राचीन मन्दिर दर्शन करने योग्य हैं। इन मन्दिर एवं इमारतों से हमें मध्यकालीन इतिहास का पता लगाने में बड़ी सहायता मिल सकेगी।

इस प्रकार हम देखते हैं, तेलंगाना भर में यत्र तत्र इतिहास के साधन और सामग्री बिखरी पड़ी मिलती है जो विगत वैभव का स्मरण दिला कर उसकी प्राचीन कहानी को दुनिया के सामने रखने को हमें प्रेरित करती है। सरकार और भी इस सम्बन्ध में उत्साह के साथ दिलचस्पी ले तथा विश्वविद्यालयों में 'इतिहास की खोज' को पाठ्य विषय बना दिया जाए तो अनेक युवक इस विषय में दिलचस्पी दिखाएँगे।

किसी जाति का समग्र इतिहास जानने के लिए शिलालेख, सिक्के, इमारतें, प्राचीन साहित्य आदि ही तो एकमात्र साधन एवं आधार हैं। ऐसी स्थिति में जहाँ तेलंगाना प्राचीन इतिहास का बड़ा केन्द्र रहा है, उस केन्द्र के उत्थान-पतन से अवगत होना आवश्यक है।

—बाल शौरिरेड्डी

हिन्दी प्रचार सभा,
मद्रास

जीवन के प्रति दृष्टिकोण

दो विचारधाराएँ : मानव जीवन को किस दृष्टि से देखा जाय, इस पर सब देशों के दार्शनिकों ने विभिन्न दृष्टि से विचार किया है। इस सम्बन्ध में मुख्यतः दो प्रकार की विचारधाराएँ पाई जाती हैं, एक पुनर्जन्मवादियों की और दूसरी प्रत्यक्षवादियों की। पहले प्रकार के विचारकों के अनुसार, वर्तमान जीवन, कर्मफल अनुसार प्राप्त होने वाली अनगिनत जीवन शृंखला की एक कड़ी मात्र है। प्रत्येक नया जीवन पिछले जन्मों में किए गए कर्म के अनुसार फलप्राप्ति रूप है। इस विचारधारा में मानव जीवन को सर्वोत्तम मान कर उसी के द्वारा धर्म, अर्थ, काम करते हुए मोक्षपद प्राप्ति को एक मात्र चरम लक्ष्य माना गया है। शरीर गौण और आत्मा मुख्य है, आत्मा ही समस्त क्रिया कलापों का केन्द्र बिन्दु है, जैसे, बृहदारण्यक उपनिषद् में मैत्रेयी को उपदेश देते हुए याज्ञवल्क्य ऋषि ने कहा :

> "अमृतस्य तु नाशास्ति वित्तेन। आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति। आत्मा वा अरे दृष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मने खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञात इदं सर्वं विदितं भवति।"

भौतिक पदार्थों से अमृतत्व की आशा नहीं हो सकती। आत्मा के लिये सब कुछ प्यारा होता है, इसी को देखना, सुनना, मानना और इसी का चिन्तन करना चाहिए। इसी के जानने पर सब कुछ जाना जाता है.।

भारत की आस्तिक सभ्यता इसी सिद्धान्त पर आश्रित है।

दूसरे प्रकार की विचारधारा प्रत्यक्षदर्शियों की है। इनकी मान्यता है कि यह जीवन प्रथम व अन्तिम है। इसके आगे पीछे कोई शृंखला नहीं है। भौतिक शरीर ही सब कुछ है, आत्मा नाम का कोई पृथक् तत्त्व नहीं है। "यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्। भस्मी भूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः।" भारतीय इतिहास में इसे वाम मार्ग कहा गया है।

भगवान् बुद्ध ने पुनर्जन्म है या नहीं—इस विषय में सर्वथा मौन रह कर वर्तमान जीवन को उत्तम और श्रेष्ठ बनाने पर ही जोर दिया है। उनकी सारी शिक्षा प्रत्यक्ष जीवन के लिए ही है और इसी को उन्होंने "आर्य जीवन" का नाम दिया है।

ग्रीस और रोम का दृष्टिकोण : ग्रीस देश के तत्त्ववेत्ता बुद्ध की शिक्षा से बहुत प्रभावित हुए। पुनर्जन्मवाद से अपने को अछूता रख वर्तमान जीवन को श्रेष्ठ बनाने पर ही इन्होंने बल दिया है। प्लेटो ने "सौन्दर्य" को ही चरम लक्ष्य और उत्कृष्ट जीवन का प्रतीक माना है। सौन्दर्य से प्लेटो का अभिप्राय अस्थि-चर्म आकर्षण से नहीं है किन्तु उसका व्यक्ति से है जिसमें निर्भयता, न्यायप्रियता और उदारता ये तीन गुण हों। इसके साधन रूप उसने गुरु-शिष्य परम्परा पर जोर दिया है।

प्लेटो तीन गुणों के आधार पर समाज और राष्ट्र का संगठन मानता है। (१) युक्ति-रीजन-इसके आधार पर दार्शनिक राजा (२) उत्साह-स्पिरिट इसके आधार पर सिपाही और शासक और (३) भूख इसके आधार पर धन पैदा करनेवाले व्यक्ति समाज में हों। प्लेटो व्यक्ति का जीवन राष्ट्र से पृथक् नहीं मानता।

प्लेटो के पश्चात् स्पार्टा जाति के नेताओं ने शरीर को सुदृढ़ और बलवान् बनाना ही मनुष्य का परम लक्ष्य माना। इन जातियों में २० वर्ष से ऊपर प्रत्येक व्यक्ति को अनिवार्य रूप से सिपाही बनना पड़ता था। स्पार्टा में सैनिक उपयोगिता की दृष्टि से ही जीवन की परख की जाती थी। जन्म के समय निर्बल बच्चों को मार देने में संकोच नहीं किया जाता था।

रोम साम्राज्य जिस समय उन्नति के शिखर पर था, उस समय एपिक्यूरियन नामक एक सम्प्रदाय का जन्म हुआ जिसका एकमात्र लक्ष्य खाना-पीना ही था। कहा जाता है एक बार खाने के बाद वे गले में अंगुली डाल कर कै कर देते थे और कुछ समय बाद पुनः खाने बैठ जाते थे। इसी प्रकार दिन भर दौर चलता था। वे इसी में जीवन की यथार्थता समझते थे।

फ्रांस की राज्य क्रान्ति के बाद : फ्रांस की राज्य क्रान्ति, उसके बाद का "पुनर्जागरण" (रिनेसाँ) का

आन्दोलन तथा यूरोप की मध्यकाल की औद्योगिक क्रांति ने जीवन के प्रति बिलकुल नये वादों और सिद्धान्तों को जन्म दिया जो संक्षेपतः इस प्रकार हैं : (१) ईश्वर और परलोक में आस्था का अन्त (२) धार्मिक जीवन की अपेक्षा राजनीतिक जीवन को प्राथमिकता (३) राष्ट्र और व्यक्ति में से राष्ट्र मुख्य, व्यक्ति गौण (४) पारिवारिक जीवन में सम्मिलित कुटुम्ब प्रथा की समाप्ति (५) व्यक्तिगत जीवन के दो पहलू हैं—इस सिद्धान्त की स्थापना, एक सार्वजनिक और दूसरा निजी, दोनों का पृथक् अस्तित्व (६) सुख और प्रसन्नता का एक मात्र उपाय अर्थ प्राप्ति और उसका संग्रह—इसी के आधार पर पूंजीवाद का जन्म (७) राजा, सामन्त, जागीरदार इत्यादि को दैवीय अंशयुक्त मानने से इन्कार। तत्कालीन दार्शनिक वाल्टेयर, रूसो इत्यादि ने इन्हीं सिद्धान्तों की पुष्टि की है।

डार्विन का विकासवाद : इस सिद्धान्त के अनुसार, मनुष्य शरीर को केवल भौतिक तत्वों का संग्रह माना गया और आत्मा-परमात्मा को सर्वथा अन्यथा सिद्ध कर दिया गया। इस विकासवाद ने जीवन के प्रति जो दृष्टिकोण उपस्थित किया, उसकी रूप रेखा संक्षेपतः इस प्रकार है : (१) पशु जीवन में होने वाले परिवर्तनों का परिणाम ही मनुष्य है। इसमें किसी दैवीय गुणों की कल्पना निरर्थक है (२) जीवन संघर्षमय है। प्रत्येक प्राणी को बाह्य प्रकृति और अपने समूह व समाज से निरन्तर संघर्ष करना पड़ता है जिसके फलस्वरूप उसके भीतर व बाहर लगातार परिवर्तन होते रहते हैं। दया, न्याय, स्नेह इत्यादि निर्बलों के गुण हैं। संघर्ष में विजय प्राप्त करने के लिए आवश्यक गुणों का संग्रह ही मनुष्य का उद्देश्य है। "सरवाइवल आफ दि फिटेस्ट"—बलवान को ही जीवित रहने का अधिकार है, "वीकर मस्ट गो टु दि वाल्स"—निर्बलों को दीवार के साथ टक्कर मार लेनी चाहिए—विकासवादी विचारक के ये दो वाक्य इस 'थ्योरी' के बहुत अच्छे परिचायक हैं। बड़ी मछली छोटी को खा जाती है "मात्स्य न्याय" इसी सिद्धान्त का दूसरा रूप है। (३) विश्व में भोजन सामग्री कम है और भोक्ता अधिक हैं—इसलिए युद्ध, रोग, अकाल तथा अन्य आधिदैविक विपत्तियों द्वारा निर्बल प्राणिनाश आवश्यक और हितकर है (४) यह प्रकृति अपने नियमों के अनुसार स्वयं कार्य करती है। इस विश्व के संचालन, विनाश और स्थिति के लिए किसी चेतना शक्ति को ईश्वर आदि के नाम से मानना भूल है।

इस वाद ने पश्चिमी राष्ट्रों के व्यक्तिगत, सामाजिक और राजनीतिक जीवन में दूरगामी परिवर्तन कर दिए। हर्बर्ट स्पेन्सर, मिल, लॉक, हक्सले, हीगेल इत्यादि दार्शनिकों और वैज्ञानिकों ने इसी सिद्धान्त को पुष्ट किया। इसी की प्रेरणा से मिल ने "दि ग्रेटेस्ट गुड आफ दि ग्रेटेस्ट नम्बर" का सिद्धान्त निकाला, अर्थात् जिस से अधिक से अधिक लोगों का भला हो, वही उत्तम काम है। इसका परिणाम हुआ देशहित और राष्ट्र कल्याण के नाम पर सामाजिक और राजनीतिक जीवन में असत्य, अन्याय मिथ्या, धोखा, छल, कपट आदि को "कूटनीति" (डिप्लोमेसी) और "कालधर्म" (एक्सपीडियन्स) के नाम पर जायज़ माना जाने लगा।

इस सिद्धान्त का एक और परिणाम निकला। संसार में उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद की स्थापना, पूँजीवाद की पुष्टि, पाश्चात्य जातियों का अपने को विशिष्ट गौरवयुक्त समझना, संसार को गोरे और काले—दो शिविरों में बाँट कर "गोरों का कालों को सभ्य बनाने का दायित्व अपने ऊपर लेना" (ह्वाइट मैन्स बर्डन) सच तो यह है, पाश्चात्य सभ्यता के आधारभूत सिद्धान्तों में, मुख्यतः यह वाद आज भी काम कर रहा है।

परन्तु इस सिद्धान्त की निरर्थकता और अमान्यता भी हो गई है। युद्धोत्तर विभीषिकाओं और उससे प्रादुर्भूत हृदय विदारक परिणामों को देख कर तथा मोहन जो दड़ो, हड़प्प, तक्षशिला, नालन्दा, मैसोपोटामिया इत्यादि स्थानों में हुई खुदाई से सुन्दर, सुनिर्मित, कलायुक्त चित्रित वस्तुओं, सुव्यवस्थित नगरों के भग्नावशेषों और संस्कृत, पालि इत्यादि प्राचीन भाषाओं के सर्वांगीण उच्च साहित्य के प्रकाश में आने से विकासवादियों के अनेक सिद्धान्त ध्वस्त हो गए हैं। विशेषतः यह कि आदि मनुष्य असभ्य, बर्बर और पशु तुल्य था, मानव निरन्तर उन्नतिशील है, आधुनिक सभ्यता सर्वोत्तम है, गोरी जातियों का विश्व पर राज्य करने तथा उन्हें सभ्य बनाने का अधिकार है, इत्यादि। पिछले दो दशकों के विचारकों ने इस सिद्धान्त के कई मुख्य अंशों के विरोध में बहुत कुछ लिखा है।

यथार्थवाद (रिअलिस्ट व्यू आफ लाइफ) : युद्धोत्तर वादों में यह प्रमुख है। इस सिद्धान्त को कम्युनिस्टों का आशीर्वाद प्राप्त है। इसका अभिप्राय यह है कि संसार में अच्छा-बुरा, पाप-पुण्य, भलाई-बुराई, कुछ नहीं है। यह

सद्यः प्रेरित दृष्टिकोण पर निर्भर करता है। जीवन में जो चीज जिस प्रकार सामने आए, उसे वैसा ही लेना चाहिए (टेक दि लाइफ एज इट इज)। किसी घटना के भूत-भविष्य के कारण कार्य पर विचार करना व्यर्थ है। वर्तमान ही सब कुछ है। हाल ही के कुछ कम्युनिस्ट लेखकों ने इस यथार्थवाद के साथ दो उद्देश्य और जोड़ दिए हैं—(१) "सिम्पल लिविंग एण्ड हाई थिंकिंग" के बदले मनुष्य "हाई लिविंग एण्ड नो थिंकिंग"—अर्थात् जीवन व्यय खूब बढ़ाओ और कोई चिन्ता मत करो (२) पलायनवाद (इस्केपिज्म) जीवन में कोई संकट दुविधा आने पर उससे बचने का प्रयत्न करो।

इसके विरुद्ध, द्वितीय युद्ध के समय, नाजियों और फासिस्टों का जीवन के प्रति यह नारा था "लिव डेन्जरसूली" "लिव हैजर्डसूली" "खौफ़नाक बन कर जिओ" "अन्धाधुंध जिओ।"

इन दृष्टिकोणों का परिणाम : ये सब वाद कितने अधूरे, असन्तोषजनक और घातक हैं—इसका प्रमाण तो संसार के उन देशों की आन्तरिक अवस्थाओं और वर्तमान घटना-चक्र से मिलता है जिसके पीछे इन सिद्धान्तों का हाथ है। ४ सितम्बर १९३९ से प्रारम्भ हुआ युद्ध आज १३ वर्ष तक चल रहा है, चाहे वह शीत युद्ध के रूप में रूस-अमरीका के मध्य हो और चाहे गर्म युद्ध के रूप में इज़रायल अरब, राष्ट्रवादी-कम्युनिस्ट चीन, हिन्द चीन के वियतनाम और वियतमिन्ह तथा उत्तरी कोरिया दक्षिणी कोरिया के मध्य हो, जहाँ १२ देशों की सेनाएँ लड़ रही हैं, जहाँ इस छोटे देश में पिछले डेढ़ वर्ष में २० लाख से अधिक व्यक्ति मारे गए हैं और जहाँ केवल अनाथों-निराश्रितों की बहुसंख्या के अतिरिक्त प्रत्येक जीवनोपयोगी वस्तु का अभाव हो रहा है।

सन्तुलित दृष्टिकोण ही उपादेय : जीवन के प्रति उपर्युक्त दृष्टिकोण में सब से बड़ा दोष यह है कि वे सन्तुलित और समन्वयात्मक नहीं हैं। इनमें ऐहिक और भौतिक समस्याओं पर ही नज़र रखी गई है। आध्यात्मिकता का सर्वथा बहिष्कार कर दिया गया है। जब तक भौतिकता के साथ आध्यात्मिकता को नहीं रखा जायगा और उसे प्रमुखता नहीं दी जाएगी तब तक जीवन के प्रति कोई दृष्टिकोण पूर्ण नहीं कहा जा सकता।

कणाद मुनि ने वैशेषिक दर्शन के प्रथम सूत्र में बहुत सुन्दर शब्दों में इसी "सन्तुलन" और "समन्वय" को धर्म का नाम दिया है। "यतोऽभ्युदय निःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः।" उत्तम जीवन वही है जिसमें ऐहिक और आध्यात्मिक—दोनों के अभ्युदय – चतुर्दिक-विकास की व्यवस्था हो। वेद के शब्दों में इसे "आयुर्यज्ञेन कल्पताम्" मनुष्य इस आयु को यज्ञमय बनाए, अर्थात् स्वहित-परहित, स्वल्प महत्, स्थूल-सूक्ष्म, शरीर—आत्मा, व्यष्टि-समष्टि—इन सब में एक सूत्रता स्थापित करे। इसी का नाम यज्ञ है, इसी के द्वारा अपनी आयु को यज्ञमय बनाना कहा गया है।

हिन्दी के सन्त कवि कबीर ने बहुत सुन्दर और भावपूर्ण शब्दों में इसी आदर्श की पुष्टि की है :

"ज्यों तिरिया पीहर बसै, मन राखे पिय माँहि।
ऐसे नर जग में बसे, मन राखे हरि माँहि॥"

६२५१, गली शिव मन्दिर,
देवनगर, करौलबाग, दिल्ली ५

—दीनानाथ सिद्धान्तालङ्कार

यदि हमारी स्वाभाविक प्रसन्नता नष्ट हो जाए तो प्रसन्न रहने का उपाय यह है कि हम अपने आपको अपनी इच्छाशक्ति से प्रसन्न रखने का प्रयत्न करें। हम ऐसे बोलें और व्यवहार करें कि मानो हम प्रसन्न हैं। वीरता को अनुभव करने के लिए हमें वीरों जैसे कार्य करना चाहिए। इसके लिए हमें अपनी इच्छाशक्ति को उपयोग में लाना चाहिए। परिणामस्वरूप साहस भय का स्थान ले लेगा। यदि हम शुभ भावनाओं का प्रदर्शन करेंगे तो बुरी भावनाएँ एक अरब की तरह अपने तम्बू को समेट कर चुपचाप चली जाएँगी।

— विलियम जेम्स

वामनावतार और जैन मुनि विष्णु-कुमार

अनुकरण-प्रियता, प्राणियों का सहज स्वभाव है। बुद्धि का विकास आयु और शारीरिक स्थिति पर निर्भर होता है। उससे पूर्व प्रत्येक प्राणधारी अनुकरण के ज़रिए ही आगे बढ़ता है। जीवन-व्यवहार की शिक्षाएँ सब अनुकरण-प्रियता के कारण ही प्राप्त होती हैं। पशुओं का जीवन तो प्रायः इसी पर आधारित रहता है क्योंकि उनमें बुद्धि का विकास स्वतन्त्र विचार का अनुरूप नहीं हो पाता। बना व सोच नहीं सकते। मनुष्य में भी बालक का स्वभाव और विकास इसी अनुकरण वृत्ति पर ही अवलम्बित है। वह अपने आसपास जैसा देखता है, सुनता है और अनुभव करता है तदानुरूप उसका जीवन ढलता है। भावी जीवन के निर्माण की तैयारी इसी समय हो जाती है। उस समय जो स्वभाव, वृत्तियाँ, तरीके, बालक अपना लेता है, उनका प्रभाव उस पर जीवन भर दिखाई देता है। विवेक की परिपक्वता अथवा प्रबलता होने पर यदि वह सुधरता है, नए रास्ते पर मुड़ता भी है तो भी, बहुत सी बातें जो दूसरों के अनुकरण द्वारा उसके हृदय में घर कर चुकी हो, उनका प्रभाव उसके जीवन में और स्वभाव में अवश्य विद्यमान रहता है। बड़े होने पर भी वेशभूषा, रीति-रिवाज़, आचार विचार एवं प्रवृत्तियों में अधिकतर अनुकरणता ही प्रधान रहती है। अधिकांश जन-साधारण का व्यवहार उन्हीं पर निर्भर रहता है। विचारों की गहराई, बुद्धि की विलक्षणता, कितने व्यक्तियों को मिलती है? और इनके बिना स्वतंत्र पथ निर्माण कठिन है।

आदान-प्रदान विश्व का सनातन नियम है। मनुष्य जो विचार और चिन्ता करता है उसका प्रचार भी करता रहता है। वह अपने में ही सीमित नहीं रहता। उसका प्रभाव आस-पास के व्यक्तियों पर पड़ता है, वैसे ही दूसरों का उस पर। जिसका व्यक्तित्व अधिक आकर्षक और प्रभावशाली होता है उसका प्रभाव अधिक पड़ना स्वाभाविक ही है। एक प्रतिभाशाली व्यक्ति अपने विचारों को ऐसे ढङ्ग से व्यक्त करता है कि दूसरा या सहस्त्रों व्यक्ति उसके विचारों से तत्काल प्रभावित हो जाते हैं, यावत् विरोधी विचार रखनेवालों को भी अपना समर्थक, और अनुकूल बना लेता है। विचार विनिमय द्वारा भी एक दूसरे के विचारों का आदान प्रदान होता ही है। एक व्यक्ति के रहन-सहन वेशभूषा, आदि का प्रभाव उसके संपर्क में आनेवालों पर न्यूनाधिक रूप में अवश्य ही पड़ता है। कुछ बातें जो उसे आकर्षित करती हैं वह अपना लेता है संगति का असर इसीलिए इतना अधिक माना गया है। भारत से जब पाश्चात्य देशों का संपर्क बढ़ा तो अधिकांश भारतीय भी, पाश्चात्यों की वेशभूषा, भाषा, रहन-सहन, चाल-ढाल इत्यादि अंगीकार करने लगे और अभी तक वे उन्हें छोड़ नहीं पाए। भारतीय संस्कृति को छोड़ कर वे उस विदेशी संस्कृति की ओर झुक रहे हैं तथा उसे अच्छा समझ कर अपना रहे हैं। यह सब अनुकरणप्रियता का प्रत्यक्ष प्रभाव है।

भारत में आर्य, अनार्य संस्कृति का सामाजिक और धार्मिक क्षेत्रों में बहुत कुछ पारस्परिक आदान प्रदान हुआ और कई अनार्य देवताओं और पूजा-विधि को आर्यों ने अपना लिया। अनार्यों की कई बातों को आर्यों ने अपनाया। सदियों के सम्पर्क के बाद आज यह पता लगाना भी कठिन हो गया है कि किस विषय में किस का कितना प्रभाव है। लोकसाहित्य और जन विश्वास में तो बहुत सी बातें सारे विश्व भर में समान रूप से मिलती हैं। लोक कथाओं में प्रायः एक ही बात और कथा कुछ साधारण अन्तर के साथ उसी रूप में भी विभिन्न राष्ट्रों के साहित्य में मिलेगी। दार्शनिक क्षेत्र में सिद्धान्त और आचार-विचारों की समानताएँ पाई गई हैं। साहित्य के सम्बन्ध में भी यह सत्य है। कहीं भाव-साम्य, कहीं अर्थ साम्य तो कहीं शैली और नामकरण की समानता देख कर बहुत बार तो विस्मय सा होता है। जैनागमों की कई गाथाएँ बौद्धादि व कथाएँ ग्रन्थों में पाई जाती हैं इसी प्रकार कई पौराणिक आख्यानों, वैदिक ग्रन्थों और जैन साहित्य में एक ही कथा समान रूप से पाते हैं। इनमें से कई दन्त-कथाएँ आदि तो लोकप्रिय होने से तीनों—जैन, बौद्ध और वैदिकों ने, अपने अनुकूल बना कर ग्रहण करली प्रतीत होती हैं। कई एक दूसरे की कथाओं से प्रभावित होकर अपने-अपने धार्मिक-कथा साहित्य में मिलादी गई हैं।

कई पौराणिक कथाएँ दोनों धर्म—जैन और वैदिक धर्म ग्रन्थों में समान रूप से आदर प्राप्त हैं। नल दमयन्ती, सत्यवादी राजा हरिश्चन्द्र इत्यादि कथाएँ मूलतः पौराणिक प्रतीत होती हैं पर ये कथाएँ जैन साहित्य में भी बहुत प्रसिद्धिप्राप्त हैं। तुलनात्मक अध्ययन की कमी के कारण ही हम एक दूसरे के साहित्य की विशेषताओं से सर्वथा अपरिचित हैं। इसी प्रकार की एक कथा वामनावतार और विष्णुकुमार की है। कुछ बातों में वैषम्य होने पर भी मूल घटना में इतनी समानता है कि पढ़ कर आश्चर्य होता है। किसने किसका अनुकरण किया, यह निश्चित रूप से तो नहीं कहा जा सकता पर संभव है वामनावतार प्रसिद्ध १० अवतारों में सम्मिलित होने से यह कथा पौराणिक ही रही हो। भिन्न भिन्न समय में भिन्न भिन्न व्यक्तियों के सम्बन्ध में एक सी घटनाएँ घटित होना असंभव नहीं पर इस कथा को पढ़ कर हृदय इस बात को मानने के लिए तैयार नहीं होता कि दोनों घटनाएँ अलग अलग हैं। कई वर्षों से इन दोनों कथानकों की समानता मुझे आकर्षित कर रही थी। कुछ वर्ष हुए विष्णुकुमार की कथा सम्बन्धी अनेक जैन ग्रन्थों की शोध करते समय उनमें सब से प्राचीन ग्रन्थ ५ वीं शताब्दी का "वसुदेव-हिंडी" ज्ञात हुआ अतः आगे उसी में वर्णित कथा दी जा रही है। वामनावतार तो सब पुराणों में प्रसिद्ध है ही पर वेद जैसे प्राचीनतम ग्रन्थ में भी उसका मूल प्रसंग वर्णित है। अतः उसको दिखाते हुए भागवत पुराण वर्णित प्रसंग को तुलना के लिए यहाँ दिया जा रहा है।

श्री सम्पूर्णानन्द ने अपने ग्रन्थ में वेद के वामनावतार के उल्लेखों को इस प्रकार दिया है :

"विष्णु के तीन पदों की कथा पुराण-प्रसिद्ध है। असुरराज बलि ने इन्द्र से स्वर्ग का राज्य छीन लिया था। बलि की दानवीरता प्रसिद्ध थी। विष्णु उनके यहाँ बौने ब्राह्मण के रूप में आए और उनसे तीन पद भूमि माँगी। बलि ने देना स्वीकार किया। विष्णु ने दो पाँव में भूलोक और सुरलोक माप लिया। तीसरे पाँव में बलि को अपना शरीर देना पड़ा। फलतः वह पाताल में जा बसे और इन्द्र को फिर अपना राज्य मिल गया। विष्णु ने यह वामनरूप इन्द्र की सहायता करने के लिए धारण किया था।

यह पौराणिक कथा एक वैदिक आख्यान का विस्तरित संस्करण है। वह आख्यान इस प्रकार है :

"विष्णोः ! कर्म्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे।
इन्द्रस्य युज्यः सखा (ऋक् १-८२-१९)
इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्।
समूढयस्य-पांसुरे (ऋक् १-२२-१७)
त्रीणि पदानि चक्रमे विष्णु र्गोपा अदाभ्यः।
अतो धर्माणि धारयन् (ऋक् १-२२-१८)"

विष्णु के कर्म्मों को देखो जिनके द्वारा यजमानादि व्रतों का अनुष्ठान करते हैं। विष्णु इन्द्र के योग्य सखा हैं। इस (सारे जग पर) विष्णु चले। (उन्होंने) त्रिधा पाँव रक्खा। उनके धूल से भरे पाँव से (यह सारा जगत्) ढँक गया। अजेय (जगत् के) रक्षक विष्णु तीन पद चले, धर्म्मों को धारण करते हुए।

विष्णु और इन्द्र के सखा होने के कई उदाहरण आए हैं। गउओं के उद्धार में तथा असुरों से लड़ने में उन्होंने बराबर इन्द्र का साथ दिया है। उन्होंने यह तीन पाँव भी इन्द्र के ही कहने से रक्खे, क्योंकि ऋक् ४-१८-११ में वर्णन मिलता है :

'अथाब्रवीत् वृत्रमिन्द्रो हीनव्यन्त्सखे विष्णो वितरं विक्रमस्व।'

अथ व्रत को मारते हुए इन्द्र ने कहा : हे सखे विष्णु ! बड़े बड़े पाँव रक्खो। 'वितरं विक्रमस्व' का शब्दार्थ यही है। यहाँ क्रमस्व जो किया पद आया है वह भी ऊपर के मंत्रो के विचक्रमे का सजातीय है। परन्तु सायण के भाष्य में "बड़े पराक्रमी हो" ऐसा अर्थ किया गया है। अस्तु, ये तीनों पद कहाँ रखे गए ? एक मत तो यह है कि विष्णु ने पृथ्वी अन्तरिक्ष और आकाश में पाँव रक्खा। दूसरा मत यह है कि पहला पाँव समारोहण (उदयाचल) में, दूसरा आकाश (विष्णु पद) में और तीसरा (जयशिरस) अस्ताचल में रक्खा गया। तीसरा मत यह है कि विष्णु पृथ्वी पर अग्नि रूप से, अन्तरिक्ष में वायु रूप में और आकाश में सूर्य्य रूप से वर्तमान हैं।

वैदिक मतानुयायियों के अतिमाना ग्रन्थ श्रीमद्‌भागवत में वामनावतार की कथा जिस रूप में वर्णित है उसका सार निम्न प्रकार है :

भृगुवंशी शुक्राचार्य ने बलिराजा को जीवित किया तब से वह उनका शिष्य हो गया और उनकी सेवा करने लगा। स्वर्ग जीतने के इच्छुक बलिराजा से उन प्रतापी ब्राह्मणों ने विश्वजित नामक यज्ञ करवाया। यज्ञ में रथ,

घोड़ा, ध्वज, धनुष, तरकश और दिव्य कवच, वस्तुएँ प्राप्त हुईं । इन अलौकिक वस्तुओं को पा कर राजा, इन्द्र को जीतने के लिए स्वर्गपुरी को चला ।

इन्द्र ने गुरु बृहस्पति से बलिराजा के पुण्य प्रताप की कथा ज्ञात की तथा शत्रु के इन चढ़ते दिनों में स्वर्ग त्याग कर चले जाने की सलाह को मान कर स्वर्गपुरी की राजधानी छोड़ कर वे देवताओं के साथ अन्यत्र चले गए और बलिराजा ने वहाँ रहते हुए एक सौ अश्वमेध यज्ञ किए ।

देवमाता अदिति ने अपने पुत्रों की दुर्दशा से दुखी होकर पति कश्यप ऋषि से सारा वृत्तान्त कहा । ऋषि ने फाल्गुन शुक्ल पक्ष के १२ दिनों तक भगवान् वासुदेव की उपासना "ओ३म् नमो भगवते वासुदेवाय" द्वादशाक्षरी महामन्त्र का जाप और अब्रह्मचर्य, हिंसा, असत्य आदि त्याग कर केवल दुग्धाहार से जपयज्ञ करने का आदेश दिया । पति आज्ञा शिरोधार्य कर अदिति ने ऐसा ही किया जिससे भगवान् ने प्रसन्न हो कर उसके यहाँ अवतार ग्रहण कर अभीष्ट संपादन करने का वरदान दिया । इसके बाद योग्य समय में अदिति की कुटि में आ कर भगवान वासुदेव ने भाद्र शुक्ला १२ (विजयाद्वादशी) के दिन वामन रूप से जन्म लिया । वामन बड़े तेजस्वी और उग्र ब्रह्म तेजवाले थे । वे योग्य वय में सब संस्कारों द्वारा सम्पन्न हुए ।

एक बार बलिराजा का अश्वमेध यज्ञ श्रवण कर वामन नर्मदा नदी के तट पर भृगुकच्छ क्षेत्र में गए जिससे समस्त ऋषि और सभासदगण निस्तेज हो गए । बलिराजा ने तेजस्वी वामन का बड़ा आदर सत्कार किया और इच्छित वस्तु याचना करने के लिए निवेदन किया । वामन ने उनके पूर्वजों और दानगुण की सराहना करते हुए अपने पैर के माप से तीन डग पृथ्वी माँगी । बलिराजा ने अधिक माँगने का बहुत आग्रह किया पर भगवान् वामन ने अधिक कुछ भी लेना स्वीकार न किया ।

राजा बलि याचित पृथ्वीदान करने के लिए हाथ में जलपात्र ले कर संकल्प करने के लिए तैयार हुआ तब शुक्राचार्य ने अपने निश्चय को बदलने के लिए राजा को बहुत समझाया तथा उस दान को सर्वनाशकारी बतलाया । बलिराजा ने गुरु की सलाह को अमान्य करते हुए कहा कि प्रह्लाद का पौत्र होकर मैं अपनी प्रतिज्ञा सत्य से विचलित कदापि नहीं हो सकता । उसे शुक्राचार्य ने अपनी आज्ञा उल्लंघन करने के अपराध में राज्यलक्ष्मी से भ्रष्ट होने का श्राप दे दिया । क्रुद्ध गुरु से श्राप पाकर भी महान् नरेश्वर सत्य से भ्रष्ट नहीं हुआ, उसकी पत्नी विन्ध्यावती भी उसे प्रतिज्ञा पालन में दृढ़ रहने के लिए उत्तेजित करती हुई वामन जी के चरण प्रक्षालनार्थ स्वर्ण कलश ले कर शीघ्रता से आ पहुँची । बलि राजा ने वामन जी के चरण युगल प्रक्षालन कर उनके द्वारा याचित तीन डग भूमि दान की । वामन जी का शरीर तत्काल अद्भुत रूप से बढ़ने लगा । देखते देखते पृथ्वी, स्वर्ग, दिशाएँ और आकाश उनके स्वरूप में समा गए । उन्होंने बलिराजा की समस्त पृथ्वी को एक पैर से तथा दूसरे पैर से स्वर्ग को अधिकृत कर लिया । तीसरे पैर की भूमि मापने के लिए बलिराजा के पास क्या बचा था ! उसके क्रुद्ध अनुचर वामन जी का मायाचार देख कर मारने दौड़े जिन्हें बलिराजा ने अपने दुर्दिन को दोष देते हुए रोक दिया । तत्पश्चात् तीसरे पैर की भूमि माँगने पर बलिराजा ने अपना मस्तक बताते हुए कहा कि तीसरा पैर मेरे मस्तक पर रखिए—मुझे अपकीर्ति का जितना भय है, स्थान भ्रष्ट होने का नहीं । आपने मुझ मदान्ध को ऐश्वर्य भ्रष्ट करके उपकार ही किया है ।

इस समय ब्रह्मा जी वामन भगवान् को निवेदन करने लगे—"हे ईश्वर ! आपने बलिराजा का सर्वस्व हरण कर लिया है और बन्धन में डाल दिया है । फिर भी इसने अपना ऐश्वर्य तथा अपने आपको ही श्री चरणों में समर्पित कर दिया है । लोग तो आपको जल दूर्वा दे कर ही उत्तम गति पा जाते हैं, फिर इसकी यह दशा करना योग्य नहीं है ।"

श्री वामन भगवान् ने कहा : "हे ब्रह्मा मैं जिस पर प्रसन्न होता हूँ, उसका धन हरण कर लेता हूँ, क्योंकि धनमद में प्राणी कल्याणमार्ग से पराङ्मुख हो जाता है । यह बलि राजा दैत्य और दानवों में अग्रणी है, इसने मेरी अजित माया को भी जीत लिया है क्योंकि ऐसे दुर्भाग्यपूर्ण समय में भी यह निर्भय निराकुल है । छल से बन्धन में आ कर भी धर्म और सत्य में अविचल है अतः देवों से भी दुर्लभ मेरे स्थान के योग्य तो यह कभी का हो चुका पर जब तक आठवाँ सावर्णि मन्वन्तर प्रारंभ हो तब तक भले ही सुतल में निवास करे ! वहाँ मानसिक कष्ट, आलस्य, थकावट, पराभव तथा शारीरिक उपद्रव नहीं, तथा मेरे संरक्षण में रहते हुए सदा अपने को मेरे पास ही पाएगा । दैत्यों के संसर्गजन्य इसके आसुरी भाव भी मेरे प्रभाव से नष्ट हो जाएँगे । पीछे सावर्णि मनु के समय में यह इन्द्र होगा और मैं उस समय इसका रक्षण करूँगा ।"

इसके बाद शुक्राचार्य ने भगवान् की आज्ञा से बलि राजा का अपूर्ण यज्ञ पूर्ण किया। बलिराजा सपरिवार अपने पितामह प्रह्लाद के साथ सुतल में रहने लगा। इस प्रकार भगवान् ने अदिति की मनोकामना पूर्ण की तथा इन्द्र को पुनः उसका स्वर्ग प्राप्त करा दिया।

इस .कथा का जैन ग्रन्थों में विष्णु कुमार की कथा के रूप में इस प्रकार वर्णन किया गया है। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों जैन संप्रदायों के ग्रन्थों की जैनमुनि विष्णुकुमार ने किस प्रकार रक्षा की इसके उदाहरण रूप में यह कथा अनेक ग्रन्थों में वर्णित है। अनेक ग्रन्थों की टीकाओं में एवं कथा संग्रह ग्रन्थों में अपनी अपनी शैली में अनेक जैन विद्वानों ने इसे प्रस्तुत किया है। परवर्ती कतिपय मौलिक रचनाएँ भी प्राप्त हैं। उन सब में 'वसुदेव हिन्दी ग्रन्थ' ही सब से प्राचीन ज्ञात हुआ है जो संघदास ने ७ वीं शती में प्राकृत भाषा में बनाया है। विविध रूपों से यह ग्रन्थ अत्यन्त मूल्यवान है। इसका संक्षिप्त परिचय नागरी प्रचारिणी पत्रिका में मैंने प्रकाशित किया है। जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर से इसका मूल एवं गुजराती अनुवाद प्रकाशित हो चुका है जैन ग्रन्थ 'वसुदेव हिन्दी' में वर्णित विष्णुकुमार की कथा निम्न प्रकार से है :

हस्तिनापुर नगर में पद्मरथ नामक राजा था, जिसके लक्ष्मीमती नामक रानी और विष्णु एवं महापद्म नामक दो पुत्र थे। पन्द्रहवें तीर्थंकर श्री धर्मनाथ स्वामी की परम्परा में सुव्रत नामक अणगार के पास राजा ने विष्णुकुमार के साथ दीक्षा ली और महापद्म हस्तिनापुर का राज्य करने लगा। परम संविग्न भाव से संयमाराधन कर राजर्षि पद्मरथ निर्वाण प्राप्त हुए और धर्मश्रद्धा में अविचल श्रमण विष्णुकुमार ने साठ हजार वर्ष पर्यन्त दुष्कर तप किया जिससे उन्हें विकुर्वणी, सूक्ष्म बादर विविध रूप कारिणी अंतर्धानी और गगनगामिनी-चार लब्धियाँ प्राप्त हुई।

महापद्म राजा के नमुचि नामक पुरोहित था जो महाजनों के बीच साधुओं से शास्त्रार्थ में पराजित होकर उनके प्रति द्वेष रखने लगा था। एक बार नमुचि राजा को प्रसन्न कर वरदान पा कर स्वयं राजा हो गया। राज्याभिषेक के सम्मान से सम्मानित नमुचि ने साधुओं को बुला कर कहा—"तुम लोग मेरा जयकार नहीं बोलते इससे ज्ञात होता है कि मैं तुम्हें मान्य नहीं हूँ।" साधुओं ने कहा—"हमारे वचनों से आपकी जय या पराजय थोड़े ही होती, स्वाध्याय ध्यान में लीन होने के कारण हमें आपके अभिषेक का वृतान्त भी मालूम नहीं हुआ।" नमुचि ने कहा "अधिक क्या ? मेरे राज्य में तुम लोग नहीं रह सकोगे" साधुओं ने कहा—"राजन्! वर्षा ऋतु में विहार करना शास्त्र विरुद्ध है अतः हम लोग शरद् ऋतु में चले जाएँगे। नमुचि ने कहा—"सात रात से अधिक जो यहाँ रहेगा उसका मैं बध कर दूँगा।" साधुओं ने कहा—"संघ एकत्र कर के हम आपको कहेंगे।"

स्थविरों ने एकत्र हो कर कहा—"आर्यो! श्रमण संघ पर विपति आई हुई है अतः जिसके पास जो शक्ति हो, कहो!" एक साधु ने कहा—"मुझ में आकाश मार्ग से गमन करने की शक्ति है, अतः जो कार्य हो आज्ञा कीजिए!" संघ स्थविरों ने कहा "आर्य! तुम अंगमन्दर पर्वतस्थ श्रमण विष्णु को कल ही यहाँ ले आओ!" वह साधु तत्काल आकाश मार्ग से जा कर दूसरे दिन विष्णुकुमार को साथ ले कर हस्तिनापुर आ पहुँचा। साधुओं को देशनिकाले का नमुचि का निश्चय ज्ञात कर विष्णु ने कहा "संघ निश्चिन्त रहे, अब मैं यह उत्तरदायित्व अपने पर लेता हूँ।"

विष्णु नमुचि के पास गए, उसने उनका खड़े हो कर स्वागत किया; विष्णु ने कहा "साधु लोग वर्षाकाल में यहाँ भले ही रहें" नमुचि ने कहा "आप स्वामी हैं तो महापद्म राजा के हैं इससे मुझे क्या? मैं आपको कुछ भी नहीं कहता, मुझे तो श्रमणों को अवश्य ही देश से निकालना है।" विष्णु ने कहा—"वर्षाकाल में पृथ्वी जीव जन्तुओं से भरी होने के कारण श्रवणों को विहार करना निषिद्ध है, अतः तुम्हारी अनुमति से यदि वे उद्यान गृहों में वर्षाकाल बिता कर नगर में प्रवेश किए बिना ही विदेश चले जाएँ तो भी मेरा वचन तुमने मान्य किया समझूँगा!" निमुचि ने कहा—"जो मेरे लिए बध्य हैं, मेरे उद्यानों में भी कैसे रह सकते हैं?" विष्णुकुमार ने कहा—"भरत आदि नरेश्वरों ने साधुओं का पूजन और संरक्षण किया है, तुम यदि उन्हें पूज्य न मानो तो ठीक, किन्तु 'साधु मेरे लिए बध्य हैं' ऐसा बोलना राजा के योग्य नहीं, ऐसा तो दस्युओं को भी शोभा नहीं देता अतः शान्त हो! वर्षाकाल बीतने पर साधु लोग स्वयं अन्यत्र चले जाएँगे।" नमुचि ने कहा—"तुम कहते हो पूर्व पुरुष साधुओं की पूजा करते थे, यह तो उस राजा का चरित्र होगा जो राजपुत्र हो। पीढ़ियों

से राज्य करता आया हो, उसका धर्म हो। मैं तो अपने वंश में पहला राजा हूँ। अतः मुझे दूसरों से कोई प्रयोजन नहीं, सात रात के बाद जो साधु दिखाई देगा वह जीवित नहीं रह.सकेगा आप जाइए! आपको मैं कुछ नहीं कहता, दूसरे साधुओं का जीवन आज से खतरे में ही समझिए।"

विष्णुकुमार ने कहा: "नमुचि! जब तुम्हारा यही निश्चय है तो ऐसा करो--मुझे एकान्त प्रदेश में तीन डग भूमि दो, जहाँ रह कर साधु लोग प्राण त्याग करेंगे। क्योंकि वर्षा काल में उन्हें विहार करना योग्य नहीं, इससे मेरा वचन भी रह जायगा और तुम्हारी साधुओं को बध करने की प्रतिज्ञा भी पूरा हो जाएगी।" नमुचि ने सन्तुष्ट होकर कहा—"यदि यह सत्य हो कि वे उस भूमि में से जीते बाहर न निकलें तो मैं देता हूँ।" विष्णुकुमार तीन डग भूमि लेना स्वीकार कर नगर के बाहर चले गए।

नमुचि ने विष्णुकुमार से कहा—"मैंने जो तीन डग भूमि आपको दी है माप कर ले लो! विष्णुकुमार रोष से प्रज्वलित थे, श्रमण संघ के संकट को दूर कर नमुचि को शिक्षा देने की भावना उनके चित्त को उद्वेलित कर रही थी। उन्होंने तीन डग भूमि मापने के लिए अपना विराट रूप विकुर्वण किया और पैर को ऊँचा किया। नमुचि भय से त्रस्त होकर विष्णु के चरणों में पड़ कर क्षमा याचना करने लगे। विष्णु ने ध्रूपद पढ़ा जिससे क्षण भर में वे दिव्य रूप धारी हो गए। उनके मुकुट की मणियों की किरण ज्योति से दिशाएँ रंगीन मालूम होने लगी। ग्रीष्म ऋतु के सूर्य की भाँति उनका तेज असह्य हो रहा था। कानों के कुण्डल संपूर्ण मण्डल शशाङ्क की भाँति चमकते थे। वक्षस्थल, श्वेत हार से शरद्ऋतु के धवल मेघालंकृत मंदराचल की भाँति शोभायमान था। कड़ा-केयूर पहिने हुए हाथ इन्द्र धनुष की भाँति भासित होते थे। मुक्ताओं के आलम्ब और अवचूल सूर्यमण्डल की माला सहित मध्य लोक जैसे प्रतीत होते थे। इस प्रकार वृद्धि पाते हुए विष्णु के रूप को देख कर भय संत्रस्त सुरासुर शिला, पर्वतशिखर और वृक्षादि अक्षेप करते थे जो उनके हुंकार की वायु से उछल कर इतस्ततः गिर जाते थे। विशाल देहवाले विष्णु को देख कर भयत्रस्त अप्सराएँ, किन्नर, किंपुरुष, भूत, यक्ष, राक्षस, महोरग, ज्योतिषि देवादि इतस्ततः चिल्लाते, काँपते हुए दौड़ने लगे। देखते देखते विष्णु का शरीर लाखों योजन ऊँचा हो गया। अत्यन्त तेजस्विता के कारण विष्णु किसी को प्रज्वलित अग्नि व किसी को चन्द्रवत् सौम्य प्रतीत होते थे। विष्णु के शरीर में क्रमशः वक्षस्थल, नाभि, कटिप्रदेश और घुटनों पर ज्योतिश्चकों का मार्ग आ गया, भूमि कम्प हुआ। विष्णु ने मंदरगिरि पर अपना दाहिना पैर रखा। इस पैर को उठाते ही समुद्र जल क्षुब्ध हुआ। विष्णु की हथेलियों के शब्द से महर्द्धिक देवों के अंग रक्षक त्रस्त, हो उठे।

इस प्रकार की विकट स्थिति में इन्द्र का आसन कम्पायमान हुआ। विपुल अवधि ज्ञान से सारी परिस्थिति ज्ञात कर इन्द्र ने नृत्य और संगीत मण्डली को आज्ञा दी कि नमुचि के अत्याचार से कुपित हो श्रमण भगवान् विष्णु ने विराट रूप धारण किया है अतः उन्हें गीत नृत्यादि द्वारा नम्रता पूर्वक शान्त करो! इन्द्राज्ञा से मेनका, रंभा, उर्वशी और तिलोत्तमा ने विष्णु की दृष्टि के समक्ष नृत्य किया। वाजित्र ध्वनि के साथ "भगवन्! शान्त हों" भावमय कर्णमधुर स्तुति करते हुए जिनेश्वरों के क्षमादि गुण वर्णन सह तुम्बरू, नारद, हा हा, हू हू, और विश्वासु ने गायन किया। भगवान् विष्णु को प्रसन्न करने के लिए देवराज इन्द्र के सपरिवार आगमन की बात सुन कर वैताढ्य श्रेणिवासी महर्द्धिक विद्याधर भी आ कर मिल गए और विष्णु के चरण कमलों में लीन होकर स्तुति करने लगे। तुम्बरू और नारद ने विद्याधरों पर प्रसन्न होकर संगीत कला का वरदान देते हुए सप्त स्वराश्रित गांधार स्वरमय विष्णु गीति का प्रदान की।

"उत्तम साहुवरिद्वया! न हु कोवो वण्णिओ जिणिंदेहिं।
हुंति हु कोवनसीलया, पावंति बहूणि जाइयव्वाइं॥"

हे साधु श्रेष्ठ! शान्त हों! जिनेश्वरों ने भी क्रोध को उत्तम नहीं कहा, जो क्रुध होते हैं वे बहु संसार भ्रमण करते हैं।

विद्याधरों ने आभार पूर्वक यह गीतिका ग्रहण की।

इधर नमुचि के अविनीत प्रसंग और भगवान् विष्णु की अपूर्व चेष्टा और उनके विराट् रूप को ज्ञात कर राजा महापद्म नगर और जनपद सहित संघ की शरण में आया और गद्गद् वाणी से कहने लगा: "मैं भगवान् सुव्रत अणगार का शिष्य श्रमणोपासक हूँ, मेरी रक्षा कीजिए! मैं आपके शरणागत हूँ।" श्रमण संघ ने कहा—"तुमने कुपात्र को राजा स्थापित किया, हमें खबर भी नहीं दी यह तुम्हारी बड़ी भूल हुई अस्तु, हमारी तो कोई बात नहीं तुम्हारी विषय प्रमत्त वृत्ति और

असावधानी से आज त्रैलोक्य का अस्तित्व ही खतरे में आ गया है। अतः श्रमण विष्णुकुमार को शान्त करो। तत्पश्चात् समस्त श्रमण संघ विष्णु के चरणों में कर बद्ध प्रार्थना करने लगा "हे विष्णु! शान्त हों, संघ ने महापद्म राजा को क्षमा कर दिया है, आप चरण न हिला कर अपने स्वाभाविक रूप में आएं। आपके तेज से कम्पित पृथ्वी रसातल को जा रही है, यह श्रमण संघ आपके चरणों के अति निकट अवस्थित है।" लाखों योजन ऊँचा होने के कारण श्रवण मर्यादा के बाहर श्रमण संघ के वचन नहीं सुनने से बहुश्रुत श्रमणों ने कहा—"विष्णु की श्रोतेन्द्रिय गगन मण्डल के किसी भाग में है, लाखों योजन ऊंची देह है और बारह योजन से आगे शब्द नहीं सुनाई देते। अतः भगवन् के चरणों का स्पर्श करने से वे देखेंगे तो श्रमण संघ को देख कर अवश्य शान्त होंगे।" ऐसा विचार कर सब ने जब चरण दबाया तो विष्णु महर्षि ने पृथ्वी की ओर देखा। अपने अन्तःपुर और परिजनों के साथ राजा महापद्म श्रमण संघ की शरण में हैं तथा श्रमण संघ भी "शान्त हो" बोलते हुए स्वचरणों के निकट देख कर उन्होंने सोचा—"मक्खन की तरह कोमल स्वभाववाले श्रमण संघ ने राजा महापद्म को अवश्य क्षमा कर दिया है अतः संघ की इच्छा का मुझे भी उलंघन नहीं करना चाहिए।"

देवों के वचन से मृदु हृदयवाले विष्णु अणगार संघ की इच्छानुसार अपना रूप संकोच कर शरद् ऋतु के चन्द्रमा की तरह सौम्य हो कर भूमि पर विराजमान हुए। देव, दानव, विद्याधरादि वर्ग पुष्प वृष्टि कर के स्वस्थान गए।

इस प्रकार अपने स्वाभाविक रूप में आने के बाद विष्णुकुमार ने राजा महापद्म को राज्य श्री के अयोग्य बतलाते हुए उसे कैद कर उसके पुत्र को न्यायपूर्वक प्रजापालन करने का निर्देश किया। भगवान् विष्णु की कृपा से प्रजा ने भी उस पुत्र को राजा स्वीकार किया। बध किए जाते नमुचि को श्रमण संघ ने बचा लिया, उसे देश से निष्कासित कर दिया गया।

विष्णु अणगार एक लाख वर्ष तक तप करके कर्म मल को दूर कर केवल ज्ञान, केवल दर्शन प्राप्त कर निर्वाण लक्ष्मी—मोक्ष पधारे।

यहाँ दोनों कथानकों के साम्य वैषम्य पर भी संक्षिप्त विचार करना आवश्यक है। १ भागवत में वृहद् रूप धारण करनेवाले वामन वासुदेव विष्णु के अवतार हैं। ऋग्वेद में वामन को विष्णु ही कहा है। जैन कथा में नाम विष्णुकुमार है; अतः नाम एक ही है २ भागवत में वामन के ऐसा करने का कारण इंद्र का कष्ट हटाना और सहायता करना बतलाया है। ऋग्वेद के अनुसार भी वे इंद्र के सखा थे। जैन विष्णुकुमार ने मुनियों के कष्ट निवारणार्थ वृहद् रूप धारण किया था दोनों में कष्ट निवारणार्थ उद्देश्य तो एक सा ही है व्यक्ति अलग अलग हैं। ३ जिस राजा से तीन डग भूमि की माँग की गई भागवतादि के अनुसार उसका नाम बलिराजा था। जैन कथानुसार नमुचि। नाम की तरह उनके चरित्र में भी बड़ा अन्तर है। भागवत के अनुसार बलिराजा एक दानी और दृढ़-प्रतिज्ञ आदर्श व्यक्ति था—गुणी जनों का आदर करनेवाला पर नमुचि दुष्ट था, उसके अत्याचार के कारण ही जैन-मुनि को अपनी तपःशक्ति का प्रयोग करना पड़ा था, उनका कार्य उचित जान पड़ता है। नमुचि के प्रति पाठक की सहानुभूति नहीं उत्पन्न होती। बलि जैसे किसी धर्मिष्ट को अकारण-केवल इन्द्र की ही सहायता के लिए वामन का कष्ट देना अनुचित लगता है, बलि के प्रति पाठकों की सहज सहानुभूति होगी। पुराणों में भी अवतारों का कार्य दुष्ट दमन और साधु संरक्षण बतलाया है जो विष्णुकुमार के कार्य की पुष्टि करता है। वामनावतार को उस रूप में चित्रित नहीं किया गया, अकारण कष्ट दिया है। इस दृष्टि से जैन कथा अधिक संगत है। वामन के कार्य के अनौचित्य का उद्घाटन ब्रह्मा की स्तुति से भी भली भांति हो जाता है। यद्यपि वामन ने अपना बचाव करने का प्रयत्न किया है, वह जनसाधारण की दृष्टि में सफल नहीं होता। उच्च भूमिकावालों को ही भले ठीक जँचे। धन एवं ऐश्वर्य पाकर यदि बलिराजा अनाचार और अत्यचार करने लगा ऐसा चित्रण किया जाता तो फिर भी कुछ संगति बैठ जाती। पर उसे तो प्रशंसनीय बतलाया गया है। ४ तीन डग जितनी भूमि माँगने और मापते समय वृहद् रूप धारण कर छलने की बात दोनों में समान है ही। वास्तव में वही सबसे प्रधान साम्य माना जाना चाहिए।

—अगरचन्द नाहटा

नाहटों की गवाड़
बीकानेर

श्री बाबूराव विष्णु पराडकर

राष्ट्रभाषा प्रचार समिति वर्धा भारत की अखिल भारतीय संस्थाओं में एक विशेष स्थान रखती है। भारत के ८-९ हिन्दीतर प्रान्तों में तथा विदेशों में भी राष्ट्रभाषा के प्रचार द्वारा इस समिति ने भारतीय राष्ट्र की और राष्ट्रभाषा हिन्दी की महती सेवा की है और 'एक हृदय हो भारत जननी' के दिव्य संदेश को घर-घर पहुँचाने का प्रयत्न किया है।

समिति की विभिन्न प्रवृत्तियों में प्रतिवर्ष अखिल भारतीय राष्ट्रभाषा प्रचार सम्मेलन का आयोजन भी है। गत ४ वर्ष से अधिवेशन देश के विभिन्न प्रान्तों में सफलता के साथ सम्पन्न हुए हैं।

प्रचार सम्मेलन के दूसरे अधिवेशन (अहमदाबाद) में बाबा राघवदास जी की प्रेरणा से एक महत्वपूर्ण प्रस्ताव पास हुआ था, जिसके द्वारा यह घोषणा की गई थी कि राष्ट्रपिता पूज्य महात्मा गांधी की पुण्य स्मृति में प्रति वर्ष १५०१) का "महात्मा गांधी पुरस्कार" हिन्दीतर भाषा भाषी किसी ऐसे सज्जन को दिया जायगा, जिसने अपने जीवन-काल में राष्ट्रभाषा हिन्दी की अमुल्य सेवा की हो।

सन् १९५१ में पूना सम्मेलन के अवसर पर पहली बार "महात्मा गांधी पुरस्कार" संस्कृति संगम के प्रवीण-प्रबोधा, अनैक्य के मध्य एक्य-सूत्र के सन्धानकारी विश्वभारती शान्तिनिकेतन के वयोवृद्ध आचार्य श्री क्षितिमोहनसेन को प्रदान किया गया था।

गत वर्ष १९५२ में बम्बई सम्मेलन के अवसर पर यह पुरस्कार वेदज्ञान प्रवर्तक, कर्म और योग के प्रयोक्ता, स्वाध्याय मण्डल आनन्दाश्रम पारडी के संस्थापक वयोवृद्ध महर्षि श्रीपाद दामोदर सातवलेकर जी को भेंट किया गया।

इस वर्ष (१९५३) में नागपुर में होने वाले राष्ट्रभाषा प्रचार सम्मेलन के पाँचवें अधिवेशन के मौके पर १५०१) का 'महात्मा गांधी पुरस्कार' वर्तमान हिन्दी पत्रकार पीढ़ी के पिता-तुल्य समर्थ-पत्रकार राष्ट्रभाषा हिन्दी के एकनिष्ट सेवक, साहित्य वाचस्पति श्री बाबूराव विष्णु पराडकर जी को प्रदान किया जा रहा है।

श्री पराडकर जी भारत की एक ऐसी विभूति हैं जिन्होंने जीवन भर लेखनी के द्वारा एक समर्थ पत्रकार की हैसियत से घटनाओं और व्यक्तियों की, विदेशी सरकार के निरंकुश निर्णयों की निष्पक्ष और निर्भीक आलोचना की है तथा पत्रकारिता को गौरव प्रदान किया है। मराठी भाषी होते हुए भी श्री पराडकर जी ने हिन्दी की इतनी सेवा की है कि हिन्दी जगत् उनका नाम सदैव आदर और श्रद्धा के साथ लेता रहेगा। श्री पराडकर जी का गम्भीर चिन्तन, सूक्ष्म दृष्टि, सुयोग्य विश्लेषण, सचोट आलोचना और गंभीर शैली, तथा सबसे अधिक अपने विचारों के प्रति उनकी ईमानदारी—वे गुण हैं जिन्होंने उनके व्यक्तित्व को बहुत ऊपर उठा दिया है।

श्री पराडकरजी का जन्म कार्तिक शुक्ल ६ संवत् १९६० को काशी के एक महाराष्ट्रीय परिवार में हुआ था। आपकी शिक्षा-दीक्षा भागलपुर बिहार में हुई, जहाँ आपके पिता एक अँग्रेजी स्कूल में संस्कृत के अध्यापक थे। भागलपुर से मेट्रिक पास कर जब आप सन् १९०३ में बनारस आये, तो कांग्रेस के स्वयं सेवक बने और मन ही मन लोकमान्य तिलक को अपना गुरु मानने लगे। पूज्य पिता की असामयिक मृत्यु के कारण आप अपना कालेज अध्ययन चालू न रख सके। विवश हो कर जीविका उपार्जन के लिए आप अपने मामा सखाराम देउस्कर के पास कलकत्ता चले गये जो उन दिनों बँगला के "हितवादी" का सम्पादन करते

थे। यहाँ आप "हिन्दी बंगवासी" के सम्पादकीय विभाग में काम करने लगे। कार्यालय के काम के पश्चात् जो भी समय बचता था, उसका उपयोग आपने विविध विषयों के अध्ययन में लगाया।

'हिन्दी बंगवासी' पत्र की नीति कट्टर सनातनी थी और वह सदा काँग्रेस को नीचा दिखाने का प्रयत्न करता था। श्री पराडकर जी के विचारों से इसका मेल न खाता था, इसलिए आपने उससे छुट्टी ली।

कुछ समय तक आप श्री अरविन्द घोष की राजनीति में भी रहे। उनके राष्ट्रीय विद्यालय में कुछ समय तक आपने अध्यापन कार्य भी किया था उसके पश्चात् आप "हितवार्ता" नामक हिन्दी पत्र में काम करने लगे। यहाँ आपको अपनी प्रतिभा के दिखाने का मौका मिला। कुछ समय बाद आपने "साप्ताहिक-भारतमित्र" में काम किया जो आगे चल कर दैनिक के रूप में निकलने लगा।

आतंकवादियों से सम्बन्धित होने के कारण सन् १९१६ में आपको ३॥ वर्ष जेल में बिताने पड़े। जेल से छूटने के बाद आप काशी आये। काशी के प्रसिद्ध राष्ट्रीय कार्यकर्ता श्री शिवप्रसाद गुप्त जी ने उन्हें कलकत्ता जाने से रोक लिया और ज्ञानमंडल से प्रकाशित होनेवाले पत्र "आज" में सहायक सम्पादक के स्थान पर नियुक्त किया। कुछ समय पश्चात् आप प्रधान सम्पादक बने और तब से आज तक अपनी अनवरत साधना द्वारा "आज" की सेवा करते आ रहे हैं। बीच में कुछ दिनों के लिये आप 'आज' से पृथक हो गये थे। उस अवधि में उन्होंने 'संसार' निकाला था जो आज भी निकल रहा है। किन्तु श्री पराडकर जी पुनः 'आज' में आगये और आज भी प्रधान सम्पादक की हैसियत से उसका सम्पादन कर रहे हैं।

श्री पराडकरजी को प्रायः हिन्दी पत्रकार पीढ़ी का पिता कहा जाता है और ऐसा कहने में कोई अत्युक्ति भी नहीं है। श्रद्धेय अम्बिकाप्रसाद बाजपेई, स्वर्गीय महावीर प्रसाद द्विवेदी और श्री पराडकरजी ही वे व्यक्ति हैं, जिन्होंने हिन्दी पत्रकारिता को जन्म दिया था, और आधी शताब्दी तक अपने अनवरत परिश्रम द्वारा उसे परिपुष्ट बनाया है।

श्री पराडकर जी के शब्दों में—"मैंने १९०६ में नवरात्रि के बाद पत्रकारी के क्षेत्र में प्रवेश किया था। तब से अब तक लगातार अविश्रान्त रूप से काम करना पड़ा है। अब मैं विश्राम लेना चाहता हूँ।"

यहाँ यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि इस वयोवृद्ध तपस्वी ने अपनी प्रखर प्रतिभा और अविराम परिश्रम के द्वारा हिन्दी पत्रकारिता को कितना ऊँचा उठाया और कितना सर्वजन प्रिय बनाया है। श्री पराडकर जी ने जब अपना पत्रकार जीवन प्रारंभ किया था, हिन्दी पत्रकारिता का क्षेत्र बड़ा ही संकुचित था। धार्मिक और सामाजिक प्रश्नों की उथली चर्चा, व्याकरण का वितंडावाद और व्यंग-हास्य-विनोद ही उस समय की पत्रकारिता के प्रधान विषय थे। महत्वपूर्ण विषयों की ओर ध्यान नहीं दिया जाता था। सम्पादकों की भाषा में भाषा-सौष्ठव तो काफ़ी रहता था, शब्द सौन्दर्य की झाँकी भी मिलती थी, क्लिष्ट अलंकृत शैली भी मिलती थी, किन्तु न वहाँ विषय की पकड़ रहती थी और न उसका प्रतिपादन। पत्रकारी के क्षेत्र में प्रवेश करते ही श्री पराडकर जी ने सबसे पहला काम तो यह किया कि भाषा की दृष्टि से तत्कालीन पं० गोविन्दनारायण मिश्र की शैली को न अपनाकर उन्होंने भाषा पर से संस्कृत शब्दों के असह्य भार को हटा कर उसे सरल बनाया और छोटे-छोटे गम्भीर वाक्यों की परिपाटी चलाई। भाषा को उन्होंने इस तरह सुधारा-माँजा कि वह बोधगम्य बनी और सच्चे अर्थों में जनता की भाषा बनी।

विषय की दृष्टि से भी पराडकर जी की लेखनी ने बड़ा व्यापक क्षेत्र अपनाया। साहित्य, समाज जैसे विषयों पर तो आप लिखते ही थे राजनीतिक और सांस्कृतिक गम्भीर प्रश्नों पर भी आप अपना निष्पक्ष मत बड़ी निर्भीकता के साथ व्यक्त करते थे। देश ही क्यों जागतिक प्रश्नों पर भी श्री पराडकर जी अपनी लेखनी एक अधिकारी के नाते चलाते थे।

श्री पराडकर जी द्वारा सम्पादित 'आज' कोई सामान्य पत्र न था। वह अंग्रेजी के पत्रों से टक्कर लेनेवाला पत्र था। इसमें तनिक भी अत्युक्ति नहीं कि 'आज' में प्रकाशित होनेवाले श्री पराडकर जी के अग्रलेख और टिप्पणियाँ हिन्दी ही क्यों, भारत में अंग्रेजी तथा अन्य प्रान्तीय भाषाओं में प्रकाशित होनेवाले किसी भी पत्र-पत्रिका के अग्रलेखों और टिप्पणियों से किसी भी रूप में हल्के नहीं होते थे। 'आज' के अग्रलेख और टिप्पणियाँ उच्च सरकारी क्षेत्रों में और नेताओं के बीच बड़े ध्यान से पढ़ी जाती थीं।

'आज' को जो भी सम्मान मिला, 'आज' की जितनी भी उन्नति हुई, उसका सम्पूर्ण श्रेय श्री पराडकर जी को है। श्री कमलापति त्रिपाठी जी ने एक स्थान पर ठीक ही लिखा है कि "पैसा या पूञ्जी से पत्र नहीं चलता। वह भी एक अंश है, पर गौण। पत्र की प्रेरक शक्ति सम्पादक है। श्री शिवप्रसाद जी का धन 'आज' को अकेला नहीं चला सकता, यदि उसे पण्डित जी (श्री पराडकर जी) की कलम का सहारा न प्राप्त होता।"

इस भव में सभी संभव है। एक दिन ऐसा भी आया, जब श्री पराडकर जी को कुछ समय के लिए अपने प्रिय पत्र "आज" से पृथक् होना पड़ा था। 'आज' से पृथक् हो कर श्री पराडकर जी अपनी लेखनी को विश्राम देना चाहते थे, किन्तु यह उन्हीं की सामर्थ्य थी कि कलम रखते-रखते एक नए पत्र "संसार" को अपने पैरों पर खड़ा कर दिया। और यह कार्य उन्होंने तब किया, जब उनका स्वास्थ्य गिर रहा था, पारिवारिक झंझटें परेशान कर रही थीं; परिस्थितियाँ प्रतिकूल थीं और वृद्धावस्था उन्हें निर्बल बना रही थीं।

जब श्री पराडकर जी 'संसार' से पृथक् हुए तब उनकी विदाई के समय उनका अभिनन्दन किया गया। उस समय जो उद्गार उन्होंने प्रकट किए थे, वे उन्हीं के शब्दों में यहाँ दिए जाते हैं।

"संसार, से मेरा सम्बन्ध कैसे टूट सकता है ? मैं तो केवल पुराने जमाने के गृहस्थ की भाँति वानप्रस्थ लेना चाहता हूँ। यह मेरा सौभाग्य रहा कि सहयोगियों का स्नेहपुर्ण सहयोग मुझे सदैव मिलता रहा। प्रतिद्वन्दिता और ईर्षा करने का मुझे कभी अनुभव ही नहीं हुआ। इस प्रदेश के लोगों की यह विशेषता है कि उनकी हिन्दी भाषा में इतर भाषा भाषियों के प्रति अवज्ञा सूचक शब्द ही नहीं हैं, क्योंकि उनमें यह भाव ही नहीं। मराठी भाषी होने पर भी कभी मुझे हिन्दी भाषियों से तिरस्कार या उपेक्षा या बिलगाव न मिला।"

हिन्दी को और विशेषत: हिन्दी पत्रकारिता को श्री पराडकरजी की देन अमूल्य है। उनका अध्ययन इतना गम्भीर है, सूझ ऐसी पैनी है कि यदि उन्हें अवकाश मिला होता, तो उन्होंने हिन्दी साहित्य को अनेक अमूल्य ग्रन्थों की भेंट दी होती। किन्तु "आज" और "संसार" जैसे दैनिक पत्र की जुम्मेदारियों ने उनके जीवन का सारा समय ले लिया। उनकी लेखनी का कृतित्व आज और "संसार" की अब तक की फाइलों में यत्र-तत्र बिखरा पड़ा है। आवश्यकता इस बात की है, उसे चुना जाए और उसका संग्रह किया जाए।

श्री पराडकर जी के सैकड़ों अग्रलेखों और हजारों टिप्पणियों से न केवल विविध विषयों की अमूल्य जानकारी प्राप्त की जा सकती है, वरन् उनमें राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास की झाँकी देखी जा सकती है। हिन्दी पत्रकारिता कैसे विकसित होती गई यह समझा जा सकता है और सब से अधिक उनमें प्रतिबिम्बित होनेवाले पराडकर जी के अपूर्व व्यक्तित्व के दर्शन किए जा सकते हैं।

ऐसे वयोवृद्ध, कर्मठ पत्रकार, हिन्दी हितैषी श्री पराडकर जी का सम्मान करके राष्ट्रभाषा प्रचार समिति ने न केवल एक स्तुत्य कार्य किया है, वरन् वह स्वयं भी गौरवान्वित हुई है। हिन्दी जगत् श्री पराडकर जी के ऋण से उऋण नहीं हो सकता। वह दीर्घजीवी बन कर हिन्दी को आशीर्वाद देते रहें यही मंगल कामना है।

राष्ट्रभाषा प्रचार समिति,
वर्धा

—रामेश्वरदयाल दुबे
एम. ए.

कठिनाइयाँ कमजोर व्यक्ति के लिए निर्दयी शासक बन जाती हैं परन्तु आज्ञाकारी सेवक की तरह आत्म संकल्पवान व्यक्ति की सहायता करती हैं।

—जेम्स एलन

हिन्दी चारण-काव्य में वीर-रस-निरूपण

(१६००-१८०० ई०)

चारण काव्य की परिभाषा : प्रत्येक भाषा का साहित्य अपने समय की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा अन्य प्रकार की परिस्थितियों और प्रवृत्तियों का प्रतिबिम्ब होता है। जब हिन्दी साहित्य पर दृष्टिपात करते हैं तो यह बात और भी अधिक स्पष्ट हो जाती है। हिन्दी साहित्य की उत्पत्ति के समय भारतवर्ष छोटे छोटे स्वतन्त्र राज्यों में विभाजित था। इन राज्यों में आए दिन युद्ध होते रहते थे। इन राज्यों के शासकों के आश्रित कवि अपने आश्रयदाताओं की प्रशंसा किया करते थे। यह कवि प्रायः चारण, भाट आदि हुआ करते थे। वीर-काव्य की यह परम्परा हिन्दी साहित्य के स्वर्णयुग-भक्ति काल-में होती हुई रीति काल तक समानान्तर रूप से चलती रही और अब भी प्रवाहित हो रही है। यह दूसरी बात है कि युग विशेष में विशेष परिस्थितियों और भावनाओं की प्रधानता के कारण उसका रूप आक्रान्त होता रहा हो। आलोच्य काल में एक ओर तो रीति ग्रन्थों का निर्माण होता रहा और दूसरी ओर ये कवि अपने आश्रयदाताओं के युद्धों एवं वीरतापूर्ण कार्य कलापों का गुण-गान करते रहे। इस काल में कुछ ऐसे कवि थे जो आदिकालीन चारणधारा के समान कोरी प्रशंसात्मक कविता ही किया करते थे। पर कुछ ऐसे प्रतिभा-सम्पन्न कवि भी थे जो अपने आश्रयदाताओं के वास्तविक गुणों ही का बखान करते थे। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि इन कवियों में से अधिकांश का चारण जाति से कोई सम्बन्ध नहीं था।

उपर्युक्त विवेचन का अभिप्राय यह है कि प्रस्तावित विषय के अन्तर्गत उन सभी कवियों को सम्मिलित किया गया है जिन्होंने ऐतिहासिक घटना को ले कर अपने ग्रन्थों का निर्माण किया है या अपने आश्रयदाताओं या उनके पूर्वजों की प्रशंसा की है। इसी अर्थ में चारण काव्य शब्द का प्रयोग इस निबन्ध में वीर रस के अध्ययन के लिए किया गया है।

सामान्य स्थिति : रस निरूपण के विचार से इस धारा का प्रमुख स्थान है। रस वर्णन की प्रवृत्तियों की दृष्टि से आलोच्य ग्रन्थों को निम्नलिखित भागों में विभाजित किया जा सकता है :

१. कुछ ग्रन्थ रसों के लक्षण और उदाहरण वर्णन करने के विचार से लिखे गए हैं, जैसे—मतिराम कृत 'ललित ललाम'।

२. अलंकारों के रीतिग्रन्थ जिनमें उदाहरण रूप में विविध छन्दों में रसों का परिपाक दिखलाया गया है। इस कोटि में 'शिवराज भूषण' और 'जगद्विनोद' आते हैं।

३. ग्रन्थ जो कविता की दृष्टि से लिखे गए हैं और जिनमें विविध रसों के उदाहरण मिलते हैं। इसके अन्तर्गत शेष सभी ग्रन्थ सम्मिलित हैं।

इस काल में यद्यपि सभी रसों का किसी न किसी रूप में प्रयोग होता रहा है, पर कुछ ऐसे विशिष्ट रस थे जिनका प्रायः सभी कवियों ने रुचि वैचित्र्य के साथ प्रयोग किया है। उन रसों के नाम ये हैं :—

वीर रस (चारों प्रकार के युद्ध, दान, दया, धर्म) शृंगार, बीभत्स, रौद्र और भयानक।

कम प्रयुक्त होनेवाले रसों में करुण, हास्य, अद्भुत तथा शान्त रस की गणना की जा सकती है।

वीर रस : वीर रस-निरूपण की प्रवृत्ति सभी ग्रन्थों में दृष्टिगोचर होती है। वीर रस के चारों प्रकार-युद्ध, दान, दया और धर्म वीर के चित्रण करने की ओर इन कवियों का ध्यान गया है, पर प्रधानता युद्धवीर और दानवीर की ही रही है। ऐसा होना स्वभाविक भी था। ये कवि राजाश्रित थे। उनके दान और युद्ध-कौशल की प्रशंसा करना इनके लिए नितान्त आवश्यक था। पर कुछ ऐसे कवि भी थे, जिन्होंने अपने चरित्र-नायकों के वीरत्व एवं शौर्य का वास्तविक अंकन करना ही अपना लक्ष्य बनाया था। उनकी रचनाएँ वीर रस की दृष्टि से अधिक सफल बन पड़ी हैं। उदाहरणार्थ केशव की 'रतन-बावनी' तथा भूषण की रचनाएँ ली जा सकती हैं।

वीर-रस के प्रसंग में अस्त्र-शस्त्र आदि युद्ध-सामग्री, वीरों की सजावट, सैन्य-प्रस्थान, वीरों की गर्वोक्तियाँ, पौरुषपूर्ण कार्यों, तुमुल कोलाहल आदि के सजीव चित्र अंकित किए गए हैं जिन से वीर-रस का वास्तविक चित्र पाठक के हृदयपटल पर अंकित हो जाता है। इस

सम्बन्ध में केशव, भूषण, मान और सूदन की रचनाएँ विशेष उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त जटमल, गुलाब एवं सदानन्द को भी वीर-रस के वर्णन में पर्याप्त सफलता मिली है।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि कुछ कवियों ने अपने आश्रयदाताओं की दानशीलता का वर्णन करने में ऊहात्मक उड़ानें भरी हैं। इस प्रसंग में दान की सामग्री 'गज' आदि का वर्णन जी खोल कर किया गया है। मान, मतिराम तथा सदानन्द के नाम इस सम्बन्ध में विशेष उल्लेखनीय हैं। ऐसे अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णनों में अस्वाभाविकता एवं नीरसता का समावेश हो गया है। संयुक्ताक्षरों की वर्णन-शैली का प्रयोग ही वीर रस-निष्पति की वास्तविक शैली है ऐसा समझनेवाले भी इस धारा में अधिकांश कवि थे। ऐसे कवियों में मान और सूदन प्रमुख हैं।

युद्ध सामग्री का वर्णन करने में उपमा, उत्प्रेक्षा, सन्देह आदि अलङ्कारों का सहारा ले कर बाह्य तड़क-भड़क में मग्न रहनेवाले केशव और पद्माकर उक्त प्रसंगों में वास्तविक रस निरूपण करने में असफल रहे हैं।

कुछ कवियों का ध्यान केवल अपने नायकों के युद्धों आदि का वर्णन करने की ओर ही गया, इस कारण वीर रस का उनकी रचनाओं में अभाव पाया जाता है। ऐसे कवियों में गोरेलाल तथा श्रीधर विशेष उल्लेखनीय हैं।

वीर रस के साथ एक ही छन्द में अन्य रसों के मिश्रित कर देने की प्रवृत्ति भी इस युग में प्रचलित थी।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि इन काव्यों में प्रधानता वीर-रस ही की रही है। इस रस की अधिक विस्तृत वस्तु-स्थिति को हृदयंगम करने के लिए नीचे कुछ प्रमुख कवियों की रचनाओं में क्रमशः वीर-रस के चित्रण पर विचार किया जाता है। ऐसा करने से वीर-रस का चित्रण अंग प्रत्यंग सहित स्पष्ट हो जाएगा, ऐसी आशा है।

केशव : केशव ने 'वीरसिंहदेव चरित' में वर्णनात्मक शैली का अनुकरण करके अपनी स्वाभाविक चमत्कार-प्रियता को प्रधानता दी है। यही कारण है कि इसमें रस सामग्री और रस-परिपाक की ओर कवि ने पर्याप्त ध्यान दिया है और यदि उसका ध्यान उधर गया भी है तो वह उसका समुचित रूप से निर्वाह नहीं कर पाया है। 'वीरसिंहदेव चरित' में बहुत कम ऐसे स्थल आए हैं जहाँ पर केशव वीर रस चित्रण का प्रयत्न करते हुए दिखलाई पड़ते हैं। वह अपने इस कार्य में कहाँ तक सफल हुए हैं यह जानने के लिए कुछ उदाहरणों की सहायता से नीचे विचार किया जा रहा है :

'वीरसिंह देवचरित' का नायक वीर राजपूत था। उसके चरित्र का आश्रय पा कर कवि वीर रस के अच्छे चित्र उपस्थित कर सकता था। पर उसकी ओर उसका ध्यान बहुत कम गया है। वीर रस का एक उदाहरण देखिए, अबुलफ़ज़ल की वीरता का वर्णन करते हुए केशव लिखते हैं :

> "काढ़े तेग सोह यों सेख,
> जनु तनु धरे धूमधुज देख।
> दण्ड धरैं जनु आपुन काल,
> मृत्यु सहित जम मनहु कराला।"

कहने की आवश्यकता नहीं है कि ऊपर का वर्णन साधारण कोटि का है।

अस्त्र शस्त्र का वर्णन वीर रस के अन्तर्गत ही माना जाता है। भूपालराव की तलवार के वर्णन में केशव ने एक सुन्दर छन्द लिखा है :

> "कालिका की केलि सी, कै कालकूट बेलि सी,
> कै काली कैसी जीभ किधौं कालदण्ड कामिनी।
> किधौं केसौदास ओछी तच्छक की देह दुति,
> जातना की जोति किधौं जात अन्तगामिनी॥
> मीच कैसी छाँह, विष कन्या कैसी बाँह,
> किधौं रनजय साधि तानी सिद्धि अभिरामिनी।
> राती राती माती अति लोहू की भूपालराई,
> तेरी तरवारि पर वारि डारौं दामिनी॥"

उक्त छन्द में उपमा और सन्देह की सहायता से तलवार का अच्छा वर्णन हुआ है, ऐसे उदाहरणों से स्पष्ट है कि कवि में वीर-रस चित्रण की प्रतिभा थी पर पांडित्य, आचार्यत्व, शृंगार आदि के चक्कर में पड़ कर इधर पर्याप्त ध्यान नहीं दे सका।

इस प्रकार वीर-रस-निरूपण और रस-परिपाक की दृष्टि से 'वीरसिंहदेव-चरित-' अत्यन्त साधारण रचना है। सब से अधिक आश्चर्य की बात तो यह है कि ग्रन्थ के नायक के वीरत्व के सम्बन्ध में कवि सर्वथा मौन रहा है। केवल उनके कार्य-कलापों का इतिवृत्तात्मक उल्लेख

भर उसने कर दिया है ।

वीररस के उक्त अभाव की बहुत कुछ पूर्ति 'रत्नबावनी' में केशव द्वारा कर दी गई है। कवि ने इस छोटी सी रचना में वीर-रस का वर्णन ओजस्विनी भाषा में अत्यन्त उत्तम ढंग से किया है । एक उदाहरण से इस कथन का स्पष्टीकरण हो जायेगा :

" दीठि पीठि तन फेर पीठ तन इक्क न दिख्खिय ।
फिरहु फिरहु फिर फिरहु कहत दल सकल उमग्गिय ।
ठान ठान निज शान मुरकि पाठान जु धाए ।
काढ़ काढ़ तरवार तरल ता छिन तठ आए ।
इक्क इक्क घाउ घल्लिव सबन रतनसेन रनधीर कहँ ।
जनु ग्वाल बाल होरी हरषि खण्डल छोर अहीर कहँ ॥"

ऊपर के छन्द ही के समान 'रत्नबावनी' में अन्य छन्द भी देखे जा सकते हैं जो ओज और वीर रस से परिपूर्ण हैं। अत एव वीररस की दृष्टि से 'रत्नबावनी' अत्यन्त उत्कृष्ट रचना है । इससे सिद्ध हो जाता है कि चमत्कारवादी, श्रृंगारी एवं आचार्य कवि केशव में वीर-रस-चित्रण की पूर्ण पटुता और प्रतिभा थी, पर परिस्थितियों के कारण वे इसकी ओर अपना मन न लगा सके और वीर-रस उपेक्षित हो कर गौण बन गया तथा अन्य बातों को प्राधान्य प्राप्त हो गया ।

जमटल : जमटल कृत 'गोराबादल की कथा' में कवि को वीर-रस का चित्रण करने में यथेष्ट सफलता मिली है । समरांगण में युद्ध करते समय गोरा की वीरता सम्बन्धी कुछ पंक्तियां नीचे दी जाती हैं :—

"तजै तरवार गुरज्ज कुँ लेइ, दड़ो बड़ साह दुरज्जन देइ।
करै चकचूर गयन्द कपाल, सकै उमराव न आप सँभाल॥
कहै मुख मीर अयो जम काल, ग्रहे, नर दे हथियार सु डाल।
तिणे तिण दन्तन सारहुँ वीर न मारहिं तौ सिर गोरिल वीर॥

युद्ध को प्रस्थान करते समय बादल से उसकी पत्नी का कथन भी विचारणीय है :

" कन्ता रण में पैसतां, मत तूं कायर होइ ।
तुम्हें लाज मुझ मेहणों, भलो, न भाषै कोइ ॥

गोरा के मरणोपरान्त उसकी पत्नी की यह उक्ति हृदय में वीरता की भावना जागृत करने की पूर्ण क्षमता रखती है :

"भला हुआ जो भिड़ हुआ, कलँक न आयो काइ ।
जस जंपै सब जगत में, हिव रण ढूँढों जाइ ॥"

इसी प्रकार वीर रस सम्बन्धी अन्य उदाहरण दिए जा सकते हैं जो इस बात की साक्ष्य देते हैं कि इस कवि ने वीर रस के वर्णन में बड़ी सावधानी से काम लिया है।

भूषण : भूषण की कविता में प्रायः सभी रसों का सम्यक् रूप से परिपाक हुआ है । पर कविता के नायक शिवाजी और छत्रसाल जैसे वीर हैं । इस कारण से वह वीर रस प्रधान है । उसमें चारों प्रकार के वीर युद्धवीर, दयावीर दानवीर और धर्मवीर के वर्णन प्रचुर मात्रा में मिलते हैं पर प्रधानता युद्धवीर की है ।

"छूटत कमान बान बन्दूक रु कोकबान,
मुसकिल होत मुरचानहू की ओट मैं ।
ताही समै सिवराज हुकुम कै हल्ला कियो,
दावा बाँधि द्वेषिन पै वीरन लै जोट मैं ॥
भूषण भनत तेरी हिम्मति कहाँ लौं कहौं,
किम्मति इहाँ लगि है जाकी भट झोट मैं ।
ताव दै दै मूँछन कँगूरन पै पांव दै-दै
घाव दै दै अरि-मुख कूदे परैं कोट मैं ॥"

युद्ध-वीर के सम्बन्ध में चतुरंग चमू, वीरों की गर्वोक्तियाँ, योद्धाओं के पौरुषपूर्ण कार्य, उनके आयुध, वस्त्र, युद्ध के बाजे और रण के तुमुल कोलाहलादि का वर्णन हुआ करता है । भूषण की रचनाएँ इस प्रकार के वर्णनों से भरी पड़ी हैं । यहाँ पर केवल एक उदाहरण देना पर्याप्त होगा । छत्रसाल की तलवार का वर्णन भूषण ने इस प्रकार किया है :

"भुज-भुजगेस की वैसंगिनी भुजंगिनी-सी,
खेदि खेदि खाती दीह दारुन दलन के ।
बखतर पाखरन बीच धँसि जाति, मीन
पैरि पार जात परबाह ज्यों जलन के ॥
रैयाराव चंपति के छत्रसाल महाराज,
भूषन सकै करि बखान को बलन के ।
पच्छी परछीने ऐसे परे परछीने वीर,
तेरी बरछीने ने बरछीने हैं खलन के ॥"

युद्ध-वीर के अतिरिक्त दयावीर, दानवीर, और धर्मवीर का भी भूषण के छन्दों में सुन्दर निर्वाह हुआ है । कुछ स्थलों पर भूषण ने चारों प्रकार की वीरता का वर्णन एक ही पद्य में कर दिया है :

"दान समै द्विज देखि मेरहू कुबेरहू की,
संपति लुटायबे को हियो ललकत है ॥
साहि के सपूत सिव साहि के बदन पर,
सिव की कथान में सनेह झलकत है ॥
भूषन जहान हिन्दुवान के उबारिबे को,
तुरकान मारिबे को वीर बलकत है ।
साहिन सों लरिबे की चरचा चलत आनि,
सरजा के दृगन उछाह छलकत है ॥"

इस प्रकार भूषण के काव्य में वीर-रस की ही रसराजकता है । उनका सम्पूर्ण काव्य वीर-रस और वीर-रस सामग्री चित्रण करने से ओतप्रोत हैं । कहने की आवश्यकता नहीं है कि कवि की रचना में वीर रस का पूर्ण परिपाक हुआ है । इस दृष्टि से भूषण का एक महत्व पूर्ण स्थान है ।

मान : मान ने 'राजविलास' में राजदरबारी कवियों की परम्परा का अनुसरण किया है । इस कारण से उनका काव्य अधिक वर्णनात्मक हो गया है । वर्णनों के फेर में पड़कर कवि का ध्यान रस-परिपाक की ओर अधिक नहीं गया है । फिर भी इस धारा के कतिपय कवियों की अपेक्षा इन्हें वीर-रस निरूपण में अधिक सफलता मिली है ।

इस सम्बन्ध में महाराजा जसवन्तसिंह की वीरोचित उक्ति देखने योग्य है :

"षेती हम कुल षग्ग षग्ग हम अषय षजानह ।
षग्ग कैंर बस षलक नाम हम षग्ग निदानह ॥
षल दल षंडन षग्ग षेत इच्छत हम षग्गह ।
क्षिति रक्षन फुनि षग्गह अहितु भग्गो इन अग्गह ॥
पग धार तित्थ क्षत्री धरम आवागमनहि अपहरन
सो षग्ग.बन्ध हम सूर सब धरय न साहि षजान धन ॥"

मान कवि ने अपने आश्रयदाता की अतिशयोक्ति-पूर्ण प्रशंसा की है जिससे उसकी कविता में अधिकांश स्थलों पर अस्वाभाविकता आ गई है । उदाहरण स्वरूप नीचे एक पद्य दिया जाता है :

"कती किल किल्ला सक्ति सलिल्ला तोप त्रिमुल्ला जाजल्ला ।
दलमचि दहचल्ला लोह उजल्ला नहिं बिचि पल्ला घर भल्ला ॥
घूमत घामल्ला छक्क छयल्ला तजि गृह तल्ला एकल्ला ।
तुटि तुरत बल्ला ढरि गज डल्ला कायर डुल्ला अकतुल्ला ॥"

इन दोषों के होते हुए भी यह मानने में किसी को आपत्ति न होनी चाहिए कि मान कवि ने अपने पात्रों के वीरत्व, वीर-भावना एवं कर्त्तव्य-परायणता के सुन्दर चित्र उपस्थित किए हैं । साथ ही उसने इस बात का यथेष्ट मात्रा में परिचय दिया है कि उसमें रसानुभूति की पूर्ण क्षमता थी ।

गोरेलाल : गोरेलाल ने 'छत्रप्रकाश' में वर्णनात्मक शैली का आश्रय ले कर चंपति राय और उनके पुत्र छत्रसाल के युद्धों का वर्णन किया है । उनकी विजयों का विवरण मात्र देना और विजित स्थानों तथा योद्धाओं की नामावली का उल्लेख करना ही इस कवि का मुख्य उद्देश्य रहा है । परिणामस्वरूप रस-चित्रण की ओर उसका ध्यान नहीं गया है । केवल कुछ पँक्तियाँ ही वीर रस की ओर संकेत करती हुई यत्र-तत्र बिखरी हुई मिलती हैं । उनमें से कुछ उदाहरण नीचे दिए जा रहे हैं :—

कुँवर सारवाहन के युद्ध के वर्णन से कुछ पंक्तियाँ देखिए :

कुँवर कढ़े जल तैं सर भीनैं । आइ हथ्यार तीर में लीनैं ॥
हांके मुगल ताल की जोरी । भजें बिडरि बालक चहुँ ओरी ॥
कुँवर सारबाहन बल बाढ़े । तमकि तीर तरकस तैं काढ़े ॥

× × × ×

अरुन रंग आनन छबि लीनी । तानि कमान कुंडलित कीनी ॥
छूटे बान वज्र सें बांके । फूटे सुभट निकट जे हांके ॥

छत्रसाल की वीरता का वर्णन इस छन्द में दर्शनीय है :

"तरल तुरंगम की तनक, तुरत बग्ग्ग झमकाइ ।
परदल में हांक्यौ छता, खाई कोट नकाइ ॥"

इस प्रकार वीर-रस-परिपाक दृष्टि से 'छत्रप्रकाश' साधारण होते हुए भी अपने ढंग का अनूठा काव्य है ।

श्रीधर : श्रीधर कृत 'जंगनामा' युद्ध-प्रधान काव्य है । इस कारण उसमें वीर-रस की प्रधानता होनी ही चाहिए थी, पर कथानक की इतिवृत्तात्मक शैली, नामों की भरमार आदि के कारण कवि का ध्यान उधर पर्याप्त मात्रा में नहीं गया है । किन्तु जहाँ कहीं पर भी उसने वीर-रस सम्बन्धी चित्रण किए हैं, उनसे स्पष्ट है कि उसमें "वीर-रस-वर्णन" की अनूठी प्रतिभा थी । नीचे के उदाहरण से यह बात सिद्ध हो जाती है :

"भालनि सों भाला भिरयो बरछा सों बरछानि,
सरे समसेर समसेरनि सुखंग मैं ।
तीरन को कीनो तन तीरनि तुनीर तोरु,
तोरादार जोरन न पावतु सुफंग मैं ।
जंग सुलतानी मैं कहानी कैसो कीनो काम,
श्रीवर छबीले–राम राजा रनरंग मैं ।
साढ़े तीनि हाथ कद दस–हथा हाथी चढ्यो,
दोई हाथ होत हैं हजार हाथ जंग मैं ॥"

सदानन्द : सदानन्द को रस–चित्रण में आशातीत सफलता मिली है । उनका 'भगवन्त–रायसा' वीर–रस प्रधान ग्रन्थ है । उन्होंने वीर–रस का अच्छा निर्वाह किया है, यथा :

"चमकै छटा सी ज्यौं घटा सो दल फारि देत,
केतिक कटा कै भट जुत्थन सुभाइ कै ।
भूप भगवन्त की कृपान ज्यौं करद खेदु,
खंड खल सीस भुज समर चुनाइ कै ॥
जोति सी जगी है अनुराग सों रँगी है,
वज्र ज्वाल सों पगी है गति अद्‌भुत पाइकै ।
आरत कौं छाँड़ते विचारि तन मानी मूढ़,
मोगल संघारत तुराबखान खाइकै ॥"

इस कवि ने अपने छोटे से ग्रन्थ में रासो की प्रचलित शृङ्गार रस प्रधान परम्परा का बहिष्कार करके वीर-रस की ग्रन्थ प्रधानता स्थापित की है ।

सूदन : सूदन ने 'सुजान-चरित' में वीर-रस से सम्बन्धित सामग्री, अस्त्र, शस्त्र, सेना, हाथी, घोड़े, वीर-वेश, युद्ध आदि का अच्छा वर्णन किया है जिससे उन्हें वीर-रस के परिपाक में पूर्ण सफलता मिली है। इस रस के चित्रण का एक उदाहरण देखिए :

"कोप्यो मानौ काल सौ बदन महिपालपूत,
दीठि बाँकी करि कै निहारे ओर तू जाकी ।
तू ही अवतार भुवभार के उतारन कौं,
सार के संभार नहिं ताब नर दूजा की ॥
सूदन समथ्य अरि रूदन कौं पथ्थ सम,
कीरति अकथ्थ रत्नाकर लौं भूजा की ।
दिल्ली दल दट्टन सुकट्टन मलेच्छ बंस,
देस देस जाहर प्रचंड तेग सूजा की ॥"

इसी प्रकार अन्य उदाहरण दिए जा सकते हैं जिनसे इस बात की पुष्टि होती है कि सूदन को इस रस के चित्रण में पूर्ण रूप से सफलता मिली है । उसके सम्पूर्ण काव्य में वीर-रस की ही प्रधानता है ।

पद्माकर : पद्माकर ने 'हिम्मत बहादुर विरुदावली' में वीर रस चित्रण को ही प्रधानता प्रदान की है। निम्न लिखित उदाहरण इस बात का प्रमाण है :

"तहँ दुहुँ दल उमड़े घन सम घुमड़े, झुकि झुकि झुमड़े जोर भरे
ताकि तबल तमंके हिम्मत हंके वीर बमंके रन उभरे ॥
बोलत रन करखा बाढ़त हरषा बानन बरषा होन लगी ।
उलछारत सेलैं अरिगन ठेलैं सीनन पेलैं रारि जगी ॥"

इस ग्रन्थ में अन्य रसों की अपेक्षा वीर-रस के छन्दों की संख्या सबसे अधिक है और होनी भी चाहिए। पर वीर-रस के अधिकांश छन्दों में अस्त्रों-शस्त्रों आदि के नाम भर गिना दिए गए हैं । इस कारण से वीर-रस का परिपाक पूर्ण रूप से नहीं हो पाया है । उसमें परम्परा का अनुकरण प्रधानता से किया गया है ।

पद्माकर ने 'जगद् विनोद' में युद्ध-वीर का एक अच्छा उदाहरण दिया है :

"जाही ओर सोर परै घोर घन ताही ओर,
जोर जंग जालिम को जाहिर दिखाता है ।
कहै 'पद्माकर' अरिन की अवाई पर,
साहब सवाई की ललाई लहरात है ॥
परिघ प्रचंड चमू हरषित हाथी पर,
देखत बनत सिंह माधव को गात है ।
उद्धत प्रसिद्ध जुद्ध जीति ही के सौदा-हित,
रौदा ठनकारि तब हौदा में न मात है ।"

रस-निरूपण की दृष्टि से 'जगद् विनोद' में दिए हुए पद्माकर के उदाहरण अधिक स्वच्छ, स्पष्ट और सजीव हैं।

पद्माकर ने इस धारा के अन्य कवियों के समान वीर-रस चित्रण में परम्परा का अनुसरण मात्र किया है। पर उनका वीर-रस वर्णन बहुत से अन्य कवियों की अपेक्षा अधिक स्पष्ट और सफल है ।

जोधराज : जोधराज के 'हम्मीर-रासो' में रासो की परम्परा का पूर्ण रूप से निर्वाह किया गया है । फलस्वरूप वीर-रस के वर्णन में कवि को उच्च कोटि की सफलता नहीं मिली है । इतिहास प्रसिद्ध कथानक होने पर भी कवि ने वीर-रस के चित्रण में उस सावधानी का प्रदर्शन नहीं किया है, जो उससे अपेक्षित थी ।

नीचे दिए हुए उदाहरण से इस कथन की पुष्टि हो जाती है :

"किए हुक्म साह तन में रिसाइ ।
किन्हों जु जंग फिर बीर आइ ॥
छुटंत तोप मनु वज्रपात ।
जल चुक्कि धरा छुटि गर्भ जात ॥"

दानवीर के कुछ पद्य भी कवि ने लिखे हैं, जिनमें दान-सामग्री की गणनामात्र करा दी गई है । यथा :

"बकसि सेख को बाजि साज कंचन के साजे ।
मुक्तमाल सिरपेंच जटित हीरा छबि छाजे ॥
सकल सथ्थ सिरपाव थाल दिब्रव अति भारिया ।
पंच लक्ख को पटो दियो आदर भुवकारिय ॥
दिन्नी सुठौर सुन्दर इकै तेहि देखत हिय हर्षियउ ।
उच्छाह सहित उठि शेष तब आनंद मंगल वर्षियउ ॥"

ऊपर के विवेचन से यह सार निकलता है कि रस परिपाक की दृष्टि से 'हम्मीर-रासो' को वीर-रस प्रधान ग्रन्थ नहीं स्वीकार किया जा सकता । जोधराज वीर-रस का सजीव चित्रण अंकित करने में एकदम असफल रहे हैं । ग्रन्थ के उपनायक अलाउद्दीन को आखूत (चूहा) से डरा कर कवि ने शौर्य और वीरता का अपमान किया है ।[1] इसके सम्बन्ध में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि जोधराज ने रासो परम्परा का अनुकरण किया है और रासो ग्रन्थों में रस-निरूपण की जो परिपाटी थी, उसने उसी का पूर्णरूप से निर्वाह किया है ।

निष्कर्ष : उपयुक्त विवेचन के पश्चात् इस काव्य-धारा में चित्रित वीर-रस की वास्तविक दशा स्पष्ट हो जाती है । कुछ हेर-फेर के साथ प्रायः एक ही प्रकार की वीर-रस सम्बन्धिनी प्रवृत्तियाँ इस काव्य-परम्परा में प्रचलित रही हैं । पर हिन्दी के आदि काल की अपेक्षा इस काल में वीर-रस का अधिक निखरा हुआ. वास्तविक और सजीव स्वरूप देखने को मिलता है ।

बलवन्त राजपूत कालेज,
आगरा

—डा० टीकमसिंह तोमर

मराठी कहावतें

घरोघर मातीच्या चुली
घर घर मिट्टी के चूल्हे
बाबाही गेले आणि दशम्याही गेल्या
भीख भी गयी और झोली भी गयी
बोलणाऱ्याचे अंबाडे विकतात न बोलणाऱ्याचे गहू देखील विकत नाहींत
बोलनेवाले का सन भी बिकता है न बोलनेवाले का गेहूँ भी नहीं बिकता
सतीच्या घरी बाती संदिलीच्या घरी हत्ती
सती के घर में बत्ती वेश्या के घर में हाथी
शेजाऱ्यास पाहून संसार सवतीस पाहून शृंगार
पडोस को देख संसार और सौत को देख शृंगार

हैदराबाद

—तुकाराम कुलकर्णी

---

[1] हम्मीर-रासो, छं० २४५, पृ० ५० ।

हिन्दी में गद्यगीत

'गद्य-गीत' यह शब्द ही इस बात को बताता है कि यह गद्य और पद्य के बीच की कोई चीज़ है । न तो शुद्ध गद्य ही और न शुद्ध पद्य ही । किसी ने ठीक ही कहा है "गद्य जो अपनी सीमा में नहीं रहा पद्य की ओर बढ़ गया, गीत जो अपनी परिधि नहीं छू सका गद्य की ओर लौट आया, दोनों मिलकर गद्य गीत बन गया ।" गद्यगीत के सम्बन्ध में मुंशी प्रेमचन्द एक स्थान पर कहते हैं : "हमारा ख़याल है... कि गद्यगीत स्वतन्त्र वस्तु है और कवि जो कुछ पद्यों में नहीं कह पाता, वह गद्य गीतों में कहता है ।" कविता भावना–प्रधान रचना है, और गद्यगीत अनुभूति–प्रधान । कहने का तात्पर्य यह कि गद्यगीत के स्वरूप के बनने में गद्य ने पद्य से कुछ स्वीकार किया और पद्य ने गद्य को कुछ दिया, और इस तरह ग्रहण प्रदान की प्रक्रिया ने हिन्दी में एक नवीन शैली को जन्म दिया । इस ग्रहण प्रदान में जो कुछ लिया दिया गया उसका भी हम विचार कर लें । कविता में भिन्न भिन्न छन्दों का प्रयोग किया जाता है । गद्य गीत में छन्द का कोई बन्धन नहीं । हाँ, उसमें काव्य की भावुकता और रस संचारिणी शक्ति अवश्य होती है । इस से यह सिद्ध हुआ कि गद्य गीत में गद्य की प्रधानता होती है जिसके परिणामस्वरूप उसकी गणना गद्य-साहित्य के अन्तर्गत ही की जाती है । इसे जो गीत कहा जाता है उसका कारण यह है कि उसमें गीत की कई विशेषताओं का समावेश हो जाता है । गीत की भाँति ही गद्यगीत आकार में लघु होता है । गीत की तरह ही उसमें एक भाव, एक वृत्ति, एक वातावरण, एक विचार का निर्वाह आदि से अन्त तक होता है । गद्यगीत यद्यपि छन्द के नियमों से बन्धा हुआ नहीं होता फिर भी उसमें वाक्यांशों या वाक्यों की आवृत्ति इस प्रकार होती है कि उसमें छन्द का ही आनन्द आता है ।

हिन्दी में गद्यगीत के लेखक अभी अंगुलियों पर गिनने योग्य हैं पर वह समय दूर नहीं है जब इस अंग की पूर्ति भी अधिक मनोयोग और उत्साह से होगी ।

गद्य लिखते समय लेखक के भावों का आवेश जब तीव्रतम हो जाता है तब उसके द्वारा लिखी गई पंक्तियाँ स्वतः चमकने लगती हैं । इसके पीछे एक बहुत बड़ा मनोवैज्ञानिक रहस्य है और वह यह कि लेखक प्रत्येक क्षण विचार प्रधान नहीं रहता, विश्लेषण करना, अथवा सिद्धान्त की स्थापना करना ही चाहे उसका उद्देश्य रहता हो पर आखिर उसके भी हृदय तो होता ही है और इस कारण उसकी पंक्तियों पर भी भावुकता का रंग चढ़ जाना स्वाभाविक ही है । धार्मिक ग्रन्थों में यह बात विशेष रूप से परिलक्षित होती है । उदाहरण के रूप में हम यह कह सकते हैं कि यदि बाइबिल धर्म ग्रन्थ न होता तो गद्य-काव्य का उदाहरण प्रस्तुत कर सकता था । फिर भी निस्संदेह यह कहा जा सकता है कि गद्यगीत की अपनी एक स्वतन्त्र कला है ।

प्रमुख तत्त्व : गद्य गीत में कल्पना, भावुकता और रसात्मकता रहने पर भी उसे कविता के अन्तर्गत नहीं सम्मिलित किया जा सकता । हमने यह देखा है कि कविता में छन्दोमय लय का होना आवश्यक है और यह छन्दोमय लय गद्यगीत में नहीं होती किन्तु एक बात तो है ही कि गद्य–प्रधान होने पर भी हम उसे गीत तो कहते ही हैं और उसका कारण यह है कि उसमें गीत की निम्नलिखित विशेषताएँ प्रधानता से पाई जाती हैं :

१. गीत साधारणतया बड़ा नहीं होता है । लघुत्व उसका एक आवश्यक गुण है । गीत की यह विशेषता गद्यगीत में भी पाई जाती है ।

२. गीत ही की तरह गद्यगीत में भी एक ही भाव, एक ही अनुभूति, एक ही वातावरण और एक ही वृत्ति तथा विचार का आदि से अन्त तक निर्वाह होता है ।

३. गीत की ही भाँति गद्यगीत भी रसमय होता है । उसमें भी अनुभूति की तीव्रता और निरंतरता विद्यमान रहती है ।

४. गद्यगीत की रचना में भी विशिष्ट क्षमता की आवश्यकता नहीं होती है ।

५. गीत की रचना छन्द में होती है किन्तु गद्य-गीत में छन्द का बन्धन नहीं । पर उसमें वाक्यों और वाक्यांशों की आवृत्ति इस तरह होती है कि उसमें एक विशेष प्रकार की लय पैदा हो जाती है ।

१९५३

गद्य गीत का विकास : गद्यगीतों की रचना बहुत प्राचीन काल से हो रही हो ऐसी बात नहीं है। यह इसी शताब्दी की चीज़ है। बीसवीं शताब्दी से पहले का गद्यगीत का कोई विवरण हिन्दी साहित्य के इतिहास में नहीं मिलता। ऐसा लगता है कि उसके साहित्यिक रूप का विकास आधुनिक युग में ही हुआ। हाँ एक बात अवश्य है कि धार्मिक साहित्य का अनुशीलन करने पर ऐसी अनेक भावनाओं, कल्पनाओं और अनुभूतियों से पूर्ण उदात्त गद्यांश मिलेंगे जिन्हें गद्यगीत की श्रेणी में रखा जा सकता है।

डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी ने कुछ ऐसे अंश खोज निकाले हैं जिन्हें गद्य काव्य की श्रेणी में निश्चय ही रखा जा सकता है। उदाहरण के लिए निम्नांश पर्याप्त होंगे—

स वा अयमात्मा
सर्वेबां भूतानामधिपति :
सर्वेषां भूतानां राजा
तद्यथा रथानामौच रथेनेमौचारा: सर्वे समर्पिता
एव मेवास्मिन्नात्मनि
सर्वाणि भूतानि सर्वे देवा: सर्वे लोका: सर्वे प्राणा:
सर्वे एव आत्मान : समर्पिता : ।

(बृहदारण्यक उपनिषद्)

ब्राह्मण ग्रन्थ बृहदारण्यक उपनिषद् और छाँदोग्य उपनिषद् आदि में से खोज निकालने पर ऐसे ही अनेक कल्पना तथा भाव प्रधान गद्यगीत प्राप्त हो जाएँगे। वैदिक साहित्य के बाद बाणभट्ट और दण्डी के उपन्यासों और गद्य रचनाओं में काव्यात्मक गद्य के सुसंस्कृत और विशुद्ध रूप मिलते हैं। उसी तरह जातक कथाओं में भी कहीं कहीं कल्पनापूर्ण एवं समृद्ध काव्यात्मक गद्य उपलब्ध होता है।

आधुनिक युग में ऐसा जान पड़ता है कि रवीन्द्र की गीताञ्जलि के प्रकाशन के बाद ही विशुद्ध गद्यगीत का प्रचलन हुआ है। गीताञ्जलि के अंग्रेजी में अनूदित होने पर अंग्रेजी साहित्य पर भी उसका प्रभाव पड़ा। हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में रवीन्द्र के अनुकरण पर ही गद्यगीतों का प्रचलन हुआ है।

कहा जाता है कि हिन्दी में गद्यगीतों का श्री गणेश रायकृष्णदास से हुआ। इसके उपरान्त चतुरसेन शास्त्री और वियोगीहरि के नाम आते हैं। दिनेशनंदिनी चोरड्या (अब डालमिया) ने गद्यगीतों को इधर प्रमुख रूप से अपनाया। कई नवयुवक लेखक इस ओर अग्रसर हो रहे हैं जिनकी रचनाएँ आए दिन पत्र पत्रिकाओं में छपती रहती हैं। पुस्तकें अभी अधिक संख्या में प्रकाशित नहीं हुई हैं।

इस समय गद्यगीत के प्रमुख लेखकों में जिनकी गणना की जा सकती है उनका संक्षेप में परिचय इस प्रकार है :

रायकृष्णदास : आप हिन्दी के सर्व प्रथम गद्यगीत लेखक माने जाते हैं। आप पर कवीन्द्र रवीन्द्र का विशेष प्रभाव पड़ा है।

आप के गद्यगीतों में भावों, अनुभूतियों और कल्पनाओं की प्रचुरता है। आपकी सब से बड़ी विशेषता यह है कि गम्भीर से गम्भीर भावों को भी आपने कुशलता पूर्वक सरल और चलती भाषा में सफलता से प्रदर्शित किया है। चित्रमय भाषा में अमूर्त भावनाओं को भी साकार रूप देने में आप पटु हैं। प्राकृतिक सौन्दर्य के प्रति आपका विशेष प्रेम है। आपकी शैली अत्यन्त मधुर है। आपके वाक्य छोटे छोटे एवं संगत होते हैं। शब्द अत्यन्त सजीव एवं मनोहारी होते हैं।

'साधना' और 'प्रवाल' नामक आपके दो गद्यगीत संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। 'साधना' में आपने प्रतीकात्मक (Symbolic) शैली का अनुसरण किया है और 'प्रवाल' में वात्सल्य रस की प्रधानता है।

चतुरसेन शास्त्री : 'अंतस्तल' नामक प्रकाशित संग्रह आपके गद्यगीतों का एक सुन्दर संग्रह है। आपके गद्यगीतों में भावना और अनुभूति की प्रधानता होती है। आपकी शैली में कहीं भी कृत्रिमता और अस्वाभाविकता नहीं आ पाई है। आपने प्रधानतः संवादात्मक शैली को अपनाया है। आपके गद्यगीतों की खास विशेषता यह है कि उनमें नाद, लय, और संगीत का इतना सुन्दर मिश्रण है कि वह अन्यत्र मिलना कठिन है।

वियोगीहरि : आपके 'भावना' नामक गद्यगीत संग्रह में भक्ति से ओतप्रोत गद्यगीतों का संग्रह है। किसी किसी गद्यगीत में दार्शनिक वादों के पारिभाषिक शब्दों का जमघट हो गया है और उनकी भाषा कहीं कहीं संस्कृत शब्दों के उपयोग के कारण कठिन और बोझिल-सी हो गई है। अपने उपास्य के लिए 'सरकार' और प्यारे सम्बोधन उन्हें सम्भवतः अधिक प्रिय हैं। हरिजी

अन्य भक्तों एवं योगियों की तरह माया के बन्धन से एकदम मुक्त हो जाना नहीं चाहते वरन् कृष्ण के प्रेम का अबाध बन्धन चाहते हैं। आपके गद्यगीतों में रूपकों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग किया गया है। पुस्तक, भक्तों को रस देने वाली है। उदाहरण के लिए नीचे दिया हुआ एक उद्धरण देखिए :

"अपनी लाड़ली लली की एक लीला और सुन लो। किसी तरह मैंने अपना मानसिक मानसी-मंजूषा में बन्द करके रख छोड़ा था। किसे उसका पता था। पर तुम्हारी स्मृति ठहरी घट-घट वासिनी। उसे मेरे छिपाव का पता चल ही गया। बस फिर उसे चुराते देर न लगी।"

भगवतीचरण वर्मा : आपका 'एक दिन' नामक गद्यगीत संग्रह प्रकाशित हो चुका है। एक दिन के अधिकांश एकांकी चिन्तन प्रधान हैं। अधिकतर एकांकी उस महापुरुष को संबोधित करके लिखे गए हैं। संग्रह के 'पनघट' 'पुजारी' और 'कलाकार' ये तीनों अत्यन्त मार्मिक हैं। इनमें सामयिक समस्याओं का सुन्दर विश्लेषण करते हुए जीवन के सत्य को अत्यन्त गहराई से छुआ गया है।

सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन : वात्स्यायन जी की रचनाएँ 'अज्ञेय' के नाम से प्रकाशित होती हैं। इनके गद्यगीत सबसे पहले 'भग्नदूत' नामक कविता संग्रह के साथ संगृहीत मिलते हैं। ये संख्या में २१ हैं। इनमें से अधिकांश में प्रेम भावना व्यक्त की गई है। कुछ गीतों में वृत्तियों का विश्लेषण किया गया है। इन गीतों में भाव मग्नता कम है विचारतत्व अधिक। यद्यपि गीत छोटे हैं फिर भी उनकी अन्तिम पंक्ति चमत्कार पूर्ण होती है और गीतों में चमक ला देती है। आपके गीत 'चिन्ता' नामक एक अन्य काव्य ग्रन्थ में संगृहीत हैं। ऐसा लगता है कि इस संग्रह में संगृहीत गद्यगीत किसी नारी विशेष को सामने रखकर लिखे गए हैं। सम्भवतः अज्ञेय जी ने अपने जीवन की किसी घटना को लिया है। वह भी स्वस्थ प्रेम की परिचायिका नहीं है, मान प्रतीत होती है 'प्रेमालोक की छटा नहीं दिखाई देती।'

दिनेशनन्दिनी चोरड्या (अब डालमिया) : 'शबनम', 'दुपहरिया के फूल', 'शारदीया' और-'उनमन' नामक आपके गद्यगीतों के संग्रह अब तक प्रकाशित हो चुके हैं। 'शबनम' के गद्यगीत ईश्वर, जीव, प्रकृति, जीवन, मृत्यु सभी से थोड़ा बहुत सम्बन्ध रखते हैं, अधिकता प्रेम के गीतों की है।

'दुपहरिया के फूल' संगृहीत गद्यगीतों में विचार प्रधान गद्यगीतों की अधिकता है।

दिनेशनन्दिनी के अधिकांश गद्यगीत बहुत ही छोटे हैं, कहीं कहीं तो एक वाक्य में ही समाप्त हो गए हैं और यही कारण है जिससे इनके ऐसे गद्यगीतों के सम्बन्ध में साहित्य के कुछ विद्वानों की यह धारणा है कि उनमें सूक्तियों का सा चमत्कार तो है पर प्राणों को रमानेवाली कला नहीं। किन्हीं किन्हीं गद्यगीतों में फारस के सूफी कवियों के सिद्धान्त वाक्य भी प्रयोग में लाए गए हैं :

"रूह आईना है और यह तन केवल उस पर आई हुई रज।" (दुपहरिया के फूल।)

'शबनम' की भाषा कहीं कहीं बहुत खटकनेवाली हो गई है। फ़ारसी के शब्दों की मात्रा अति की सीमा तक पहुँच गई है। मुहाल, ताहम, अमीदा, जुस्तजू, दिले पुरदर्द, गर्दिशें दौरां, दीदए उल्फत आदि कठिन शब्दों का प्रयोग भी बहुतायत से हुआ है जो अनावश्यक रूप से क्लिष्टता पैदा कर देते हैं।

रामप्रसाद विद्यार्थी : विद्यार्थी जी की 'पूजा' नामक गद्यगीतों का एक संग्रह प्रकाश में आ चुका है 'पूजा' के गीतों के सम्बन्ध में सहसा यह निश्चय करना कठिन है कि ये गीत लौकिक हैं या आध्यात्मिक।

इनके गीतों को विशेष ध्यान पूर्वक पढ़ने पर इतना पता अवश्य लग जाता है कि लेखक प्रभावित तो किसी लौकिक वस्तु से ही हुआ है पर उसने उसे अलौकिकता से मंडित कर दिया है। गीतों में हृदय की अभिव्यक्तियाँ अपने अत्यन्त सहज रूप में व्यक्त हुई हैं; अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन कहीं भी नहीं मिलता।

इनके गीतों पर हठयोग का भी थोड़ा प्रभाव दिखाई देता है। संभवतः दयालबाग में रहने के कारण ऐसा हुआ हो। उदाहरण के लिए देखिए :

"जब मैं अपने गोखारगिरि की गुफा में बैठ कर अपने शरीर के चारों ओर एक हल्की चादर तान लेता हूँ, तब दिशाओं की चादरें जिन्होंने अपने संकरे घेरे में मुझे बन्द कर रखा है, अपने आप फट जाती हैं।

मैं तुम्हारे दिए हुए अपने अज्ञात पैरों को बढ़ा कर अपने अंधेरे किन्तु विस्तृत आकाश में तुम्हारी टोह में

उड़ चलता हूँ।"—(पूजा)

जगदीश : किसी ने ठीक ही कहा है कि 'द्वाभा' के गद्यगीतों से लेखक की भावुकता, विचार गम्भीरता और अन्तर्दृष्टि तीनों टपकती हैं। आपके गद्यगीतों का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। अति साधारण विषय में भी उन्होंने अपनी लेखनी से चमत्कार पैदा किया है।

'द्वाभा' के गीत अभाव के गीत हैं जिनसे विषाद टपकता है। अपने हृदय के भावों को सफलतापूर्वक प्रकट करने के लिए जगदीश जी प्रतीकों का आश्रय लेते हैं।

ब्रह्मदेव : 'निशीथ' नामक आपके ३५ छोटे छोटे गद्यगीतों का संग्रह प्रकाशित हो चुका है। इस संग्रह में लेखक ने कभी प्रभु, कभी स्वामी, कभी पिता, कभी बन्धु, कभी प्रिय और कभी अन्तर्यामी के नाम से उस परम पिता को सम्बोधित किया है। आपके गद्यगीतों में प्रकट की गई भावनाओं को उसी रूप में ग्रहण करने के लिए पाठक को भी लेखक की ही भाँति कल्पनाशील बनना होता है अन्यथा वह उन भावनाओं को पूरी तरह समझने में समर्थ नहीं हो पाता।

आपकी कल्पनाओं की कोमलता एवं रम्यता का एक उदाहरण देखिए :

"रजत रश्मि की चादर ओढ़ कर जब तारिकाएँ चाँद के साथ नृत्य आरम्भ करेंगी और जब सिन्धु लहरों पर पार के उद्यान का संगीत तिरता रहेगा, तब हमें अपने पितृ-मन्दिर का स्वर्ण कलश दिखाई देगा।"

(निशीथ)

राजनारायण मेहरोत्रा 'रजनीश' : आपका 'आराधना' नामक गद्यगीतों का संग्रह अत्यन्त सरल है। प्रत्येक बात को बिलकुल सीधे सादे ढङ्ग से कह दिया गया है। दुराव, छिपाव का कहीं भी लेशमात्र अंश नहीं पाया जाता। कहना न होगा कि सरलता ही इनके गद्यगीतों की कला है।

यौवन के अल्हड़पन का एक मदमाता चित्र देखिए :

"तुम्हें याद रहेंगी ये बातें।
"जब तुम्हारे पास आता था।
"तुम मधुर मुस्कान से
"मेरा स्वागत करती थीं।
"मैं कभी मान करता था।
"तो तुम मुझे मना लेती थीं।"

(आराधना)

शिवचन्द्र नागर : 'प्रणय-गीत' नामक संग्रह में आप के ३८ गद्यगीत संगृहीत हैं। हृदय की एक एक भावना शतधा हो कर बह निकलना चाहती है। परिणामतः एक प्रकार की अभिव्यक्ति से लेखक को सन्तोष नहीं होता। वह एक ही बात को भाँति भाँति से कहता है। शब्दों की झड़ी बाँध देना लेखक का अनिवार्य गुण बन गया है।

"तुम बन्दी हो—मेरे जीवन में, मेरे नयनों में, पलकों में, प्राणों में, लहरों में, गानों में, अच्छा होता यदि मैं बन्दीगृह होती।"

"तुम कुसुम सी सुन्दर हो, हीरक सी कठोर हो, ज्योत्स्ना सी शीतल हो, विद्युत सी चञ्चल हो। नीहारिका सी दूर हो।"—(प्रणय गीत)

इस तरह हम देखते हैं कि इस क्षेत्र में भी हिन्दी के कई लेखक आगे आ रहे हैं और अपनी रचनाओं के पुष्प माँ भारती के मन्दिर में अर्पित कर रहे हैं। निस्संदेह हिन्दी साहित्य के इस अंग का भी भविष्य उज्ज्वल है।

—मदनमोहन शर्मा
एम. ए.

अपने शत्रुओं को प्रेम करने की अपेक्षा अपने मित्रों से पहले से कुछ अच्छा व्यवहार कीजिए।

—रीडर्स डाइजेस्ट से

लोकवार्ता एवं लोकसाहित्य का पारस्परिक सम्बन्ध

'लोक' की व्याख्या : आधुनिक युग में अध्ययन की नई दिशाओं और साहित्य, कला, आदि की नवीन प्रवृत्तियों ने साहित्य मनीषियों की दृष्टि में 'लोक' की महत्ता निर्विवाद रूप से प्रस्थापित कर दी है। अतएव 'लोक' से सम्बन्धित विषयों का शास्त्रीय पक्ष 'लोक' की सही-सही व्याख्या के अभाव में सर्वथा अपूर्ण है।

'लोक' शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में निश्चित मत उपलब्ध नहीं है और न ही भारतीय एवं पाश्चात्य भाषाविदों में मतैक्य है। ऋग्वेद में प्रयुक्त 'देहि लोकम्' के अनुसार 'लोक' का स्थान के अर्थ में प्रयोग मिलता है। वेद (अथर्ववेद और ऋग्वेद) पार्थिव और दिव्य दो प्रकार के लोक की स्थिति व्यक्त करते हैं। पर ब्राह्मण ग्रन्थ, बृहदारण्य उपनिषद् एवं वाजसनेही संहिता में वैसे किसी भेदात्मक स्थिति का कोई उल्लेख प्राप्त नहीं है।

आर्यों के आगमन पर आर्येतर जातियों से उनकी मुठभेंट दो भिन्न संस्कृतियों के संघर्ष के रूप में व्यक्त हुई। फलस्वरूप 'वेद' और 'वेदेतर' स्थिति प्रगट हुई। इससे एक और अन्य अर्थ की उद्भावना सहज ही हो गई, जिसके अनुसार 'लोक' का दूसरा अर्थ वेद-विरोधी (वेदेतर) हुआ। 'वेद' और 'लोक' की भिन्नता ने वेद की प्रतिष्ठा के साथ 'लोक' के स्वतन्त्र महत्व को क्रमशः स्वीकार किया। किन्तु आज 'लोक' वेदेतर संस्कृति के संकुचित अर्थ से ऊपर उठ चुका है। उसकी भावना वैदिक और अवैदिक दोनों वर्गों को सहज रूप से छूने लगी है। वह परम्परा का सहेजक एवं अनुभूति की संवेदनापूर्ण अभिव्यक्ति का सतत संवाहक है। उसके पास अपने शब्द, भाषा और लोकग्राही शैली है। जीवन से सम्बन्धित सभी उपकरणों को लिए हुए उसका अपना एक सामूहिक व्यक्तित्व है। वस्तुतः जिसे संस्कृति की संज्ञा दी जाती है वह 'लोक' से भिन्न नहीं है। उसका उत्स 'लोक' ही है। 'लोक' का महत्व सर्वकालीन है। गीता के 'अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः' के द्वारा लोकशास्त्र तथा लौकिक आचारों की महत्ता स्पष्टतः मान्य है। अशोक के शिलालेखों में 'लोक' का प्रयोग समस्त प्रजाजनों के हित में हुआ है। बौद्ध धर्म के प्रचार के साथ 'लोक' मानव मात्र के भावों से भूषित हुआ। प्राकृत एवं अपभ्रंश में प्रयुक्त 'लोकजत्ता', 'लोअप्पवाय', आदि शब्द लौकिक नियमों का महत्व व्यक्त करते हैं। यजुर्वेद में 'लोक' (समाज) की एक विराट् क़ल्पना की गई है। वह पुरुष रूप ईश्वर है। उसके सहस्त्रों मुख, सहस्त्रों नेत्र और सहस्त्रों पद हैं :

> 'सहस्त्र शीर्षा पुरुषः सहस्त्राक्षः सहस्त्रपात्'[1]

यह 'लोक' अनेक रूपों में परिव्याप्त है :

> 'बहु व्याहितो वा अयं बहुशो लोकः'[2]

अतः 'लोक' साधारण जन समाज है, जिसमें भू-भाग पर फैले हुए समस्त प्रकार के मानव सम्मिलित हैं। यह शब्द वर्गभेद रहित, व्यापक एवं प्राचीन परंपराओं की श्रेष्ठ राशि सहित अर्वाचीन सभ्यता-संस्कृति के कल्याणमय विकास का द्योतक है। भारतीय समाज में नागरिक एवं ग्रामीण दो भिन्न संस्कृतियों का प्रायः उल्लेख किया जाता है, किन्तु 'लोक' दोनों संस्कृतियों में विद्यमान है। वही समाज का गतिशील अंग है। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल के शब्दों में "लोक हमारे जीवन का महासमुद्र है, उसमें भूत, भविष्य, वर्तमान सभी कुछ संचित रहता है। लोक राष्ट्र का अमर स्वरूप है। लोक कृत्स्न ज्ञान और संपूर्ण अध्ययन में सब शास्त्रों का पर्यवसान है। अर्वाचीन मानव के लिए लोक सर्वोच्च प्रजापति है। लोक, लोक की धात्री सर्वभूतमाता पृथ्वी और लोक का व्यक्त रूप मानव—यही हमारे नए जीवन का अध्यात्मशास्त्र है। इसका कल्याण हमारी मुक्ति का द्वार और निर्माण का नवीन रूप है। लोक—पृथ्वी—मानव इसी त्रिलोकी में जीवन का कल्याणतम रूप है।"[3]

---

[1] ऋ० १०।९०; यजु० ३१।

[2] जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण ७।२८।

[3] सम्मेलन पत्रिका (लोक-संस्कृति विशेषांक), २०१०, पृष्ठ ६५।

आधुनिक साहित्य की नवीन प्रवृत्तियों में 'लोक' का प्रयोग गीत, वार्ता, कथा, संगीत, साहित्य, आदि से युक्त होकर साधारण जन समाज जिसमें पूर्व संचित परंपराएँ, भावनाएँ, विश्वास और आदर्श सुरक्षित हैं तथा जिसमें भाषा और साहित्य गत सामग्री ही नहीं, अपि तु अनेक विषयों के अनगढ़, किन्तु ठोस रत्न छुपे हैं, के अर्थ में होता है।

भारतीय लोकसाहित्य इसी क्षेत्र का साहित्य है जो नवीन प्रवृत्तियों के रूप में भावी भारत के लिए मंगल का सन्देश ले कर आ रहा है, जो युगों से भगवती भागीरथी की तरह प्रवाहमान होते हुए भी ('लोक' के भीतर व्याप्त होकर) युगों से विद्वज्जनों के समक्ष उपेक्षा की वस्तु बना हुआ था। पर अब 'प्रत्यक्षदर्शी लोकानां सर्वदर्शी भवेन्नरः' मन्त्र अध्येताओं के लिए नया दृष्टिकोण ले कर आ रहा है। 'यह भूमि माता है, मैं पृथ्वी का पुत्र हूँ' (माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः) अथर्ववेद का यह सूक्त आज के मनीषियों की आत्मा में 'लोक' के संश्लैकत्व के प्रति प्रेरणा का संचार कर रहा है। भारतीय किसान भारतीय 'लोक' का महाप्राण है। वह युगों से उक्त सूक्त के आशय को क्रियान्वित करता आ रहा है। उसका जीवन 'लोक' का यथार्थ प्रतिनिधित्व करता आ रहा है। अत एव वही लोकसाहित्य की आधारशिला है, वही जेम्स ग्रिम के Das Volksdichter (जन समुदाय) का प्रधान अंग है।

'फोक' एवं 'लोक' : 'फोक' (Folk) शब्द की उत्पति Folc से हुई है। यह ऐंग्लो सेक्सन शब्द है जो जर्मनी में Volk रूप में प्रचलित है। आंग्ल-भाषी प्रयोग की दृष्टि में 'फोक' असंस्कृत और मूढ़ समाज अथवा जाति का द्योतक है। पर सर्वसाधारण और राष्ट्र के सभी लोगों के लिए भी इसका प्रयोग होता है। अतः इसके संकुचित और विस्तृत दोनों ही अर्थ उपलब्ध हैं।

हिन्दी का 'लोक' शब्द 'फोक' का पर्यायवाची है। 'जन' या 'ग्राम' यद्यपि 'फोक' के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं, किन्तु सीमित अर्थ के बोधक होने से उन्हें 'फोक' के समानार्थी नहीं समझना चाहिए। 'जन' प्राचीन शब्द है। संस्कृत एवं पाली ग्रन्थों में मानव समाज का बोध 'जन' से कराया गया है। इस नाते 'जन' और 'लोक' में काफ़ी सप्राणत्व है। पर प्रयोग और परम्परा के भव्य 'केनवास' में आधुनिक 'फोक' की अनुरूपता के लिए 'लोक' ही अधिक उपयुक्त एवं प्रतिविम्बात्मक है। न केवल इतना ही, पूर्व संस्कारों के कारण वह 'फोक' से कहीं अधिक विशाल स्तर को स्पर्श करता है।

प्रयोग की समस्या : 'लोकवार्ता' अंग्रेज़ी के 'फोकलोर' (Folklore) शब्द का पर्यायवाची है। हिन्दी में इसके प्रचार का अधिकांश श्रेय श्री कृष्णानन्द गुप्त एवं डा० वासुदेवशरण अग्रवाल को है। जिस प्रकार 'फोक' का हिन्दी पर्याय 'लोक' कहीं अधिक विशदार्थी है, उसी भाँति 'लोकवार्ता' शब्द 'फोकलोर' से अधिक विस्तृत भावों को वहन करता है।

"लोर' (Lore) शब्द "ऐंग्लो सेक्सन Lar से निकला है और इसका अर्थ होता है वह जो सीखा जाए। इस प्रकार 'फोकलोर' का शाब्दिक अर्थ 'असंस्कृत लोगों का ज्ञान' है।"

पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार स्थूल रूप से समाज दो वर्गों में विभक्त है—एक उच्चवर्ग और दूसरा निम्न वर्ग। इसी निम्न वर्ग में सर्वसामान्य जनता की संस्कृति, परम्परागत विश्वास, किंवदंतियाँ, आचार-विचार, गीत, कथाएँ, कहावतें, नृत्यादि मिलते हैं। सभ्य जातियों में उपलब्ध होनेवाले असभ्य जन के इन्हीं विश्वासों, रूढ़ियों, भ्रमों, श्रद्धा-भावनाओं, कथाओं, गीतों, कहावतों, आदि को देख कर कदाचित् डब्ल्यू० जे. थॉमस ने ई० स० १८४६ में प्रथम बार 'फोकलोर' शब्द का प्रयोग किया।[४] ठीक इसी वर्ष अगस्त मास में विलियम जॉन टाम्स ने अन्य नाम से 'फोकलोर' शीर्षक लेख प्रकाशन के लिए प्रेषित किया जो यूरोप की अनेक भाषाओं में हेर फेर के साथ उद्धृत किया गया। इसी शब्द का वाच्यार्थ 'लोकज्ञान' अथवा 'लोकविद्या' भी है, किन्तु हिन्दी में 'लोकवार्ता' विशेष रूप से प्रचलित है। सन् १९३० में श्री म. म. पोतदार ने मराठी में 'फोकलोर' के लिए 'लोकविद्या' शब्द सुझाया था, जो अधिक प्रचार में न आ सका। श्री गो० म० कालेलकर ने 'लौकिक दंतकथा' का प्रयोग किया एवं मराठी के पारिभाषिक शब्द कोष में 'जनश्रुति' शब्द उपलब्ध है। 'फोकलोर' के लिए 'लोक वाङ्मय' अथवा 'लोकसाहित्य' शब्दों का प्रयोग भी प्रायः भूल से किया

---

[४] एन्साइक्लोपीडिया आफ सोशल साइन्सेज़, जि० ५, पृ० २८८

जाता है। चूँकि पर्याय का निश्चित स्वरूप निर्धारित न हो सका है, अतः समय समय पर इसी प्रकार के प्रयोग सम्मुख आते रहेंगे। जहाँ तक मराठी का प्रश्न है श्री चि० ग० कर्वे ने 'लोक विद्या' शब्द ही प्रचलित करने का आग्रह किया है। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने हिन्दी में वैष्णवों के 'वार्ता' सम्बन्धी ग्रन्थों के अनुरूप (८४ वैष्णवों की वार्ता, धरू वार्ता आदि) 'फोकलोर' का 'लोकवार्ता' पर्याय स्वीकार किया है। इस विषय में भाषाविज्ञान वेत्ता श्री भोलानाथ तिवारी ने हाल ही में अपने विचार प्रकाशित किए हैं। उनके मतानुसार 'लोकवार्ता' में अधिक से अधिक 'लोक कथा' का भाव वहन करने की क्षमता है।' (डिंगल में 'वारता' अथवा 'बारता' का प्रयोग कथा के अर्थ में ही होता है) संस्कृत साहित्य में इसी शब्द का अर्थ 'अफ़वाह' या किंवदंती' है (संस्कृत शब्दार्थ-कौस्तुभ, द्वारकाप्रसाद शर्मा)। 'संस्कृत कोषकार श्री आपटे ने 'लोकवार्ता' का अर्थ 'पापुलर रिपोर्ट' या 'पब्लिक रूमर' दिया है।' इसी शब्द के लिए 'लोक-संस्कृति' का प्रयोग डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने किया है जो 'फोकलोर' का प्रर्याप्त आशय व्यक्त नहीं करता है। श्री तिवारी डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या द्वारा प्रयुक्त 'लोकायन' ('फोकलोर') के लिए विशेष आग्रह करते हैं। सुनीति बाबू के शब्दों में "पितृ परम्परागत जीवन यात्रा की पद्धति जिन सामाजिक अनुष्ठानों, विश्वास-विचारों तथा वाङ्मय से अपने लौकिक प्रकाश को प्राप्त करती है उन्हें अंग्रेज़ी में 'फोकलोर' कहते हैं। इस शब्द का भारतीय प्रतिशब्द हमने 'लोकायन' बना लिया है।।"[५] 'फोकलोर' के लिए वैसे लोकशास्त्र, लोक-विज्ञान, लोक-ज्ञान, लोक-परम्परा, लोक-प्रतिभा, लोक-प्रवाह, लोक-पथ, लोक-विधान, लोक-संग्रह, लोक-अयन, आदि शब्दों की ओर भी श्री तिवारी ने संकेत किया है, किन्तु आग्रह 'लोकायन' के प्रति ही है।[६]

'लोकवार्ता' शब्द हिन्दी में क्रमशः अपना स्थान निर्धारित कर चुका है। नवीन शब्दों के सुझाव और आग्रह से 'लोकवार्ता' के प्रति जमी हुई आस्था कम नहीं हो सकती। कुछ वर्षों पूर्व श्री कृष्णानन्द गुप्त के सद्प्रयत्नों से प्रकाशित 'लोकवार्ता' त्रैमासिक ने इसकी जड़ें गहरी करदी हैं और आधुनिक साहित्य की नवीन रचनाओं में इसका निरन्तर प्रयोग इसके अस्तित्व को स्थायित्व प्रदान करने में सफल हुआ है। अत एव सुविधा के लिए 'फोकलोर' के लिए हम 'लोकवार्ता' शब्द ही स्वीकार करेंगे।

लोकवार्ता एक शास्त्र है : १९ वीं शताब्दी के मध्य में पाश्चात्य विद्वानों ने पिछड़ी जातियों के साहित्य के प्रति अन्वेषण कार्य आरम्भ किया। प्राचीन भारतीय वाङ्मय, भाषा-विज्ञान का विकास, भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन, पंचतन्त्र, हितोपदेश आदि भारतीय नीति कथा साहित्य के महत् ग्रन्थों का अन्य देश की कथाओं से पारस्परिक सम्बन्ध, आदि की ओर विद्वानों की दृष्टि गई। ज्यों-ज्यों भाषा-विज्ञान, समाज-विज्ञान, नृतत्वशास्त्र जैसे विषयों का विकास होने लगा लोकवार्ता को क्रमशः एक विज्ञान का रूप प्राप्त होता गया क्योंकि उक्त विषयों की अधिकांश सामग्री लोकवार्ता से ही सम्बन्धित है। लोकवार्ता का स्वतन्त्र अस्तित्व है, वह एक शास्त्र है और उसका व्यवस्थित रूप से अध्ययन होना चाहिए, यह निश्चित होने में अधिक समय नहीं लगा। सन् १८५८ में विल्हेम हेरिच री ने उक्त सभी विषयों में समन्वय स्थापित करके मनुष्य की भाषा, रहन-सहन, आचार-विचार, जातिसम्बन्धी वैशिष्ट्य आदि का उनमें समावेश करने के लिए विशेष आग्रह किया। सन् १९०८ में जी० एल० गोमे ने 'फोकलोर इज़ ए हिस्टारिकल साइन्स' ग्रन्थ लिख कर इस बात का प्रतिपादन किया कि लोकवार्ता इतिहास का स्वतन्त्र विषय है, जिसके अपने नियम और सिद्धान्त हैं। उसकी मान्यताओं को शास्त्रों की मान्यताओं की भाँति अपनाना चाहिए। परिणामतः विद्वानों ने पूर्ण रूपेण गोमे की स्थापनाओं का स्वागत नहीं किया, किन्तु नृतत्वशास्त्र के क्षेत्र में लोकवार्ता का भी अपना महत्व है यह स्वीकार कर लिया। सन् १९२० में आर० आर० मॅरेट का 'सायकोलोजी एण्ड फोकलोर' ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। उसमें लिखा है कि लोकवार्ता का केवल समाजशास्त्रीय पक्ष ग्रहण करना एकांगी दृष्टिकोण है। उसका मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी अध्ययन किया जाना चाहिए, क्योंकि लोक-

---

[५] राजस्थानी कहावताँ (भाग-१), २००६, कलकत्ता, पृष्ठ ११

[६] सम्मेलन पत्रिका (लो० सं० वि०), लोकायन और लोक-साहित्य, पृष्ठ ४३६

वार्ता निर्जीव विज्ञान नहीं है । बाह्य रूप से अध्ययन जितना आवश्यक है उतना ही उसका आन्तरिक पक्ष भी अध्ययन की दृष्टि से महत्वपूर्ण विषय है ।

गतिशील विज्ञान : लोक जीवन की धारा सदैव प्रवाहमान है । परम्पराएँ प्रवाह-वेग में नष्ट नहीं होतीं । वे नए रूपों में प्रगट हो 'लोक' के बीच में गत्यात्मक बनी रहती हैं । युगों से अपने चारों ओर व्याप्त जन के मध्य लोकवार्ता की गंगा बह रही है । किसी समय विशेष में ही लोकवार्ता का जन्म नहीं होता । वह सर्वकालीन, सर्वदेशीय और सर्वसम्मत है । शिक्षा के विकास ने इसे अवश्य प्रभावित किया है । शिक्षित जन के अतिरिक्त अशिक्षित, मूढ़ और रूढ़िवादी जन में उसका अस्तित्व गहरा है । समग्र रूप से लोकवार्ता लोकमात्र का विषय है। 'लोक' की अपरिमित शक्ति, साहस, मनोभाव, मान्यताएँ, विश्वास, राग-द्वेष, परम्पराएँ, अड़ाके, टोने-टोटके, अनुष्ठान, रीत्ति-रिवाज, गीत, कथाएँ, वेषभूषा आदि संयुक्त रूप से लोकवार्ता के चैतन्य अस्तित्व की घोषणा करते हैं । बोटकिन ने कहा है : "Folklore is not something far away and long ago but real and living among us "[७]

लोकवार्ता अत्यधिक दूर और अत्यन्त प्राचीन कोई वस्तु नहीं है, वह तो हमारे मध्य, साथ और जीवित है । क्योंकि : "Here the past has something to say to the present and book-less world to a world that likes to read about itself concerning our basic oral and democratic culture as the roots of arts and as a sidelight on history, "

यहाँ भूतकाल को वर्तमान से और पुस्तकहीन समाज को उस समय से कुछ कहना है जो अपने ही विषय में पढ़ना चाहता है, जिसका सम्बन्ध हमारे मौखिक और लोकतान्त्रिक संस्कृति की मूल कलाओं के प्रारम्भिक रूपों और इतिहास के एक अंग के प्रकाश से है ।

लोकवार्ता में लोक की परम्परागत भावनाएँ एवं चेतनागत सभी अभिव्यक्तियों का लेखा-जोखा निहित है । अतः लोकवार्ता केवल प्राचीन, अवशेष मात्र रूढ़ियों का अध्ययन ही प्रस्तुत नहीं करता वरन् जीवित लोकभावों, लोकाभिव्यक्तियों एवं उनकी प्रवाहमान प्रक्रियाओं का भी अध्ययन करता है ।

लोकवार्ता का विस्तार : लोकवार्ता के विस्तार के सम्बन्ध में सी. एस. बर्न के एक उद्धरण का अनुवाद डा. सत्येन्द्र ने इस प्रकार किया है : "यह एक जाति बोधक शब्द की भाँति प्रतिष्ठित हो गया है जिसके अन्तर्गत पिछड़ी जातियों में प्रचलित अथवा अपेक्षाकृत समुन्नत जातियों के असंस्कृत समुदायों में अवशिष्ट विश्वास, रीति-रिवाज, कहानियाँ, गीत तथा कहावत आती हैं । प्रकृति के चेतन तथा जड़ जगत् के सम्बन्ध में, भूतप्रेतों की दुनिया तथा उनके साथ मनुष्यों के सम्बन्धों के विषयों में, जादू, टोना, सम्मोहन, वशीकरण, तावीज, भाग्य, शकुन, रोग तथा मृत्यु के सबन्ध में आदिम तथा असभ्य विश्वास इसके क्षेत्र में आते हैं । और भी इसमें विवाह, उत्तराधिकार, बाल्यकाल तथा प्रौढ़ जीवन के रीति-रिवाज तथा अनुष्ठान और त्यौहार, युद्ध, आखेट, मत्स्य-व्यवसाय, पशु-पालन आदि विषयों के भी रीति-रिवाज और अनुष्ठान इसमें आते हैं तथा धर्मगाथाएँ, अवदान (लीजेंड), लोककहानियाँ, साके (बैलेड), गीत, किम्वदन्तियाँ, पहेलियाँ तथा लोरियाँ भी इसके विषय हैं । संक्षेप में लोक की मानसिक सम्पन्नता के अन्तर्गत जो भी वस्तु आ सकती है वह सभी इसके क्षेत्र में है । यह किसान के हल की आकृति नहीं जो लोकवार्ताकार को अपनी ओर आकर्षित करती है, किन्तु वे उपचार अथवा अनुष्ठान हैं जो किसान हल को भूमि जोतने के काम में लेने के समय करता है । जाल अथवा वंशी की बनावट नहीं, वरन वे टोटके जो मछुआ समुद्र पर करता है; पुल अथवा निवास का निर्माण नहीं, वरन् वह बलि जो उसके बनाते समय की जाती है और उसको उपयोग में लाने वालों के विश्वास । लोकवार्ता वस्तुतः आदिम मानव की मनोवैज्ञानिक अभिव्यक्ति है, वह चाहे दर्शन, धर्म, विज्ञान, तथा औषध के क्षेत्र में हुई हो, चाहे सामाजिक संगठन तथा अनुष्ठानों में अथवा विशेषतः इतिहास, काव्य और साहित्य के अपेक्षाकृत बौद्धिक प्रदेश में ।"[८]

वासुदेवशरण अग्रवाल लिखते हैं : "लोकवार्ता एक जीवित शास्त्र है ।...लोक का जितना जीवन है उतना ही लोकवार्ता का विस्तार है । लोक में बसने

---

[७] अमेरिकन फोकलोर (पाकेट बुक) की भूमिका, पृष्ठ १५

८. ब्रज लोकसाहित्य का अध्ययन, पृष्ठ ४-५ ।

वाला जन, जन की भूमि और भौतिक जीवन तथा तीसरे स्थान में उस जन की संस्कृति—इन तीन क्षेत्रों में लोक के पूरे ज्ञान का अन्तर्भाव होता है और लोकवार्ता का सम्बन्ध भी उन्हीं के साथ है।" (पृथ्वी पुत्र, पृष्ठ ८५।)

लेनिन का कथन है: 'लोकवार्ता जन की आशाओं और आत्मभावों स्नेह-सम्बन्धों) से सम्बन्धित सामग्री है।'

गान्धी जी के शब्दों में: 'लोकवार्ता लोगों का साहित्य है, पर वह लुप्त होती हुई सामग्री, यदि वह नष्ट न हुई हो, से सम्बन्धित है।'

लोकवार्ता के विषयों की तालिका काफी लम्बी-चौड़ी है। बर्न ने उन्हें तीन प्रधान मूहों में बाँटा है। डा. सत्येन्द्र के अनुसार उनका वर्गीकरण इस प्रकार हो सकता है:

(१) वे विश्वास और आचरण-अभ्यास जो सम्बन्धित हैं: पृथ्वी और आकाश, वनस्पति जगत पशु जगत्, मानव, मनुष्य निर्मित वस्तुओं, आत्मा तथा दूसरे जीवन, परा-मानवी व्यक्तियों, शकुनों-अपशकुनों, भविष्यवाणियों, आकाशवाणियों, जादू-टोनों और रोगों तथा स्थानों की कला से।

(२) रीति-रिवाज़: सामाजिक तथा राजनीतिक संस्थाएँ, व्यक्तिगत जीवन के अधिकार, व्यवसाय, धन्धे तथा उद्योग, तिथियाँ, व्रत तथा त्यौहार, खेल कूद तथा मनोरञ्जन।

(३) कहानियाँ गीत तथा कहावतें: कहानियाँ (अ) जो सच्ची मान कर कही जाती हैं। (आ) जो मनोरंजन के लिए होती हैं। गीत, सभी प्रकार के, कहावतें तथा पहेलियाँ, पद्यबद्ध कहावतें तथा स्थानीय कहावतें।

मोटे तौर पर 'फोकलोर (लोकवार्ता) के विषयों का हम निम्न रूप में भी वर्गीकरण कर सकते हैं:

(१) लोकगीत, लोककथाएँ, कहावतें, पहेलियाँ आदि।

(२) रीतिरिवाज़, त्यौहार, पूजा-अनुष्ठान, व्रत, आदि।

(३) जादू-टोना, टोटके, भूत-प्रेत सम्बन्धी विश्वास आदि।

(४) लोककथाएँ (लोक-नृत्य, नाट्य) तथा आंकिक अभिव्यक्ति।

(५) बालक-बालिकाओं के विभिन्न खेल, ग्रामीण एवं आदिवासियों के खेल, आदि।

इस प्रकार लोकवार्ता का क्षेत्र बहुत व्यापक है और लोकसाहित्य उसका एक अंग है। जहाँ मानव के विभिन्न आचार विचारों का स्पर्श लोकसाहित्य से होता है वहाँ तक लोकवार्ता के अन्य विषय लोकसाहित्य के लिए सहायक होते हैं।

लोकसाहित्य: लोकसाहित्य लोकवार्ता का एक महत्त्वपूर्ण भाग है। इसके अन्तर्गत स्त्रियों, पुरुषों और बच्चों का गद्य एवं पद्य वाङ्मय आता है। निम्न रूप में हम इसका विस्तार प्रस्तुत कर सकते हैं:

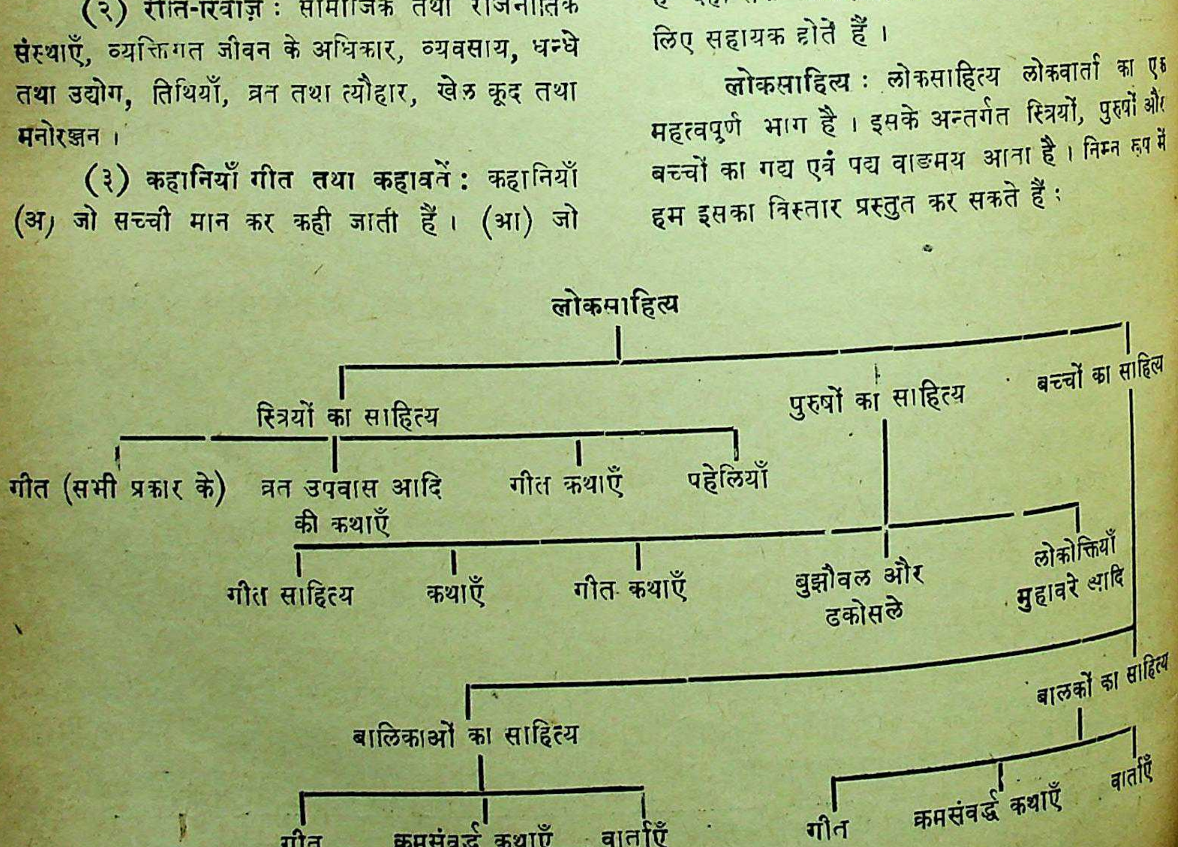
लोकसाहित्य
स्त्रियों का साहित्य
पुरुषों का साहित्य
बच्चों का साहित्य
गीत (सभी प्रकार के)
व्रत उपवास आदि की कथाएँ
गीत कथाएँ
पहेलियाँ
गीत साहित्य
कथाएँ
गीत कथाएँ
बुझौवल और ढकोसले
लोकोक्तियाँ मुहावरे आदि
बालिकाओं का साहित्य
बालकों का साहित्य
गीत
क्रमसंवर्द्ध कथाएँ
वार्ताएँ
गीत
क्रमसंवर्द्ध कथाएँ
वार्ताएँ

कतिपय विद्वानों का कथन है कि यह साहित्य मौखिक होता है अतः इसे 'साहित्य' की संज्ञा न देते हुए वाङ्मय कहा जाना चाहिए। महाराष्ट्र के स्वर्गीय वि० का० राजवाड़े ने 'साहित्य' की अपेक्षा 'वाङ्मय' शब्द ही अधिक पसन्द किया जिसे केवल 'लोक' के सम्बन्ध में प्रयुक्त करना उनका दृष्टिकोण था। 'ज्ञानेश्वरी' की टीका करते हुए उन्होंने लिखा था कि प्रान्तीय, जातीय और अपभ्रष्ट लोककथाएँ, दन्तकथाएँ, गीत, पवाड़े, लावनी, कहावतें आदि वाङ्मय की सही सही खोज होना अभी शेष है।[९] एक अन्य ग्रन्थ में उन्होंने लिखा है "स्त्रियों की कहानियाँ और बालिका के सो जाने पर बैठ कर गाई जानेवाली ओवियाँ 'सारस्वत' के धागे हैं। स्त्रियों के गीत, कहानियाँ ओवी आदि सभी प्रकार के समाज में सभी अवस्थाओं में उपलब्ध होते हैं।"[१०] इससे स्पष्ट है कि 'सारस्वत' शब्द उस कोटि में नहीं आता जिसमें कि 'वाङ्मय' लिया गया है।

लोकसाहित्य के सभी लक्षणों को व्यक्त करना यहाँ अभीष्ट नहीं है। संक्षेप में लोकसाहित्य किसी व्यक्ति विशेष द्वारा निर्मित नहीं होता। उसके पीछे परम्परा होती है जिसका सम्बन्ध समाज से भिन्न नहीं है।

उसकी अभिव्यक्ति सामूहिक है। व्यक्तित्व से रहित समान रूप से समाज की आत्मा को व्यक्त करनेवाली मौखिक अभिव्यक्तियाँ लोकसाहित्य की श्रेणी में आती हैं।

जहाँ तक लोकवार्ता और लोकसाहित्य का सम्बन्ध है, लोकसाहित्य का कुछ भाग ही उसके क्षेत्र में आता है। ऐसा साहित्य भी है जो उसके बाहर है। "लोकवार्ता में केवल वही लोकसाहित्य समावेशित होता है जो लोक की आदिम परम्परा को किसी न किसी रूप में सुरक्षित रखता है। इस लोकवार्ता-साहित्य का मूल्य केवल साहित्य की दृष्टि से होता है जो नृ-विज्ञान के किसी पहलू पर प्रकाश डालती है। इस साहित्य को हम आदिम मानव की आदिम प्रवृत्तियों का कोष कह सकते हैं! इस प्रकार के लोकसाहित्य की व्याख्या करने में जब यह विदित हो कि उसके मूल में किसी आधिभौतिक तत्व का ही प्रतिबिम्ब है, कि आदिम मानव ने सूर्य और अन्धकार के संघर्ष को, अथवा सूर्य और उषा के प्रेम को अथवा साहचर्य को ही विविध रूपकों द्वारा साहित्य का रूप प्रदान कर दिया है, तो उसका यह रूप धर्मगाथा का रूप ग्रहण कर लेता है। तात्पर्य यह कि लोकसाहित्य का वह अंश जो रूप में प्रकटतः तो होता है कहानी पर जिसके द्वारा अभीष्ट होता है किसी ऐसे प्राकृतिक व्यापार का वर्णन जो साहित्य स्रष्टा ने आदिम काल में देखा था और जिसमें धार्मिक भावना का पुट भी है—वह धर्मगाथा कहलाता है। इसके अतिरिक्त समस्त प्राचीन मौखिक परम्परा से प्राप्त कथा तथा गीत साहित्य भी लोकसाहित्य कहलाता है।"[११]

बहादुरगंज,
उज्जैन

—श्याम परमार
एम. ए, एल. टी.

मनुष्य बिना वायु के कुछ क्षण, बिना जल के लगभग दो सप्ताह, बिना भोजन के लगभग दो मास परन्तु बिना किसी नए विचार के वर्षों जीवित रह सकता है।

—पेटर मार्शल

साहस का सार यह नहीं कि तुम्हारा हृदय कम्पित न हो परन्तु यह कि कम्पित होने की किसी को खबर न हो।

—ई. एफ. बेन्सन

---

[९] ज्ञानेश्वरी, पृष्ठ १४
[१०] महाराष्ट्र सारस्वत (भाग दो); पृष्ठ २७६
[११] ब्रज लोकसाहित्य का अध्ययन, पृष्ठ ५-६

तेलुगु नाटक साहित्य

तेलुगु साहित्य में नाटक आधुनिक काल की देन है। पद्य साहित्य के पीछे तो पिछली कई शताब्दियों की परम्परा है, परन्तु उससे भिन्न नाटक, गद्य, उपन्यास और छोटी कहानियों का उद्‌भव वर्तमान युग में ही हुआ और इसका श्रेय वर्नमान युग के तेलुगु लेखकों को है। परन्तु क्या कारण है कि तेलुगु साहित्य में नाटकों का अभी तक अभाव रहा? यहाँ इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि यह विशेषता केवल तेलुगु साहित्य में ही नहीं है वरन् समस्त भारतीय भाषाओं पर भी लागू होती है। बंगाली, मराठी, हिन्दी एवं तमिल सब भाषाओं में नाटक साहित्य का विकास वर्तमान युग में ही हुआ है। कविता का महत्व तथा गद्य का अभाव अथवा नाट्य साहित्य के पूर्णतया अभाव का सर्व व्यापक प्रभाव हम समस्त वर्तमानकालीन भारतीय भाषाओं में स्पष्टतः पाते हैं। यद्यपि भौगोलिक दृष्टि से एवं भाषा की दृष्टि से विभिन्न हैं परन्तु सांस्कृतिक परंपरा में हम समस्त भाषाभाषी समानान्तर रूप से चल रहे हैं, यह बताने के लिए उपरोक्त कथन पर्याप्त है :

हम इस तथ्य को बहुत ही अच्छी प्रकार जानते हैं कि भारतीय संस्कृति की स्रोत एवं समस्त भारतीय भाषाओं की जननी संस्कृत भाषा का प्रभाव वर्तमान समस्त भाषाओं में गहराई तक पहुँचा हुआ है। संस्कृत कविता को इन भाषाओं ने अपनाया, संस्कृत के महाकाव्यों का अनुवाद भी इन भाषाओं में किया गया परन्तु उसी प्रकार केवल नाटक साहित्य को इन भाषाओं ने नहीं अपनाया। जहाँ तक तेलुगु साहित्य का सम्बन्ध है हम देखते हैं कि शास्त्रीय एवं उच्च साहित्यिक काल की परिसमाप्ति पर एवं श्री पेद्दना द्वारा स्वच्छन्दतावाद के प्रवर्त्तन पर तेलुगु के कवियों का ध्यान संस्कृत नाटकों की ओर आकर्षित हुआ। उस समय तक संस्कृत के पुराण एवं महाकाव्यों को तेलुगु ने पूर्णतया आत्मसात् कर लिया था। कवियों को इसके बाद किसी नूतन सामग्री की आवश्यकता अनुभव हुई जिससे वे संस्कृत की उस सामग्री से तेलुगु साहित्य की अभिवृद्धि कर सकें। कुछ ने संस्कृत के नाटक साहित्य पर कार्य प्रारम्भ किया परन्तु आश्चर्य इस बात का है उन कवियों ने संस्कृत के नाटकों का रूपान्तर तेलुगु काव्यों के रूप में किया, न कि नाटकों के रूप में। कवि पोन वीरभद्र ने कालिदास की "शकुन्तला" को एक तेलुगु प्रबन्ध काव्य में रूपान्तरित किया। कृष्णमिश्र के नाटक "प्रबन्ध चन्द्रोदय" को कवि नन्दी मल्लैय्या एवं कवि घण्ट संगैया द्वारा तेलुगु प्रबन्ध का रूप दिया गया। अन्य दूसरे भी कई कवि ऐसे हुए जिन्होंने इसी परम्परा का पालन किया। हम यहाँ उन कारणों एवं परिभाषाओं को कैसे जान सकते हैं जिसके फलस्वरूप तेलुगु के उन कवियों को संस्कृत के नाटकीय रूपों को छोड़ना पड़ा। हम केवल एक बात की कल्पना कर सकते हैं कि यद्यपि संस्कृत नाटक पीढ़ी के बाद दूसरी पीढ़ी द्वारा ग्रहण किए गए परन्तु प्राचीन संस्कृत का रंगमंच समाप्त हो चुका था बल्कि शायद लोग उसे भूल चुके थे और रंगमंच के बिना नाटकों का अस्तित्व वैसा ही है जैसे आत्मा के बिना एक शरीर का अस्तित्व। पिछली शताब्दी में जब तक भारतीय जनता पाश्चात्य रंगमंच के संपर्क में नहीं आई तब तक नाटक सुप्तावस्था में पड़ा रहा और इसके बाद ही नाटक साहित्य को पुनर्जीवन प्राप्त हुआ।

परन्तु नाटकीय प्रवृत्ति एवं प्रेरणा पिछली शताब्दियों में सर्वथा लुप्त नहीं हो गई थी। ग्रामीण जनता ने, अपरिपक्व रूप में ही सही, अपने लिए आशुगीतात्मक नाटक स्वयं बना लिए। हमारे पास तेलुगु ग्रामीण नाटकों के ऐसे कई नाटक कई रूपों में प्रमाण रूप में उपस्थित हैं जो कि तेलुगु भाषी जनता में प्रचलित हैं। कवि श्रीनाथ का "विधि नाटक" जो "कृदाभिरामम्" के नाम से भी प्रसिद्ध है इस प्रकार के लोकप्रिय नाटकों का एक उदाहरण है। साहित्य में 'विधि' शब्द का अर्थ वह नाटक है जो कि पथ के समान होना है। इसका स्पष्ट यही मतलब है कि यह नाटक राहगीरों की इच्छापूर्ति के लिए लिखा गया था। इसमें केवल एक या दो पात्र होते हैं और ये श्रृङ्गारात्मक नाटक होते हैं। "कृदाभिरामम्" में कवि ने तत्कालीन वरंगल की परिस्थिति का वास्तविक एवं रोचक वर्णन किया है।

दूसरे प्रकार का लोकप्रिय नाटक "यक्षगान" था। यह "प्राकृत नाटक" के नाम से भी प्रसिद्ध है जिसका तात्पर्य यह था कि यह जनता का नाटक अथवा ग्रामीण नाटक था जिसमें संस्कृत नाटकों की व्यवस्था व नियमों का उल्लंघन था। "यक्षगान" गद्य-पद्यात्मक सम्भाषण है। इसके अतिरिक्त इसमें वर्णनात्मकता अधिक है जैसी कि 'प्रबन्ध' में होती है। ग्रीक-नाटक के सामूहिक गान के अनुसार यह नाटक भी किसी व्यक्ति-विशेष द्वारा कण्ठस्थ किया जाता रहा होगा। इस प्रकार के नाटक सभ्य समाज में भी लोकप्रिय होते देखे गए हैं। हमें 'रंगजम्मा' नामी स्त्री का भी उद्धरण मिलता है जिसने कि "मन्तरु-दास विलास नाटकम्" की रचना की है। रंगजम्मा स्वयं को तंजोर के राजकुमार विजय राघव नायक की पत्नी बताती थीं और उनके नाटक की १६६० में रचना हुई है। "यक्षगान" नाटक में कथा की विशेष रोचकता नहीं है। उसका यह नाटक उसके पति—राजा की स्तुति के अर्थ को स्पष्ट करता है। एक रोचक रूप इस प्रकार के नाटकों का यह भी है कि इनमें हास्य की मात्रा भी रहती है और इनमें सम-सामयिक रीति-रिवाजों का भी चित्रण एवं वर्णन मिलता है। कुछ विद्वानों का अभिमत है कि तंजौर के नायक राजाओं के राज्य के समय राज-भवनों में रंगमंच था और वहाँ "यक्षगान" नाटकों का अभिनय होता था। यद्यपि यक्षगान बाद में प्रेम-काव्य में बदल गए जो कि उस समय प्रचलित थे और उनके कथानक तथा कविताओं का भी स्तर ऊचा नहीं था। परन्तु वास्तविक यक्षगान नाट्यकला एवं भावना व उत्साह से परिपूर्ण होते थे। यक्षगान की कथानक का विषय प्रायः लेखक पुराणों में से चुनते थे। कथाएँ प्रायः प्रह्लाद, रामायण या महाभारत के ही सदृश पुराण की कथाओं से ली जाती थीं। इनमें कविता एवं सम्वाद सजीव होते थे तथा उनमें हास्य का पुट रहता था।

'विधि भागवतम' और 'तोलु बोम्मलू' (चमड़े के पुतले) ने अब तक ग्रामीण जनता का आधुनिक काल तक मनोरंजन किया है। 'विधि भागवतम' में नाचने वाली स्त्रियों का समूह रहता है। और वे कृष्ण और सत्यभामा के प्रेम को नृत्य एवं संगीत द्वारा बड़े परिश्रम से उपस्थित करती हैं। कुचिपुड़ी के नृत्य विशारद इस प्रकार के प्रयोगों की अत्यन्त सुन्दर व्याख्या एवं प्रदर्शन किया करते थे। इन्हें 'कुचिपुड़ी भागवतुलु' कहा जाता था। इस स्वदेशीय नृत्यकला को ये लोग, जनता के अज्ञान एवं बुराइयों के होने पर भी अब तक जीवित रखते आए हैं। 'तोलू बोम्मलू' का प्रयोग ग्रामीणों को अत्यधिक प्रिय है। यह एक प्रकार से आधुनिक सिनेमा के समीप प्रतीत होता है। रामायण एवं महाभारत की कथाओं को इनमें उतार दिया गया है। चमड़े की पुतलियाँ नाटक के कार्यकर्ताओं द्वारा बनाई जाती हैं एवं उन्हें पर्दे पर उतारा जाता है। इन चित्रों को चतुराई से हाथ से फिराया जाता है और सम्वाद पर्दे के पीछे से कहे जाते हैं। इनमें बहुत अधिक चेष्टा एवं गति रहती है।

ग्रन्धारी नामक एक पात्र इसमें उपस्थित किया जाता है जो कि जनता को अत्यधिक हँसावे और तमाशा करे।

भारत में अँग्रेजों के आगमन के परिणामस्वरूप कलकत्ता में भी पाश्चात्य ढंग के रंगमंच खुले और लोगों के हृदयों में नाटक की ओर अभिरुचि पुनर्जागृत हुई। इस पुनर्जागृति का प्रभाव सबसे पहले बंगाल पर ही पड़ा। उत्तरी भारत में स्थान स्थान का दौरा करने वाली नाटक कम्पनियों ने दक्षिण भारत में भी दौरा किया और फलतः दक्षिण में नाटकों के लिए अभिरुचि बढ़ी। तेलुगु विद्वान् एवं लेखक चिर प्रतीक्षित नाटकों के निर्माण की ओर प्रवृत्त हुए। अपने प्राचीन गुरु नानैया आदि की परम्परानुसार उनका ध्यान पहले संस्कृत के नाटकों की ओर आकर्षित हुआ। कालिदास की 'शकुन्तला' का सबसे पहले अनुवाद हुआ। बहुत से विद्वान्—रावबहादुर वीरेशलिंगम, वी. वेंकटार्य शास्त्री, वी. सुब्बरामुड्डू आदि ने कालिदास की प्रौढ़तम रचनाओं के अनुवाद को प्रारंभ किया और प्रत्येक ने संस्कृत के उत्तमोत्तम कवियों को हू-ब-हू तेलुगु श्रोताओं के सम्मुख उपस्थित किया। इस प्रकार कार्य का प्रारम्भ कर दिया गया जो कि आज तक निरन्तर चल रहा है। संस्कृत के समस्त नाटकों का तेलुगु में अनुवाद करने के लिए पूर्णोत्साह से कार्य किया गया और एक के बाद एक संस्कृत के समस्त नाटक तेलुगु में रूपान्तरित कर दिए गए और अन्त में श्री तृप्ति वेंकटकावलू ने संस्कृत के उच्चकोटि के ग्रन्थ 'मृच्छकटिक', 'मुद्राराक्षस' और अन्य ग्रन्थों का तेलुगु में अनुवाद करके मानो कार्य को अपनी पूर्णावस्था पर पहुँचा दिया। यहाँ पर अन्य भाषाओं के भी नाटक ग्रन्थों का तेलुगु में अनुवाद करने वाले श्री श्रीपाद कामेश्वरराव

के भी कार्य का उल्लेख किया जा सकता है। इनके द्वारा द्विजेन्द्रलाल राय के बंगला नाटकों तथा अन्य बहुत से हिन्दी तथा मराठी के नाटकों का तेलुगु में भाषान्तर किया गया।

परन्तु तेलुगु नाटकों की पूर्ण प्रतिभा का विकास केवल कलाकारों की मौलिक रचनाओं से जाना जा सकता है। इस दृष्टि से भी तेलुगु के मौलिक नाटकों का क्षेत्र उर्वर है। यद्यपि समय ही इसकी कसौटी है। रावबहादुर विरेशलिङ्गम ने तेलुगु में मौलिक नाटकों की रचना आरंभ की। उन्होंने अपने नाटकों के लिए उन उच्च कोटि के ग्रन्थों के कथानकों को चुना जिनका तत्कालीन तेलुगु जनता में खूब प्रचार और प्रसार था। उन्होंने 'प्रह्लाद', 'हरिश्चन्द्र' इत्यादि नाटक लिखे। तत्कालीन विधि नाटकों में भी इन्हीं कहानियों का प्रयोग था। श्री वीरेशलिङ्गम का उद्देश्य इन नाटकों के लिखने का यही था कि इन कथानकों में जो ऊपरी गन्दगी आ गई है उसे दूर करके उनको अपने विशुद्ध प्राचीन रूप में उपस्थित किया जाय और उसमें के गन्दे एवं भद्दे मज़ाकों को दूर करके श्रोता उससे अच्छा सीख लें। वीरेशलिङ्गम ने नाटकों की पुरानी परिपाटी को नहीं अपनाया जो समय के उपयुक्त नहीं रह गई थी। धीरे धीरे वे अधिकाधिक नियमभञ्जक बन गए। 'प्रह्लाद' नाटक तथा 'हरिश्चन्द्र' नाटक इतनी उग्र भावनाओं से परिपूर्ण हैं जितने कि 'अगमेनन ऑफ अचिलस' या 'सोफेकल्स' का राजा ऑडीपस। 'प्रह्लाद' नाटक का हिरण्यकश्यप विष्णु से उसी प्रकार घृणा करता है जैसे कि शैतान स्वर्ग के देवता से करता है। कवि ने उसमें पूर्ण रूप से दुखान्तक पात्र की अनुभूति जगाई है। हिरण्यकश्यप में मनुष्यत्व के लक्षण—उसका अपनी रानी लीलावती से प्रेम और अपने नन्हें से पुत्र प्रह्लाद के प्रति प्रेम इत्यादि का उसके विष्णु के प्रति चिर स्थायी घृणा से स्पष्ट भेद बतलाया गया है। वीरेशलिंगम का 'हरिश्चन्द्र' चट्टान की तरह अटल हृदय से सत्य की भक्ति में दृढ़ चरित्रवाला है। 'सोफेकल्स' का ऑडीपस सत्य की चट्टान की ओर सिर ऊँचा किए अज्ञानता से बढ़ता है और वहाँ से वह पाताल में फेंक दिया जाता है परन्तु हरिश्चन्द्र जानते हुए सत्य की आग में कूदता है और वहाँ से बेदाग़ लौट आता है।

इस प्रकार जब राजमुन्द्री से वीरेशलिंगम अपने यथार्थवादी नाटकों और उच्च कोटि के कथानकों से पूर्ण नाटकों की रचना कर रहे थे, तब बेलारी के उल्लेखनीय दो नाटककार तेलुगु नाटक साहित्य की अभिवृद्धि में लगे हुए थे। के. श्रीनिवासराव तथा डी. रामकृष्णम्माचार्य ये दोनों व्यक्ति नाटककार एवं अभिनेता दोनों ही थे। के. श्रीनिवास राव ने लगभग ३० नाटक लिखे। वे अपने दृष्टिकोण से परिवर्तन-विरोधी थे और इसीलिए नाटक के प्राचीन नियमों का पालन करते रहे। उनका नाटक "सुल्ताना चाँदबीबी" बीजापुर और अहमदनगर की प्रसिद्ध रानी "चाँदबीबी" की वीरता एवं महिमा को उपस्थित करता है। इसी प्रकार के. श्रीनिवासराव ने हर्षवर्धन, शिलादित्य और अकबर आदि की ऐतिहासिकता को अपने नाटकों का आधार बनाया है। परन्तु यश और महत्व उनके भाई डी. कृष्णम्माचार्य को प्राप्त हुआ। इनके प्रति आन्ध्र वासियों ने "आन्ध्र नाटक पितामह" कह कर अपनी श्रद्धा भेंट की। महाराजा कृष्णदेवराय के समय पेद्दना ने 'आन्ध्र कविता पितामह' की पदवी का उपभोग किया था। कृष्णास्वामी प्रथम श्रेणिक कलाकार थे यह निस्संदिग्ध है। उन्होंने तीस से भी अधिक नाटक लिखे। वे स्वयं एक अभिनेता भी थे इसलिए वे दर्शकों की रुचि से अच्छी प्रकार परिचित थे। और उन दर्शकों की प्रसन्नता के लिए उन्हें कभी कभी नाट्यकला के कठिनतम नियमों का उल्लंघन भी करना पड़ता था। यह जानते हुए कि तेलुगु जनता नाटकों में गीतों को अधिक पसन्द करती है उन्होंने अपने नाटकों में विशेष रूप से गीतों को स्थान दिया। उनके कुछ आलोचकों ने अपवाद स्वरूप पद्य और कुछ विशेष गीतों की इस अत्यधिक उपस्थिति की ओर इंगित करते हुए कहा भी है कि यह जीवन की वास्तविकता नहीं। जब मनुष्य बोलते हों या हृदय की आन्तरिक अभिलाषाओं और उत्कण्ठाओं को प्रकट करते हों तो उनके विचार पद्यात्मक रूप से या गीतों में नहीं प्रस्फुटित होते। तेलुगु रंगमंच पर कृष्णम्माचार्य के नाटक व्यापक रूप से लोकप्रिय हैं। उनका 'चित्र नलियम' जिसमें राजा नल और दमयन्ती की कथा का वर्णन है, दुःख और हर्ष से पूर्ण नाटक का एक उदाहरण है। नल और दमयन्ती के जीवन का प्रभात उनके जीवन के दुःखपूर्ण मध्याह्न से सर्वथा विपरीत है जिसमें कि हृदय को कँपा देनेवाली परीक्षाएँ हैं और पुनः इसकी परिसमाप्ति मधुर सन्ध्या में होती है। "सावित्री चित्रसवम" जिसमें सावित्री के आदर्श चरित्र का चित्रण है उनकी एक ऐसी कृति है जो

कि लाखों आन्ध्र वासियों की प्रीतिभाजन बन चुकी है।

कृष्णम्माचार्य की सर्वोत्कृष्ट रचना 'विशद् शारङ्गधर' है जिसमें शारङ्गधर की दुखान्त कथा है। प्रचलन के अनुसार शारङ्गधर राजा नरेन्द्र का पुत्र है जो कि नानय्या का संरक्षक था। परन्तु इतिहास इसका समर्थन नहीं करता। कथा इस प्रकार है कि राजा नरेन्द्र अपने पुत्र शारंगधर का विवाह करना चाहता था और तदर्थ उसने कई राजकुमारियों के फोटो मङ्गवाए। उन सब राजकुमारियों में एक चित्रांगी नामक राजकुमारी थी जो कि सर्वोत्तम सुन्दरी थी। उसको यह बताया गया था कि उसका विवाह राजकुमार शारंगधर से होगा परन्तु राजकुमारी की सुन्दरता को देख कर बूढ़े राजा नरेन्द्र ने ही उस राजकुमारी से विवाह करने का निश्चय किया। अपनी समस्त इच्छाओं के विपरीत राजकुमारी चित्रांगी का विवाह उस बूढ़े राजा से हो गया और शारङ्गधर का विवाह दूसरी राजकुमारी से सम्पन्न हो गया। इस प्रकार दुःख पूर्ण घटनाओं के होने का आधार तैयार हो गया। चित्रांगी अपने प्रिय राजकुमार शारङ्गधर से अत्यधिक प्रेम करती थी और अपने हृदय में वह उसी से बंधी रही। एक दिन बूढ़ा राजा शिकार पर दूर चला गया। इधर चित्रांगी के हृदय में तूफान तो उठ ही रहा था और वह पाप या पुण्य किसी भी तरह शारङ्गधर को अपना बनाना चाहती थी। उस दिन राजकुमार अपने कबूतरों से खेल रहा था और भाग्यवश एक कबूतर चित्रांगी के महल में चला गया। यहाँ पर नाटककार ने एक बड़ा सुन्दर दृश्य उपस्थित किया है जब कि चित्रांगी शारंगधर को अपना प्रेम स्वीकार करने के लिए प्रलोभन देती है। राजकुमार को अत्यधिक आघात पहुँचा। उस अत्यधिक सुन्दरी राजकुमारी का प्रेम, एकान्त, उसके आँसू, उसकी प्रार्थना, प्रेम की प्राथमिकता, और उसके द्वारा प्रदर्शित भय सब मिल कर उस चट्टान सदृश धैर्यशाली हृदयवाले शारंगधर को नहीं डिगा सके। जब चित्रांगी ने देखा कि उसका प्रेम असफल रहा तो उसके हृदय का शैतान जाग उठा और उसने बदला लेने की प्रतिज्ञा की। बूढ़ा राजा जब लौट कर आया तो उसने एक मनगढ़न्त कथा उससे कही कि उसके पुत्र ने उसी के महल में उससे......। राजा को अत्यधिक क्रोध आया और उसने शारंगधर पर न्यायालय में मुकदमा चलाया। शारंगधर ने उन आरोपों का प्रतिवाद करने से इन्कार किया अन्यथा न्याय की कार्यवाही में उसे चित्रांगी की बुराइयों को बताना पड़ता। और चित्रांगी को वह अपनी माता के तुल्य मानता था क्योंकि उसके पिता ने उससे विवाह किया था। अन्त में उसे मृत्यु दण्ड मिला। सजा की खबर जब चित्रांगी को मिली तो उसका प्रेमी हृदय फूट पड़ा। और यह पीड़ा उसके लिए असह्य हो गई और धीरे धीरे सारा रहस्य राजा पर प्रकट हो गया। परन्तु अब तक बहुत देर हो चुकी थी। शारंगधर पर सजा को सम्पादित किया जा चुका था। और फिर राजा ने चित्रांगी को भी मृत्यु दण्ड दे दिया।

कृष्णम्माचार्य तेलुगु का सर्व प्रथम एवं सफल दुःखान्त-नाटककार हुआ है। चित्रांगी जिसका प्रेम बड़ा गहरा था और जो कि घमण्डी थी क्लिमैन्स्ट्रा के सदृश्य घृणा तथा प्रतिकार लेने वाली थी। उसका चरित्र चित्रण बहुत ही सुन्दरता के साथ किया गया है।

नाटकों की यह परम्परा आन्ध्र के किसी एक स्थल में ही सीमित नहीं थी। विजयनगरम् के राज दरबार में भी जी. अप्पाराव नामक एक बड़े लेखक हुए। वे भी वीरेशलिंगम के प्रतिरूप ही सामाजिक सुधार के लिए बड़े उत्साही थे। वे प्राचीन रूढ़ियों के विरोधी थे और कई रूढ़ियों को उन्होंने तोड़ा है। उन्होंने यह भी अनुभव किया कि लोगों की जागृत बुद्धि तब तक स्वतन्त्र रूप से अपने विचारों को व्यक्त नहीं कर सकेगी जब तक तेलुगु की साहित्यिक भाषा प्राचीन उच्च साहित्य एवं व्याकरण के पुराने नियमों से आबद्ध है। वे इसीलिए बोलचाल की भाषा को साहित्य की भाषा के रूप में लोकप्रिय करना चाहते थे। इस प्रकार उनके दो उद्देश्य थे। एक सामाजिक सुधार, दूसरा साहित्यिक सुधार। और ये दोनों सुधार उनके "कन्या शुल्कम्" नाटक में सुचारु रूप से व्यक्त हुए हैं। "कन्या शुल्कम्" तेलुगु का सर्व प्रथम सामाजिक नाटक है। अप्पाराव के समय में नवयुवती कन्या से विवाह उस पुरुष का होने की प्रथा भी थी जो कि सबसे अधिक रुपया उस कन्या के लिए उसके पिता को दिया करता था। अप्पाराव ने इस हानिप्रद प्रथा के विरुद्ध अपनी आवाज़ उठाई और प्रासंगिक तौर पर उन्होंने दूसरे सामाजिक दोष "नर्तकी" के अस्तित्व की ओर भी इशारा किया। इसके अतिरिक्त उन्होंने नौजवान विधवाओं की दुरवस्था तथा हृदय-हीन समाज की अत्यधिक हानिप्रद प्रथाओं की ओर

दृष्टिपात किया।

आन्ध्र के आधुनिक युग में सामाजिक-सुधारों के साथ ही साथ प्रगाढ़ देश भक्ति की भावना दिखाई पड़ती है और यह विचार और दृष्टिकोण आधुनिक नाटकों में भी पाए जाते हैं। देशभक्ति पूर्ण नाटकों में सर्वोच्च शिखर पर वी. वेंकटराय शास्त्री का "प्रताप रुद्रीयम्" है। नाटक में वरंगल के राजा प्रताप रुद्र का देहली के सिपहसालार द्वारा चालाकी से पकड़ा जाना तथा पुनः राजा के मंत्री युगन्धरायण द्वारा उसकी मुक्ति का वर्णन है। इतिहास इस महान् मंत्री के विषय में सर्वथा मौन है और शायद वरंगल के प्रसिद्ध मन्त्री शिवदेवय्या की "युगन्धर" उपाधि हो। युगन्धर देहली में एक पागल मनुष्य के रूप में प्रवेश करता है और सुलतान और उसके मन्त्रियों को चातुर्य से हरा कर अपने मालिक को कैद से छुड़ा लेता है। नाटक देशभक्ति की भावना से परिपूर्ण है। इस नाटक का तेलुगु-श्रोताओं पर बड़ा प्रभाव है। वेंकटराय पूरे हास्य-लेखक हैं। और पैरिगाडू धोबी के चरित्र का निर्माण करके उन्होंने इस बात का पूरा प्रमाण भी दिया है। युगन्धर ने उस धोबी को प्रतापरुद्र का अनुकरण करने के उपयुक्त चुना ताकि राज्य में कुछ गड़बड़ी उत्पन्न हो। पौरिगाडू तत्काल ऐसा ही अनुभव करने लगा जैसे कि स्वयं वह राजा ही हो। कवियों एवं गायकों ने भी उसकी सहायतार्थ कार्य में सहयोग दिया। वह भी अपने बुद्धिबल से उनसे क्या कार्य लेना चाहिए यह जानता था। परन्तु शीघ्र ही उसे अपने राजा के उस क्षणिक पद को छोड़ कर अपने उसी पुराने धन्धे की ओर लौटना पड़ा और शाही जीवन व्यतीत करने के बाद अपने पुराने ग़रीब धन्धे और ग़रीब पत्नी की ओर वह आकृष्ट नहीं हो सका। तेलुगु नाटक साहित्य में पैरिगाडू का सृजन एक अद्वितीय वस्तु थी। वेंकटराय शास्त्री का दृष्टिकोण यद्यपि उच्च-साहित्यिक था और वे बोलचाल की भाषा के प्रयोग के विरोधी थे तदपि उन्होंने निम्न श्रेणी के पात्रों की भाषा के लिए बोलचाल की भाषा के प्रयोग प्रारंभ किए। संस्कृत नाटककार निम्न-कोटि के पात्रों के लिए जैसे प्राकृत का प्रयोग करते थे वैसे ही वेंकटराय शास्त्री ने उपरोक्त नियम को अपनाया।

दूसरी प्रकार के लोकप्रिय नाटक वीर रस पूर्ण थे जो कि महाभारत और रामायण सदृश्य महाकाव्यों पर आधारित थे। वीरत्वपूर्ण नाटक लिखनेवाले बहुत से लेखकों में से तृप्ति तथा वेंकट कवियों का नाम प्रमुख है। उन्होंने महाभारत की सम्पूर्ण कथा को पाँच सुन्दर नाटकों में परिणत किया है। उनमें भी "पाण्डव विजयम्" नाटक उनके प्रयत्नों के सर्वोच्च शिखर पर है। 'पाण्डव विजयम्' सबसे अधिक दुःखान्त नाटक है। पाण्डवों का शत्रु सुयोधन सबसे अधिक दुःखद व्यक्तित्व है। वह युद्ध क्षेत्र से हार कर भाग जाता है परन्तु अपनी दुर्जेय वीरता एवं आत्माभिमान को उसने कभी नहीं छोड़ा। यदि सुयोधन के पतन के साथ ही साथ लेखक नाटक की परिसमाप्ति कर देता तो यह दुःखान्त का बहुत ही उपयुक्त समाप्ति स्थल होता। परन्तु तृप्ति तथा वेंकट कवुलु हमारे प्राचीन श्रेणिक साहित्य की कोटि के लेखक थे अतएव वे नाटक की परिसमाप्ति दुःखान्त नहीं कर सकते थे। इस प्रकार उक्त नाटक युधिष्ठिर के राज्याभिषेक के साथ समाप्त होता है। दोनों कवि अपनी शैली के पूर्ण पण्डित थे और उनके भाव भी सर्वदा उच्च रहे हैं। इन नाटकों की कविता भी सर्वाधिक लोकप्रिय है। कुछ आलोचक जिनका कि यह विश्वास है कि रंगमंच की दृष्टि से कविता का आधिक्य नाटक में दोष है उन्होंने तृप्ति तथा वेंकट कवियों के इस दोष की ओर इंगित किया है। श्री लक्ष्मी नरसिंहम् दूसरी पौराणिक कथाओं को नाटकों में परिवर्तित करनेवाले लेखक हैं। अपनी बुद्धि की सर्वांगीणता से उन्होंने "आन्ध्र का स्कॉट" पदवी को अपने उपन्यासों के कारण प्राप्त किया है। उनके नाटक "गयोपाख्यानम्" और "प्रसन्नयादवम्" अपने ढंग के नाटकों के उदाहरण हैं। इन नाटकों में महाकाव्यों की उन कथाओं का इस ढंग से वर्णन किया गया है जैसे कि मानो वे कल की घटनाएँ हों तथा उनमें सभ्य और श्लिष्ट हास्य को स्थान दिया गया है।

पानुगण्टी लक्ष्मी नरसिंहराव उच्च कलाकार थे और उन्होंने नाटकों को नाट्य कला की दृष्टि से लिखा। उनमें अपूर्व बुद्धिमत्ता एवं साधारण बुद्धिमत्ता दोनों का एक अपूर्व समन्वय था। कभी कभी वे बुरी रुचि की गहराई तक पहुँच जाते हैं जैसे कि उनके "रतिस्तम्भमु" में पाया जाता है और कभी कभी वे भावों के उच्च शिखर पर पाए जाते हैं। वे आधुनिक विश्वविद्यालय की शिक्षा की उपज थे और उनमें अंग्रेजी भाषा, भाव एवं पाश्चात्य सभ्यता ठूँस ठूँस कर भरी हुई थी। उन्होंने तेलुगु नाटक को नाटकीय आलोचना के विचार एवं तर्क के सिद्धान्तों के अनुसार पुनः संगठित

करने का प्रयत्न किया। सर्वप्रथम उन्होंने तेलुगु नाटक क्षेत्र में दुःखान्त नाटक के पक्ष का समर्थन किया और उन्होंने यह तर्क उपस्थित किया कि एक उच्च चरित्र का दुःखपूर्ण अन्त भी वैसी ही सामान्य वस्तु है जैसी कि सुखपूर्ण पूर्णता को प्राप्त करना। इसलिए उन्होंने यह सुझाव रखा कि लेखकों को नाटकीय आलोचना के प्राचीन नियमों को तोड़ कर दुःखान्त नाटक लिखने से ज़रा भी नहीं संकोच करना चाहिए। नाटकों में कविता के समावेश के विषय में श्री राव का यह विचार था कि केवल एक प्रकार के छन्दों को ही प्रयुक्त किया जाए। नाटक में कविता गद्यात्मक ही हो जिससे कि वास्तविकता एवं नाटक का तत्व समाप्त न हो जाय। इसलिए उन्होंने "तातागीत" या "अतावेलदी" सरीखे साधारण छन्दों का नाटकों में समावेश करने का समर्थन किया। उनका दृष्टिकोण इन छन्दों को ग्रहण करने में यही था कि ये छन्द अंग्रेजी के 'मुक्तक छन्द' के सदृश्य होते हैं और इनसे नाटक के वास्तविक वातावरण में रुकावट नहीं पड़ती। उन्होंने नाटकों में संगीतपूर्ण गीतों का पूर्णतया विरोध किया है और जो ऐसी गलती किया करते थे उन पर की गई उनकी आलोचनाएँ सर्व प्रसिद्ध हैं। यहाँ तक कि "तेलुगु नाटक के पितामह" श्री डी॰ कृष्णम्माचार्य भी इनकी ऐसी आलोचना से बच नहीं सके क्योंकि उनका विचार था कि अपनी मृत्यु के समय भी 'शारंगधर' का गान बिलकुल अस्वाभाविक है। श्री राव भाड़े के टट्टू लेखकों एवं मंच के प्रबन्धकर्ताओं की भी बहुत बुरी तरह दया रहित आलोचना किया करते थे जो कि भीड़ की रुचि का विचार करके नाटकों को अपनी सुविधा के लिए घटा बढ़ा लेते थे। इन अलोचनाओं में शक्ति उत्पन्न करने के लिए उन्होंने अत्यधिक बुद्धिमत्ता एवं विपुल हास्य का समावेश किया। हास्य लेखकों में उनका स्थान सर्व प्रथम है। सबसे बड़ी बात यह है वे उन नाटककारों में से एक हैं जो कि चरित्र चित्रण की कला एवं नियमों को अच्छी प्रकार समझते हैं। और यह कहने में अत्युक्ति न होगी कि एकमात्र उन्होंने बहुत से ऐसे चरित्रों को अपने नाटकों में प्रस्तुत किया जितने कि बहुत से नाटककार मिल कर भी न कर सकते।

श्री राव के साधारण नाटकों में "कण्ठाभरणम्" का नाम उल्लेखनीय है। इसमें श्री राव के हास्य का पुट खूब अच्छी तरह निखरा है। कवि ने इसमें एक ब्राह्मण का चित्र खींचा है जो कि धार्मिक कार्यों के लिए इतने उत्साह के साथ कार्य करता है कि वह हास्यास्पद बन जाता है। और वह अपनी पत्नी की जीवितावस्था में ही अपनी अन्त्येष्टि के विधान की पूर्णतया तैयारी करता है। "सुब्बीसेट्टी" वेश्या का चरित्र बहुत ही सुन्दरता के साथ वर्णित है और उससे हँसी का फव्वारा छूटता है। कंजूस बनिया अपनी ६० वीं जन्म दिन मनाता है और वह दृश्य अपने ढंग के हास्य और व्यंग्य में अद्वितीय है। श्री राव के बड़े नाटकों में "पादुका पट्टाभिषेकम्" प्रशंसा के योग्य है। लेखक स्वयं राम का भक्त था और नाटक के मुख्य पात्र के आदर्शों के प्रति उनके हृदय में बड़ा आदर था। राम का अपूर्व त्याग एवं भद्रता, कैकेयी के चरित्र में सुरत्व और असुरत्व की लड़ाई, भरत सा आदर्श छोटा भाई जिसने कि पाए हुए राज्य को ठुकरा दिया और लक्ष्मण सा प्रभावशाली योद्धा इन सब चरित्रों का बहुत ही सूक्ष्मता एवं शुद्धता के साथ और वैयक्तिक रूप से ध्यान देकर चित्रण किया गया है।

"विप्रनारायण चरित्र" नामक नाटक कवि की चरित्र चित्रण कला का सुन्दर उदाहरण है। श्री राव का "प्रचण्ड चाणक्यम्" एक दुःखान्त नाटक है। नाटक का कथानक चाणक्य का अपने अपमान के कारण नन्द के वंश से बदला लेना ही है। चाणक्य प्राचीन महान मंत्री था और चन्द्रगुप्त मौर्य के साम्राज्य की प्रशंसा का उत्तरदायित्व उसी पर था। वह बुद्धिमान राजनीतिज्ञ था परन्तु साथ ही साथ बदला लेनेवाला व्यक्ति था। संस्कृत नाटक "मुद्राराक्षस" उसके "मैकेवली" ढंग के राजनीतिपन का रचनात्मक पहलू है। "प्रचण्ड चाणक्य" उसके क्रोधी स्वभाव एवं संहारात्मक स्वरूप का दिग्दर्शक है। सारी कथावस्तु श्री राव की अपनी सूझ है और यह इस बात को प्रकाशित करता है कि अपने कथानक को स्पष्ट करने में वे कितने योग्य थे। श्री राव का सबसे मधुर नाटक "राधाकृष्ण" है। यह अत्यधिक प्रगीतात्मक एवं भक्तिरस से ओतप्रोत है।

सर्वत्र लोकप्रिय दूसरे नाटककार श्री नारायणराव कुलकर्णी हैं। समाज की दुखती रग पर हाथ रखने में वे बड़े सिद्धहस्त थे। वे अन्य लोगों के साथ समाज की हँसी उड़ाने में प्रवीण थे। उनका हास्य श्लिष्ट था और उन्हें जनता की नाड़ी की अच्छी परख थी। उनका "चिन्तामणि" नामक नाटक ग्रामीण एवं नागरिक सब प्रकार के रंगमंचों पर कई सौ बार खेला गया है और

अभी भी उसकी माँग बनी ही रहती है। कवि ने इसमें समाज में नर्तकी के अस्तित्व के दुष्परिणामों पर विचार किया है। चिन्तामणि नामक सुसंस्कृत नर्तकी से उसकी दुष्ट प्रकृति वाली माँ इस बात के लिए आग्रह करती है कि वह नए प्रेमियों को प्राप्त करके उनसे खूब रुपया खींचे। चिन्तामणि में तदपि आत्माभिमान की क्षीण रेखा विद्यमान थी। उसे अपने एक बर्बाद प्रेमी भवानीशंकर से नाटक के मुख्य-पात्र बिल्वमंगल का पता लगता है। वह पैसे वाला तथा उच्च शिक्षा प्राप्त नवयुवक था जिसकी पत्नी भी उसी के सदृश पढ़ी लिखी थी। चिन्तामणि बिल्वमंगल के प्रेम में पड़ जाती है और फुसलाने के अभ्यास में प्रवीणता के कारण वह बिल्वमंगल के हृदय पर अधिकार कर लेती है। यह विष जब उसकी आत्मा में उतरता है तो वह अपने वृद्ध पिता को छोड़ देता है। और अपनी देवी तुल्य पत्नी की परवाह नहीं करता एवं उसे ठुकरा देता है और अपनी उसी जादूगरनी चिन्तामणि के साथ रहने लगता है। इस प्रकार बिल्वमंगल का पूर्ण पतन हो जाता है। एक तूफ़ानी भयंकर रात में वह अपनी मालकिन चिन्तामणि के पास नदी को पार करके जाता है और एक शव का सहारा ले कर नदी पार करता है और यह शव और किसी का नहीं स्वयं उसकी पत्नी का था। चिन्तामणि उसके पतन को देखकर पीछे हट गयी और उसने अपने इस पापपूर्ण जीवन से विद्रोह कर दिया। वह जीवन से वैराग्य ले कर सन्यासिनी बन गई। बिल्वमंगल ने भी अपने नेत्रों को आत्मा की ओर लगाया और वह भी प्रभु का भक्त बन गया। सम्पूर्ण नाटक का घटनाक्रम सुन्दर ढंग से सजाया गया है। मुख्य कथानक में मनोरंजन का पुट भरने के लिए कवि ने चिन्तामणि के दो अन्य शिकारों को भी अवतरित किया है जिनकी अपनी अपनी एक दुःखपूर्ण गाथा है। परन्तु ये दोनों घटनाएँ भी मुख्य कथा में इस ढंग से पिरो दी गई हैं कि मुख्य कथा का अंश सी ही प्रतीत होती हैं।

श्री नारायणराव का "वरविक्रयम्" नाटक बहुत अधिक लोकप्रिय है और उसका तो अब सिनेमा भी बन चुका है। वे इसमें हमारे समाज में प्रचलित दहेज प्रथा की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं। बाल विवाह तथा दहेज की प्रथाओं के कारण हमारे सामाजिक जीवन में बहुत सी दुःखपूर्ण घटनाएँ घटित हुई हैं। "कालिन्दी" का पिता दहेज का पक्षपाती तो नहीं था परन्तु अपनी पुत्री के विवाह के लिए तो उसे दहेज देना ही था। कालिन्दी एक सुशिक्षित एवं बुद्धिमती लड़की थी। उसने इस दहेज की विनाशकारी प्रथा पर अपने आप को बलि देने का निश्चय किया और कुँए में कूद कर आत्महत्या कर ली। परन्तु उसके पिता के कष्ट उसके साथ ही समाप्त नहीं हो गए। कालिन्दी की जिस वणिक् के पुत्र से मंगनी हुई थी उसने फिर भी कालिन्दी के पिता को नहीं छोड़ा। इसलिए कालिन्दी की छोटी बहिन कमला का विवाह उस बूढ़े वणिक् के पुत्र से सम्पन्न हुआ। परन्तु कमला एक चतुर लड़की थी। उसने अपने ससुराल को जाने से इन्कार किया। उसने यह तर्क किया कि क्योंकि वर के पिता को उसकी शादी के लिए एक बड़ी रकम दी गई है इसलिए वह लड़के की खरीददार है और लड़का उसका खरीदा गया धन है। वह उसके यहाँ रहना चाहिए। न्यायालय ने भी उसके तर्क को स्वीकार किया और इस प्रकार इस नाटक की सुख में परिसमाप्ति होती है।

यह तेलुगु नाटक साहित्य की विस्तृत रूपरेखा है। समय एवं स्थान के अभाव के कारण यहाँ पर तेलुगु मंच के विकास का इतिहास या नाट्यकला के विकास के सम्बन्ध में विवेचन सम्भव नहीं है। तेलुगु नाटक यथार्थवादी एवं आधुनिक हैं। यह सत्य है कि हमारे नाटक अब तक केवल सामाजिक एवं देशभक्ति की भावनाओं के दायरे में सीमित रहे हैं। शीघ्र ही यह अपनी सीमाओं से बाहर हो कर विश्व की समस्याओं एवं मौलिक विचारधाराओं से अनुप्राणित होगा। नवयुवकों में "इब्सन" के ढंग के मनोवैज्ञानिक एवं क्रान्तिकारी-आदर्शवाद से परिपूर्ण नाटक लोकप्रिय हो रहे हैं। यह इस बात की ओर इशारा करता है कि भविष्य में हवा का रुख किस ओर होगा। तेलुगु नाटकों की अभूतपूर्व सफलता का कारण यह भी है कि हमारे अभिनेता कुशल कलाकार हैं।

—लक्ष्मीरंजनम्

उस्मानिया यूनिवर्सिटी,
हैदराबाद

जीवन का मोल

[जेठ माह की ज़मीन को चिटकादेनेवाली चिल-चिलाती धूप, तीर की तरह चुभनेवाली लू, लाल अंगार-सा दहकता हुआ सूर्य और दम घोंट कर मार देनेवाली चिटकती गर्मी की दोपहरी में एक अंग्रेज़ी दवाखाने के अन्दर।

यह दवाखाना अंग्रेज़ी ढंग का बना हुआ है—विलायती फर्नीचर, नए डिज़ाइन की रेक्स और अलमारियाँ जिनमें चारों ओर दवाएँ भरी हैं। अलमारियों के बीच में ठीक आमने सामने एक दूसरे के बराबर में दोनों ओर शीशे लगे हैं। इन शीशों की सीध में ग्राहकों के लिए कुर्सियाँ पड़ी हैं जिनके सामने दस-बारह फुट की डिस्पेन्सिंग रेक है। उस पर कम्पाउण्डर अन्दर से दवाइयाँ बना कर, ला, रख, नया पर्चा ले, अन्दर जा दवा बना लाते हैं। इसी रेक के पास कभी दो और कभी तीन आदमी खड़े हैं। एक शीशी में खूराकों की माप, यदि उसमें कार्क न हुई तो कार्क तथा अपनी फर्म का लेबेल लगाता है। और दूसरा आदमी पर्चे पर अपनी मोहर लगा, कैशमेमो बना पैसे लेता है।

इतनी कड़ी दोपहरी में भी दवाखाने में काफी भीड़ है। यहाँ तक कि बैठनेवालों के लिए कुर्सियाँ कम पड़ गई हैं। कुछ लोग रेक का सहारा लिए खड़े हैं।

कम्पाउण्डर और दवाखाने के अन्य कर्मचारी मशीन की तरह बड़ी चुस्ती और मुस्तैदी से पर्चा ले, अन्दर से दवा ला, रख, फिर नया पर्चा ले लौट जाते हैं। काम बड़ी फुर्ती से हो रहा है। सभी कर्मचारी भीड़ छाँटने की कोशिश कर रहे हैं पर भीड़ है कि उल्टे बढ़ती ही जा रही है।

एक तो गर्मी की दोपहरी, तिस पर बला की भीड़, दो-दो सीलिंग फैन्स किसी का भी पसीना सुखाने में कामयाब नहीं होते।

भीड़ में रमेश का प्रवेश। रमेश: सुन्दर किन्तु कुम्हलाया सा, आकर्षक पर बुझा सा, साफ रंग पर यथेष्ट परवाह न करने से कुछ साँवला युवक, उम्र कोई चौबीस पच्चीस के लगभग परन्तु घरेलू बाधाओं के कारण अवस्था से अधिक अधेड़ सा एक गन्दा पायजामा और मिज़गुली कमीज़ पहने है। उसके बाल रूखे उलझे सूखे बिना कढ़े, दाढ़ी तीन चार रोज़ की, माथे पर गहरी चिन्ता की रेखाएँ, गाल पिचके-बैठे हुए, आँखें अन्दर धँसी हुई पर बड़ी बड़ी, नाक लम्बी सुघड पर अनाकर्षक, ओंठ पतले पर सूखे हुए, दाँत अनार के दानों जैसे। वह पसीने से तर-बतर है।

काम के लिए वह कोआपरेटिव सोसाइटी में कामदार है। तनख़्वाह गिरानी मिला कर सब कोई पचास रुपए। पन्द्रह रुपए महीने अपने विवाह में क़र्ज़ लेने के कारण महाजन पहली को तनख्वाह मिलते ही दफ्तर से ले जाता है। पैंतीस रुपए में डेढ़ मन की लाश और एक बीबी को खिलाना पिलाना, तन ढाँकना और ज़िन्दा रखना।]

रमेश: (लोगों को ठेल, आगे बढ़, लेबेल लगाने वाले के पास जा, कमीज़ से मैला रुमाल निकाल पसीना पोंछते हुए पर्चा आगे बढ़ा) यह लीजिए।

लेबेलवाला: (कैंची से लेबल काटता हुआ दूसरे की तरफ़ इशारा कर) उस तरफ़।

रमेश: (कैशमेमोवाले की ओर बढ़, पर्चा दे) यह दवा चाहिए।

मेमोवाला: (अपना काम रोक, पर्चा ले, पढ़) दवा या इन्जेक्शन?

रमेश: (तुरन्त) दोनों।

मेमोवाला: (स्वीकृति में) बहुत अच्छा। (पर्चा रख, मेमो काट, दवा दे, पैसे ले ग्राहकों को निपटाता है)

रमेश: (चुपचाप गुमसुम खोया-खोया-सा खड़ा है। वह कभी इस पैर और कभी उस पैर पर शरीर का बोझ डाल खड़ा होता है, कभी रेक का सहारा ले लेता है और कभी जेब से रुमाल निकाल पसीना पोंछ एक गहरी साँस छोड़ता है।)

[दवाखाने की घड़ी इसी समय सवा बारह बजाती है। मेमोवाला आदमी अब भी व्यस्त है।]

कम्पाउण्डर: (जो अभी अन्दर से आया है मेमोवाले को दवा दे) लाइए।

मेमोवाला: (दवा ले पर्चा कम्पाउण्डर को दे देता है। कम्पाउण्डर अन्दर चला जाता है और शीघ्र ही वापस लौट आता है।)

कम्पाउण्डर: (पर्चा रमेश को वापस दे) इसे रोकिए, ढूँढ़ना पड़ेगा।

रमेश: (आतुर हो) कितनी देर लगेगी! (एक

साँस में) मुझे बहुत जल्दी है।

कम्पाउरडर : (मेमोवाले की ओर इशारा कर) आपसे कहिए।

रमेश : (मेमोवाले के पास जा पर्चा बढ़ा) अब तो मँगवा दीजिए।

मेमोवाला : (पर्चा ले सिर हिला) अभी लीजिए। (वह अन्दर चला जाता है!)

रमेश : (शीघ्र ही पैर बदल, कभी बाएँ कभी दाएँ फिर दाँए फिर बाँए पर खड़ा हो, कभी रेक पर टिक बेचैनी से प्रतीक्षा कर रहा है। पसीना पोंछते-पोंछते उसका रुमाल काला पड़ गया है। मेमोवाले को देर तक आया न देख दूसरे आदमी से जो अब मेमो काट रहा है) अभी तक आए नहीं।

वह पुरुष : (धैर्य बँधाते हुए) आते ही होंगे?

रमेश : (फेफड़ों में नई हवा भर) बड़ी देर लगा दी।

वह पुरुष : (काम में लीन) ढूँढ़ रहे होंगे।

रमेश : (अपनी आँखें डिस्पेन्सरी के रास्ते पर टिका देता है। इसी समय घड़ी साढ़े बारह बजाती है। आधा घंटा हुआ देख व्याकुल हो आर्द्र स्वर में) बड़ी देर लगा दी। (हल्के स्वर में) डाक्टर भी इन्तज़ार करते-करते थक गए होंगे।

वह पुरुष : (सर उठा कर रमेश की ओर देख आशा बँधाता है) आते ही होंगे। इतने बड़े दवाखाने में ढूँढ़ना कोई आसान थोड़े ही है। और फिर आप अकेले तो हैं नहीं। यहाँ तो सभी को जल्दी है।

रमेश : (उसके चेहरे पर विषाद की रेखाएँ और गहरी हो जाती हैं। वह पहले से कहीं अधिक पसीना छोड़ने लगता है। तभी वह मेमोवाला अन्दर से लौटता है। उसे खाली हाथ देख आश्चर्य से।) दवा!

मेमोवाला : (पुनः पर्चा पढ़) जी हाँ, जी नहीं। (बात बनाते हुए) देखिए मैं कम्पाउरडर को नोट करा आया हूँ। वह ढूँढ़ रहा है। आपको कुछ देर और इन्तज़ार करना पड़ेगा।

रमेश : (थका-सा मेमोवाले से) पौन बजने को आया। (याचना भरे स्वर में) ज़रा जल्दी निकलवा दीजिए। बड़ी मेहरबानी होगी।

मेमोवाला : (आशा बँधाता हुआ) घबड़ाइए मत। अभी मिल जाएगी। (पुनः पर्चा ले तेज़ी से मुड़ता है)

रमेश : (उसे मुड़ता देख, खिले चेहरे से) अस्पताल में थी नहीं इसी से आपको तकलीफ़ देनी पड़ी। (उसे जाता देख) धन्यवाद। बहुत-बहुत शुक्रिया। (इसी समय घड़ी पैंतालीस मिनट—पौन बजाती है। रमेश फिर परेशान नज़र आने लगता है। मेमोवाला शीघ्र ही वापस लौट आता है। रमेश उसके मुँह की ओर एकटक देखने लगता है।)

मेमोवाला : (रमेश के पास जा) I am sorry Both of these are out of stock देखिए यह दोनों हमारे स्टाक में नहीं हैं।

रमेश : (चेहरे पर हवाइयाँ उड़ने लगती हैं। बेताब होकर) तब?

मेमोवाला : (सहानुभूति दिखाता हुआ) सुनिए! आप कुछ देर और इन्तज़ार कर लीजिए। (विश्वास दिला) मैं दूसरी जगह दिखवा लूँ। (अन्दर चला जाता है।)

रमेश : (चौंक कर) जी। (डूबते को जैसे तिनका मिल गया हो) बड़ी मेहरबानी होगी।

(कुछ देर बाद रमेश ज्यों ही घड़ी की ओर देखता है वैसे ही घड़ी एक बजाती है। वह अब अधिक परेशान दिखाई पड़ता है। खड़े खड़े थक जाने से वह पास ही पड़ी खाली कुर्सी पर बैठ जाता है। वह कभी इधर कभी उधर ज़रा सी भी आहट पाने पर बड़ी बेचैनी से उस मेमोवाले को ढूँढता है।)

(मेमोवाला कोई पाँच छः मिनट बाद दवा और इन्जेक्शन हाथ में लिए लौटता है।)

रमेश : (चेहरे पर रोशनी दौड़ जाती है। भावावेश में उठ खड़ा होता है, ज़ोर से) शुक्रिया, बहुत बहुत शुक्रिया। मैं आपका अहसान उम्र भर न भूलूँगा।

(सड़क पर से गुज़रते हुए पति-पत्नी उसके 'शुक्रिया' से चौंक जाते हैं। पल भर के लिए उन दोनों की दृष्टि रमेश की ओर उठ जाती है। अपनी गोद से बच्चे को पत्नी पति को देती है। साहब बच्चे को ले चल देता है। मेम साहब उनके पीछे चल देती हैं। रमेश डूबा-सा खड़ा है। ज्यों ही मेम साहब (पत्नी) अपने साहब को बच्चा देती हैं त्यों ही रमेश को अपने होनेवाले बच्चे की याद हो आती है। वह बच्चा लेने के लिए हाथ फैला देता है जैसे वह सड़क पर राहगीर, मेमसाहब अस्पताल की नर्स हो और यह बच्चा उसका अपना हो। वह भावुकता में बड़बड़ा उठता है।) बच्चा। मेरा बच्चा।

मेमोवाला : (दवा और इन्जेक्शन बढ़ा) यह लीजिए।

रमेश : (उसका स्वप्न टूट जाता है। चौंक कर) जी।

मेमोवाला : अठारह रुपए।

रमेश : (आश्चर्यचकित) दाम बहुत ज़्यादा हैं।

मेमोवाला : (अपनी विवशता प्रकट करता हुआ) हमारे यहाँ के तो हैं नहीं, दूसरे के यहाँ से मँगवाए हैं।

रमेश : यह तो ठीक है। (रुक) कुछ कमवेश...।

मेमोवाला : (दवा और इन्जेक्शन उठा) कोई बात नहीं।

रमेश : (उसे बाँह से पकड़ गिड़गिड़ाता है) आपको अपनी बीबी की कसम, अपने बच्चों की कसम, अपने प्यारों की कसम (स्वर लड़खड़ा जाता है।)

मेमोवाला : (कुछ द्रवित) मैं मजबूर हूँ। मैं खुद नौकर हूँ।

रमेश : (याचना भरे स्वर से) मुझे थोड़ा मौक़ा दीजिए जिससे मैं कोई इन्तज़ाम कर सकूँ। इन्हें आप यहीं रखा रहने दें। मैं आठ-दस मिनट में आता हूँ। (बाहर निकल जाता है।)

मेमोवाला : (दवा और इन्जेक्शन वहीं रेक पर छोड़ समीप ही खड़ा हो काम करने लगता है। ..रमेश ज्यों ही दवाख़ाने के दरवाज़े पर पहुँचता है कि सामने से एक लाश गुज़रती है। उसका दिल एकदम धड़क जाता है। वह ऊपर से नीचे तक काँप जाता है। उसका रोयाँ-रोयाँ सिहर उठता है। पल भर के लिए रुक शीघ्र ही मुड़ पड़ता है। दवाख़ाने में बहुत जल्दी से घुस दवा और इन्जेक्शन उठा, जेब से रुपए निकाल रेक पर रख बाहर के लिए चल देता है।...मेमोवाला नोट उठा, गिन, पाँच-पाँच के दो और एक दो रुपए का कुल बारह रुपए—छः कम देख, दरवाज़े पर खड़े संतरी को ज़ोर से आवाज़ लगाता है।)...मथरा! (हड़बड़ाते हुए जाते रमेश की ओर इशारा कर) पकड़ो (मथरा : लम्बा-चौड़ा, हट्टा-कट्टा संतरी, रमेश को अपनी दोनों बाहों में कस लेता है। रमेश का सारा बदन काँप जाता है। वह सिर नीचा करके मथरा की बाहों में जकड़ा खड़ा हो जाता है।)

रमेश : (एक गहरी साँस छोड़) छोड़ो मुझे, मैं भागूँगा नहीं। (वह मथरा के हाथों से छूटने की कोशिश करता है पर असफल रहता है।) मैं फौरन दवा देकर लौट आऊँगा। मैं भागूँगा नहीं।

मेमोवाला : (गिरी निगाहों से देख) यह कितने रुपए हैं?

रमेश : (सर झुकाए हुए) बारह।

मेमोवाला : (कड़क कर) और मैंने बताए कितने थे?

रमेश : (दबी आवाज़ में) अठारह।

मेमोवाला : (खिल्ली उड़ाता हुआ) तुम समझे थे कि यह काम में उलझा है, चरका दे दो। (व्यंग्य भरी मुद्रा में) हूँ। तुम्हारे जैसे न मालूम कितने आते हैं। (मथरा रमेश को वैसे ही अपनी बाहों में जकड़े रहता है। उसके चारों ओर आदमी इकट्ठा हो जाते हैं। दवाख़ाने के अन्य कर्मचारी और सेठ घटनास्थल पर इकट्ठे हो जाते हैं रमेश सर नीचा लटकाए खड़ा है जैसे हार मान ली हो।)

सेठ : (रमेश के पास जा, उसे बालों से पकड़ झटका दे सर ऊपर उठा डपटता है।) क्यों बे। (दाँत चबाता है जैसे कच्चा ही चबा जाएगा। उसके सीने के ऊपर चढ़ता हुआ, दूसरे हाथ से रमेश की क़मीज़ का कालर पकड़ कर।) बदमाश। तेरे जैसे यहाँ सैकड़ों आते हैं। और जिन्हें एक बार राह दिखा दी वह आज तक वापस नहीं आया। चला है हमें चलाने। (उसे धक्का दे) बेईमान। तेरे बाप की दूकान है?

रमेश : (थोड़ा स्वयं सम्हलता है शेष मथरा सम्हालता है। आर्द्र स्वर में) नहीं सेठ जी।

सेठ : (लाल ताते होकर) सेठ जी के बच्चे... (ओंठ चबाने लगता है।)

रमेश : (दबी ज़बान में) मैंने...।

सेठ : (चीख़ उठता है) ख़ामोश।

रमेश : (धीरे से) सही दाम तो इससे भी कम होंगे।

सेठ : (गुस्से से उछल) क्यों देता है ज़्यादा दाम। मैं जितने बताऊँ उतने भर दे जा (भीड़ की तरफ़ देख) चोरी और सीनाज़ोरी। बना धर्मात्मा फिरता है। (अपने एक कर्मचारी से) Go and ring police station.

भीड़ में से एक : (रमेश से) तुमने चोरी की?

रमेश : (भर्राई आवाज़ में) मैं ग़रीब ज़रूर हूँ पर चोर नहीं।

कोई दूसरा : क्या बात है?

रमेश : (बुझे स्वर में) मैं रेट से ज़्यादा दाम दे रहा था इसलिए। (सब लोग उसकी ओर आश्चर्य और आशंका से देखने लगते हैं।)

तीसरा : यानी?

चौथा : इन्होंने कितने माँगे?

रमेश : (धीरे से) अठारह।

पाँचवा : और तुमने दिए?

रमेश : (हल्की आवाज़ में) बारह।

छठा : छः कम ।

रमेश : (तड़प कर) नहीं । छः ज्यादा ।

कोई एक : सो कैसे ?

रमेश : कन्ट्रोल रेट साढ़े पाँच रुपए ही है ।

सेठ : (बीच में कड़कता है) कौन कहता है ?

रमेश : डाक्टर ने बताया था । (सेठ अन्दर चला जाता है)

दूसरा : (अफ़सोस जाहिर करता हुआ) कोई बीमार है ?

रमेश : (स्वीकृति में सिर हिला कर) जी ।

तीसरा : कौन ?

चौथा : क्या ?

रमेश : (सर उठा कर विषादभरी दृष्टि से देख भारी गले से) एक गरीब औरत मेरी बदनसीब बीबी; बच्चा होनेवाला है ।

भीड़ में से कोई : (गहरी साँस छोड़) हूँ ।

दूसरा : अँधेर ।

तेज़ आवाज़ें : लूट ।...दिन दहाड़े !...चोर बाज़ारी ।...पुलिस और फौज !...भूख और बीमारी !

रमेश : (आँखें गीली हो जाती हैं) हमारे लिए है ।

आवाज़ें : (कड़क) और ऐश !

रमेश : (दीन स्वर में) पैसे वालों के लिए ।

भीड़ से कोई एक : इन पर कोई क़ानून भी नहीं लगता ।

रमेश : (तड़प कर) क़ानून !

आवाज़ें : हमें पीसने के लिए ।...खून चूसने के लिए ।...अपनी मौत टालने के लिए ।

(भीड़ में एक युवक घुस कर रमेश के सामने पहुँच कर रुक जाता है ।)

युवक : (रमेश से) क्या है ?

भीड़ में से : बीबी बीमार है !...बच्चा होनेवाला है ! दो से तीन !...नई ज़िन्दगी !...नन्हा सा लाल !

भीड़ से एक बूढ़ा : बेचारा बाप बननेवाला है ।

रमेश : (बीच ही में तड़प कर) नहीं मौत । (वह अपने को छुड़ाने की कोशिश करता है । काफी हाथ पैर फेंकने के बाद भी असफल रहता है ।...भीड़के सब लोग मथरा को चारों ओर से घेर लेते हैं । वह युवक मथरा के हाथों से रमेश को छुड़ानेका प्रयत्न करता है ।)

भीड़ से आवाज़ें : छोड़ ।...कमीने कुत्ते ।...देश के दुश्मन ।

(हल्ला सुन सेठ दौड़ आता है ।)

मथरा : (सेठ से घबड़ाए स्वर में) सरकार यह लोग ।

सेठ : (हाँफ़ता हुआ) क्या है ।

(सब लोग उसकी ओर देखने लगते हैं ।)

युवक : (सेठ जी के पास जा उनका तोंद सहलाता हुआ सेठ जी से) कैसी चर्बी चढ़ी है ?

सेठ : (खीसें निपोर कर) अपना अपना भाग है भाई।

युवक : आपके भाग में सोना । (रमेश की ओर इशारा करके) और इसके भाग में मिट्टी !

सेठ : (दाँत निकाल) हे-हे, हे-हे ।

युवक : आपका पेट कितना बढ़ गया है । आपको क्या मालूम आपकी चर्बी में कितनी आहें छिपी हैं, कितने मासूमों की भूख, कितनों की तड़प छिपी है और कितनों का खून छिपा है । पर यह लूट और ज़्यादा दिन तक न चल सकेगी सेठ जी । दुनिया बदल रही है, ज़माना बदल रहा है. इन्सान बढ़ रहा है, वह अपनी तक़दीर खुद...। (वह मथरा को धक्का दे रमेश को छुड़ा लेता है । सेठ टुकुर टुकुर हतबुद्धि सा खड़ा देखता रहता है । आगे, आगे रमेश और पीछे वह युवक तथा भीड़ बाहर की ओर चल पड़ती है । इसी समय पुलिस आ जाती है ।)

सेठ : (दरोगा से) पकड़ो । (अपने कर्मचारियों से) दौड़ो । खबरदार । एक भी भागने न पाए। (पुलिस रमेश को पकड़ लेती है ।)

नई भीड़ में से : बीबी के बच्चा !...घर में जच्चा ! नियति का व्यंग !...बाप होने की क़ीमत !...लाल होने का मोह !

(बाहर लाउडस्पीकर पर रेकार्ड बजता है—बाप बड़ा ना भय्या भय्या सबसे बड़ा रुपइया......साथ ही पृष्ठभूमि से प्रसूता के कराहने और बच्चे के रोने की आवाज आती है । धीरे धीरे प्रसूता की आवाज़ कम और बच्चे की आवाज़ तेज़ होती जाती है ।) [निष्कान्त]

—रामगोपाल शुक्ल

कोतवाली रोड,
हरदोई (उ. प्र.)

चिट्ठी-पत्री

['चिट्ठी-पत्री' के स्तम्भ को हम अधिक लोकप्रिय बनाना चाहते हैं। साहित्य की गतिविधि और अन्य समस्याओं पर हम 'अजन्ता' के पाठकों के विचार को जानना चाहते हैं। इस स्तम्भ में वे अपने विचार प्रकाशित करने के लिए भेज सकते हैं। इस स्तम्भ द्वारा लेखकों और पाठकों के बीच में निकट सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है। इस स्तम्भ में प्रकाशित सर्वश्रेष्ठ पत्रों पर विशेष पारिश्रमिक की योजना की गई है। पत्र संक्षिप्त और निर्वैयक्तिक होने चाहिएँ। पत्र अधिक से अधिक 'अजन्ता' के दो कालम होने चाहिएँ—सं०]

(१)

प्रिय बन्धु,

.... मैं 'अजन्ता' को अपनी पत्रिका के समान ही मानता हूँ। हम लोगों के दृष्टिकोण में बहुत ही कम अन्तर है और इस समय तो मैं यह भी नहीं कह सकता कि वह अन्तर है कहाँ! जो सेवा मुझ से बन पड़ेगी अवश्य करूँगा।...इस प्रकार के Labour of Love में मुझे सदा आनन्द ही आता है। आर्थिक दृष्टिकोण को मैंने कभी नहीं अपनाया।

नई दिल्ली

—बनारसीदास चतुर्वेदी

(२)

अंग्रेज़ी का मोह या हिन्दी-प्रेम ?

'अजन्ता' में आपकी 'हिन्दी परिषदों में अंग्रेज़ी' शीर्षक टिप्पणी पढ़ी। उसकी विचार-धारा से मैं सहमत हूँ। मैं स्वयं उस परिषद् में उपस्थित था। मुंशी जी ने अपने मौखिक भाषण में वे ही बातें दुहराईं जिन्हें वे पहले भी कई बार कह चुके हैं। पटना की हिन्दी-परिषद् हिन्दी प्रचार सम्मेलन के रूप में आमंत्रित नहीं थी, वह तो वास्तव में विश्व विद्यालय के हिन्दी प्राध्यापकों की संस्था है जिसमें विश्व विद्यालयों में होने वाले अनुसंधान कार्य, पाठ्यक्रम, हिन्दी भाषा के स्थरीकरण Standardisation, उसकी वर्त्तनी (Spelling) आदि पर विचार किया जाता है। मुंशी जी उस परिषद् के खुले अधिवेशन के अध्यक्ष थे। अतः उन्हें इन्हीं प्रश्नों पर अपने विचार व्यक्त करना चाहिए था। पर राजनीतिक महापुरुष अपने विचारों को व्यक्त करने के लिए देश-काल की अपेक्षा नहीं रखते क्योंकि वे ही तो 'देश-काल' के निर्माता होते हैं। प्रादेशिक भाषाओं और हिन्दी में संघर्ष की कल्पना से उन्हें क्षुब्ध होने की आवश्यकता नहीं है। अंग्रेजी के रहने से यह कल्पित संघर्ष समाप्त हो जाएगा, इसका उन्हें कैसे विश्वास हो गया? स्वाधीन होने के पश्चात् प्रादेशिक भाषाओं का पनपना उतना ही स्वाभाविक है जितना हिन्दी का राष्ट्रभाषा होना। हिन्दी प्रादेशिक भाषाओं को स्थान-च्युत नहीं करना चाहती, वह तो अंग्रेजी को अपने वर्तमान स्थान से हटाना चाहती है। इस तथ्य को जिस तरह राष्ट्रपति राजेन्द्र प्रसाद साग्रह कहते हैं, उसी तरह मुंशी जी या अन्य नेता क्यों नहीं कहते? हिन्दी का लक्ष्य किसी राज्य की स्थानिक भाषा को नष्ट करना नहीं है, वह तो प्रत्येक राज्य की भाषा से अनुप्राणित हो सचमुच राष्ट्रभाषा बनना चाहती है; वह प्रत्येक प्रादेशिक भाषा का रस ग्रहण कर सजीव और समृद्ध बनने को आतुर है। वह अंग्रेजी या किसी भी विदेशी भाषा से प्राणवान तत्वों को लेने के लिए स्वतन्त्र है। उसे न प्रादेशिक भाषाओं के विकास से भय है और न विदेशी भाषाओं से। वह तो राष्ट्र की एकता का स्वर

बन कर जिन्दा रहना चाहती है। हिन्दी केवल हिन्दी भाषा भाषी समझे जाने वालों की नहीं, समूचे देश की "भाषा" है। उसका किसी देश-भाषा से विरोध का प्रश्न ही नहीं उठता, नहीं उठना चाहिए। हमारे नेताओं को देश में इसी वातावरण को उत्पन्न कर "भाषा-युद्ध" की कल्पना को असम्भव बना देना चाहिए।

नागपुर युनिवर्सिटी,
नागपुर

—विनयमोहन शर्मा

(३)

स्वर्गीय पं. गणेश रघुनाथ वैशंपायन

महाराष्ट्र के महान् देशभक्त और हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ उपासक पं. श्री ग. र. वैशंपायन जी का गत मास में शोचनीय निधन हुआ. इस पर राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रेमियों को दुःख होगा। साल भर से आप कैन्सर से बीमार थे और उसी के वे शिकार हो गए। श्री. वंशैपायनजी का पूर्णायुष्य बड़ी ही चहल पहल में व्यतीत हुआ। बम्बई के विख्यात "लैमिंगटन रोड बाँब केस" के मामले में उन पर अभियोग लगाया गया जिसके कारण उन्हें अत्यन्त कष्ट और कारावास भुगतना पड़ा। उसके अनन्तर आपने पुणें में हिन्दी भाषा के प्रचार का कार्य हाथ में लिया। सन् १९३४ से लेकर महाराष्ट्र में आज हिन्दी का जो प्रचार सर्वत्र धूमधडक्के से चालू है उसका अधिकांश श्रेय श्री. वैशंपायन जी को ही है। महाराष्ट्र के वर्तमान अधिकांश प्रमुख हिन्दी प्रचारक श्री वैशंपायन जी की शिष्य परम्परा में से ही हैं, इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं। सन् १९४० में पुणें में जो हिन्दी साहित्य सम्मेलन हुआ उसके आप स्वागताध्यक्ष थे; सन् १९४१ में अबोहर में हुए हिन्दी साहित्य सम्मेलन की राष्ट्रभाषा परिषद् के आप अध्यक्ष थे। पू. गांधी जी की हिन्दुस्तानी के आप विरोधी थे और इस विरोध को महाराष्ट्र में खड़ा करने का बहुतांश श्रेय आप ही को है। आपने हिन्दी-मराठी शब्दकोश, मराठी-हिन्दी शब्दकोष और अनेकों हिन्दी पाठ्य पुस्तकें लिखी हैं। आप उदार हृदयी थे। आपका पिंड क्रांतिकारक देशभक्त का और ऐंठन महाराष्ट्र की थी। इन महान् देशभक्त के निधन से महाराष्ट्र को काफी क्षति पहुँची है। उनके कुटिम्बियों के दुःख में हम भी सहभागी हैं।

पं० गणेश रघुनाथ वैशंपायन जी का जन्म दि. ७ जनवरी १८९२ को हुआ। "अभिनव भारत" संस्था के आप एक निष्ठावान् सदस्य थे। १९३१ के "लेमिंगटन रोड गोलीबार षड्यन्त्र" के मामले में आप प्रमुख अभियुक्त माने गए थे जिसके कारण उन्हें कारावास और काफी कष्ट सहने पड़े थे। बाद में निर्दोष कह कर आपको रिहा किया गया। रेडियो विभाग के आप सेवा निवृत्त कर्मचारी थे। भावनगर के "श्री गणेश क्रीडा मण्डल" के आप संस्थापक थे। हिन्दी प्रचार का आपका मुख्य क्षेत्र पुना था।

८६६ सदाशिव पेठ,
पुना २

—शान्तिभाई जोबनपुत्रा

(४)

हम श्री मुंशी से मिले

...श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी का नाम राजनीतिज्ञ और साहित्यकार होने के कारण प्रसिद्ध है। इन पंक्तियों में लेखक को उसके पूज्य दादा (श्री बनारसीदास जी चतुर्वेदी) की असीम अनुकम्पा से दिव्य विभूतियों के सम्पर्क का सौभाग्य प्राप्त होता रहा है और भाग्यवश ही उसकी भेंट श्री मुशी से हुई।

मुझे कलाकार एवं साहित्यकारों का प्रतिनिधि (कवि) समझ श्री मुशी बोले : 'मैं बहुत चेष्टा कर रहा हूँ कि हिन्दी समुन्नत हो किन्तु मेरा प्रयत्न ही पर्याप्त नहीं, हिन्दी का भविष्य हिन्दी के साहित्यकार के हाथों में है।'

प्रसंगवश मुझे यह कहना पड़ा कि आजकल के अधिकांश कवि जन-प्रतिनिधि नहीं रहे, उनकी प्रत्येक रचना में वासना झलकती है, 'तप्त श्वाँसों से न जल पाई हृदय की वासनाएँ' इसका स्पष्ट प्रमाण है।'

'यह समाज की कमजोरी है,' श्री मुंशी ने कहा। आपने आगे कहा कि 'इसी कारण आज का साहित्यिक उत्कृष्टता से पीछे हट रहा है, उसे भविष्य दृष्टिगत नहीं होता जो कि एक कलाकार (कम से कम एक कवि) को होना चाहिए जैसा कि गोस्वामी तुलसीदास को हुआ।

अत एव इसके लिए किसी सीमा तक कवि एवं किसी सीमा तक समाज उत्तरदायी है।'

श्री मुंशी ने इसी प्रसंग को लेते हुए कहा कि 'आज के तुक मिलाने वाले भी अपने को कवि घोषित करते हुए प्रसन्नता का अनुभव करते हैं जिनसे कि वास्तविक कवियों के प्रति भी लोगों की श्रद्धा घट जाती है।'

श्री मुंशी जी ने कहा : "यदि सभी कवि कुछ काल के लिए शृंगार का त्याग कर दें तथा ऐसी ही जैसा कि आज का समय है रचना करें तो अत्यन्त सुन्दर हो।"

अन्त में यह कहते हुए कि 'यह सब विवादास्पद एवं विस्तृत व्याख्या चाहनेवाले विषय हैं किसको दोषी ठहराया जाए—किस को नहीं' श्री मुंशी ने अपनी वार्ता समाप्त की।

अन्त में लेखक ने चलते समय यह और पूछा कि 'आप क्या चाहते हैं हिन्दी के साहित्यकार से?' इसका उत्तर श्री मुंशी ने बड़े ही मार्मिक शब्दों में दिया। आप बोले 'जो एक माँ अपने सुपुत्र से चाहती है, जो हिन्दी अपने भाषियों से चाहती है, वही मैं चाहता हूँ जिससे कि समाज का वास्तव में उत्थान हो सके।"

इस प्रकार यह हैं श्री मुंशी के विचार। जिन्हें मैं 'अजन्ता' के पाठकों के सामने रख रहा हूँ।

वृन्दावन —भगवतशरण चतुर्वेदी 'शरण'

(५)

मद्रास में समुद्र

......छै वर्षों के बाद आज बैठा हूँ मद्रास के समुद्र के किनारे। समुद्र का विस्तार, समुद्र की लहरों का उठना और गिरना और अपने झाग को किनारे पर फूलों की तरह बखेर जाना, समुद्र का गर्जन और समुद्र के किनारे फैला हुआ रेतीला तट...अस्त होता हुआ सूर्य...इन सब दृश्यों को बैठा बैठा देख रहा हूँ। किनारे समुद्र की लहरें भागती हुई आती हैं और ज्यों ही वे भागती हुई आती हैं बच्चे उस सफ़ेद झाग के समान हँसी हँसते हैं और वे भी लहरों के साथ भागते हैं। समुद्र के किनारे बच्चे किलकारियाँ भरते क्यों इतने प्रसन्न होते हैं? उनका जैसे समुद्र से अपना निकट का रिश्ता है। सामने मछुए अपनी छोटी छोटी डोंगियों को मछलियाँ पकड़ने के लिए समुद्र में ले जा रहे हैं। इनकी छोटी डोंगियों के साथ जब समुद्र की ऊँची ऊँची लहरों की टक्कर होती है तब वे किस प्रकार कुशलता से अपनी डोंगियों को लहरों के थपेड़ों से बचा कर आगे बढ़ा कर ले जाते हैं—इसे देख कर आश्चर्य होता है। इनका और समुद्र का प्रतिदिन का साथ है। वे अपनी नाँव को और इन लहरों को पहचानते हैं। जब कि हमारे कालेजों और स्कूलों में विद्यार्थी कमरों में बैठ कर पढ़ते हैं—ये मछुए समुद्र में लहरों के साथ खेलना सीखते हैं।... देखते देखते इनकी डोंगियाँ पहाड़ों जैसी ऊँची लहरों से टक्कर लेतीं समुद्र में कितनी दूर निकल जाती हैं। इन्हें तो क़दम क़दम पर लहरों के साथ जूझना है। जब ऐसा प्रतीत होता है कि लहरें इनकी डोंगियों को डुबो देंगीं उसी समय वे उनके ऊपर से अपनी किश्तियों को बड़ी फुर्ती से निकाल ले जाते हैं। जो लोग मृत्यु से प्रतिक्षण खेलते हैं उन्हें मृत्यु का क्या डर रह सकता है!

मैं जहाँ बैठा हूँ वहाँ से कुछ दूरी पर आकर किनारे एक डोंगी आई है। उस डोंगी में एक छै फुट लम्बा बड़ा मत्स्य है—इसे बाहर निकाल कर रस्सियों से बाँध कर मछुए बच्चे विजय की ट्रौफ़ी (Trophy) की तरह समुद्र की रेत पर खींचते हुए ला रहे हैं। समुद्र के किनारे भागते हुए बच्चों ने उसे देख कर उसे चारों ओर से घेर लिया है और वे उस विशाल मत्स्य को आश्चर्य के साथ देख रहे हैं। बच्चों के उस घेरे को देख कर दूर दूर से बच्चे भागते हुए चले आ रहे हैं। वे समझ रहे हैं कि मत्स्य क्या है—एक तमाशा है और वे सब एक तमाशे की तरह उस मत्स्य को देख रहे हैं। अब मछुए बच्चे रस्सियों के सहारे उस मत्स्य को रेत में आगे घसीटने का प्रयत्न कर रहे हैं। मत्स्य इतना भारी है कि इनसे रेत में भी बड़ी कठिनाई से खिंच रहा है। समुद्र की लहरों के साथ अनेक सीप घोंघे छोटे छोटे शंख आदि किनारे पर बिखर रहे हैं जिन्हें बच्चे इकट्ठा कर रहे हैं। समुद्र के किनारे जन समुदाय का मेला लगा हुआ है। समुद्र के गर्जन में और कोई आवाज़ स्पष्टतया सुनाई नहीं देती।

सूर्य डूब चुका है। अन्धेरा बढ़ता जा रहा है। समुद्र के गरजने की आवाज़ अब गम्भीर होती जा रही है। समुद्र के किनारे से उठने का दिल नहीं करता। इच्छा होती है कि समस्त रात्रि यहीं बैठ कर उन लहरों के मधुर और भयावह संगीत को सुनते रहें।

मद्रास —"प्रवासी"

नीर-क्षीर

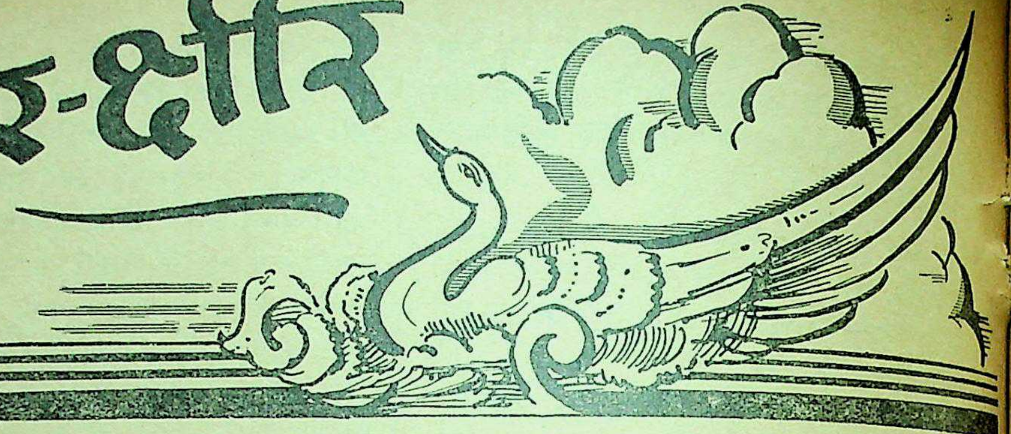

[समालोचना के लिए प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ सम्पादक 'अजन्ता' के नाम से भेजी जानी चाहिएँ]

बसवेश्वर के चुने हुए वचन

संपादक : ए. राजेश्वरैय्या, हिन्दी विभाग,
मैसूर विश्व विद्यालय
प्रकाशक : वचन मंटप, बेलगाम
मूल्य : १ रुपया।

यह प्रसन्नता की बात है कि दक्षिण के हिन्दी के प्राध्यापक अपनी मातृभाषा के साहित्य को राष्ट्रभाषा में प्रस्तुत कर रहे हैं। श्री बसवेश्वर कर्णाटक प्रान्त के एक महान् सन्त, कवि और समाज सुधारक थे। हिन्दी में आज गद्य-काव्य लिखा जा रहा है। कर्णाटक के बसवेश्वर ने इसी काव्य में लिखा। "...भावों की तीव्रता के कारण वह गद्य पद्य-सा बन गया और यही गद्य-काव्य बाद में 'वचन' नाम से प्रसिद्ध हुआ।" अनुभव के द्वारा कही हुई उक्ति को वचन के नाम से कहा जाता है। "कन्नड़ साहित्य में इस तरह के वचन साहित्य के प्रवर्तक बसव ही हैं।" बसव के समय में तथा उनके पश्चात् वचन साहित्य कर्णाटक में बहुत लोकप्रिय हो गया। कन्नड़ साहित्य में "तीन सौ वचनकार हो गए हैं और उनमें तीस वचनकार महिलाएँ थीं।" इनमें तीन वचनकार प्रमुख वचनकार माने जाते हैं। उनके नाम हैं "बसव, अक्कमहादेवी, प्रभुदेव। इनमें भी काव्य की दृष्टि से बसव के वचन सर्वश्रेष्ठ समझे जाते हैं।" इस समय भी कन्नड़ में वचन साहित्य की परंपरा चल रही है। "बसव के वचनों पर पचासों ग्रन्थ लिखे गए और लिखे जा रहे हैं। वचन साहित्य का कर्णाटक में इतना आदर है कि इसे 'कन्नड़ वेद' और 'कन्नड़ उपनिषद्' कहा जाता है।" वचन-साहित्य के कारण कर्णाटक में "विचारों में क्रान्ति उत्पन्न हुई और इसलिए कन्नड़ साहित्य के इस युग को 'विचार स्वातन्त्र्य युग' भी कहा जाता है। बसवेश्वर के सम्बन्ध में तमिल भाषा में भी ग्रन्थ लिखे गए हैं। पाल्कुरि के सोमनाथ का तमिल में लिखा ग्रन्थ 'बसव पुराण' बहुत प्रसिद्ध है। इन ग्रन्थ का अनुवाद कन्नड़ में, संस्कृत में और अंग्रेज़ी में हो गया है।"

प्रस्तुत पुस्तक की भूमिका बिहार के राज्यपाल श्री रंगनाथ दिवाकर ने लिखी है। वे कन्नड़ में वचन-साहित्य के प्रामाणिक विद्वान् हैं। उन्होंने कन्नड़ में "वचनशास्त्र रहस्य" नाम का एक बृहत् ग्रन्थ लिखा है। पुस्तक के अन्त में बसवेश्वर के चुने हुए वचनों की सूची, कन्नड़ शब्दों के अर्थ, विशिष्ट शब्दों को समझाने के लिए टिप्पणियाँ और कथाप्रसंग (Allusion) दिए गए हैं। इससे पुस्तक की उपयोगिता बढ़ गई है और वचन साहित्य को समझने में सुविधा होती है। संस्कृत के बहुत से शब्द कुछ विशेष अर्थों में प्रयुक्त हुए हैं जैसे शरणः आचार्यत्व पहुँचा हुआ शिवभक्त; महाधनः भगवान् शंकर; आमिषः मोह, अपनी श्रेष्ठता की भावना, अहंकार; इत्यादि।

बसवेश्वर का जन्म बीजापुर ज़िले में बागेवाड़ी में ११२८ ई. में हुआ था। उनके वचन साहित्य को हिन्दी में पढ़ने से हिन्दी के सन्त साहित्य को पढ़ने में बहुत सहायता प्राप्त हो सकती है। वचन अत्यन्त सरल हैं। उनमें अनुभव की शक्ति और प्रभाव है और उन्हें बार बार पढ़ने का मन होता है। हम नीचे बसव के दो वचन दे रहे हैं :

"आपकी पूजा कर
मैं निर्लज्ज बना

कुलहीन बना
भवहीन बना
और अन्त में जन्मान्तरहीन बन गया हूँ।"

"ज्ञान के हाथों अज्ञान का नाश देखो;
ज्योति के हाथों अन्धकार का नाश देखो;
सत्य के हाथों असत्य का नाश देखो;
पारस के हाथों लोहे का नाश देखो
और... देव के हाथों मेरे मन का नाश देखो।"

आशा है कि इसी प्रकार श्री राजेश्वरय्या जी कन्नड़ के अन्य महान् साहित्य को हिन्दी में प्रस्तुत करते रहेंगे।

पानी बोला

लेखक : रामचन्द्र तिवारी
सिद्धि तिवारी
प्रकाशक : आत्माराम एण्ड सन्स,
काश्मीरी गेट, दिल्ली
मूल्य : दो रुपए चार आने

प्रस्तुत पुस्तक में पानी के विषय में वैज्ञानिक और अन्य आवश्यक बातें बच्चों को समझाने के लिए कहानी और बातचीत के ढंग पर लिखी गई हैं। इससे पूर्व भी लेखक ने इसी ढंग पर वायु और अग्नि आदि पर पुस्तकें लिखी हैं। वैज्ञानिक विषयों पर कहानी और बातचीत के ढंग पर लिखना सुगम नहीं है और इस कठिनाई को लेखक भी समझते हैं। वे इस पुस्तक के विषय में लिखते हैं: "जल काव्य और विज्ञान दोनों का विषय है। कथाओं में कुछ रूपकातिशयोक्तियाँ हैं। गंभीर पाठकों (!) को उनको समझने में कुछ कठिनाई हो सकती है।" पुस्तक में बातचीत छः और नौ बरस के बच्चों में की गई है और उन दोनों को जल की बूंद अपनी कहानी सुनाती है। जब पुस्तक बालकों के लिए लिखी गई है तो गम्भीर पाठकों का तो विशेष प्रश्न नहीं उठता। पुस्तक कुछ ऐसे ढंग से लिखी गई है कि कहानी का ढंग और बातचीत के होते हुए भी पुस्तक में न तो कहानी जैसे सरसता आ पाई है और न उसमें विज्ञान की गम्भीरता प्रतीत होती है यद्यपि लेखकों ने प्रयत्न दोनों के लिए किया है। अच्छा होता यदि लेखक इसे सरस बनाने की अपेक्षा अधिक सरल बनाने का प्रयत्न करते। उन्होंने अपने रूपकों आदि के विषय में यह स्वयं स्वीकार किया है कि गम्भीर पाठकों को उन्हें समझने में कठिनाई होगी। और जब गंभीर पाठक उन्हें कठिनाई से समझ सकते हैं तो फिर छः और नौ वर्ष के बच्चे उसे किस प्रकार सुगमता से समझ सकते हैं।

वे नदी के विषय में लिखते हैं: "नदी बूँदों की सेना को कहते हैं।... बूँदें सिपाहियों की भाँति आगे-पीछे नहीं चलतीं—वे एक दूसरे के कन्धों पर चढ़ कर भी चलती हैं और पाँवों में घुस कर भी चलती हैं।" यहाँ सेना के रूपक और 'पाँवों में घुस कर चलना', आदि आलंकारिक भाषा छायावादी भाषा-सी हो गई और विषय न तो मनोरंजक बन सका है और न स्पष्ट। इसी तरह पाला कहता है "मैं पाला हूँ पाला, आटा नहीं! मुझे किसी ने पीस कर यहाँ नहीं फेंका।" यहाँ पाले और आटा पीसने की साम्यता को समझना कठिन है। इसी तरह वे "कुए में कौन" में लिखते हैं: "धरती के भीतर बूँदों ने सुरंगें बना रखी हैं। इन सुरंगों में जगह जगह धर्मशालाएँ बनी हैं।...धर्मशाला ही नहीं सदाबरत भी लगा है। मार्ग में भांति भाँति की स्वादिष्ट चट्टानें हैं जिन्हें चाट कर यात्री बून्दें अपना पेट भरती हैं।" यहाँ सुरंग, धर्मशाला, स्वादिष्ट चट्टान और सदाबरत आदि का आशय ठीक तरह समझ में नहीं आता।

यह बूँद का वर्णन है: "बिजली के तारों से डर कर दो हाथवाली एक आक्सीजन एक हाथवाली दो हाइड्रोजनों को पकड़ कर जब बहुत ज़ोरों से नाचने लगी तो धुन्ध बन गया और धुन्द में छोटे-छोटे कन जब लपक-लपक कर एक दूसरे को खा गए तो मैं बूँद बन गई।"

यह भाषा पहेलियों से किसी प्रकार कम नहीं है। सबसे अधिक आवश्यक बात तो इस प्रकार की पुस्तकों में यह होनी चाहिए कि बालक पानी आदि के विषय में वैज्ञानिक बातों को सरलता से जान सकें और इसीलिए पुस्तक में बातचीत और कहानी का सहारा लिया गया है। परन्तु उसमें जिस काव्य और पहेली की भाषा का सहारा लिया गया है उसने पुस्तक को बालकों के लिए तो क्या "गम्भीर पाठकों को भी समझने में कठिनाई" उपस्थित कर दी है। इस कठिनाई को दूर करने के लिए लेखकों ने "पानी की बात" अन्तिम अध्याय लिखा है। इसमें कहानी या बातचीत नहीं है। इसमें "पानी की बात" आसानी से समझ में आती है क्योंकि न तो इसमें कहानी या बातचीत है और न सरस, काव्यमय और अलंकारिक

भाषा है। जहाँ विषय ही स्वयं पहेली हो वहाँ भाषा को एक पहेली बना देना उचित नहीं प्रतीत होता।

सूर-बालकृष्ण-पदावली

(ब्रज-साहित्य-माला सं० ८)

संकलयिता और संपादक : प्रभुदयाल मीतल
प्रकाशक : अग्रवाल प्रेस, मथुरा
मूल्य : डेढ़ रुपया

प्रस्तुत पुस्तक में सम्पादक ने सूरदास के कृष्ण की बाललीला सम्बन्धी "उत्कृष्ट पदों" का "क्रमबद्ध संकलन" किया है। पुस्तक को नौ विषयों में विभाजित किया गया है। कथा-प्रसंग से प्रारम्भ कर वृन्दावन-महिमा पर इस संग्रह को समाप्त किया गया है। सूरदास ने कृष्ण की बाललीलाओं का जिस प्रकार सरल और सजीव वर्णन किया है वैसा हिन्दी तो क्या अन्य किसी भारतीय भाषा में नहीं हुआ। लेखक ने प्रस्तावना में इस संकलन की विशेषताओं पर तो कुछ प्रकाश डाला है परन्तु उसने इस संग्रह की काव्यगत विशेषताओं पर कुछ विशेष प्रकाश नहीं डाला। यदि वे इस दृष्टि से भी इस पर काव्य और कुछ मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सविस्तार लिखते तो इस संग्रह की उपादेयता बढ़ जाती। पुस्तक के अन्त में एक शब्द-कोष की भी आवश्यकता थी। हिन्दी की पुस्तकें और संग्रह हिन्दीतर प्रान्तों में भी पढ़े जाते हैं। इस शब्द-कोष से उन्हें इन कविताओं को समझने में सुगमता हो जाती। इसके साथ साथ जो इन पदों में संकेत (Refernces) हैं उनका उल्लेख भी आवश्यक है। फिर भी श्री मीतल ने सूर के बाल-लीला-पदों को एक स्थान पर संकलन करने का अच्छा प्रयत्न किया है। उन्होंने पुस्तक में पदों का संकलन किया है इसलिए वे संकलनकार तो हैं परन्तु उन्होंने पदों का सम्पादन किस प्रकार किया है इसे उन्होंने स्पष्ट नहीं किया। आशा है कि अगले संस्करणों में इस पुस्तक को अधिक उपयोगी बनाने का प्रयत्न किया जाएगा।

—वंशीधर विद्यालंकार

वत्सराज

लेखक : लक्ष्मीनारायण मिश्र,
प्रकाशक : हिन्दी भवन, ३१२ रानी मंडी, इलाहाबाद ३.
मूल्य : १ रुपया १२ आने।

'वत्सराज' श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र का ऐतिहासिक एकांकी है। मिश्र जी का हिन्दी के नाटकों के इतिहास में विशिष्ट स्थान है—उन्होंने प्रसाद युग के काव्यात्मक और भावपूर्ण नाटकों के बदले हिन्दी नाटकों को इब्सन की यथार्थता और शॉ का व्यंग्य (परन्तु व्यंग्य कम) प्रदान किया। जहाँ तक नाटकों के कलेवर का प्रश्न है यह बात सही है। चिन्तन की दृष्टि से उनके नाटकों में भारतीय संस्कृति के समावेश का प्रयत्न मुखर रहता है यद्यपि ऐसी सीमा-रेखा खींचना भी कठिन होना है कि कहाँ कथित भारतीय संस्कृति और आधुनिक पश्चिमी विचारों का सादृश्य स्पष्ट झलकने लग जाता है। प्रस्तुत नाटक में जैसे एडलर के क्षतिपूरक सिद्धान्त का प्रयोग करते हुए बुद्ध के लिए उदयन कहता है : "प्रकृति का धर्म बुद्धि से न मरेगा। गौतम में पौरुष का अभाव था...न वे रण के योग्य थे न रमणी के...जीवन की इस पराजय को वे धर्म-विजय से मिटा रहे हैं।..." पुनश्च, वासवदत्ता के यह प्रश्न करने पर : "नर नारी का प्रेम भी विकार है आर्यपुत्र ?" उदयन उत्तर देता है : "उन कायरों के लिए जिनके लिए जीना विकार है...पर जो जीवित रहना चाहे—उसका निश्चित आधार यही है," "...प्रकृति मरेगी नहीं...गौतम के श्रमण इसे मार न सकेंगे चोरी से लुक छिपकर भिक्षुणियों के साथ" तब यह कहना कठिन होगा हम फ्रायड के विचारों की प्रतिध्वनि सुन रहे हैं या 'भोग और तप में समान' रहनेवाली भारतीय संस्कृति का संदेश. अस्तु।

ऐतिहासिक ग्रन्थों में उदयन के चरित्र की निन्दा और स्तुति दोनों मिलती हैं, निन्दा बौद्ध ग्रन्थों में है जिसका संभावित कारण यह हो सकता है कि उदयन ने बौद्ध धर्म को स्वीकार नहीं किया। प्रस्तुत नाटककार के मत में 'केवल तप या वैराग्य जीवन की अस्वीकृति है और केवल भोग जीवन का उपहास।' इस दृष्टि से उन्होंने उदयन के सम्बन्ध की घटनाओं का मनोवैज्ञानिक, मानवीय और बौद्धिक रूप उपस्थित करने का प्रयत्न किया है। स्वर्गीय जयशंकर प्रसाद के नाटक 'चन्द्रगुप्त' में चित्रित उदयन के चरित्र पर जिसमें उसे लम्पट और विलासी बतलाया गया है मिश्र जी को आपत्ति है और भास, श्री हर्षदेव और कालिदास के संस्कृत नाटकों की परम्परा के अनुसार वे वत्सराज उदयन के चरित्र का उज्जवल पक्ष चित्रित करते हैं।

अवन्ती के पराक्रमी नरेश महासेन प्रद्योत वत्सराज उदयन को घोषवती सुनाने के लिए अवन्ती आने के लिए आमन्त्रित करते हैं और यह भी लिखते हैं कि उनकी पुत्री वासवदत्ता का विशेष आग्रह है परन्तु उदयन का मन्त्री यौगन्धरायण कहला देता है यदि सुनना है तो पिता और पुत्री दोनों यहाँ आ जाएँ। इसे प्रद्योत अपना अपमान समझ कर सीमान्त पर आखेट के लिए अकेले पड़ गए उदयन को यन्त्रनाग से बन्दी बना लेता है। उदयन के मंत्री यौगन्धरायण और सखा वसंतक वेष बदल कर अवन्ती में आते हैं और उदयन को छुड़ाने का प्रयत्न करते हैं। महासेन प्रद्योत चाहता है कि उदयन उससे कन्या की याचना करे किन्तु उदयन अमरता के लिए भी याचना करने को तैयार नहीं है यद्यपि वासवदत्ता को वह हृदय से प्यार करता है। फलतः स्वयं महासेन वासवदत्ता के हरण के लिए उदयन को

उत्साहित करता है और अपनी ओर से कोई रुकावट नहीं आने देता। इधर यौगन्धरायण वासवदत्ता से याचना करता है कि वह उसके जल मरने की अफ़वाह को उड़ाने की स्वीकृति दे जिससे कि मगध नरेश की भगिनी पद्मावती से विवाह करने के लिए उदयन को तैयार किया जा सके और इस प्रकार दो शक्तिशाली प्रदेशों से उदयन का विवाह सम्बन्ध होने से राजाओं के बीच उनका गौरव अत्यधिक बढ़ जाएगा। उदयन के गौरव की बात सोच कर वासवदत्ता सहर्ष इसकी अनुमति दे देती है। समय बीतने पर वासवदत्ता का पुनः उदयन से मिलन होता है जो अब तक उदयन के पुत्र की माँ बन चुकी है। पद्मावती के दैन्य से प्रभावित हो कर वह उदयन से प्रतिश्रुत होती है कि वे पद्मावती को हृदय का प्रेम देंगे और वह स्वयं केवल उनके पुत्र की माँ बन कर रहेगी तथा धार्मिक अवसरों पर उनके पत्नी का आसन ग्रहण करेगी। अस्तु, वासवदत्ता वासना और ईर्ष्या की पुतली नहीं है—वह त्याग और संयम की देवी है। राजकुमार गौतम बुद्ध से प्रभावित हो कर श्रमण धर्म में दीक्षित हो जाता है इसका दुःख उसकी दोनों माताओं और पिता को होता है। परन्तु, बिना माता पिता की आज्ञा लिए श्रमण धर्म में दीक्षा देना धर्म-विरुद्ध है अतः उदयन यौगन्धरायण को बुद्ध से यही कहने के लिए भेजता है। राजकुमार को लेकर श्रमण माता-पिता से आज्ञा लेने के लिए आता है तब इसके प्रतिकार स्वरूप उदयन राजपुत्र का राज्याभिषेक कराके स्वयं दोनों पत्नियों के साथ संन्यास मार्ग अपनाता है—पुत्र विवाहोत्सव के अवसर पर एक बार आने का वचन देकर! बुद्ध धर्म की अप्राकृतिकता उसके विनाश का कारण बनेगी यह उदयन का निश्चित मत है।

अवश्य बौद्ध धर्म की क्रान्तिकारिता को 'संन्यास धर्म का विकृत रूप' कह कर झुठलाया नहीं जा सकता परन्तु लेखक ने निश्चय ही उसके अति कमज़ोर अंश—'एचलीज़ हील' पर आक्रमण किया है 'अन्डर दि बेल्ट' नहीं। बौद्ध धर्म के पतन का कारण विहारों में फैलनेवाली विलासिता ही थी।

जहाँ तक नाट्य-कला का प्रश्न है कदाचित ऐतिहासिक कथानक के लिए विशेषकर विशाल कैनवास पर चरित्र अंकन के लिए एकांकी उपयुक्त नहीं है। प्रस्तुत नाटक में गति का अभाव खटकता है—कथानक रुक रुक कर चलता है। नाट्यकला में यथार्थ का समावेश करनेवाला लेखक रंगमंच पर अनुभावों को घोषित कराने लगता है यह किसी प्रकार उचित नहीं जान पड़ता—"क्या सोच रहे हैं आर्यपुत्र! ललाट की रेखाएँ तन उठी हैं...बरौनियाँ खड़ी हैं...।" "महादेवी देखिये...भवें टेढ़ी पड़ गई हैं...नाक के परे उठ बैठ रहे हैं ..ललाट का त्रिपुण्ड पसीने से बह चला है।"

उदयन के चरित्र के उज्जवल पक्ष को जानने के लिए नाटक पठनीय है।

हुज़ूर

लेखक : रांगेय राघव
प्रकाशक : आलोक प्रकाशन
के. ई. एम. रोड, बीकानेर
मूल्य : डेढ़ रुपया।

श्री रांगेय राघव ने अपने उपन्यास 'हुज़ूर' में भारतीय समाज का सन् १९३१ के बाद का चित्र खींचा है। कथा का नायक जैक एक कुत्ता है जिसके पूर्वज का जन्म इंग्लैण्ड में हुआ था और लार्ड क्लाइव के साथ वह भारत में आया। सन् १९३१ में 'काँग्रेस के शोरगुल' के समय अपना जन्म बता कर जैक अपनी जिन्दगी के पिछले बीस वर्षों का बयान करता है अर्थात् भारतीय जीवन के पिछले बीस वर्षों का वर्णन इस उपन्यास में किया गया है। फिर भी हम इसे पिछले दो दशकों का ठीक प्रतिनिधि उपन्यास नहीं कर सकते क्योंकि जो घटनाएँ इन दो दशकों में हमारे देश में घटित हुई हैं उनकी क्षीण छाया संकेत रूप में चाहे इसमें मिल सकती हो परन्तु लेखक का उद्देश्य तो उन विभिन्न वर्गों के चित्र को खींचता है-जिसमें हमारा समाज बँटा हुआ है। इस दृष्टि से लेखक ने साम्राज्यवादी अंग्रेजों के जीवन, ढ़हते सामन्तवाद और आर्थिक कठिनाइयों में फँसे मध्यम वर्ग और निम्न मध्यम वर्ग के रूप चित्रित किए हैं। और इस जैक की समझ कुछ अपने घेरे तक ही सीमित नहीं है। वह सोचता है "वही आज हम हैं। गरीबी के दिन चारुदत्त की तरह काटे नहीं कटते और उसी रूस के कुत्ते के दिन, सुनते हैं, वहाँ के आदमियों की तरह फिर गए हैं।" अस्तु।

जैक का पूर्वज इंग्लैण्ड से आया था और स्वयं जैक का जन्म अंग्रेज़ के यहाँ हुआ। वह अपने को अंग्रेज़ ही समझता था। अंग्रेज़ हिन्दुस्तान में आ कर हिन्दुस्तानियों में मिल-जुलकर नहीं रहे। वे अपने को हिन्दुस्तानियों से श्रेष्ठ मानते और अलग बने रहे यह जैक ने कप्तान के बंगले में रहते हुए जाना : 'विलायत का राजा तो अदृश्य था, पर उसके प्रतिनिधि भी अपने चारों तरफ ऐसे बन्धन बना कर रखते थे कि उन तक पहुँचना एक सरल काम नहीं था। वे अपनी रक्षा, अपने को सबसे अलग रख कर करते थे।' कप्तान के बाग में लगे फूलों को सूँघ कर जैक कहता है : 'वे प्रायः विलायती फूल थे। मैंने सूँघा। उनमें से किसी में भी खुशबू न थी। राज समझ में आया। अंग्रेज़ जो लाया उसमें रंग था, चटक थी पर रूह की महक उसमें कहीं नहीं थी।' अंग्रेज़ों द्वारा जमाई हुई नौकरशाही की व्याख्या वह यों करता है : 'निजाम तो वह कि हर आदमी अपने से ऊपर वालों के सामने और अपने से

नीचे वाले के सामने शाहँशाह । और असल में सब पुर्ज़े। पुर्ज़े जो एक-दूसरे में अपने दाँत गड़ा कर उलझे हुए से घूमते हैं । उनकी अपनी कोई अहमियत नहीं; पर वे तभी तक घूम सकते हैं जब तक उनमें चाभी लगी हुई है । चाभी ख़त्म हो जाएगी वे घूमना बन्द कर देंगे । उनमें तेल की जगह लहू लगता है ।' इस प्रकार यदि जैक द्वारा की हुई व्याख्याओं को एकत्रित किया जाए तो वह बहुत लम्बी दौड़ होगी ।

जैक ने उस कप्तान के यहाँ रह कर देखा किस शान से अंग्रेज़ यहाँ रहा करते, 'नेटिव' को 'सभ्य' बनाने के लिए उन्होंने अपने धर्म को कितना विकृत रूप दिया था । कैसे उनके यहाँ हिन्दुस्तानी लोग डालियाँ लाते थे । कितना विलासी उनका जीवन था और किस प्रकार हिन्दुस्तान की आवाज़ 'महात्मा गाँधी की जय' के नारे के साथ उठ रही थी । कप्तान के यहाँ बिताए गए अपने काल में जैक ने जिन घटनाओं को देखा उनमें मुख्य थी मेरी का अपने यहाँ के धोबी के लड़के के साथ प्रणय व्यापार, जोन ओ' कोहन जिसके साथ मेरी की शादी होनेवाली थी के आने पर उसका जोन से प्रेम, इस बीच कप्तान की आज्ञा से गाँव में गोली चलने पर एक लड़के के मरने से जो सत्याग्रह हुआ उसमें लाठी चार्ज और रात में धोबी के लड़के को मेरी के कमरे की ओर जाते देख जान ओ' कोहन उसे दंगाई समझ कर फायर कर देता है—मेरी समझती है चलो यह भी साफ़ और उसकी गवाही कि धोबी के घर में दंगाई के साथ उसे बात करते उसने देखा है, कि दूसरे हिन्दुस्तानी नौकर इस बात को पुष्ट करने के लिए गवाह ! आखिर कप्तान साहब भारत से चले जाते हैं और जक को ज़मींदार हरीप्रसाद को दे जाते हैं । यहाँ का जीवन भी जैक देखता है । आपस में कलह, बेगार, फ़िज़ूल खर्चा शराबखोरी, ऊपरी शान, विलासमय जीवन । ये तत्व उनके जीवन को पतन के गर्त्त में लिए जा रहे थे । हरीप्रसाद और रमेशसिंह एक दूसरे के सम्बन्धी, पर विरोधी। चुनाव में एक दूसरे के विरोध में अपना आदमी खड़ा करते हैं । वोट काँग्रेस के पड़ते हैं और इनके पैसे चौपट । जैक भगा दिया जाता है । एक पागलखाने के पास पहुँच कर वह सोचता कि इस दुनिया में विकृत बुद्धि आते हैं जिन्हें समाज के प्रहार कुण्ठित कर देते हैं ।" फिर जैक भटकते हुए कई जगहों में घूमता है और लेखक उसके द्वारा समाज के भिन्न वर्गों की आलोचना करता है, मध्यम वर्ग के ऐसे प्राणी हैं जिन्हें अपनी ही गलतफ़हमियों के कारण जीवन अधिक से अधिक दुःखमय होता जाता है। आत्म-सम्मान वाला कलाकार ब्लड बैंक में खून देकर पैसे ले कुछ दिन गुज़र करता है पर अपने चित्र के पैसे इसलिए नहीं लेता कि वह जानता है चित्र की क़ीमत समझ कर पैसे नहीं दिए गए हैं । प्रेम सम्बन्धी गलतफ़हमी उसे होती है । निम्न मध्यवर्ग है कि आटे दाल का प्रश्न ही उसके सामने प्रमुख है और नीचे का एक सर्वहारा अपने पुत्र की मृत्यु की झूठी सूचना देकर किसी अन्य व्यक्ति से कफ़न के नाम से पाँच रुपए माँग लेने में कुछ बुरा नहीं समझता और अन्त में जैक पहुँचता है सेन्ट्रल जेल के दरवाज़े पर । 'मुझे निकाल दिया गया । सड़क पर खड़े होकर देखा सामने जेल थी। पहले जो अंग्रेज़ी ज़माने में 'सेन्ट्रल प्रिजन' था, अब वह आज़ादी के बाद हिन्दी में 'केन्द्रीय कारागार' हो गया था और कुछ नहीं ।"

यह है पिछले दो दशकों का भारतीय जीवन जिसका 'हुज़ूर' में चित्रण किया गया है । 'हुज़ूर' शब्द प्रतीक है 'गुलामी' का जिसे दूर करना इन्सानियत का हमेशा तक़ाज़ा रहा है । जैक के शब्दों में लेखक कहता है "आज मैं अनुभव करता हूँ कि जब तक श्रम करनेवाले को ही समाज में उत्पादन के साधनों पर अधिकार नहीं मिलेगा इन्सान और उसकी दुनिया निरन्तर ऐसे ही भटकती रहेगी । उसे कहीं भी चैन नहीं मिलेगा। .. ...मैं हारा नहीं हूँ क्योंकि एक बहुत बड़ा सत्य मेरे सामने आ गया है ।" स्पष्ट है जिस शैली में 'हुज़ूर' लिखा गया है (कुत्ते द्वारा आत्मकथा) उससे एक अस्वाभाविकता आ गई है विशेष कर इसलिए कि वह बार बार निष्कर्षों की ओर लपकता है । फिर जीवन के बिखरे रूप, बिखरी घटनाएँ जैक की कथा के बहाने आसपास रख दी गई हैं । परन्तु उपन्यास की जान लेखक की भाषा—उसकी उपमाएँ हैं । जिस सत्य पर जैक पहुचता है वहाँ तो पाठक अकस्मात ही जैक की वाणी सुनेगा क्योंकि घटनाएँ उसी ओर केन्द्रित नहीं हैं परन्तु भारतीय जीवन के पिछले दो दशकों का चित्रण इसमें सच्चाई और अनुभूति को लिए हुआ है ।

—हरिकृष्ण पुरोहित

हैदराबाद

सामयिक

II

कोरिया की बरतन-कला

'स्टेट्समैन' में श्रीयुत एनी वैसिल का 'कोरियाई बरतन-कला' पर एक लेख प्रकाशित हुआ है। इस लेख में से निम्न अंश दिया जा रहा है :

"कोरियाई संस्कृति का सबसे महत्वपूर्ण प्रदर्शन कोरियाई बरतन-कला में दिखलाई देता है। इस क्षेत्र में कोरिया ने पहले चीन के बरतनों का अनुकरण करते हुए इस कला पर आधिपत्य प्राप्त कर लिया और अन्त में बरतन-कला में अपनी ही ऐसी विशेषता और प्रणाली निर्माण की जो कि चीनी बरतन-कला से श्रेष्ठ है।

इस पर चीन की बरतन-कला का प्रभाव स्पष्ट दिखलाई पड़ता है। सिल्ला काल में कई प्रकार के चौके (Tiles) मिलते हैं जिनमें हरी चमक दी गई है। सिल्ला के समय के मट्टी के बरतनों में ज्यामिति के आकार उत्कीर्ण हैं। कुछ पत्थर के बरतन हैं जिन पर भूरी या हरी चमक है और वे चीनी ढंग के हैं परन्तु इनमें से बहुत-से (Bowls) कटोरे और बर्नियाँ या मर्तबान कोरियाई कुम्हारों के बनाए हुए हैं। सिल्ला समय के बरतनों की विशेषता उनके रंग और चमक की है। कोरयू समय के बरतन पत्थरों के बने हुए हैं। इनका रंग हरा-नीला है। इनमें कुछ और भी रंग हैं। कोरयू समय के चार प्रकार के बरतन हैं। पहले प्रकार के बरतन सादे और हरे रंग के हैं। दूसरे प्रकार के बरतनों में अक्षिगोचर भूमि के दृश्य चित्रित किए गए हैं। जब इन पर पानी डाला जाता है तो इनकी सुन्दरता और भी अधिक बढ़ जाती है। तीसरे प्रकार के बरतनों में खुदाई का ढंग कई प्रकार का है—इसकी गहराई में भेद है जिनसे नीचे चमकती हुई छाया का आभास प्राप्त होता है। चौथे प्रकार के बरतनों में कई प्रकार की कलापूर्ण आकृतियां हैं। इनमें सफ़ेद और काली मट्टी मिली हुई है जिसके अनुसार बरतन के रंग में चमक दी गई है। ये बरतन बिलकुल कोरियाई ढंग के हैं।

सफ़ेद और काले बरतनों पर तरह तरह की चित्रकारी है। किसी पर वृक्ष हैं, किसी पर पक्षी, किसी पर बादल, किसी पर घास और किसी पर पत्ते, किसी पर तारे जो कि हरी चमक के अन्दर पारदर्शक दिखाई देते हैं और बड़े ही आकर्षक हैं। कोरियाई बरतनों में गमले हैं, बोतलें हैं, शराब के प्याले हैं। कोरिया के ये बरतन बहुत अधिक पसन्द किए जाते हैं। चीनी भी इन बरतनों की बनावट और कारीगरी की प्रशंसा करते हैं। १० वीं और १२ वीं शती के मध्य में ऐसे बरतन बनाए गए जो सादे थे और जिन पर खुदाई रहती थी। कुछ अधिकारी लोग यह समझते हैं कि इन खुदाइयों में जो भिन्न भिन्न रंगीन मट्टियों की भराई होती थी वह एक कुम्हार ही करता था। इसके लिए कोई क्रमिक प्रक्रिया नहीं थी। कोरयू बरतन साधारणतया भिन्न प्रकार की आकृतियों के होते थे। किसी का मुख चौड़ा और किसी की गर्दन पतली होती थी। १४ वीं सदी में बरतनों पर से ऊपर की चमक हटा कर चित्रकारी की जाने लगी। यह भी चीन का प्रभाव था। खुले बरतनों में कोरियाई कला अद्वितीय है। इस पर कमल के फूल और जानवरों के जो चित्र हैं वे बिलकुल सजीव प्रतीत होते हैं। यि राज्य में १७ वीं सदी तक कोरियाई बरतन बनाने की कला का विकास होता रहा। १५९२ से १५९८ तक हिडियोशी के कोरिया पर आक्रमणों का कोरियाई बरतन-कला पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा और इससे उनमें वह श्री नहीं रह गई। १५ वीं और १६ वीं सदी में नाशपाती की आकृति की

बोतलें, गमले और बरतन आदि बनने लगे । इनमें "यात्रियों की बोतल (Flask) बिल्कुल नई वस्तु थी। कोरियन हाकीमी (Hakemo) ढंग के बरतन जिनका तल साफ़ होता है मछलियों, फूलों और बादलों के चित्रण के लिए आदर्शरूप थे। स्ग्रेफ़ियाटो एक नई प्रकार की सजावट थी। इसमें पत्तों के आकार उत्कीर्ण किए जाते हैं जो कि लाल या श्वेत रंग पर बनाए जाते हैं। उस पर पीली या हरी चमक दी जाती है । हिडियोशी के दिनों से जापान में कोरियाई बरतनों को बहुत पसन्द किया जाता था। जापान में इन बरतन बनानेवालों की इतनी अधिक प्रशंसा की जाती थी कि उन्हें जापान में रहना अखरता नहीं था। कोरिया पर जब जापानियों का राज्य हो गया तब इस घरेलू कला को किसी प्रकार का प्रोत्साहन न मिला और इसका अधः पतन हो गया। बहुत-से कोरियाई बरतन बनानेवाले अपनी इच्छा से कोरिया छोड़ कर जापान चले गए और वहीं निवास करने लगे।

इस समय तो कोरिया में इतनी अशान्ति है कि इस बरतन-कला की ओर किसी का ध्यान ही नहीं है। लोगों के पास न दिल है और न समय कि वे बरतनों के विषय में किसी नए रूप-रंग का प्रयोग कर सकें।"

॥

अमीर ख़ुसरो : एक नया दृष्टिकोण

दिल्ली के प्रसिद्ध दैनिक पत्र 'हिन्दुस्तान टाइम्स' में श्रीयुत धर्मपाल का हिन्दी के कवि 'अमीर ख़ुसरो : एक नई दृष्टि' पर एक लेख प्रकाशित हुआ है। इसमें से निम्न अंश दिया जाता है :

"अमीर ख़ुसरो प्रथम भारतीय मुसलमान कवि है जिसने अपनी कविता में हिन्दुस्तान के प्रति प्रेम के राग को छेड़ा। उसका युग यद्यपि संघर्ष और अशान्ति का युग था तो भी यह जीवन से परिपूर्ण था। वह बलबन के दोनों बेटों शाहज़ादा बुग़रा ख़ान और शाहज़ादा सुलतान मुहम्मद के आश्रय में था। उसकी प्रतिभा को अलाउद्दीन ख़िलजी के राज्यकाल में विकसित होने का अवसर प्राप्त हुआ। अलाउद्दीन ख़िलजी यद्यपि निष्ठुर और क्रूर था तो भी वह एक कुशल शासक था। उसने मुस्लिम राज्य को विन्ध्याचल से आगे दक्षिण की ओर विस्तृत किया। मंगोलों को जो कि पश्चिमी भारत की सीमा पर गड़बड़ मचा रहे थे रोक दिया और अपने शासन को मूल्य-नियमन, शराब बन्दी आदि से उन्नत किया। उस समय भारतवर्ष की जो उन्नति हुई उसने अमीर ख़ुसरो के हृदय में नई भावनाओं को उत्पन्न किया। उसके काव्य की प्रमुख विशेषता यह है कि सब से पूर्व उसने फ़ारसी साहित्य में हिन्दुस्तान की महानता और हिन्दुस्तानी होने के अभिमान को अभिव्यक्त और जागृत किया। उसका यह हिन्दुस्तान के प्रति प्रेम हमें उसकी ग़ज़लों और भावुक मसनवियों में दृष्टिगोचर होता है।

ख़ुसरो एक सुसंस्कृत व्यक्ति, महान् कवि और अच्छा संगीतज्ञ था। उसका अनेक विषयों का ज्ञान आश्चर्यजनक था। कविता की कोई शैली नहीं जिसमें उसे सफलता प्राप्त नहीं हुई। ग़ज़ल, क़सीदा, मसनवी आदि सभी शैलियों में उसने अपना काव्य लिखा है। उसकी ग़ज़लों में संगीत है। कई गज़लों में अच्छा और थट्टा की सिन्धी लड़कियों के सौन्दर्य का वर्णन किया गया है। वह लिखता है कि सुन्दरता और हाव-भाव में सिन्धी लड़कियों की चीन और तातार की सुन्दरता रमणियों से तुलना की जा सकती है। उसकी कविता में यह बात बहुत महत्त्वपूर्ण है जो कि हमें किसी फ़ारसी के अन्य कवि में दृष्टिगोचर नहीं होती। ख़ुसरो ने प्रेम और रोमांस के क्षेत्र में हिन्दुस्तान के गौरव के गीतों को गाया। ग़ज़लों में ही नहीं — अपि तु क़सीदों में भी वह हिन्दुस्तान की महानता के गीत गाता है। ख़ुसरो की 'मसनवियाँ' उसकी उत्कृष्ट रचनाएँ हैं। मसनवियों में उसकी प्रतिभा चरम उत्कर्ष को पहुँचती है। उसकी पाँच मसनवियाँ हैं जिन्हें सामुदायिक रूप से "ख़मसा" कहा जाता है। जब उसने 'ख़मसा' लिखना प्रारम्भ किया उस समय उसकी आयु ४८ वर्ष की थी। उसने तीन वर्षों में इन्हें समाप्त किया। 'मजनू-औ-लैला' को उसने सरल, शुद्ध और सुरुचिपूर्ण भाषा में लिखा है। इस मसनवी में संगीत की प्रधानता है और वह कहानीकार के रूप में हृदय को प्रभावित करता है। वर्णन और भावनाओं की गहराई में उसकी यह कविता एक उत्कृष्टतम कृति है। 'आइना-ए-सिकन्दरी' एक और रसपूर्ण रचना है। इस कविता में अलैक्ज़ैण्डर और चीन के राजा की लड़ाई का वर्णन किया गया है। इसकी शैली ओजपूर्ण है। इस युद्ध में चीन की एक सुन्दर लड़की एक योद्धा का वेश पहन कर लड़ने के लिए आती है और पकड़ ली जाती है। वह शीघ्र ही अपनी सुन्दरता और हाव-भाव

से अलैक्ज़ैण्डर को अपने वश में कर लेती है। इसका वर्णन खुसरो ने बहुत कुशलतापूर्वक किया है। खुसरो आनन्द और प्रसन्नता के दृश्यों को चित्रित करने में सिद्धहस्त है। खुसरो उज्वल ग्रीष्म, मधुर संगीत, सुन्दर रमणियों और चीन की युवतियों के हाव-भाव का चित्रण करता है। "शीरीं-ओ-खुसरो" में उसने प्रेम की कथा को बड़े कलापूर्ण ढंग से लिखा है। उसने प्रेम की प्रत्येक अवस्था का वर्णन किया है। शीरीं और खुसरो के प्रेम के चित्र गम्भीर और आकर्षक हैं। "हश्त बहिश्त" में सात शाहज़ादियों ने सात कहानियाँ सुनाई हैं। ये सातों प्रेम की सुन्दर कहानियाँ हैं। "मतला-ओ-अनवर" एक उपदेशप्रद कविता है। इसमें सूफ़ियों के सिद्धान्तों की चर्चा की गई है।

खुसरो से पूर्व मसनवी के लेखकों में मंजा के निज़ामी का नाम प्रसिद्ध था। फ़ारसी साहित्य में मसनवी का वह प्रथम महान् कवि था। उसका फ़ारसी साहित्य पर गहरा प्रभाव पड़ा। निज़ामी फ़िरदौसी को अपना आदर्श मानता था परन्तु मसनवी लिखने में उसकी अपनी ही एक विशेष शैली थी। मसनवी में उसने करुणा और आदर्श का संयोजन किया। खुसरो मसनवी लिखने में निज़ामी जैसा कुशल नहीं है परन्तु फिर भी निज़ामी के बाद उन्हीं का नम्बर आता है। पाँच मसनवियों में से तीन को तो खुसरो ने छै सप्ताहों में लिखा था। खुसरो ने अपनी मसनवियों को शीघ्रता में लिखा था इसलिए उनमें पूर्णता कैसे आ सकती थी। 'खमसा' के अतिरिक्त उसने ऐतिहासिक मसनवियाँ भी लिखीं। 'किरान-उस-सदैन' में उसने कैरबाद और नसीर-उद्-दीन की ऐतिहासिक भेंट का वर्णन किया है। इसमें कुछ बड़े सुन्दर गीत है। "मिफ़ाह-उल-फ़ुतूत" में सुल्तान जलाल-उद-दीन के अभियानों का वर्णन है। "तुग़लक़ नामा" मध्य युग के भारत के इतिहास के लिए बहुमूल्य है। इन ऐतिहासिक मसनवियों में "आशिक़ा" फ़ारसी साहित्य की उत्कृष्टतम कृतियों में से एक हैं। इस कविता में शाहज़ादा खि़ज्रख़ान का देवाल्दी के लिए प्रेम का वर्णन किया गया है। देवाल्दी देवगिरी की सुन्दर शाहज़ादी थी। इस मसनवी में वह भारत वर्ष की महानता का वर्णन करते हुए अपने हिन्दुस्तान के प्रति प्रेम का परिचय देता है। वह हिन्दुस्तान के फूलों, रेशम, गोटा-किनारी, ज़रीदार वस्त्रों, हिन्दी भाषा की मिठास और यहाँ की रमणियों की सुन्दरता का वर्णन करता है। हिन्दुस्तानी फूलों को वह ईरान के फूलों से अच्छा और सुन्दर बतलाता है। वह कहता है कि ईरान के फूल एकमात्र देखने में सुन्दर हैं परन्तु उनमें भारतीय फूलों जैसी सुगन्ध नहीं है। खुसरो हिन्दी भाषा को (अरबी को छोड़ कर) फ़ारसी और रोम की भाषा से बेहतर समझता है। वह भारतीय वस्त्रों और रमणियों की हाव-भाव की बहुत प्रशंसा करता है। वह हिन्दुस्तान की प्रमदाओं को समरकन्द, कन्धार, ईजिप्ट और रोम की प्रमदाओं से अधिक सुन्दर समझता है। वह हिन्दुस्तान को स्वर्ग के रूप में चित्रित करता है और इस प्रकार फ़ारसी साहित्य में सब से पूर्व हिन्दुस्तान के प्रति प्रेम के स्वर को छेड़ता है।

हिन्दुस्तान के तुर्की शासक इस देश को अपना देश नहीं समझते थे। कुतुब-उद-दीन, इल्तमाश और बलबन विदेशी थे। हिन्दुस्तान के मुसलमानों और इन विदेशी शासकों में विशेष मेल नहीं था। खि़लजी ने विद्रोह करके हिन्दुस्तान में अपनी नई परम्पराओं को स्थापित किया। राज्य सत्ता तुर्की वंशों से छिन कर भारतीय मुसल्मानों के हाथ में आ गई। खि़लजियों के सम्बन्ध हिन्दुस्तान से गहरे हो चुके थे। उनका सबसे महान् सेनापति मलिक गफ़ूर हिन्दु था जो कि मुसल्मान हो गया था। उसका प्रेम भारतीय रमणियों से था। इसलिए खि़लजी के समय नई परम्पराएँ स्थापित हुईं, हिन्दुस्तान पर हिन्दुस्तानी मुसल्मानों का शासन हुआ। विदेशियों का शासन टूट गया। खुसरो ने इस भारतीयता का अनुभव किया और उसे अपनी कविता में इसे अभिव्यक्त किया।"

॥

चीन के फल

'पीपुल्स चाइना' पत्र में श्री काओ शिह-शान का 'चीन के फल' शीर्षक एक लेख प्रकाशित हुआ है जिसका निम्न अंश यहाँ दिया जा रहा है :

"चीन फलों का देश है। अयनवृत के फल—अनान्नास, केला, नारियल, लीची और उसके छोटे तथा मधुरता प्रतिरूप लोंगोन दक्षिण में पैदा होते हैं। सेब, नाशपाती, अंगूर, पेसीयोन फल (एक तरह का अलूचा), आड़ू, अलूचा और चीनी खजूर उत्तर में पैदा होते हैं। दक्षिण या उत्तर सभी जगह झरबेर और अन्य प्रकार के बेर बहुतायत से पाए जाते हैं। जब कि उत्तर-पूर्व

में तापमान चौबीस अंश से नीचे होता है क्वाङ्गटङ्ग प्रदेश हरा भरा हो जाता है और फल पकने लगते हैं। प्रकृति के सहयोग और दक्ष मालियों के परिश्रम से चीन में एक सहस्र से अधिक प्रकार के पेड़ लगते हैं। साल की चारों ऋतुओं में चीन के फलों के बाजारों में बहुतायत से फल मिलते हैं। पीकिंग अथवा शंघाई में कोई भी चीन में उपजे हुए काले संतरे, तरबूज, काले अंगूर और अनार खा सकता है।

चीन 'फलों के पेड़ों के पुरखों का घर' है। कई हजार वर्ष पूर्व यहाँ फलों के कुञ्ज लगाए गए थे। शताब्दियों से की जानेवाली खेती के फलस्वरूप संसार में अन्य जगहों के जैसे ही, बल्कि संसार में अन्य किसी भी जगह से यहाँ फल अच्छे होते हैं। चीन में रसवाले फल सौ प्रकार के पाए जाते हैं। केलिफोर्निया के संकी संतरे जिनकी बहुत प्रशंसा की जाती है चीन की बहुत-से संतरों से निम्न कोटि के होते हैं। चीन में आनेवाले संकी संतरे में शर्करा-आम्ल का अनुपात ८ : १ होता है। क्वाङ्गटङ्ग में उत्पन्न शिनहुई संतरों में उनका अनुपात २० : १ रहता है। एक संकी संतरे में रस ३५ : ७ प्रतिशत पाया जाता है। जब कि शिनहुई में ५८:५ होता है। तथापि शिनहुई चीन की सर्व श्रेष्ठ नारंगी नहीं है। क्वाङ्गटङ्ग के पक्ष संतरे रङ्ग, सुगन्ध और स्वाद में श्रेष्ठतर हैं। जैसा कि एक सोवियत फल विशेषज्ञ का कहना है—'वे संसार के सर्व श्रेष्ठ संतरे हैं।"

चीन ने केवल अपने फलों के पेड़ों को ही विकसित नहीं किया वरन् विदेशों से फलों के कई श्रेष्ठ प्रकार लाए गए हैं। सेव के कुछ प्रकार ७० वर्ष पूर्व चीन में लाए गए थे। और अब वे याँगटी नदी के उत्तरी भाग में प्राय: आधे चीन में उगाए जाते हैं। इन सेवों में उनके आदिम गुण ही नहीं पाए जाते वरन् किसी न किसी रूप में उनमें नई विशेषताएँ भी आ गई हैं। वास्तव में चीन के फलों की पैदावार में सेव एक प्रमुख फल हो गया है।

फलों की पैदावार केवल किसानों के खेतों के पिछले हिस्सों में साथ के काम की तरह नहीं होती वरन् बड़े पैमाने पर की जाती है। संतरे या सेव के बाग मीलों क्षेत्रफल में फैले होते हैं। चीन के ठेठ पश्चिमी प्रदेश सिनकिआँग और पूर्वी समुद्र तट पर शानतुङ्ग प्रदेश की तलहटी में अंगूर पैदा होते हैं। कई स्थानों पर अंगूरों के बाग दूर दूर तक जहाँ तक दृष्टि जा सकती हो फैले दिखाई देते हैं। कोई भी एक गाँव से दूसरे गाँव की यात्रा अन्तहीन अंगूर की बेलों के नीचे चलते हुए कर सकता है जिनमें कि मीठे रस भरे अंगूरों के गुच्छे लटकते रहते हैं।

चीनी लोग फलों के शौकीन होते हैं और फलों के बारे में इनमें कई कथाएँ प्रचलित हैं। मध्य शरद् काल के उत्सव में जब कि फल सब ऋतुओं से बढ़ कर पैदा होते हैं चाँद को नाशपाती, केले या अंगूर चढ़ाने की किसानों में परिपाटी थी। रस्म पूरी हो जाने पर पूरा कुटुम्ब उपज के फलों को पेट भर खाने बैठ जाता। पीकिंग के निवासी वसन्तोत्सव पर जब कि चीन के नए वर्ष का आरम्भ होता है सम्पूर्ण कुटुम्ब के साथ सेब खाते हैं। क्योंकि 'सेव' शब्द का उच्चारण चीनी भाषा में पिङ्ग कुओ है और यह पिङ्ग वैसा ही है जैसा 'हो–पिङ्ग'(शान्ति) सेव इस आशा का प्रतीक है कि सम्पूर्ण कुटुम्ब भावी वर्ष में शान्तिपूर्वक रहेगा। प्राचीन समय में ज्यों ही नव वधू पालकी से उतरती तो उसे दो सेब भेंट दिए जाते थे। विवाह की सेज अलूचा, लीची की टहनियाँ, गोल लोङ्गान अनेक बीजोंवाले अनार और खजूरों से सजाई जाती है। (चीनी भाषा में खजूर को साओ कहा जाता है जिसका उच्चारण उसी प्रकार होता है—जैसे कि 'जल्दी' के लिए प्रयुक्त शब्द का होता है।) ये नव दम्पति के लिए मङ्गलकामनाओं के प्रतीक हैं -- शान्ति पूर्ण सुखी और उर्वर संयोग के, जिसके फल-स्वरूप शीघ्र ही गोल और हृष्ट पुष्ट बच्चा उत्पन्न हो। वर्षगाँठों के समारोह में आड़ू की भेंट उपयुक्त समझी जाती है। पुराने रीति-रिवाज अब भी लोकप्रिय हैं, यद्यपि आज उनके अर्थ बदल गए हैं—जिन आकांक्षाओं का वे प्रतिनिधित्व करते हैं वे इससे पूर्व कभी उनके हृदयों में अधिक उत्साह से जीवित नहीं थीं।"

॥

हंगरी में विश्व के श्रेणिक साहित्य का पाठन

'न्यू हंगरी' पत्र में 'पाठ्य-पुस्तकों द्वारा जातियों के बीच सद्भावना' शीर्षक एक लेख प्रकाशित हुआ है जिसका निम्न अंश यहाँ दिया जा रहा है :

"हंगरी में सैकण्डरी स्कूल की पाठ्य-पुस्तकें वहाँ के साहित्य का व्यापक परिचय देती हैं और विश्व-साहित्य के सभी रूपों पर सम्यक् प्रकाश डालती हैं।

अन्य पुस्तकों के अतिरिक्त सैकण्डरी स्कूलों की साहित्य विषयक पाठमालाओं में रूसो के ग्रन्थों का परिचय, 'असमानता' शीर्षक उसका निबन्ध, वाल्तेयर की रचनाओं के अंश, डिडेरोट और डिलेम्बर्ट के संवाद जो कि साहित्यिक समृद्धि के युग के प्रकाशमान उदाहरण हैं, पढ़ाए जाते हैं। सैकण्डरी स्कूलों में पढ़ाई जानेवाली साहित्यिक इतिहास की पुस्तक में बालजाक का मनोरंजक विश्लेषण मिलता है जो कि नवयुवकों के लिए भी अत्यंत उत्साहवर्द्धक है और साथ ही 'मेरे गोरिएट' में से अनेक उद्धरण दिए गए हैं। सैकण्डरी स्कूल की तीसरी श्रेणी के लिए साहित्यिक इतिहास की पुस्तक में विक्टर ह्यूगो के विस्तृत साहित्य का परिचय दिया गया है और उसकी कविताओं और 'ला मिजरेबल' के अंश संकलित हैं जिनमें गवरोकी की मृत्यु का भव्य दृश्य भी सम्मिलित है। विक्टर ह्यूगो की तरह मोलिएर की जीवनी तथा रचनाओं का तथा तत्कालीन राजनीतिक और आर्थिक परिस्थिति का भी परिचय दिया गया है।

अंग्रेज़ी साहित्य की श्रेणिक पुस्तकों में शेक्सपीयर की रचनाओं का विस्तृत परिचय देने के अतिरिक्त पाठ्य-पुस्तकों में "किंग लियर" और "हेमलेट" के अंश भी संकलित हैं। हंगरी में डिकन्स के ग्रन्थ नवयुवकों द्वारा बड़ी दिलचस्पी से पढ़े जाते हैं; उनमें से "मार्टिन चुजलविद," "लिटिल डोरट" और "आलिवर ट्विस्ट" के अंश लिए गए हैं। स्विफ्ट पर लिखा हुआ एक विस्तृत निबन्ध भी पाठ्य-पुस्तकों में सम्मिलित है। जिसमें कि स्विफ्ट की जीवनी और उसकी रचनाओं पर प्रकाश डाला गया है। सैकण्डरी स्कूलों की साहित्यिक इतिहास की पुस्तकों में शेली की सुन्दर कविताओं के अंश दिए गए हैं और थेकरे, वाल्टर स्कॉट, लाँगफेलो, शारलेट ब्रॉन्टी तथा चौसर के "कैन्टरबरी टेल्स" और अन्य रचनाओं से अनेक उद्धरण लिए गए हैं।

हंगरी की पाठ्य-पुस्तकों में इटली के साहित्य का समुचित संकलन है और इस तथ्य को जोर दे कर दर्शाया गया है कि विगत शताब्दियों में हंगरी की संस्कृति ने इटली से अनेक बार अमूल्य और अमिट प्रेरणा पाई है। पन्द्रहवीं शताब्दी के हंगरी के साहित्य की चर्चा करते हुए साहित्यिक इतिहास की पाठ्य-पुस्तकें क्वेट्रो-सेन्ट्रो के विचारों का प्रभाव, सम्राट् मथियाज कोरविनस के राजदरबारी मार्जियो गालेट्टो और एन्टोनियो बोनफिनी की गति-विधियों तथा हंगरी के मानववादी कवि जेन्स पानोनियस का सम-समायिक इटली के कवियों से संबन्ध की ओर गहरा ध्यान खींचती हैं। गीतकार सानडोर किसफालदी के सम्बन्ध में जो कि अठारहवीं और उन्नीसवीं सदी के मध्य में हुआ पाठ्य-पुस्तकें इस बात पर जोर देती हैं कि उसने पिटराकका के सोनेटों से अत्यधिक प्रेरणा प्राप्त की। इसी प्रकार उन्नीसवीं सदी के आरम्भ में हंगरी के कवि मिहली विज सोकोनाय की कविताओं में इटली की कविता के प्रभाव से जो भव्यता आ गई है उसकी भी विवेचना है।

हंगरी में विद्यार्थियों को प्रत्येक लेखक और कवि की जीवन व्यापी रचनाओं और केरवेन्टीज और दांते से लेकर गोथे तक विश्व-साहित्य के प्रत्येक महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्व से जिसने मानवीय प्रगति में अपना योग दिया परिचित कराया जाता है।

श्रेणिक रूसी और आधुनिक सोवियत साहित्य की व्यापक चर्चा रहती है और विश्व-साहित्य की प्रगति पर महान् रूसी यथार्थवादी लेखकों के प्रभाव को जोर दे कर बताया जाता है। पाठ्य-पुस्तकों में लियो टाल्सटाय, पुश्किन, गोगोल, चेखव, शेड्रिन और अन्य लेखकों की पुस्तकों की व्याख्या दी गई है, गोर्की की जीवनी और रचनाओं का विस्तृत परिचय है और मायाकोवस्की से सेमुअल मार्शक, ओस्ट्रोवस्की और एलेक्सी टाल्सटाय से शोलोखोव और बाबायवस्की तक लेखकों और कवियों की रचनाओं से अंश संकलित हैं।

इसके अतिरिक्त सैकण्डरी स्कूल के विद्यार्थियों को विदेशी भाषाओं की पाठ्य-पुस्तकों द्वारा अन्य जातियों की संस्कृति के नए तथ्यों से परिचित कराया जाता है। सैकण्डरी स्कूल की द्वितीय श्रेणी से विद्यार्थियों को पश्चिमी यूरोप की चार भाषाओं—अंग्रेजी, फ्रैंच, जर्मनी और इटालियन की शिक्षा प्रदान की जाती है। विदेशी भाषाओं की पाठ्य-पुस्तकों में तत्सम्बन्धी भाषा के साहित्य का विस्तृत परिचय और प्रमुख लेखकों और कवियों की रचनाओं में से महत्वपूर्ण अंशों को दिया जाता है।"

सम्पादकीय

दक्षिण में हिन्दी की साहित्यिक प्रगति

दक्षिण में हिन्दी के विरोध के प्रति जितना ध्यान आकृष्ट किया जा रहा है उतना ध्यान इस ओर आकृष्ट नहीं किया जा रहा कि दक्षिण में हिन्दी का अध्ययन और हिन्दी साहित्य का निर्माण किस प्रगति के साथ बढ़ता जा रहा है। राजनीतिज्ञों का ध्यान इस ओर आकृष्ट नहीं हुआ है और हम उन्हें इसके लिए कुछ विशेष दोष नहीं दे सकते क्योंकि वे वस्तुस्थिति का अध्ययन एक विशेष दृष्टिकोण से करते हैं परन्तु हमें यह देख कर आश्चर्य होता है कि इस बात की ओर हिन्दी के साहित्यकारों, हिन्दी की परिषदों और संस्थाओं का ध्यान भी उचित रूप से आकृष्ट नहीं हुआ है। हमें यह देख कर प्रसन्नता हुई कि पटना के भारतीय हिन्दी परिषद् के अधिवेशन में बन्धुवर श्रीयुत विनयमोहन शर्मा ने अपने भाषण में दक्षिण के हिन्दी के कुछ अनुसन्धानकारों और साहित्यकारों की ओर परिषद् का ध्यान आकृष्ट करने का प्रयत्न किया। दक्षिण में अब धीरे धीरे हिन्दी के प्रकाशकों और प्रकाशनों की संख्या बढ़ती जा रही है। पहले जहाँ दक्षिण में केवल प्रचार-सम्बन्धी और अन्य इसी प्रकार का साहित्य ही उत्पन्न होता था वहाँ अब साहित्य-निर्माण का कार्य प्रगति पर है। दक्षिण में हिन्दी के लेखकों की संख्या बढ़ती जा रही है। वे न केवल अपनी मातृभाषा के साहित्य को हिन्दी में उपस्थित कर रहे हैं अपितु मौलिक साहित्य का भी सृजन कर रहे हैं। पहले जहाँ दक्षिण में हिन्दी के एक आध प्रेस थे वहाँ हिन्दी के प्रेसों की संख्या बढ़ गई हैं, पत्र भी जो प्रकाशित होते थे वे अधिकांश में प्रचारसम्बन्धी थे और वे भी कुछ थोड़े से ही थे—पर अब उनकी संख्या भी वृद्धि पर है और वे साहित्य के निर्माण का कार्य कर रहे हैं, लेखक भी पहले जहाँ एकाध होते थे अब वहाँ उनकी संख्या भी पहले से काफ़ी अधिक बढ़ गई है और प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। हमारा यह लिखने से यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि यह सब कार्य सन्तोषजनक रूप से हो रहा है परन्तु हमें विश्वास है कि यदि कार्य इसी प्रकार होता चला गया तो वह सन्तोषजनक रूप से होने लग जाएगा। दक्षिण में हिन्दी का कार्य साहित्य के अध्ययन और निर्माण के स्तर पर हो रहा है। हिन्दी का अध्ययन पहले जहाँ दक्षिण में प्रचार की दृष्टि से किया जाता था अब गम्भीर साहित्यिक दृष्टि से किया जा रहा है। इससे हिन्दी के और इसी प्रकार अन्य भारतीय भाषाओं के तुलनात्मक और अनुशीलनात्मक साहित्य के अध्ययन में विशेष सहायता प्राप्त हो सकेगी। इसी प्रकार पहले जहाँ दक्षिण में अन्य लेखकों के संग्रह और संकलन की पुस्तक की ही प्रधानता थी अब अपनी ही आवश्यकता के अनुसार अपने मौलिक साहित्य-सृजन की ओर प्रवृत्ति दिखाई देती है।

इस प्रकार दक्षिण में जो हिन्दी की साहित्यिक प्रगति हो रही है उसकी ओर यदि हमारा ध्यान आकृष्ट हो तो हम यह नहीं कह सकते कि दक्षिण में हिन्दी का एकमात्र विरोध हो रहा है या प्रादेशिक भाषाओं में चैतन्य, जागृति और संगठन के कारण हिन्दी के प्रति विमुखता बढ़ती जा रही है। आवश्यकता इस बात की है कि जहाँ हमारा ध्यान उस विरोध और संघर्ष की ओर आकृष्ट हो वहाँ हिन्दी के कार्य में जो प्रगति हो रही है उसकी ओर भी हमारा ध्यान आकृष्ट हो। हिन्दी की परिषदों और सम्मेलनों इत्यादि में इस साहित्यिक प्रगति की चर्चा होनी चाहिए जिससे दक्षिण में साहित्य के निर्माणात्मक कार्य को उचित प्रोत्साहन प्राप्त हो। जिस प्रकार दक्षिण में हिन्दी का साहित्य प्रगति कर रहा है उसी प्रकार भारतवर्ष के अन्य प्रान्तों में भी उसकी प्रगति हो रही है। इस प्रगति से न केवल हिन्दी साहित्य की समृद्धि और विस्तार होगा—अपितु हिन्दी भाषा में भी नई अभिव्यंजनाओं का विकास होगा जिससे हिन्दी समस्त राष्ट्र में लोकप्रिय हो सकेगी।

देश की वर्तमान शिक्षाप्रणाली

केन्द्रीय शिक्षामंत्री श्री मौलाना आजाद ने "भारत में शिक्षा का भविष्य' शीर्षक से अपने एक रेडियो के भाषण में कहा है . "... आज हर जगह यह आवाज सुनी जा रही है कि हमारी शिक्षाप्रणाली ठीक नहीं है। इससे हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं होती और इसमें परिवर्तन होना चाहिए।..." इस शिक्षाप्रणाली से देश की जनता में तो असन्तोष है ही परन्तु विद्यार्थियों में भी जो हमें इस समय अनुशासन भंग की उग्रता दिखाई देती है उसका मुख्य कारण हमें यह प्रतीत होता है कि उनमें वर्तमान शिक्षाप्रणाली में विश्वास नहीं रह गया और यह अविश्वास ही अनुशासन भंग के रूप में प्रकट हो रहा है।

इस अनुशासनहीनता के विषय में प्रधानमंत्री श्री जवाहरलाल नेहरू ने आसाम में हुए बुनियादी-शिक्षा-सम्मेलन के लिए भेजे हुए अपने संदेश में कहा : "भारत में आज प्रायः प्रत्येक हमारी वर्तमान शिक्षाप्रणाली की आलोचना करता है। वास्तव में यह अधिकाधिक सन्देहास्पद होता जा रहा है कि हमारी यह वर्तमान शिक्षाप्रणाली सच्चे अर्थों में कोई शिक्षाप्रणाली है भी।...हमारे विश्वविद्यालय युद्धक्षेत्र बन रहे हैं जहाँ कार्य-समितियाँ कार्य करती हैं। सब प्रकार की माँगें की जाती हैं। भूख हड़तालों का सहारा लिया जाता है और साधारणतया एक औद्योगिक संघर्ष का-सा वातवरण विद्यमान रहता है। उद्योग में भी संघर्ष होना बहुत बुरी बात है परन्तु यह तो मुझे अत्यन्त आश्चर्यजनक प्रतीत होता है कि हम अपनी शिक्षा–संस्थाओं को भी इस स्तर पर ले आएँ। इस स्थिति के लिए विद्यार्थियों और अध्यापकों को दोष देने से अधिक काम नहीं चल सकता। हमारी वर्तमान शिक्षाप्रणाली में ही कोई दोष है जिससे यह सब बातें हो रही हैं।"

हमारी वर्तमान शिक्षाप्रणाली का अन्ततः आधार और उद्देश्य क्या है? इस शिक्षाप्रणाली को अंग्रेजों ने अपने शासन के संचालन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रचलित किया था और इसका उद्देश्य किसी भी प्रकार विद्यार्थियों के शरीर और मन को यथासंभव पूर्ण रूप से विकसित करना नहीं था। शिक्षा का उद्देश्य मुख्यतः नौकरियाँ था और नौकरियों का सम्बन्ध स्कूलों और विश्वविद्यालयों की परीक्षाओं को पास करना और डिग्रियों को प्राप्त करना था। परिणामस्वरूप वर्तमान शिक्षाप्रणाली का मुख्यतया उद्देश्य डिग्री और नौकरियों की प्राप्ति हो गया है। हमारे देश के शिक्षा-क्षेत्रों में इस प्रकार की अवस्था हो गई है कि शिक्षा के प्रति न तो विद्यार्थियों में और न स्कूलों और विश्वविद्यालय के संचालकों में कोई विशेष उत्साह रह गया है—जो कुछ रह गया है वह है डिग्रियों का मोह। उपाधियों का मोह एक व्याधि की तरह हो गया है। डिग्री और योग्यता एक ही वस्तु समझी जाने लगी है। जब इन डिग्रियों के होने पर भी नौकरी नहीं मिलती तो असन्तोष का होना स्वाभाविक है। अंग्रेजों के समय इस असन्तोष को, भय या आतंक के द्वारा शस्त्रास्त्रों के बल पर दबाने के कारण, प्रकट होने का विशेष अवसर प्राप्त नहीं होता था परन्तु अब अवस्थाओं में परिवर्तन हो जाने के पश्चात् जब अपने विचारों को स्वतंत्रता के साथ अभिव्यक्त किया जाने लगा है यह असन्तोष प्रतिदिन उग्र रूप में प्रकट हो रहा है। अनुशासनहीनता इसी असन्तोष का ही एक परिणाम है। इस असन्तोष को एकमात्र अनुशासनहीनता कहने से कार्य नहीं चलेगा। हमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि विद्यार्थी-समाज में एक गहरी उदासीनता आ गई है, उनमें एक ऐसी निराशा है जो वर्तमान स्थिति में अब किसी प्रकार के साधारण सुधार से संतुष्ट नहीं हो सकती। यदि इस असंतोष का ठीक तरह से इलाज न हुआ तो इसके और भी अधिक उग्र रूप में फूट उठने की आशंका है। इसके लिए तो हमें देश की समस्त शिक्षाप्रणाली में आमूल परिवर्तन करना होगा। शिक्षा का उद्देश्य अब एकमात्र देश के शासन का संचालन ही नहीं हो सकता। जिस देश के नवयुवकों में शिक्षा प्रणाली नई उमंगें, नए स्वप्न और नई महत्वाकांक्षाओं को उत्पन्न न करे, जिस देश की शिक्षा नवयुवकों में नवीन स्फूर्ति और नवीन चेतना को उत्पन्न न करे, जिस देश की शिक्षा नवयुवकों के जीवन में साहस, उत्तरदायित्व, पौरुष और कर्मशीलता उत्पन्न न करे, जिस देश की शिक्षा पारस्परिक सहयोग, सहभावना, मैत्री और प्रेम को उत्पन्न न करे, और जिस देश की शिक्षा जीवन को निर्माणात्मक रूप से जीवन न बनाए—वह शिक्षा नहीं शिक्षा का उपहास है और यह उपहास हमारे देश में कब तक होता रहेगा?

डिग्रियों के विषय में श्री मौलाना आजाद अपने उसी रेडियो के भाषण में कहते हैं : "...अन्य देशों में सरकारी नौकरियों का आधार एकमात्र डिग्रियाँ ही नहीं होतीं। उदाहरण के लिए इंग्लैण्ड में कुछ स्थानों के लिए डिग्रियाँ आवश्यक समझी जाती हैं परन्तु बहुत से स्थानों के लिए योग्यता और आयु को देखा जाता है। यूनिवर्सिटी की डिग्री आवश्यक शर्त नहीं होती।" ...हमें अब क्यों प्रत्येक नौकरी के लिए यूनिवर्सिटी की डिग्री का पासपोर्ट रखना चाहिए। "हमें डिग्री का स्थान योग्यता को देना चाहिए। पब्लिक सर्विस कमीशन को योग्यता की परीक्षा करनी चाहिए" इत्यादि।

जिस प्रकार हमारे देश के प्रशासन ने अन्न की समस्या को हल करने का प्रयत्न किया है और जिस प्रकार उसके लिए अनेक योजनाओं को क्रियान्वित किया है उसी प्रकार उसे शिक्षा की समस्या को भी हल करना पड़ेगा। हमारे देश की शिक्षा का प्रश्न अनाज के प्रश्न से कुछ कम आवश्यक और महत्वपूर्ण नहीं है। शिक्षा के

क्षेत्र में सुधार और परिवर्तन की आवश्यकता को हर जगह अनुभव किया जा रहा है परन्तु फिर भी क्यों शिक्षा के क्षेत्र में किसी प्रकार का सुधार या परिवर्तन नहीं हो रहा है यह आश्चर्य की बात है। अब वह समय नहीं रहा जब कि देश की जनता को वर्तमान शिक्षाप्रणाली के दोषों को गिनाने, उसकी आलोचना या निन्दा करने या उसमें परिवर्तन या सुधार की आवश्यकता को बतलाने मात्र से सन्तुष्ट किया जा सकेगा। इस शिक्षाप्रणाली में परिवर्तन करने के लिए कोई ठोस क़दम उठाना चाहिए। इस विषय में आलोचना बहुत हो चुकी है। यदि इस आलोचना को कड़े-से कड़े शब्दों में भी अभिव्यक्त किया जाएगा तो इससे अब कुछ विशेष लाभ न होगा। अब तो इसमें सुधार और परिवर्तन के लिए योजनाएँ बनाई जानी चाहिएँ और शिक्षा की इन नवीन योजनाओं पर गम्भीरता से विचार किया जाना चाहिए। यदि हम अपनी शिक्षाप्रणाली को अपने देश और विश्व की आवश्यकताओं के अनुकूल न बना सके तो यह हमारे देश के लिए अत्यन्त दुर्भाग्य की बात होगी। देश का वातावरण इस विषय में अत्यन्त क्षुब्ध है और यह क्षोभ अधिकाधिक बढ़ता जा रहा है। वर्तमान शिक्षाप्रणाली से असन्तोष अब अपनी सीमाओं का उल्लंघन कर चुका है और अब उसकी किसी प्रकार उपेक्षा नहीं की जा सकती।

समझौता या लड़ने की तैयारी

अमरीका और रूस में आपस में अविश्वास इतना अधिक बढ़ गया है कि यूरोप में न तो जर्मनी का प्रश्न हल होता है और न कोरिया के विषय में दोनों दल इतने निकट आते हैं कि कोरिया की राजनैतिक परिषद् हो सके। दोनों ओर से खींचतान जारी है और यदि यह खींचतान ऐसी ही जारी रही तो पहले तो किसी प्रकार का समझौता होना ही कठिन है और यदि किसी प्रकार विश्व के अन्य राष्ट्रों के आग्रह से समझौता हो भी गया तो न जाने यह अविश्वास और क्या गुल खिलाएगा। दोनों पक्ष अपनी ज़िद पर अड़े हुए हैं। अमरीका में आज साम्यवादी (Communist) शब्द एक गाली से कम नहीं रह गया है। वहाँ साम्यवादी शब्द का तात्पर्य व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की समाप्ति और सामूहिक आबद्धता (Regimentation) समझा जाता है जिसके साथ अब हाइड्रोजन बम का डर भी मिल गया है। साम्यवाद का विरोध अमरीका में आज किसी प्रकार धर्मान्धता से कम नहीं है। अमरीका को रूस की किसी बात पर भी विश्वास नहीं है। परिणाम यह है कि रूस की भी अमरीका के वर्तमान शासकों के प्रति ऐसी ही मनोवृत्ति दिखलाई पड़ती है। अमरीका और उसके साथी कोरिया की राजनीतिक परिषद् होने से पूर्व व्यक्तिगत रूप से कुछ प्रश्नों पर आश्वासन (Guarantees) चाहते हैं और साम्यवादी राष्ट्र परिषद् में समस्त प्रश्नों पर बहस करना चाहते हैं और वे किसी प्रकार का आश्वासन नहीं देना चाहते क्योंकि वे इसे उनकी कूटनीतिक चालबाज़ी समझते हैं। तटस्थ राष्ट्रों को इस परिषद् में सम्मिलित किया जाए या नहीं इस पर भी मतभेद है। साम्यवादी तटस्थ राष्ट्रों को इस शर्त पर सम्मिलित करने के लिए तैयार हो गए हैं कि उन्हें मतदान का किसी प्रकार का अधिकार नहीं होगा। पश्चिमी राष्ट्र इसका अर्थ यह समझते हैं कि साम्यवादी एकमात्र अपना उल्लू सीधा करने के लिए परिषद् में उन्हें सम्मिलित करना चाहते हैं। इस प्रकार कोरिया के सम्बन्ध में समझौते के लिए जिस किसी प्रश्न को उठाया जाता है पारस्परिक अविश्वास और भय के कारण दोनों पक्ष उसका भिन्न भिन्न अर्थ निकालते हैं और हर बात को सन्देह की दृष्टि से देखते हैं। जिस प्रकार कोरिया की अवस्था है ठीक उसी प्रकार की यूरोप में जर्मनी की अवस्था है। इस विषय में किसी प्रकार का समझौता करने के स्थान में दोनों पक्ष एक दूसरे पर आक्षेप कर रहे हैं और एक दूसरे को दोषी ठहराने का प्रयत्न कर रहे हैं। इस प्रकार यह प्रश्न और भी अधिक उलझता चला जा रहा है और उसके किसी भी प्रकार सुलझने की संभावना नहीं प्रतीत होती।

समझौते की बात चीत को सफल बनाने के लिए सबसे बड़ी आवश्यकता पारस्परिक विश्वास की है। पारस्परिक अविश्वास के वातावरण में जब कि प्रत्येक शान्ति के प्रस्ताव को दोनों पक्षों की ओर से एक कूटनीतिक चाल ही समझा जाता हो और उसके काट के लिए विरोधी प्रस्ताव पेश किए जाते हों किसी प्रकार के समझौते की आशा करना व्यर्थ है। विश्व के राजनीतिज्ञों और राज्य पुरुषों (Statesmen) के सम्मुख आज सब से महान् प्रश्न यही है कि साम्यवादी और पश्चिमी शक्तियों के बीच में किस प्रकार पारस्परिक सन्देह को दूर करके सद्भावना और विश्वास के वातावरण को उत्पन्न किया जाए।

Education

Start - in - Life

Marriage of your children

Assured without any

embarrassment

Besides a comfortable old age

for you

for All Types Of Insurance

Consult:-

THE

HYDERABAD CO-OPERATIVE

INSURANCE SOCIETY Ltd.

Bashir Bagh Road, Hyderabad-Dn.

सिकन्दराबाद में साहित्यिक पुस्तकों

का

एक मात्र प्रतिष्ठान

पुस्तक भवन,

सिकन्दराबाद

हिन्दी प्रचार सभा, सिकन्दराबाद

नगर शाखा द्वारा स्थापित

सभी परीक्षाओं के पाठ्यक्रम, पुस्तकालयों के लिए

उत्तमोत्तम ग्रन्थ, और बाल-साहित्य

हमारी विशेषताएँ

❀ ❀

निम्न लिखित

प्रकाशकों की पुस्तकें थोक भाव में हमसे लीजिए:-

१ हिन्दी प्रचार सभा, : : २ विनोद पुस्तक मन्दिर,

हैदराबाद आगरा

तार का पता : हिन्दी टेलीफोन नं. ५४५०

हिन्दी, तेलुगु, मराठी और अंग्रेज़ी

की सब तरह की सुन्दर छपाई

के लिए हमेशा याद रखिये।

हि

न्दी

प्रे

स

हैदराबाद राज्य हिन्दी प्रचार सभा

हिन्दी भवन, हिन्दी मार्ग,

नामपल्ली * हिन्दी मार्ग * हैदराबाद-द.

హైదరాబాద్ రాజ్య

హింది ప్రచార సభ

తమరికి హింది, తెలుగు మఱియు ఇంగ్లీషు

భాషలలో తప్పులు లేకుండ అందమైన

అచ్చుపనులు కావాలంటే

తమ నగరములోనే

హింది ప్రెస్

కే దయచేయండి.

నాంపల్లి స్టేషన్ రోడు, హైదరా బాదు-ద.

టెలిఫోన్ ౫౪౫౦ టెలిగ్రాం "హింది"

प्रकाशक:— प्रियबन्धु, हिन्दी प्रेस, हैदराबाद राज्य हिन्दी प्रचार सभा, हिन्दी भवन, हिन्दी मार्ग, नामपल्ली हैदराबाद-द.

हिन्दी के उत्तमोत्तम
तथा उच्च
श्रेणी
के

सा
साहित्य
त्य

की

प्राप्ति के लिए एकमात्र
स्थान

हैदराबाद राज्य हिन्दी प्रचार सभा

श्रीराम हिन्दी भवन : नामपल्ली रोड : हैदराबाद-द.

तार : "हिन्दी"
टेलिफोन नं. ५४५०

**

अजन्ता

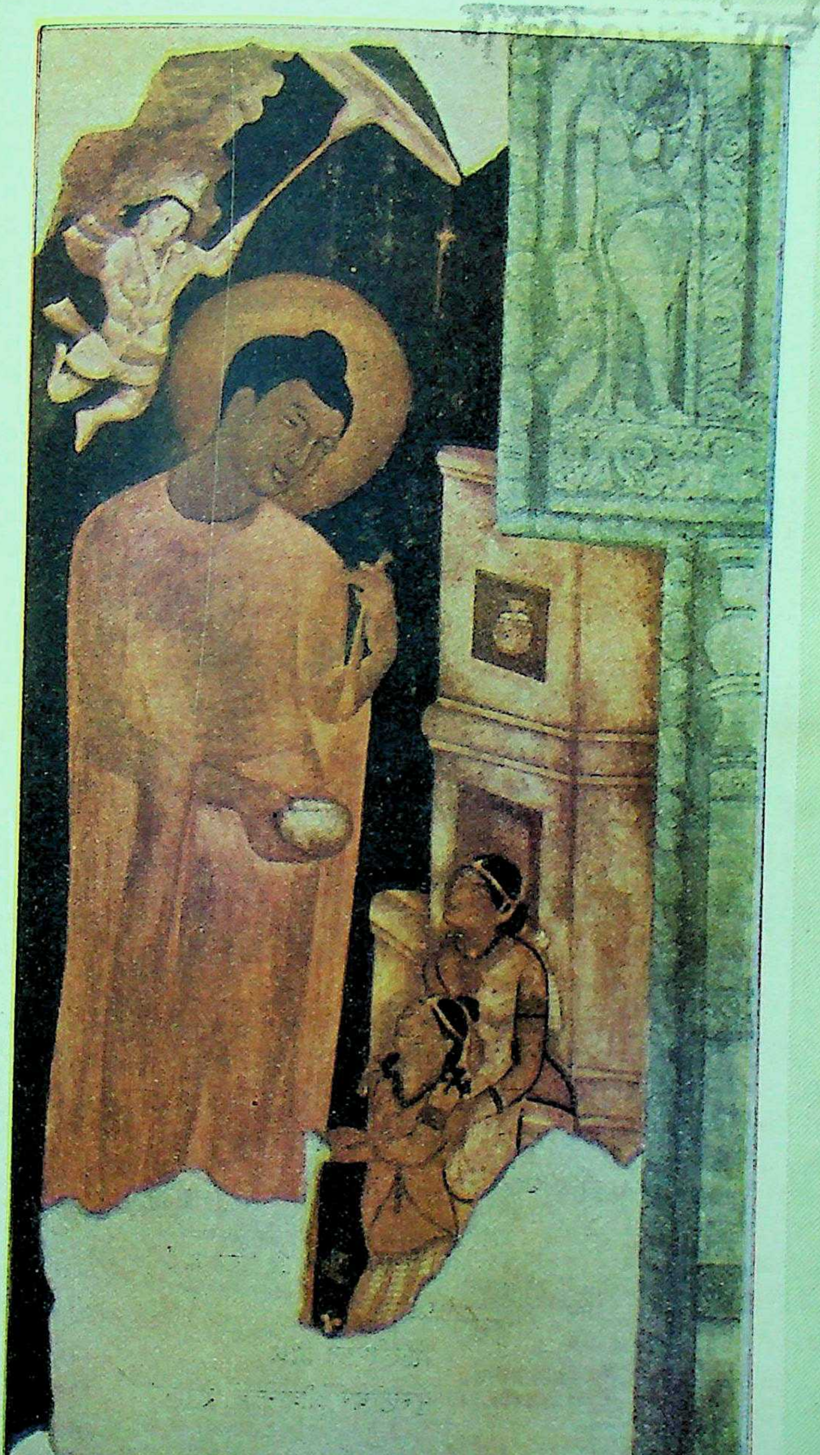

वर्ष ५ दिसम्बर १९५२ अंक १२

हैदराबाद राज्य हिन्दी प्रचार सभा

राजस्थान, पंजाब, मध्यप्रदेश, हैदराबाद, मैसूर, त्रावनकोर और मद्रास राज्यों के

शिक्षा विभाग द्वारा स्वीकृत

* * *

इस अंक में

डा० रांगेय राघव
डा० लक्ष्मणप्रसाद चौधरी
डा० जयदेव विद्यालङ्कार
श्यामाचरण दुबे
प्रभाकर माचवे

शम्भुनाथ 'शेष'
'निशंक'
दीप्ति
ओमप्रकाश शर्मा

* * *

अगले अंक में

तिलक
चन्द्रबली पांडे
जयन्तप्रसाद बागची
अवनीन्द्रकुमार विद्यालङ्कार
डा० टीकमसिंह तोमर

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'
सुधीन्द्र
शिवगोपाल मिश्र
मुरलीधर श्रीवास्तव 'शेखर'

"अजन्ता" का वार्षिक मूल्य :— ६)

एक अङ्क का :— १)

आवश्यक सूचना :—नमूने की प्रति के लिए १ रु० म. ऑर्डर द्वारा अग्रिम भेजिए।

The Hyderabad Co-operative Dominion Bank Ltd.,

Telephone : 4610 [Estd. MARCH 1915] Telegram : DOMINBANK

(Apex Bank for the Co-operative Movement in the State)

Sub Offices :
PATHERGATTI, UNIVERSITY
BRANCH (ADIKMET)

Head Office :
SHAHRAH-E-OSMANI,
HYDERABAD-DECCAN.

Branch Office :
THUNGABHADRA PROJECT
(MUNIRABAD)

1. CURRENT ACCOUNTS opened free of charge and interest is allowed at 1½% per annum.
2. SAVINGS DEPOSITS accepted and interest allowed at 2% per annum.
3. SPECIAL SAVINGS DEPOSITS are accepted and interest allowed at 1½% per annum.
4. FIXED DEPOSITS accepted. For Revised Rates apply to the Bank.
5. 3 YEAR CASH CERTIFICATES issued in denominations of Rs. 100, 500, 1,000 & 5,000 at 4% Compound Interest. Earlier encashment facilities offered. Particulars can be had from the Bank.
6. DRAFTS are issued on all important COMMERCIAL CENTERS and within the HYDERABAD STATE.
7. PENSIONS, MANSABS, etc, collected on commission basis, premiums remitted & all standing instructions on behalf of the customers carried out. SAFE DEPOSIT LOCKERS & VAULTS available at HEAD OFFICE.

BANKING BUSINESS OF EVERY DESCRIPTION TRANSACTED

Md. Ghulam Ghouse
M. A., B. SC., C. A. I. I. B.,
DEPUTY GENERAL MANAGER.

A. H. Venkat Rao.
B. A., B. L.,
SUPERVISING DIRECTOR.

L. N. Gupta,
I. A. S.
PRESIDENT.

* * *

FIRE: ACCIDENT: MARINE:

THE HYDERABAD UNITED INSURANCE CO., LTD.,

SPONSORED BY

THE GOVT. OF HYDERABAD.

Post Box No. 164, Abid Road, HYDERABAD-Dn.

Telegram: ***HUICOL***

Telephone: ***5579***

Chairman:
L. N. GUPTA Esq. I. A. S.,

General Manager:
H. D. MEHTA Esq.

'HIND'

BRANCHES : Bombay, Calcutta, Madras, Nizamabad & Manchirial.

जीवन साहित्य

हिन्दी के उन मासिक पत्रों में से है जो

१. लोक रुचि को नीचे नहीं, ऊपर ले जाते हैं,
२. मानव को मानव से लड़ाते नहीं, मिलाते हैं,
३. सच्ची और स्थायी शान्ति को असंभव नहीं, संभव बनाते हैं,
४. आर्थिक लाभ के आगे झुकते नहीं, सेवा के कठोर पथ पर चलते हैं,

जीवन साहित्य की सात्विक सामग्री को छोटे बड़े, स्त्री-बच्चे सब निःसंकोच पढ़ सकते हैं। उसके विशेषांक तो एक से एक बढ़ कर होते हैं।

जीवन साहित्य विज्ञापन नहीं देता। केवल ग्राहकों के भरोसे चलता है। ऐसे पत्र के ग्राहक बनने का अर्थ होता है राष्ट्र की सेवा में योग देना।

वार्षिक शुल्क के ४) रु. भेज कर ग्राहक बन जाइए।

ग्राहक बनने पर मण्डल की पुस्तकों पर आपको कमीशन पाने की भी सुविधा हो जाएगी।

सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली

त्रैमासिक

आलोचना

के

दो विशेषांक

इतिहास विशेषांक-अक्तूबर १९५२
५) रु०
इतिहास शेषांक-जनवरी १९५३
३) रु०

विशेष रूप से संग्रहणीय हैं।
इन दोनों अंकों में प्रकाशित लेख हिन्दी साहित्य के आलोचनात्मक इतिहास का अद्वितीय आकलन बन गये हैं।

वार्षिक-१२) रु० : : एक प्रति-३) रु०

राजकमल प्रकाशन,
१, फ़ैज़ बाज़ार, दिल्ली

मनोविज्ञान

काशी मनोविज्ञान शाला का मासिक पत्र

दर्शन और मनोविज्ञान की

आधुनिक प्रवृत्तियों पर

प्रकाश डालनेवाला

हिन्दी में अपने ढङ्ग का

अकेला पत्र

सम्पादक : **लालजीराम शुक्ल**

वार्षिक मूल्य : ४) रुपए।

मिलने का पता :

व्यवस्थापक 'मनोविज्ञान'
६१/७५ सिद्धगिरि, बनारस

सम्पादक

राष्ट्रभारती

मोहनलाल भट्ट
हृषिकेश शर्मा

सस्ती, सुन्दर साहित्यिक और सांस्कृतिक मासिक पत्रिका। इस पत्रिका को, राष्ट्रभाषा हिन्दी तथा प्रान्तीय भाषाओं के श्रेष्ठ विद्वान् साहित्यकारों का सहयोग प्राप्त है। ज्ञानपोषक और मनोरंजक श्रेष्ठ लेख, कविताएँ, कहानियाँ, एकांकी, नाटक, रेखा-चित्र और शब्दचित्र। बंगला, मराठी, गुजराती, पंजाबी, राजस्थानी, उर्दू, तमिल, तेलगु, कन्नड़, मलयालम आदि भारतीय भाषाओं के सुन्दर हिन्दी अनुवाद भी इसमें रहते हैं।

वार्षिक चन्दा ६) रुपए नमूने की प्रति १० आने मात्र।

ग्राहक बना देने वालों को विशेष सुविधा दी जाएगी

पता : व्यवस्थापक,
'राष्ट्रभारती' राष्ट्रभाषा प्रचार समिति,
पो० हिन्दी नगर, वर्धा (मध्य प्रदेश)

कथा साहित्य में चरित्र चित्रण

का

महत्वपूर्ण प्रयोग

'मेघदूत' के महत्वपूर्ण प्रकाशन के बाद

प्रेरणा का छठा-सातवाँ अंक

'प्रेमचन्द के पात्र'

विशेषांक होगा

* इस अंक में प्रेमचन्द के उपन्यासों और कहानियों के सभी महत्वपूर्ण पात्रों पर अधिकार पूर्ण लेख होंगे।

* विशेषांक का मूल्य लगभग ४) होगा।

* प्रेरणा के स्थाई ग्राहकों के लिए वही मूल्य रहेगा।

शीघ्र ही वार्षिक ग्राहक बन कर
इस सुविधा का लाभ उठाएँ।
अग्रिम आर्डर 'प्रेरणा' के पते से भेजिये।

प्रेरणा : सोजतीगेट, जोधपुर.

सस्ता, सरल, आकर्षक और शिक्षाप्रद

राजनीति, साहित्य और विज्ञान सम्बन्धी लेखों का समन्वय

नया पथ

सचित्र हिन्दी मासिक पत्र

* कठिन से कठिन विषय को जनता की भाषा में रखना ही नया पथ का उद्देश्य है।

* हिन्दी के चोटी के लेखकों, कवियों, कहानीकारों और विभिन्न विषयों के अधिकारी विद्वानों का सहयोग नया पथ को हासिल है।

* देश-विदेश की राजनीतिक और साहित्यिक समस्याओं पर विचार-पूर्ण लेखों तथा कहानियों और कविताओं के अलावा इसके विशेष स्तम्भ हैं : मार्क्सवाद की पाठशाला, सिनेमा-जगत्, पुस्तक परिचय, सरल विज्ञान, महीने का महत्व, आदि।

चन्दा : वार्षिक ६)-छमाही ३)-एक प्रति ८ आना

नया पथ कार्यालय,
२१४, वल्लभभाई पटेल रोड, बम्बई ४.

पश्चिमोत्तर भारत की प्रमुख हिन्दी मासिक पत्रिका

विश्व ज्योति

सम्पादक
श्री विश्वबन्धु शास्त्री, श्री सन्तराम, बी. ए.
संचालक-**श्री विश्वेश्वरानन्द,**

विश्व हित की साधना के लिए :

[क] शुद्ध सांस्कृतिक साहित्य का सृजन,
[ख] प्राचीन और नवीन ज्ञान-विज्ञान का समन्वय,
[ग] बौद्धिक क्रांति और नई चेतना का जागरण,
[घ] अन्यायपूर्ण सामाजिक विषमताओं का दूरीकरण,
[ङ] सभी प्रकार के विचारों का निष्पक्ष अध्ययन और आलोचन।

वार्षिक चन्दा : ८) रुपए

१०) रु. वार्षिक चन्दा देकर विश्वेश्वरानन्द वैदिक संस्थान के सदस्य बन जाने पर भेंट के रूप में मुफ़्त।

पत्र-व्यवहार का पता :
**व्यवस्थापक, 'विश्व ज्योति' साधु आश्रम,
होश्यारपुर, (पंजाब)**

:: दक्षिण भारत ::

दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा का

सांस्कृतिक मासिक पत्र

इस पत्र के द्वारा :

* दक्षिण की प्राचीन और आधुनिक संस्कृति सम्बन्धी जानकारी......

* दक्षिण के साहित्य, राजनीति, शिक्षा, कला, रचनात्मक कार्यक्षेत्रों के विवरण और उनके उन्नायकों का परिचय......

* दक्षिण की तेलुगु, तमिल, कन्नड़, मलयालम और उत्तर के विद्वानों का साहित्य सृजन का परिचय पाइए......

वार्षिक चन्दा : रु. ६)   अर्ध वार्षिक : रु. ३।।)

एक प्रति : ०-१०-०

इस पते पर लिखें :

व्यवस्थापक, पत्रिका विभाग
दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा
त्यागरायनगर, मद्रास-१७

अवन्तिका का काव्यालोचनांक

सम्पादक

लक्ष्मीनारायण सुधांशु

(द्वितीय वर्ष का प्रथम अंक)

●

वार्षिक १०)

इस अंक का ३)

- ❋ जिसमें हिन्दी कविता के सभी युगों और प्रायः सभी पक्षों की व्याख्या अधिकारी आलोचक प्रस्तुत करेंगे।
- ❋ जिसमें संस्कृत और अंग्रेज़ी के आचार्यों के समीक्षा-सिद्धान्तों के सुचिन्तित विवेचन होंगे।
- ❋ जिसमें छायावाद, प्रगतिवाद और प्रयोगवाद पर बीसों लेख रहेंगे।
- ❋ जो हिन्दी-कविता के सिंहद्वार की एक नई कुंजी प्रस्तुत करेगा।
- ❋ जिसमें लिखनेवाले कुछ विद्वानों के नाम हैं, पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पं० नन्ददुलारे वाजपेयी, डाक्टर नगेन्द्र, पं० रामनरेश त्रिपाठी, पं० सुमित्रानन्दन पन्त, श्रीमती महादेवी वर्मा, श्री रामधारीसिंह दिनकर, श्री स० ही० वात्स्यायन अज्ञेय, पं० शान्तिप्रिय द्विवेदी, श्री रायकृष्ण दास, पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र तथा श्री नलिनविलोचन शर्मा।

अपनी प्रति सुरक्षित कराने को आज ही पत्र लिखें।

प्रकाशन की प्रस्थावित तिथि १५ दिसम्बर, १९५२ ई०

:: प्रकाशक ::

श्री अजन्ता प्रेस लिमिटेड, पटना—४

अच्छी फ़ोटोग्राफी

के

लिए

★ सेन्ट्रल स्टुडियो ★

कभी न भूलिए

कोडाक के प्रमाणित विक्रेता

बशीरबाग :: हैदराबाद :: दक्षिण

१०५३

अजन्ता

सचित्र मासिक पत्रिका

वर्ष ५ दिसम्बर १९५३ अङ्क १२

सम्पादक

वंशीधर विद्यालंकार

श्रीराम शर्मा

प्रवन्ध सम्पादक

हरिकृष्ण पुरोहित एम. ए.

संचालक

हिन्दी प्रचार सभा, हैदराबाद

अनुक्रमणिका

पृष्ठ संख्या
१ शब्द का चाँद
शम्भुनाथ 'शेष' १
२ गीत
'निशंक' एम. ए. ३
३ करुणा
दीप्ति ४
४ आज से सौ वर्ष बाद वाले कवि
ओमूप्रकाश शर्मा, एम. ए; एलएल. बी ६
५ गीत
जगतप्रसाद चतुर्वेदी ८
६ लोकसाहित्य का अध्ययन
श्यामाचरण दुबे ९
७ अंग्रेज़ी राजतन्त्र
डा. लक्ष्मणप्रसाद चौधरी
एम. ए; पी एच. डी. १२
८ एक समय की बात है...(पुराना चीन)
अमृतराय १७
९ प्राचीन ग्रन्थों का सम्पादन
डा. जयदेव विद्यालङ्कार १९
१० कन्नड़ की कहावतें
लक्ष्मी देवी २२
११ ब्रह्म का विकास
डा. रांगेय राघव
एम. ए; पीएच. डी. २३
१२ निर्गुण धारा का मूल
एन. वी. चन्द्रशेखर स्वामी ३०
१३ तेलुगु मुहावरे और कहावतें
आर. शंकरय्या शास्त्री ३६
१४ पाँच शास्त्रीय समीक्षक
प्रभाकर माचवे ३७
१५ मुक्त छन्द और हिन्दी कविता
रामेश्वर शर्मा ४०

पृष्ठ संख्या
१६ मायाविनी
हैनरिष् हैने
अनु० प्रेमकिशोर ४६
१७ विद्यार्थियों के लिए उपयोगी मनोविज्ञान
लालजीराम शुक्ल ४७
१८ कैशोर्य के प्रतीक : बालगीत और लोरियाँ
घनश्याम सेठी ४९
१९ कन्नड़ भाषा में जनपद साहित्य
मा. देवेगौड 'बोम्मरणा' ५४
२० मुस्कान (कहानी)
डी. एच. लारेन्स
अनु० दुष्यन्त कुमार ५६
२१ राख के तले (एकाङ्की)
प्रमोद वर्मा एम. ए. ५९
२२ चिट्ठी-पत्री ६५
[१] अनन्त गोपाल शेवड़े एम. ए.
[२] नाथूराम प्रेमी
[३] रमाकान्त मिश्र
[४] डी. के. भीमसेनराव
[५] कश्चित्
[६] रामनिरंजन पांडे
[७] डी. शान्ता
२३ नीर-क्षीर ६८
[१] वंशीधर विद्यालङ्कार
[२] हरिकृष्ण पुरोहित
२४ सामयिक ७३
[१] १६०० के पश्चात् की अंग्रेज़ी भाषा
[२] अंग्रेजी चरित्र की विशेषताएँ
[३] चीन में भारतीय कलाकार
२५ सम्पादकीय ७८
वंशीधर विद्यालंकार

चित्र : नागनाथ मन्दिर (आन्ध्र, उस्मानाबाद ज़िला) पुरातत्त्व विभाग, हैदराबाद के सौजन्य से

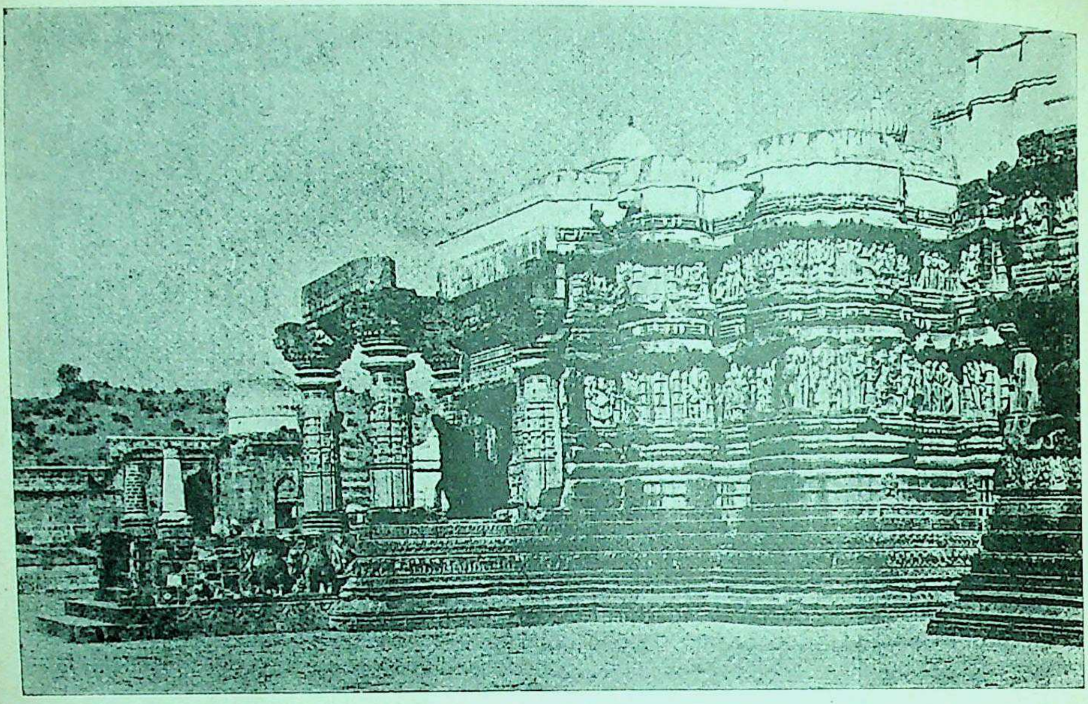

नागनाथ मन्दिर : मुख्य द्वार

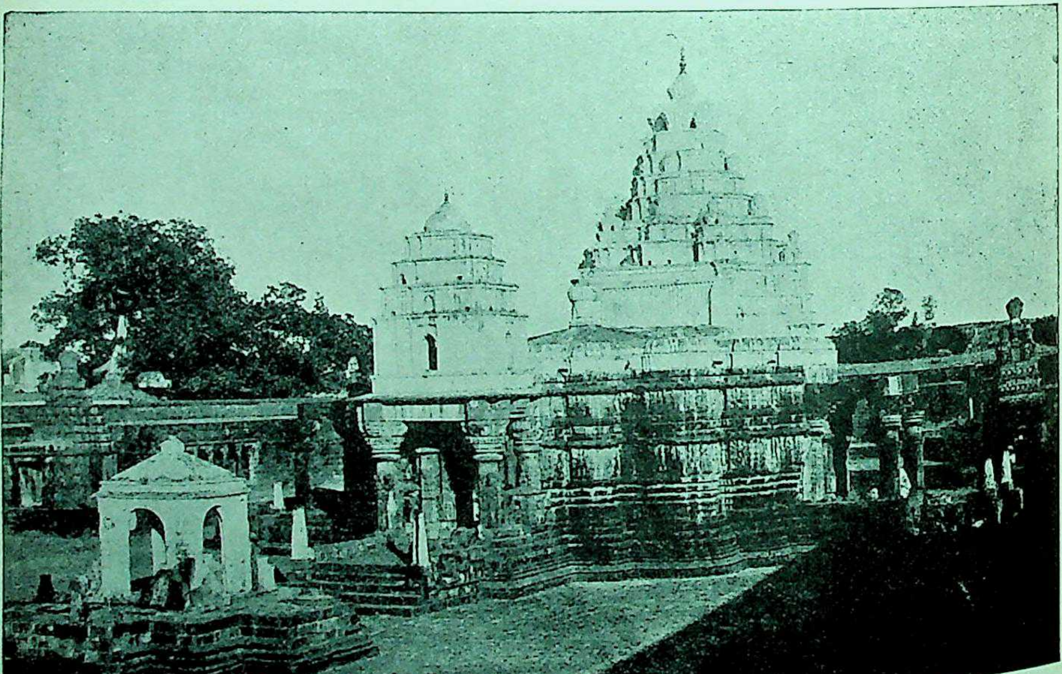

नागनाथ मन्दिर : एक दृष्टि में

(आन्ध्र, उस्मानाबाद ज़िला)

पुरातत्व विभाग हैदराबाद के सौजन्य से

अजन्ता

वर्ष ५ | दिसम्बर १९५३ | अङ्क १२

शरद् का चाँद

शरद् का चाँद है नभ में नयन में प्राण छवि तेरी

गुलाबी शीत में भीगी, मिलन की रात की वेला
सघन तरु छाँह, में प्रिय रश्मियों का शुभ्र है रेला
चतुर्दिक् छा रही है शान्ति सात्विकता सरसती है
कहीं पर बज रही मधु बाँसुरी, कविता बरसती है
सहज अनुभूति का यों बन रही है गान छवि तेरी
शरद् का चाँद है नभ में, नयन में प्राण छवि तेरी

पवन का स्पर्श है स्वर्गिक अनूठी चेतना लाता
मनोरम कल्पना को प्यार अभिनव रूप दे जाता
चकोरी सी सजग हैं कामनाएँ, रूप खिलता है
क्षितिज में शुभ्र तारे के गले ज्यों चाँद मिलता है
बनी ज्योत्स्ना, सुनयने, मधु सलज मुसकान छवि तेरी
शरद् का चाँद है नभ में नयन में प्राण छवि तेरी

उतरती आ रही विश्राम बन मधु स्वप्न की माया
धरा पर एक पावन ज्योति की स्मिति सी खिली छाया
सरोवर तट, सहज एकान्त, अभिलाषा उमगती है
शरद् की यामिनी भी कामिनी सी कान्त लगती है
लिए है प्रेरणा का रेशमी परिधान छवि तेरी
शरद् का चाँद है नभ में नयन में प्राण छवि तेरी

वनस्पतियाँ पड़ी हैं मुग्ध सपनों के बिछौनों पर
चराचर सुप्त हैं, पर जागरित है स्नेहमय अन्तर
सचेतन प्यार के क्षण हैं सुलभ कब, प्राण, जीवन में
सुना वह रागिनी, जो फूँक दे उल्लास कण-कण में
रहे बन विश्व-वंशी की मधुर स्वर तान छवि तेरी
शरद् का चाँद है नभ में नयन में प्राण छवि तेरी

चूना मण्डी,
नई दिल्ली.

—शम्भुनाथ 'शेष'

गीत

भूल पर भूल हुई अनजान
तुम्हारे इंगित पर नादान

सितारों से सज कर श्रृंगार
चली रजनी करने अभिसार,
चाँदनी ने धोया मधु वात
सिहरने लगे लता के गात;

किया रजनीगन्धा ने मौन
विजन में जब परिमल का दान,
निशा की नीरवता कर भंग
मधुप ने छेड़ी मधुमय तान,
तुम्हारे इंगित पर नादान
भूल पर भूल हुई अनजान।

हृदय जब था अपने में मौन
समाया कंपन बन कर कौन?
बिसुध कर मेरा मन सुकुमार
जगाया तुमने सोया प्यार

रूप की लौ का करने स्पर्श
विकल हो उठे स्वयं जब प्राण
बज उठे अन्तर के सब साज
कंठ में पुलके सोए गान

तुम्हारे इंगित पर नादान
भूल पर भूल हुई अनजान।

कान्यकुब्ज कालेज,
लखनऊ.

—'निशंक' एम. ए.,

करुणा

गौतम-विभूति, ईसा-अन्तर का अमर गान !
मानव महान् गान्धी की जीवन-निधि महान् !
हे आर्द्र उरे ! शबनम गद्गद् शेफाली सी,
वसुधा-वीणा पर मृदु विहाग की करुण तान !

श्रम क्लान्त दिवस की पलकों पर विश्रान्तिमयी
रजनी के रत्नजटित आँचल की छाया सी,
प्रतिदान प्रभा तम को देती दीपक-द्युति की
निज प्रभा-पुलकमय आभामय मृदु माया सी

भव-पंक खिली कल कंज-कली सी साश्रु-नयन !
शुचि शुभ्र प्रात की प्रथम रेख शुभ्रता-अयन !
पीयूष-पान सा गरल तुम्हें कटुताओं का,
सुमने ! सुमनों सी सस्मित सखि, रत शूल-चयन

तुम नहीं उषा की छवि सहास उल्लासमयी
तुम नहीं साँझ सी मदिर हासमय लासमयी
नीहार-सजल पीयूष-वर्षिणी ज्योत्स्ना सी—
करुणे ! तुम अलि बस स्निग्ध, सुशीतल, सुधामयी।

चिर क्षमामयी, ओ मधुर नेह सी नेहमयी !
ममता सी मंजुल मृदुल सरल वात्सल्यमयी
कोमलता से भी कोमल, किन्तु नहीं दुर्बल
दुर्बल मानव की शक्ति प्रबलतम, शक्तिमयी !

तव नत नयनों की भीगी चितवन सम्मुख सखि
अन्याय-दर्प-मस्तक बरबस नत हो जाते,
पारस सा परस तुम्हारा पा पावन पुनीत
कलुषित हो अकलुष सहज, स्वर्ण-आभा पाते

तुम उर-आतीं, उर-बन्धन खुल खुल से जाते
तुम दृग-छातीं, दृग दिव्य दृष्टि जैसे पाते
'पद जाति रंग के भेद व्यर्थ ये अनगिन सब'—
तुम समझातीं, 'मानव समान मानव नाते'

जग खिंच आए तुममें वह चुम्बक-आकर्षण
समदृष्टिमयी, समभाव मधुर-कटु अपनातीं,
'है घृणा-योग्य अपराध, नहीं अपराधी' यह--
विश्वास तुम्हारा सरल सहज, तव उर-थाती

तुम नेह कभी, तुम क्षमा कभी, सान्त्वना कभी
मानवता की पहचान, दिव्य मानवता भी
आलोकमयी ! आलोकित अलि तुम रूप विविध
कल्याणमयी ! श्री सुषमामय तव रूप सभी

अपने ही आघातों हत-आहत मानव को
है आज अपेक्षा सबसे अधिक तुम्हारी ही,
पथ-निर्देशन-हित भूल-भटकते जीवन को
है आकुल विकल प्रतीक्षा आज तुम्हारी ही !

हो रहा शुष्क मरुथल मानवता-उर, करुणे
स्वागत ! कलगानमयी सी मुसकाती आओ,
इस घृणा-वैर-अभिशाप-दग्ध भू--उपवन में
स्वागत ! मलयानिल वरदांचल बन लहराओ

तुम ऐसी आओ, जग-तन नवजीवन आए
तुम ऐसी छाओ, जग-मन नवचेतन पाए
तुम ऐसी आ, छा बस जाओ जग-प्राणों में
जग मुग्ध-मगन अब गीत तुम्हारा ही गाए !

लखनऊ

—दीप्ति

आज से सौ वर्ष बाद वाले कवि !

आज से सौ वर्ष बाद वाले कवि !
विश्व के इस बदलते
इतिहास के
एक और शताब्दी पर्यन्त
क्या लिखेगा बोल, कवि तू ?
क्या वही मीठे प्रणय के गीत
कल्पना से ओत प्रोत प्रणीत, अथवा—
विरह के गान, देकर
वेदना-कारुण्य को सुस्थान, किन्तु—
इससे तो, न तेरे पाठकों को
हो सकेगी रंच भी कवि
तेरे समय की पहचान
कविता वह—
जो ओढ़े काल का परिधान ।
ये मिलन और विरह
कवि की लेखनी के
आज से सौ वर्ष पूर्व भी थे विषय,
इसमें कौन सा वैचित्र्य
रूढ़ियों का मात्र अन्धातिथ्य ।
तू तो दूर
आज के कवि का
न केवल क्षेत्र प्रणय-विहार
आज उसके हाथ में भी दीखती तलवार,
लेखनी की तीक्ष्ण दुर्दम धार
काटती है दासता के बन्धनों को,
प्रज्वलित करती अनोखी आग, ऐसी आग—
भस्म करदे विश्व भर के
क्रूरतम अन्याय के डेरे
विषैले अनवरत घेरे ।
करोड़ों भूख से पीड़ित जनों की चीख़

आज से सौ वर्ष बाद वाले कवि !

कर रही झंकृत हृदय के तार
साथ जिसके गूँजता संसार
आज का कवि
रख समय की नाड़ियों पर हाथ
कर उठा है जोर से हुंकार —
सुन ! दलित मानव, पतित मानव, श्रमिक मानव,
सह सकेगा और कब तक जुल्म
छीन ले अधिकार
कायर माँगते हैं भीख,
है तनिक गुरुतर और संकटपूर्ण
किन्तु न्यायोचित समय की सीख।
आज से सौ वर्ष बाद वाले कवि !
तू लिखेगा जब समय का राग
जग उठा होगा, कदाचित्
सुप्त श्रम का भाग
चीर सदियों के गहन तम को
फूटती होंगी
नवोदित सूर्य की किरणें
नए युग का लिए संदेश
जनता का खुला आदेश
'जिओ और जीने दो'
उस समय जब
शान्ति का होगा सुखद वर्षण
धरा पर स्वर्ग-अवरोहण
मानवों के दैत्य का उर चीर
जब उठेगी न्याय की प्राचीर
याद कर लेना
सुकवि ! तब, आज से सौ वर्ष पीछे
एक प्रस्तर—
पंक्तियाँ यह भी पड़ी हैं—
आँख मीचे
दिव्य उस प्राचीर के नीचे

२६/८६ वैस्ट पटेलनगर,
नई दिल्ली

—ओम्प्रकाश शर्मा
एम. ए; एल एल. बी.

गीत

इतने गाये गान तुम्हारे
पर तुमने भी मधुर मधुर
दो गीत गुनगुनाये तो होंगे

नीरवता के ही हाथों से मैंने तुम्हें संदेश पढ़ाये
मैंने नहीं, मूक रेखाओं ने ही मेरे गीत सुनाये
कंपित कर से निरख निरख कर
पुलक, लाज से सिहर सिहर
वे अधर मुस्कराये तो होंगे ?

मेरे गाते हुए मौन में कितनी मनुहारें रोई थीं
मसि की सूखी सीमाओं में आँसू की लहरें सोई थीं
लख मेरे अँसुओं के सागर
तेरे मदिर मदिर नयनों ने
अश्रु छलछलाये तो होंगे ?

तम ने बाँधे पाँव, विवश मैं बन्दी पग किस ओर उठाऊँ
और दूर मत हो जाना तुम जब तक पास तुम्हारे आऊँ
शायद मेरे तम की सुधि कर
तेरे आँचल के अम्बर में
दीप झिलमिलाये तो होंगें ?

—जगतप्रकाश चतुर्वेदी

३६, टॉम्सन हॉस्टल,
आगरा कालेज, आगरा

लोक साहित्य का अध्ययन

पिछले बीस वर्षों से हिन्दी में लोक साहित्य के संकलन और प्रकाशन में बड़ी रुचि ली जा रही है। कुछ संग्रहकर्ताओं ने देश के विभिन्न प्रान्तों और भाषाओं के प्रतिनिधि गीतों के संग्रह प्रकाशित कर हमारा ध्यान उनके साहित्यिक एवं सांस्कृतिक महत्व की ओर आकृष्ट किया है। इस प्रेरणा का एक प्रत्यक्ष परिणाम यह हुआ है कि भारत के अनेक संस्कृति-क्षेत्रों और जनपदों के जागरुक कार्यकर्ता इस क्षेत्र में आगे बढ़े हैं और उनके प्रयत्नों से भिन्न भिन्न लोकसंस्कृतियों और लोकभाषाओं का मौखिक साहित्य क्रमशः लिपिबद्ध और प्रकाशित होता जा रहा है। स्वाधीनता प्राप्ति के बाद राष्ट्रीय धरातल पर हमारी सांस्कृतिक चेतना को एक नई गति और नई दिशा मिली है और इसके प्रभाव स्वरूप लोक साहित्य आन्दोलन को भी बल मिला है। अब यह आवश्यक हो गया है कि हम लोक साहित्य के प्रति अपने दृष्टिकोण का विश्लेषण करें और अब तक इस क्षेत्र में जो कार्य हो चुका है उसके मूल्यांकन का प्रयत्न भी।

लोक साहित्य के प्रति अब तक हमारा दृष्टिकोण क्या रहा है? हिन्दी में प्रकाशित लोक साहित्य के अध्ययनों और संग्रहों के विश्लेषण से हमें तीन भिन्न दृष्टिकोण दिखाई पड़ते हैं। प्रथम, 'ग्रामवादी' दृष्टिकोण है। इसके मूल में दो प्रमुख प्रवृत्तियाँ थीं। पहली, पाश्चात्य संस्कृति और उसकी यान्त्रिकता के प्रति विद्रोह; तथा पुनः 'प्रकृति की ओर' जाने का आग्रह दूसरी, विदेशी संस्कृति तथा उसके प्रभुत्व से समाज को मुक्त कर भारतीय संस्कृति के तत्वों को पुनः प्रतिष्ठित करने की चेष्टा। इन दोनों प्रवृत्तियों के अन्तर्गत 'ग्राम' आदर्श था—सभ्यता के विनाशकारी तत्वों से रहित आदि मानव के प्राकृतिक जीवन का और भारत की चिरन्तन प्राचीन संस्कृति का। लोक साहित्य विशेष कर लोकगीतों के अनेक प्रारम्भिक संग्रह इन्हीं भावनाओं से ओत-प्रोत रहते थे और उनकी परिचयात्मक भूमिकाओं में बड़ी उच्छ्वासमयी शैली में ग्राम के महत्व का वर्णन किया जाता था। हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशिन होनेवाले लोकगीत विषयक स्फुट लेखों में यह दृष्टिकोण अब भी यदा-कदा लक्षित होता रहता है। दूसरे दृष्टिकोण को हम 'काव्यवादी' दृष्टिकोण कह सकते हैं। इस स्कूल के लेखक अभिव्यंजना, रस, अलङ्कार और काव्य चमत्कार की दृष्टि से लोकगीतों का अनुशीलन करते थे और उनमें से कुछ को विश्व-कवियों की रचनाओं के समकक्ष या उनसे भी श्रेष्ठ प्रमाणित करने का यत्न करते थे। तीसरा है उथला 'सामाजिक-ऐतिहासिक' दृष्टिकोण। इस दृष्टिकोण को अपनानेवाले लेखकों ने लोक साहित्य के समाजशास्त्रीय महत्व को आंशिक रूप से समझ लिया था। परन्तु उनके विश्लेषण में गहराई न थी। ऐसे लेखकों ने लोक साहित्य को पूरी तरह लोक जीवन का दर्पण मान कर उनकी ऐतिहासिक और सामाजिक सामग्री पर बिना शंका या तर्क के विश्वास करना आरम्भ कर दिया। इस तरह के कुछ प्रयत्नों में लोक साहित्य के माध्यम से प्राप्त समाज के हास्यास्पद वर्णन भी प्रकाशित हुए। एक चौथी प्रवृत्ति का उल्लेख भी आवश्यक है, यद्यपि वह एक दो लेखकों तक ही सीमित है। यह है 'व्यक्तिवादी' दृष्टिकोण। इस प्रवृत्ति को अपनानेवाले लेखक की रचनाओं में लेखक का अपना व्यक्तित्व उसकी कृति का केन्द्र-बिन्दु रहता है जिसके आस पास लोकगीत और लोकसंस्कृति चक्कर लगाते हैं। कभी कभी इन कृतियों में लेखक का व्यक्तित्व इतना अधिक उभर आता है, और उसकी भावनामय अनुभूतियाँ वातावरण को इतना धूमिल बना देती हैं कि लोकगीत उनमें खो से जाते हैं। लेखक का व्यक्तित्व, लोकजीवन तथा उसके प्रतीकों के प्रति उसकी प्रतिक्रिया, लोक साहित्य के प्रति उसकी मार्मिक सौन्दर्य-चेतना आदि स्वयं अपने आप में महत्वपूर्ण हैं; परन्तु इस प्रकार की अधिकांश रचनाओं को मैं व्यक्तिगत निबन्धों की कोटि में रखूँगा लोकवार्ता के वैज्ञानिक अध्ययन की श्रेणी में नहीं।

लोकसाहित्य के क्षेत्र में अब तक संकलन अधिक हुआ है, अध्ययन कम। हिन्दी-भाषी भारत के अनेक प्रान्तों और जनपदों के लोक साहित्य विशेष कर लोकगीतों के संग्रह प्रकाशित हुए हैं। पं. रामनरेश त्रिपाठी ने देश का ध्यान इस साहित्य की ओर आकृष्ट किया, और पत्र-व्यवहार तथा व्यक्तिगत यात्राओं द्वारा उन्होंने हजारो

गीत एकत्रित किए जिनमें से अनेक उनकी कविता कौमुदी (ग्राम गीत), तथा अन्य पुस्तकों में प्रकाशित भी हुए। उनके प्रयत्नों से लोकगीत हमारे लिपिबद्ध साहित्य में प्रतिष्ठित हुए और गँवार जनता की वस्तु ही न रह कर सम्मानित पुस्तकों में प्रकाशन योग्य माने जाने लगे। उनके संग्रहों की लोकप्रियता के कारण अन्य क्षेत्रों के कार्यकर्ता भी उत्साहित होकर लोकसाहित्य का संकलन प्रकाशन करने लगे। पं. रामनरेश त्रिपाठी ने और बहुत कुछ उनके अनुवर्ती लेखकों ने भी ग्राम्यवादी-काव्यवादी दृष्टिकोण अपनाया था और अपने प्रकाशनों में लोकजीवन और लोक साहित्य के सरल सौन्दर्य का विशद वर्णन कर, उनके काव्य-पक्ष की मार्मिक व्याख्या की थी। स्वर्गीय सूर्यकरण पारीख और प्रो० नरोत्तमदास स्वामी (राजस्थानी), श्री राम इक़बाल सिंह 'राकेश' (मैथिली) और श्रीकृष्ण देव उपाध्याय (भोजपुरी) ने त्रिपाठी जी की परम्परा को आगे बढ़ाया। उनके संग्रह त्रिपाठी-स्कूल के ही हैं, यद्यपि राकेश और उपाध्याय का संकलन क्षेत्र अधिक व्यापक रहा है और संकलन विधि अपेक्षाकृत अधिक वैज्ञानिक। श्री देवेन्द्र सत्यार्थी और लोकगीत अब प्रायः समानार्थी शब्द हो गए हैं। देश-व्यापी लोकगीत आन्दोलन को सशक्त बनाने में सत्यार्थी जी का बहुत बड़ा हाथ रहा है। देश के भिन्न भिन्न भागों की यात्रा कर सत्यार्थी जी ने जो लोकगीत एकत्रित और प्रकाशित किए हैं उनसे हमें हमारे राष्ट्रीय साहित्य की एक महत्वपूर्ण निधि का परिचय मिला है। सत्यार्थी जी का क्षेत्र देश-व्यापी था, इसलिए उनके साधन-सुविधाओं तथा भाषा-ज्ञान को दृष्टि में रखते हुए हम उनसे 'परिचय' से अधिक की अपेक्षा नहीं कर सकते; और सत्यार्थी जी ने हमें भारत के लोकगीतों का रसास्वादन बड़ी सफलता पूर्वक कराया है। सत्यार्थी जी के व्यक्तित्व में एक आकर्षण है, उनकी लोकगीत यात्राएँ स्वयं साहस और रोमांच की एक अद्भुत कहानी हैं, और उनकी सौन्दर्य चेतना तथा तीव्र अनुभूति में सबल साहित्य के निर्माण की शक्ति है, और इसीलिए हम उनकी रचनाएँ बड़े चाव से पढ़ते हैं। इन पंक्तियों का लेखक सत्यार्थी-साहित्य का प्रशंसक है, और उसे सत्यार्थी जी और उनके साहित्य दोनों में रुचि होने के कारण वह उनके साहित्य को रस लेकर पढ़ता है। परन्तु इस साहित्य से उसे कभी कभी कुछ असंतोष होता है, और अतृप्ति तो सदा बनी रहती है। लेखक का व्यक्तित्व जब लोकगीतों को ढँक लेता है तो शैली के आकर्षण के बावजूद भी पाठक प्रश्न करता है – मैंने यह लेख (या पुस्तक) लोक गीतों के प्रति आकृष्ट होकर पढ़ना आरंभ किया था या उनके संग्रहकर्त्ता के प्रति? अच्छा होता यदि सत्यार्थी जी अनुवाद सहित अपने गीतों के संग्रह भी प्रकाशित कर देते। अनेक तरुण लेखक सत्यार्थी जी का अनुकरण कर रहे हैं, इसलिए लोक-वार्ता के वैज्ञानिक अध्ययन के हित में यह आग्रह आवश्यक प्रतीत होता है। लोक साहित्य के विश्लेषणात्मक अध्ययन की दिशा में भी पिछले वर्षों में कतिपय प्रयत्न हुए हैं। डा. सत्येन्द्र और डा. कृष्णदेव उपाध्याय ने अपने आचार्यत्व के प्रबन्धों के लिए लोक साहित्य के कुछ पक्षों के अध्ययन को अपना विषय चुना था, और उनकी इन कृतियों में जो गहराई मिलती है वह स्वागत योग्य है।

अब अनेक साहित्यिक संस्थाओं ने संगठित रूप से लोकसाहित्य के संकलन, संपादन तथा प्रकाशन की योजनाएँ बनाई हैं और कुछ ने बड़े उत्साह से काम का आरम्भ भी कर दिया है। इस तरह के कार्य प्रायः एक बार ही किए जाते हैं; व्यावहारिक कारणों से उनकी पुनरावृत्ति संभव नहीं होती; और इसीलिए यह आवश्यक है कि यह काम परिश्रम और वैज्ञानिक ढंग से किया जाए। लोकवार्ता के साहित्य-पक्ष की भाँति उनके सांस्कृतिक और सामाजिक पक्ष भी अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। मेरा यह आग्रह कदापि नहीं है कि लोक साहित्य का अध्ययन केवल समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से ही हो परन्तु यह अवश्य है कि लोक साहित्य के अध्येता साहित्य अथवा काव्य की दृष्टि से किए गए संग्रहों के लिए वैज्ञानिक विधि अपनाएँ और उन सब सामाजिक तथ्यों का भी संकलन कर लें जो व्यक्तिगत रूप से संभवतः उन्हें उपयोगी न हों, पर जो आवश्यकता पड़ने पर नृतत्व और समाजशास्त्र के विद्यार्थियों को सुविधापूर्वक उपलब्ध हो सकें।

अब लोक साहित्य का अध्ययन कैसे हो? क्या लोक साहित्य आन्दोलन को नए दिशा संकेत आवश्यक हैं? मेरा विश्वास है कि भारतीय लोक साहित्य का अध्ययन प्रारंभिक स्थिति से ऊपर उठ चुका है और अब हमें उसकी ओर संवेदनाशील, भावुक दृष्टि से ही न देख कर उसके अधिक गम्भीर तथा गहरे अध्ययन की ओर अग्रसर होना चाहिए। साहित्यिक और सांस्कृतिक संस्थाओं द्वारा जो प्रयत्न हो रहे हैं उन्हें भावुक दृष्टि से प्रेरित न

होकर वैज्ञानिक सांस्कृतिक दृष्टि से प्रेरित होना चाहिए जिससे कि कार्य योजनाबद्ध एवं सुसंगठित ढंग से हो सके।

सर्व प्रथम तो हमें अपनी लोक साहित्य विषयक रुचि को अधिक व्यापक बनाना चाहिए। हमने जहाँ लोकगीतों की ओर विशेष ध्यान दिया है, वहाँ लोक साहित्य के अन्य पक्षों; जैसे, लोक-कथा, लोकोक्ति, लोक-विश्वास आदि के प्रति आश्चर्यजनक उपेक्षा प्रदर्शित की है। श्री शिव सहाय चतुर्वेदी (बुन्देल खण्ड) और डा० सत्येन्द्र (ब्रज) के अतिरिक्त अन्य लेखकों ने अपने जनपदों की लोक कथाओं के संग्रह में विशेष उत्साह नहीं दिखाया। लोकोक्तियों के कुछ छोटे छोटे संग्रह प्रकाशित हुए हैं; परन्तु लोक विश्वास की हमारे प्रयत्नों में पूर्ण उपेक्षा रही है। अब यह आवश्यक है कि लोककथा, गीतकथा, लोकगाथा, लोकोक्ति, और लोकविश्वास आदि का भी योजनाबद्ध ढंग से संकलन हो। मौखिक साहित्य के हर पक्ष का अध्ययन आवश्यक है। यह संभव है कि उनमें से कुछ साहित्यिक दृष्टि से अधिक प्रभावशाली न हों; परन्तु समाजशास्त्रीय दृष्टि से यही चीजें अत्यधिक उपयोगी हो सकती हैं।

संग्रह के ढंग में वैज्ञानिक प्रणाली का अपनाया जाना आवश्यक है। संग्रहकर्ता का सबसे अधिक महत्वपूर्ण कार्य है लोक साहित्य को यथा-तथ्य लिपिबद्ध करना; लेखन के माध्यम से उसके मौखिक रूप को स्थायित्व देना। संकलित लोक साहित्य के रूप में किसी भी प्रकार का संस्कार, संशोधन अथवा परिवर्तन करना संग्रहकर्ता के अधिकार क्षेत्र के बाहर है और उसका ऐसा करना वैज्ञानिक साहित्यिक अनैतिकता मानी जाना चाहिए। संगृहीत साहित्य के सम्बन्ध में विस्तृत टिप्पणियों का होना भी आवश्यक है। संग्रह किन परिस्थितियों में किया गया? संगृहीत साहित्य समाज के किस स्तर या स्थिति के लोगों से मिला? वह समाज के किन स्तरों और अंशों में लोकप्रिय है? संगृहीत लोकगीत क्या हर समय गाए जा सकते हैं, या वर्ष के कुछ खास भागों में ही? लोककथाओं, या विशिष्ट गीतकथाओं और गाथाओं का कोई विशेष समय निश्चित है? संग्रहीत साहित्य के प्रति उन लोगों का क्या दृष्टिकोण है जिनमें वह प्रचलित है—मनोरंजन मात्र की वस्तु समझते हैं, या धर्म की, या उसके कुछ अंशों को अद्भुत शक्ति सम्पन्न मानते हैं? इन प्रश्नों के उत्तर संग्रह समाप्त हो जाने पर लोकसाहित्य विषयक गम्भीर अध्ययन प्रस्तुत करने में बड़े सहायक होंगे। वस्तुतः हमें इस प्रकार के अध्ययनों की पृष्ठभूमि के तौर पर लोकजीवन का एक पूरा चित्र प्राप्त करना चाहिए जिससे कि सामाजिक सांस्कृतिक दृष्टि से लोक साहित्य का लोक-जीवन में वास्तविक स्थान निश्चित किया जा सके।

समृद्ध संस्थाओं द्वारा आयोजित संग्रह कार्य में वायर रिकार्डर का उपयोग अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण होगा। यह वैज्ञानिक उपकरण मौखिक साहित्य के शब्दों को ही ग्रहण नहीं करता; उनके स्वर, लय और शैली को भी स्थायित्व देता है। इस प्रणाली द्वारा संगृहीत सामग्री का उपयोग संगीत-शास्त्रज्ञ और भाषा तत्ववेत्ता भी कर सकते हैं। वैसे लोकसंस्कृति के एक शीघ्र परिवर्तित होते पक्ष के जीवित इतिहास के रूप में अपने आप में भी ये रिकार्ड कम महत्वपूर्ण न होंगे। इसके साथ ही यदि उपयुक्त छोटी छोटी फिल्में भी बनाई जा सकें तो वे बहुत उपयोगी सिद्ध होंगी।

संकलन अपने आप में महत्वपूर्ण हैं, किन्तु संगृहीत लोक साहित्य का वर्गीकरण विश्लेषण और अध्ययन भी आवश्यक है। संगृहीत साहित्य का शैली, मूल-भाव, अवसर उपयोग तथा सामाजिक व्यापकता अथवा सीमाओं की दृष्टि से वर्गीकरण करना चाहिए। पाठान्तर के मुख्य भेदों का उल्लेख भी आवश्यक है। अनुवाद करते समय यह ध्यान रखना आवश्यक है कि मूल कृति के अर्थ, भाव और जहाँ तक संभव हो सके शैली में भी कोई परिवर्तन न हो। अनुवाद में नए भाव, प्रतीकों अथवा रंगों की छाया वैज्ञानिक दृष्टि से मूल के अर्थ को विकृत कर देती है। सब से अधिक मूल्यवान किन्तु कठिन होता है इस साहित्य का सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यांकन। इस साहित्य में लोकजीवन के कौन से आदर्श तथा मूल्य प्रतिबिम्बित होते हैं? क्या इसके माध्यम से हम जनपदवासियों की जीवन-दृष्टि और जीवन-दर्शन समझ सकते हैं? क्या लोक साहित्य समाज-व्यवस्था में स्थिरता और स्थायित्व बनाए रखने में सहायक होता है? उसका शैक्षणिक महत्व क्या है? वह परम्परा को किन अंशों में और किस तरह जीवित रखता है? यदि इन प्रश्नों का संतोषजनक उत्तर हम दे सके तो हमारे लोक साहित्य के अध्ययन सार्थक होंगे।

उस्मानिया युनिवर्सिटी
हैदराबाद

—श्यामाचरण दुबे

अंग्रेजी राजतन्त्र

वर्तमान युग के प्रमुख राज्यों में ब्रिटेन और जापान केवल दो ही ऐसे राज्य हैं जहाँ अब भी राज्य संघटन का रूप राजतन्त्र है; अर्थात् जहाँ किसी परिवार विशेष के व्यक्तियों को राज्य का अधिपति स्वीकार किया जाता है। राज्यतन्त्र में राजा और प्रजा दो प्रथक इकाई हैं जो मिल कर राज्य का संघटन करती हैं। सिद्धान्ततः शासक और शासित दो पृथक अंग माने जाते हैं। प्रजातन्त्र में जो शासित है वह स्वयं ही शासक है ऐसा सिद्धान्त है। यद्यपि फ्रान्स, जर्मनी, स्पेन, रूस आदि ब्रिटेन के सभी यूरोपीय पड़ोसियों ने राजतन्त्र को समाप्त कर प्रजान्त्र का बाना पहिन लिया है किन्तु ब्रिटेन ने अपनी प्राचीन राजतन्त्र प्रणाली को बनाए रखने में ही अपना श्रेय समझा है। ब्रिटेन राजतन्त्र प्रणाली को आज तक क्यों अपनाए हुए है जब कि यूरोप के प्रमुख देशों ने राजतन्त्र को उतार फेंका है इसका रहस्य मालूम करना हो तो ब्रिटिश राजतन्त्री विकास के अध्ययन के साथ साथ इस बात पर भी दृष्टि डालनी होगी कि वर्तमान उपयोगिता वादी युग में ब्रिटेन का राजतन्त्र केवल अंग्रेज़ों की राजभक्ति की भावना पर ही स्थिर है अथवा उससे अन्य कोई प्रयोजन भी सिद्ध होते हैं।

इंग्लैंड की राजतन्त्र प्रणाली लगभग ११ सौ वर्ष से अधिक पुरानी है। सन् ८२९ ई. में सब से पहिले इग्बर्ट् नामक राजा ने सारे इंग्लैंड पर अपना अधिपत्य कर लिया था और उसी के समय से राजतन्त्री शासन चला आ रहा है। बीच में केवल ११ वर्ष (१६४९-१६६०) के लिए प्रजातन्त्र राज्य स्थापित हुआ था। उसके बाद चार्ल्स द्वितीय ने फिर इंग्लैंड में राज्यतन्त्र स्थापित किया तब से वही शासन प्रणाली चली आ रही है।

राजतन्त्र की शासन प्रणाली पुरानी होने के कारण यह धारणा जम गई है कि इंग्लैंड निवासियों का राष्ट्रीय जीवन प्राचीन काल से एक सा चला आ रहा है और भविष्य में भी ऐसा बना रहेगा। इस धारणा के कारण उनकी सामाजिक और राजनैतिक संस्थाएँ दृढ़ हो गई हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि अंग्रेज़ों के सामाजिक तथा राष्ट्रीय जीवन में कोई बड़ी भारी उथल पुथल संभव नहीं है। किन्तु राजा के प्रति श्रद्धा और भक्ति जो इतनी अटूट है उसने शासन में समय और परिस्थिति के अनुसार हेर फेर करने में बाधा नहीं डाली है। प्रत्युत् राजतन्त्र ने परिस्थिति के अनुकूल समय समय पर अपना रूप बदलने की दूरदर्शिता दिखा कर सभी वर्गों के हृदय में वह स्थान पा लिया जिसके कारण इंगलैंड में राजतन्त्र अभी तक सुरक्षित है सन् १६८८ ई. की राज्यक्रान्ति के पश्चात् शासकों ने समय के परिवर्तन के अनुकूल शासन प्रबन्ध में हस्तक्षेप करना कम कर दिया और मन्त्रि परिषद् प्रणाली के विकास में महत्वपूर्ण योग दिया। उन्होंने १९ वीं और २० वीं शताब्दी में अन्य संस्थाओं के परिवर्तन में भी सहयोग दिया। सन् १८३२ के सुधार अधिनियम (Reform Act of 1832) के पास करवाने में, हाउस आफ कामन्स को सार्वलौकिक बनाने में और पार्लियामेन्ट एक्ट १९११ के पास कराने में बड़ा सहयोग दिया।

यदि हम १६८८ की राज्य क्रान्ति के बाद के ब्रिटिश राजतन्त्र के इतिहास को देखें तो ज्ञात हो जाएगा कि राजतन्त्र क्यों कायम रहा है! १७ वीं शताब्दी के आरम्भ में राजा राज्य का अधिपति रहने के साथ साथ शासन कार्य का सूत्र अपने हाथ में रखता था। राजा को परामर्श देने के लिए मन्त्री होते थे परन्तु राजा के लिए यह आवश्यक नहीं था कि वह मन्त्री के परामर्श के अनुसार ही शासन करे। मन्त्री शासन में दक्ष एक विशेषज्ञ की तरह राजा को सलाह भर देता था। राजा उस सलाहानुसार कार्य करे अथवा न करे। यह नियम सर्वमान्य है कि जो उत्तरदायी हो निर्णय करे या जो निर्णय करे वह उत्तरदायी हो। उस समय तक शासन का भार राजा पर था। शासन की अच्छाई या बुराई उसी के सिर पर थोपी जाती थी। शासन के सम्बन्ध में दोष-प्रशंसा उसी की होती थी। मन्त्री तो केवल राजा के भृत्य होते थे। उन पर शासन नीति की जिम्मेदारी नहीं समझी जाती थी। ऐसी स्थिति में यदि राजा के कार्यों और उसकी नीति से असंतोष फैले और उसकी सीमा विद्रोह पर पहुँच जाए तो उस विद्रोह के दो ही रूप हो सकते थे, या तो सब मिल कर राजा को समाप्त कर दे या राजा के समर्थकों और

विरोधियों का गृह-युद्ध आरम्भ हो जाए। इंगलैंड में ये दोनों उपचार काम में लाए जा चुके थे। सन् १६४९ में चार्ल्स प्रथम के विरुद्ध जो आग भड़की तो उसका अन्त तभी हुआ जब राजा को फाँसी के तख्ते पर लटका दिया गया। सन् १६८८ में जेम्स द्वितीय को राजसिंहासन छोड़ कर भागना पड़ा। यही नहीं सन् १६८९ में बिल आफ राइट्स पास हुआ जिसके अनुसार राजा के अन्तिम निर्णय की सीमा निश्चित कर दी गई। उसी समय से एक प्रकार से इंगलैंड में सीमित राजतन्त्र (Limited Monarchy) स्थापित हो गया। क्योंकि सीमा का विस्तार एक वैधानिक प्रमाणपत्र में लिखा गया था इसलिए इस राजतन्त्र को वैधानिक राजतन्त्र (Constitutional Monarchy) भी कहते हैं।

सीमित राजतन्त्र ने लोकमत द्वारा राजा के अन्तिम निर्णय करने के अधिकार और उसके उत्तरदायित्व की आलोचना का अन्त नहीं कर दिया। जैसे जैसे समय बीतता गया, अनुभव बढ़ता गया जिससे उत्तम उपचार मालूम हो गया। यह उपचार बहुत साधारण है। राजा ने प्रधान मन्त्री द्वारा दिए हुए परामर्श पर शासन करना शुरू कर दिया और अन्तिम निर्णय करने के अधिकार का उपयोग करना बन्द कर दिया। इसका फल यह हुआ कि राजा जनता की आलोचना और विरोध से बच गया। राजद्रोह और राजक्रान्ति से राजा के पदच्युत होने की सम्भावना का अन्त हो गया। शासन प्रबन्ध करने का पूर्ण उत्तरदायित्व प्रधान मन्त्री पर हो गया और वह जनता की आलोचना या प्रशंसा का पात्र बन गया। प्रजा को बिना राजद्रोह या राजक्रान्ति किए प्रधान मन्त्री को लोकमत द्वारा पदच्युत करने का अधिकार मिल गया और राजा का पद सुरक्षित हो गया। राजा ने अपने शासन अधिकारों का परित्याग कर अधिपति रहने के अधिकार को दृढ़ बना दिया। सन् १७०१ के एक्ट ऑफ सैटलमेण्ट ने राजा के अधिकारों की मर्यादा व राजा का उत्तराधिकार सीमित कर दिया है। 'राजा की मृत्यु हो गई, राजा चिरंजीव रहे' (The King is dead, long live the King) इस कानूनी सिद्धान्त का यही मतलब है कि "यद्यपि एक व्यक्ति विशेष (राजा) मर गया पर राजसिंहासन खाली नहीं है, दूसरा उत्तराधिकारी राजा उस पर अपने आप ही कानून की दृष्टि से आसीन है।"

वर्तमान राजतन्त्र प्रणाली देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि द्वैध शासन स्थापित हो गया है। राजा राज्य का प्रधान है और प्रधान मन्त्री शासन का। प्रधान मन्त्री द्वारा दिए परामर्शानुसार राजा शासन करता है और प्रधान मन्त्री शासन सम्बन्धी परामर्श राजा को देता है। ऐसा प्रश्न पूछा जा सकता है कि इस द्वैध शासन से क्या लाभ? क्या एक ही सत्ता में शासन प्रबन्ध की सुविधा न होगी? इसका उत्तर समझने के लिए यह समझना आवश्यक है कि लोकमत सामाजिक, राजनैतिक अन्तर्राष्ट्रीय स्थितियों और अन्य कई बातों पर निर्भर है। जैसे जैसे इन बातों में परिवर्तन होता है वैसे वैसे लोकमत में भी परिवर्तन होता है और साथ ही साथ शासन प्रबन्ध की आलोचना का दृष्टिकोण भी बदल जाता है। जो शासन के कार्यों में अन्तिम निर्णय लेता है वही उसके लिए उत्तरदायी है। यदि उसकी नीति-निर्णयों से राज्य में असंतोष फैलता है, निर्णयकर्त्ता को समाप्त करने की आवाज उठाई जाती है तो ऐसी पद्धति होनी चाहिए जिससे बिना बहुत उथल पुथल किए नीति में परिवर्तन हो जाय। इसी उद्देश्य से यह प्रचलन हो गया है कि शासन नीति का निर्णयकर्त्ता प्रधान मन्त्री और उसका मन्त्री मण्डल ज्यों ही यह समझता है कि जनता का या उसके प्रतिनिधियों का विश्वासपात्र नहीं रहा अपने पद से हट जाता है। उसके पदत्याग से नीति बदल जाती है, राज्य या शासन के कलेवर में परिवर्तन नहीं होता है। राज्य के प्रति प्रजा की जो भावना है उसको धक्का नहीं पहुँचता क्योंकि राज्य भक्ति का मूर्त आधार राजा, प्रजा का क्रोध भाजन नहीं बन पाता। वह दिन प्रतिदिन के शासन से उत्पन्न होनेवाली जन-प्रियता के उतार चढ़ाव से पृथक् और ऊपर प्रजा की श्रद्धा और भक्ति का स्थायी पात्र बना रहता है। इसलिए एक ऐसे प्रधान की आवश्यकता है जिसके ऊपर शासन प्रबन्ध का उत्तरदायित्व हो और जो जनता का विश्वासपात्र न रहने पर पदच्युत किया जा सकता हो। इसके अतिरिक्त एक दूसरे प्रधान की आवश्यकता है जो स्थायी रूप से राज्य का अध्यक्ष हो और जिसके प्रति जनता की भक्ति स्थायी रूप से हो। अब यह बात स्पष्ट हो गई कि दो आवश्यकताएँ हैं और इन दो आवश्यकताओं के लिए दो पदाधिकारियों की आवश्यकता। दोनों आवश्यकताओं की पूर्ति एक पदाधिकारी द्वारा नहीं की जा सकती। इसी कारण इंगलैंड में द्वैध शासन प्रणाली—एक राज्य प्रधान

दूसरी शासन प्रधान— क्रमशः ऐतिहासिक परिस्थितियों के कारण स्थापित हो गई ।

राजा की इस स्थिति से सामान्य लोगों की कुछ ऐसी धारणा हो गई है कि इंगलैंड का "राजा केवल एक रबड़ की मुहर के समान है" जो प्रधान मंत्री के शासन संबन्धी कार्यों को सत्ता विभूषित कर देता है । शासन-क्षेत्र में वह शून्य पुरुष है । ऐसी धारणा पूर्ण रूप से सत्य नहीं है । व्यवहार में राजा वास्तव में राष्ट्र के जीवन पर प्रभाव डालने की शक्ति रखता है और प्रभाव डालता है । राजा का पद स्थायी है वह मृत्युपर्यंत अपने स्थान पर आसीन रहता है। मंत्रिमण्डल और प्रधान मंत्री बनते और बिगड़ते रहते हैं । विभिन्न मंत्रिमण्डलों से सम्पर्क रहने के कारण, उनकी गलतियों से तथा सफल कार्यों से जानकारी होने के कारण, अपनी लम्बी अवधि में विभिन्न परिस्थितियों और राजनैतिक समस्याओं को भीतर और बहुत समीप से देखने के कारण राजा की सूझ बूझ का जो विकास होता है वह किसी एक प्रधान मंत्री में नहीं मिल सकता और कोई भी प्रधान मंत्री ऐसे लम्बे अनुभव से शोधित राजा की सलाह को न मानने को सहज ही उतारू न हो जाएगा ।

राष्ट्रीय जीवन के जिन क्षेत्रों में राजा का व्यावहारिक प्रभाव पड़ता है वे तीन हैं। पहिला क्षेत्र देश के आन्तरिक जीवन और घरेलू नीति से सम्बन्ध रखता है । द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध और नीति से और तृतीय कामनवेल्थ से।

प्रथम क्षेत्र : आन्तरिक जीवन और घरेलू नीति वाले क्षेत्र के दो पहलू हैं – शोभनीय और व्यावहारिक (Ceremonial and Practical)। शोभनीय पहलू— वर्तमान राज्यों में कुछ ऐसी प्रथा चली आ रही है कि राज्य के प्रधान का पद शोभनीय होता है । उसकी वास्तविक सत्ता नहीं होती है । इंगलैंड राज्य के प्रधान का भी पद शोभनीय है । उस पर आसीन राजा प्रजा को राज्य भक्ति के सूत्र में बांध रखता है । वह राजनैतिक दलों की आलोचना से परे है । राज्य करने के अधिकार पैतृक हैं जिससे राजा की उत्पत्ति (Decent) इग्बर्ट् राजा के काल से सम्बन्धित है । इतना पुराना सम्बन्ध होने के कारण प्रजा की राज्य भक्ति की भावना और अधिक दृढ़ हो जाती है । राजा का राज्याभिषेक बड़े समारोह से होता है जो राज्य भक्ति भावना को जाग्रत करने में बड़ा सहायक होता है ।

इंगलैंड का राजा उपाधियों का निर्झर (Fountain of Honours) कहा जाता है । सम्भव है कि कुछ के मन में शंका हो कि उपाधियां देने की प्रथा की क्या आवश्यकता है ? यदि सामाजिक जीवन में सुव्यवस्था और शान्ति की आवश्यकता है तो अवश्य ही उस भावना का बड़ा महत्व है जो समूह को एक सूत्र में पिरो कर जीवनोपयोगी मर्यादा को बनाए रखती है । राज्य से मान मिलने पर राज्य और व्यक्ति के बीच सम्बन्ध दृढ़ हो जाता है और राज भक्ति की जड़ मजबूत हो जाती है। जब यह मान एक ऐसे व्यक्ति की कृपा का चिन्ह हो जिसमें राष्ट्र की सभी कोमल भावनाएँ घनीभूत हों तब तो मान पाने और देनेवाले के बीच भावना का ऐसा सम्बन्ध स्थापित हो जाता है जिससे कितने ही बलिदान की माँग की जा सकती है । यदि कोई सैनिक उच्च कोटि की सैनिक तथा कोई अन्य प्रकार की सेवा करता है और राजा उस सेवा की प्रशंसा में उसे उपाधि प्रदान करे तो उसकी राजभक्ति और दृढ़ हो जाती है । उपाधियाँ प्रशंसनीय सेवा करने पर ऊँचे, साधारण और नीचे स्तर के सभी पुरुषों को मिल सकती हैं । इसलिए सारी जनता उपाधि प्राप्ति के लिए प्रयत्न कर सकती है । केवल उपाधि प्रदान से ही राजभक्ति दृढ़ नहीं होती परन्तु राजा जनता से उपाधि पा कर उस सूत्र को दृढ़ कर देता है । सन् १९४० के अन्त में जब इंग्लैण्ड पर जर्मनी बमबाजी कर रहा था उस समय जार्ज षष्ठ ने इंग्लैण्ड में ही निवास कर प्रजा के साथ उस आपत्ति में भाग लिया था । ट्रेड यूनियन कांग्रेस के प्रधान ने राजा के इस कार्य से प्रसन्न हो कर अपना राजभक्ति सूचक एक स्वर्ण पदक जार्ज षष्ठ को समर्पित किया ।

बाह्य रूप से सब काम राजा ही करता है—न्यायालयों में न्याय उसी के नाम से किया जाता है, पार्लियामेण्ट की सलाह से वह कानून बनाता है, कार्यकारिणी का काम—आज्ञा देना, नियुक्ति करना, अन्तर्राष्ट्रीय कामों का करना—करता है । ये सब काम दिखावे के लिए राजा करता है परन्तु वास्तव में इन सब कामों को राजा के पदाधिकारी करते हैं । यह पूछा जा सकता है कि बाहरी दिखावे से क्या लाभ ? जीवन की बहुत सी समस्याएँ तर्क का सहारा लेकर ही नहीं सुलझ सकतीं । सब मानव कार्यों में मन का योग होता है और मनोविज्ञान की सहायता से बहुत-सी गुत्थियाँ खुल जाती हैं । राजा शोभनीय अधिपति है, वास्तविक राजसत्ता का प्रयोग मन्त्री करते हैं । किन्तु जैसा हम देख चुके हैं राजा और

मन्त्री दोनों का ही राष्ट्रीय जीवन में उपयोगी स्थान है। राजा के नाम से प्रत्येक राजाज्ञा निकालने, महत्वपूर्ण राजकीय क़ाग़जों पर राजा के हस्ताक्षर कराने से राजा का मान और प्रतिष्ठा जनता के हृदय में तो बढ़ती ही है, स्वयं मन्त्रियों के मन पर भी वह प्रतिष्ठित रहता हैं। राजाज्ञाएँ भी राजा के नाम जड़ जाने से अधिक पवित्र और प्रभावशाली बन जाती हैं।

व्यावहारिक पहलू : राजा के हस्ताक्षर से राजकार्य व्यर्थ में नहीं होते। इसका एक व्यावहारिक लाभ यह है कि दिन प्रतिदिन के शासन प्रतिबन्ध की सूचना उसको मिलती रहती है। प्रधान मन्त्री नियमित रूप से पार्लियामेण्ट की कार्यवाही, मन्त्री परिषद् के वादविवाद, नीति और अन्य कार्यकारिणी की सूचना राजा को देता रहता है। राजा अपनी अनुभवी सलाह से मन्त्री को राज्य कार्य में सहायता देता रहता है।

राजा की व्यावहारिक उपयोगिता उसके राज्य के भिन्न भिन्न अंगों के संतुलन करने में बढ़ जाती है। राजा के मन्त्री कानून बनाते हैं और अन्य राज्य कार्य करते हैं परन्तु राजा का विरोधी दल (His Majestey's opposition) राजनीति का विरोध करता है। इस प्रकार राजा अपने विरोधी दल द्वारा मन्त्री परिषद् की निरंकुशता को रोकता है। राजा विरोधी दल के नेता को वेतन देता है जिससे विरोधी दल वाले अच्छी तरह से पार्लियामेण्ट के वादविवाद में भाग लें। राजा स्वयं सबको अपनी ओर राजभक्ति भावना द्वारा आकर्षित किए रहता है जिससे राजनीतिक दलों में एक संतुलन स्थापित रहता है।

द्वितीय क्षेत्र : अन्तर्राष्ट्रीय नीति और सम्बन्धों में राजा का प्रभाव कुछ समय पहले अधिक पड़ता था। विदेशों के साथ राजकुल के विवाह सम्बन्धों ने अन्तर्राष्ट्रीय नीति और सम्बन्ध पर बड़ा प्रभाव डाला था। एडवर्ड सप्तम के सम्बन्ध में कहा जाता है कि उसने इस क्षेत्र में बहुत कुछ स्वयं की नीति अपनाई परन्तु आजकल ऐसा नहीं है क्योंकि विदेशी नीति किसी व्यक्ति विशेष के लिए ही महत्वशाली नहीं है परन्तु सारे राज्य के लिए है। विदेशी नीति और विदेश के साथ सम्बन्ध स्थापित करने में राजा के ही हित का ध्यान न रख सारे राज्य के हित का ध्यान रखा जाता है।

वर्तमान नवीन दशा में भी राजा का स्थान इस क्षेत्र में एक महत्वशाली है। वह अपनी अनुभवी सलाह मन्त्रियों को इस सम्बन्ध में देता है। देशीय मामलों में दी गई सलाह की अपेक्षा विदेशी मामलों में जो सलाह राजा देता है उसको मन्त्री परिषद् अधिक महत्व देती है। इसके अतिरिक्त राजा और रानी विदेशाटन करके जो मित्रता का सम्बन्ध विदेशों से स्थापित करते हैं उसका लाभ विदेशी क्षेत्र में व्यावहारिक होता है। जार्ज पंचम और जार्ज षष्ठ ने अपनी रानी के साथ विदेशाटन करके विदेशों के साथ अच्छे सम्बन्ध स्थापित किए थे। शान्ति के समय में राजा ब्रिटिश कामनवेल्थ देशों और अन्य देशों में भ्रमण को जाता है और लड़ाई के समय में युद्ध क्षेत्र में सेना निरीक्षण के लिए जाता है। देशाटन के अतिरिक्त राजा राजदूतों के परिचयपत्रों को स्वीकार करता है। विदेशों के राज्य प्रधानों का शिष्टतापूर्ण आतिथ्य करता है।

तृतीय क्षेत्र : अंग्रेजी राजा केवल इंग्लैण्ड का ही राजा नहीं है बल्कि सारे ब्रिटिश साम्राज्य और कामनवेल्थ का राजा है। इस क्षेत्र में अंग्रेजी राजतन्त्र का महत्व समझने के लिए यह आवश्यक है कि कामनवेल्थ और साम्राज्य का स्वरुप समझ लें।

कामनवेल्थ में आठ स्वाधीन राज्य हैं—युनाइटेड किंगडम, कॅनाड़ा, आस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैण्ड, दक्षिणी आफ्रिका, भारतवर्ष, पाकिस्तान और लंका। कामनवेल्थ की स्थापना अधिकतर ब्रिटिश उपनिवेशों के क्रमिक विकास द्वारा हुई है। कामनवेल्थ के कुछ सदस्य देश इंग्लैण्ड के राजा को केवल यही नहीं समझते कि वह सदस्य राज्यों को एक सूत्र में बाँधता है वरन् उसे अपनी राजभक्ति भेंट करते हैं। उदाहरण के लिए आस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैण्ड, दक्षिणी आफ्रिका इत्यादि। और कुछ देश उसे सदस्य राज्यों में एकता और मित्रता स्थापित करने का चिन्ह मात्र मानते हैं। जैसे भारत वर्ष में राज्य का प्रधान अंग्रेजी राजा न हो कर भारतीय राष्ट्रपति है। भारतवर्ष का सम्बन्ध राजा के द्वारा अन्य सदस्य राज्यों के साथ केवल मित्रता का है। परन्तु सब सदस्य राज्यों ने इंग्लैण्ड के राजा को कामनवेल्थ का प्रधान (Head) स्वीकार कर लिया है।

साम्राज्य के अन्तर्गत उपनिवेश और संरक्षित भूखण्ड (Mandated or Trusted Territories) हैं जिनके शासन प्रबन्ध का उत्तरदायित्व पूर्ण रूप से इंग्लैण्ड पर है। उदाहरणार्थ ब्रिटिश पच्छिमी भारतीय द्वीप समूह (British West Indian Islands.)।

दोनों कामनवेल्थ और साम्राज्य के देश अंग्रेजी

राजतन्त्र द्वारा एक सूत्र में बँधे हैं। अंग्रेज़ी राजा का सम्बन्ध कामनवेल्थ और साम्राज्य के साथ भिन्न प्रकार से है।

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है राजा कामनवेल्थ के कुछ देशों में राजभक्ति का पात्र समझा जाता है और कुछ देशों में एकता और मित्रता स्थापित करने का चिन्ह। यद्यपि कामनवेल्थ के देश स्वतंत्र हैं, आपस में बराबरी की स्थिति पर हैं और अपने घरेलू और विदेशी नीति में एक दूसरे के आधीन हैं परन्तु इन देशों ने अपनी राजभक्ति और एकता का अच्छा उदाहरण १९३९-४५ के महायुद्ध में दिया। कामनवेल्थ देशों की राजभक्ति और एकता ही थी जिसके कारण इन देशों ने इंगलैंड के साथ ही साथ जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी और सब देशों ने सामूहिक रूप से शत्रु का सामना किया। एक और बात से इस बात की पुष्टि होती है कि अंग्रेज़ी राजा द्वारा ही कामनवेल्थ एक सूत्र में बँधा है। इंग्लैंड का प्रधान मंत्री केवल यूनाइटेड किंगडम का प्रधान मंत्री है परन्तु अंग्रेज़ी राजा सम्पूर्ण कामनवेल्थ का प्रधान है। कॅनाडा का मंत्री, दक्षिणी आफ्रीका का प्रधान मंत्री आदि राजा को उन देशों के शासन प्रबन्ध में सलाह देते हैं!

सन् १९४९ से कामनवेल्थ का अर्थ व्यापक कर दिया गया है कि भारतवर्ष भी जो कि गणतंत्र देश है, कामनवेल्थ का सदस्य बना हुआ है। कॅनाडा, आस्ट्रेलिया, दक्षिणी आफ्रीका इत्यादि देशों में यूरोपियन जातियाँ प्रारंभ में जा कर बस गई थीं और धीरे धीरे अंग्रेज़ी जाति की संख्या बढ़ गई। अंग्रेज़ों ने अपना राज्य वहाँ जमा लिया। पहले ब्रिटिश पार्लियामेण्ट ही पर इन देशों के शासन प्रबन्ध का उत्तरदायित्व था परन्तु धीरे धीरे इन देशों ने अपने देश का शासन प्रबन्ध करने का अधिकार ब्रिटिश पार्लियामेण्ट से प्राप्त कर लिया। फिर भी अंग्रेज़ी राजा को वे अपना राजा स्वीकार करते रहे हैं। भारतवर्ष का इतिहास इन देशों के इतिहास से भिन्न है। जिस समय अंग्रेज़ भारतवर्ष आए यहाँ लोग सभ्य और शिक्षित थे और उनकी स्वयं की शासन प्रणाली थी। जब भारतवर्ष को १९४७ में स्वतंत्रता मिली भारतवर्ष ने गणतंत्र राज्य स्थापित करना निश्चित् किया परन्तु इंगलैंड और कामनवेल्थ के अन्य देशों के साथ सम्बन्ध विच्छेद करना उचित न समझा। सन् १९४८ की इम्पीरियल कान्फ्रेन्स में भारतवर्ष ने गणतंत्र राज्य होकर कामनवेल्थ की सदस्यता स्थापित रखने की इच्छा प्रगट की। इंग्लैंड और कामनवेल्थ के अन्य सदस्यों ने इसको स्वीकार कर लिया और भारतवर्ष ने अंग्रेज़ी राजा को कामनवेल्थ का प्रधान मानते हुए कामनवेल्थ देशों में मित्रता और एकता स्थापित रखने का चिन्ह स्वीकार कर लिया।

साम्राज्य के अन्तर्गत जो उपनिवेश और संरक्षित भूखण्ड हैं वे एक जगह एकत्रित नहीं हैं बल्कि आफ्रीका, हिन्द महासागर, पैसिफ़िक महासागर और अरेबियन सागर में फैले हुए हैं। कुछ भागों में राजा गवर्नर जनरल द्वारा शासन प्रबन्ध करता है और कुछ भागों में राजाओं और मुखियों की रक्षा करने का भार उसके ऊपर है। उपनिवेशों, संरक्षित भूखण्डों को एक सूत्र में बांधनेवाला राजा ही है। समय की आवश्यकतानुसार राजा का जो सम्बन्ध इन उपनिवेशों और भूखण्डों के साथ है उसमें भी परिवर्तन हो जाता है परन्तु इन सब को अपने अस्तित्व द्वारा एक सामूहिक साम्राज्य के अन्तर्गत बनाए रखता है।

अंग्रेज़ी राज्य विधान राजतंत्र होने के कारण इंग्लैंड को और साम्राज्य के विभिन्न अङ्गों को विशृङ्खलित होने से बचाने में बड़ी सहायता मिली। प्रवासी अंग्रेज़ अपनी मातृभूमि की तत्कालीन सरकार तथा जनता के व्यवहार से कैसे ही असंतुष्ट रहे हों परन्तु सम्राट् के प्रति भक्ति जो उनके रक्त में घुली मिली थी उसे सहज ही नहीं निकाल सकते थे। वही भावना दूर दूर बिखरे हुए अंग्रेज़ी उपनिवेशों को मातृभूमि से समीप रखने में सफल हो रही है। अमरीका और आयरलैंड अवश्य दो ऐसे देश हैं जहाँ पर अंग्रेज़ों ने अपना राज्य स्थापित किया परन्तु फिर वे उनको ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत रखने में असमर्थ रहे। इन्हीं दो देशों के सम्बन्ध में ऐसा कहा जा सकता है कि अंग्रेज़ों ने समय की आवश्यकता को न समझ कर अदूरदर्शिता से काम लिया। अपनी अदूरदर्शिता का फल अंग्रेज़ों ने उस समय महसूस किया जब अमरीका ने स्वतंत्रता का युद्ध जीत कर अपने को स्वतंत्र देश घोषित कर दिया। इससे उनको एक बड़ी भारी शिक्षा मिली जिससे उन्होंने अन्य देशों कॅनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैंड, दक्षिणी आफ्रीका, भारतवर्ष आदि देशों के साथ एक ऐसा व्यवहार किया और ऐसे नियम बनाए कि ये देश स्वतंत्र होते हुए भी अंग्रेज़ी राजा के द्वारा कामनवेल्थ और ब्रिटिश साम्राज्य के अंग बने हुए हैं।

—डा० लक्ष्मण प्रसाद चौधरी
एम. ए., पी एच. डी.
लखनऊ

एक समय की बात है....

(पुराना चीन)

एक समय की बात है चीन के किसी बड़े शहर में एक ग़रीब दरजी मुस्तफ़ा अपनी पत्नी के साथ रहता था। उसके एक लड़का था जो कुछ भी काम-धाम नहीं करता था और आवारागर्दी में ही सारा समय गँवा देता था। लड़के का नाम अलादीन था। मुस्तफ़ा बहुत ग़रीब था, इसलिए उसकी जिन्दगी के दिन बहुत भारी कटते थे। अक्सर ऐसा होता कि उनके घर में चूल्हा भी न जलता। ज़ाहिर बात है कि मुस्तफ़ा इस तरह बहुत दिन न चल सकता था और वह जल्दी ही मर गया। बाप के मर जाने पर घर चलाने की जिम्मेदारी अलादीन पर आ गई।

सौभाग्य से एक बदमाश जादूगर की साज़िश नाकाम हो जाने से अलादीन को एक जादू का चिराग़ हाथ लग गया। चिराग़ में यह सिफ़त थी कि जैसे ही—उसका मालिक उसे रगड़ता, एक बड़ा भारी राक्षस गुलाम की तरह हाथ बाँधे मालिक का हुक्म बजा लाने के लिए सामने आकर खड़ा हो जाता था। लिहाज़ा अब अलादीन के हाथ में चिराग़ आ जाने से उसे किसी चीज़ की कमी न रही और इच्छा करने भर से उसे सब चीज़ें मिल जाती जैसे खाने के लिए अच्छी से अच्छी चीज़ें, पहनने के लिए खूबसूरत से खूबसूरत, क़ीमती से क़ीमती कपड़े, रहने के लिए हीरे जवाहिरात का आलीशान महल और इसके अलावा तमाम हीरों, मोतियों, नीलमों, पुखराजों का कभी न चुकनेवाला खज़ाना। इस तरह अपने जादू के चिराग़ की मदद से अलादीन दुनिया भर के शाहज़ादों से ज़्यादा अमीर हो गया और फिर उसे खूबसूरत शाहज़ादी बद्रुदबदर से शादी करने में भी रुकावट बाक़ी न रही और वह बद्रुदबदर से शादी करके चैन से रहने लगा.....।

काश नए चीन की सफलताओं की कहानी अलिफ़ लैला की इस कहानी की ज़बान में बयान की जा सकती। चीन में बहुत कुछ जो मैंने देखा वह मुझे जादू मालूम पड़ा और कई बार मुझे अलिफ़ लैला की यह कहानी याद आई—जो मैंने अपने बचपन में आज से पच्चीस साल पहले पढ़ी थी।

मगर ऐसा करना शायद मुमकिन नहीं है क्योंकि ज़माना बहुत बदल गया है और इसलिए वह पुराना रूपक भी पूरी तरह काम नहीं दे सकता। क्योंकि अगर ऐसा किया जाए तो शायद यह झगड़ा उठ खड़ा हो कि बदमाश जादूगर से क्या मतलब है या उस राक्षस का इशारा किसकी तरफ़ है या यही कि खुद अलादीन किसकी नुमाइन्दगी करता है। इसलिए अच्छा हो कि इस कहानी को और उसकी अन्योक्ति को वहीं का वहीं छोड़ दिया जाए।

मगर इस कहानी में आज हमारे काम की और कोई बात हो, चाहे न हो यह एक बात ज़रूर है कि वह दरजी का बेटा अलादीन जो एक समय आवारों की तरह भूखा प्यासा, चीथड़े लपेटे सड़कों पर मारा मारा घूमता था, अब उसकी वह हालत नहीं है। भले उसके पास खाने को बहुत अच्छी अच्छी चीज़ें न हों मगर भर पेट खाने को है, पहनने की कीमती कपड़े चाहे न हों मगर ऐसे मोटे मोटे कपड़े ज़रूर हैं जो सरदी गरमी से उसकी हिफ़ाज़त करते हैं। और उसके सर पर छत भी है ही। पिछड़े हुए अर्द्ध औपनिवेशिक देश चीन में होने वाले ये परिवर्तन जिनका प्रमाण भूख और बदहाली, वैश्यावृत्ति और भिखमंगापन के समूल नाश में मिलता है, इतनी तेजी से हो रहे हैं कि सचमुच यह चीज जादू जैसी मालूम होती है। चीन प्राचीन काल से अपने जादू के लिए विख्यात है। तो फिर क्या अजब कि नया चीन पुराने जादू में अपने नए जादू के वर्क़ जोड़ रहा है। भूत प्रेत वाला जादू नहीं बलिक वह जादू जो करोड़ों लोगों की अवरुद्ध सृजनात्मक प्रतिभा को उन्मुक्त कर देने से पैदा होता है। जैसा कि पहले सोवियत रूस ने किया था, वैसे ही चीन अब यह दिखला रहा है कि एक बार जब समाज का क्रान्तिकारी परिवर्तन, जनता की सृजनात्मक प्रतिभा, उसकी विराट शक्तियों का द्वार खोल देता है तो उस देश की दुःख और विपदा की कहानी परियों की कहानी में बदल जाती है जिसमें नाच है, गाना है, प्यार है, जीवन संगीत है। चीन जैसा सामाजिक परिवर्तन जादू के युग का सूत्रपात करता है, वैज्ञानिक जादू के युग का। चीन में हमने जो लगभग पांच हजार मील का सफ़र

किया वह इस सीधी सादी उक्ति का प्रमाण ही है, इससे अधिक कुछ नहीं।

मगर सचमुच कैसी जादुई परिवर्तन...

एक समय चीन को "एशिया का बीमार" कहा जाता था। शायद ही कोई अब उसको इस नाम से पुकारने का साहस करे।

एक समय चीन को लम्बी लम्बी चुटइया वाले अफीमखोरों का देश कहा जाता था।

अब चीन में न तो चुटइया है न अफीम। चीन का अभिशाप, चीनी जनता के लिए साम्राज्यवादियों का ज़हर, अफीम अब सबके लिए नफ़रत की चीज़ है। अब कोई अफीम नहीं खाता और जहाँ तक चुटइया का ताल्लुक है, मर्द तो दर-किनार औरतों को भी अब चोटी नहीं है।

एक समय चीन अकाल और बाढ़, बाढ़ और सूखे का देश कहा जाता था।

अब कहीं अकाल नहीं है। अब हर आदमी के पास खाने के लिए काफ़ी है। इतना ही नहीं, अपनी जरूरत से कुछ ज़्यादा ही है। जितना भी चावल हमने उनसे माँगा, उन्होंने हमको भेजा। जहाँ तक बाढ़ और सूखे की बात है, प्रकृति को बदलने की उनकी विराट अतिमानवी योजनाएँ इसकी व्यवस्था कर रही हैं। ऐसी ही एक योजना ह्वाई नदी को बाँधने की है। इन योजनाओं को दृष्टि में रख कर विश्वास के साथ यह भविष्यवाणी की जा सकती है कि कुछ ही वर्षों में यह विपदाएँ अतीत का दुःस्वप्न मात्र रह जाएँगी। बहुत हद तक अभी ही उन पर विजय प्राप्त की जा चुकी है।

एक समय चीन संसार भर में अपनी सुस्वादु वेश्याओं और रखेलों के लिए विख्यात था।

अब न तो वेश्याएँ हैं और न रखेलें। अब वहाँ नारी को एक नई ही मर्यादा, एक नया ही सम्मान मिला है जिसका उसके बर्बर पशुवत् अतीत से कोई मेल नहीं है।

एक समय चीन अपने ब्लैक मार्केट के लिए मशहूर था और शाँघाई उन डकैतों की राजधानी थी।

अब चीन में कहीं भी ब्लैक मार्केट नहीं है—शाँघाई में भी नहीं।

एक समय चीन रिश्वतखोर नौकरशाहों का बहिश्त था।

अब सान फान और वू फान सफाई योजनाओं के बाद ब्लैक मार्केट और रिश्वतखोरी दोनों का बुनियादी तौर से ख़ातमा किया जा चुका है और कुछ अगर कहीं कोनों-अँतरों में बाकी रह गए हों तो उन्हें नख-दन्त तोड़ कर बेकाम कर दिया गया है। जनता सावधानी से अपने हितों की पहरेदारी करती है।

एक समय चीन अपनी गन्दगी के लिए मशहूर था और कहा जाता था कि चाइना मेन के शरीर से बदबू आती है।

अब चीन सफ़ाई का आदर्श है और किसी चाइना मेन के शरीर से बदबू नहीं आती—कम से कम उन लोगों में से किसी के शरीर से नहीं आई, जिनके सम्पर्क में हम आए और हम हज़ारों लोगों के सम्पर्क में आए जिनमें किसान मजदूर सभी थे।

लेकिन अब आइए हम इस एक समय की कहानी पर परदा डाल दें। इसमें शक नहीं कि एक समय चीन सभी गन्दी और पिछड़ी हुई और पतित चीज़ों का प्रतीक था। मगर वह आज की नहीं, एक समय की बात है। वह पुराने जर्जर साम्राजी-सामन्ती चीन की बात है। और यह नया चीन है, जनता का चीन, जो पुराने चीन से उतना ही भिन्न है जितना अँधेरे से रोशनी।

नेपोलियन ने चीन के बारे में कभी यह भविष्यवाणी की थी कि चीन सोया हुआ एक दैत्य है और किसी दिन अगर वह जागा तो दुनिया को हिला कर रख देगा। हम लोग चीन में छः हफ़्ते रहे और इन छः हफ़्तों में हमने नेपोलियन की भविष्यवाणी को सही उतरते देखा लेकिन एक अन्तर के साथ।

वह सोया हुआ दैत्य अब जाग गया है, अच्छी तरह जाग गया है और गो कि उसकी नेपोलियन जैसी कोई भी साम्राज्यलोभी महत्वाकांक्षाएँ नहीं हैं, तो भी वह दुनिया को हिला रहा है और खास कर पूरब के देशों को। वह दुनिया को हिला रहा है मगर एक दूसरे ही मतलब में, प्रकृति की एक विराट सत् शक्ति के रूप में, जन-शक्ति के एक गगनचुम्बी अतिमानव के रूप में।

—अमृतराय

इलाहाबाद

प्राचीन ग्रन्थों का सम्पादन

अब तक उपलब्ध होने वाले प्राचीन ग्रन्थों में से बहुतों के एकाधिक संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। इन प्रकाशित ग्रन्थों में भी ऐसे ग्रन्थों के संस्करण अधिक निकाले गए हैं जो विभिन्न पाठ्यक्रमों में निर्धारित रहे हैं। पाठ्यक्रमों में अनिर्दिष्ट ग्रन्थों के महत्वपूर्ण होने पर भी उनके आलोचनात्मक संस्करण तैयार करने की ओर विद्वानों का ध्यान नहीं जाता यह वस्तुतः दुःख की बात है। इसके विपरीत शिक्षण संस्थाओं में पढ़ाए जाने वाले ग्रन्थों के नवीन संस्करण प्रति दूसरे या तीसरे वर्ष प्रकाशित होते रहते हैं। प्रत्येक संस्करण का सम्पादक पिछले संस्करणों की अपेक्षा अपने संस्करण की विशेषता अत एव अधिक उपादेयता प्रतिपादित करता है; तथापि इन नए संस्करणों में कुछ न्यूनताएँ विद्यमान रह जाने के कारण विद्वानों को उत्तम संस्करणों की कमी निरन्तर खटकती रहती है। ऐसी न्यूनताएँ रह जाने के सामान्यतः दो कारण होते हैं। प्रथम तो यह कि प्रायः संस्करणों का सम्पादन करते हुए सम्पादक लोग वैज्ञानिक पद्धति का अनुसरण नहीं करते अपि तु पिछले संस्करणों में कुछ परिवर्तन करके ही नया संस्करण तैयार करते हैं। दूसरा कारण यह है कि किसी संस्करण को तैयार करते हुए अधिकांश सम्पादकों का उद्देश्य किसी मौलिक और आलोचनात्मक संस्करण को तैयार करना नहीं होता किन्तु ग्रन्थ को किसी नवीन टीका या अनुवाद के साथ प्रकाशित करना होता है। अपने इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए वे यथाभिमत मूल पाठ को स्वीकार करके उसके नीचे टीका या अनुवाद देने में ही अपने कर्तव्य की इति श्री समझते हैं। इस उद्देश्य से सम्पादित संस्करण अनुपादेय होने के कारण संख्या वृद्धि के अतिरिक्त किसी अन्य प्रयोजन को सिद्ध नहीं करते।

प्राचीन ग्रन्थों का सम्पादन करते समय यदि कुछ मूलभूत बातों को ध्यान में रक्खा जा सके तो इस प्रकार से निर्मित हुआ संस्करण किसी नवीन सामग्री की खोज होने तक न केवल भ्रान्त धारणाओं को उत्पन्न नहीं होने देता अपि तु ऐसी सामग्री का अन्वेषण हो जाने पर भी उस सामग्री के उपयोग में महत्वपूर्ण सहायता प्रदान करता है। ग्रन्थ सम्पादन में सम्पादक के सामने उपस्थित होने वाली समस्याओं में पाठ निर्धारण की समस्या अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसी समस्या का सम्यक् समाधान न होने के कारण बहुत सी अशुद्धियाँ संस्करणों में विद्यमान रह जाती हैं। यदि पाठों का चुनाव करते समय सम्पादक सचेत रह कर आलोचनात्मक बुद्धि की सहायता से पाठ-निर्धारण करे तथा मूल में गृहीत पाठ से अतिरिक्त पाठों का पृष्ठ के अधोभाग में निर्देश कर दे तो इस पद्धति के अनुसरण का यह लाभ भी होगा कि पाठक के सामने विभिन्न पाठ होने के कारण उसे अपनी बुद्धि के प्रयोग द्वारा स्वीकृत पाठों की उपयुक्तता के परखने का अवसर मिल जाएगा। साथ ही प्रत्येक पाठ के मूल का ज्ञान होने के कारण उसका महत्व भी सुगमता से निर्धारित किया जा सकेगा।

ऊपर यह कहा गया है कि ग्रन्थ सम्पादन में पाठ-निर्धारण की समस्या अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसकी यथार्थता को दिखाने के लिए इस बात का अधिक स्पष्टीकरण आवश्यक है; क्योंकि इन पाठभेदों का आश्रय लेकर ही नित्य नई नई कल्पनाएँ सिद्धान्तों के रूप में उपस्थित की जाती हैं। इस प्रकार के एक दो उदाहरण यहाँ देना अप्रासङ्गिक न होगा।

संस्कृत साहित्य में कालिदास और विक्रमादित्य के समकालीन होने की अनुश्रुति अति प्राचीन है। महाकवि के काव्यों और नाटकों में उनके काल, जीवन आदि के विषय में कोई सुस्पष्ट उल्लेख नहीं है। उनके काल और जीवन के विषय में जो कुछ भी कहा गया है वह उनके ग्रन्थों के अन्तःसाक्ष्य पर आधारित है। इस विषयक प्रायः सभी मत विद्वानों में विकास के विषय बने हुए हैं। किन्तु उनके ग्रन्थों के अध्ययन से निकलनेवाले इस निष्कर्ष से सभी पौरस्य और पाश्चात्य विद्वान् सहमत हैं कि महाकवि कालिदास का सम्बन्ध किसी विक्रम नामक प्रभावशाली व्यक्ति से अवश्य था। इसीलिए जिन विद्वानों ने कवि को गुप्त सम्राटों का समकालीन स्वीकार किया है वे चन्द्रगुप्त द्वितीय के विक्रमादित्य उपाधि धारण करने के आधार पर ही इस सिद्धान्त को प्रतिपादित करते हैं। इतने सर्वमान्य

सिद्धान्त को भी किसी प्रामाणिक या अप्रामाणिक पाठ पर आश्रित सिद्ध करने के लिए सतत प्रयत्न किया जाता है। महाकवि कालिदास के प्रसिद्ध नाटक 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' की बहुत-सी प्राचीन हस्तलिखित प्रतियाँ उपलब्ध हैं। इन सभी में प्रस्तुत नाटक का अभिनय एक सभा विशेष में किए जाने का वर्णन है; किन्तु वह सभा विक्रमादित्य की ही राज सभा थी ऐसा उल्लेख प्राचीन प्रतियों में नहीं मिलता। 'कालिदास ग्रन्थावली' के 'समीक्षा निबन्ध' भाग में दिए गए डा० राजबली पाण्डेय के सर्वप्रथम निबन्ध में एक ऐसे संस्करण का उल्लेख है जिसकी प्रस्तावना के संदर्भ में 'परिषदियमभिरूपभूयिष्ठा' के स्थान पर 'इयं हि रसभावविशेषदीक्षागुरोः विक्रमादित्यस्याभिरूपभूयिष्ठा परिषत्' पाठ दिया गया है। यह भी सम्भव है कि ऐसा पाठ किसी हस्तलिखित पुस्तक में भी मिलता हो। किन्तु जब तक उस हस्तलिखित ग्रन्थ के काल और प्रामाणिकता आदि का निश्चय न हो तब तक उसमें मिलनेवाले ऐसे पाठों को अधिक विश्वसनीय नहीं समझा जा सकता। अन्यान्य युक्तियों के साथ साथ इस पाठ को प्रमाण रूप से उपस्थित करके अधिक बल के साथ यह प्रतिपादित किया गया है कि कालिदास और विक्रमादित्य में सम्बन्ध अवश्य था।[1] इसी प्रकार एक अन्य प्रति का उल्लेख करते हुए—जो कि काशी विश्वविद्यालय के एक प्राध्यापक के पास सुरक्षित थी—माननीय डाक्टर साहब ने इसी नाटक के 'भरत वाक्यम्' से पूर्व के श्लोक में 'युगशतपरिवर्तैं०' के स्थान पर 'गणशतपरिवर्तैं०' पाठ को अङ्गीकार करके उपर्युक्त निबन्ध में यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि विक्रमादित्य एक गणमुख्य थे और पीछे से सम्राट् रूप में प्रसिद्ध हो गए। यहाँ हमारा तात्पर्य कालिदास के सम्राट् विक्रमादित्य या किसी अन्य विक्रमादित्य उपाधिधारी सम्राट् के समकालीन होने और न होने के विवाद में पड़ना नहीं है और न विक्रमादित्य को गण-मुख्य न मान कर सम्राट् सिद्ध करना है। हमने तो यहाँ इस प्रसंग का उल्लेख केवल यही दिखाने के लिए किया है कि इन नगण्य-से दिखानेवाले दो चार अक्षरों के पाठ-भेद के कारण कैसे कैसे नवीन सिद्धान्तों को उपस्थित किया जा सकता है। इस प्रकार के पाठ एक बार मुद्रित रूप में आने के पश्चात् उस ग्रन्थ के अभिन्न अंग समझे जाते हैं और उनका सम्बन्ध ग्रंथकार से जुड़ जाता है। 'इयं हि रसभावविशेषदीक्षागुरोः विक्रमादित्यस्याभिरूपभूयिष्ठा परिषत्' यह विक्रमादित्य के नाम से युक्त पाठ सर्वप्रथम जीवानन्द विद्यासागर के संस्करण में मिलता है। इस संस्करण के प्रकाशित होने के पश्चात् अन्य संस्करणों ने भी इसे इसी रूप में स्वीकार कर लिया है। यहाँ तक कि महाकवि कालिदास के ग्रन्थों का प्रामाणिक संस्करण प्रकाशित करने का उद्देश्य रखनेवाले 'कालिदास ग्रन्थावली' के सम्पादकों ने भी इस ओर ऐसे अनेक पाठों को ग्रहण कर लिया है। इन पाठों को ग्रहण करने के विषय में मुख्य सम्पादक द्वारा दिया गया स्पष्टीकरण भी उपहासास्पद सा है। यहाँ हमने एक ही कवि के एक ग्रन्थ के एक दो पाठ-भेदों को निदर्शन रूप से उपस्थित किया है। यदि अकेले 'अभिज्ञान शकुन्तल' के ही पाठ भेदों का संग्रह मात्र किया जाए तो आकार में मूल ग्रन्थ से बड़ा एक अन्य ग्रन्थ निर्मित हो सकता है।

उपर्युक्त उदाहरण से यह स्पष्ट है कि पाठनिर्धारण की समस्या विस्तृत होने के साथ दुरूह भी बहुत है। इसके सम्यक् समाधान के लिए सम्पादक को कितना परिश्रम करना पड़ सकता है इसकी सहज ही कल्पना की जा सकती है। अब प्रश्न यह उठता है कि एक ही व्यक्ति की कृति में इतने पाठभेद कैसे हो जाते हैं? यह सत्य है कि किसी एक या सब ग्रन्थों के मिलनेवाले पाठभेदों के लिए कोई एक कारण उपस्थित नहीं किया जा सकता, फिर भी कुछ ऐसी सम्भावनाएँ यहाँ प्रतिदिन की जा रही हैं जो मिल कर नए पाठों को जन्म देने का कारण होती हैं।

आजकल के युग में जब कि पुस्तक प्रकाशन के लिए मुद्रणालय उपलब्ध हैं तब पाठभेदों के उत्पन्न होने के लिए उतना अवकाश नहीं है जितना कि मुद्रण यन्त्रों के

---

[1] यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि माननीय डाक्टर साहब ने विक्रमादित्य को सम्राट् स्वीकार नहीं किया है। तथा 'धन्वन्तरिक्षपणकामरसिंहशंकुवेतालभट्टघटकर्परकालिदासाः। ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य' इस श्लोक में वर्णित सम्राट् विक्रमादित्य की राजसभा में इन नवरत्नों की उपस्थिति की बात को अप्रामाणिक माना है। यह है भी उचित क्योंकि इस श्लोक में उल्लिखित सब कवियों के काल में एक-एक, दो-दो शताब्दियों का अन्तर है।

अभाव में था। मुद्रण यन्त्रों के आविष्कार से पूर्व जब कि ग्रन्थों को सुरक्षित रखने का एकमात्र उपाय उनकी हस्तलिखित प्रति तैयार करना था—पाठों में भिन्नता का आ जाना स्वाभाविक ही था। ये पाठभेद प्रतिलिपिकार के लेखनीस्खलन के कारण अथवा अपने पूर्ववर्ती प्रतिलिपि लेखक के लेख को ठीक ठीक न पढ़ सकने के कारण भी उत्पन्न हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त लिपियों के विभिन्न अक्षरों में विद्यमान समानताएँ—जो हस्तलिखित होने के कारण और अधिक संश्लिष्ट सी दृष्टिगोचर होती हैं—इस समस्या को और कठिन बना देती हैं। उदाहरण के लिए देवनागरी लिपि के व और ब में, लेखक के प्रमादवश या लेखन की शीघ्रता के कारण अगले भाग में बढ़े हुए व में, प, य और म में, तथा कभी कभी म और स में दिखाई पड़नेवाली समानता नवीन पाठों को जन्म देती है। इसी प्रकार नागरी लिपि के पुराने रूप में त को व के तथा त को म के साथ संयुक्त करके लिखने का तरीका त्व को च और त्त को प्र के रूप में तथा इसके विपरीत पढ़े जाने के कारण उत्पन्न पाठभेदों का स्रोत रहा है। इसके अतिरिक्त पृष्ठ मात्राओं के प्रयोग ने भी पर्याप्त मात्रा में पाठों में विभिन्नता पैदा की है। पृष्ठ मात्राओं के प्रयोग की विशेषता जैन लिपिकारों में अधिक प्रचलित थी। प्रान्तीय लिपियों के प्रभाव ने भी इसमें महत्त्वपूर्ण भाग लिया है। इन कारणों से उत्पन्न होनेवाले पाठभेदों की समस्याएँ और भी जटिल हो गई हैं जब कि लिपिकार अधिक पढ़ा लिखा व्यक्ति नहीं था। ये काम पढ़े लिखे लिपिकार प्रायः ग्रन्थ समाप्ति पर निम्नलिखित श्लोक लिखकर अपने उत्तरदायित्व को पूर्ण हुआ समझते हैं :

> "यादृशं पुस्तके दृष्टं तादृशं लिखितं मया,
> यदि शुद्धमशुद्धं वा मम दोषो न दीयताम्।"

ये तो वे कारण हैं जिनका क्रम या अधिक लिपि और लिपिकारों से सम्बन्ध है। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी कारण है जो सुपठित लिपिकारों और व्याख्याकारों के अनधिकार तथा कई बार स्वयं ग्रन्थकर्ताओं के साधिकार हस्तक्षेप से संयुक्त हो कर नवीन पाठों की रचना करते हैं। बहुत कर किसी ग्रन्थ की प्रतिलिपि तैयार करते हुए लिपिकार या व्याख्याकार संदिग्ध और कठिन पाठों के स्थान पर स्वाभिमत सरल और पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग कर देते हैं; अथवा लिखते समय अपनी स्मृति का आश्रय लेकर लिख देते हैं। इन कारणों से निर्मित पाठ भी एक बार ग्रन्थ में स्थान पा जाने पर सदा के लिए उसके अंग बन जाते हैं। पीछे आनेवाले विद्वानों के लिए ऐसे पाठों को प्रक्षिप्त घोषित करके पृथक् कर देना आसान नहीं होता। कुछ ग्रन्थों में ऐसे भी पाठभेद उपलब्ध होते हैं जो रचना और भाव की दृष्टि से एक जैसे महत्त्वपूर्ण प्रतीत होते हैं। बहुत से ग्रंथों में इस प्रकार के पाठों के पश्चात् 'इति पाठान्तरम्' ये शब्द भी लिखे हुए मिलते हैं। ऐसे पाठों की उत्पत्ति के विषय में स्वयं ग्रन्थकर्ता का निर्णय ही कारण प्रतीत होता है। अपना ग्रन्थ समाप्त करने के अनन्तर उसका पुनः पारायण करते हुए स्वयं ग्रन्थकार को उसमें कुछ परिवर्तन की आवश्यकता प्रतीत हो सकती है। ऐसी अवस्था में उसके द्वारा किया हुआ संशोधन भी नवीन पाठभेद बन जाता है।

सामान्यतः पाठभेदों की उत्पत्ति के यही कारण हैं। इनके अतिरिक्त ग्रन्थ के विषय और प्रयोजन की विभिन्नता से पाठभेदों की उत्पत्ति के कुछ अन्य कारण भी हो सकते हैं। इस विषय का विस्तृत विवेचन श्री डी. डी. कोसम्बि ने अपने भर्तृहरि शतकत्रय के आलोचनात्मक संस्करण के परिचयात्मक लेख में किया है। पाठभेदों की उत्पत्ति के कारणों पर विचार के पश्चात् अब यह देखना है कि इन अनियमितताओं से बचने के लिए सम्पादक को किन किन बातों का ध्यान रखना चाहिए।

किसी भी ग्रन्थ के आलोचनात्मक संस्करण के निर्माण का कार्य प्रारम्भ करने से पहले सम्पादक को उस ग्रन्थ के अधिक से अधिक उपलब्ध मूल स्रोतों (हस्तलिखित प्रतियों) का तुलनात्मक अध्ययन करना चाहिए। हस्तलिखित ग्रंथों का सम्यक् पर्यवेक्षण करने से प्रायः उपर्युक्त कारणों से उत्पन्न होनेवाले सम्पूर्ण पाठभेदों की स्थिति अत्यन्त स्पष्ट हो जाएगी। तदनन्तर सम्पादक उन मूल प्रतियों के साथ ग्रन्थ के प्रकाशित संस्करणों की तुलना करके सुगमता से उनमें विद्यमान न्यूनताओं को दूर कर सकता है। जब एक पाठ के स्थान पर बहुत से पाठ उपलब्ध हों तो ऐसी दशा में उसे विभिन्न स्रोतों द्वारा पुष्ट पाठ को ही मूल ग्रन्थ में स्थान देना चाहिए। किसी पाठ को अधिक स्रोतों द्वारा स्वीकृत इसी आधार पर नहीं माना जा सकता कि वह पाठ बहुत-सी प्रतियों में उपलब्ध है। एक अशुद्ध प्रति को मूल मान कर तैयार की हुई प्रतिलिपियाँ उन अशुद्धियों को सामान्यतः अवश्य ही स्थिर रक्खेंगी जो

उस मूल प्रति में विद्यमान थीं। यदि केवल प्रतिलिपियों की संख्या को मुख्य मान कर किसी पाठ को स्वीकार कर लिया जाए तो ऐसे पाठ की शुद्धि में संदेह करने का पर्याप्त अवकाश है। इसके विपरीत विभिन्न प्रदेशों, प्रान्तों और दिशाओं से प्राप्त हस्तलिखित ग्रन्थों की संख्या स्वल्प होने पर भी उनमें मिलनेवाला पाठ अधिक प्रामाणिक होगा। एक दूसरी समस्या भी सम्पादक के सामने कभी कभी आया करती है। वह है कि बहुत बार कोई पाठ विभिन्न स्रोतों से परिपुष्ट होने पर भी स्पष्ट न होने के कारण या किसी अन्य कारण से सम्पादक को अग्राह्य प्रतीत होता है। इस अवस्था में सम्पादक मूल में किसी दूसरे पाठ को भी स्वीकार कर सकता है, किन्तु ऐसा करने पर मूल में स्वीकृत किए हुए पाठ को अधोरेखाङ्कित करके मूलपाठ को ग्रहण न करने के लिए अपने संयुक्तिक कारण पृष्ठ के अधस्तन भाग में अवश्य उपस्थित करने चाहिएँ। इस प्रकार की सावधानी रखने से विज्ञ पाठकों को किसी भी पाठ की प्रामाणिकता का सहज ज्ञान हो जाता है।

इन उपर्युक्त नियमों का पालन तभी सुगमता से किया जा सकता है यदि हस्तलिखित प्रतिलिपियाँ पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हों। परन्तु बहुत बार ऐसा संभव है कि सम्पादक को किसी अप्रचलित प्राचीन ग्रन्थ की एक या दो हस्तलिखित प्रतियाँ उपलब्ध हों; तब उसके लिए इतना विस्तृत विवेचन कर सकना सम्भव न होगा। इस दशा में भी सम्पादक को ग्रन्थ की पूर्वपीठिका में उपलब्ध सामग्री का सविस्तार वर्णन करना चाहिए। साथ ही साथ परिचयात्मक लेख में उस पद्धति का भी दिग्दर्शन कराना चाहिए जिसका सम्पादक ने पाठ निर्धारण के लिए अनुसरण किया हो। अन्य बातों के अतिरिक्त ग्रन्थ के लेखन-काल, उसकी विशेषता तथा ग्रन्थकर्ता के जीवन के विषय में भी विस्तृत विवरण प्रस्तुत करना चाहिए जिससे संस्करण की उपयोगिता बढ़ जाती है। इन सामान्य-सी प्रतीत होनेवाली बातों का ध्यान रख कर सम्पादक संस्करण को सर्वाङ्ग सुन्दर तथा अधिक उपादेय बना सकता है।

—डा० जयदेव विद्यालङ्कार

पब्लिक गार्डन एरिया,
जोधपुर

कन्नड की कहावतें

माड़िद्दुरणो महाराय
(जैसे का तैसा) अपने किए का फल भोगो

तानुंटो मूरु वोक उरटो
आप रहे तो तीनों लोक रहें

कपि कैलि माणिक्य कोह हागे
बन्दर क्या जाने अदरक का स्वाद ?

बीसुदोणेग एट्ट तप्पिदरे नूरु वर्ष आयस्सु
सर की विपत टले तो सौ बरस जिए

गंडसिगेके गौरी दुःख
पुरुष को गौरी से क्या प्रयोजन ?

होट्टेगे हिट्टिल्ल, जुट्टिगे मल्लिगे हू
खाने को नहीं, सिर के फूल

—लक्ष्मी देवी

लक्ष्मीपुरम,
मैसूर

ब्रह्म का विकास

बर्बर युग जब समाप्त हो रहा था, तब बहुत-सी जातियाँ अन्तर्भुक्त हो रही थीं और उनके धर्म भी एक दूसरे के पास आ गए थे। किसी में निराकार को मानते थे और किसी में ब्रह्मचर्य्य का महत्व था, कुछ तप करने को ठीक समझते थे, कोई वर्णाश्रम को मानते थे, कुछ यज्ञ कर्मकाण्ड को ठीक समझते थे। इन सब पर ब्रह्म उठा। किन्तु ब्रह्म की स्वीकृति इसलिए हो गई क्योंकि जातियों में भाषा और संस्कृति की भी अन्र्भुक्ति हो गई। बर्बर समाज से जब सामन्तीय समाज का उदय हुआ, तब भी जब तक जातियों की अन्तर्भुक्ति चलती रही, देवताओं और ब्रह्म सम्बन्धी विचार भी एक दूसरे में घुल मिल कर पलते रहे। इस्लाम की अनुयायी जातियों के आने पर उन्हें अन्तर्भुक्त नहीं किया जा सका, या नहीं किया गया। उनका अल्लाह इस ब्रह्म के बहुत पास था, फिर भी आपस में समझौता सहन नहीं हुआ। उपनिषद् काल में अन्तर्भुक्ति के कारण यह ब्रह्म-कल्पना समाज को भी परिवर्तित करती जा रही थी। बल्कि कहना चाहिए कि प्रारम्भ में ब्रह्म के इस निराकार रूप के व्यापकत्व की शक्ति का उदय द्विपक्ष के लिए था। इसने जातियों के लघुत्व को हटा कर, पुराने छोटे बन्धनों के स्थान पर नए मानदण्ड प्रस्तुत किए और वह मूल केन्द्र 'ब्रह्म' हुआ, जिसका आत्मा से सम्बन्ध हुआ उस आत्मा से जो सब में समान रूप से था, अर्थात् इन छोटे सम्प्रदाय, मत, जातिवाद के ऊपर उठा यह एक सत्य था जिसने चिन्तन के क्षेत्र में यह तो प्रमाणित कर दिया कि मनुष्य के ज्ञान की सीमा इतनी विराट् है कि उसे सहज ही समझा नहीं जा सकता और मूलतः सब मनुष्य समान हैं, चाहे उनके बाह्य सामाजिक आकार-प्रकार, आचार-विचार कैसे भी हों। इसी ब्रह्म की स्वीकृति के कारण जो लौकिक नियम थे—कि आश्रम, वर्ण, यज्ञ, कर्मकाण्ड और विभिन्न देवतादि, जो तब तक के मनुष्य को मनुष्य से अलग करते थे—वे नष्ट हो गए। जैसे छोटे छोटे समुदाय में एक बड़े समुदाय में घुलने मिलने लगे, वैसे ही नए भारत की विकास भूमि तैयार होने लगी। अन्तर्भुक्ति इस चिन्तन से उतनी ही मिली है जितना यह चिन्तन अन्तर्भुक्ति से। पहले इन्द्र की सन्तान अपने को ऊँचा समझ कर अनास से घृणा करती थी। किन्तु इस युग में जब इन्द्र छोटा हो गया और बड़े 'ब्रह्म' ने स्थान ले लिया, तो घृणा कम हो जाना स्वाभाविक ही था।* ब्रह्म को निराकार बनाने का कारण दूसरे पक्ष में वर्गगत शोषण पर दो प्रकार का प्रभाव डाल सका। दास तथा निम्न वर्ग के लोगों ने यह अनुभव किया कि जन्म के कारण ही यह कठिनाई है अन्यथा जो प्रभु वर्ग का स्वामी है, वही हमारा है, जो आत्मा प्रभु वर्ग में है, वही हममें है। अतः दास प्रथा टूटी और समाज ने विकास किया। उच्च वर्गों ने जो अपनी बपौती समझ रखी थी, वह भावना भी टूट गई। किन्तु ब्रह्म का रूप भी इसी से निकला। आत्मा समान है, कि वह बाह्य कर्मों में बन्धी है और ब्रह्म का और समाज का कोई सीधा तादात्म्य नहीं है। अतः यह जो हो रहा है वह एक दम बदला नहीं जा सकता, इसीलिए सामन्तीय काल में भी दो वर्ग रहे शोषक और शोषित। शङ्कर ने सामन्तीय युग का ह्रास देख कर फिर इसी ब्रह्म को बिलकुल समाज संसार से अलग कर दिया था। किन्तु जब उससे काम न चला और नए संगठन की आवश्यकता हुई, जातियाँ (अब वर्णाश्रम की जातियों से तात्पर्य है) एक दूसरे के निकट आना चाहती थीं, तब पहले निर्गुण ब्रह्म ऐसा ही उठाया गया और समाज पक्ष में रामानुज ने इस ब्रह्म को सीधे मनुष्य से जोड़ दिया और उसका तादात्म्य स्थापित किया। क्योंकि बर्बर युग से सामन्तीय युग तक आने में बहुत समय लगा इसलिए यह क्रम-विकास उतना स्पष्ट नहीं हो सका, जितना छोटे से इतिहासवाले यूरोप में। यूनान और रोम में जातिवाद की जड़ें इतनी नहीं थीं

---

* कबीर ने यही तो कहा था कि हिन्दुओं और मुसल्मानो तुम जिसकी आड़ ले कर, नाम ले कर लड़ते हो, वह वास्तव में तुम दोनों के अनुमानों और प्रमाणों से परे है। वह इसी ब्रह्म के महान् अव्यक्त रूप की ओर अग्रसर हुआ था। सारे सन्तों के चिन्तन का मूल यही था।—ले०

जितनी भारत में, क्योंकि यहाँ इतिहास का प्रसार बड़ा था और जातियाँ भी अनेक थीं। यही कारण है कि यहाँ समय दीर्घ रहा है। जाति प्रथा के इस रूप का जो मूल रूप है वह यहाँ के आर्य्येतर खेतिहार समाज में पहले से था। जब कि वर्णन मिलता है कि पहले केवल ब्राह्मण था, क्षत्रिय तथा वैश्य बाद में उससे ही जन्मे हैं; हम नहीं कह सकते कि असुरों, सुमेरियनों तथा अन्य ऐसी जातियों से मिलने के परिणामस्वरूप शायद स्वयं आर्य कबीलों में यह वर्ग पैदा हो गए थे। किन्तु आज ब्रह्म नई व्याख्या चाह रहा था।

यहाँ ब्रह्म ही सब का कर्ता था। जो ब्रह्म वाणी से प्रगट नहीं होता, जिसे वाणी समझा नहीं सकती, वह ज्ञातव्य है। वाणी का आधार तो वही शब्द है जो ध्वनि और अर्थ को बताता है। किन्तु जो उसकी समस्त व्यापकता में सीमित नहीं होता, जिसे भाव या विचार पूरी तरह से अभिव्यक्त नहीं कर सकते, उसे कैसे वाणी से बताया जा सकता है। वाणी की सीमाएँ वहाँ समाप्त हो जाती हैं। वह उससे परे है। उसे और उसकी महिमन्त गरिमा को वाणी में बाँध नहीं सकते। वाणी केवल उसका आभास दे सकती है। साध्य की साधना के पथ पर उसका माध्यम इतना स्वल्प है कि वह उस पूर्ण गरिमा का अंकन ही नहीं कर सकता। वह वाणी से प्रकाशित नहीं होता। वह समस्त चित्रों और आकारों की परिसीमा के परे है। वह समय से भी निरवधि, पृथ्वी से विपुल है। किन्तु यह जो वाणी तुम प्रयुक्त करते हो, वह उसकी ही दी हुई है। वही इसका नियंता है। यदि उसने मर्यादाएँ नियत नहीं की होती, तो मनुष्य यह 'गीर्वाण' नहीं बोल पाता। वाणी ही ब्रह्म का एक अंश है। उसकी पूर्णता नहीं है। इसे जाननेवाला यही कहता है—न इदं! न इदं! यह नहीं है, यह नहीं है। नकारात्मक अभिव्यक्ति इसकी परिचायक नहीं है कि वह नहीं है, वह केवल इसको बताती है कि जिसे अपनी क्षुद्रता में मनुष्य बांध सकता है, वह यह नहीं है। जो कुछ उसके कानों में पड़ता है, मन, बुद्धि, रसना, स्वर और अर्थ की सम्मिलित अभिव्यक्ति उसको पूर्णतया नहीं बता सकतीं। मनुष्य जब तर्क करता है तब उसे अपनी बुद्धि का अहंकार होता है। अहंकार के स्थान पर यदि विश्वास भी कहें तो भी उसे उसका अस्तित्व लगता है। वह समझता है कि जिसे उसकी क्षुद्र बुद्धि समझ लेगी, या समझा सकेगी, वही सब कुछ है, तो महर्षि इससे स्वीकृत नहीं करता। उसका प्रश्न है कि तुझमें इतनी बुद्धि है ही कहाँ जो तू उसको भी अपनी वाणी में बाँध सके। वह मन से चिन्तन नहीं करता, किन्तु मन में जो तेरे संकल्प विकल्प है वह उसी के कारण है। वह आँख से नहीं देखता, किन्तु उसके कारण नेत्र देखते हैं, वह कान से नहीं सुनता, किन्तु उससे यह कान सुना जाता है। वह साँस से नहीं जीता, किन्तु उससे साँस आता जाता है, वही ब्रह्म जानने योग्य है। मनुष्य जिसे मन कहता है, जिससे वह चिन्तन करता है वह यह क्यों समझता है कि सृष्टि का रहस्य भी उसी रूप में चिन्तन करता है? यह तो मनुष्य का भ्रम है। मन की दौड़ कितनी भी हो, किन्तु वह उस अपरम्पार को केवल मन की 'प्रधावना' से तो नहीं समझ सकता। उसका सीमित बिंबीकरण, चित्रीकरण और व्याप्ति का रूप से अंकीकरण सब अपने आप में सीमित है। मन अपनी वृत्तियों के अधीन है। वह उतना स्वतन्त्र नहीं है। किन्तु जिसके विषय में महर्षि कह रहा है वह इन घेरों से ऊपर है। उसको यह वृत्तियाँ इसी प्रकार घेरे हुए नहीं हैं। कल्पना से ही जान लिए जाने योग्य वह ब्रह्म नहीं है। कल्पना मानसिक जगत् से सृष्टि पाती है, उसकी सीमाएँ उसकी अपनी सत्ता की बन्धन हैं। किन्तु वह अंश ही तो सोच सकती है। वह कितनी फैल सकती है? वह मन से अचिन्त्य है, क्योंकि मन छोटा-सा ही तो है।

इस प्रकार जिसे मनुष्य अपने द्वारा अंकित कर, जिसमें अपनी अहमन्यता का पोषण करता है, वह उसका अज्ञान है। किन्तु मन जो सोचता है, वह उसकी शक्ति है, अन्यथा मनुष्य है ही क्या? जिस ऊहापोह को वह विराट् मानता है, वह विराट् नहीं है। किन्तु उससे भी कोई विराट् है जो इस मनुष्य को विराट् अर्थात् अपनी तुलना में 'अल्प' को नियन्त्रित कर रहा है। वैज्ञानिकों ने जब कहा है कि पृथ्वी के चारों ओर का शून्य भी अपरिसीम नहीं है, वरन् उसकी भी सीमा है तो उसकी सीमा का परिगणन सहज नहीं है उसी प्रकार ब्रह्म की भी कोई सीमा नहीं है।

जिसे मनुष्य दृष्टि कहता है और जिससे देखने का तात्पर्य लगाता है, उसी दृष्टिकोण को उसकी दृष्टि पर नहीं लगाना चाहिए क्योंकि जब हम देखना कहते हैं तो नयन

सामने आता है। फिर भी हम जो देखते हैं, वह सब 'दृष्ट' उसी की शक्ति है जो पुतलियों की ताराएँ अपने भीतर बिम्ब ग्रहण करती हैं और बुद्धि तक उस बिम्ब को पहुँचा कर भाव तथा विचार को जाग्रत करती हैं। जिस प्रकार मनुष्य आँख बन्द कर के चित्रों को देखता है, और वह देख पाता है अर्थात् उस चित्रों की कल्पना का अनुभव कर सकता है। उसी प्रकार देखने के भी अनेक रूप हैं। और दुरबीन से जैसे अनन्त आकाश में वह सब दिखाई देता है जो नंगी आँखों से नहीं दिखाई देता किन्तु वह हमारे देखे बिना भी रहता है, अर्थात् वह सब जो हम नहीं देख पाते, वह भी हमारी दृष्टि से परे होकर भी रहता ही है, इसी प्रकार ब्रह्म उसमें ही सीमित नहीं है जो हम देखते हैं। हम मनुष्य हैं, हमारी शक्तियाँ सीमित हैं। अतः ऋषि कहता है कि हम सृष्टि के रहस्य को अपने व्यक्तित्व अनुमान और प्रमाणों में ही सीमित नहीं कर सकते। यह कैसा विचार है! अर्थात् मनुष्य अपने उन संकुचित दायरों को छोड़ रहा है। उसने अपनी लघुता को स्वीकार किया है। विभिन्न धर्मों की इस संकुचित सीमाबद्ध सत्ता को मनुष्य की मेधा ने अस्वीकृत कर दिया है। वह और गहन तत्वों को समझना चाहता है। अपने युग के चिन्तन के अनुकूल वह यही समझ सका है कि जो कुछ संसार में हो रहा है वह परमात्मा के कारण हो रहा है। यह उस युग का बन्धन है, युग की सीमा है क्योंकि विज्ञान की तब उतनी उन्नति नहीं हुई थी। उन्नति करनेवाले हम लोग भी तो उस सृष्टि रहस्य के मूल को नहीं बता सकते। बुद्ध ने उस विषय को सोचने से इन्कार कर दिया था, अपनी पराजय स्वीकार कर ली थी और बुद्धि के विकास का क्षेत्र ही बन्द कर दिया था। बुद्ध ने जीवन की नैतिकता को आधार बनाया था। किन्तु ब्रह्मवादी चिन्तन ने सृष्टि के रहस्य को समझने की चेष्टा की थी और समस्त जीवन को उसी के समसंगीत ढाला था। अनवरत निनाद अपनी लय गति के साथ उठ रहा है। उसकी प्रतिध्वनि पल्लव पल्लव में मर्मर कर रही है, उसका कलकल निनाद महानदियों के उच्छृंखल फेन में मधुर मधुर गूँज रहा है, कुसुमों के मधुकोषों पर आलोड़ित होकर भ्रमरावलियाँ गुंजन करतीं डोल रही हैं; और भोर की बेला में जो विहग, -जो चपल उड़ उड़ आते हैं, कलरव करते पंख खोल कर दूर दूर तक उड़ जाते हैं, वह सब क्या है? सुन्दर, भीषण, मधुऋतु, ग्रीष्म सब में सृजन और केवल संहार निरन्तर सरससाय है। वह जो है अपरूप उसी को कैसे शब्दों में कहा जा सकता है।

ऐ मनुष्य! यदि तू यह समझता है कि ब्रह्म का पूर्ण स्वरूप तू जानता है, तो निश्चय तू अल्प ही जानता है। जो तू जानता है और जो देवों में जाना जाता है, वह भी स्वल्प है। अर्थात् न तू जानता है, न वे जानते हैं, जिन्हें तू देवता समझता है। यह पृथ्वी, मेघ अग्नि, सूर्य यद्यपि तेरे लिए देवता हैं, किन्तु यह भी उस पूर्ण ब्रह्म को नहीं जानते। वह विराट् जीवन की सत्ता आन्दोलित है। उसका ही स्पन्दन इन सब में मृदु स्पन्दित है। जैसा तू जग में सीमित है, मेधा के परिमित साधन हैं, वैसे ही यह देव उसी के इंगित के केवल वाहन हैं। तू अपने अज्ञान के कारण अपने को पूर्ण समझता है। तेरे इन्द्र अश्विद्गम आदि, तेरे नाग देवता, तेरे कुबेर, वरुण आदि, तेरे रुद्र इत्यादि सब उसके ही लोकपाल हैं, चौकीदार हैं, वह क्या हैं! उसके सम्मुख यह देवता कितने लघु हैं। देख! जिन्हें तू शाश्वत समझे लघु सीमाओं में खोया था, जिनको तूने अनन्त समझ कर अब तक भार सदृश्य ढोया था, उन पर भी है एक, एक है वह ही जिसमें सब का लय है, सब से ऊपर वह है अविचल। अपनी लघुता, अपने बन्धन त्याग। आज उठ कर देख कि मनुष्य होकर तू किन लघुताओं में अपने जीवन के अमूल्य सत्यों को खो रहा है!

"यदि मन्यसे सुवेदिति दभ्रमेवापि
नूनं त्वं वेत्थ ब्रह्मणो रूपम्।
यदस्य त्वं यदस्य च देवेष्वथ
नु मीमांस्यमेव ते मन्ये विदितम्।"

जिस प्रकार छोटे छोटे देवताओं के ऊपर अल्लाह का स्वर उठा था और अरब के कबीले एक राष्ट्रीयता प्राप्त कर गए थे, अपनी बर्बर प्रथा से आगे निकले थे। अर्थात् अपनी दास प्रथा से छूट निकले थे, उसी प्रकार उससे हजारों बरस पहले भारत में यह ब्रह्म उठा था, जिसने अन्तर्भुक्ति के लिए दर्शन प्रस्तुत किया था, मनुष्य से मनुष्य की घृणा को दूर किया था। जो ब्रह्म एक दिन ब्राह्मण क्षत्रियों के यज्ञ में निहित था वह आज सर्वात्म बन कर मनुष्य के कल्याण का रास्ता बन गया था।

इसका दूसरा पक्ष था समाज की विषमता को न समझने के कारण जो अज्ञान था, वह यद्यपि इस दशा में ब्रह्म बन कर प्रगति का चिन्ह बना, किन्तु कालान्तर में जब उसे रूढ़ि के रूप में प्रयुक्त किया जाने लगा तब वह उल्टा बन्धन बन गया ।

ऋषि कहता है कि मानुसी प्रज्ञा में वह सीमित नहीं है फिर भी है अवश्य । पर यह अहंकार न कर कि तू उसे समझता है जो सब से बड़ा है । क्योंकि वह अहंकार क्षुद्रत्व का प्रतीक है । विराट् को समझने के लिए तेरे भीतर ही विशाल हृदय की आवश्यकता है शिष्य कहता है :

"नाहं मन्ये सुवेदेति
नन वेदेति वेद च ।
यो नस्तद् वेद तद् वेद
नोन वेदति वेद च ।" (केन २-२)

मैं ऐसा नहीं मानता । मैं नहीं मानता कि ब्रह्म के पूर्ण रूप को जानता हूँ । उसे मैं अपनी बुद्धि से नहीं जान सकता । वह जो बड़ा भगवान् है उससे मैं पूर्णतया परिचिंत नहीं हूँ । मैं उसे नहीं जानता । मैं यही जानता हूँ कि उसे नहीं जानता । और वही मानता हूँ कि उसे जो मैं पूर्णत्व से नहीं जानता, उसकी सत्ता को मानता हूँ कि वह है अवश्य । मैं अनन्त का अनुभव तो करता हूँ किन्तु उसे बता नहीं सकता । जो समझता है कि उसने सब जान लिया है, वह उसे नहीं जानता । और जो यह मानता है कि अभी नहीं जान सका है, वह उसे जानता है । यद्यपि पूर्ण रूप से नहीं । वह बार बार के मनन करने से जाना जाता है । जो उसे जानता है वह अमृत पद पाता है । मनुष्य आत्मा से शक्ति लाभ करता है, और ब्रह्म की विद्या से अमृत प्राप्त करता है । जो आत्मा को जानता है कि वह सबमें समान है, वह बाह्य सामाजिक बन्धनों को काटने में समर्थ होता है और जो इस विषमता को पूर्णरूपेण स्वीकार नहीं करता वह उस ब्रह्म को मानता है जो समस्त बन्धनों से परे है, सब की समानता की भूमि है, जो ही उस समस्त को चला रही है । ज्ञान द्वारा ही आत्मा मुक्त होता है और ब्रह्म को प्राप्त करता है । उसके लिए जीवन और मृत्यु के बन्धन नहीं रहते ।

"इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति
न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः
भूतेषु भूतेषु विचिन्त्य धीरा
प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ।"

(केन ।२।५)

यहीं इसी जन्म में जिसने ब्रह्म को जान लिया तो वह सत्य है । यहाँ यदि नहीं जाना तो महाहानि है । समस्त भूत में उसका चिन्तन करके धीरजन इस लोक से मर कर अमृत हो जाते हैं ।

कितना स्पष्ट है । ब्रह्म की सत्ता परलोक के लिए नहीं है, इसी जन्म के लिए है । इसी जन्म के लिए है जिसमें छोटे छोटे सत्य हैं, एक दूसरे से संघर्ष करनेवाले सत्य हैं । वे जो मनुष्य को मनुष्य से दूर कर रहे हैं । एक दूसरे के बीच खाई खोद रहे हैं । एक दूसरे से लड़ रहे हैं ।

यह जातिवाद की जड़ें काटनेवाली बात है । ब्रह्म सर्वभूत है । वह किसमें नहीं है ? माना कि आत्मा मृत्यु के बाद ब्रह्म से सम्बन्ध स्थापित करता है किन्तु उससे लाभ नहीं है । सत्य तो जीवन का सत्य है । यहीं, यहाँ ही, जीवन से ही इस बात का अनुभव करना है कि समस्त सृष्टि में वह एक ही है और सब उसके सामने समान हैं । यह वही तो है जो समस्त देवताओं से ऊपर है ।

मनुष्य मनुष्य के पास आ रहा है । वह पुराने खण्डहरों में से नए का विकास कर रहा है । समाज के परवर्ती विकास ने सामन्तीय उदय में ब्रह्म को भी मना कर दिया था । पर तब यह ब्रह्म बोल बन चुका था । अन्तर्भुक्ति समाप्त हो चुकी थी । किन्तु इतिहास की प्रगति देखने के लिए हम अपने बाबा की प्रगति को अपनी प्रगति से मुक़ाबिला करके नहीं देखेंगे । बाबा की प्रगति के लिए पर बाबा के युग की तुलना करनी पड़ेगी ।

एक ओर ब्रह्म की उसी जीवन में स्वीकृति :

"आचारलक्षणो धर्मः सन्तश्चाचारलक्षणाः" (महाभारत)

आलम ही धर्म का लक्षण है, सदाचारी होना ही सन्त का लक्षण है । शतपथ में इसी कारण तो कहा गया है :

"न श्वः श्व उपासीत को हि पुरुषस्य श्वो वेद ।"
(२-१-३-६)

कल की कौन जानता है, जो करना है आज ही कर ले । ब्रह्म को देवों पर विजय के प्रतीक रूप में कहा गया है ।

परमेश्वर ने देवों को जीत लिया और उस विजय से देव महिमा मुक्त हो गए। देव सोचने लगे कि जो थोड़ी शक्ति उसने उन्हें दी है, वह महान् है। ब्रह्म इसे समझ गया। वह उनके सामने प्रगट हुआ। परन्तु उन देवों ने यह नहीं जाना कि वह यक्ष कौन था?

"तन्न व्यजानन्त किमिदं यक्षमिति (केन ३-२)"

यह यक्ष कौन था? युधिष्ठिर से धर्म की बात यक्ष करता है और यहाँ भी देवों के सम्मुख ब्रह्म यक्ष बन कर प्रगट होता है। क्या यह सिद्ध होता है कि ब्रह्म के इस महान् चिन्तन में यक्षों के चिन्तन का गहरा प्रभाव था। अन्यथा देवों के सम्मुख यक्ष क्यों प्रगट होता! याज्ञवल्क्य संवादों में गन्धर्व ने ब्रह्म के सम्बन्ध में अनेक प्रश्न पूछे थे, इसका उल्लेख आया है। गन्धर्व भी किरात परिवार में ही है। यक्ष इन्द्र के देव युग में बड़े विलासी बताए गए हैं किन्तु संभवतः कालान्तर में जैसे जैसे अनेक समाजों का विकास हुआ वे तापस जीवन की ओर खिंचे और गीता तथा उपनिषद् के वृक्ष-ब्रह्म के प्रतीक जो यक्ष वेद में सृष्टि वृक्ष के बीच में वर्णित है, वह चिन्तन भी सम्भवतः इस प्रकार आकर अन्तर्भुक्त हो गया।

देवों ने आश्चर्य में पड़ कर अग्नि से कहा कि हे जातवेदस! तू इसको देख यह कौन है?

अग्नि उसके पास दौड़ कर गया और यक्ष ने उससे पूछा: 'तू कौन है? यह कौन है?'

'मैं अग्नि हूँ, जात वेदा हूँ।'

'तुझ में क्या शक्ति है?'

'जो पृथ्वी पर है, उस सब को मैं भस्म कर सकता हूँ।'

यक्ष ने यह सुन-कर उसके सामने एक तिनका रख कर कहा यदि तुझसे इतनी सामर्थ्य है तो इसे जला।

अग्नि ने समस्त प्रयत्न किए किन्तु वह उस यक्ष के रखे हुए तिनके को भी न जला सका। तब वह लौट आया और उसने कहा कि मैं उस यक्ष को नहीं जान सका। देवों ने तब वायु को भेजा। वायु दौड़ कर उसके समीप गया। यक्ष ने उससे पूछा: 'तू कौन है?'

'मैं वायु हूँ। मैं माता रिश्वा हूँ।'

'तुझ में क्या शक्ति है?'

'मैं जो भी भूमि पर है उस सब को उड़ा सकता हूँ।'

यह सुन कर यक्ष ने उड़ाने के लिए तिनका धर दिया। किन्तु तिनका तो वायु द्वारा नहीं उड़ाया जा सका। वायु के लौट जाने पर इन्द्र भेजा गया। परन्तु यक्ष उसके सामने न आया। छिप गया। इन्द्र जो इतना सूक्ष्म नहीं था, जितनी वायु और अग्नि थी, वह उसे देख ही नहीं सका। उस आकाश में इन्द्र को बहुश्भेभ माना उमाहैमवती नामक स्त्री मिली। इन्द्र ने पूछा: 'यह कौन है? वह यक्ष कौन है?'

उमाहैमवती, ऐमवत् अर्थात् हिमालय की पुत्री है। उमा का शब्दार्थ है उमा, न कर। यह उमा शिव की स्त्री है। वह आर्य्येतर उपासना की देवी है। शिव तपस्वी है। शिव पत्नी उमा तपस्विनी है। वह ब्रह्मचर्या में देवों को सिखाती है। वह पार्वत्य प्रदेश की उन्हीं संस्कृतियों में से है जिनमें यक्ष इत्यादि हैं। यह भी विचारणीय है।

"स तस्मिन्नेवाकाशे स्त्रियमाजगाम बहुशोभमाना
मुमां हैमवतीं, तां होवाच किमेतद् यक्षमिति।"
(केन. ३-१३)

यह वही इन्द्र है जो वेद में अन्तरिक्ष का उदरवाला है, विराट् और असीम है, महान् है, भयप्रद है। आज वह उमा से पूछ रहा है कि यह यक्ष कौन है?

"यः कुक्षिः सोमपातमः समुद्र इव पिन्वते।
उर्वीरापो न काकुदः।" (ऋ. वे. १-१-१-३-८)

वह जो प्रविणोदा शतक्रतु इन्द्र समुद्र पी सकनेवाला उदर रखता है, आज वह स्त्री से उस शक्ति के बारे में पूछ रहा है जिसे वह अपनी स्थूल आँखों से देख भी नहीं सकता? क्या प्राचीन ऋषि इस उपनिषद् को सहन कर सकता था?

उमा ने कहा: यह ब्रह्म है। इस ब्रह्म की इस विजय में तुम महिमामय बनो। तब ही इन्द्र जान सका कि यह ब्रह्म है। अग्नि, वायु, और इन्द्र इसीलिए श्रेष्ठ हैं कि वे इस ब्रह्म को पास से छू आए, उसे सब से पहले जान सके। और इन्द्र और भी श्रेष्ठ है क्योंकि वह इसे सबसे पहले जान सका। यह इन्द्र और देवों के रूपक में देववादियों के मन को सन्तोष देनेवाली बात भी हो गई।

बहुत से व्याख्याकार इसका अर्थ यों करते हैं:

इन्द्र : मन
अग्नि : आँख

वायु : कान
शुद्ध बुद्धि : उमा
ब्रह्म : यक्ष ।

इस प्रकार के अर्थ रूपक हैं। हमें उस युग को नहीं भूलना चाहिए जब यह लिखा गया होगा। कथा सीधी-सी है कि देवों में ब्रह्म ऊपर है। और सन्दर्भ से यही अर्थ लगता भी है। इस अर्थ के निकलने में कोई ऐसी झेंप की बात नहीं है जो जान बूझ कर इसे छिपा जाए। अस्तु।

आँख का झपकना और विद्युत की चमक भी ब्रह्म का आदेश हैं, उसके इंगित स्वरूप हैं। देवों में ब्रह्म इस पलक झपकने और बिजली चमकने की ही भाँति व्याप्त है। किन्तु देव उसके बिना कुछ भी नहीं कर सकते। वे उसी से संचालित हैं। मन को बराबर ब्रह्म का ही चिन्तन करना चाहिए। मन चंचल है। चलायमान है, उसे स्थिर करना परमावश्यक है।

वह ब्रह्म निश्चय प्रियनाम है। उसको प्रिय रूप जान कर ही आराधना करनी चाहिए। वह जो प्रिय रूप को जानता है उसको सारे प्राणी प्यार करते हैं।

"तद्ध तद्वनं नाम तद्वनमित्युपासितव्यं स य
एतदेवं वेदाभि हैनं सर्वाणि भूतानि संवाञ्छन्ति।"
(केन. ४-६)

यहाँ पूर्ण स्पष्ट हो जाता है। जो ब्रह्म को प्रिय रूप जानता है क्योंकि वह प्रिय है, उसमें किसी प्रकार का जाति बन्धन नहीं है, लघुता नहीं है, जो किसी उपमान या संकोच से आबद्ध नहीं है; निश्चय ही प्राणी मात्र उसे चाहता है। क्योंकि यदि सीमित देवता को मानते हैं तब तो मतभेद हो सकते हैं, परन्तु जब ब्रह्म को मानते हैं तब ऐसा कुछ नहीं है। ब्रह्म सब से परे है। और सब का है और समस्त मानवीय बन्धन उसकी सत्ता के सम्मुख हेय हैं और वही समस्त आत्माओं में है; उसी के कारण सब की आत्माएँ समान हैं; तब अपने आप प्रिय हो जाना ही उसका परिणाम है।

तप, इन्द्रिय संयम और कर्म उस ब्रह्म की प्रतिष्ठा है। वेद उसके सारे अंग हैं। सत्य उसका स्थान है। (केन. ४) ब्रह्म सत्य में रहता है। वहीं टिकता है। यही चिन्तन युधिष्ठिर ने दिया था। यही महाभारत कहती है :

"सत्यं सत्सु सदा धर्मः
सत्यं धर्मः सनातनः
सत्यमेव नमस्यते सत्यं
हि परमा गतिः।"

सत्य सज्जनों का सदा ही धर्म है। सत्य ही सनातन धर्म है। सत्य ही नमस्कार करने योग्य है। और सत्य ही परमगति है।

और सत्य सापेक्ष है। यह हमें स्मरण रखना चाहिए क्योंकि प्रत्येक युग का सत्य बदलता रहता है। वह ब्रह्म भी सत्य है। वह ब्रह्म अब कर्मकाण्ड में सीमित नहीं है, सबसे ऊपर उठ कर सत्य हो गया है। सत्य मनुष्य की सर्वश्रेष्ठ अवस्था है जिसमें वह कभी अन्धकार का अनुभव नहीं करता। यही ब्राह्मी उपनिषद् ब्रह्म का ज्ञान है।

मृत्यु भी ब्रह्म ज्ञान में बाधा नहीं डाल सकती।

हे मृत्यु! स्वर्ग लोक में भय कुछ भी नहीं है। न वहाँ तू है और न बुढ़ापे से मनुष्य डरता है। भूख प्यास दोनों के पास हो और शोक को लांघ कर मनुष्य स्वर्ग-लोक में सुख भोगता है।

वही ऐसी सीमा है जहाँ मानवी दुःखों का अन्त हो जाता है। वार्द्धक्य और मृत्यु-समान रूप से प्राणी-मात्र पर आते हैं और व्यक्ति उन्हें देख कर दुःख से डरता है। किन्तु जो मृत्यु का भय जीत लेता है उसके लिए स्वर्ग प्रारम्भ हो जाता है।

अमृत्यु लोक की प्रतिष्ठा ही यज्ञ है। वह स्वर्ग ही मुक्ति है। अग्नि उसका साधक है। कर्म ही अग्नि है। हृदय गुहा के समान है।

किन्तु आत्मा है कि नहीं यह सन्देह है। कोई कहता है आत्मा है दूसरा कहता है कि आत्मा नहीं है। आज नचिकेता पूछ रहा है कि इसमें सत्य क्या है?

यम कहता है कि इस विषय में पूर्व काल में देवों ने भी सन्देह किया था। वे भी संशय में थे। उसका जानना सुगम नहीं है। यह विषय सूक्ष्मतम है।

उसको न जानने में भी हानि ही क्या है! हे नचिकेता तू मुझ से सौ सौ बरस जीते रहनेवाले पुत्र-पौत्र माँग ले। बहुत से पशु वर में माँग। हाथी, सोना, घोड़ों को वरदान में माँग। भूमि का बड़ा भारी भाग माँग। और जितने वर्ष चाहता है, उतने ही वर्ष आप भी जीवित

रह। यह विषय तो देव भी नहीं समझ सके थे। धन और आजीविका की माँग कर। तू विशाल भूमि पर राजा बन जा। कामनाओं का उपभोग करनेवाला बन। जो भी लोक में कामनाएँ दुर्लभ हैं, उन सब को माँग ले। स्त्रियाँ, रथ और विद्यादि माँग। परन्तु मरने के बाद की न पूछ।

किन्तु नचिकेता कहता है यह मनुष्य के सुख भोग काल तक के भी नहीं हैं। वे तो इन्द्रियों के तेज को नष्ट करते हैं। सारा जीवन मुझे अल्प लगता है। मनुष्य धन से तृप्त नहीं होता। इसलिए मुझे वही बता।

वैदिक काल में यह प्रश्न कभी नहीं उठा। एक बार उठा तो केवल जिज्ञासा के रूप में। तब कवि ने नासदीय सूक्त लिखा था। और आज यह त्याग कैसा है? ज्ञान इतना महान् है कि वह न स्त्री चाहता है, न भूमि, न राजत्व। क्यों?

यह सब नश्वर है।

मनुष्य अमरता के लिए खड़ा हुआ है।

जब उसने जान लिया है कि उसके देवताओं के ऊपर एक और भी महान् शक्ति है तब वह उससे अपना तादात्म्य खोजेगा कि उसे त्याग कर उसमें जा फँसेगा जिसे वह पूर्ण रूप से देख चुका है?

१५८ ए, रामनगर कालोनी,
आगरा

—डा० रांगेय राघव
एम. ए; पीएच. डी.

अमेरिका में विद्यार्थी जीवन

अमेरिका में विश्वविद्यालय के प्रत्येक विद्यार्थी को प्रति सप्ताह ४५ घंटे कार्य करना पड़ता है। अमेरिका का औसतन विद्यार्थी और नागरिक जो भी कार्य करता है उसमें अपनी समस्त शक्ति को लगा देता है। वह मन लगा कर कार्य करता है, मन लगा कर खेलता है, मन लगा कर अध्ययन करता है और अपने आराम के समय का पूरा आनन्द उठाता है। वह कभी आलसी नहीं रहता। अमेरिका में विद्यार्थी हड़ताल करने की कभी नहीं सोचते। वे सदा कुछ-न-कुछ कार्य करने की सोचते रहते हैं। वे ऐसी संस्थाएँ चलाते हैं जो विद्यार्थियों को कार्य दिलाती रहती हैं।

—लौरेन्स बी. विल्सन

निर्गुण धारा का मूल

चारण काल की वीर गाथाओं का आकस्मिक रीति से भक्तिकालीन निर्गुण धारा के रूप में परिवर्तित हो जाना हिन्दी साहित्य की एक प्रमुख विशिष्टता, परन्तु विचित्रता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और पं. चन्द्रबली पाण्डेय इस आकस्मिक परिवर्तन का श्रेय तत्कालीन राजनीतिक परिस्थिति, विशेषतया मुसल्मानों की हिन्दुओं पर विजय को देते हैं। शुक्ल जी के अनुसार—"देश में मुसल्मानों का राज्य स्थापित हो जाने के बाद हिन्दू जनता के हृदय में गौरव, गर्व और उत्साह नहीं रह गया था और उनके सामने ही उनके देवमंदिर गिराए जाते थे, देवमूर्तियाँ तोड़ी जाती थीं और पूज्य पुरुषों का अपमान होता था, और वे कुछ नहीं कर सकते थे।...आगे चल कर जब मुस्लिम साम्राज्य दूर तक स्थापित हो गया, तब परस्पर लड़नेवाले स्वतन्त्र राष्ट्र भी नहीं रह गए। इतने भारी राजनीतिक उलटफेर के पीछे हिन्दु-समुदाय में बहुत दिनों तक उदासी छायी रही। अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान् की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था?" (हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. ६८)।

आचार्य शुक्लजी का यह तर्क सर्वथा माननीय नहीं है। प्रथम तो यह कोई आवश्यक नहीं कि राजनीतिक क्रांति से ही जनता के मानसिक उत्साह को क्षति पहुँचे, दूसरे यह भी आवश्यक नहीं कि राजनीतिक कारणों से ही धार्मिक तथा साहित्यिक क्रांति हो। विचार करने की बात है कि कबीर जैसे महाकवियों ने साहित्यिक, धार्मिक तथा सामाजिक क्रांतियों का जो संचालन किया है, उसके मूल में भारतीय चेतना थी या अभारतीय। भारतीय चिन्तन-धारा, जिसका श्रीगणेश ऋग्वेद के समय में ही हो चुका था, ऋषि-मुनियों की ज्ञान-गरिमा से परिप्लुत हो कर, मानसरोवर की ऊँचाई से एक दम कर्मकाण्ड की समतल भूमि में उतर आई और मटमैली हो गई। भगवान् बुद्ध तथा महावीर ने अपनी पवित्र, शांतिदायक वाणी से इस स्रोत को फिर एक बार लोकमंगलकारी बनाया था और इसी धारा को आगे चलकर तांत्रिकों एवं वाममार्गियों के विषाक्त प्रभाव से दूषित होना पड़ा, जिसके परिणाम-स्वरूप उसकी पहुँच केवल सामान्य जनता तक ही रह गई। शिष्ट समाज में प्रवेश न पा सकने के कारण, इस धर्म को वह प्रचार प्राप्त नहीं हो सका, जो वैदिक धर्म को मिला। भगवान् शङ्कर, कुमारिल भट्ट आदि महापण्डितों के प्रयत्न से वैदिक धर्म की फिर प्रतिष्ठापना हुई और राजपूत राजाओं का सहयोग प्राप्त कर यह धर्म अपनी चरम सीमा को प्राप्त हुआ। लेकिन फिर भी इस धर्म को जनता की सहानुभूति से वंचित ही रहना पड़ा, बल्कि, संभव है, जनता इसके बिलकुल विरुद्ध ही हो। जनता के मन की प्रतिक्रिया, सुप्तावस्था में ही सुलगती रह कर, मुसल्मानों के आक्रमण के पश्चात् द्विगुणित वेग से फूट पड़ी। इससे तो शुक्ल जी का उपरोक्त कथन असंगत ही सिद्ध होता है।

अब विचार करने की बात यह है कि इस आकस्मिक वेग का कारण राजनीतिक है, जैसा कि शुक्ल जी तथा उनके स्कूल के समालोचकों का मत है; अथवा सामाजिक, जैसा कि श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी आदि विद्वानों का विचार है। शुक्लजी का अभिप्राय है कि मुसल्मानों के आक्रमण के पश्चात् जनता के मन से गौरव, गर्व और उत्साह उठ गए और वे मुसल्मानों के अत्याचार से भग्न होकर एक-हृदय से भगवान् के लीला-गान में जुट गए। ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के सम्यक् अध्ययन से इस भ्रामक धारणा की असंगति सिद्ध हो जाती है।

मध्ययुगीन मुसल्मानी शासकों के बारे में इतनी असत्य तथा मनगढ़न्त धारणाएँ कल्पित की गई हैं कि तत्कालीन राजनीतिक तथा धार्मिक विप्लव का एकमात्र कारण उन्हीं को माना जा रहा है और कई समालोचकों ने इस भ्रामक भावना की सत्यता की परीक्षा किए बिना ही, इस पर आधारित कई सिद्धान्त स्थापित किए हैं। मुसल्मानों के इस कल्पित अत्याचारयुक्त शासन को ही धार्मिक चेतना का तथा निर्गुण पन्थ की प्रतिष्ठापना का कारण बताया गया है। लेकिन मध्ययुगीन इतिहास के सुचारु तथा पक्षपात-रहित अध्ययन से पता चलता है कि इन मुसल्मान शासकों की कई उदार नीतियाँ भी थीं। सरहद इलाक़े में महमूद ग़ज़नवी के कुछ सिक्के

प्राप्त हुए हैं जिनमें एक ओर "अव्यक्तमेकं मुहम्मद अवतार नृपति महमूद" और दूसरी तरफ़ "अयं टङ्कम महमूद पुटघटिते हिजिरियेन संवति ४१८" अंकित हैं। महमूद की सेना में हिन्दू घुड़सवारों की एक फौज थी और मुसलमानी अफ़सरों को ताक़ीद की गई थी कि किसी भी रीति से हिन्दू प्रजा की धार्मिक भावनाओं को चोट पहुँचाने का कार्य न होने दिया जाय। हाँ, यह अवश्य माना जा सकता है कि ग़ज़नवी ने सोमनाथ का मन्दिर तोड़ा है, लेकिन, जैसा कि पुरातत्ववेत्ताओं द्वारा प्रमाणित हो चुका है, उसके इस कार्य के पीछे उसकी राजनीतिक असहिष्णुता नहीं, बल्कि व्यक्तिगत अर्थलोलुपता थी। पं. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने अपने इतिहास में यहाँ तक लिखा है कि मुसल्मानी इतिहासकारों द्वारा किया गया, सोमनाथ की मूर्ति के नाश का वर्णन सर्वथा काल्पनिक और मनगढ़न्त है, तथा उनकी अहमन्यता की पराकाष्ठा है।

केवल ग़ज़नवी ही नहीं, बल्कि अन्य शासकों की भी धार्मिक सहिष्णुता के प्रमाण आजकल प्राप्त हैं। काश्मीर का शासक जैनुल आबिदीन संस्कृत का अच्छा पण्डित था। अलबरूनी ने संस्कृत के ग्रन्थों का अरबी में अनुवाद किया था, साथ ही स्वतन्त्र रूप से भी कई मौलिक संस्कृत ग्रन्थों का प्रणयन किया था। बारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध या तेरहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में किसी अब्दुल रहमान नामक कवि का लिखा एक ग्रन्थ "संदेश-रासक" प्राप्त है, जो बिल्कुल "मेघदूत" के ढर्रे पर रचा गया है। दो जैन भिक्षुओं ने इस पर संस्कृत में भाष्य लिखे, जो इस ग्रन्थ की लोकप्रियता का उदाहरण है। अमीर खुसरो, जायसी, रहीम आदि कवियों की तो हिन्दी उऋण रहेगी ही।

श्री वैजनाथ और श्री विश्वनाथ के अनुसार—"तत्कालीन धार्मिक सहिष्णुता के अनेक उदाहरणों में से एक यह भी है कि मुहम्मद-बिन-कासिम ने सिन्ध विजय के बाद भी बौद्ध मन्दिरों को सुरक्षित रहने दिया। मुल्तान में उस समय अनेक ऐसे मन्दिर वर्तमान थे, जहाँ जाकर अरब के यात्री श्रद्धा के दो फूल चढ़ाया करते थे। मुग़लों के शासन काल में सहिष्णुता की इस भावना का और भी प्रसार हुआ। बाबर ने हुमायूँ के लिए जो वसीयतनामा लिखा था, उससे हिन्दुओं के प्रति उसकी सहिष्णु नीति पूर्णतः स्पष्ट होती है। हुमायूँ के विषय में भी कहा जाता है कि चित्तौड़ की राजमाता की राखी स्वीकार करके तथा आपत्काल में स्वयं क्षति उठा कर भी उनकी सहायता करके उसने अपने भ्रातृप्रेम का अपूर्व परिचय दिया था। मुग़ल बादशाह हिन्दुओं के पर्व होली और दिवाली को बड़ी धूमधाम से मनाते थे। 'तुज़के जहाँगीरी' में लिखा है—'शनिवार के दिन दशहरा पड़ा। उस दिन शाही घोड़े खूब सजाए गए और शान से उनका जलूस निकाला गया।' आइमर एण्ड श्वेगर कम्पनी के पास एक चित्र है, जिसमें बेग़म नूरजहाँ दिवाली मनाती हुई चित्रित की गई है। चित्र पुराना है, संभवतः औरंगज़ेब के समय का; पर इस प्रसंग में वह अत्यन्त महत्वपूर्ण है। 'तुज़के जहाँगीरी' में मुग़ल बादशाह ने अपने पिता की चलाई हुई एक ऐसी प्रथा का उल्लेख किया है, जो हिन्दू मुस्लिम भ्रातृप्रेम का ज्वलन्त उदाहरण है। जहाँगीर की वर्षगाँठ के दिन साम्राज्य में पशु हत्या बिलकुल नहीं होती थी। वृहस्पतिवार और रविवार को कुर्बानी बन्द रहती थी। शेरशाह तो हिन्दू प्रजा की तीर्थयात्राओं और पर्व त्यौहारों में भी भाग लेता था। उसने स्वयं टूटे मन्दिरों का जीर्णोद्धार कराया और जज़िया कर उठा दिया। अकबर का तो कहना ही क्या! हिन्दू उसकी सहिष्णु नीति के क़ायल हैं। हाँ, औरंगज़ेब के विषय में बड़ी ऊल-जलूल बातें कही जाती हैं। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि वह सर्वथा हिन्दू विरोधी था। हाल में कुछ ऐसे फ़रमानों और जागीर सम्बन्धी दानपत्रों की खोज की गई है, जो औरंगज़ेब ने ब्राह्मणों या मन्दिरों को दिए थे। महेश्वरनाथ के मन्दिर के पुजारियों को उसने जागीरें दी थीं। मुलतान के तुतलामाई मन्दिर के लिए कल्याणदास को एक हजार रुपए देना स्वीकार किया था। उसने बनारस ज़िले के कुछ पुजारियों को जागीरें दी थीं। डा० राजेन्द्र प्रसाद ने 'खण्डित भारत' में एक ऐसी घटना का उल्लेख किया है, जिसे देखते हुए यह नहीं कहा जा सकता कि वह हिन्दुओं को बलात् मुसलमान बनाया करता होगा। शाहजहाँ ने बार बार आज्ञोल्लंघन करने के अपराध में बन्धेरा के राजा इन्द्रमणि को क़ैद कर लिया था, जिसे छुड़वाने के लिए औरंगज़ेब ने बड़ी सिफ़ारिश की। शाहजहाँ उसे इस्लाम क़बूल करने की शर्त पर छोड़ने को तैयार था, लेकिन औरंगज़ेब ने पिता को इस आशय का पत्र लिखा कि यह शर्त 'अव्यवहार्य, अबुद्धिमत्तापूर्ण और

दूरदर्शिताशून्य' है। यही नहीं, कई हिन्दुओं के बड़े बड़े ओहदों के लिए उसने अपने पिता से सिफ़ारिश भी की थी। 'रुक़ात आलमगीरी' तथा 'अदबे आलमगीरी' में इस प्रकार की पैरवी के अनेक उदाहरण मिलेंगे।'' (निर्गुण धारा, पृ० २७-२९)।

उपर्युक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि मध्ययुगीन मुसलमानी शासकों की नीति इतनी संकीर्ण नहीं थी कि धार्मिक चिन्तन-धारा में क्रान्ति हो और इसी के प्रतिक्रियास्वरूप मध्ययुगीन भारतीय जीवन में भक्ति की धारा बहे। यह निर्विवाद है कि इस दृष्टिकोण से शुक्ल जी का मत संपूर्णतया असंगत ही है।

यह तो हुई राजनैतिक पृष्ठभूमि। अब सामाजिक पहलू पर भी विचार करना समीचीन होगा। शुक्ल जी का विचार है कि मुसलमानों के आक्रमण के पश्चात् राजनीतिक अशान्ति के परिणामस्वरूप सामाजिक नियमों तथा गठबँधनों में क्षति पड़ गई और इसी का फल यह हुआ कि जनता का चिन्तन धर्म के प्रति अधिक मुड़ गया। इससे तो साफ़ दृष्टिगोचर होता है कि शुक्ल जी मानते हैं कि मुसल्मानों के आक्रमण के पूर्व भारतीय समाज की दशा काफ़ी अच्छी थी और इस शान्तिपूर्ण परिस्थिति का ध्वंस ही भक्ति धारा का प्रेरक था। लेकिन महत्वपूर्ण प्रश्न तो यह है कि मुसल्मानों के भारत में प्रवेश करने के पूर्व भारत की सामाजिक दशा कौन अच्छी थी? इसके पूर्व तो जनता के मन में गौरव, गर्व और उत्साह रहे भी होंगे, लेकिन अधिकांश जनता में नहीं। राजे-महाराजे, सामन्त-पुरोहित आदि धनाढ्य महापुरुषों में इन भावनाओं का लेशभर अस्तित्व रहा होगा, क्योंकि एक तो देश का समूचा वाणिज्य उनके ही अधीन था, दूसरे उच्च वर्ण के होने के कारण उनको सहज गौरव भी प्राप्त था। कहा जाता है कि ''अकेला रोम अपने यहाँ से हर साल ढ़ाई लाख तोला सोना या साढ़े पाँच लाख सैस्तर्स (पौने दो करोड़ रुपए) के कपड़े और इतर चीज़ें खरीदने के लिए भारत भेजा करता था।'' (हिन्दी काव्य धारा—राहुल सांकृत्यायन)। लेकिन इस द्रव्य के विनिमय में अभागी जनता का कोई भाग नहीं था और इसीलिए यद्यपि ऊपरी तौर पर भारत धन-धान्य से समृद्ध प्रतीत होता था, तथापि साधारण जनता की स्थिति दयनीय ही रही। राजाओं तथा सामन्तों के व्यय के बारे में श्री राहुल सांकृत्यायन का अभिप्राय है—''प्रजा की मेहनत की कमाई से उपार्जित ये महार्घ वस्तुएँ (सुगन्धित द्रव्य) चार पाँच दिनों में ही खर्च हो जाती थीं। इसके अतिरिक्त भी सामन्तों के भारी खर्च थे—नए नए राजमहल, क्रीड़ा-उपवन, सिंहासन, राजपलंग, मोरछल, राजमहलों की सजावट, चित्रकला, क्रीड़ामृग, सोने के पिंजड़े में बन्द शुक-सारिका, लोहे के पिंजड़े में बन्द केसरी।'' (हिन्दी काव्य धारा)।

इन सब के फलस्वरूप देश की आर्थिक स्थिति को धक्का लगा। बड़े बड़े साम्राज्यों को जिस कृषक के बल पर स्थापित किया जा रहा था, उसी कृषक को अपनी प्रतिष्ठा तथा गौरव से हाथ धोना पड़ा था। साथ ही सामाजिक कुप्रथाओं की भी कोई सीमा नहीं थी। नव विवाहिता वधु की प्रथम रात सामन्त के लिए रिज़र्व रहना तो इस काल में एक आम बात थी, जिसकी कल्पना तक आज नहीं की जा सकती। ऐसी हेय प्रथाओं की प्रतिक्रिया जनता के मन में इसके अतिरिक्त और क्या हो सकती थी कि उसमें उच्च वर्ण के कहलानेवाले सामाजिक पिट्ठुओं के प्रति विद्रोह की भावना उत्पन्न हो। तत्कालीन धार्मिक संकीर्णता के उदाहरण के तौर पर कहा गया है कि ''उस युग के नगरों की बहुत-सी सड़कें उनके लिए (नीच वर्ण की जनता के लिए) वर्जित थीं। कितनी ही सड़कों पर थूकने के लिए उन्हें अपने साथ पुरवा रखना पड़ता था।'' (हिन्दी काव्य धारा—राहुल सांकृत्यायन।) इस अत्याचार की पराकाष्ठा तो तब हुई जब विश्व-सभ्यता का मूलभूत आधार कृषक ही हरिजन करार दिया गया। इन सब का फल यह हुआ कि शोषित तथा पीड़ित जनता में एक ऐसा समुदाय तैयार हो रहा था, जिसकी ओर से विस्फोट की हर क्षण संभावना रही थी। सबसे मूलक विस्फोट हुआ निर्गुण धारा के रूप में।

अब प्रश्न यह उठता है कि इस आकस्मिक विस्फोट में मुसल्मानों के आक्रमण का भी कोई हिस्सा है या नहीं? यद्यपि मुसल्मानों का प्रत्यक्ष रूप से निर्गुण भक्ति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा था, तथापि उसकी उन्नति में इनसे पर्याप्त सहायता अवश्य मिली। निर्गुण-धारा में जाति-पाँति, अवतारवाद और मूर्त्तिपूजा के खण्डन-मण्डन आदि मुसल्मानी विचार-धाराओं के अस्तित्व से यह भ्रम हो सकता है कि यह धारा इस्लाम धर्म का ही एक रूपान्तर है; लेकिन फिर भी, असल में इस धारा के मूल में वही चिन्तन-धारा काम कर रही थी, जिसका

विशद विवेचन ऊपर किया जा चुका है। सुलगती हुई चिनगारी पर से राख उठा देने का काम भर शेष रह गया था और यह काम हुआ मुसल्मानों द्वारा। यों तो मुसल्मानों के आगमन के पूर्व ही, इस क्रांति के आगमन के पूर्व ही इस क्रांति के दो एक स्फुलिंग प्रकट हुए थे, जैसा कि तेरहवीं शताब्दी के पूर्व के सिद्धों एवं त्रांत्रिकों के काव्य-ग्रन्थों में पाया जा सकता है। वैदिक युग के भ्रष्टाचार की प्रतिक्रिया आरम्भ तो पहले ही हो चुकी थी, लेकिन उसमें अभी इतना ओज नहीं आ पाया था कि सामाजिक कुरीतियों को समूल उखाड़ दे।

निर्गुणियों के समय में यह प्रतिक्रिया बलवती हुई और कबीर आदि साधकों एवं सुधारकों के रूप में उसके प्रथम बार दर्शन हुए। इस धार्मिक तथा दार्शनिक महा–क्रांति में पूर्व दिशा से सहजयानियों एवं नाथपंथियों की साधनामूलक उपासना ने, पंजाब और सिंध के सूफ़ी दार्शनिकों की मस्त टोली ने और सुदूर दक्षिण से अलवारों की भक्ति–परम्परा ने शक्ति भर सहयोग दिया। परिणामस्वरूप इस धारा के दो स्पष्ट विभाग हो गए—सगुण-भक्ति-धारा और निर्गुण-भक्ति धारा। सगुण-धारा फिर एक बार वैदिक धर्म से तादात्म्य स्थापित कर अपना अस्तित्व सुदृढ़ करने लगी और निर्गुण-धारा अपनी पुरानी क्रांतिमूलक परम्परा पर ही रही। जनता के अन्तरतम की मूल भावनाओं का परिस्फुटन इसमें होने के कारण, यह जनता का सगुण-धारा से अधिक आश्रय प्राप्त कर सकी। इस तरह बिना मुसल्मानों के धर्म, समाज आदि से प्रभावित हुए ही निर्गुण-भक्ति की धारा अपनी भारतीयता को शुद्ध रूप में सुरक्षित कर कबीर आदि महाकवियों की वाणी के द्वारा अपनी चरमावस्था को प्राप्त हुई इसी आशय से पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने कहा है—"अगर इस्लाम धर्म नहीं भी आया होता, तो भी हिन्दी-साहित्य का बारह आना वैसा ही होता, जैसा आज है।" ('हिन्दी साहित्य की भूमिका।')

निर्गुण साहित्य में जाति-पाँति, अवतारवाद और मूर्तिपूजा का निर्ममता से खण्डन हुआ है। कुछ विद्वान् इस खण्डन-मण्डन का सम्पूर्ण कारण इस्लाम धर्म को ही मानते हैं। उनका तर्क है—"अपठित होने के कारण उनको (कबीर को) वेदों और उपनिषदों की शिक्षा का ज्ञान न था; इसलिए इतनी दूर पहुँचना उनका काम न था। उनके काल में पौराणिक शिक्षा का ही अखण्ड राज्य था, जो अवतारवाद और मूर्तिपूजा की जड़ है। इसलिए यह अवश्य स्वीकार करना पड़ता है कि ये दोनों बातें उनके हृदय में मुसल्मानी धर्म के प्रभाव से उत्पन्न हुईं।" (कबीर वचनावली—पं. 'हरिऔध'।) विचार करने की बात यह है कि सारे भारतीय धर्मों में मूर्तिपूजा को प्रश्रय मिला है या नहीं। वास्तविक तौर पर मूर्तिपूजा पौराणिक युग की देन है; उसके पूर्व उपनिषदों के युग में मूर्तिपूजा का कोई भी चिन्ह नहीं मिलता, यहाँ तक कि वैदिक काल में भी मूर्तिपूजा की महत्ता का कोई प्रमाण नहीं मिलता। इसी वैदिक तथा औपनैषिदक ढ़र्रे पर चलकर ही तो कबीर ने मूर्तिपूजा का खण्डन किया है। कबीर के दार्शनिक सिद्धान्त भारतीय हैं, यहाँ तक कि उनका ब्रह्म भी उसी तरह द्वैताद्वैत विलक्षण है जिस तरह गोरखपंथियों का ब्रह्म निर्गुण-सगुण से परे है। मतों का खण्डन करनेवाले कबीर ही पहले नहीं हुए हैं, बल्कि उनसे भी पूर्व सिद्ध-संप्रदाय और नाथपन्थ में अवतारवाद और मूर्तिपूजा की स्पष्ट शब्दों में उपेक्षा हो चुकी थी। तब यह कैसे माना जा सकता है कि इस्लामी निरीश्वरवाद ही इस खण्डन-मण्डन का प्रेरक था?

इस संदर्भ में पं. हजारीप्रसाद द्विवेदीजी का यह कथन अत्यन्त महत्वपूर्ण है—"वस्तुतः कबीर का एकेश्वरवाद उस प्रकार का था ही नहीं, जैसा मुसल्मानी धर्म में स्वीकृत बताया जाता है। इस मत के अनुसार ईश्वर समस्त जगह और जीवों से भिन्न और परम समर्थ है। कबीरदास ने स्पष्ट शब्दों में लोगों को सावधान किया है कि वह ब्रह्म व्यापक है, सब में एक भाव से व्याप्त है; पण्डित हो या जोगी, राजा हो या प्रजा, वैद्य हो या रोगी, सब में आप रम रहा है और उसमें सब रम रहे हैं। यह जो नाना भाँति का प्रपञ्च दिखाई दे रहा है, अनेक घट और अनेक भाण्ड दिख रहे हैं, सब कुछ उसी का रूप है। सारा खलक ही खालिक है, और खालिक ही खलक।... ...सही बात यह है कि जब कबीरदास राम और रहीम की एकता की बात करते हैं, तो उनका मतलब भारतीय परम्परा के 'अद्वैत ब्रह्म' को सामी धर्म के 'पैगम्बरी खुदा के साथ घुला देना नहीं होता। वे अत्यन्त सीधी-सी बात अत्यन्त सीधे तौर पर कहते हैं' कि सृष्टि के रचयिता भगवान् को यदि मानते हो, तो दो की कल्पना व्यर्थ है। एक ही परमतत्त्व को राम या रहीम कह देने से दो नहीं

हो जायगा। ("कबीर"।)

इस अवसर पर कबीर के 'अपठित' होने का तर्क और भी असंगत है। निर्गुण साधक विद्या को उतना महत्त्व नहीं देते थे, जितना कि स्वयंप्रकाश्य को। कबीर का विचार है :

"पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ, पण्डित भया न कोय।
ढ़ाई अच्छर प्रेम का, पढ़ै सो पण्डित होय॥"

इसी स्वयंप्रकाश्य के बल पर ही तो ऋषिगण अपने अपने सिद्धान्तों का प्रणयन कर सके हैं, और इसी के बल पर कबीर ने अपने सार्वभौमिक सिद्धान्त स्थापित किए हैं। इसलिए इस प्रसंग में उनके 'अपठित' होने या न होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

अस्तु, निर्गुण-साधकों ने मूर्तिपूजा आदि तत्त्वों का खण्डन इसीलिए नहीं किया कि उन पर इस्लाम धर्म की गहरी छाप पड़ी थी, बल्कि इसलिए कि वे मूर्तिपूजा, अवतारवाद और जन्म-मरण आदि को भवबन्धन का कारण मानते थे और माया में न बन्धे रहने का उपदेश देना ही तो इन साधकों का सर्व प्रधान उद्देश्य था। माना कि इनको इतनी शिक्षा प्राप्त नहीं थी कि बड़ी बड़ी पोथियों को आमूलाग्र कण्ठस्थ कर लेते, लेकिन इनमें इतनी प्रतिभा अवश्य थी कि तत्कालीन परिस्थिति के अनुकूल अपने सिद्धन्त स्थिर करते। वैसे निर्गुण पंथ के सिद्धान्त बालू पर खड़े नहीं किए गए हैं, क्योंकि उनकी जड़ें ऋग्वेद में भी स्पष्ट लक्षित हो सकती हैं। ऋग्वेद में स्पष्ट लिखा है :

"न हि त्वस्य प्रतिमानमस्त्यन्तजानेपूत ये जनित्वाः।"

अथवा

"नास्य शत्रुर्न प्रतिमानमस्ति।"

फिर तो मूर्तिपूजा का खण्डन कोई नई बात नहीं रहती। असल में मूर्तिपूजा और अवतारवाद सगुण-धारा की विशिष्टताएँ हैं। लेकिन निर्गुण–धारा में उनका कोई अस्तित्व नहीं। इसीलिए जहाँ निर्गुण-धारा में उनका निर्मम खण्डन हुआ है, वहाँ सगुण-धारा में बिलकुल विपरीत धारणा ही दृष्टिगोचर होती है। यह निर्विवाद विषय है कि निर्गुणोपासना ही उस समय की सबसे बड़ी प्राकृतिक तथा स्वाभाविक आवश्यकता थी। तत्कालीन भारतीय इतिहास के सम्यक् अध्ययन से पता चलता है कि उस समय सामाजिक विषमताएँ अपनी पराकाष्ठा तक पहुँच चुकी थीं। शूद्रों के वर्ग पर इतनी कड़ाई से अत्याचार किया जाता था कि उनसे हर क्षण प्रतिक्रिया की आशंका रहती थी। यही प्रतिक्रिया निर्गुण-धारा तथा मूर्तिपूजा, अवतारवाद, जाँति-पाँति आदि वैदिक रीतियों के खण्डन के रूप में प्रकट हुई। ध्यान देने की बात है कि निर्गुण–धारा के कवियों का बहुमत नीच वर्गों का ही है। फिर तो इस विषय में कोई संदेह नहीं रहता कि निर्गुण-धारा के इस खण्डन-मण्डन का श्रेय इस्लाम धर्म को नहीं मिल सकता, क्योंकि यह भावना बहुत ही प्राचीन काल से जनता के मन में चली आई थी और अनुकूल अवसर पाकर वह अपनी सर्वाधिक तीव्रता से प्रकट हुई थी।

सैद्धांतिक दृष्टि से निर्गुण-धारा में दो भिन्न भिन्न स्रोतों का सम्यक् विलीनीकरण स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। भगवान् बुद्ध ने मानव जाति को शांति का जो नया संदेश सुनाया, उसके मूल से वैदिक धर्म से सर्वथा भिन्न एक धर्म ही चल पड़ा। इस धर्म का मूल तत्व अहिंसा था और इसकी विशेषता यह थी कि इसमें सगुण भगवान् की अपेक्षा निर्गुण निराकार परब्रह्म को ही अधिक मान्यता प्राप्त थी। इसी कारण इस धर्म के लगभग सभी ग्रन्थों में प्रतीकों से ही काम लिया गया है, क्योंकि जहाँ कहीं परब्रह्म की पारावारता का वर्णन करना पड़ता है, वहाँ कवि की वाणी मूक पड़ जाती है, जैसा कि कबीर ने स्वयं कहा है :

"सैना-बैना कहि समझाओ गूँगे का गुड़ रे भाई।"

इसी सांकेतिक भाषा की अपनी एक रहस्यमयी शब्दावलि चल पड़ी, जिसमें मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन प्रमुख हैं और 'पंच मकार' कहलाते हैं। इन पाँचों प्रतीकों का सूक्ष्म अर्थ पं. बलदेव उपाध्याय के अनुसार यों है :

मद्य : मद्य का अर्थ यह बाहरी शराब नहीं है, प्रत्युत ब्रह्मरंध्र में स्थित जो सहस्रदल कमल है, उससे सुधा क्षरित होती है, उसे ही मद्य कहते हैं। उसी को पीनेवाला व्यक्ति मद्यप कहलाता है। यह खेचरी मुद्रा के द्वारा सिद्ध होता है। इसलिए तंत्रों का कथन है :

"व्योमपंकजनिस्यन्दसुधापानरतो नरः।
मधुपायी समः प्रोक्तरितरे मद्यपायिनः॥"
—कुलार्णव तंत्र।

"जिह्वया जलसंयोगात् पिबेत् तदमृतं तदा ।
योगिभिः पीयते तन्तु न मद्यं गौडपैष्टिकम् ।"
—गन्धर्व तंत्र ।

माँस : जो पुरुष पुण्य और पाप-रूपी पशुओं को ज्ञान रूपी खड्ग के द्वारा मार डालता है, और अपने मन को ब्रह्म में लीन करता है, वही माँसाहारी है । 'कुलार्णव' का कथन है :

"पुण्यापुण्यपशुं हत्वा ज्ञानखड्गेन योगवित् ।
परे लयं नयेच्चित्तं मांसाशी स निगद्यते ॥"

मत्स्य : शरीरस्थ इडा और पिंगला नाड़ियों का नाम गंगा और यमुना है । इसमें प्रवाहित होनेवाले श्वास और प्रश्वास दो मत्स्य हैं । जो साधक प्राणायाम द्वारा श्वास-प्रश्वास बना कर कुम्भक के द्वारा प्राणवायु को सुषुम्ना के भीतर संचालित करता है, वही यथार्थ मत्स्य साधक है । 'आगमसार' का कथन है :

"गंगायमुनोर्मध्ये द्वौ मत्स्यौ चरतः सदा ।
तौ मत्स्यौ भक्षयेत् यस्तु स भवेन्मत्स्यसाधकः ॥"

मुद्रा : सत्संग के प्रभाव से मुक्ति मिलती है और असत् संग के प्रभाव से बन्धन प्राप्त होता है । इसी असत् संग के त्याग का नाम मुद्रा है । 'विजयतंत्र' का यही मत हैं :

"सत्संगेन भवेन्मुक्तिरसत्संगेषु बन्धनम् ।
असत्संगमुद्रणं यत्तु तन्मुद्रा परिकीर्तिता ॥"

मैथुन : मैथुन का अर्थ है 'मिलना' । किसका ? सहस्रार में स्थित शिव का तथा कुण्डलिनी का अथवा सुषुम्ना का तथा प्राण का ।

"इडापिंगलयोः प्राणान् सुषुम्णायां प्रवर्तयेत् ।
सुषुम्णाशक्तिरुद्दिष्टा जीवोऽयं तु परः शिवः ।
तयोस्तु संगमे देवैः सुरतं नामकीर्तनम् ॥"
('भारतीय दर्शन' ।)

लेकिन बाद में सिद्धों ने अपनी अतृप्त वासना की तुष्टि के लिए इन प्रतीकों के स्थूल रूप ही को अधिक महत्त्व दिया, जिसके कारण 'गुह्य समाज' आदि की स्थापना हुई और धर्म के नाम पर बीभत्स और अश्लील क्रियाएँ आरम्भ हो गईं । इन्हीं अश्लील विधानों की प्रतिक्रिया के स्वरूप गोरखनाथ के द्वारा नाथपन्थ की सृष्टि हुई । गोरखनाथ ने सिद्ध-परम्परा के अश्लील विधानों का त्याग कर, उसकी सैद्धान्तिक विशेषताओं को अपनाया और जहाँ तक हो सका, सिद्धों की अश्लीलता का खण्डन किया । उन्होंने खुलकर पंच मकारों की निन्दा की :

"जोगी होई पर निन्द्या भषै ।
मद मांस अरु भाँगि जो भषै ॥

इकोतरसौ पुरिषा नरकहिं जाइ ।
सति सति भाषंत श्री गोरख राइ ॥"

"अवधू मांस भषंत दया धरम का नास ।
मद पीवत तहाँ प्राण निरास ॥
भाँगि भषंत ग्याँन ध्याँन षोवंत ।
जम दरबारी ते प्राणी रोवंत ॥"
('गोरख बानी')

गोरखनाथ की इसी परम्परा को कबीर ने अपनाया है । लेकिन नाथ पंथ में और निर्गुण धारा में जो अन्तर दृष्टिगोचर होता है, वह रामानन्द द्वारा चलाई गई भक्ति-धारा के कारण ही है । जब उत्तर भारत में सिद्धों के अश्लील कृत्यों के प्रतिक्रिया-स्वरूप गोरखनाथ की नाथ-परम्परा की स्थापना हो रही थी, तब सुदूर दक्षिण में भक्ति का स्रोत श्री रामानुजाचार्य के रूप में उमड़ा चला आ रहा था । उन्हीं की शिष्य-परम्परा में रामानन्द के द्वारा भक्ति की यह धारा उत्तर में भी पहुँची और उसने सगुण तथा निर्गुण दोनों धाराओं को समान रूप से प्रभावित किया । यह जगत्प्रसिद्ध विषय है कि कबीर रामानन्द के शिष्य थे और भक्ति की प्रेरणा उन्होंने रामानन्द से ही प्राप्त की थी । इसी कारण कबीर पर इस भक्ति-धारा का अवश्य प्रभाव पड़ा था । कबीर की रचनाओं में जहाँ एक ओर नाथ-पंथियों की रहस्यमूलक शैली में कविताएँ मिलती हैं, वहाँ दूसरी ओर प्रेम तथा भक्ति की व्याख्यात्मक कविताएँ भी मिलती हैं । इसी आशय को दृष्टिकोण में रखकर डा. रामकुमार वर्मा ने कहा है—"संत-साहित्य का आदि इन्हीं सिद्धों को नाथ-पंथियों को और पूर्ण परिपाक कबीर से प्रारम्भ होनेवाली संत-परम्परा में नानक, दादू, मलूक, सुन्दरदास आदि को मानना चाहिए ।" (हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास ।) 'हरिऔध' जी का भी यही विचार है—"यदि सूक्ष्म दृष्टि और विवेचनात्मक बुद्धि से निरीक्षण

किया जाय तो यह बात स्पष्ट हो जायगी कि जिन सिद्धान्तों के कारण कबीर के सिर पर संत मत के प्रवर्त्तक होने का सेहरा बाँधा जाता है, वे सिद्धान्त परम्परागत और प्राचीन हैं।" (हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास ।)

इस तरह निर्गुण धारा के मूल बीज जहाँ एक ओर सिद्धों और नाथपंथियों में निहित हैं, वहाँ दूसरी ओर रामानन्द की वैष्णव भक्ति-धारा में भी दृष्टिगोचर होते हैं। इससे सिद्ध होता है कि इस्लाम धर्म का इस धारा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा था, बल्कि यह धारा मूलतः भारतीय है । श्री वैजनाथ और श्री विश्वनाथ जी ने "निर्गुण धारा" में ठीक ही लिखा है : "सच पूछा जाए तो निर्गुण-धारा अपनी पूर्ववर्त्ती विचार-सरणियों की मधुकर वृत्ति से सारग्रहण है। निर्गुण-धारा, मूलतः स्वदेशी है, उसके ताने-बाने स्वदेशी हैं, उसका करघा स्वदेशी है, उसके जुलाहे स्वदेशी हैं, क्या हुआ, यदि इस भारतीय वस्त्र पर कुछ अरबी, फ़ारसी या ईरानी छींटें पड़ ही गईं, जो वास्तव में अपना अस्तित्व कब का गँवा चुकी हैं।"

—एन. वी. चन्द्रशेखर स्वामी

५६६, रामचन्द्र अग्रहार,
मैसूर

तेलुगु मुहावरे और कहावतें

पामु तो चेलिमि कत्ति तो सामु
सांप से दोस्ती तलवार से साधना ।
इनुमु विरिगिते अतक वच्चुनु गानि मनुसु विरिगिते अतक रादु
लोहा टूटने पर जोड़ा जा सकता है लेकिन मन टूटने पर जोड़ा नहीं जा सकता।
वच्चे कालमु कन्ना वच्चिन कालमु मेलु
भविष्य से भूत अच्छा ।
रोटिलो तल बेट्टि रोकलि पोटुकु वेरव वलयुना
ऊखली में सर दिया तो चोट से क्या डर ।
पैन पटारमु लोन लोटारमु
ऊपर शेरवानी अन्दर परेशानी ।
पोयिन नीळ्ळकु गट्ट लट्लु
बीते हुए पर विचार क्या करना ।
प्राणमु पोयिन मानमु दक्किन्चु कोन वलेनु
जान जाय पर मान न जाय
पोरु नष्टमु पोन्दु लाभमु
बरबाद जड़ झगड़ा, लाभ की जड मित्रता।

—आर. शङ्करय्या शास्त्री

हैदराबाद

पाँच शास्त्रीय समीक्षक

किसी भी भाषा के साहित्य की समीक्षा का मूल्यमापन उसके शास्त्रीय समालोचकों से किया जाता है। जहाँ एक ओर वाद-विशेष के पूर्वग्रह से जकड़े छायावादी, रसवादी, मनोविश्लेषणवादी तथा प्रगतिवादी समालोचक हैं; वहाँ दूसरी ओर इन तटस्थ अनुसंधानवेत्ताओं का कार्य बहुत महत्त्वपूर्ण होता है। डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, डा० धीरेन्द्र वर्मा, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, डा० सत्येन्द्र इसी कोटि के शास्त्रीय समालोचक हैं जिनके सम्बन्ध में प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक ने अपनी 'समीक्षा की समीक्षा' पुस्तक में विचार प्रगट किए थे। कथित ग्रन्थ में कुछ प्रधान शास्त्रीय अलोचक जो स्थानाभाव से न आ सके उन पर यह स्वतंत्र लेख लिख रहा हूँ।

डा० सुनीतिकुमार चटर्जी : डाक्टर सुनीतिकुमार बंगला भाषा के आरंभिक ब्रजबुलि के विद्वान् और ध्वनि विज्ञान के अनुसार उस भाषा के अध्येता के नाते विख्यात् भाषा वैज्ञानिक हैं तथा 'ऋतम्भरा में' उनके बंगला से अनूदित और कुछ मौलिक हिन्दी में समालोचनापरक निबन्ध हैं। डा० महादेव साहा तथा गोपाल हालदार के अनुसार डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या का दृष्टिकोण यद्यपि बहुत कुछ पुनर्जीवनवादी है, जैसा कि 'गोस्वामी तुलसीदास' पर उनके निबन्ध से स्पष्ट है; फिर भी एक सहृदय आलोचक के गुण उनमें विद्यमान हैं। 'कविवर तानसेन की हिन्दी कविता' नामक उनके अंग्रेज़ी निबन्ध का पहला अनुवाद 'वीणा' में छपा था जिसे प्रस्तुत लेखक ने रूपान्तरित किया था।

'ऋतम्भरा' के अधिकतर निबन्ध भाषा विषयक हैं फिर भी उनकी साहित्यिक वाग्मिता का परिचय 'भारतीय संस्कृति का सूत्रपात', 'कविवर तानसेन', 'गुसाईं तुलसीदास', 'एशिया की अध्यात्मिक एकता' आदि से मिलता है। उदारहण के तौर पर 'कविवर तानसेन' में निबन्ध में वे लिखते हैं : 'पंखियों के गाने और दक्षिणी पवन के साथ वसंत ऋतु का आनन्दमय रूप, पूरबी बयार, बादलों की घटा, बिजली की चमक, मेघगर्जन और वारिपात के चित्र, मोहक स्निग्ध ध्वनि के साथ वर्षा-ऋतु, विश्वप्रकृति को ज्योति से उद्भासित कर उषःकाल में सूर्योदय, हिमालय की गोदी से ध्यान-मग्न योगीश्वर धूर्जटी महादेव, श्री के साथ महासागर पर अनन्तशायी महाविष्णु, राधा और कृष्ण की शाश्वत अनैसर्गिक प्रेमलीला—भारतीय काव्य-साहित्य में महिमामय तथा माधुर्यमय जो भी कुछ हो,... उन सबों से तानसेन के पद मानों भरपूर हैं। प्राचीन और मध्ययुग के हिन्दू काव्य, ज्ञान, योग और भक्ति का मानों मन्थन करके जो नवनीत निकला, वह तानसेन के पदों के स्वर्ण-कटोरे में धर दिया गया है।'

(पृ० १२२)

सुनीति बाबू के अन्य बंगला निबन्ध जैसे 'फिनलैण्ड का महाकाव्य' आदि हिन्दी में अनूदित होने चाहिए।

डा. रामशंकर शुक्ल 'रसाल' : सं. १९९० में प्रकाशित 'आलोचनादर्श' में पं. रामशंकर शुक्ल 'रसाल' ने पृष्ठ ११६ पर हिन्दी में समालोचना साहित्य के विषय पर लिखा था—'इस समय वास्तव में सत्समालोचना के लिए कहीं स्थान ही नहीं। पक्षापक्ष एवं दलादल के कारण सत्समालोचक मौन ही रहते हैं। प्राचीन कवियों एवं लेखकों के विषय में तो कहने की आवश्यकता ही नहीं, आधुनिक काल के जितने भी कवि और लेखक हैं, वे प्रायः अपने को प्रारम्भ से ही महाकवि, महाविद्वान् और दिग्गज लेखक मानते हैं और अपने में सिवा सद्गुणों के किसी भी प्रकार का दोष देखते ही नहीं; और न किसी के दोष दिखाये जाने को पसन्द ही करते हैं।...तात्पर्य यह कि इस समय वास्तव में सत्समालोचना का एक प्रकार से नितान्तमेव अभाव सा है।' और पृष्ठ ११९ पर 'हिन्दी समालोचना के क्षेत्र में भी अंग्रेज़ी की समालोचना सम्बन्धी नवीन विशेषताओं एवं शैलियों का प्रभाव प्रधानता के साथ प्रगाढ रूप से पड़ रहा है।'

'उद्धवशतक' की भूमिका के रूप में वक्रोक्ति के समर्थक 'रसाल' जी सामने आये। बाद में अपने रस-विषयक एक ग्रन्थ, 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' और एक बृहद्-कोश भी हिन्दी को दिया। पुराणपन्थी होने पर भी

दो-टूक और खरी बात आधुनिक साहित्य के प्रति उन्होंने कही है।

प्रभुदयाल मीतल : 'सूर-निर्णय' (पृष्ठ ३८०). 'अष्टछाप-परिचय' में वल्लभ-संप्रदाय के विवरण-सहित आलोचनात्मक जीवनी और काव्य-संग्रह (पृष्ठ ३९९) तथा ब्रजभाषा साहित्य का नायिका भेद (पृष्ठ ४२४); तथा 'ब्रजभाषा साहित्य का ऋतु-सौन्दर्य' (पृष्ठ २८०) के विद्वान् लेखक प्रभुदयाल जी बड़े अच्छे संशोधक हैं।

उदाहरण के लिए अष्टछाप का काव्य-महत्त्व बतलाते हुए पृ. ३४७ पर वे कहते हैं : 'अष्टछाप के काव्य में काव्य-कला का आग्रह न होने पर भी ध्वनि, उक्ति और कल्पना के रूप में इसमें वे सभी गुण विद्यमान हैं, जिनके कारण कोई काव्य प्रशंसनीय कहा जा सकता है और जो श्रोता अथवा पाठक के मन पर अपना स्थायी प्रभाव जमा सकता है। अष्टछाप के काव्य में कहीं-कहीं पर काव्य-कला और भक्ति-भावना का द्वंद्व सा होता हुआ दिखलायी देता है।'

पंचम परिच्छेद 'अष्टछाप का संगीत' में भारतीय संगीत की परम्परा, विकास, हिन्दुस्तानी संगीत आदि पर लिखते हुए उन्होंने कहा है—'अष्टछाप के आठों महानुभावों में संगीतज्ञ के रूप में सूरदास, परमानन्ददास और गोविंदस्वामी की विशेष प्रसिद्धि है।...अन्य कवियों की रचनाओं को गायन योग्य बनाने के लिए उनके शब्दों में कुछ खींचा-तानी करने की आवश्यकता होती है, किन्तु अष्टछाप के पदों में राग, ताल, मात्रा आदि की सर्वोत्तम योजना है, जिसके कारण उनका गायन बड़ी सफलतापूर्वक किया जाता है। अष्टछाप की रचनाओं में काव्य-रस के साथ साथ राग-रस का भी पूर्ण परिपाक हुआ है।' (पृ. ३६६)

सहायक ग्रन्थों के आधार पर लिखे 'नायिका भेद' ग्रन्थ में वे पृ. ५९-६० पर ऐसे कवियों को निन्दा या अनादर का पात्र नहीं मानते, 'बल्कि उनकी विवशताजन्य काव्य-रचना पर सहानुभूतिपूर्वक ही विचार करना चाहिए।' यह प्रतिक्रियावाद का अनावश्यक समर्थन करने वाला दृष्टिकोण छोड़ दें तो मीतल जी का खोज कार्य बड़ा ही महत्वपूर्ण है। व्रज सम्बन्धी मौलिक अन्वेषण में वे डाक्टर सत्येन्द्र के पूरक हैं।

इस प्रकार के कार्य का अपने आप एक महत्त्व है। रीतिकालीन कवियों में भी सामाजिक आशय खोजने की इधर वृत्ति चल पड़ी है। डा. भागीरथ मिश्र और डा. नागेन्द्र ने इस सम्बन्ध में लिखा है। परन्तु उस समय समाज की कैसी ह्रासोन्मुख अवस्था थी, यह ऐसे ग्रन्थों में संकलित उदाहरणों से पता चलता है। जब जब किसी राष्ट्र या समाज का पौरुष गतिरोध में पड़ जाता है, जब कोई स्पष्ट आदर्श और जिजीविषा शेष नहीं रहती, तब तब साहित्य में एक प्रकार की विमूर्च्छना, जड़ता और सड़ाँध छा जाती है। ऊपर से कितना भी मखमली और आकर्षक रंग का होने पर भी शैवाल आखिर शैवाल है। वह पानी के रुके रहने का प्रतीक है। व्रजभाषा का रीतिकालीन श्रृंगारी काव्य ठीक ऐसा ही है।

परशुराम चतुर्वेदी : श्री परशुराम चतुर्वेदी ने 'उत्तरी भारत की सन्त परम्परा' लिख कर हिन्दी में एक बहुत बड़ा काम किया है। इसमें अनेक धार्मिक पन्थों, शाखाओं और मतवादों का विस्तार से ऐतिहासिक वर्णन दिया गया है। इस बृहद् ग्रन्थ के अलावा आपके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं : 'हिन्दी काव्यधारा में प्रेम प्रवाह', 'वैष्णव धर्म' 'संत काव्य', 'सूफ़ी काव्य संग्रह' और 'मीराबाई की पदावली।'

आपकी एक नई पुस्तक प्रकाशित हुई है : 'मध्यकालीन प्रेमसाधना'। इसमें तामिळ प्रान्त के आड़वार भक्त कवि, वैष्णवों का सहजिया सम्प्रदाय, बाउलों की प्रेमसाधना, मीराबाई पर दो लेख, जायसी, हित-हरिवंश, नन्ददास और रसखान पर एक एक लेख और पुस्तक के शीर्षक का एक लेख ऐसे १० लेख हैं। हिन्दी में तुलसी-सूर पर बहुत लिखा गया है; हिन्दी के वैष्णव भक्त कवियों पर भी बहुत सारा लिखा गया है। 'अष्टछाप' और उसके कवि मण्डल पर दीनदयालु गुप्त और नन्ददास पर उदयनारायण तिवारी का कार्य है। परन्तु दक्षिण भारत के सन्तों पर बहुत कम लोगों ने लिखा है। हम परशुराम चतुर्वेदी जी के आभारी हैं कि दक्षिण के आड़वारों और बाउलों के बारे में उन्होंने हमें इतनी ऐतिहासिक जानकारी दी। उदाहरणार्थ यह एक परिच्छेद देखिए : 'नासिक में पाए जानेवाले 'नानाघाट' के शिलालेख से पता चलता है कि 'भागवत धर्म' अपनी जन्मभूमि मथुरा प्रदेश से चल कर ईसा से पूर्व प्रथम शताब्दी तक ही दक्षिण भारत में प्रवेश कर गया था।

फिर कृष्णा 'जिले' के 'चाहना' नामक शिलालेख से यह भी प्रगट होता है कि ईसा के पीछे दूसरी शताब्दी तक यह और भी दक्षिण की ओर बढ़ गया । तथा इसी प्रकार सम्राट् समुद्रगुप्त वाली प्रशस्ति में कांजीवरम् के विष्णुगोप का नाम आने से इसके उक्त सन् की चौथी शताब्दी तक सुदूर दक्षिण तक प्रचलित हो चुकने का अनुमान किया जा सकता है । (प्रो० राम चौधरी : अर्ली हिस्ट्री आफ दि वैष्णव सेक्ट)......डा० भाण्डारकर का अनुमान है कि दक्षिण की ओर वैष्णव एवं भागवत धर्म का प्रवेश ईसा की प्रथम शताब्दी के लगभग होगा । तीसरी शताब्दी के एक नवप्रकाशित 'परिपड़ल' नामक तामिल काव्य–संग्रह से यह भी पता चलता है कि उक्त समय तक पांच राजों की अगमाश्रित तिथियों के अनुसार की जानेवाली पूजा का प्रचार सुदूर मथुरा वा मदुरा तक भी फैल गया था । (डा० कृष्णस्वामी अयंगार : अर्ली हिस्ट्री आफ वैष्णविज्म इन साउथ इंडिया)'

श्री परशुराम चतुर्वेदी की यह देन बहुत बड़ी है । उनके कार्य से सन्त काव्य का जैसे एक चरित्र-कोश और विश्व–कोश सा संदर्भ ग्रन्थ हमें मिल गया है । उनकी आजीवन तपस्या का यह फल है । उनके ग्रन्थ से भारत की मौलिक, सांस्कृतिक एकता का भी पता चलता है । वही वैष्णव संप्रदाय १४ से १७ वीं शती तक सब ओर सब प्रदेशों में पहले या बाद में एक-सी रस-सृष्टि कर रहे थे यह इससे स्पष्ट है ।

डाक्टर दीनदयालु गुप्त : 'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय' नामक ग्रन्थ के दो भाग हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि हैं । दोनों भागों के ९२२ पृष्ठ हैं जिनमें बहुत विस्तार से अष्टछाप के कवियों के दार्शनिक मत, भक्ति और प्रत्येक कवि की विस्तृत समीक्षा और काव्यालोचन का विवेचन है ।

कवियों की श्रृंगारी भावना के विषय में उनका दृष्टिकोण बताते हुए श्री गुप्त ने कहा है पृ. ६९४ पर—

''इसीलिए अष्टछाप के सूरदास और नन्ददास जैसे कवियों की रचना में थी, जिन्होंने कृष्ण-चरित्र के कथा भाग का भी किसी हद तक वर्णन किया है, भावमय स्थल ही रसात्मक हैं । इतिवृत्तात्मक स्थल नीरस हैं । जिस भक्त की मानसिक वृत्ति जिस लीला में है, उसी का उसने तन्मयता के साथ चित्रण किया है । यह पीछे कहा ही जा चुका है कि आठों कवियों ने बाह्य-विषयात्मक (Objective) शैली का अनुकरण न करके आत्म-विषयात्मक (Subjective) शैली का प्रयोग किया है । इसीलिए अष्टछाप-काव्य में हृदय को स्पर्श करने वाली द्रावक शक्ति है ।''

इस विवेचन की सबसे बड़ी खूबी है कि यह बहुत वैज्ञानिक ढंग से विषयवार, सुनियोजित ग्रन्थ है । श्री अमरनाथ झा ने उपोद्घात के अन्त में कहा है :

'श्री दीनदयाल जी ने इसमें बहुत परिश्रम किया है । और जहाँ कहीं भी इस विषय पर सामग्री मुद्रित, हस्तलिखित मिल सकी है उसका उपयोग किया है । ब्रज का भौगोलिक वर्णन, अष्टछाप के समय की राजनीतिक और सामाजिक दशा का वृत्तान्त, भिन्न भिन्न सम्प्रदायों की विवेचना, कवियों का जीवन चरित्र, कवियों की रचनाओं की समीक्षा, पृष्ठिमार्ग का विवरण, वल्लभ-संप्रदाय और इन कवियों के दार्शनिक विचार तथा भक्ति—इससे विदित होगा कि किस प्रकार से यह अध्ययन सर्वांग पूर्ण है । मुझे विश्वास है कि यह ग्रन्थ विद्वानों के आदर का पात्र होगा ।'

इस ग्रन्थ का सब से महत्वपूर्ण अंश 'पृष्ठभूमि' है जिसमें दार्शनिक उपासना सम्बन्धी सांस्कृतिक इतिहास के सूत्र बड़ी खोज-बीन के साथ जमा किए गए हैं । इस प्रकार से यह ग्रन्थ वल्लभ-सम्प्रदाय पर एक छोटे से विश्वकोश या संदर्भ-ग्रन्थ का काम करता है । ग्रन्थ में अनुसंधान और सफलता विशेष हैं । मौलिक उद्भावना उतनी विशेष नहीं है ।

आल इंडिया रेडियो,
नागपुर

—प्रभाकर माचवे

बहुत भद्दी और बहुत सुन्दर स्त्रियों के सामने उनकी बुद्धि की प्रशंसा और बीच के रूप की स्त्रियों के सामने उनके रूप की प्रशंसा करनी चाहिए ।

—लार्ड चेस्टरफ़ील्ड

मुक्त छन्द और हिन्दी कविता

मुक्त छन्द हिन्दी कविता की अधुनातन विशेषता है। प्रारम्भ में इसका बड़ा कड़ा विरोध हुआ और इसको भिन्न भिन्न नाम दिए गए। केचुआ छन्द, रवड़ छन्द, कंगारु छन्द आदि इसके बचपन के नाम हैं। कहते हैं जिस वस्तु को जितना अधिक दबाओ वह उतनी ही जोर से ऊपर आती है। ठीक उसी तरह मुक्त छन्द के विकास में जितनी अधिक बाधाएँ उपस्थित हुईं आज उतना ही अधिक उसका विकास हुआ दिखाई देता है। आज हिन्दी के किसी भी पत्र पत्रिका को उठा लीजिए लगभग एक चौथाई रचनाएँ इस छन्द में मिल जाएँगी। ऐसे कवि कम हैं जिन्होंने मुक्त छन्द में रचना नहीं की। हिन्दी के किसी भी युग में कोई भी छन्द इतना लोकप्रिय नहीं हुआ

परन्तु प्रश्न तो यह है कि क्या मुक्त छन्द भी कोई एक छन्द है? अकसर लोगों को कहते सुना जाता है कि मुक्त छन्द और छन्द मुक्त हिन्दी कविता में अन्तर होता है। छन्द मुक्त का अर्थ होता है कि कोई छन्द ही न हो। किन्तु मुक्त छन्द का तो एक प्रकार का छन्द विधान रहता है। उसके भी नियम होते हैं। किन्तु इसका छन्द विधान क्या है? इसके नियम क्या हैं? इन प्रश्नों का उत्तर या तो मौन से मिलता है या कुछ लोग यों भी कहते हैं कि अभी इसका पूर्ण रहस्य निराला जी ही जानते हैं। इस प्रकार मुक्त छन्द काव्य की एक प्रवृत्ति विशेष के रूप में न रह कर कवित्त, सवैया, दोहा, चौपाई, बरवै, रोला आदि छन्दों की तरह एक छन्द के रूप में रूढ़ हो गया है। संभव है कोई छन्दशास्त्री इसका लक्षण निर्धारित करे।

कुछ लोगों का कहना है कि मुक्त छन्द में कोई छन्द तो नहीं रहता पर "लय" अवश्य रहती है। और कविता के लिए "लय" की ही आवश्यकता है। किन्तु यह तर्क भी है वैसा ही निस्सार है क्योंकि पहली बात तो यह है कि छन्द का अर्थ ही बन्ध है। फिर मुक्त है तो बन्ध कैसा? और छन्द (बन्ध) तो मुक्त कैसा? और फिर मुक्त छन्द को भी "लय" और "गति" के बन्धनों से छुटकारा नहीं। जहाँ साधारण छन्दों में और मात्राओं तथा वर्णों के बन्धन हैं वैसे ही यहाँ "गति" "लय" के। फिर भावना मुक्त कहाँ हुई? और वस्तुतः विचार किया जाए तो गति और लय के बन्धन के प्रकार से छन्द के ही बन्धन हैं। चाहे उन्हें शास्त्रीय रूप दिया गया हो या नहीं। क्योंकि छन्द स्वयं लय की अनुभूति का शास्त्रीय रूप है और उससे पृथक उसका कोई अस्तित्व नहीं।

मुक्त छन्द के सम्बन्ध में विचार करने के पूर्व आवश्यकता इस बात की है कि काव्य, लय और छन्द के पारस्परिक स्वरूप को ठीक तरह से समझ लिया जाए। काव्य, लय और छन्द के सम्बन्ध में ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर हमें इस सम्बन्ध में पर्याप्त जानकारी मिलती है। आदिकवि वाल्मीकि का हृदय जब तमसा तट पर व्याध द्वारा नर क्रौञ्च का वध देख कर क्षुब्ध हो उठा था, उस समय भावमयी वाणी उनके मुख से निकल पड़ी थी :

> "मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः
> यत्क्रौञ्चमिथुनेदेकमवधीः काममोहितम् ॥"

इस श्लोक के कह चुकने पर महर्षि के मन में कुछ विचार उत्पन्न हुए और उन्होंने अपने शिष्य भारद्वाज से कहा :

> "पादवद्धोऽ क्षरस्तंत्रीलयसमन्वितः ।
> शोकार्त्तस्य प्रवृत्तो मे श्लोको भवतुनान्यथा ॥"

देखो यह श्लोक मैंने शोकार्त हो उच्चरित किया है। इसमें समान अक्षरों से युक्त चार वर्ण हैं तथा यह वीणा के लय पर भी गाया जा सकता है। अतः यह मुझे यश प्रदान करनेवाला हो।

आदिकवि के उद्धरण से यह स्पष्ट है कि इस (अनुष्टुप) काव्य के इस प्रथम छन्द का लक्षण निर्धारित होने के पूर्व ही वीणा की लय निश्चित हो चुकी थी। वीणा पर गाए जाने के कारण अंग्रेज़ी कविता के एक बड़े भाग को "लीरिक" की संज्ञा मिली है।

यदि लय पर विचार करें तो ज्ञात होगा कि उसका

आधार प्रकृत और मानव संघर्ष में मानवीय श्रम द्वारा उद्भूत स्वर और ध्वनियों की गति है। उसका स्वरूप जातीय तथा चेतना सामूहिक होती है। उसका सम्बन्ध जीवन की समग्रता से रहता है। जार्ज टामसन ने लिखा है :

"व्यापक रूप में लय की परिभाषा यों की जा सकती है : ध्वनियों की श्रृँखला जो अवधि और गति के सुनियोजित व्यवधान से निर्मित हो। निस्सन्देह उसका मूल उद्गम शारीरिक है—कदाचित् उसका सम्बन्ध हृद्गति से है। उस स्तर पर वह एक ऐसी वस्तु है जिसका पशुओं के साथ मनुष्य सहभागी होता है। यहाँ लय के भौतिक कारणों से हमारा प्रयोजन नहीं है, चाहे वे कोई भी हों, परन्तु मनुष्य ने उसे कौन सा रूप दिया है यही विचारणीय है। मेरा यह तर्क है कि लय का उद्गम उत्पादन के साधनों से हुआ है।"*

ऊपर दिए हुए आदि कवि के तथा जार्ज टामसन के उद्धरण से यह स्पष्ट है कि लय का निर्माण छन्द की कल्पना के बहुत पूर्व हो चुका था। हम देखते हैं कि छन्दों में भी एक प्रकार की लय पाई जाती है। वस्तुतः यह लय ही छन्दों की आधार भूमि है, जिस पर पदों के लक्षण निर्धारित किए जाते हैं। लय के सम्बन्ध में कॉडवेल का विश्लेषण अत्यन्त सारगर्भित एवं विचारोत्तेजक है। वे लिखते हैं :

"शरीर में कुछ प्राकृतिक सामयिकों (नाड़ी स्पन्दन, श्वास आदि) के कारण जो बाह्य घटना के आकस्मिक स्वरूपों और अहं में विभाजक रेखा खींचते हैं, जीव अपने को विषयी समझ कर समय का विशिष्ट और प्रत्यक्ष प्रकार से अनुभव करने लगा। अतः प्रत्येक लययुक्त गति या कार्य वातावरण के मूल्य पर हमारी चेतना के क्षेत्र के अवयवी तत्वों को स्फुरित करते हैं और एक विशेष प्रकार की अन्तर्मुखी प्रवृत्ति को जन्म देते हैं जिन्हें मैं भावात्मक अन्तर्मुखी प्रवृत्ति कहूँगा और यह उस बौद्धिक अन्तर्मुखी प्रवृत्ति से भिन्न होती है जो गणितसम्बन्धी समस्या पर विचार करते समय उद्बुद्ध होती है। वहाँ लय का कोई प्रश्न नहीं उठता।"×

लय की यह भावपरक अन्तर्दृष्टि स्वयं में एक सामाजिक क्रिया है। यह मनुष्यों को एक सहयोग के सूत्र में गूँथती है। इस प्रकार से एक स्वाभाविक सामूहिकता वैयक्तिकता की चेतन क्रिया का विरोध करती दिखाई देती है। दूसरे प्रकार से यों कह सकते हैं कि इकाई के समष्टिगत स्वरूप का इकाई के व्यष्टिगत रूप से विरोध होता है जो कि यथार्थ और मानवीय जीवन-धारा में परिवर्तन उपस्थित करता है।

लय के इस महत्व को दृष्टि में रखते हुए हमें लय का छन्द तथा काव्य से पारस्परिक सम्बन्ध देखना है। यह हम पहले ही कह आए हैं कि छन्दों की आधार-भूमि ही लय है। और उसी के आधार पर मात्राओं तथा वर्णों का विधान होकर छन्दों का निर्माण होता है। और इस प्रकार छन्द स्वाभाविकता (लय) का शास्त्रीय रूप है। दूसरे शब्दों में हम इसे जीवन की स्वाभाविक प्रवृत्ति का कृत्रिम बन्धन भी कह सकते हैं। अब जहाँ तक काव्य का सम्बन्ध है लय उसके लिए आवश्यक है। प्रथम तो मानव की प्रवृत्ति ही लयात्मक है; दूसरे जैसा कि कॉडवेल ने कहा है लय मानव सुलभ भावुकता प्रकर्ष में सहायक होता है। साथ ही भाषा की दृष्टि से विचार करें तो कह सकते हैं कि भाषा का बोधात्मक पक्ष ही लय सम्भूत है और तभी वह स्मरणीयता का गुण प्राप्त कर सकी है। इस प्रकार हम देखते हैं कि लय एक जीवन्त शक्ति है जिसका भाषा पर आरोप करके छन्द का नियमन किया जाता है।

अतः यह स्पष्ट है कि लय, छन्द और काव्य परस्पर एक सूत्र में अनुस्यूत हैं। छन्द एक ऐसा कोई बाह्य विधान नहीं जो ऊपर से लाद दिया गया हो। और न उसका आधार अटकलबाजी ही है। वरंच उसका भी एक तात्विक आधार है। खेद है विद्रोह एवं अनुकरण

---

*"Rhythm may be defined in its broadest sense as a series of sounds arranged in regular sequence of pitch and time. Its ultimate origin is no doubt physiological--perhaps conneted with the heart beat. But at that level it is something that man shares with the other animals. We are not concerned here with the physical germ of rhythm, whatever it may be, but with what man made of it. I am going to argue that human rhythm originated from the use of tools."

Marxism and Poetry : Page 14-15

×"The body had certain natural periodicities (Pulse-beat, breath etc.) which

की धुन में हमारे कविगण उसे बन्धन मान बैठे। छन्द में भाषा के माध्यम से लय का नियमन किया गया है और इस प्रकार उसका दृष्टिकोण जीवन में संरक्षणात्मक है और संरक्षण करना विकास को रोकना कदापि नहीं है। सामाजिक विकास के साथ ही जीवन की प्रक्रिया में परिवर्तन होते हैं। नई लय व धुन का जीवन में प्रवेश होता है। उसके आधार पर नूतन छन्दों का निर्माण किया जा सकता है। ऐसे टेकनिक को अपनाया जा सकता है जो आज के जीवन की विभीषिका को अभिव्यक्त कर सके। अस्तु, इस विषय को यहीं समाप्त कर हम मुक्त छन्द की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर विचार करेंगे।

हिन्दी में मुक्त छन्द का प्रवेश एक क्रान्तिकारी योजना के रूप में हुआ। प्रारम्भ में इसके प्रयोग प्रसाद जी कर चुके थे और उसके बाद निराला जी ने इसे आगे बढ़ाया। आज भी निराला जी ही इसके आचार्य माने जाते हैं। वस्तुतः यह हिन्दीवालों की मौलिक प्रतिभा की सूझ नहीं है। वरन् इसके कई वर्ष पूर्व बंगाल और उसके पूर्व अंग्रेज़ी में इसके काफ़ी प्रयोग हो चुके थे।

अंग्रेज़ी में इसके पहले पहल प्रयोग अमेरिकन कवि वाल्ट ह्विटमॅन ने किए। उनकी कविताओं का प्रथम संग्रह जब "घास की पत्तियाँ" (Leaves of grass) के नाम से प्रकाशित हुआ तो साहित्य संसार में एक बड़ी हलचल पैदा हो गई। कवि का इस सम्बन्ध में वक्तव्य था कि जिस प्रकार 'घास की पत्तियाँ' समान नहीं होतीं उसी प्रकार कविता की भी, जो कि प्राकृतिक रचना ही है, पंक्तियों के लिए यह आवश्यक नहीं कि वे समान आकार की ही हों। अंग्रेज़ी साहित्य में आगे चल कर इसी मुक्त छन्द को लेकर संवेदनावाद का जन्म हुआ। किन्तु उसकी दूरारूढ़ अर्थ यात्रा साधारण पाठक की बुद्धि से बाहर की चीज़ हुई और फलतः यह नया ऊँट गाँव छोड़ कर आगे चल दिया। अँग्रेज़ी के संसर्ग से बंगला कविता में मुक्त छन्द का प्रवर्तन हुआ। और वहाँ से निराला जी ने उसे हिन्दी में प्रतिष्ठित किया।

मुक्त छन्द का प्रयोग होने के पहले हिन्दी में भिन्न तुकान्त कविता का होना तो प्रारम्भ हो गया था। और मात्रिक तथा वर्णिक दोनों ही प्रकार के छन्द काव्य रचना में प्रयुक्त किए जाते थे। हिन्दी में मुक्त छन्द के उन्नायक निराला जी हैं। इसकी स्थापना करते हुए उन्होंने छन्द-क्रिया के प्रमुख तत्वों की ओर अपनी भूमिकाओं में साहित्यिकों का ध्यान आकर्षित किया और उन्हीं तत्वों पर मुक्त छन्द के लिए भूमि का निर्माण किया। निराला जी का प्रारम्भ में पर्याप्त विरोध हुआ। परन्तु बाद में हिन्दी कवियों ने उसे अपनाना प्रारम्भ कर दिया। अब प्रायः विरोध शांत हो चुका है और आवश्यकता है इस बात की कि मुक्त छन्द का तात्विक दृष्टि से विश्लेषण किया जाए। आज उसके सम्बन्ध में फैली हुई धारणाओं का भी अन्त होना आवश्यक है। एतदर्थ हमें मुक्त छन्द की मूल स्थापनाओं को जानना अत्यन्त आवश्यक है। इस हेतु निराला जी का वक्तव्य पठनीय है। निराला जी ने मुक्त छन्द की आवश्यकता तीन रूपों में मानी है : '

(१) उनका कहना है कि मुक्त भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए छन्द भी मुक्त होना जरूरी है। जिस प्रकार कर्मों के बन्धन से छुटकारा पाना मनुष्य की मुक्ति है, उसी प्रकार छन्द के शासन से छुटकारा पाना ही कविता की मुक्ति है।

(२) मुक्त छन्द में प्रवाह अधिक रहता है। भाव की उन्मुक्तता के लिए यह आवश्यक भी है।

(३) मुक्त छन्द में ओज और पौरुष रहता है छन्द में नहीं। "वह कविता की स्त्री सुकुमारता के विरुद्ध कवित्व का परुष गर्व है!" इसी धुन में उन्होंने मुक्त छन्द को सिंधुराग कहा है।

अस्तु, निराला जी द्वारा प्रस्तुत किए गए तीनों तर्कों पर विचार करना अत्यन्त आवश्यक है। निराला जी के कथन "भावों की मुक्ति छन्द की भी मुक्ति चाहती है" का कोई तात्विक आधार नहीं। इस कथन का

---

form a dividing line between the casual character of outside event and ego, and make it appear as if we experience time subjectively in special and direct manner. Any rhythmical movement or action therefore, exalts the physiological component of our concious field at the expense of the enviornment. It tends to produce introversion of a special kind, which I will call emotional introversion and contrast with rational introversion, such as takes place when we concentrate on a mathematical problem; there rhythm would be out of place"--(*Illusion & Reality*)

आधार ही अलंकार और अलंकार्य (अर्थात् मैटर और टेकनिक) का कल्पित पृथक्त्व है। चाहे क्रोचे को गालियाँ देकर सहजानुभूति को ठुकरा दीजिए किन्तु कलागत जीवन सत्य को झुठलाया नहीं जा सकता। जब कि सौंदर्य की चेतना का आधार ही एक विकास पर आधारित है फिर अनुभूति के व्यक्ति खण्ड को वस्तु और शैली में विभाजित कर दोनों को एक ही चेतना की उद्भूति न मानना कदापि संगत नहीं। अस्तु, निराला जी के इस कथन की एक साहित्यिक पृष्ठभूमि है और वह यह कि भारतीय साहित्य में छन्द को सदैव आरोपित माना गया है जब कि शैली वस्तु पर ऊपर से आधारित नहीं वरन् उसका शरीर है, और शरीर के बिना प्राण का अस्तित्व ही क्या। व्यवहारिक दृष्टि से निराला जी का यह कथन संगत नहीं दिखाई देता। स्वयं उन्हीं को हम इस कसौटी पर कस सकते हैं। निराला जी की ये पंक्तियाँ देखिए :

"भारत के नभ का प्रभा पूर्य
शीतलाच्छाय सांस्कृतिक सूर्य
अस्तमित हुआ तमस् तूर्य दिङ्मण्डल"

अथवा

"वह उस शाखा का वन विहंग
उड़ गया नील नभ निस्तरंग
छोड़ता रंग पर रंग, रंग पर जीवन"

यहाँ विचारणीय है कि सारी भावनाएँ छन्द के माध्यम से व्यक्त हुई हैं। तो फिर क्या ये भाव पराधीन हैं। यदि हैं तो फिर किस प्रकार ? ऐसा कहीं भी प्रतीत नहीं होता जहाँ भाव प्रकट न हो रहा हो। फिर मुक्ति किसकी ?

दूसरे, निराला जी का कथन है कि मुक्त छन्द में प्रवाह अधिक रहता है किन्तु वस्तुतः प्रवाह सदा से लय की दीर्घता पर अथवा गति पर अवलम्बित है। आज सैकड़ों की तादाद में प्रकाशित होनेवाली मुक्त छन्द की रचनाएँ क्या प्रवाह-शून्य हैं ? फिर स्वर की विराटता तथा प्रवाह का उदात्त होना तो छन्द के चुनाव पर अधिक अवलंबित है। उदाहरण के लिए निम्न छन्द के प्रवाह की तुलना मुक्त छन्द की किसी भी कविता से की जा सकती है।

"पागुर करती छाँही में, कुछ गम्भीर अधखुली आँखों से
बैठी गायें करती विचार
सूनेपन का मधु गीत आम की डालों में
गाती जातीं मिलकर ममाखियाँ लगातार"

निराला जी की तीसरी दलील और भी दिलचस्प है। वह है बिना किसी कारण के मुक्त छन्द की कविता में ओज, गुण तथा पौरुष की कल्पना करना। इस तर्क की निस्सारता निराला जी की ही कई कविताओं से सिद्ध हो सकती है। 'जुही की कली' में कैसा पौरुष है, समझ में नहीं आता। और छन्द-बद्ध कविता किस प्रकार पौरुष-हीन कविता है यह निराला जी ने नहीं बतलाया। क्या मुक्त छन्द के प्रयोग के पहले का सारा साहित्य पौरुष-हीन है ?

अस्तु, इस प्रकार से विचार करने पर प्रतीत होता है कि निराला जी की मुक्त छन्द के पक्ष में दी हुई दलीलें कोई अर्थ नहीं रखतीं। फिर निराला जी मुक्त छन्द के लिए लय की उपस्थिति अनिवार्य मानते हैं। साथ ही 'जुही की कली' का विश्लेषण करते हुए उन्होंने उस कविता की प्रथम पाँच पंक्तियों को कवित्त छन्द की तरह बतलाया है। इस प्रकार आगे कहा है कि मुक्त छन्द कवित्त छन्द की बुनियाद पर ही सफल हो सकता है। साथ ही "परिमल" की भूमिका में भी उन्होंने कहा है कि मुक्त छन्द में प्रवाह कवित्त छन्द-सा ही जान पड़ता है। इसी आधार कर डा० रामविलास शर्मा भी मुक्त छन्द के लिए कवित्त के पद की इकाई अनिवार्य मानते हैं। वे लिखते हैं: "मुक्त छन्द होते हुए भी वह एक छन्द है। उसमें गति और प्रवाह की कोई इकाई होनी चाहिए। निराला जी के वर्णिक मुक्त छन्द में कवित्त का एक चरण अक्सर इकाई का काम करता है। जैसे 'जागो फिर एक बार' में।" (हंस) इस उद्धरण से प्रकट होता है कि मुक्त छन्द के भी दो भेद होते हैं। (१) वर्णिक और (२) मात्रिक। और वर्णिक छन्द में कवित्त की इकाई रहती है जैसे 'जागो फिर एक बार' में तथा 'जुही की कली' की प्रथम पाँच पंक्तियों में। किन्तु, इस मुक्त छन्द में कवित्त की इकाई किस प्रकार से है वह न तो डा० रामविलास शर्मा ने स्पष्ट किया है न निराला जी ने ही। क्या इस इकाई से तात्पर्य जैसा कि डाक्टर साहब ने कहा है ध्रुवपद से है ? जो प्रमुख पंक्ति कई पंक्तियों के बाद अपनी तुक पाकर दोहरा दी जाती है जैसा कि 'जागो फिर एक बार' में तो फिर इस प्रकार की इकाई 'जुही की कली' में कहाँ ? और 'यमुना के प्रति' 'तोड़ती

पत्थर' एवं 'पंचवटी प्रसंग' आदि कविताओं में जिनमें कि इस प्रकार की इकाई का सर्वथा अभाव है मात्रिक मुक्त छन्द हैं ? यह तो हुआ निराला जी का काव्य की दृष्टि से विश्लेषण। आगे हमें यह भी देखना है कि निराला जी के बाद हिन्दी कविता में मुक्त छन्द के जो प्रयोग हुए हैं उसमें किसी प्रकार के एक नियम का पालन नहीं किया गया है। प्रायः प्रत्येक कवि ने नियम मुक्त रूप से ही इस छन्द को अपनाया है। हाँ, उसे छन्द मुक्त न कह कर कहा मुक्त छन्द ही है। अतः सैद्धान्तिक दृष्टि से इस छन्द का कोई सर्वमान्य स्वरूप आज तक उपस्थित नहीं हो सका।

मुक्त छन्द की उद्भावना को हम इतिहास के आलोक में देखें तो ज्ञात होगा कि जो लोग मुक्त छन्द को केवल अँग्रेज़ी की देन समझते हैं वे इसकी सामाजिक पृष्ठभूमि से प्रायः अपरिचित हैं। मुक्त छन्द का प्रयोग जिन दिनों प्रारंभ हुआ उन दिनों द्विवेदी युग अपनी चरम स्थिति पर था। यदि द्विवेदी युग की चेतना पर विचार किया जाए तो ज्ञात होगा कि भारतेन्दु से प्रारम्भ हुए बुर्जुआ आन्दोलन का यह एक विकसित रूप था। कम्पनी, शासन के साथ ही भारतीय जीवन में यन्त्र युग का प्रवेश होता है और फलतः भारत में उत्पादन की सामूहिक क्रिया का प्रारम्भ हो जाता है। अस्तु, उत्पादन के प्राचीन सामन्ती सम्बन्धों का टूटना तथा नवीन उत्पादन सम्बन्धों का निर्माण होना भी प्रारम्भ होता है। एक प्रकार से यह मध्य-युग की समाप्ति तथा आधुनिक युग की संधि का स्थल है। इधर पश्चिमी साम्राज्यवाद की छाया में भारतीय पूँजीवाद का भी अप्राकृतिक रूप से विकास होना प्रारम्भ होता है। इस नवोदित पूँजीवाद को एक ओर तो समाज के सामन्ती ढाँचे से संघर्ष करना पड़ता है और दूसरी ओर विदेशी पूँजीवाद की चरम परिणति साम्राज्यवाद उसके विकास को रोकने का प्रयास करता है। इस प्रकार के अन्तर्विरोधों से युक्त नवोदित पूँजीवाद एक तीसरे वर्ग, मध्यम वर्ग को जन्म देता है। यह मध्यम वर्ग मूलतः विद्रोही है। राजनीति की ही भाँति साहित्य का नेतृत्व भी यह वर्ग अपने हाथ में ले लेता है। साहित्य में यह पुरानी रूढ़ियों पर चोट करता है। द्विवेदी युग में इस विद्रोह का स्वर सबसे ऊँचा था। रीतिकाल की संपूर्ण प्रक्रिया का विरोध, और उसके साथ ही व्रज भाषा का भी, इस युग की प्रमुख विशेषता है। मुक्त छन्द में भी यही बुर्जुआई विद्रोह दृष्टिगत होता है। और इसी रूप में उक्त विद्रोह की चरम परिणति हुई है। जिस समय अँग्रेजी साहित्य में मुक्त छन्द का प्रारम्भ हुआ वहाँ भी यही परिस्थितियाँ थी। कॉडवेल ने स्पष्ट लिखा है :

> "बुर्जुआ अँग्रेजी काव्य के आन्दोलन पर विचार करते हुए हम छन्द की टेकनिक के प्रति बदलते हुए दृष्टिकोण का पहले ही अध्ययन कर चुके हैं और यह स्पष्ट है कि उसमें 'मुक्त छन्द' का आन्दोलन उस अन्तिम स्थिति को प्रतिच्छायित करता है-जब अराजकतावादी बुर्जुआ सारे सामाजिक सम्बन्धों के प्रति अंधा बन कर उनके अस्तित्व को नकार देता है, क्योंकि मनुष्य अपने सामाजिक सम्बन्धों पर अपना अधिकार सम्पूर्णतया खो चुका है।"+

इस प्रकार सामाजिक पृष्ठभूमि पर विचार करने पर ज्ञात होगा कि मुक्त छन्द के मूल में जो प्रवृत्ति पाई जाती है वह कभी भी स्वस्थ एवं विकासोन्मुखी नहीं रही है और निराला जी के व्यक्तित्व के नाते ही कोई इसे प्रगतिशील मानले तो फिर बात ही दूसरी है। यह एक अराजकतावादी प्रवृत्ति थी—जिसके मूल में विश्लेषण करने पर केवल रूढ़ि-विद्रोह की ही भावना है। प्रगतिशील कहे जाने वाले कवि आज भी इसके शिकार हैं। श्री शिवमंगल सिंह "मुमन" आज भी इसके हामी हैं। (देखिए "आजकल", सितम्बर में प्रकाशित प्रयोगवाद पर रेडियो वार्तालाप।)

यह तो हुआ ऐतिहासिक विश्लेषण। पर आज की स्थिति भिन्न है। न तो मुक्त छन्द का विरोध ही किया जा सकता है और न कोई सामान्य स्वरूप भी निश्चित

+"We have already studied in outlines these changes in attitude towards the metrical technique during the movement of Bourgeois English Poetry, and it is obvious that the final movement towards FREE VERSE reflects the final anarchic bourgeois attempt to abandon all social relations in a blind negation of them, because man has completely lost control of his social relationships."

(Illusion and Reality)

होगा, यह आशा की जा सकती है। देखना हमें यह है कि मुक्त छन्द नूतन प्रगतिशील काव्य के किस भाग की अभिव्यंजना अधिक अच्छे ढंग से कर सकता है। इस प्रश्न पर विचार करने के लिए हमें आज के प्रगतिशील काव्य पर एक दृष्टि डालनी होगी। देखने पर ज्ञात होगा कि आज के प्रगतिशील कवियों में अधिकांश में मध्यम वर्ग के लोग हैं। इन कवियों के जीवन में प्रायः जन-सम्पर्क का अभाव है। अस्तु, जन भावना को जब ये कवि अभिव्यंजित करने जाते हैं तो प्रायः जन सम्पर्क न होने से इनका काव्य केवल बहिर्गत हो जाता है और प्रायः अनुभूति के तीखेपन के अभाव में उसमें कवि का हृदय कम उतर पाता है। क्योंकि भावना जो उत्पन्न होती है वह अनुभूतियुक्त न होने के कारण स्वयं किसी छन्द का रूप धारण नहीं कर पाती, और ज्यों ही कवि उसे छन्द का बाना पहिनाने बैठता है उसके हृदय का रस तीखी अनुभूति के अभाव में कपूर की भाँति हवा में उड़ता नजर आता है। ऐसे समय में मुक्त छन्द मध्यमवर्गीय प्रगतिशील कवियों का अच्छा साथ दे सकता है। इस प्रकार मुक्त छन्द की प्रगतिशील दृष्टि से कुछ उपयोगिता अवश्य प्राप्त की जा सकती है। वह यही कि मध्यमवर्गीय कवि भी इसके माध्यम से स्वयं को सामूहिक जन भावना को अभिव्यक्त करने में सक्षम बना सकते हैं। आगे हमें हिन्दी में मुक्त छन्द की सफलता-असफलता के तत्वों पर विचार करना है क्योंकि इसकी रचना के लिए कोई निश्चित नियम न होने से प्रत्येक कवि ने इसकी रचना अपने ढंग से की है। एक कवि के रचना-विधान का दूसरे कवि के रचना-विधान से मेल नहीं बैठता है। अस्तु, किसी निश्चित रचना-विधान के अभाव में हम केवल लय तथा प्रभविष्णुता के आधार पर हिन्दी कवियों द्वारा रचे हुए मुक्त छन्द के प्रयोगों को देखने का प्रयत्न करेंगे।

निराला जी मुक्त छन्द के उन्नायक हैं। उन्होंने मुक्त छन्द का काफी सुन्दर और सफल प्रयोग किया है। छन्द की सफलता के लिए तुक तथा अनुप्रासों की योजना उन्होंने बड़ी सफाई के साथ की है :

''वह आता
दो टूक कलेजे के करता
पछताता पथ पर आता
पेट पीठ दोनों मिल कर हैं एक
चल रहा लकुटिया टेक
मुट्ठी भर दाने को
भूख मिटाने को
वह फटी पुरानी
झोली को फैलाता
पछताता पथ पर आता।''

प्रस्तुत उदाहरण में अंकित वर्णों तथा शब्दों में जो तुक तथा अनुप्रास की सहायता से नाद सौंदर्य की व्यंजना की गई है वह साधारण तुकांत कविता से कहीं अधिक हृदय-स्पर्शी तथा चमत्कार उत्पन्न करने वाली है। इसी प्रकार 'जुही की कली' में भी तुक और अनुप्रास की सहायता से नाद सौंदर्य की सृष्टि की गई है :

''इस पर भी जागी नहीं, चूक क्षमा माँगी नहीं
निद्रालस बंकिम विशाल नेत्र मूँदे रही,
किंवा मतवाली थी,
यौवन की मदिरा पिये,
कौन कहे।''

इसी प्रकार निराला जी के अतिरिक्त सुमित्रानन्दन पन्त ने भी मुक्त छन्द के कई सफल प्रयोग किए हैं। पन्त वैसे ही शब्द शिल्पी हैं। मुक्त छन्द में सुन्दर अनुप्रासों की योजना तथा उनके मधुर शब्द-विन्यास से मुक्त छन्द में एक सजीवता उत्पन्न हो गई है। देखिए :

''ताक रहे हो गगन,
मृत्यु नीलिमा गहन,
अनिमेष, अचितवन काल नयन
निस्पंद, शून्य, निर्जीव निःस्वन,
देखो भू को, पुण्य प्रसू को।''

पन्त, प्रसाद, निराला के अतिरिक्त हिन्दी के प्रायः सभी कवियों ने इसका प्रयोग किया है। (महादेवी, भगवतीचरण वर्मा, रामकुमार वर्मा, गुरुभक्तसिंह, ठा. गोपालशरण सिंह, आरसी, अनूप, नवीन, भारतीय आत्मा आदि इसके अपवाद हैं।) परन्तु सफल प्रयोग बहुत कम ही हुए हैं। दिनकर, भट्ट, सोहनलाल द्विवेदी, गिरजाकुमार माथुर, अज्ञेय, माचवे, नरेन्द्र, महेन्द्र भटनागर, नरेश मेहता, हरि व्यास, शमशेर सिंह, केदार, नागार्जुन, आदि कवि प्रमुख हैं, जिन्होंने मुक्त छन्द का प्रयोग विशेष

रूप से किया है। अधिकांश कवियों ने इस पर कम ध्यान दिया है। फलतः गद्यात्मकता का अनुचित समावेश हो गया है। साथ ही जिन्होंने लय का ध्यान रखा भी है, उन्होंने चमत्कार तथा ध्वनि-सौंदर्य उत्पन्न करने के अन्य साधनों का एक साथ परिहार किया है। गिरजाकुमार तथा नागार्जुन ही इसमें सफलता प्राप्त कर सके हैं। शंकर शैलेंद्र के प्रयोग अपने ढंग के निराले ही हैं जिनसे हिन्दी की अभिव्यंजना शक्ति का समुचित विकास हुआ है। गिरजाकुमार ने ध्वनि योजना पर पर्याप्त ध्यान दिया है। दिनकर ने तो मुक्त छन्द को भी अपने ओज से दीप्त कर दिया है। अज्ञेय जी का मुक्त छन्द प्रयोगवाद के आग्रह में दब-सा गया है। और प्रभाकर माचवे में तो गद्यात्मकता सीमा को लाँघ गई है, जो मुक्त छन्द की पैरोडी मालूम पड़ती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि एक सीमा तक मुक्त छन्द हमारे मध्यवर्गीय कवियों के लिए उपयोगी सिद्ध हुआ। काफ़ी सुन्दर साहित्य इसमें लिखा गया है और उसकी उपयोगिता असंदिग्ध है।

२१, बड़ा सराफा,
इन्दौर शहर

—रामेश्वर शर्मा

एक जर्मन कविता—
(मूल जर्मन से अनुवादित)

मायाविनी

['लोरेली' नामक कथानक में प्रसिद्ध कल्पित मायाविनी सम्बन्धी यह गीत जर्मन-साहित्य की अमर रचनाओं में गिना जाता है। अप्सरा-सदृश इस मायाविनी का क्रीड़ा-स्थल राइन नदी के तट पर विङ्गेन और कोब्लेन्ज़ के बीच में वहीं कहीं था।]

मैं नहीं जानता, किस कारण, क्या होना है,
जो इतना दुःखी हुआ हूँ ?
बीते युग की एक कहानी, छाया-सी,
है घूम रही मस्तक में मेरे, अमिट-घनेरी।

शीतल पवन, अँधेरा घिरता,
राइन बहती मन्थर;
द्वाभा में झिलमिल करते वे
पर्वत-शिखर चमकते।

उस चोटी पर बैठी अद्भुत
सुन्दरतम वह तरुणी,
उसके स्वर्णाभूषण जगमग,
अपने स्वर्णिम केश सजाती।

केश सँवारे स्वर्ण जाल से
गाती रहती बीच-बीच में,
ऐसा गीत कि जिसकी लय में
आकर्षण था, गति-वैचित्र्य था।

उधर एक छोटी नौका में नाविक आया,
वशीकरण-से स्वर पर जिसकी सुध-बुध खोई;
भूल गया वह आगे जो चट्टान खड़ी थी,
रहा देखता अपलक उस चोटी के ऊपर।

निश्चय ही, तब नाविक को, उसकी नौका को
मौत-सरीखी उन लहरों ने निगल लिया;
और उस मायाविनी का गीत
सभी को इतना ही मँहगा पड़ता था:
यही मायाविनी करती थी।

—हैनरिष् हैने
अनु : प्रेम किशोर

एत्मादपुर;
आगरा

विद्यार्थियों के लिए उपयोगी मनोविज्ञान

विद्यार्थी आधुनिक मनोविज्ञान से अपने जीवन को मूल्यवान बनाने के लिए बहुत-सी उपयोगी बातें जान सकते हैं। चाहे जिस विषय का विद्यार्थी हो, उसे मनोविज्ञान जानना नितान्त आवश्यक है। सभी प्रकार के विद्याध्ययन के लिए मानसिक स्वास्थ्य और मानसिक बल की आवश्यकता है। जिस विद्यार्थी में यह नहीं है, वह विद्याध्ययन कैसे कर सकता है?

कुछ दिन पूर्व मनोविज्ञान शाला में एक विद्यार्थी आया था। यह कालेज की विज्ञान कक्षा का विद्यार्थी है। इसकी परेशानी यह है कि जब कभी वह कोई गाना सुन लेता है तो उस गाने की एकाध पंक्ति उसके दिमाग़ में गूँजने लगती है। जब वह पढ़ने बैठता है तो यही पंक्ति बार बार चित्त में आती हैं और पढ़ने में बाधा डालती है। उसे जितना ही अधिक मन से निकालने की चेष्टा की जाती है, वह उतनी प्रबल हो जाती है। यह पंक्ति प्रायः किसी सिनेमा के गाने की होती है। यह स्थिति दो साल से है और इसके कारण पढ़ाई में बाधा पड़ रही है।

एक दूसरे विद्यार्थी ने बताया कि जब वह पढ़ने बैठता है तो उसका मन पढ़े हुए शब्दों में न लग कर किसी व्यर्थ की बात में लग जाता है। वह अक्षरों की बनावट, पुस्तक, हाशिया, उसके काग़ज़ आदि में चला जाता है। मन से जितना ही इन बातों के निकालने की कोशिश की जाती है, मन उनमें ही अधिक फँस जाता है।

एक तीसरे विद्यार्थी को अपने पाठ्य-क्रम के विषय की पुस्तकें पढ़ने से भारी चिढ़ है। वह वाणिज्य का विद्यार्थी है। परन्तु इसी विषय को वह नहीं पढ़ना। वह साहित्य-प्रेमी है और इसी के द्वारा राष्ट्र की सेवा करना चाहता है। एक बार वह कामर्स की बी. काम. परीक्षा में फेल भी हो चुका है। अब उस परीक्षा में वह बैठना ही नहीं चाहता।

जब विद्यार्थियों के समक्ष इस प्रकार की समस्या उपस्थित होती है तो, हम साधारणतः उन्हें कोई सुन्दर उपदेश देकर सन्तुष्ट कर देते हैं; परन्तु इस प्रकार के उपदेश से विद्यार्थी का लाभ न होकर हानि ही होती है! जब मनुष्य भले उपयोगी काम करने में अपने आपको असमर्थ पाता है तो वह आत्म-भर्त्सना करता है। इससे उसकी इच्छा शक्ति दुर्बल होती है और वह अपने आपको निकम्मा बना लेता है। अपने आप से परेशान होकर ऐसा व्यक्ति किसी शारीरिक रोग का आह्वान करता है। शारीरिक रोग से ग्रसित हो जाने पर वह अपनी कर्त्तव्य बुद्धि की आत्म-भर्त्सना करने से मुक्त हो जाता है।

जो विद्यार्थी अपने आपको समाज के लिए उपयोगी नागरिक बनाना चाहता है, उसे अपने आपको पहचानना, अपने आन्तरिक छिपे भावों को समझना नितान्त आवश्यक है।

प्रत्येक व्यक्ति के मन में अपार शक्ति है। मनुष्य एक चेतन अणु है। जब जड़ अणु की इतनी अधिक शक्ति है कि उसके सामने संसार का बड़े से बड़ा अस्त्र नगण्य है, तो चेतन अणु की शक्ति का अंदाज कौन लगा सकता है। अपने ही अज्ञान के कारण मनुष्य अपने आपको नगण्य मान बैठता है और दुःखी बना हुआ है। यदि उसे किसी प्रकार सच्चा आत्म-ज्ञान हो जाए तो वह संसार में नए प्रकार की हलचलें उत्पन्न कर दे। मनोविज्ञान अन्तर्मन की शक्तियों के ज्ञान को प्राप्त करने का उपाय है।

प्रत्येक विद्यार्थी के लिए नित्य नए विचारों का स्वागत करना नितान्त आवश्यक है। जिन विचारों को वह उपयोगी समझता है, उन पर उसे मनन करना चाहिए। उन्हें नोट-बुक में लिखना चाहिए और संभव हो तो उन्हें अपने किसी मित्र से कह देना चाहिए। यदि उसमें लिखने की क्षमता है तो उसे उन विचारों को लिपि-बद्ध कर लेना चाहिए। मनुष्य के विचार धीरे धीरे बाहरी मन से भीतरी मन में जाते हैं। बार बार मनन करने से विचारों में कार्य-क्षमता आती है। जब कोई विचार चेतन मन से अचेतन मन में चला जाता है तो वह हमारे स्वभाव का अंग बन जाता है। इस प्रकार का विचार चरित्र निर्माता होता है। मनुष्य के भले अथवा बुरे विचार ही उसका भाग्य हैं। विचारों को सुधारने से भाग्य पर अधिकार हो जाता है। विचार आचरण बनता है और फिर चरित्र तथा भाग्य। अत एव जो विचारों को सुधारता है, वह अपना सभी कुछ सुधार लेता है।

यदि हमारे मन में कोई बुरा विचार आ गया हो और वह हटाने से भी न हटता हो तो उससे लड़ने की अपेक्षा किसी शारीरिक कार्य में अपने आपको लगा देना भला सिद्ध होता है। शारीरिक क्रियाएँ विचारों की अपेक्षा अधिक स्थूल हैं। इन पर नियन्त्रण प्राप्त करना, विचारों पर नियंत्रण प्राप्त करने की अपेक्षा अधिक सरल है। अत एव जब कभी परेशानी का विचार मन में आए, विद्यार्थी को किसी शारीरिक कार्य में लग जाना चाहिए। स्वामी विवेकानन्द के इस कथन में मौलिक सत्य है कि गीता की शिक्षा का रहस्य उस पुस्तक को बन्द कमरे में पढ़ने की अपेक्षा फुटबाल के मैदान में जम कर खेलने से अधिक प्रत्यक्ष किया जा

सकता है। "बैठे से बेगार भली" इस कहावत में भारी मनोवैज्ञानिक सत्य है। सतत काम में लगे रहने से व्यक्ति का मन शैतान की प्रयोगशाला नहीं बन पाता। अपने मन को वश में रखने के लिए और पढ़ाई को एकाग्रचित्त होकर चलाने के लिए ही प्रतिदिन का काम करना और कुछ शारीरिक परिश्रम करना नितान्त आवश्यक है।

जिस प्रकार काम मानसिक स्वास्थ्य और मानसिक बल वृद्धि के लिए आवश्यक है इसी प्रकार आराम भी इसके लिए आवश्यक है। कितने ही लोग चिन्ता और हठी विचारों से बचने के लिए अपने आपको सदा काम में लगाए रहते हैं। इस प्रकार के लोग भी मानसिक चैन नहीं पाते। हम जिन विचारों से डरते हैं, वे ही हमें त्रास देते हैं। अत एव प्रत्येक मनुष्य को कुछ समय अपने आपको सभी कामों से मुक्त करके रखने के लिए देना चाहिए। जो मनुष्य अकेले में नहीं रह सकता वह जीवन में कदापि सुखी नहीं रह सकता। अपने ही विचारों को साक्षीभाव से देखने से उन पर हमारा नियन्त्रण बढ़ता है। ऐसे विचारों को मन में आने की स्वतन्त्रता देना चाहिए। उसके लिए दिन में कुछ समय निश्चित कर देना चाहिए। जो व्यक्ति अपने ही विचारों से डरता है वह सुखी कैसे रह सकता है? गन्दे से गन्दे विचार जानबूझ कर मन में लाने से अपना स्वभाव ही बदल देते हैं। भयानक अथवा गन्दे विचारों को भुलाने की चेष्टा करने से उनकी भयंकरता बढ़ती है और उनका स्वागत करने से उनकी शक्ति का ह्रास हो जाता है। वे इस प्रकार के अभ्यास से उपयोगी उपचार बन जाते हैं। आधुनिक मनोविश्लेषण-विज्ञान द्वारा मानसिक विचार का रहस्य यही है।

प्रत्येक व्यक्ति सोते और जागते अपने आपको शुभ निर्देश देकर अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व को बदल सकता है। सोते समय का विचार रात में अचेतन मन में चलते रहता है और इसके कारण मनुष्य में असाधारण पुरुषार्थ का उदय होता है। उसकी खोयी हुई स्मरण-शक्ति, बुद्धि की प्रखरता, अथवा जागरुकता, फिर से चली आती है। प्रतिदिन के सोते समय के भले आत्मनिर्देश से मनुष्य उन कठिनाइयों को हल करने में समर्थ होता है, जो अन्यत्र वज्र के पहाड़ के समान दिखाई देती हैं। अतः प्रत्येक विद्यार्थी को सोने के पूर्व सभी साधारण पढ़ाई की पुस्तकों को छोड़ कर अपने अनन्त स्वरूप का ही चिन्तन करना चाहिए और शान्त मन होकर सोना चाहिए।

जागने के समय के शुभ निर्देश सोते समय बड़े उपयोगी होते हैं। जागते समय जो विचार मनुष्य अपने आपको सुझा देता है, वह उसके अचेतन मन में सदा क्रियमाण रहता है। वह चाहे जो कुछ करे उसका प्रथम विचार सदा उसे एक निर्दिष्ट लक्ष्य की ओर ले जाता है। ऐसे व्यक्ति से होने वाली अनेक प्रकार की भूलें अपने आप ही सुधर जाती हैं। उसका अचेतन मन अभिभावक का काम करता है। जो व्यक्ति सवेरे उठ कर निश्चयात्मक बुद्धि से कहता है कि जो भी घटनाएँ संसार में होती हैं, अथवा उसके जीवन में जो घटनाएँ होती हैं, वे सब भले के लिए होती हैं वह अपने लिए एक अदृश्य संरक्षक उपस्थित कर लेता है। मनुष्य का शुभ विचार ही उसका नित्य का संरक्षक है और उसका अशुभ संशयात्मक विचार ही उसका शत्रु है। जीवन में सफलता के लिए हमें अपना एक स्थाई संरक्षक बनाना नितान्त आवश्यक है। यह संरक्षक हमारे स्वभाव का ही अंग बन सकता है। "तेरा साहब तुज्झ में, बूझ सके तो बूझ।"

प्रत्येक मनुष्य का आत्मनिर्देश तभी सफल होता है, जब कि उसकी सीमा दूर तक की होती है। अपने आपको दिया गया निर्देश कभी कभी प्रतिनिर्देश में परिवर्तित हो जाता है। अत एव जो शुभ कामनाएँ हम अपने लिए करना चाहते हैं। उन्हें यदि हम दूसरों के लिए करें, तो हमारा जीवन अवश्य ही सफल हो। जब हम दूसरों के लिए भले अथवा बुरे विचार करते हैं तो वे विचार हमारे ही मस्तिष्क में चलते हैं। यदि हमारा अभ्यास भले विचारों का हुआ तो न केवल दूसरों का उन विचारों से लाभ होगा, वरन् हमारा भी उससे लाभ होगा। यदि ये विचार बुरे हुए तो वे विषैले बाणों के सदृश्य दूसरों की क्षति करने के पश्चात् अपने आपकी भी क्षति करते हैं।

जब मनुष्य अपने लिए ही भलाई की बातें न सोच कर सबके लिए भलाई के बातें सोचता है, तो उसकी मानसिक शक्ति बेहद बढ़ जाती है। जो विद्यार्थी जितनी लगन के साथ दूसरे किसी विद्यार्थी को कोई पाठ पढ़ाता है, वह उसी पाठ को जीवन में फिर कभी नहीं भूलता। किसी विषय को अपने ही आप समझ में बैठा लेने का सर्वोत्तम उपाय उसे दूसरे को समझने की चेष्टा करना है। मनुष्य की सभी प्रकार की मानसिक शक्तियों का विकास उसके द्वारा दूसरों की सेवा करने से होता है। दूसरों की सेवा से बचने से मनुष्य की न केवल बौद्धिक शक्ति नष्ट हो जाती है वरन् बह अपना सब प्रकार का सामर्थ्य भी खो देता है। जो अपने आपको दूसरों के लिए जितना ही खोता है, वह अपने व्यक्तित्व को उतना ही प्रभावशाली बनता है। जो अपनत्व का भाव जितना बढ़ाता है, वह दुःख और निराशा में उतना ही अधिक पड़ता है।

—लालजीराम शुक्ल

सिद्धगिरि बाग,
बनारस

कैशोर्य के प्रतीक : बालगीत और लोरियाँ

बालगीत और लोरियाँ भारत में हर स्थान पर प्रचलित हैं। वास्तव में लोक साहित्य की घुट्टी में लोरी के स्वर गूँजते हैं। और लोरियाँ और बालगीत होते क्या हैं?—कैशोर्य और लाडबालीपन का एक सम्मिश्रण! संयुक्त प्रान्त की लोरियाँ अपने भीतर समोई हुई कई भाषाओं (ब्रज, अवधी, भोजपुरी और खड़ी) का बड़ा सुन्दर मिश्रण प्रस्तुत करती हैं। यहीं का एक बालगीत है :

"झिज्जो झिज्जो कोड़ी माँगता,
कोड़ी ले भड़भूंजे को दिया,
भड़भूंजा हमें लावा[१] दिया,
लावा ले हम गय्या को दिया,
गय्या हमें दूध दिया,
दूध में मैंने खीर पकाई,
मैंने खाई, भय्या ने खाई,
अम्मा का हिस्सा धरा था,
बिल्ली आई, खा गई,
कुत्ता आया सूंघ गया।"

इसी प्रकार कुछ और पंक्तियाँ हैं :

"चिड़ियाँ मौसी आई है,
लाल खिलौना लाई है,
कव्वा मामूँ आवा है,
पत्तवा में गुड़ लावा है।"

पत्ते को पत्तवा और आने को आवा कहना भी संयुक्त प्रान्त के पूर्वी लखनऊ वासियों की ही एक विशेषता है। परन्तु इतनी ही लोक-प्रिय पंक्तियाँ निम्नांकित भी हैं, जिनकी भाषा में तोड़-मरोड़, नहीं के बराबर है :

"हम नन्हीं नन्हीं बेटियाँ,
ताल खोदें गीटियाँ,
ताल ने मारी लात,
मैं जा पड़ी गुजरात,
गुजरात की बीवी मोटी,
वह खात चने की रोटी
रोटी के ऊपर मस्का,
लौंडी को लगा चस्का।"

पंजाब में बाल गीतों के आंचल में 'टप्पे', 'थाल' और 'किलकिली' जैसे रत्न समोए हुए हैं। ऐसे ही एक गीत में पंजाब की एक नन्हीं बेटी बड़े पते की बात कह गई है :

"डेडो डाली,
पिर्च प्याली,
टुट गई,
सखी सहेली रुस गई।
नीं रुसियाँ नूँ कौन मनाए?"

एक और गीत में एक सलोने शरद बादल से भी सुकोमल बाला की कल्पना देखिए :

"मेरे माही दे निक्के 'हथ वे',
पढ़दा फ़ारसी 'ते लिखदा खत वे'।
छोटा जेहा मुन्शी मेरा राजणा।"

मेरे प्रियतम के नन्हें नन्हें हाथ हैं। वह फ़ारसी पढ़ता है और पत्र लिखता है। मेरा यह प्रियतम (राँझा) नन्हा-सा मुन्शी है।

उपयुक्त गीतों[२] को लड़कियाँ 'गीटियों' के साथ खेलते हुए गाती हैं। इनमें से कई गीत भगवान् राम और कृष्ण की विभिन्न लीलाओं से भी सम्बन्धित हैं।

"डेडो डंका, रावण दी लंका,
रावण चुराई सीता, सीता पाया शोर।
रावण पापी चोर।"

संयुक्त प्रान्त के एक बालगीत के बोल है :

"हाथी घोड़ा पालकी,
जय कन्हैया लाल की।"

निम्नांकित पंक्तियों में काले बादलों की बहार देखते ही बनती है :

"सखि हो काली बदरिया रात,
देखत नित लागे ए हरि

---

[१] भाड़ में भुनी हुई खीलें जो पशुओं को खिलाई जाती हैं।

[२] पंजाब में इन्हें 'टप्पे' कहा जाता है।

गड़-गड़ गरजै, चम-चम चमकै,
सखि री, झम-झम बरसै ना ।"

इन बाल गीतों और 'टप्पों' के क्षेत्र से निकल कर पंजाब की बेटी 'किकिली' के लिए अपनी बाहों को तैयार करती है और पाँवों को संयत और कड़ा बनाती है। इस खेल में दो बालाएँ अपने पाँवों को मिला कर और बाहों को खींच कर एक चक्कर में घूमती हैं :

"गई साँ मैं गंगा,
चढ़ा लयाई वँगाँ
असमानी मेरा घगरा,
मैं केहढ़ी कीली टँगाँ,
नी मैं ऐस कीली टँगाँ,
नी मैं और कीली टँगाँ ।"

मैं गंगा गई थी,
वहाँ से चूड़िया चढ़ा लाई,
मेरा लहंगा आसमानी रंग का है,
मैं इसे किस खूँटी पर लटकाऊँ.
अरी मैं इसे इस खूँटी पर लटकाऊँ,
अरी मैं इसे उस खूँटी पर लटकाऊँ ?

बाल्यावस्था की चंचल भावनाओं को इससे अच्छा व्यक्त कर सकने वाली पंक्तियाँ और शब्द अन्य किसी भाषा के बालगीतों में मुश्किल से ही मिलेंगे ।

पंजाबी लोकगीतों में बहन-भाई के गीत बहुत प्रसिद्ध हैं। वास्तव में इन गीतों की मूल प्रेरणा तो बाल-अवस्था में गाई जानेवाली इन टूटी-फूटी पंक्तियों में छिपी पड़ी है :

"डेडो डाई डा,
कम कराँ भरजाई दा
पानी ढोवाँ नहराँ दा,
वड्डा वीर ए शेहराँ दा"

डेडो डाई डा,
मैं भाभी का काम करती हूँ,
नहर से पानी लाती हूँ,
बड़ा भय्या शहर का रहनेवाला है न !

उपर्युक्त गीत, भोली, गाँव की बहन के हृदय में धूर्त शहरी भाभी की जो तसवीर अंकित रहती है, उसे बड़ी-संजीदगी के साथ प्रस्तुत करता है।

एक और गीत है जिसमें पंजाब की एक भोली बेटी एक मेले की कल्पना करते हुए निम्नांकित पंक्तियाँ भी कहती है :

".........
खन्ड, मिश्री तली तलाई,
फुल्ला दी मैं सेज सजाई,
उत्ते बैठे वीर-भरजाई ।"

मेले में बैठ कर मैंने विभिन्न स्वादिष्ट खाद्य पदार्थ लिए खान्ड, मिश्री और तली हुई चीजें भी लीं। फूलों की एक सेज मैंने बिछाई, जिस पर मेरी भाभी और भय्या बैठेंगे ।

यही गीत और यही भावनाएँ उम्र बढ़ने पर और विचारों में प्रौढ़ता आ जाने पर निम्नांकित रूप धारण कर लेते हैं :

"कमान दया तीरा,
घर आ मेन दया वीरा,
मेन ढोल धराया,
वीर जल्दी घर आया......"

ओ कमान के तीर सदृश्य मेरे बिछड़े हुए भय्या, तुम घर आओ। बहन ने अगवानी के लिए ढोलक पर गीत गाया और बहन का भय्या, शीघ्र ही लौट आया।

पंजाबी बाल गीतों का काव्य तत्त्व और संगीत तत्त्व 'थाल' में श्रोतागणों को विभोर कर देता है। 'थाल' सम्भवतः भारतवर्ष में एक मात्र ऐसा बालगीत है जिसे लड़कियाँ, माताएँ बन कर भी खेलती रहती हैं और कभी थकती नहीं, ऊबती नहीं ।

कपड़े में रूई भर कर एक गेंद तैय्यार की जाती है; और वह गेंद धरती और हथेली के मध्य की दूरी को पूर्ण करने का स्वप्न लेते-लेते ही 'कंडम' हो जाती है :

"गिड़ गिड़ खूआ, मैं घड़ा भरनी आँ,
वीर चलया सोह्रे, मैं पूड़ी तलनी आँ,
खट्टी तलाँ, मिट्ठी तलाँ, नाल तलाँ मठयाई,
वीर दे सोह्रेआँ गुलाबी सुथन आई,
आल माल होइया थाल ।"

मैं कूएँ पर जल भर रही हूँ। मेरा भाई ससुराल जा रहा है, मैं उसके लिए पूरियाँ तल रही हूँ। खट्टी पूरियाँ

तल रही हूँ, मीठी पूरियाँ तल रही हूँ और मिठाई भी बना रही हूँ। क्योंकि भय्या के ससुरालवालों ने मुझे गुलाबी सिलवार भेजी है। ओ सखी थाल पूरा हो गया……

श्री देवेन्द्र सत्यार्थी द्वारा संग्रहित यह निम्नांकित 'थाल' यहाँ उद्धृत करना असंगत नहीं होगा :

"माँ नी माँ मेरी गुत्त कर,
धीये नी धीये चुप कर,
माँ नी माँ मेरा व्याह कर,
धीए नी धीए राह कर,
माँ नी माँ मेरी जञ आई,
धीए नी धीए किथ्थे आई,
पिप्पल दे हेठ,
नाले सौरा नाले जेठ,
नाले पियो दा जवाई,
खाये मट्ठी ते मठियाई,
पावे पट्टु ते दरियाई,
सौंदा लेफ़ ते तलाई,
आल माल होइया थाल।"

माँ ओ माँ मेरी वेणी गूँथ दे। बिटिया ओ बिटिया चुप रह। माँ ओ माँ मेरा व्याह कर दे। निटिया ओ बिटिया ज़रा समझ सोच कर बोल। माँ ओ माँ मेरी बारात आ गई : बिटिया ओ त्रिटिया तेरी बारात कहाँ आई ? पीपल के नीचे। ससुर भी हैं और जेठ भी। साथ ही मेरे पिता का दामाद भी है। वह मट्ठी और मिठाई खाता है। पट्टु और दरियाई पहनता है। रज़ाई और तुलाई में सोता है। ओ सरती थाल पूरा हो गया……

सत्यार्थी जी के शब्दों में : "यह उस युग का गीत है जब संकोच की भावना इतनी नहीं उभरी थी, जब भावना के द्वार पर बाहरी रोक-टोक का पहरा नहीं बैठाया गया था।"

मामुँ और ननद-भावज की नोंक-झोंक संयुक्त-प्रान्त के इन बाल गीतों में देखिए :

"झूल मामुं झूल,
तेरी पगड़ी में फूल,
पगड़ी रखी ताक में,
घोड़ा छूटा बाग में,
फूल गुदा कुम्हलाए,
बिटिया गई रिझाए"

लड़कियों को सिखाया जाता था कि भावज और ननद का सदा ध्यान रखना चाहिए और वह जो कहें उसे पूरा करना चाहिए। इसलिए :

"झिम-झिम-झिम-झिम पानी बरसे,
पानी कहाँ जाए,
आधा पानी निवाड़ तले से,
आधी बीरन नहाए,
लो भावज जी खावो,
बीरन लाए पान मिठाई,
लो भावज जी खाओ,
मैं अकेली कैसे खाऊँ,
मेरी नन्द को बुलाओ।"

कभी-कभी ननद-भावज की नोंक-झोंक की भी झलक इन बोलों में आ जाती है। जैसे :

"भय्या गया मेरा शिकार,
हिरण लाया दो—चार,
बहनें झाँक—झाँक जाएँ,
सालियाँ भून—भून खाएँ।"

गाने वाली के कहने का तात्पर्य यह हुआ कि ऐसी मेरी भावज थी कि चार-चार हिरण घर में आते थे लेकिन वह अपनी बहनों को भून-भून का खिला देती थी—और ननदें बेचारी झाँक-झाँक कर रह जाती थीं।

लड़कियों के बालगीतों में भाई के प्यार का ज़िक्र बड़े दुलार और चाव के साथ किया जाता था। इन गीतों में तैरती हुई अनुभूतियाँ हैं बहन के सुख-दुख की, जो भोली भाली तो हैं किन्तु मर्मस्पर्शी बहुत हैं। उस समय आज की तरह लड़कियाँ व्याह होने तक 'पिय' और 'सैयाँ' के गीत नहीं गाती थीं। बस अपने मैके के स्नेह में रत रहती थीं :

"खरबूज़े रे, खरबूज़े रे,
तेरी लम्बी लम्बी बेल,
लचक लचक सारी डालियाँ,
मैं तो कातूँगी,

मैं तो कातूँगी,
नन्हा महीन सूत,
कात बनाऊँ बीरन पागड़ी,
तू तो बुन दे रे,
बिन्दिया के लाल,
कात बना बीरन की पागड़ी,
तू तो रंग दे रे,
रंगरेजन के लाल,
कात बना बीरन की पागड़ी,
वह तो बाँधेंगे,
मेरे नन्हे से बीर,
बाँध चले ससुराल को,
वह तो पूछेंगी,
बीरन कुन ने बुनी,
तुम्हारी पागड़ी।"

खरबूजे की बेल की लम्बी-लम्बी टहनियाँ देख कर बहन को सूत की पूनियाँ स्मरण हो आता है।

ब्याही लड़की जब ससुराल में नीम के पेड़ पर नमकोई पकते देखती है तो उद्विग्न हो कर कह उठती है :

"नीम की नमकोली पक्की,
सावन कभी आएगा,
जीवे मेरी माँ का जाया,
डोली भेज, बुलाएगा।"

बालगीतों के छोटे २ बोल बच्चों की जानकारी बढ़ाने में भी बड़ी सहायता देते हैं। और बच्चे इनसे जानवरों के नाम और दिनों के नाम तक सीख जाते हैं :

"बीबी मेंडकी री, तू तो पानी में की रानी
कव्वा तेरा भाई भतीजा, चील तेरी देवरानी,
बगुला तेरा छोटा देवर, तू कहाँ की रानी ?
सुन-सुन सखी, एक पंछी का ब्याह था,
बगुला बराती आए, जुगनु मशाल लाए,
डेर तो खूब बोले, डोमनी बरात गाए,
पोदना सताई, बुलबुल करे लड़ाई,
जूँ ही बिल्ली आई, सारी सभा भगाइ"

दिनों के नाम ऐसे सीखते हैं :

"ब्रहस्पत मेरी दाई, शुक्र की खबर लाई,
शुक्र मेरी भय्या, मैं खेलूं धम्मक धय्या,
सनीचर मेरा नाना, मुझे कान पकड़ बुलाना।"

हर युग के बालगीत अपने ऊपर अपने समय की छाप लिए रहते हैं। कृष्ण कन्हाई और मुगलों के समय से लेकर आज तक हमारे देश में जो कुछ हुआ है, यदि छान-बीन की जाए तो वह सब कुछ लोक-साहित्य ही में मिल जाएगा। जब रेल पहले पहले भारत में आई तो बच्चों ने ऐसे कहना आरंभ किया :

"ऐसा फिरंगी, पैसे का लोभी,
धूएँ की गाड़ी उड़ाए लिए जाए,
जात न पूछे, सफ़ात न पूछे,
सब को बराबर बिठाए लिए जाए।"

निम्नांकित लोरी को ही देखिए। मुगलों की सत्ता का लघुकाय (miniature) प्रस्तुत करती हैं—और बड़े ढंग से :

"आराम का है पालना, सुख की लागी डोर
काबुल से मुगलानी आई, झौंका देगी जोर।"

बालक झूले में पड़ा है, प्रत्येक माँ के अधरों पर लोरी के स्वर थिरक उठते हैं :

"भय्या हमारा निन्दी[1] करे
कह दो शहर भर से चुपका रहे
ददा से बोलो गोदी में ले
अन्ना से कह दो पंखा झले
भय्या हमारा घोड़े पर चढ़े,
घोड़े पर चढ़े और दुलहा बने,
दुलहन को गोदी में ले कर धरे,
खम-खम डोली गुजरा करे"

दूसरी ओर वह माँ है जो दुःख के दिन काट रही है। उसके मुँह से यह निकलता है :

"सो मेरे बाले, तू सो मेरे भोले
जब तक कि, बाकी है नींद
फिर जो पड़ेगा, तू दुनिया के फन्दे
तो कैसा है पालना, कैसी है नींद
खेल तुम ऐसे, खेलना ललना

---

[1] नींद

जिसमें न हो, माँ-बाप का जलना
चिकनी है घाटी, रास्ता फिस्लना
सँभल सँभल के देख के चलना"

चिड़िया की चूँ चूँ सुन कर बड़े घर की माँ कहती है :

"चूँ चूँ करती आई मेरी चिड़िया,
मियां का मञ्जना लाई मेरी चिड़िया,
परों में शक्कर लाई मेरी चिड़िया,
चोंच में छुआरे लाई मेरी चिड़िया।"

किन्तु एक किसान माता के घर चिड़िया हर्ष का नाद नहीं करती वरन् उस का खेत उजाड़ने को आती है :

अमीर कदल,
श्रीनगर (कश्मीर)

"चिड़िया फोड़ूँ तेरा पेट,
काहे को खात भैया का खेत,
खेत दिखाए भैया जाये,
रोटी ले कर भैया जाये।"

सम्पन्न घराने की माँ बेटे को रूठ जाने पर मना लेती है, परन्तु एक परिश्रम करनेवाली माँ कहती है :

"घूमर-घूमर दूध बिलोए,
जाटनी का छोरा रोए,
रोता है तो रोने दो,
मो को दूध बिलोने दो।"

—घनश्याम सेठी

भारतवर्ष की महानता

......अन्य देशों की महानत और प्रमुखता उन लोगों पर निर्भर है जिन्होंने युद्धों में महान् विजयों को प्राप्त किया है किन्तु भारतवर्ष महानता के मूल्य को अन्य ही प्रकार से अंकित करता है। युद्धों में विजय प्राप्त करनेवाले अपने ढंग के महापुरुष होते हैं और अपने देशों में उनका आदर भी होता है। भारतवर्ष में भी अनेक विजेता हुए हैं और उनको उचित आदर प्रदान किया जाता हैं परन्तु भारतवर्ष में सर्वोच्च आदर प्रेम के सन्देश और आध्यात्मिक महानता को दिया गया है। युद्ध और विध्वंस के स्थान पर प्रेम, शान्ति और रचना का सन्देश कहीं अधिक बड़ा है।

(गुरु नानक के दिवस
पर दिए हुए भाषण से)

—जवाहरलाल नेहरू

कन्नड़ भाषा में जनपद साहित्य

किसी भी भाषा के विकसित साहित्य का मूल स्रोत उस भाषा में जनपद साहित्य कहलानेवाले लोकगीतों के रूप में पाया जाता है। ये लोकगीत आदिम काल से ही, मानव समाज में प्रचलित होकर सामान्य जीवन को सरस बनाते रहे हैं। ये लोकगीत, मानव के दुःख, हर्ष आदि भावों का शब्द रूप धारण कर हृदय से फूट निकले हुए उद्गार हैं। काम करते समय श्रम को कम कर लेने, थकान को मिटाने और बोझिल भाव को हटाने लोग अपने आप कुछ गुनगुनाने लगते हैं। गुनगुनाते समय विषय प्रधान नहीं होता। जो भी मन में आए उसी भाव का गीत बन जाता है और उसी को रागबद्ध करके हृदय संतृप्त हो उठता है। ऐसा करना केवल प्रतिभावान कवि का काम नहीं। विशेष कर, उस समय जब मानव शिक्षित नहीं था, वह लिखना नहीं जानता था और जो कुछ उसके मुँह से गीत का रूप धारण करता वह केवल ज़बानी चल कर पीढ़ियों सुरक्षित रहता और आज भी ऐसे अनेक गीत ज़बानी ही सुरक्षित हैं। हो सकता है, ये ही गीत मानव के लिखने की शक्ति के साथ साथ, ताड़ के पत्रों पर या काग़ज़ पर लिखे जाकर अपने एक विशिष्ट रूप को प्राप्त हो गए; वैय्याकरण, लाक्षणिक आदि के हाथों बिक कर अपनी एक स्वाभाविक छटा को खो बैठे; वादों के फेर में पड़ कर अपनी मधुर मोहकता को तर्पण दे बैठे। खेद का विषय है कि निराभरण सुन्दरी आभूषणों से लादी जाकर अपने सर्वस्व को यश-लोभियों के हाथों सौंप रही है।

लोकगीत का स्वरूप देख कर यही कहना पड़ता है कि इनका उद्गम स्थान पुरुषों से अधिक नारियाँ हैं। नारी हृदय भी गीतमय वातावरण लिए रहता है। वह न गाएँ तो और कौन गा सके। नारी का बचपन गीतमय है। यौवन तो सब कलाओं का आवासस्थान है। प्रौढ़ावस्था में भी वह गीतों की मैत्री से खाली नहीं रहती क्योंकि लोरियाँ गा गा कर बच्चों को मीठी नींद सुलानेवाली नारी तो प्रौढ़ावस्था में पदार्पण कर चुकी रहती है। बुढ़ापे में भी नारी गीतमय ही रहती है। अन्यथा, वह बच्चों को रसीली बातें (चाहे गीत हो, चाहे कहानी) सुन कर उन्हें जीवन का संबल तैयार कर लेने में सहायक नहीं हो सकती। इस तरह, नारी-जीवन स्वभावतया ही गीतमय है। पुरुष तो उससे स्फूर्ति पाता है और तब जा कोई काम करता है। अथवा, स्वामी विवेकानन्द के अनुसार बड़े आदमी तो बड़े तिमिंगिल के समान हैं जो अनेकों छोटी मछलियों को स्वाहा कर के बड़े बनते हैं। स्वामी जी कहते हैं कि संसार में ऐसे आदमी अनेक हुए जो निष्काम भाव से लगातार काम करते गए, अच्छे अच्छे विचारों के जन्मदाता बन सके। मगर प्रसिद्धि न पा सके। मगर ऐसे ही अप्रसिद्धों की अर्जित संपत्ति को अपना कर ये बड़े लोग बड़े बन सके; महान् हो सके, सुप्रसिद्ध हो सके। वरना, उन अप्रसिद्ध लोगों के मुक़ाबिले में बुद्ध और ईसा जैसे लोग कुछ नहीं हैं। अगर स्वामी जी की यह विचारधारा सत्य एवं स्तुत्य है तो हमारी यह धारणा भी ग़लत नहीं हो सकती कि अनेक अप्रसिद्ध नर-नारियों के गीत-चयनों और रस-खानों को समेट कर अपना बना कर ही कालिदास से लेकर आज तक के देव और देवी जैसे महान् व्यक्ति विशेष कवि बनने में समर्थ हुए हैं। इस तरह, इन कवियों की अतृप्त भूख को शान्त करने के लिए खुराक तैयार करके उसका एक अक्षय भण्डार पेश करने में पुरुषों से ज़्यादा नारियों का हाथ ही है। वे ही काव्य की स्फूर्ति हैं; उसका उद्गम स्थान हैं। तभी कन्नड़ के प्रसिद्ध कवि दा. रा. बेंद्रे जी कहते हैं कि कांता की बातें ही काव्य की माता है (काव्य कांता सम्मिति है)। उनकी दृष्टि में नारी के चार रूप हो सकते हैं। एक माता का, दूसरा स्त्री का, तीसरा बहु का और चौथा बेटी का; इन चारों रूपों में, काम करते समय, कूटते पीसते समय, सुख और दुःख के समय वे जो कुछ गीत के रूप में सृजती आई हैं और सृजती रहेंगी वही वास्तव में काव्य है, शेष सब काव्य की छाया है। वे कहते हैं कि कामिनी की बातों में कांति है, कांतता है। आदि माया ही स्त्री के इन चारों रूपों में जीव को खिलाने में निरत मालूम होती है। जैसे वेद देवनिःश्वासित है वैसे ही काव्य भी स्त्री निःश्वासित है। स्त्री काव्य ऋषि है। सरस्वती के बिना रस कहाँ?

कवि की यह अनुपम धारणा निस्सन्देह प्रमाणबद्ध

है। वर्णक, बण्णवाडु, हाडु गब्ब, आदि कन्नड़ जनपद साहित्य के पुराने नाम हैं।

यहाँ उसी सनातन, अनादि लोकगीत या जनपद साहित्य की परम्परा का एक कन्नड़ गीत दिया जाएगा। कन्नड़ में अनेक ढंग के, अनेक भाव के अनगिनत लोकगीत हैं। इनके कई संग्रह भी हो चुके हैं। नीचे उद्धृत गीत भी एक ऐसे ही संग्रह से लिया गया है। संग्रह का नाम है "गरतिय हाडु"। 'गरति' का अर्थ कुलस्त्री है, हाडु तो गीत होता है। अब लीजिए एक गरतिय हाडु (कुलीन स्त्री का गीत) और उसका यथा साध्य भावानुवाद। गीत का नाम है 'सति पति'। शीर्षक से ही विषय का भास हो जाता है अतः सीधा गीत और भावानुवाद पाठक के सामने रखा जाएगा। गीत त्रिपदि में है। त्रिपदियों को जैसे संस्कृत को पढ़ते हैं वैसे ही पढ़ना चाहिए।

सति-पति

"अड़गीय मनियाग मडदीय सुळुविल्ला।
अड़गि बायीगि रुचियिल्ला। हडेद्‌ब्बा।
मड़दि तवरीगि होगयाळा॥"

पति अपनी सति को घर में न पाकर अपनी माता से पूछता है: "माँ, रसोई घर में प्यारी का पता नहीं; रसोई रुचती नहीं। क्या, वह अपने मायका गई है?"

"हच्चउद पदराग अच्चच मल्लिगि हूव।
बिच्चिच मन मयाल ओगे वंथा। रायरन।
बिट्ट्यांग बग्ले हडेद्‌ब्बा॥"

पत्नी अपने पति को इतना अधिक प्रेम करती कि उसको छोड़ कर मायका जाना भी नहीं चाहती। उसके प्रेम भरे पिछले कामों को याद कर कहती है: "माँ, चादर के आँचल में मल्ली फूल ला कर मुझ पर डालनेवाला मेरा प्रियतम है। उस प्रियतम को छोड़ मैं कैसे आ सकती हूँ, माँ?"

इस तरह पति पत्नी दोनों आपस में बहुत प्रेम करते रहते हैं। फिर भी, कभी एक दिन उन दोनों में (प्रेम) कलह हो ही जाता है तो एक दूसरे से रूठ जाते हैं। तब देखिए बीच में सखी आकर उनमें समझौता करते हुए क्या कहती है:

"गंड-हेंडिर जगळ गंध गीडिद्दहांग।
निंगक मीरु एरे दांग हिरिहोळय।
गंगव्व सागि हरिदंगा॥"

सति-पति का झगड़ा तो चन्दन को घिसने के समान है। चन्दन को घिसने से सुगन्धी बढ़ती है वैसे ही सति-पति के झगड़े से प्रेम और बढ़ता है, अन्यथा नहीं। सति-पति का झगड़ा तो जैसे शिव लिंग पर कोई पानी डालते हैं। तात्पर्य यह कि अगर शिव लिंग पर कोई पानी डालेगा तो वह उस पर ठहरेगा नहीं, बल्कि मलिनता दूर हो जाएगी। वैसे ही झगड़ा करने से सति-पति के मन का मलिन दूर होकर आपस का प्रेम और उज्ज्वल हो उठेगा। और सखी कहती है: "सति-पति का झगड़ा तो बड़ी नदी में पानी के बहाव के समान है जो सब गन्दगी को बहा ले जाता है और प्रेम खरा हो जाता है।"

"एँद बरतीर नन्न गन्धद रतिगार।
रुम्माल एल्ल परिमळ। नन नल्ला।
एँद बरती री ननग्हेळा॥"

पति कहीं जाने को तैयार है मगर सति विरह दुःख को न सह सकने के कारण अभी से व्याकुल है। वह अपने पति से पूछती है: 'प्यारे मेरे सुवासित, रतिराज, कब वापस आओगे? तुम्हारी सारी पगड़ी सुगन्धित है, मेरे प्रिय। मुझ से कहो कल वापस आओगे?'

"कमळद हू निन्न काणदे इरलारे।
मल्लीगी माय बिडलारे। केदगी।
गरी निन्ननगलि इरलारे॥"

जाना तो है कहीं, मगर उसका मन भी प्रिया को छोड़ कर जाना नहीं चाहता। अपनी सति से प्रेमी कहता है: "प्यारी, तुम कमल पुष्प हो, तुझे देखे बिना रह नहीं सकता। तुम मल्ली की माया हो, तुझ से दूर नहीं हो सकता। हे केतकी पुष्पदल तुम को छोड मैं नहीं रह सकता।"

"यालक्कि काय सुलिदु यावड़गि माडली।
ऊरिग्होग्यार रायरु। बारदे।
यावडगि माडि फलवेनु॥"

"इलायची का छिलका उतार कर कौनसी रसोई बनाऊँ? प्यारे पति तो गाँव गए हैं। उनके आए बिना किस रसोई बनाने से क्या फल या लाभ होगा?"

यह है पति प्रेम में लीन होने का भाव।

—मा॰ देवेगौड 'बोम्मरण्णा'

महारानी कालेज,
मैसूर

मुस्कान

तार में लिखा था, 'ओफ़ेलिया की हालत खराब है।' उसने निश्चय किया कि वह रात भर बैठा रहेगा, तपस्या होगी या प्रायश्चित्त। क्योंकि ऐसी हालत में सो जाना भी तो कितनी हलकी बात है, जैसे कोई मज़ाक हो। फ्राँस रात में डूबा जा रहा था और वह फर्स्ट क्लास के डिब्बे में ऊबा ऊबा और थका थका-सा बैठा था।

उसे असल में इस समय ओफ़ेलिया की चारपाई के पास बैठे होना चाहिए था, लेकिन वह नहीं चाहती थी अतः वह गाड़ी में बैठा था।

भीतर उसकी गहराई में एक गाढ़ा, घनीभूत, काला काला-सा वज़न था जिससे जैसे उसके अंग अंग दबे जा रहे थे। और वह अत्यंत गम्भीर हो गया था। सुन्दर, सुडौल, चेहरा सूली पर लटके ईसा मसीह की तरह लगता था। घनी काली भौहें तीव्र व्यथा से टेढ़ी पड़ गई थीं।

गाड़ी के भीतर की रात रोज़मर्रा की तरह यथार्थ और वास्तविक रात न हो कर इतर लोक की भाँति लग रही थी। सामने दो अंगरेज़ औरतें बैठी थीं, लेकिन वे तो जैसे कभी की मर चुकी हों, शायद उससे भी पहले। हाँ, उससे भी पहले, क्योंकि स्वयं वह तो अवश्य ही मर गया था (अपने ख्याल में)।

सीवान में पहाड़ों में धीमे धीमे मटमैला-सा प्रभात उतर रहा था। वह देख कर भी नहीं देख रहा था। किन्तु मन ही मन एक प्रसिद्ध कविता की पंक्तियाँ गुनगुना रहा था...

"और जब भोर हुई, धुँधली उदास
और वर्षा के कारण अत्यन्त ठण्डी
तो उसकी शान्त पलकें बंद हो गईं
और हम लोगों से भिन्न उसका दूसरा ही प्रभात हुआ।"

उसे अपने आप से घृणा हो रही थी, पर उसके चेहरे पर घृणा की कोई रेखा नहीं दीखती थी।

वह इटली में था। उसने चारों तरफ़ फैले देश को हल्की घृणा के साथ देखा, क्योंकि हृदय अत्यन्त तीव्र और उत्तेजित भावनाओं को सहन करने की शक्ति खो चुका था। जैतून के सुन्दर पेड़ और समुद्र को देख कर उसे एक हलकी-सी ऊब का अनुभव होने लगा—जो कविताओं लिए अच्छी चीज़ें हैं, ठगनेवाली चीज़ें, मगर जिनकी वास्तविकता कुछ नहीं।

रात झुक आई थी जब वह वहाँ पहुँचा। उस मठ का नाम लू सिसट्र्स था। ओफ़ेलिया वहीं रहने लगी थी। उसे वहाँ की मुख्याधिकारिणी के कमरे में ले जाया गया। वह उठी, चुपचाप मस्तक झुका कर उसने अभिवादन लिया और अपनी नाक की सीध में सामने देखती रही। फिर थोड़ी देर बाद उसने फ्रेंच में कहा: 'यह कहते हुए दुःख होता है कि आज तीसरे पहर उसका देहान्त हो गया।'

वह बेवकूफ़-सा खड़ा रहा। एकदम भावनाहीन और अपने सम्मुख फैले अपार शून्य की ओर निरंतर टकटकी लगा कर देखने लगा, देखता रहा।

वहाँ की मुख्याधिकारिणी ने अपना गोरा गोरा हाथ उसकी बाहों पर रक्खा और उसकी ओर झुकते हुए उसकी आँखों में देख कर कोमलता से कहा, 'धैर्य! धारण करो।'

वह पीछे हट गया। जब कभी कोई स्त्री उस पर इस प्रकार झुकती थी तो वह घबरा जाता था। और उस पोशाक में वह मुख्याधिकारिणी भी तो औरत ही लग रही थी।

'मैं उसे देख सकता हूँ?' उसने अंग्रेज़ी में पूछा।

मुख्याधिकारिणी ने घण्टी बजाई और एक जवान 'सिस्टर' निकली। उसका रंग पीला पीला-सा था, किन्तु उसकी अधभूरी आँखों में सरलता के साथ शरारत भी भरी थी। दोनों का परिचय कराया गया, 'सिस्टर' ने झुक कर अभिवादन किया, पर मैथ्यू ने मिलाने के लिए हाथ बढ़ा दिया जैसे कोई डूबता हुआ, तिनके का सहारा पा रहा हो। 'सिस्टर' ने अपने गोरे गोरे हाथों को खोला और कुछ शरमा कर उसके हाथ को ले लिया। वह इतनी निष्क्रिय लग रही थी जैसे सोई हुई चिड़िया हो।

उस घने अंधकार में जिसमें उसका दिमाग डूबा हुआ था, विचार आया, 'कितना अच्छा हाथ है?'

फिर वे लोग आगे बढ़े, एक सुन्दर किन्तु ठण्डे बरामदे से होकर—और दरवाज़े पर थपकी दी। मैथ्यू दूर किसी अंधकार से आच्छादित देश में चल रहा था। फिर भी अपने सामने सर सर करती हुई निरंतर आगे बढ़नेवाली काली पोशाक की चेतना उसे थी।

कमरा खुला और सामने सफ़ेद बिस्तर के चारों ओर मोमबत्तियाँ जलती दिखाई दीं। कमरा शानदार और ऊँचा था। वह डर गया। जलती मोमबत्तियों की बगल में एक सिस्टर बैठी थी, सफ़ेद टोपी पहने, और उसके चहरे पर आदिम जमाने का कुछ भाव था। प्रार्थना की पुस्तक से निगाह उठा कर उसने ऊपर देखा। वह साँवली और स्वस्थ थी। उठ कर उसने अभिवादन किया।

तीनों सिस्टर चुपचाप सिरहने की तरफ़ इकट्ठी हो गईं। उनका हृदय ऐसे वातावरण में और भी चंचल तथा स्फुरित हो उठा था, और फैली हुई पोशाक से उसका स्त्रीत्व और भी उभर आया था। मुख्याधिकारिणी झुकीं और अत्यन्त मुलायमियत से मृत चेहरे पर से सफ़ेद आवरण हटाया।

पत्नी के मृत मुख की स्निग्ध शान्ति मैथ्यू ने देखी, और तत्क्षण उसके अन्तस् की गहराइयों में हँसी की तरह की कोई चीज़ उछल पड़ी। तनिक दबी हुई-सी ध्वनि उसके अधरों से प्रस्फुटित हुई। फिर एक असाधारण मुस्कान उसके चेहरे पर फैल गई।

वे तीनों औरतें मोमबत्ती की मुलायम गरम रोशनी में, सहानुभूति और सौहार्द्र पूर्ण नयनों से उसकी ओर देख रही थीं। वे आइने की तरह थीं। यह आंखें अचानक अचकचा कर आश्चर्य से भर गईं। और फिर उनके चेहरे पर एक विचित्र मुस्कान स्वतः आने लगी। वही एक मुस्कान तीनों के चेहरों पर विभिन्न प्रकार से फैल रही थी, जैसे तीन फूल खिल रहे हों। पीली सिस्टर की मुस्कान में कुछ कुछ दर्द-सा था और कुछ कुछ शरारत भरा विचित्र सुख लेकिन सांवली-सी स्वस्थ 'सिस्टर' की मुस्कान में आदिम जमाने के निवासियों का एक स्पर्श था और एक विचित्र तथा अत्यन्त सूक्ष्म हास्य। यह वह मुस्कान थी जो किसी को देख कर झेंपती नहीं, जिसका कोई जवाब नहीं।

मुख्याधिकारिणी ने जिसका चेहरा मैथ्यू की भाँति कुछ बड़ा-सा था, न मुस्कराने की बहुत कोशिश की। लेकिन वह अपना मुस्कराता हुआ चेहरा उसकी ओर उठाए ही रहा। जैसे जैसे मुस्कान उसके होंठों पर फैलती गई वह सिर नीचा करती गई।

नई उमर की उस पीली-सी सिस्टर ने अचानक अपने हाथ से अपना मुँह ढँक लिया। उसका सारा तन कांप रहा था। मुख्याधिकारिणी ने अपना हाथ उसके कन्धे पर रखा और धीरे धीरे भावावेश में बोली, 'बिचारी! रोना है तो खुल कर रो ही लो। बिचारी मासूम!' लेकिन उस भावावेश के नीचे भी हँसी मौजूद थी। स्वस्थ सांवली सिस्टर वैसे ही स्थिर खड़ी थी, माला के काले मनकों को हाथों में लिए। किन्तु, शब्दहीन मुस्कान उसके चेहरे पर भी थी।

मैथ्यू अचानक चारपाई की ओर मुड़ा, कहीं उसकी मृत पत्नी ने देख न लिया हो।

ओफ़ेलिया वैसे ही पड़ी थी, उतनी ही सुन्दर और उतनी ही कारुणिक। उसकी छोटी-सी सुन्दर नाक वैसे ही ऊपर उठी थी। बच्चों की तरह की उसकी ज़िद सदा के लिए वैसे ही रह गई थी। मैथ्यू के चेहरे से मुस्कान चली गई और उसके स्थान पर ऐसा लगने लगा जैसे वह शहीद हुआ हो। वह रोया नहीं, उसी प्रकार अर्थहीन दृष्टि से देखता रहा। केवल उसके चेहरे की वह अभिव्यक्ति और घनीभूत हो गई, 'मुझे मालूम था कि मेरे भाग्य में इस प्रकार शहीद होना लिखा था।'

वह कितनी सुन्दर दीख रही थी, कितनी बचकानी, कितनी चतुर, कितनी ज़िद्दी, कितनी थकी और कितनी मृत। उसे लगा कि इस विषय में न वह कुछ कह सकता, न अनुभव कर सकता है।

उसकी शादी होकर दस साल बीते हैं, पर वह किसी तरह भी आदर्श चरित्रवाला नहीं रहा था लेकिन ओफ़ेलिया हमेशा अपनी ही बात करती थी। उसने प्यार किया, ज़िद पकड़ी और उसे छोड़ दिया। लेकिन फिर तबीयत ललकने लगी या घृणा से भर आई या नाराज़ हो गई। ऐसा दर्जनों बार हुआ, और दर्जनों बार वह लौट आई।

उसके बच्चे नहीं थे। भावुकता से भर कर वह हमेशा बच्चे चाहता रहा। उसे एक गहरी उदासी का अनुभव हुआ। अब वह कभी नहीं लौटेगी उसके पास। यह तेरहवीं बारदात थी। और वह सदा के लिए चली गई थी।

लेकिन क्या वह सचमुच चली गई थी? अभी वह सोच ही रहा था कि उसे लगा जैसे वह पसलियों में

खोद कर उसे मुस्कराने को बाध्य कर रही है । वह छटपटा उठा और क्रोध से उसकी भौहें सिकुड़ गईं । वह हर्गिज़ नहीं मुस्कराने का ।

वह स्वयं चरित्रवान नहीं रहा है। पूर्ण नहीं रहा है। वह अपनी गलतियों की, अपूर्णताओं की बात सोचेगा ।

वह अचानक उन तीनों औरतों की ओर मुड़ा । वे मोमबत्तियों के पीछे धुँधली-सी होने लगी थीं । और अब उसके तथा शून्य के बीच कहीं तैर-सी रही थीं । आँखें फाड़ कर दाँत निकाल कर वह चिल्लाया ।

मैथ्यू ने सिर घुमा कर चारों ओर देखा, लगता था जैसे भड़-से दरवाजा खोल कर भाग जाने को तैयार हो । मुख्याधिकारिणी और नई उमर की पीली-सी सिस्टर धुँधली होने लगी थी । मुख्याधिकारिणी मन्द स्वर में कुछ मन्त्र गुनगुनाने लगी थीं, माला के मनके बीच बीच में खनक उठते थे । पीली-सी सिस्टर धुँधली पड़ते पड़ते जैसे वायु में घुलने लगी थी । लेकिन स्वस्थ साँवली सिस्टर की काली आँखें तारों की तरह एक चिरन्तन हास के साथ चमक रही थीं । मैथ्यू को लगा कि कोई फिर उसकी पसलियाँ कुरेद रहा है, और वही मुस्कान बाहर आ रही है ।

'देखिए ! मैं बुरी तरह परेशान हो गया हूँ । मुझे चले जाना चाहिए ।' उसने तंग आकर उन औरतों से कहा ।

एक आकर्षित करनेवाले आश्चर्य के साथ वह शांत हो रहीं । वह दरवाजे की तरफ़ चला । लेकिन जाते समय भी वह मुस्कान उसके चेहरे पर फैलने लगी। उस स्वस्थ साँवली सिस्टर ने अपनी काली आँखों के किनारों से उसे देख भी लिया । और उसने मन ही मन सोचा, काश ! वह मक्खन की तरह मुलायम उसके उन दोनों हाथों को पकड़ सकता, जो आपस में प्रणय-क्रीड़ा करती चिड़ियों की भाँति गुँथे थे ।

लेकिन वह जबरदस्ती कोशिश करके अपनी त्रुटियों की बात ही सोचना चाहता था । वह स्वतः कराह-सा उठा । और तभी उसे अनुभव हुआ कि कोई उसकी पसलियों में उँगली से गुदगुदा कर कह रहा है; 'मुस्कराओ ।'

उस शानदार ऊँचे मकान में उन तीनों औरतों ने एक दूसरे की तरफ़ देखा और उनके हाथ स्वतः ऊपर उठ गए । एक क्षण के लिए लगा कि जैसे छः पक्षी अचानक हरी पत्तियों से ऊपर उठ गए हों ।

'बेचारा !' मुख्याधिकारिणी ने दयापूर्ण स्वर में कहा ।

'हाँ ! बेचारा !!' उस नई उमर की सिस्टर ने सरलता भरी तेज़ आवाज में समर्थन करते हुए कहा ।

'हूँ' उस स्वस्थ साँवली सिस्टर ने कहा ।

मुख्याधिकारिणी शान्तिपूर्वक उस चारपाई के पास गई और शव पर झुककर बोलीं, 'लगता है जैसे बेचारी सब कुछ जानती हो । है न ?'

तीनों सिर साथ झुके । और पहली बार उन्होंने ओफ़ेलिया के होंठ के किनारे पर एक व्यंग्यात्मक मुस्कान की वर्तुल रेखा देखी । और तीनों ने एक दूसरे की ओर अचरज के साथ देखा ।

'उसने इसे देख लिया होगा' नई उमर की सिस्टर काँपती आवाज़ में फुसफुसाई ।

मुख्याधिकारिणी ने कोमलता से महीन आवरण उस ठण्डे चेहरे पर डाल दिया । फिर मृतात्मा के लिए उन्होंने शान्ति की प्रार्थना की । और मोमबत्तियों को सीधा कर के ठीक से लगा दिया ।

वह साँवली स्वस्थ सिस्टर उस पुस्तक को खोल कर फिर बैठ गई । और शेष दोनों दबे पाँवों ठण्डे बरामदे से होकर अपनी काली पोशाक में चलती हुई ऐसी लगीं मानों काली नदी में नक्षत्रों की तरह की कोई चीज तैर रही हो । अचानक वे हिचकिचाईं । दोनों ने बराम्दे के दूसरे छोर पर ओवरकोट पहने एक ग़मगीन और हताश आदमी को देखा । मुख्याधिकारिणी अचानक तेज़ी से आगे बढ़ी ।

मैथ्यू ने अपनी तरफ़ आती हुई इन औरतों को देखा । नई उमर वाली सिस्टर कुछ पीछे थी ।

'माफ़ कीजिएगा, मैंने अपना हैट कहीं छोड़ दिया,' उसने इस तरह कहा जैसे सड़क पर किसी से भेंट हुई हो ।'

अत्यन्त निराश होकर उसने हाथों को फैलाया और फिर आगे बढ़ा । उसके होठों की मुस्कान पूर्ण रूप से मर गई थी। आदमी कभी मुस्कान से इतनी दूर नहीं रहा होगा।

—डी. एच. लारेन्स
अनु० दुष्यन्त कुमार

११, कानपुर रोड,
इलाहाबाद

राख के तले

[एक ऐसे मकान का दृश्य जो इस गिरी हालत में भी अपनी बुलन्दी के चिह्न लिए है। कमरे की दीवारें कभी गहरे नीले रंग से पोती जाती थीं, बाद में उस पर सफ़ेदी चढ़ी जिससे न उनका रंग नीला रहा और न सुफेद ही। पर अब सालों से बिना पुती हैं। दीवार की उखड़ी पुखड़ी जगहों पर सीमेंट थोपे गए हैं। सामने का दरवाज़ा गली में खुलता है जिससे सामने जमा किया गया गली का कूड़ा दीख रहा है। पश्चिम का दरवाजा दूसरे कमरे में खुलता है जिसमें सरूप की पत्नी नीलिमा अपने बीमार बच्चे को लेकर रहती है। पूरब की ओर एक खिड़की है और उससे कुछ हट कर एक दूसरा दरवाज़ा जो आँगन को जाता है। कमरे से मिला जुला बैठका और शयनगृह दोनों हैं। दो तीन चारपाइयाँ, लोहे की दो कुर्सियाँ और एक पुराना आइना लगा दराज। दीवारों पर 'अनन्त शिवाजी देसाई' के पुराने ज़माने के दो चित्र— 'राम का वन गमन' और 'कृष्ण की रास-लीला' लगे हैं। खूँटी पर बन्दूक और कुछ कपड़े भी। परदा उठता है। सरूप की माँ आँगन से कमरे में आती है और इधर उधर देख कर पश्चिम के कमरे की ओर जाती है।]

माँ : (पुकार कर) बहू!

(कोई जवाब नहीं आता)

माँ : (कुछ जोर से किवाड़ खट-खटा कर) ओ बहू!

नीलिमा : (अन्दर से क्षीण स्वर में) क्या है माँ जी!

माँ : नन्हे की तबीयत कैसी है?

नीलिमा : (भीतर से ही) वैसी ही है। कोई सुधार नहीं है (चिन्ता के स्वर में) न जाने क्या होने को है। बच्चा आँख तक नहीं खोल रहा है।

माँ : (सांत्वना के स्वर में) घबराने से काम कैसे चलेगा? बीमारी तो ऐसा मेहमान है बहू, जो बे बुलाए आता है और अपने मन से ही जाता है। नन्हे सो रहा है न?

नीलिमा : हाँ माँजी! चाहे उसे सोया कह लो या बेहोश।

माँ : तू तो तनिक बाहर आ। दिन रात उसी कमरे में घुसी रहती है। दम घुट जाता होगा।

नीलिमा : (उदासीनता से) आती हूँ।

(माँ घूम कर आँगन की तरफ़ जाती है, फिर कुछ सोच कर सामने के दरवाजे से झाँकती है। जब कोई आता नहीं दिखाई देता तो निराश हो कर खाट पर बिस्तर बिछाने लगती है।)

माँ : (पुकार कर) महेश! ओ महेश!! (कोई जवाब नहीं आता तो भुनभुना कर) जाने वह भी कहाँ चला गया?

(नीलिमा का प्रवेश)

नीलिमा : क्या है माँ जी?

माँ : मैंने कहा, जरा अपनी तन्दुरुस्ती का भी तो ख्याल कर बेटी! (उसके पास जा कर) देख तो इस उमर में ही किस तरह मुरझा रही है? इस तरह अपना शरीर गलाने से क्या लाभ?

नीलिमा : (भरे गले से) माँजी! नन्हे की हालत बहुत खराब है। बारह घण्टे से आँख नहीं खोल रहा है। तवे की तरह शरीर गरम है। साँस लेता है... धीमे... धीमे... जैसे... जैसे गले में कोई फाँस पड़ गई हो। ...क्या होने को है माँजी।

माँ : सब ठीक ही होगा बहू! इस तरह घबराने से तो काम नहीं चलेगा। बुखार धीरे धीरे उतरेगा।

नीलिमा : (व्यग्र हो कर) क्या उतरेगा बुखार माँजी! आज इक्कीस दिन तो हो गए। उसमें अब रोने या बोलने की भी ताकत नहीं।...... (कुछ संकोच से) माँ जी!

माँ : हाँ!

नीलिमा : माँ जी! महेशबाबू को भेज कर उन्हें खबर कर दीजिए।

माँ : किसे? सरूप को?......बहू! तू अब तक उस मृगतृष्णा में है? उससे कोई आशा रखना बेकार है। वह निकम्मा नालायक ही इस लायक रहता तो आज हम बूढ़ों के होते हुए फूल से बच्चे के सर पर मौत यों न मंडराती। हमारे घर में यों विपत्ति की घटाएँ न घिरतीं।

नीलिमा : कुछ भी हो माँजी ! वह एक बाप है और अपने कलेजे के टुकड़े की यह हालत देख कर वह जरूर पसीजेंगे ।

माँ : (कण्ठ स्वर तिक्त और कठोर होता जाता है) उसे बाप कह कर तू उस पवित्र शब्द का अपमान कर रही है ।

(जमनादास का प्रवेश)

जमनादास : नहीं सरूप की माँ ! बहू सरूप को बाप कह कर उसके चरित्र को ऊँचा उठाने की कोशिश कर रही है । (नीलिमा ठीक से सिर ढांक लेती है) बहू ! उसके प्रति अपनी आसक्ति और आस्था की भावना को दूर कर दे। वह तेरा कोई नहीं......वह किसी का कुछ नहीं ।

नीलिमा : वे मेरे पति हैं पिता जी ! संसार के सब नाते रिश्ते टूट सकते हैं, पर मैं तो उनकी जिन्दगी के साथ बाँध दी गई हूँ । मैं चाहे उनके लिए कुछ नहीं, वे तो मेरे सर्वस्व हैं ।

जमनादास : ऐसी पत्नी पाकर भी वह अभागा उसकी क़द्र न कर सका ! उसको तो जैसे इस संसार के बन्धनों से विराग हो गया है, नाते रिश्तों से वितृष्णा हो गई है ।

माँ : जाने कैसी बातें करते हो । ऐसा कौन योगी मुनि है वह ? संसार के तमाम भोग विलास में डूबा विराग के मन्त्र क्या जपेगा ? मैं तो कहती हूँ जी, उसकी आँख का पानी मर गया है । बूढ़े बाप माँ और बेकस भाई की तो छोड़ो, बीमार बीबी बच्चों की तरफ़ से भी वह उदासीन है । क्या जानती थी कि इतना पढ़ लिख कर भी वह इतना बेईमान स्वार्थी और नीच निकलेगा । (नीलिमा सर नीचा कर ज़मीन को पैर के अंगूठे से कुरेदती है)

जमनादास : दोष इसी पढ़ाई का तो है सरूप की माँ ।

माँ : (चौंक कर) क्या कहते हो ?

जमनादास : आधुनिक शिक्षा प्रणाली बहुत खर्चीली है सरूप की माँ और आधुनिक समाज है ग़रीब इसलिए यदि इत्तिफ़ाक़ से कोई ग़रीब का लड़का ऐसी खर्चीली तालीम हासिल करता है तो उसके दिमाग़ में अपने विद्यार्थी जीवन की उस कृत्रिमता का भूत सवार रहता है । वह अपने को अमीर ही समझता है । (हँसता है) जीवन की वास्तविकताओं की ओर अपना ध्यान नहीं केन्द्रित कर पाता ।

माँ : तो क्या विद्यार्थी जीवन बनावटी होता है ?

जमनादास : और क्या ? ग़रीब पिता किस मुश्किल से पेट काट कर तालीम के लिए पैसे दे रहा है, यह जानने से लड़के को क्या मतलब ? वह तो अमीरों की सोसायटी में रहता है, उसके मुताबिक अपना स्टेटस ऊँचा रखता है । पढ़ाई खत्म करने के बाद जब जीवन की विकरालताएँ सामने आती हैं तो उसका विलासप्रिय मन एक वितृष्णा से भर जाता है ।

माँ : शायद इसीलिए सरूप अपनी कमाई के पैसे गुलछर्रे उड़ाने में खर्च कर रहा है । अपनी विलासप्रियता को क़ायम रखने के लिए ।

जमनादास : बस, यह बात है । (चौंक कर सामने दरवाज़े से झाँकता है) उस कूड़े के पास कौन है !

(उसके बारह वर्षीय पुत्र महेश का प्रवेश)

महेश : मैं हूँ पिताजी ! उस कूड़े में कोई यह बोतल फेंक गया था । मैं उठा लाया । देखो माँ, काम आएगी न ?

जमनादास : (साँस लेकर दबे स्वर से)—अब यहाँ तक नौबत आ गई ?

माँ : जा बेटा, अन्दर जाकर हाथ मुँह धो ।

महेश : मैं एक दोस्त से किताब ले आऊँ माँ ! कल परीक्षा है, रात को पढ़ना है । (प्रस्थान)

जमनादास : बहू ! बच्चे की तबीयत कैसी है ?

नीलिमा : सोया है ।

जमनादास : और तुम दोनों यहाँ हो ? कमाल कर दिया तुम लोगों ने !

माँ : दित रात तो बैठी रहती है । एक मिनट के लिए बाहर क्या आई, लगे उलहना देने । अपने बेटे का हाल तो देख रहे हो ! क्या करे कोई खून जला कर ?

जमनादास : तो मैं कब कहता हूँ कि बहू बेचारी दिन भर वहाँ बैठी रहे ? मुझसे कह देतीं, मैं चला जाता ।

(भीतर कमरे में जाता है)

माँ : (नीलिमा से) जा कर तू खा ले, हम लोग बच्चे को देखते हैं ।

नीलिमा : भूख नहीं है माँजी ।

माँ : यह तेरी क्या आदत है बहू । जब होता है, कह देती है, भूख नहीं है । आखिर ऐसे कब तक

काम चलेगा ?

नीलिमा : ज़िन्दगी में ऐसा कौन-सा आकर्षण शेष है माँजी जो जीने की कामना करूँ ? सब कुछ तो देख लिया (साँस लेती है)।

माँ : फिर भी बेटी, जब तक इस संसार में रहना है......

नीलिमा : (बात काट कर कुछ तीखेपन से)—संसार में रहना है ? किसके लिए ? अपने बच्चे के लिए ?...वह तो दो घड़ी का मेहमान है। पति के लेखे तो मेरी हस्ती ही नहीं। फिर किसके लिए जिऊँ माँजी (आँसू भर आते हैं)।

माँ : रो मत बहू। (साँस लेकर) हमारे भाग्य ही वैसे थे ! किसी का इसमें क्या दोष ?

बहू : वह ऐसे नहीं थे माँजी। वह ऐसे हरगिज़ नहीं थे। इस बात को भला आप से अच्छी तरह कौन जानता है ? वे तो आपकी कोख से पैदा हुए थे।...न जाने उन्हें क्या हो गया ?

माँ : तू ठीक कहती है बहू ! मेरा सरूप ऐसा हरगिज़ नहीं था। जाने उसे क्या हो गया है ? इतना परिवर्तन कैसे हो गया उसमें ? वह कमबख़्त न किसी को बाप मानता है, न माँ, न पत्नी और न सन्तान ही।

(सरूप का प्रवेश)

सरूप : वाक़ई माँ ने बहुत समझदारी की बात कही। मैं तुमसे इतनी समझदारी की आशा नहीं करता था माँ।...इस दुनियाँ में कौन किसका है ? सारे सम्बन्ध झूठे सारे नाते-रिश्ते क्षणिक। आदमी दुनियाँ में किसी का कुछ नहीं है। वह सिर्फ़ अपना है। अपना...... सिर्फ़ अपना।

नीलिमा : ऐसा न कहो।

सरूप : मैं ग़लत नहीं कह रहा नीलिमा बिलकुल सच कह रहा हूँ। तुम दूसरों की इतनी तीमारदारी और ख़ुशामद क्यों कर रही हो, इस तरह परमुखापेक्षी क्यों बन रही हो ? जीने की कला हासिल करो नीलिमा, जिओ सिर्फ़ अपने लिए जिओ !

माँ : (कठोर स्वर से) अगर दुनिया में सब अपने लिए जीते तो आज तू इतना बड़ा होकर दूसरों को उपदेश देता न फिरता।

सरूप : (हँस कर) तुम यह कहना चाहती हो माँ कि तुम लोगों ने मुझे पाल पोस कर मेरे ऊपर एहसान किया है ?

माँ : (जैसे आसमान से गिर पड़ती है)—हैं ! तो क्या तू इससे भी इन्कार करता है ?

सरूप : (हँस कर) मैं तो यह कहता हूँ माँ कि तुम लोगों ने बञ्जर खेत में दो मुट्ठी अनाज के दाने इस आशा से फेंक दिए कि यदि खेत लहलहा उठे तो चैन की वंशी बजेगी, नहीं तो फिर कोई बात ही नहीं।...समझ लो माँ ! कि खेत पर पाला पड़ गया है।

माँ : आज तक मैं यही जानती थी कि तू परले सिरे का स्वार्थी और घमंडी है, पर अब मालूम हुआ कि तू नम्बर एक का एहसान फ़रामोश भी है।

सरूप : तुम आवेश में आकर एक बात भूल रही हो कि जब एहसान किसी के सर पर एहसान कह कर लादा जाता है तो वह एहसान नहीं रहता।

नीलिमा : (व्यथित कण्ठ से) तुम्हें मालूम है, नन्हें की तबीयत बहुत ख़राब है।

सरूप : घबराने की बात नहीं, बुख़ार ही तो है, उतर जाएगा।

नीलिमा : वह दिन भर से बेहोश है...शरीर अंगारे की तरह गरम है...धीमे धीमे साँस ले रहा है।...मैं...मैं हाथ जोड़ती हूँ। मेरे बच्चे को बचा लो (कण्ठ भर आता है) वह तो बच्चा है। तुम्हें हम लोगों से नाराज़गी होगी, पर बेचारे बच्चे ने क्या बिगाड़ा है ?

सरूप : गम्भीरता से) मुझे किसी से नाराज़गी नहीं नीलिमा ! यह तुम्हारी भूल है। मुझे केवल असन्तोष है—इस सामाजिक व्यवस्था से असन्तोष है। मैं रोज़ देखता हूँ कि लाखों करोड़ों लोगों को अपनी ज़रूरतों की पूर्ति के लाले पड़े हैं और मुट्ठी भर लोग ज़िन्दगी के मज़े उड़ा रहे हैं। मैं...

जमनादास : (प्रवेश करके) इस मानसिक विलास से लाभ ही क्या ? तुम्हें तो अपनी ज़रूरतों की पूर्ति में बाधा नहीं होती ? तू तो ज़िन्दगी के मज़े उड़ा रहा है न !

सरूप : हाँ, क्यों न उड़ाऊँ ? जब मैं इस दुनिया में आया हूँ तो उपभोग का पूरा अधिकार है मुझे। मैं क्यों फाके करूँ ? मैं क्यों तक़लीफें सहूँ ? इन्सान की ज़िन्दगी बहुत छोटी होती है पिता जी, इसका भरपूर आनन्द उठाना उसका कर्तव्य है।

(भीतर कमरे से बचा क्षीण स्वर से पानी माँगता

है और नीलिमा तथा माँ दौड़ कर भीतर जाते हैं। जमनादास कुर्सी खींच कर उस पर बैठ जाते हैं।)

जमनादास : सरूप ! तू जाने ऐसा क्यों हो गया है। तू जानता है कि मैं एक मामूली सिपाही के ओहदे से बढ़ कर सर्किल इन्स्पेक्टर तक पहुँचा—केवल अपनी नेकनीयती और ईमानदारी के कारण ! किन दिक्कतों से मैंने घर चलाया, तुझे पढ़ाया लिखाया, आदमी बनाया। और अब तू जब इस लायक़ हो गया कि अपने साथ साथ दूसरों का भी पेट भर सकता है, तब तूने आँखें फेर लीं। अपने बीबी और बच्चे से भी उदासीन हो गया।

सरूप : (रुखाई से) मैं कर ही क्या सकता हूँ ! मेरे पास काहूँ का ख़ज़ाना या अलादीन का चिराग़ तो है नहीं। मेरी कमाई से आप अनजान नहीं। जो मुझे मिलता है वह मुझे ही पूरा नहीं पड़ता, दूसरों को क्या दूँ ?

जमनादास : पूछूँ तो, तेरे दो सौ रुपए कहाँ जाते हैं। हमने तो एक टका भी नहीं देखा।

सरूप : वे रुपए मेरी ज़रूरतों के लिए भी कम हैं पिता जी ! मैं अच्छा खाना चाहता हूँ, ठाठ से रहना चाहता हूँ। सिनेमा, डाँस, काफी हाउस और रेसकोर्स में पैसे उड़ाना चाहता हूँ। जब तक जीना है, मैं ठाठ से जीना चाहता हूँ।

जमनादास : ऐश्वर्य के प्रकाश ने तेरी आँखें चौंधिया दी हैं और तू अपने कर्तव्यों को भूल गया है।

सरूप : (थोड़ा मुस्करा कर जैसे पिता की भूल और नादानी पर उसे तरस आ रहा हो) मैं भूला नहीं पिता जी, बल्कि यूँ कहिए कि मैंने अपने कर्तव्यों को अब पहचाना है।

मनुष्य का जीवन पहले अपने लिए होता है, फिर दूसरों के लिए। जो दूसरों के लिए कुछ करते हैं उनके पास उतने साधन होते हैं कि अपनी सेवा करने के बाद वे दूसरों की ओर ध्यान दे पाते हैं। मेरे पास उतने साधन नहीं।

जमनादास : (एक सूखी हँसी हँस कर) बेटे को बुढ़ापे की लकड़ी और नयनों की ज्योति कहनेवालों के मुँह पर तूने एक गहरा तमाचा मारा है सरूप ! शाबाश ! (एक साँस ले कर) लेकिन तू यह बखूबी जानता है कि घर का ख़र्च मेरी पेंशन से चल रहा है...

(माँ का प्रवेश)

माँ : (बात काट कर) और पेन्शन की रकम पन्द्रह दिनों के लिए भी काफी नहीं होती। लिहाज़ा हर महीने या तो कुछ कर्ज करना पड़ता है या ज़ेवरात बेचने पड़ते हैं। जिसका नतीजा यह है कि आज शरीर पर एक सूत भी बाक़ी नहीं है।

सरूप : (चिढ़ कर) लेकिन इन सब बातों का मतलब क्या है ?

जमनादास : मतलब यह कि हम तुम्हें और तुम्हारे बाल बच्चों को खिला कर कंगाल और मोहताज हो गए। हम तुमसे कुछ माँगते नहीं। हमारा कहना यही है कि अब तुम अपना बोझ सम्हालो। इन पुट्ठों में अब वह सामर्थ्य नहीं।

सरूप : आप...आप सच कह रहे हैं पिता जी ?

माँ : (बीच बचाव करती हुई) अरे नहीं रे ! तू अपने पिता की आदत जानता है। गुस्से में अंट शंट बक जाते हैं। उनकी बातों...

जमनादास : (गम्भीरता से) सरूप की माँ ! तुम बीच में न बोलो ! आज इस नालायक़ स्वार्थी और अहमवादी आदमी से मैं फैसला कर ही डालूंगा। जवाब दो सरूप !

सरूप : (जेब में हाथ डाल कर) आपको मेरे यहाँ रहने में यदि आपत्ति है पिता जी तो मैं यह घर छोड़ दूँगा।

जमनादास : घर छोड़ने का प्रश्न नहीं है। मैं तुम्हें घर से निकाल नहीं रहा हूँ। तुम्हें तुम्हारी ज़िम्मेदारियाँ सौंप रहा हूँ जिन्हें इतने दिनों तक मैंने ढोया है।

सरूप : महीने में मेरे ऊपर आपका ऐसा कौन-सा ख़र्च हो जाता है पिता जी ! एक दो वक्त भोजन ही तो करता हूँ; मैं किसी होटल की मेस में खाना खा लिया करूँगा।

जमनादास : (काँपते हुए) और अपनी बीबी को भी होटल में खिलावेगा ? अपने बच्चे को भी ?

सरूप : मैं उनके बारे में कुछ नहीं जानता।

जमनादास : क्या मतलब ? क्या तू उनकी ज़िम्मेदारी सम्हालने को तैयार नहीं ?

सरूप : बिलकुल नहीं, मैं केवल अपने लिए जिम्मेदार हूँ। चाहे तो अपने मायका में रहे, यदि आप रखें तो आपके पास और नहीं तो.. और नहीं तो गलियों

में भीख माँगे। मुझे उससे कोई मतलब नहीं... कोई मतलब नहीं।

जमनादास (क्रोधित होकर) : नीच ! स्वार्थी ! बेईमान ! तुझे शर्म नहीं आती ? तेरी बीवी गलियों में भीख मांगती फिरेगी तो तेरी यह नाक क्या इसी तरह ऊँची उठी रहेगी।

सरूप : मेरी कोई बीवी नहीं, मेरा कोई बाप नहीं, न मेरी माँ है, न बच्चा। मैं अकेला हूँ. एक इकाई। मैं किसी से प्रेम नहीं करता, सिर्फ अपने आपको चाहता हूँ।

माँ : सरूप इतना निर्दय न बन। तेरा बेटा दम तोड़ रहा है, किसी डाक्टर को ला, दवा दारू का इन्तजाम कर।

सरूप : मैं किसी के जीवन या मृत्यु के लिये उत्तरदायी नहीं माँ !

(अंदर कमरे से नीलिमा चीख पड़ती है–"माँ ! पिताजी ! इधर देखिये, बच्चा जाने कैसा हुआ जा रहा है।" जमनादास और माँ घबरा कर भीतर जाते हैं। सरूप के माथे पर सिकुड़न पड़ जाती है और वह जेब में हाथ डाले कुछ सोचता है, कमरे के चक्कर काटता है। एक डेढ़ मिनट के बाद जमनादास दुःखी और व्यग्र निकलते हैं। सरूप उनके पास जाता है।)

सरूप (थोड़ी आतुरता से) : बच्चे की तबीयत कैसी है ?

जमनादास (व्यंग से) : मुबारकबाद लो। तुम्हारी जिम्मेदारी भगवान बांटे ले रहा है। बच्चा ज़िन्दगी और मौत के बीच झूल रहा है और तुम्हारी बीवी भी बहुत जल्द तुम्हें बंधन मुक्त कर देगी। यों ही वह पीलिया रोग का शिकार है, बच्चे की मौत सारी कसर पूरी कर देगी।

(सरूप के माथे पर सिकुड़नें और गहरी हो जाती हैं। निराश माँ बाहर निकलती है।)

माँ (जमनादास से) : बच्चा बहुत तड़प रहा है जी। उसे बेहद तकलीफ है। न हो, किसी डाक्टर, वैद्य को बुलवाते।

जमनादास : उसका इलाज़ बस एक ही है सरूप की माँ ! जितनी जल्द उसे इस ज़िन्दगी से छुटकारा मिल जाय, उतना ही अच्छा। (परूप से) कुछ भी हो, मैं तेरा बाप हूँ। तेरा रास्ता सुगम करना मेरा कर्तव्य है।

सरूप : क्या मतलब पिता जी ?

जमनादास : मतलब यह कि मृत्यु की यंत्रणा से छुटकारा देने के लिये मैं बच्चे को एक बारगी खत्म कर दूँगा। तेरी बीवी को भी रोने और तड़पने के लिए न छोड़ूँगा और तेरी माँ, तेरे भाई सबों को गोली मार दूँगा। इसके बाद मैं खुद मर जाऊँगा ताकि तेरा बोझ एक बारगी हल्का हो जाय... तू बिलकुल बंधन मुक्त हो जाय, स्वच्छंद खुले पंछी की तरह आज़ाद।

माँ (आश्चर्य से) : क्या बक रहे हो ? पागल तो नहीं हुए ?

जमनादास : क्यों ? इस बुढ़ापे में भी जीवन का मोह नहीं छूटा ? (सरूप को मुस्कराता देख कर) सरूप ! तुझे शायद मेरी बातों पर विश्वास नहीं क्यों...अभी हो जाएगा। (लपक कर बन्दूक उतारता है) आज बरसों बाद मैंने फिर तुझे हाथ लगाया है, तुझ से जीवन का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य करवाने के लिए।

माँ : लेकिन सुनो तो......

जमनादास : (ड्रायर से गोलियाँ निकाल कर भरते हुए) कोई चिन्ता की बात नहीं, हम सब आए दिनों के इन कष्टों से सदैव के लिए मुक्त हो जाएँगे। (तेज़ी से भीतर कमरे में जाते हैं।)

माँ : सरूप ! सरूप अभी भी अपने पिता को रोक ले। यदि तू उनके कहने पर चलने को तैयार हो जाए तो सारी आफ़तें टल जाएँ।

सरूप : (मुस्कुरा कर) मारना और मरना उतना आसान नहीं है माँ। ये कोरी भभकियाँ हैं। लेकिन मैं अपने उसूलों पर उसी तरह दृढ़ हूँ।

(अन्दर से नीलिमा का आर्त्त स्वर) : लेकिन पिताजी ! यह आपको क्या सूझी है ?

जमनादास : (कठोर स्वर से) मैं तुम सबों को कष्ट से मुक्त कर दूँगा और अपने लाड़ले सपूत को संसार के बन्धन से। तुझे जीने का कोई अधिकार नहीं, तेरा पति तुझे नहीं चाहता, किसी को नहीं चाहता केवल खुद को चाहता है।

(एक फ़ायर करता है और नीलिमा चीख पड़ती है, वह दूसरा फ़ायर करता है। सरूप और माँ चौंक जाते हैं। सरूप दौड़ कर दरवाज़े की ओर बढ़ता है पर जमनादास वहीं रोक लेते हैं। बंदूक के कुंदे से उसे ठेलते हुए बीच कमरे में आते हैं।]

जमनादास : तुझे अपने आपसे प्यार है न !

खबरदार उस कमरे की ओर न जाना। वहाँ वे लोग अखण्ड शाँति में सोए हुए हैं जिन्हें तू प्यार नहीं करता। (माँ की तरफ़ देख कर) अब तू रह गई है। (बंदूक तानता है) तुझे भी खत्म कर दूँ।

सरूप : (चिल्ला कर) पिताजी! (दौड़ कर बंदूक और माँ के बीच में आ जाता है) फ़ायर कीजिए! इस स्वार्थी बेईमान बेटे की छाती को छेद डालिए! गोली चलाइए, चलाइए पिता जी। (जमनादास की बंदूक की नली नीचे हो जाती है)

सरूप : (आँखों में आँसू भर कर) आप मुझे मार डालिए...आपने ही मेरी सृष्टि की थी, आपको मुझे मिटाने का पूरा अधिकार है।...मैं स्वार्थी हूँ, पापी हूँ, खुदगर्ज़ हूँ। मैंने केवल अपने विलास और सुख को देखा।

(वह जमनादास के पैरों से लिपट जाता है, वह उसे छाती से लगा लेता है।)

जमनादास : बेटा! सुबह का भूला अगर शाम को वापस आ जाए तो उसे भूला नहीं कहते।

सरूप : लेकिन अब बहुत देर हो चुकी है पिता जी।...बहुत देर हो चुकी! नीलिमा और नन्हें की जान की कीमत दे कर मैंने यह सुबुद्धि पाई है। हाय रे हतभाग्य!

[माँ आँसू पोंछती है। जमनादास मुस्कुराते हैं।]

जमनादास : तू अपने आप से प्रेम करता था न, दूसरों से तो नहीं?

सरूप : (बिलग कर) यह भ्रम था, यह झूठ था। इस सामाजिक व्यवस्था से जो प्रतिक्रिया हुई उसने मेरे मन में एक राख बिछा दी थी और प्यार और कर्त्तव्य के वे दहकते शोले उसके तले दब गए थे। आपने आज फूँक मार कर राख को उड़ा दिया...पर बहुत देर हो गई।

जमनादास : कुछ देर नहीं हुई है बेटा। वह देखो। (कमरे की ओर इशारा करता है। नीलिमा दरवाज़े पर खड़ी है।)

सरूप : (खुशी से चिल्ला कर) नीलिमा!...तो तुम...तो तुम जीवित हो? पिता जी! आपने...ओह पिता जी! (उनकी छाती से लग जाता है) आपने अपनी सद्बुद्धि से इस परिवार को डूबने से बचा लिया।

नीलिमा : यदि किसी डाक्टर को दिखा देते तो अच्छा होता। नन्हें का बुखार कम तो हो रहा है पर...

माँ : हाँ सरूप! डाक्टर का देखना ज़रूरी है।

सरूप : मैं अभी डाक्टर को बुला कर लाता हूँ माँ। नन्हें ज़रूर अच्छा हो जाएगा।

[तेज़ी से प्रस्थान]

जमनादास : (हँस कर) देखा सरूप की माँ! क्या तरक़ीब की, न साँप मरा, न लाठी टूटी।

माँ (मुस्कुरा कर) : चलो, लड़के को सद्बुद्धि तो आई।

जमनादास : (मूँछे ऐंठ कर) अरे मैं एक मामूली सिपाही से बढ़ कर सर्किल इन्सपेक्टर के ओहदे तक पहुँचा। मज़ाक थोड़े ही है।

नीलिमा : पिताजी। नन्हें आपको याद कर रहा है।

जमनादास : (खुश होकर) होश में आ गया क्या? (जाता है)

[परदा गिरता है]

—प्रमोद वर्मा
एम. ए.

एस. बी. आर. आर्ट्स कालेज,
विलासपुर (मध्यप्रदेश)

पुरानी इमारतों को टूट जाने पर फिर उन्हें उसी अपने पुराने रूप में निर्माण करना "मृत को पुनर्जीवित" करना है। उनकी सुदूर प्राचीनता का मूल्य उनके खण्डहरों में है।

—रस्किन

चिट्ठी-पत्री

['चिट्ठी-पत्री' के स्तम्भ को हम अधिक लोकप्रिय बनाना चाहते हैं। साहित्य की गतिविधि और अन्य समस्याओं पर हम 'अजन्ता' के पाठकों के विचार को जानना चाहते हैं। इस स्तम्भ में वे अपने विचार प्रकाशित करने के लिए भेज सकते हैं। इस स्तम्भ द्वारा लेखकों और पाठकों के बीच में निकट सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है। इस स्तम्भ में प्रकाशित सर्वश्रेष्ठ पत्रों पर विशेष पारिश्रमिक की योजना की गई है। पत्र संक्षिप्त और निर्वैयक्तिक होने चाहिएँ। पत्र अधिक से अधिक 'अजन्ता' के दो कालम होने चाहिएँ—सं०]

(१)

'अजन्ता' के सम्बन्ध में

...'अजन्ता' ऊँची श्रेणी की पत्रिका है। इसको निकलते हुए पाँच वर्ष हो चुके हैं। हैदराबाद राज्य में इसके द्वारा हिन्दी का ठोस कार्य हुआ है। यद्यपि इस पत्रिका का संचालन हिन्दी प्रचार सभा, हैदराबाद द्वारा होता है तो भी यह प्रचार की पत्रिका नहीं है। यह आधारतः एक उच्च श्रेणी की साहित्यिक पत्रिका है जिसमें कला और संस्कृति विषयक उच्च कोटि के लेख प्रकाशित होते हैं। इसकी मुख्य विशेषता है—रुचि की परिष्कृति जिससे समस्त पाठ्य-सामग्री का चयन किया जाता है।......इस पत्रिका में नामों को देख कर लेख आदि प्रकाशित नहीं किए जाते परन्तु योग्यता के आधार पर उनको स्थान दिया जाता है। पत्रिका की छपाई बहुत साफ़ सुथरी है..."

नागपुर टाइम्स
नागपुर

अनन्त गोपाल शेवड़े
एम. ए.

(२)

"......'अजन्ता' मैं देखता रहता हूँ। मैं उससे समझ सकता हूँ कि उसमें आपका कितना समय जाता होगा......।"

हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर
बम्बई

—नाथूराम प्रेमी

(३)

प्रिय बन्धु,

'अजन्ता' का अक्तूबर १९५३ ई. का अंक देखा और पढ़ा। हैदराबाद राज्य हिन्दी प्रचार सभा की ओर से प्रकाशित होने वाली यह हिन्दी मासिक पत्रिका लेख, कविता, समालोचना, गेटअप्, छपाई और सफ़ाई आदि की दृष्टि से (२०"×३०"÷८ साइज में सुन्दर सफ़ेद कागज पर छपनेवाली) दक्षिण भारत की एक उच्चकोटि की सुन्दर और सरस पत्रिका है। साहित्य, कला और संस्कृति की दृष्टि से ऐसी उच्च कोटि की सुन्दर पत्रिकाओं की बड़ी आवश्यकता है। सभा ने इसे प्रकाशित कर एक बहुत बड़ी आवश्यकता की पूर्ति की है। साथ ही साथ यह भी कहना है कि इस में दक्षिण भारत के हिन्दी लेखकों को अधिक स्थान दिया जाए जिससे कि उनके सुन्दर अलब्ध साहित्य से हम सब लाभ उठा सकें और दक्षिण भारत की नई प्रतिभाओं से सब का परिचय हो सके, अस्तु। ऐसी सुन्दर पत्रिका की उन्नति में सहयोग देना हमारा ही क्या सब का कर्तव्य है। अत एव मैं इस की हृदय से उन्नति चाहता हूँ। मेरी समस्त शुभकामनाएँ पत्रिका के साथ हैं।

अमीनाबाद,
लखनऊ

—रमाकान्त मिश्र

[हमारा प्रयत्न यही है कि इस पत्रिका के द्वारा

दक्षिण के साहित्यिकों और लेखों को यथा सम्भव अधिक स्थान प्रदान करने का प्रयत्न किया जाता है—सं०]

(४)

बसव पुराण

..."बसवेश्वर के चुने हुए वचन" पुस्तक की आलोचना में आपने लेखक के वाक्यों को उद्धृत करते हुए लिखा है : "बसवेश्वर के सम्बन्ध में तमिल भाषा में भी ग्रन्थ लिखे गए हैं। पाल्कुरी के सोमनाथ का तमिल में लिखा ग्रन्थ 'बसव पुराण' बहुत प्रसिद्ध है।..."

'बसव पुराण' तमिल में नहीं है तेलुगु में है। आशा है कि आप इसे ठीक कर देंगे।

हैदराबाद दक्षिण —डी. के. भीमसेनराव

(५)

राष्ट्रभाषा-प्रचार-सम्मेलन, नागपुर

नवम्बर की 'अजन्ता' में श्री विनयमोहन शर्मा का "अंग्रेज़ी का मोह या हिन्दी प्रेम?" पत्र पढ़ा। सचमुच हमें समझ में नहीं आता कि एक ओर तो हमारे गण्यमान्य नेता अंग्रेज़ी के गीत गाते हुए नहीं थकते और दूसरी ओर हिन्दी के प्रति भी अपना अनुराग प्रकट करते हैं। पटना के हिन्दी परिषद् में श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुँशी ने अंग्रेज़ी का जो स्तोत्रपाठ किया था वह अभी तक हमें अखर रहा था कि राष्ट्रभाषा-प्रचार-सम्मेलन में श्री. नरहरि विष्णु गाडगिल ने अपने भाषण में यह कह डाला कि हिन्दी अंग्रेज़ी का स्थान नहीं ले सकती। वे अंग्रेज़ी की शिक्षा को अनिवार्य समझते हैं और हिन्दी को केवल अन्तर्प्रान्तीय कार्यों के लिए रखना चाहते हैं जिसकी शिक्षा को वे कुल सात वर्ष तक देना चाहते हैं। प्रश्न यह है कि यदि अंग्रेज़ी की शिक्षा अनिवार्य होनी चाहिए तो क्या भारत के अन्तर्प्रान्तीय कार्य अंग्रेज़ी भाषा द्वारा नहीं चलाए जा सकते। अन्तर्प्रान्तीय कार्यों के लिए हिन्दी की ही क्यों आवश्यकता है? यह कार्य अंग्रेज़ी के द्वारा जब अब तक चलता रहा है तो अब भी क्यों चलाया नहीं जाना चाहिए इत्यादि प्रश्नों पर उन्होंने विचार नहीं किया। श्री गाडगिल ने अपने भाषण में हिन्दी का जैसा समर्थन किया है उससे अधिक अंग्रेज़ी के महत्व का वर्णन किया है। उन्होंने अपने भाषण में श्री राजगोपालाचारी के उन शब्दों को उद्धृत किया है जिसमें उन्होंने अंग्रेज़ी को सरस्वती का वरदान कहा है। भला इसकी राष्ट्रभाषा-प्रचार सम्मेलन में कहने की क्या आवश्यकता थी? यह कोई अंग्रेज़ी-भाषा-प्रचार सम्मेलन तो था नहीं। अंग्रेज़ी के महत्व को आज हिन्दी भाषा के प्लेटफ़ार्मों से क्यों बघारा जाता है यह हमारी समझ में नहीं आता और वह भी ऐसे महानुभावों के द्वारा जो इस प्रकार के सम्मेलनों के अध्यक्ष बनते हैं। यदि भारतवर्ष एक राष्ट्र है तो उसकी संस्कृति की एकता के लिए भी एक भाषा की आवश्यकता है और यह संस्कृति की एकता क्या एकमात्र एक भाषा के अन्तर्प्रान्तीय व्यवहार की शिक्षा मात्र से सम्पन्न हो सकती है? हम तो समझते हैं कि हिन्दी को एक मात्र अन्तर्प्रान्तीय व्यवहार की भाषा कह कर उसके महत्व को घटाया जा रहा है। हिन्दी भारत के किसी राज्य की भाषा का स्थान नहीं लेना चाहती और उनके जो भी अधिकार हैं उनमें किसी भी प्रकार की कमी नहीं करना चाहती परन्तु हमें अपनी राष्ट्रभाषा को भी राष्ट्रभाषा बनाना पड़ेगा और उसके जो भी अधिकार हैं उन्हें उसे देना होगा अन्यथा उसे राष्ट्रभाषा के नाम से कहना ठीक नहीं होगा। अभी तक हमारे राष्ट्रपति श्री राजेन्द्रप्रसाद यह कह रहे थे कि हम हिन्दी को वही स्थान देना चाहते हैं जो इस देश में अंग्रेज़ी को प्राप्त था। श्री नरहरि विष्णु गाडगिल ने अपने भाषण में इसके विरुद्ध आवाज़ उठाई है। वे अंग्रेज़ी का स्थान हिन्दी को नहीं देना चाहते। उनकी सम्मति में अंग्रेज़ी का तो अपना ही एक स्थान रहेगा क्योंकि वह तो "सरस्वती का वरदान है।" यह अंग्रेज़ी का मोह नहीं तो और क्या है?

नागपुर के राष्ट्रभाषा-प्रचार-सम्मेलन में मद्रास राज्य के राज्यपाल श्री श्रीप्रकाश ने जो उद्घाटन–भाषण दिया उसके विषय में मैं कुछ लिखना नहीं चाहता। वह श्री श्रीप्रकाश का राष्ट्रभाषा के प्रति प्रेम था या राजनीति का कोई दाँवपेच था या कुछ और था—इसे वे ही अच्छी तरह समझ सकते हैं!

--कश्चित्

नागपुर

(६)

मूर्तिकल्पना या उत्प्रेक्षा

नवम्बर की "अजन्ता" में श्री एम. एस. दोरास्वामी का "काव्य में मूर्तिकल्पना" लेख प्रकाशित हुआ है।

संभवतः Imagery शब्द के लिए मूर्तिकल्पना शब्द दिया गया है। क्या इसके लिए उत्प्रेक्षा शब्द अधिक उपयुक्त न होता। Imagery शब्द का अर्थ वेब्स्टर डिक्शनरी में इस प्रकार किया गया है : "Forms of the fancy; false ideas; imaginary phantasms. In rhetoric representations in writing or speaking; lively descriptions which impress the images of things on the mind. अर्थात कल्पना के रूप; कल्पित विचार, कल्पित मानसिक रूप; अलंकार शास्त्र में लिखने और बोलने में प्रतिमूर्तियाँ या प्रतिरूप; सजीव वर्णन जो मन पर वस्तुओं की मूर्तियों को अंकित करता है। उत्प्रेक्षा अलंकार में भी कवि जिन मूर्तियों को बनाता है वह एक मात्र कल्पना के आधार पर ही बनाता है। श्री विश्वनाथ ने "साहित्य दर्पण" में उत्प्रेक्षा अलंकार का लक्षण किया है : "भवेत्सम्भावनोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य परात्मना' अर्थात् उपमेय के उपमान से सम्भावना या कल्पना ही उत्प्रेक्षा कहलाती है। इस सम्भावना या कल्पना का आधार साम्यता ही होती है। उत्प्रेक्षा अनेक प्रकार की होती हैं। यह सत्य है कि उत्प्रेक्षा को अलंकार माना गया है और इस कारण यह शब्द इतने व्यापक रूप में प्रयुक्त नहीं हुआ जितना कि Imagery (इमेजरी) या मूर्तिकल्पनाएँ : प्रत्येक देश की कविता की अपनी ही एक विशेष Imagery मूर्तिकल्पना है। भारतवर्ष की अपनी है, ईरान की अपनी है और अन्य देशों की। इस प्रकार उपमा और अन्य अलंकार भी अन्य देशों के कवियों के अपने विशिष्ट प्रणाली के होते हैं। अपने देश के आधार पर ही कल्पना, शब्द और मूर्तियों का निर्माण स्वाभाविक है।

यदि नया शब्द ही बनाना हो तो हमें Imagery जैसा छोटा-सा शब्द ही बनाना चाहिए। यदि हम इसके लिए "मूर्तिकी" शब्द बनाएँ तो क्या ठीक न होगा। अंग्रेजी में भी इमेज के आगे "री" प्रत्यय लगाया गया है। हमें अपनी भाषा में अब नए प्रत्यय भी लेने चाहिएँ और इस प्रत्यय को भी हिन्दी में लिया जा सकता है। 'इमेज' का अनुवाद रूप हो सकता है और रूप से हम "रूपरी" शब्द भी बना सकते हैं। वैसे रूपक शब्द भी है और इसका प्रयोग व्यापक भी हो सकता है परन्तु इस शब्द का आशय अलंकार की दृष्टि से कुछ भिन्न है। आशा है कि इस पर विचार किया जाएगा।

हैदराबाद.

—रामनिरंजन पांडे
एम. ए.

---

(७)

कोल्लेर तालाब

[बेजवाड़ा से वाल्टेयर की रेल्वे लाइन पर एलूर एक स्टेशन है। एलूर आंध्र देश में है। एलूर से कोल्लेर तालाब ६ मील दूर है। इस पत्र में इसी तालाब का वर्णन किया गया है—सं०]

......पिछले इतवार को ३० लोगों की हमारी पार्टी "कोल्लेर तालाब" देखने गई थी। यह स्थान एलूर से ६ मील दूरी पर है। जगह बहुत ही सुन्दर है। यद्यपि यह तालाब कहलाता है—तो भी यह एक सागर है क्योंकि इसका विस्तार बहुत है। हमने इसमें छै या सात घण्टे नाव में गुजारे। तालाब कमलों और कुमुदों से भरा हुआ है—बीच बीच में हरी हरी घास और अनाज के खेत हैं। सारा तालाब हरा और फूलों से पटा पड़ा है। एकमात्र पानी के दर्शन तो बहुत ही कम स्थानों में होते हैं। एक नाव से यदि दूसरी नाव को देखा जाए तो ऐसा प्रतीत होता है कि वह स्थल पर है। इस तालाब के मध्य में कई द्वीप मिलते हैं जहाँ आबादी है और बहुत-से घर बने हुए हैं। यह तालाब कुछ विशेष गहरा नहीं है। प्रायः कमर तक पानी है। गर्मियों में यह तालाब सूख जाता है। वर्षा काल में कभी कभी इसमें इतना पानी आ जाता है कि सारे द्वीप उसमें डूब जाते हैं। कभी-कभी इसमें एकाएक बाढ़ आजाती है।

नाव पर बैठ कर सूर्यास्त और सूर्योदय के दृश्य देखते ही बनते हैं। जो इस तालाब में नाव में बैठ कर इन दृश्यों को देखता है वह इन्हें कभी भूल नहीं सकता। मैंने सन्ध्या की लालिमा को इतने सुन्दर रूप में कहीं नहीं देखा। अस्त होने वाले सूर्य और उदय होने वाले चन्द्रमा के आकार में कोई भेद दृष्टिगोचर नहीं होता था। चाँद के निकलते ही अपनी आँखों से कुमुदों का खिलना देखा जिसे अब तक पुस्तकों में पढ़ा था और जो कि संभवतः एक कवि-कल्पना ही समझा जाता है। पृथ्वी और आकाश की वस्तुओं में यह कैसा सम्बन्ध और आकर्षण !

लगभग रात के ८ बजे हम लोग कोल्लेर तालाब से बाहर निकले और वहाँ से बस के द्वारा एलूर पहुँचे। रास्ते के दृश्य भी सुन्दर थे। ऐसा प्रतीत होता था कि जैसे—'हमारे हृदय का आनन्द बाहर मूर्तिमान हो उठा है...।"

जी. सी. डब्ल्यू,
गुण्टूर

—डी. शान्ता

नीर-क्षीर

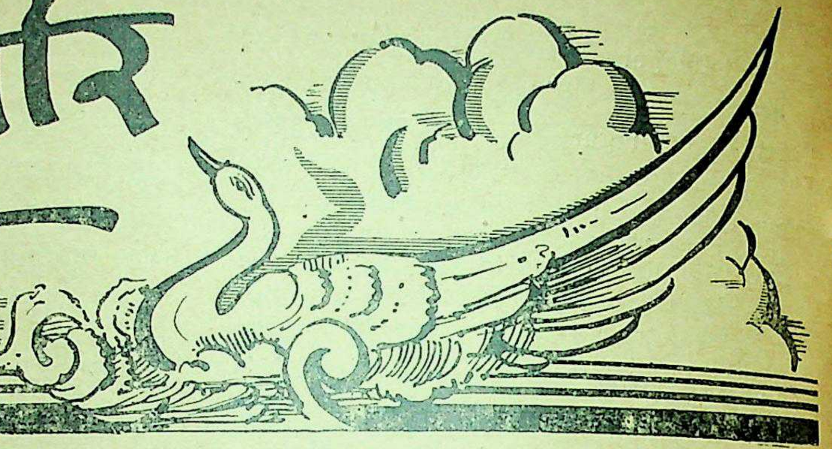

[समालोचना के लिए प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ सम्पादक 'अजन्ता' के नाम से भेजी जानी चाहिएँ]

उन्मीलिका

लेखक : शम्भुनाथ 'शेष'

प्रकाशक : मानवधर्म कार्यालय,
पीपल महादेव, दिल्ली।

मूल्य : दो रुपए

श्री शम्भुनाथ 'शेष' जी की इस कविता पुस्तक को पढ़ने से यह अनुभव होता है कि 'शेष' जी ने रसपूर्ण कवि-हृदय पाया है। उनकी इस पुस्तक में उनके कुछ गीतों, कविताओं, रुबाइयों और ग़ज़लों का संग्रह है। अच्छा होता यदि वे अपने इस काव्य-संग्रह के विषय में कुछ अपना स्वयं परिचय दे सकते। उन्होंने अपनी कविता के विषय में एकमात्र लिखा है : "कविता रचने का मैंने प्रयास कभी नहीं किया। मेरी बात किसी के हृदय तक पहुँच जाए, बस इसी में मेरी कविता की सार्थकता है।"

उनकी कविताओं में अनुभूति है, संवीक्षण है और विचार है। कविता की भाषा में संगीत, प्रसाद, प्रवाह और नैसर्गिकता है। कई गीतों में उनके हृदय का रस छलका पड़ता है। उनके विषय सीधे-सादे और प्रतिदिन के हैं। उषा, प्रातःकाल, उद्यान के दृश्य, नदी का किनारा, संध्या, वर्षा, जीवन, प्रेम, विरह, ग्रामवासी आदि यही प्रायः उनके विषय हैं। वे जो कुछ कहते हैं उनमें एक अपना ही रंग है और अपनी ही शैली है। उनकी ग़ज़लों में और रुबाइयों में नवीनता है और कई स्थानों पर भाव सूक्ष्म और हृदयस्पर्शी हैं। कई कविताओं और गीतों में 'शेष' जी की उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षाओं से उनकी कवितापूर्ण संवीक्षण शक्ति का सुगमता से अनुभव होता है। उनकी अधिकांश कविताओं में उनके हृदय की सरलता और सरसता का अनुभव होता है।

कई गीतों में उन्होंने अपने भावों और विचारों को अभिव्यक्ति का जो रूप दिया है वह अपने रंगों में पूरी तरह खुल नहीं सका है; कई स्थानों पर रंग इतने गहरे हो गए हैं कि वहाँ भाव और विचार उन रंगों में डूब-से गए हैं और कई स्थानों पर उनके शब्द और काव्य की अभिव्यंजनाएँ कल्पना का सहारा ले कर जीवन के क्षेत्र से निर्वासित-सी हो गई प्रतीत होती हैं। "प्रात हुई औ पंछी बोले" गीत में वे लिखते हैं :

"मर्माहत मानवता जागे,
अंधियारे रस्ते को त्यागे,
रूप-सरोवर के अमृत में मानस के सब कलमष धो ले।"

यहाँ "अमृत" को धोने के कार्य में लगाया गया है जो ठीक नहीं है क्योंकि अमृत तो पीने के काम आता है—धोने के नहीं। यदि "मानस के सब कलमष" अमृत से धोए जाएँगे तो वे धुल कर दूर तो होंगे नहीं—हाँ अमृत के स्पर्श के द्वारा उनके अमर हो जाने की आशंका है। "आज उषा मुसकाती आई" गीत में एक पंक्ति है : "हरी हरी परियों के माथे सुख़ सिन्दूर सजाती आई" यहाँ संभवतः कवि यह कहना चाहता है कि हरे वृक्षों पर उषा की लालिमा दृष्टिगोचर हो रही है। इस पंक्ति में वृक्षों या वनस्पतियों को "हरी हरी परियाँ कहना उचित नहीं प्रतीत होता। परियों के साथ तो पर होते हैं—और वृक्ष तो एक स्थान पर खड़े रहते हैं। "दूध बेचने चली अहीरन" गीत में एक पंक्ति है : "सुर-बाला-सी मानवता के साँचे में ढली अहीरन"। यहाँ

कवि संभवतः कहना चाहते हैं कि अहीरन यद्यपि है तो मनुष्य रूप परन्तु है वह सुन्दर सुर-बाला-सी। "मानवता के साँचे में ढली" इन शब्दों से कवि का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता। यह अभिव्यक्ति कुछ विचित्र-सी प्रतीत होती है। इसी प्रकार "भर भर मधु के जाम उछालें" जाम तो पिए जाएँगे—उछाले क्यों जाएँगे। "सावन चीर भिगोता आया" गीत में सावन को "रसपति" कहा गया है। "यौवन के स्वागत में रसपति, मुक्ताहार सजाता आया।" सावन को "रसपति" कहना नई कल्पना है। एक और गीत "मुझ को मेरा मन लौटा दो" में एक पंक्ति है :

"मानस का पानी रखने को यह मेरा दर्पण लौटा दो।"

'यह मेरा दर्पण मानस का पानी रखने को लौटा दो'—यह पंक्ति कुछ समझ में नहीं आती क्योंकि दर्पण तो मुख देखने के लिए होता है न कि पानी रखने के लिए। एक अन्य गीत में चाँदनी का वर्णन करते हुए कवि लिखता है :

"गिरि सरि सर तृण तरु निर्झर पर
फैली हो सपनों की चादर।"

यहाँ वे यदि "सपनों की चादर" फैलाने की अपेक्षा चाँदनी की चादर फैलाते तो अधिक सुन्दर होता।

कई कविताओं में कई शब्दों का प्रयोग भी विचित्र-सा है। जैसे "गोल्ड मुहर", "दूधिया", "घायल घन", मीठे आँसू", "चुम्मी" आदि।

कई गीतों में हृदय की भावनाएँ बड़ी सरलता से अभिव्यक्त हुई हैं :

"थम थम रे, आँसू थम रे!
तू मोती है जीवन का,
तू रस है प्रेम नयन का,
तू है रहस्य अन्दर का, बस अन्तर ही में रम रे।
जो तुझे देख पाएगा,
हँस देगा, ठुकराएगा,
करुणार्द्र कथा के गायक, यह जग निष्ठुर, निर्मम रे।"

कई गीतों में कई पंक्तियाँ सुन्दर है :

"ढले दिवस के फूलों की रंगत-सा निपट उदास चला मैं"
"बाट जोहती हुई हीर ने फिर अपने राँझे को पाया।"
"फूल-सी यह जिन्दगी भी प्रेम काँटे पर तुली हो।"
"भोली भाली सूरतवाली लगती है क्या भली अहीरन।"

'शेष' जी ने हिन्दी ग़ज़लें और रुबाइयाँ अपने ही ढंग की लिखी हैं। उनमें कई पंक्तियाँ मर्मस्पर्शी हैं।

महर्षि-महिमा (पद्य में)
लेखक : हरिशंकर शर्मा
प्रकाशक : शङ्कर-सदन, निराला प्रेस,
आगरा
मूल्य : एक रुपया

पुस्तक का यह द्वितीय संस्करण है। लेखक इस पुस्तक के विषय में लिखते हैं—"शिव-संकल्प नामक एक छोटी-सी पुस्तिका मैंने लिखी थी। इसमें महर्षि दयानन्द की पवित्र जीवनी से सम्बन्ध रखनेवाले कुछ पद्य हैं। वही 'शिव-संकल्प' परिवर्द्धित रूप में अब 'महर्षि-महिमा' के नाम से प्रस्तुत की गई है।" इसमें कई नए पद्य और कई विषय बढ़ा दिए गए हैं। पुस्तक का आर्य विद्वानों ने स्वागत किया है। "इस पुस्तक के पद्यों में महर्षि दयानन्द का संक्षिप्त परिचय और उनके सिद्धान्तों को पद्यबद्ध किया गया है।" पुस्तक के कुछ विषय निम्न प्रकार हैं : "गुरु गौरव, सत्यार्थ प्रकाश, आर्य समाज, देश-दशा, शिवबोध, पुण्यपथ, विवेकवाणी, ज्ञानगंगा, गुरुकुल, अछूत, स्वदेशी, राष्ट्रभाषा" इत्यादि। पुस्तक का सम्बन्ध प्रत्यक्षतः तो आर्य समाज से दीखता है परन्तु इसके विषय समस्त देश और समस्त वर्गों से सम्बन्धित हैं इसलिए सबके पठन करने के योग्य है। भाषा सरल है, भाव सरल हैं, विचार सरल हैं और सरलता से उन विचारों को अभिव्यक्त किया गया है जो प्रतिदिन के जीवन के हैं और यदि उनकी ओर ध्यान दिया जाए तो जीवन में कर्मण्यता और उत्साह उत्पन्न हो जाएगा। कविता रस प्रधान भी होती है और कर्म प्रधान भी। रस प्रधान कविता की भाषा में बाँकापन होता है परन्तु कर्म प्रधान कविता सरल और सीधी सादी होती है। इस पुस्तक की कविताएँ कर्म प्रधान हैं और कर्म के लिए प्रेरणा देने वाली हैं। पुस्तक में से कुछ उदाहरण दिए जाते हैं :

"खान-पान, बेटी-व्यवहार,
सबके लिए खोल दो द्वार।
× × ×
कैसा ही हो अपना राज्य,
पर विदेश का शासन त्याज्य।

अपना राजा, अपना देश,
भारतीयता का सन्देश।

× × ×

सेवा भाव न करना त्याग,
सेवा में रखना अनुराग।
सेवा से मनुष्य का मान,
सेवा है सर्वोपरि दान।

× × ×

तन हो पुष्ट और मन शुद्ध,
हृदय आत्मा बनें प्रबुद्ध।

× × ×

सामाजिक दोषों से यह देश भरा है,
नैतिकता का अनुपम आदर्श गिरा है।
सद्भावहीन सब लोग स्वार्थ में रत हैं,
फिर शान्ति कहाँ सब भ्रान्त और श्रीहत हैं।"

पुस्तक की कविताएँ सात्विक हैं और उन्नत भावों से पूर्ण हैं। आशा है इनका प्रचार होगा।

हैदराबाद —वंशीधर विद्यालङ्कार

मानव प्रताप

लेखक : देवराज 'दिनेश'
प्रकाशक : आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली
कश्मीरी गेट, दिल्ली ६
मूल्य : दो रुपये।

राजस्थान के वीरों की गाथाएँ भारतीय इतिहास के उज्ज्वल पृष्ठों का अंश तो हैं ही, साहित्यकारों ने भी उनके चरित्र का गान किया है। मेवाड़ के महाराणा प्रताप का चरित्र उनमें भी विशेष आकर्षण रखता है। आरंभ से ही जिसे राज्याभिषेक और सत्ता का मोह नहीं रहा और जो अपने सौतेले छोटे भाई जगमल को राज्य देने के लिए तैयार था परन्तु सरदारों ने जिसके वीर-स्वभाव और न्यायोचित अधिकार के कारण अपना सम्राट चुना, जिसने राज्य सिंहासन पर बैठते ही स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए प्रतिज्ञा की...'जब तक जिऊँगा...', जो जीवन पर्यन्त जंगलों में भटकता रहा उस स्वतंत्रता को प्राप्त करने के लिए; अपने ही बन्धु-बांधवों के विरुद्ध होने पर भी जिसने मुगल सम्राट अकबर से लोहा लिया, जिसके लिए उसके सेवक अपना सर्वस्व समर्पित करने के लिए तत्पर रहते—प्राणों की बलि तक दे देते, जो अपने पुत्र की किञ्चित् कोमलता को सहन नहीं कर सकता था परन्तु नन्हीं बेटी की चीत्कार सुन कर रो पड़ा, जिसने अस्पृश्य भील जाति में नवजीवन का संचार किया और उसे मानवोचित सम्मान दिया, जिसने युद्ध में किसी कुटिलता को न अपना कर सच्चे वीर योद्धा के धर्म का पालन किया और अपने शत्रुओं को शरीर से ही नहीं हृदय से भी पराजित किया, जिसके योद्धा वेतन भोगी सैनिक नहीं वीर और देशप्रेमी थे निश्चय ही उसका चरित्र आकर्षक है और मानवीय अन्तर्भावों की अभिव्यक्ति का सुन्दर साधन है। श्री देवराज 'दिनेश' ने 'मानव प्रताप' नाटक में इतिहास का आधार लेकर प्रताप के जीवन के उन तथ्यों पर प्रकाश डाला है जो उसके चरित्र को और भी प्रकाशमान बनाते हैं। नाटककार का कथन है कि "बहुत से लेखकों ने उन (प्रताप) पर काव्य और नाटक लिखे हैं। पर समझ में नहीं आता वह इतिहास से इतने दूर क्यों रहे? इतने उदार व्यक्ति के साथ यह संकुचित घेरा क्यों डाले रखा। वे देवाधिदेव महादेव के उपासक थे, परम उपासक। अपने धर्म और जाति पर गौरव करनेवाले। किन्तु उन्हें इतर जातियों और धर्म से घृणा नहीं थी।" विशेष रूप से इस नाटक द्वारा लेखक ने इस तथ्य का उद्घाटन किया है कि प्रताप के हृदय में हिन्दु-मुस्लिम की संकुचित साम्प्रदायिक भावना नहीं थी। इसका आधार यह है कि हल्दीघाटी के युद्ध में प्रताप की हरावल का सेनापति हाकिम खाँ पठान था और स्वतन्त्रता-प्रेमी जालौर का स्वामी ताज खाँ युद्ध में प्रताप की ओर से लड़ा था।

हल्दीघाटी के क्षेत्र की ओर प्रताप अपनी सेना के साथ बढ़ता है, रास्ते में दूत आकर सूचना देता है कि थोड़े से सैनिकों के साथ मानसिंह जंगल में शिकार खेल रहा है उसे सुगमता से घेरा जा सकता है। परन्तु प्रताप शत्रु पर धोखे से घेरा डालना उचित नहीं समझता, वह कहता है: "वीरता स्वयं एक धर्म है और उसके कुछ विशेष नियम हैं। हम एक वीर के नाते उनका उल्लंघन नहीं कर सकते।" हल्दीघाटी के युद्ध में प्रताप को कितना कुछ देना पड़ा किन्तु उसमें कुछ मिला भी और जो मिला उसमें प्रताप और शक्तिसिंह का भ्रातृप्रेम इतिहास का अनुपम उदाहरण है। यह दृश्य और भी नाटकीय, और भी तीव्र (Tense) हो सकता था। परन्तु जब इतिहास का आधार लेकर एक व्यापक आधार पर नाटक की संरचना की

जाती है तो इस प्रकार की घटनाओं का चित्रण अत्यन्त बारीकी से करना प्रथम श्रेणी के कलाकारों का ही काम है। युद्ध के बाद महाराणा अपनी पुत्री को रोटी के लिए रोती हुई देख कर विचलित होते हैं वह दृश्य भी वैसा ही भव्य हो सकता था।

'मानव प्रताप' की प्रमुख विशेषता अन्य चरित्रों—पृथ्वीराज, मानसिंह, रहीम, अमरसिंह आदि इतिहास प्रसिद्ध व्यक्तियों के मानवीय पक्ष को प्रकट करने में है। पृथ्वीराज अकबर के राजदरबारी कवि थे परन्तु वे अपनी विवशता को जानते हैं और उनमें स्वतन्त्रता की चाह हिलोरें लेती हैं: "हम विवश हैं किरण!...बादशाह अकबर बहुत चतुर है, उसने प्रत्येक प्रान्त, प्रत्येक राज्य के मस्तिष्क अपने पास बुला कर रखे हैं, क्योंकि उनका अपने प्रान्तों में रहना किसी समय भी मुग़ल साम्राज्य के लिए हानिकारक हो सकता है। न ये अपने अपने प्रान्तों में होंगे, न वहाँ जागरण की भावना जन्म लेगी और न वहाँ विद्रोह होगा। मेरे कवित्व की बादशाह को कोई आवश्यकता नहीं है। केवल मेरी आवश्यकता है, वह भी इतनी ही कि मैं उसकी आँखों के सम्मुख रहूँ, इससे अधिक नहीं..... निरुपाय हूँ किरण! बीकानेर में अकबर से लोहा लेने की शक्ति नहीं। यह समझलो कि मैं बीकानेर राज्य की ओर से बादशाह के समक्ष एक भेंट हूँ...।" जिस धातु का यह कवि बना है उससे हम सहज ही समझ सकते हैं कि प्रताप के आत्म-समर्पण के पत्र को देख कर भी जानबूझ कर यदि वह यह नहीं कहता कि यह जाली पत्र है तो क्या करता! इसी प्रकार रहीम के चरित्र की उज्ज्वलता को लेखक ने दर्शाया है। नर्तकी जब अपना इतिहास बतलाती है—"मुगल सेनाओं ने वह पूरा-का-पूरा गाँव ही उजाड़ डाला था। मेरा सारा परिवार अपनी रक्षा करते हुए मारा गया! नारियाँ घरों और झोपड़ियों में आग लगा कर जल मरीं। मैं कटार से आत्म-हत्या करने ही वाली थी कि बन्दी बना ली गई। और उसके बाद...उसके बाद...इसी कामना से जीवित हूँ कि उनसे अपना प्रतिशोध लूँ।" रहीम कहते हैं: "ओह! यह तो मनुष्य के पतन की चरम सीमा है। मेरा कवि हृदय इसे सहन नहीं कर सकता!..." इसी प्रकार अमरसिंह मुगल सेनापति के परिवार की नारियों को भी बन्दी बना कर ले आता है, इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है "मैं उस विशाल साम्राज्य के बर्बर शासकों को बताना चाहता था जो अभिमान के मद में सदैव नारी का अपमान करते हैं इसी तरह कभी तुम्हारी माँ-बहनों का अपमान भी हो सकता है।" फिर भी वह उन नारियों को सम्मान सहित लाया था सम्मान सहित वापस पहुँचाता है।

चारित्रिक विशेषताओं का यह उद्घाटन लेखक की मौलिक प्रतिभा को सूचित करता है। नाटक रंगमंच के उपयुक्त भी है और गीत पात्रों के मनोभावों को प्रकट करनेवाले हैं। नाटक में कमी यह है कि जहाँ मौलिक प्रतिपादन नहीं है वहाँ यह गहराइयों में नहीं जाता और स्थानीय प्रभाव की नितान्त कमी है।

अशोक वन

लेखक: लक्ष्मीनारायण मिश्र
प्रकाशक: चेतना प्रकाशन, बेगम बाजार, हैदराबाद
मूल्य: ३ रुपए।

'अशोक वन' श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र के पाँच एकांकियों का संग्रह है। ये एकांकी हैं--अशोक वन, कौशाम्बी, विदिशा, भविष्य का गर्व और दशाश्वमेध। 'अशोक वन' में सीता का चित्रण किया गया है जिसे रावण प्रभावित करना चाहता है परन्तु सफल नहीं होता। इसमें रावण के चरित्र को नए रूप में लेखक ने हमारे सामने रखा है—वह महाबीर होने के साथ ही धैर्यवान और संयमी है तथा सीता को अपने रनिवास में उसके हृदय को परास्त किए बिना नहीं ले जाना चाहता। वह कहता है: "जानकी हरण मैंने नीति के अनुरूप किया। शत्रु की रमणी का अपहरण नीति है और अब जब उसे यहाँ ले आया तो उसके प्रति भी कोई धर्म है या नहीं? प्रतिहिंसा में उसके नाक कान काट लेना ही साधारण पुरुष का काम होता, तुम जानती हो रावण असाधारण है।" अतः वह सीता को अशोक वन में रखता है जिससे कि अशोक की वायु, उसके फूल और पत्तों के प्रभाव में उसके भीतर पुरुष की वासना जगे। "अशोक के एक वृक्ष की वायु दस दिन में किसी भी रमणी के भीतर पुरुष की कामना जगा देती है।" अतः वह अपने मन पर अंकुश रखने के लिए अपनी रानियों—चित्राङ्गदा और मन्दोदरी के साथ जाता है। चित्राङ्गदा पहले जानकी का शृङ्गार करने जाती है परन्तु जानकी चित्राङ्गदा को माता कह कर उससे बेटी का

सम्बोधन पा लेती है। परन्तु भावावेश में जानकी को बेटी के नाम से सम्बोधित करके चित्राङ्गदा सोचती है, "पर मैंने तो जाति के साथ विश्वासघात किया।" जानकी सुझाती है : "कभी नहीं माँ। पति को वासना से रोकना भी पतिव्रत है।" इसी प्रकार वह रावण को भी पराजित करती है : "आत्म-समर्पण नारी करती है राक्षस राज ! पुरुष नहीं और पुरुष जब यह करता है फिर पुरुष नहीं रह जाता। देवजयी रावण किसी नारी से प्रणय का प्रस्ताव करें तब पौरुष धूल में लोटेगा और वीरता विडम्बना होगी।" रावण जानना चाहता हैं किस बात में राम उससे बढ़ कर है ! सीता उन दोनों में एक ही भेद बताती है—"आर्यपुत्र की आँखों में एक ही नारी चढ़ी थी।" रावण लौट जाता है। दोनों पक्षों की मर्यादा को इस एकांकी में बहुत सुन्दर रूप में निभाया गया है। 'भविष्य का गर्व' भी इस संग्रह का सुन्दर एकांकी है। इसमें भारतीय उपनिवेश सुवर्ण द्वीप में भारतीय कन्या वासन्ती और भारतीय युवक जयन्त की काल्पनिक प्रेम-कहानी चित्रित की गई है। जयन्त ब्राह्मण है अनेक नारियों का कामी, स्वर्ण द्वीप में यह वासन्ती को वस्त्र दे आता है पुनः वहाँ जाता है तो वासन्ती को पाना चाहता है। परन्तु वासन्ती जानती है जयन्त की तीसरी पत्नी के बारे में —"इसके पूर्वज यवन थे। यूनान से आकर यहाँ बस गए। पुष्यमित्र के प्रचारकों, पुरोहितों ने उन्हें जातियों में बाँट दिया और अब वह ब्राह्मण कुमारी की पहचान से तुम्हें मिली है।" और अपने बारे में—"मेरी माँ ब्राह्मण कुमारी थी, असावधानी में भिक्षुणी हो गई और भिक्षुओं के दल में यहाँ आई। मैं यहाँ पैदा हुई...तुम्हारा ब्राह्मण विधान मुझे स्वीकार नहीं कर सकता।" वह केवल किसी की दया पर जीने के लिए तैयार नहीं है और स्वयं एक लेप तैयार करती है जो उसकी त्वचा को वहाँ के आदिम लोगों की तरह काला बना देता है और वह भारतीय संस्कृति की श्रेष्ठता अलग रह कर 'देवजन्मा' कहलाने में नहीं वरन् वहीं के लोगों में मिल कर एक हो जाने में मानती है जो भारतीयों का 'भविष्य का गर्व' हो सकता है।

इतिहास प्रसिद्ध 'कौशाम्बी' में वहाँ के भिन्न युगों के इतिहास के दृश्य दिखाए गए हैं, इसी प्रकार 'विदिशा' में शुंगकाल के उस नगरी के तीन चित्र हैं। इनमें परिवर्तन बहुत शीघ्र होता है। 'कौशाम्बी' में पहला दृश्य उदयन के चरित्र को दर्शाता है जो बौद्ध धर्म से अप्रभावित रह कर आश्रम धर्म का पालन करता है। मिश्र जी ने इसी कथा को लेकर दूसरा एक बड़ा नाटक 'वत्सराज' लिखा है। फिर कनिष्क और समुद्रगुप्त के युग की बौद्ध धर्म की दशा को चित्रित किया गया है अन्तिम दृश्य में हर्ष को दिखाया गया है जो चीनी यात्री ह्वेनसांग को कौशाम्बी के दृश्य दिखाते हुए उदयन पर नाटक लिखने की अपनी इच्छा प्रकट करते हैं। 'विदिशा' में कालिदास के चरित्र पर प्रकाश डाला गया है। 'दशाश्व मेध' में इस नाम के घाट के इतिहास के सम्बन्ध की कथा है।

जहाँ तक नए मूल्यांकन का प्रश्न है श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र का 'अशोक वन' शीर्षक एकांकी नए मानों को हमारे सामने रखता है। जो एकांकी ऐतिहासिक युग-चित्रों को हमारे सामने रखते हैं वे केवल सूचना से लगते हैं। उनमें नाटकीयता कुछ भी नहीं है और यह सूचना देनेवाले दृश्य बहुत शीघ्रता से बदलते हैं। यही ठीक है। अन्यथा, दर्शकों के लिए वे ऊबने का कारण होंगी। सूचना नाटक का लक्ष्य नहीं है, चाहे सूचना देने की टेकनिक उसे बनाया जाए। कुछ नारी चरित्र 'भविष्य का गर्व' की वासन्ती 'दशाश्वमेध' की कौमुदी अपनी स्निग्धता और आत्म सम्मान के कारण प्रभावित करती हैं।

विवेक

संपादक : रामचन्द्र बोड़ा, जालप मोहल्ला, जोधपुर
वार्षिक मूल्य : डेढ़ रुपया।

'विवेक' यद्यपि आकार में लघु किन्तु–विचार सामग्री की दृष्टि से नवीनता लिए हुए है। प्रस्तुत अंक (नवम्बर-दिसम्बर) में तर्कशास्त्र और दर्शन सम्बन्धी लेख संकलित हैं। तर्कशास्त्र और दर्शन (विशेष कर तर्कशास्त्र) पर हिन्दी में पर्याप्त साहित्य उपलब्ध नहीं है। इस प्रकार के प्रयास चाहे कम मात्रा में पर ठोस होने चाहिएँ। प्रस्तुत अंक में परिभाषा प्रकरण (Definition) पर एक धारावाहिक निबन्ध है। इतिहास के प्रश्न को प्रतिपादित करनेवाले विचारक विको पर दूसरा लेख है जिसमें प्रतिपादित किया गया है कि विको ने मार्क्स के पूर्व वर्ग-संघर्ष की विचारधारा की ओर ध्यान आकृष्ट किया था। 'द्वन्द्वात्मक विचार नियम' लेख तर्कशास्त्र के रूढ विचार नियमों और द्वन्द्वात्मक विचार पद्धति के अन्तर की ओर इंगित करता है। 'विवेक' में जिन विषयों को लेकर लिखा जाता है उन पर गम्भीर चर्चा की आवश्यकता रहती है।

—हरिष्कृष्ण पुरोहित

हैदराबाद

सामयिक

॥

१९०० के पश्चात् की अंग्रेज़ी भाषा

रिचर्ड ब्रिण्टन ने ‘१९०० के पश्चात् की अंग्रेज़ी भाषा’ पर कलकत्ता के आल इंडिया रेडियो से भाषण दिया था जो ‘लिसनर’ में प्रकाशित हुआ है। हम नीचे उसका सारांश दे रहे हैं :

“प्रथम विश्वयुद्ध के समय नागरिक और बहुत-से साहित्यकार भी ऐसे बहुत से शब्दों का अंग्रेज़ी में प्रयोग करने लगे जो अशुद्ध और अनधिकृत थे और जो फ़ौजी बारकों और अफ़सरों की मेस के कमरों से आए थे। २५ वर्ष बाद ऐसे ही और शब्द फिर अंग्रेज़ी भाषा में आ गए। किपलिंग ने बहुत-से हिन्दी के शब्दों का अंग्रेज़ी में प्रयोग किया। ये सब शब्द अंग्रेज़ी के शब्द बन गए। द्वितीय विश्वयुद्ध के समय जो नए शब्द आए हैं उनका अभी पूरी तरह पता नहीं लगा है। हमारे अमरीकी रिश्तेदारों ने भी हमें बहुत-से इस प्रकार के शब्दों को दिया है। इंग्लैण्ड ने ‘डूडलबग’ शब्द दिया था—अमरीका ने ‘बजूका’ शब्द दिया। दोनों ही भद्दे शब्द हैं। फिर युद्ध के शिशु राष्ट्रसंघ ने भी अंग्रेज़ों को बहुत-से अनधिकृत शब्द दिए हैं। कोरियन युद्ध में भी बहुत-से अवाञ्छित शब्द अंग्रेजी को प्राप्त हुए हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि इन शब्दों से अंग्रेज़ी भाषा विशेष समृद्ध हुई है।

इन शब्दों के लिए अमरीकी लोगों को दोष देना ठीक नहीं है। सत्य तो यह है कि जिन शब्दों को हम अमरीकी कहते हैं उनमें से बहुत-से पुराने अंग्रेज़ी के शब्द हैं। बहुत से शब्द सुनने में अच्छे प्रतीत होते हैं परन्तु वे वास्तव में ठीक नहीं हैं। कई शब्द दूसरी भाषाओं से लिए गए हैं जो कि ऐसे अर्थों में प्रयुक्त किए जाते हैं जो उनके वास्तविक अर्थ नहीं है। बहुत से शब्दों के प्रयोग अशुद्ध होने लग गए हैं इसका मुख्य कारण संभवतः बिना सोचे समझे लिखना और बोलना है...।”

॥

अंग्रेज़ी चरित्र की विशेषताएँ

अंग्रेज़ी दैनिक स्टेट्समैन के रविवारीय संस्करण में श्री रनजी सहानी का “इंग्लैंड, मेरा इंग्लैंड” शीर्षक एक लेख प्रकाशित हुआ है जिसमें से निम्न अंश यहाँ दिया जा रहा है :

“इंग्लैंड जाने से पूर्व ही मेरे मस्तिष्क में उसकी एक तसवीर खिंची हुई थी परन्तु शीघ्र ही मुझे पता चला कि कई दृष्टियों से वह चित्र ग़लत था। हिन्दुस्तान में रहते हुए स्कूल में, पिताजी के क्लब में, चाचा के यहाँ होने वाले प्रीति भोजों में मेरा अनेक अंग्रेज़ों से सम्पर्क हो चुका था। उनसे मिल कर मुझे अवश्य प्रसन्नता होती थी परन्तु, मुझे ऐसा प्रतीत होता था कि जैसे वे उन पौधों की तरह दुःखी हैं जिन्हें प्रतिकूल जलवायु में ला कर लगा दिया गया हो। यद्यपि अपने विशिष्ट क्षेत्र में वे दक्ष थे परन्तु उनमें से अधिकांश केवल मात्र दफ़्तरी कार्यवाही करना जानते थे। मुझे यह देख कर आश्चर्य होता कि हिन्दुस्तान के बारे में भी जिसकी उन्हें प्रत्यक्षतः अधिक जानकारी थी इंग्लैंड में जो कुछ लिखा जाता उसी पर वे विश्वास करते थे। मैं उन्हें इंग्लैंड की प्रतिध्वनियाँ समझता था।

अतः मेरे हृदय में वास्तविक इंग्लैंड को देखने की प्रबल इच्छा थी—इंग्लैंड जिसका परिचय मैंने वहाँ की चोटी की रचनाओं को पढ़ कर पाया था। यह जान

कर मेरे हृदय को धक्का लगा कि इंग्लैंड में शैली, कीट्स या बायरन कोई भी लोकप्रिय नहीं है। बात इतनी ही नहीं थी। मैंने पाया कि अधिकांश अंग्रेज़ उन कलाकारों में कोई रुचि नहीं रखते जिनके प्रति मेरे हृदय में अत्यधिक श्रद्धा थी। सत्य तो यह है कि वे कलाकारों को अजीब प्रकार की मछलियाँ समझते हैं। क्या एक उद्योगपति ने मुझे नहीं बताया था कि लेखन कला किसी भले मानस का पेशा नहीं है ?

इंग्लैंड में मुक्काबाज़, विदूषक और सिने-अभिनेता अधिक आदर की दृष्टि से देखे जाते हैं। जहाँ तक मज़ाकियों और पेशेवर क्रिकेट खिलाड़ियों का सम्बन्ध है वे महान् व्यक्ति समझे जाते हैं और उनका महत्व राज-मंत्रियों से कुछ ही कम होता है।

इसने मुझे सोचने के लिए बाध्य किया। अन्त में मैंने महसूस किया कि किसी जाति का उसके साहित्य से परिचय पाना बहुत बड़ी भूल है। यह बात स्वच्छन्दतावादी साहित्य के बारे में और भी सचाई से लागू होती है क्योंकि अनजाने रूप से ही वह अतिशयोक्ति पूर्ण और आदर्शवादी चित्रण करता है। किसी राष्ट्र के जीवन के तानों-बानों को पहचानने के लिए हमें उसके शिक्षित वर्ग की ओर जाने की आवश्यकता नहीं है, तो फिर——कहाँ ?

बहुत देर तक मुझे इसका कोई उत्तर नहीं मिला। परन्तु धीरे धीरे मुझ पर यह प्रकट हुआ कि किसी राष्ट्र की सम्पूर्ण या अनिवार्य चेतना कभी उसकी पुस्तकों में समाहित नहीं होती। महान् आत्माएँ कलम नहीं छूतीं। बुद्ध या जेसस के जीवन इसके उदाहरण हैं। और हम भारतीयों के जीवन का कितना छोटा सा अंश हमारी पुस्तकों में अभिव्यक्त हुआ है। क्या इंग्लैंड के बारे में भी यही सत्य है ? हाँ। अंग्रेज़ जाति के शब्द चाहे कुछ अभिव्यक्त करें या न करें परन्तु जैसा कि एन्ड्रे मॉरिस ने कहा है उनका मौन बहुत अधिक अभिव्यक्त कर सकता है।

मेरे विचार में अंग्रेज़ जाति संसार की सबसे कुशल जाति है। मैं यह नहीं कहता कि यह जाति संसार की किसी अन्य जाति से श्रेष्ठतर है। मैं जानता हूँ फ्रैंच जाति जीवन की कला में अंग्रेज़ों से कहीं अधिक दक्ष है। कुछ खाद्य पदार्थों को छोड़ दें तो अंग्रेज़ों के पकाने का ढंग अभी तक आदिम है। अत्यन्त अधिकृत सूत्रों से मैंने सुना है कि यदि अधिकांश अंग्रेज़ों को अपच की बीमारी न होती तो उनका व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन आज से कहीं भिन्न होता। साग के बारे में आकार से ही प्रसन्न होने वाले अंग्रेज़ों की रुचि के लिए मेरे पास प्रशंसा के शब्द नहीं हैं, मुझे स्मरण है एडवर्ड गार्नेट इसी बात को लेकर अंग्रेज़ों पर कई व्यंगोक्तियाँ कसा करते थे।

अधिकांश अंग्रेज़ों के घर आरामप्रद नहीं होते—सर्दी में ठण्डे और गर्मी में प्रायः दम घोंटने वाले। अंग्रेज़ों के पलंग के बारे में किसी फ्रांसिसी से पूछना उचित होगा, भय है अंग्रेज़ों का सभी वस्तुओं को लम्ब रूप रखना शीघ्र अन्तर्राष्ट्रीय मज़ाक बन सकता है। निश्चय ही एक अंग्रेज़ का घर उसका महल है परन्तु वह ऐसा महल है—जिसे कि वह क्लब के लिए स्वभावतया छोड़ देता है। अवश्य इंग्लैंड में ऐसे विशाल भवन भी हैं जहाँ आपको आराम के सभी प्रसाधन मिल जाएंगे परन्तु मैं यहाँ ऐसे घरों की बात कर रहा हूँ जिनमें हमारे जैसे ही साधारण लोग रहते हैं।

इंग्लैंड में बीथोवन, मोज़ार्ट और वैगनर के सदृश संगीतज्ञ, लियोनार्डो अथवा माइकल एञ्जेलो की श्रेणी के चितेरे या मूर्तिकार, तुर्गनेव, टालस्टाय या डोस्टोवस्की की अन्तर्दृष्टी वाले मनोवैज्ञानिक, पातञ्जलि अथवा भगवद्गीताकार के समान भविष्य-द्रष्टा नहीं है। फिर भी मैं पुनः कहने के लिए तत्पर हूँ अंग्रेज़ जाति संसार की सब जातियों से अधिक कुशल है। इंग्लैंड और केवल इंग्लैंड ने अपने बाह्य-जगत् के साथ पूर्ण समसंगीतता स्थापित करली है। ऐसा प्रतीत होता है जैसे कि वह और प्रकृति एक रूप हो।

'चाँदी के समुद्र में हरे रंग का हीरा'—इंग्लैंड के सम्बन्ध में यह पहली स्मरण रखने योग्य बात है। उसकी द्वीपीय स्थिति ने उसके रूप और विकास पर गहरा प्रभाव डाला है। यूरोपीय रंगमंच से पृथक् होने के कारण उसने प्रत्येक वस्तु का शान्ति पूर्वक पर्यवेक्षण करने की शक्ति अर्जित करली है—बदलते हुए तथ्यों को सावधानी पूर्वक पहचानने, ठीक अवसर पर कार्य रत होने और आवश्यक शक्ति का प्रयोग करने में वह अद्वितीय है। प्रायः यह अनुभव होता है कि इंग्लैंड सुषुप्त और स्पन्दनहीन है अथवा महत्त्वहीन छोटिकाओं में अपना समय व्यय करता रहता है। नेपोलियन का यही विचार था। जब वह इंग्लैंड पर आक्रमण करने की सोच रहा

था उसने अपने समुद्री बेड़े के मंत्री से कहा कि अन्य स्थलों में गड़बड़ी पैदा करने से इंग्लैंड आसानी से आत्म-समर्पण कर देगा। "अंग्रेज़ी प्रशासन अत्यधिक अदूरदर्शी है," उसने कहा : "वहाँ की सरकार सदैव दलगत राजनीति में निरत रहती है जो जहाँ कहीं शोरगुल होता है वहीं अपना ध्यान लगा देती है।"

यह गलती नेपोलियन ने या उसके युग के लोगों ने ही नहीं की वरन् आधुनिक युग में हिटलर और मुसोलिनी भी उसी भूल के शिकार बने।

और समुद्र! अंग्रेज़ जाति समुद्र की अत्यन्त ऋणी है। उसके आलोडन और उसके संगीत से उनकी आत्मा तादात्म्य स्थापित कर चुकी है। सिलोन का एक चाय का बाग़वान मेरे साथ जहाज पर यात्रा कर रहा था उसने मुझ से कहा : "धन की लालसा से मैं पूर्व में नहीं गया, यह तो एक अप्रधान बात थी। मैं वहाँ साहसिकता की उत्प्रेरणा से प्रेरित होकर गया जिससे कि मेरे देश के अधिकांश निवासी प्रेरित होते हैं। हमारे खून में एक ऐसी चीज़ है जो हमें शान्त नहीं रहने देती, हम कुछ करना चाहते हैं --अपने विशालतम रूप में भी यह बेचारी छोटी-सी दुनिया है और हम उसका अधिक से अधिक उपयोग करने के लिए तत्पर रहते हैं।

तुरन्त मुझे एलिज़ाबेथ के साहसिक समुद्री वीरों (Admirals) का ध्यान आया। सत्य है कि अंग्रेज़ आरम्भ से ही फुर्तीले रहे हैं। यह कदाचित् उनके अस्तित्व की नींव का सबसे गहरा पत्थर है। वे कुछ करना चाहते हैं चाहे वह 'कुछ' कुछ भी हो। पेंशन प्राप्त, गारंटी युक्त, सुरक्षित जीवन की ओर उन्हें कभी आकर्षण नहीं रहता। मैंने अस्सी वर्ष की उम्र के लोगों को 'नेचरल हिस्ट्री म्यूज़ियम' में ताम्बूल का अध्ययन करते देखा है। चेखव ने एक बार कहा था "सुखी होने के लिए आदमी को बिलकुल निष्क्रिय हो जाना चाहिए।" अंग्रेज इस बात को समझ ही नहीं सकते, उनका कर्मण्यता में अखण्ड विश्वास है। अवश्य कभी ऐसा भी होता है यह क्रियाशीलता व्यर्थ की गड़बड़ के रूप में दिखाई देती है। परन्तु एक राष्ट्र के रूप में इंग्लैण्ड अंधगति से नहीं भागता। व्यावहारिक बुद्धि रखने के कारण अंग्रेज लोग अवसर का लाभ उठाने से नहीं चूकते और ऐसा कार्य करने के लिए तत्पर रहते हैं जिन्हें करने में कम साहसिक राष्ट्र घबराते हैं। सन् १९४० में हिटलर की चर्चिल द्वारा की गई उपेक्षा इसका उदाहरण है। युद्ध-काल के अन्तर्गत बैंडन ब्रेकन ने केवल लाभ को देखने वाले व्यापारियों से कहा था; 'जोखम को नहीं उठाना खतरनाक है।' अंग्रेज़ों का हमेशा यही तरीका होता है। मैं समझता हूँ समुद्र और खाड़ियों के अनुभव से उन्होंने यह बुद्धिमत्ता पाई है।

डा० इन्ज का कथन है : "अंग्रेज़ के पास विचार नहीं होते और जब कभी विचार मिलता है तो वह उसे घृणा की दृष्टि से देखता है। वह समझता है कि अत्यन्त भयंकर भूलें ऐसे व्यक्तियों से ही होती हैं जो नाप-तोल कर विचार करते हैं। अतः वह समुद्र के नाविक की तरह जो अपने पार्श्व के पानी को बलपूर्वक हटाता है संतुलन बनाए रखता है।" यहाँ भी हमें अंग्रेज़ी जीवन पर समुद्र का अनिवार्य प्रभाव दिखाई देता है। परन्तु मुझे आश्चर्य है क्या डा० इन्ज ने अपने देशवासियों के प्रति अन्याय नहीं किया है? क्या पश्चिम ने शेक्सपीयर से बढ़ कर एक भी बौद्धिक व्यक्ति उत्पन्न किया है। वास्तव में सामान्यतया जैसा समझा जाता है अंग्रेज़ जाति उससे अधिक विचारवान् है। उनका 'मडलिंग थ्रू' का आदर्श वास्तव में एक गम्भीर दर्शन की गहराई लिए हुए हैं : उसका अर्थ है यथार्थ पर तार्किक या अन्य प्रकार के रूपों को आच्छादित न होने देना और क्षण प्रतिक्षण के यथार्थ का सामना करना। वे चलते फिरते जीवन को देखते हैं, उसके बारे में सोचते ही नहीं रहते। सिद्धान्तों और सूक्ष्म विचारों की उन्हें आवश्यकता नहीं होती। उनके सामने निष्कर्ष जाज्वल्यमान रूप में आते हैं। अंग्रेज़ों के साथ बात-चीत करते हुए एक लम्बे मौन के बाद मैंने प्रायः उन्हें कहते सुना है : 'आई सी' (मैं समझा।

इंग्लैण्ड की जलवायु को बुरा बताना एक प्रथा-सी है; व्यक्तिगत रूप में मुझे इन ऋतुओं का वैविध्य बहुत पसन्द है। ऋतुओं के बदलने वाले वस्त्रों को देख कर अंग्रेज़ी चैतन्य के प्रति नई जानकारी प्राप्त होती है। "काश! हम इंग्लैण्ड में होते जब यह अप्रैल आरम्भ हो गया," यह कहते हुए मैंने अनेक अंग्रेज़ों को सुना है। खिले फूलोंवाले बादाम के वृक्ष, दो साथी बिल्ली के बच्चों की तरह खेलते हुए धूप और छांह, बाग और जंगलों की हरियाली कितना सुन्दर दृश्य उप-

स्थित करते हैं ? इंग्लैण्ड के बसन्त ने मुझे वहाँ के निवासियों के बारे में दो बातें बतलाई हैं : अंग्रेज़ जाति की जीवन के प्रति आस्था—विशेष कर यौवन के प्रति और सूक्ष्म के प्रति उनका स्वाभाविक आकर्षण । वे कभी वस्तुओं को सफ़ेद या काले रूप में नहीं देखते वरन् उनके वास्तविक या वास्तविक के आसपास के रंग में देखते हैं ।

वास्तव में अंग्रेज़ों का जीवन या व्यवहार सूक्ष्म अन्तर पर आधारित है—'एक किरण कम, एक किरण अधिक'—यह सूत्र प्रत्येक क्षेत्र में उनका पथनिर्देश करता है यहां तक कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में भी । चरित्र चाहे जीवन का तीन चौथाई भाग हो या नहीं परन्तु अधिकांश अंग्रेज़ों के लिए वह बहुत महत्व रखता है । अपने यहाँ की जातियों के लिए अंग्रेज़ों के हृदय में अनमनापन और लालसा भी होती है । ऊपर की ठंडी सतह के नीचे गर्मी छुपी रहती है और कभी कभी हृदय की तीव्र ज्वाला । उनके हृदय की आग मन्द और निस्तेज नहीं जलती वरन् मसाल की तरह भभक उठती है । परन्तु यह मानसिक स्थिति बहुत देर तक नहीं रहती, समुद्री हवा के झोंकें शीघ्र उसे शान्त कर देते हैं । एक दुःखी या प्रेम पीड़ित अंग्रज़ के लिए सबसे अच्छा इलाज उसे लम्बी यात्रा पर भेज़ देना है । पतझड़ उन्हें सिखाती है "पक जाना ही जीवन की सफलता है,' लम्बी सर्दी उन्हें विशाल जगत की डाल पर अपना छोटा-सा नीड़ बनाने की प्रेरणा देती है । एक अंग्रेज का थोड़ी-सी वस्तुओं से काम चल जाता है : आराम कुर्सी, सुलगी हुई आग, एक प्याला चाय या एक गिलास शराब, कोई जिसे वह प्यार करता है या कोई जो उसे प्यार करे, थोड़े से विश्वसनीय मित्र या एक प्रिय पुस्तक । हाँ, एक अंग्रेज़ ऐसे कमरे से भी काम चला ले सकता है जहाँ से बाहर का कोई दृश्य न दिखाई देता हो ।

अंग्रेज़ बच्चे सदा प्रफुल्ल रहते हैं, न तो वे डरपोक होते हैं और न निगड़े हुए । अंग्रेज़ हमेशा बच्चों से यही कहेगा : 'अच्छे बालक बनो ।' परन्तु एक बात मुझे हमेशा असमंजस में डालती रही है कि अंग्रेज़ अपने बच्चों से बुरी तरह क्यों पेश आता है । क्या बच्चों के प्रति अत्याचार को रोकने के लिए इंग्लैण्ड में पूरी एक संस्था की उपस्थिति कँपानेवाली बात नहीं है ? यदि मैं कहूँ एक भारतीय कुली या किसान को अपने बच्चों के प्रति कठोर होते हुए मैंने कभी नहीं देखा तो इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं है । अंग्रेज़ अपने घर का मालिक होता है और उसकी पत्नी, चाहे वह उसे कितना ही प्यार करे, घर के मामले में अधिक महत्त्व नहीं प्राप्त करती । प्रायः उसे अपने पति के बैंक के हिसाब का पता नहीं रहता । इंग्लैण्ड पुरुषों का देश है और वहाँ सभी प्रबन्ध पुरुषों की सुविधा को ध्यान में रख कर किया जाता है । इसी से एक फ्रेंच महिला ने अश्रद्धा के साथ इंग्लैण्ड को 'पायजामों का जोड़ा' कहा है । यह सत्य है । और इसका परिणाम अच्छा नहीं हुआ है । अंग्रेज़ी कला, साहित्य, दर्शन या राजनीति में महिला का दृष्टिकोण कहीं अभिव्यक्त नहीं हुआ है । मेरा व्यक्तिगत विचार है कि अपने देश की प्राप्तियों में अँग्रेज़ी महिला की देन बहुत महत्त्वपुर्ण हो सकती है, परन्तु इसके लिए पहले उसे अपनी शक्तियों को पहचानना है । परन्तु मैं समझता हूँ यह अभी तक दूर की शुभ आशा ही है ।

अंग्रेज़ी साहित्य भी प्रधानतः पुरुष का साहित्य है और उसमें पुरुष की विशेषताएँ और बुराइयाँ दोनों हैं । वह शक्तिपूर्ण है परन्तु स्वच्छ नहीं । उसकी सुन्दर से सुन्दर कविता में भी चहचहाहट है । अंग्रेज़ी गद्य में भी कितना अनपेक्षित प्रवाह है ! थौमस हार्डी और डी. एच. लारेन्स के उपन्यासों से यदि बहुत-सा अनावश्यक अंश निकाल दिया जाए तो उनका महत्व और भी बढ़ जाएगा । यहाँ तक कि जार्ज मूर में भी शब्दों का चुलबुलापन पाया जाता है, एक महिला होने के कारण यदि वे अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति को अपनातीं तो अंग्रेज़ी गद्य में कान्ति ला देतीं । वे उसे सुगठित बना सकती थीं, सँवार सकती थीं और एक नए आश्चर्य के श्वास से भर सकती थीं । परन्तु कदाचित् यह अंग्रेज़ी भाषा के कारण भी नहीं हुआ । अंग्रेज़ी भाषा में स्पष्ट होना संभव नहीं । अंग्रेजी का शब्द 'डेमोक्रेसी' अंग्रेज़, अमरीकी और रूसी के लिए भिन्न भिन्न अर्थ रखता है । परन्तु स्पष्टता ही सब कुछ नहीं है । सभी अच्छी चीज़ें अपनी सम्पूर्णता से उत्पन्न रहस्य के धुन्ध में छिपी रहती हैं । यद्यपि

अंग्रेज़ी राजनीति स्वयं अपने में कला है । भेद वहाँ तीन राजनीतिक दल हैं परन्तु उनमें आधारतः भेद नहीं है । केवल तरीकों और गति का भेद है, वहाँ वोट और नारों का प्रभाव नहीं होता । अंग्रेज़ों के दोष भी स्पष्ट हैं । वे दूसरे देशों और जातियों के मनोविज्ञान को

नहीं जानते। वे दूसरों को भी अंग्रेज़ ही समझने की भूल करते हैं। धर्म और नैतिकता में वे भेद नहीं कर सकते। उनके अनुसार अच्छा आदमी वह है जो उनकी बात को स्वीकार करता हो। वे व्यावहारिक और कल्पनाशील दोनों ही हैं और कर्म के जगत् को कल्पना के जगत् से जोड़ने के लिए सदैव प्रयत्नशील रहते हैं।"

॥

चीन में भारतीय कलाकार

अंग्रेज़ी पत्र 'हिन्दुस्तान टाइम्स' के रविवारीय संस्करण में श्री वी. चन्द्रशेखरम् का 'चीन में भारतीय कलाकार' शीर्षक एक लेख प्रकाशित हुआ है जिसमें से निम्न अंश यहाँ दिया जा रहा है :

"हमारा कार्यक्रम प्रतिदिन सायं ८ बजे से आरम्भ होता था। ये कार्यक्रम थिएटरों में हुआ करते और हरेक थिएटर में बिजली की बत्तियों का बहुत अच्छा प्रबन्ध था—दोनों पार्श्व में ऊपर छः या आठ बत्तियाँ प्रकाश फेंकने के लिए थीं। सामने से ज्योतिप्रवाह डाला जाता और रंगमच की एक दिशा में या ऊंची उठी हुई बालकोनी से रोशनी मन्द करने का प्रबन्ध था। रंगमंच की सजावट बहुत सादी और सुन्दर थी। एक ओर कट कर बनाए हुए मीनारोंवाले दो मंदिर थे और दूसरी ओर रंगमंच के पिछले हिस्से में एक झोपड़ी और केले का वृक्ष दिखाया गया था। इनके पीछे एक सादा कपड़े का पर्दा था जो दृश्य की एकता को बनाए हुए था और उस पर ठीक सामने से (फिर भी दर्शकों से अदृश्य) विशेष प्रभाव डाल कर नीले आकाश को बादलों और चन्द्रमा की रोशनी से युक्त दर्शाया गया था। यह बहुत उपयुक्त भारतीय पृष्ठभूमि थी और इसका बहुत ही सुन्दर प्रभाव दिखाई दिया। रंगमच पर हमेशा पन्द्रह या बीस कार्यकर्त्ता रहते थे जो कि बिजली, माइक और रंगमंच के दूसरे प्रबन्ध की देखभाल करते थे।

चीनी दर्शकों में हमें जिस प्रकार उत्साहित किया और कलाकारों प्रति अपने जिस प्रेम और आदर को दर्शाया वह एक ऐसी चीज़ थी जिसका मैंने रंगमंच के अपने पच्चीस वर्ष के जीवन में भारत में कहीं भी अनुभव नहीं किया था। ज्यों की पर्दा उठता है चीनी प्रत्येक कलाकार का तालियाँ पीट कर स्वागत करते हैं और जब कलाकार उनके उत्तर में अभिवादन करता है तो इससे और भी अधिक उत्साह का प्रदर्शन होता है। जब पर्दा गिरता है तो दो तीन मिनट के लिए फिर तालियां बजती हैं। जब किसी विशिष्ठ प्रदर्शन से चीनी दर्शक अत्यधिक प्रसन्न होते हैं तो वे एक विशेष प्रकार से तालियाँ बजते हैं जो 'ताल' का स्मरण दिलाती हैं। उसका तात्पर्य यही होता है कि दर्शक कलाकार को एक बार पुनः रंगमंच पर आने के लिए आमन्त्रित करते हैं। ऐसे भी अवसर आए जब कि चीनी दर्शकों ने अगला दृश्य रंगमंच पर लाना असम्भव कर दिया जब तक कि पूर्ववर्ती कलाकार आकर अपने उसी प्रदर्शन को दुबारा न बताए।

नाटक समाप्त होते ही दर्शक खड़े होकर तालियाँ बजाने लगते हैं, पर्दा पुनः खुलता है और कलाकार रंगमंच पर एक पंक्ति में खड़े दिखाई देते हैं। स्थानीय नए कलकार, अधिकांश महिलाएँ, अपने हाथों में सुन्दर फूलों की छड़ियाँ लेकर रंगमंच पर आईं और उन्होंने हमें छड़ियाँ भेंट की, हाथ मिलाए और तालियाँ बजाईं। इसका मानसिक स्वास्थ्य पर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा और हमें ऐसा अनुभव हुआ जैसे कि हम गन्धर्व-लोक में आगए हों।

नाट्यशालाएँ बहुत बड़ी थीं और उसमें स्त्रियों के और पुरुषों के साज-शृंगार के, वाद्य-यन्त्रों के स्वर-ताल को मिलाने के लिए और आराम करने के लिए अलग अलग कमरे बने हुए थे। शृंगार कक्षों में मेज़ों पर लगे दर्पणों की कतारें थीं और प्रत्येक दर्पण के दोनों ओर बिजली की बत्तियाँ जल रही थीं और वहीं धोने के लिए ठण्डे और गर्म पानी से भरे बर्त्तन रखे थे। प्रत्येक कक्ष में बिजली का पंखा था और नानकिङ्ग में जहाँ गर्मी बहुत रहती है—प्रत्येक कक्ष में बर्फ से भरी पेटियाँ और बाल्टियाँ रखी थीं जिससे कि तापमान कम बना रहे। विश्रान्ति गृहों में और ठहरने के कमरों में जहाँ कलाकार जब तक उसे रङ्गमञ्च पर जाने के लिए बुलाया न जाय रुक सकता था सुन्दर सफ़े रखे थे। फल, केक और सिगरेटें प्रत्येक कमरे में अत्यधिक परिमाण में रखे थे और लड़के और लड़कियाँ सेवा करने को नियत थे।

हमारे चीनी दुभाषिए हमेशा हमारे साथ रहते। अतिथि-सत्कार के लिए नियत किए गए सभी व्यक्ति कालेज में शिक्षा पानेवाले नवयुवक थे परन्तु वे स्वतः प्रेरित हो कर खुशी से हर प्रकार का काम कर रहे थे मानों वे केवल मात्र सेवक थे।

दवाइयों की पेटी को लिए हुए केवल होटल में ही नहीं वरन् रेल में और नाट्य-शाला में भी एक डाक्टर और नर्स हमारे साथ रहते थे। पीकिंग और शङ्घाई में नृत्य, नाटक, संगीत और साहित्य विषयों पर छोटी छोटी बैठकों में हम लोगों ने विचार विमर्श किए और एक दूसरे से इन दोनों देशों की कला, वहाँ की परिस्थितियों और अनुभवों का परिचय प्राप्त किया।

हमने उनकी जिन कलाओं के उदाहरण देखे उनमें शास्त्रीय संगीत, लोकगीत, लोकनृत्य, सामूहिक गान, सम्मिलित वाद्य और ध्वनि प्रयोग थे। हम चीन के दो प्रसिद्ध अभिनेताओं के मकान पर गए। वे थे श्री मेंलाफॉग—चीन के सब से बड़े अभिनेता और शास्त्रीय संगीत अनुसंधानशाला के निर्देशक तथा श्री यू शिह हाई प्रसिद्ध गीति-नाट्य अभिनेता। हमने उनके अनुभवों को बड़ी दिलचस्पी से सुना। हम एक संगीत शाला और फिल्म स्टूडियो देखने भी गए।"

सम्पादकीय

नागरी लिपि में सुधार

अभी पिछले दिनों लखनऊ में नागरी लिपि में सुधार के लिए एक कान्फ्रेन्स हुई। इसके सभापति श्री राधाकृष्णन् थे। इस कान्फ्रेन्स में बहुत से राज्यों के मुख्य मन्त्री तथा कुछ राज्य पाल और गण्य मान्य विद्वान् भी सम्मिलित हुए थे। इसमें सम्मिलित होनेवालों में कुछ विद्वान् अपरिवर्तनवादी थे और कुछ इस लिपि में पर्याप्त परिवर्तन करना चाहते थे। इस कान्फ्रेन्स ने जिन परिवर्तनों को स्वीकार किया है उन्हें देखते हुए यह कहा जा सकता है कि इसमें अल्प परिवर्तनवादी लोगों का बहुमत रहा। प्रश्न यह है कि क्या नागरी लिपि में जिन परिवर्तनों को इस कान्फ्रेन्स ने स्वीकार किया है उन्हें समस्त देश भी स्वीकार कर लेगा या वे प्रस्ताव या सिफ़ारिश के रूप में काग़ज़ पर पड़े रह जाएँगे। कुछ समय पूर्व राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति वर्धा ने नागरी लिपि के स्वर आदि में कुछ सुधार किए थे—वे भी अधिकतर उनके द्वारा प्रकाशित पुस्तकों और उनके द्वारा संचालित परीक्षाओं तक ही सीमित रह गए हैं। टाइपराइटर, टेलीप्रिण्टर और मोनो टाइप के इस युग में नागरी के अक्षरों में समय और आवश्यकता के अनुसार परिवर्तन होने चाहिएँ—इसे जितनी आसानी से स्वीकार किया जा सकता है इसमें आवश्यक परिवर्तन उतनी आसानी से नहीं किए जा सकते। रोमन लिपि की विशेषता यह है कि उसमें सब अक्षर अलग अलग हैं; उसमें न मात्राओं का प्रश्न है और न संयुक्त अक्षरों का। नागरी लिपि में ह्रस्व इ की मात्रा को छोड़ कर शेष सब मात्राएँ दाईं ओर लगती हैं; उ, ऊ और ऋ, ॠ की मात्राएँ नीचे लगती हैं। ए और ऐ की मात्रा, अनुस्वार और अनुनासिक ऊपर लगते हैं और ड़, ढ़ और फ़ारसी नुक़्ते नीचे लगाए जाते हैं। इस तरह दाएँ, बाएँ, ऊपर नीचे सभी ओर कुछ न कुछ रहता है। नागरी लिपि के व्यंजन भी इस प्रकार के नहीं हैं जो दूसरे व्यंजनों से मिलने पर एक रूप हों। उनका मेल भी भिन्न भिन्न रूपों में होता है। कुछ संयुक्ताक्षरों का तो अपना ही एक नया रूप हो गया है।

प्रत्येक भाषा की तरह प्रत्येक लिपि की भी अपनी ही एक विशेषता होती है। लिपि के विषय में सबसे पूर्व जो प्रश्न उठता है वह यह है कि इस लिपि की विशेषताओं को इसी रूप में सुरक्षित कर क्या टाइप राइटर आदि नहीं बनाए जा सकते? हम समझते हैं विद्वानों से अधिक ऐसे कलाकारों की आवश्यकता है जो अपने सुझाव इस विषय में दे सकें। उर्दू में टाइप की कठिनता को सब जानते हैं। उर्दू के नस्तालीक़ टाइप को बनाना सर्वथा असम्भव समझा जाता था परन्तु हैदराबाद में इसके विषय में कई परीक्षण हुए और अन्त में कुछ लोगों के प्रयत्न से नस्तालीक़ टाइप ऐसा बना जो कि वैसा ही सुन्दर था जैसा कि उर्दू का रस्म-उल-ख़त लिखने में सुन्दर होता है। यह टाइप चल भी पड़ता परन्तु महंगा होने के कारण और कुछ अन्य कठिनाइयों के कारण यह प्रचलित न हो सका परन्तु जिस टाइप को बनाना ही कठिन समझा जाता था वह बन तो गया यही आश्चर्य की बात है। यदि उर्दू लिपि के ये परीक्षण जारी रहते और ज़रा (Large scale) व्यापक पैमाने पर होते तो संभवतः ये कठिनाइयाँ भी दूर हो सकतीं। इसी प्रकार क्या यह उचित नहीं होगा कि वर्तमान लिपि के विषय में सूझबूझ वाले कलाकारों को इस विषय में परीक्षण करने का अवसर प्रदान किया जाना चाहिए। हो सकता है कि इन परीक्षाओं के परिणामस्वरूप नागरी लिपि में परिवर्तन करने की कोई विशेष आवश्यकता न रहे और अपने ही ढंग पर नागरी लिपि की सब आधुनिक मशीनें बन जाएँ।

जिस प्रकार इस समय हमारी भाषाओं का ढाँचा बहुत कुछ अंग्रेज़ी के ढंग पर बन रहा है उसी प्रकार बहुत से विद्वान् अपनी लिपि को रोमन के ढंग पर ढालना चाहते हैं। रोमन लिपि अधिकांश सभ्य समाज में प्रचलित है। उसके लिए सब प्रकार की सुविधाएँ विद्यमान हैं। सब तरह के टाइप हैं और उसके लिए आज भी नए नमूने बन रहे हैं। बहुत-से लोग तो रोमन लिपि ही लेना चाहते हैं परन्तु यदि यह सम्भव न हो तो फिर नागरी लिपि को उसी ढंग का बना देना चाहते हैं। जापान और चीन की लिपियाँ हमारी लिपि से भी अधिक कठिन प्रतीत होती हैं परन्तु उन्होंने अपनी लिपियों को रोमन के ढंग पर ढालने का प्रयत्न नहीं किया।

नागरी लिपि में जिन परिवर्तनों को स्वीकार किया गया है उसमें से एक आध परिवर्तन को छोड़ कर शेष को परिवर्तन या सुधार के नाम से कहना ठीक नहीं है। जिन अक्षरों के दो रूप प्रचलित हैं उनमें से एक रूप को

ले लेना, संयुक्त किए जाने वाले अक्षरों को हलन्त कर के लिखना आदि निर्णयों में तो किसी प्रकार का कोई परिवर्तन या सुधार नहीं है। संयुक्त किए जानेवाले अक्षरों को अलग अलग लिखने से एक तो स्थान अधिक घिरेगा दूसरे आज हिन्दी में बहुत-से शब्दों का उच्चारण ऐसा होने लग गया है जिन्हें लिखा तो पूरा जाता है परन्तु पढ़ा और बोला हलन्त जाता है। इसका परिणाम यह हुआ है कि अब हिन्दी में भगवान् और जगत् जैसे शब्दों के न् और त् को हलन्त नहीं लिखा जाता। हलन्त लिखने मात्र से संयुक्त अक्षरों की समस्या हल नहीं हो सकेगी। जो सुझाव इस कान्फ्रेन्स में स्वीकृत किए गए हैं जब उन्हें क्रियात्मक रूप दिया जाएगा तब यह ज्ञात हो सकेगा कि ये परिवर्तन वाञ्छनीय हैं या नहीं। छोटी इ की मात्रा में जो परिवर्तन किया गया है उसे परिवर्तन कहा जा सकता है परन्तु उसके लिए जो सुझाव स्वीकृत किया गया है वह कुछ विशेष आकर्षक प्रतीत नहीं होता। इससे बड़ी ई की मात्रा और छोटी इ की मात्रा की डण्डी में ही थोड़ा-सा भेद रह जाएगा और यह भेद वैसा ही कम है जैसा कि भ और म में या ध और घ में है। अच्छा होता यदि इस कान्फ्रेन्स को निमन्त्रित करने से पूर्व नरेन्द्रदेव कमिटी की नागरी–लिपि–सुधार की सिफ़ारिशों को प्रकाशित कर दिया जाता और उस पर सर्वसाधारण को तथा विशेषज्ञों को अपनी सम्मति प्रकट करने का अवसर प्रदान किया जाता। अन्ततः नागरी लिपि प्राचीन लिपि है। उसमें जो सुधार होंगे उन्हें एका-एक करना संभव नहीं हो सकता और फिर जो भी परिवर्तन होंगे वे प्रति दिन या सुगमता से नहीं हो सकते इसलिए उन पर यथासंभव पूर्णतया विचार और परीक्षण किए जाने चाहिएँ। इस विषय में लिपि के विशेषज्ञों और कलाकारों से विशेषतया परामर्श लिया जाना चाहिए। एकमात्र मुख्यमन्त्रियों, भाषा या साहित्य के विद्वानों के परामर्श या बहुमत से ही इस विषय में शीघ्रतापूर्वक किसी प्रकार का निर्णय करना उचित नहीं है। लिपि के विषय में जो भी सुधार या परिवर्तन हों वे काफ़ी सोच-विचार और परीक्षणों के बाद किए जाने चाहिएँ अन्यथा इस प्रकार के सुधारों और परिवर्तनों को देशव्यापी मान्यता प्राप्त न हो सकेगी।

संस्कृत राष्ट्रभाषा के रूप में

इसमें सन्देह नहीं है कि भारतवर्ष की सबसे महान् भाषा संस्कृत है। संस्कृत के विशाल साहित्य के कारण भारतवर्ष का विश्व में आदर है। संस्कृत के महान् भाषा होते हुए भी क्या यह संभव है कि इस भाषा को समस्त भारतवर्ष की राष्ट्रभाषा बनाया जा सके? संस्कृत का आवश्यक अध्ययन और उससे आवश्यक शब्दों का लिया जाना एक बात है और उसे भारत की राष्ट्रभाषा बनाना दूसरी बात है। मद्रास के राज्यपाल श्रीयुत श्री प्रकाश ने नागपुर के राष्ट्रभाषा प्रचार सम्मेलन के उद्घाटन के अपने भाषण में हिन्दी को लिङ्गों की कठिनता के कारण कठिन भाषा कहा। उन्होंने ही संस्कृत परिषद् में दिए हुए भाषण में कहा कि हमें संस्कृत को अपनी राष्ट्रभाषा बनाना चाहिए था क्योंकि संस्कृत किसी प्रान्त की भाषा तो नहीं थी और इस प्रकार किसी प्रान्त की भाषा को अन्य प्रान्तों की भाषा के ऊपर किसी प्रकार का स्थान प्राप्त न होता।

प्रश्न यह है कि क्या वर्तमान परिस्थितियों में संस्कृत के एक महान् भाषा होते हुए भी उसे राष्ट्रभाषा बनाना सम्भव है? और यदि यह सम्भव नहीं है तो इस प्रकार की शिथिल बातें करने से विशेष लाभ क्या है? यदि संस्कृत को राष्ट्रभाषा बना दिया जाए तो उसमें भी पारिभाषिक और अन्य शब्दों का वैसा ही प्रश्न रहेगा जैसा कि वह इस समय हिन्दी या अन्य प्रादेशीय भाषाओं में है। इस समय तो संस्कृत के शब्दों को पारिभाषिक शब्द बना कर जो नए नए रूप और अर्थ प्रदान किए जाने के प्रयत्न किए जा रहे हैं वे संस्कृत के राष्ट्रभाषा बनने पर नहीं किए जा सकेंगे। संस्कृत में भी सरलता का प्रश्न वैसा ही रहेगा जैसा कि वह इस समय हमारी बोलचाल की भाषाओं में है। फिर संस्कृत में अंग्रेज़ी और अन्य भाषा के शब्दों को मिलाने का प्रश्न भी वैसा ही रहेगा। संस्कृत में प्रचुर शब्द भण्डार के होते हुए भी यदि आज के पारिभाषिक और अन्य शब्द होते तो उन्हें हिन्दी में या प्रान्तीय भाषाओं में ले लेने में कुछ विशेष कठिनाई न होती। हिन्दी में तो "लिङ्गों की कठिनाई है" और संस्कृत में तो व्याकरण और अन्य कई कठिनाइयाँ उपस्थित हो जाएँगी।

हिन्दी के लिए १५ वर्ष की अवधि रक्खी गई है और वह उस समय जब कि यह भाषा देश के अधिकांश भाग में बोली और समझी जाती है। इस हिसाब से संस्कृत कितने वर्षों में देश के अधिकांश भाग में बोली और समझी जाने लगेगी और वह इस स्थिति में आ

सकेगी कि केन्द्रीय और अन्तर्प्रान्तीय सब कारबार और व्यवहार संस्कृत भाषा में सुगमतापूर्वक हो सकेंगे। संस्कृत में सब प्रकार का साहित्य उत्पन्न होने में कितना समय लगेगा और जब तक यह नहीं होगा तब तक हमें अंग्रेज़ी को ही यथापूर्व चलाना पड़ेगा और यह अवधि कितनी लम्बी होगी यह कौन बता सकता है?

हमारा यह लिखने से यह तात्पर्य नहीं है कि संस्कृत के अध्ययन को प्रोत्साहन प्राप्त नहीं होना चाहिए। संस्कृत का अध्ययन परम आवश्यक है और उसके अध्ययन के लिए जितने भी प्रोत्साहन और सुविधाएँ प्रदान की जा सकें की जानी चाहिएँ परन्तु इस प्रोत्साहन का यह अर्थ नहीं होना चाहिए कि संस्कृत के अध्ययन को उसी समय महत्त्व प्राप्त हो सकता है जब कि वह समस्त देश की राष्ट्रभाषा बन जाए। हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने के विरोध में यह दलील दी जाती है कि हिन्दी एक प्रान्त विशेष की भाषा है जो भारतवर्ष की अधिकांश जनता में बोली और समझी जाती है। हिन्दी जिस दिन वास्तव में राष्ट्रभाषा बन जाएगी उस दिन वह एक प्रान्त की ही भाषा नहीं रह जाएगी। सत्य तो यह है कि इस समय भी वह एक प्रान्त की ही भाषा नहीं रह गई है। वह कई प्रान्तों की भाषा बन गई है और बनती जा रही है। वह जितनी जल्दी समस्त भारतवर्ष की भाषा बन जाएगी उतनी ही शीघ्र वह पूर्णरूप से राष्ट्रभाषा बन जाएगी। संस्कृत को लोकप्रिय बनाने और उसके प्रचार के लिए आवश्यक प्रयत्न ज़रूर होने चाहिएँ क्योंकि संस्कृत भारतवर्ष का महान् गौरव और अतुल सम्पत्ति है परन्तु उसका आदर या प्रचार हमारे राष्ट्र की राष्ट्रभाषा बनाने से नहीं हो सकता।

पाकिस्तान और अमेरिका

पाकिस्तान और अमेरिका के प्रशासन में सैनिक समझौते के विषय में यद्यपि दोनों ओर से प्रतिवाद हो रहे हैं कि इस प्रकार के समझौते की कोई बात नहीं हुई है तो भी इस विषय में भारत, रूस, अरब देश और अफ़गानिस्तान आदि देशों ने जिस प्रकार अपने विरोध को प्रदर्शित किया है और पाकिस्तान और अमेरिकी पत्रों में इस विषय में जो कुछ चर्चा हुई है उससे इस बात का आभास प्राप्त होता है कि इस विषय में दोनों देशों में किसी-न-किसी प्रकार का समझौता करने पर विचार अवश्य चल रहा था। भारतवर्ष क्योंकि अपनी विदेशी नीति को सर्वथा स्वतन्त्र रखता रहा है और उसने अपने आपको किसी भी सत्ताधारी वर्ग में सम्मिलित होने से इनकार किया है इसलिए यह संभव है कि अमेरिकन प्रशासकों की यह एक चाल हो कि इस तरह दबाव डाल कर भारतवर्ष को कुछ आतंकित और प्रभावित करके उसे अपनी इस नीति में परिवर्तन करने के लिए मजबूर किया जाए। अमेरिका की ओर से साम, दाम, दण्ड और भेद सभी नीतियों को इस विषय में प्रयोग में लाने का प्रयत्न किया गया है। संभव है कि अमेरिका वास्तव में पाकिस्तान से इस प्रकार का कोई समझौता न करना चाहता हो क्योंकि अमेरिका के प्रशासक इस बात को अच्छी तरह जानते हैं कि आज के युग में अन्य देशों में फ़ौजी अड्डे बनाने का कार्य सुगम नहीं है और इससे कई प्रकार की उलझनों के उत्पन्न होने की आशंका है। यह भी हो सकता है कि यह एक प्रकार का दिखावा मात्र हो जिससे एक ओर अमेरिका और दूसरी ओर पाकिस्तान अपनी अपनी दृष्टि से भारतवर्ष को तटस्थ और काश्मीर के प्रति अपनी नीति बदलने के लिए मजबूर करना चाहते हों। अमेरिका का साप्ताहिक पत्र 'टाइम' पाकिस्तान के विषय में लिखता है : पाकिस्तान, टर्की और फ़िलिपाइन्स में अमेरिका का श्रेष्ठ मित्र है। इस देश को साम्यवाद के विषय में किसी प्रकार का भ्रम नहीं है। इसकी सेना १३ डिवीजन की है। इसके वायुक्षेत्रों से सोवियत की उद्योगशाला पर बम फेंके जा सकते हैं। पाकिस्तान और अमेरिकन समझौते से अन्य मुसलमान देश भी हमारी मध्य पूर्व एशिया में रक्षा योजना में सम्मिलित होजाएँगे।...पाकिस्तान अपनी फ़ौजों को एकमात्र रूस के लिए ही नहीं अपितु भारतवर्ष के विरोध में भी सुसंगठित करना चाहता है। पाकिस्तान काश्मीर के कारण भारत का तीव्र विरोधी है...।" इस समाचार के प्रसारित हो जाने से परिणाम उलटा ही हुआ है। मुसलमान देशों में इसकी प्रतिक्रिया आशा के विपरीत हुई है और भारतवर्ष ने इस विषय में चेतावनी दे दी है। परिणामतः इस सैनिक समझौते को करना आज की विश्व की अवस्थाओं में कठिन प्रतीत होता है। इतने पर भी यदि यह समझौता हुआ तो इसका यह स्पष्ट अर्थ होगा कि अमेरिका एकमात्र साम्यवादी रूस का ही नहीं अपि तु वह भारतवर्ष का भी विरोधी है क्योंकि पाकिस्तान सेनाओं को रूस के लिए नहीं अपि तु भारतवर्ष के लिए समृद्ध और सुसंगठित करना चाहता है।

Education

Start - in - Life

Marriage of your children

Assured without any

embarrassment

Besides a comfortable old age

for you

for All Types Of Insurance

Consult:-

THE

HYDERABAD CO-OPERATIVE

INSURANCE SOCIETY Ltd.

Bashir Bagh Road, Hyderabad-Dn.

सिकन्दराबाद में साहित्यिक पुस्तकों

का

एक मात्र प्रतिष्ठान

पुस्तक भवन,

१३१/१ सरोजनी देवी रोड, सिकन्दराबाद

हिन्दी प्रचार सभा, सिकन्दराबाद

नगर शाखा द्वारा स्थापित

सभी परीक्षाओं के पाठ्यक्रम, पुस्तकालयों के लिए

उत्तमोत्तम ग्रन्थ, और बाल-साहित्य

हमारी विशेषताएँ

✻

निम्न लिखित

प्रकाशकों की पुस्तकें थोक भाव में हमसे लीजिए:-

१ हिन्दी प्रचार सभा, : : २ विनोद पुस्तक मन्दिर,

हैदराबाद आगरा

तार का पता: हिन्दी ❀ टेलीफोन नं. ५४५०

हिन्दी, तेलुगु, मराठी और अंग्रेज़ी

की सब तरह की सुन्दर छपाई

के लिए हमेशा याद रखिये।

हिन्दी प्रेस

हैदराबाद राज्य हिन्दी प्रचार सभा

हिन्दी भवन, हिन्दी मार्ग,

नामपल्ली * हिन्दी मार्ग * हैदराबाद-द.

హైదరాబాద్ రాజ్య

హిందీ ప్రచార సభ

తమరికి హిందీ, తెలుగు మరియు ఇంగ్లీషు

భాషలలో తప్పులు లేకుండ అందమైన

అచ్చుపనులు కావాలంటే

తమ నగరములోనే

హిందీ ప్రెస్

కే దయచేయండి.

నాంపల్లి స్టేషన్ రోడ్డు, హైదరాబాదు-ద.

టెలిఫోన్ ౫౪౫౦ టెలిగ్రాం "హిందీ"

079511

प्रकाशक:— प्रियबन्धु, हिन्दी प्रेस, हैदराबाद राज्य हिन्दी प्रचार सभा, हिन्दी भवन, हिन्दी मार्ग, नामपल्ली हैदराबाद-द.

879511

हृदय रोगों की उपेक्षा करना हानिप्रद है !

* कभी कभी नाड़ी का रुक रुक कर चलना

* मूर्च्छा की सी दशा का होना

* थकान और पीड़ा का अनुभव

* तेज़ साँस चलना

* चेहरे पर नीलापन

* दाँई बाँह में दर्द

* टाँगों का सूजना, हृत्गति बढ़ना और तुरन्त सर्दी लगना

ये सब हृदय रोग के निश्चित लक्षण हैं।

नवरत्न कल्प

(हीरा, मानिक, मोती, नीलम पुष्पराग तथा अन्य बहुमूल्य नौ रत्नों का यौगिक)

के सेवन से

हृदय रोगों में पूर्ण स्वास्थ्य लाभ कीजिए।

आविष्कर्त्ता

कविराज पं० दुर्गादत्त शर्मा, वैद्य-वाचस्पति

विवरण के लिए लिखिए
प्रबन्धक
नवरत्न कल्प फार्मेसी
जालंधर शहर (इंडिया)

तार : नवरत्न

फोन : ४०१

Compiled
1999-2000